

पं० श्रीनाम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१



Vangmaya No 50
www.awgp.org

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

भूमिका

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग आस्था संकट की इस चेला में कष्टदायी तपन के बीच जल की ठंडी बूंदों के छोटों की तरह काम करते हैं। महापुरुषों के सत्संग की महिमा सभी ग्रन्थ एवं शास्त्रों में बतायी गई है। समयानुकूल कभी भी कोई शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान पाने के लिए विद्वान, संत, ज्ञानवान, चरित्रवान व्यक्तियों के सम्पर्क से उसे निर्मूल कर लेना चाहिए। आज की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, सत्संग योग्य उच्च कोटि के सत्पवादी, प्रखर एवं निस्पृह व्यक्तित्व के धनी बहुत ही कम देखने को मिलते हैं, जो तथाकथित धर्मोपदेशक शास्त्र-महिमा का गान करते दिखाई पड़ते हैं, उनके आचरण में वे गुण न उतर पाने के कारण कोई प्रभाव जनमानस पर पड़ता नहीं देखा जाता। सामान्य जनता के लिए आत्मिक प्रगति की ओर अग्रसर कराने वाला ज्ञान, व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने का एकमात्र उपाय, महापुरुषों के संस्मरणों का स्वाध्याय ही माना जा सकता है। जब कभी जिज्ञासा या शंका मन में उठे तो उसकी पूर्ति तत्सम्बन्धी घटना प्रसंगों को पढ़कर की जा सकती है। छोटे-छोटे संस्मरण पढ़ने में भी सहज होते हैं और उनसे ली जाने वाली प्रेरणा हृदयगम्य करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। रोचकता से भरे इन संस्मरणों के स्वाध्याय से सभी का मन एकाग्रचित्त हो जाता है, साथ ही सदाचार, नीति, परोपकार, सेवा एवं उदारता जैसे सद्गुणों की शिक्षाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में महापुरुषों के उन अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है, जिनसे अनेकों ने राह पायी है एवं जो आज भी प्रासंगिक हैं। भगवान परशुराम, महात्मा बुद्ध, कुमारजीव, सम्राट अशोक, ईसा, महावीर, संत सुकरात, कम्पयूशियस, महात्मा जरधुस्त्र, अरस्तु, महर्षि पाणिनी, चाणक्य, शंकराचार्य एवं रामकृष्ण परमहंस जैसे महापुरुषों के जीवन प्रसंगों द्वारा इस खण्ड में आचरण को ऊँचा उठाने और जीवन के रोजमर्रा की समस्याओं को सुलझाने वाले ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जो प्रेरणादायी हैं और सही अर्थों में व्यक्ति की अन्तरचेतना को दिशा देने वाले हैं, इनके विषय में कहा गया है कि 'देखन में छोटे लगें, धाव करें गम्भीर' अर्थात् ये मर्मस्थल को स्पर्श करते हुए जीवन की राह को बदल देते हैं। अगले अध्याय में धार्मिक चेतना के उन्नायक ऐसे संत-महात्माओं की जीवनियों के हृदयस्पर्शी प्रसंग वर्णित हैं, जो भारत में जन्मी हमारी संस्कृति के प्राणतत्व हैं। संत रैदास, तुकाराम, चैतन्य, नामदेव, ज्ञानेश्वर, स्वामी विवेकानन्द, पौहारी बाबा, मत्स्येन्द्रनाथ, श्रीअरविन्द, महर्षि रमण, स्वामी रामतीर्थ, गुरुनानक एवं अन्य सभी सिक्ख धर्म के गुरु, संत कबीर, राघवेन्द्र स्वामी, स्वामी किरजानन्द, मलूकदास, रामानुजाचार्य, संत वसवेश्वर, दादू एवं एकनाथ जैसे भारतीय संस्कृति के भील के पत्थर कहे जाने वाले उच्चतम स्तर तक चेतना को पहुँचाकर जन-जन को ईश्वर प्राप्ति का राजमार्ग दिखाने वाले संत-महात्माओं के अविस्मरणीय प्रसंग इसमें हैं।

यों तो कईयों को लग सकता है कि ये घटनाएँ, जीवन प्रसंग सर्वज्ञात हैं, इनमें कौन-सी नयी बात है। फिर भी आज की नई पीढ़ी को, आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए इससे श्रेष्ठ उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता। इसी क्रम में आगे विश्व मानवता के ऐसे संदेशवाहकों के भी जीवन प्रसंग इसमें वर्णित हैं। जिन्होंने अपनी परिधि 'स्व' से ऊँची उठाकर समस्त वसुधा रूपी कुटुम्ब के स्तर तक पहुँचा दी एवं मानव मात्र के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गये। स्वामी सहजानन्द, स्वाने गुरुजी, चौर हकीकत राय, संत हमर्सन, फादर दामियेन, पॉप पायस, श्री राबर्ट, ईसप, जे. कृष्णमूर्ति, गुरु गोरेखनाथ, साधु वास्वानी, रविशंकर महाराज, स्वामी तुकड़ो जी महाराज, नारायण गुरु, जलाराम बापा, स्वामी भक्तिवेदान्त, संत फतह सिंह, दधीचि, महर्षि धौम्य, महात्मा भगवान दीन, गुरु गोलवलकर, स्वामी मुक्तानन्द एवं सर जॉन वुडरफ इत्यादि के जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के साथ-साथ उनकी शिक्षाएँ एवं प्रेरणाएँ इस अध्याय में समाहित हैं।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनो का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ औवलखेड़ा जैसी स्थलपनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों को करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस कारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनो के अंतःस्थल को छूकर वसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा निखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने चलनूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आरिवन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से औवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें डेरों आशीर्वाद दिये। एक अच्छा कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनसे चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मवलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक मुनतावर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की बेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, सबसे महामन्त्र पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनसे प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनसे संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो भातों गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जो की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोख ढासने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की पत्नीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ ठग दौरे भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनमें भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरायु आन्दोलन के दौरान उनमें झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनमें मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम भक्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें भक्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दों के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनमें पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफ़ी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस सड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर सांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनमें प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। पैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिभर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनमें पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राम व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनमें अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारी का कम था अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनमें परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यक्षता पर- चर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर भीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवन्दनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भाषात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

‘अखण्ड ज्योति’ पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित ‘गायत्री चर्चा’ स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सौरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डों यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवन्दनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४९ से १९७९ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डों यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवन्दनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवन्दनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व ‘युग निर्माण सत्संकल्प’ के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डों यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवन्दनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परियाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मितना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवन्दनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु ठनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवन्दनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ण लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवन्दनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरस्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उत्सास से भर दिया। स्वयं परमवन्दनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरस्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी तज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

विषय-सूची

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

• धार्मिक क्रान्ति के प्रतीक— भगवान् परशुराम	१.१
• महात्मा बुद्ध के अविस्मरणीय कथा प्रसंग	१.२
• बुद्ध-जीवन के कुछ अन्य प्रेरक प्रसंग	१.४
• भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक नीरोग शिष्य— वसुकुल	१.५१
• महान् धर्म प्रचारक— कुमार जीव	१.५२
• धर्म राज्य के प्रसारकर्ता— सम्राट अशोक	१.५४
• उत्तराधिकार में जिन्होंने राज्य नहीं धर्म पाँगा— महाभिक्षु महेन्द्र	१.५६
• धार्मिक-साध्य के प्रचारक— महात्मा ईसा	१.५८
• जैन तीर्थंकर— भगवान् महावीर	१.७०
• भगवान् महावीर— मर्मस्पर्शी कथा प्रसंग	१.७२
• विचार-क्रान्ति के देवदूत— सन्त सुकनाथ	१.७५
• दार्शनिकता को सार्थक बनाने वाले कल्पयुधिष्ठिर	१.७९
• सरल व सौम्य धर्म संस्थापक— कांगफयूत्सो	१.८४
• फारस के तथ्यगत— महात्मा जरथुस्थ	१.८५
• महान् शिक्षक— अरस्तू	१.८८
• परिष्कृत संस्कृत के प्रणेता— महर्षि पाणिनि	१.८९
• राजनीति पर धर्मतंत्र का अंकुश रखने वाले चाणक्य	१.९१
• धर्म-संस्कृति के लिये समर्पित— परमान	१.९४
• वैदिक धर्म की रक्षार्थ जीवन दान करने वाले— श्रीशंकराचार्यजी	१.९५
• धर्मरक्षार्थ जीवन हेमने वाले— श्री कुमारिल भट्ट	१.९८
• सेवा योगी— स्वामी रामकृष्ण परमहंस	१.९९

धार्मिक नवचेतना के उन्नायक प्रख्यात संत-महात्मा

• सन्त रैदास की साधना	२.१
• अध्यात्म के सच्चे प्रतिनिधि— संत तुकाराम	२.३
• संत तुकाराम के जीवन के कुछ अद्भुत प्रसंग	२.७
• धार्मिक नवचेतना के प्रचारक— महाप्रभु चैतन्य	२.८
• परम भागवत् सन्त नामदेव	२.१२
• ज्ञान धारा बहाने वाले दक्षिण के भगीरथ— संत ज्ञानेश्वर	२.१५
• लोक-सेवी महात्मा— स्वामी विवेकानन्द	२.१८
• स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणावादी कथा प्रसंग	२.२१
• तप द्वारा विश्वहित में संलग्न— पौहारी बाबा	२.२३
• योग मार्ग के प्रबल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ	२.२५
• देश एवं धर्म साधना के साधक— महर्षि अरविन्द	२.२६
• महर्षि रमण— आत्मान्वेषण ही जिन्हें इष्ट था	२.२९
• वेदान्त को अपने जीवन माध्यम से समझाने वाले— स्वामी रामतीर्थ	२.३२
• सिख धर्म के गृहस्थ गुरु	२.३७
• धार्मिक रेजि के प्रचारक— गुरु नानक	२.३८

• तपोनिष्ठ महात्मा श्रीचन्द्र	२.४३
• सनर्पण के आदर्श प्रतीक— गुरु अंगद देव	२.४५
• योग्य गुरु के योग्य शिष्य अमरदास और रामदास	२.४६
• बलिदानी सन्त गुरु तेगबहादुर	२.४७
• पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर गुरु गोविन्दसिंह	२.४८
• धार्मिक मतभेदों के समन्वयकारी— संत कबीर	२.५२
• धर्मोद्धारक— राधेन्द्र स्वामी	२.५८
• धार्मिक क्रान्ति के स्वप्नदृष्टा— स्वामी विरजानन्द	२.६०
• धर्म समन्वयकर्ता— सन्त मलूकदास	२.६२
• धार्मिक समता के प्रचारक— श्री रामानुज	२.६३
• धर्म का तत्त्वज्ञान समझाने वाले— सन्त वसवेश्वर	२.६५
• ऋषि परम्परा निभाने वाले— महात्मा 'लिखित'	२.६८
• क्षमाशील हो तो सन्त दादू जीसा	२.६९
• ब्राह्मणत्व का पालन करने वाले— संत रक्ताथ	२.७०
• धर्म के लिये घर मिटने वाले— महात्मा पाल	२.७३
• धर्म के लिये बलि हो जाने वाले— संत पीटर	२.७३
• लोकशाह— जिन्होंने धर्म-क्रान्ति का सूत्र संचालन किया	२.७५
• हजरत मोहम्मद— सहिष्णुता से हृदय जीता	२.७६
• धर्म और जाति से परे— फकीर अजीजुद्दीन	२.७८
• भक्ति-मार्ग के अविचल पथिक— सनम साहब	२.७९
• अन्याय के विरोधी— हजरत इमाम हंबल	२.८०
• धर्मगुरु और शासक हजरत उमर जिन्होंने जिम्मेदारी निभायी	२.८१
• सुफी सन्त 'सरमद'	२.८२
• प्रेम और सेवा का अवतार— महात्मा फरशाद	२.८३
• धर्म-सहिष्णु सुल्तान— जैनुल आब्दीन	२.८३
• इन्ने सिना— ज्ञान ही जिनका अराध्य देवता था	२.८५
• इस्लामी बिन अदहम— सियाराम मव सब जग जानी	२.८८
• सच्चे सन्त-महात्मा— अजगर कैला	२.८९
• धर्मोद्धारक राजा— अर्देशीर बाबकान	२.९०
• सत्य के प्रति अगाध— सैयद अब्दुल कादिर	२.९१
• अनौति के जन्मजात विरोधी— मौलवी अहमदुल्ला	२.९१
• मिर्जा अहमदशमुद्दीन	२.९३

विश्व मानवता के संदेशवाहक

• स्वामी सहजानन्द— जिन्होंने सन्यास को सार्थक बनाया	३.१
• मनु हृदय— भाट्ट उपासक— साने गुरुजी	३.२
• धर्मात्मा सुचारु नरेश की न्यायप्रियता	३.५
• साधुओं के लिये मार्गदर्शक— स्वामी सोमदत्त गिरि	३.६
• साधुवेश का गौरव बढ़ाने वाले— स्वामी शंकरदास	३.७

• भक्त हरिदास— जो कठिन से कठिन परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए	३.८
• अभिनव समाज के रचनाकार हरीत मुनि	३.१०
• ईसा के सच्चे शिष्य और सच्चे प्रेम पुजारी— वेरियर एल्विन	३.११
• बेसहारे का मसीहा— ओवेपियर	३.१३
• जीवन यज्ञ के उद्गाता— संत एयर्सन	३.१४
• ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी— डॉ. क्रिश्चन	३.१५
• कुंग फुत्ज— पनुष्य जो देवता की तरह पूजा गया	३.१६
• करुणा तथा सेवा के पुण्य प्रतीक— जार्ज पियरे	३.१८
• अन्ध-महाद्वीप के प्रदीप— डेविड लिविंगस्टन	३.१९
• कोढ़ियों में ईश्वर देखने वाले फादर दामियेन	३.२१
• लोकनिर्माण के नैष्ठिक पथिक— संत पायर	३.२३
• फीजी द्वीपवासियों के सच्चे बन्धु— पादरी बर्टन	३.२४
• सच्चा धर्मनिष्ठ जुलाहे का केटा पोप-पायस	३.२६
• नोवास्कोटिया के मसीह— फादर जेम्स एण्किन्स	३.२८
• ठपेक्षित किशोरों के मार्गदर्शक— फादर जिम्मी	३.२९
• निराशा में आशा के सन्देशवाहक— बेन्ने	३.३२
• धर्म पर आस्था रखने वाले, दया न छोड़ने वाले— महात्मा रिचे	३.३४
• धर्मशिक्षा को व्यावहारिक रूप देने वाले— श्री राबर्ट	३.३४
• सार्त्र की जीवन दर्शन पाठशाला	३.३६
• यशस्वी गुलाम— ईसप महान	३.३७
• दक्षिण के विनोबा कुट्टी जी	३.३९
• अविनीतः धर्मों रक्षति रक्षितः	३.४०
• योग-विद्या के अन्वेषक— स्वामी कुवल्लयानन्द	३.४१
• कर्मयोग का सन्देश देने वाले— केदारनाथ कुलकर्णी	३.४२
• संन्यास जीवन के सार्थक प्रयोक्ता— स्वामी केशवानन्द	३.४४
• जे. कृष्णमूर्ति— भगवान् जो इंसान बन गये	३.४६
• सन्त परम्परा सार्थक करने वाले— स्वामी कृष्णानन्द	३.४७
• श्रम के साधक बाबा गरिबदास	३.४८
• महायोगी गोरखनाथ और उनका योग-मार्ग	३.४९
• प्रेम धर्म के उपदेष्टा— महात्मा चरणदास	३.५१
• समाज व संस्कृति के सेवक— शंकर देव	३.५२
• धर्म व राष्ट्र के महान् सेवक— साधू वास्वानी	३.५४
• गुजरात के गौरव— रविशंकर महाराज	३.५६
• एक वीर हुतात्मा— स्वामी श्रद्धानन्द	३.५९
• आधुनिक बोधिसत्त्व— डॉ. अल्बर्ट श्वाइत्जर	३.६२
• भारतीयता के रंरक्षक— महात्मा हंसराज	३.६४
• गोस्वामी गणेश दत्त— देश, जाति और संस्कृति के गौरव प्रतिष्ठाता	३.६६
• मानवता के महान् उपासक संत श्री गाडगे बाबा	३.६८
• जैन धर्म के प्रचारक— पं. गोपालदास बरैय	३.६९

• जय कृष्ण प्रभुदास भगसाली का सार्थक तप	३.६९
• समाज-सुधार के शंखोच्चारक— महात्मा ज्योतिबा फुले	३.७१
• भारतीय संस्कृति के अनन्य अग्रगण्य पं. गोपीनाथ जी कविराज	३.७३
• तैलंग स्वामी का अदभुत योगबल	३.७५
• संत चतुर्भुज के संकल्प से हुआ काव्यकल्प	३.७६
• भक्त जलाराम— सत्कर्म कभी अधूरे नहीं रहते	३.७७
• संत नुक्छे जी महाराज— मैं वैरागी कैसे बना ?	३.७९
• नागेश का तप	३.८०
• केरल के गांधी— श्री नारायण गुरु	३.८१
• साधु सन्तों के लिये आदर्श— श्री नारायणदास त्वागी	३.८२
• समाज के लिए स्वयं के सुख छोड़ने वाले— नीलयणि फुक्न	३.८३
• सेवाधार्मिक सन्त-भक्त पुनीत महाराज	३.८५
• प्राणिप्रेम के सच्चे सेवक— पूजा बाबा	३.८७
• विश्वमानव के सच्चे पथ-प्रदर्शक— स्वामी भक्ति घेटांत	३.८८
• स्वामी प्रणनाथ— जिन्होंने संन्यास का सच्चा अर्थ समझा	३.८९
• निष्ठावान धर्मसेवी— सन्त फत्तहसिंह	३.९०
• पेशवाओं के पथ-प्रदर्शक— ब्रह्मेन्द्र स्वामी	३.९१
• आजीवन ब्रह्मचारी— गोपाल कृष्ण	३.९४
• देश, जाति और धर्म के पुजारी— सुखे अम्बा प्रसाद	३.९५
• निष्काम सेवा-परायण, संस्कृति के प्रेरक उन्नायक अम्बुभाई पुरणी	३.९७
• स्वामी आत्मानन्द— जिनकी शिक्षा सार्थक हुई	३.९८
• आदिवासियों के अनन्य सेवक— अन्तार्य मिसे	३.१००
• परोपकारी भीष	३.१०१
• स्वामी भवानी दवाल— साधुता जिन्हें पा कर धन्य हो गयी	३.१०२
• संस्कृति को नव-जीवन देने वाले— पं. भगवद् दत्त	३.१०४
• सेवाधारी— भोले बाबाजी	३.१०५
• महर्षि दधीचि का त्याग	३.१०७
• महर्षि कणाद शिष्य धौष्य— सही साधनों का अनुसंधान	३.१०८
• समाज सृष्टा— महात्मा भगवानदीन	३.१०९
• महात्मा भुगुटरायजी की चमत्कारी साधना	३.१११
• एक विद्रोही सन्त— महाराज सिंह	३.११२
• माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर की इष्ट साधना	३.११३
• ज्ञान और कर्म के प्रतीक— स्वामी मुत्तानन्द	३.११५
• भारतीय विद्या के साधक— सर-ज्ञान कुडराफ	३.११६

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

- प्राचीन भारत का महान् वैज्ञानिक—सिद्ध सगार्जुन ४.१
- अटूट निष्ठा तथा अडिग विश्वास के बनी
श्री देवमित्र धर्मपाल ४.२
- हिन्दू संस्कृति के सच्चे सेवक—राजा राममोहन राय ४.३
- ऐसे थे न्यायपूर्ण देशबन्धु कित्तमंजन राय ४.५
- करुणा और सेवा को साकार मूर्ति—ठक्कर बापू ४.६
- राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी—महावीर प्रसाद द्विवेदी ४.७
- देश के लिये सर्वस्व अर्पण—स्व. हरदयाल ४.९
- निस्पृह देशभक्त—राजा महेन्द्र प्रसाद ४.११
- नारी-शिक्षा के साहसिक प्रवर्तक—महर्षि कर्ष ४.१२
- हियालय सा विराट् व्यक्तित्व पं. गोविन्द वल्लभ पंत ४.१४
- राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी सरदार पटेल ४.१६
- भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि लालबहादुर शास्त्री ४.१८
- समाज को दिशा देने वाले—सातवसेकर ४.२०
- सहृदय साधु पुरुष डॉ. कैलाश नाथ कटजू ४.२१
- एक महान् भारतीय—डॉ. अम्बेडकर ४.२३
- सामाजिक न्याय के लिये जो सत्ता लड़ते रहे
दादा भाई नौरोजी ४.२५
- साधुता व समता के जीवन्त प्रतीक—बाबू रामदेव ४.२७
- साधु ऐसे चाहिए जैसे राधा दाम ४.२९
- विश्व को सुखमय देखने वाले—
स्वामी राधाराम चरणदास ४.३१
- एक शताब्दी पूर्व अंग्रेजी शासन की नींव हिलाने वाले—
गुरु रामसिंह ४.३२
- आत्मनिर्माण के आचार्य—श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ४.३४
- स्वामी विद्यानन्द—समाज की पीड़ा जिन्हें संन्यास से
छीन लाई ४.३६

पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

- मानवीय मूल्यों के संस्थापक—डॉ. किंग ५.१
- प्रिन्स क्रोपाटकिन—जो जीवन भर अन्याय से
लड़ते रहे ५.२
- अन्धाय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक—सीमांत गाँधी ५.४
- सत्य के लिए लड़ने वाले—वाल्टेयर ५.५
- विश्वशान्ति और मानवता के पुजारी रोमरौला ५.८
- रूसी क्रान्ति के अग्रदूत—हर्जेन ५.९

- सजीवन समर्पित प्रजा-पुत्र—मैक्सिम गोर्की ५.११
- धार्मिक क्रान्ति के सूत्र संवतक—मार्टिन लूथर ५.१३
- पेरू के वातुन पापा—डॉ. थियोडोर वाइडर ५.१५
- सेवा के मूर्तिमान् प्रतीक—सन्त विनोबा भावे ५.१६
- अपने लिये निर्धन समाज के लिये समृद्ध—
हेनरी मेनकेन ५.२०
- प्रभस का शान्ति-दीप—शान्तिदास ५.२०
- नवयुग के सन्देश वाहक—महात्मा बहा ५.२१
- कर्मयोगी संत—श्री सावेर ५.२३
- पिछड़ों को गले लगाने वाले—महाप्रभु जगद्वन्धु ५.२४
- मानवता के पुजारी—जीन हेनरी दूनों ५.२५
- महान् पुत्र के महान् पिता—एबरम गारफील्ड ५.२६
- परेष्वर धर्म के अनुयायी—महापुरुष एण्ड्रूज ५.२७
- आत्मवादी धिकरस पद्धति के जन्मदाता—
डॉ. हैनोपैन ५.३१
- एक तबख आँखों का दात—हेनरी हालैण्ड ५.३२
- शान्ति और सच्चाई के साधक—
डॉ. लाइनस पार्जलिंग ५.३३
- वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता—डॉ. बसु ५.३५
- भारत के वैज्ञानिक गौरव—डॉ. भाभा ५.३५
- नास्तिक निस्से ५.३७
- श्रमिक जीवन को अतिरिक्त प्यार करने वाला विद्वान्
ऐरिक लोफर ५.३८
- शान्ति के सग्रहणीय सेवक—श्री फ्रेडरिक पासी ५.४०
- सेवक का मसीहा—एडवर्ड जेनर ५.४१
- फगल्लों के मित्र—डॉ. फिलिप पिनेल ५.४३
- पीड़ित मानवता के पुजारी—फोलेस ५.४३
- मानवता का सच्चा सेवक—लुई पास्ट्यूर ५.४५
- महान् वैज्ञानिक और महान् मानव—
सर अल्बर्ट आइन्स्टीन ५.४६
- मानवता-प्रेमी वैज्ञानिक—ओपेन हाइमर ५.४८
- अन्धत्ववादी वैज्ञानिक—श्री प्लांक ५.४९
- अनाथों को जोड़ने वाले कलाकार—
हरपैन जी पेस्टोला जी ५.५०
- एक अकलमसित प्रतिभा—श्री रामानुजम् ५.५१
- 'युक्ति ही सफलता' के सन्देश वाहक—हेनरी ट्राट ५.५३
- लोकसेवक—फलतपारियो तिराबासी ५.५४

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

धार्मिक क्रान्ति के प्रतीक— भगवान् परशुराम

परशुराम उन दिनों शिवजी से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अपने शिष्यों की मनोभूमि परखने के लिए शिवजी समय-समय पर उनकी परीक्षा लिया करते थे। एक दिन गुरु ने कुछ अनैतिक कर्म करके छात्रों की प्रतिक्रिया जाननी चाही। अन्य छात्र तो संकोच में डब गए पर परशुराम से न रहा गया। वे गुरु के विरुद्ध लड़ने को सड़े हो गये और साधारण समझाने-बुझाने से कब न चला तो फरसे का प्रहार कर डाला।

बोट गहरी लगी। शिवजी का सिर फट गया। पर उन्होंने बुरा न माना। बरन् सन्तोष व्यक्त करते हुए गुरुकुल के सम्पन्न छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—अन्याय के विरुद्ध स्वर्ष करना प्रत्येक धर्म-शौच व्यक्ति का मनुष्योचित कर्तव्य है। फिर अन्याय करने वाला चाहे कितनी ही ऊँची स्थिति का क्यों न हो। संसार से अधर्म इसी प्रकार मिट सकता है। यदि उसे सहन करते रहा जावेगा तो इससे अनीति बढ़ेगी और इस सुन्दर संसार में अकान्ति उत्पन्न होगी। परशुराम ने धर्म रक्षा के लिए जो दृढ़ प्रदर्शित किया उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

शकर जी ने अपने इस घिड़ शिष्य को उठाकर छाती से लगा लिया, उन्हें अव्यर्थ शस्त्र 'परशु' उपहार में दिया और आशा प्रकट की कि उनके द्वारा संसार में फैले हुए अधर्म का उन्मूलन करने की एक भारी लोभ-सेवा बन पड़ेगी। शिवजी ने अपने शिष्यों को और भी कहा—बालक! केवल दान, धर्म, जप, तप, व्रत, उपवास ही धर्म के लक्षण नहीं हैं। अनीति से लड़ने का कठोर वन लेना भी धर्म साधना का एक अंग है। अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन एक ही रथ के दो पहिये होते हैं। दोनों का क्रमचक्र ठीक चलते रहने से सृष्टि का सन्तुलन ठीक रहता है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए एक उपाय पर निर्भर न रहकर दोनों का ही अवलम्बन करना चाहिये। परशुराम की धर्म-समर्प-वृत्ति अनुचित तनिक भी नहीं। उसमें आदि से अन्त तक औचित्य ही घरा पड़ा है। परीक्षा के लिए ही मैंने अनुचित आचरण किया था और तुम सब पर उसकी प्रतिक्रिया देखनी पड़ी थी। परशुराम सफल हुआ। इसका मुझे गर्व है। इस गर्व को प्रख्यात करने के लिए परशु प्रहर के चिह्न को शिवजी ने सदा दीखते रहने वाला ही बनाये रखा। उनके सहस्र नामों में एक नाम 'खण्ड परशु'

अर्थात् 'फरसे से जिसका सिर फट गया हो' भी लिखना है। विष्णु ने भी भृगु की लात छतों पर खाई थी और औचित्य का अनुमोदन करने के रूप में उस चिह्न को रुद्र छाती पर बनाए रखा था।

उन दिनों हैहयवन्शीय शत्रिय राजपद से मदाध हो रहे थे। राजा, कस, हिरण्यकश्यप की तरह उन्होंने स्वेच्छावर्णात्मक अपना रखी थी। स्वार्थवश चाहे जिसके साथ जघन्य व्यवहार करने पर उत्तार हो जाते। भृगुवंशी पुरोहितों ने ऐसा न करने के लिए उन्हें समझाया तो कुपित होकर उल्टे आत्मपणकारी बन गये। घर छोड़कर फेंक दिये, स्त्रियों के गर्भ फाड़ डाले और जिन्होंने उन्हें समझाया था उनके सिर काट लिए। जो बच गये वह महिष्यती छोड़कर सरस्वती तट पर जा बसे।

इन्हीं विस्थापित पुरोहितों में एक बालक था—परशुराम। वह शिवजी से शिक्षा तो प्राप्त करता पर सच ही अत्याचारी के विरुद्ध उसके मन में निरन्तर आग जलती रहती। वह सोचता गुरु के द्वारा जो शक्ति उसे मिलेगी उसे अनानार के विरुद्ध संघर्ष करने में प्रयुक्त करेगा। बालक की निष्ठा परखने को शिवजी ने वैसा प्रसंग उत्पन्न किया था। जब बालक ने गुरु का ही सिर फोड़ दिया तो उन्हें विश्वास हो गया कि बालक में लौह पुरुष के गुण मौजूद हैं और वह अधर्म के उन्मूलन की जन-आकांक्षा को पूरा करके रहेगा। शिवजी का आशीर्वाद पाकर उनकी शिक्षा और विभूतियों से सुसज्जन होकर परशुराम अनाचार विरोधी एक महान् अभियान की तैयारी करने लगे।

परशुराम के बगद का उस समय के शासक कर्तवीर्य सहस्रार्जुन को पत लगा तो वह आग-बबूल हो गया और उन्हें पकड़ने आश्रम में सैन्य समेत जा पहुँचा। वे न मिले तो उनके पिता जमदग्नि का भाँते-भाँति से अपमान किया और उनके आश्रम तथा पुस्तकालय को नष्ट-धष्ट कर डाला। परशुराम जब घर आये और आश्रम की यह दुर्दृष्ट देखी तो उनके शोभ का ठिकना न रखे। वे अपना दुर्दान्त परशु लेकर अकेले ही महिष्यती पहुँचे और सहस्रार्जुन को धर डाला। उसकी भुजायें फरसे से काट डालीं और सेना को धनुष-बाण से विचलित कर दिया। प्रतिशोध की आग और बढ़ी सहस्रार्जुन के वंशजों ने अन्य अनेक राज्यों को लेकर चढ़ाई कर दी और परशुराम के पिता जमदग्नि को २१ स्थानों से घायल करके उन्हें मार डाला।

कहने वालों ने कहा—एक साधु या ब्राह्मण के लिए इस प्रकार हिंसात्मक कार्य करना उचित नहीं। उन्होंने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया कि अनीति ही वस्तुतः हिंसा है। उसका प्रतिकार करने के लिए जब

१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अहिंसा समर्थ न हो तो हिंसा भी अपनाई जा सकती है। शास्त्र ने वैदिकी हिंसा का हिस्सा नहीं माना है। क्रोध वह वर्जित है जो स्वार्थ या अहंकार की रक्षा के लिए किया जाय। अन्धश्रद्धा के विरुद्ध क्रुद्ध होना तो मानवता का चिह्न है। मानवता की मूलभूत आस्था को खोकर क्रोध अक्रोध जैसे नीति-नियमों में उलझे रहना व्यर्थ है। मेरा क्रोध धर्मयुक्त है और मेरे हिंसा भी अनीति के प्रतिबन्ध में प्रयुक्त होने के कारण अहित है। धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिये सदा से यही क्रम अपनाया भी जाता रहा है। ऐसे तर्कयुक्त बचनों को सुनकर कहने-सुनने वाले चुप हो जाते। वे संपर्क की आग सुलगाये हुए देश-देशान्तरों में भ्रमण करने लगे। जन-सहयोग से उन्होंने अत्याचारियों के विनाश में आशाजनक सफलता पाई। व्यक्तियों के पास कितनी ही बड़ी शक्ति क्यों न हो, जनता की संगठित साधर्म्य से वह कम ही रहती है। परशुराम के नेतृत्व में भड़का हुआ विद्रोह एक नहीं इक्कीस बार नृशंस लोगों के अनाचारों का उन्मूलन करने तक चलता रहा और जब अकारुण्यीय तत्त्व समाप्त हो गए तभी वह शान्त हुआ।

अनाधार को समाप्त करने की उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर यद्यपि परशुराम जी को हिंसात्मक नीति अपनानी पड़ी, पर उन्होंने इसे कभी अनुचित न समझा। शान्ति की स्थापना के लिए प्रयुक्त हुई अशांति सराहनीय है और अहिंसा की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए की गई हिंसा में पाप नहीं माना जाता। स्वार्थ और अन्धश्रद्धा के लिए ही आक्रमण वर्जित है पर यदि अन्ध-रक्षा का अन्धकार की रोकथाम के लिए प्रतिरोधात्मक उपाय के समर्थ में हिंसा अपनायी पड़े तो न अनुचित माना जाता है और न हीय। परशुराम जी शास्त्र और धर्म के गूढ़ गन्धों को धली-धोली समझने से इसलिए आवश्यकता पड़ने पर कटे से काँटा निकालने, विष से विष मारने की नीति के अनुसार कृषि होते हुए भी उन्होंने धर्म रक्षा के लिए सशस्त्र अभिमान आरम्भ करने में तनिक भी संकोच न किया।

जब प्रलय-गूर्ण हो गया तो उन्होंने अनावश्यक क्लृप्ति को एक क्षण के लिए भी जारी रखना उचित न समझा। फलसे को उन्होंने समुद्र में फेंक दिया— जो राज्य होने से वह सारी भूमि प्रहर्ष कल्प को दान कर दी ताकि वे उन प्रदेशों में सुराज्य स्थापना की व्यवस्था कर सकें। गिरगिरों ने प्रसन्न होकर उनके इस धर्म संघर्ष के लिये प्रसन्नता प्रकट की तब उन्होंने यहां कहा— यदि आप लोग प्रसन्न हैं तो पहले को तब मेरे तपस्या, स्वाध्याय और धर्म रक्षा के मार्ग में प्रीति उत्पन्न हो जाये।

जन-कल्याण के लिये परशुराम जी ज्ञान और विग्रह दोनों को ही आवश्यक मानते थे। ज्ञान और ज्ञान से सज्जनों को और प्रतिरोध तथा दण्ड से दुष्टों को जीत जा सकता है, ऐसी उनकी निश्चित मान्यता थी। इसलिए वे अभयक्षीय सन्तुलित नीति लेकर चलने से ही धर्म रक्षा की सम्भावना निकालकर करते थे। उनकी मान्यता उनके शब्दों में ही इस प्रकार है

अप्रतश्चतुरो वेदाः पृथक्तः शसस्त्रधनुः ।
इन्द्रास्त्रं इन्द्रं क्षात्रं शास्त्रं च शरश्च ॥

अर्थात् — “मुख से नारों वेदों का प्रवचन करके और पीठ पर धनुष-बाण लेकर चला जाय। ब्रह्म शक्ति और शस्त्र शक्ति दोनों ही आवश्यक हैं। शास्त्र से भी और शस्त्र से भी धर्म का प्रयाजन सिद्ध करना चाहिये।

वैशाख सुदी ३ अष्टम तृतीया को परशुराम जी की जन्म जयन्ती मनाई जाती है। इन्हें भगवान् का अवतार माना जाता है और वे शतरं सयेंत अगर हैं ऐश कला जाता है। कोरुण और केरल में उनकी पूजा अधिक होती है। समुद्र तट पर कितने ही उनके मन्दिर बने हैं और वहाँ कितने ही मेले भी इसी पर्व पर लगते हैं।

सज्जनता और दुष्टता की अति कहीं भी नहीं होनी चाहिए। दोनों का ही समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। दुष्टों के साथ सज्जनता और सज्जनों के साथ दुष्टता को स्पर्श ही नहीं अनुपयुक्त समझने की मान्यता परशुराम जी के जीवन और आदर्शों में कूट कूट कर भरी थी। अहिंसा के इसी स्वरूप का वे प्रतिपादन करते रहे। हिंसा और अहिंसा का अद्भुत समन्वय करने वाले परशुराम अभी भी हमारे विचार क्षेत्र में एक पहिली की तरह विद्यमान रहते हैं।

महात्मा बुद्ध के अविस्मरणीय कथा प्रसंग

बाई हजार वर्ष पहले की बात है कि शक्य नरेशों की राजधानी कपिल के राज-मार्ग पर एक गणजीर्ण वृद्ध चला जा रहा था। आयु की अधिकता ने उसकी कमर को झुका दिया था, नेत्रों की उद्योति को क्षीण कर दिया था, मुँह को पोपला और पैरों को लड़खड़ा देने वाला बना दिया था। वह पैर की आग को बुझाने के लिये रोटी का एक टुकड़ा पाँच रहा था, पर कुछ शायरनी लड़के रोटी के बदले उसे ढेलें और कंकड़ों से मार रहे थे। इतने में एक राक्षसीय रथ चलते-चलते उसी स्थान पर रुक गया। उसमें बैठे हुए एक देवकृति पुरुष ने सारथी से पूछा कि यह कौन है? उसे बालूम हुआ कि किसी समय यह भी एक हज्ज-कह्ज, सुन्दर पुरुष था, पर अब वृद्धावस्था के कारण उसकी यह दुर्दशा हो रही है। उसने फिर प्रश्न किया कि क्या प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी ही दशा होगी? उत्तर मिला— यह संसार का अनिवार्य विधम है, बहुत अधिक आयु हो जाने पर कोई भी इससे बच नहीं सकता।

यह प्रश्नकर्ता और कोई नहीं स्वयं कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम थे। उनको अष्टे तक जान-बूझकर राजमहलों के ऐसे वातावरण में रखा गया था कि दुःख, रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु आदि क्या होते हैं इनका उन्हें कुछ पता ही न था। आज अकस्मात् इस अराप्रस्त वृद्ध को देख उनके हृदय में एक नवीन भाव का उदय हुआ और वे बिना किसी से कहे सुने मानव जीवन की समस्या पर विचार करने लगे। अभी तक वे संसार में सब व्यक्तियों को अपनी ही तरह स्वस्थ, सुखी और आपोद-प्रपोद में मग्न सपझने थे, पर आज उनको विदित हुआ कि सभी सांसारिक सुख खणस्थायी हैं और वहाँ सुख का बजाय दुःख का परिग्रह अधिक है।

इस घटना के पश्चात् गौतम का जीवन-क्रम ही बदल गया। यद्यपि उनके पिता महाराज शुद्धोधन उनकी प्रवृत्ति को देखकर उन्हें रंग-रंग और सुखोपभोग में घुलाये रखने की सब तरह से चेष्टा करते रहते थे, पर गौतम के चित्त में इस घटना के पश्चात् जो नया परिवर्तन हुआ वह दिन पर दिन सुदृढ़ होता गया और एक दिन आधी रात के समय वे राज-पाट, स्त्री-पुत्र सब कुछ त्याग कर संन्यासी बनकर निकल पड़े। उनका उद्देश्य था ऐसा मार्ग तलाश करना जिससे मनुष्यों को संसार के रोग-शोक से छुटकारा मिल सके।

आरम्भ में तो उन्होंने तपस्य के प्रचलित मार्ग को ही अपनाया। वे पाँच अन्य साधियों को लेकर घोर जंगल में चले गये और एकान्त आश्रय में रहकर कठोर तपस्य करने लगे। इसके फल से उनका शरीर दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगा, पर फिर भी हृदय में किसी प्रकार के ज्ञान का प्रकाश न जान पड़ा, अन्त में जब शरीरिक शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई और चलन-फिरना भी कठिन हो गया, तब उनको सपना में आया कि केवल कष्ट सहन करने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है संसार की स्थिति और जीवन की समस्याओं पर उत्तम भाव से विचार किया जाय और निश्चिंत तथा प्रवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करके ऐसे मध्यम मार्ग पर चल जाय जिससे सांसारिक भोगों में आसक्ति न होकर संसारिक कर्तव्यों का निष्पृहतापूर्वक पालन होता रहे। इस सिद्धान्त पर अच्छी तरह विचार करके उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए यह उपदेश दिया—

(१) संसार में जो कुछ भी दीख पड़ता है वह सब शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है। (२) जो कुछ दीख पड़ता है उसमें दुःख छिपा हुआ है। (३) तब सभी चीजें नष्ट होने लगती हैं, तब इनके फटे में क्यों फँसा जाय ? (४) तपस्या तथा उपवास द्वारा इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। छुटकारे की जड़ तो मन है।

इसलिए धर्म का सीधा और सरल रास्ता यही है कि शुद्ध मन से काम करना, शुद्ध हृदय से कोलना, शुद्ध चित्त रखना। इसके लिए आवश्यक है कि—

(१) किसी प्रकार की हिंसा न की जाय। (२) चोरी, दुर्गन्ध, छूठ, दूसरों की निन्दा से बचा जाय। (३) दूसरों के दोष दूँटना, अपवित्र भाषण करना, लालच करना, मृग्य करना और अज्ञान से बचा जाय।

इस प्रकार उपयोगी ज्ञान को समझ जाने पर उनका नाम बुद्ध (ज्ञानी) हो गया। उन्होंने लोगों को समझाया कि जो व्यक्ति इन नियमों का पालन करते हुए सबसे प्रेम-भाव रखेगा, रंग-रूप से दूर रहेगा वह अपने जीवन-काल में शरीरान्त होने पर भी समस्त अशुभ परिणामों से दूर रहेगा। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य जंगल में जाकर तपस्य करे और भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट सहन करे। मुख्य बात यह है कि अपने चित्त को सन्तुलित रख कर किसी से दुर्व्यवहार न किया जाय। सच्चा धार्मिक कही है जो हृदय से प्राणिमात्र के प्रति सदभावना रखे और कल्याण-कामना करे। जो किसी से द्वेष न रखेगा, पीड़ितों और अपावग्रस्तों की सहायता से मुख नहीं पाड़ेगा, कुमार्ग से बचकर रहेगा उसे जीवन-मुक्त ही समझना चाहिए।

मगध में 'कस्सप' और 'नादिकस्सप' नाम के दो अत्यन्त प्रसिद्ध साधु रहते थे, इनसे प्रत्येक के धर्मार्थ सौ शिष्य रहते

थे। बुद्ध ने उनको बतलाया कि जो तपस्य किसी प्रकार के फल की इच्छा रखकर की जाती है, उससे कामना का नाश नहीं होता और बिना कामना के मिटे चित्त की निर्मलता प्राप्त न हो सकती। उन्होंने बुद्ध जी के उपदेश की सच्चाई को अनुभव किया और अपने एक हजार चेलों सहित उनके अनुयायी बन गये। वहाँ से आगे चलकर जब सज्ज विम्बसार की राजधानी 'राजगृह' में पहुँचे तो वहाँ भी उनका बड़े उत्साह से स्वागत किया गया। पर विम्बसार को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि 'कस्सप' जैसे बुद्ध महात्मा नवयुवक बुद्ध जी के शिष्य हो गये। इसकी जाँच करने के लिए उसने अपना एक दूत उनके पास भेजा तो 'कस्सप' ने कहा—

निर्मल अक्षय अनादि ज्ञान जिसने है बाप !
उसी ज्योति-मगवान् बुद्ध को गुठ बनाया ॥

बुद्ध जी ने मनुष्यों को जिस स्वाभाविक धर्म का उपदेश दिया उसका आधार मुख्य रूप से मन की भावनाओं पर था। बाह्य आचरण को उन्होंने सदैव हीन कोटि का धर्म माना, क्योंकि उसमें स्थिरता नहीं रहती और देश-काल के अनुसार वह बदलता रहता है। इसलिये वे किसी को शिष्य बनाने की टीका देने में भी किसी प्रकार का आडम्बर नहीं करते थे। जब शारिपुत्र तथा मीदगल्यावन जैसे प्रमुख भिक्षुओं ने उनसे प्रव्रजति करने की प्रार्थना की तो बुद्ध जी ने यही कहा—

आओ भिक्षुओ ! धर्म तो स्पष्ट और सरल होता है। जब मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं को त्याग कर कल्याण भावनाओं से सीधी-सटी शिक्षाओं पर आचरण करने लगता है, तो उसे स्वयं ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह भव-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

जाति या कुल श्रेष्ठता का आधार नहीं

बाह्य धर्मोत्तर के समान ही बुद्ध जी जाति का कुल को भी महत्त्व नहीं देते थे। एक बार जब भिक्षुओं के संघ में इस बात पर विवाद उत्पन्न हुआ कि प्रथम आसन, प्रथम भोजन का पौसा किसको दिया जाय तो किसी ने क्षत्रिय, किसी ने ब्राह्मण, किसी ने वैश्य कुल से भिक्षु बनने वालों को प्रथम स्थान देने का सुझाव दिया। पर बुद्ध जी ने इसको अनुचित मान कर कहा—

“भिक्षुओ ! जाति या कुल के आधार पर किसी को सम्मान नहीं दिया जाता। इसलिये जो जितना पहले प्रव्रजित हुआ है वह उनका ही मुख्य स्थान जायेगा, चाहे वह किसी भी जाति का हो।”

मगवान् बुद्ध के इन स्वाभाविक और न्याय पर आधारित नियमों के कारण बौद्ध भिक्षु संघ की शक्ति बहुत बढ़ गई और उनमें से ऐसे परमार्थी और त्वाणी प्रचारक निकले जिन्होंने संपूर्ण भारत ही नहीं दूर-दूर देशों में भी बौद्ध धर्म का डंका बजा दिया। आज भी उसका प्रभाव बहुत अंशों में दिखाई पड़ रहा है।

स्त्रियों के अधिकार

बुद्ध देव के समय में शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी बहुत कम सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मणों ने तो 'शूद्री स्त्री न वीथलाम' की उक्ति के आधार पर स्त्रियों को सब प्रकार के हास्योपहास और

१४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

सामाजिक अधिकारों के अयोग्य ठहरा दिया था। बुद्ध ने इस स्थिति को समाज के लिए हानिकारक समझा और अपने संघ में स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह सम्मिलित होने का अधिकार दिया।

एक बार प्रयाण करते हुए बुद्ध जी जब वैशाली नगरी में पहुँचे तो वहाँ की प्रसिद्ध वैश्या 'आम्रपाली' के बगीचे में ठहर गये। वह समाचार सुनकर वह भी बगीचे में पहुँची और बुद्ध जी का उपदेश सुन कर अगले दिन उनके अपने वहाँ आकर ग्रहण करने को निमन्त्रित किया। जब वह समाचार वैशाली के सत्तारों ने सुना तो उन्होंने इसमें अपनी बड़ी बेइज्जती समझी और आम्रपाली को एक लाख रुपया लेकर भोजन कराने का अधिकार उनके देने का आग्रह किया। पर आम्रपाली ऐसे किसी प्रलोभन में न आई और उसने बुद्ध जी के संघ को भोजन कराके अपना बगीचा दान कर दिया और स्वयं उनकी शिष्या हो गई।

इस प्रकार बुद्ध जी ने पचास वर्ष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके उस मानव-धर्म का प्रचार किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह ब्राह्मण हो या शुद्र या स्त्री, धर्म मार्ग पर समान अधिकार था। इस प्रकार की शिक्षा से भारतीय समाज के अनेक ठेव, दुर्गुण दूर हो गये और उसने ऐसी प्रगति की जिसका उत्तराग्रह हजारों वर्षों में न मिला था। पर कुछ सौ वर्ष बाद बौद्ध-संघों में भी स्वार्थी व्यक्तियों का प्राबल्य होने लगा और आज इस देश में उसका नाम ही शेष रह गया है।

इस बात की सच्चाई से कोई इनकार नहीं कर सकता कि धर्म एक ऐसा विषय है कि जिसमें भेद-भाव, छोटे-बड़े, समता विषमता को स्थान देना अनुचित है। जो लोग धर्म के नाम पर इस प्रकार की प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं वे न्यायशील लोगों की दृष्टि में निन्दा के पात्र होते हैं। महापुरुष बुद्ध ने इन दोनों के निराकरण के लिये अपना ही जीवन अर्पित नहीं कर दिया बल्कि अपनी पत्नी, पुत्र, भाई को भी अपने साथ गृह-त्यागी बनाकर धर्म-प्रचार में लगा दिया। यदि उनके इस अभूतपूर्व त्याग के लिए लोगों ने उनको भगवान् की पदवी दी— नौवाँ अवतार मानकर पूजा की, तो यह उचित ही कहा जाएगा।

बुद्ध-जीवन के कुछ अन्य प्रेरक प्रसंग

बुद्ध शरणं गच्छामि

कपिलवस्तु में भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ के साथ प्रवेश किया है, यह समाचार सुनकर शुद्धोधन का हृदय शोकविदग्ध हो गया। कैसा दुर्भाग्य है यह ? जिस पुत्र को चक्रवर्ती सम्राट बनकर इसी राजधानी में, इसी राज-सिंहासन पर आसीन होना था, जो मेरा एकमात्र पुत्र है और जिसे लेकर क्या-क्या स्वप्न नहीं सँजोये थे ? वही पुत्र आशा और कल्पना के विषीत इसी नगरी में दार-द्वार जाकर भिक्षा माँग रहा है जबकि उसके नगर बाज़ा पर निकलने पर लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते, उसके अभिवादन में नतमस्तक हो उठते।

शुद्धोधन इन्हीं विचार, भावतरंगों में डूब उतरा रहे थे कि किसी ने आकर सूचना दी, निम्नानुसार अभिलाष गौतम राजभवन के द्वार पर भी भिक्षा के लिए आए हैं। दौड़ का शुद्धोधन द्वार पर पहुँचे देखा, उनका अपना सिद्धार्थ तापस वेश में सामने खड़ा है। उस वेश को देखकर पितृ हृदय खींचकर उठा। शुद्धोधन ने कुछ उपात्म्य भरे स्वरों में भी कहा— “क्या वही हमारे कुल की परिपाटी है ? फिर कुछ रुक कर बोले, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा सिद्धार्थ। नमः इस वेश का परित्याग कर वह सिंहासन सम्हालो।”

भीर-गम्भीर वाणी में गौतम ने कहा, ‘राजन’ यह आपके कुल की नहीं, बुद्ध कुल की परम्परा है। मैं अब राज-परिवार का सदस्य नहीं हूँ, अल्प-कल्याण और लोक-मंगल की साधना में लगे भिक्षु संघ का परिजन हूँ।

बाणी में जो दृढ़ता थी, जो संकल्प था उसने शुद्धोधन को निहतर कर दिया और जैसे इतने में ही सन्तोष मान रहे हों, वह बोले— “तो भिक्षु ! क्या तुम मेरा अतिथ्य स्वीकार करोगे ?”

“अवश्य राजन ! अपने संघ सहित मैं कल मध्याह्न समय पुनः आऊँगा” बुद्ध ने कहा और वे चले गये।

नियत समय पर बुद्ध देव आये। उन्होंने सभी परिजनों का अभिवादन स्वीकार किया, जैसे सर्वत्र करते थे और शांत भाव से धर्मदर्शन की। ऊपर पति के विरहियोग से पीड़ित यशोधरा को तथागत के आगमन का समाचार मिला तो उसका हृदय प्रसन्नता से छल-छला उठा। पति समीप नहीं है तो क्या हुआ ? उनकी स्मृतियाँ तो मेरे साथ हैं। लोक-कल्याण के लिए उन्होंने भले ही मेरा परित्याग कर दिया हो ? अर्द्धांगिनी के रूप में भले मेरा उन पर कोई अधिकार न हो परन्तु एक पत्नी के रूप में तो मैं उनकी प्रियपात्र हूँ ही।

यशोधरा इन्हीं विचारों में डूब-उतर रही थी कि भगवान् पधारें उन्होंने यशोधरा के त्याग की उपेक्षा नहीं की थी। वे उसके पास आये और पूछ यशोधरे ! कुशल से तो हो ?

‘हैं स्वामी’ विर-प्रतिष्ठित स्वर सुनकर यशोधरा का हृदय गद्गद हो उठा।

“स्वामी नहीं भिक्षु कहो यशोधरे ! मैं अपना धर्म निभाने आया हूँ। सोतो तुम कुछ भिक्षा दे सकोगी ?”

यशोधरा विचारमग्न हो उठी। अब क्या बचा है देने के लिए ? अपने दाम्पत्य की स्मृतियों को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है, जो देने योग्य हो। कुछ क्षण तक विचार करते रहकर उसके चेहरे पर निश्चय के भाव उभरे और बोली, “भन्ते ! अपने पूर्व सम्बन्धों को ही दृष्टिगत रखकर क्या आप भी कुछ प्रतिदान कर सकोगे ?”

“भिक्षु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न होना होगा तो अवश्य करूँगा आर्य” बुद्ध ने उत्तर दिया।

यशोधरा ने अपने पुत्र सहूल को पुकारा और तथागत की ओर उन्मुख होकर बोली, “तो भगवन ! सहूल को भी अपनी पितृ परम्परा निभाने देकर उसे अपना अधिकार पाने दीजिए।”

और फिर सहूल से बोली, जाओ बेटा ! अपनी पितृ परम्परा का अनुकरण करो। बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, सध की शरण में जाओ।

राहुल के समवेत स्वर्ण में गुँज उठ, बुद्ध शरण गच्छामि ।
उस महान् विदुषी ने अपने महात्माग का एक और परिचय दिया ।

जलती आग के ईंधन

नाम था उसका पट्टाचारा, बहुत ही सुन्दर और चतुर । लड़की चन्द्रकलाओं की तरह बढ़ने लगी । किशोरावस्था पर भी न हो पाई ही कि वह पड़ोसी युवक के साथ में बंध गई । माता-पिता ने रोका, समझाया भी पर वह मानी नहीं । रात्रि में वे दोनों प्रेमी घर छोड़कर निकल पड़े और योजनाओं दूर जाकर किसी नगर में रहने लगे । युवक मजदूरी करता और वे दोनों सुखपूर्वक निर्वाह करते ।

इस तरह बहुत दिन बीत गये । पट्टाचारा गर्भवती हुई उसने पति से कहा चलो पितृगृह चलें । प्रसव का प्रबन्ध वहीं ठीक तरह हो सकेगा । युवक ने सुझाया— वहाँ चलने पर क्रोध और अपमान सहना पड़ेगा सो पट्टाचारा चुप हो गयी । पुत्र जन्म— नाम रखा गया— रोहित । सुन्दर पुत्र को पाकर दोनों का सुख और भी बढ़ गया ।

रोहित दो वर्ष का हुआ था कि पट्टाचारा फिर गर्भवती हो गई । अब की बार कठिनाई अधिक थी । बड़े बच्चे को पालना और नये का प्रसव दोनों कार्य किसी को सहायता चाहते थे । सो उसने फिर पितृगृह चलने की बात कही । अब की बार युवक भी सहमत हो गया । बात पुरानी पड़ जाने से क्रोध शान्त हो गया होगा । बहुत दिन से बिछुड़ने के बाद मिलने से स्त्री को सन्तोष होगा और बच्चे भी पल जाएंगे । पति-पत्नी बच्चे को लेकर अपनी जन्मभूमि चल दिये ।

रास्ता लम्बा था और घना बीहड़ । चलते-चलते पेड़ के नीचे सुस्ताने लगे तो पट्टाचारा को प्रसव पीड़ा उठ खड़ी हुई । दूसरा पुत्र जन्मा आग की आवश्यकता पड़ी तो युवक लकड़ियाँ बीन लाया । दुर्भाग्य ने सर्प बनकर उसे डस लिया । वापस लौटते-लौटते उसके श्वाण-पखौक उड़ गये । असहाय पट्टाचारा इस विपत्ति में किर्कतव्य-विमूढ़ हो गई । रोई भी बहुत । पर कुछ करना तो था ही । पति की लाश को उसी ने नदी में बहाया और घर चलने के लिये नदी पार करने की तैयारी करने लगी । उस समय वह बहुत अशक्त हो रही थी, दोनों बच्चों को एक साथ लेकर चलना कठिन था । सो सोचा एक-एक को लेकर नदी पार करे । छोटे बच्चे को लेकर पार गई उसे पत्तों से ढका और दूसरे को लेने के लिए लौटी । इतने में दुर्भाग्य दूनी विपत्ति लेकर फिर आ धमका । नवजात शिशु को पत्ते के नीचे से कुदे कर भृंगाल ले भगा और बड़ा बच्चा माँ के पास आतुरता के साथ दौड़ा तो वह भी नदी में बह गया । दो घण्टों के भीतर उसका सोने का संसार उजड़ गया । पति मरा— दोनों बच्चे मरे— प्रसव कष्ट— बीहड़ बन— दूर की यात्रा— दुष्प्र-निवृत्ति तक के साधनों का अभाव— एकाकीपन इन सब संकटों ने मिलकर अक्रमण किस तो बेचारी हतप्रभ हो गई । विक्षिप्त जैसी स्थिति में रोती-चिल्लाती अपने पितृगृह की ओर अहर्निश चलती रही और अन्ततः किसी प्रकार मरते गिरते वहाँ तक जा पहुँची ।

पितृगृह पहुँचने पर पता चला कि उसके माता-पिता मर चुके थे । सास-श्वसुर बीमार पड़े थे । एक भाई बचा था सो भी पहुँचने के दिन ही मरा और उसकी चिता पर जलती पट्टाचारा ने देखी । वहाँ भी सारे आश्रय समाप्त हो चुके थे । शोक का समुद्र ही हर दिशा में गरज रहा था । श्वेत लड़की इतना सहन न कर सकी और वह विलाप करते-करते पागल हो गई । भोजन-वस्त्र तक को उसे विस्मृति हो गई ।

श्रवस्ती के लोग उसे पकड़ कर भगवान् बुद्ध के पास ले पहुँचे भगवान् ने उसे दुलार किया— सान्त्वना दी और भोजन, वस्त्र के अतिरिक्त समुचित विद्या का प्रबन्ध किया ।

थोड़े दिन में उसे धीरज बँधा । तब तथागत ने उसे अपने पास बुलाया— और ज्ञान का अमृत बरसाने हुए कहा— शुभे, यह ससार जलती हुई आग की तरह है । हम सब ईंधन की तरह हैं जो जलने के लिए ही जन्मे हैं । मरण एक अविचल सत्य है, उससे बचा नहीं जा सकता । कोई कितना ही दुःखी क्यों न हो, मरण हुकूम नहीं । अपने-अपने प्रारब्ध और समय के अनुसार सभी को आगे-पीछे मरना पड़ता है । सो जैन किसके लिए शोक करे ?

पदों, यहाँ कोई किल्ले का नहीं । एकाकी अगाधन और एकाकी गमन के सत्य को समझो । रहतीरों के झुण्ड में क्षणिक मिलन का मोह तो माने, पर बिछुड़ने के तथ्य को भी जानो । जीव को रोज ही घिलना-बिछुड़ना पड़ता है, सो सन्तुलन मत खोजो, जाने वालों को जाते देखकर अपने मरण की तैयारी में लगो । महासत्य को ढूँढो और आत्मा के दुर्ग में प्रवेश करके सन्तापों से अपने को बचाओ ।

तथागत के अमृत वचन पट्टाचारा के अन्तःकरण को बीधते चले गये । उसने शोक के परिधान उतर फेंके और महासत्य की शरण में जाने वाली श्वेतराजरी तपस्विनियों की पंक्ति में जा बैठी ।

महाभिक्षु पराभूतो

तथागत आज अपनी ही जन्मभूमि कपिलवस्तु पधारे हैं । शाक्यों का उत्साह उमड़ पड़ा, उन्होंने राजधानी को नव-वधू की तरह तोरण-वन्दनकारों, लता, बल्लारियों और पद्म-पसूनों से सजाया है । महाराज शुशोभन अत्यन्त कृत हो गये हैं, आयुष्य का प्रभाव उतना नहीं है जितना पुत्र-विधेय की पीड़ा ने बका दिया है, किन्तु आज उनकी जोर्ब-काया में भी नव-जीवन संचरित हो उठा है, आँखों में जीवन की चमक आ गयी है । उन्होंने स्वयं ही सारी व्यवस्था का निरीक्षण किया । हर रथान्त में राजकुमार का किशोर रूप आँकता है तो महाराज की आँखें बरबस बरसने लगती हैं । फिर नया उत्साह आगता है आज वही मेरा राजकुमार तो आ रहा है फिर उनका भिक्षु रूप— उनसे भेंट— पुनः विदाई की नीरवता महाराजा का मन इसी तरह उद्वेलित हो रहा है ।

राजगता की भी स्थिति ऐसी ही है । राजकुमार राहुल ने अभी तक कभी भी अपने पिता को नहीं देखा, प्यासे हरिण-शावक की तरह बार-बार उनकी दृष्टि राजपथ पर दौड़ती है और सिकता भ्रम की तरह घटक-घटक कर लौटती है । यदि राजमहल के किसी प्रकोष्ठ में शान्ति है, निश्चल है, मौन है तो वह महारानी यशोधरा का अन्त पुर है ।

१.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

शुभ श्वेत वेश-भूष में आज वे साकर तपमूर्ति प्रतीत हो रही हैं— सभी जानते हैं इस सागर का अन्तर्ध्वंस शंकाका सङ्घ कर देने वाला है, अतएव उस निश्चल नीरवता को कोई भंग करने का साहस नहीं करता ।

नियत समय पर भगवान् बुद्ध का पदार्पण हुआ । भिक्षु वेव में देखकर नगर निवासियों की आँखों के सरावर फूट पड़े हैं, कोई किसी से कुछ कहता नहीं । सारी कर्पिलवस्तु शंक के अन्ध सागर में डूब गई है ।

राजभवन का सभा मण्डप धार्मिक प्रवचन की यही व्यवस्था की गई । एक ओर तथागत के लिए उन्नत मंच, उनके सम्मुख ही राजपरिवार के लिए आसन—एक ओर सम्प्रान्त दूसरी ओर प्रजाजन । सब विस्तृत, भगवान् के अमृत उपदेशों की तुल्य— महाकाय गुदोधन ने आकर अपना स्थान ग्रहण किया । महाप्रजापति गौतमी, राहुत और मन्त्रिपरिवर् एक-एक कर सभी बिराज गये । किन्तु भगवान् बुद्ध जिसे खोज रहे हैं वह पूर्ति ? हाँ यशोधरा नहीं आई । उन्होंने निश्चय किया है यदि वे आयेंगे तो उनकी पूजा करूँगी, किन्तु जाऊँगी नहीं, भारतीय नारी जिस तरह कोई अपराध नहीं कर सकती उसी तरह उसका स्वाभिमान भी अडिग रहता है ।

भगवान् का धर्म-प्रवचन प्रारम्भ हुआ । ईश्वर, जीव और जगत के स्वरूप का वे धार्मिक विश्लेषण कर रहे हैं । ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ज्ञान के रूप में भक्ति वैराग्य के रूप में परिणत हो रही है, किन्तु बोधिसत्त्व आज अपने ही अन्तर्द्वन्द्व से पराभूत हो रहे हैं । यशोधरा का न आना उनकी स्मरणशक्ति को विच्छाद मण्डप में खींच ले जाता है और कहता है— संसार को धर्म का उपदेश करने वाले तथागत ! एक दिन तुमने अग्नि की साक्षी में वचन दिया था देवि । मैं तुम्हें अर्द्धांगिनी के रूप में ग्रहण करता हूँ । सात जीवन तुम्हारा भरण-पोषण और निर्वाह करूँगा ? क्या यही ही तुम्हारी प्रतिज्ञा जो तुम मुझे सोता हुआ छोड़कर भाग गये ?

उपदेश समाप्त हुआ । कोई नहीं जानता आगे क्या होगा ? तथागत अपने आसन से उठते हैं अन्तर्द्वन्द्व तभी शान्त होगा । जब वे स्वयं यशोधरा के द्वार पर जाकर क्षमा याचना करेंगे । राजभवन सिसकियों से भरा हुआ है । बोधिसत्त्व सीधे यशोधरा के पास पहुँचे । करुणा और तपश्चर्या की मूर्ति यशोधरा ने प्रणिपात किया । धन की सम्पूर्ण वेदना सागर बनकर उमड़ पड़ी । तथागत के पैर धुल गये किन्तु पश्चात्ताप नहीं । वह तभी धुला जब उन्होंने स्वयं यशोधरा से क्षमा याचना की— देवि । संसार के कल्याण के लिये यह आवश्यक था, तथापि आज मैं तुम्हारी तपश्चर्या के आगे पराभूत हूँ । तुम्हारी तपश्चर्या चिरकाल तक इस देश जाति और संस्कृति को जीवन देगी ।

उसे खोजा होता

“वह इधर ही गयी होगी ! कुछ भी नहीं रहने दिया है उसने । सब अपने साथ समेट ले गयी है, किसी ने अत्यन्त अद्वेग धरे स्वर में चिन्ता प्रकट की ।”

हम तो सर्वथा अकिञ्चन हो गये— दूसरा स्वर उभरा । साथ ही आश्वस्त भाव भी— “पर वह इस वनछाड़ से भाग कर जायेगी

कहाँ ? कितने अप्रत्यक्ष वे हमारे रत्नाभूषण । हम उसके लिए उत्खलन का कोना-कोना छान मारेंगे ।

घटना उलबल की है । कुछ लोग वन-विहार के लिए आये थे— साथ में रूपजीवा वेश्याओं को लेकर । रागरंग में आकंठ डूबे, अपनी सुध-बुध भूले बनादस पुरुषों को विलास मान देखकर कोई वेश्या उनके सब रत्नाभूषण चुराकर भाग निकली थी । सुध आने पर वे लोग उसी की खोज करने के लिए वन का पता-पता छानने के लिए निकल पड़े थे ।

वन के उस भाग में प्रवेश करते ही उन्होंने विशेष शांति का अनुभव किया । कुछ दूर जाने पर उन पुरुषों ने एक दिव्य पुरुष को घने वृक्ष की छांव में पल्लसन लगभग बैठे हुए देखा । यह दिव्यपुरुष और कोई नहीं भगवान् बुद्ध ही थे ।

रत्नाभूषण चले जाने के क्षोभ से बिभुषण पुरुष घोर कर्म करने वाली रूपजीवा को खोजने हुए भगवान् बुद्ध के समीप पहुँच गये थे । भगवान् बुद्ध के तेजोदीप्त दिव्य आभापूरित परमेशान्त मुख-मण्डल को देखकर अनायास ही अभिभूत हो ठठे और उन्होंने उस दिव्यमूर्ति की चरण भूति अपने मस्तक से लगा ली । भगवान् के कृश शरीर की स्वर्णिम प्रदीप्ति से विमुग्ध हो गये थे ।

आपने उसको इधर से जाते देखा है— “भद्रवर्गीय पुरुषों ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया ।”

“तुम्हें अपने आपके सिवा दूसरा दीख ही नहीं रहा है मित्रो ! इतना ही सत्य है” — कहकर भगवान् मौन हो गये ।

‘भन्ते हमारा आश्रय एक स्त्री से है । एक ने कहा ।’

कैसी स्त्री ? भगवान् बुद्ध की परमधर्मात्मा दृष्टि भद्रगणों पर टिक गयी । उनके दृष्टिपान से ही भद्रगण आहत हो ठठे लगा वे अनुचित कर्म के कारण पीड़ित हैं । वह कर्म और उसकी हानि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से छिपी नहीं रह गयी है । एक ने कहा— यह वेश्या है भन्ते हम लोग अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वन-विहार के लिए आये थे । पत्नी के अभाव में एक पितृ के मनोरंजन के लिए यह वेश्या हमारे पास थी । विशेष राग-रंग में लिप्त देखकर वह हमारे रत्नालंकार लेकर इसी वन खण्ड में निकल कर छुप गयी है । हमें उसी की खोज है ।

वन-विहार मनोरंजन किन्तुलिष्ट पद मर्दस्थित पुस्कान के साथ भगवान् बुद्ध ने कहा । पुस्कान ने उन लोगों के मर्म वेध दिया प्रतीत हुआ अपराध पकड़ा गया । सकुचाते हुए वे कुछ न कह सके । फिर भगवान् ने प्रथम ही कहा— आनन्द के लिए ही न ।

तो भद्रो ! जगत के विषय भोग और सुख तो नश्वर और क्षणिक हैं । उनसे नश्वर और क्षणिक का आनन्द ही मिलेगा । उनके पीछे अन्तर्भाव से लौड़ने पर इसी प्रकार पश्चात्ताप, हानि तथा क्षोभ के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलने का ।

“शाश्वत आनन्द तो शाश्वत सत्य से ही प्राप्त है । शाश्वत सत्य केवल आत्मा ही है । तुमने उसे खोजा होता तो रत्नालंकार का दुःख नहीं झेलना पड़ता” भगवान् बुद्ध ने कहा ।

भद्रवर्गीयों के धर्म चक्षु खुले । रत्नालंकार की चिन्ता छोड़कर उन्होंने कहा— “ठीक है भन्ते ! हमें स्त्री की आवश्यकता नहीं है आत्मा की खोज करनी है ।”

और उन्होंने भगवान् से प्रव्रज्या उपसम्पदा की वाचना की ।

दान का धर्म

“प्रभु ! आज इस दीन का गृह व्रीचरणों से पवित्र हो ।” वैशाली के दण्डनायक करबद्ध हो तपागत के सम्मुख उपस्थित थे । उन्होंने अपना रथ— उपवन के बाहर ही छोड़ दिया था । श्रद्धा से प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होने पर वे खड़े हो गए थे और भगवान् बुद्ध ने उनकी ओर दृष्टि डलाई, उनका कण्ठ गदगद हो उठा । “भिक्षु संघ का स्वागत करने का सौभाग्य पाँवने आया है यह जन आपके समीप ।”

“भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले कभी बुद्ध ने किसी से ऐसा नहीं किया है ।” पता नहीं क्या बात हुई ? दण्डनायक के मुख पर दृष्टि पड़ते ही तपागत के नेत्रों में एक अद्भुत तेज आ गया । केवल चिरंजीव आनन्द ने स्मरित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं । तपागत का स्वर गम्भीर था । “दान करना चाहते हो तो दान का धर्म समझे और श्रेष्ठतम दान करो ।”

कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते । उपस्थित गृहस्थों तथा सामान्य नागरिकों ने एक-दूसरे की ओर देखा । भिक्षु वर्ग में भी सब गम्भीर नहीं थे । अनेक दृष्टियाँ ठठी दण्डनायक की ओर । उनमें घृणा-तिरस्कार तथा अबहेलना के भाव उठे यह कृपण है ।

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गए । उनकी मुखकान्ति सुप्त हो गई । शरीर काँपने लगा । सबको भय लग्न वैशाली का परम पराक्रमी उपतेजा दण्डनायक कुन्ड हो गई । कुछ बखेड़ा उठेगा ! कुछ भी तो नहीं हुआ इम प्रकार । दो क्षण पश्चात् दण्डनायक का अत्यन्त हाहा स्वर सुन पड़ा जैसी प्रभु की आज्ञा ! उनका मस्तक किंचित् झुका वह शीघ्रता से मुड़कर उपवन के बाहर हो गए ।

“प्रभु ! वह रो पड़ा ।” चिरंजीव आनन्द प्रभु के पृष्ठभाग में खड़े थे । उनकी दृष्टि के ठीक सम्मुख थे दण्डनायक । अंतः उसके नेत्रों में जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करने पर भी बिन्दु छिलमिला उठे थे, आनन्द से वे छिपे नहीं थे । अब उन ठठार का इतना दृक्त्व हो उठा था और वे प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे । आपकी अस्वीकृति ने उसे वैदना से झकझोर दिया है । प्रभु प्रातः उस पर कृपा कर सकते हैं ।

एक दिन से अधिक का निमन्त्रण तपागत स्वीकार नहीं किया करते । भिक्षु कल और परसों का प्रबन्ध करने लगे इसे वे उनके त्यागव्रत से ध्युत हो जाना मानते हैं । वह खूब जानते हुए आनन्द ने प्रार्थना की थी । वे इतना ही चाहते थे कि कोई ऐसा उत्तर मिले, जिससे उस संतप्त हृदय को आश्वसन प्राप्त हो जाय । वह तो निश्चित है कि दण्डनायक दान के धर्म को खोलेंगा, कृपणता के कलंक को धोने की चेष्टा करेगा पर कितनी ? प्रश्न अतल में खोने लगा ।

‘उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया ।’ भगवान् अभित्वाच के नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे । वे जैसे कहीं दूर से कुछ कह रहे हों “उसके आगत को न जानकर तुम दुःखी हो रहे हो ।”

कुछ होने वाला है, निश्चित ही कुछ अद्भुत दान का धर्म अब उद्घाटित होगा । आनन्द अब शान्त हो गए, क्योंकि वे जानते थे कि भविष्य का स्पष्टीकरण तपागत का स्वभाव नहीं है, वे संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं ।

वैशाली का प्रचण्ड दण्डनायक— सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं । वह नगर में जिस ओर से निकल आये महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनों से उठकर उसे अभिवादन करते हैं । उस उपतेजा दण्डनायक का अपमान ! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों, भिक्षुओं से परी सभा में उसे कृपण का सम्बोधन ! गौतम के शत्रु इससे सन्तुष्ट हुए । उन्होंने सैनिकों के प्रधान को बड़काने का अवसर पा लिया था

“स्वामी !” साथ के सैनिक स्वतः उत्तेजित थे । दण्डनायक के लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया । उसके नेत्र अंगार हो रहे थे मुख अरुण हो गया “भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है ।”

“मद्रसेन ! तुम भगवान् को अपसब्द कहने की धृष्टता कर रहे हो ।” दण्डनायक ने दृष्टि कड़ोर कर ली । “केवल इस बार मुझे सजा किया जाता है ।”

“अपका अपमान किया उस.....”

“घुप रहे ! शिष्टक दिया दण्डनायक ने । शूर को कुछ समझदार भी होना चाहिए । मैं अपनी कत स्वयं समझ सकता हूँ ।” वह सोचता हुआ रथ पर जा बैठा । सैनिक मुँह बाएँ खड़े थे । वर पल्लवने पर चिन्तन की गति यमी नहीं अविराम बढ़ती गई । दान सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तिबल का नियोजन यही न । विचारों का घुमड़न किन्तु वे बदले नहीं रहता । चिन्तन की तीव्रता का मतलब है गतिशील कर्म । ऐश्वर्य लुटने लगा, पत्नी सहयोगिनी थी दीन, दरिद्र, पिछारी, अर्ध सभ्र कृतार्थ हो रहे थे । साधनों के बदले आशीर्ष बरस रही थीं । चतुर्दिक सन्धति फैल गई ।

स्माति के स्वर आनन्द के कानों तक पहुँचे । उनकी बाणी ने उसे बुद्ध तक पहुँचाया । वह सुनकर मुस्कराए— सम्पदा को लुटा फेंकने का नाम तो दान नहीं है । पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना संकित साधनों को भावुकतावश फेंकने लगना, अर्जित पूँजी को अंधेरे कुँरे में डालना है जिसके सत्परिणाम कम दुष्परिणाम अधिक देखने में आते हैं और समय आने पर सत्पात्र के आह्वान को अनसुना कर देना साँप की तरह कुण्डली बनाकर अर्जित साधनों पर बैठ रहना, फस आने जाने को काटने टौढ़ना उससे कहीं अधिक घातक है । आनन्द भीन हो उनकी बाणी सुनते रहे । दान का धर्मदमादन अभी बाकी था ।

अगले दिन प्रातःकालीन प्रवचन की समाप्ति पर सबने देखा कि कल की भाँति दण्डनायक आज भी करबद्ध सम्मुख खड़े हैं ।

“भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले भी कभी किसी से बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है । अब दण्डनायक को प्रार्थना करने का भी अवकाश नहीं दिया” “तुम दान करो प्रथम । प्रथम कोटि का दान दे सकने का साहस जुटाओ ।”

जैसी प्रभु की आज्ञा । बुद्ध की बाणी ने उपस्थित जन-समुदाय को इतना आश्चर्यचकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायक

१८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

की शान्त स्वीकृति ने। दण्डनायक ने अपने सर्वस्वदान की चर्चा तक नहीं की। उन्होंने तो कल की प्रति मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़ अपने रख की ओर।

चिरजीव आनन्द आज भी प्रभु के पृष्ठप्रान्त में थे। आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक। आज उनकी दृष्टि बड़ी साक्षान्तों से उनके मुख पर स्थिर थी। आज नेत्रों में आँसुओं की जगह अपार भाव्यीर्य था। गणनायक, साधन्य नायक, श्रेष्ठिबर्ग, मिथुगण—आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक उनकी ओर नहीं देख सका। आज सबके नेत्र प्रभु की ओर उठ गए। प्रभु इन्हें कृपण कहते हैं? क्या रहस्य है? तत्काल के इस अदभुत व्यवहार का? वैशाली के दण्डनायक से और किस दान की उन्हें आज्ञा है?

दूसरी ओर दण्डनायक के मन में मनन की गति अविद्यमान थी। सत्कार्य में सन्त्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का निवोजन दान है। पर सत्कार्य और सन्त्रयोजन क्या है? इसका निर्धारण कौन करे? टिक्-टिक् करती घिनन की सुई यहाँ अटक अटक गई। यह निर्धारण तो युगावतार ही कर सकने हैं, युगदृष्टा से ही सम्भव है यह महान् निर्णय। उन्हें स्वयं की भूल समझ में आ रही थी। सब अभी तक तो दान के नाम पर तो सिर्फ अहं का फेरण रहा। नाम को फैतान, बरा को बटोरने की ओछी शुरुआत भा हुई। ओह! मन प्रावृत्तिल से भर उठा और स्वयं की शक्तियाँ क्या हैं? कहाँ हैं, इनका स्रोत? अन्तराल के किसी के उभरते इन सबलों के साथ जकड़ भी हलें, शक्तियों के मूल है श्रम और समय। इनका स्रोत है स्वयं का व्यक्तित्व। तब तो श्रेष्ठतम दान है कुछ और सोचते हैं इतने में सहधर्मिणी भागती हुई आयी। उत्साह और उत्साह के अतिरेक में वह हँफ रही थी बड़ी मुश्किल से कह सकी, स्वयं प्रभु द्वार पर पधारे हैं।

कानों में जैसे संजीवनी का बोल पड़ा। वह धीरे-से उठे पत्नी का हाथ पकड़ा द्वार पर आए। चरणों में प्रणति निवेदन करते हुए बोले, “प्रभु सम्पत्ति आपकी, निवास आपका और हम दोनों आपके।”

महादान! का यह स्वरूप देख सभी आश्चर्य-चकित थे। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। सभी के आश्चर्य के आवरण को तोड़ते हुए स्वयं युगावतार की बाणी गुंजी, सृष्टि के इतिहास में युगों बाद विरले क्षण आते हैं जब पण्डित-स्वयं मानव से दान की गुहार करती है। ऐसे में रंग-बिरंगा पत्थर चातुओं के दुकड़ों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है स्वयं के श्रम और समय का दान और इससे भी कहीं श्रेष्ठतम है स्वयं का, स्वयं के व्यक्तित्व का दान। दान के ये तीन प्रकार श्रेष्ठ—श्रेष्ठतम है। उस दिन सायंकल मिथु संध में एक मिथु और एक मिथुणी बढ़ गई। जिसे संध ने पहचाना और शेमा के नाम से जाना। भगवान् स्वयं उन्हें समझाते हुए कह रहे थे “धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित परिक्रमकों लोक-जीवन को अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है मानव! उसे दान के मर्म को समझो। जो कुछ है उसी से नहीं कुछ है तो स्वयं से ज्योति का सत्कार करो। नवयुग तुम्हारे द्वार तक जयघोष करता आ जाएगा।

शाश्वत-सनातन : आंतरिक सौन्दर्य

भगवद्भारत विम्बसार के लिये आज का दिन बड़े हर्ष और गौरव का दिन है। भगवान् बुद्ध लोक-यज्ञ को निस्सार बताते हैं वे चाहते हैं ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का भेद संसार में न रहे, जीव मात्र परस्पर समत, ममता और शुचिता का जीवन-यापन करते हुए सुखपूर्वक रहें, वे छोटे बनकर रहना पसन्द करते हैं इसीलिए राजकीय अतिथि भवन में उतरने की अपेक्षा उन्होंने बेलवन को अपना विश्राम स्थल चुना है तथापि अतिथि से सघाट विम्बसार के ही हैं।

एक सामान्य परिचारिका से लेकर भगवद्भारत तक की, आज की सज-धज राज्याधिकार पर्व को पीक कर रही थी। समस्त स्वागत साज तैयार है किन्तु भगवद्भारत क्षेमा अब तक अन्यमनस्क हैं। अन्तःपुर के स्वाध्याय कक्ष में वे आचार्य धर्मपाल का जीवन-दर्शन पढ़ रही हैं। सागल नरेश भगवान् बुद्ध के परम निष्ठवान् शिष्य थे उसी की राज-कन्या क्षेमा के अन्तःकरण में तथागत के प्रति उपेक्षा का यह भाव छटकने वाला तो था ही। स्वयं नरेश उपस्थित हुये और पूछा—प्रियतम! समस्त राज-प्रसाद तथागत की अगवानी के लिये तैयार है किन्तु अपने अभी तक अपने परिधान भी बदले नहीं। राज-कुल अतिथि की यह अवमानना अच्छी नहीं—उठो! और स्वागत हेतु शीघ्र तैयार हो जाओ।

करबट के साथ पुस्तक का प्रस्तुत पृष्ठ बदलते हुए साम्राज्ञी बोली—महाराज! जिस व्यक्ति के लिए संसार निस्सार हो, सौंदर्य निस्सार हो उस व्यक्ति के सम्मुख जाकर संसारी जीव क्या करे? वहाँ जाऊँगी तो उनका प्रवचन यही तो होगा—यह संसार भ्रम है, सांसारिक सुख मिथ्या है और मिथ्या है सौंदर्य जिनके आधार पर ही हम अपने जीवन को सज्जते-सँवारते और सुख की कल्पना करते हैं?

“अखिर गृही हो या विरक्त”—विम्बसार बोले—जाना तो एक न एक दिन सब को ही पड़ेगा इसलिए पारलौकिक लक्ष्य की तैयारी जाने से पूर्व किस्म जाना ठीक है। यदि इस तरह का ज्ञान और मार्गदर्शन किसी योग्य पथ प्रदर्शक से मिलता है तो इसमें बुरा क्या? इसे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए प्रिये! साम्राज्ञी ने कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। इसी बीच तथागत वहाँ आ पहुँचे। समस्त राज-परिवार उनके स्वागत में दौड़ पड़ा। भगवान् बुद्ध ने क्षेमा जब कन्या ही थी तभी सागल में उसे देखा था। इन्होंने क्षेमा की कुशल-क्षेम गूँजी और साथ ही सम्झ भी गये कि उसका सौंदर्य अहंकार ही उसे यहाँ आने में बाधक बना है।

इधर वे अन्य सब लोगों से बातचीत कर रहे थे उधर उनके योग प्रभाव से क्षेमा को योग निद्रा आ गई। उसने देखा एक अत्यन्त सौंदर्यवती अप्सरा भगवान् बुद्ध को चँवर दुला रही है। कुछ ही निमेष के स्वप्न में उन्होंने अप्सरा की बाल्यावस्था, यौवन और जरा तीनों अवस्थाएँ देखीं। उसका शिथिल-जर्जर गाल, पके बाल, धँसी आँखें देखते ही क्षेमा का अन्तर्मन व्याकुल हो उठा। कहाँ गया उसका यौवन, कहाँ गया वह सौंदर्य जो अंग-अंग से कल्प भाव टपक रहा था। नैद दूट गई और उसके साथ ही उनकी मोह निद्रा भी। मनुष्य

जीवन कितना निस्सार है, मनुष्य अपने आपको कितना सजाता सेवारता है पर अंत में विनाश के अतिस्वित हाथ कुछ नहीं आता—आज सारी धौनिकता बालू के ढेर की भाँति ढह गई। खेमा दूसरे क्षण तथागत के चरणों में पड़ी क्षण माँग रही थी और पूछ रही थी 'आत्मोद्धार का मार्ग'

तथागत मुस्कराये और बोले—बेटी क्षेम ! आत्मोद्धार और आत्म-कल्याण का मार्ग मिलेगा अवश्य—तुम अपने बाह्य सौंदर्य को भूलकर भीतरी सौंदर्य की तलाश करो। तुम्हारी जिज्ञासा जितनी प्रबल होती जायेगी स्पष्ट उतनी ही तेजी से अपने आप अज्ञात-रूप जायेगा

सत्य एक ही है, शाश्वत एवं सनातन है

'ब्राह्मन्ती नरेश चन्द्रचूड़ अपना दर्शन करना चाहते हैं भगवन् ! हुंसा है, अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदायों को परस्पर विरोधी मान्यताओं के कारण राजन्-अन्यधिक विभ्रमित है। कल्याणरूप धर्म को जानने की जिज्ञासा ही उन्हें आपके दर्शनार्थ खींचकर लाई है। आर्य आदेश हो तो उन्हें आपके सम्मुख उपस्थित करें ?' एक भिक्षुक ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया।

तब वे ब्राह्मन्ती के एक सभन एकान्त में बने संश्रम में विश्राम कर रहे थे

तथागत मुस्कराये और भिक्षुक की ओर एक खोजपूर्ण दृष्टि डालते हुए बोले 'तब ! चन्द्रचूड़ महान् धर्मार्थी सम्राट हैं, उन्हें शीघ्र ही यहाँ लेकर आओ।'

भिक्षुक चला गया। थोड़ी ही देर में महाराज चन्द्रचूड़ तथागत भगवान् बुद्ध के समीप आ पहुँचे। देवमूर्ति को मंगल प्रणाम निवेदन कर वे एक सामान्य अभ्यागत की भाँति एक ओर बैठ गये। जिज्ञासु की उपयुक्त श्रद्धा ही साधक के अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश रखती है। श्रद्धा अर्थात् समर्पण—अपने मन को कोरा बनाकर प्रस्तुत करना ताकि सत्य का प्रतिबिम्ब उसमें यथावत् झाँक सके। भगवान् महाराज की विनम्रता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। पर उन्हें इस बात का हार्दिक दुःख भी हुआ कि व्यक्ति की श्रद्धा का तथाकथित स्वार्थ और सम्प्रदायवादी साधु-सन्त किस तरह शोषण करते हैं। श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है सन्देह नहीं, किन्तु बुद्धिहीन श्रद्धा—जहर मिले दूध की तरह अभिशाप भी है जो शिष्य और मार्गदर्शक दोनों का ही अहित करती है।

बात थोड़ी देड़ी थी। चन्द्रचूड़ का समाधान—सारी प्रजा का समाधान हो सकता था, इसलिए बात इस ढंग से समझनी आवश्यक थी जिससे चन्द्रचूड़ को मतमतान्तरों का विताण्डवाद् फिर विभ्रमित नहीं कर पाता और उनकी श्रद्धा का विनाश भी न हो जाता। दिग्भ्रान्त बुद्धि ही नास्तिकता है वे यह बात जानते थे। अतएव जिज्ञासु का समुचित समाधान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था।

तब तो उन्होंने महाराज के विश्राम की व्यवस्था कराई और सामान्य कुशल मंगल की चर्चा तक ही विचार-विमर्श सीमित रखा किन्तु जैसे-ही प्रातःकाल हुआ संधाराम में निवास करने वाले स्नातक-

अभ्यागत वह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि—वहाँ प्रातःकाल से ही एक मोटा, बलवान हाथी खड़ा है और एक ओर ब्राह्मन्ती के अनेक जन्मन्ध बैठे हुए कुछ चर्चा कर रहे हैं।

महाराज चन्द्रचूड़ को साथ लेकर तथागत वहाँ आ पहुँचे, उन्होंने अन्धों से प्रश्न किया—'बान्धव ! आप लोगों ने हाथी देखा है क्या?' 'नहीं भगवन्'—सबने करबद्ध एक स्वर से निवेदन किया। ठीक है कहकर बुद्ध ने एक-एक अन्धे को हाथी दिखाया। हाथ से टटोलते हुए किसी-किसी ने हाथी की पीठ, किसी ने सूँड़, किसी ने कान, दाँत तथा पाँव को देखकर ही उन्होंने उसी अंग को हाथी समझा तथा वह जानकर बड़े प्रसन्न हुये कि आज उनकी हाथी से पहचान हो गई।

अब तथागत ने प्रश्न किया—'बताइये हाथी कैसा होता है?' एक ने उत्तर दिया खम्भे की तरह—उस बेचारे ने हाथी के खंभे स्पर्श किये थे—तो कान वाले ने हाथी की आकृति सूप जैसी बताई—पूँछ वाले ने उसे रज्जौयथा बताया—सिर वाले ने पत्थर के समान यह सब सुनते ही महाराज चन्द्रचूड़ हँस पड़े और बोले भगवन् ! वह सब तो हाथी के किसी अंग भर की जानकारी दे रहे हैं, हाथी तो इन सब जानकारीयों से मिली-जुली आकृति का होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा—'तब ! धर्म का सनातन स्वरूप भी ऐसा ही है। मत-मतान्तर एक-एक अंग की समीक्षा, प्रशंसा और प्रचार करते हैं। उनसे बचड़ने की आवश्यकता नहीं उन सबके समन्वय में ही धर्म का र्थ छिपा हुआ है। उठो ! अपनी विवेक बुद्धि से हर ग्रन्थ, हर पन्थ को टटोलो तो सत्य धर्म का स्वरूप अपने आप प्रकट हो जायेगा।'

सफलताएँ टिकी हैं, प्रचण्ड मनोबल पर

भिक्षु संघ के साथ विहार करते हुए भगवान् बुद्ध शाल्यवन में एक बट वृक्ष के नीचे बैठ गये। धर्म चर्चा के प्रसंग में एक शिष्य ने उनसे पूछा भगवन् ! कई लोग दुर्बल और साधनहीन होते हुए भी बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जबकि अच्छी स्थिति वाले साधन सम्पन्न लोग भी उन कार्यों को करने में असफल रहते हैं। इसका क्या कारण है ? क्या पूर्वजन्मों के पाप अवरोध बन कर खड़े हो जाते हैं ?

'नहीं' तथागत ने कहा और एक कथा सुनाने लगे—'विराट नगर के राजा सुकीर्ति के पास लौहगुंग नामक एक हाथी था। राजा ने कई युद्धों में इस पर आरुढ़ होकर विजय प्राप्त की थी। शैशव से ही लौहगुंग को इस तरह प्रशिक्षित किया था कि वह युद्ध कला में बड़ा प्रवीण हो गया था। सेना के आगे चलते हुए पर्वतारोह लौहगुंग जब अपनी क्रुद्धावस्था में प्रचण्ड हुंकार भरता हुआ शत्रु सेनाओं में घुसता था तो देखते ही देखते विपक्षियों के पांव उखड़ जाते थे।

लेकिन जन्म के बाद जिस प्रकार सभी प्राणियों को युवा और जरावस्था से गुजरना पड़ता है, उसी रूप से लौहगुंग भी वृद्ध होने लगा, उसकी चमड़ी झूल गई और युवावस्था वाला पराक्रम जाता रहा। अब वह लचीलापन की शोभा मात्र बनकर रह गया। उपयोगिता और महत्त्व कम हो जाने के कारण उसकी ओर पहले जैसा ध्यान

भी नहीं था। उसे मिलने वाले भोजन में कमी कर दी गई। एक बूढ़ा सेवक उसके भोजन पानी की व्यवस्था करता, वह भी कई बार चूक कर जाता और हाथी को भूखा-प्यासा ही रहना पड़ता।

बहुत प्यासा होने और कई दिनों से पानी न मिलने के कारण एक बार लौहगुंग हाथीशाला से निकल कर पुराने तालाब की ओर चल पड़ा, जहाँ उसे पहले कभी प्रायः ले जाया जाता था। उसने भरपेट पानी पीकर प्यास बुझाई और गहरे जल में स्नान के लिए चल पड़ा। उस तालाब में कीचड़ बहुत था दुर्भाग्य से बूढ़ा हाथी उसमें फँस गया। जितना भी वह निकलने का प्रयास करता उतना ही फँसता जाता और आखिर गरदन तक कीचड़ में फँस गया।

यह समाचार राजा सुकीर्ति तक पहुँचा, तो वे बड़े दुःखी हुए। हाथी को निकलवाने के कई प्रयास किये गये पर सभी निष्फल। उसे इस दयनीय दुर्दशा के साथ मृत्यु मुख में जाते देखकर सभी खिन्न थे। जब सारे प्रयास असफल हो गये, तब एक चतुर सैनिक ने युक्ति सुझाई। इसके अनुसार हाथी को निकलने वाले सभी प्रयत्न करने वालों को बापस बुला लिया गया और उन्हें बुद्ध सैनिकों की वेशभूषा पहनाई गई। वे बाद्ययन्त्र मंगाये गए जो बुद्ध के अवसर पर उपयोग में लाए जाते थे।

हाथी के सामने बुद्ध नगाड़े बजने लगे और सैनिक इस प्रकार कूच करने लगे जैसे वे शत्रुपक्ष की ओर से लौहगुंग की ओर बढ़ रहे हैं। यह दृश्य देखकर लौहगुंग में न जाने कैसे जीवन कल का जोश आ गया। उसने जोर से धिमाड़ लगाई तथा शत्रु सैनिकों पर आक्रमण करने के लिए पूरी शक्ति से कण्ठ तक फँसे हुए कीचड़ को रौंदता हुआ तालाब के तट पर जा पहुँचा और शत्रु सैनिकों पर दूध पड़ने के लिए टीढ़ने लगा। बड़ी मुरिकल से उसे निष्क्रिय किया गया।

यह कथा सुनाकर तथ्यागत ने कहा—“भिक्षुओ! संसार में मनोबल ही प्रथम है। वह जाग उठे तो असंभव और अवसंशय भी असंभव होने वाले कर्म कर दिखाते हैं तथा मनुष्य अप्रत्याशित सफलताएँ प्राप्त करते हैं।

निष्काम सेवा बुद्ध सर्वोपरि साधन

प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन में कुछ जिज्ञासुओं को जीवन की सही दिशा में अभिप्रेरित कर तथ्यागत ने आत्म-कल्याण के लिए सभी मुमुक्षु जनों को आह्वान किया और हजारों लोग ‘धर्म शरणं गच्छामि’ की प्रतिज्ञा कर आगे आये। इस आह्वान को घर-घर पहुँचाने के लिए जो उत्साही जन कुतसंकल्प हुए, उन्होंने समस्त पारिवारिक और सांसारिक दायित्वों से तपस्य होकर स्वयं को तत्त्व-कल्याण के लिए समर्पित करने को आत्मदान किया।

इन्हीं लोक-सेवी उत्साही और सकीर्ण स्वाध्याय से ऊपर उठकर लोक-मंगल का कार्य करने के लिए उद्भूत मनस्वी साधुसियों का एक संगठन बना— भिक्षु सभ और सभ के सदस्य भिक्षु कहे जाने लगे।

एक-एक भिक्षु का तथ्यागत को ध्यान था और यह भी कि कौन कैसा है? एक बार उन्हें किसी भिक्षु का समाचार नहीं मिला और

न ही वह दिखाई दिया। अपने सगीष खड़े भिक्षु पदन्त आनन्द से उन्होंने पूछा कि अमुक भिक्षु कहाँ है तो भदन्त-आनन्द ने उत्तर दिया—“वह अतिसार से पीड़ित है।”

सुनते ही तथ्यागत बोले—“चलो उसे देख आये।”

पदन्त आनन्द और कुछ अन्य भिक्षु भी बुद्ध के साथ हो लिए। बुद्ध ने देखा कृष्ण भिक्षु अपनी कुटिया में अकेला बे-सुध पड़ा है। किसी के द्वारा परिचर्या न किये जाने के कारण वह कुटिया में ही मल-मूत्र से लिपटा बना पड़ा था। भगवान् ने उसे देख कर कहा—“पाई तुम्हें क्या कह है।”

“मुझे अतिसार है भगवन्”—भिक्षु ने कहा।

“क्या? कोई भी तुम्हारे परिचर्या को नहीं आया?”

“नहीं आया भगवन्।”

“तो भिक्षु ऐसा क्यों हुआ कि भिक्षुपाल तुम्हारी देखभाल नहीं करते?”

“भगवन् वे सब योगसाधनाओं में निरत रहते हैं मैंने यही सुना है। इसलिए उन्हें मेरी चिन्ता नहीं है, यह भी वे लोग कहते हैं।”

अपने पास खड़े भिक्षुओं से कुछ न कहते हुए तथ्यागत ने भदन्त आनन्द से कहा—“जाओ आनन्द, जल ले आओ। हम इस पाई की सेवा करेंगे।”

“हाँ भगवन्!” आनन्द ने कहा और जल लेने को चल दिया। जब जल कलश आ पहुँचा तो भगवान् ने स्वयं जल डाला और अपने ही हाथों से भिक्षु का साव शरीर धोया। तथ्यागत को स्वयं परिचर्या करते देख वहाँ खड़े भिक्षुगण भी परिचर्या में हाथ बँटाने लगे तथ्यागत ने किसी से कुछ कहा नहीं।

संभ्य होने को भी। संभ्याकालीन प्रार्थना के लिए सभी भिक्षुगण एकत्र हो रहे थे। परिचर्या के उपरान्त तथ्यागत बैठक में पहुँचे और उन्होंने बिना किसी भूमिका के भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—“भाइयो, क्या हममें से कोई एक भिक्षु शैली है।”

“हाँ भगवन्, है तो।”

“उसे क्या कह है।”

“भगवन् उस पाई को अतिसार है।”

“उसकी देख-भाल कौन कर रहा है?”

“कोई नहीं।”

“क्यों?”

सब चुप थे। बोझी देर सन्नाटा छाया रहा फिर बुद्ध ही बोले—“मैं जानता हूँ। तुम सब जब अपने आत्म-कल्याण की चिन्ता है, पर बाद रखो योग-साधनाओं से वह सम्भव है या नहीं यह तो मुझे ज्ञात नहीं, पर जो राज्ये हृदय से दुःखी जनों की सेवा निष्काम भाव से करते हैं उनकी स्वर्ग मुक्ति, आत्म-कल्याण सर्वथा अशुभ है, उसे कोई भी उससे विचलित नहीं कर सकता।

आत्म एव सनातनो

आर्य पिता शुद्धोधन ने अनुमति दे दी है तान्। राजा प्रासाद में विरा हुआ जीवन नीरस-सा प्रतीत होता है, राज्य भोग अब नृप्ति

उहीं दे पाते प्रकृति माता की गोद अकर्षित करती है उठो और स्पन्दन (रथ) साजो हम वन-विहार के लिये प्रस्थान करना चाहते हैं ? सिद्धार्थ ने सारथी को सम्बोधित करते हुये कहा ।

“एजकुमार की आज्ञा शिरोधार्य !” कहकर सूतक ने उन्हें प्रणाम किया । अश्वशाला के श्रेष्ठतम चार चारू— कबुली हय निकाले उसने राज बांधी, आम्बारी जली और चन्दन के बने रथ पर उन्हें जोत दिया । स्वर्ण तार-जड़ित राजसी परिधान धारण कर राजकुमार राज-भवन से बाहर आये तो ऐसा सगा जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा छिटक कर निकल आया हो । सेवकों ने बढ़कर सहारा दिया । सिद्धार्थ रथारूढ़ हुये और अश्व-दल द्रुत-गति से आगे बढ़ चला ।

राजधानी के लगनघुम्बी भवन पार कर रथ जनपथ पर मंद मंद गति से बढ़ रहा था तभी एक महिला पथ पार करने की शीघ्रता में लड़खड़ा कर गिर गई । वैरागी राजकुमार के आदेश से रथ रुक गया । कुछ लोग आगे आये महिला को उठाते हुए उन्होंने अभ्यर्चना की— कुमार देव । रथ के कारण नहीं महिला अभव जन्व स्थिति के नम्रण गिर गई है । महाराज ! निर्धनता संसार का सबसे बड़ा अभिशाप है, चार पुत्र पहले हो चुके हैं उस पर भी मृत्यु बोझ, सूखी रोटियों पर चलने वाली इस अभागिन को छे दिन से अन्न भी नहीं मिला, इसी से अशक्त हो गई है यह । इसमें आपको क्या रोप ? आप वन-विहार के लिये जाइये, देव ! जाइये ।

सूत-पुत्र ने रथ आगे बढ़ाया । सिद्धार्थ ने प्रश्न किया तात् । अभाव किसे कहते हैं, यह महिला क्यों अभावग्रस्त है ? हम अश्व-ग्रस्त क्यों नहीं ? सूत ने सिर ऊपर आकाश की ओर उठाया और फिर अश्वों की राह खीली करते हुये कहा— आर्य पुत्र ! जीवनयापन की सामान्य सुविधाओं का उपलब्ध न होना अभाव है । संसार के लोग इस स्थिति में इसलिए हैं कि कुछ लोग सम्पत्ति का परिग्रह करने को बड़प्पन मानते हैं । आप राज-पुत्र हैं महाराज ! खारे भजा के परिश्रम का लाभ आपको मिलता है तो आपको क्यों अभाव होगा— अभावग्रस्त तो प्रज्ज होती है जिसे पात्र शोषण की वस्तु मानकर सत्ताधारी लोग सत्ताया करते हैं ।

असमानता— संसार का एक दुःख है, रथ अब राजधानी पार कर चुका था तभी आगे से आता हुआ दिखाई दिया वृद्ध । जरा ने जीर्ण कर दिया था गाल लिसका । कम्म झुक गई थी, दांत टूट गये थे, आँखें धँस गई थीं । एक लकड़ी के सहारे चल रहे उस वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने दूसरा प्रश्न किया— सारथी ! इन आर्य पुरुष को क्या हुआ है जो ये झुककर चलते हैं ? दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये सारथी ने निवेदन किया तात् । यह शरीर की चौथी अवस्था जरावस्था— सबको ही एक दिन वृद्ध होना पड़ता है । संसार का कोई भी व्यक्ति इससे बच नहीं पाता । इन्द्रियों की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तब चाहे वह मूर्ख हो वा पंडित, गृहस्थ हो वा विरक्त, रंक हो वा राजा सबकी यही अवस्था होती है ।

हम भी नहीं बच सकते तात् । हमें तो कोई अभाव नहीं विधाता को हम जरा को दूर रखने के लिए स्वर्ण दे सकते हैं, मणि-मुक्ता दे सकते हैं— सिद्धार्थ कह रहे थे और सारथी समझा रहा था तात्, संसार के तुच्छ लोग लोभ और लालच में पड़कर नैतिकता का

नियमोल्लंघन कर सकते हैं, ईश्वरोप विधान तो पत्थर की चट्टान के समान अटल और अडिग होते हैं ।

क्रम अभी चल ही रहा था कि सामने से कुछ ग्रामीण-जन आते दिखाई दिये । वंश खपाटिकाओं पर श्वेत वस्त्रवेष्टित कोई वस्तु चार व्यक्ति अपने कन्धों पर रखे चले आ रहे थे, उन्हें देखते ही सारथी ने रथ खड़ा कर दिया । रथ से उतर कर सारथी तीन पग आगे बढ़ा और भूमि प्रणाम कर प्रदक्षिणा की और फिर रथ में आ बैठा— हांक दी अश्व फिर चल पड़े ।

एजकुमार जो अभी चित्रवत् देख रहे थे बोले— सारथी, यह कौन लोग हैं ? इनके कन्धों पर क्या है ? तुम इन्हें देखकर रथ से क्यों उतरे ? तुमने किस देवता को प्रणाम किया ?

एक दिन एक बच्चा वा तात् ? फिर वह बड़ा हुआ— सारथी समझ रहा था सिद्धार्थ को पता वह कक्षा ‘अ’ वर्ग के नव-प्रविष्ट विद्यार्थी हों— उसने विवाह किया, संतानोत्पत्ति की । धन-ऐश्वर्य, भवन, पुत्र, कलम— न मालूम क्या-क्या अर्जित किया उसने पर मृत्यु के एक ही आक्रमण ने इसे धराशायी कर दिया— मृत्यु के मुख में गया वही बालक है । यह आर्य अब लोग इसे ले जायेंगे और अग्नि में भस्मसात् कर देंगे इसके पार्थिव शरीर को । मृत्यु का यह देवता बड़ा प्रबल है । इसे हर कोई प्रणाम करता है तात् ! इससे आप भी बच नहीं सकते ।

सांसारिक विषमताएँ, जरा और मृत्यु— फिर संसार का सत्य क्या है ? सनातन क्या है ? सूत पुत्र । राजकुमार का गला भर आया था, धवनायें— उपड़ने लगी थीं । सारथी ने समझाया— तात्, ज्ञानी जन कहते हैं सत्य और सनातन तो वह आत्मा है जो उसे प्राप्त कर लेता है पार्थिव अभाव, अज्ञान, अज्ञान उसे दुःखी नहीं कर पाते

शोक है सूत पुत्र ! अब तुम रथ रोक दो, पग-पग पर परिवर्तनीय सांसारिक सुख और वैभव व्यर्थ है । आत्मा ही शाश्वत है तो फिर आत्मा को ही प्राप्त करना चाहिए और अब मैं उसे ही प्राप्त करने जाऊँगा— तुम यह रथ यह सन्देश लेकर लौट जाओ कि सिद्धार्थ अब कभी लौटकर नहीं आवेगा ।

सूतक खड़ा-खड़ा निर्निभ देख रहा था और तब तक खड़ा देखता रहा जब तक कि लक्ष्म-सिद्धि का साधक सिद्धार्थ पूरी तरह अँखों से ओझल नहीं हो गया ।

साधना का पथ

भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन अभिधान देशव्यापी हो रहा था । भाव-भरे अन्तःकरण प्रचण्ड वैचारिक क्रान्ति की लहरो से आन्दोलित हो रहे थे । एक-से बढ़कर एक प्रतिभाएँ इस युग अभिधान में हिस्सा बंटाने के लिए सुख तथा ऐशो-आराम से धरे पूरे जीवन को तिलांजलि देकर आगे आ रही थीं । धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करने वालों में से एक युवा राजकुमार भी था । उसका नाम था श्रेण ।

‘श्रेण’ कपी अत्यन्त वित्त्वस्थ और योगी श्र । वह कभी महल के बाहर नहीं निकलता था । आषाढ-प्रमोद में ही उसका समय बीतता

११२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—२

था। खुले आममान की कड़ी-धूप उसने कभी नहीं सहो थी। जिस धर्म से चलता उसमें फूल और मखमल की चट्टियाँ बिछायी जाती थीं। किशोर बालाएँ उसे नहलाती तथा मृगार करती थीं। अत्यन्त रूपवती पत्नी थी। जो हर तरह से उसका मन बहलाती थी।

पर अब तो उसे सारे सुख निस्सार जान पड़ रहे थे। संन्यास ग्रहण करने ही श्रेष्ठ की कठोर समझना आरम्भ हुई। जो कभी मखमल पर पैर रखकर चलता था आज वह कोंटों पर चल रहा था। दूसरे पवित्र दिन में एक बार भोजन करते थे वह कई दिनों तक निराहार रहता था। परित्रय्या के लिए परिधमण में अन्य पवित्र कड़ी धूप से बचने के लिए वृक्षों की छाया में बैठते थे श्रेष्ठ जान-बूझ कर कड़ी धूप में खड़ा रहता। सदैव से बचाव के लिए वह कर्षों का प्रयोग नहीं करता—नग्न पड़ा रहता था। सुकुमार कोमल-काया इस दबाव को सहन न कर सका—सूखकर कम्बु पड़ गई। पैरों में कटि चुपने एवं छाले पड़ जाने के कारण खून और मवाद बहने लग्न। ऐसा लगता था कि श्रेष्ठ ने तप के नम्र पर शरीर का अस्तित्व ही समाप्त कर लेने का संकल्प कर रखा हो। शारीरिक वेदना के साथ साथ मन में व्यग्रता, असन्तोष और अशान्ति भी बढ़ती जा रही थी।

भगवान् बुद्ध को उसकी सूचना मिली। महाप्राज्ञ को यह समझते देर न लगी दिग्भ्रान्त है। श्रेष्ठ से उन्होंने पूछा “वत्स। तुम तो सितार बजाने में शारंगत हो।” स्वीकृति में श्रेष्ठ ने सिर हिलाया। बुद्ध ने दूसरा प्रश्न पूछा यदि बीजा के तार डीले हो तो क्या संगीत पैदा होगा? “नहीं” श्रेष्ठ ने उत्तर दिया। और यदि अत्यधिक कसे हों तो बुद्ध ने कहा। “तो बजाने पर तार टूट जायेंगे” श्रेष्ठ का उत्तर था। भगवान् बुद्ध ने तीसरा प्रश्न पूछा “सुमधुर संगीत का क्या रहस्य है?” श्रेष्ठ ने कहा “बीजा के तार न तो डीले हों और न ही अधिक कसे हुए।” बुद्ध मुस्कराये उन्होंने कहा “वत्स जीवन रूपी बीजा का भी यही नियम है। शान्ति, सन्तोष एवं आनन्द से युक्त संगीत की तरह जीवन रूपी बीजा से तभी प्रसुद्धित होती है जब तार न तो अधिक शरीर की ओर कसे हों और न ही आत्मा की ओर डीले। शरीर वह मन्दिर है जिसमें आत्मा निवास करती है। मन्दिर टूटा-फूटा जराजीर्ण होगा तो उसमें निवास करने वाले देवता भला कैसे प्रसन्न रह सकते हैं? बीजा के तारों की भाँति शरीर और मन को कसें। पर इतना नहीं कि वे टूट जायें और जीवन रूपी संगीत निष्कलने में असमर्थ हो जायें।”

श्रेष्ठ को अपनी त्रुटि का ज्ञान हुआ। साधना का मार्ग समझते और उसके अनुरूप सन्तुलित मार्ग अपनाने से मन की व्यग्र-वेदना तथा अशान्ति दूर हुई। शान्ति-सन्तोष और आनन्द की धाराएँ वह चली जिसमें अवगाहन कर श्रेष्ठ धर्म-चक्र प्रवर्तन में अग्रिम भूमिका निभाने चल पड़ा।

मद्यपान के दुष्परिणाम

राज्य सर्वमित्र के शासन का समय था। महात्मा बुद्ध उस समय बोधिसत्त्व शरीर में थे। उनकी विनम्रता, प्रमशीलता, ऊँचरता, सदाचार और दान की वृत्तियों ने उनकी इन्द्र की पदवी पर पहुँचा दिया था। किन्तु उस पद को प्राप्त होने पर भी वे कभी भी उसके ऐश्वर्य

और विषय-सुख में आसक्त नहीं हुए। वे सदा ही अपने पद के उपयुक्त सेवा में ही तत्पर रहते। निरन्तर प्राणि मात्र के कल्याण और हित में संलग्न रहते थे। सत्तर के लोगो को सद्गुणों से सम्पन्न सुख और शान्ति-मय जीवन व्यतीत करते देख उनको प्रसन्नता का अनुभव होता था।

जिनकी वृत्तियाँ सुधर चुकती हैं, सुसंस्कृत हो चुकती हैं, जिनको संसार के भोगों की निस्सरता एवं अस्थिरता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुकता है। उनके संसार ही नहीं, स्वर्ग में भी सर्व सुलभ, इच्छा मात्र से ही प्राप्त होने वाले वैभव और भोगों का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती। वे जीव उन स्वर्गवासियों देखें से भी श्रेष्ठ हैं। ऐसे जीवों को स्वर्ग में पहुँचकर भोग भोगने से पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आने वाली अन्ति चरितार्थ नहीं होती। उनको तो भूलोक और स्वर्गलोक दोनों ही समान होते हैं।

राजाओं में राज-वैभव, अविवेक और इन्द्रिय भोगों की लिप्सा के कारण प्रायः जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वह राजा सर्वमित्र को प्रभावित किए हुए थे। उन्हें मदिरा पीने का व्यसन था। शराब का व्यसन सापी चाहता है। इसके व्यसनी को अपने साथ पीने के लिए अन्य साधियों की आवश्यकता होती है। वह स्वयं तो बिगड़ता ही है, दूसरों को भी ले डुबता है।

सर्वमित्र भी अपने साथ अपने मंत्री, सेनापति आदि राज-कर्मचारियों तथा राज्य के वर्तिष्ठित श्रेष्ठियों को भी पिलाता और विनोद करता था। इसका प्रभाव यह हुआ कि राज्य भर में अराजकता फैल गई। राज-कर्मचारी अपना काम ठीक नहीं करते थे। राजा का उनको भय नहीं था, इसलिए पूर्ण स्वच्छन्दता बरतते। प्रजा का बुरी तरह शोषण होने लगा। सभी बगड़ भ्रष्टाचार, दुराचार एवं पाप बुद्धि का बोलबाला हो गया। सत्यसत्त्व, न्यायान्याय, धर्माधर्म में लोगों की भेद बुद्धि समाप्त हो गई। राजा को इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था वह सदैव अपने रंग में मस्त पड़ा रहता था।

एक दिन राजा के कक्ष में विशेष सैन्यारिषों की गई। सभी अधिकारीगण व राज्य के गणमान्य व्यक्ति आपन्निन थे। मदिरा के बड़े-बड़े पात्र भर कर रखे गए। पीने के उपकरण भी यथास्थान सजादे गए। समय पर सब एकत्रित हो गए। थोड़ी-सी शिष्टाचार और विनोद की बातों के पश्चात् मदिरा-पान का क्रम चलने ही वाला था कि एक आगन्तुक को देखकर लोग चौंक उठे।

एक सुन्दर रत्न जड़ित स्वर्ण कलश, उसमें मुँह तक मदिरा भरी हुई। कलश के ऊपर, मुख पर सुन्दर, सुगन्धित फूल भरे हुए, कलश हाथ में लिए, नाम धर्म, गठीले सुडौल शरीर वाला, धमधमाते हुए नेत्र, उज्ज्वल स्वरिष बटावें, बलकल एवं युग धर्म धारण किए हुए एक ब्राह्मण ने कक्ष में प्रवेश किया। वैधदक राजा के सिंहासन के पास पहुँच कर वहीं से वह बोलने लगा “इस सुन्दर पात्र में सुरा गरी हुई है। इस का मुख सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से ढका हुआ है इसे कौन खरीदेगा?”

ब्राह्मण के आते ही राजा और उसके साधियों को, अपने आनन्द में कक्षा पड़ने के कारण उसका आना बहुत बुरा लग्न, किन्तु उसकी

प्रतिमा और अोजस्वी मुख मडल को देखकर उसकी ओर आकर्षित हो गए और उसकी ओर देखने लगे।

जहाँ एक दोष होता है वहाँ दूसरे दोष स्वयं ही बिना बुलाये आ जाते हैं। राजा के शराबी होने के कारण वह नीति के ज्ञान से शून्य हो गया था। अपने यहाँ आने पर ऐसे अोजस्वी ब्राह्मण का अधिवादन करने का भी उसे ज्ञान न रहा। ब्राह्मण ने इस बात पर कोई ध्यान न दिया और अपने काम में लगा रहा।

वह बोलता ही गया— “यदि इस लोक और परलोक की चिन्ता न हो, नरक-यातना का भय न हो तो इसे खरीद कर इस का उपयोग करो।”

जिस उद्देश्य से (बोधिसत्त्व) इन्द्रदेव ब्राह्मण के वेष में यह नाटक करने आये थे। उसकी क्रिया आरम्भ हो गई। राजा सर्वमित्र के पश्चिष्क में ब्राह्मण की उल्टी बातें प्रभाव करने लगीं। वह सोचने लगा “यह कैसा विचित्र व्यक्ति है जो अपनी वस्तु के दोषों का वर्णन कर रहा है तथा उसके द्वारा उत्पन्न दोषों का परिणाम भी बतला रहा है। इसमें अवश्य ही कोई रहस्य है।”

इन्द्र के रूप में बोधिसत्त्व भी राजा सर्वमित्र के व्यसनी होने से उत्पन्न राज्य की अव्यवस्था तथा अराजकता के कारण दुःखी जनता को कष्टों से मुक्त कराने के उपक्रमों में लगे थे। राजा को उसके व्यसन और उससे उत्पन्न होने वाले दोषों का परिणाम का ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देना चाहते थे कि उसको इस वस्तु से घृणा हो जाए और वह सदा के लिए उससे मुक्त हो जाय। उसके व्यसन छोड़ने से सारा नरक ही पलट जायेगा। सभी अधिकारी और नागरिक स्वयं ही राजा के भय से उसको छोड़ देंगे और इसके परिणामस्वरूप बुद्धि शुद्ध होने से, राज्य की व्यवस्था ठीक होने से राज्य में सुख-शान्ति का प्रसार हो सकेगा, जनता दुःखों से छुटकारा पा सकेगी।

ब्राह्मण किसी के बोलने की प्रशिक्षा किए बिना ही कहना चला जा रहा था— “राजन् ! इस स्वर्ण पात्र में न तो अमृत है और न दूध या दही है और न गंगा जल या सुगन्धित पुष्पों का सुमधुर मधु ही है। इसमें विष तुल्य मदिरा है। जो भी पीता है वह अपने वश में नहीं रहता। उसे भक्ष्याभक्ष का ज्ञान नहीं रहता। शरीर का वह हाल होता है कि वह जहाँ-कहीं भी, राज-मार्ग पर लड़खड़ा कर गिर-गिर जाता है। कुत्ता मुँह चाट कर उसमें पेशाब कर देता है। ले लो, खरीद लो ऐसा, अबसर फिर न मिलेगा। अबसर से लाभ उठा लो। इसे पीकर नंगे होकर सड़क पर नाचोगे, पत्नी और युवती कन्या में तुम्हें अन्तर नहीं दिखायी पड़ेगा। इसका पान करके स्त्री अपने सुन्दर, स्वस्थ भनी और पत्नीव्रत पति का भी निरस्कर करती है। इसके प्रेम में बड़े बड़े धनवान् दारिद्र्य हो जाते हैं। राजाओं, महाराजाओं के राज्य समाप्त हो जाते हैं। यह पाष की मूर्ति और कुकर्मों की अननी है, शैव नरक में घसीट ले जाती है जहाँ सदैव ही अग्नि की ज्वालायें धधकती रहती हैं।”

ब्राह्मण की वाणी सर्वमित्र के अन्तःकरण पर अपना प्रभाव डालती जा रही थी। उसका बोलना समाप्त करते-करते ही उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि अब तक के किये पर उसे भारी पश्चात्ताप होने

लगा। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी ही स्वर्ण पात्र की ज्वालाओं से जलने लगा हो। वह ब्राह्मण के पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा— महत्पन् ! आपने अपने सदुपदेश से मेरी आँखें खोल दीं। मुझे अज्ञान की अन्धेरी कोठड़ी से निकाल लिया। आपका मैं किस प्रकार बड़ाई करूँ। वास्तव में आपने मुझे बहुत बड़े काल के गाल से छुड़ा कर नया जीवन दिया है। अब मेरा शरीर पश्चात्ताप की अग्नि से जल रहा है, यह कैसे शान्त हो इसका उपाय बतलाइये। मैं आपसे सत्य कहता हूँ, आपके चरणों की सौगंध लेकर कहला हूँ कि मैं जीवन में फिर कभी इस निन्द्यपेय का प्रयोग न करूँगा और न ही अपने राज्य में किसी को करने दूँगा।

बोधिसत्त्व बोले— सर्वमित्र ! तुम्हारे किए का अब धर्म प्रायश्चित्त है कि बिबेक बुद्धि और विचारशीलता के साथ राज्य की व्यवस्था ठीक करो। तुम्हारे व्यसन में मस्त रहने से राज्य में भारी अव्यवस्था व अराजकता फैल रही है, प्रजा का शोषण हो रहा है, जनता बहुत दुःखी है। राजन् ! कर्मों को तो भोगने से ही भुक्ति मिलती है। पिछले किये का फल तो किसी न किसी रूप में भुगतना ही पड़ेगा किन्तु तो भी यदि आप फिर से प्रजा के कष्टों को दूर करके उनके हर प्रकार की सुख-सुविधा पहुँचा कर उनकी शुभाकामनायें पूर्ण कर सके तो इस चाल से मुक्त हो सकेंगे।

सर्वमित्र उनके पैर पकड़कर अश्रुधारा बहाकर कहने लगा— “भगवन् ! मैं आपकी किस प्रकार सेवा करूँ ! आपने मुझे पुत्र और शिष्य की भाँति शिक्षा दी है, जो कोई नहीं कर सकता।”

बोधिसत्त्व ने आशीर्वाद देकर कहा “मैं तुम्हारा सब विधि से कल्याण चाहता हूँ, तुम्हारे राज्य का कल्याण चाहता हूँ।” इतना कहकर वे भवन के बाहर हो गए।

नरति जीवन्ते सनातनाः

श्मशान घाट पर अनेक बार करुणाजनक धीत्कारें सुनी गई हैं किन्तु यह दृश्य तो इतना हृदय विदारक था कि दर्शकों के अश्रु सलसलाये बिना नहीं रहते। अभी कुछ ही दिन तो हुए ब्राह्मणों के अत्यन्त कुलीन वंश में जन्मी उज्ज्वरी का कौशल नरेश के साथ पाणिग्रहण हुआ था। उज्ज्वरी के सौन्दर्य के सम्मुख शची और रत्न ऐसी ही थीं जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा के समक्ष टिमकत खगोल। केवल कौशलपुर अपितु स्वयं अधिपति ने उज्ज्वरी को पाकर अपने पूर्व जन्मों के पुण्यों की सराहना की। आज यही उज्ज्वरी श्मशान घाट में अब अम्म जीवे ! अम्म जीवे !! ओ जीवन्ती तुम कहाँ लो ? ओ जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की पुनर के साथ प्रत्यक्ष करना तो सदा कतावरण में होकर छा जाता, मनुष्य तो मनुष्य जीव-जन्तु ओ वृक्ष-वनस्पति तक उज्ज्वरी के शोक में डूबे हुए थे। श्मशान घाट करुण की सहायता मूर्ति बना हुआ था। दर्शन की समय परिभाषा इस परिवर्तन में ही तो सम्निहित है। निर्दोष अपनों बलवन्त, परमात्मा अपना अस्तित्व और प्रवृत्ति अपनी महाभावा, यदि यह परिवर्तन न होते तो, कैसे अभिव्यक्त कर पाते ?

उन्वरी को अन्त पुन में अये एक वर्ष ही हुआ था। उनका अपना अनिन्द सौन्दर्य, कौशल राज की अमन्त श्री और राज-प्रासाद के संस्कार लेकर उनकी कोख से एक कन्या ने जन्म लिया जो अश्रित सुन्दर और अद्भुत संस्कारवान थी। उसे पाकर कौशल-नेत्र फूले न सपाये। उन्होंने उन्वरी को राज-महिषी का पद प्रदान किया। उस दिन जो शायायात्रा निकली गई वैसी प्रजाजन ने पहले कभी नहीं देखी थी। मनुष्य अपने चरित्र पर इतना है, पर उस महान् परिवर्तन चक्र को भूल जाता है; जो आज नहीं तो कल अपने से मानता नहीं, यही तो जीवन की विडम्बना है। यदि लोग उन विभीषिकों का पूर्व स्मरण रखें तो आगे से अधिक औदत, अपकर्ष और अवाञ्छनीयताएँ मात्र इस मान्यता से ही दूर हो जायें जेव उन्वरी आध्यात्मिक आस्थाओं का प्रकाश दूर कर दे।

बालिका का नाम जीवन्ती रखा गया। बालिका ने अपनी सुन्दरता और शपलता से राज-दम्पति को पूरी तरह मोह लिया। यह आसक्ति, कितनी कठिन है कि मनुष्य को शणिक जीवन के क्रिया-व्यपार से तो हटाये रखती है, पर जीवन के सनातन उद्देश्य आत्म-कल्याण की ओर ध्यान भी नहीं बँटने देती। वह उन्वरी के साथ भी हुआ। एक वर्ष ही कठिनाई से बीता था एक दिन हँसते-खेलते जीवन्ती ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। राज-परिवार शोकमग्न हो डूब गया।

अप्य जीवन्ती-जीवन्ती तुम कहाँ हो अप्य जीवन्ती ? जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की आर्त पुकार श्मशान घाट में गूँजते कई मास कीत गये। राजमहिषी ने अपनी स्मरणशक्ति खो दी बहुत प्रयत्न करने पर भी वे न तो राज-प्रासाद में टिकीं और न कहीं अन्यत्र। शोक विह्वल शक्त विह्वल देह वे श्मशान में ही पड़ी चिल्लाती रहती।

आज तथामत का उभार ही आगमन हुआ है। उन्होंने भी उन्वरी की दारुण गाथा सुनी। वे सीधे श्मशान घाट पहुँचे उनका अपूर्व तेजस देखने ही राजमहिषी स्तम्भित हो उठीं। तथामत ने उन्हें ज्ञान करते हुए पूछा—देख ! इस श्मशान में अब तक कितने लोगों का दह हुआ होगा तुम उनकी संख्या बता सकती हो ?

नहीं देव ! उन्वरी ने सिर हिलाया।

यदि वह सभी लोग बिलुडे हुआ की याद में थीं तो इतन करें तो यह सृष्टि कितने दिन चलेगी ?

उन्वरी मौन थी।

पुत्र ! बिलुड तो मनुष्य की आत्मा भी उसी से गई है, पर तुमने कभी उसे पाने के लिए इतना दुःख किया क्या ? क्या तुम अपने स्वरूप को पहचानती हो, यहाँ से चले गये जीवन्ती के आत्म तत्व को तुम ढूँढ सकती हो क्या ?

हाँ ! नहीं ! नहीं ! देव ! मैं नहीं जानती वह तक पहुँचने का मार्ग क्या है ?

तो उन्वरी और उस सनातन गरिमा आत्म-तत्व को ढूँढने का प्रयत्न करो जहाँ भुन, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ एककार हैं।

उन्वरी को आँखें खुल गईं, मोह-माया का परिज्याग कर वे आत्म-मोघन में निरत हुईं तो पूर्णता प्राप्त करके ही लौटीं।

अर्धवसुश्चपरिश्रम

‘तत् ! उत्तमे भरे स्वर में आयुष्मान विलाह ने पिता से कहा—“सबतक मेरा उपहास करते हैं—कहते हैं तुम्हें कोई अर्धवसु का पुत्र कहेगा ? तुम्हारी वेषभूषा, तुम्हारा जीवन स्तर तो हम निर्धन वर्ग से किसी भी तरह ऊँचा नहीं—सच ही तो आपने आज तक कभी भी मेरी अभियाचनाएँ पूर्ण नहीं कीं। आर्य ! आखिर आप हमारी महत्वाकांक्षाओं का अनादर क्यों करते हैं ?”

तभी ज्येष्ठ पुत्र-वधू उभर आ पहुँची, कहने लगी—विलाह सच ही तो कहते हैं आर्य श्रेष्ठ—आज ग्राम्य-सलनाओं ने मुझे जो कहा उसे सुनकर तो मेरा अन्तःकरण झी कराह उठा है—वे कहती हैं तिर्यग ! तुम्हारे रससुर इतने धनाढ्य हैं वे चाहें तो तुम्हें नख-शिख से अभूषण धारण करा सकते हैं किन्तु आज वह सावित्री की अर्चना के समय भी तुम्हारे परिधान तक अति सामान्य गृहणी से अधिक सुन्दर नहीं आभूषणों की तो कत ही नहीं है।

ऐसे-ऐसे उपलब्ध अर्धवसु ने सहस्रों बार सुने हैं, झेले हैं किन्तु उन्होंने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। एक क्षण के लिए अधर स्मित हुए हैं और दूसरे ही क्षण वे शीतकाल की अन्धकार आवेष्ट रजनी की तरह मौन हो गये हैं। यह ठीक है कि उन्होंने कभी किसी का प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु सच यह भी है कि वणिक-वृत्ति में व्यापक लाभ के अनन्तर भी कभी वैभव का जीवन न स्वयं जिधा न अपने कुटुम्बीजनों को विलासी होने दिया। सलज्ज राजहंसिनी के प्रणय व्यापार की तरह किसी ने वह तक नहीं जाना कि अर्धवसु किसलिधे संग्रह करते हैं, किसके लिए संग्रह करते हैं यदि इतने पर भी कुछ सन था तो यही कि उन्होंने परिजनों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा वेषभूषा के सामान्य नागरिक कर्तव्यों की कभी अवहेलना नहीं की, इसीलिये कभी किसी ने भी उनके असम्मानित करने का साहस नहीं जुटाया।

परिवर्तन और परिवर्तन प्रकृति का यह रथ-चक्र मानव जीवन को कभी स्वरूपसिक्त आनन्द के ओचल में सुला देता है तो कभी खिड़ा के गहन कठों पर कर्तारखण्ड में लज छड़ा करता है। इस परिवर्तन का ही नाम सृष्टि है, गति है, जीवन है। कल के इन थपेड़ों से आज तक न बचा है कोई राव और न कोई रंक।

निर्धन का यह क्रम इस वर्ष अत्यन्त क्रूर बनकर आया। ज्येष्ठ की तपन से झुलस इन्द्र बारम्बार अम्बर की ओर निहारते, बादलों की अभ्यर्चना करते किन्तु अषाढ़ सुखा निकल गया। चित्रा अश्लेषा, पुनर्वसु, स्वाति खरे ही नक्षत्र यों ही निकल गये धरती के कण्ठ में एक भी बूँद न गिरी तो फिर नहीं हो गिरी, राजगृह श्मशान की सी भयंकरता में परिणत हो गया चर्षों और ग्रहि-ग्रहि मच गयी और लोग भूखों मरने लगे।

अब तक जिन अर्धवसु की आँखों में शून्य कीड़ा किया करता था अब वही दृग द्रव मानवीय संवेदना से सिक्त हो उठे हैं, राजगृह के नागरिकों के लिए अर्धवसु ने अपने द्वार खोल दिये सारी सम्पत्ति गतिमान हो उठी जिन अर्धवसु को किसी ने एक कौड़ी खर्च करते

नहीं देखा था युग पीड़ा ने उनके हृदय कपाट पूरी तरह खोल दिये, उनका सर्वस्व स्वाहा हो गया किन्तु उनके हृदय ने कभी भी किसी को यह अनुभव नहीं होने दिया कि राजगृह असह्य है, अन्तर्गत है।

भगवान् बुद्ध ने सुना तो वे गद्गद हो उठे। जिनके दर्शनों के लिये जन समुदाय सागर की तरह लहरा उठता वही आज स्वयं ही अर्थवसु के दर्शनों के लिये चल पड़े।

तिर्यग ने पुकारा ! आर्य श्रेष्ठ ! उठिये ! तत्काल आज आपके द्वार पर आये हैं। अर्थवसु ने आँखें खोलतीं उन्होंने इतना भर देखा कि दैवीध्यान सूर्य उनके सम्मुख उपस्थित है और उनकी आत्मा उसमें समाती चली जा रही है— तत्काल की आँखें भर आयीं— उनके मुँह से इतना ही निकला— अर्थवसु तुम सच्चे अर्थों में अपरिग्रही थे, तुम्हारे त्याग ने आज सारे राजगृह की रक्षा कर ली। इसी सन्तोष भरे आनन्द में अर्थवसु की आत्मा मृत्यु में विलीन हो गई।

प्राप्तः को भवता गुणः

कुछ लोग विभूतियों पाकर फलों से आत्यन्तिक डाल के समान विनम्र होते हैं तो कुछ लोगों को वैध्व ही उत्पन्न और मरान्त बन देता है। बात उन दिनों की है जब बोधिसत्व वानराधिपति के रूप में उत्तराखण्ड के एक रम्य वन क्षेत्र में रह रहे थे और उत्तरांचल के सम्राट थे भूरिंग। सिंहासन पर आसीन होने के बाद से अब तक प्रजा के शोषण, अपीड़न, युद्ध और काम-पिशासा की तृप्ति के अतिरिक्त उन्होंने सृष्टि में कहीं साथ, न्याय, विवेक करुणा भी होती है, इसे जाना तक नहीं। समीपवर्ती सेतक वर्ग और अन्तःपुर तक उनसे घर-घर कपल था। इस प्रकार भूरिंगा उपर्युक्त दो वर्गों में से दूसरी कोटि के व्यक्ति थे।

शीतकाल प्रारम्भ हो चुका था। एक दिन भूरिंगा मध्याह्न में हेमा नदी की धवल लहरों में अपनी रमणियों सहित जल-स्नान में व्यस्त थे। तभी जलप्रवाह के साथ बहता हुआ एक ऐसा न्यग्रोध फल आया, जिसकी भादक सुगन्ध ने सबको स्तब्धित कर दिया। कामिनीयों ने फल को पकड़ा तो उनकी स्थिति बौन की मधुर ध्वनि सुनकर सम्मोहित हुए सर्प जैसी हो गई। भूरिंग ने स्वयं आगे बढ़कर फल छपट लिया और तट पर आकर ही उसका रसास्वादन करने लगा। फल न केवल गन्ध से अपितु स्वाद में भी अप्रतिम था। उसे फल चखने के लिए सम्राट बुरी तरह आतुर हो उठा।

देर तक जल में पड़े फल की गन्ध दूषित हो जाती है जबकि इस फल की गन्ध यह बताती थी कि वह कुछ ही दूर से बहकर आ रहा है। यह विचार आते ही भूरिंग ने सैन्य दल को प्रस्थान का आदेश देकर स्वयं भी उस वृक्ष को दूध निकालने की उत्कण्ठ में चल पड़े। उनकी दृष्टि में यह फल चिरयौवन प्रदान करने वाला था। कामुक की आकांक्षा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी।

कुछ ही देर की यात्रा के बाद वृक्ष का ठिकाना मिल गया। हेम कल्प पर्वत की उपत्यका में खड़े इस वृक्ष में पीत वर्ण के सुन्दर फल गुंथे हुए थे। यह दृश्य वैसे ही बड़ा मनोरम लगता था, उस

पर उसको सुगन्ध से तो सम्पूर्ण वातावरण में ही मदकता फुटा पड़ रही थी। इससे भी बड़ा विस्मय यह था कि सारा वृक्ष वनरा से ही उसी तरह लटा था। कपिसमुदाय को अपनी तृष्णा पूर्ति में बाधक देखकर भूरिंगा क्रोध में जल गए, यह तृष्णा है ही ऐसी पिशाचन कि अपनी को ही शत्रु बना देती है फिर यह तो प्राणी ही और जान के थे। राजा के मुँह से क्रोध होने की देर थी सैन्य दल ने पन्थरा कर्खों और तीरों की मार की झड़ी लगा दी। वानर दल बुरा नम्र भय विह्वल हो चला।

एक ओर नछे, दूसरी ओर से सेतु द्वारा बन्द किया अवागमन वानराधीश ने तीसरी ओर पर्वतीय शिखर की ओर देखा तो वहाँ से छलांग लगाकर पार जंगल वृक्ष के मुख में आने के समान लगा। इधर बन्धु-बन्धुओं का विनाश देखकर उनकी आँखें फलक उठी। शरीर की समस्त शक्ति झोंककर कपीश ने पर्वत शिखर तो पक लिया, पर उनकी टेढ़ का समस्त अस्मि समुदाय तरफ़ा गया। उन्होंने बेल की लम्बे शाखाएँ तोड़ी, उन्हें अपने पैरों से मजबूती से पकड़ा और दूसरी छलांग लगाकर पुनः वृक्ष की झाली को आ पकड़ा। डाल हाथ में आते ही अपने कानर समुदाय को उन्होंने आज्ञा दी— सब लोग इस तरह बनाये बेल के पुल को पकड़कर पर्वत शिखर को आओ। भूत का पागें और अपने प्राणों की रक्षा कर। वानरों ने ऐसा ही किया।

बेतों का खंड, वानरों के पंखों से लचपन होती देह इधर-तुधर भूरिंगा के सैनिकों द्वारा निरन्तर शस्त्र प्रहार से उनकी देह भय विह्वल हो गई, किन्तु अपनी सम्पूर्ण प्रजा के बचकर निकल जाने तक उन्होंने मरणासन होकर भी झुल नहीं छोड़ी तो फिर नहीं ही छोड़ी।

पञ्च सकट से पार हो गई। वानराधिपति को वेनरा विनृप को चली, आहत शरीर वे भूमि पर आ गिरे। अब तक नृप भूरिंगा अत्यधिक कौतूहलपूर्ण दृष्टि से सारा दृश्य देख रहे थे। अब न वानरों के नृप के समीप जाकर बोले—

परिधूकृत्यनः सौख्यं पाव्यसमपापतत् ।
इत्युत्पत्तिं सन्नरोधं प्रापः को भवतागुणः ॥

हे वानर ! अपने मुख की अवहेलना कर स्वजातिओं पर आई विपत्ति अपने ऊपर लेकर तुमने कौन-सा लाभ प्राप्त कर लिया ? वानराधीश ने उत्तर दिया—

एषिर्षदाज्ञा प्रतिपत्तिं दत्तौ सरोपितो—

वप्यधिपत्वपार ।

पुत्रेचिवैतेष्व न बद्धहार्दस्त—

बोदुमेबाह्वपिप्रपन्नः ॥

हे राजन् ! इन वानरों ने मुझे अपना अधिपति बनाया, वह दयित्व मुझ पर डाला और मेरी आज्ञापालन में तत्पर रहे। इस प्रकार मेरे पुत्रवत् हुए। उस पुत्रवत् स्नेह के कारण ही मैंने ऐसा आचरण किया। यानी अपने कर्तव्य का पालन कर पितृ के समान इनका रक्षा की।

राजा भूरिंगा सम्राट था, शासक था। तर्क-श्रेष्ठता तो वह था ही। उसने पूर्णित में हो चले महाकवि से तर्क किया—

“अधिपार्थपपात्यादि, न तदर्थं बहोयतिः ।
इति कस्यात्स्वभूतार्थपात्मानं त्यक्तवन् भवान् ।”

“हे वानर राज ! अमान्य एवं सभी अधीन लोग अधिपति के पता हैं न कि अधिपति इन अधीनस्थों के लिए । तब भला अपने अधीन अनुचरों के लिए आपने स्वयं को ही क्यों न्योछावर कर लिया ?”

वानरगोत्रि भाषी बोधिसत्त्व ने हँसकर कहा—

अकारि सेवां चिरमाधिपत्यं,
तेषां मयार्तिर्विवर्तितेति ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुखं क्लमस्य,
सम्प्राप्तधानुष्यपिदं मयाह ॥

हे भजन् ! मैं धिरकाल तक जिनका अधिपति रहा, उनके सुख की वृद्धि और दुःख को सम्पत्ति का दूषित्व भी अधिपति होने के गते मुझ पर ही तो है । इसीलिए मैं उनके दुःख दूर करने के लिए अपने को न्योछावर करने को उद्यत हुआ ।

ये वानर सदा मेरे अधीन रहे । मेरा आदेश प्राणपण से पालन करते रहे । सदा मेरा मुँह जोड़ते रहे । मुझ पर भक्ति रखते रहे । इस प्रकार आदर, सत्कार, भक्ति और आज्ञा पालन द्वारा ये सदा मुझे सुख देते रहे । उस सुख का मुझ पर भ्रम था । जिसने इतना सुख दिया, सम्मान दिया, उनके प्रति अपने ऋण से मैं अब भी तो मुक्त हो सका हूँ

“गुणं बलं ज्ञानपदानमात्मानं
पीरुननाथाच्छृण्वान् हिनामीन ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत् चोक्तुं,
हितानुकूलेन व पिते राजा ।”

हे भजन् ! नृप अपनी प्रजा का, सैनिकों का, पशुओं का, देश के सभी नागरिकों का पिता होता है । वह श्रेष्ठ लोगों, साधु, श्रमणों, भनाथों, असहायों एवं सर्व-साधारण को ऐसा सुख पहुँचावे, जो उनका कल्याण करने वाला हो, अकल्याणकारक नहीं । यह पिता जैसे अधिपति का कर्तव्य है । सन्तान जैसी प्रजा के ऊपर सदा कल्याण, स्नेह एवं भगल का भाव रखने वाला अधिपति ही श्री सम्पन्न होता है

वानराधिपति के ऐसे भवनापूर्ण तर्क संगत उद्यमसय उत्तर से भृगु भूरिग को प्रसुप्त सम्बेदना अग्रत हो उठी । उन्हें अधिपति के रूप में आने गुरुतर दायित्वों का बोध हुआ । प्रजा के प्रति उन्हें करुणा, वात्सल्य की नहीं दृष्टि मिली । उत्सर्ग का लाभ उन्हें समझ में आ गया । बोधिसत्त्व महाकवि प्रफुल्लित से वह शत-विशत शरीर छोड़कर स्वर्ग चले गये ।

करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है

श्रावस्ती में उत्कृष्टि के कारण भीषण अकाल की छाया मँडरा रही थी । स्थान-स्थान पर सूखे देह वाले, धुआँ से वस्त्र-नर-ककाल

दुर्देव के श्रास बन रहे थे । लोग मरने लगे । भूख से तड़पते जर्जर नागरिकों में इतनी भी शक्ति नहीं रह पायी थी कि वे मृत देहों को उनके स्थान से हटा सकें, अन्त्येष्टि करवा सकें ।

भगवान् बुद्ध अपनी शिष्य मण्डली के साथ उन दिनों उसी क्षेत्र में विहर कर रहे थे । श्रावस्ती नगरी के सपाचाार सुनकर उन्होंने दुःखी और संतप्त मनुष्यों की सेवा सबसे बड़ा धर्म समझा और बहाँ गए

नगर के बड़े-बड़े धनपति कुन्नेरों ने तथागत के दर्शन और उपदेश श्रवण के पुण्य लाभ-लोभ से एक धर्म-सभा अयोजित की । भगवान् ने सुन रखा था कि इन धनाढ्यों पर इस दुःस्थिति का तमिक भी असर नहीं हुआ है । भूख से तड़पती और बिलाखली अपने ही समान अन्य दूसरी मानव आत्माओं की वेदना और पुकार से भी धनो पुरुषों का कठोर हृदय रंच मात्र भी नहीं पसीजा है ।

धर्म-सभा को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने यही निरूपित किया कि—मनुष्य की सेवा ही सबसे बड़ा आठव्यक धर्म तथा कर्तव्य है । पड़ोसी जब तक भूखा है तब तक हमारा कोई भी पुण्य आयोजन सफल और सार्थक नहीं हो सकता । भगवान् बुद्ध ने कुछ रुक-रुककर फिर कहा—क्या आप लोगों में ऐसे कोई साहसी व्यक्ति है जो इन भूखे व्यक्तियों के लिए भोजन जुटा सके ।

उनकी पर्यम्बल को कूने वाली वाणी से दुःखी और संतप्त अकाल और शुधावस्त लोगों की आशा की एक किरण दीख पड़ी तथा अब कोई उठेगा और अपना सर्वस्व दण्ड नारायण के चरणों में न्योछावर कर देगा ।

उधर धनी और अभिजात कुल के लोगों में भी कुछ सेवा-सहायता की कसक पैदा हुई परन्तु धन और सम्पदा की अत्यधिक आसक्ति पानवीय आत्म की प्रेरणा पर हावी हो रही थी । इतने में ही एक पराजित व्यक्ति ने उठकर कहा—महाराज मेरे पास पैसा तो है परन्तु पैसे से क्या होगा जब कि हमें दुर्भाग्य का अनावृष्टि के रूप में सामना करना पड़ रहा है । आपकी प्रेरणा ने हमारे अन्तर्मन को जगा दिया है । परन्तु हम लोग कुछ भी कर सकने से विवश हैं ।

दूसरे धनपति ने उठकर कहा—इस वर्ष तो पानी ही नहीं बरसा, इसीलिए तो खेतों से इतनी उपज भी नहीं हुई कि राज्य का भूमिकर चुका सकें ।

एक सेठ ने उठकर कहा—‘इसने व्यक्तियों को खिलाने की व्यवस्था की जाये तो मेरी सम्पत्ति कम पड़ेगी ।

भगवान् बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ । सभी ने अपनी सम्पत्ति का उचित सदुपयोग करने से बचने का कोई न कोई बहाना देकर निवृत्त था । इस प्रकार साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी कृत्रिम असमर्थता व्यक्त करने लगे तो समस्या का कोई निदान नहीं निकाला जा सकता । वह गम्भीर विचारमुद्रा में लीन हो गये ।

वहाँ एक भिक्षासी की कन्या सुप्रिया बैठी हुई थी । वह उठ खड़ी हुई बोली—‘भगवान् ! अपनी शक्ति के अनुसार भूखे लोगों का भोजन देने का उत्तरदायित्व मैं लेती हूँ ।’

सब लोग आश्चर्य दृष्टि से उस जीर्णवस्त्र धारिणी की ओर देखने लगे । पूछा — ‘सुप्रिया ! इस गुरुतर कर्तव्य का निर्वाह कैसे कर सकोगी ?’

‘मेरे सम्पत्ति और धन-धान्य का बण्डार समृद्ध और श्री सम्पन्न लोगों के घरों में है। इनसे ही माँगकर लाऊँगी और अकाल पीड़ितों को खिलाऊँगी।’— सुप्रिया का उत्तर था।

भगवान् बुद्ध ने सजल नेत्रों से सुप्रिया की ओर देखते हुए कहा— गण श्रेष्ठों। करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है। करुणा और प्रेम से आप्लावित हृदय बाले मनस्वी शूनों के लिए परिस्थितियाँ या सामर्थ्यहीनता से सेवा साधना में कोई कथा नहीं बन सकती।

सिद्धिश्च सोपानः

घर-बार और राज-परिवार छोड़कर सिद्धार्थ ने सत्य की खोज में स्वयं को समर्पित किया तो स्वाभाविक ही था कि अनेकों कष्ट, कठिनाइयों से मुकाबला पड़ा हो। राजसी सुविधाओं के अप्यस्त सिद्धार्थ के लिए अरण्यवास वैसा ही असुविधाजनक रहा था और फिर ऊपर से कठिन शिक्षा, साधनायें और कठोर व्रत-उपवास। भोजन की मात्रा घटाने-घटाते एकदम निराहार रहने लगे, वस्त्र इतने कम हो गये कि दिशायें ही बस बन गयीं फिर भी ज्ञानव्यस्य दूर ही रहा। तो लगा कि मन की शान्ति ही मृत्युञ्जना है। संसार असार तो है ही परन्तु सत्य भी यही है। जिस धैर्य का सम्बल पकड़ कर वे साधना समर में उतरे थे वह जवाब देने लगा और इस भय से स्वयं को निकालने के लिए उठने लगे बुद्ध। घर वापस लौटने की तैयारी करने लगे।

जब वे घर की ओर लौट रहे थे तो रास्ते में एक ठण्डे जल की झील आयी। ‘झील’ के किनारे छड़े होकर वे उसे देखने लगे। उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पड़ी जो बार-बार झील में डुबकी लगाती, बाहर आती, रेत में झोटाती और पुनः झील में डुबकी लगाने के लिए लौट पड़ती। बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ। देर तक वे उसे देखते रहे जब गिलहरी की क्रिया में कोई अन्तर नहीं आया तो आँखों से पूछ ही बैठे—‘नहीं गिलहरी यह क्या कर रही हो तुम।’

‘हम झील ने मेरे बच्चों को खा दिया है अब मैं इसे खाली करके ही रहूँगी।’

हँसी आ गयी सिद्धार्थ को— ‘तो क्या तुम सोचती हो कि तुम्हारी पूँछ को पानी में डुबोने से इतनी बड़ी झील खाली हो जावेगी।’

‘यह तो मैं नहीं सोचती परन्तु जब तक झील खाली न हो जाये तब तक ऐसा ही करती रहूँगी।’

‘भला बताओ तो अनुमानतः यह कितने समय में हो सकेगा।’

‘इसका अनुमान लगाने का मेरे पास समय नहीं है।’

‘इस जन्म में तो सम्भव नहीं है।’

‘भले ही न हो। मेरा सारा जीवन ही इसमें लगा आया परन्तु इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार चुल्हू-चुल्हू भर पन्ने निकालकर मैं अपना काम तो पूरा करने की ओर बढ़ती ही रहूँगी।’ और गिलहरी यह कहकर अपने क्रम में पुनः लग गयी कि— ‘मेरे पास बातें करने का समय नहीं है मुझे काम करने दो।’

गिलहरी की इन बातों को सिद्धार्थ ने कानों से तो कम हृदय से ही अधिक सुना और उनका खोया हुआ आत्म-विश्वास पुनः लौट आया। उनकी अन्त चेतना से यह आवाज आयी कि— यह नहीं-

सी गिलहरी भी अपनी सामर्थ्य, समय और क्षमता का विचार किये बिना आजीवन इस मोझिल कार्य को पूरा करने के लिए सन्नद्ध है तो मैं ही क्यों इतनी जल्दी हार मान लूँ जबकि मेरा लक्ष्य तो सुनिश्चित है और उसके पथ पर भी कभी हट तक बढ़ चुका हूँ। उन्होंने बीच में ही अपना इरादा बदल दिया और खोया हुआ धैर्य पुनः जुटाकर तपःस्थली की ओर लौट गये।

बुद्ध यह निश्चय कर लौटे कि— जब तक मैं अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लूँगा तब तक कोई बात मन में नहीं लाऊँगा, नहीं कोई निर्णय लूँगा, अपने मार्ग के सम्बन्ध में। इस गिलहरी ने मेरे जीवन का एक नया अध्याय खोल दिया है। यह मेरी गुरु है और सफलता के लिए अन्तिम साँस तक प्रयत्न करूँगा।

सिद्धार्थ फिर ध्यानावस्थित हो गये और उस समय तक साधना में लगे रहे जब तक उन्हें निर्वाण प्राप्त नहीं हो गया।

चमत्कार अध्यात्म नहीं है

एक राजा को बड़े-बड़े सिद्ध पुरुष की खोज थी। उसके भिन्न जाने पर वह उसका शिष्य बन जाता और सिद्ध की करामतों से— प्रकाशान्तर से— अनेकों लाभ उठाते रहने की उसकी योजना थी।

सिद्ध की पहचान कैसे हो ? इसके लिए चमत्कार प्रदर्शन कर सकना ही आम लोगों की कसौटी है। राजा ने भी परख का वही माध्यम अपनाया।

एक बहुत ऊँचा बाँस पैदान में गाड़ा गया। उसके ऊपर एक सोन का कमण्डल लटकवाया गया। घोषणा की गई कि जो कोई इस बाँस पर चढ़कर स्वर्ण का कमण्डल उतार लायेगा, उसे कमण्डल के अतिरिक्त और भी बड़ा पुरस्कार मिलेगा। राजा उसका शिष्य बनेगा प्रजा भी राजगुरु को ही अपना गुरु मानेगी। सिद्ध पुरुष को राजघराने में ही महल मिलेगा और उसकी सारी आवश्यकताएँ राज-कोष से ही पूरी होती रहेंगी।

लालच बढ़ा था, पर परीक्षा भी कठिन थी। अनेक सन्त, विद्वान् आये। पर इतनी कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने का कोई साहस न कर सका।

बहुत दिन बाद एक दुर्बल-सा बौद्ध भिक्षु आया। उसने चुनौती स्वीकार कर ली। सुले पैदान में राज-दरबार लगा। हजारों की संख्या में दर्शक उपस्थित हुए।

भिक्षु आसानी से बाँस पर चढ़ता चला गया। उसने ऊपर पहुँचकर आसानी से बाँस का कमण्डल खोला और उसी क्रम से नीचे वापस आया। राजा समेत सभी दर्शकों ने अच-अचकार किया। राजगुरु के रूप में उसका वर्ण किया गया। सारी प्रजा भी उसकी शिष्य बन गयी।

यह सब प्राप्त करने के उपरान्त भिक्षु का मन आया कि भगवान् बुद्ध के पास जैतवन चलना चाहिए। तथागत को तथा अपने सभी गुरु ऋषियों को अपनी विशिष्टता का परिचय देना चाहिए— सभी को अपनी महिमा से परिचित करा दिया जाय। राजा ने सवारी और सिक्कों का प्रबन्ध कर दिया। रास्ता पार करते हुए वह अपने गुरुधाम जा पहुँचा।

तथागत ने समाचार सुना तो वे बड़े सोच में पड़ गये । दूसरे दिन सभी भिक्षुओं को गोष्ठी में एकत्रित किया । तथागत ने उस राजगुरु भिक्षु को उदास मन से विवरण सुनाया । साथ ही यह भी कहा “वह भिक्षु बनने से पहले नट था । बौंस पर चढ़ने की कला इसे पहले से ही आती थी । इसने इसी आधार पर बौंस पर चढ़कर सिखाई जताई । यदि ऐसा ही होता रहा तो सभी नट, लाजीगर सिद्ध पुरुष बन जायेंगे और अपनी धूर्तता से धर्म के नाम पर स्वार्थ साधन करेंगे ।”

उन्होंने सभी शिष्यों को आगाह किया कि उनमें से कोई ऐसी प्रवचना न करे । छल-माध्यम अपनकर धर्म प्रचार का आह्वान न करे ।

स्वर्ण कपण्डल को सबके सामने तोड़ा गया और उन टुकड़ों को नदी में बहा देने का आदेश दिया गया । साथ ही यह भी कहा गया कि बुद्ध संघ का कोई सदस्य न तो चमत्कार दिखावे, न सिद्ध बन का किसी की मनोकामना पूर्ण करे । उसका कर्तव्य तो धर्म-चक्र प्रवर्तन भर है जो आत्म-शुद्धि के लिए की गई तप-सम्पन्ना से ही बन पड़ता है ।

अन्तिम उपदेश

“भिक्षु प्रवर ! मैं भगवान् बुद्ध से अपनी संस्कारों के समाधान हेतु सुमारक तीर्थ से पैदल चलकर आ रहा हूँ । क्या आप बता सकेंगे कि उनके दर्शन मुझे कहाँ होंगे ?” — वहिष ने जैतवन पहुँच कर एक भिक्षु से पूछा ।

भगवान् ! भिक्षा प्राप्ति हेतु जनपद में पधारे हैं । उनके लौटने तक आप विश्राम करें । दूर से पैदल चल कर आये हैं, थक भी गये होंगे ।” भिक्षु ने कहा ।

वाहिय सुप्यारक क्षेत्र के धनी और सम्मान प्राप्त व्यक्ति थे । त्याग, संयम और अपरिग्रह जैसे गुण उनकी साधना के प्रमुख आधार थे । धर्मों की साधना के पश्चात् उनका अन्तःकरण निर्मल और पवित्र हो चुका था । आत्मवन् सर्वभूतेश की भावना उनके रोम-रोम में व्याप्त थी । वह दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानकर उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयास करते रहते थे ।

वाहिय की तीव्रतम जिज्ञासा ने उन्हें कहाँ विश्राम न करने दिया । वह बके-मादे तथागत के दर्शन हेतु गाँव की ओर चल पड़े । उन्होंने गाँव में जाकर देखा भगवान् बुद्ध एक सन्धारण परिवार के दरवाजे पर भिक्षा पात्र लिए हुये खड़े हैं । जाकट गृहणी अन्दर से भिक्षा देने हेतु खाद्य सामग्री लेकर आ रही है । बस इतनी-सी देर थी । तब तक वाहिय उनके पास पहुँच गये और उनकी चरण बन्दना कर हाथ जोड़ एक ओर खड़े हो गये । “भगवन् ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे अक्षय सुख के मार्ग पर आगे बढ़ सकूँ ।”

“यह समय उपदेश का नहीं । मैं अभी भिक्षा लेकर जैतवन चल रहा हूँ । वहीं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान करूँगा ।”

पर भगवन् ! जीवन कितना क्षणभंगुर है । कदली-पत्र पर अटके जलविन्दु के समान यह हवा के तीव्र झोंके से कब झर पड़े । कौन कह सकता है । गई हुई साँस पुनः लौटेगी ही— इसका निश्चय नहीं

है । वहिष ने बड़ी नम्रता के साथ आप्रहपूर्वक कहा ‘अन इसी क्षण को उपदेश के उपयुक्त मानकर मुझ पर कृपा कीजिए ।’

तथागत ने अपनी बात को दुहराया— तुम देख नहीं रहे । मैं भिक्षा की आशा में गृहस्थ के द्वार पर खड़ा हूँ । यह समय और स्थान उपदेश के उपयुक्त नहीं है ।

वाहिय के लिए वह विलम्ब असह्य था । अपने जीवन का एक-एक क्षण मूल्यवान सम्पदा की तरह व्यव करने वाला जिज्ञासु बचैन हो उठा । उसने बड़े कतर स्वर में अपनी बात कही— भगवन् मेरा तो विश्वास यह है कि जिज्ञासु के मन में जिस क्षण जिज्ञासा हो, उसके समाधान का वही उपयुक्त समय है । संसार के अन्य कार्य तो सहज रूप से चलते ही रहते हैं ।

तथागत वाहिय की जिज्ञासा को टटोल रहे थे । वह पात्रत्व की परख कर रहे थे । वह सोचने लगे कृपण की तरह अपने जीवन के एक-एक क्षण का लोक-मंगल के लिए उपयोग करने वाले वाहिय के समय को नष्ट करना उचित नहीं । उन्होंने कहा— ‘तुम ठीक कहते हो ।’ और तथागत ने अक्षय सुख की प्राप्ति का उपदेश उसी क्षण वाहिय को देकर विदा किया ।

भगवान् बुद्ध भी भिक्षा प्राप्त कर जैतवन की ओर लौट पड़े थोड़ी ही दूर चले होंगे कि एक भिक्षु ने दौड़ते हुये आकर समाचार दिया— ‘भगवन् ! जो जिज्ञासु अभी-अभी आपसे उपदेश लेकर गया था । उसे एक साँड़ ने सींगों पर उठाकर ऐसा पैसा कि जीवन-हीला हो सम्पत्त हो गयी । उसका शरीर निष्काय पड़ा है ।’

‘वह तुम्हारा गुरु भाई है, पूर्ण सम्मान के साथ इसका अन्तिम संस्कार करो । यदि मैं भिक्षा के समय ही इसकी जिज्ञासा का समाधान न करता तो वह अपूर्ण इच्छा इसके साथ ही चली जाती ।’

सौ प्यारे को सौ दुःख

भगवान् बुद्ध ने आत्मन्य स्वीकार कर लिया था । श्रावस्ती की विशाखा भृगार माता के लिये यह बड़े हर्ष की बात थी । उसके पास धन-सम्पत्ति, वैभव-वित्तस का कोई अभाव था नहीं । पुत्र-पौत्र भी खूब फल-फूल रहे थे तथागत के स्वागत के लिये उसने अपने पूर्वाराम प्रासाद को खूब अच्छी तरह सज्जया और भगवान् को उसी में विश्राम दिया ।

परमात्मा की स्वभा बड़ी विलक्षण है । वह कब क्या कर दे— कुछ ठिकाना नहीं । भगवान् बुद्ध जिस दिन श्रावस्ती पधारे उसी रात विशाखा के पौत्र धीरज का देहांत हो गया । पौत्र के निधन से विशाखा इस तरह व्याकुल होकर रुदन करने लगी जैसे मस्तराल में डाल दी गई मत्स्या ।

प्रातः काल हुआ । शिशु का शव दाह कर दिया गया । अब तक वह रहा आवेग शोक-निर्झर अब पर्वतीय अंचल से उतर कर मैदान में बहने वाली नदी की तरह धीरे, शांत और गम्भीर हो चला था । विशाखा उस समय भी अस्त-व्यस्त शरीर, वस्त्र और बाल भिगाये उस सम्म-भवन में जा बैठी जहाँ भगवान् बुद्ध दर्शनार्थियों को आत्म-कल्याण का उपदेश कर रहे थे ।

इस मुद्रा और वेक-भूषा में देखकर भगवान् बुद्ध ने पूछा - “विशाखा ! मध्याह्न हो चुका, अब तक तूने वस्त्र और बाल भी नहीं सुखाये ।”

आहत स्वर में विशाखा ने उत्तर दिया— “हॉ भगवान् ! मेरे पौत्र का निधन हो गया है । वह वेदना मेरे हृदय का उच्छेदन कर रहा है ।” कहकर वह फिर सुबक-सुबक कर रुदन करने लगी ।

भगवान् बुद्ध ने बहुत धीरज दिया, फिर भी वह चुप न हुई । तब उन्होंने कहा— “अच्छा विशाखा ! बोल यदि तेरा नाती तुझे मिल जाये तो तू खुश हो जायेगी ।”

“हॉ ! हॉ !! भगवान् तब तो मेरी प्रसन्नता का परावार ही नहीं रहेगा ।” विशाखा ने विस्मय के साथ उत्तर दिया ।

“अच्छा तो तुझे कितने पौत्र चाहिए ? एक, दो, दस, सौ या जितनी ब्राह्मन्ती की जनसंख्या है ।” भगवान् बुद्ध ने किंचित् विनोदपूर्वक प्रश्न किया ।

उसका उत्तर देते हुए मृगारमाता ने कहा— “भगवान् ! जितने अधिक दे सकते हों दें, मेरे प्रसन्नता ताने हों बढ़ेंगे ।”

तब फिर बुद्ध भगवान् ने प्रश्न किया— “अच्छा, यह मान ले कि इस नगर के सभी लोग तेरे ही पुत्र-पौत्र हैं । अब वह बता यहाँ प्रतिदिन कितने लोग मरते होंगे ?”

“निश्चित तो नहीं, पर कभी दस भी मरते हैं कभी छर-छः, तीन और दो भी । कोई महायारी आ जाती है तो सौ-दो सौ भी मर जाते हैं— यह मृगारमाता का उत्तर था ।

अब तू ही बता विशाखा ! भगवान् बुद्ध ने हँसते हुए पूछा— “एक पौत्र के निधन से तो तू इतनी दुःखी है यदि तेरे हजार पौत्र हो जायें तो प्रतिदिन कितने मरेंगे और तब तू कितनी दुःखी होगी । यह तो उनकी मृत्यु का ही दुःख होगा । उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा में कितना कष्ट उठाना पड़ेगा । सेवा का ही सुख चाहिए तो सारा संसार पड़ा है सबकी सेवा कर, आसक्ति से तो दुःख ही बढ़ेगा ?”

मृगारमाता की समझ में बात आ गई । उसने अपना दुःख भुल दिया और संसार की सेवा में जुट गई ।

कर्मयोगी—अनासक्ति

जिन दिनों भगवान् बुद्ध ब्राह्मन्ती के जैतवन में विचरण कर रहे थे, उन्ही दिनों सुप्पारक तीर्थ में साधु कश्चित् दारुचीरिय पर लोगों की ब्रद्धा और सम्मान के भुमन गढ़ रहे थे । दारुचीरिय बसना पर विजय पा चुके थे । धन से कोई मोह नहीं रहा था, पर सम्मान को पथा सकना उन्हें भी कठिन हो गया । लोकेक्षणों को प्रबलतम ऐषणा मानना वस्तुतः शास्त्रकारों की सूक्ष्म-दृष्टि का ही परिचायक है । मान और अपमान में समान भाव रख पाना रुचिमुक्त बहुत दुष्कर है, उस कोई विरला यागी ही सिद्ध कर सकता है ।

दारुचीरिय जहाँ भी जाते, लोग उनके चरणों पर धन, सम्पत्ति, वस्त्र उपादानों के ढेर लगा देते । यह देखकर उनके मन में वितर्क उठा— अब मेरा योग सिद्ध हो गया और मैं स्वर्ग एवं मुक्ति का आशंकारों हो गया

इस प्रकार का अहंकार तब जब वह आश्रम लौटे, बुद्ध गुरु के तीक्ष्ण-वीक्षण से उनका वह अहंभाव छिपा नहीं रह सका । दारुचीरिय को पास बुलाकर उन्होंने कहा— वत्स ! जाओ समिधार्थ ले आओ । प्रतःकाल के यज्ञ की तैयारी कर दें ।

दारुचीरिय ने अपेक्षा की और कहा— भगवान्, अब मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रही । मैं अर्हत् मार्ग पर आरुढ़ हो चुका हूँ ।

वह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है— गुरु ने स्नेहमिलित स्वर में कहा और पूछा— तात् ! आप गौतम बुद्ध को तो जानते हैं ? हॉ-हॉ महात्मन् ! मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ । वे इन दिनों जैतवन में परिव्राजक हैं । उन्होंने भी अर्हत् मार्ग सिद्ध कर लिया है । मुझे इस बात का पता है ।

“तब तो आप एक बार उनके दर्शन अवश्य कर आये” तपस्वी ने धीरे से कहा— सम्भव है उनके सामीप्य से आपके ज्ञान-धनु कोई न्यून प्रकाश प्राप्त कर लें ।

दारुचीरिय सुप्पारक से चल पड़े और थोड़े ही समय में ब्राह्मन्ती जा पहुँचे । अनाधर्षिण्डक के जैतवन में पहुँचने पर बुद्ध तो नहीं मिले, पर वहाँ उनके अनेक शिष्य भिक्षुण विचरण कर रहे थे । दारुचीरिय ने पूछा— आप लोग बता सकते हैं कि भगवान् बुद्ध कहाँ हैं ? इस पर एक भिक्षु ने बताया— महानुभाव ! वे भिक्षाटन के लिये ब्राह्मन्ती गये हुए हैं । तृतीय पहर तक लौटेंगे । आप यही विव्राप करें ।

दारुचीरिय आश्चर्यचकित रह गया । इतने भिक्षुओं के होते हुए भी भगवान् बुद्ध को भिक्षाटन की क्या आवश्यकता पड़ी ? अभी चलकर देखता हूँ, बात क्या है ? वह सोचकर वे ब्राह्मन्ती की ओर चल पड़े । एक सद्गृहस्थ के घर भीख माँगते हुए उनकी भेंट भगवान् बुद्ध से हो गई । दारुचीरिय ने देखा— उनके मन में न किसी प्रकार का हर्ष है, न जलक । विशुद्ध शांत मन से बैठे भगवान् बुद्ध को उन्होंने प्रणाम किया और कहा— भगवान् मुझे बन्धन-मुक्ति का उपदेश करें ।

बुद्ध बोले— अबुस ! वह उचित समय नहीं है । तुम जैतवन चले, वहीं आकर बातचीत करेंगे ।

किन्तु दारुचीरिय ने वही बात फिर दुहराई— भगवान्, मुझे अनासक्ति का तत्त्वज्ञान समझावे । तब तक आप ऐसा नहीं करेंगे मैं यहाँ से नहीं आऊँगा ।

तब भगवान् बुद्ध बोले— तात् ! जो एक बार में केवल एक ही कर्म में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसकी दूसरी इन्द्रियाँ का भाव ही शेष नहीं रह जाती, ऐसा कर्मयोगी ही सच्चा अनासक्ति और अर्हत्-आरुढ़ है । जिसका चित्तवृत्तियाँ एक ही समय में चारों ओर चौड़ती हैं, वही आसक्ति है एवं वही संसार के दुःखों में भ्रमण करता है ।

दारुचीरिय को तब अपनी भूल का पता चल गया । वे वहाँ से लौट पड़े । उनकी यह घाति जाती रही और कर्म को पूर्ण तन्मयता तथा आत्म-साधना मानकर करने की शिक्षा लेकर लौटे । यही तो बन्धन-मुक्ति का राज-मार्ग था, सो उन्हें बुद्ध के क्रिया योग का दर्शन कर स्वयमेव मिल गया ।

साधना की सफलता का सही मापदण्ड

तथागत उन दिनों श्रावस्ती विहार में थे। जैतवन की व्यवस्था अनाथ पिण्डक सम्भालने थे। दक्षिण क्षेत्र की प्रव्रज्या से लौटे दारुचीरिय वापस लौटे और बड़े विहार जैतवन में जा पहुँचे।

दारुचीरिय की भाव भंगिमा और विधि-व्यवस्था वैसी नहीं रह गई थी जैसी कि जाते समय उन्हें अभ्यास कराया गया था। वे अहाँ भी गये बुद्ध की गरिमा और उनकी प्रतिभा का सम्मिश्रण चमत्कार दिखाता रहा, सम्मान बरसा, धन बरसा, प्रशंसा हुई, आतिथ्य की कमी न रही।

पा लेना सरल है, पचा लेना कठिन। प्रतिष्ठा सबसे अधिक दुष्प्राप्य है। उसे गरिष्ठ भोजन और विपुल वैभव की तुलना में आत्मसान्त्वना लेना और भी अधिक कठिन है। दारुचीरिय की स्थिति भी ऐसी ही हो रही थी। अपच उनकी मुखाकृति पर छाया हुआ था।

अनाथ पिण्डक ने पहले दिन तो आतिथ्य किया और दूसरे दिन हाथ में कुल्हाड़ी धरा दी—जंगल से ईंधन काट लाने के लिए। सभी आश्रयवासियों को दैनिक जीवन को कठोर त्रय से संजोना पड़ता था। अपवाद यह ब्रूट मात्र शैली या असमर्थ ही हो सकते थे।

दारुचीरिय इतना सम्मान पाकर लौटे थे। वे अपने को दूसरे अर्हन्त के रूप में प्रसिद्ध करते थे। कुल्हाड़ी उन्होंने एक कोने में रख दी। मुँह लटकाकर बैठ गये। कर्मियों जैसा काम करना अब उन्हें भारी पड़ रहा था। यो आरम्भ के साधना काल में यह अनुशासन उन्हें कूट-कूट कर सिखाया गया था।

अनाथ पिण्डक उस दिन तो चुप रहे। दूसरे दिन कस—अर्हन्त को तथागत के पास रहना चाहिए। वहाँ तो हम सभी श्रवण मात्र हैं।

दारुचीरिय फल पड़े और श्रावस्ती पहुँचे। विहार में तथागत उपस्थित न थे। वे भिक्षाटन के लिए स्वयं गये हुए थे। तीसरे प्रहर लौटने की बात सुनकर उनको अधीरता भी हुई और अश्चर्य भी। इतने बड़े संघ के अधिष्ठाता द्वार-द्वार भटकें और भिक्षाटन से मन बटायें। यह उचित कैसे समझा जाय ?

बेचैनी ने उन्हें प्रतीक्षा न करने दी और बहो पहुँचे जहाँ तथागत भिक्षाटन कर रहे थे। साथ ही मार्ग में पड़े उपले भी दूसरी झोली में रख रहे थे। ताकि आश्रम के गुल्हे में उनका उपयोग हो सके।

अभिवादन उपचार पूरा भी न हो पाया था कि मन की आनने वाले बुद्ध ने दारुचीरिय से कहा—अर्हन्त ही बनना हो तो प्रथम अहन्ता गलानी और छोटे त्रय में भी गरिमा प्रदान करनी चाहिए। इसके बिना पाखण्ड बढ़ेगा और सत्य पाने का मध्यन्तर बढ़ेगा।

दारुचीरिय का समाधान हो गया। अहन्ता गली और श्रवण व्रत फिर से निखर आया। तथागत ने इस प्रसंग को शाम को सत्संग में दुहराते हुए विहार में उपस्थित भिक्षुओं एवं अन्य भक्तों को बताया कि लोक-सेवी की वरिष्ठता की कसौटी विनम्रता पर निर्भर है। आभ-वृक्ष जितना अधिक फलों से लदा होगा, उतना ही झुकेगा। विभूतियाँ पाकर साधक को भी झुकना, स्वयं सेवी स्तर विकसित करण सीखना

चाहिए। इसके अभाव में तो प्राप्त सिद्धि भी दुष्प्राप्य आहार के रूप में सड़े मल की भाँति निकलती एवं वातावरण दूषित करती। स्वास्थ्य बिगाड़ती है। समाज निर्माण मात्र विनम्र साधक ही कर सकते हैं। यदि लोकसेवी ही अहन्ता के मद में चूर बने रहे तो वे विधेयत्वक प्रकृति तो दूर, अपने साथ सारे समुदाय को ले डूबेंगे। दारुचीरिय के साथ हो खने इस तत्त्वदर्शन को समझा व लोक-सेवा के मार्ग को—साधना के सही स्वरूप को—हृदयंगम किया।

विरक्ति विवेक पर आधारित हो

पक्षी चहक उठे, रथ के पहियों की गड़-गड़ाहट सुनकर वन के मोर चँक उठे। समूचे वन प्रान्त की धंग होनी निस्तब्धता में ऐसा कुछ समाने लगा जो अनजाना था—अपरिचित था—सर्वथा नया था। आगे-पीछे अनुशासनबद्ध मुड़सवार सैनिकों से घिरी मगध की साम्राज्ञी महारानी क्षेमा पधारे थी। भगवान् तथागत के चैत्य-विहार में महारानी का इस प्रकार अवानक आना ? आस-पास विचरण कर रहे जनों के मन इस प्रश्न का हल खूँट निकालने में खोने लगे।

पर महारानी जैसे इस फुस-फुसाहट-तरंगित वातावरण से अविवर्तित-शी थीं। वह धीरे-धीरे रथ से उतरिं। सैनिकों ने उनके सम्मान में गर्दने झुक लीं। उन्होंने एक नीबू किन्तु गम्भीर दृष्टि निक्षेप उन पर किया और बोलीं “अब तुम लोग जा सकते हो।” स्वर नेपथ्य से आता लगा। रथों की गड़गड़ाहट थोड़ी ही देर में दूर-दूर बहुत दूर क्षितिज में जाकर विलीन हो गई।

सान्ध्य बेला में क्षेमा ने तथागत के निजी आवास गृह में प्रवेश किया। वैराग्य से अभिभूत महारानी की मुखाकृति पर सत्त्विक आभा की चमक स्पष्ट थी। बुद्ध के गरण में झुकते हुए उन्होंने कहा—“भगवान् ! अब तक मैं अन्धकार में भटकती रही। मुझे पता होता ईश्वरीय नियमों के सम्मुख राजा और प्रजा दोनों ही समान हैं। मृत्यु और आधिपतितिक कष्टों, परेशानियों के जाल-जंजाल से कोई भी नहीं बचता तो मेरा इतना जीवन व्यर्थ न गया होता। अब तक आत्मकल्याण के कई धरण पूरे कर लिए होते। प्रभु ! अब मुझे शिष्य बनाकर मेरे आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करें।

भगवान् बुद्ध ने गम्भीर दृष्टि से क्षेमा की ओर देखा। एक क्षण कुछ अध्ययन किया। फिर कहा “भद्रे ! आत्मकल्याण के लिए साधना करने और गृह परित्याग से पहले यह जरूरी है कि जिन लोगों के प्रति अपने कर्तव्य हैं, उनकी पूर्ण स्वीकृति और सहमति प्राप्त की जाये। जब तक आप महाराज बिम्बसार से आज्ञा नहीं प्राप्त कर लेतीं, टीका का अधिकार आपको नहीं है।”

क्षेमा पुनः एक बार मगध लौटीं। वे सीधे बिम्बसार के पास पहुँचीं। आभूषण रहित वेष और खुल हुए केश देखकर महाराज पहलं ही समझ गए क्षेमा के मन में तीव्र आन्दोलन है। उन्होंने उठी हुई जिज्ञासा को रेकना अचित न समझा। महारानी के आग्रह पर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। वह पुनः भगवान् बुद्ध के पास लौट आयीं।

महारानी का धर्म पन्थ में प्रवेश राज्य की प्रजा के लिए कौतूहल और श्रद्धा का विषय बन गया था। हजारों की संख्या में नर-नारी एकत्रित होकर आश्रम पहुँचने और आत्मकल्याण की दीक्षा का आग्रह करने लगे। जब आश्रम में यह कोलाहल नदता जा रहा था, तभी महारानी क्षेमा ने वहाँ प्रवेश किया।

भेड़ की ओर इशारा करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा— क्षेमा ! देखो कितनी भीड़ तुम्हारा अनुकरण कर रही है जानती हो क्यों ? सामान्य जन के पास भी ऐसी ही भक्ति होती है, जैसी तुम्हारे हृदय में ठपड़ रही है। किन्तु इनके पास न विचार होता है, न विवेक। इसलिए इनका वैराग्य दृढ़ नहीं। प्रबुद्ध व्यक्तियों के पद-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रियम ससार में सभी जगह है। आज तक तुम्हारा वैषम्य विलास का जीवन रहा, इसका अनुकरण वह लोग करते रहे। खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार-वर्तन मैं इन्होंने वह सब बुराइयाँ पाल ली हैं जो राजपरानो में होती हैं। इस स्थिति में इन्हें छोड़कर अकेले तुम्हें दोष दी जा सकती है क्या ?”

“नहीं भगवन् !” क्षेमा ने संक्षिप्त उत्तर दिया। “तो फिर यह भी आवश्यक है कि इन सबमें भी उसी तरह का विचार-विवेक और वैराग्य जाग्रत हो जिस तरह से तुम्हारे अन्तःकरण में उदित हुआ है। इसके लिए तुम्हें कुछ दिन इनके बीच रहकर इनके विकास की साधना करनी पड़ेगी, जब तुम वह दूसरा धर्म भी पूरा कर लोगी, तब दीक्षा की पात्र बनोगी।”

क्षेमा उस दिन से जन-जन में ज्ञान-दान वितरण में जुट गई। कई वर्षों की सम्यक् सेवा से जब उम्मा वैराग्य दृढ़ हो गया तब भगवान् बुद्ध ने दीक्षा दी और आत्मकल्याण की साधना में प्रवेश कराया।

तोड़ना आसान जोड़ना कठिन

निर्जन और सुनसान राह पर भगवान् बुद्ध सौम्य और शान्त मुद्रा में कदम-कदम आगे बढ़ रहे थे। मन्दर गति से गम्भीर और सौम्य शान्ति की दीप्ति बिखेरते हुए तथगत के साथ उनके अन्तः शिष्य भी थे और सभी शिष्य उनके पीछे भक्तिबद्ध होकर चल रहे थे। लक्ष्य था राजगृह। वहाँ पहुँचकर वहाँ के निवासियों को धर्म का उपदेश देना था। तभी राह में भेड़ों का एक झुण्ड निकला। झुण्ड के पीछे भेड़ों का मालिक गड़रिये चल रहा था।

गड़रिये के कन्धे पर एक भेड़ का बच्चा था जिसे वह उठाकर ले जा रहा था। शायद उसके शरीर में कोई पीड़ा रही होगी जिसके कारण वह चलने में असमर्थ है। यह सोचकर तथगत ने गड़रिये को रोका और पूछा उससे कि— तुम इस भेड़ के कन्धे पर क्यों अग्रसर हुए हो ?

गड़रिये ने साधु वेष में एक तेजस्वी पुरुष को अपने सामने देखा तो वह अनायास ही श्रद्धा से नत-मस्तक हो उठा और बोला— भगवन्, भेड़ के पैर के चोट है। इसलिए इसे कन्धे पर रखना पड़ा है।

बुद्ध कतर हो उठे और उन्होंने भेड़ के उस अंग पर दृष्टि रखा जहाँ कि गड़रिये ने चोट मारी थी। क्रूरता और दया की प्रतिमूर्ति तथगत का स्पर्श पाकर उस मृक पशु को जैसे सहत मिली हो। उसने

आँखें मूँद ली और चुपचाप मुँटी पलकों से दो चार आंसू टपका दिये भगवन् बुद्ध भेड़ के यह स्थिति देखकर और भी दयार्द्र हो गये

तभी गड़रिये ने पृष्ठ — भन्ते ! आपको इस अकेले भेड़ के पैर की चोट से इतनी व्यथा है तो फिर थोड़ी देर बाद जब इन भेड़ों को एक साथ अग्नि में समर्पित किया जायेगा तो कितनी व्यथा होगी

“क्या कहा” — सदैव शान्त रहने वाले बुद्ध के मुख-मण्डल पर व्यथिता आ गयी— “क्या वे सब भेड़ें बलि चढ़ाने के लिए ही ले जायी जा रही हैं। कौन है वह अभाग जो इन निरीह निरपराध भेड़ों को बलि चढ़कर स्वर्ग प्राप्ति का सौभाग्य लूटना चाहता है।”

राजगृह का अधिपति अजातशत्रु। कहते हैं उसने अपने पिता का वध किया था। उसी पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप वह यज्ञ रथाकर एक हजार पशुओं को बलि चढ़ाने जा रहा है— और जल्दी के कारण वह वहाँ से चला दिया।

भगवन् बुद्ध जब राज-भवन पहुँचे तो पाया कि गड़रिये ने जो कहा था वह सच है। राज-भवन के आँगन में स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी हुई थी। यज्ञ वेदी के चारों ओर बैठकर ब्राह्मण पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और अजातशत्रु पीत वस्त्र धारण कर यज्ञमान के वेश में बैठे हुए थे। चारों ओर पशुओं की लम्बी कतारें लगी हुई थीं तथा उनके पास ही हथ में नंगी तलवारें लिए अधिक छोड़े थे।

तभी आयोजन स्थल पर तथगत ने पदार्पण किया। सारे सभास्थल में खलबली मच गयी। अजातशत्रु भी भगवान् की अभ्यर्चना हेतु अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और बिना पूछे ही इस समारोह के सम्बन्ध में बतलने लगा। सारी बातें सुनकर भगवान् बुद्ध ने भेड़ों के सामने रखी हुई वनस्पतियों में से घास का एक तिनका उठाया और बोले— राजन् ! इस तिनके को तोड़कर चीरना तो जरा !

जिन लोगों ने इस विचित्र बात को सुना वे आश्चर्य में पड़ गये। अजातशत्रु ने भी आश्चर्यपूर्वक तथागत का कहना मानकर वह तिनका तोड़ा और अगले आदेश की प्रतीक्षा करने लगा तब भगवान् ने कहा— राजन् अब इस टूटे हुए तिनके को जोड़ो तो सही।

राज चुप हो गया। तब भगवान् ने कहा— “राजन् ! मैं तुमसे यही बात इस समारोह के सम्बन्ध में भी कहना चाहता था। पिता के वध का जो पाप हुआ है उसे किसी भी प्रयत्न द्वारा मिटाया नहीं जा सकता जैसे इस टूटे तिनके को नहीं जोड़ा जा सकता।” तथागत से यह कथन सुनकर अजातशत्रु ने वह आयोजन निरस्त कर दिया।

अपने भीतर सुख की खोज

उस समय भगवान् बुद्ध श्रवस्तो की मृगारमता के पूर्णाराम प्रसन्न में विभ्राम कर रहे थे। प्रवास और परित्राजन के नैमित्त्य के कारण उन्हें बकावट अनुभव हो रही थी। मृगारमता ने उनकी देख-रेख और सेवा का पुरा प्रबन्ध कर दिया था।

मृगारमता विशाखा का किसी उद्योग से सम्बन्धित कोई काम औशलरप्प प्रसेनजित के यहाँ अटक हुआ था। उसके कारण उन्हें चैन नहीं मिल रहा था। सोचा यह था कि तथगत का उपस्थिति में वह कुछ धर्म-धर्मा लाभ लेगी। पर वह तो बना नहीं, वह दूसरे ही दिन प्रसेनजित के पास पहुँची।

प्रसन्नजित ने इस बार भी टाल-मटोल कर दी। विशाखा वहां से निराश लौटी। शोषहर की चिलचिलाती धूप में जैसे ही विशाखा सीधे भगवान् बुद्ध के पास पहुँची और उन्हें प्रणाम कर खिन्न बदन एक ओर बैठ गई।

अन्तर्यामी तत्काल हँस और बोले—विशाखा ! इसीलिये कहना है कि अपनी इच्छाएँ बढ़ानी नहीं, कम करनी चाहिये। इच्छाओं की पूर्ति में जो पराधीनता है, वही दुःख है।

विशाखा ने कहा—तो फिर भगवन् ! ऐसा भी कोई उपाय है, जिससे अपनी इच्छाएँ कम की जा सकें।

बुद्ध ने उत्तर दिया—हाँ भन्ते ! अवश्य है, यहाँ हम सुख की खोज अपने धोतर करने लगे तो इच्छाओं की निस्सारता आप प्रकट होने लगती है।

योग्यता की परख

युधक अकमाल भगवान् बुद्ध के श्रमने उपस्थित हुआ और बोला—भगवन् ! मेरी इच्छा है कि मैं संसार की कुछ सेवा करूँ, आप मुझे जहाँ भी भेजना चाहें भेज दें ताकि मैं लोगों को धर्म का रास्ता दिखाऊँ ?

बुद्ध हँसे और बोले—तात् ! संसार को कुछ देने के पहले अपने पास कुछ होना आवश्यक है, जाओ पहले अपनी योग्यता बढ़ाओ फिर संसार की भी सेवा करना।

अकमाल वहाँ से चल पड़ा और कलाओं के अभ्यास में जुट गया। वाण बनाने से लेकर गिरकला तक मल्लविरा से लेकर मल्लाहकारी तक उसने जितनी भी कलाएँ हो सकती हैं उन सबका १० वर्ष तक कठोर अभ्यास किया। अकमाल की कला-विहारद के रूप में सारे देश में छद्मति फैल गई।

अपनी प्रशंसा से आप प्रसन्न होकर अकमाल अभिमानपूर्वक लौट और तत्काल ही सेवा में जा उपस्थित हुआ। अपनी योग्यता का बखान करते हुये उसने कहा—भगवन् ! अब मैं संसार के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ सिख सक्ता हूँ। अब मैं २४ कलाओं का पण्डित हूँ। भगवान् बुद्ध मुस्कराये और बोले अभी तो तुम कलाएँ सीख कर आये हो परीक्षा दे लो तब उन पर अभिमान करना।

अगले दिन भगवान् बुद्ध एक साधारण नागरिक का वेश बदल कर अकमाल के पास गये और उसे अकारण खी-खोटी सुनाने लगे। अकमाल क्रुद्ध होकर घरने दौड़ा तो बुद्ध वहाँ से मुस्कुराते हुये वापस लौट पड़े।

उसी दिन मध्यह्न दो बौद्ध भ्रमण वेश बदल कर अकमाल के समीप आकर बोले—आचार्य आपको सम्राट् हर्ष ने मन्त्रिपद देने की इच्छा की है क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ? अकमाल को लोभ आ गया उसने कहा—हाँ हाँ अभी चलो। दोनों भ्रमण भी मुस्कुरा दिये और चुपचाप लौट आये। अकमाल हैरान था—क्या क्या है ?

थोड़ी देर पसल भगवान् बुद्ध पुनः उपस्थित हुये। उनके साथ अम्पपानी थीं। अकमाल जितनी देर तत्काल वहाँ रहे आम्पपानी

की ही ओर बार-बार देखता रहा। बात समाप्त कर तत्काल आश्रम लौटे।

साकमल अकमाल को बुद्ध देव ने पुनः बुलाया और पूछा—वत्स ! क्या तुमने क्रोध, काम और लोभ पर विजय की विद्या भी सीखी है। अकमाल को दिनभर की सब घटनाएँ याद हो आईं। उसने लज्जा से अपना सिर झुका लिया और उस दिन से आत्म-विजय की साधना में संलग्न हो गया।

सर्वोपरि शक्ति क्या है ?

पत्थर की एक बड़ी चट्टान को देखकर शिष्य ने बुद्ध से पूछा भगवन् ! क्या इस चट्टान पर किसी का शासन सम्भव है ?

‘पत्थर से कोई गुनी शक्ति लोहे में होती है। इसीलिए लोहा पत्थर को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।’ भगवान् बुद्ध ने शिष्य की जिज्ञासा को जानत करते हुए उत्तर दिया। तो फिर लोहे से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ होगी ? शिष्य ने प्रश्न किया—‘क्यों नहीं ? अग्नि है। जो लोहे के अणु को गलाकर द्रव्य रूप में बना देती है।’

‘अग्नि की विकराल लपटों के सम्मुख किसी की क्या चल सकती होगी ?’

‘केवल जल है जो उसकी ऊष्मा को शीतल कर देता है।’

‘जल से टकराने की फिर किसमें ताकत होगी। प्रतिवर्ष बाढ़ तथा अति वृष्टि द्वारा जन और धन की अथर हानि होती है।’

‘ऐसा क्यों सोचते हो वत्स ! इस संसार में एक से एक शक्तिशाली पद हैं। वायु का प्रवाह जलधारा की दिशा बदल देता है। संसार का प्रत्येक प्राणी वायु के महत्त्व को जानता है क्योंकि इसके बिना उसके जीवन का महत्त्व ही क्या है ?’

‘जब वायु ही जीवन है, फिर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।’

अब भगवान् बुद्ध को हँसी आ गई उन्होंने कहा—‘मनुष्य की संकल्पशक्ति द्वारा वायु भी वश में हो जाती है। मानव की यह शक्ति ही सबसे बड़ी है।’

धर्माचरण का भय

इन्द्रप्रस्थ के राजा धनञ्जय के घर अति प्राचीनकाल में बौधिसन्ध ने एक बार पुत्र रूप में जन्म लिया था। पिता के मरने पर वे सिंहासनारूढ़ हुए। उनकी न्याय-निष्ठ और क्षान्तिशाली की ख्याति समस्त जम्बू द्वीप में फैल गई। प्रजा धर्मशील थी और सुखी थी।

कलिंग देश में उन्होंने दिनों अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा क्षुधित और लुण्ठ होकर मरने लगी, जिनसे जन पड़ा व देश छोड़कर भ्रमण गये।

प्रजा के दुःख को देखकर कलिंगराज बहुत दुःखी हुए और देश के विज्रजनों को बुलाकर दुर्भिक्ष निवारण का उपाय पूछने लगे।

एक ब्रह्मचर्य ने कहा—‘दुर्भिक्ष के समय पुराने राजा अपना समस्त राजकोष दान कर देते थे और एक महीने तक घास पर सोते थे और व्रत रखते थे। ऐसा करने से वर्षा ही जाया करती थी। राजा

ने तुरन्त वही कर डाला। दान, तप और भूमिस्वयं की क्रिया सही रूप से पूरे हो जान पर भी वर्षा नहीं हुई।

दूसरी सभा बुलाई गई। एक ज्योतिषी ने कहा— कुरु देश के राजा के पास अजन वसभ नामक मागलिक हाथी है वह किसी प्रकार अपने देश में आ जाय तो दुर्भिक्ष दूर हो जावेगा। कर्लिंग नरेश ने उस हाथी की याचना के लिए दूत भेजे। उदार कुसराज ने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली और मन्त्राल हाथी दान में दे दिया। मगल राज आ तो गया पर वर्षा इससे भी न हुई।

तीसरी सभा बुलाई गई। उसमें बहुत विवेचना के पश्चात् निर्णय निकला कि इन्द्रप्रस्थ में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता कहां की प्रजा धर्माचरण करती है और सदा सर्व सुखी रहती है। हमारे देश में अधर्माचरण बढ़ गया है अस्तु दुर्भिक्ष पड़ा। हमें इन्द्रप्रस्थ नरेश से धर्माचरण के नियम पूछने चाहिए, उन्हें स्वर्ण पटल पर लिखाकर भेजना चाहिए और प्रजाजनों को उन्हें पालन करने के लिए बाधित करना चाहिए तभी वर्षा होगी।

कर्लिंग नरेश ने आठ ब्राह्मणों का दान इन्द्रप्रस्थ भेजा, नरेश ने लिखवाया— “निष्ठुर मत बना। बिना परिजम का मन मत रखे। झल और दम्भ मत करो। स्नेह सौजन्य बरतो। संयम बरतो और प्रसन्न रहो।” इतना लिखा देने पर राजा को सन्देह हुआ कि यह नियम अपूर्ण हो सकते हैं, धर्म तत्त्व को निर्देशक नहीं उसके प्रयोजन ही जानते हैं। सो उन्होंने ब्राह्मणों को अपनी धर्मनिष्ठा माना के पास भेजा कि जो इसमें कमी हो उसे उनसे पूरा कराएँ।

ब्राह्मण मण्डली राजासभा के पास पहुँची। राजासभा ने कहा— धर्माचरण के लिए सदा प्रयत्नशील रहने पर भी भुम्रसे भूल होती है सो आप लोग उपराज के पास जायें वे भुम्रसे अधिक जागरूक हैं। उपराज ने भी अपने प्रयत्नशीलता की बात तो कही पर साथ ही यह भी माना कि अभी उन्हें बहुत कुछ सुधरना ज़रूरी है। इसलिए धर्म तत्त्व का विवेचन अधिकारी कर्तव्यनिष्ठों से कराया जाय। इसके लिए मैं नहीं विदुष आमात्य के पास वे पधारे।

ब्राह्मण आमात्य के पास पहुँचे। आमात्य इन्हे वे रस्सी बंधकर खेतों की लम्बाई-चौड़ाई नाप रहे थे। इस प्रयत्न में उनके पैरों से एक मेढ़क कुचल कर मर गया। वे खिन्न बैठे। ब्राह्मण दल ने उसे अपना अधिप्राय व्यक्त किया। आमात्य बोले आप देखते नहीं मैंने कर्तव्य पालन के साथ-साथ बरती जाने वाली सतर्कता में वृक कर दी। प्रमाद तो अधार्मिक होता है। मैं धर्म-शिक्षा का अधिकारी कहाँ रहा? आप सुधार सारथी के पास जाइये वह किन्तु प्रमाद के धर्माचरण करने में प्रख्यात हैं।

सारथी ने अपनी भूलें बताते हुए कहा— सही चल से चलने पर भी मैंने एक बार गोड़ों को द्रुतगति से दौड़ाने के लिए चाबुक बरसाये थे और यह ध्यान में नहीं रखा था कि इससे उन्हें किन्तु अनावश्यक कष्ट होगा। जिसकी सहानुभूति में खूनता है वह धर्मोपदेश क्या करे? आप अनाभ श्रेष्ठि के पास जायें वे मन्ने हुए धर्मात्मा हैं। अनाभ ने राजा घटना सुनाई जिसमें उन्होंने राज्य का कर भाग चुकाये बिना खेत से खुद कच्चा अन्न भूँकर खा लिया था। खाते समय वह

ध्यान नहीं रखा था कि कर चुकाने के बाद ही खाना चाहिए। फिर भला मैं धर्म-शिक्षा कैसे दूँ। उपदेश तो वह करे जो आचरण में खग हो। आप विरोध आमात्य के पास जायें वे इसके अधिकारी हैं।

महामात्य मुँह लटकाने बैठे थे। उनके जिये किसानों के उपार्जन का छत्र अंश राज्य कर के रूप में नापना था। कल एक किसान के अनाज को देखी उन्होंने गपी थी। विभाजन की पथ्य रेखा बनाने के लिए उन्होंने थोड़ा-सा अनाज चिह्न प्रतीक के रूप में रख दिया था। नाप पूरी होते-होते वर्षा आ गई। महामात्य ने वह चिह्न प्रतीक वाला अन्न जट्टों में उठाकर राज्य भाग में डाल दिया और वह राज्यक्षेत्र में जमा हो गया। वे सोच रहे थे इस भूल से राजा को अनुमित स्वयं मिला और किसान के साथ अन्याय हुआ। जब मुझे न्याय के लिए भेजा गया था उसमें पूर्ण सतर्कता बरतनी चाहिए थी ब्राह्मणों को उन्होंने अपनी भूल बता दी और कहा आप सुधीर द्वारपाल के पास जायें।

द्वारपाल ने ब्राह्मणों की बात सुनी और एक घटना सुनाई। राजदरबार में एक युवक अपनी बहन को लेकर किसी न्याय प्रयोजन के लिए आया था। वे हंसते-हंसते आ रहे थे। मैंने उन्हें व्यधिचारी सपना और कटु शब्दों में झोंटा। जब उन लोगों ने अपने सम्बन्ध बताने तो मुझे दुःख हुआ कि बिना पूरी बात जाने मैंने केवल सन्देह के आधार पर क्यों छोटी मान्यता बना रखी? आप ही बतायें कि जिसका आचरण सगुण हो वह शिक्षा कैसे दे? आप चन्द्रवती देव्या के पास जायें।

वश्य ब्राह्मणों की बात सुनकर रूआसी हो गई। उसने सुनाया एक परदेशी युवक ने सहस्र मुद्रा देकर मुझे एक वर्ष प्रणय क्रीड़ा के लिए अनुबन्धित कर लिया। अगानक उसे स्वदेश लौटना पड़ा। तीन वर्ष तक मैंने उसकी प्रतीक्षा की जब कुछ पता न चला और भूखी मरने लगी तो दूसरे युवक का अनुबन्ध स्वीकार कर लिया। अब इस स्मरण में पड़ी हूँ कि कहीं प्रथम युवक के साथ मैं विश्वासघात तो नहीं कर बैठी? मेरा धर्माचरण वह तो नहीं हो गया? ऐसी असमंजसयुक्त मन-स्थिति में किस प्रकार आपको कुछ परामर्श दूँ।

ब्राह्मण इन सबके कथन का सार अपने मन में जमाकर राजा के द्वारा लिखाये गये निर्देशों वाले स्वर्ण पटल समेत कर्लिंग देश चल पड़े। राज्य सभा में उन्होंने समस्त विवरण सुनाया और कहा धर्माचरण की मोटी मर्यादा तो इस पटल पर लिखी है। उसकी गर्व रहस्य यह है कि “हर व्यक्ति अपने आनन्द की गहरी समीक्षा करे, सुधार के लिए सचेष्ट रहे। विनम्र बने और अपनी अपेक्षा दूसरों को प्रच्छेद माने।”

कर्लिंगराज ने स्वर्ण पटल पर लिखी मर्यादाओं के साथ-साथ ब्राह्मणों द्वारा पढ़े गये धर्म रहस्य भी जोड़ दिये और उन्हें पालन करने के लिए प्रजा को मनसाया।

जैसे ही धर्माचरण का पालन आरम्भ हुआ वैसे ही विपुल वर्षा होने लगी और दुर्भिक्ष मिट गया, सतपुत्री सुख्यवस्था का आधार बन गया।

निर्भयता—ग्रेयस की जननी

वाराणसी के जंगलों में एक खरगोश रहता था। जितना छोटा था उसका शरीर अन्य जीव-वस्तुओं की तुलना में, उससे भी छोटी थी उसकी बुद्धि। एक दिन मध्याह्न समय बेल-पादप की छाया में वह विश्राप कर रहा था। भोजन से पेट भरा था और इसलिए उसे नींद भी आ गयी और निद्रावस्था में उसने एक भयंकर स्वप्न देखा। स्वप्न में शायद वह किसी भवन के नीचे सोया था और वह देख रहा था कि भवन की छत फट पड़ी है और उसके मतलबे तले वह दबता जा रहा है।

यह स्वप्न देखकर भयभीत हो जाग उठा। उसका मुँह आकाश की ओर तो था ही सोधी दृष्टि आकाश पर गयी और उसने सोचा कभी यह आकाश फट पड़े। तो स्वप्न की तन्त्रा में तो वह था ही और हृदय भी भय-ग्रस्त, सो सपमुच ही लगने लगा कि आकाश फट पड़ा है तभी भयानक तेज हवा चली और बेल के वृक्ष से एक फल टूटकर जमीन पर गिरा। उसकी जा आबाज हुई उसने खरगोश की इस आशंका की पुष्टि कर दी कि आकाश फट पड़ा है। वस्तुस्थिति को जानने के लिए न तो उसने अपनी आजू-बाजू देखा और न कुछ विचार ही किया। एक दम से भाग खड़ा हुआ। आत्मरक्षा के लिए वह किसी ऐसे स्थान पर जा छुपने की कोशिश में था कि जहाँ उसके प्राण बच जायें और वह सुरक्षित भी रह जाए वह इस प्रकार डरकर भाग रहा था कि पीछे तो क्या अगल-बगल में अपना सुरक्षित स्थान देखने की भी हिम्मत नहीं जुट पा रही थी।

इस प्रकार बेतहाशा भागते हुए देखकर उसके कुछ साथियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ ने रोक कर पूछना चाहा कि क्या बात है परन्तु खरगोश के पास रुकने का समय कहाँ था। भागते-भागते ही उसने कहा—अरे मूर्खों! रुकने की बात कह रहे हो अभी पता चल जायेगा कि क्या हुआ। पीछे आसमान फट पड़ा है, अभी सब दबकर मर जाओगे। मैं तो किसी सुरक्षित स्थान की तलाश कर रहा हूँ ताकि अपने प्राण बचा सकूँ।

इतना सुनना था कि उसके साथियों ने भी बिना कोई स्वेच-विचार किये उस खरगोश के पीछे भागना शुरू किया। थोड़ी दूर बाद पिला हरिणों का झुण्ड। हरिणों ने पूछा—पाइयों आप सब लोग इस तरह घबराकर क्यों भाग रहे हो।

घबराकर नहीं मित्रों, अपनी आति और अपने प्राणों की रक्षा के लिए भाग रहे हैं—भागते हुए खरगोशों में से एक ने कहा—पीछे आसमान फट पड़ा है और सारे पृथ्वी के प्राणियों पर विपत्ति आ पड़ी है।

हरिण भी घामने लगे नदी के किनारे पहुँचे तो हारिणों ने भी उसी प्रकार पूछा जिस प्रकार अन्य खरगोशों तथा हरिणों ने पूछा था और वे भी वस्तुस्थिति पर कोई विचार किये बिना ही भागने वालों के उस झुण्ड में जा मिले। इसी प्रकार धीरे-धीरे बाहसिंधे, लोमड़ी, गैद, नीलगायें, चीते और भेड़िये भी इन भागने वालों के काफिले में शामिल हो गये।

भागते-भागते जब वह मण्डली एक पहाड़ की घाटी में पहुँची तो उस घाटी की एक गुफा में विश्राप कर रहे वनराज सिंह की आँख खुल गयीं। सिंह ने भागते हुए प्राणियों को रोक और पूछा तो कारण का पता चलने पर वनराज की हँसी कूट पड़ी। आकाश की ओर देखते हुए कहा—देखो आकाश तो अपनी जगह पर खड़ा हुआ है।

घटना के मूल कारण का पता चल तो सभी जीवों की बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। यह कण सुनकर भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओं! अब तुम समझ गये होगे कि भय से मनुष्य के सोचने-विचारने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। इससे पूर्व कि जब भय के कारण उपस्थित हों तभी विचारपूर्वक उन्हें जान लिया जाय तो तनिक भी अनिष्ट न होगा। लौकिक जगत में नहीं आन्मिक जगत में प्रवेश और सफ़लता के लिए भी निर्भयता एक द्वार है और जो उस द्वार से प्रवेश करते हैं वे ही ग्रेयस को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकाश की एक किरण का प्रभाव

गाँव में गौतम बुद्ध का दूसरी बार आगमन हो रहा था। राजा और वनवान व्यक्ति उनके स्वागत की तैयारी में लगे थे। पर छोटे तबके के व्यक्तियों को अपने गोरख-धन्य से ही समय नहीं मिल पाता जो ऐसे कार्यक्रमों में भाग ले सकें।

उसी गाँव में एक मोची रहता था दिन भर मेहनत-मजदूरी करता, शाम पड़े घर लौटकर आता, खाना खा-पीकर थोड़ी देर बच्चों के साथ मनोरंजन करता और बक-पाँदा गहरी नींद में सो जाता। उसे पता ही नहीं चलता कि गाँव में कब और कौन-सी गतिविधि होने वाली है।

एक दिन वह सुबह उठा। घर के पीछे के छोटे से गन्दे तालाब में उसे कमल का फूल खिल दिखाई दिया। बेमौसम के उस फूल ने मोची का ध्यान सबसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह गुटनों तक के गन्दे पानी में घुस कर उस फूल को तोड़ लाया। सोचा इसका रुपया दो रुपया मिल जायेगा तो घर का काम चलेगा। फूल लेकर वह सहर की ओर दौड़ा।

रास्ते में नगर सेठ अपने रथ पर बैठ आ रहे थे उन्होंने मोची को फूल ले जाते देखा तो उसे रोककर सारथी से कहा इसे पाँच रुपये निश्चल कर दे दो। आज नगर में बुद्ध का आगमन है उनके शरणों में अर्पित करने के काम आ जावेगा वह फूल। मोची भीचक्का हो गया सोचने लगा रुपये दो रुपये की चीज के यह तो पाँच रुपये दे रहा है। सौदा निबट भी नहीं पाया था कि उसी मार्ग पर आते ही अश्वारोही राजमन्त्री ने कहा 'इस फूल का सौदा हो गया। तुम बेचना मत। जितना पैसा यह घनी दे रहा होगा उसके पाँच गुने मैं दूँगा एकदम ५ रुपये से २५ रुपये हो गये। जरूर इस फूल में कुछ कमाल है तभी एकदम पाँच गुनी कीमत बढ़ रही है।

तभी राजा की सवारी उसी मार्ग से निकलते हुए उसी विवाद-स्थल पर आ रुकी। राजा ने रथ में से झोंककर कहा—'इस फूल को बेचने की आवश्यकता नहीं। मैं राज्य कोष से मुँह माँगा दाम दूँगा। तुझे अब चमड़े के घन्ठे से भी मुक्ति मिल जायेगी। तूरे परिवार की स्थिति सुधर जायेगी। मेहनत, मजदूरी के चक्कर में न पड़ना

होगा। पूरा परिवार आसानी से खुरी-खुरी अपने दिन व्यतीत कर सकेगा।”

मगध से फूल की कीमत हजारों रुपये हो गई। मोची चक्कर में पड़ गया। उसकी आँखें राजा की ओर फटी-सी रह गई। ऐसा इस फूल में क्या है? पन्ने जड़े हुये हैं जो इसकी कीमत हजारों रुपये हो गई। आखिर बात क्या है? सफाट! यह मोल-पाव इतना बढ़-चढ़कर क्यों हो रहा है।

‘तू बड़ा भोला है। तुझे शाब्द पता नहीं कि अपने गाँव में भगवान् बुद्ध का शुभागमन होने वाला है। हमें भी उनके स्वागत के लिए जाना है। बेमौसम का यह फूल उनके चरणों में चढ़ायेगे तो उन्हें भी आश्चर्य होगा कि यह कहाँ से आ गया और हमें भी अद्भुत वस्तु चढ़ाने में गौरव का अनुभव होगा।’

नगर सेठ ने राजा की बात सुनकर मोची से कहा ‘भैया! वह न होगा यह फूल मैंने पहले देखा था। मोल-पाव पहले मैं कर रहा था। अतः इस वस्तु पर पहला दावा मेरा है निश्चयानुसार मुझे ही मिलना चाहिए।’

मोची ने कहा— ‘अच्छा! यह बात है। तो आप सभी लोग मुझे क्षमा कीजिये। जब भगवान् के चरण अपने ही गाँव को छवि करने वाले हैं तो मैं ही उनके चरणों में वह पुष्प चढ़ा दूँगा। मैं फूल बेचना नहीं चाहता। इसकी उपयोगिता मुझे आप सबके द्वारा मालूम पड़ गई है।’

शाम की व्यक्तिगत चर्चा के समय बुद्ध को नगर सेठ, मन्त्री तथा राजा ने दिन में घटी वह घटना सुनाई। ‘‘एक निर्धन मोची, जिसे दो समय भरपेट खाने को भोजन नहीं मिलता, लाखों रुपये पर ठोकर मारकर फूल बेचने से इन्कार कर देता है।’’

बुद्ध को सारी घटना समझने में देर न लगी। तब तक वह मोची भी दर्शनार्थियों की भीड़ में दिखाई दिया। आगे बढ़कर उसने पुष्प चढ़ाया, चरणों में माथा टूककर हाथ जोड़े दूर एक ओर खड़ा हो गया।

बुद्ध ने कहा आज इस फूल के तैरे पास कई ग्रहक थे और मुँह-भौंगा लाभ देने को तैयार थे। फिर तो वह फूल बेच देना चाहिए था।

‘‘भगवान्! संसार में धन-सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है। इससे भी बढ़कर कुछ और है जो आपके दर्शन तथा सात्त्विक से अभी मिल गया। यह लाभ सम्पत्ति के द्वारा तो प्राप्त नहीं किया जा सकता।’’

बुद्ध ने सम्बोधन करते हुये कहा— ‘‘भिक्षुओ! देखो इस साधारण से चमार को। जिसके पास सुनहरे खाने को जुट जाये तो शम्भ को खाना मिल सकेगा इसका भी परोसा नहीं रहता। उस व्यक्ति में परमात्मा के प्रकाश की किरणें कितनी परिवर्तन कर सकती हैं। कितना प्रेम और ब्रह्मा उत्पन्न हो सकती है। मैं तो कितने ही वर्षों से गाँव-गाँव, नगर-नगर विहार कर रहा हूँ पर इस जैसा प्रेमी और ब्रह्मालु व्यक्ति अभी तक नहीं मिल सका। कौन व्यक्ति छोटा है, और कौन बड़ा? इसका निर्णय करना भी आसान कार्य नहीं। बाहर से देखने में सभी बीज एक से लगते हैं पर कौन-सा बीज बड़ा फल देगा, फूल देगा? इसे कोई नहीं जानता सिवाय ईश्वर के।’’

देने में ही महानता है

‘‘मेरे धन और वस्तुओं के चोरी चले जाने से मुझे कुछ भी दुःख नहीं है। धन तो घुम-छाँव की तरह है। भला जाना तो उसका स्वभाव है। मुझे न इसके आने में विशेष हर्ष होता है न इसके जाने में दुःख मेरी इससे कोई ममता और आसक्ति नहीं है। यही मनुष्य के दुःख का कारण बनती है।’’ भगवान् बुद्ध के अपने एक पहले जन्म में जब उन्होंने एक समृद्ध घराने में जन्म लिया था और उनके यहाँ चोरी हो गई तो वे अपने मन में यह बातें सोच ही रहे थे कि उनके एक मित्र आ गये और उन्होंने पूछा—

‘‘आपके घर में हुई चोरी के बारे में सुना है। धन बहुत ही व्यथित हो रहा है। ये चोर भी क्या अनधिकार घेरा करते हैं! किसी व्यक्ति के वपों के पछिप से कमाया हुआ धन वह कुछ ही क्षणों में ले जाते हैं। किसी को दुःखी करके वह उस धन से सुखी कैसे रह सकते हैं? दुःखी मन से जो आह निकलती है वह शाप का-सा प्रभाव रखती है, इसलिए वह भी कभी सुख-सैन से नहीं रह सकते।’’

‘‘भाई! मेरा मन इसलिए व्यथित नहीं हो रहा है कि मेरा धन चला गया है और अब मैं क्या करूँगा? धनवान होने से मेरी कुछ शान बनी हुई थी और अब धनहीन होकर भिड़ियों में मिल जाएगी मैं अपने परिवार का कैसे निर्वाह करूँगा? या पहले जो खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ मुझे उपलब्ध थीं। वे अब नहीं मिल पायेगी’’ भगवान् बुद्ध ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया।

‘‘तो और क्या बात है मित्र! मैंने तो यही सोचा था क्योंकि हम जैसे साधारण व्यक्तियों को तो ऐसी बातें सोचना स्वाभाविक ही है। एक घर में उनकी सभी वस्तुएँ चोरी चली जायें तो इस प्रकार का सोचना उचित ही है।’’ मित्र ने जिज्ञासापूर्वक पूछा।

‘‘मैं तो यह सोच कर दुःखी हो रहा था कि पीढ़ियों और असहियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए मैं निम्न-प्रति कुछ न कुछ दान किया करता हूँ। यह कृति मेरा स्वभाव ही बन गई है। जब तक कुछ दान न कर लूँ तब तक खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मेरी प्रसन्नता का आधार यही है। जब मैं लोगों को दुःखी देखता हूँ तो उनके दुःख समझने लगता हूँ। मनुष्य जैसे अपने व अपने परिवार के दुःख को दूर करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है, उसी प्रकार किसी भी दुःखी को मैं अपने परिवार का सदस्य मानता हूँ। उसके दुःख-दर्द को दूर करने के लिए अपना सर्वस्व लगाने के लिए तैयार हो जाता हूँ।’’ भगवान् बुद्ध के नेत्रों में आँसू आ रहे थे। वह अपने हृदय उदगारों को उड़ेलकर अपने मन को हलका कर रहे थे। वह कहते जा रहे थे—

‘‘अब चूंकि मेरे पास कुछ नहीं रह गया है। यदि अब कोई भूखा आ जाये तो उसे क्या खिलाऊँगा? कोई जरूरतमन्द आ जाये तो उसे क्या दूँगा? अब तक मेरे घर से कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटा है। जिनको मेरी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, उनकी पूर्ति यथाशक्ति करता ही था। शरीर के लिये जैसे भोजन आवश्यक है और इसके बिना जैसे थोड़े दिनों में मृत्यु दरवाजा खटखटाने लगती

१.२६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

है, उससे अधिक मेरे लिए दुःखियों की सेवा करना आवश्यक है। यही मेरा जीवन है।”

वह मित्र भगवान् बुद्ध से बहुत प्रभावित हुये कहने लगे “मेरी धन और सम्पत्ति भी तो आपकी ही है। आप उसका उचित उपयोग कर सकते हैं। वह मैं आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।”

“आपके परिव्रम से कमाये हुए धन को मैं कैसे दान रूप में किसी को दे सकता हूँ। उस पर तो आपका ही अधिकार है।” वह यह बान कर ही रहे थे कि उनकी नजर एक हंसुआ और रस्सी की गँडूल पर पड़ी। उनका चेहरा खिल उठा मानो उन्हें कोई सहाय मिल गया हो। डूबते को तिनके का सहाय भी काफी होता है। वह बोले—

“परमान्ता ने हाथ-पैर काम करने के लिए बनाए हैं। अलसी बन कर उनसे काम न लेना पहले दर्जे की नास्तिकता है। मैं इसी हंसुआ के द्वारा घोर पश्चिम कसंगा और धनोपार्जन करके अपनी और दूसरों की आवश्यकता पूरी करूँगा। जिस व्यक्ति को अपने वाहुवल का भरोसा होता है वह किसी और के मुँह की ओर नहीं ताकता।”

भगवान् बुद्ध दिन भर हंसुआ से घास काटते थे और शाय को सिर पर गँडूल रख कर घास की गठरी लाने का बाजार में बेचते थे। जो भी इससे मिल जाता उसमें से कम से कम अपने लिए रख कर शेष असहायों को दे देते थे। जिनका स्वभाव ही देना बन चुका हो वह इससे कैसे रुक सकते हैं।

एक दिन बुद्ध घास की गठरी लिए बाजार को जा रहे थे कि एक और मित्र ने उन्हें रोक कर कहा “तुम्हारे वर्तमान जीवन पर मुझे बड़ी दया आती है। कहाँ तो तुम्हारे घर में, दास-दासियाँ काम करती थीं, अपने हाथ से कोई थोड़े-से पश्चिम का काम नहीं करना पड़ता था और कहाँ अब तुम मजदूरों की तरह इतने छोटे काम कर रहे हो।”

“पश्चिम से जी चुराना मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। जो मनुष्य पश्चिम नहीं करना चाहता, उसके जीवन का किसी भी क्षेत्र में विकास होना असंभव है। यही वह सिद्धि है जो व्यक्ति को अन्तिम के मार्ग पर अग्रसर करती है। इसके बिना न कोई बन्ना है न बन सकता है।” बुद्धदेव ने गठरी नीचे रख कर मित्र को ऊपर दिया।

मित्र ने अब बात बदल ली और कहने लगा “पश्चिम के ऊपर तो मनुष्य का जीवन टिका हुआ है, यह मैं मानता हूँ परन्तु उसे अपना घर तो दूसरों के लिए लुटा नहीं देना चाहिये। अपना अपने परिवार का भी कुछ ध्यान रखना चाहिये। अपनी कमाई में से कुछ न कुछ जोड़ कर रखना भी तो आवश्यक है ताकि वह आड़े काल में काम आये। मेरा मे यह विचार है कि तुम्हारी चोरी नहीं हुई है। तुम्हारी आवश्यकता से अधिक उदारता व दानशीलता ने तुम्हें इस दशा तक पहुँचा दिया है। अब भी समय व्यओ और जो कुछ कमाते हो उसमें से बचा कर रख दिये करो। बूँद-बूँद से तो समुद्र हो जाता है, थोड़ा थोड़ा जोड़ने से पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा।”

“मित्र ! इस सहानुभूति के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। परन्तु दुःखियों के दुःख को दूर करने के बजाय यदि मैं उस धन को केवल अपने स्वार्थ के लिए जोड़ कर रखता हूँ तो समाज के साथ एक प्रकार की चोरी है। सप्रह का अर्थ है कहीं से उस वस्तु का अभाव होना।

अभाव ही तो दुःख का कारण है। एक स्थान पर खड़ा हुआ पानी तो सड़ जाता है परन्तु चलता हुआ पानी स्वच्छ व स्फूर्तिदायक होता है। मुझे कजूस बनकर चोर की सज़ा में नहीं आना है। मैं तो समाज को अपना शरीर पानता हूँ। अपने शरीर के लिये तो हर कोई कुछ उठाता ही है। यदि मैं अपने शरीर के लिये कुछ करता हूँ तो वह कोई विशेषता की बात नहीं है।” बुद्ध ने अपनी जीवन नीति प्रकट की।

मित्र अब क्या उत्तर देता। उनकी प्रशंसा करते हुए चल दिया

सत्य के तीन पहलू

भगवान् बुद्ध के पास एक व्यक्ति पहुँचा। बिहार के ब्राह्मणी नगर में उन दिनों उनका उपदेश चल रहा था। शंका-समाधान के लिए— उचित मार्ग-दर्शन के लिए लोगों की भीड़ उनके पास प्रतिदिन सगी रहती थी।

आगन्तुक ने पूछा— क्या ईश्वर है ? बुद्ध ने एकटक उस युवक को देखा— बोले, “नहीं है।” थोड़े देर बाद एक दूसरा व्यक्ति पहुँचा। उसने भी उसी प्रश्न को दुहराया— क्या ईश्वर है ? इस बार भगवान् बुद्ध का उत्तर भिन्न था। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा— “हाँ ईश्वर है।” संयोग से उसी दिन एक तीसरे आदमी ने भी अन्तर प्रश्न किया— क्या ईश्वर है ? बुद्ध मुस्कराये और चुप रहे— कुछ भी नहीं बोले। अन्य दोनों की तरह तीसरा भी जिस रास्ते आया था उसी मार्ग से वापस चला गया।

आनन्द उस दिन भगवान् बुद्ध के साथ ही था। संयोग से तीनों ही व्यक्तियों के प्रश्न एवं बुद्ध द्वारा दिए गये उत्तर को वह सुन चुका था। एक ही प्रश्न के तीन उत्तर और तीनों ही सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न, वह बात उसके गले नहीं उतरती। बुद्ध के प्रति उसकी अगाध प्रशंसा— अविचल निष्ठा थी पर तार्किक बुद्धि ने अपना राग अलापना शुरू किया, अशंका बढ़ी। सोच, व्यर्थ आशंका-कुशंका करने की अपेक्षा तो पूछ लेना अधिक उचित है।

आनन्द ने पूछा— “भगवान् ! धृष्टता के लिए क्षमा करें मेरी अल्प बुद्धि बारम्बार यह प्रश्न कर रही है कि एक ही प्रश्न के तीन व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न उत्तर क्यों ? क्या इससे सत्य के ऊपर आंध नहीं आती ?”

बुद्ध बोले— “आनन्द ! महत्त्व प्रश्न का नहीं है और न ही सत्य का सम्बन्ध शब्दों की अभिव्यक्तियों से है। महत्त्वपूर्ण वह मनःस्थिति है जिससे प्रश्न पैदा होते हैं। उस ध्यान में न रखा गया— आत्मिक प्रगति के लिए क्या उपयुक्त है, इस बात की उपेक्षा की गयी तो सचमुच ही सत्य के प्रति अन्याय होगा। पूछने वाला और भी प्रमित हुआ तो इससे उसकी प्रगति में बाधा उत्पन्न होगी।

उस सत्य को और भी स्पष्ट करते हुए भगवान् बुद्ध बोले — प्राण-काल सर्वप्रथम जो व्यक्ति आशा था, वह था तो आस्तिक पर उसकी निष्ठा कमजोर थी। नास्तिकता उसके आचरण में नहीं बातों तक सीमित थी। वह मात्र अपने कमजोर विश्वास का समर्थन मुझसे चाहता था। अनुभूतियों की गहराई में उतरने का साहस उसमें न था।

उसको हिलाना आवश्यक था ताकि ईश्वर को जानने की सचमुच ही उसमें कोई जिज्ञासा है तो उसे वह मजबूत कर सके इसलिए उसे कहना पड़ा— “ईश्वर नहीं है।”

दूसरा व्यक्ति नास्तिक था। नास्तिकता एक प्रकार की चूत की बीमारी है जिसका उपचार न किया गया तो दूसरों को भी संक्रमित करेगी उसे अपनी मान्यता पर अहंकार और थोड़ा अधिक ही विश्वास था। उसे भी समय पर तोड़ना जरूरी था। इसलिए कहना पड़ा— “ईश्वर है।” इस उत्तर से उसके भीतर आस्तिकता के भावों का जागरण होगा। परमात्मा की खोज के लिए आस्था उत्पन्न होगी। उसकी निष्ठा प्रगाढ़ है। अतः उसे दिया गया उत्तर उसके आत्मविकास में सहायक ही होगा।

तीसरा व्यक्ति सीधा-साधा, भोला था। उसके निर्मल मन पर किसी मत का बोधना उसके ऊपर अन्याय होता। मेरा मौन रहना ही उसके लिए उचित था। मेरा आचरण ही उसकी सत्य की खोज के लिए प्रेरित करेगा तथा सत्य तक पहुँचवेगा।

आनन्द का असमंजस दूर हुआ। साथ ही इस सत्य का अनावरण भी कि महापुरुषों द्वारा एक ही प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न क्यों होना है? साथ ही वह भी ज्ञात हुआ कि सत्य को शब्दों में बाँधने की भूल कभी भी नहीं की जानी चाहिए।

मोटा बटेर और दुबला कौआ

जातक कथाओं में एक रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक कथा आती है— पुरातन काल में एक बार भगवान् का जन्म बटेर की योनि में हुआ। उनकी काया बहुत परिपुष्ट थी। आकर में छोटे होते हुए और तिनके खाते हुए भी बड़े प्रसन्न लगते थे और उस उपवन के पेड़ों पर झीझा कल्लोल करते रहते थे।

उनके पड़ोस में कौआ रहता था। श्मशान भूमि में जो कंक बलि दी जाती थी उसके खीर समेत माल-पुए उसे खाने को मिलते थे। फिर इधर-उधर घूमकर काटकर गंदे हाथियों, ऊँटों और बैलों का मॉस तलाश करता रहता था, सो भी उसे आसानी से मिल जाता। पेट उसका कभी खाली रहता ही न था। इस पर भी उसका मन धिन्तातुर रहता था। जब देखो तभी भयभीत दिखाई पड़ता था। रक्त की कभी से उसका स्वाभाविक काला रंग, हल्का सिलहटी जैसा हो गया था। क्षण भर चैन न ले पाता, इधर-उधर तड़कता रहता और जब भी खटका दीखता तभी वह क्षण भर इके बिना, सिर पर पैर रखकर भागता।

एक दिन बरसाती बूंद पड़ने लगी। पक्षियों के लिए बोंसले से बाहर आने का अवसर न रहा। बटेर से बात करने के लिए कौए का मन इच्छुक तो बहुत दिनों से था, पर आज अनायास ही अवसर मिल गया। सो वह बहुत प्रसन्न हुआ। बोंसले से चोंच बाहर निकालकर कौए ने बटेर का अभिवादन किया और अपनी एक जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अनुरोध किया।

बटेर ने सिर झुकाकर कहा— आप बड़े हैं, हर दृष्टि से सौभाग्यशाली भी। आप जैसे अच्छे पड़ोसी के साथ रहते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता रहती है। कोई बात पूछनी हो तो निःशंक होकर पूछें।

कौए ने कहा— “आपकी काया छोटी है। घास फूस भर खाते हैं। इतने पर भी कितने प्रसन्न, परिपुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। एक मैं हूँ जो दुबला हुआ जा रहा हूँ। चिन्ता के बिना एक क्षण भी नहीं नीतल। इसका कारण समझाकर कहिए।”

बटेर ने कहा— “जो मिल जाता है उससे सन्तुष्ट रहता हूँ। तिनकों को रसायन मानकर सेवन करता हूँ। भगवान् की कृपा को सराहता रहता हूँ। मेरी पुष्टाई का कारण बस इतना ही है। आप अब अपनी दुर्बलता का कारण बतायें।”

कौए ने कहा— श्मशान घाट पर जो श्राद्ध बलि मिलती है, उसका बड़ा पाग पाने की चेष्टा करता हूँ तो, साधियों में से सभी प्रतिद्वन्द्विता करते हैं। न ले आने के लिए आक्रमण करते हैं और मेरे पंख उखाड़ लेते हैं। गंदे हाथी-ऊँट आदि का मॉस देखता हूँ तो शृंगार, कुत्ते और गिद्ध पहले से ही पहुँचे मिसने हैं। मुझे भाग नहीं देने देते और झपट्टा मारकर भाग देते हैं। सो मल भक्षण ही हाथ लगता है। जिनसे प्रतिद्वन्द्विता चलती है सो शत्रुता पालते हैं। किसी का आक्रमण न हो जब सो क्लिप्त रहकर समय काटना पड़ता है। आप-रक्षा के लिए चारों ओर झँकता हूँ। थिड़ियों के अण्डे चुप लेता हूँ सो भय रहता है कि समूह बनाकर वे बदला लेने के लिए दूट न पड़ें। बड़ी कारण है कि खाया अंग नहीं लगता। चैन से सो नहीं पता और दिन-दिन कुंसा हुआ जाता हूँ।

बटेर वेशधारी बोधिसत्व बोले— हे बड़भागी। अपने बड़प्पन की ओर देखो। इस उपवन में हफ सब की रखवाली किया करो, और अपना प्रेम तथा विश्वास दिया करो।

फिर जो कुछ भी आहार मिले उसे पहले दूसरों को खिलाकर फेंके आप भी खा लिया करो। इस प्रकार रसायन आहार से आप का मन प्रसन्न रह करेगा और असमय वृद्धता वार्धक्य ने जो आक्रमण किया है, सो दूर जायेगा।

कौए ने कहा— “आपके अप्रत वचन ज्ञान और प्रेम से भरे हैं। पर क्या करूँ। जन्म भर संग्रह हुए कुसंस्कार बदलने में कठिनाई दीखती है।”

बटेर ने कहा हिम्मत न हरिए, प्रयत्न कीजिए। स्वभाव जितना भी बदल सकेंगे, उतने ही आप प्रसन्न रहेंगे, परिपुष्ट होंगे और सम्मान के भावन बनेंगे।

अपनी कोतलों में बैठे अन्य पक्षियों ने भी सुना और उस पर आश्चर्य करने का व्रत लिया।

“क्षण भंगुर जीवन का दुरुपयोग न हो”

कई जन्मों पूर्व बोधिसत्व का जन्म कश्यप नरेश ब्रह्म भद्र के यहाँ छोटे पुत्र के रूप में हुआ। वे राष्ट्राध्यक्ष बनना चाहते थे। कनिष्ठ पुत्र होने के नाते वैसा अवसर उन्हें मिलने वाला न था। उन्होंने नात्रिक, महासिद्ध प्रत्यंग से अपनी मनोकामना की पूर्ति का उपाय पूछा। महासिद्ध ने बताया कि अगामी मास में तक्षशिला का सिंहासन रिक्त होने वाला है। यदि वे तुरन्त चल पड़ें तो अभीष्ट प्राप्ति में सफल हो सकते हैं। पूर्णिमा के दिन प्रक्षतकाल में राजद्वार पर खड़े व्यक्ति को ही सिंहासन मिलेगा, वह नियति की व्यवस्था है।

१२८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

आकांक्षा तीव्र होने के कारण वे चल पड़े। उनके पाँच घनिष्ठ मित्र भी साथ चलने पर तुल गए। चलते समय वे महासिद्ध प्रत्यंग का आशीर्ष लेने पहुँचे सो उन्होंने सफलता का आशीर्वाद तो दिया, साथ ही यह भी बना दिया कि मार्ग में यक्ष बन पड़ता है। उसमें रूपसी यक्षिणियों का ही अधिकार है। वे रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श जैसे साधनों से ही राहगीरों को लुभाती, भागतो और अन्त में मारकर खा जाती हैं। इस विपत्ति से बचकर चलने में ही तुम्हारी भलाई है।”

बोधिसत्त्व साधियों सहित चल पड़े। जल्दी की अश्रुतावश विराम पर कम और यात्रा पर अधिक ध्यान था। समय पर यक्ष बन आया। राजकुमार तो सन्न के थे, पर साथी उन कसौटियों पर खरे न उतरे। एक ने पैर की मेच का बहाना लिया व एक रूपसी के यहाँ विराम हेतु रुक गया। दूसरे दिन दूसरा शब्द जाल में बँधा, तीसरे-चौथे-पाँचवें मित्र भी एक-एक करके इन क्षणिक आकर्षणों में मोहित हो बँधते चले गए। एक दिन छूँछ होकर प्राण गँवा बैठे।

धुन के धनी बोधिसत्त्व किसी प्रलोभन में रुके नहीं, आगे बढ़ते ही चले गए। यक्ष समुदाय के लिये वह अलिप्त का प्रश्न था कि कोई उनके जाल में कैसे बिना निष्कल जाए। एक घनुर यक्षिणी उनके पीछे लगा दी गई। उपेक्षा करते हुए बोधिसत्त्व बढ़ते रहे, वह पीछे चलती रही, राहगीरों के पूछने पर वह बताती—“वे मेरे जीवन प्रण हैं। उपेक्षित होने पर भी छाया की तरह साथ चलूँगी।” राहगीरों के समझाने पर राजकुमार वस्तु-स्थिति बताते तो भी कोई इनका विश्वास न करता। यक्षिणी जब स्वयं को गंधिणी, असहाय कहती विलाप करती तो उसका पक्ष और भी प्रबल हो जाता।

ज्यों-ज्यों करके बोधिसत्त्व लक्षशिला समक्ष पर पहुँच गए एवं महूर्त की प्रतीक्षा में एक कुंज में निवस करने लगे। किन्तु उस सुन्दरी की चर्चा सर्वत्र दावानल की तरह फैल गयी। ऐसी सौन्दर्य किसी ने देखा न था। सुबर राजमहल तक पहुँची। राजा ने देखा तो होशो-हवास गँवा बैठे। यक्षिणी को पटरानी बनने का प्रस्ताव रखा एवं उसकी यह शर्त भी मंजुरी कि महल के भीतर रहने वाली सभी अन्त ब्राह्मिणी पर उसका अधिकार होगा।

अब यक्षिणी ने बोधिसत्त्व को भुला दिया और नए अधिकार क्षेत्र में अभीष्ट लाभ उठाने में जुट गई। उसने यक्ष बन में अपने सभी सहेलियों को बुलावा भेज दिया। सभी एक-एक करके महल के धरों में रहने वालों के साथ लग गई व एक-एक करके सभी को छूँछ बनाती चलती गई एवं अन्ततः उदरस्थ कर गई। नियत मुहूर्त से एक दिन पहले ही राजमहल का घेरा अस्थिर पिंजरों से भर गया। राजा-रज्ज दे से कोई न बचा। बाहर स्थित नगरवासियों द्वारा जब किले का फटका तोड़ने और भीतर की स्थिति देखने की तैयारी हुई तो वहाँ बोधिसत्त्व खड़े हुए थे। उन्होंने स्तम्भित प्रजा-जनों को आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई।

नगर को यक्षिणी के क्रस से मुक्ति दिला सकने योग्य बोधिसत्त्व ही लगे सो उन्हें राज-महासभा पर आरुढ़ कर दिया गया। प्रचण्ड पुरुषार्थ—मनोबल सम्पन्न राजा के कारण यक्षिणियों की मण्डली को भी पलायन करना पड़ा।

सिंहासनारुढ़ बोधिसत्त्व ने कुछ समय उपरान्त प्रबुद्ध प्रजाजनों की एक ससद बुलाई और कहा—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की पाँच यक्षिणियाँ इन्द्रिय लिप्साओं के रूप में जहाँ भी आधिपत्य करेंगी, वहाँ के नागरिकों का सर्वनाश होकर रहेगा। जो भी इतना मनोबल जुटावे कि इन दुष्प्रवृत्तियों से जूझ सके, वह जीवन संघाम में निश्चित ही विजय पाता है।”

उपलब्धियाँ नहीं आधार आवश्यक

श्रावस्ती के विशाल वेलुवन में भगवान् बुद्ध का धर्म दीक्षा समारोह आयोजित किया गया। नगरवासी प्रतिदिन उनके धार्मिक प्रवचन में पाग लेते और अप्रतवाणी का दिव्य लाभ प्राप्त करते धर्म जीवन के लिये क्यों आवश्यक है? अभिमुख होने से मनुष्य अपने ब्यर्थ स्वरूप को कैसे पहचानता है? इन पर तथ्यागत की सूक्ष्म विवेकायें और मार्गदर्शन लोगों के हृदय में नई प्रेरणाओं भरते श्रावस्ती में इस तरह धर्म साक्षर हो उठा।

स्वार्थ की संवेकता और पूर्वाग्रह में ग्रस्त व्यक्ति के पास भगवान् भी पहुँच जायें तो भी उसकी जड़ता में अन्तर नहीं आता बकलि था तो ब्राह्मण किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव में ऐसी एक भी बात नहीं थी जिसमें उसका ब्राह्मणत्व झलकता, कई दिनों तक तो वह भगवान् बुद्ध के प्रवचन तो क्या दर्शनों तक के लिपे नहीं गया किन्तु जहाँ सारा नगर उमड़ रहा हो, जनसागर सम्पूर्णतः ब्रह्मा से आविर्भूत हो रहा हो, बकलि की जिज्ञासा उसे शान्त कैसे बैठने देती? एक दिन नगरवासियों ने बकलि को भी वेलुवन समारोह में पाया।

बकलि ने भगवान् बुद्ध के प्रथम दर्शन किये। उनके रूप लावण्य, उनकी अद्वितीय तेजस्विता, सुगठित देह बहिर् तथा मुख से प्रकट होने वाली सौम्यता ने बकलि का मन मोह लिया। उसका हृदय तथ्यागत के चरणों में लोटने लगा। तसने अनुभव किया यही तो वह माणियों थी, जिनकी उसे खोज थी, उसने किंचित विलम्ब नहीं किया, उसी दिन बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

भगवान् बुद्ध ने दीक्षा तो दे दी किन्तु यह बात उनसे छिपी नहीं रह सकी कि बकलि ने दीक्षा भते ही ली हो धर्म का एक भी नियम उसने जीवन में चारण नहीं किया। वह नियमित उपासना नहीं करता, आत्मनिरोध तथा आत्मसुधार की आवश्यकता और उपयोगिता भी उसने नहीं समझी। उसकी परमार्थ परायणता सक्रिय तो क्या होती अब तक भी स्वार्थ के बन्दीगृह से मुक्त नहीं हो पाई थी। यदि कुछ था तो नस इतना ही कि वह नियमित सब गोष्ठी में सम्मिलित अवश्य होता। वहाँ भी उसकी सांसारिक बुद्धि ही मुखर रहती। भगवान् बुद्ध के प्रवचनों में भी उसकी अधिरुचि नहीं थी, वहाँ भी वह बुद्धदेव के सौन्दर्य की ही चर्चा करता रहता।

समय पाकर एक दिन उसने तथ्यागत से पूछ ही लिया भगवान् मुझे भी ऐसी योग साधना बताइये जिससे मैं भी आप जितना ही सुन्दर हो जाऊँ, ऐसी ही तेजस्विता मुझ में भी आ जावे, आप जैसा नवयौवन मुझमें भी फूट पड़े, जिस दिन यह हो जायेगा, उस दिन मैं आपके

धर्म का संसार धर में प्रचार करूँगा, जब तक मेरे पास उक्त आकर्षण नहीं लोग मेरी बात क्यों कर सुनेंगे ?

तथागत मुस्कुराये और बोले— तुम्हारा कथन सत्य है बक्कलि ! तुम्हें शरीर को सुडौल बनाने वाले योग-आसन बतावे जा सकते हैं, लावण्य जिस प्राण का प्रस्फुटन है, उसके विकास के प्राणायाम भी बताये जा सकते हैं किन्तु बक्कलि यह सब भी क्षणभंगुर और नाशवान् है । आत्मोत्कर्ष का स्थायी आधार तो धर्म-धारण है । यदि तुम्हें जीवन का एक गर्व समझ में आ जाये कि धर्म ही हमारे प्रगति और प्रसन्नता का मूल आधार है तो फिर तेजस्विता का वर्तन तुम्हें स्वतः मिल जायेगा । धार्मिक आचरण की अपेक्षा करके तुम यदि उसे पा भी जाओ तो देर तक स्थिर न रह सकोगे ।

बक्कलि को अपनी धूल का पता चल गया उस दिन से उसने आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का यथार्थ क्रम अपनाया तो एक दिन वह महान् पिबु बना ।

आत्मनिर्माण के अधिकारी

ब्राह्मस्ती परम्परावादीयों का गढ़ है अर्य-श्रेष्ठ । अनन्द ने परामर्श दिया— ' वहाँ जाने की अपेक्षा यदि राजगृह की परित्रा की जाये तो यह उत्तम रहेगा । अभी संघ का सक्रान्ति काल है जब तक जहाँ सुदृढ़ नहीं हो जातों, संघ-शक्ति समर्थ नहीं हो जाती तब तक संघर्ष की नीति उचित नहीं है । '

तात् ! तुम्हारा कथन ठीक है, तथागत ने सम्प्रधान किया— किन्तु युग प्रवर्तक के लिए परिस्थितियों से समझौता करने की नीति भी अनुचित है । सिद्धांत के प्रति अदृढ़ निष्ठा व्यक्त किये बिना प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती । अस्तु, विवाद की चिन्त किये बिना ब्राह्मस्ती में ही आयोजन रखा जाना ठीक है ।

तथागत ब्राह्मस्ती पधार रहे हैं यह समाद सर्वत्र फैलते देर न लगी । प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने यह सुना तो उन्होंने अपना नया मोर्चा खड़ा कर दिया । अश्वलायन के नेतृत्व में कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने बुद्ध से शास्त्रार्थ की रूपरेखा बनाई और नियत समय पर वे तथागत के समक्ष आ धमके और उनकी धार्सना करते हुए पूछ— " भन्ते ! आप चारों वर्णों के उद्धार की बात किस आधार पर करते हैं, क्या ब्राह्मणों के अतिरिक्त धर्म दीक्षा का अधिकार और भी किसी को है । "

तथागत मुस्कुराये— उन्होंने स्नेहपूर्वक प्रश्न किया— तात् ! क्या आप बता सकते हैं कि ब्राह्मणों की सर्वोपरित्व का आधार क्या है ?

अश्वलायन ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया— उनका ज्ञान, तप, साधना, ब्रह्मवर्चस् और निर्लभ निरहम्भरिता ।

आप सच कह रहे हैं आचार्य प्रवर ! भगवान् बुद्ध ने अब और अधिक गम्भीरता धारण करते हुए प्रश्न किया— " क्या आप इस बात की पुष्टि करेंगे कि ब्राह्मण चोरी नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, व्यभिचार और दूसरे सामाजिक बुराइयों वे नहीं करते ? "

मेरा यह तात्पर्य नहीं है भन्ते ! वह अवगुण तो ब्राह्मण में भी होते हैं, किन्तु उनमें धार्मिक संस्कारों की बहुलता रहती है इसलिए

वे श्रेष्ठ हैं— अश्वलायन ने अपने प्रतिपादन में दृढ़ रहने की चेष्टा की ।

किन्तु-तभी तथागत ने तूजीर से दूसरा वाण निकाला और याँ सम्प्रधान किया— तब फिर आपका कथन यह होना चाहिए कि उक्त अपराध करने पर ब्राह्मण नरक नहीं जायेंगे अर्थात् पतित नहीं होंगे जब कि दुष्कर्म करने के कारण अन्य वर्ग पतित समझे जाते हैं ।

गौतम बुद्ध ने हँसते हुए कहा— " ब्राह्मण श्रेष्ठ अश्वलायन ! जिस तरह दुष्कर्म का दण्ड भुगतने के लिए हर प्राणी प्रकृति का दस है, उसी तरह सत्कार्य के पारितोषिक का भी अधिकार हर प्राणी को है फिर वह चाहे किसी भी वर्ण का हो । न तो उपनयन धारण करने से कोई संत और संज्जन हो सकता है, न अग्निहोत्र से— यदि मन स्वच्छ है, अन्तःकरण प्रवित्र है तो ही व्यक्ति संत, संज्जन, त्यागी तपस्वी और उदार हो सकता है । यह उत्तराधिकार नहीं साधना है अश्वलायन । इसलिए आत्मोन्नति का अधिकार हर प्राणी को है इसीलिए हम मानव मात्र को आत्मोत्कर्ष, आत्म-शुद्धि की प्रेरणा और अवसर प्रदान करते हैं । सोचें यदि वोड़े-से संत-ब्राह्मण धरती को स्वर्ग बन सकते हैं तो हर व्यक्ति के अन्तःकरण में मुखरित ब्राह्मण सृष्टि को सुन्दर बन सकता है । यही तो ब्राह्मण के लिए अभीष्ट है अतएव यदि ब्राह्मण इन पुण्य प्रवृत्तियों में बाध डालते हैं तो यह उनकी प्रतिगामिता नहीं हुई क्या ?

अब अश्वलायन के पास कोई उत्तर न था, उन्होंने तथागत के आदर्श को न केवल मान्यता प्रदान की अपितु स्वयं धर्म-धर्म प्रवर्तन के महान् कार्य के सहायक बन गये ।

कर्तव्य धर्म की साधना

अपनी सहज सकल दृष्टि डालते हुए तथागत भगवान् बुद्ध ने पूछ— " अशोक ! स्वस्व तो है न ? प्रजा को कोई कष्ट तो नहीं ? पाटलिपुत्र पर भगवती गंगा का प्रकोप बढ़ रहा था, वह रुक गया वा नहीं ? "

और अशोक तब तक मौन थे, जब तक उन्होंने तथागत को प्रणिष्ट नहीं कर लिया । चरण धूलि मस्तक पर लगाकर वे भगवान् बुद्ध के समीप ही एक ओर बैठ गये । बैठते हुए तथागत के प्रश्नों का उत्तर भी दे डाले— " भगवन् ! आपकी चरण रज जिस मस्तक पर कृपा बरसावे उसके अपंगुल की कामना तो भगवान् इन्द्र भी नहीं कर सकते । हम स्वस्व हैं, प्रजा सुखी है, बाढ़ का अल राजधानी की सीमा रेखाओं का स्पर्श छोड़कर पीछे लौट गया है । सब ठीक है किन्तु । " उससे आगे कुछ कहते-कहते वे एकएक रुक गये सम्भवतः उन्हें अपनी बात सर्वसाधारण के समक्ष व्यक्त करने में संकोच हो रहा था ।

कहो, कहे अशोक तुम्हारी व्यथता का कारण क्या है ? कौनसी समस्या है, जिसने पाटलि-नरेश को विस्मय में डाला है ? कहो ! कहो ! कुछ संकोच हो रहा हो तो एकत की व्यवस्था की जाये ?

उपस्थित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं सुदूर गणराज्यों से पधार धर्म तन्त्र जिज्ञासुओं पर अपनी दृष्टि चौड़ाते हुए पाटलि-नरेश महाराज अशोक

१.३० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि भगवान् बुद्ध पर झरती और विनीत भाव से कहने लगे “नहीं देव ! ऐसी तो कोई बात नहीं पर जो कुछ हुआ, वह ऐसा भी नहीं जिस पर विचार न किया जाये । भगवन् ! पाटलिपुत्र ! अपने नागरिकों की चरित्रनिष्ठा के लिये दूर-दूर तक विख्यात है । यहां की कुल कथुये अपने शील वैभव की सब प्रकार से आकर्षण हैं । इस देश में उच्चकुलता का कहीं भी अन्तर्निशान तक नहीं है, न्याय और तपस्वियों, विद्वानों और तत्त्वदर्शी सिद्ध पुरुषों का अभाव भी नहीं है पर जो कार्य किसी महान् धर्मीनष्ठ को पूरा करना चाहिये था, उसे शील, सदाचार से सर्वथा रहित कोई नगर कथु को इस विस्मय का समाधान नहीं हो पाता । इसी कारण आज आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ।

अभी तुम्हारी पूरी बात समझ में नहीं आई अशोक ! हुआ क्या है तब विस्मय से कहो— भगवान् बुद्ध ने उन्हें आश्चर्य करते हुये पूछा ।

अशोक कहने लगे— “भगवन् ! तीन दिन पूर्व भगवती भार्गवी ने अपना प्रचण्ड रूप धारण किया, नगरकोट की रक्षण दीवारे ही नहीं प्रधान दुर्ग का अस्तित्व भी संकट में पड़ गया । ऐसा लगता था वे इस बार सम्पूर्ण पाटलिपुत्र को अपने जल आक्रोश में डुबो कर ही छोड़ेंगी । धरें में पानी भरने लगा । गड़कों, बछड़ों के लिए सुखा स्थान नहीं रहा, विकट परिस्थिति की आसका से सभी लोग काँप गये

तब राष्ट्राध्यक्ष के नाते मेरा वह कर्तव्य था कि उस संकट से बचाने का कुछ उपाय करूँ । मैंने सभा-सखियों से विचार-विमर्श किया । पाटलिपुत्र में जो भी धर्मीनष्ठ एवं दिव्यशक्ति लोग थे, सब की गोष्ठी बुलाई । लोगों ने बाद के प्रकोप से बचने के लिये अपनी-अपनी तरह के सुझाव दिये । यज्ञ, जप, तप साधन, व्रत और उपवास भी किये गये पर जलशक्ति सुरक्षा के शक्ति की तरह बढ़ती ही गई । कोई उपाय कारगर न हुआ ।

महान् आश्चर्य— महाभाग कि उस संकट की घड़ी में जब कोई उपाय पाटलिपुत्र की रक्षा करने में समर्थ न हुये तो एक अनिष्ट सुन्दरी नगर-वधू वहाँ आ पहुँची । सुन्दर-सा नाम है उसका, लोग बिन्दुमती के नाम से पुकारते हैं । नगर के भन-सम्पन्न काम-लोलुप स्वभावों की वासना तृष्णा की पूर्ति ही उसकी आजीविका का माध्यम है । उसने जीवन में कभी तप नहीं किया । माला नहीं फेरी यहाँ तक कि उसने चरित्रनिष्ठा, शील और सदाचार का महत्त्व भी नहीं समझा पर उसने तो धर्म तत्त्ववेत्ताओं के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पर पानी फेर दिया । भगवती गंगा के सम्मुख खड़ी होकर उसने अनन्त जलशक्ति की अरती उतारी, गैने उसे एक क्षण के लिये ही ध्यान मुद्रा में देखा, इसके बाद जो कुछ हुआ, मुख पर लाते हुए भी लज्जित आँखें हैं, देव !

हजारों लोगों की भीड़ के सामने उसने भगवान् सूर्यदेव और आकाश को साक्षी बनाया और अनुपूरित गद्-गद् गिरा में बोली - “भगवन् गंगे ! यदि मैंने सम्पूर्ण जीवन अपने कर्तव्य का पालन निष्ठाभाव से किया हो तो अब अपनी जलशक्ति समेट लो और मेरे देशवासियों को चैन की साँस लेने दो ।”

एक बूँद, दो बूँद, तीन बूँद— की अविरल झड़ी लग गई । उसकी आँखें नरसती रहीं, उस खारे जल ने मन्दाकिनी की पवित्र जलधार का स्पर्श मात्र किया था कि इनका प्रकोप अपने आप घट चला । देखते ही देखते भगवती गंगा ने अनाधिकृत प्रदेश से अपना अम्बु-आस्तेड खींच लिया और अपनी चिर-धारा में वेगवती हो उठी । योगी सिद्धों और धर्म-तत्त्ववेत्ताओं की यह असमर्थता और शीलरहित नगर वधू की विजय— ऐसा लगता है देव ! कहीं प्रजा भ्रम में न पड़ जाये लोग धार्मिक पर्यायों की अवहेलना न करने लगे । यही मेरी चिन्ता का कारण है ।

भगवान् बुद्ध मुस्कराये, उन्होंने कोई ठतर या समाधान नहीं दिया । प्रिय शिष्य आनन्द को समीप बुलाकर कन में कुछ कहा और उस दिन की धर्म सभा विमर्जित कर दी । महाराज अशोक के आतिथ्य की सम्पूर्ण व्यवस्था करने के उपरान्त आनन्द कुछ भिक्षुओं के साथ पाटलिपुत्र की ओर जाते दिखाई दिये ।

भगवान् बुद्ध इस समस्या का क्या उत्तर देते हैं, यह जानने की सभी में प्रबल जिज्ञासा थी । इसलिये रात सभी ने जेथैनी और प्रतीक्षा में व्यतीत की । प्रातःकाल हुआ, देवी ऊषा का आगमन होते ही कई घंवरधारी भिक्षु अत्रप की व्यवस्था में जुट गये । ऐसा लगता था, जैसे आज कोई बड़े धर्मोत्सव की तैयारी की जा रही हो । सभी अपनी दैनिक उपसनायें कर सभा-कक्ष में जुड़ने लगे । थोड़ी देर में सभा-धवन पूरी तरह भर गया । सम्राट अशोक भगवान् बुद्ध के समीप बैठे ।

एक भिक्षु ने सूचना दी भगवान् आनन्द पाटलिपुत्र से आ गये हैं, नगर-वधू बिन्दुमती उनके साथ ही हैं । अशोक चौंके पर इससे पूर्व वे कुछ पूछें, भिक्षु भगवान् बुद्ध का संकेत पाकर बाहर निकल गया । थोड़ी ही देर में शिष्य आनन्द के साथ बिन्दुमती ने उस सभा मण्डप में प्रवेश किया । उसका सौन्दर्य उतना आकर्षक नहीं था, जितना स्वाभिमान । जीवन भर लोगों की वासना की पूर्ति करने वाली नरी के मुख-मण्डल पर भी इस प्रकाश का सन्तोष और बरबस आकृष्ट कर लेने वाली गम्भीरता भिक्षुओं और अन्य सभासदों की गम्भीरता से कम न थी । भगवान् बुद्ध ने उसका स्वागत ठीक उसी तरह किया, जिस तरह श्वसुसलया से लौटी हुई पुत्री का स्वागत एक पिता भरे हुए हृदय से करता है । तत्काल की आज्ञा से बिन्दुमती उनके पास ही बैठी । सारी सभा में सन्नाटा छाया हुआ था ।

भगवान् बुद्ध ने एक बार सारे सभासदों की ओर अध्ययन दृष्टि से देखा और फिर अत्यन्त करुणा भरी दृष्टि से बिन्दुमती की ओर देखते हुए कहा— “पुत्री ! पाटलिपुत्र के नागरिक और स्वयं सम्राट अशोक को विस्मय है कि तू भट, वासना-लोलुप और दूसरों का धन हरण करने वाली वेश्या है । तुझमें वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने भगवती गंगा को भी अपनी बाढ़ समेटने को विवश कर दिया ?”

बिन्दुमती ने एक बार तत्काल के चरणों पर दृष्टिपात किया और एक शक्ति-सी अनुभव करती हुई बोली - “वह मेरी नहीं कर्तव्य-निष्ठा की शक्ति थी ।”

अशोक ने पूरा कर्तव्यनिष्ठा की शक्ति तुझमें कैसे सम्भव है ?
 बिन्दुमती बोली— “महाराज ! मैंने अजीविका के लिये अपने शरीर का व्यापार किया है, वासना के लिये नहीं और अपने कर्तव्य का पालन पूर्णनिष्ठा के साथ किया । धन, निर्धन, ब्राह्मण, शूद्र का भेदभाव किये बिना मैंने प्रत्येक ग्राहक को सन्तुष्ट किया है । जिसका धन लिया उसके साथ विश्वासघात नहीं किया, वरन् उसकी इच्छा से कुछ अधिक ही सन्तोष उसे प्रदान किया । वही मेरी सत्यनिष्ठा है जिसने गंगा जी को भी प्रभावित किया ।”

और इससे पूर्व कि भगवान् बुद्ध कुछ कहें नृपति अशोक स्वयं उसके चरणों पर जा गिरे और बोले— “मद्रे ! तुम्हारा कथन सत्य है, निश्चय ही अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करने से बड़ा और कोई धर्म नहीं है ।

अपमान और युक्ति का अन्तर

राजगृह के एक घरवाहे की पत्नी बड़ी कला-कुशल थी । नृत्य और संगीत विद्या में उसे ऐसी निपुणता प्राप्त हुई थी कि कुल्लूब घानों की कन्यायें भी उससे ईर्ष्या करती थीं । सच है सधना और अप्यास से छोटे व्यक्ति सम्मान व्यक्तियों के सम्मुख योग्य और ब्रह्मस्पद हो जाते हैं । घरवाहे की पत्नी को इस कला-निपुणता के कारण राज-दरबार तक में आर्भक्षित किया जाता था ।

राजगृह में एक बड़े उत्सव की तैयारी हुई । उसमें नृत्य के लिये इसी ग्वाले की पत्नी को कहा गया । सच उन दिनों गर्भवती थी, उसने बहुत मना किया पर सामंतों ने एक न सुनी । उसे अपमानित और विवश किया गया कि वह नृत्य करे ।

नृत्य तो किया उसने पर इस अपमान से उसके हृदय में प्रतिशोध भड़क उठा । यह प्रतिशोध का भाव मृत्युपर्यन्त उसके मन से नहीं गया । दूसरे जन्म में वह वही संस्कार लेकर यक्षिणी होकर राजगृह में ही जन्मी

जहाँ उसमें इस प्रतिशोध और दुर्भावना के संस्कार से वहाँ पूर्व जन्मों की कला और ज्ञान का संघित कोष भी उसे संस्कार रूप में मिला । इसी कारण वह अपने पिता के स्थान पर नगर देवता को पुजारि भी नियुक्त की गई ।

जहाँ श्रेष्ठ कर्म और सधना ने उसे इस जीवन में सुखद परिस्थितियाँ दीं, वहाँ पूर्वजन्म का प्रतिशोध पाप की प्रेरणा बनकर फूटी । यक्षिणी जिसका नाम हारीति था, नाम के बच्चे घुरा-घुरकर मारने और उनका धक्षण करने लगी । पुण्य की आड़ में पल रहे इस पाप को लोगों ने बहुत दिन बाद जाना । जब राजगृह-मेश को उसका पता चला तो उन्होंने हारीति को बन्दी बनाकर राजगृह में डाल दिया ।

सामान्य व्यक्ति असामान्य घटनाओं को भी सामान्य दृष्टि से देखते हैं पर महापुरुषों की ऐसी दृष्टि जब तक दूर तक विचार नहीं कर लेती, कोई तत्काल निर्णय नहीं देती । भगवान् बुद्ध ने जब सुन कि हारीति को अनेक बालकों के वध के अभियोग में बन्दी बना लिया गया है तब उनके प्रतिष्ठा में एक हलचल उठ खड़ी हुई कि ऐसे

कुत्सित संस्कार इस विदुषी और कला-निष्णात बालिका में आय कहां से ? अन्तर्दृष्टि से उन्होंने देखा वह सब पूर्व जन्मों के कर्म और उसके खल हुए दुर्व्यवहार का परिणाम है, उसके लिये सर्वथा उसे ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता ।

राजगृह-मेश से बहकर श्वशुर तो उसे कारावास से मुक्त करा दिया, अगर उसके बच्चे की चोरी कर ली । पुत्र के खो जाने से उसे मार्मिक पीड़ा हुई । उसकी करुणा, उसका वात्सल्य भाव तब रूप में जाग्रत हो उठा, तब उसने अनुभव किया कि ऐसा ही कहें उन माताओं को भी हुआ होगा, जिनके बच्चे घुराकर उसने भक्षण कर लिये हैं ।

पुत्र-वियोग से दुःखी हारीति का मन पश्चात्ताप से भर गया यह भगवान् बुद्ध के पास गई और बोली— “भगवन् ! मेरे कर्मों का फल तो मुझे मिला गया पर अब यह बतायें कि उस पाप से मुक्ति कैसे मिले ।”

बुद्ध ने कहा— “अब तक तुम ने शिशुओं का भक्षण किया है, अब तुम शिशुओं की रक्षा और विकास में जुट जाओ । उसी से तुम्हें शांति मिलेगी । सम्पन्न के साथ की हुई छोटी-सी भूल भी तब तक नहीं धुलती, जब तक सेवा के सामुन से उसे धोकर साफ न कर दिया जाय ।”

हारीति अजीवन बच्चों की रक्षा और उन्हें भगवान् मानकर सेवा करती रही, जिससे अन्तिम समय उसे शांति मिली और दूसरे जन्म में वह शांति यक्ष की पुत्री अधिरति हुई । उसका विवाह कुबेर के साथ हुआ ।

उन्नति का श्रेष्ठ मार्ग—त्याग

भगवान् गौतम बुद्ध के समय में बिहार में महातीर्थ नाम का एक स्थान था । वहाँ कपिल नाथ का एक बहुत धनवान ब्राह्मण निवास करता था, जिसका एकमात्र पुत्र पिप्पली नाम का बड़ा ही सम्पन्न और धर्मन्ध था । जब वह बड़ा हुआ तो माता-पिता ने उसका विवाह करने का विचार किया । इसका हस्त मालूम होने पर पिप्पली ने माता से कहा— “आप मेरे विवाह का प्रबन्ध न करें ।”

माता— तुम यह कैसी बात कहते हो ? विवाह का प्रबन्ध क्यों न करें । अब तुम गृहस्थी का बोझ संभालने लायक हो चुके हो । इस अवस्था में विवाह न करने से भलाई के बजाय बुराई ही मानी जाती है । इसके सिवाय वह के घर में आने से मुझे भी घर के धार से कुछ अवकाश मिलेगा और मैं धर्म साधन की तरफ ध्यान दे सकूंगी ।

पिप्पली— पर माताजी मैं किस कर्म के लिबे हूँ ? आप दोनों की सेवा करना ही तो मेरा सबसे बड़ा धर्म है । इसलिये आप जिस प्रकार चाहें जीवन व्यतीत कर सकते हैं, मैं आपकी सब प्रकार से सेवा करता रहूँगा । आपके बाद मैं संन्यासी हो जाऊँगा ।

माता— तुम्हारा विचार उचित नहीं है । अगर बिना विवाह किये तुम संन्यासी बन जाओगे तो वस्त्र-क्रम कैसे स्थिर रहेगा और बिना सन्तान के पूर्वजों को पिण्डदान कौन करेगा ? इसलिये तुम्हारा कर्तव्य

१३२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—९

यही है कि पहले विवाह करके नियमानुसार गृहस्थ धर्म का पालन करो और फिर समय आने पर संन्यास ग्रहण करो ।

पिप्पली ने जब देखा कि माता इस बात के लिये कभी राजी न होगी तब उन्होंने एक दूसरा कहना देखा । उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर सोने की स्त्री की मूर्ति बनवाई थी । उसे वस्त्रों से खूब सजाकर कहा माताजी, जो लड़की इतनी सुन्दर होगी, उसी के साथ मैं विवाह करूँगा ।

माता ने इस बात को मान लिया और कई ब्राह्मण उस मूर्ति को लेकर देश-विदेश में वैसी कन्या ढूँढ़ने चले । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे सागल नामक गाँव में पहुँचे और मूर्ति को नदी के बाट पर रखकर वृष की छाया में विश्राम के लिये बैठ गये । उसी समय गाँव के एक प्रतिष्ठित पुरुष को दाई वहाँ स्नान को आई । उसे वह मूर्ति अपने पालिक की पुत्री के समान जान पड़ी । उसके अकेले नदी पर आने का विचार करके वह क्रोधित हुई और पास जाकर उसकी पीठ में एक चप्पड़ मारा । ब्राह्मणों ने यह तमाशा देखकर दाई से पूछा कि तुमने हमारी मूर्ति को चप्पड़ क्यों मारा ? दाई ने क्षमा प्रार्थना करते हुये कहा कि यह मूर्ति दूर से मुझे अपने स्वामी की पुत्री भद्र कपिलिनी जैसी दिखालाई पड़ी और उसी भ्रम में मैंने इसे मार दिया ।

ब्राह्मण— ऐसी बात क्यों कहती हो ? भला कोई स्त्री इस मूर्ति के समान सुन्दर हो सकती है ।

दाई— क्यों नहीं हो सकती ? भद्र कपिलिनी अद्वितीय रूपवती है । वह अँधेरे घर में खड़ी हो जाय तो उसके रूप से ही प्रकाश जान पड़ता है ।

यह सुनकर ब्राह्मण भद्र कपिलिनी के पिता कौशिक ब्राह्मण के यहाँ गये और उन्होंने देखा कि वास्तव में उनकी कन्या मूर्ति के समान ही सुन्दरता की स्वामिनी है । उन्होंने पिप्पली के सब समाचार कौशिक को सुनाये और दोनों का विवाह सम्बन्ध तय करके महातीर्थ चले आये ।

विवाह सम्बन्ध हो जाने का समाचार जब पिप्पली को मालूम हुआ तो वह बड़ा चिन्तित हुआ । वह किसी तरह सांसारिक बन्धन में पड़ना नहीं चाहता था । अब उसने एक और उपाय सोचा और एक पत्र में धार्मिक बात लिखकर उसे एक अन्य ब्राह्मण के हाथ भद्र कपिलिनी के पास भेजा । पत्र के अन्त में यह लिखा था कि “मेरा विचार, अवसर मिलते ही संन्यास ग्रहण करने का है, अतएव तुम अपने पिता को यह बात बतलाकर अन्य घर से विवाह की व्यवस्था करो जो अच्छा है ।”

उधर भद्र कपिलिनी भी ऐसे ही विचारों की थी और देश में उसने सभ्य महिलाओं को बौद्ध भिक्षुणी के रूप में ग्रहण करते देख कर वैसा ही जीवन व्यतीत करना चाह रही थी । उसने भी पिप्पली के नाम एक पत्र भेजा जिसमें अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी । संयोगवश दोनों पत्र ले जाने वाले ब्राह्मण मार्ग में मिल गये । जब वर कन्या दोनों के मनोभाव एक से ही प्रकट हुये तो उन लोगों ने सलाह करके एक नई योजना की । उन्होंने दोनों अक्सली पत्र तो पढ़कर फेंक दिये और दो नये पत्र लिखे जिसमें दोनों तरफ से विवाह की स्वीकृति की

जात लिखी थी । इस प्रकार यह बात चल गई और उन दोनों का विवाह हो गया ।

कुछ समय बाद जब पिप्पली के माता-पिता घर गये तो गृहस्थों का भार उसको सँभालना पड़ा । उस समय हिसाब लगाने से जान पड़ा कि उसके पिता कई करोड़ रुपया और बत्तीस गाँव उसके लिये छोड़ गये हैं । पर पिप्पली जमीन-जायदाद की व्यवस्था में बहुत कम ध्यान देता था । एक दिन संयोगवश वह एक खेत पर पहुँच गया जिसे मजदूर लोग जोत रहे थे । उसने देखा कि मिट्टी के साथ केंचुए आदि जीव ऊपर आ जाते हैं और कौये उनको खा रहे हैं । इस पर पिप्पली ने पूछा—

“भाइयो, ये पक्षी क्या खा रहे हैं ?”

नौकर— स्वामी, ये केंचुए हल चलाने से ऊपर आ जाते हैं । उन्हीं को कौए खा जाते हैं ?

पिप्पली— तो इनको मिट्टी में ही दबा दे जिससे कौए उनको देख न सके ।

नौकर— ऐसे खेत नहीं जोता जा सकता एक-एक केंचुए को कहीं तक दबाया जा सकता है ? बहुत-से केंचुए तो हल के लोहे से पृथ्वी के भीतर ही पर आते हैं । यह तो ऐसा ही कार्य है ।

पिप्पली— आखिर इसमें जीव की हिंसा तो होती ही है, इसका उत्तरदाता कौन होगा ?

नौकर— जो खेत चुनकता है वही होगा ।

पिप्पली— मुझे क्या चाहिये ? अन्धा सेर आटे के लिये मैं इतना पाप अपने सिर पर क्यों लूँ ? मैं आज ही समस्त सम्पत्ति भद्र कपिलिनी को देकर संन्यास ग्रहण कर लूँगा ।

उधर भद्र कपिलिनी के हाथ भी ऐसी ही घटना हुई । उसने पुराने अचार निकलवाकर धूप में सुखाने को फैलवाया तो देखा कि उसमें कीड़े पड़ गये हैं और कई तरह की भिड़ियाँ उनको चुन-चुन कर खा रही हैं ।

भद्र कपिलिनी— यह अचार सुखाना भी एक बड़ी हानि है । आखिर इसका पाप किसको लगेगा ?

दासी— अगर वह हानि है तो इसका पाप उसी को लगेगा जिसका यह अचार है ।

भद्र कपिलिनी मुझे ऐसी गृहस्त्री की क्या आवश्यकता है ? दो गज कपड़ा और दो मुट्ठी अनज में तब मेरा निर्वाह हो जाता है । मैं आज ही इस समस्त धन का त्याग कर भिक्षुणी बन जाती हूँ ।

उस दिन दोपहर के समय जब वे भोजन करने को बैठे तो पिप्पली ने अपना निश्चय पत्रिका को बतलाया । पत्नी पहले से ही तैयार बैठी थी । बस, दोनों ने विचार किया कि कल प्रातः काल ही इस घर का, सम्पत्ति और जायदाद को ज्यों का त्यों छोड़कर जंगल में निकल जायें ।

दूसरे दिन सुबह ही वे गेरु का वस्त्र पहन कर कमंडल हाथ में लेकर घर से निकल पड़े । जिन नौकरों और गाँव के लोगों ने उनको पहिचान लिया वे उनके पीछे पीछे चले और प्रार्थना करने लगे कि हमको अनाथ करके मत चले जाइये ।

पिप्पली ने कहा कि मैं तो किसी की नमन में रखना चाहता हूँ और न किसी प्रकार की सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता है। इसलिये आज से तुम्हीं अपने खेनों के मालिक हो गये।

जब वे नगर से दूर पहुँचे तो पिप्पली के मन में विचार आया कि संन्यास ले लेने पर भी अगर वे दोनों साथ-साथ रहेंगे तो लोग उनको पाखंडी समझेंगे। वद्यपि इससे हमारी तो कोई हानि नहीं होगी, पर लोगों में पाप-भावना की वृद्धि होगी। जब यह बात भद्र कपिलनी ने सुनी तो उसने भी इसे उचित नतलाया और वह पिप्पली की तीन बार परिक्रमा करके साथ जोड़ कर बोली—“स्वामी, कितने ही जन्मों का हमारा जो सम्बन्ध था वह आज टूट रहा है, आप बड़े हैं, इसलिये सीधे मार्ग पर चलते जाइये। मैं छोटी हूँ इसलिए इस बाईं ओर के मार्ग को ग्रहण करती हूँ। इस प्रकार वे भर्मात्मा पति-पत्नी, जिन्होंने विवाह करने पर भी संयम का पूर्णतया पालन किया था और एक-दूसरे के संघर्ष से सदैव बचे रहे थे, दूसरों को पाप से बचाने के लिये अलग हो गये।

कहते हैं कि उनके महान् त्याग से पृथ्वी हिलने लगी और उसका हिलना भगवान् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया। वे उसी समय आसन पर से उठ कर आकाश मार्ग से उनका स्वागत करने को शीघ्र ही मौके पर जा पहुँचे। वे सस्ते में एक पेड़ के नीचे बैठ गये। जब पिप्पली वहाँ आये तो उन्होंने देखा कि भगवान् की देह से एक अत्यन्त मणीय देवीय ज्योति प्रकट हो रही है।

पिप्पली— भगवान् मैं आप जैसे ही किसी गुरु की खोज में था, मुझे शरण में लीजिये।

भगवान् बुद्ध— प्यारे कश्यप, आओ ! मैं तुम्हें लेने को ही वहाँ आया हूँ।

आज से पिप्पली का नाम कश्यप हो गया। वे भगवान् के महात्पागी और प्रिय शिष्य हुये। किसी समय भगवान् के साथ रहने में भी उनको काह्न समझ कर हिमालय में तप करने चले गये। वहाँ से वे उसी समय लौटे जब भगवान् बुद्ध का देहावसान हुआ। उस अवसर पर बुद्ध धर्म की व्यवस्था करने के लिये पाँच सौ मुख्य भिक्षुओं की जो सभा की गई उसके प्रधान कश्यप ही नियत किये गये।

संकल्पवान बनने की प्रेरणा

महानगरी तक्षशिला को नई दुल्हन की तरह सजाया गया था। अभिजात गौतम और उनके नवदीक्षित शिष्य अंगुलिमाल के स्वागत हेतु राज-प्रसाद में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। जगह-जगह बन्दन द्वार तथा तोरण बांधे गये थे। व्यापारियों ने उन द्वारों पर अपनी वस्तुएँ लटकायीं तथा अभिनन्दनीय विशिष्ट व्यक्तियों के बन्दन-द्वार से मोचे गुजरते ही पुष्प वर्षा होने की व्यवस्था की थी।

आज मध्याह्न के समय भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ दुर्दम्य दस्यु अंगुलिमाल से कस्त मार्गों का विहार कर रहे थे कि उस दस्यु ने उन्हें रोक लिया। घुटे हुए सिर और शान्त, संन्यास के आत्म तेज से दीप्त मुख मण्डल को देखकर अंगुलिमाल ठिठक गया।

तत्क्षण ही उसके भीतर का दस्यु जाग उठा और बोला—

“अंगुलिमाल विचार क्या कर रहा है। अपनी योजना को पूरा कर।”

“ए शिष्य !” अंगुलिमाल कहकर बोला— “अपने परमेश्वर को याद कर ले। तेरी मृत्यु निकट है।”

“तुम कौन हो वत्स—” बुद्ध ने प्रश्न किया।

“मुझे सारी दुनिया जानती है फिर भी तुम्हारे लिए मेरा परिचय आवश्यक है तो जान लो मैं अंगुलिमाल हूँ। मैंने एक हजार लोगों की अंगुलियाँ काटकर उनकी मल्ल पहनने का निश्चय लिया है। इसी कारण तुम्हें भी मृत्यु का वरण करना पड़ेगा।”

“अंगुलियों की ही माला बनानी है न—” गौतम ने कहा— “तो काट लो अंगुलियाँ उसके लिए मेरी हत्या का अपराध क्यों अपने सिर सेते हो।”

शीघ्र वतावरण में एक अद्भुत हास गूँजा और दस्यु ने उपहासास्पद शब्दों में कहा— “कश्यप ! मौत से डरते हो। मुझे हत्या करने में रस आता है। तुम मौत से डरते हो तो प्रतिवाद करो याचना नहीं।”

“वत्स—” भगवान् बुद्ध ने कहा— “मैंने मृत्यु भय को जीत लिया है और मेरा जीवन लोक-हित के लिए अर्पित है। इसलिए असमय मृत्यु को पाना नहीं चाहता। मेरी मृत्यु से यदि तुम्हारा हित हो सके तो मैं प्रसन्नता से तैयार हूँ परन्तु जब तुम्हारा संकल्प मात्र सहस्र व्यक्तियों की अंगुलिमाला का है तो उस संकल्प को ही पूरा करूँगा।”

अंगुलिमाल ने गौतम को मारने के लिए अपना खड्ग उठाया तो कि शान्त, धीर और नम्र शैली में बुद्ध के उपरोक्त वचनों ने उसके अन्तराल में एक द्वन्द्व मचा दिया। अपनी पूर्खता पर उसे पर्याप्त होने लगा और वह बुद्ध के चरणों में नतमस्तक हो गया।

“मैं गलती पर था भगवान् ! मुझे क्षमा करो। मेरे उद्धार का रास्ता बनाओ।”

गौतम ने अंगुलिमाल को उठाकर भती से लगा लिया और उसे अपने भिक्षु संघ में सम्मिलित होकर पापों को हलक करने की प्रेरणा दी। जिस अनुपात में ईश्वरीय विधान का उत्पन्न हुआ है उसी अनुपात में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन की चेष्टा करना सच्चा प्रायश्चित्त है। भगवान् बुद्ध की ऐसी मान्यता थी।

तक्षशिला में इस हृदय परिवर्तन की चतुर्दिक् चर्चा थी। एक भयानक नर पशु को नर नारसण में परिणति का उत्साह था।

राज-प्रसाद में अभिषिक्त गौतम के प्रवेशोपरान्त उत्सव का शुभारम्भ हुआ। लोगों ने गुरु शिष्य का पूरे मन से स्वागत किया अन्त में भगवान् बुद्ध ने जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा— “भिक्षुओं और गणप्रेष्ठों ! अंगुलिमाल ने स्वयं को विजय किया परन्तु पूर्व ही जीवनचर्या में भी वह व्रतहीन मनुजों से श्रेष्ठ था। जो लोग व्रतहीन होते हैं वे अपने जीवन का कोई मूल्यांकन नहीं करते। एक सहस्र नर-अंगुलियों की माला निर्मित करने का संकल्प अमानवीय भले ही हो पर उन्नती जीवन से श्रेष्ठ था।

जो संकल्प करते ही नहीं उन्हें आत्म तृप्ति से भी वंचित होना पड़ता है और आत्म तृप्ति से भी ।

“अंगुलिमाल की व्रत निष्ठा मैं सद् और असद् के अन्तर्द्वन्द्व में सन्देहनाओं की विजय हुई परन्तु प्रेरणाहीन मनःभूमि अंगुलिमाल के पूर्व जीवन से भी व्यथित पतित है इसलिए तुम भी संकल्पवान् होओ । व्रतधारी बनो और निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ो ।”

कोई किसी का नहीं

महारानी उज्ज्वल बहुत बीमार थी । रत्न जटित रेशमी गद्दों पर भी उसे एक क्षण के लिए चैन नहीं मिल रहा था । पल-पल पर कपड़ों बदलती और ईश्वर से शीघ्र ही प्राण हर लेने अम्ब का स्वस्थ कर देने की प्रार्थना, न केवल वह स्वयं ही कर रहीं थी, अपितु परिवर्त्या करने वाले तथा दर्शिकागण भी यही इच्छा कर रहे थे ।

प्रार्थना में बड़ा प्रभाव होता है । सब की सामूहिक प्रार्थना भगवान् ने सुन ली और उन्होंने यमराज को आज्ञा देकर महारानी को अपने यहाँ परम सुखमय एवं शान्तिदायक लोक में बुला लिया । रानी के प्राणान्त से सारे राज्यहल और खेलती नगर में शोक छा गया । राजधानी से राज्य में खबर फूट निकली और फरसी राज्य भर में लोग रानी की मृत्यु का शोक करने लगे ।

सारे राज्य और राजधानी का यह हाल था तो महाराज अस्सक का क्या पूछना । उज्ज्वल उनके प्राणों से भी प्यारी थी । उसके न रहने से वह तो बेसुध पड़े हुए थे । जब कभी होश में आते तो रानी के रूप-लावण्य, बुद्धि तथा गुणों का दर्शन करते-करते फिर मूर्छित हो जाते । कभी-कभी मूर्छित अवस्था में भी प्रलाप कर उठते और जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों पर उसकी बुद्धि की विलक्षणता तथा व्यवहार कुशलता के विषय में बड़बड़ाने लगते ।

अब अनेकों प्रयत्न करने पर राजा को चेत न हुआ तो मन्त्रियों ने रानी को तेल की नाभ में रखवा दिया क्योंकि राजा को चेत नहीं हो रहा था । तो उसका शाह-संस्कार कौन करता ? यदि किसी प्रकार संस्कार भी कर देते तो रत्न के मस्तिष्क में विकृति आने का भय था ।

कई दिन बीत गए । राजा न उठता न बैठता । दिन-रात रोता, विलाप करता, विलाप करता रहता । भाई, बहन, नते-रिश्तेदार, मित्र, अमात्य, आचार्य, पुरोहित, कुलगुरु सबने इस शरीर की अनित्यता और संस्कारोपश आत्मा के आवागमन की बात समझाते किन्तु उसकी समझ में न आती और वह विलाप करने लगते ।

रानी उज्ज्वल वास्तव में बहुत ही सुन्दरी, गुणवती और व्यवहार कुशल थी । वह राजा को एक कुशल मंत्री का काम देती थी । पत्नी की पाँत की गृह-मन्त्राणी कहते हैं किन्तु वह राजा के राज्य कार्य में भी बड़े विवेक और बुद्धि कौशल से सहायता देती थी । अतः राजा का शोक व विलाप करना भौतिक व सांसारिक दृष्टि से ठीक ही था ।

रोते-पीटते कई दिन बीत गए । राजा न कुछ खाता-पीता और न ही सोता लोगों को बहुत चिन्ता हुई ।

उस समय बोधिसत्व पाँच अधिज्जा और आठ सभापनियां लेकर हिमालय पर तपस्वी की भाँति विचर कर रहे थे । जम्बूद्वीप का दिव्य चक्षु से निरीक्षण करते समय राजा को इस स्थिति में पड़ा देख उन्हें दया आ गई । उन्होंने उसकी सहायता करने का निश्चय किया । उनको योगबल से अद्वैतसिद्धियाँ प्राप्त थीं ही, तुरन्त आकाश में उड़कर राजा के बाग में उतरे और एक पत्थर की शिला पर बैठ गए । उनके मुख-मुण्डल से तेज प्रकाशित हो रहा था । दूर से ही देखने वाले को उनके तेज से दिव्य-आत्मा होने का आभास होने लगा ।

माणवक नामक एक पोटली निवासी ब्राह्मण किसी कार्यवश उद्यान में गया । बोधिसत्व के तेज को देखकर स्तब्धित रह गया फिर प्रणम करके प्रक्षेपण न होते हुए भी दिव्य-पुरुष जान उनके पास पहुँचा । बोधिसत्व ने तो अपने योगबल से उसे बात करने के लिए, अपना काम निकालने के लिए बुलाया ही था, जो माणवक नहीं जानता था । बोधिसत्व ने माणवक से पूछा— यहाँ का राजा कौन है ? राजधानी में इस प्रकार शोक और निस्तब्धता क्यों छा रही है ?

माणवक— “भन्ते ! वहाँ का राजा अस्सक है । अपनी पटरानी की मृत्यु के शोक में विकल, शोकग्रस्त, विलाप करता हुआ पड़ा है । अन्न, पीना, सोना सभी छोड़कर अपने भी प्राण रँखाने की तैयारी कर रहा है । उसी के शोक से इस नगर में भी स्तब्धता और शोक का वातावरण छाया हुआ है ।”

बोधिसत्व— क्या राजा धार्मिक है ? उसका प्रजा के प्रति व्यवहार पुत्रवत् है ? प्रजा को रक्ष व भलाई के लिए सदैव तत्पर रहता है ?

माणवक— हाँ भगवन् ! राजा महान् धार्मिक है किन्तु अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण उसके शरीर को तेल की नाभ में रखे रोता पीड़ता है । आज सात दिन से उसने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है । आप महापुरुष, महान् आत्मा हैं । हमारे राजा को इस कष्ट से क्यों दूर नहीं करते ? आपके होते हुए राजा अज्ञानी की भाँति इस प्रकार सांसारिक कष्ट सहे वह उचित नहीं है । आप अवश्य ही उनको ज्ञान का उपदेश करके दुःख से छुड़ाइयें ।

बोधिसत्व— हे ब्राह्मण ! मैं राजा को नहीं जानता और न ही मैं राज-प्रसादों में जाता हूँ । यदि वह आका हम से मिले और पूछे तो हम उसकी भार्गव के जन्म ग्रहण करने का स्थान बनती कर उससे बात-चीत करा देंगे ।

माणवक— भन्ते ! तो जब तक मैं अपने राजा को समझा-बुझा कर यहाँ लेकर आऊँ, तब तक आपको यहीं कष्ट करना हीगा ।

बोधिसत्व— अवश्य । आप राजा को लाइयें मैं यहीं विश्राम करता हूँ ।

बोधिसत्व से वचन लेकर माणवक राजा के पास गया । सारा वृत्तान्त सुन कर राजा से उसने प्रार्थना की — ऐसे महान्मा जिससे दिव्य दृष्टि प्राप्त है, अपने योग बल से आपको रानी से मिलाकर बात करा सकता है । ऐसे व्यक्ति से मिलकर इस अवसर से अवश्य लाभ उठाना चाहिए ।

राजा, माणवक की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ और महात्मा के योगबल एवं प्रतिभा की बात सुनकर पैदल ही उनके पास जाने का नैयार हो गया किन्तु इतने दिन से जोकतुर पड़े रहने के कारण, बिना आन जल के रहने से अत्यन्त निर्बल हो गया था। अतः सबने समझा बुझाकर सचारी पर जाने को तैयार कर लिया।

पालकी में सवार हो राजा माणवक और अमात्यों के साथ उद्यान में पहुँचा जहाँ बोधिसत्व बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

राजा ने पहुँचते ही बोधिसत्व को प्रणाम किया और आतुरता से निवेदन किया— भगवन् ! क्या आप सचमुच यह बात जानते हैं कि देवी उम्बरा कहाँ है ? उसने कहाँ जन्म लिया है ?

बोधिसत्व— हाँ महाराज ! यही नहीं, मैं उसकी आप से बात भी करवा दूँगा। आपको उससे मिलना भी दूँगा।

राजा विचारों के उलार-चढ़ाव में बहने लगे। उम्बरा के प्रेम में अनीत की बातों का स्मरण करके उससे मिलने के लिए आतुर होकर बोले— महात्मन् ! बतलाइये कि वह कहाँ पैदा हुई है ?

बोधिसत्व— राजन् ! वह अपने रूप-लावण्य और जीवन के मद में रहने के कारण प्रमाददश तथा कुछ पूर्वजन्म के अवशिष्ट कुसंस्कारों के कारण अपने जीवन में कुछ अच्छे कार्य नहीं कर पाई है, थोड़े ही समय में अपनी जीवन-वासा समाप्त करके चले गयी है। उसने इसी उद्यान में गोबर के कीड़े की योगि में जन्म लिया है।

बोधिसत्व— तुम्हें विश्वास नहीं हो सकता, यह स्वाभाविक ही है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रियजनों के लिए अशुभ वा अमंगल कामन नहीं करता और न ही उसके अमंगल की बात पर तुरन्त विश्वास ही करता है। अच्छा ! तुझे दिखाकर उस से बातचीत करावाहूँ, तब तेरी समझ में आ जायेगा कि बात सही है।

बोधिसत्व ने अपने योगबल का प्रयोग किया। दो गोबर के पिण्ड लुढ़कते-लुढ़कते आकर्षित हुए उनके पास आकर रुक गए। बोधिसत्व ने राजा को दिखाया— महाराज ! देखो, यह तुम्हारी उम्बरा तुम्हें छोड़ गुबरीले के पीछे दौड़ रही है।

राजा— भन्ते ! मुझे विश्वास नहीं होता। कैसे उम्बरा ने गोबर के कीड़े की योगि पाई है ?

“तो सुनो !” बोधिसत्व ने अपने योगबल से ही गुबरी को बुलाते ही पूछा— उम्बरा !

हाँ भन्ते ! क्या आज्ञा है ? नू पूर्वजन्म में कहाँ थी, तेरा क्या नाम था ?

भन्ते ! मैं अस्सक राजा की पटरानी उम्बरा। इस समय तुझे राजा अस्सक प्रिय है वा वह गुबरील ?

भन्ते ! पूर्व जन्म में वह मेरा-पति परमेश्वर था। उसके साथ इसी बाग में रस, रूप, गन्ध और स्पर्श का आनन्द लेती हुई विहार करती हुई, प्रेमोन्मत्त हो जाती थी। अब वह हमारा क्या जन्म है। इस जन्म में उससे हमें क्या सम्बन्ध ? अब तो हम को वह गुबरील ही प्रिय है जिसके ऊपर ऐसे अनेकों राजा अस्सक निरुत्तर होते हैं।

राजा अस्सक सुनकर सन्न रह गया। उनका मोहान्धकर दूर हो गया।

बोधिसत्व ने भी उसे ज्ञान का उपदेश किया। उन्होंने समझाया— राजन् ! इस संसार में कोई किसी का नहीं है। यह सब जितने प्राणी दिखाई दे रहे हैं, अपने-अपने सम्भारवश जन्म धारण करके नाटक पात्रों की भूमि कार्य कर रहे हैं। समय पुरा होते सभी अपनी कथा को पुराने कस्त्र की भाँति छोड़कर अपने कर्मों के अनुसार नई योगि को, नए कस्त्र की भूमि प्राप्त होते हैं। यह शरीर अनित्य है। इससे मोह करना व्यर्थ है। आत्मा अजर है, अमर है। उसका शरीर से सभी तक संबंध है जब तक वह उस देह में है। जिस प्रकार पात्र जिस समय राजा का शिवास पहन लेता है वह राजा बन जाता है और थोड़े देर में विदूषक के कपड़े पहन कर आपको हँसी से लोट पोटा कर देता है। यदि कोई भी व्यक्ति चाहता है कि उसे उम्बरा की भूमि गोबर का कीड़ा न बनना पड़े तो इन्द्रिय भोगों में ही न पड़े रह कर, इस देह ध्वज सुखों में लिप्त न रहकर, आत्मा को पहचानें। प्राणी मात्र में ईश्वर का दर्शन करके प्रेम, सेवा दया, न्याय, परोपकार आदि में मन लगाकर कार्य करें और जीवन सफल बनायें।

राजा अस्सक को अब ज्ञान हो गया था। बोधिसत्व को प्रणाम करके राज-महल आकर राजा की देह को निष्कल कर मिट्टी की भूमि उसका संस्कार किया और अनासक्त भाव से राज्य करने लगा।

आज जियेंगे तो कल सुनेंगे

धर्म प्रचार के लिए भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य कलम्भन को पेजते समय आशीर्वाद देकर कहा— “वरस ! संसार बड़ा दुःखी है, लोग अज्ञानवश कुरीतियों में जकड़े पड़े हैं, जाओ उन्हें जाग्रति का संदेश दो, इससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं कि तुम उन्हें आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाओ।”

कलम्भन ने तथागत की चरण धूलि मस्तक से लगाई और वहाँ से विदा हो लिया। दिन छिपने में अभी देर थी। कलम्भन एक गाँव पहुँचे। उसमें अनेक लोग कुशकाय बीमार पड़े थे। वहाँ की स्त्रियाँ मलिन वेष में पुरुषों के काय कर रही थीं। बच्चों के शरीर सूखे हुए थे। लगता था, इनको न भरपेट अन्न मिलता है और न बीमारियों से लड़ने को औषधियाँ। शिक्षा की दृष्टि से उनमें कोई चेतना दिखाई नहीं दे रही थी। सब म्लान, मलिन और दुःखी दिखाई दे रहे थे।

कलम्भन को अपनी सेवा का स्थान मिल गया। एक झोपड़ी के सहारे अपना सामान ठिककर वह विनाम की मुद्रा में बैठ गये और थोड़े गाँव में वह सम्पन्न फैला दिया— “भगवान् बुद्ध के शिष्य कलम्भन तुम लोगों के दुःख दूर करने आये हैं, तुम लोगों को मुक्ति का मार्ग बताने पधरे हैं।”

निष्कृ का विष शरीर में जिस गति से फैलता है, उसी शीघ्रता से यह बात सारे गाँव में फैल गई। ग्रामीणों के हर्ष का ठिकाना न रहा। सबने कलम्भन के लिये विनाम के लिए सुन्दर स्थान की व्यवस्था कर दी। रात बड़ी शान्ति और प्रसन्नता में बीती।

ज्ञात-काल बौद्ध-पिक्षु जब तक ध्यान, पूजन समाप्त करें, तब तक द्वार ग्रामवासियों की भीड़ से भर गया। कलम्भन बाहर निकलने, वह रुद्धिस्त, अशिक्षा और दुरिच्छ से प्रसित चेहरे देखते ही उनके

१.३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

मन में घृणा फैल गई पर उन्होंने उसकी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। आखिर धर्मोपदेश के लिये आये थे। इतनी सहिष्णुता भी न होनी तो कौन उन्हें इस महान् कार्य के लिये भेजता।

सबको सायने बैठाकर कलम्पन ने उपदेश प्रारम्भ किया—
“बर्षं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।” ग्रामीण-जनों की समझ में न तो वर्ष आया न बुद्ध और न ही संघ। जैसे आये थे, वंचारे वैसे ही वहाँ को लौट गये।

कलम्पन ने एक नहीं गत-गत सभाये आकर्षित कीं किन्तु ग्रामीण-जनों की निराशा दूर हुई न दृष्टि। वेचारे वर्ष को समझने की स्थिति में होते तो अपनी स्थिति आप न समझ लेते।

कलम्पन हलाश तयागत के पास लौटकर खोले—“निष्पल भगवन् ! हमारा उपदेश कुछ कम नहीं आया। ग्रामीण-जनों ने एक भी बात तो नहीं सुनी।” भगवान् बड़ी देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने आचार्य जीवन और शिष्य सनातन को बुलाकर कहा—“देखो तुम उस ग्राम में जाओ, औषधि और शिक्षा का प्रबन्ध करो।”

तथागत की आज्ञा सुनकर शिष्य सनातन और आचार्य जीवन वहाँ से चल पड़े। तब कलम्पन ने प्रश्न किया—भगवन् ! आपने इन्हें तो धर्म उपदेश के लिये कहा ही नहीं। तथागत गम्भीर हो गये और बोले—समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं और सुधार की मूल-प्रक्रिया को अपनाये बिना धर्मोपदेश सम्भव नहीं। आज की आवश्यकता शिक्षा है, स्वास्थ्य है, कुरीतियों के जन्माल से मुक्ति है। अभी उन्हें जीवन की आशा चाहिए। आज जियेगे तो कल सुनेंगे भी।

कलम्पन यह सुनकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ और धर्मोपदेश के स्थान पर समाज सेवा के कार्यों में जुट गया।

बुराई का बुरा अन्त

गौतम बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। नित्य ही संख्या समय जेतवन में तथागत का उपदेश होता था और नगर के समस्त यर-नारी उनकी अमृतमयी वाणी से लाभान्वित होने आस करते थे। उन्हीं दिनों महापाल नामक व्यापारी भी अपने व्यापारिक कार्य से श्रावस्ती आया तो उसे भी भगवान् के दर्शन करने और प्रवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके उपदेशों को सुनकर महापाल ने अपने को धन्य माना।

महापाल उन पल्ला झाड़ू श्रोतव्यों में से नहीं था जिन पर महापुरुषों की बात का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो जितने दिन वहाँ रहा नियमित रूप से निश्चित समय चला जाता और भगवान् तथागत की एक-एक बात को बड़े ध्यान से सुना करता था।

उसे संसार निस्सार प्रतीत होने लगा। उसने सोचा मानव जीवन बार-बार नहीं मिलता, फिर इसे धन कमाने और बेईफान्ने करने में लगाने से लाभ भी क्या है? इस मूल्यवान् हरि का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये ही करना चाहिए। उसका विवेक जाग उठा। भगवान् का शिष्य बनने की इच्छा बलवती हो उठी। वह अपने घर लौट गया वहाँ व्यापार का सारा कारोबार अपने छोटे भाई को समझाकर और सारा धन उसको देकर वह पुनः श्रावस्ती वापस आ गया।

तथागत ने उसकी याचना का सम्मान किया। वह शिष्य बन गया। वर्ष भर निकट वा अतः साधना सम्बन्धी सारे निर्देश लेकर वह एक गाँव में चला गया। वहाँ उचित स्थान का चयन कर वह तपस्या में लीन हो गया। उसने लेटकर सोना बन्द कर दिया। बैठे बैठे ही साधना करते-करते वह ध्यान मग्न हो जाता था। आखिर जब नेत्रों को पूर्ण विश्राम न मिला सका तो उनमें पीड़ा होने लगी। गाँव वालों ने देखा तो वे बड़े चिंतित हुये उन्होंने दूसरे गाँव से एक वैद्य बुलाकर उस भिक्षुक से आग्रहपूर्वक नेत्र परीक्षण के लिए निवेदन किया।

वैद्य बहुत चतुर था, उसे वस्तुस्थिति समझने में देर न लगी उसने कहा औषधि के साथ निद्रा की भी आवश्यकता है। अकेली औषधि अपना कोई कार्य न कर सकेगी। क्योंकि प्राकृतिक नियमों को तोड़ने पर प्रकृति अपना दण्ड दिये बिना नहीं मानती। निद्रा अपूर्ण रहने के कारण ही यह स्थिति आई है।

वैद्यराज चले गये। अकेली दवा क्या करती। भिक्षु नेत्रहीन हो गया। छोटे भाई को सूचना मिली तो वह भी दौड़ा-दौड़ा आया चातुर्वर्ष सम्प्राप्त होने के बाद जेतवन विहार में ही एक कुटिया बना दी गई जिसमें महापाल को ठहराया गया, अब महापाल चक्षुपाल नाम से पुकारे जाने लगे।

एक बार बरसात में उनकी कुटिया के आस-पास छोटे-छोटे लाल रंग के अनेक कीड़े निकल आये। चक्षुपाल को तो कुछ दिखता ही न था अतः उनके चरने-फिरने से कुछ कीड़े पैरों से दबकर मर भी जाते थे। अन्य भिक्षुओं ने देखा तो चक्षुपाल की सीधे जाकर तथागत से शिकायत कर दी।

तथागत जानते थे कि चक्षुपाल की क्रियाएँ पाप रहित होती हैं, वह तो अहंत है। उन्होंने अन्य भिक्षुओं की शंका समाधान कर विदा कर दिया पर एक भिक्षु तथागत से पूछ बैठ “भगवन् ! यदि चक्षुपाल का जीवन शुद्ध और पवित्र है तो उसके नेत्र कैसे खराब हो गये। अवश्य किन्हीं पापों का फल उसे मिला होगा।

हाँ वत्स ! बात ऐसी ही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे और बुरे कार्यों का फल मिला करता है। कभी-कभी यह फल उसे अपने दूसरे जीवन में भी भुगतने पड़ते हैं और चक्षुपाल के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है।

पूर्व जन्म में चक्षुपाल वैद्य था। उसके पास एक महिला आई उसके नेत्रों में रोग था उसने दवा के लिये याचना की और यह कह कर कि यदि उसे नेत्र रोग से मुक्ति मिल गई तो वह आजीवन दसों बनना स्वीकार कर लेगी। कुछ दिनों के उपचार के बाद वह पहिला स्वस्थ हो गई। आँखों की पीड़ा जाती रही और उसकी नेत्र ज्योति भी बढ़ गई।

अब उसे अपने पुराने वचन की याद आई उसने सोचा झूठ बोलकर काम चलाया जा सकता है। उसने वैद्य से कह दिया, इतने दिन के उपचार के बाद भी आपकी औषधि से कोई लाभ नहीं हुआ।

वैद्य भी कम न था उसने महिला को दण्ड देने की इच्छा से अच्छे करने की दवा देकर कहा यह दवा एक बार के प्रयोग करने से ही

आँखें ठीक हो जायेंगी और मेरे पास दूसरी बार आने की तकलीफ न करनी पड़ेगी

वैद्य के मन में पाप था। इस भावना से ही उसने दूसरी बार औषधि दी थी। उसकी दोनों आँखें फूट गईं।

प्यारे शिष्यो ! जो पूर्वजन्म में दूसरे को अन्धा बना चुका हो फिर इस जन्म में यदि उसे भी उसी प्रकार का दण्ड मिल गया हो तो उसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है ? दूसरे का नुश करने पर स्वयं भी उसका बुरा फल भुगतना ही पड़ता है। अतः सुख और शान्ति चाहने वाले व्यक्तियों को मन, वचन और कर्म से दूसरों का हित ही करना चाहिए।

भर गया उस दिन भिक्षा पात्र

भगवान् बुद्ध वेलुवन पधारने कले हैं। चर्मदीक्षा का विशाल आयोजन कुशी संघाराय में रखा गया है। बौद्ध विहार की इस सामयिक व्यवस्था के लिए कौशल, कौशाम्बी, मगध, पंचनद, जैतवन विहारों के परिव्राजकों को समय से पूर्व पहुँच जाने का निर्देश हुआ। इन परिव्राजकों में संघाली भी हैं। संघाली एक समय इसी नगर में निवास किया करते। उनके पिता यहाँ के प्रधान श्रेणिक थे। उनके विशाल भवन को देखकर राज-प्रासाद होने का भ्रम होता था। ऐसा कोई वैभव शायद ही रहा होगा जो इसमें विद्यमान न रहा हो, पर आज तो वह सर्वथा वीरान दिखाई देता है।

संघाराम की बर्बादी के अनुसार संघाली और परिव्राजक बलेशी को भिक्षा के लिए भेजा गया। शेष भिक्षुओं को दूसरे कार्य सौंपे गये हैं। दिन भर की परिव्राज से उनके संघाली जिस क्षण इस विशाल भवन के मुख्य द्वार पर पहुँचे जो कभी उनके सामाजिक सुखों के रंगीन स्वप्नों में खोया हुआ रहता था उनके हृदय की गति में उबार उमड़ पड़ा, साँसें तेज हो उठीं, गला रुंध गया। अतीत के सैकड़ों दृश्य, सहस्रों स्मृतियाँ उनके मानस पटल पर एक साथ घूम गईं। “भवति पिशां देहि जननी” के धार शब्द उनके मुख से इस पीड़ा के साथ निकले जैसे कोई पंख-कटा पक्षी किसी दूरवर्ष से ऊपर होकर अपने घोंसले से भागता है। द्वार पर कौन आता है जलती हुई निशासा से उनके नेत्र यह देखने के लिए मुख्य द्वार में अपलक टिक गये।

“भवति पिशां देहि” का यह स्वर अन्ध दिनों के स्वर से भिन्न था उसके प्रस्फुटित होते ही तन्द्रित प्राचीरों में विद्युत् दौड़ गई। जिस किसी के कान में स्वर पड़ा—उसके मुख से पहला स्वर यही फूटा संघाली। संघाली आया है, संघाली आये हैं ? यों तब संघाली पधारे हैं, सहोदर संघाली पिता-माता, पत्नी, शिशु, भाई सब के मुँह से एक ही शब्द। सभी द्वार की ओर भागे अपने उस संघाली को देखने के लिए जिसने पाँच वर्ष पूर्व ही सासारिक वैभव को त्याग कर बुद्ध धर्म की शरण ली थी अपने देश की आध्यात्मिक धार्मिक चेतना में नये प्राण फूँकने के लिए, जातीय जीवन को दुःखद सामाजिक परम्पराओं की निराशा से उबारने के लिए, व्यक्ति के चरित्र को अधः पतन के प्रवाह से बचाकर ऊर्ध्वगति प्रदान करने के लिए। इस अवधि में ही संघाली के त्याग, तप, सेवा, साधना की कहानियाँ पर-

घर पहुँच चुकी हैं। यह स्वाभाविक ही था कि अपने प्रिय सपूत को देखने के लिए नगर का घर-परिवार का हर परिजन पुलकित हो उठता। बाहर आते प्रत्येक परिजन की गति इस तथ्य का स्पष्ट साक्ष्य थी।

गैरिक चीवर और उत्तरीय, पाहन बिहीन पद, मुंडित केश, हाथ में भिक्षापात्र, तपश्चर्या की साक्ष्य प्रतिकृति को सम्मुख खड़ा देखकर काजन्म जन्म दोनों की आँखों से अनुधारा फूटी तो फिर फूट ही पड़ी अविश्राम बहती ही चली गई।

तात् ! कल्पामय कृतावरण की निस्तब्धता भग्न करते हुए सवालियों ने पूछा आपके दुःखी होने का अर्थ तो यही हो सकता है आर्य—मेरी साधना अभी तक अधूरी है अन्यथा आपको हर्षित होना चाहिए था।

अबुस ऐसा न कहें। तुम इस देश के आदर्श हो तुम्हारा इतिहास कोटि-कोटि, प्राणों को तप, त्याग और सेवा की प्रेरणा देगा। ये आँसू तो पश्चात्ताप के आँसू हैं बल्स ! सोचते हैं यदि हम मोह में न फँसे होते, याया में ग्रस्त न हुए होते तो आज वह स्थिति क्यों होती। जो कार्य हथें करना चाहिए था, वह तुम्हें करना पड़ रहा है।

संघाली की अल्प-ग्लानि भुल गई उसने बलेशी की ओर दृष्टि डाली, भिक्षा ग्रहण की और विहार की ओर चल पड़े और दिन की अपेक्षा आज उनका भिक्षा पात्र कहीं अधिक भरा हुआ था।

अपने लिए नहीं औरों के लिए

कौशल नरेश राज्य के समस्त पाँच सौ कर्मचारियों की पत्नियों के लिये पाँच सौ वस्त्र दान किया करते थे। यह नियम उन्होंने राजमाता की आज्ञानुसार बनाया था।

एक बार शीत ऋतु का आगमन होने को था। कौशल नरेश वस्त्र बांट चुके थे, तभी बौद्ध भिक्षु आनन्द ने कौशल में प्रवेश किया उस दिन राजधानी में ही उनका प्रवचन रखा गया। दान के महत्त्व पर बोलते हुए भिक्षु ने कहा—“अपनी आवश्यकता से अधिक द्रव्य या वस्तुयें लोकहित में दान करते रहना चाहिये, इससे समाज में विषमता पैदा नहीं होती।”

राज कर्मचारियों का सगा जैसे राज्य से प्राप्त होने वाले वस्त्र में उनका स्वेध और अपस्त्रिम भी जुड़ा हुआ है, वे सब धर्मीनिष्ठ, देश-भक्त और संपादिक बर्बादों का पालन करने वाले थे, सो सबने अपने-अपने वस्त्र लाकर आनन्द को दान कर दिये।

अगले दिन वह चर्चा महाराज के कानों पर पड़ी। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का उन्होंने अच्छी तरह स्वाध्याय किया था। भिक्षुओं के लिये निर्धारित अक्षर संहिता—शास्ता के भी वे अच्छे ज्ञाता थे। उन्हें मालूम था कि भिक्षु को अपने पास तीन चीवर से अधिक रखने का अधिकार नहीं है। उन्हें ऐसा लगा कि अपरिग्रह का उपदेश करने वाले आनन्द ने स्वयं ही शास्ता-मर्यादा तोड़ दी है, सो उनकी नाराजी और भी बढ़ गई। अगले दिन वे स्वयं ही बौद्ध स्थिर आ उपस्थित हुए।

आनन्द अभी सन्ध्योपसन से निवृत्त होकर बैठ ही थे कि उन्हें महाराज के अगमन की सूचना दी गई। आनन्द द्वार तक स्वयं आये

१३८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

और महाराज को सादर प्रणाम कक्ष तक ले आये। महाराज उद्विग्न थे, सो जाते ही पूछ लिया— भंते ! आप भिक्षु हैं। शास्त्र के अनुसार आप अधिक से अधिक तीन चीवर ही ग्रहण करने के अधिकारी हैं, फिर आपने पाँच सौ वस्त्र कैसे ग्रहण कर लिये ?

आनन्द उठे और सघ विप्राभाण्डर की ओर प्रस्थान करते हुये बोले— महाराज ? आपको कथन सत्य है। वह समस्त चीवर यहाँ के अन्य भिक्षुओं को बाँट दिये गये हैं, अपने लिये तो एक ही चीवर—पर्याप्त था सो लिया भी एक ही है। भिक्षुओं के चीवर फट चुके थे, सो उनके लिये ही वह वस्त्र स्वीकार करने पड़े। अनावश्यक कुछ नहीं लिया।

महाराज ने पूछा— पर इस तरह इन भिक्षुओं के पास अब तक जो चीवर थे, क्या उनका अपव्यय नहीं हुआ ? क्या आपके पूर्ण उपयोग की बात यहाँ असत्य न हो गई ? आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! हम शास्त्र की पर्याय का कभी भी अन्तर्धान नहीं करेंगे। भिक्षुओं के पुराने चीवर उत्तरीय बस्त्र, उत्तरीय बस्त्र अन्तर-वासक और अन्तर-वासक बिछौने के रूप में उपयोग कर लिये गये हैं, महाराज इन सबके बिछावन फट चुके थे।

महाराज को अपने अविश्वास पर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। धमा माँगते हुए उन्होंने कहा— “भंते ! अपनी भूल के लिए हार्दिक प्रणाम है।” इस पर आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! ऐसा न कहें। दान पाने वाले को ही नहीं, देने वाले को भी सन्तुष्ट होना चाहिये कि उसका सही उपयोग हो रहा है, इसके लिये यदि दान-दाता निरीक्षण करना चाहता है तो वह भी पुण्य ही है।

महाराज सन्तुष्ट होकर लौट आये।

विवेक ने खोले—अन्तर्धनु

राजगृह का विशाल समारोह कक्ष ब्रोताओं से खूबखूब भरा था। तीर्थंकर महावीर का प्रवचन चल रहा था। बाणी से अमृत की वर्षा हो रही थी। मंत्र-मुग्ध सभी उसका पान कर रहे थे। विशाल परिसर में सम्राट श्रेणिक, महामन्त्री अभयकुमार आदि मूर्धन्य भी भगवान् महावीर का धर्म उपदेश सुनने में मग्न थे। वातावरण में तीर्थंकर के उद्बोधन से शान एवं वैराग्य की धारा बह चली।

वातावरण की शान्ति एवं गम्भीरता भंग हुई, एक वृद्ध के आने से। लाठी टेकता हुआ वह समारोह भवन में प्रविष्ट हुआ। उसकी कमर अत्यन्त झुकी हुई थी। कपड़े तार-तार हो रहे थे। शरीर में कुष्ठ रोग के कारण मवाद की दुर्गन्ध फैल रही थी। बिना किसी की परवाह किये वह सभा की चौराहे हुए सम्राट श्रेणिक के सामने पहुँचा। धर्म उपदेश बन्द हो चुका था। सबकी निगाहें उस जर्जर शरीर वृद्ध पर टिकी थीं।

सम्राट की ओर अभिमुख होकर वह बोला— “आयुष्मान् ! आप जीते रहें।” मन ही मन सभी सोचने लगे कैसा असम्य और छिठ है यह जो भगवान् महावीर की उपेक्षा करके बिना अभिवादन किये राजा के निकट पहुँच आशीष दे रहा है।

कुल ही क्षणों में वह भगवान् महावीर के सामने जा पहुँचा और उसी स्वर में बोला— “आप शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करें।” सम्राट

श्रेणिक की घोंहें तन गयीं। उसकी अशिष्टता हर किसी को अखरी मन से आक्रोश फूटने लगा। पर वह तीर्थंकर की धर्म सभा थी जहाँ हर किसी को अपनी बात कहने का अधिकार था। पर्यादावश कोई कुछ नहीं बोल सका।

तब तक अपनी लाठी टेकते हुए वह महामन्त्री के पास पहुँच चुका था। क्रोध मिश्रित भाव से सभी उस वृद्ध की ओर घूर रहे थे। वृद्ध ने महामन्त्री की ओर मुस्कराकर देखते हुए कहा— “महामन्त्री तुम चाहे जीओ, चाहे मरो।”

मन ही मन सब सोचने लगे—सम्भवतः वृद्ध का मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं है। इतने में वह राजगृह के दूर कसाई काल शौकरिक के पास जा पहुँचा तथा उसे सम्बोधित करते हुए बोला— “शौकरिक ! तुम न मरो न जीओ।” यह कहकर वह देखते ही देखते सभी के नेत्रों के सामने से ओझल हो गया। इस घटनाक्रम से सारी सभा स्तब्ध थी। हर व्यक्ति अब सोचने लगा कुछ न कुछ विशेष रहस्य की बात है।

“कौन था वह वृद्ध ? उसके कथनों का क्या अभिप्राय है ? हर किसी के मन में ये प्रश्न बारम्बार उठ रहे थे। सम्राट से रहा न गया, तीर्थंकर से पूछ पड़े— “देव ! वह विचित्र व्यक्ति कौन था ? उसके कथनों का क्या रहस्य है ? हम सबके असमंजस को दूर करने की कृपा करें।”

तत्पश्चात् महावीर मुस्कराये तथा बोले— “राजन् ! वह साधारण मनुष्य नहीं स्वयं महाधिदेव विवेक थे, जो हर किसी को सत्य का विशेष संकेत देकर चलते बने।”

रहस्य को स्पष्ट करते हुए तीर्थंकर ने कहा— राजन् ! वृद्ध ने तुमसे कहा— “जीते रहो।” संकेत यह है कि तुम्हारे सामने भौतिक ऐश्वर्य का अम्बार प्रस्तुत है। जिसका तुम उपभोग कर रहे हो। मरने के बाद तुम्हारे सामने दुःख ही दुःख हैं। वर्तमान के कर्मफल दुःखों के रूपों में कल प्रस्तुत होने वाले हैं। इसीलिए तुम्हारे लिए जीना ही श्रेष्ठ है।

वृद्ध के दूसरे कथन का आशय स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा— पूर्व जन्म के कर्मफल स्वरूप मुझे जीवन धारण करना पड़ा। सम्पत्ति के द्वारा सुख, वृद्ध की स्थिति बनी है। वृद्ध मेरे शरीर को बन्धन मानता है तथा मरण को सदा के लिए मुक्ति। इसीलिए उसने कहा— “मर जाओ।”

मन्त्री अभय कुमार की ओर अन्मुख होकर भगवान् बोले— “मन्त्री का जीवन भोग एवं भोग से सन्तुलित है। निष्काम भाव से वह कर्म कर रहा है। इसीलिए उनका वर्तमान जीवन भी सुखी है तथा अगला जीवन भी श्रेष्ठ होगा।”

वृद्ध के चौथे कथन का भाव स्पष्ट करते हुए महावीर ने सम्राट श्रेणिक से कहा— “राजन् ! काल शौकरिक का वर्तमान जीवन दुःख शोक से, पापकर्मों, हिंसा एवं क्रूरता से भरा है। अगले जीवन में भी उसे सुख-शान्ति नहीं मिल सकती इसलिए उसका न जीना अच्छा है और न ही मरना।” सम्राट की आँखें खुलीं और उपस्थित जनसमुदाय को नवी जीवन दृष्टि मिली।

तीसरा संस्करण

एक बौद्ध भिक्षु चिन्तामग्न बैठे थे। आस-पास घेरे बैठे कुछ लोगों में से एक ने पूछा “भगवन्। आप इतने अन्यमनस्क क्यों हैं?”

“मैंने भारत में भगवान् तत्त्वगत के कुछ दुर्लभ अवेश मूल पाली भाषा में प्राप्त किए थे।”

“तो खो गए?” पूछने वाले ने चिन्ता का अनुमान लगाया।

“नहीं वे मेरे पास हैं और मैंने उन सबको वहाँ की जापानी भाषा में अनूदित भी कर लिया है।” “वह तो प्रसन्नता की बात है फिर चिन्ता क्यों?”

“चिन्ता प्रकाशन की है जो बिना धन संग्रह के सम्भव नहीं।”

“यह कार्य तो यहाँ के धनपतियों को प्रभावित कर सहज ही किया जा सकता है।”

“फिर आप ही कुछ सुझाएँ, “क्यों न हम सब मजदूरी करें?”

“मजदूरी और भिक्षु यह कैसे सम्भव होगा?” सभी के चेहरों पर आश्चर्य के भाव थे।

साधन भी कार्य की गरिमा के अनुरूप होना चाहिए। श्रमशौलों के बीच में अपनी प्रामाणिकता साबित करने का यही माध्यम है। प्रामाणिक हुए बिना लोक-सेवा सम्भव नहीं।

भिक्षुओं ने मजदूरी करना शुरू किया। लोग आते और पूछते? ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी? आने वालों को उद्देश्य से तत्त्वगत के उपदेशों से अनुप्राणित किया जाता। सुनने वालों ने सहायता का क्रम शुरू किया।

यह क्रम चल ही रहा था कि तब तक जापान के एक इलाके में दुर्भिक्ष पड़ा। भिक्षु का मन बेचैन हो उठा। उसने पीड़ितों की आँखों में सेवा की प्रयास देखी। संग्रहीत धन को अकाल पीड़ितों की सहायता में लगा देने का निश्चय किया।

शिष्यों ने एक बार पुनः विरोध प्रकट किया। “इतने परिश्रम से इकट्ठे धन को यों ही खर्च कर देना?”

विरोध को शान्त करते हुए भिक्षु का उत्तर था स्वर्ग को भूलो मत। हमारा धन विभूति एक ही है—अंतः सम्बेदनाएँ। जब तक यह है, हम कंगाल नहीं हो सकते। वह न रहा तो हम सभी निष्काश हो जायेंगे। “हमारा उद्देश्य जन-सेवा है धनोपार्जन नहीं।”

“पर पुस्तक प्रकाशन?”

जन जीवित रहा तो पुस्तक भी सपेगी। भूखों को भोजन देने, वस्त्रहीनों को कपड़े बाँटने में सारी शक्ति समाप्त हो गई।

दूसरे वर्ष पुनः वर्षा हुई। क्षेत्र से अकाल के बादल छटे। भिक्षु पुनः धन संग्रह में लग गए। इस बार अपेक्षाकृत कम समय में अधिक धन संग्रह हुआ। भिक्षु को सन्तोष था इस कारण नहीं कि धन जल्दी इकट्ठा हो गया बल्कि इस कारण कि वह प्रामाणिक साबित हो गया। अब कहीं अधिक उत्तम रीति से वह अपना काम कर सकेगा।

लेकिन इस बार दूसरे क्षेत्र में अतिवृष्टि हुई। नदियों में बाढ़ आ गई। सारे इलाके की फसल को बड़ी हानि हुई। इस बार भी महाभिक्षु ने सारा धन बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए लगा दिया।

इस बार कुछ शिष्य तो हताश होने लगे थे पर भिक्षु ने उसी ठसठस के साथ धन संग्रह करना शुरू किया। अब की बार अपेक्षाकृत और कम समय लगा। संयोग से इस बार कोई प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ। फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशित हो गई।

इस अनुवाद को अनेकों ने पढ़ा और महाभिक्षु के प्रयत्नों की सराहना की। मुख पृष्ठ पर संस्करण के सामने लिखा था तीसरा संस्करण। लोगों ने पूछा वह तो पहली बार छपी है इसके पूर्व के दो संस्करण कब और कहाँ प्रकाशित हुए?

“पहले दो संस्करण उन्हीं लोगों को दिखाई देंगे जिनके पास सेवा और संवेदना की दो आँखें हैं महाभिक्षु भोग्गलि पुत्रस का उत्तर था। उन्होंने अपने जीवन में इन्हीं आँखों से देखा और अन्त तक सक्रिय रहे।”

नया जन्म, नयी यात्रा

लोगों के आश्चर्य और कौतूहल का ठिकाना न रहा। परम अभिगमनी सपत्नी जाने वाली नगर बधू वैशाली की गलियों में इस तरह अकेली चले किसके मन की सामर्थ्य थी जो यह सोच ले सौचे भी कैसे? जिससे मिलने के लिए स्वयं गणपति को भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाय, जिसके एक दर्शन के लिए दूसरे राज्याध्यक्षों को महीनों का इन्तजार करना पड़े। वही आज इस तरह किन्तु सब कुछ आँखों के समक्ष था। अविश्वसनीय, अकल्पनीय लगते हुए भी प्रत्यक्ष। वह शांत भाव से एकाकी चली जा रही थी। उसका प्रत्येक पग आश्चर्य के मस्तक पर पड़ती जा रही सिलबटों में एक की संख्या और बढ़ देता।

इस शांति के पीछे कितनी वेदना छुपी थी किसे मालूम? बर्फ-सी श्वेत धम्म के भीतर लुपे अंगारे की धधकती जलन को कौन महसूस करे? उसके पहनावे में सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी थी। आभूषण के नाम पर केवल एक हाथ में एक सोने की चूड़ी और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार। पैर भी उसके नंगे ही थे। ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने वैराग्य धारण किया है, कल्पित ने व्रतोद्यापन किया है, चन्द्रिका की सिंगध ज्योत्सना धरती पर उतर आयी है। घरों की खिड़कियाँ खुल गईं। सभी झुकने लगे। बच्चों का एक दल पीछे-पीछे लौड़ पड़ा। बूढ़ों ने कौतुक भरी नजर से एक-दूसरे की ओर देखकर कहा बात क्या है? पुनःपुनःहटें हुई। “सुना है अब पूजा-पाठ करने लगे हैं, कहते हैं किसी भिक्षु का प्रभाव है।” अपने को समझकर समझने वालों में कुछ धीरे से बोले “देखते रहो, जन्म की विलसिनी करम की मयाविनी गलिक्र अगर पूजा-पाठ करने लगे, तो मानना होगा कि बबूल में भी कमल के फूल खिलते हैं, पनाले में भी सुगंधि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिन बन सकती है।”

धीमे स्वरों में हो रही इस वार्ता के कुछ शब्द उसके कानों में पड़े बिना न रहे शब्द सिर्फ आड़े-तिष्ठे अक्षरों का समूह भर तो नहीं और न ध्वनि उत्पन्न कर कण्ठ सामर्थ्य। वह तो भाव की अभिव्यक्ति है सम्बोध की समर्प विधा। इसमें समझी तीक्ष्णता, कोमलता, कटुता मधुरता की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। सुनकर उसे लग्य किसी ने उसके अस्तित्व पर डेरों अंगारे उछाल दिए हों। किसने? विकट

१.४० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

प्रश्न चिह्न उसके चिन्तन की राह पर तन कर खड़ा हो गया था। उत्पत्ति से लेकर वर्तमान पल तक अनेक घटनाक्रम कुम्हार के चाक की तरह घूम गए। छलक पड़े विषाद को पीने की कोशिश में उसने होठों का एक सिरा दाँतों से दबाया।

मनुष्य और समाज प्रशिक्षु और पाठशाला-प्रशिक्षक के रूप में समझदार करे-सुने-समझे जाने वाले लोग। बड़ा जटिल है इस त्रिकर्णीय समीकरण का गणित लेकिन जतना ही सहज भी। मनुष्य सुगढ़-अनगढ़ कैसा भी हो, वह अपने विकास की अगली कक्षा में प्रवेश पाने के लिए इस पाठशाला में आता है और यदि पाठशाला ही टूट-फूटकर लहस-बहस हो गई हो, तब दोषी कौन? ये समझदार-लगभग सबाने हुए उसने ये शब्द कहे, विरक्तिपूर्वक होठों को सिकोड़ा

जन्म-क्या अन्तर का उसमें और औरों में? वह बालिका थी, अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही कपचान और गुणवान। किसने बनाया उसे हेय, किसने डाला उसे कलुषित मार्ग पर? प्रश्न के उत्तर में अनेक चेहरे चमके। नगर बधू के चुनाव के समय का सभागार आँखों के सामने घूम गया। पुरोहित, शासक, व्यापारी, विचारक वे सभी जो समाज के व्यवस्थापक होने का दाय्य करते हैं। कति व्यवस्थापक स्वयं अव्यवस्था के पक्षधर हो जायें। व्यवस्था के नाम पर उन रीतियों मान्यताओं के पोषक बन जायें जो मनुष्य जाति के पैरों पर कुत्सड़े चलाती है। तब भी क्या वे व्यवस्थापक हैं?

मन ही मन वह हँसी पर एक ही पल में संभल गई। राजोद्यान के बहिर्द्वार पर आकर वह ठिठक विचारों की नाव में बैठी कब कैसे इतनी जल्दी आ पहुँची। पना ही न चला। उसके स्कने से लगा जैसे स्रोतस्विनी के सामने अचानक शिल्प-खण्ड आ गया हो। चकित मृगशावक की भाँति भयभीत नयनों से चारों ओर देखा। क्या करे, क्या न करे? सोच नहीं पा रही थी। भिक्षु संघ के अधिपत्या और नगर बधू इन दो किनारों के बीच की दूरी का अनुमान लगाना सहज है किन्तु तथ्यागत की कल्पना का संकल सेतु भी सामने था।

तभी उसकी दृष्टि बाहर निकल रहे एक भिक्षु पर पड़ी। वे आनन्द थे अपने शास्ता की करुणा के सर्वोत्तम अधिकारी। उसने किम्वदन्ता से कहा “मैं महात्मा बुद्ध के दर्शनों के लिए आयी हूँ।” इतना कहना पर्याप्त था उनके लिये। वे ठलते पैरों लौट पड़े। बुद्ध को सन्देश दिया। नगर बधू का इस तरह आना सभी के लिए आश्चर्यजनक था। अनेक दृष्टियों में आश्चर्य को देखकर तथ्यागत मुस्कराए। तब आमपाली पहुँच चुकी थी।

“आओ देवि!” उन्होंने खड़े होकर स्वागत किया। उनकी सम्मोहक दृष्टि में वात्सल्य था। आँखों से झर रही करुणा से आमपाली का समूचा अस्तित्व भीग गया। “प्रभु!” उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। फफक कर बोली “मैं अपने पाप जीवन से ऊब गई हूँ। इस नरक से मेरा कभी उद्धार भी होगा।” उसने दीर्घ निश्वास लिया

“न न पाप जीवन और नरक की बात मत सोचो। तुम्हारे भीतर देवता का निवास है। तुम जिस पाप जीवन की बात कर रही हो

वह मनुष्य की बन्दई हुई विकृत समाज-व्यवस्था की देन है। चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है। तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठ हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती। वह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है।”

आमपाली आँखें फाड़े उनकी ओर देखती रह गई। उसे इन बातों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा था। पर बिना अर्थ समझे भी जैसे मधुर संगीत चित्त को अभिभूत कर लेता है कुछ इसी तरह की अनुभूति उसे हुई।

तथागत उसे ऊन्हाहित करते हुए बोले “देवता न बड़ा होता है छोटा न शक्तिशाली होता है न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे उपासक बनाना चाहता है। तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्ज्वलता के अनुप्राण में विशाल और उज्ज्वल होगा। लोगों के कथन की चिन्ता छोड़ो। अपने अन्तर्यामी को प्रमाण मानो।”

उसे यह नया सुनने को मिला। बाल मृगी जिस तरह बरसते मेघ के रिम्पझिम संगीत को सुनती है। उसी तरह वह सुनती रही चकित उत्तसित, उत्सुक। आश्चर्य हो रहा था उसे, उसके भीतर भी देवता है फिर उपेक्षित, चिर पिपासित, चिर अपूजित! उसकी बड़ी-बड़ी आँखें धरती की ओर जो हुक्मों से माने घिपक ही गयीं वह दाहिने पैर के नाखून से धरती कुरेदती खड़ी रही। नाना भाव-तरंगों के भाष्पत-प्रत्याघात से वह जड़ प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट हो गई।

कुछ पलों के बाद वह प्रकृतिस्व हुई। उसे स्वयं नवीन बल का अनुभव हो रहा था। ऐसा लगने लगा लम्बे समय से सोये देवता ने आँगाड़ई ले जीवन व्यवस्था सँभाल ली हो। “प्रभु—मैं” अटकते हुए कहे गए इन शब्दों में तुपे भाव को पहचानते हुए तथागत बोले “देवि। जाग्रत जन ही समाज को नई व्यवस्था देते हैं। जिस कलुषित अस्त-व्यस्तता ने तुम और तुम्हारे जैसे अनेकानेक जीवनों को नष्ट किया है उसे बदल छलक नई प्रणाली की रचना करना ही इस धर्म-चक्र प्रवर्तन का उद्देश्य है। जाग्रत जीवन की अजस्र शक्तियों का नियोजन यहाँ करो।”

बस तो राह में सोचती हुई आयी थी। भावों को पढ़ने में कुशल बुद्ध ने समाधान सुझा दिया। जीवन में जाग्रति आये इसकी एक ही पहचान है, एक ही कसौटी, व्यक्तित्व की समस्त सामर्थ्य भागवत प्रयोजन को पूरा करने के लिए उमड़े बिना नहीं रहनी। आमपाली इस नूतन तथ्य को अनुभूति कर रही थी। अगला पल अडिग निश्चय का पल था। धर्म-चक्र के प्रवर्तक के चरणों में सर्व समर्पण का तान्पर्य खोना नहीं पिटना नहीं। खोती और पिटती तो तुच्छता और क्षुद्रता है। समर्पण तो महानतम और सर्वस्व की प्राप्ति का उत्सव है और वह उत्सव मना रही थी। अपने अन्दर देवता की खोज पूरी हुई। नया जन्म, नया जीवन, नयी यात्रा। एक अभिनव कार्याकल्प कभी की नगर बधू अब नई व्यवस्था की कुशल रचनाकार बन गई। परिवर्तन का उल्लास भरा पर्व, नियामक शक्ति वर्तमान क्षणों में भी संचालित कर रही है। इन क्षणों में ऐसे ही कार्याकल्प की अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत वहीं प्रखर रूप से अनुभव की जा सकती हैं।

सुख की साधना

उत्पलवर्णा, शिवस्ती के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी कन्या षोडश वर्ष पार कर चुकी है। बौवन का निखार अपने आप ही अकर्षक होता है फिर उत्पलवर्णा तो अनुपम कान्ति वाली अद्वितीय सौन्दर्यवती भी थी। राग उसके अंग-प्रत्यंग से फूट रहा था। अथर्वों में गुलाम का परिमल, रत्नमय नखन, सुन्दर ग्रीवा, कल-कल ऐसा लगता था उसके सौन्दर्य के साथ स्वयं ब्रह्म ही व्यक्त हो उठा है।

यही कारण था कि अनेक श्रेष्ठ-सामन्तों तथा राजकुमारों की ओर से स्वयं ही विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आने लगीं। गणा प्रव्रज के लिए जलाई जाती है किन्तु शलभ उसे बुझाने लग ज्यों तो जलने वाले का क्या दोष? सौन्दर्य मत्स्य का राजदूत है पर यदि उसे बासना का माध्यम मान लिया जाये तो रचनाकार का क्या दोष? कोषाध्यक्ष के समक्ष उत्पलवर्णा का सौन्दर्य आज सपन्या बन गया था। उसका हाथ किसे दें किसे न दें इसका निर्णय करना भी कठिन हो रहा था।

इसी चिन्ता में हुबे हुबे पिता को देखकर उत्पलवर्णा स्वयं पिता के पास जाकर बोली— तात् । आपसे एक बात पूछूँ? पिता ने दृष्टि ऊपर उठाई और पुत्री के शीश पर हाथ फेरते हुये कहा—कहो क्या कहना चाहती हो उत्पल?

उसी गम्भीरता से उत्पलवर्णा ने कहना प्रारम्भ किया तात् । आपने नहीं सुना क्या गंगतीर दासी ने पहले विवाह किया। अपनी तृष्णायें शान्त करने के लिये उसने भर्वा के जीवन तन्त्र को निचोड़ा फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया, उसके गर्भ से कन्या उत्पन्न हुई उसे भी उसने सहगामिनी बनाया—जिस काल में सामाजिक व्यवस्थायें और मर्यादायें इस तरह तिनके का ढेर हो जावें नीति कहती है उस समर्थ विचारशील लोगों को अपने लौकिक हितों का परित्याग कर देना चाहिये और व्यक्ति तथा समाज के जीवन में नया प्रकाश लाने का प्रयास करना चाहिए। आपकी चिन्ता एक योग्य का तलाश करने की है और मेरे सौन्दर्य के झूठे आकर्षण से बचने की। विवाह का प्रस्ताव लेकर आये किसी भी कुमार में मुझे आदर्श जीवन का स्थायित्व नहीं दीखता यह सब तो रूप के ध्यासे कीट-पतंगे हैं इनसे दूर ही रहना अच्छा। आप आज्ञा दें तो मैं आजीवन अविवाहित रह जाऊँ और अपने पथ-प्रष्ट समाज को अपनी शक्ति व साधना द्वारा सीधे सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयास करूँ।

आर्य पिता ने अपनी कन्या के सस्कार व स्वभिमान से दमकते मुख-मण्डल की ओर देखा उसमें पूर्ण निश्चित दृढ़ता झलक रही थी। पारे स्नेह के उसे हृदय से लगाते हुये कहा—“उत्पल ! तुम भव्य हो। अपने सुख का ध्यान न देकर तुमने साधना व समाज सेवा को महत्व दिया तुम्हारा यह आदर्श सुगों सुगों तक भारतीय नाथे और उसके पुत्रों को अन्तर्वर्ती जीवन की प्रेरणायें और प्रकाश देता रहेगा।”

उत्पलवर्णा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भगवान् बुद्ध ने अपना पितृ नृत्य स्नेह, अपनी साधना की शक्ति, अपना ज्ञान देकर उसे आत्म दर्शन की—स्थिति तक पहुँचाया। सिद्धावस्था प्राप्त उत्पलवर्णा ने धर्मोद्धार के कार्य में तत्परता का हाथ बँटाया और कुछ प्रसन्न भारतीय समाज को ऊँचा उठाने का महान् यश अर्जित किया।

आत्म साक्षात्कार

सुजाता ने खीर पी, बुद्ध ने उसे ग्रहण कर परम सन्तोष का अनुभव किया। उस दिन उनकी जो समाधि लगी तो फिर सातवें दिन जाकर दृष्टी। जब वे उठे, उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था।

नेरञ्जरा नदी के तट पर प्रसन्न मुख आसीन भगवान् बुद्ध को देखने गई सुजाता बड़ी विस्मित हो रही थी कि यह सात दिन तक एक ही आसन पर कैसे बैठे रहे? तभी सापने से एक शव लिये जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिये। उस शव को देखते ही भगवान् बुद्ध हँसने लगे।

सुजाता ने प्रश्न किया—योगिराज ! कल तक तो आप शव देखकर दुःखी हो जाते थे, आज वह दुःख कहाँ चला गया?

भगवान् बुद्ध ने कहा—बालिके ! सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है। कल तक जड़ वस्तुओं में असक्ति होने के कारण यह पय था कि कहीं वह न सूट जाय, वह न बिछुड़ जाये। यह पय हो दुःख का नरक था, आज मैंने जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तन है, पर जिसके लिये दुःख करते हैं, वह तो न परिवर्तनशील है न नशवान्। अब तू ही बता जो सनातन वस्तु पा ले, उसे नशवान् वस्तुओं का क्या दुःख?

सुजाता यह उत्तर सुनकर प्रसन्न हुई और स्वयं भी आत्म-चिन्तन में लग गई।

धर्म की जीत

मगध-सम्राट अजातशत्रु की गिद्ध-दृष्टि लिच्छवि-गणतन्त्र पर केन्द्रित थी। वज्जियों की वैसाखी अजातशत्रु के विजय-रथ के लिए दुर्धर्ष शिला-खण्ड बनी गौरव से प्रस्तक ऊँचा किए हुए थी। भगवान् बुद्ध अन्तिम बार राजगृह के बहिर्वर्ती गृध्रकूट में पधारे तो अजातशत्रु ने मगध-महामात्य वस्सकर को उनकी सेवा में भेज कर निवेदन किया—“भगवन्, हम वैशाली को पराभूत करना चाहते हैं। कोई उपाय बतावे।”

भगवान् ने यह सुना तो निकट बैठे आनन्द से पूछा, “मन्ते, क्या वज्जियों के सम्मिपात (संसद-अधिवेशन) बार-बार होते हैं?”

“हाँ, भगवन् !”

“क्यों आनन्द, क्या वज्जि संघबद्ध हो उद्यम करते हैं वज्जीकरणीयों (राष्ट्रीय वर्तव्यों) को करते; सभा द्वारा नियमपूर्वक स्वीकृत हुए बिना कोई आदेश तो नहीं प्रचारित करते; स्वीकृत विधि-संहिता का उत्तरंघन तो नहीं करते, वज्जीधम्म (राष्ट्रीय विधान एवं संस्थाओं) के अनुसार समवेत होकर चलते हैं; वज्जियों में वृद्धजनों का आदर करते हैं, उनके मान्य वचनों को मानते हैं; अपनी कुल वधुओं एवं कुमारियों का आदर करते हैं, वैन्यों का सम्मान करते हैं, अर्हत्तों की सेवा और रखा करते हैं?”

“हाँ, भगवन्, लिच्छवि इन सभी धर्मों का तत्परता से पालन करते हैं,” आनन्द ने उत्तर दिया। भगवान् की मुख मुद्रा गम्भीर हो गयी। उन्होंने अमात्य वस्सकर की ओर देखते हुए शिष्य से कहा,

“तो आनन्द, ये धर्म गणतन्त्र के प्राण-तत्त्व हैं। जब तक लिच्छवि इनका पालन करते हैं, वे अविजेय हैं।”

भारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है

राजकुमार सिद्धार्थ और मंत्री पुत्र देवदत्त दोनों साथ-साथ बाग में घूमने जा रहे थे। सहसा सिद्धार्थ ने देखा दो सुन्दर राजहंस आकाश में उड़ते जा रहे हैं। उन्हें देखकर वह प्रसन्न हो उठा, “देवदत्त! देखो ये कितने सुन्दर पक्षी जा रहे हैं।” देवदत्त ने ऊपर देखा और अपना धनुष बाण उठाया एक पक्षी को मार गिराया।

सिद्धार्थ की प्रसन्नता शोक और व्याकुलता में परिणित हो उठी। सिद्धार्थ दौड़ और रक्त से सने राजहंस को गोदी में उठ लिया और सीने से लगाकर रोने लगे।

“इस पक्षी पर मेरा अधिकार है सिद्धार्थ। देखते नहीं हो। इसे मैंने अपने बाण से मारा है।” देवदत्त ने कहा।

सिद्धार्थ बिना कुछ कहे-सुने पक्षी को लेकर चले गये अपने भवन में और वहाँ उसकी सेवा सुवृषा करने लगे।

देवदत्त ने उस समय राजकुमार समझ कर कुछ झगड़ा नहीं किया किन्तु पक्षी के बारे में उसकी लालसा मिटी नहीं। उसने फिर सिद्धार्थ से पक्षी माँगा किन्तु जवाब इनकारों में ही मिला। सिद्धार्थ बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे।

देवदत्त ने न्याय प्राप्ति के लिए महाराज के पास जाकर शिकायत की। महाराज ने दोनों को राज-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। एक ओर देवदत्त खड़े थे दूसरी ओर सिद्धार्थ अपनी गोद में पक्षी को लिए हुए। देवदत्त ने अपना तर्क प्रस्तुत किया— “महाराज मैंने पक्षी को बाण मारा, इसलिए इस पर मेरा अधिकार है।”

“किन्तु मैंने इसे बचाया है। मारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है इसलिए उसका ही अधिकार होना चाहिए।” सिद्धार्थ ने बिना पूछे कहा। महाराज ने पक्षी को दोनों के बीच में छुड़वा दिया और वह स्वयं बुद्ध के पास चला गया।

हृदय परिवर्तन

राजा का दयालु और धर्म की राह पर चलने वाला, जनता के कष्टों को दूर करने का सदैव प्रयत्न करता रहता और राजकुमार का स्वभाव राजा से बिल्कुल विपरीत था। उसे निरपराध नागरिकों को कोशिश देने में आनन्द आता था। स्वभाव से दृष्ट और निर्दयी, बोलने में भी कर्कश। बात-बात में उसे क्रोध आ जाता था।

राजा अपने पुत्र की इन हरकतों से बहुत खिन्न था। उसने स्वयं सुधारने का प्रयास किया। रानी ने भी नीति के मार्ग पर चलाना चाहा। कितने ही अध्यापकों की नियुक्ति की गई पर सबने हार मान ली। जितने प्रयत्न सम्भव थे उतने किये गये। राज्य की बनता में विशेष बढ़ता जा रहा था और उपर ऊपर के साथ उत्पात बढ़ रहे थे। सभी लोग किसी न किसी तरह उससे मुक्त होना चाहते थे। भगवान् बुद्ध तक बात जा पहुँची उन्होंने उसे भलाई की राह पर चलाने का निश्चय

लिया। उन्होंने राजकुमार को अपने पास नहीं बुलाया बरन स्वयं उसके पास गये।

भगवान् बुद्ध अपनी बात कहने में बड़े व्यवहारकुशल थे वह लोग के अनुकूल निदान देने में सिद्ध हस्त थे। उन्होंने राजकुमार को धर्म का कोई पाठ नहीं पढ़ाया और न लम्बा चौड़ा व्याख्यान दिया। बरक की बातोंओं का भय दिखाने की भी उन्होंने कोशिश न की वह घूमते हुए उसे एक छोटे नीम के वृक्ष के पास ले गये और कहा ‘राजकुमार। इस वृक्ष का पत्ता तो तोड़ कर देखो कैसा है?’

राजकुमार ने वैसा ही किया एक पत्ते को मुँह में डाला तो सारा मुँह कड़वाहट से भर गया। इतनी बात में ही वह आपे से बाहर हो गया। भगवान् बुद्ध से तो उसने कुछ नहीं कहा पर अपने नौकर को आदेश देकर उस वृक्ष को जड़ से कटवा दिया।

‘अरे राजकुमार तुमने यह क्या किया।’

‘इस पौधे के लिए तो यही किया जाना चाहिए था। अभी से जब यह झटना कड़वा है तो बढ़ने पर इसकी क्या स्थिति होगी? मैं समझता हूँ साध्वत् विष ही हो जायेगा अतः मैंने उचित ही किया जो अभी से उखाड़ फेंक।’ राजकुमार ने उत्तर दिया।

भगवान् बुद्ध इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा ‘राजकुमार यदि तुम्हारे दुर्ब्यक्त और अत्याचारों से परेशान होकर यदि जनता तुम्हारे से बड़ी व्यवहार करने को विवश हो जाये जो तुमने नीम के पौधे के साथ किया, तो तुम क्या करोगे? वह दिन था कि भगवान् बुद्ध द्वारा दिखाई राह पर वह राजकुमार चल पड़ा और फिर कभी बुराई की राह पर न गया।

महान् विभूतियाँ कभी-कभी ही आती हैं

बुद्ध का जन्म हुआ। सभी देखने आए। एक महात्मा हिमालय से आए। पिता ने बालक बुद्ध को महात्मा के चरणों पर रखते हुए कहा— “महात्मन्! आशीर्वाद दें प्रभु से भंगल क्रमना करे ताकि बालक दीर्घायु हो, बलस्वी हो, प्रतापी हो।” किन्तु महात्मा कुछ उद्गार व्यक्त करने के पूर्व ही गेने लगे। राजा डर गए। पूछा कोई अपशकुन है? कुछ भ्रष्टुप है क्या?

महात्मा कुछ सणों बाद बोले— “नहीं राजन्! ऐसा कुछ नहीं। जिसे खोजते-खोजते सारी उम्र बीत गयी, वह प्रभु का भेजा संदेशवाहक अब मिला। करुणाजलार आया तो सही पर मेरे लिए तो अब देरी हो गयी। उनकी लीला देखने का सुयोग मुझे तो मिला ही नहीं सकेगा। उनके चरणों में बैठने का अवसर मुझे न मिल सकेगा बस यही सोचकर आँखें भर आई। राजन्! आप धन्य हैं। ऐसी विभूतियाँ तो कभी-कभी हजारों लाखों वर्षों बाद अवतरित होती हैं।”

आत्मबोध

वैराग्य होने के पश्चात् गौतम बुद्ध ने कई वर्ष तक जंगल में रहकर बड़ा कठोर तप किया। वहाँ उनका आहार लगभग बन्द हो

हो गया था। इससे शरीर सुखकर अस्थि-वर्च मज्ज हो रह गया था। पर इतने पर भी आत्मज्ञान नहीं हुआ और इससे उनका चित्त प्रमित रहता था।

एक दिन गौतम के तपस्या स्थान के पास होकर नगर की कुछ गायिकायें निकलती। वे पार्श्व में एक गेबत गाती हुई चली जा रही थीं जिसका आशय यह था कि— “वीणा के तारों को जेलत मत छोड़ो, अन्यथा उनसे मधुर स्वर नहीं निकलेगा। पर उनको इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायें।”

इस गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी तो अन्तर्भात उनके अपनी घूल का पता लग गया। सुफल प्राप्त करने के लिए अत्यधिक कष्ट पूर्ण तपस्या उचित नहीं वरन् संयमित आहार, विश्राम, निद्रा आदि का जीवनयापन करने से ही साधन का पूरा हो सकता संभव है। चाहे सांसारिक लक्ष्य हो और चाहे आध्यात्मिक, सफलता के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उचित है।

बाहर भीतर वाले को

आत्मबोध होने के बाद गौतम बुद्ध ने परिकल्प्य आरंभ की। विश्राम का नाम भी नहीं। सतत् चलते रहना व लोगों को जीवनमुक्ति का पाठ पढ़ाना। शिष्य आनन्द उनसे बोला— “प्रभु! आप इतना चले, न थके-न उकताएँ।” बुद्ध बोले। “वके बह जो चले। मैं चलता ही नहीं तो बकूँ क्यों।” आनन्द का कथन था “मैंने तो नित्य आपको अपनी इन आँखों से चलते देखा है, मैं भी आपके ही साथ चला हूँ।”

बुद्ध बोले “मैं तुम्हारी आँखों पर भरोसा करूँ या अपनी आँखों पर, भीतर देखता हूँ तो फला हूँ वहाँ कोई चलता ही नहीं। तुम मुझे बाहर से ही देख पाते हो। बाहर जो चलता है, वह तो शरीर है। आत्मा की छाया मात्र है। जो नहीं चलता, वह मेरी आत्मा है। छाया के चलने से भी कोई सकता है?”

मात्र सुख

एक बार गौतम बुद्ध राजपथ को छोड़कर कंटीली पगडण्डी पर चल रहे थे। लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ। कारण पूछने पर भगवान् बुद्ध ने बताया—

“मनुष्यो! इस पगडण्डी में सुख दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं। अतएव यह प्रेरणा देती है कि सुखों में अधिक आशक्ति रखने और दुःखों में अधिक उदग्नि होने से जीवन यात्रा बड़ी दूभर हो जाती है। सुख दुःख दोनों में समभाव रखने से जीवन यात्रा सुगम बनती है। अतएव मैं मात्र सुखों वाले राजपथ पर न बढ़कर पगडण्डी पर चल रहा हूँ।”

धर्म प्रचारक की कसौटी

तथागत का परमप्रिय शिष्य था आनन्द। उस दिन सभी शिष्यों को उनकी इच्छानुसार क्षेत्रों में बसने और धर्मप्रचार करने के लिए भेजा जा रहा था। सभी ने अपने परिचित एवं सुविधापूर्ण स्थान चुन लिए।

आनन्द ने सुनापयन्त नामक गाँव चुना। वह दुष्ट-दुर्जनों के लिए प्रख्यात था। वहाँ कोई साधु पैर जमा ही नहीं सका था। सभी ने आश्चर्य से पूछा— ऐसी विपरीत परिस्थितियों वाले स्थान को अपना कार्यक्षेत्र आप क्यों चुनते हैं?

आनन्द ने कहा— चिकित्सक को वहाँ जाना चाहिए जहाँ भयंकर महामारी फैली हो। अपनी सुविधा और सुरक्षा की बात सोचने पर चिकित्सक और साधु दोनों ही हेय बनते हैं। दोनों के स्तर की परीक्षा तो कठिन परिस्थितियों में ही होती है।

अमरता की फसल

भगवान् बुद्ध काशी के एक सम्पन्न किसान के पास गए। उससे भिक्षा माँगी। किसान ने भिक्षा पात्र लिए भिक्षु घर की ओर देखा और व्यंग-मध्य से कहा, “मैं परिश्रम से खेत जोतता-बोता हूँ, सब तो फसल उपलब्ध होती है उसी से उदर-पूर्ति करता हूँ, किन्तु आप बिना खेतों किए भोजन पाना चाहते हैं।”

“मैं भी तो किसान हूँ। खेती करता हूँ।” बुद्ध ने प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया।

“खेती!” किसान ने काणाय वस्वधारी भिक्षु की ओर अचरज से देखा। “हाँ, वत्स! तथागत ने कहा— “मैं आत्मा की खेती करता हूँ। ज्ञान के हल से ब्रह्मा के बीज बोता हूँ। तपस्या के जल से सींचता हूँ। विनय मेरे हल की हरिष, विचारशीलता फल और धन नरेशी है। सतत् प्रयास का वान मुझे उस गन्तव्य की ओर ले जा रहा है वहाँ न दुःख है न संताप। मेरी इस खेती से अमरता की फसल सहलहाती है, वत्स!”

मनुष्य का चिरन्तन अस्तित्व आत्मा के रूप में ही रहता है। एजपुत्र गौतम को उसी प्रेरणा ने भगवान् बुद्ध बना दिया। यह पथ प्रत्येक आत्मदर्शी के लिए खुला है।

ज्ञान की निरन्तर खोज

भगवान् बुद्ध एक बार आनन्द के साथ सधन वन से होकर गुजा रहे थे। रास्ते में बातचीत भी चल रही थी।

आनन्द ने पूछा देव! आप तो ज्ञान के भण्डार हैं। आपने जो जाना, क्या उसे हमें बता दिया?

बुद्ध ने उत्तर पूछा— इस बंगल में भूमि पर कितने सूखे पत्ते पड़े होंगे? फिर हम जिस वृक्ष के नीचे खड़े हैं उस पर चिपके सूखे पत्तों की संख्या कितनी होगी? इसके बाद अपने पैरों नले जो अभी पड़े हैं वे कितने हो सकते हैं?

आनन्द इन प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में नहीं था। यौन तोड़ते हुए तथागत ने स्वयं ही कहा ज्ञान का विस्तार इतना है, जितना इस वन प्रदेश में बिछे हुए सूखे पत्तों की संख्या। मैंने इतना जाना जितना ऊपर वाले वृक्ष का फलझड़। इसमें भी तुम लोगों को उतना ही बताया जा सका जितना कि अपने पैरों के नीचे कुछेक पत्तों का समूह पड़ा है।

ज्ञान की अज्ञानता को समझते हुए उसे निरन्तर खोजते और जितना मिल सके उतना समेटते रहने में ही बुद्धिमत्ता है।

समाज सेवी की योग्यता

धर्म दीक्षा का शिक्का समाप्त हुआ। सारे भिक्षु अपने-अपनी रुचि की दिशा में परिव्रज्य के लिये निकल गये। देववर्धन नामक भिक्षु भी गौतम बुद्ध के सामने उषस्किता हुआ और प्रार्थना की—“भगवन् मेरी इच्छा है कि मैं कलिंग जाकर संघ का प्रचार करूँ।” कलिंग का नाम सुनकर बुद्ध ने अस्वें ठठाई, देववर्धन को पास बिठाया। स्नेह से शीश पर आशीर्वाद का हाथ फेरते हुए बोले—“वत्स! वहाँ के लोग बड़े अंधेरी और ईर्ष्यालु हैं, वे भिक्षु को घृणा लगाकर तुम्हें सतायेंगे, गालियाँ देंगे, इसलिए वहाँ जाने का इरादा बदल डालो।”

भिक्षु ने उसी दिनच के साथ कहा—भगवन् गालियाँ देंगे तो क्या हुआ, मारेंगे तो नहीं, तबलाग कहने लगे—“तबल इसमें भी संदेह नहीं वे आसतायी भी हैं। तुम्हें मार भी सकते हैं।” देववर्धन फिर भी दृढ़ रहा। उसने कहा—“देव! थोड़े दण्ड से इस शरीर का बिगड़ना क्या है, मारेंगे तो भी बुरा नहीं, वे मेरे प्राण तो नहीं लेंगे?”

“पर वे तुम्हें जान से मार देंगे देववर्धन, मैंने उनकी निर्दयता देखी है,” बुद्ध ने कहा—“तो क्या हुआ भगवन् आपने ही तो कहा—यह शरीर धर्म कार्य में लग जाय तो पुण्य ही होता है, इस तरह तो वे लोग मेरे साथ ठपकर ही करेंगे।” तथागत भगवान् बुद्ध शिष्य के उत्तर से संतुष्ट हुये। उन्होंने आशीर्वाद दिया और विदा करते हुये बोले—“वत्स! समाज सेवी की सच्ची योग्यता है तुम में, तुम निश्चय ही वहाँ धर्म-प्रचार कर सकोगे।”

समाजसेवी की योग्यता है—सहिष्णुता, धर्म और निष्ठा।

मन की पवित्रता

भगवान् बुद्ध प्यासे थे। शिष्य आनन्द को समीप के झरने से पानी लेने भेजा। उधर थोड़ी देर पहले ही कुछ पशु नहाये थे जिससे पानी गन्ध हो गया था। आनन्द लौट आये स्थिति बतते हुए कहा—मटी से पानी ले आता हूँ।

बुद्ध ने फिर उसी झरने पर पानी लेने भेजा किन्तु पानी गन्धला ही था। तीन बार भेजने और वापस आने के बाद चौथी बार जब आनन्द गये तो कीचड़ साफ हो गई थी। आनन्द स्वच्छ अल लेकर तथागत के पास आये।

पानी हाथ में लेते हुए—भगवान् बुद्ध ने कहा—आनन्द, हमारे जीवन का जल भी कुविचारों के पशु लोहने से प्रलय गन्ध होता रहता है और हम भाग खड़े होते हैं। यदि हम धर्म नहीं—मन के शान्त होने की प्रतीक्षा करें तो सब कुछ साफ हो जायेगा, झरने के पानी की तरह।

परमार्थ परायणता का महत्त्व

महाविहार में भिक्षुओं की स्थिति का निरीक्षण करते हुए भगवान् बुद्ध एक कुटिया में पहुँचे तो उसमें रहने वाला साधक हठावस्था में मल-मूत्र से सना पड़ा मिला।

पूछने पर मालूम हुआ कि उसे अतिसार है। कोई दूसरा उसकी सहायता करने नहीं आता।

तथागत ने आनन्द से जल माँग कर उसे स्वच्छ किया, उठाकर निस्तर पर सुलाया और निर्विक्रिया की व्यवस्था की। साथ ही निकटवर्ती कुटियाओं में रहने वाले भिक्षुओं को बुलाकर पूछा—कोई उस रोगी की सहायता क्यों नहीं करता।

उत्तर में सभी ने एक ही बात कही—वह किसी के काम नहीं आता, सदा अकेला रहता और उपेक्षा भाव बरतता है। फिर कोई क्यों उसकी सहायता करे?

तथागत ने कहा—अज्ञान का बदला ज्ञान से और संकुचित वृत्ति का सुधार उदारता से होता है क्या तुम इतना भी नहीं जानते। क्या तुमने नहीं सुना कि परमार्थ बदले के लिए नहीं अपनी ही करुणा को विकसित करने के लिए किया जाता है।

लोकसेवी का आचरण

शहात्या बुद्ध अपने शिष्यों के साथ संध्या को एक उद्यान में घूम रहे थे। उद्यान में ही स्थित एक सुन्दर सरोवर में खिल रहे कमल पुष्पों को देख बुद्ध आनन्दमग्न हो गये, इसी बीच एक शिष्य ने सरोवर के पास जा एक पुष्प तोड़ लिया व भगवान् को पेंट किया बुद्ध ने कहा—“वत्स यह तुमने ठीक नहीं किया, किन्हीं अन्य व्यक्तियों द्वारा किये परिश्रम से लगाये गये इन पुष्पों को तोड़ने का तुम्हें क्या अधिकार? यह पाप है।” शिष्य ने अपनी गति स्वीकार कर क्षमायाचना की।

दूसरे ही क्षण एक व्यक्ति आया वह निर्दयतापूर्वक पुष्पों को तोड़कर फेंकने लगा, भगवान् ने उस व्यक्ति से कुछ नहीं कहा वे शान्त बने रहे। शिष्य ने पूछा, “भगवन् आपको अप्रति करने के अदृश्य से एक फूल तोड़ने पर तो आपने रोका और यह निर्दयी व्यक्ति अनेकों पुष्पों को तोड़कर सरोवर की शोभा बिगाड़ रहा है उससे आप कुछ नहीं कहते?” बुद्ध ने कहा—“वासना तृष्णा में डूबे व्यक्ति कोई अनुचित कार्य करते हैं तो यह उनका अज्ञान है, परन्तु धर्म परायण, विवेकशील व लोकशिक्षण के ब्रती यदि ऐसा कार्य करें तो यह पाप ही है। लोकसेवी का आचरण अपने स्वयं के लिए व समाज के लिए श्रेष्ठ व ज्ञानसम्पन्न रहना अनिवार्य है।”

दिशा ज्ञान

राजगृह पर्व पर जा रहे गौतम बुद्ध ने देखा, एक गृहस्थ भीगे वस्त्र पहने सभी दिशाओं का नमस्कार कर रहा था।

बुद्ध ने पूछा—“महाराज! इस छ. दिशाओं की पूजा का क्या अर्थ है? यह पूजा क्यों करनी चाहिए?”

गृहस्थ बोला—“यह तो मैं नहीं जानता।”

बुद्ध ने कहा—“बिना जाने पूजा से क्या लाभ होगा।”

गृहस्थ ने कहा—“भन्ते। आप ही कृपणकर बतलावें कि दिशाओं की पूजा क्यों करनी चाहिए?”

तथागत बोले—“पूजा करने की दिशाएँ भिन्न हैं। माता-पिता और गृहपति पूर्व दिशा है, अचार्य दक्षिण, स्त्री, पुत्र पश्चिम और मित्र आदि उत्तर दिशा हैं। सेवक नीची तथा श्रमण ब्राह्मण ऊँची दिशा है। इनकी पूजा से स्वाभ होता है। गृहस्थ बोला—“और तो ठीक, भन्ते। परन्तु सेवकों की पूजा कैसे? वे तो स्वयं येरी पूजा करते हैं?”

बुद्ध ने समझाया—“पूजा का अर्थ हाथ जोड़ना, सिर झुकाना नहीं। सेवकों की सेवा के बदले उनके प्रति स्नेह-वात्सल्य ही उनकी पूजा है।” गृहस्थ ने कहा—“आज आपने मुझे सही दिशा ज्ञान कराया।”

कुल गोत्र की अहंता

बौद्ध भिक्षु होने पर अपना नाम बदलना अनिवार्य था। उसका उद्देश्य यह था कि वर्ण, गोत्र, जाति का आभास न हो व सब शिष्यगण अहंकार को विस्मृत कर दें।

एक बार शिष्यों में चर्चा चली कि दीक्षित होने पर भी शरीर तो छूट नहीं जाते फिर गोत्र, जाति, वर्ण कैसे छूट जायेंगे। भान भगवान् के कानों तक पहुँची तन्होंने सबको एकत्र कर कहा, “वात्स, तुमने साँपों की केंचुली देखी है?” “हाँ भगवन् देखी है।” “तो कोई बतावे यह क्या है?” “भगवन् केंचुली जब आती है तो साँप अन्ध हो जाता है।”

“एवं जब केंचुली छूट जाय तब—”

“तब साँप को पुनः देखने लगता है।”

तथागत ने समझाया, “हमारे गोत्र, वर्ण व जातिवा भी साँप की केंचुली के समान ही हैं जब तक शरीर पर वह रहती है, मनुष्य अहंकार में अन्ध बना रहता है, परन्तु जब वह केंचुली छूट जाती है तो उसे सर्वव्यापी विराट सत्ता की अनुभूति होने लगती है। इसीलिए नाम, पद, यश और कुलगोत्र की अहंता से विमुक्त होना आवश्यक है।

शिष्य वस्तुस्थिति समझकर सन्तुष्ट हो गये।

मृत्यु जीवन का यथार्थ

गौतमी की इकलौती पुत्र पर गया। शोक से विह्वल होकर वह लाश को लिये हुए भगवान् बुद्ध के पास पहुँची। उसे आशा थी कि तथागत बालक को पुनः जीवित कर देंगे।

बुद्ध ने गौतमी को सान्त्वना देते हुए कहा—किसी ऐसे घर से थोड़ा जल माँग लाओ, जिसके घर में कभी कोई मृत्यु न हुई हो। उस जल को अभितंत्रित करके तुम्हारे पुत्र का अभिसंजन करूँगा और वह पुनः जीवित हो उठेगा।

गौतमी जल प्राप्त करने के लिए द्वार-द्वार पर घूमने लगी, पर कोई घर ऐसा न मिला—जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। निराश वह वापस लौट आई।

तथागत ने कहा—भद्रे तुमने देखा, इस ससार में कोई घर ऐसा नहीं जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे मरना न पड़े। आज या कल, सभी अपने-अपने समय पर मरते हैं फिर उस अन्तिम-मृत्यु प्रकृति फन्द में फँसे हुए हम लोगों में क्यों किसी के लिए शोक करना चाहिए।

गौतमी का बोध आग पड़ा। वह मृत पुत्र का संस्कार कराकर लौट गई। शोक को उसने विवेक द्वारा शान्त कर दिया।

महापिशाचिनी तृष्णा

गुजा त्रौषिक सदा अशान्त रहते थे। निद्रा की न्यूनता, चेहरे की उदास, अगुप्ति और आशंका उन्हें हर बड़ी हैरान किये रहती थी। कारण और समाधान पूछने वे भगवान् बुद्ध के पास गये।

प्रवचन चल रहा था, सभी भिक्षु अति प्रसन्न मुद्रा में उसे श्रवण कर रहे थे। चेहरे पर तेजस्विता और आनन्द की पुलकन से सभी दिव्य लग रहे थे।

गुजा की निद्रासा को समझते हुए तथागत ने उसी प्रवचन में यह तथ्य जोड़ दिया कि मनुष्य बलान्त और उत्सर्जित क्यों रहता है। उसने कहा—तृष्णाएँ ही मनुष्य को खाली हैं। उनसे बचा जा सके तो गुजा-रंक सभी समान रूप से सुखी रह सकते हैं।

जाति से नहीं गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणत्व की पहिचान

भगवान् बुद्ध अनाथ पिण्डक के जैतवन में ग्रामवासियों को उपदेश कर रहे थे। शिष्य अनाथ पिण्डक भी समीप ही बैठा, भर्त्सना का लाभ ले रहा था।

तभी सामने से महाकाश्यप, मैदगन्वायन, सारिपुत्र, शुन्द और देवदत्त आदि आते हुए दिखाई दिये। उन्हें देखते ही बुद्ध ने कहा—वत्स! उठो, यह ब्राह्मण मण्डली आ रही है, उसके लिये योग्य आसन का प्रबन्ध करो।

अनाथ पिण्डक ने आभुषणों की ओर दृष्टि दी। फिर साश्चर्य कहा—भगवन्! आप सम्भवतः इन्हें जानते नहीं। ब्राह्मण तो इतने कोई एक ही है, शेष कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई अस्मृश्य भी है।

गौतम बुद्ध अनाथ पिण्डक के वचन सुनकर हँसे और बोले—तात्! जाति जन्म से नहीं गुण, कर्म और स्वभाव से पहचानी जाती है। श्रेष्ठ रागरहित, धर्मपरायण, सवपी और सदाभावी होने के कारण ही इन्हें मैंने ब्राह्मण कहा है। ऐसे पुरुष को तू निश्चय ही ब्राह्मण मान—जन्म से तो सभी जीव शूद्र होते हैं।

बुद्ध के पास आकर एक व्यक्ति ने उनके शिष्य को प्रशंस करी—कितनी अद्भुत बात है कि आपका अपुत्र शिष्य इतना ज्ञाना है। कितना जानता है। कितना प्रकण्ड विद्वान् है। धन्य है आप ऐसे शिष्य को पाकर।

बुद्ध बोले—बस उसमें यही तो कमी है कि वह इतना सब कुछ जानता है, पर जीवनोद्देश्य को न जान सका, मनुष्य जीवन की न

समझ सकत। यदि इतना वह और जान लेता कि जीव का अंश स्वार्थी नहीं, परमार्थी बनना है—ज्ञानी नहीं, ज्ञान की राह पर चलना है तो वह सचमुच धन्य बन जाता और मुझे उस पर गर्व भी होता।

भाव-निष्ठा का भूखा परमात्मा

शौरपुच्छ नामक बनिक् ने एक बार भगवान् बुद्ध से कहा— भगवान् मेरी सेवा स्वीकार करें, मेरे पास १ लाख स्वर्ण मुद्राये हैं वह सब आपके काम आयें। बुद्ध कुछ न बोले चुपचाप चले गये।

कुछ दिन बाद वह पुनः तपसगत की सेवा में उपस्थित हुआ और कहने लगा— देव ! वह आभूषण और वस्त्र लें दुःखियों के काम आयेंगे मेरे पास अभी बहुत-सा द्रव्य शेष है। बुद्ध बिना कुछ कहे वहां से उठ गये। शौरपुच्छ बड़ा दुःखी था कि वह गुरुदेव को किस तरह प्रसन्न करे।

वैशाली में उस दिन महान् धर्म सम्मेलन था। हजारों व्यक्ति आये थे। बड़ी व्यवस्था जुटानी थी। सैकड़ों शिष्य और भिक्षु काम में लगे थे। आज शौरपुच्छ ने किसी से कुछ न पूछा काम में जुट गया, रात बोन गई सब लोग चले गये पर शौरपुच्छ बेसुध कार्य-निमग्न रहा। बुद्ध उसके पास पहुंचे और बोले शौरपुच्छ ! तुमने प्रसाद पाया या नहीं ? शौरपुच्छ का गला रूंध गया। भाव-विपोर होकर उसने तपसगत को साष्टांग प्रणाम किया। बुद्ध ने कहा— वस्त्र परमात्मा किसी से धन और सम्पत्ति नहीं चाहता वह तो निष्ठा का भूखा है। लोगों की निष्ठाओं में ही वह रमण किया करता है। आज तुमने स्वयं यह जान लिया।

छल कपट देर तक टिकता नहीं

बुद्ध आख्यान राज्य के किसी नगर से गुजर रहे थे। वह स्थान उनके विरोधियों का गढ़ था। जब विरोधियों को बुद्ध के नगर में होने का पता चला तो उन्होंने एक चाल चली। एक कुलटा स्त्री के पेट में बहुत-सा कपड़ा बांधकर भेजा गया। वह स्त्री जहां बुद्ध थे वहां पहुंची और जोर-जोर से धिल्लाकर कहने लगी— ‘देखो यह पाप इसी महात्मा का है। यहाँ ठोंग रखा है मूर्खता है और अब मुझे स्वीकार भी नहीं करता।’ सभा में खलबली मच गई। उनके शिष्य आनन्द बहुत चिन्तित हो उठे और पूछ— भगवान् ! अब क्या होगा ?’

बुद्ध हंसे और बोले— ‘तुम चिन्ता मत करो कपट देर तक नहीं चलता। धिरम्यायी फलने-फूलने की शक्ति केवल सत्य में ही है।’ इसी बीच उस स्त्री की करघनी खिसक गई और सारे कपड़े जमीन पर खिसक पड़े। धोल खुल गई। स्त्री अपने कृत्य पर बहुत लज्जित हुई। लोग उसे मारने दौड़े पर बुद्ध ने यह कहकर सुरक्षित लौटा दिया— जिनकी आत्मा मर गई हो, वह मरने से अधिक हैं, उन्हें शारीरिक दण्ड देने से क्या लाभ ?’

मोक्ष का महामन्त्र

‘आत्म-शोध है’ भिक्षुजी ! इसके लिये तुम्हें जंगल-जंगल भटकने की आवश्यकता नहीं। परम-पद तुम्हारे विलुप्त समीप।

एक स्त्री दर्पण के सामने बैठी अपना चेहरा देख रही थी और बड़ी तत्परता से उसे सुन्दर और निर्मल बनाने का प्रयत्न कर रही थी। मैंने देखा— वह बड़े ध्यान से चेहरे में लगी गन्दगी को ढूँढ़ती है और उसे साफ करता है। आत्म-परीक्षण के सम्बन्ध में भी यही बात है। अपनी चेतना के दर्पण में अपने आपको देखो और ढूँढ़ो कहीं क्रम, क्रोध, भय, उद्विग्नता, असन्तोष, असंतुलन तो नहीं छिपा हुआ है ? तुम्हारे विचार गन्दे तो नहीं हैं ? इन्द्रियों पर तुम्हारा नियन्त्रण है या नहीं ?

यदि इनका सही उत्तर न मिले तो उन बुराइयों को धिटाने में लग जाओ, उस स्त्री की तरह जब तुम्हें अपने आन्तरिक चेहरे की निर्मलता पर सन्तोष हो जायेगा, उसी दिन तुम मोक्ष, परम-पद या आत्म-कल्याण की स्थिति प्राप्त कर लोगे।

तन नहीं, मन की स्वच्छता भी अनिवार्य

भगवान् बुद्ध अपने ज्ञान का प्रकाश ससार को दे रहे थे अनेक लोगों का आत्मिक कथक्कल हो चुका था।

एक दिन तपसगत धूमते हुए एक सेठ के यहाँ पहुँचे भिक्षा हेतु अपना कमंडल उसके सामने रख दिया। वह तपसगत के ज्ञान और प्रभाव की प्रशंसा सुन चुका था। उसे आज्ञा थी कि उनका आशीर्वाद पाकर मेरी कुंति हो जायेगी। बड़े प्रेम से खीर बनवाई और लाकर कमंडल में देने लगे। उसने आश्चर्यपूर्वक देखा कि कमंडल में गोबर भरा हुआ है। इतनी सुन्दर खीर उस कमंडल में कैसे रखी जाय, जिसमें कि गन्दगी भरी हुई है।

उसने कमंडल उठाया उसको अच्छी तरह साफ किया। तत्पश्चात् उसमें खीर रखी और तपसगत से बोला— ‘भगवान्, कहीं भिक्षा हेतु पधार करे अपना पात्र साफ करके ही लाया करें गन्दगी भरे पात्र से तो आहार की पवित्रता नष्ट हो जायेगी।’

तपसगत क्षांत-भाव से बोले— ‘वत्स ! भविष्य में जब कभी भी आठोंगा, कमंडल साफ करके ही लाया करूँगा पर तुम भी तो अपना कमंडल साफ रखा करो।’ सेठ ने आश्चर्य भरे शब्दों में पूछा ‘भगवान् ! कौन-सा कमंडल ?’ तपसगत बोले ‘वह तन रूपी कमंडल। मन में मलीनता भरी रहने से वह जीवन भी कलुषित हो जाता है और भगवान् की कृपा उसमें ठीक प्रभाव नहीं करती।’ बात सभल में आ गई। उस दिन से सेठ अपनी आन्तरिक सफाई में लग गया।

झूठ तो झूठ है

एक समय भगवान् गजगृह के वेणुवन में थे। राहुल अम्बलट्टिक में थे। एक दिन शाम को भगवान् राहुल के यहाँ पहुँचे। राहुल ने देखकर आसन बिछाया और पैर धोने के लिए लोटे में पानी लाकर रखा। पैर धोकर भगवान् आसन पर आ बैठे। उन्होंने राहुल से कहा—

‘‘राहुल ! लोटे में बचे थोड़े से पानी को देखता है न ?’’

‘‘हाँ, भन्ते ।’’

“राहुल, ऐसा ही थोड़ा श्रमण भाव उन लोगों में है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती।”

जल को फेक्कर लोटे को ओंछा कर भगवान् ने कहा— “राहुल, ऐसा ही औंधा श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती।”

लोटे को सीधा करके भगवान् ने कहा — “ऐसा ही खाली, तुच्छ श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती। जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसके लिए कोई भी पाप-कर्म अकरणीय नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए राहुल, हँसी में भी झूठ नहीं बोलेंगे, यह सीख लेनी चाहिए।”

शत प्रतिशत दान

तथागत को एक विहार का निर्माण करना था। इसके लिए उन्होंने सर्व-साधारण से यानना की और अभीष्ट शक्ति जमा हो गई।

कोषाध्यक्ष से पूछा गया कि किसकी सबसे बड़ी खिंश थी उसने बताया— एक बुढ़िया ने जिन्दगी भर में एक रुपया जमा किया था। उसने अपनी कमाई का शत-प्रतिशत दान कर दिया। जिसके पास विपुल धन था उन्होंने उसमें से सैकड़ों भर दिये थे। जो उनकी पूँजी का एक प्रतिशत भी नहीं था। विहार पर शिल्प-लेख लगा। उसमें बुढ़िया की उदारता को ब्रह्मापूर्वक सराहा गया।

सर्वस्व दान

आम्रपाली अपने समय की प्रख्यात सुन्दरी थी। उसके रूप लावण्य पर अनेकों मुग्ध रहते थे। उसका नृत्य गायन स्वर्ग की अप्सराओं जैसा था।

एक बार वह भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने गई। जीवन की गरिमा और उसके सदुपयोग की आवश्यकता पर उसने बहुत कुछ सुना। आत्म-चिन्तन किया। अपनी गतिविधियों के लिए मन ने धिक्कारा। वह शेष जीवन को सुधारने का विश्वास करके लौटी।

भगवान् की शरण में वह दुबारा गई। उनसे संतान ली और कहा— कि जो बीत चुका है लौटने वाला नहीं। अब जो शेष रहा है उसी को सुधारना चाहिए। निर्णय यह हुआ कि उसे बौद्ध समुदाय में शिष्य होकर साधना करनी चाहिए और धर्म प्रचार में लग कर अनेकों को कल्याणकरक मार्गदर्शन कराना चाहिए। कत समझदारी की थी सो आम्रपाली ने अपना ली और भिक्षु समुदाय में सम्मिलित हो गई।

अब दूसरा प्रश्न उभरा कि पिछले दिनों जो पाप कमाया है वह तो कुसंस्कार बस ही रहेगा। साधना को सफल न होने देगा। इसलिए पूर्व अनाचारों का प्रायश्चित्त भी आवश्यक है। प्रायश्चित्त का एक ही उपाय है जो गहड़ा खोद गया है उसे घरा जाय। अनाचार का समापन पुण्य परमार्थ द्वारा किया जाय।

आम्रपाली ने नर्तकी जीवन में प्रचुर सम्पदा कमाई थी। उसे धर्म प्रचार जैसे पुण्य कार्य में लगाना जाना आवश्यक था। उसने अपना समूचा सचय बौद्ध विहार के धर्म प्रचार के लिए दान कर दिया। स्वयं साधनारत होकर परिमार्जित हुई और धर्म प्रचार के परमार्थ हेतु

देश-विदेश में आजीवन प्रयत्न करती रही। नर्तकी आम्रपाली परम साध्वी कहलाई।

निरर्थक कुछ भी नहीं

तथागत समेत बुद्धसभ राजा उदयन के घर भिक्षा के निमित्त गया। अन्तिम सत्कार के उपरान्त रानी ने चीवर भेंट किये। राजा ने हँसते हुए पूछा देव आप इतने चीवरों का क्या करेंगे? बुद्ध ने कहा— जिन भिक्षुओं के चीवर फट जाय करेंगे, उन्हें देते रहेंगे। राजा ने फिर पूछा— उन फटे चीवरों का क्या होगा? उत्तर मिला— उनके टुकड़े जटकर बिलोने बना लेंगे। फिर पुराने गद्दों का क्या होगा? उत्तर मिला— झाड़न में कच लेंगे। अन्ततः उनके भी निरर्थक हो जाने पर किसी खेल में गाड़कर खाद बना दिया जायेगा। उदयन बुद्ध सब की कार्य नीति से बहुत प्रभावित हुआ और उन्होंने ऐसे श्रेय सदुपयोग के लिए अपना सारा खजाना खाली कर दिया।

प्रसुप्ति से उबरें, विवेक का आश्रय लें

भगवान् बुद्ध एक छत्रि प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन सुनने के लिए बैठे हुए व्यक्ति बार-बार नींद के झोंके ले रहा था। तथागत ने उस ऊँसते हुए व्यक्ति को कहा— “वत्स सोते हो” “नहीं” भगवान्— हड़बड़ा कर ऊँसते हुए व्यक्ति ने कहा। प्रवचन पूर्ववत् चालू हो गया और उक्त श्रोता भी पहले की तरह ऊँसने लगा। भगवान् बुद्ध ने तीन-चार बार उसी जगाया परन्तु वह नहीं भगवान् कहता और फिर सो जाता। अन्तिम बार तथागत ने पूछा— “वत्स जीवित हो” नहीं भगवान् सदा की तरह उत्तर दिया श्रोता ने। श्रोताओं में हँसी की लहर दौड़ गयी। भगवान् बुद्ध भी मुस्कराये फिर गम्भीर होकर बोले— वत्स निद्रा में तुमसे सही उत्तर निकल गया। जो निद्रा में है वह मृतक समान है। जब तक हम विवेक और प्रज्ञा में नहीं जागते हैं तब तक हम मृतक के ही समान हैं।

समर्पण की महत्ता

बुद्ध से मिलने एक पुष्पकडू साधु आया। बुद्ध से आकर कहा “भगवन मेरे पास न बुद्धि है, न चातुर्य, न शब्द है, न कुशलता। अतः मैं कोई प्रश्न अथवा जिज्ञासा कर सकने की स्थिति में भी नहीं हूँ। यदि मुझे पात्र समझें तो मेरे योग्य जो कुछ भी कह सकें कह दें”। थड़ी भर के लिए बुद्ध मौन हो गये। सन्त भी शान्त बैठे रहीं। कौतूहलवश सभी भिक्षु उन्हें गिहारते रहे। अचानक देखा कि साधु की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसने बुद्ध को साष्टांग प्रणाम किया और धन्यवाद देते हुए बोले— “बड़ी कृपा की भगवान्। आज मैं धन्य हो गया” और नाचता-गाता, गुन-गुनाता बला गया। हतप्रभ शिष्य मण्डली देखती रही। बुद्ध एक शब्द भी नहीं बोले फिर आखिर क्या घट गया उस साधु के जीवन में?

आनन्द ने बुद्ध के पास जाकर पूछा भगवान् कुछ समय में नहीं आया। न कोई वार्तालाप ही हुआ न कोई प्रश्नोत्तर। फिर क्या घट गया आप देखें के बीच कि साधु परम सन्तुष्ट होकर लौट गया। हम वहाँ से आप के पास हैं, फिर भी वैसा कुछ घटित नहीं होता।

बुद्ध ने मौन तोड़ते हुए कहा “आनन्द ! छोड़े चार प्रकार के होते हैं— एक अद्विजन छोड़ा होता है जो जानुक मारने पर भी टस न मस नहीं होता । जितना मारे उतना ही हठ पकड़ लेता है । दूसरा मर जाता है कि मारे तो चल पड़ता है । तीसरे छोड़े को छोड़ फटकारते तो चल पड़ते हैं चौथे छोड़े को छोड़े की छाया ही काफी है । बस यह साधु ऐसी ही आत्मा थी । उसे इशारे पर की ही जरूरत थी और वह भी मन ने कही उसके मन ने ग्रहण करती । तुम्हारे मन तो उन जिंदों छोड़ों की तरह है कि छोड़े फटकारते रहने पर अपनी जिंद पर अड़े है । बात शिष्यों की समझ में आ गई । समर्पणभाव से गुरु से प्रहण किया जाय भे बिना बाले, बिना कहे ही सब कुछ पाया जा सकता है ।

इच्छा पूर्ण हुई

बुद्ध के पास एक युवक आया । उनके चरणों में सिर झुकाया और आँख उठाकर एक बार देखा— पुनः चरणों में झुक गया । बुद्ध ने पूछा किसलिए आये हो ? “युवक बोला जिस के लिए आया था वह इच्छा पूर्ण हुई । अब कुछ न पूजना है न करना है” बुद्ध बोले क्या घट गया ? क्या पूर्ण हुआ ? यह औरों को भी बता दो । “हाँ सत्संग में कोई दस हजार भिक्षुओं को भीड़ थी । किन्तु किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया । मात्र इतना ही दिखाई दिया कि युवक आया चरणों में झुका किन्तु क्या घटित हुआ ? क्या परिवर्तन हो गया ? यह किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया । युवक बोला “मैं बदलने आया था । बदल गया हूँ । मेरी आत्मा में जिस त्रान्ति के लिए चार थी उसके पूर्ण होने के लिए विश्वास मिल गया है । कोई भगंसा पीठा हो गया है । एक विश्वास के साथ मैं बदल गया हूँ । नवी ब्रह्म ने जन्म से लिया है । बुद्ध को देखकर मुझे विश्वास हो गया है जो बुद्ध में हो सकता है वह मुझ में भी हो सकता है । बुद्ध पैरा भविष्य है । जो मैं कर सकता हूँ वह बुद्ध आज है । इस भरोसे के साथ चरणों में झुका और वापस उठा, तो मैं दूसरा आदमी हो गया ।”

पहले छिद्रों को बन्द करें

बुद्ध को प्यार लगी तो गाँव में कुँए के समीप ठहर गये । बुद्ध ने देखा कि एक व्यक्ति कुँए में बाल्टी डालता है । बाल्टी भर जाती है और खींचता है । इतने में साथ पानी कुँए में ही बिखर जाता है । बाल्टी में अरका छेद थे । पानी बिखरना स्वाभाविक था । किन्तु वह गूढ़ व्याकृत बर-बर प्रयास करता व असफल रहता ।

बुद्ध बहुत देर तक खड़े-खड़े वह तमाशा देखते रहे । पास में उनका शिष्य आनन्द भी खड़ा था और देख रहा था । बुद्ध ने आनन्द से कहा— “देखो आनन्द ! इस व्यक्ति के पास तृष्णा की बाल्टी है । यह कभी भर नहीं सकती । साथ जीवन वह भरने का प्रयास करेगा । किन्तु बर्तन रीत ही रहेगा । वह स्वयं की प्यास नहीं मिटा सकता । इससे हमें पानी की आशा नहीं करनी चाहिए ।

जो जीवन भर अपव्यय के छिद्रों से गँवाता, चुकता रहता है, वह स्वयं तो क्या संचय करेगा, औरों को दे सकने की स्थिति में भी क्या आ पाएगा ?

हृदय परिवर्तन

मगध के एक धनी व्यापारी ने बहुत धन कमाया । उसे अपनी सम्पन्नता पर इतना गर्व हुआ कि वह अपने घर के लोगों पर ऐंठा करता । फल यह हुआ कि उसके लड़के भी उद्विग्न और अहकारी हो गये । पिता पुरों में ही ठहरे लगी । घर नरक बन गया ।

अद्विजन व्यापारी ने महत्वा बुद्ध की शरण ली और कहा— “भगवान् ! मुझे इस नरक से मुक्ति दिलाइये मैं भिक्षु होना चाहता हूँ ।”

तथागत ने कुछ सोचकर उत्तर दिया— “भिक्षु बनने का अभी समय नहीं है तब ! तुम जैसा चाहते हो वैसा आचरण करके तो घर में ही स्वर्ग के दर्शन कर सकोगे ।”

व्यापारी घर लौट आया और विनयना बरतने लगा । उससे सारे घर का हृदय परिवर्तन हो गया और सुख-शान्ति के दर्शन होने लगे

नैतिक आचरण

कमल सरोवर के निकट बैठे तथागत शान्त मुद्रा में— विधोर से गन्धपान कर रहे थे ।

तभी एक देव कन्या ने कहा “तुम बिना कुछ दिये ही गन्ध का पान कर रहे हो । तुम गन्ध चोर हो ।”

तथागत ने देखा और सिर झुका लिया । तभी एक ग्राम्य बालिका आई और निर्दयतापूर्वक कमल पुष्प तोड़ने लगी । तालाब का पानी भी अस्वच्छ कर दिया । देव कन्या अभी भी खड़ी थी ।

उसे मौन देखकर तथागत ने कहा ‘देवि— मैंने तो केवल गन्धपान ही किया था । तब भी तुमने मुझे चोर कहा और यह तो कमल पुष्प तोड़ रही है— सरोवर को अस्वच्छ भी कर रही है तब भी तुम इसे कुछ नहीं कह रहीं ?’

देव कन्या मुस्कराई । सहज स्मृति में से स्नेह भरा स्वर फूटा “यह अवोध है— अज्ञानी है । क्या उचित है, क्या अनुचित ? यह वह नहीं जानती । उसके कार्य-कलाप सहज संचालित हैं । पर आप ज्ञानी हैं । नीति मर्मज्ञ हैं । धर्म के ज्ञाता हैं । क्या ब्रह्म है और क्या प्रेम यह आप भली प्रकार जानते हैं । आपकी लघु से लघु क्रिया भी अद्वैतिय एवं अनौचित्य की कमीटी पर कसकर ही क्रियान्वित होनी चाहिये ।” पुनः तथागत का शीश अबनत हो गया । इस बार शीश ही नहीं— हृदय भी लज्जित हो आया था । उन्होंने अनुभव किया शिक्षित और विचारशील लग अब तक नैतिक आचरण नहीं करते सामान्य प्रजा तब तक सुधरती नहीं ।

सधन्यवाद वापस

भगवान् बुद्ध परिव्राजन करते हुए एक ब्राह्मण के घर ठहरे । जब ब्राह्मण को मालूम हुआ कि वह बुद्ध हैं तो उसने जी भरकर गालियाँ दीं, अपशब्द कहे और तुरन्त निकल जाने को कहा ।

बुद्ध दो तक सुनते रहे। जब उन सज्जन ने बोलना बन्द किया तो उन्होंने पूछा— द्विजवर ! आपके यहाँ कोई अतिथि आते होंगे तो आप उनका सुन्दर भोजन और विष्टान्न से स्वागत करते होंगे ? इसमें क्या शक उन्होंने उत्तर दिया और यदि किसी कारणवश मेहमान उसे स्वीकार न करें तो आप उन पकवानों को फेंक देते होंगे ?

फेंक क्यों देते हैं, हम स्वयं ग्रहण कर लेते हैं— उन्होंने विश्वासपूर्वक उत्तर दिया,

‘ तो हम आपकी यह गालियों की घंट स्वीकार नहीं करते, अपनी वस्तु आप ग्रहण करिये’ यह कहकर बुद्ध मुस्कराते हुये वहाँ से चले पड़े

सहनशीलता से बढ़कर और कुछ नहीं

एक बार भगवान् बुद्ध ने भैसे की खेति में जन्म लिया। जंगली भैंसा होने पर भी भगवान् बड़े शान्त थे। उनके स्निग्धपन के कारण इन्हें एक बन्दर बड़ा तंग करता। कभी फेंक पर कूदता, कभी पूँछ खींचता, तो कभी सींग पकड़कर घुमाता। फिर भी भैंसा शान्त ही रहता। एक दिन देवताओं ने भैसे से कहा— ‘यह बन्दर तुम्हें तंग करता है। इसे दण्ड देना चाहिए।’

देवताओं की बात सुनकर भैसे ने कहा— ‘मैं बन्दर की दुष्टता समझता हूँ और एक झटके से उसका अंत कर देने में भी समर्थ हूँ। लोग अपने से शक्तिशाली का अपराध तो बाध्य होकर सहते हैं, पर सहनशीलता तो अपने से निर्बल का अपराध सहन करने में है।’

विनम्रता का पाठ

तथागत बोधिवृक्ष को साष्टांग दण्डवत् कर रहे थे।

शिष्यों ने आश्चर्य से पूछा — आप तो पूर्ण हैं। फिर इस तुच्छ वृक्ष को इतना सम्मान क्यों दे रहे हैं ?

बुद्ध ने कहा— आप सबको यह बोध कराने के लिये जो नम्रता है सो बढ़ा होता है। ऐसा न हो कि आप लोग अहंकारी बनकर नमन की परम्परा भुला दें

तथागत की महानता

बुद्ध मृत्यु शैथिल्य पर पड़े थे। जिज्ञासु सुभद्र अपनी कुछ शंकाओं का समाधान करने दूर से चलकर वहाँ आया।

आनन्द ने उसे रोक और कहा— ऐसे समय उन्हें कष्ट देना उचित न होगा

बुद्ध भीतर सुन रहे थे। उन्होंने आँखें खोलीं। आनन्द को इशारे से बुलाकर कहा— सुभद्र को ले आओ। मेरे जीवित रहते किसी जिज्ञासु को गिराश जाने देना ठीक नहीं।

सुभद्र ने तथागत की महानता देखी और बिना कुछ उपदेश सुने ही परिव्राजकों की शिष्ट मण्डली में सम्मिलित हो गया।

संत का एक ही धर्म

भगवान् बुद्ध का अवसान करत निकट आया। उन्होंने गृहस्थ शिष्यों को बुलाकर कहा— ‘अपने ऊपर निर्भर रहो। दूसरों की

सहायता मत तको। भीतर का प्रकाश जगाओ और हिम्मत पराक्रम के सहारे सुखपूर्वक जियो। धर्म को अपनाने वाला दुःख नहीं भोगता।’

अन विरक्तों की बड़ी आई। अन्तिम संदेश देते हुए कहा— ‘तुम लोग दो से अधिक एक साथ मत रहना। तीन दिन से अधिक कहीं ठहरना मत।’ संनत का एक ही धर्म है— जन-जागरण के लिए पर्यटन। यही है सद्गतिदायिनी तीर्थयात्रा। सामर्थ्य रहते इसे छोड़ना मत।’

धर्म-पर्यादा

भगवान् बुद्ध का जब मरण करत निकट आया तब उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कुछ उपदेश दिये। उन्होंने कहा—

‘‘धर्म मनुष्य को मर्यादों में रखता है और शालीन बनाता है। बिना तट की सरिता उच्छिखल होकर अपना और सबका विनाश करती है। धर्म के सीमा बन्धन तोड़ना मत।’

‘‘परस्पर एक होकर रहना। कारण कुछ भी हो— पृथक्तावाद मत अपनाना। जो तुम में फूट डाले उनसे सतर्क रहना और उन्हें कभी क्षमा मत करना।’

‘‘जहाँ रहते हो उसे पक्क-विश्राम मानना। तुम्हारा घर तो वहाँ है, जहाँ जीवन लक्ष्य पूर्ण होता है। रास्ते के साधियों से मिलना जरूर, पड़कों पर ठहरना भी, पर उनके साथ इतने मत उलझ जाना कि मंजिल ही भूल जायें।’

‘‘धिक्षुओं, बोलना कम, करना ज्यादा। जितना ज्यादा बोझोगे उतना ही तुम्हारा सम्मान गिरेगा। उबले लोग ही बहुत बकवास करते हैं। तुम जो बोलो— ठोस, पर्याप्त, थोड़ा, अनुभूत और विश्वास पूर्वक बोलना। उस बोध से भी बड़ा प्रयोजन सधेगा।’

बुद्ध का अन्तिम उपदेश

बुद्ध का अन्तिम दिन था। आनन्द छाती पीटकर रोने लगा और बोला ‘‘प्रभु आप तो जा रहे हैं मेरा क्या होगा?’’ बुद्ध ने कहा— ‘‘आनन्द ! पागल मत बने ! मुझसे पहले कितने ही बुद्ध हो गये और मेरे बाद अनेकें होंगे। यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा। यदि तू सीखने में कुशल है, तो किसी से भी सीख लेना। तू चालीस वर्ष तक मेरे साथ रहा तू कहता है कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ। ‘‘मैं जा रहा हूँ, उस दिन कह रहा है कि अब क्या होगा ? यदि चालीस साल में तुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो चालीस जन्मों में भी तेरी क्या समझ में आवेगा ? हो सकता है मेरे होने के कारण तेरी सीखने की क्षमता क्षीप हो गई हो। तू समझता था कि गुरु मिल गये, सब कुछ मिल गया। मिलना ही पर्याप्त नहीं, तुझे भी बदलने की जरूरत थी, बनने की जरूरत थी। सपना है मेरे न रहने पर तू बुद्धत्व का प्राप्त हो’’ और इतना कहकर बुद्ध ने अन्तिम साँस ली। ऐसा हुआ। कहते हैं कि आनन्द को बुद्ध के जाने के बाद ही परम ज्ञान उपलब्ध हो सका।

महानता के चिह्न

महात्मा सारीपुत्र गौतम बुद्ध के सर्वप्रधान शिष्य माने जाते थे। इनको 'धम्म सेनापति' की पदवी दी गई थी। 'सारी' इनकी माता का नाम था और इस कारण ये 'सारीपुत्र' के नाम से विख्यात हो गये।

× × × ×
एक दिन सारीपुत्र भिक्षु लंने जा रहे थे। पीछे से एक ब्राह्मण ने उनकी पीठ पर जोर से घुसबा मारा। महात्मा ने पीछे फिर कर भी न देखा कि कौन है और क्यों मार रहा है। वे उसी प्रखर शान्तिपूर्वक आगे बढ़ते चले गये। अब तो ब्राह्मण बहुत पछताया और पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा—

ब्राह्मण—महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये !

सारीपुत्र—भाई, तुमने क्या किया जो मैं क्षमा करूँ ?

ब्राह्मण—महाराज मैंने अपनी मूर्खता से आपकी परीक्षा करनी चाही और इसलिये पीछे से एक घुंसा मार दिया।

सारीपुत्र—प्यारे भाई, इससे मेरा क्या बिगड़ा ? तुमको संतोष हुआ और तुम्हारे मन में भी धर्म का भाव उदय हुआ ? यह तो अच्छी बात हुई।

ब्राह्मण—महाराज, यह कहना आगला बड़प्पन है। आप मुझे क्षमा कर दीजिये।

सारीपुत्र—परन्तु मैंने तो कभी तुम पर क्रोध किया ही नहीं। फिर क्षमा क्या करूँ ?

ब्राह्मण—महाराज, मेरे मन में तो संतोष तभी होगा जब आप क्षमा कर देंगे।

सारीपुत्र—अच्छा, यदि तुम्हारा इसी प्रकार संतोष हो सकता है, तो मैं कहे देता हूँ कि मैंने तुमको क्षमा कर दिया।

ब्राह्मण—मैं क्षमा करना तब समझूँगा जब आप मेरे ही घर से भिक्षा लें।

सारीपुत्र—अच्छा चलो, तुम्हारे ही वहाँ सही।

× × × ×
एक बार एक भिक्षु ने महात्मा बुद्ध के पास आकर सारीपुत्र की शिकायत की—

“महाराज, आपने महात्मा सारीपुत्र को ‘‘धम्म सेनापति’’ बना दिया है, इससे उनको ऐसा गर्व हो गया है कि वे भिक्षुओं पर अत्याचार करते हैं। चाहे जिसे मार बैठते हैं। मुझे भी उन्होंने बिना कारण ही मारा है।’’

भगवान् बुद्ध—महात्मा सारीपुत्र किसी को कारण होने पर भी मारें, यह समझ में नहीं आता। बिना कारण मारने की तो बात ही क्या ? परन्तु तुम कहते हो तो हम उनको बुलाकर पूछते हैं ?

महात्मा सारीपुत्र के आने पर भगवान् बुद्ध ने पूछा—

“यह भिक्षु कहता है कि इसको तुमने बिना कारण मारा है। क्या यह सत्य है ?”

सारीपुत्र—भगवान्, ये भिक्षु बड़े विद्वान् और साधन करने वाले हैं। इनको मारने की भला कौन धृष्टता कर सकता है ? इस पर भी

मैं तो इनका सेवक हूँ। घर-घर से भिक्षु माँग कर खाने वाला सारीपुत्र क्या ऐसा कर सकता है ? परन्तु अनजान में भी इन भिक्षु को मुझसे कोई कष्ट पहुँचा हो तो मैं उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। हे श्रेष्ठ भिक्षु मुझे क्षमा करो।

भिक्षु—(महात्मा सारीपुत्र के पैरों पर गिरकर) महात्मा तुम ही मुझे क्षमा करें। सत्य ही आप निर्दोष हैं। यह मेरी दुष्टता थी जो ईर्ष्या के वश होकर ऐसा झूठा दोष आप पर लगाया। महात्मा आप बड़े हैं, मुझे क्षमा करें।

भगवान् बुद्ध—सारीपुत्र, इसने कार्य तो दण्ड के योग्य किया था। परन्तु अब इसे क्षमा कर दो ?

महात्मा सारीपुत्र—महाराज, मुझे तो इन पर क्रोध है ही नहीं मैं इन्हें हृदय से क्षमा करता हूँ भगवान्, सम्भव है कि अनजान में मुझसे इनको या अन्य किसी भिक्षु को कष्ट पहुँचा हो। उसके लिये मैं इनसे व अन्य सब भिक्षुओं से क्षमा माँगता हूँ। यदि मैं कभी कोई अनुचित कार्य करूँ तो भिक्षु लोग मुझे तत्काल बता देने की कृपा करें। इससे मेरा बड़ा उपकार होगा।

× × × ×
एक बार महात्मा सारीपुत्र ने पूर्ण नाम के भिक्षु की बड़ी प्रशंसा सुनी। पूर्ण जंगल में रहते थे। सारीपुत्र वहाँ उनके पास गये और कुछ उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा पूर्ण का उपदेश सुन कर सारीपुत्र गद्गद हो गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये।

सारीपुत्र—महात्माजी, धन्य है आपको। मेरे बड़े भाग्य है कि आपके दर्शन हुये और आपके अमृत के समान उपदेश सुने।

महात्मा पूर्ण—आप जो प्रशंसा करते हैं वह सब आपकी कृपा है। परन्तु आपने अपना परिणय अभी तक नहीं दिया।

सारीपुत्र—महात्मा, मैं धम्म का एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझे लोग सारीपुत्र कहते हैं।

महात्मा पूर्ण—सारीपुत्र ! आप महात्मा सारीपुत्र हैं जो गुरु के मुख्य शिष्य हैं। धम्म सेनापति हैं। जो गुरु के समान ही महान् हैं। धन्य है उन भिक्षुओं को जो सदैव आपके साथ रहते हैं। और धन्य है मुझसे, जो आज आपके सत्संग का अधिकारी बन सका।

× × × ×
महात्मा सारीपुत्र केवल वही वस्तु लेते थे, जिसे कोई अपनी प्रसन्नता से उन्हें देता था। अपने खाने के लिये कोई चीज किसी से माँग कर नहीं लेते थे। एक बार वे बीमार पड़े। उस समय महात्मा मौगल्लान्गयन उनके पास बैठे थे। उन्होंने पूछा—

“सारीपुत्र ! क्या तुम घर पर भी कभी इस रोग से पीड़ित हुये थे ?”

सारीपुत्र—“अनेक बार।”

मौगल्लान्गयन—“उस समय तुम्हारी माता तुम्हें क्या औषधि देती थी ?”

सारीपुत्र—“शहद और दूध।”

किसी भिक्षु ने यह बात सुन ली, उसने घट शहद और दूध लाकर रख दिया।

सारीपुत्र—“भाई, तुम इनको क्यों लाये ?”

भिक्षु — “महाराज, अभी आपने कहा था कि आपके रोग की यही औषधि है।”

सारीपुत्र — तुमने बड़ी कृपा की। परन्तु मैं तो इसे ले नहीं सकता। मेरा नियम है कि अपनी कही हुई वस्तु को नहीं लेता।

मौद्गल्यायन — सारीपुत्र, वह नियम तो साधारण अवस्था के लिये है। रोग के लिये नहीं है। इस समय इन वस्तुओं को औषधि के रूप में लेने में कोई हर्ज नहीं है।

सारीपुत्र — नहीं, मेरी आँत निकल हो क्यों न पड़े, परन्तु मैं अपने नियम को तोड़ नहीं सकता साधारण समय में नियम पालन करने में क्या कठिनाई है? नियम पालन की दृढ़ता की जाँच तो कष्ट के समय में ही हो सकती है।

× × × ×
एक बार महान्या सारीपुत्र भिक्षु के लिये जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक मछुए के लड़के को देखा जो रास्ते में पड़े हुये चावलों को बीनकर खा रहा था। सारीपुत्र ने उससे पूछा — क्यों बच्चे! तुम ये रास्ते में पड़े गन्दे चावल क्यों खाते हो?

लड़का महाराज मेरे पिता बड़े निर्धन हैं। वे मेरे खाने का प्रबन्ध नहीं कर सकते, इससे मैं चावलों को बीन कर खा रहा हूँ।

सारीपुत्र — तुम हमारे साथ चलो। तुमको खाना भी मिलेगा और धर्म का उपदेश भी।

लड़का — महाराज, फिर तो मेरा जन्म सफल हो जायेगा।

महात्मा सारीपुत्र उस लड़के को साथ में लिवा लाए। उसे अपने हाथों से स्नान कराया और बुद्धधर्म का उपदेश दिया। जहाँ बड़े-बड़े राजपुत्र इनसे धर्म का उपदेश लेते थे वहाँ इनसे उपदेश लेकर वह मछुए का लड़का भी कुछ समय में अरहत पदवी पर पहुँच गया।

भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक नीरोग शिष्य—वक्कुल

कुछ समालोचकों ने बौद्ध धर्म को सदाचार की स्मृति कहा है। उनका यह कहना इस अर्थ में ठीक है कि बौद्ध धर्म प्रधानतया आत्म-शुद्धि का एक मार्ग है और उसके साधनों की खोज वह जीवन की जाग्रत अवस्थाओं से लेकर अन्तः संज्ञा के सूक्ष्म क्षेत्रों तक बड़े साहस के साथ करता है। क्रमनाम के लोक से प्रारम्भ कर वह चित्त को उस लोकोत्तर भूमि में ले डालता है जहाँ राग, द्वेष, मोह से उसका छुटकारा हो जाता है और उस अत्यन्त परिशुद्ध, सर्वमलरहित, विशुद्ध का अनुभव करता है, जिसकी संज्ञा निर्वाण है। इस विशुद्ध का मार्ग ही बौद्ध धर्म है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन का यह अर्थ लिया जाव (जिस अर्थ में ईसाई लेखकों ने इसे प्रयुक्त किया है) कि बौद्ध धर्म नैतिक नियमों का एक संग्रह और विश्लेषण मात्र है और उसमें उस सगान्मक तत्त्व का अभाव है जो कर्म प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तो यह गलत है। बौद्ध धर्म कोरे उपदेशों का संग्रह नहीं है। उसमें ठोस जीवन है। शास्त्र का शासन न केवल धर्म (सत्य) है

और न केवल विनय। वह धर्म और विनय दोनों (धर्मविनय) है भगवान् बुद्ध का अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील-समन्वित रूप जिसकी तुलना में अन्त की निष्पाप कर्त्ति और पवित्रता भी फीकी है, मनुष्य-हृदय को वह प्रेरणा देता है जिससे मनुष्यत्व की उच्चतम भूमि का आखाने से साक्षात्कार किया जा सकता है। यह साधना कहाँ तक जा सकती है, इसका एक विन्न स्थविर वक्कुल के जीवन में देखिए।

वक्कुल स्थविर भगवान् बुद्ध के उन इने-गिने शिष्यों में से थे जिनकी साधना बहुत बड़ी-बड़ी थी। उनका कठिन तप और ठप साधना महत्कश्यप के समान ही थी, किन्तु सारीपुत्र के समान धर्म प्रवचन करने में उनकी रुचि नहीं थी। यही कारण है कि उनके अधिक उपदेश हमें त्रिपिटक में उपलब्ध नहीं होते। वक्कुल एक ऐसे साधक के रूप में चित्रित किये गए हैं जिसका अवधूत व्रतों का पालन बड़ा परिपूर्ण है किन्तु जो दूसरों के लिए उनका उपदेश या अनुशासन नहीं करता। इसलिए उनके विषय में कहा गया है— “तच्चिद् आयुस्मा वक्कुलस्ते पुत्रो न पुत्रबाहोति” अर्थात् यह आयुष्मान् वक्कुल स्वयं अवधूत तो है, किन्तु अवधूत-व्रतों के उपदेशक नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि इस विचित्र साधक में लोक-संग्रह का भाव कम था। इन्हें हमारे पौराणिक साहित्य के बड़े भारत के साथ भली प्रकार खा जा सकता है। सारीपुत्र के जीवन की सी बह परिपूर्णता यहाँ दिखाई नहीं देती जिसमें स्वयं आचरण के साथ दूसरों के लिए उसका उपदेश अर्थात् समाज में व्यापक प्रचार भी उतना ही आवश्यक था। फिर भी स्थविर वक्कुल के जीवन का हमारे लिए आकर्षण है।

एक दिन वक्कुल स्थविर राजगृह के समीप निवास कर रहे हैं। वहाँ उनसे अपने एक पुराने मित्र अचेल (जग्न) काश्यप की भेंट हो जाती है। दोनों में एक-दूसरे की साधना पर संलाप होने लगता है वक्कुल से उनके अनुभवों पर बातचीत करते हुए अचेल काश्यप उनसे पूछता है—

“मित्र वक्कुल ! आज संन्यासी हुए आपको कितना समय हुआ ?”

“मित्र ! मुझे अस्सी वर्ष हो गये !”

“इन अस्सी वर्षों में मित्र ! आपने कितनी बार मैथुन सेवन किया ?”

मित्र काश्यप ! मुझसे इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। मुझसे इस तरह पूछना कठिन— इस अस्सी वर्ष के समय में तुम्हें कितनी बार विषय-वासना सम्बन्धी उत्पन्न उत्पन्न हुआ। मित्र ! इन अस्सी वर्षों में मैं एक बार भी अपने अन्दर काय सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।”

अचेल काश्यप रोमांचित हो उठा। वक्कुल स्थविर ने आगे अपने अनुभवों को बतलाते हुए कहा— “अस्सी वर्ष के समय में, मैं एक बार भी”

“द्वेष सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना अपने चित्त में नहीं जानता।”

“हिंसा सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।”
 “द्रोह सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।”
 “गृहस्थों का दिया वस्त्र पहनना नहीं जानता ।”
 “कैची आदि से कतरे वस्त्रों को पहनना नहीं जानता ।”
 “सुई से सिये वस्त्र को पहनना नहीं जानता ।”
 “सब्रह्मचारियों के वस्त्र बनाना नहीं जानता ।”
 “निधनत्रय खाना नहीं जानता ।”
 “गृहस्थ के घर में बैठना कैसा होता है, नहीं जानता ।”
 “गृहस्थ के घर में बैठकर भोजन करना नहीं जानता ।”
 “स्त्रियों के आकर-प्रकार को रूपरस में लाना नहीं जानता ।”
 “स्त्रियों को चार पद की गङ्गा तक उपदेश करना नहीं जानता ।”
 “भिक्षुणियों को भी कभी धर्म उपदेश किया हो, यह भी नहीं जानता ।”
 “किसी को भी कभी प्रव्रज्या दी हो, नहीं जानता ।”
 “स्नानगृह में नहाना कैसा होता है, नहीं जानता ।”
 “लेप से नहाना नहीं जानता ।”
 “सब्रह्मचारियों (गुरुपाइयों) से देह मलवाना नहीं जानता ।”
 “क्षण भर के लिए भी किसी से देह मलवाई हो, नहीं जानता ।”
 “क्षण भर के लिए भी कोई बीमारी उत्पन्न हुई हो, नहीं जानता ।”
 “हृद के दुकड़े के बराबर भी कभी औषधि खाना नहीं जानता ।”
 “छाद बिछाकर सोना नहीं जानता ।”
 “शय्या पर लेटना नहीं जानता ।”
 “बर्षा में भी गाँव के भीतर रहना नहीं जानता ।”

इस प्रकार की लोकोत्तर सामान्य स्थिति वक्कुल की थी। बुद्ध-उपदेश सुनने के सातवें दिन ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। जैसा कि उन्होंने कहा भी है— “सप्ताह भर ही मैंने चित्त-मन-युक्त हो गए का अन्न खाया। आठवें दिन बुद्ध अर्हत्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ।” आश्चर्य नहीं कि अपने स्वस्थ, खिलते हुए चेहरे वाले भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए, भगवान् ने एक दिन उद्घोषित किया, “भिक्षुओ ! मेरे स्वस्थ, नीरोग शिष्य भिक्षुओं में यही सबसे आगे है, यही वक्कुल ।” १६० वर्ष की आयु में स्थिति वक्कुल ने शरीर छोड़ा।

महान् धर्म प्रचारक—कुमार जीव

बिहार प्रान्त में उत्पन्न हुए कुमार जीव असाधारण प्रतिभावान् थे। वह पहले गालन्द विश्वविद्यालय गये। पीछे तक्षशिला चले गये। वहाँ पढ़ते पढ़ाते रहे।

उन्होंने निश्चय किया कि ईश्वर प्रदत्त इस विशेष प्रतिभा का प्रयोग धर्म प्रचार में करना चाहिए और संन्यास ले लिया। चीनी भाषा पढ़ी और चीन देश में धर्म प्रचार के लिए चले गये। वहाँ उन्होंने समूचे क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। जीवन भर वहीं रहे।

कुमार जीव अपने समय के असाधारण मेधावी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और उसका प्रचार देश-देशान्तरों में करने का व्रत लेकर इसी प्रयास में जुट गये।

तक्षशिला में रहकर उन्होंने मध्य एशिया की सभी प्रमुख भाषाओं का गहन अध्ययन किया। इसके उपरान्त उन्होंने चीनी भाषाई क्षेत्रों में अपना कार्यक्षेत्र बनाया और उसी में प्रमत्त करते हुए प्रभावशाली लोगों का सहयोग अर्जित करते हुए लाख पूर्ति में जुटे रहे। उन्होंने चीनी एवं उसकी सहायक भाषाओं में अनेकों बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया और उस क्षेत्र के समस्त प्रमुख पुस्तकालयों में उन्हें पहुँचाया। लम्बे जीवन में वे एकनिष्ठ भाव से निर्धारित लक्ष्य में जुटे रहे और इसके लिए उन्होंने अनेकानेक लोखिम सहे तथा दुस्साहस जैसे कदम उठाये।

यदि संक्षेप में यह कहा जाय कि देश से विदेश जाकर जिन विद्वानों ने भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार ही नहीं किया बल्कि स्थापना की, उनमें कुमार जीव का नाम सबसे आगे है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

भारत के सम्बन्ध चीन से बहुत प्राचीनकाल से चले आ रहे थे। यों तो लंका, बर्मा, जापान, सिंगपुर, हिन्देशिया, मलाया आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया किन्तु चीन एक ऐसा देश रहा है जिसमें केवल अनुयायी के रूप में ही बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया गया बल्कि उन दिनों वह एक प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रामाणिक केन्द्र बन गया था।

इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म के जागरणपूर्ण आन्दोलन का प्रमुख श्रेय भारतीय विद्वानों को ही है और उनमें भी कुमार जीव का स्थान सर्वोपरि है।

कुमार जीव का जन्म ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था। इनके पिता का नाम कुमारयण और माता का नाम देवी था। कुमारयण एक रियासत के दीवान पद पर कार्य करते थे। दीवान पद पर कार्य करते हुए उन्होंने शीघ्र ही धन के साथ-साथ भी प्राप्त कर लिया। सब कुछ होने पर भी कुमारयण को अपने जीवन-क्रम से सन्तोष न था। दीवान के पद पर वे अपनी योग्यता एवं विद्वता का समुचित उपयोग न कर पाते थे। वे अपने वैयक्तिक सुख की अपेक्षा दूसरों को सुखी बनाने में अधिक प्रसन्न एवं सन्तोष अनुभव करते थे। पर दीवान के एक प्रतिबन्धित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए वे जन-सेवा का कोई काम न कर पाते थे। उन्हें अपने स्वामी राजा की इच्छानुसार बनता से व्यवहार करना पड़ता था जो कि प्रायः शोषणमूलक ही होता था।

कुमार जीव के विद्वान् पिता कुमारयण की आत्मा अधिक समय तक यह स्वीकार न कर सकी वे इसी प्रकार दासता करते हुए दुर्लभ मानव जीवन को सम्पन्न कर दें। अतएव उन्होंने जन-साधारण में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए अन्तः प्रेरणा से दीवानी का पद छोड़ दिया।

नौकरी छोड़कर कुमारगण यात्रा साधनों के अभाव का कह सकते हुए भी अनेक पर्वत तथा वनों को पार करते हुए मध्य-एशिया में तक्षिमा नदी के तट पर बसे, कूची नगर चले गये।

फैलाने को तो ज्ञान का आलोक अपने देश के भी अनेक विस्मृत कोनों में भी फैलाया जा सकता था किन्तु कुमारगण ने विदेश में ही अपना ज्ञान फैलाना इसलिए ठीक समझा कि उस समय भारत में विद्वानों की कमी नहीं थी। अनेक लोग देश की सेवा करने में लगे हुये थे। कुमारगण ने विदेश में भारत के सन्देश ले आकर देश की अन्तराष्ट्रीय कीर्ति बढ़ाना अधिक श्रेयस्कर समझा।

कूची में कुमारगण एक बौद्ध विहार में रहकर प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति इतनी फैल गई कि कूची के राजा ने उन्हें अनुरोधपूर्वक अपना राजगुरु बना लिया। कुछ समय बाद कूची राजवंश की 'देवी' नामक एक कन्या से उनका विवाह हो गया, जिसके गर्भ से उनके विश्व-विख्यात पुत्र कुमार जीव का जन्म हुआ। कुमार जीव के जन्म के कुछ समय बाद ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और पति का प्रचार कार्य पूरा करने के लिए कुमार जीव की माता बौद्ध भिक्षुणी बन गई।

परमात्मा जिसे जीवन में कोई विशेष अभ्युदय अनुग्रह करना चाहता है उसकी बहुत-सी सुविधाओं को समाप्त कर दिया करता है। इस प्रकार जीवन में कठिनाइयों के आने से मनुष्य में कर्मठता का गुण जाग उठता है, वह आलस्य एवं प्रमाद से दूर रह कर परिश्रम करता और भगवद् धर्म से अधिक से अधिक ईमानदार तथा सत्य-परायण रहने का प्रयत्न करता है। असुविधाओं तथा कठिनाइयों में पड़ जाने से मनुष्य का सारा जीवन परिश्रम एवं पुरुषार्थ पर निर्भर हो जाता है क्योंकि यदि वह ऐसा न करे तो जीवित नहीं रह सकता। अधिकाधिक परिश्रम का स्वभाव बन जाने से उसमें कर्मवीरता का वह गुण आ जाता है, उन्नति और सफलताएँ जिसकी अनुगमिनी छाया में ही होती हैं।

इसके विपरीत जो अधिक सुविधा एवं सम्पन्नता की परिस्थिति में रहता है वह स्वभावतः सुकुमार तथा विलासी बन जाता है, प्रमाद और आलस्य उसके मानसिक भिन्न बन जाते हैं, जिससे निकम्मा होकर सामान्य कामों के योग्य भी नहीं रहता फिर ऊँचे और बड़े कामों की बात ही क्या?

इसके साथ ही जो व्यक्ति असुविधा एवं कठिनाई के स्वर्ण अवसर को भाग्य का अभिशाप मानकर रोते-झींकते हुए निराशा अथवा निरुत्साह के वशीभूत हो जाते हैं, उनका जीवन तो निकम्मे आलसियों से भी गया-गुजरा हो जाता है और वह न केवल अपने पर ही बल्कि समाज पर एक भयानक भार बन कर जीवन काटते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि वह कठिनाइयों को भगवान् की कृपा और अभ्युदय का सन्देश समझ कर अपनाये और उनसे प्रेरणा लेकर जीवन को उन्नत एवं उदार बनाये।

बौद्ध भिक्षुणी हो जाने पर भी कुमारजीव की बुद्धिमती माता यह न भूलती कि उनके सम्मुख कुमार जीव है, जिसे उनको हर प्रकार से

योग्य बनाकर समाज एवं संसार की सेवा के लिए समर्पित कर देना है। निदान पुत्र की शिक्षा के लिए कुमार जीव की माता उन्हें काश्मीर ले गई। काश्मीर उस समय विश्व का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था।

काश्मीर पहुँच कर 'देवी' ने अपने पुत्र कुमार जीव को बन्धुदत्त नामक एक बहुत बड़े काश्मीरी विद्वान् की सरसता में विद्याभ्ययन के लिए छोड़ दिया। बन्धुदत्त जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही शिष्य बनने में कृपण थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत ही कम शिष्य बनाये और जिनको बनाया उनको फिर पराकृष्टता का पण्डित ही बना दिया। इसलिये वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्तियों की कड़ी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमें बोये हुए विद्या के बीज अंकुरित भी होंगे अथवा नहीं। निरर्थक एवं लठ शिष्यों के साथ सिर मारने के लिये फिजूल समय उनके पास न था।

नियत अपने नियमानुसार उन्होंने बालक कुमार जीव को भी नहीं छोड़ा और उसके चरित्र, गुण, कर्म, स्वभाव में जमे बीजांकुरों की कड़ाई से जाँचा। जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तो उसकी शिक्षा दीक्षा में पूरी तत्परता दिखाने में कोई कसर न रखी।

कठोर गुरु जब सुयोग्यताओं से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पदात्मक भाषा, अस्तव में ज्ञानालोक के रूप में स्वयं उसकी आत्मा में बैठ जाता है। पितृहीन अस्तक कुमार जीव के भाग्य खुल गये कुछ ही समय में बन्धुदत्त ने उसको संस्कृत भाषा तथा बौद्ध दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित बना दिया।

काश्मीर से वापस आकर कुमार जीव काश्मीर पहुँचे और बुद्धियल नामक एक विद्वान् के साथ मिलकर बौद्ध दर्शन को पुनः दोहराया और ज्ञान को पूर्णरूपेण असीद्धि बनाकर अपने जन्म स्थान कूची चले आये। यद्यपि काश्मीर में ही कुमार जीव के पांडित्य की ख्याति इतनी फैल गई थी कि तुर्किस्तान से आ-आकर बहुत से लोग उनके शिष्य बनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने लगे थे। किन्तु वहाँ से चले आने में उनके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि काश्मीर में गुरु के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा नहीं करना चाहने थे और दूसरे वे अनेक स्थानों पर प्रवचन करते हुए कूची जा कर अपने पिता का ध्येय पूरा करना चाहते थे।

किन्तु कूची में वे अपना उद्देश्य प्रारम्भ भी न कर पाये थे कि कूची नरेश और चीन सम्राट में लड़ाई हो गई जिसमें कूची का पतन हो गया। फलस्वरूप कूची का राज्य चीन साम्राज्य में मिला लिया गया। चीनो जिन बहुत-से लोगों को बन्दी बनाकर ले गये उनमें कुमार जीव भी थे। किन्तु उनके प्रकाण्ड पांडित्य तथा चीन में फैली हुई उनकी कीर्ति ने उन्हें प्राण दण्ड से बचा लिया। किन्तु फिर भी उन्हें लिहांग-चो प्रदेश में गवर्नर की देखरेख में अठारह वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया।

कुछ समय बाद जब उनकी लोकप्रियता के दबाव से उन से प्रतिकन्ध उत्पन्न लिखा गया तब उन्होंने अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। कुमार जीव की नई व्याख्याओं और नए दृष्टिकोण से बौद्धधर्म

में एक नवीनता आ गई। अभी तक बौद्धधर्म के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह न तो सरल था, न सुन्दर और समीचीन। निदान कुमार जीव ने अपने हाथ में बौद्ध ग्रन्थों का ठीक-ठीक अनुवाद करने का काम अपने हाथ में लिया। इसे पूरा करने के लिये उन्होंने चीनी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

उन्होंने महायान की उपशाखा 'सर्वोन्निवाद' के लगभग सौ ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवादित किये, जिनमें से 'विनय-पिटक', 'योगाचार भूमिशास्त्र', 'ब्रह्म जाल सूत्र', 'महाप्रज्ञा-परिणिप्ता सूत्र', 'देशभूमि', 'विभाषाशास्त्र', 'सूत्रालंकारशास्त्र' विशेष महत्त्व के हैं। इसमें से 'महाप्रज्ञा-परिणिप्ता सूत्र' का अनुवाद तो उन्होंने तीन वर्ष के अविश्रुत परिश्रम के साथ किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने चीन में प्रचलित धर्म 'ताओ' की बुद्ध दर्शन के आत्मेक में व्यवस्था की।

इतना अनुवाद कार्य करने के साथ ही उन्होंने पाठकों, प्रवचनों तथा विचार-विनिमय के द्वारा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का भुआँधार प्रचार किया। उनके भाषण इतने ज्ञानपूर्ण एवं प्रभावशाली होते थे कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें नाग-मस्तक हो जाया करते थे। कुमार जीव के अनेक शिष्य, सहयोगी तथा सहस्रक विद्वानों में से विप्रलाभ तथा पुण्यश्रुत के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने अनुकट कार्य में कुमारजीव को बहुत सहयोग दिया था।

कुमारजीव ने चीन में भारतीय बौद्ध धर्म की शास्त्र महायान के सिद्धान्तों का प्रचार करने में अपना पूरा जीवन लगा दिया। जीवन में एक दिन के लिये बैठ कर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के विषय में नहीं सोचा। क्यूँकी राजजय के समय गिरफ्तार होने पर उन्होंने न किसी प्रकार का भय माना और न शंका की। उन्हें अपनी उस विद्या पर अखण्ड विश्वास था जिसे कि उन्होंने जीवन के सारे सुख छोड़कर प्राप्त किया था। वे जानते थे कि उनकी विशाल विद्या, किसी भी दशा में मित्र की तरह उनकी सहायता करेगी और हुआ भी यही। बंदी की दशा में भी उनका ज्ञान-प्रकाश छिटक-छिटक बाहर फैलने लगा जिसने चीन के निवासियों को इस सीमा तक आकर्षित किया कि सरकार को उन पर लगे प्रतिबन्धों को छीला करना पड़ा।

यदि कुमारजीव के पूरे जीवन पर दृष्टिगत किया जावे तो पता चलेगा कि उनका सम्पूर्ण जीवन काम की दूसरी श्रेणी था। उनका कर्त्तव्य था तो अपना काम, उनका सुख था तो अपना कर्त्तव्य, उनका मनोरंजन था तो काम करते रहना और उनका धर्म था तो अपना कर्त्तव्य कर्म। वे यह भी न जानते थे कि बिना किसी काम के बेकार कैसे बैठ जाया है। यदि कुमार जीव जैसे कर्त्तव्यवानों के नाम के साथ क्रियाहीनता, आलस्य, प्रमाद, गपशप, हस-विलास, धूमा-फिरी और टट्टलेनबीसी आदि शब्द एक पंक्ति में रखे जायें तो यह शब्द इतने विजातीय विदित होंगे कि बिना हटाये मन को चैन नहीं मिल सकता। यह निर्जीव शब्द उनके गमों के साथ स्वयं झेंपते से देखेंगे। आज तक भी समय एवं जीवनी शक्ति को निर्धन के कर्णों में व्यय करने वाला कोई भी व्यक्ति सस्रष्ट में कोई ध्यातकर्त्तव्य काम नहीं कर सका।

जिन्होंने कर्त्तव्य का आनन्द परख लिया है, परिश्रम का स्वाद चख लिया उन्हें काम के सिवाय न तो किसी में आनन्द आ सकता है और न आराम मिल सकता है।

बौद्ध धर्म के मध्यम से विदेश में भारतीयता का गौरव बढ़ाने वाले कुमारजीव का जीवन बहुत ही सादृ तथा सरल था। उनके उपदेशों में एक वाक्य भावनात्मक रूप से अवश्य रमा रहता था कि 'मेरे काम को अपनाओ लेकिन मेरे जीवन को यथावत आदर्श बनाकर अनुकरण मत करो, कमल कीचड़ में पैदा होता है। कमल को प्यार करो कीचड़ को नहीं।'

निस्पृह कुमारजीव ने संसार को बहुत कुछ दिया किन्तु उन्होंने अपने बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा। उनका बहुत कुछ परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। क्योंकि अपने विषय में बहुत कुछ कहने को वे अहंकार का एक स्वरूप मानते थे। उनका कहना था कि अच्छे कर्णों द्वारा संसार की सेवा करना तो मनुष्य का सामान्य कर्त्तव्य है फिर उसके लिए परिचय अथवा प्रशस्ति की क्या आवश्यकता? संसार को लाभ तो हमारे विचारों से होगा न कि हमारे व्यक्तिगत परिचय से। अपने नाम का लोभ लेकर जो काम किया करते हैं वे मानव में स्वर्ण होते हैं। परमार्थी नहीं।

धर्म राज्य के प्रसारकर्त्ता— सम्राट अशोक

सम्राट अशोक को कलिंग का भयानक युद्ध लड़ना पड़ा। विजय उन्हें की हुई पर उसमें जो नरसंहार हुआ, सहस्रों बालकों और विधवाओं को जो व्याधा-वेदनपूर्ण सहनी पड़ीं उनसे सम्राट की अन्तर्त्थापी पड़ी। उन्होंने सोचा जितना श्रम, जितना धन जितने साधन, जितना पुरुषार्थ, अहंकार और स्वार्थ की पूर्ति के लिये आरम्भ किए गए इन निकृष्ट कर्णों में व्यय किया जाता है, उतना यदि रक्षणात्मक कर्णों में लगया जा सके तो उससे मानवीय सुख-शान्ति, प्रगति और समृद्धि में कितना बड़ा योग मिल सकता है?

वाम्नाविक्रान्त भरे विचार अशोक की ब्रह्मा के रूप में परिणमि होते गये और अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि उन्हें जो शक्ति और स्थिति मिली है, उसे व्यर्थ कामों में नहीं, स्वार्थपूर्ण कार्यों में भी नहीं, केवल विश्व-मानव की सेवा में ही प्रयुक्त करेंगे। परमात्मा का दिया हुआ वैभव उन्हीं के चरणों में समर्पित कर देना, सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। इसी से वह अनुदान विरम्यायी हो सकता है।

राज्य प्राप्त होने के नौवें वर्ष में उन्होंने बौद्ध धर्म की महत्ता को समझा और उसी के प्रसार में अपने सभी साधन प्रयुक्त करने आरम्भ कर दिये। यों लोग अपने धन, वैभव का एक छोटा अंश दान देकर बल लूट लेते हैं और पुण्य कर्म लेने का सन्तोष भी कर लेते हैं वस्तुतः वह विडम्बना मात्र ही होती है। जिस कर्ण को मनुष्य श्रेष्ठ समझे उसके लिए सर्वतोभावेन लग, निर्वाह मात्र को अपने लिए व्यवस्था

करके शेष को अपने प्रिय लक्ष्य के लिए समर्पित करे तो ही किसी को आस्थावान कहा जा सकता है। ससार में जितने आस्थावान महापुरुष हुए हैं उन्होंने अपने प्रिय लक्ष्य के लिए सर्वस्व अर्पण करके ही सन्तोष प्राप्त किया है। सच्चे अद्वैतवादी की तरह अशोक के क्षयने भी यही मार्ग शेष था।

जिस धर्म के प्रति अशोक की आस्था थी, वह धले ही बौद्ध धर्म के रूप में अशोक के सामने आया हो पर था वस्तुतः मानव धर्म ही। उनके जिला-लेखों में धर्म की विवेचना इस प्रकार मिलती है—अपमिन्धे (सदाचार), बहुक्याने (बहुजन कल्याण), सचे (सत्य), सोचये (पवित्रता), मादये (मृदुता), अनानभो प्राणान (प्राणियों को पीड़ा न देना), अधिहिंसा भूतान (जीवभाव के साथ अहिंसा का व्यवहार), मातरि पितरि सुवृषा (माता पिता की सेवा), गुरुन अपमिन्धि (गुरुजनों का सम्मान), मित सस्तुन नतिक्कन ब्रह्मण समणानं दानं सम्पदिपति (मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण और साधुओं की सहायता), अपव्ययता (कम खर्च करना) तथा अपमाडता (संग्रह न करना) इन्हीं सिद्धान्तों को बौद्ध धर्म के अवतार के पीछे अशोक ने देखा और उनका अवलम्बन कर दिया।

ये सभी धर्मों के मूल में जोड़े हेर-फेर के साथ वही आदर्श सन्निहित हैं। पर मानव जाति का दुर्भाग्य ही यह कि बाह्य कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों को ही लोग धर्म समझते रहते हैं और उसमें भिन्नता देखकर परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं। यदि बाह्य आवरणों को दृष्ट-काल-पात्र की सुविधा व्यवस्था के रूप में देखा जाय और उन्हें गौण समझा जाय तो सभी धर्मों के मूल में एक ही तत्त्व सदाचार अवलम्बित मिलेगा। वस्तुतः सदाचार का दूसरा नाम ही धर्म है। अशोक इस धर्म के प्रति आस्थावान थे और उसी का उन्होंने प्रसार किया।

अशोक ने अपने राज्य में धर्म भावनाओं को बढ़ाने, सदाचारी जीवन बिताने की प्रजाजनों को प्रबल प्रेरणा की और अधार्मिक अवांछनीय तत्त्वों के उन्मूलन में तनिक भी शिथिलता न दिखाई। इतिहास मर्मज्ञ एच. जी. वेल्स ने लिखा है—“संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राट तथा इनके २८ वर्ष के राज्यकाल की मानव-जाति के कलशपूर्ण इतिहास का सर्वोत्तम समय कहा जा सकता है।” उन्होंने मनुष्यों के लिए ही नहीं पशु-पक्षियों के लिए भी न्याय का अधिकार देने की व्यवस्था की।

कालसी (देहरादून), चित्तालहुरा (मैसूर), वेरंगुटी (मद्रास), मान मेहरा (हजारा), सहवाजगढ़ी (पेक्वान), जूनागढ़ (सौराष्ट्र), धौली (पुरी), न्यौगडा (गंजाप) आदि स्थानों में जो शिलालेख मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि अशोक ने धर्म और सदाचार के प्रति मानव प्रवृत्तियों को मोड़ने के लिए भारत ही नहीं समस्त घर में विद्वान् धर्म प्रचारक भेजे, उनका व्यवहार बहन किया, धर्म ग्रन्थ लिखाये, पुस्तकालय स्थापित किये, विद्यालय खोले, सम्मेलन बुलाये और वे सब काम बड़ी ईर्ष्यापूर्वक किन्हीं जिनसे धर्म बुद्धि अपनाने की जन-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। राज्य-कोष का विपुल धन उन्होंने इन्हीं कार्यक्रमों में लगाया।

सिकन्दर सरीखे अनेकों राजा और वरुण जैसे धन-कुबेर अनेकों इस पृथ्वी पर हो चुके हैं पर लोगबश वे अपने प्राप्त साधनों को स्वार्थ की संकीर्ण परिधि में ही बाँधे रहे। फलस्वरूप न अपना हित कर सके न दूसरों का। अशोक ने परमार्थ बुद्धि का आश्रय लेकर अपने शासन के केवल २८ वर्षों में वह कार्य कर दिखाया जिससे अनन्त काल तक उनकी धर्मबुद्धि की सराहना जाता रहेगा।

अशोक को यात्राओं का शौक था। प्रथम आठ वर्षों में वे विनोद यात्राएँ, विलासिता, हास-परिलस, जिह्वा स्वाद, पद्म भोजन, नृत्य नाच आदि कौतुक, आखेट आदि के कार्यक्रमों के साथ चलती थीं। धर्म दीक्षित सम्राट ने अब इन बातों को धर्म प्रचार के निमित्त को जाने वाली तीर्थयात्राओं में बदल दिया। वे बोधिवृक्ष दर्शन के लिए गये। माची स्तूप के पूर्व द्वार पर रानी तिष्यरक्षिणी समेत अशोक की बोधियात्रा का उत्सव मकित है। उन्होंने अपने सभी प्रधान शासकों को आदेश दिया कि अपने क्षेत्रों में टीस करके एक धर्म प्रचारक की तरह उपदेश दिया करें तथा धर्म बुद्धि एवं अधर्म उन्मूलन के लिए आवश्यकतानुसार स्थानीय व्यवस्था किया करें। धर्म सेवकों की निर्वाह व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिये जाने को वे राज्य कर्तव्य मानते थे, अतएव उन दिनों उच्चकोटि के धर्म सेवी भारत में मौजूद थे और वे अपने प्रकाश को एशिया के विभिन्न देशों तक फैलाने में लगे हुए थे।

उस काल की उपलब्ध जानकारी से विदित होता है कि अशोक ने पंसाहार को निषिद्ध ठहराकर प्राणिमित्र की हिंसा बन्द कर दी थी। पशु एवं मनुष्यों के लिए धार्मिकसाधन खोलवाये। रास्तों के सहारे वृक्ष लगवाए, कुएं खुदवाए, जेलों की दशा सुधारी, न्याय सरलतापूर्वक मिल सके ऐसी व्यवस्था की। प्रजाजनों में परस्पर सद्भाव पैदा करने के लिए उन्होंने निरन्तर प्रयत्न किया।

अशोक के धर्म प्रसार से प्रभावित होकर भारत और लंका में ही नहीं फिज, सीरिया, मेसीडोनिया, ऐथियोपिया, किरिन, गान्धार, तिब्बत, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, इन्डोनेशिया, जापान, चीन, रूस, ईरान आदि देशों की जनता ने भी उत्साहपूर्वक बौद्ध धर्म स्वीकार किया। प्रत्येक देश में एक मुख्य प्रचारक, चार उपप्रचारक और उनके साथ तीस-तीस धर्म प्रचारकों के दल भेजे गये थे। महेंद्र, शर्मिष्ठा, पत्तिस्रम, कस्सपगोत्र, कुण्डुमिस्सर आदि धर्म प्रचारकों के अवशेष पुस्तकबन्धन वर्णिषण को सोनी के समीप मिले थे, साथ में जो अंकन उपलब्ध हुए उनसे विदित होता है कि वे विदेशों में धर्म प्रचार करते थे।

कितने ही चक्रवर्ती शासकों ने अपने राज्य संसार में दूर दूर तक फैलाने में सफलता प्राप्त की पर अशोक की धर्मराज्य विस्तार योजना सबसे अनुपम थी। राज्यों के राज्य उनके मरते ही बिखर गये पर अशोक द्वारा स्थापित किया हुआ धर्मराज्य आज भी बौद्ध धर्म के रूप में संसार में विद्यमान है।

सम्राट अशोक सच्चे अर्थों में प्रजापालक थे

एक बार महाराजा अशोक के राज्य में अकाल पड़ा। जनता भूख तथा प्यास से उस्त हो उठी। राजा ने तत्काल राज्य में अन्न

के भण्डार खुलवा दिये। सुबह से लेने वालों का ताँता लगता और शाम तक न टूटता।

एक दिन सन्ध्या हो गई। जब सन लेने वाले निवृत्त गये तो एक कृशकाय बूढ़ा उठा और उसने अन्न माँगा, बाँटने वाले भी थक चुके थे अतः उन्होंने उसे डाँटकर कहा “कल आना आज तो अब खैरात बन्द हो गई।”

तभी एक हठ पुष्ट शरीर के नवयुवक जैसा व्यक्ति आया और बाँटने वालों से कहा— “बेचारा बूढ़ा है। मैं देख रहा हूँ बड़ी देर से बैठा है यह। शरीर से दुर्बल होने के कारण सबसे पीछे रह गया है। इसे अन्न दे दो।”

उसकी वाणी में कुछ ऐसा प्रभाव था कि बाँटने वालों ने उसे अन्न दे दिया। उस नवयुवक की सहायता से उसने गठरी बाँच ली। अब उसे कैसे? तब वही युवक बोला “लड़ो, मैं ही पहुँचावे देता हूँ।” और गठरी उठाकर पीछे-पीछे चल्ने लगा।

बूढ़े का घर थोड़ी दूर पर रह गया था। तभी एक सैनिक टुकड़ी छपर से गुजरी। टुकड़ी के नायक ने बोढ़े पर से उतर कर गठरी ले आने वाले को पौजी अभिवादन किया। उस व्यक्ति ने संकेत से आगे कुछ बोलने को मना कर दिया। फिर भी बूढ़े की समझ में कुछ-कुछ आ गया। वह वहीं खड़ा हो गया और कहने लगा “आप कौन हैं? सच-सच बताइये।”

यह व्यक्ति बोला “मैं एक नौजवान हूँ और तुम बूढ़ हो— दुर्बल हो। बस इससे अधिक परिचय व्यर्थ है। चलो बताओ तुम्हारा घर किसका है?” पर अब तक बूढ़ा पूरी तरह पहचान चुका था। वह पैरों में गिर गया और क्षमा माँगते हुये बड़ी मुश्किल से बोला “प्रजापालक! आप सच्चे अर्थों में प्रजापालक हैं।”

उत्तराधिकार में जिन्होंने राज्य नहीं धर्म माँगा महाभिक्षु महेन्द्र

साम्राज्य विस्तार के लिए किए गये कलिंग आक्रमण में सम्राट अशोक की सेनाओं ने एक लाख लोगों का वध कर दिया। एण्ड्रेज लाशों से पट गया। बायलों का करुण चीत्कार सुनकर अशोक बहल आया और देखी अपनी एक छोटी-सी इच्छा पूर्ति के लिए यह विनाश लीला

हृदय द्रवीभूत हो उठा। वह परचाताप की अग्नि में झुलसने लगा। उसका हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा और वह विचार करने लगा कि मनुष्यों को मारकर अधिकार और राज्य लिप्सा के लिए किसी जाति का भू-भाग को जीतना सच्ची विजय नहीं है। विजय तो आत्मा की वस्तु है और वह आत्मा के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।

अशोक ने तत्क्षण राज्य की सीमाएँ बढ़ाने के लिए शस्त्रों का प्रयोग न करने का निश्चय कर लिया। उन्हें लोक-सेवा और मृतदया के सिद्धान्तों पर आधारित क्रियाकलाप ही विजय का वास्तविक मार्ग

दिखाई पड़ा। अशोक ने सकल्प लिया कि इन्हों साधनों को अपनाकर वह अपना प्राप्तव्य पावेगा।

द्विग्विजय धर्म विजय में परिणत हो गई। घेरी घोष धर्म घोष में बदल गया। सम्राट अशोक ने राज-ध्वन की समय सम्पदा लोक-कल्याण में लगा दी और शक्ति को नियोजित कर दिया धर्म प्रचार में, विद्वानों तथा सन्त-महापुरुषों ने भी अशोक को देवताओं का प्रिय और प्रियदर्शी कहकर सम्बोधित किया।

आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न सम्राट अशोक के सात्विक जीवन का प्रभाव उनके पुत्र महेन्द्र पर भी पड़ा। राज-दरबार में भिक्षुओं का आगमन, उनकी निस्पृह दृष्टि और गहन गम्भीर वाणी ने राजपुत्र महेन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया। आखिर एक दिन पूछ ही बैठा पीत कस खरण किए एक भिक्षु के सम्बन्ध में जो राजा से प्रश्नणा कर रहा था।

“पिताजी! आपका परिचय?”

“बेटा! ये हैं पुण्य महास्थविर योग्गालि पुत्र पुत्तलिस। अपने राज्य की प्रजा को अस्त्य-कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए इन्होंने समूच जीवन सम को समर्पित कर दिया है।”

“सच क्या होता है देव!”—महेन्द्र ने फिर प्रश्न किया।

“तात्! धर्म प्रचारक बनने के लिये समा। जो लोग निस्सार लौकिक आकर्षण और ऐवज्यों का त्याग कर प्रव्रज्या लेते हैं, उनके समूह का नाम सच है।”

इस बात का उत्तर दिया महास्थविर ने।

“मैं भी धर्म का सग्न बनना चाहता हूँ। देव! क्या मुझे भी प्रव्रज्या मिलेगी?”—महेन्द्र ने बड़े उत्साह के साथ कहा।

“नहीं बेटा! अभी लोकोपधोग के योग्य हो तुम। खूब खाओ, प्योओ और पीज करो।”—महात्मागी अशोक को भी पुत्र मोह तो था ही। उसने मना किया। परन्तु पुत्र ने अपने पिता से भी एक कदम आगे बढ़कर वह मोह तोड़ दिया।

राजपुत्र बोले—“संसारिक सुख की निस्सारिता को समझकर कौन बुद्धिमान उन्हें भोग कर अपना समय नष्ट करना चाहेगा?”

सोल्ह वर्ष के किशोर ने इस उत्तर से महास्थविर सहित अशोक और माता देवी को हतप्रभ कर दिया। महास्थविर बोले—“राजन, लगता है महेन्द्र के रूप में तत्काल का ही अवतरण हुआ है। शायद वही आगे चलकर लुप्त हो रही बुद्ध वाणी का जयघोष करेगा।

अपने विचार का समर्पण पाकर महेन्द्र ने एक बार पुनः उत्साह के साथ कहा—“देव! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आज ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ। प्रव्रजित होने से मेरा और आपका दोनों का ही कल्याण है।”

“ठीक है बेटा! महाभिक्षु जैसा परामर्श दूँ।” और महाभिक्षु ने निर्णय दिया—“प्रव्रजित होने के लिए किसी भी व्यक्ति को बीस वर्ष से कम का नहीं होना चाहिए।” तब तक घर में ही माता पिता के सान्निध्य में रहकर आत्म साधना का निर्देश हुआ।

चार वर्ष तक राजपुत्र महेन्द्र ने माता-पिता के साथ रहकर जीवन को प्रव्रज्या के अनुरूप बनाया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिमह

और ब्रह्मचर्य की नियमपूर्वक साधना, सख-सख मद्य, मांस, कोयल शैया, नृत्य-गायन, सुगन्धित द्रव्य, कामिनी-कञ्चन और असमय भोजन के त्याग की प्रवृत्तियों की साधना का अनुष्ठान भी निष्ठापूर्वक किया।

वय की बीसवीं-इक्कीसवीं सन्धि बेला में महास्थविर ने राजपुत्र महेन्द्र को प्रव्रज्या दी। साथ में महेन्द्र की कनिष्ठ भगिनी भी तयागत की अनुचरी बन गई और दोनों भाई-बहिन भारत पर क प्रमण करते रहे। जब उन्होंने मैतीस वर्ष की जीवन बेला पा कर ली तो एक दिन महास्थविर ने दोनों भाई-बहिनों को आमन्त्रित कर कहा— 'इस समय सिंहल (अद्य लंका) वासियों को भगवान् बुद्ध की वाणी विस्मृत होती जा रही है, उन्हें अनुस्मरण करने के लिए तुम दोनों को ही जाना होगा।'।

सद्भान के प्रचार-प्रसार की जहाँ भी आवश्यकता हो लोक-सेवा के लिए ब्रह्मनिष्ठ जन सदैव तैयार रहने हैं। महेन्द्र और संघमित्रा ने तुरन्त सहमति दे दी। जल मार्ग की बाधाओं तथा सिंहल नरेश की नीतियों से उन्हें अवगत करा दिया गया।

महाभिक्षु की तथा उपस्थित स्थितियों की वन्दना कर महेन्द्र और संघमित्रा सिंहल अभियान पर चल दिये। उनके पिता ने संस्कृतिक दिग्विजय का जो स्वप्न देखा था उसी दिशा में महेन्द्र के चरण बड़े थे धर्म विजय के लिए तत्पर अशोक को इस अवसर पर आमन्त्रित किया गया। अपने पुत्र को देखे गये स्वप्न साकार करने के लिए उत्साहपूर्वक जाता देख अशोक के नेत्र सजल हो उठे। पिता के चरणों में प्रणाम कर महेन्द्र और संघमित्रा नीकर में जा बैठे। अशोक के साथ राजमाता देवी भी आयी थीं।

कुछ लोगों का उनकी समुद्र यात्रा के सम्बन्ध में मत-भेद अवश्य है परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसी यात्रा को प्रामाणिक माना है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महेन्द्र और संघमित्रा की यह यात्रा निरुपद नहीं रही। मार्ग में तूफान आया। नाविक ने लौट चलने के लिए कहा परन्तु महेन्द्र को बीच मार्ग से ही वापस आ जाना न तो उचित लगा और न ही स्वीकार्य हुआ।

तूफान में उनकी नाव उलट गई। भारत के तट से अभी दूर नहीं पहुँचे थे फिर भी महेन्द्र ने लौट जाना अनुचित ही समझा। जिस अभियान के लिए वे आगे बढ़े हैं, उसे पूरा किए बिना ही वापस धले जाना तो मानवोचित नहीं है। लाख बाधएँ क्यों न हों शूरवीर 'कर्ष साधयेत् वा पातयेत् देह' के सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं। नाविक तो तैर कर वापस आ गया किन्तु संघमित्रा और महेन्द्र सिंहल की दिशा में ही बढ़ने लगे।

सौभाग्य से कुछ दूरी पर ही उन्हें उलटी हुई नाव भी मिल गई जिसमें बैठकर उन्होंने अपनी यात्रा पूरी कर ली।

लंका की भूमि पर चरण रखते ही दोनों भाई-बहिन ने भगवान् बुद्ध की आरती वन्दना की और आगे बढ़े। नगर तक पहुँचने के लिए समुद्र तट से वहाँ तक वनों में होकर गुजरना पड़ता था।

रास्ते में उन्हें किसी वन्य पशु के रक्त की ताजी बूँदें दिखाई दीं। महेन्द्र का हृदय पशु की पीड़ा का अनुमान लगाकर ही कातर

हो उठा और वे अपनी बहिन के साथ उसी दिशा में चल दिए। कुछ दूर तक चलने के बाद उन्होंने देखा एक हिरण किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से घायल हुआ तड़प रहा है। महेन्द्र ने आसपास से वनौषधियाँ इकट्ठा कर उसकी चिकित्सा की।

तभी वह शिकारी पुरुष भी आ पहुँचा जिसके बाण का निशान वह मृग बना था। महेन्द्र ने देखते ही कहा— 'धर्मराज सम्राट् तिष्य के शासन में भी आप लोग इतनी निर्दयतापूर्वक इन निरपराध प्राणियों का वध करते हैं।'।

शिकारी जो राजोचित वेशभूषा में था, महाभिक्षु महेन्द्र के चरणों में गिर पड़ा। अपना परिवार देते हुए उसने कहा 'भन्ते ! मुझसे मूल हो गई। मैं ही सम्राट् तिष्य हूँ जो मग्न विनोद के लिए इन निरपराध पशुओं का वध करता हूँ।'।

तिष्य उस समय लंका का राजा था। भिक्षु महेन्द्र बुद्धदावे— 'ऐक ही कहा था महास्थविर ने। लंकावासी भगवान् बुद्ध की वाणी को भूलते जा रहे हैं।'।

सम्राट् तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा का यथेष्ट सत्कार किया और अपने राज-दरबार में ले आये। प्रथम दिन के विश्राम ने समुद्री यात्रा की थकान उगार दी। दूसरे दिन भिक्षु महेन्द्र ने तिष्य को धर्म मार्ग की समुचित शिक्षा दी और चलने के लिए उद्यत हुए। सम्राट् ने कहा— 'आप यहीं निवास कीजिए। राज्य के नागरिकों तक आपका सन्देश वही से पहुँचा दिया जावेगा।'।

जनघनस के सफल अभ्येता महाभिक्षु महेन्द्र को सम्राट् तिष्य के इस कथन को वहाँ के विहार और धर्म-प्रचारकों की रीति-नीति का संकेत दिया। उन्होंने बौद्ध विहारों को देखने की इच्छा व्यक्त की। 'आज्ञा सच निकली। सांसारिक मनुष्यों से भी अधिक विषय-वासना और भोगों में लिप्त धर्म का नेतृत्व उस तत्र के मूल प्रयोजन को कहाँ से पूरा कर सकेगा ? संघ गठन तो इस उद्देश्य से हुआ था कि व्यवस्थित रूप से लोगों की सन्मार्ग की ओर सुख-शान्ति के पथ पर प्रेरित किया जा सके। परन्तु लोक-ब्रह्मा का अनुचित रूप उठाकर भिक्षु और धर्मसेवी जन-भोगी तथा धर्मजीवी बन गये। सेवा का मार्ग जब उपभोग का माध्यम बन जाता है तभी तो गड़बड़ी पैदा होती है।'।

राजघनस में निवास के अमन्त्रण को नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए स्थविर महेन्द्र ने लोकोचित और तथ साधन का निर्धारित माध्यम मार्ग ही अपनाया। काष्ठय वस्त्रों से देदीप्यमान तथा भारत भूमि के सन्देशवाहक होने के श्रुते लंका में उनकी खूब प्रतिष्ठा हुई।

उन्होंने पहला कर्म यह किया कि विहारों और मठों के निवासी बौद्ध भिक्षुओं को दिशा प्रदान की। ब्रह्मस्पद होकर भी ब्रह्म तत्त्व के मूल कारणों की ओर धर्त्सना करने योग्य है— यह कहकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को समाज के प्रति उनका उत्तरदायित्व समझाया।

जैसा कि सभी सुधारकों के साथ होता आया है उनके साथ भी हुआ। कुछ लोगों ने उनका विरोध किया परन्तु उन्हें इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई। प्रकृति को, अगाध जलराशि को भी अपने

विरोध में खड़ा पाकर जो नहीं बबड़या वह निर्बल और दुष्ट मनुष्यों से क्या घबरायेगा ? पूर्वकृत साहसपूर्ण कार्य मनुष्य को आजीवन प्रेरणा देते रहते हैं। एक बार जब कोई प्रयास करने पर सफलता मिल जाती है तो व्यक्ति अपार और अटूट आत्मविश्वासी बन जाता है।

बौद्ध घटों और विहारों में आवश्यक सुधार कर महेन्द्र तथा संघमित्रा धर्म प्रचार के कार्य में जुटे। धर्म तन्त्र का परिष्कार धार्मिक समाज की पहली आवश्यकता है। जब तक यह क्षेत्र विकृत ही पड़ा रहेगा लोगों की ब्रह्मा स्थिर नहीं हो सकती।

अपनी सम्पूर्ण आयु का आधा भाग लक्ष्मणसिंहों की सेवा में बिताकर महापुरुष महेन्द्र ने चैत्य पर्वत पर अन्तिम वर्षावास किया। उस समय उनकी आयु साठ वर्ष की हो गई थी। इस वर्षावास में उनका देहान्त हो गया। बौद्ध धर्म का एक प्रधान स्तम्भ उठ गक, मरने समय उन्होंने शोकरविह्वल बहिन को आश्वस्त किया कि धर्म ही तुम्हारा भाई है। वह कभी सम्पत्ति नहीं होगा क्योंकि संसार की स्थिति का कारण पृथ्वी पर कहीं न कहीं चलती रहने वाली धार्मिक गतिविधियाँ ही हैं।

अनुराधापुर में उनकी मृत देह का अन्तिम सम्बन्ध सम्पन्न करवाया गया। अर्ध महेन्द्र के प्रकल्प और पुस्तकत्व का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म आज भी एक का सन्तर्भ बन चुका है। अनुराधापुर की इन्व-इन्व भूमि सिंहल जाति की ब्रह्म भूमि है। प्रति वर्ष लाखों लोग अर्ध महेन्द्र को उस भूमि पर ब्रह्म के फूल चढ़ाने देव-विदेव से आते हैं।

सम्राट अशोक के पाँचों पुत्रों का कोई नाम भी नहीं जानता। यद्यपि वे सब क्रमशः राज्य सिंहासन के उत्तराधिकारी बने थे। इतिहास में उनके लिए चार-चार, पाँच-पाँच पंक्तियाँ ही लिखी गई हैं जबकि राज्य पद का अधिकारी होते हुए भी उसे छोड़ देने वाले राजपुत्र महेन्द्र इतिहास में अमर हो गये हैं। वस्तुतः अधिकार या पद नहीं, मनुष्य को महान् बनाता है उसका त्यागभय जीवन और उज्ज्वल चरित्र।

धार्मिक-साधु के प्रचारक— महात्मा ईसा

अब से दो हजार वर्ष पहले की बात है कि कोल्सलम (पैलेस्टाइन) में एक नवयुवक मार्ग में चला जा रहा था। उसके साथ कई सौ लोगों की भीड़ भी चल रही थी। कुछ लोग कहते आते थे कि यह अकर्मण्य और आदर्शहीन है। इसने कुछ समय पूर्व अपनी मातृभूमि को विदेशी आक्रमणकारी—रोमनों से मुक्त करने के लिए 'एसेन' संस्था की सपथ ग्रहण की थी, पर अब वह रोमन साम्राज्य की शक्ति से भयभीत होकर उलटी-सीधी बर्तों करने लगा है। इसके सिद्धान्तों का भरोसा नहीं और हमको इसका साथ छोड़ देना ही उचित है।

अन्य लोग कह रहे थे कि उसका कथन तो बिल्कुल ठीक है। मान लो कोई संस्था या गुप्त-दल विद्रोह खड़ा करके रोमनों को

पैलेस्टाइन से हटा भी दे तो इससे जनता का क्या लाभ होगा ? आज भी रोमन लोग गरीब लोगों का उतना शोषण नहीं करते जितना कि इसी देश के निवासी 'सैड्यूसीज' (सूजीपति) और 'फरीसीज' (मध्यम वर्ग वाले) कर रहे हैं। यह 'ईसा' तो गरीबों के उद्धार का मार्ग दिखा रहा है। वह कहता है कि अगर रोमन हट भी जायँ और गरीब लोग इसी तरह भूखे-नंगे बने रहें, अन्याय की चक्की में फिसते रहें, तो ऐसे 'स्वसज्ज' से क्या फायदा ? इसकी बात तो गलत नहीं है।

ईसा अग्रे बढ़ता जाता था और लोगों की भीड़ उसके पीछे तरह-तरह के तर्क-वितर्क करती चली जा रही थी। थोड़े फासले पर एक बड़ा मैदान मिला जिसके बीच में एक छोटा-सा पहाड़ी टीला था। ईसा उसके ऊपर चढ़ गया और लोगों को सम्बोधन करके कहना आरम्भ किया—

'धन्य हैं वे लोग जो गरीब हैं, जो दुःख सहते हैं और परधाताप करते हैं—जो नम्र, दयालु तथा शान्ति के प्रचारक हैं और न्याय की छातिर दण्ड सहते हैं। धन्य हैं वे, जो बुराई के बदले भलाई करते हैं। धन्य हैं वे, जिनके यहाँ अदालतें नहीं हैं, जो दण्ड-विधान से अन्वभिष्ट हैं, जो अपने साथ बुराई करने वालों के भी कल्याण की चर्चना करते हैं, क्योंकि समस्त मनुष्य एक ही परम-पिता की सन्तान—परस्पर भाई-भाई हैं।

'हम संसार में ईश्वरीय-राज्य के इच्छुक हैं। ईश्वरीय राज्य वह है जिसमें अन्यायपूर्ण सामाजिक भेद-भाव न हो, गरीबों के कष्ट मिटाये जायँ, जन-सम्पत्ति को उपेक्षा की निगाह से देखा जाय, सब प्रकार के दमनकारी, फासविक शक्ति पर आधार रखने वाले शासन का अन्त हो जाय और सब लोग परस्पर प्रेम-भाव से रहने लगें।'

महात्मा ईसा की इस दिव्य-वाणी को लोगों ने सुना तो सही, पर इसका मर्म समझने वाले उस भीड़ में थोड़े ही थे और उसका अनुसरण कर सकें, उनकी संख्या तो अंगुलियों पर ही गिनी जा सकती थी। पर उन बातों में एक ऐसी सच्चाई घरी थी कि उसकी प्रतिध्वनि संसार के कनावरण में सुनाई पड़ रही है और लोगों के हृदय पर उनका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ईसा के उपदेश की इस महत्ता के सम्बन्ध में आधुनिक युग के महामानव और हिन्दू-धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

'महापुरुष ईसा के उपदेश और कर्मवीरता की समस्त गाथा लिपिबद्ध हो जाने पर साग विश्व उससे व्याप्य हो जायेगा। उनकी धर्म-प्रचार के लिये केवल तीन वर्ष का ही समय मिला, पर मानो उसी में एक सम्पूर्ण युग की घटनायें और इतिहास समाया हुआ है। हम साधारण लोग तो क्षुद्र शक्ति वाले होते हैं—हमारी शक्ति के पूर्ण प्रसारित होकर व्याप्य हो जाने में थोड़ा ही समय लगता है। पर इस विशाल शक्ति पुंज (ईसा) को देखिये कि सैकड़ों और हजारों वर्ष जीत जाने पर भी, उसकी महान् शक्ति पूर्ण रूप से प्रसारित नहीं हो पाई है और जैसे-जैसे समय गुजर रहा है वह पहलने की अपेक्षा बनल हो होती जा रही है।'

ईसा का जन्म पैलेस्टाइन के एक साधारण गाँव में हुआ। उनके पिता जीवन-निर्वाह के लिए बढ़ई का काम करते थे और माता मरियम

एक बड़ी ईश्वर परायण महिला थी। वह भी गरीबों के ऊपर अपनी लोगों के अत्याचारों को देखकर बड़ी दुःखी होती थी और दीन-दुखियों की हित कामना किया करती थी, ईसा के गर्भकाल में उसने परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा था—

‘उस सर्व शक्तिमान ने अङ्कुरियों का दर्प भग कर दिया। उसने शक्ति सम्पन्नों को आसन से गिरा दिया और दीन-दुःखियों को महत्त्व प्रदान किया, दरिद्रों को उसने आशीर्वाद दिया और धनवानों को खाली हाथ सौटा दिया।’

ईसा की शिक्षा उस समय की प्रधानुसार एक यहूदी पाठशाला में हुई थी। यद्यपि उसके धर्म-भाव से जिसका और गुरुजन प्रसन्न रहते थे, पर स्वयं उसको सन्तोष न था। जो ‘भगवान्’ बनो उससबको पर ही प्रसन्न रहता है और गरीबों पर क्रुपा-दृष्टि नहीं रखता। वह ईसा को ब्रह्मा के योग्य नहीं जान पड़ता था। इसलिए तेरह वर्ष को आयु हो जाने पर वे धर्म की वास्तविकता पर विचार करने लगे और केवल योक्ताशाल्य के यहूदी विद्वानों से ही नहीं दूर-दूर के ज्ञानी व्यक्तियों से उनके विचार जानकर स्वयं सत्य को खोज में प्रवृत्त हुए।

कहा तो यहाँ तक जाना है कि वे धर्म-तत्व की खोज में भारतवर्ष में आये थे और कई वर्षों तक यहाँ के हिन्दू और बौद्ध योगियों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों और दर्शन का बहुत अच्छा अध्ययन किया था। कुछ भी हो ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की जाँच-पड़ताल करने वाले विद्वानों का आज भी यही मत है कि उनका विकास स्पष्टतया बौद्ध सिद्धान्तों से ही हुआ है। हिन्दू-धर्म की अत्या की अभेदता की मान्यता का भी उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

पर जब ईसा ने पैलेस्टाइन की सामान्य जनता में इन सिद्धान्तों पर आधारित एक नये धर्म के नियमों का प्रचार अरम्भ किया तो वहाँ के धनी और पुरोहित वर्ग वालों में बड़ी हलचल मच गई। ईसा आप सभाओं में स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि—

“चाहे सुई के छेद में होकर ऊँट निकल जाय पर स्वर्ग के दरवाजे में होकर धनवानों का निकल सकना सम्भव नहीं।”

भला अपनी ऐसी कटु आलोचना पूँजीपति कैसे सहन कर सकते थे फिर उनके साथ उस समय के पुरोहित और पुजारी भी थे जिनकी ऐजी धनवानों द्वारा चढ़ाई जाने वाली भेंट-पूजा से ही चलती थी। इसलिये इन दोनों ने मिलकर ईसा पर यह दोषरोपण किया कि वह अपने को ‘ईश्वर का पुत्र’ कहकर लोगों को बेवकूफता है और एक वर्ग को दूसरे के खिलाफ चढ़ाकर कर समाज में अशांति उत्पन्न करता है। यद्यपि ईसा का प्रचार-कार्य सर्वथा सत्य और न्याय पर आधारित था और वह जो कुछ कहता था वह समस्त जनता की हित कामना से ही होता था, तो भी सत्ताधारी व्यक्तियों ने उसके कारण अपने स्वार्थ की हानि होने देखकर उसे गिरफ्तार कर दिया और बूढ़-सच्चा मुकद्दमा चलाकर प्राण दण्ड की आज्ञा दे दी।

महापुरुष ईसा को कंटों का ताज पहिनाकर ‘क्रूस’ (सूली) पर हाथ-पाँवों में कीलें ठोककर लटक देना एक ऐसी घटना थी, जिसकी याद संसार-को दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी नहीं भूली है। उन सत्ताधारी किन्तु मूर्ख पुरोहितों तथा शासकों ने अपनी संभल से तो

ईसा की उस प्रकार हत्या करके संसार के सामने अपनी शक्ति और अधिकार का प्रदर्शन कर दिया। पर वास्तव में उन्होंने स्वयं कल्पक का टीका लगवाकर ईसा को युगों के लिये अमर बना दिया। खेद है कि आज भी अधिकतर सम्पन्न वर्ग इतनी बड़ी घटना से कोई सबक न लेकर उसी औंधी चाल पर चल रहा है। आज भी न्याय और औचित्य को प्रधानता न देकर वह अपने स्वार्थ साधन में ही तत्त्वीन है और निर्बलों तथा सरल स्वभाव के सज्जन पुरुषों को सताने में ही अपनी शान समझता है। इस दृश्य को देखकर ‘समायण’ की यही ज्वलंत वाद आती है—

‘प्रभुता यह काहिल चढ़ बाहीं’

अयोग्य और अर्थाधारी व्यक्ति को विशेष अधिकार मिल जाने से उसकी बिबेक बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और अपने को ‘बहुत बड़ा’ समझकर अनीति के मार्ग पर चलने लग जाता है। वह यह नहीं समझता कि उसकी यह स्थिति सामयिक है और किसी भी समय पर परिवर्तन होकर वह जहाँ था वहाँ पहुँच सकता है। आश्चर्य है कि इतिहास के ऐसे ऐसे सैकड़ों उदाहरणों को देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलती।

उस समय चाहे दुष्टों ने ईसा के भौतिक शरीर को नष्ट कर दिया, पर इसका परिणाम जो कुछ उन्होंने चाह था उससे विपरीत ही हुआ। ईसा की शिक्षाओं का प्रभाव अप्रत्याश रूप से लोगों के हृदय में बढमूल होता चला गया और कुछ समय पश्चात् एक ईसा के स्थान पर बीसियों ऐसे प्रचारक निकल आये जो धनवानों के पुकारते में गरीबों के अधिकारों का सपर्यन करते थे। उनमें से ‘जेम्स’ नामक आचार्य ने कहा—

“यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह भगवान् में ब्रह्मा रखता है, पर परिश्रम नहीं करता, तो इससे क्या लाभ? अमीर लोग केवल ब्रह्मा के नाम पर धर्म-सभा में विशेष सम्मान चाहते हैं और अपने अन्य सहधर्मियों को छोटा समझते हैं। पर सच तो यह है कि बिना कर्म के ब्रह्मा प्राणहीन है। अमीर वाद रखें कि भगवान् गरीबों से ही प्रसन्न रहता है, किन्तु धनी व्यक्ति अब भी शोषण करते हैं और बिनको अदन्तता में बसीटा जाता है।”

संसार में आज जो संस्कृति, सभ्यता दिखाई दे रही है, वह सब ‘महापुरुषों की ही देन है। उनके ही उपदेशों और श्रम का आग्रह लेकर हम लोग मानवता के धर्म सत्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसी विभूतियों को स्वामी विवेकानन्द ने ‘जीवन ईश्वर रूप’ कहा है। मर्यादा ईसा की गणना भी उन्हीं में से है। मानवता की प्रगति के मार्ग को निष्कटक बनाने के लिये उन्होंने जो आत्मबलिदान किया उसके लिये उन्हें हमारा प्रणाम है।

महापुरुष ईसा के अज्ञात जीवन के अनसुलझे रहस्य

नाइबिल के ‘न्यू टेस्टामेन्ट’ के यती, मरकुस, लूका, जॉन यूहन्ना आदि अंजीतों के अन्तिम काण्डों में ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने, दफनाये जाने के बाद का से गायब होने तथा पुनर्जीवित होने

का वर्णन है। उनमें उल्लेख है कि पुनर्जीवन के बाद सबसे पहले उन्होंने मरियम मगदलीनीनी एवं मरियम को दर्शन दिये और उनसे अपने शिष्यों को गलीलिया नामक पर्वत पर मिलने को कहा। येरूशलेम से सात मील दूर इम्मकुस में भी वे कुछ व्यक्तियों से मिले थे। गलीलिया पर्वत पर ग्वारह प्रमुख शिष्यों से मिलने के पश्चात् वे उन्हें बैतनिय्याह तक ले गये और दाय उठाकर आश्वीवाद दिया तथा अलग हो गये। शिष्य तो उन्हें प्रणाम करके वापस येरूशलेम लौट गये, पर ईसा कहीं अन्तर्धान हो गये।

अनुसंधानकर्ता मनीषिया ने उन लुप्त प्रायः कड़ियों को अब खोज निकाला है जिनसे प्रमाणित होता है कि पुनर्जीवित होने और शिष्यों से मिलकर उन्हें कर्मक्षेत्र में उतारने का आदेश देने के पश्चात् ईसा कई देशों की यात्रा करते हुए दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर को अपना स्थायी निवास बनाया था। लोगों की उन पर श्रद्धा थी। ८० वर्ष से अधिक की परिपक्व अवस्था में वहाँ पर उन्होंने अपना पंचधौनिक शरीर त्याग दिया, जिसके अनेकों प्रमाण अभी भी वहाँ विद्यमान हैं।

जर्मनी के मूर्खन्य मनीषी होल्गर केस्टन ने इस संदर्भ में गहराई से खोज-बीन की है। हजरायल, मध्य पूर्व देशों, अफगानिस्तान और भारत सहित उन सभी ऐतिहासिक स्थलों की उन्होंने यात्रा की जो किसी न किसी रूप में ईसा से संबंधित हैं। उन्होंने अपनी और अपने पूर्ववर्ती खोजकर्ताओं द्वारा इस संबंध में की गयी प्रामाणिक खोजों को 'जीसस लिब्ड इन इण्डिया' नामक पुस्तक में सविस्तार प्रकाशित किया है जिसमें ईसा के मूलों पर चढ़ाये जाने से पहले एवं बाद के अज्ञात जीवन की संपूर्ण जानकारी संप्रदीत है। उसके अनुसार सन् ६ में लगभग १३ वर्ष की उम्र में ईसा व्यापारियों के एक वर्ग के साथ पहली बार भारत आये थे और लगभग १६-१७ वर्ष तक पुरी एवं तिब्बत के बौद्ध विहारों में अध्ययनरत रहे। वैदिक साहित्य एवं बौद्ध दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने उच्चस्तरीय तप साधनाएँ भी की थीं। यही कारण था कि जब सन् ३० में ३० वर्ष की आयु में वे वापस येरूशलेम पहुँचे तो भौतिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न महापुरुष बनकर पहुँचे। उनकी इस क्षमता से प्रभावित होकर लोगों की भारी भीड़ सदैव उन्हें घेरे रहती थी। अपने मिशन का प्रचार करते हुए तीन वर्ष से कुछ अधिक ही दिन बीते थे कि विरोधियों ने उन पर ईसा मिस्र का अभियोग लगाकर मूली पर चढ़ा दिया और घोषणा कर दी गयी कि ईसा की मृत्यु हो गयी।

ईसा को जिस कक्ष में दफनाया गया था, देखने पर वह खाली मिली। चमत्कार स्वरूप वे जीवित होकर गलीलिया (गलीली पर्वत) पर चले गये थे जैसा कि बाइबिल में उल्लेख है कि वहाँ पर शिष्यों से मिलने के बाद वे लुप्त हो गये। सन् ३४ में उनकी भेंट डैमस्कस (समिरक) में पॉल से हुई और वह उनका शिष्य बन गया। इसके बाद वे कुछ दिन निम्बिस-तुर्की में ठहरे और ईरान सहित आसपास के देशों में उपदेश करते रहे, तदुपरान्त तक्षशिला होते हुए कश्मीर

आ गये और वहीं पर ८० वर्ष की उम्र में शरीर त्यागा, ऐसा केस्टन का मत है।

सुप्रसिद्ध कानूनविद् अल्हज ख्वाजा नजीर अहमद ने भी अपनी पुस्तक 'जीसस इन हेवन आन अर्थ' में लिखा है कि ईसा ने भारत में न केवल अपने जीवन के १७-१८ वर्ष अध्ययन एवं साधना में बिताये थे, वरन् मूलों पर चढ़ाये जाने के बाद पुनर्जीवित होकर दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर में रहने लगे थे। वृद्धावस्था में यहाँ पर उनका स्वर्गवास हुआ था। उनके अनुसार स्वयं मूसा भी कभी कश्मीर आये थे।

पर्सिया के सुविख्यात इतिहासवेत्ता मोरकावन्द ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि पुनर्जीवन के बाद ईसा डैमस्कस चले गये। जिस स्थान पर वे लोगों को उपदेश किया करते थे। वह 'मायूम-इ-ईसा' के नाम से जाना जाता है और डैमस्कस से ५ कि. मी. दूर स्थित है। ईसा को वहाँ ठहरे हुए कुछ ही दिन बीते थे कि तुर्की में निम्बिस के प्रशासक ने उन्हें अपनी चिकित्सा के लिये बुला लिया। ईसा ने पहले तो अपने एक शिष्य थॉमस को उसके पास भेजा। जिसके उपचार से ही बादशाह ठीक हो गया। पीछे वे भी निम्बिस पहुँच गये। इमा-अबू-अफ्जर मोहम्मद ने अपनी कृति 'तफसिर-इब्न जरीर एत-तबरी' में लिखा है कि यह घटना सन् ३५ के बाद की है। इसके पश्चात् वे जगह-जगह घूमते और उपदेश करते रहे।

मूली पर चढ़ाये जाने एवं पुनर्जीवित होकर अन्यत्र चले जाने के बाद उनका उपचार जड़ी-बूटी द्वारा किये जाने का उल्लेख तिब्बत के हेमिस गठ में रखे दस्तावेजों में सुरक्षित है। इसकी पुष्टि करते हुए नोलेविच ने अपनी कृति 'द अननोन लाइफ ऑफ दी जीसस क्रिस्ट' में कहा है कि स्वस्थ होने के पश्चात् ईसामसीह ने तक्षशिला होते हुए दूसरी बार भारत में प्रवेश किया। उन दिनों बृहत्तर भारत की सीमाओं ईरान और अफगानिस्तान तक फैली हुई थीं। तुर्की और सीरिया के मध्य स्थित 'निम्बिस' (नुसायबिन) को छोड़कर वे सन् ४९-५० में तक्षशिला पहुँचे थे वहाँ इनकी भेंट इण्डो-पर्शियन बादशाह गुन्दाफर से हुई। इससे पूर्व उन्होंने ईरान, पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की यात्राएँ की थीं और जगह-जगह उपदेश किये थे। ईसा के परदृष्टि शिष्य थॉमस ने अपने संस्मरण में इस बात की पुष्टि की है कि वह ईसा के साथ तक्षशिला में राजा गुन्दाफर के यहाँ ठहरा था। इससे पहले ईसा ने उसे भारत जाने का आदेश दिया था, पर थॉमस के इन्कार करने और यह कहने पर कि यह यहूदी है और भारतवासियों को सत्य की शिक्षा कैसे दे सकता है? ईसा ने उसे इब्बन नामक एक दक्षिण भारतीय व्यापारी के हाथों इसलिये बेच दिया ताकि इसी बहाने वह भारत पहुँच जाय। वस्तुतः इब्बन राजा गुन्दाफर का एक कर्मचारी था जिसे एक वास्तुशिल्पी दूँद लाने के लिए नियुक्त किया गया था। इस तरह थॉमस राजदरबार में पहुँच गया। वहाँ उसे एक भव्य महल बनवाने के लिए एक बड़ी धनराशि दी गयी जिसे उसने जबरनतण्ड गरीबों में खर्च कर दिया। बाद में यही राजा अपने भाई के साथ ईसा का शिष्य बन गया और थॉमस को दक्षिण भारत

में मिशन के प्रचार प्रसार के लिये भेज दिया गया। मद्रास में उसने अनेकों अनुयायी भी तैयार किये। चौथी सदी के आरंभ में उसकी हड्डियों के अवशेष को माबलापोर मद्रास से उनके पैतृक नगर इडेसा सीरिया ले जाया गया था। यॉमस की मद्रास में कब्र होने की पुष्टि मार्कोपोलो ने की थी।

प्रख्यात विद्वान् हजरत मिर्जा गुलाम अहमद ने भी अपनी कृति में इस बात की पुष्टि की है कि ईसा ने अपने जीवन के अंतिम ४० वर्ष 'युज आशफ' के नाम से कश्मीर में बिताये थे। शत्रुओं से बचने के लिए ही उन्होंने यह छद्म नाम रखा था। अग मुस्तफ ने अपने ग्रंथ— 'अबली अहलिक-परस' में कहा है कि 'ईसा ही युजआशफ थे। तक्षशिला के पड़वान् उन्होंने उससे ७० मील दूर कश्मीर की सीमा पर स्थित मुरी नामक एक छोटे-से गाँव में निवास किया था। वहीं पर उनकी माता का स्वर्गवास हुआ। आज भी वहाँ सदियों पुराना मरियम मेरी का एक मकबरा बना हुआ है जिसे मरियम मेरी का स्थान कहा जाता है।'

सुविख्यात इतिहासवेत्ता मुल्ता नादिर ने अपनी कृति "तवारिख-ए-कश्मीर" (कश्मीर का इतिहास) में ईसा के कश्मीर में निवास करने का सुविस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि जिन दिनों ईसा-युजआशफ के नाम से यहूदियों के एक बड़े समुदाय के साथ कश्मीर आये थे, उन दिनों वहाँ राजागोपटन—जिसे गोपानन्द भी कहा जाता था, का शासन था। यह घटना मगन जगन्नाथ के मध्य की है। येरुशलेम से दुबारा भारत आने के बाद ईसा ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी घाटी में व्यतीत किया। घाटी के लोगों को उन पर अगाध श्रद्धा थी। वे प्रायः एक सदासी की तरह एक-स्थान से दूसरे स्थान तक उपदेश करते हुए घूमते रहते थे पर प्रायः कश्मीर अवश्य लौट आने थे। कश्मीर से ईसा का विशेष लगाव था। जब भारत का वह भूभाग हर दृष्टि से इल्जाम समुद्र और खुराहाल था कि उसे धरती के स्वर्ग की रक्षा दी गयी थी। दूसरा—इजरायल की अनेक आदिम जातियाँ यहाँ से ही उद्भूत निवास कर रही थीं। बाद में ईसा के साथ भी अनेक यहूदी परिवार आकर वहीं रहने लगे थे। नादिर ने इज्जाम श्रीनगर से कोई ७० मील दूर एक गुफा है जहाँ ईसा प्रयाण ध्यान किया करते थे। इस गुफा के द्वार पर एक सुन्दर भवन निर्मित है जिसे 'ऐश-मुकाम' कहते हैं। वहीं पर भूसा को बहमू य दण्ड (भडी) को परम्परा से ईसा को मिलता था, स्थापित था। यही दण्ड १५वीं शताब्दी में प्रसिद्ध संत शेष-भुक्टीन को प्राप्त हुआ था।

ईसा को जिस स्थान पर टफनाया गया था, वहीं पर ख्याति प्राप्त इतिहासवेत्ता एवं 'कश्मीर रिसर्च सेन्टर फॉर बुद्धिस्ट स्टडीज' के निदेशक प्रोफेसर फिदा हुसैन को पत्थर पर खुदे हुए ईसा के पद-चिह्न मिले थे जिसके एक तरफ पद-चिह्न और दूसरी तरफ क्रूस के चिह्न बने हैं। यह इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि वह ईसा की ही समाधि है। उनके अनुसार जब दूसरी बार ईसा ने भारत में प्रवेश किया था उन दिनों उत्तरी भारत में राजा शालिकहन (सन् ३९ से ५० ई०) का शासन था। राजागोपानन्द का सन् ४९ से ८२ एवं कुशान राजा-कनिष्क का सन् ७८ से १०३ ई० तक शासन था।

कनिष्क के शासनकाल में कश्मीर इच्छे सोधिन राजवंशों की राजधानी थी। वहाँ अनेक धर्मिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनीतिक संस्थाएँ थीं। ग्रीक और भारतीय दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर थे। ऊन्हीं दिनों लगभग सन् ८० में महाराजा कनिष्क ने श्रीनगर से १२ कि. मी. दूर ह्यारन में विविध धर्मावलम्बियों की एक महासभा बुलाई थी, जिसे 'कर्वन्सल ऑफ हाथन' के नाम से जाना जाता है। उस महासभा में विरुद्धत मनीषी एवं आयुर्वेद के ज्ञाता नागार्जुन के साथ ईश्वरसीह भी उपस्थित थे। तब उनकी उम्र ८० वर्ष से अधिक थी। इस तथ्य की पुष्टि आपभट्ट ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'कदम्बरी' में की है।

वस्तुतः ईसा की जीवन का देवसंस्कृति के बहुरंगी प्रवाह का एक अंग है। जो रहस्योद्घाटन हुए हैं, वे सभी गगन-सम्प्रदायों को समीप लाकर देवसंस्कृति की क्रेष्ठा का स्वरूप प्रकट कर रहे हैं। 'मदविप्रा बहुना वदन्ति' की श्रुति मान्यता का मार्ग प्रशस्त है।

भीड़ का नहीं—न्याय का राज्य चले

उन दिनों भीड़ का शासन चल रहा था। क्या यह ही रचा जाया था। पर भीड़ का शासन कितना ही भीड़ का शासन है।

क्या भीड़ का शासन ही ही भद्रता की भाव उत्पन्न करता है और गरीबों को बचाने का धर्मिकता का आगवाही करे? पुरातन पन्थी यह मानने में तैयार नहीं रहते थे। उन्हें यह मानिक भी नहीं रहा कि ईसा धर्म का ही प्रचार प्रवर्तित मान्यताओं के प्रति अनास्था उत्पन्न करता है। इसी का धर्म-प्रचार उन्हें अधर्म जैसा लगा। वे कल्पन से ही यह सब है उसे चलने देना ही धर्म परम्परा है। उसे कोई ग्राह्य नहीं।

ईसा के लोखे उपदेश लोगों की धर्म भावनाओं को नई दिशा दे रहे थे। सुनने वालों को यथार्थता और परम्परा के बीच का अन्तर बताने रहे थे। पुरातन पन्थियों के लिए इस प्रकार के प्रयास सदा रोष का कारण बनते रहे हैं। ईसा भी उससे बच न सके।

उस वर्ष का महायाजक 'हन्ना' था। धर्म-पुरोहित ही अभियोग बढ़ाते थे और हाकिम दंड देता था। हन्ना चाहते थे कि धर्म में अवरोध उत्पन्न करने वाले ईसा को प्राण दंड मिले। सो उनके अधीनस्थ पुरोहितों ने आकर उन्हें पकड़ा और महायाजक के सामने उपस्थित किया।

राजक ने पूछा—क्या तुमने धर्म और राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के उपदेश दिये हैं?

ईसा ने कहा—मैंने जो कुछ कहा है खुल में और मन्दिरों के आँगन में कहा है—सो सुनने वालों से ही पूछिये कि क्या मैंने ऐसा कुछ कहा है।

एक पुरोहित ने ईसा को चाँटा मारा और कहा—महायाजक के सामने बढ़-चढ़ कर बोलता है?

ईसा ने कहा—मैं कुछ झूठ कहना हूँ तो कहते हैं मैंने क्या झूठ बोला। बिना कारण मारने से क्या होगा?

परोहित घंडली के गवाह आगे आये। उन्होंने कहा— यह कहता है पुराने मन्दिरों के स्थान पर नये मन्दिर खड़े होने चाहिए। पुराने राजा के स्थान पर नये राजा का शासन स्वीकार करना चाहिए।

ईसा ने कहा— मैंने मन्दिरों का नहीं, उनकी आड़ में पलने वाली अधार्मिकता का विरोध किया है और धरती के राजा के विरोध में नहीं स्वर्ग के राजा के शासन के बारे में कहा है। यदि मैं धरती के राजा का द्रोह करता तो मेरे पास भी सैनिक होते और इस प्रकार निहत्था न पकड़ा जाता।

महायाजक ने प्रतिवादी की एक न मानी और दोष लगाने कलों की बातों पर ही कान धरते रहे। उन्होंने अपराध लगाते हुए प्राण दण्ड देने की सिफारिश के साथ ईसा को न्यायाधिकारी पीलातुस के पास भेज दिया।

पीलातुस ने छानबीन की और ऐसा कुछ न पाया। वह चाहते थे इस निर्दोष को दण्ड न दिया जाय। पर भीड़ ने चिल्लाकर कहा ईसा विद्रोही है, उसे फाँसी पर ही सटकाया जाना चाहिए। न्यायाधिकारी ने पूछा— क्या कोड़े लगाने की सजा से काम चल सकता है? भीड़ ने कहा— नहीं! नहीं!!

भीड़ का बोल-बाला था। न्याय तो कण्ठपुतली का था। राज्य तो अविवेकियों की भीड़ कर रही थी। पीलातुस ने अपनी कुछ चलनों न देखी तो एक उपाय सोचा। ईसा गलील प्रान्त का नागरिक है खे उसे संहिता के अनुसार उसी देश के राजा को दण्ड देने का अधिकार है। अस्तु, उसे गलील प्रान्त के राजा हेरोदेश के पास भेजना चाहिए। उन्होंने वैसा ही किया भी।

राजा हेरोदेश ने गहराई के साथ पूरी छानबीन की पर ईसा पर कोई दोष सिद्ध नहीं हुआ। सो उन्होंने बन्दी को पीलातुस के पास वापस भेजते हुए लिखा— मेरी राय में वह न तो अपराधी है और न दण्ड का अधिकारी।

पीलातुस, निर्दोष को दण्ड नहीं देना चाहते थे पर भीड़ की चिल्लाहट प्राणदण्ड से कम पर राजी नहीं हो रही थी। सो खोज कर न्यायाधिकारी ने कहा— तुम्हें जो देखे सो करो। मुझे विवश न करो। पर भीड़ भत्स क्यों मारने लगी उसने यही कहा हमारी इच्छानुसार दंड देने में ही तुम्हारी भलाई है।

भीड़ के राज्य में न्यायाधिकारी की बत्स चलती। ईसा को क्रूस की ओर घसीटा जाने लगा तो पीलातुस ने एक और प्रयत्न किया। उस दिन पर्व का दिन था। पर्व पर एक अपराधी को क्षमादान दिये जाने की प्रथा थी। सामने दो अपराधी थे एक हत्यारा शकू बरअब्बा, दूसरे ईसा। दोनों में से न्यायाधीश ईसा को छोड़ना चाहते थे। पर भीड़ चिल्लाई— बरअब्बा को मते ही छोड़ दिया जाय पर ईसा को तो क्रूस पर ही चढ़ना चाहिए।

न्याय की एक न चली, हुआ वही जो भीड़ ने चला। क्रूस की ओर घसीटते हुए ईसा को सिपाहियों ने कोड़े मारे, लात घुंसे लगाये, थूका, काँटों की टोपी पहनाई और तरह-तरह से सताया। भीड़ को खुश करने को उत्सुक सिपाहियों के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय था भी नहीं।

ससार में सदा से बहुसंख्यक अविवेकी लोग हो रहे हैं। विचारशीलों की संख्या उनसे सदा कम रहती है, सो भीड़ की बात जहाँ चلتो है वहाँ न न्याय की बात चलती है और न औचित्य को मान्यता मिलती है। भीड़ जो चाहे सो करले जब ऐसी स्थिति आ जाय तो न कोई तथ्य को देखता है और न सत्य को।

प्रवाह का विरोध करने के लिये बहुत बड़ा आत्मबल चाहिए उसले आदमी सत्य का समर्थन तभी तक करते हैं जब तक वैसा करना निरापद लगता है, जब भीड़ के प्रकोप में अपने ऊपर भी आँच आती देखतो है तो वे भी उछड़ जाते हैं।

ईसा के बारह शिष्य थे। इस कठिन अवसर पर वे सभी भाग कर वहीं जा छिपे। एक शिष्य पतरस न्यायालय के आँगन तक साथ गया। महायाजक के सौकरों ने कहा— क्या तू भी ईसा का साथी है। तो उसने कसम खाकर कहा मैं तो उन्हें जानता तक नहीं। दस शिष्यों का कहीं पता न था। बारहवें ने एक और चमत्कार किया का— उसने संकट की घड़ी आने से पूर्व ही सरकारी मुखबिर बनकर ईसा को पकड़वा दिया और तीस रुपका इनाम लिया। उसका नाम था— जुदास।

यों बाद में ईसा की पहचानता को सब ने समझा, भीड़ ने भी तीस रुपये में गुरु को बेचने वाले जुदास ने वे रुपये महायाजक को वापस लौटा दिये और स्वयं आत्म ग्लानि की पीड़ा से बचने के लिये फाँसी लगाकर आत्महत्या करली। वे खूनी रुपये महायाजक ने भी वापस नहीं लिए और उन्हें खेत में गढ़वा दिया। खून से सने रुपये जिसमें गाढ़े गंधे थे वह खूनी खेत अभी भी अपने में अन्तर्कथा भरे जहाँ का तहाँ पड़ा है।

भीड़ में इतनी समझ कहाँ होती है कि वह विवेकपूर्ण निर्णय कर सकें। आवेश के प्रवाह में लोग किधर भी बहते रहते हैं। इसलिए भीड़ की माँग को नहीं, न्याय की पुनर को मान्यता मिलनी चाहिए ईसा-पवित्र कर्तव्य से निकल। यह निष्कर्ष अनन्त काल तक आकाश में गूँजता रहेगा।

उपचार पतित पीड़ित का सबसे पहले

उन दिनों ईसा मसीह प्रचार कार्य में संलग्न थे। जगह-जगह जाना और नेकनीयती का उपदेश देना उनका मुख्य काम था।

घूमते हुए एक बार वे एक नगर में पहुँचे, तो वहाँ उनके उपदेशों की धूम मच गई। नगर के हर कोने से सभाओं की माँग होने लगी स्थान-स्थान पर उनका आयोजन होने लगा। उन्हें सुनने के लिए जान-सफुदाव बाढ़ की तरह उपड़ पड़ता, फिर भी ऐसा जान पड़ता कि वे प्यासे के प्यासे ही हैं, ज्ञान-पिपास उनका शान्त हुई नहीं है। बड़ी संख्या में सम्प्रान्त नागरिक भी उन्हें सुनने आते और उनके आचरण व उपदेश की प्रशंसा करते नहीं चकते। जो वे कहते, वह आचरण में भी दिखाई पड़ता। इसी कारण जन-समूह सैलाब सा उमड़ता प्रतीत होता। गली-मुहल्लों, नुक्कड़ चौराहों पर सर्वत्र उन्हीं की चर्चा हर समय छावो रहती।

एक बार नगर के एक विशिष्ट मुहल्ले से उनकी माँग आयी वह मुहल्ला उपेक्षित वेश्याओं का था। प्रभु ईशु ने वहाँ जाना स्वीकार

कर लिया। दूसरे दिन जब वे वहाँ पहुँचे, तो उनका भव्य स्वागत किया गया। मिलने-मिलाने की औपचारिकता के उपरान्त उन्होंने उद्बोधन आरंभ किया।

“देवियो! हमारे यहाँ धर्म गुरुओं का कहना है कि भगवान् पाँचवें आसमान पर रहते हैं। धुस्लिम धर्म-वाले कहते हैं कि उनके भगवान् सातवें आसमान पर निवास करते हैं। हिन्दू धर्म में भी कुछ ऐसी ही मान्यता है कि उनके तथाकथित देवता ऊपर कहीं स्वर्ग लोक में वास करते हैं, किन्तु उस निराकार सत्ता को देखा किसने है? न हमने न आपने, पर यदि हम चाहें तो उसके साकार और जीवन्त स्वरूप को मनुष्य के रूप में अवश्य देख सकते हैं, मगर इस सम्पत्ति बैठे जनसमुदाय के रूप में नहीं, वर्तमान समाज के रूप में नहीं। मनुष्य के इस रूप में तो अनेकों कमियाँ हैं, अगणित छुटियाँ हैं, अनेकानेक दोष-दुर्गुण हैं। जब तक हम इन्हें हटा-मिट्टा कर सही अर्थों में इन्सान नहीं बन जाते, तब तक हमें मनुष्य रूपी भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। हमें अपनी बुराइयाँ त्यागनी पड़ेंगी, व्यसन छोड़ने पड़ेंगे, द्वेष-भाव मिटाने और सद्भाव बनाने पड़ेंगे, तभी वास्तविकता के निकट हम पहुँच सकेंगे। यह निर्माण का प्रथम चरण है और गम्भीर-खलाई की आरंभिक एवं महत्वपूर्ण प्रक्रिया। इसके बाद भगवान् के निकट पहुँचने और उन जैसा बनने की कड़ी आती है।”

सभा में आज दिव्य नीरवस्था छायी हुई थी। लोग मंत्रमुग्ध होकर प्रभु ईशु का संदेश सुन रहे थे। सभी के चेहरों पर गहन गंभीरता स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। इससे पूर्व की सभाओं में श्रोता इतने बेसुध कभी दिखाई नहीं पड़े थे, पर सद्यः वहाँ का वातावरण ही अपूर्व था।

उन्होंने थोड़ा रुककर पुनः कहना आरंभ किया “भगवान् का जब कभी अवतरण होता है तो उसका प्रथम लक्षण है— भाव संवेदना, इससे व्यक्ति में दया, प्रेमता, करुणा, उदारता, सेवा, सहकारिता जैसे भाव उसमें हिलोरे लेने लगते हैं। इस विश्व में न जाने कितने पब-पन्थ और मत-मतान्तर हैं। उन सबके अपने पृथक्-पृथक् भगवान् हैं, उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु समानता एक ही बात की दिखाई पड़ती है कि वे सभी भव-संवेदन से ओत-प्रोत हैं। हमें आज इसी गुणवाचक भगवान् को पृथ्वी पर उतारना है। देश, धर्म, भाषा, क्षेत्र व रूपवाचक भगवान् को नहीं। बगल में बहने वाली टेम्स नदी में आये दिन कितनी ही नालियाँ और गंदे माले मिलते रहते हैं, पर उसमें विलय के बाद वह नाले का गंदा जल नहीं रह जाता, वरन् टेम्स नदी का पवित्र जल बन जाता है। उनमें एकरूपता आ जाती है। सभी एक समान बन आते हैं। आज इसी एकरूपता को इस धरित्री पर लाना है। ऐसा तभी संभव है, जब व्यांक्त परटु, ख कातरता का विकास करे, अपने को ‘स्व’ की परिधि में सीमाबद्ध न रखकर ‘पर’ की अपरिमित सीमा तक विस्तृत कर दे। उसमें औरों के दुःख के प्रति कसक, दर्द के प्रति तड़पन, कष्ट के प्रति सेवा और कठिनाई के प्रति सहकार की भावना बरसती नदी की तरह उम्रन माने लगे, तो समझना चाहिए कि दैवी सत्ता का अवतरण होने लगा है और धरती पर स्वर्ग उतर आने की भूमिका

बनने लगी है। जब पृथ्वी की अधिकांश आबादी ऐसे नर-रत्नों की हो जाय, तो यह कहने में किसी को तनिक भी संकोच न होगा कि स्वर्ग का मूर्तिमान रूप धरती पर अवतरित हो गया है और इसान भगवान् बन गये हैं, मानव, महामानव व नर, नारायण की प्रतिमूर्ति हो गये हैं, किन्तु ऐसा तभी हो सकेगा, जब दैवियाँ कहलाने योग्य आप जैसी नारियाँ नर-कीटक की जिन्दगी छोड़कर नव-निर्माण के समाज कल्याण के काम आये।”

इतना कहकर ईशु ने व्याख्यान समाप्त किया। आज के भाव भरे अङ्गूर से उपस्थित जनों की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई थी, प्रतीत ऐसा हो रहा था मानो कोई अपने घर में न हो। किसी के आँखों से झरझर आसू बह रहे थे, तो कोई आनन्द के अतिरेक में उन्मत्त हो रही थी। किसी की स्थिति फगलों जैसी बन गई थी, तो कई निर्लिप्त भाव से बेसुध पड़ी थीं। कुल मिलाकर वातावरण अत्यन्त दिव्य बन गया था। सभी ने प्रभु की उपस्थिति में अपने विगत जीवन की मृत्यु और आज से नया जन्म धारण कर नये सिरे से नई जिन्दगी की शुरुआत का संकल्प लिया।

प्रभु जाने लगे, तो भव्यतिरेक की स्थिति में कैथरीन नामक वातंगना ने उनका रुग्ण शोक लिखा। भाव-विह्वल होकर कहने लगी—

“भगवान्! आज आपका शुभागमन न होता, तो न जाने हम सब कब तक इस गंदे जीवन को जीते और समाज को गंदा बनाते रहते। संभव था कि वह सम्पूर्ण जिन्दगी ही इसमें खप जाती, किन्तु धन्य हैं आप जो हम सब का उद्धार कर दिया, समब रहते आँखों पर बंधी पट्टी उतार दी और सही वक्त पर सही मार्ग-दर्शन किया परन्तु हमारे एक ऊँकट अभिलाषा है देव!” इतना कहकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी और फूट-फूट कर रोने लगी। भगवान् ईसा ने उसे उठाया और आश्वासन के स्वर में कहा—

“तुम्हारी इच्छा यदि पूरी करने लायक हुई, तो हम अवश्य पूर्ण करेंगे। कष्ट, निःसंकोच होकर कहे।”

“अत्यन्त छोटी आकांक्षा है प्रभु!”—कैथरीन का प्रकम्पित स्वर उभरा “वह कदाचित् आपकी सामर्थ्य से परे भी नहीं है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि कल आप सब धरे यहाँ पधारकर भोजन ग्रहण करें, तो मैं इस शुद्ध जिन्दगी की किसी हद तक धन्य मान सकूँगी।”

“बस, इतनी सी-बात।”—प्रभु तनिक मुस्कराये और बोले—“हम अवश्य आवेंगे, तुम चिन्ता न करो।” इतना कहकर वे अपने शिष्यों के साथ चल पड़े, किन्तु इस घटना के उपरान्त पीछे चल रही शिष्य मण्डली में कुछ बचानाफूसी होने लगी, जिसकी कुछ अस्पष्ट ध्वनि ईसा के कानों से भी टकराई। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य सिमोन से पूछा—“बात क्या है? किस प्रसंग की घर्चा चल रही है?”

मुखर सिमोन से न रहा गया। उसने कहा—“इन पृथिवी नारियों को आपने दिशा-निर्देश दिया, क्या इतना कम था, जो नियंत्रण भी स्वीकार कर लिया? इससे हमारी जीवि धूमिल होगी। लोग हम पर अंगुली उठायेंगे।”

‘सिमोन’ एक बात का सदा ध्यान रखना” प्रभु की गम्भीर बाणी उभरी— “बुरा कार्य निश्चय ही निन्दनीय है, उससे व्यक्ति को बचना चाहिए, किन्तु जिस कार्य से औरों का भला होता हो, उसमें पीछे भी नहीं रहना चाहिए। समाज चाहे कुछ भी कहता रहे, ऐसी भ्रान्ति देर तक टिकती नहीं। ग्रहण तो सूर्य पर भी लग जाता है, पर उसकी प्रखरता के आगे वह देर तक अपना अस्तित्व कहाँ कायम रख पाता है। यह नारिखे समाज की कद है। हमें सबसे पहले इन्हीं का उपचार करना होगा और तब तो स्वयं एक अच्छे चिकित्सक हो। एक बात बना सकोगे ?”

ईसा की प्रश्नवाचक दृष्टि सिमोन पर ठहर गयी। “ये लोगियों ये से एक सदी-जुलूम का सामान्य और दूसरा जानलेवा गंभीर व्याधि से आक्रान्त हो, तो इनमें से प्राथमिकता किसे दोगे ?”

‘गंभीर रोगी को।’ सिमोन का स्वर था।

“यह भी ऐसी ही मरीज है, अतः इलाज प्रथम इन्का हो लेना चाहिए।” — ईसा की दृढ़ बाणी थी। सिमोन निरुत्तर हो गया।

दूसरे दिन ईसा अपने शिष्यों सहित कैथरीन के घर पहुँचे और भोजन किया। कैथरीन ने जब यह प्रसंग सुना, तो वह सन्त की सहृदयता पर गद्गद हो उठी। उसी क्षण उसने ईसा का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया जिसने भी यह घटना सुनी, सन्त की पसनाता के प्रति उसका मन सहज श्रद्धा से भर उठा। हेम्पशावर, इंग्लैण्ड का यह मुहल्ला आज भी उक्त घटना के लिए प्रसिद्ध है।

धनिकों की दुर्गति

ईसा अपने शिष्यों से बोले— ‘ईश्वर की कृपा का गणित न्याय है।’ एक मनमौजी था। अल्लोशान मकान, सेवा में खूब नैकर। रोज सुस्वाद भोजन हमेशा छा, हमेशा पी का टीर। वह बड़ा धनी था। लेकिन ईसा बोलते-बोलते रुक गये। धीरे-धीरे एक शिष्य पृष्ठ बैठा— “लेकिन क्या हुआ भगवन् ?” ईसा ने गम्भीर होकर अपनी बात जारी रखी— “वह प्रभु को भूल गया था। जिस प्रभु ने उसे इतनी आराम की जिन्दगी दी। उसे वह बाद तक नहीं करता। घमण्ड में रहता। सीना लाने चलता। बड़ा गुस्सा था उसे अपनी अभीरी और खुशहाली का। उसी धनी मनुष्य के दरवाजे पर लाजर नाम का एक कंगाल आया करता। धनी के घर मेज पर जो जूठन बकती, उसे दी जाती थी। उसकी देह पर कस थे। कुत्ते उन पावों को चटते थे। लाजर सदा हृदय से प्रभु का स्मरण करता और सतत प्रभु की प्रार्थना कर उसके गुणगान गाता। अपनी दयनीय स्थिति का जरा भी दुःख न करता। वह दीन न था, नम्र था। प्रभु की करुणा। एक दिन वह कंगाल मर गया, तो स्वर्ग के दूत नीचे उतर आये और उसे ले गये इब्राहीम के पास। इब्राहीम ने उसका स्वागत करते हुए कहा— ‘आओ बेटा ! मेरी गोद तेरी प्रतीक्षा कर रही थी।’ लाजर इब्राहीम की गोद में अत्यन्त आनन्द से लेट गया।

उधर उस धनवान की भी मृत्यु हुई। उसके शव की यात्रा लोगों ने निकाली। बड़ी धूमधाम से शोक मनाया गया। शहर में सभा हुई। उसकी प्रशंसा की गयी। जब पर लोगों ने फूलों की वर्षा की। समस्तान

में उसका शव दफनाया गया। देवदूतों ने उसकी खानगी नरक में की। नारकीय आग में उसे बहुत ही घातनाई होने लगी। वह चिल्लाने लगा। आँखें उठाकर क्या देखता है कि बहुत दूर पर इब्राहीम की गोद में लाजर श्रुति से लेटा है। वह लाजर जो इस धनी की जूठन पर जीता था। धनी ने चीखकर कहा ‘हे पिता इब्राहीम ! दया करो लाजर को यहाँ भेजो। अपनी अँगुली का सिरा पानी में धिगो कर मेरी जीभ को बह ठण्डी करेगा। मैं तड़प रहा हूँ इस ज्वाला में, दया करो, दया करो।’ पर इब्राहीम के और उसके बीच एक बड़ी खाई थी। दूर से ही इब्राहीम बोला ‘देख बेटा, अपने बीच यह जो खाई है उसे कोई लांघ नहीं सकता। न तुम्हारी ओर से इधर कोई आ सकता है और न हमारी ओर से उधर कोई जा सकता है। वह धनी व्याकुल स्वर से चिल्लाया— ‘ऐसा क्यों किया ? मुझ पर दया क्यों नहीं ?’ इब्राहीम बोला— “मेरे बेटे, याद करो। अपने जीवन में सब अच्छी से अच्छी चीजें तुम ले चुके हो और लाजर अपने जीवन से बुरी से बुरी चीजें। अब वह वहाँ चैन से, शांति से है।” धनी को याद आई, पृथ्वी पर उसके भाई थे। उसने कहा— ‘हे पिता ! लाजर को पृथ्वी पर मेरे घर भेजो। वहाँ मेरे पाँच भाई हैं। लाजर जाकर उनको सावधान करे। नाकि वे मेरे जैसे इस घातना के स्थान में न आयें।’

इब्राहीम ने कहा— “पृथ्वी पर मूसा है और भी कई सन्त सत्पुरुष हैं। तुम्हारे भाइयों को उनका उपदेश सुनने दो और उसे अमल में लाने दो।” धनी चिन्ता में डूबता बोला— “नहीं, नहीं ! वे उनकी बातें नहीं मानेंगे। मैं भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया करता था।” इब्राहीम ने कहा— “तो फिर मृत्यु से ठठकर लाजर वहाँ जाये, तो लाजर की बातें भी वे नहीं सुनेंगे। अतः इनके कर्मों का फल वे भुगतें।”

इतना कहकर ईसा शांत हो गये। कहानी समाप्त हुई। शिष्य आपस में फुस-फुसाने लगे। उनसे ईसा ने कहा— “‘दुनिया को हम ठग सकते हैं, लेकिन परमात्मा प्रभु हमारा हृदय जानता है। वह न्याय करता है। अपने ही मौज-मैक में रहने वाले, दीन-दुःखियों की उपेक्षा और अवहेलना करने वाले इस धनी जैसे घमण्डी को प्रभु कभी क्षमा नहीं करते।’

आत्मसत्ता कभी पापी नहीं होती

सहमते हुए उसने दृष्टि उठाई। लगा वह इस दृष्टि के माध्यम से अपनी संपूर्ण व्यथा एक बारगी उड़ेल देना चाहती हो, नेत्रों के मौन स्वर्ण से अस्तित्व के स्पन्दन झर रहे थे। न जाने कितने समय से वह उनके पास आने की सोच रही थी। कितनी आशाएँ, कितनी आकांक्षाएँ नहीं संजोई थीं आज तक उसने। कभी-कभी तो दिवस रात्रि भावनाओं और कल्पनाओं की उमगती लहरों के बीच साण की तरह खड़े जाते। पर मिलना इतना सहज नहीं था। समाज की पारम्परिक व्यवस्था ने एक-एक अनागिनत लौह मृखलाओं से उसके अस्तित्व को जकड़ रखा था। उबरने के हर प्रयास का परिणाम— होता विफलता और विफलता को निराशा का जामा पहनने में भला कितनी देर लगती थी। निराशा के इस निविड़तम में आशा की एकमात्र किरण

सोचते-सोचते अचानक उसके सारे शरीर में प्राण विद्युत की लहर दौड़ गई।

‘कतूशा’। सामान्य स्वरों में कहे गए इन शब्दों के साथ ही वह स्वयं में चैतन्यता अनुभव करने लगी। निराशा, भय तथा डर का सम्मिलित कुहासा शब्दधान से छंटता प्रतीत हुआ। एक विलक्षण चमत्कार की अनुभूति कर रही थी वह। चमत्कार की विलक्षणता शब्दों में नहीं कहने वाले की वाणी में थी। अन्वया शब्द तो उसके लिए धिर प्राचीन थे। शैशव से लेकर आज तक दिन में पता नहीं चलने बार अपने इस नाम का उच्चारण सुन्ती आये थी। पर आज की बात ही कुछ और थी। पुकारने वाले के पास आने का इशारा किया। पास बैठे हुए लोगों ने एक-एक कर दोनों को तीक्ष्ण नजर से देखा, देखने वालों की आँखों में आश्चर्य और तिरस्कार के मिले-जुले भाव थे।

यबूदी शमीन को भी कम आश्चर्य न था। उसी ने उन्हें अपने यहाँ भोजन के लिए निमंत्रित किया था। खेच इसी बहाने महापुरुष के घरणों से अपना भवन पवित्र हो जाएगा। पर तब तो उसे अमहनीय लगने लगा जब कतूशा ने पास बैठकर उनके घरण पोंछे फिर उन्हें चूमने लगी। शमीन के मन की छेरी शंकाओं ने घेर लिया। वह सोचने लगा “यदि यह सर्वज्ञ होते तो इस दुराचारिणी को अपना स्पर्श क्यों करने देते?”

वस्तुस्थिति को समझकर ईसा मुस्कराए। उन्होंने शमीन को अँगुली के संकेत से पास बुलाया। पास आने पर शंका का निवारण करने के लिए एक कहानी सुनाने लगे—“एक महाजन के दो कर्जदार थे। एक पर पाँच सौ दीनारों का कर्ज था और एक पर केवल पचास दीनारों का। महाजन के पास दोनों व्यक्ति गए और अपनी असमर्थता प्रकट कर गिरागिराने लगे।

महाजन ने कहा—“यदि आप इस स्थिति में नहीं हैं कि कर्ज पटा सकें तो आपकी माफ़ किया। शक्ति में कम-ज्यादा का फर्क जरूर था, पर माफी दोनों को बराबर दी गई। यदि ध्यान से देख सको तो पाओगे कि सबसे ज्यादा माफी पाँच सौ दीनार वाले कर्जदार को मिली। क्योंकि महाजन की दृष्टि में इसके प्रति निष्ठा और पात्रता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक थी।”

शमीन। यही बात तो आज कतूशा के सम्मुख में है। इसने अपने में जितनी पात्रता विकसित की है उतनी यहाँ मैं तुममें से किसी में नहीं देख रहा हूँ। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह अपने समूचे जीवन को बदल झालने की योजना बना चुकी है। जबकि तुम केवल एक समय भोजन करवाकर ही उसके पुण्य लूटना चाहते हो। इसलिए मैंने तुम्हारी निष्ठा के अनुसार दिया है और कतूशा को उसकी निष्ठा और विश्वास के अनुसार।

उपस्थित सभी लोग एक स्वर से चिल्लाए—ईसा! तुम कतूशा को क्षमा कैसे कर सकते हो? यह तुम्हारा दुस्साहस है। दुष्टों को क्षमा करने का अधिकार तो केवल ईश्वर को है।

इन सबों के क्रोधित स्वर पर उन्हें हँसी आ गई। बोझा स्वर कर हँसते हुए बोले—मैंने आज तक नहीं सुना कि ईश्वर किसी को वेश्या

या दुष्टाचारी बनाता है। किसी भली स्त्री को वेश्यावृत्ति की ओर ले जाने वाले तुम सब समाज के प्रतिनिधि हो। तुम्हें किसी कन्या को वेश्या बनाने का अधिकार किसने दिया? कतूशा को अपने विगत जीवन के दुष्कृत्यों पर कितनी आत्मगतानि है। इस आत्मगतानि से अधिक पवित्र भला किस सरिता का जल है।

ईसा ने कतूशा की ओर मुड़ते हुए उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखते हुए कहा—देवि! तुम्हारी आत्मगतानि विश्वास की खाँ बरेगी और सारे कलुष तथा पापों को भस्म कर कचन की तरह खरा बना देगी। प्रयश्चित्त अन्त-करण की सहायता में फेर बदल कर झलने के लिए उतारू प्रबल पुस्कार्य है। इसके द्वारा हर कोई अपने विगत पाप-कर्मों का शमन करके नव-जीवन प्राप्त कर सकता है।

न कोई घुरा है न पापी

जेकस कई शराब-घर चलाता था। उसके शराब-खानों से जहाँ रईस अभीरों को शराब बेची जाती थी वहीं गरीब मजदूरों को भी शराब बेची जाती थी। अभीर उमराव तो उसके यहाँ से कोई ज्यादा मात्रा में शराब पंग्रते नहीं थे। उसके शराब-घरों में अधिक ग्राहक गरीब और मजदूर-पेशा ही आते थे। अपने ग्राहकों को फँसाने के लिए वह बड़ी ही गालबत्ती से काम लेता था पहले तो अपने आदमियों को उनके पास दोस्ती करने के लिए भेज देता था जो उनसे दोस्ती गाँठ कर उनमें शराब की लत लगवा देते थे और जेकस के नियमित ग्राहक बना देते थे।

शराबियों के पास कोई पूँजी तो जुट नहीं पाती। अगर होती भी है तो वह धीरे-धीरे खत्म हो जाती है। फिर अगर वह आदत किसी गरीब आदमी को लगे तो उसके परिवार का अमन धैन भी जाता रहता है। वह अपने परिवार की जरूरतों की उपेक्षा कर शराब पीता रहता है। जेकस ऐसे लोगों को उस समय उधार देता था फिर बड़ी बेरहमी से अपना पैसा वसूल करता था। इसलिए लोग जेकस को अनाधारी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में जानने लगे थे। इस घन्बे के अतिरिक्त सघाट ने उस पर टैक्स वसूली का काम भी छोड़ दिया था। जिस समय वह टैक्स वसूली के लिए निकलता था उस समय तो उसका रूप ही बदल जाया करता था। हाथ में हण्टर व कोड़े लिए बैक्स जब भी टैक्स वसूली करने निकलता तो लोग डर के घारे घरों में जा छुपते। जिन पर बकाया टैक्स निकलता था—न दे पाने पर वह उन्हें कोड़ों से पिटाता और बुरी-बुरी बातनाएँ देता।

एक बार उस गाँव में ईसा का आगमन हुआ। लोगों ने बताया कि जेकस बहुत दुराचारी व्यक्ति है और वह ईसा के आने से बहुत क्रुद्ध है। क्योंकि ईसा लोगों को नेक व शराफत की जिन्दगी जीने का उपदेश देते थे। उनके उपदेशों का लोगों पर प्रभाव भी होता था कइयों ने उनसे प्रभावित होकर शराब, नशा और कुमार्ग छोड़ा था जेकस के नराज होने की बात जब ईसा को पता लगी तो उन्होंने कहा “मैं जेकस के घर जाऊँगा और करत उसी का आनिध्य ग्रहण करूँगा।”

जेकस को जैसे ही इस बात का पता चला तो उसने जंगल की ओर जाने का कार्यक्रम बना लिया। वह ईसा से मिलना नहीं चाहता था, क्योंकि उसने उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ सुन रखी थीं। जब ईसा उसके घर पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वह तो जंगल में चला गया है। वे भी कहीं मनाने वाले थे उसे खोजते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ जेकस था। उसने जब उनको देखा तो बड़ा हैरान हुआ और हैरानी का तब तो और छिन्नना नहीं था जब ईसा ने कहा “जेकस मैं आज तुम्हारा अतिथि बनने के लिए आया हूँ”। ऐसा कह उसे हृदय से लिपटा लिया। पेड़ों की आड़ में चुपके छद्म शिष्य यह सब सुन रहे थे। उन्होंने सोच रखा था कि अब शामद उपदेश शुरू हो। अब संस्कारों के लिए दबाव छल्ला जाय। किन्तु वहाँ ऐसा तो कुछ भी नहीं था। दोनों ही मौन और भाव-परे नेत्रों से एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। अन्त में जेकस ने धुप्पी तोड़ी। वह बोला “प्रभो मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ, आज से आपके सामने संकल्प लेता हूँ कि मैं स्वयं कुम्भार पर चलूँगा और न दूसरे को प्रेरित करूँगा साथ ही अब तक की अपनी सारी कमाई दरिद्र-नारयण की सेवा में अर्पित करूँगा तथा जिनसे मैंने अनुचित धन प्राप्त किया है उन्हें चौगुना वापस करने का वचन देता हूँ” ऐसा कह ईसा के चरणों में मस्तक झुकवा और उठकर चलता बना।

पेड़ों की आड़ में छद्म शिष्य यह सब क्रिया-कलाप देख रहे थे। उन्हें जेकस का व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आड़ से निकल ईसा के सामने आए और धौंकके स्वर में बोले “प्रभु! आपने तो उपदेश भी नहीं दिया फिर वह चपत्कार कैसे पटित हुआ? इतने खतरनाक आदमी को आपने कैसे वश में कर लिया?”

“प्रभावी व्यक्तित्व होता है उपदेश नहीं—मेरे बच्चे! ईसा का स्वर उभरा बुराईयाँ छोड़ने का संकल्प दिलाने का प्रचार अधिकार उन्हीं को है जो मन, बाणी, अन्तःकरण से पूर्णतया मुक्त हो चुके हैं। तुम में अवश्य ही बुराईयाँ शेष होंगी तभी जेकस ने संकल्प नहीं ग्रहण किया। वस्तुतः कोई व्यक्ति बुरा नहीं होता और न खतरनाक। उससे कुछ भूलें होती हैं जिनका परिमार्जन निश्चित रूप से सम्भव है।”

आत्मविश्वास

ईसा मसीह की असाधारण सफलता एवं उनके अभिनव ऊर्चर्य में उनके व्यक्तित्व में निहित गुण ही मुख्य थे। उनका सबसे पहला गुण था उनका आत्मविश्वास। ईसा में असीम विश्वास था वे कोई भी कार्य करते समय उसकी सम्पन्नता के प्रति पूर्ण आश्चर्य रहते थे तथा पूरे विश्वास के साथ उसे पूर्ण करते थे। दूसरा विलक्षण गुण उनमें था व्यक्तित्व को परखने की शक्ति। अपने प्रथम सम्पर्क में ही वे मनुष्य में अन्तर्हित योग्यता एवं शक्ति का आभास कर लेते थे तथा तदनुसार अपने अनुकूल योग्यता वाले व्यक्तियों को वे अपने पास रखते थे। उन्होंने अपने १२ प्रमुख शिष्य चुने थे। वे बारह

व्यक्ति, बाहर रूप से कोई अच्छी पृष्ठभूमि के नहीं थे वह इनके चयन के समय इनके साथी आशान्वित नहीं थे, परन्तु बाद में इन बारह शिष्यों की कर्मठता को देख सब लोग आश्चर्यचकित हो ईसा मसीह की परख की प्रशंसा करने लगे थे। इन बारह व्यक्तियों में से कोई मनुआ या तो कोई साधारण दुकानदार। वे सभी साधारण से व्यक्ति थे। उनमें न कोई विशेष योग्यता ही थी न कोई मान्य उपलब्धि ही उनके पास थी तथापि वे आगे चलकर ईसा की सेवा में आकर स्वर्णवत् बन गये। इन व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को विकसित करने के लिए ईसा मसीह ने सर्वप्रथम उन्हें ‘शिष्य’ देना प्रारम्भ किया। अनवरत तीन वर्षों तक अपनी पूरी क्षमता एवं योग्यता की शक्ति लगाकर ईसा मसीह ने इन बारह व्यक्तियों का शिक्षण कर इनमें अभिनव संस्कार छले।

तीन वर्ष के प्रवासों के बाद भी शिष्यगण ईसा मसीह को पूर्णतः समझ नहीं पाये थे। वे शिष्यगण सदैव ही यह पूछते रहते थे कि इतना सब कर ईसा कौन-सा राज्य स्थापित करने जा रहे हैं व उस राज्य में उन्हें (शिष्यों को) क्या-क्या पद मिलने वाले हैं। अपने शिष्यों के इस प्रकार के उपहासस्पद के मीराश्यपूर्ण व्यवहार से भी ईसा ने धैर्य नहीं खोया वे निरन्तर अपने लक्ष्य की पूर्ति में लगे ही रहे व फिर विश्व ने देखा कि अन्ततः ईसा के विश्वास धैर्य व साहस को सफलता मिली।

जैसा बनना चाहते हो वैसा करो

ईसा ने कहा—तुम बड़े बनना चाहते हो तो उन गुणों को पूजो जिनके कारण मुझे बड़ा मानते हो। जिसे बहुमन्य प्यारा हो वह सबक सेवक बने और सबसे छोटा माने। सुख चाहते हो दूसरों को सुख दो और बन्धन से छूटना चाहते हो तो उन्हें छुड़ाने का प्रयास करो जो तुमसे भी अधिक बड़े बन्धनों में जकड़े हुए दुःख सह रहे हैं।

वैराग्य का उपदेश

महात्मा ईसा कहीं जा रहे थे कि मार्ग में उन्होंने अपने मैथ्यू नामक शिष्य को देखा। उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह उसे शे-रोकर दफन कर रहा था।

मैथ्यू ने जैसे ही ईसा को देखा, वैसे ही दौड़ कर उनके पास आया और आस्तीन घुमकर तुरन्त ही अपने पिता के शव की ओर लौट पड़ा।

ईसा ने समझा कि इसकी मृत नहीं मरी। अतः उन्होंने मैथ्यू को पुनः कर अपने पास बुलाया और उसे आज्ञा दी—‘जिसकी मृत्यु हो गई वह भूत का साथी हुआ, तू उसकी लाश से मोह का वर्तमान से दूर क्यों होना चाहता है?’

जब तक मैथ्यू कुछ समझे तब तक ईसा फिर बोल पड़े—‘समय बड़ा बलवान है, इसने अनेक लाशों को यत्नपूर्वक दफनाया है। उसके लिए तेरे पिता की लाश का दफनाना कुछ कठिन कार्य नहीं है।

मैथ्यू इस असमंजस में था कि वह इस समय क्या करे? तभी उसने ईसा की स्पष्ट आज्ञा सुनी—‘भूत को भूत देखता रहेगा, तू कहीं से मेरे साथ आ।’

शिष्य को गुरु की आज्ञा माननी पड़ी और वह लाश को वहीं पड़ी छोड़कर उनके साथ चल दिया। संयोग की बात है कि जब वह दोनों आगे बढ़े तो ईसा का एक अन्य शिष्य भी उन्हें अपने पिता की लाश दफनाता हुआ मिला। परन्तु जैसे ही उसने अपने गुरु को देखा वैसे दौड़कर उनके पास पहुँचा और उनके साथ चल दिया। ईसा ने उसे देखा तो बोले—अरे, तू क्यों चला आ रहा है ?

शिष्य ने साथ चलने का हठ किया तो ईसा बोले—ऐसी कोई जल्दी नहीं है। मैं आगे के गाँव में ठहरूँगा। तुम लाश को दफन कर वहीं चले आना।

वह शिष्य तो चला गया, परन्तु एक-समय घटनाओं पर दो प्रकार की व्यवस्था सुनकर मैथ्यू को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने गुरु से पूछा—‘इसका क्या कारण है गुरुदेव ! अपने मुझे तो अपने पिता की लाश को दफनाने भी नहीं दिया और उसे अपने पिता को दफन करने की आपने स्वयं आज्ञा दी। एक प्रकार की घटनाओं पर ही दो प्रकार की आज्ञा क्यों ?’

ईसा ने उसे समझाया—‘मैथ्यू ! मैं जो कुछ कहता हूँ वही मेरे अन्तर की आज्ञा है और वह आज्ञा एक निश्चित मत बना कर निकलती है। जीवन की धारा को एक घट पर बाँधा जाना कभी सम्भव नहीं है। धर्म यह कहता है कि एक विचार पर दूसरे विचार को मत टिकने दो। परन्तु ऐसा करना लोहे के बंधन को दृढ़ करने के समान है और मनुष्य का पदार्थ बन्धन लौह-भूखला नहीं, कच्चा सूत है।’

अतः जो राग में फँसा है उसे वैराग्य का उपदेश दो, परन्तु जो राग-मुक्त है, उसे वैराग्य का उपदेश देने से कोई लाभ नहीं।

चिकित्सक का संतोष

ईसा का अधिकांश समय फापी और दुखियों के साथ बीता। वे उन्हीं के साथ अधिकांश समय चर्चा करते और सेवा-सहायता में विरत रहते, एक दिन धनवानों और विद्वानों की मिली-जुलती उनके पास आई और कहने लगी कि आप हम वरिष्ठों की ओर अधिक ध्यान क्यों नहीं देते। हमारी सहायता से आपको प्रयोजन अधिक संयोग।

ईसा मुस्कुराये और बोले रोगी को चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है। सच्चा चिकित्सक वही है जो गैली की अकसर हँसने की अपेक्षा रोगियों की व्याधा समझे और उन्हीं की सहायता करते हुए संतोष लाभ करे।

दुर्गुणों से आत्मा का हनन

जुदास यों जीसस का शिष्य भले ही था, किन्तु यहूदियों की तरह उसके भी मन में जीसस पर कोई भरोसा, कोई ब्रह्म-विश्वास न था। कहते हैं उसने तीस रुपये के लोभ में आकर घेद खोल दिया और जीसस पकड़ में आ गये। जिस दिन जीसस को सूती पर चढ़ाया जा रहा था, उस दिन जुदास भी उन लाखों की भीड़ में मौजूद था। अन्तिम समय जो शब्द जीसस के मुँह से निकले कि ‘परमपूज्य इन बेचारे अज्ञानियों को क्षमा करना। इन्हें पता नहीं कि वे क्या कर रहे

हैं।’ इन शब्दों को सुनकर जुदास की आत्मा काँप गई। उसे ऐसा लगा जैसे उसने काँड़ियों के खेल खिस गँवा दिया। घटना की वास्तविकता का ज्ञान तब हुआ जब दूसरे दिन जुदास ने आत्महत्या कर ली। उसे क्या पता था कि तीस रुपये में वह जगत् की अमूल्य निधि बेच रहा है। इसी प्रकार जब मनुष्य बेईमानी, चोरी जैसे कुकृत्य करता है, तो वह भूल जाता है कि वह अपने अन्दर बैठी पवित्र आत्मा को बेच रहा है।

पीड़ितों-पतितों की सेवा

ईसा मसीह केसर नाम के नगर में पहुँचे। वे दुष्ट दुराचारियों के मुहल्ले में ठहरे और वहीं रहना भी शुरू कर दिया।

नगर के प्रतिष्ठित लोग ईसा के दर्शन करने पहुँचे तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा—‘इतने बड़े नगर में आपको सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसंद न किया ?’

इसते हुए ईसा ने कहा—‘वैद्य मरीजों को देखने जाता है या रांगे लोगों को ? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है। उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा।’

विश्वास की शक्ति सामर्थ्य

पर्यन्त तूफान से गैलीलै झील का पानी बाँसों ऊँचा उठलने लगा। जो नावें चल रही थीं वे बुरी तरह धरधरने लगीं। लहरों का फनी भीतर पहुँचने लगा तो यात्रियों के भय का बारपार न रहा।

एक नाव में एक कोने में कोई निर्द्वन्द्व व्यक्ति सोमा पड़ा था। साधियों ने उसे जगाया। जाग कर उसने तूफान को ध्यानपूर्वक देखा और फिर साधियों से पूछा—आखिर इससे डरने की क्या बात है ? तूफान भी आते ही है, नावें भी डूबती ही हैं और मनुष्य मरते ही हैं। इसमें क्या ऐसी अनहोनी बात हो गई जो आप लोग इतनी बुरी तरह डरबक रहे हैं ?

सभी उसका उत्तर सुनकर अवाक रह गए। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ने कहा—विश्वास की शक्ति तूफान से बड़ी है। तुम विश्वास क्यों नहीं करते कि यह तूफान खल पर काद बन्द हो जायेगा।

धनपीत यात्रियों के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना उस अलमस्त ने आँखें बन्द कीं और अपने भीतर की झील में उतर कहा—पूरी शक्ति के साथ कहा—शान्त हो जा, मुख ! तूफान तुरन्त शान्त हो गया।

सहमे हुए नटखट बच्चे की तरह तूफान रुक गया। नाव का हिलना बन्द हुआ कि यात्रियों ने चैन की सास ली। अब उस अलमस्त यात्री ने—जीसस क्रिस्त ने साधियों से पूछा—दोस्तो, विश्वास बढ़ा है। तूफान को तुमने उससे भी बड़ा क्यों मान लिया था ?

समय को समझें और फर्ज निभाएँ

गणपति ने धरती पर कोप बरसाने का निश्चय किया। सात दिन प्रलय मेघ बरसकर सब कुछ को डुबा देने का निर्णय उन्होंने नूह को भी बता दिया।

महाप्रलय के बाद कुछ न बचेगा तो नई सृष्टि कैसे बनेगी ? नूह की उस जिज्ञासा पर महाप्रभु मुस्कराये, उनकी दूरदर्शिता को देखकर एक नाव बनाने का आदेश दिया । जिस पर वे खुद भी रहे और अपने साथ-साथ पशु-पक्षियों के भी कुछ जोड़े रख लें । जलयान बनाने के लिए एक वर्ष का समय दिया गया । वर्ष पूरा हुआ । महाप्रभु ने नूह को बुलाया और नाव बनने की बात कही । नूह ने सिर नीचा कर लिया । बोले— तीन बड़ई बीमार पड़ गये । लकड़ी बेचने वाला मुकर गया । मैं क्या करता ? चालीस दिन की मुहलत और दी गई । कहा गया कि इस अवधि में समय हो जाना चाहिए । चालीस दिन बीतने पर जब नूह खाली हाथ लौटे, तो महाप्रभु ने गरपाई दिखाई और कारण पूछा । “लुहार बाजा पर बजे गये । मजदूरों ने हड़ताल कर दी । दोनों लड़के गाने-बजाने में लगे रहे । किसी ने साथ न दिया मैं क्या करता ?” नूह ने विवशता व्यक्त करते हुए कहा । सात दिन का अवसर और दिया गया । पशु-पक्षियों के जोड़े बटोर लेने की आज्ञा हुई । अन्तिम दिन आया तो भी वह उन्केले खाली हाथ छड़े थे । बिना पूछे ही बोले— पशु-पक्षी भग्न खड़े हुए । पुचकारने से भी नहीं लौटे, न वे बिकते हैं और न पेरी पकड़ में आते हैं । महाप्रभु अब की कर अधिक क्रुद्ध थे । बोले— ऐसी ही गैर-किन्मेदारियाँ देखकर तो मैं आजिज आ गया हूँ और महाप्रलय बरसा रहा हूँ ? यदि धरती वाले समय और फल को समझते तो मुझे उसे बुझाने की जल्दी क्यों पड़नी ?

आत्मज्ञान

ईसा जब बारह वर्ष के थे, माता मरियम के साथ फरुह का त्यौहार मनाने येरुशलेम जा रहे थे । रास्ते में एक मन्दिर में उपदेश होते उन्होंने सुना और वहीं रुक गये ।

मरियम का अनुमान था लड़का भीड़ में बिछुड़ गया होगा और अगले पड़ाव पर मिल जायेगा । बहुत प्रतीक्षा के बाद भी जब अगले पड़ाव पर वे न मिले तो मरियम वापस लौटीं और उस पड़ाव को खोजा जहाँ से लड़का बिछुड़ा था ।

देखा तो ईसा धर्मोपदेशकों से विवाद कर रहे थे और कह रहे थे जो तुम कहते हो— क्या उसके अतिरिक्त और कुछ सब नहीं हो सकता है ? क्या सत्य किसी वर्ग विशेष की सम्मतिओं तक ही सीमित है ? पंडित उसके विलक्षण तर्कों के आगे सकम्पक रहे थे ।

मरियम ने लड़के को धकड़ा और उठ धलने के लिए कहा ।

ईसा ने कहा— जननी मैं तो अपने पिता का काम कर रहा हूँ, तुम मुझे कहाँ बसीटो लिये जा रही हो । फरुह का त्यौहार येरुशलेम में मनाया जाय इससे तो यही अच्छा है कि पिता के प्रकाश को अँधेरे में बन्दी रहने से छुड़ाया जाय ।

मरियम ने पूछा— भला तब पिता कौन है ? तू तो कुमारी के पेट से जन्मा है ।

ईसा बोले, जो शरीर को जन्म देते हैं वे पिता नहीं हैं । असली पिता है जो आत्मा में प्रकाश बनकर रहता है । त्यौहार मनाने के उत्सव

की तुलना में क्या वह उचित नहीं कि कुहरे की हटाने वाली रोशनी पैदा की जाय । मरियम क्या कहती वह भी लड़के के पीछे चुपचाप बैठ गई और बालक के अद्भुत तर्कों को ध्यानपूर्वक सुनने लगी ।

आत्मपरिष्कार

जब ईसा येरुशलेम से वापस लौटे तो उनके शिष्यों ने आवभगत की और अपनी-अपनी मनोभावनाएँ उनके सामने राखीं ।

शिष्यों में से दो प्रमुख थे— जेम्स और योहन्ना । उन्होंने कहा— प्रभु यदि हमें प्यार करते हैं तो हमारा पद अपने समान ही ऊँचा कर दीजिए ।

ईसा गम्भीर हो गये और कहा— बच्चों, हर कोई स्वर्ग के राज्य में अपने ही प्रयत्नों से प्रवेश करता है । दूसरा कोई दूसरे के लिए कुछ नहीं कर सकता, ऊँचा बनने के लिए मत तल्लाओ छोटे बनकर रहो, विनीत बने और प्रेम धरी सेब को अपनी धर्म-साधना बनाओ जो नीचा-छोटा बनता है वही तो ऊँचा पद पाता है ।

इन्हें पता नहीं कि यह क्या कर रहे हैं ?

जब नगर-नायक शिक्षित जनता की भीड़ लेकर ईसा को उनके निवास-स्थान पर गिरफ्तार करने लगे तो उनके शिष्य शमीन पत्थर से न देखा गया, वह तलवार निकाल कर गिरफ्तार करने वालों की ओर झपटा ।

महात्मा ईसा ने उसे रोकते हुए कहा— शमीन ! तलवार म्यान में करो । इन पर क्रोध मत करो । यह बेचारे नहीं जानते कि यह क्या कर रहे हैं । किन्तु तुम्हें तो जानना चाहिए कि तुमको क्या करना चाहिए और क्या कर रहे हो । यदि इनको अपने कृत्य का ज्ञान रहा होता तो वे ऐसा कदापि नहीं करते । अज्ञानी व्यक्ति क्रोध के नहीं दबा के पात्र हैं ।

खाताकण शांत रखो और जो धृत्य का प्याला परमपिता ने मेरे लिये पीने को भेजा है, उसे मुझे खुशी से पीने दो । मेरे कर्तव्य में हिंसा की दुर्गन्ध न भरो । इन्हें खुद क्षमा करो और परमपिता से भी क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करो ।

सुधार का उपाय—प्रेम का विस्तार

गद्दरिये ने घेड़ को बड़े प्यार से कन्धे से ठाण्डा, उसे स्नान कराया, बाल सुखाये और हरी घास खाने को दी । जब घेड़ उस घास को खा रही थी, तब गद्दरिये का आह्लाद देखते ही बनता था । महापुरुष ईसा उस गद्दरिये की पर्णशाला के समीप ही बैठे विग्राम कर रहे थे उन्होंने इस प्रसन्नचित्त गद्दरिये को देखकर पूछा— बत्स ! आज तुम इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हो ?

महात्मन् ! यह घेड़ जंगल में प्रायः हमेशा भटक जाती है मेरे पास ही और भी भेड़े हैं पर वह सब सीधे घर आती हैं, इसे इतना प्यार इसलिये दिया कि वह फिर कहीं न भटके ।

और तब ईसा ने अपने शिष्यों से कहा— जो अपनी राह से भटक गये हैं, उन मनुष्यों को प्यारपूर्वक ही सीधे मार्ग पर लाना चाहिए ।

संस्कारित आत्मभूमि की महत्ता

ईसा मसीह ने उस दिन का प्रवचन यों आरम्भ किया— “एक किसान ने जौ बोये। कुछ दाने पगड़प्पी पर गिरे और तुरन्त उन्हें चिड़ियाँ चुग गयीं। कुछ गिरे पथरीली भूमि पर, जहाँ मिट्टी की परत बहुत पतली थी। ये बीज अंकुरित तो हुए, पर धूप में जल्यी झूलस भी गये, क्योंकि उनकी जड़ें गहरी न थी। कुछ दाने कंटोली झाड़ी में गिरे, जहाँ कंटों ने उनके अंकुरों को दबा डाला। कुछ भाग्यवान् बीज अच्छी मिट्टी में गिरे, अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुए ! समझे ?” फिर उन्होंने रूपक का यों सुलासा किया कि धर्म-वचनों की गति भी जौ के इन दानों जैसी होती है और केवल संस्कारित आत्मभूमि में पड़ा धर्म-वचन फल देता है।

सिद्धान्तों को महत्त्व दें

ईसा ने जिस समय खुलकर अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया, उनके बहुत-से शत्रु हो गये। उनके एक शिष्य ने उनकी रक्षा के लिये साथ रहने का अनुरोध करते हुये कहा— “प्रभु ! तू संसार का कल्याण कर रहा है और ये देशवासी तुझे कष्ट देना ही अपना कर्तव्य समझ रहे हैं। तुझे पार छलना चाहते हैं। अब मैं तेरी रक्षा के लिये तेरे साथ रहूँगा।”

महात्मा ईसा अपने शरीर की रक्षा के लिये किसी को कह न देना चाहते थे। उन्होंने शिष्य का दिल न तोड़ते हुये निषेध किया—

“बाप ! देख जंगली जानवरों तथा पक्षियों तक के फट और बसेरे हुआ करते हैं। किन्तु मुझ मनुष्य के पुत्र को मनुष्यों के संसार में कहीं सिर छिपाने तक को जगह नहीं है। तू मेरे साथ कहीं-कहीं भटकता रहेगा मेरी शरीर रक्षा की अपेक्षा तू मेरे सिद्धान्त एवं विचारों को अधिक महत्त्व दे।”

विवेक दृष्टि

ईसा एक गाँव से होकर गुजर रहे थे। उन्होंने एक आदमी को वेश्या के पीछे भागते हुए देखा, तो रुक गए और उसे अनुचित से रुकने की बात समझाने लगे।

गाँव से थोहरा देखा तो वह पूर्ण परिचित-सा लगा। स्मरण करने पर पुरानी घटना याद आई। उन्होंने फिर कहा— अरे तू तो वह व्यक्ति है जिसने दो वर्ष पूर्व अशेषन से झुटकार पाने की वाचना की थी और मैंने प्रभु से प्रार्थना करके ज्योति दिलाई थी।

उस व्यक्ति ने ईसा को पहचान लिया और बोला— “आप जो कहते हैं सो ही यथार्थ है।” “मैंने तुझे दृष्टि इसीलिए दिलाई थी कि उसका उपयोग ऐसे धिनौने काम के लिए करे।”

व्यक्ति कुछ देर चुप बैठा रहा और अपनी भूल पर आँसू बहाता रहा पर आगे पैर बढ़ाते हुए, महाप्रभु के चरण चूम उसने दबी जबान से इतना और कहा— “आप में नेत्र दृष्टि दिलाने की क्षमार्थ्य थी, यदि विवेक दृष्टि पहले दिलाई होती तो कितना अच्छा होता ?”

ईसा ने आज नया पाठ पढ़ा वे लोगों की सुविधा दिलवाने की अपेक्षा उनकी संपन्न सुधारने की बात की प्राथमिकता देने लगे।

दुनिया का दुर्भाग्य भी सौभाग्य बन जाता है

मृत्यु का सकट सपन होते देखकर परेशान होने वाले शिष्यों से महात्मा ईसा ने कहा—

“तुम लोग परेशान क्यों हो रहे हो ? आज जब तुम मुझ पर मृत्यु की घटा देखकर इतना परेशान हो रहे हो तो यदि सत्य की प्रतिष्ठा में तुम्हारे प्राणों पर संकट आ पड़ा तो उसे किस प्रकार सहन करोगे ?”

वह समय आता है जब लोग धर्म के नाम पर देवदूतों को मार डालते हैं और समझते हैं कि उन्होंने पुण्य किया, परमात्मा की सेवा की। किन्तु दुनिया का वह दुर्भाग्य अन्त में सौभाग्य बन जाता है क्योंकि वे पिता के संदेशवाहक देवदूत को मार कर ही उसका और उसके वचनों का महत्त्व समझ पाते हैं।”

मेरा भाई-बन्धु और कोई नहीं

एक बार महात्मा ईसा बहुत-से जिज्ञासुओं से घिरे हुये उन्हें उपदेश कर रहे थे। तभी किसी ने आकर उनसे कहा कि— “तुम्हारे भाई और माता बहिन काहर खाईं तुम से बात करना चाहते हैं। तुम जाकर उनसे मिल लो।”

महात्मा ईसा बड़े साधारण भाव से यह उत्तर देकर अपने उपदेश कार्य में लग गये—

“संसार में मेरा भाई और मेरी माता अन्ध कोई नहीं, यही जिज्ञासु जनता ही मेरे भाई और मेरी माता हैं क्योंकि जो मेरे स्वर्गीय पिता के आदेश पर चलें वही मेरे भाई-बहिन व माता-पिता हैं। मैं परमात्मा के आदेशों का पालन करने वाले को ही बन्धु-बान्धव मानता हूँ।”

पापियों का हित

महात्मा ईसा अपनी दयालुता के कारण सदा दुःखी और पापी बने जाने वाले अपराधियों से हर समय घिरे रहते थे। यहाँ तक कि जब वे भोजन किया करते थे, तब भी बहुत-से पतित लोग उन्हें घेरे रहते थे।

एक बार वे बहुत-से नीच जाति पापी और पतितों के साथ बैठे भोजन कर रहे थे। यह देखकर उनके एक विरोधी ने उनके शिष्य से कहा— “तेरे गुरु ! जिसे तुम लोग भगवान् का बेटा और पवित्र आत्मा बतलाने हो, इस प्रकार नीचों और पतितों से प्रेम करता है, उनके साथ बैठकर भोजन कर रहा है फिर भला तुम लोग किस प्रकार आशा कर सकते हो कि हम लोग उसका आदर और उसकी मान मानें ?”

महात्मा ईसा ने विरोधी की बात सुनली और विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया— “पाई वैद्य की आवश्यकता रोगियों को होती है, निरोगों को नहीं। धर्म की आवश्यकता पापियों को होती है, उनकी नहीं जो पहले से ही अपने को धार्मिक समझते हैं। मैं धर्मात्माओं का नहीं पापियों का हित करना चाहता हूँ। उन्हें मेरी बहुत जरूरत है।”

शास्त्राचार्य

मैं भूखा था, तुमने खाना दिया। मैं प्यासा था, तुमने पानी दिया। मैं निराश्रित था, तुमने स्थान दिया। मैं नंगा था, तुमने कपड़े पहनाये। मैं बीमार था, तुमने सेवा की। मैं संकटों में जकड़ा पड़ा था तुमने मुझे सहायता पहुँचाई— 'चलो मेरे स्वर्ग में।'।

धर्मात्माओं ने पूछा— हमने कब आपको भोजन, पानी, आश्रय, वस्त्र आदि दिये और कब सेवा-सहायता की ?

ईशु ने उत्तर दिया— मैं तुमसे सच कहता हूँ— जो कुछ तीन-दु-खियों के लिये किया गया है वह मेरे ही लिये है।

जिन्होंने देना सीखा है

ईसा अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए जा रहे थे। समुद्र में रेगिस्तान पड़ा। दूर तक कोई गाँव दिखाई न देता था। भोजन की समस्या उत्पन्न हुई तो ईसा ने कहा— "जो कुछ तुम्हारे पास है उसे इकट्ठा कर लो और बिल-बॉट कर छाओ।"

शिष्यों के पास कुछ मिलाकर पाँच रोटी और दो टुकड़े तरकारी निकली। गुरु ने उसे इकट्ठा किया और मनुष्य बल से अन्नपूर्ण बना दिया। शिष्यों ने धरपेट खाया और जो भूखे पिछासी उपर से निकले वे भी उसी से तृप्त हो गये। सोलोमन जम्क शिष्य ने पूछा— गुरुवर, इतनी कम सामग्री में इतने लोगों की तृप्ति का रहस्य क्या है ?

ईसा ने कहा— हे शिष्यो ! धर्मात्मा वह है जो खुद को नहीं सबकी बात सोचता है। अपनी कफत सबके कष्ट आये इस विचार से ही तुम्हारी पाँच रोटी अक्षय अन्नपूर्ण बन गई। जो जोड़ते हैं वे ही भूखे रहेंगे जिन्होंने देना सीखा है उनके लिए तृप्ति के सपन आप ही आ जुटते हैं।

असली पड़ोसी कौन ?

"एक आदमी येरुशलेम से यरीहो को जा रहा था, ऊँकुओं ने उसे घेर कर उसके कपड़े उतार लिये। उसे मार-पीटकर वे अधमरा करके छोड़ गये।"

एक पादरी वहाँ से निकला। वह उसे देखकर कतराकर चला गया।

एक लेवी भी उधर से निकला। वह भी उसे देखकर कतराकर चला गया।

तब आया एक सामरी। उसने उस घायल को देखा, तो उसे उस पर तैरा आया। उसने उसके घावों पर तेल लगाया। टाँख का रस डालकर पट्टी बाँधी। उसे अपनी सवारी पर चढ़ाकर सराय में ले गया और उसने उसकी सेवा-टहल की।

दूसरे दिन उसने दो चाँदों के सिक्के निकालकर पटियारे को दिये और कहा— 'इसकी ठीक ढंग से सेवा-टहल करना। जो कुछ तेरा और लगेगा, वह मैं लौटने पर तुझे भर दूँगा।'

'बता, इन तीनों में से उस घायल का पड़ोसी कौन ठहरा ?' ईसा ने पूछा

वह बोला— "वही, जिसने उस पर दया दिखायी।"

ईसा ने कहा— "जा, तू भी ऐसा ही कर।"

शास्त्रार्थ ही नहीं सेवा भी

एक बार महात्मा ईसा अपने विचार प्रकट करने और प्रश्नों का उत्तर देने के लिये एक सभा में बुलाये गये। सभा में पहुँचते ही उन्होंने देखा कि वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति हलम की पीड़ा से बहुत कष्ट पाता हुआ कराह रहा है। महात्मा ईसा तुरन्त उसका अपचार करने में लग गये। उनका यह कृत्य देख विरोधियों ने समझा कि वे सभा की कार्यवाही से कतरा रहे हैं। निदान एक ने व्यंग्य करते हुए कहा— "ईसा, तू तो शास्त्रार्थ करने आया है फिर उस मुख्य कार्य को छोड़कर हकीमी कैसे करने लगा है ?"

महात्मा ईसा ने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया— क्या तुममें से कोई ऐसा है, जिसके एक ही भेड़ हो और वह कुर्छ में गिर जाय तो वह सारा काम छोड़कर उसे निकालने में न जाये ? मेरा मुख्य काम तो पीड़ितों की सेवा करना है, लोगों का दुःख-दर्द दूर करने का है। शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान तो जीवन के साधारण कार्यक्रम हैं।

स्वर्ग का अधिकारी कौन ?

"महात्मन ! स्वर्ग का अधिकार किसे मिलता है ?" एक ग्रामीण ने महाप्रभु ईसा से प्रश्न किया। पास ही एक बालक खेल रहा था, ईसा मसह ने उसे उठाकर संवित किया— इसे।

"आपका आशय नहीं समझा महात्मन्—" ग्रामीण ने फिर कहा। ईसा हँसे और बोले— "जो बच्चे की तरह भोला और निरहंकार है, वही स्वर्ग का अधिकारी है।"

जैन तीर्थंकर—भगवान् महावीर

जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का पहला नाम 'वर्षभान' था। इनके पिता 'लिच्छविराज सिद्धार्थ' और माता का नाम 'विशला' था। इनका जन्म-स्थान वैशाली का कुम्भडमाम और जन्म तिथि वैश्व सुदी वसोदशी थी।

जिन महापुरुषों की जन्म तिथि संसार के लिए पर्व और जिनका जन्म स्थान तीर्थ के समान पवित्र माना जाता है निःस्सन्देह उनके निर्विकार अक्षरण में कुछ महान् गुण होते भी हैं। उन गुणों में लोक-मंगल का गुण सबसे अधिक महान् होता है। यों तो संसार में योगी और महात्माओं की कभी कभी नहीं रही, किन्तु संसार उन सभी को कभी धर नहीं करता। संसार उन्हीं को याद किया करता और नाम लिया करता है, जो उसके हित के लिए कुछ कर जाते हैं।

श्री महावीर महात्मा थे, परमार्थी थे और 'जिन' थे किन्तु उनका वह सब कुछ था, संसार के कल्याण के लिए ही। यदि वे चाहते तो अन्य योगियों की तरह किसी गुप्त-कन्दरा में चले जाते और आत्मलाभ प्राप्त करके ऋद्धि-सिद्धि अथवा निर्वाण प्राप्त कर सकतें

थे। किन्तु वे हजार कष्ट सहकर भी संसार में ही रहे और उसी के लिए ही कल्याण कार्य करते रहे।

जन कल्याण की भावना से जन्मी हुई महावीर की सेवा-भावना दिन-दिन बढ़ती गई और वे अपनी संकुचित सीमा से निकल कर संसार की विस्तृत परिधि में प्रवेश करने लगे। ज्यों-ज्यों उनका यह विकास बढ़ता गया, वे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से विरक्त हो नहीं, प्राणी मात्र के लिये व्याकुल होते गये और आखिर शीघ्र ही वह बड़ी आ गई, जब उनकी सकल आत्मा ने लोकमंगल के लिये संन्यास लेने की दान ली।

महाराज सिद्धार्थ को मंत्रियों ने न केवल सूचना ही दी, बल्कि परामर्श भी दिया गया कि वे कुमार वर्धमान को साधु होने से रोकें। माता-पिता ने राजकुमार को हँस-फटकार से बदलतन न देखा तो उन्होंने उनकी विरक्ति भावना नष्ट कर देने के लिए विवाह कर दिया।

अब, पुत्र कर्तव्य के बशीर्षत, माता-पिता की आज्ञा फलन-स्वरूप जब उन्होंने विवाह करके एक उत्तरदायित्व से ही लिया, तब उसे खींचतान के साथ निभाना कहीं की बुद्धिमानी होती? अपनी इच्छा से विरुद्ध विवाह को यदि वे एक बोगस की तरह खेतें तो यह उस पत्नी के प्रति घोर अत्याचार होता जो विधोक्त के साथ पति को सुखी करके स्वयं सुखी होने आई थी।

राजकुमार वर्धमान ने अपने दम्पत्य जीवन को एक अदृश जीवन की तरह चलाया। राजन्य होने के बावजूद भी वे एक साधारण व्यक्ति की तरह गृहस्थी के छोटे-बड़े कार्यों में रुचि लेते, सेवकों के होते हुए भी सारे काम अपने हाथ से करते। पत्नी को आत्मा की गहराई से इस सीमा तक प्यार किया कि उसका मानवीय अनुसंग ब्रह्मा में बदल गया और उसका समत्वपूर्ण सारा मोह वर्धमान की महानता में डूब गया।

उनकी पत्नी राजकुमारी यशोदा ने स्पष्ट अनुभव कर लिया, उसका पति परमात्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। वे केवल उसकी ही सम्पत्ति नहीं बल्कि सारे संसार की विभूति हैं, जिसका कि लाभ दुनिया की दु खी मानवता को मिलना ही चाहिए। कुछ की समय में एक पुत्री रत्न के रूप में पति का प्रसाद पाकर यशोदा सन्तुष्ट हो गई और उसने पति की इच्छानुसार उन्हें संसार को सौंप देने की तैयारी कर ली।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी कच्ची लगन बाले के लिये वैराग्य-मार्ग में 'विवाह' एक विशेष बन्धन है किन्तु जो अन्तःसत्त्व से मोह विरक्ति हो चुका हो, उसे संसार का कौन-सा प्रलोभन ध्वेय मार्ग से विचलित कर सकता है? वर्धमान ने गृहस्थी को अनासक्ति भाव से भोगा और पत्नी को इतना अधिक प्रेम किया कि कोई दूसरा सारे जीवन में भी नहीं कर पाता। वर्धमान ने अपने सरल स्वभाव तथा सादा जीवन से जन-साधारण के सम्मुख सामान्य जीवन का एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

अपने बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से वर्धमान ने पत्नी को भी परोपकार के लिए हर त्याग करने के लिए तैयार कर लिया था, किन्तु माता-पिता का मोह कम कर सकने का कोई उपाय नहीं था। पत्नी पर

तो उनका अधिकार था और उसका कर्तव्य था कि वह पति की महान् भावनाओं के अनुरूप अपने को ढाले और उसने वैसा ही किया भी, किन्तु माता-पिता तो उस परिधि में आते न थे। माता-पिता का अधिकार स्वयं वर्धमान पर था। वह नहीं चाहते थे कि उनका शोक-समाहित कर संन्यास ले लिया जाये। वारुणिक हृदय होने के कारण वे माता-पिता के महत्व का मूल्य समझते थे।

समय आया और जो माता-पिता अपने को छोड़कर वर्धमान को परमार्थ पथ पर नहीं जाने देना चाहते थे, वही एक दिन स्वयं उसे छोड़कर चले गये। माता-पिता के दिवंगत होने के समय वर्धमान की आयु अठारह वर्ष की थी, किन्तु फिर भी वे संन्यास लेकर घर से चल देने को तैयार हो गए। माता-पिता को आकस्मिक प्राण ने उनमें यह विचार प्रबल कर दिया कि किसी भी शुभ कार्य में देर न करनी चाहिए, क्योंकि इस क्षण-भंगुर शरीर का कोई ठीक नहीं कि किस प्रकार किस समय षोछा दे जाये?

वर्धमान को घर से जाने देखकर उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन ने उन्हें रोककर कहा—“वर्धमान अभी तो माता-पिता के विछुड़ने की बड़ी पुरानी भी नहीं पड़ी, उसका पाप बिल्कुल ताजा है और अब तुम भी मुझे छोड़कर जा रहे हो—क्या मेरा दुर्भाग्य इतना क्रूर और कठोर है? परिवार को अपने विछेड़ का आघात सहन कर लेने के योग्य हो लेने दो, तब जान और इसके लिये मैं तुमसे दो साल की अवधि माँगता हूँ।”

वर्धमान के बड़ते हुये कदम रुक गये। माता-पिता की भाँति ही आदरणीय अपने भाई का हृदय तोड़ना भी उन्होंने उचित न समझा। वर्धमान ने इस दो वर्ष की अवधि को भी अपने आगामी जीवन के अभ्यास में ही लगावा। वे घर पर रुक तो अवश्य गये, किन्तु पूर्ण सन्धु की भाँति ही।

इस नन्दिवर्धन ने उनके भाग की जो लाखों रुपये की सम्पत्ति दी थी, वह भी उन्होंने स्नेहियों, सेवकों तथा दीन-दु खियों को बाँट दी। नन्दिवर्धन की जरा-भी इच्छा नहीं थी कि वह संन्यास लेते हुए अपने छोटे भाई का दाय भाग टबा लें। वास्तव में वे कितने अभाग्य होते होंगे, जो अवसर का लाभ उठाकर अपने भाइयों का अधिकार छीन लेते होंगे। यदि नन्दिवर्धन उनका भाग न भी देते तो भी उन्हें कोई शिकायत न होती। जो सारा घर-बार छोड़कर संन्यास ले रहा हो उसको सम्पत्ति से क्या काम? फिर भी नन्दिवर्धन ने आग्रहपूर्वक उनका भाग उन्हें दे ही दिया और उसका वितरण होता देखकर उन्हें हर्ष एवं सन्तोष ही हुआ।

दो वर्ष बीते और वर्धमान ने 'महावीर' होकर अपना रास्ता लिया, उन्होंने अपने केश तथा शस्त्र अपने हाथ से उखाड़ फेंके। एक कोषीन के अतिरिक्त खारे वस्त्र त्याग दिये। कुछ समय घूमने के बाद वर्धमान ने निश्चय किया कि अब वे किसी उपयुक्त स्थान पर जाकर समाधि का अभ्यास करेंगे, मौन धारण करेंगे और भिक्षा का अन्न हाथ पर रखकर ही खावेंगे। निश्चय वे इसी उद्देश्य से आस्तिक

नाम ग्राम में पहुँचे। किन्तु वहाँ पर उन्होंने देखा कि वहाँ जनता अन्ध-विश्वासों में फँसी हुई, भूतों-प्रेतों और देव-दानवों में बहुत विश्वास करती है और भूत लोग इस आधार पर उसे मूर्ख बनाकर खून ठगते हैं।

आस्थिक की जनता की दुर्दशा और भूतों की दुरधिसन्धियों को देखकर उनकी आत्मा तड़प उठी। वे समाधि लगाना और मौन धारण करना तो धूल गये और जनता का अन्धविश्वास दूर करने लगे तथा भूतों से उनकी रक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। इस काम के लिए वे वहाँ पर चार माह तक ठहरे और तब ही वहाँ से चले, जब जनता ने अन्ध-विश्वासों को मूलोच्छेदन कर दिया।

आस्थिक से चलकर महावीर मौर्यक पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वहाँ की जनता बुरी तरह से अनाचार के चक्र में फँसी हुई है। महावीर का समाधि साधना का कार्यक्रम पुनः रुक गया। तन्त्र-मन्त्र का पाखण्ड दूर करने के लिए वहाँ भी चार माह तक रुकना पड़ा।

अनन्तर वे स्वेलम्बी और सुरभिपुर होते हुए कलन्दर पहुँचे, जहाँ उनका परिचय मोखिल पुत्र गोखल से हुआ। गोखल उस समय के बहुत बड़े विद्वान् एवं धर्म-प्रवर्तकों में से था, किन्तु वर्धमान की त्याग, तपस्या और मानव कल्याण की भावना से वह इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपना गुरु मान लिया।

महावीर का यह प्रभाव न उनकी किसी बड़ी तपस्या का था और न विद्या-विभूति का, अपितु उनका यह प्रभाव उनकी उस उज्ज्वल आत्मा का था, जो हर समय विश्व-कल्याण की कामना से विद्यत रहती थी। मनुष्य कोई साधना न करे, किसी तप में अपने को न जलावे, तब भी एक अकेली परिब्याप्त विरम भावना से उसकी बाणी तथा व्यक्तित्व में इतना तेज आ जाता है कि सम्पर्क में आया हुआ कोई भी बड़े से बड़ा व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अपने संन्यस्त जीवन में बारह वर्ष तक देश-देश घूमते और कष्ट सहते-सहते वे पूर्ण परमहंस पदवी के योगी हो गये।

वे नंगे घूमते, कच्चे ऊन पर ईंट चलते, लोग ताली बजाते और पागल-पागल कहते हुए शोर मचाते, किन्तु वीतराग वर्धमान मौन मानस में हुबकी लगाके, न सुनने के समान सहते और सत्य की खोज में लगे रहते।

अब उन्होंने पानी, साधारण साग-सब्जी तक का त्याग कर दिया था। यदि कभी पानी पीते भी थे तो गर्म पानी का ही प्रयोग किया करते थे। उन्होंने शरीर की सारी यातनायें मिटा डालने के लिए सुख की नींद सोना, जाड़ा, गर्मी और बरसात से बचना छोड़ दिया। वे जाड़ों में खुले मैदानों और गर्मियों में लुहरों आदि की दुकानों पर पड़े रहते थे। बारह वर्ष तक निद्रा का त्याग करके वे पूर्ण जिन हो गये और ससार के सारे दुःख-सुखों से परे हो गये।

शरीर साधन में सिद्ध होकर महावीर राजगिरि, गुंगेर, बसाढ़, बनारस, अयोध्या आदि प्रदेशों का भ्रमण करते हुए यहाँ पहुँचे जहाँ उन्हें सबसे अधिक कष्ट उठाने पड़े।

इस प्रकार अपनी अद्भुत एवं असहनीय अवस्था में बारह साल तपने के बाद उन्हें वैशाख सुदी दशमी को ऋजु बालिक नदी के तट पर जमिन्-जमक ग्राम में 'केवल दर्शन' अर्थात् बोध प्राप्त हुआ।

प्रकाश पाते ही उन्होंने सुख के साध मार्ग की खोज करली और तब उन्होंने अपने मौन व्रत को उपदेशों के रूप में तोड़ दिया। उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थों तथा असंख्य सभाओं द्वारा पाण्डित्यों तथा वचकों को परास्त कर जनता को धार्मिक अत्याचारों से मुक्ति कराई। लाखों शिष्य एवं प्रचारक बनाये। उनके शिष्यों में केवल जन-साधारण ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े राजा, राजकुमार तथा राजकुमारियाँ भी थीं। ज्ञान तथा सत्य-पथ की प्यासी जनता की भीड़ उनके पास जाती, उपदेश सुनती तथा दीक्षा ग्रहण करने लगी जिससे सम्पूर्ण देश में उनका वर फैल गया।

अंग, कशी, त्रावस्ती तथा राजगृह आदि में राजाओं तथा राजवंशियों को दीक्षा देते और उपदेश करते हुए अपनी जन्मभूमि 'वैशाली' में गये, जहाँ पर उन्होंने अपनी परनी, पुत्री तथा दामाद 'जामालि' को भी धर्म-दीक्षा दी। इस प्रकार जब वे देश का धार्मिक कायाकल्प करके पद्मपुरी आये, तब कठोर तपस्या तथा व्यस्त कार्यक्रमों में उनका स्वास्थ्य समाप्त हो चुका था। वहाँ उन्होंने निरन्तर उपदेश देते और उपवास करते हुए दीपावली की रात को निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर ने सत्य के जिस मार्ग का उपदेश दिया था, उसमें अहिंस, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का विशेष स्थान था।

कहना न होगा कि यह भारत के वैदिक धर्म का ही सार था, किन्तु कृष्ण महावीर ने इसे एक विशेष रूप से जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित किया, इसलिए वह एक भिन्न धर्म जैसा माना जाने लगा। अन्यथा भारत के सारे बौद्ध, जैन तथा सनातन आदि सारे धर्म वैदिक धर्म की शाखाएँ ही हैं।

भगवान् महावीर—मर्मस्पर्शी कथा प्रसंग

अपरिग्रह का अर्थ

भगवान् महावीर राजगृह में थे। अपरिग्रह पर उनकी व्याख्यात्मक चला रही थी। प्रतिदिन हजारों की संख्या में प्रजा आती और अपनी संप्रदाय एवं लोभवृत्ति महाशून्य के चरणों में छोड़ जाती। सारा देश तब समस्त के सागर में हिलगें लेने लगा। धनिक वर्ग निर्धनों के हित के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने लगा। प्रौढिकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक था, जो लोगों में आध्यात्मिक वृत्ति विकसित होने ही प्रजा में सुख-शान्ति, सौम्यता का वर्णन होने लगा।

गाथापति महाशतक उन दिनों राजगृही में सर्वप्रिय धनिक था। उसके व्यापार में कोटियाँ स्वर्ण मुद्राएँ लगी हुई थीं। महाशतक का जितना धन उसके व्यापार में लगा था, उससे अधिक उसके सुरक्षित कोष में था। उसकी विलासिनी धर्म-पत्नी रेवती इस धन का अधिकांश सुखोपभोग स्वयं करती थी। महाशतक उसे अपना सौभाग्य मानता था, इसलिये वह बहुत दिन हो जाने पर भी तथागत की सेवा में उपस्थित नहीं हुआ।

पर भगवान् तो मानो उसी के उद्धार के लिये ठहरे हुये थे। प्रवचन सुनने वालों की भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। राजगृही के सम्पन्न धनपति अपना कोष प्रजा के लिये दान कर चुके हैं, वह क्यों प्रतिदिन महाशतक तक पहुँचती किन्तु उसके कानों में जूँ तक न रेंगे।

एक दिन महाशतक ने अभूतपूर्व घटना सुनी। एक बालिका भगवान् महावीर के पास पहुँची और उनके चरणों में कृद्धा सुयन अर्पित करती हुई बोली— “महाभाग ! मेरे जीवन में सभी का अधः कोष सुरक्षित है, क्या यह परिग्रह नहीं है कि मैं अपनी आयु का उपयोग अपनी ही सुख समृद्धि में करूँ। धन के संग्रह की भाँति अपने ही सुखों में जीवन का उपयोग क्या संग्रह नहीं। यदि मैं तो आपके चरणों में मेरा जीवन समर्पित है। आज्ञा हो देव ! मैं प्रजा की भलाई का कार्य किस प्रकार करूँ।”

आयुष्मते ! तुम धन्य हो। जीरा पर सरद-हस्त फिराते हुए भगवान् महावीर ने कहा— “जिस देश के नर-नारी समस्त के प्रति इतना आदर भाव रखते हैं, वहाँ न कोई निर्धन रहेगा, न दीन और दरिद्र। भद्रे ! ऐसे पुण्य तीर्थों की रक्षा के लिए एक ही आवश्यकता शेष रहती है और वह यह कि उसे ज्ञान की धारा और दिकेक के प्रकाश से निरन्तर स्नात रखा जाये सो तुम जाओ और स्मरे देश में मनबोध सदाचरण और ज्ञान की धारा बहाओ।”

इस घटना का समाचार महाशतक के पास पहुँचा तो उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी। देश का बन्ध-बन्धु समाज के उत्कर्ष के लिए उत्सर्ग होने को तैयार है और वह अधः कोष का स्वामी होकर भी प्रजा के हित के लिये कुछ भी करने को तैयार नहीं। उसके मन में अपने ही लिये तीव्र घृणा उठ खड़ी हुई। उस रात महाशतक अच्छी तरह नींद भी नहीं ले सका।

रेवती से परामर्श किये बिना ही महाशतक दूसरे दिन प्रत-काल तथागत के चरणों में उपस्थित हो गया। उसने अपना सम्पूर्ण वैधन तीर्थंकर के चरणों में समर्पित कर दिख। भगवान् ने उसके शीश पर आशीर्वाद के हाथ फेरते हुए कहा— “उठो तात् ! जिस देश में तुम्हारे जैसे पुरुषार्थी व्यक्ति इतना त्याग करने को कटिबद्ध हो सकते हैं, उसमें धर्म और संस्कृति अपरजयेय रहती है, उस देश के नागरिकों में परस्पर मनोमालिन्य नहीं रहता। सगठन और परस्पर हित की दृष्टि रखने वाली प्रजा का कोई भी अहित करने में समर्थ नहीं हो सकता। महाशतक को उस दिन जितना सन्तोष और हलकापन अनुभव हुआ, उतना किसी महापुरुष से भी नहीं हुआ था।”

रेवती जिस बात के लिए तैयार नहीं थी, वह आखिर हो ही गयी। जैसे ही उसने सुना महाशतक ने साध कोष प्रजा के लिए दान कर दिख, पार साई नागिन के सम्मान वह फुफ्फुस कर उठी। साध घर उसने सिर पर उठा लिया। छटपटती लेकर उस दिन रेवती कोष भवन जा पहुँची।

महाशतक घर पहुँचा तो दास-दासियों ने सारी बात कह सुनाई। महाशतक को उससे कोई शोध नहीं हुआ। निरन्तर गिरने वाली जल की बूँदें जिस तरह कमल-पत्र का भेदन करने में असमर्थ होती हैं, उसी प्रकार परिग्रह के पाप से मुक्त महाशतक की आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं उठा। वह सीधे कोषभवन पहुँचा और बहुतेरा समझाया, किन्तु रेवती खो-हठ त्यागने को तैयार न हुई।

उस दिन से महाशतक ने साधन्य प्रजा का-सा आहार, वस्त्र और जीवोपयोगी वस्तुएँ ही लेना प्रारम्भ कर दिया। रेवती के लिए वह और अपमान की-सी बात लगी। सो उसने भी बदला लेने का निश्चय किया।

दूसरे दिन रेवती ने चुपके-से गौशाला के दो शिशु बच्चों का बंध करार कर वे पाकशाला पिजवावे और रसोइये को स्वादिष्ट व्यंजन बनाने का आदेश देकर आप साज-बुंगार में लग गई। सायंकाल उसने मॉसहाल के साथ पदित भी थी। फिर वह सीधे महाशतक के आवास कक्ष की ओर चली गई। जो इन दिनों साधन्य कक्ष में बदल चुका था। इससे पूर्व कि महाशतक कुछ कहे, उसने अपने आपको उसकी गेदर में समर्पित कर दिया।

वासना और वैराग्य में विजयी हुआ क्रोध। महाशतक को अपनी पत्नी की इस भूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। उसने कल्पना भी न की थी कि रेवती अब पुनः पदितपान कर उसकी आत्मनिर्माण की साधना में विघ्न उपस्थित करेगी। विधुत की कड़क जिस प्रकार बिना कहे दीवारों से प्रतिध्वनित होकर गूँजती है, महाशतक का क्रोध भी उसी प्रकार वर्तमान परिस्थिति से टकराकर द्विगुणित हो उठा। उसने अपनी पत्नी रेवती को जो भी कह सकता था, दुर्वचन कहे और दौत पीस कर उसे मारने को दौड़ा। महाशतक ने अब तक जितना सहन कर लिया था, वही उसके लिये कम नहीं था।

महाशतक ने पत्नी रेवती को कड़ककर डाँटा ही था कि— सामने तथगत आ गये। सावधान करते हुए उन्होंने पूछा— “तात् ! तुमने तो अपरिग्रह का व्रत लिखा है, फिर उसे तोड़ने का यह साहस क्यों कर रहे हो ?”

विस्मय विवाक। महाशतक पूछ बैठा— “भगवन् ! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, मैं तो अपने संकल्प की रक्षा ही कर रहा हूँ। रेवती घरे व्रत में आड़े आ रही है, सो मैं तो उसे दंड देने के लिये समुद्यत हुआ हूँ।”

तात् ! यह न भूलो कि— तथागत ने कोमल करुणाशीलता में कहा— “आत्म्य के अन्तःशाल में मधुर शब्दों का भी कोष भरा हुआ है और जो उसे गुप्त रखता है, प्रजा की भलाई के लिए बाँटने का साहस नहीं कर सकता, वह भी परिग्रह का ही पापी है। तात् ! केवल

१.७४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

धन का प्रजा के लिए उत्सर्ग ही नहीं करन् अपने जीवन, अपनी प्रतिभा अपनी योग्यता और आत्मिक गुणों का प्रजा के लिए दान ही अपरिग्रह का सच्चा अर्थ है। यदि तुम उनका दान नहीं कर सकते तो तुम्हारा सम्पत्ति दान व्यर्थ है।”

महाशक्त को अपनी भूल का पता चलता—उसने रेवती से अमर शब्दों के लिए क्षमा माँगी और एक बार फिर भगवान् के चरणों में गिर गया। इस बार उसके पीछे रेवती भी शीश झुकाने विनित मुद्रा में खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी कि महाशक्त ठठें और मैं भी तत्प्राप्त की पद-रज स्पर्श कर सकूँ।

क्रोध का प्रभाव

चण्डकौशिक ने प्रचण्ड तप तो किया पर उन्होंने क्रोध का समन न किया। वह दुष्ट दुर्गुण उनमें क्यों का क्यों बना रहा। एक दिन उनके पैर से मेंढक कुचल कर मर गया। सखी तपस्वी ने इस प्रवाद की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो चण्डकौशिक आग-बबूला हो गये। वे उस साँधी को मारने दौड़े। क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है। आवेश में उन्हें बीच में खड़ा खंभा भी न देख पड़ा। दौड़ते हुए उसी से टकरा गये। यही चोट उनकी मृत्यु का कारण बन गई। मोहबशा उन्होंने उसी आश्रम में फिर जन्म लिया और साधन के द्वारा उसी के संचालक बने। फिर भी उनका क्रोध गया नहीं।

एक बार कुछ भक्त-जन उपहार और पूजा उपकरण लेकर उपस्थित हुए। भक्तों के व्यवहार और उपहार में उन्हें कुछ दोष दिखा और वे क्रुद्ध होकर मारने दौड़े। भक्त भागे, अधिपति पीछे दौड़े। दौड़ तेजी से चल पड़ी। आवेश ने उन्हें पागल जैसा बना दिया। रास्ते के व्यवधान भी उन्हें सुझ न पड़े। कुँए में पैर पड़ा और उसी में उनकी मृत्यु हो गई।

तीसरी बार भी चण्डकौशिक का जन्म उसी आश्रम में हुआ। अब की बार वे भयंकर विषधर सर्प की देह लेकर जन्मे। जो कोई उधर से निकलता उसी का पीछा करते और जो पकड़ में आ जाता इस कर उसका प्राण हरफ कर लेते। भगवान् महावीर एक बार उस आश्रम में पधारे तो उन्हें भी चण्डकौशिक के क्रोध का भजन बनना पड़ा। दर्शन से उनका पैर क्षत-विक्षत हो चला। फिर भी कृपा की उस प्रतिमूर्ति के चेहरे पर क्रोध न आया। वे मुस्काने रहे और उस क्षुद्र प्राणी को अपनी अनन्त क्षमा का फल बनते रहे। आत्मव्यसि उस दुष्ट जीव को मारने आये तो उन्होंने रोक दिया।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर की उच्च सत्ता को पहचाना तो अपनी भूल पर पश्चात्तप करने और क्षमा माँगने लगा।

भगवान् ने कहा—भद्र ! तुम निर्दोष हो। दोषी तो वह क्रोध ही है। यही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी के प्रभाव से मानव प्राणी पागल, अन्ध और अपराधी बनता है। तुम ने तप किया पर क्रोध न जीता। पहले क्रोध जीतो और उसके पश्चात् तप करो।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर का उपदेश शिरोधार्य किया और वे क्रोध समेत बहिरिपुओं को परास्त करने की साधना करने लगे। इसी से उन्हें सिद्धि भी मिली।

दुकृत्यों का परिणाम

भगवान् महावीर अहमसंयम की साधना में उन दिनों लीन थे उन्हें बहिन करने के लिए सगम नामक एक दुष्ट पीछे पड़ा हुआ था आये दिन वह उन्हें धुन्ध करने के लिए कुछ न कुछ कुचक्र रचता रहता।

एक दिन उसने खौलता दूध उनके ऊपर उलट दिया। तो भी वे अविवल भाव से अपनी साधना में निरत रहे।

सगम भिक्षु। वह अपने कुकृत्यों पर आँसू बहाता, क्षमा माँगता विद्य होने लगा।

भगवान् की आँखें भी नम हो गईं। वे बोले— तात् इन कुकृत्यों का दुष्परिणाम तुम्हें कितना कष्टकरक होगा, यही सोचकर मुझे व्यथा हो रही है। दूध से मलने पर उठे हुए फफोले देखकर नहीं।

अनुचित मोह

महावीर स्वामी उन दिनों जंगल में घोर तप कर रहे थे। जंगल के ग्वाले उन्हें सम्प्रतिष्ठ देख उनका उपहास किया करते थे। कुछ दुष्ट तो लाँछन लगाकर उन्हें तंग भी करने लगे। महावीर इन व्यवधानों से विचलित न हो तपस्या करते रहे।

तपस्या में विघ्न डालने वालों की बात पास के व्यक्तियों तक पहुँची, वहाँ के धनिक लोग महावीर के पास आए व कहने लगे, “देव आपको वे नादान व्यर्थ कष्ट दे असुविधा में डाल रहे हैं, हमारा निवेदन है हम आपके लिए एक भवन यहाँ बनवा दें तथा ऐसी सुरक्षा व्यवस्था करा दें जिससे आप निश्चित हो तपस्या-साधना करते रहें।”

तात् ! साधनों का अनुचित मोह ही मनुष्य को सांसारिक बनाता है एक बार उससे निकल आने के बाद जो आत्मशान्ति मिली है उसकी तुलना में यह व्यवधान तुच्छ है। आप लोग मेरी चिन्ता न करें, उनकी इस दृढ़ता से ग्वाले भी पराभूत हो उठे उन्होंने फिर सताने की हिम्मत नहीं की।

अव्यविश्वास छटा

सकडाल का पुत्र कुम्हार का काम करता था। वह बड़ा भाग्यवादी था। पुष्पार्च उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखता था।

एक बार भगवान् महावीर उसके यहाँ रुके। महावीर को बात-कत में उसकी भाग्यवादिता अच्छी न लगी। उन्होंने पूछा— ‘तुम्हारे यहाँ चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाये जाते हैं ? यह कैसे बनते हैं ?’

‘निश्चितवश इन बर्तनों को बनाने की प्रेरणा मिलती है।’ कुम्हार बोला।

महावीर ने फिर पूछा— ‘तुम्हारे इन पके-पकाये बर्तनों को कोई तोड़ दे तो तुम क्या समझोगे ?’

‘भाग्य में यही लिखा होगा तो ऐसा ही होगा।’ सकडाल पुत्र बोला।

‘और तुम्हारी पत्नी से कोई दुस्वर्ण करे तो ?’ महावीर पूछने लगे।

विचार-क्रान्ति के देवदूत— सन्त सुकरात

सुकरात अत्यन्त कुरूप थे। गंजा सिर, चपटी नाक, गोल चेहरा, घुटने तक लटकता हुआ विलक्षण कुर्ता। इन चिह्नों के आधार पर उन्हें एथेन्स की सड़कों पर घूमते हुए अश्लील से पहचाना जा सकता था। वे प्रचण्ड विद्वान् और दार्शनिक थे। पणव जीवन का विविध सम्बन्धों का समाधान पाने के लिए अनेक शिष्य उनके पीछे-पीछे फिरो करते थे। उनके शिष्यों में से कई बहुत प्रतिभावान् भी थे। उन्हें में से एक प्लेटो भी थे जो अग्रे चलकर विश्वविख्यात हुए।

सुकरात बड़े विनम्र स्वभाव के थे। उन्हें अहंकार सू भी नहीं गया था। उन्को आदर उनके ज्ञान के कारण था। उनको पत्नी बड़ी कर्कशा थी। उसके कठोर वाक्यवाच सदा ही उन्हें सहने पड़ते थे। फिर भी सुकरात के विनम्र व्यवहार के कारण उनका दाम्पत्य प्रेम शान्तिल में होने पाया।

सुकरात ने आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया है। वे कहते थे—अपने को जानो। यदि मनुष्य अपना और धर्म का वास्तविक स्वरूप जान ले तो अवश्य ही धर्मनिष्ठ बनने की चेष्टा करेगा। सत्य का ही पुण्य और उभय ज्ञान न होना ही पाप है।

उनके स्वतन्त्र विचारों ने उस युग की जनता को बहुत प्रभावित किया। समाज के विभिन्न भागों में व्याप्त कलाय-कलमषों पर उन्होंने प्रहार किया और ऐसी चेतना पैदा की जिससे निहित स्वार्थों के लोगों में हतचल मच गई, वे उन्हें धताने पड़्यत्र जाने लगे।

सुकरात की गणना संसार के महान् विद्वानों और धर्म-गुरुओं में है। उनका जन्म एथेन्स में हुआ। यद्यपि उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा न मिल सकी थी, तब भी उन्होंने अपने अध्ययनाय के बल पर उच्च स्तर की विद्वता प्राप्त कर ली थी। महात्मा सुकरात ने जितना पढ़ा था उससे कहीं अधिक चिन्तन और मनन किया था। वे संसार को ही एक बड़ी पाठशाला मानते थे और जीवन के अनुभवों की सच्ची शिक्षा। इसी संसार की पाठशाला में महात्मा सुकरात ने जो अनुभव संवय किये थे वही उनकी एकमात्र सम्पत्ति थी। इनके अतिरिक्त न तो उनका पास कोई और सम्पत्ति थी और न उन्होंने कभी कुछ सचय करने की इच्छा की। वे कहा करते थे कि— 'ज्ञान से बढ़कर संसार में और सम्पत्ति क्या हो सकती है? उसका कुछ अंश मुझे प्राप्त हुआ है। इससे मेरी आत्मा को पूर्ण शान्ति है। इसके अतिरिक्त कुछ और किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं चाहिए।

लेकिन इस बदसूरत व्यक्ति के हृदय में जो ज्ञान की अनेकजगी ज्योति जलती थी उसने एथेन्सवासियों को अपने पर प्रतीक की तरह मोहित बना लिया था। उन्होंने अपनी साधना द्वारा जिस अन्तःप्रकाश का दर्शन किया था, उसने उनके जीवन की सारी कुरूपता अपने में डुबाकर सुन्दरता में बदल दी थी। वे जिस समय भी जहाँ जाते थे वहीं शिष्यों, विज्ञानियों और मुमुक्षु लोगों से घिरे रहते थे। पता चलते ही लोग दूर-दूर से दौड़कर उस गली, चौराहे पर पहुँच जाया करने

यह सुनते ही कुम्हार क्रोध से गर उठा और बोला— 'किसकी हिम्मत है जो ऐसा कर सके? कोई मेरी पत्नी की ओर आँख भी उठाकर देखे तो उसकी मैं अच्छी तरह खबर ले लूँगा।'

लेकिन यह भी तो नियतिवश ही होगा। इसमें क्रोध करने की क्या बात है?' महावीर ने कहा।

अब मकडाल-पुत्र की आँखें खुल्लें। भाग्यवाद पर अन्तः अन्धविश्वास पल भर में दूर हो गया। वह विनम्र धन से बोला 'आप ठीक कहते हैं भागवन्। भाग्य पर अन्धविश्वास रखना भ्रष्टता है। जीवों में पुरुषार्थ ही प्रमुख है। वही भाग्य का निर्माता है।'

तप से बड़ा सत्य

भागवान् महावीर उधर से गुज़ार रहे थे। गस्ते में मिले एक ग्रामीण ने उनके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया। उत्तर में अर्हत ने भी उसके चरणों पर गस्तक देका।

ग्रामीण सकपकाया— बोला— आप तपस्या के भण्डार हैं, उस विभूति को मैंने नमन किया। पर मैं तो कुछ नहीं हूँ, मेरा नमन किस लिये

अर्हत ने कहा— तैरे भीतर जो परम पवित्र आत्मा है, मैं उसी को देखता हूँ और नमता हूँ, मेरे 'तप' से तुम्हारा 'सत्य' बड़ा है।

अपना पुरुषार्थ सर्वोपरि

तीर्थंकर महावीर साधना में लीन थे। फस ही मैदान में एक ग्वाला अपने बैल चरा रहा था। उसे किसी आवश्यक कार्य से गाँव में जाना था। उसने सोचा पास में बाबा बैठे हैं, यह बीच-बीच में बैल देख लिया करेंगे तब तक मैं घर से लौट ही आऊँगा।

महावीर ध्यानस्थ थे। बैल चरते-चरते दूर निकल गये। ग्वाला लौट कर आया तो महावीर पर बहुत नाराज हुआ। वह समझा कि यह कोई चोर है और इसी की हरकत से बैल कहीं चले गये हैं। वह महावीर को लाड़ना देने लगा। रस्ते के एक टुकड़े से सपासप उनकी पिटाई शुरू कर दी। उनके शरीर पर इस निर्भय प्रहार से कई निशान पड़ गये।

देवराज इन्द्र ने ग्वाला की यह लाड़ना न देखी गई उन्होंने तीर्थंकर से आकर प्रणाम की भावना! वह ग्वाला अज्ञानी है, आपके अलौकिक महात्म्य से पूरी तरह अभिभूत है। मेरी इच्छा सदैव आपके भाव रहने की है ताकि आने वाले कष्टों का निवारण करता रहूँ। आप मुझे सत्त्व सेवा में उपस्थित रहने की आज्ञा दीजिये।

महावीर ने जो उत्तर दिया वह जैन साहित्य की अमूल्य निधि है और निराश व्यक्तियों को सैकड़ों वर्षों से प्रेरणा देता रहा है—

स्वदीर्यणीव गच्छन्ति क्षिणेन्द्र परमा गतिम्।'

किस दूसरे के सहारे रहकर अथवा दूसरे के पुरुषार्थ के भरोसे चैनकर आज तक कोई आत्मा मोक्ष लाभ प्राप्त नहीं कर सका। अपने पुरुषार्थ में ही अपना निर्माण किया जा सकता है। अपने भाग्य को बनाने वाला कोई दूसरा नहीं बन सकता पुरुषार्थ ही होता है। अपने इच्छा की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ का स्थान ही सर्वोपरि है।

थे, सुकरात जहाँ खड़े जनता को उपदेश कर रहे होते। महात्मा सुकरात का मुख्य विषय अत्यन्त सम्बन्धी ज्ञान ही होता था। वे आत्मज्ञान प्राप्त करने पर बल देते हुए कहा करते थे—

‘अपने को जानो’ यदि मनुष्य अपने को और अपने धर्म के सच्चे स्वरूप को जान ले तो उसके लिए संसार में तो कोई समस्या ही न रह जाय और न दुःख का कोई कारण। आत्मा का ज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। उसके पा लेना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है और उसके प्रति अज्ञान की अवस्था ही सबसे बड़ा पाप है।

महात्मा सुकरात ने अपने ज्ञान बल पर अपने युग की विचार-धारा ही बदल दी थी। उन्होंने फरम्परा से बतों आ रही रूढ़ियों पर गहरा प्रहार किया। जनता को विवेक का धर्म बतलाया और आत्मा की मुक्ति के साध बाह्य परतन्त्रता से मुक्त होने की शिक्षा दी। उन्होंने अन्धविश्वास, अन्ध-ब्रह्म और अन्ध-मान्यताओं को त्याग कर बुद्धि-संगत जीवन पद्धति अपनाने की प्रेरणा दी। उन्होंने मानव-मानव में समता का प्रतिपादन किया और जनता को सहस दिया कि वह धन, बल, शक्ति अथवा अन्य प्रकार की भौतिक उपलब्धियों के आधार पर किसी को महान् पूज्य न माने और मान्यता का मानदण्ड व्यक्ति के सदाचार एवं सदाचिन्तों को बनाये।

सुकरात की पत्नी जेथिप्पी आवश्यकता से अधिक लड़खल स्वभाव की थी। वह बाहरी लोगों से ही नहीं स्वयं सुकरात से भी विभिन्न विशेष कारण के लड़ने लग जाती और उसके मनपानी बातें सुनाने लगती। एक दिन न जाने किस बात पर उसके मित्राज का पारा बहुत गर्म हो गया और वह बड़े देर तक बकनी-झकती रही। पर सुकरात जो इस स्वभाव के अन्धस्त हो गये थे, कुछ न बोले और अपने काम में लगे रहे। अपनी बातों का कोई प्रभाव न होता देख कर वह और भी नाराज हो गई और उसने एक बर्तन में भरा मैला पानी लाकर सुकरात पर डाल दिया। उनके सारे कपड़े भीग गये किन्तु वे फिर भी मुस्कराते रहे और उन्होंने कहा— ‘मैं तो पहले जानता था कि जेथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे न रहेगी।’ एक दूसरे अवसर पर जेथिप्पी बाजार में ही उनसे लड़ने लग गई और उनका थोड़ा खीचकर फाड़ दिया। वह बात उनके कई मित्रों को बहुत बुरी लगी और उन्होंने सलाह दी कि इसे खूब पीटना चाहिए। पर सुकरात ने कहा किसी रईस (थोड़ा गड़दी बलवाने वाले) की योग्यता इसी में देखी जाती है कि वह दुष्ट थोड़े को भी सभा और सिखा कर उससे काम ले सके। अगर वह दुष्ट थोड़े को उपयोग लाबक बना सकता है तो अन्य सामान्य थोड़े को काम में रखने में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार मैं भी जेथिप्पी जैसे विड़चिड़े स्वभाव की स्त्री के साथ रहता हूँ। अगर मैं उसके साथ निर्वाह कर लेता हूँ तो मुझे संसार के अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन को इस प्रकार दूसरों के लिये एक आदर्श बना दिया। उसका पिता शिल्पकार था जो प्रायः भूतियाँ बनाने का कार्य किया करता था। सुकरात ने भी कुछ समय तक अपने इस पैतृक धर्म को किया, पर उसके पश्चात् उसे राजकीय नियमों के अनुसार सेना में भर्ती हो जाना पड़ा और पचास वर्ष की आयु तक

वे उस कार्य को करते रहे। वे तीन युद्धों में लड़ने को भी गये जिनमें उन्होंने वीरता और धैर्य का अच्छा परिचय दिया। पर वहाँ भी वे कोई अनुचित कार्य करने को तैयार नहीं होते थे। न्याय और सत्य का व्यवहार आजीवन उनका आदर्श बना रहा।

उस जमाने में यूनान का देश नगर, राज्यें में बंटा हुआ था। सबके संचालक कुछ प्रमुख नागरिक ही होते थे एथेन्स का नगर राज्य उस समय बड़ा प्रसिद्ध और प्रभावशाली का तथा धन, बल, विद्या, कला-कौशल आदि सब बातों में यह अग्रगण्य माना जाता था। उस नगर में सुकरात को आरम्भ से ही एक ज्ञानी पुरुष माना जाता था और अनेक छोटी-बड़ी आयु के धनवान और कुलीन व्यक्ति उनकी संगत में रहकर उपदेश ग्रहण किया करते थे।

पचास वर्ष की आयु में सेना से अवकाश पा जाने के बाद तो उन्होंने अपना पूरा समय इसी कार्य में लगाना आरम्भ कर दिया। वे एक लबादा पहने हुए बंगे वर शहर की सड़कों और गलियों में घूम करते थे और चाहे जहाँ दस-बीस व्यक्तियों के झुंझ हो जाने पर बड़ी उपदेश देने लग जाते थे। उनके उपदेश देने का ढंग भी अन्य लोगों से निराला था। वे श्रोताओं से ही प्रश्न करने की कहते और उनका उत्तर देते-देते अपने समस्त सिद्धान्तों को उन्हें समझा देते थे। उनकी खरी बातों या डाँटने-फटकारने से चिढ़कर अनेक बार लोग उनकी हँसी भी उड़ाने लगते थे, उनके बालों और छाल को खींचते थे, पर सुकरात ने कभी किसी पर क्रोध नहीं किया। उन्होंने आत्मज्ञान द्वारा क्रोध पर विजय पा ली थी। एक बार कुछ लोगों ने उनको लतों से भी मारा, उनके कुछ शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपने इन लोगों का ऐसा व्यवहार क्यों सहन कर लिया, जब आप शारीरिक शक्ति में उनसे बहुत अधिक होने से उन्हें अच्छी तरह दण्ड दे सकते थे ?” सुकरात ने जवाब दिया कि “यदि कोई मर्दा हमें लात मार दे तो क्या हम भी उसे लात मारने लग जायें।

सुकरात पर मुकदमा

पर ऐसे सरल स्वभाव तथा बैर-भाव से मुक्त पुरुष के भी एथेन्स में बहुत से विद्वेही उत्पन्न हो गये थे। इसका मुख्य कारण तो यह था कि कितने ही धनवान लोगों के पुत्र सुकरात की शिक्षाओं से अकर्षित होकर उनके अनुयायी बनते जाते थे और यह बात उनके अभिभावकों को बुरी जान पड़ती थी। एक तो मरीकी की हालत में रहने के कारण वे सुकरात को अपने से नीचा मनुष्य समझते थे और दूसरे वह सत्य, न्याय, सदाचार की जो शिक्षा देता था उसे वे अपनी स्थिति के प्रतिकूल समझते थे। जिस प्रकार यदि किसी वैश्यागामी के सामने ब्रह्मधर्म की प्रशंसा की जाय, किसी नरोबाज के सम्मुख मादक पदार्थों की बुराइयाँ दिखालाई जायें तो उनको ऐसे उपदेशों पर क्रोध आता है, उसी प्रकार जो लोग तिकड़म से अथवा अन्य अनुचित उपचारों से धन पैदा करके मालदार बन जाते थे उनको सत्य और न्याय के व्यवहार की बातें खटकने वाली ही प्रतीत होती थीं।

दूसरी बात यह थी कि जिन लोगों ने उस समय ‘विद्वान्’ का नाम धारण कर रखा था और जो धनवानों के लड़कों को सांसारिकता

और विनयवादी (तर्क-वितर्क) की शिक्षा देकर खून कमाई करते थे, वे भी सुकरात की सीधी सारी और आत्मज्ञान युक्त शिक्षाओं से चिढ़ते थे। सुकरात ने ऐसे कई विद्वानों से वाद-विवाद करके उन्हें निरुत्तर भी कर दिया था। जिससे वे उसके साथ विद्वेष करने लग गये थे। इन्हीं सब लोगों ने मिलकर सुकरात पर नवयुवकों को कुशिक्षा देने का आरोप लगा करके उसे गिरफ्तार करा दिया और उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया।

पर सुकरात इस घटना से भी विचलित नहीं हुआ। वह ससार की नश्वरता और सुख-दुःख के असारता को अपनी प्रकृति समझता था। उसका विश्वास था कि यह दुश्च जगत क्षणिक और परिवर्तनशील है, इसमें राजा से रंक बनते कुछ भी देर नहीं लगती। इसलिये इसके किसी हानि-लाभ के लिये शोक या हर्ष करना अशुद्धिमान है। जो व्यक्ति आत्मजगत से अपरिचित होते हैं। वे ही इसके हर्ष-लाभ को महत्त्व देते हैं। यह धारणा उसके हृदय में इतनी दृढ़ता के साथ जमी थी कि यह जानते हुये भी कि उससे द्वेष रखने वाले इस मुकदमे के बहाने उसके जीवन का अन्त करना चाहते हैं, उसने उनकी राई भार भी परवाह नहीं की तथा अभियुक्तों और न्यायाधीशों को हजारों नागरिकों के सामने ही खरी-खरी बातें सुनाई। उसने कहा—

‘इससे पहले भी एकबार इस न्यायालय को अन्यायपूर्ण आज्ञा को अन्याय कहके मैंने अपने कथन से ही नहीं बरन् अपने कर्म से भी यह सिद्ध कर दिया है कि मैं मृत्यु को तुम के सगान तुच्छ समझता हूँ, मेरी एक मात्र संध यही है कि मुझसे कोई अधर्माधारण या दुष्कृत न होना पड़े। इसलिये मेरी आत्मा शुद्ध है और इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि “सत्यवादी हूँ और मेरा प्रतिपक्षी यह म्लेच्छ मिथ्यावादी है।”

इसके पश्चात् भी ऐथेन्स के बहुमुखक नागरिक, जो सुकरात की महानता को जानते थे इसके लिये तैयार थे कि सुकरात को इस शर्त पर छोड़ दिया जाय कि वह नवयुवकों को अपने सिद्धान्तों का उपदेश करना बन्द कर दे। पर सुकरात ने इसका उत्तर देते हुए कहा—

“ऐथेन्स के नागरिकों! आप में से कुछ कहेंगे कि “सुकरात! क्या तुम अपना मुँह बन्द नहीं कर सकते? इसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि इस बात को मान लेना मेरी दृष्टि में भगवान् का अपमान होगा। मेरा विश्वास है कि अगर मैं शील-सदाचार के विषय में चर्चा नहीं कर सकता और आन्मान्देउन करना बन्द कर देता हूँ, तो वह जीवन एक कौड़ी का भी न होगा।

‘मेरे अब तक के अनुभवों के अनुसार जब कभी मैं कोई गलत काम करने लगता हूँ तो एक अन्तर्ध्वनि (आत्मा की आवाज) मुझे उसके करने का निषेध कर देती है। वही कारण है कि मैंने आज तक सार्वजनिक सेवा करते हुए भी राज्य की कोई ऐसी आज्ञा नहीं मानी जो मेरी दृष्टि में अनैतिपूण या अन्याययुक्त थी। इस समय भी मेरे सामने वैसी ही समस्या उपस्थित है। यदि मैं न्यायालय की आज्ञा मानकर नवयुवकों को न्याय-नीति का उपदेश देना बंद कर दूँ या ऐथेन्स को छोड़कर विदेश को चला जाऊँ तो मेरे प्राण अवश्य बच जायेंगे, पर मैं ऐसे प्राण बचाने की कीमत एक कौड़ी के बराबर भी नहीं

समझता। इसकी अपेक्षा भगवान् और अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार आचरण करते हुए देह त्याग देना मेरी दृष्टि में सौ गुना श्रेष्ठ है।”

जब विषपान द्वारा मृत्यु दण्ड की आज्ञा मिलने पर सुकरात को कारागार में बन्द कर दिया गया तो विशेष कारणवश उसे तुरन्त न मार कर ३३ दिन तक जेल में ही बन्द रखा गया। पर उन दिनों भी वह अपने पास आने वाले मित्रों को सदा के समान आत्मोपदेश देता रहता और बड़ी प्रसन्नता से दिन व्यतीत करता रहा। किसी को यह प्रतीत भी नहीं होता था कि उसके मृत्यु दण्ड दिया जा चुका है और गिनती के दिनों का मेहमान है। अन्तिम दिन जब उसका प्रमुख शिष्य ‘बिज्जान’ उसके पास बहुत सबेरे ही आ पहुँचा तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुकरात बड़े गहरी नींद में शान्ति से सोया हुआ है। जब मित्र ने सुकरात से इस सम्बन्ध में पूछा तो उसने यही कहा— ‘मैं मृत्यु को शत्रु की तरह नहीं बरन् मित्र की तरह समझ रहा हूँ, फिर उसके आगमन से मुझे अशान्ति अथवा शोक कैसे हो सकता है?’

सुकरात को न मृत्यु का भय था न दबाव

ई० पू० ३९९ में सत्तर वर्ष के दार्शनिक सुकरात के खिलाफ उनके शत्रुओं ने न्याय सभा में दो अभियोग लगाने। पहला यह कि वे गणतन्त्र के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे और दूसरा यह कि वे युवकों को तर्क-वितर्क सिखाकर उन्हें दुश्परिग्रह बना रहे थे। अभियोगकर्ताओं ने इन आरोपों के साथ यह सुझाव दिया कि ऐसे आदमियों को जीवित नहीं रहने देना चाहिए। ये आरोप जिस रूप में प्रस्तुत किये गये थे वे सर्वथा निराधार थे। तत्कालीन शासकों ने उनसे इसलिये भयभीत होकर यह अभियोग लगाया था कि वे बहुत बार देवी-देवताओं को मानने की अपेक्षा एकेस्वरवाद का प्रचार कर रहे थे तथा लोगों को समझा रहे थे कि उन्हें सत्य और न्याय का अनुसरण ही करना चाहिए।

सुकरात को न्यायालय में पेश किया गया। सीसीयस नामक एक विधि प्रकृता ने उनकी ओर से बहस करना चाहा तथा इसके लिए एक लम्बा बयान तैयार किया। सुकरात ने यह बयान पढ़ा और सीसीयस को धन्ववाद देते हुए उस बयान को उपयोग न करने के लिए क्षमा माँग ली। न्यायाधीश के सामने अपनी सफाई में अधिक कुछ न कहते हुए उन्होंने इतना ही कहा, “मेरे विरुद्ध लगाये गये अभियोगों में जल-मो सच्चाई नहीं है। मेरे पास जो कुछ भी था वह मैंने ऐथेन्सवासियों के लिए समर्पित कर दिया है। मेरी हमेशा यही इच्छा रही कि मेरे साथी नागरिकों का जीवन सुखमय हो और मैंने इसके लिए काम किया।”

न्यायाधीशों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— “आपके प्रभुत्व की अपेक्षा इन देवताओं का प्रभुत्व मेरे लिए अधिक है। यदि आप इस शर्त पर मुझे मुक्त करने का विचार रखते हैं कि मैं स्तन्यान्वेषण करना छोड़ दूँगा तो मैं इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। इस शर्त को पुरा करने की अपेक्षा ईश्वर का आदेश पालन काना अधिक

अप्युक्त समझता हूँ जिसने कि मेरे ऊपर वह काम छोड़ा है। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक सत्य की खोज नहीं छोड़ूँगा और जो भी व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आवेगा उससे कहूँगा कि ज्ञान और सत्य की खोज में न लगकर तुम धन और मन के पीछे पड़े रहते हो इसमें तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

सुकरात जानते थे कि उन्हें मृत्यु दण्ड मिलेगा।

एक न्यायाधीश ने पूछा कि—क्या तुम्हें इस बात का चर-पी डर नहीं है कि तुम्हें मृत्यु दण्ड मिल सकता है।

“मृत्यु क्या है ? वह मैं नहीं जानता—सुकरात ने कहा “वह वरण करने योग्य है क्योंकि मैंने जीवन के सभी क्षेत्रों का अनुभव कर लिया है। एक मृत्यु ही ऐसी नवी है जिसका अनुभव मुझे नहीं है। अतः मैं जानना चाहता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है। इसलिए मृत्यु से मैं जरा-सी घबराता नहीं हूँ।”

वहाँ बैठे हुए न्यायाधीशों तथा सभ्यसद्यों ने बहुमत से सुकरात को अपराधी ठहराया। २८९ व्यक्तियों ने उन्हें अपराधी ठहराया तथा २२० व्यक्तियों ने उन्हें निर्दोष माना। बहुमत उन्हें अपराधी ठहरा रहा था अतः न्यायाधीशों ने उन्हें मृत्यु दण्ड दिया, उस समय ऐथेन्स में ऐसा कानून था, कि मृत्यु दण्ड देने वाला व्यक्ति अपने लिए कोई दूसरा दण्ड प्रस्तावित कर सकता है। सुकरात को भी इस सुविधा का लाभ उठाने के लिए कहा गया कि उन्होंने कहा “वटि मुझे अपना काम करने की छूट दी जाय तभी मैं कोई दण्ड प्रस्तावित कर सकता हूँ।”

न्यायाधीश ने उनकी बात को अस्वीकार करते हुए यह फैसला दिया कि वे १०० मीन जो लगभग ५२५ रुपये के करीब होते हैं, जुर्माना देकर मुक्त हो सकते हैं। सुकरात ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनके व्यवहार से न्यायाधीश क्रुद्ध हो उठा और उसने चौखला कर कहा—“तुम्हें जहर पीकर अपनी मृत्यु का वरण करना होगा।”

इस मृत्यु घोषणा को शान्त भाव से ग्रहण करते हुए सुकरात ने कहा—“बहुत लीक है। अब विदा ग्रहण करने का समय आ गया है मेरे लिए मृत्यु और आपके लिए जीवन। किन्तु ईश्वर को छोड़कर और कोई यह नहीं जानता कि हम दोनों में से कौन बहतर अवस्था को प्राप्त होगा।”

जिस समय सुकरात को मृत्यु दण्ड सुनाया गया था उस समय ऐथेन्स में धार्मिक उत्सव चल रहे थे। इसलिए उक्त आदेश को क्रियान्वित करने में तीन सप्ताह का कलम हुआ। सुकरात को जब तक जेल में ही रखा गया। उन्हें इतनी छूट अस्वरूप दे दी गयी कि उनके शिष्य और अनुयायीगण उनसे मिलने के लिए कसगार में आ सकते थे। सुकरात कसगार में रहते हुए क्रम से अपने शिष्यों से मिलते रहे।

एक दिन उनका शिष्य क्रीटो उनसे अकेले में मिला और उसने कहा—मैंने आपको जेल से छुड़ाने का प्रयत्न कर लिया है और कल हम लोग आपको यहाँ से ले जायेंगे। कैसे ? सुकरात ने पूछा—तुम कहना क्या चाहते हो। न्यायाधीश ने आपको मृत्यु दण्ड का जो फैसला

सुनाया है, वह पूर्णतः अन्वयिक है और हम लोगों को आपके सरक्षण की आवश्यकता है। अतः आपको जेल से पलायन करना पड़ेगा।

क्रीटो के इस प्रस्ताव से सुकरात बहुत नाराज हुए। उन्होंने कहा—“मुझसे पूछे बिना तुम लोगों ने इस तरह की कोशिश क्यों की। मैं क्या मृत्यु से डरता हूँ ? और फिर वे बोले—जो भी हो वे फैसला एक वैध न्यायाधीश ने किया है और मैं अपने देश के कानून की मर्यादों का पालन करूँगा।

शिष्यों द्वारा बहुत अनुरोध करने पर भी सुकरात ने जेल से पलायन स्वीकार नहीं किया। कसबास का अन्तिम दिन था। सुकरात के हाथ-पाँवों से हथकड़ी-बेड़ियाँ खोली गयीं। उस दिन उनके कुछ मित्र और सम्बन्धीगण वहाँ आये। सुकरात के पेशावी शिष्य क्रीटो ने उस समय का जो चित्रण किया है वह बड़ा कथुणिक है। सुकरात से मिलने के लिए आने वालों में उनकी पत्नी तथा सबसे छोटा पुत्र भी था। यों सुकरात की पत्नी जैचिपी आजीवन अपने पति को तरह-तरह से तंग करती रही थी पर उस समय वह फूट-फूट कर रो रही थी। सुकरात का सङ्कल्प भी रो रहा था। उन्होंने अपने शिष्य को कहा—क्रीटो, किसी से कहो कि इन लोगों को घर ले जाय।

तब एक शिष्य उठा तथा जैचिपी और उनके लड़के को वहाँ से हटा कर ले गया। सुकरात अपनी निष्ठावन पर से उठे और पाँवों के जिस स्थान पर बेड़ियाँ पहनाई गई वहाँ मालिश करने लगे। वहाँ उपस्थित शिष्यों के नेहरों पर विषाद की काली छाया मँडरा रही थी जो भी लोग वहाँ थे वे सब सुकरात को घेर कर बैठ गये। तब सुकरात ने बड़ी धीरता के साथ उपस्थित लोगों को सुख और दुःख पर उपदेश दिया तथा अपने शिष्यों से काफी देर तक जीवन-मृत्यु तथा आत्मा पर चर्चाएँ करते रहे।

काफी देर तक चर्चा करने के बाद सुकरात स्नान करने गये उस समय सूर्यास्त हो रहा था। जब वे स्नान कर वापस आये तो एक राजकर्मचारी आया। राजकर्मचारी की आँखों में आँसू थे सुकरात ने पूछा—“तुम रो रहे हो।”

वह कार्यचारी और फफक-फफक कर रो उठा। बड़ी देर तक सान्त्वना देने के बाद वह बोला—“मैं कितना अभिमान हूँ कि आपके लिए मृत्यु का सन्देश लेकर आया हूँ।”

“ओ पगले”—सुकरात ने हँसते हुए कहा—“इसमें तुम्हारा क्या दोष। तुम तो अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हो।”

विषपान करते समय सुकरात जरा-सी अबसादग्रस्त नहीं दिखाई दे रहे थे। उस समय के दृश्य का चित्रण करते हुए प्लेटो ने लिखा है—अब तक हम लोग अपनी वेदना को दबाये हुए थे किन्तु जब हमने उन्हें विषपान करते हुए देखा तो हम अपने को रोक न सके मेरी आँखों से बराबर आँसुओं की धारा बह चली। मैं अपने चेहरे को हाथ से ढककर रोने लगा। क्रीटो तथा अन्य व्यक्ति भी रो रहे थे। एकमात्र साक्रेटेयस ही धीरे-व्रत बने हुए थे। उन्होंने हमें रोते देखकर डाँटा।”

विष का प्रभाव धीरे-धीरे कम करने लगा और वे चेतनाहीन होने लगे। इस दार्शनिक ने अपना सारा जीवन महानता से भर दिया, वैसा ही ठनकर अन्त रहा।

सुकरात : प्रेरक प्रसंग

मूर्ख और बुद्धिमान की पहचान

सुकरात से उनके शिष्यों में से एक ने पूछा— मूर्ख और बुद्धिमान की क्या पहचान है ? सुकरात ने सहज भाव से उत्तर दिया जो अपने अनुभव से भी लाभ न उठाये वह मूर्ख और जो अनुभव संचय से पहले ही दूसरों के उदाहरणों से काम की बात सीख ले— वह बुद्धिमान।

बात पूरी होने-होने एक-दूसरा शिष्य बोला पढ़ा जो अपने और पराये किसी के भी अनुभव पर ध्यान न दे उसे क्या कहा जाय ? सुकरात मुस्कुराये और बोले— उसे कहना हो तो नर-पशु भी कहा जा सकता है।

दृष्टि दोष

सन्त सुकरात से मिलने गये एक भक्त ने प्रश्न किया 'महात्मान् ! चन्द्रमा में कलंक और दीपक तले अधिष्ठा क्यों रहता है ?' सुकरात ने पूछा 'अच्छ तुम्हीं बताओ— तुम्हें दीपक का प्रकाश और चन्द्रमा की उज्योति क्यों नहीं दिखाई देती ?'

भक्त ने विचार किया— 'सद्यमुद्य संसार में हर वस्तु में अच्छे और बुरे दो पहलू हैं, जो अच्छा पहलू देखते हैं, वे अच्छाई और जिन्हें केवल बुरा पहलू देखना आता है, वह बुराई संग्रह करते हैं।

व्यर्थ का गर्व

एक जागीरदार अपने ठिकाने का विस्तार और वैभव दार्शनिक सुकरात को सुना रहा था। डींगें सुनते-सुनते जब बहुत देर हो गई तो सुकरात ने एक पृथ्वी का नक्शा मंगवाया और पूछा— बताना इसमें तुम्हारा ठिकाना कहाँ है ?

नक्शे में उस ठिकाने का उल्लेख न था केवल भ्रान्त ही भटर के बराबर जगह में दिखाई पड़ता था। उसने उसी की ओर इशारा किया।

सुकरात ने फिर पूछा यह तो एक भ्रान्त का नक्शा हुआ तुम अपने ठिकाने का स्थान और अनुपात बताओ। जागीरदार ने कहा इस नक्शे के अनुपात से मेरा ठिकाना एक सुई की नोक के बराबर होना चाहिए।

सुकरात हँस पड़े। उन्होंने ब्रह्माण्ड के नक्शे में पृथ्वी को एक तिल भर बताते हुए कहा— इस पृथ्वी में भी तुम्हारा ठिकाना अदृश्य जितना कम है फिर समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो वह अत्यन्त उपेक्षणीय होगा। इतनी छोटी वस्तु पाकर तुम इतनी बड़ी डींगें क्यों हाँकते हो ?

बुद्धिमान् कौन ?

ज्ञानकारी का महत्त्व समझाते हुए सुकरात ने अपने शिष्यों से कहा— जो अनजान है और अपने को जानकार मानता है उससे बचो जो अनजान है और अपनी अल्पज्ञता से परिचित है उसे— सिखाओ जो ज्ञानता तो है, पर अपने ज्ञान के बारे में शंकायु है उसे जगाओ और जो जानता है पर स्वयं अपनी जानकारी के प्रति आस्थावान है वह बुद्धिमान है। ऐसे ही व्यक्ति के पीछे चलो।

दर्पण में अपनी ही छवि

महान् दार्शनिक सुकरात दर्पण में बार-बार अपना मुँह देख रहे थे। इसी समय उनके कुछ शिष्य वहाँ आ पहुँचे। शिष्य मण्डली उनके इस क्रिया-कलाप को नहीं समझ पा रहे थी। कुरूप सुकरात बार-बार दर्पण क्यों देख रहे हैं ? आखिर एक शिष्य उनसे ही पूछ बैठ, 'गुरुवर, दर्पण में अपना चेहरा बार-बार क्यों देख रहे हैं ?' सुकरात शिष्य की बातें सुनकर हँस पड़े। फिर गम्भीर हो बोले, 'प्रियवर, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। मुझ जैसे कुरूप को दर्पण देखने की क्या आवश्यकता है ? लेकिन मेरे शिष्य ! दर्पण सबको देखना चाहिए। चाहे वह सुन्दर हो या बदसूरत।'

शिष्य बीच में ही बोल उठा, 'गुरुवर, कुरूप तो अपनी वास्तविकता जानता ही है। फिर दर्पण देखने से तो भारी काह ही होगा उसे। सुकरात शिष्य को शांत करते हुए बोले, 'वत्स, कुरूप को तो दर्पण अवश्य देखना चाहिए, क्योंकि उसे अपने उस रूप को देखकर बरबस ध्यान आ जाय कि वह कुरूप है। फलस्वरूप अपने श्रेष्ठ कर्माँ से उस कुरूपता को सुन्दर बनाकर इकट्ठे का प्रयास करे। सुन्दर चेहरे को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि ईश्वर ने उसे सौन्दर्य दिया है, अतः उसके अनुरूप ही उसे सदैव सुन्दर कार्य करना चाहिए।'

दार्शनिकता को सार्थक बनाने वाले कन्फ्यूशियस

कन्फ्यूशियस का बन्म एवं उदय लगभग छह हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ था जो धार्मिक अन्धविश्वासों का युग कहा जा सकता है। जो धार्मिक कस्ता, धर्मकारी तथा धर्म प्रतिपादक नहीं होता था। जनता में उसका सम्मान तो दूर असम्मान ही हुआ करता था। धर्म की बातों के माध्यम से ही लोग जीवन में आगे बढ़कर जन-साधारण का नेतृत्व किया करते थे।

ऐसे समय में आचार्य कन्फ्यूशियस जीवन दर्शन में एक नई क्रांति लेकर जन-जीवन में आये। उन्होंने जनता को जन्म, जीवन तथा मरण की पहलियों में अलझाने के बजाय मानव जीवन के कलापूर्ण कर्म का सन्देश दिया 'जन्म से पूर्व मनुष्य कहाँ था और मृत्यु के पश्चात् वह कहाँ जाएगा' के पचड़े में पड़ने के बजाय उन्होंने यह बतलाया कि उन्हें यह जो मानव जीवन मिला है उसको सच्चे मानों में किस प्रकार सार्थक तथा सफल बनाया जाये।

महात्मा कम्प्यूशियस जीवन में आदर्शवादिता के समर्थक अवश्य थे किन्तु ऐसे आदर्श के जो गन्तव्य-जीवन में पूरी तरह उतारे जा सकें। वे केवल बौद्धिक आदर्शवादी नहीं थे। उनका कहना था कि मनुष्य जो कुछ कहे अथवा सोचे उसे अपने व्यवहारिक जीवन में मूर्तिमान् भी करे। निष्क्रियान्तक आदर्श जीवन उन्नति की सबसे बड़ी बाधा है।

अपने जीवन में किन्हीं ऊँचे आदर्शों की स्थापना करके अपने जीवन को न चलाना सबसे बड़ी आत्मप्रवचना है। क्योंकि कोरा आदर्शवादी बकला बहुत है किन्तु करता कुछ नहीं है। अपने वाक्याल में सर्व-साधारण को फँस कर उन्हें राह तो दिखाता है किन्तु स्वयं उस मार्ग पर नहीं चलता। बुद्धि कौशल से पथ-प्रदर्शक बन जाने से वह अपनी चतुरता की रक्षा में लगा रहने से अपना आत्मिक सुधार नहीं कर पाता और यह एक भयंकर आत्मवचना है।

चीन के प्रसिद्ध चांग राजवंश में पैंच सौ पचास ईसा से पूर्व कम्प्यूशियस का जन्म हुआ। जिस समय उनकी आयु नौन वर्ष की थी उस समय उनके पिता की मृत्यु हो गई। जिससे उन्हें महान् कठिनाइयों के बीच अपना जीवन चलाने हुए अध्ययन करना पड़ा। असहनीय कठिनाइयों के बीच जिनका विद्युत् प्रेम अधुष्ण बना रहता है वे अवश्य ही एक दिन भारती के वरद पुत्र बन कर रहते हैं। इस उपलब्धि का कोई अलौकिक कारण नहीं होता, इसका सीधा-सा एक कारण होता है कि कठिन परिस्थितियों में रहकर पढ़ने वाले विद्यार्थी का ध्यान अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं जाता। विद्या प्राप्त करना उसके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, जिसे सफलतापूर्वक हल करने में वह जी-जान से लग्न रहता है। यही एक लग्नपूर्ण तन्मयता उसकी सफलता का कारण बनती है। जो विद्यार्थी अनावश्यक साधन तथा सुविधाएँ लेकर अध्ययन के अनिवार्य परिश्रम को ही वहन नहीं कर पाते हैं, सुविधाओं की बहुतायत होने से वे आलसी तथा छुई-मुई बन जाते हैं जिससे धन-क्षय पर बचन तथा शिथिलता अनुभव करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। विद्युत् प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को सम्भव होने पर भी अपने चारों ओर सुख सुविधाओं के साधन संघट्ट नहीं करने चाहिये। विद्याध्ययन एक तपस्या है, एक साधना है। इसकी जीवन का सामान्य कार्यक्रम मानकर अपनाने से अधिकतर असफलता ही हाथ आती है।

बालक कम्प्यूशियस जो कुछ पढ़ते थे उसे अपने जीवन में उतारते जाते थे। इससे केवल १४ वर्ष की आयु में ही उनको महत्त्व की अनुभूति होने लगी। आदर्श जीवन की इस तात्कालिक सफलता, महानता तथा सुन्दरता को देखकर उन्हें यथार्थ जीवन के कलापूर्ण थापन में अखण्ड विश्वास हो गया और उन्होंने इस वरदान को जन-जन के बीच वितरित करने का संकल्प कर लिया।

बाईस वर्ष की अवस्था में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने आवश्यक अध्ययन पूरा करके जन-कल्याण की दिशा में पट्यर्पण किया। सबसे पहले उन्होंने एक पाठशाला की स्थापना की जिसमें भरती हुए बच्चों को स्वयं पढ़ाते थे। यद्यपि आचार्य कम्प्यूशियस में इतनी योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो सीधे जनता के बीच अपने विचारों का प्रचार

कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा न करके जिस पाठशाला की स्थापना की उसके पीछे दो कारण बम कर रहे थे। एक तो यह कि बिना कोई सावर कार्य किये सहसा बनना में उतर जाने से वे केवल वाक्वीर ही समझे जा सकते थे कर्मवीर नहीं और ऐसी दशा में जन-साधारण के अविश्वासपात्र बनने की सम्भावना थी। जीवन में सही मार्ग दिखलाने के लिए सर्व-सामान्य का विश्वास प्राप्त करना बहुत आवश्यक है जो केवल शान्दिक शक्ति से नहीं कार्यों की मूर्तिमत्ता से ही प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरे कम्प्यूशियस अच्छी प्रकार जानते थे कि बच्चों की मनोभूमि अन्धविश्वासों तथा अन्ध-अविश्वास, संशय, तर्क ईर्ष्या द्वेष आदि के विकारों से कटकित नहीं होती। उनमें बोये हुए सद्विचारों के बीज सरलता से फलीभूत हुआ करते हैं। जहाँ रुढ़-संस्कारों के कारण प्रौढ़ों के धर्म की आड़ लेकर किसी बान को समझाने में बड़ी ही सावधानी तथा सतर्कता को अपनाना पड़ेगा वहाँ बच्चों के संस्कार बनाने में इस चातुर्य की आवश्यकता न पड़ेगी और शीघ्र ही उनकी निर्मित की हुई नई पीढ़ी समाज के रंग-बंग पर उतर जायेगी। ऐसी दशा में वे एक से बहुत होकर सरलतापूर्वक अपने विचारों का प्रसार तथा प्रचार कर सकते थे।

आचार्य कम्प्यूशियस की पाठशाला क्या थी? सच्ची मानवता तथा नागरिकता की प्रशिक्षणशाला थी। उस पाठशाला में निर्धन तथा धनी, उच्च तथा निम्न हर प्रकार के छात्रों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार किया जाता था। यद्यपि पाठशाला के व्यय के लिये धनी विद्यार्थियों से कुछ शुल्क लिया जाता था और निर्धन विद्यार्थी शुल्क मुक्त लेकर पढ़ते थे तथापि उनके बीच किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विषमता का कोई व्यवहार नहीं किया जाता था। विद्यार्थियों का क्रियात्मक चरित्र निर्माण तथा अनुशासन इस पाठशाला की प्रमुख विशेषता थी। आचार्य शब्द ज्ञान के स्थान पर विद्यार्थियों के आचरण की ओर अधिक ध्यान देते थे। जब तक एक पाठ के उपदेश प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तिगत आचरण में पूर्ण रूप से नहीं उतर जाते थे तब तक उन्हें आगे का दूसरा पाठ नहीं पढ़ाया जाता था।

आचार्य कम्प्यूशियस की संस्था की इन मौलिक विशेषताओं ने उन्हें तथा उनकी पाठशाला को शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया और वे बालकों के जीवन-निर्माण के सफल शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

जीवन-निर्माण की इस प्रारम्भिक पाठशाला की स्थापना करके और उसकी व्यवस्था को दृढ़ बनकर आचार्य कम्प्यूशियस लू राज्य की प्रसिद्ध राजधानी बने गये। पाठशाला छोड़कर लू राज्य की राजधानी आने का विशेष कारण यह था कि वहाँ लाओत्से नाम का दार्शनिक एक विशेष धर्म की स्थापना कर रहा था। एक ऐसे धर्म की स्थापना कि जिसमें एक स्वप्नित आदर्शवाद तथा रहस्यवाद के अतिरिक्त और कुछ न था। वह जन-साधारण को धर्म के नाम पर यथार्थ जीवन से दूर ले जाकर एक स्वप्नलोक में पटक देना चाहता था, जिससे वह एक ठर्शानिक रहस्य बनकर सदैव पूजता रहे।

आचार्य कन्फ्यूशियस ने उससे मिल कर विचारों का आदान प्रदान किया और व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ सद्गुणों के विकास तथा आत्मोन्नति के सरल सिद्धान्तों के पालन तथा प्रतिपादन की आवश्यकता पर बल दिया और इसी को सच्चा धर्म कहकर उन्होंने जनता के लिए आवश्यक बताया। कबनी और करनी में सम्यक् रखने वाले कन्फ्यूशियस का प्रभाव सांकेतिक पर गहरे रूप से पड़ा और वह उनका सहयोगी बन गया। वे प्रभावशाली व्यक्तियों के एकमत होकर कार्य करने का जो सम्परिणाम होता है वह लघु राज्य की राजधानी को प्राप्त हुआ और वहाँ अन्धविश्वासों के खण्डहर टूटकर मानवीय मान्यताओं के नये महल बनने लगे।

इसी बीच इस नवनिर्माण तथा कुछ अन्य कारणों से उक्त राजधानी में राजनीतिक हलचल शुरू हो गई। कन्फ्यूशियस अपने अनुयायियों के साथ वहाँ से यह सोचकर धल दिए कि जन-निर्वाणों का कार्य राजनीति की हलचल से दूर रहकर ही किया जा सकता है।

कन्फ्यूशियस के उपदेशों में सच्ची नागरिकता एवं आचरणपूर्ण अनुशासन के दर्शन पाकर तात्कालिक चीन सरकार ने उनकी कार्य कुशलता का लाभ ठठाने तथा जनता का भला करने के लिए अनुरोधपूर्वक उन्हें राज्य के घुंगट नामक नगर का गवर्नर बना दिया। एक प्रकार से जहाँ यह कन्फ्यूशियस का राज-सम्पन्न था वहाँ उनकी योग्यता तथा कार्य-कुशलता की परीक्षा भी थी। किन्तु जो निस्पृह है, निःस्वार्थ एवं आचरणवान है, जिसके अपने परिश्रमपूर्ण प्रयत्न से योग्यताओं की सिद्धि की है और सच्चाई के साथ काम करता है उसके हाथ में हल से लेकर राजदण्ड तक क्यों न दे दिया जाये वह उसमें उत्तीर्ण ही होकर रहेगा। असफलता का भय तो स्वाधीन आलसी तथा अयोग्यों के लिये निर्माण किया गया है।

शीघ्र ही उनकी योग्यता ने उन्हें शासन के सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया और तब उन्होंने एक ऐसे अडिग शासन की स्थापना की कि जनता ने नित्य परिवर्तनशील शासन के त्रास से आश्वसन की श्वास ली। इस प्रकार एक सन्न शासक के अनुशासन में जनता से बेईमानी तथा दुराचरण दूर भागने लगे। लोगों में शासन के प्रति विश्वास के साथ-साथ राजभक्ति का भी उदय होने लगा।

इस प्रकार आचार्य कन्फ्यूशियस ने न केवल एक अच्छे शासन की नींव डाली अपितु जनता के हित के लिए अनेकों सहाय्य कार्य किये। उन्होंने कृषि में, व्यापार तथा उद्योगों में विकास एवं सुधार कर देश की भुखमरी को भगाया। युवक तथा वृद्ध व्यक्तियों के लिए, शक्ति, सामर्थ्य, स्वास्थ्य, कार्य तथा उपयोगिता के मापदण्ड पर तोलकर अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की। वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करके जन-साधारण को मुनाफखोरी के अभिशाप से मुक्त किया।

का के रूप में प्राप्त धनराशि को जनहित के कार्यों में लगाकर सड़कों, पुलों, पाठशालाओं एवं पुस्तकालयों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया, जनता में समता तथा सुख-सन्तोष की स्थापना के लिए उन्होंने धनवानों को इतना शक्तिशाली होने से रोका कि आगे चलकर वे शासन पर हावी होकर गरीब जनता का शोषण करने में

समर्थ एवं निर्भय न हो जायें। कन्फ्यूशियस की शासन-सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उसकी इस व्यवस्था से बचा धनी, क्या निर्धन, क्या ऊँच तथा क्या नीच सभी प्रकार के व्यक्ति पूर्ण सन्तुष्ट थे।

इस प्रकार एक शान्तिमय, सफल शासन-व्यवस्था स्थापित करके अन्य शासकों के सामने अनुकरणीय उदाहरण रखकर कन्फ्यूशियस पुनः देशव्रतन पर चल दिये। उनकी शासन कुशलता की कीर्ति सुनकर अनेक राज्यों के राजाओं ने उन्हें अपने राज्य का शासन भार सम्भालने के लिए आर्पणित किया, किन्तु जन-सेवा के कार्य छोड़कर उन्होंने दुबारा शासक बनना स्वीकार नहीं किया। अनेक राजाओं ने उनके सम्मान में उन्हें वृत्तियाँ देनी चाहीं किन्तु उनके भी अम्बेन्बर करके वह जन-सेवा महत्वा कठिन से कठिन परिस्थितियों में जनकल्याण के लिये देश-देश, गाँव-गाँव तथा गली-गली घानबला के सन्देश सुनाता घूमा।

एक बार पूछ से व्याकुल उनके अनेक अनुयायियों ने प्रार्थना की कि इस प्रकार कष्ट उठाने से तो अच्छा है कि किसी राज्य की वृत्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाये। इस पर आचार्य कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया कि श्रेष्ठ पुत्र सदैव ही अपने हाथ से उपार्जित धन ही व्यय में लाते हैं। कठिन कठिनियाँ श्रेष्ठ पुरुषों की कठिनाई हैं जिनके कारण ही वे पहचाने जाते हैं। जो कठिनाई को धरन नहीं कर सकता, अपतियों को सहन नहीं कर सकता और विषम परिस्थितियों में भी प्रसन्न नहीं रह सकता वह कभी श्रेष्ठ पुरुष नहीं बन सकता और न कोई श्रेष्ठकर कार्य ही कर सकता है।

महात्मा कन्फ्यूशियस जहाँ एक दार्शनिक और आध्यात्मिक व्यक्ति होने के नाते विरक्त धन से ही रहते थे, वहाँ समाज में फैली भ्रष्ट परम्पराओं के प्रति उदासीन न होते थे। वे जहाँ भी अहितकर प्रवृत्तियों को चलता देखते थे, वही पहुँच जाते थे और सुधार का प्रयत्न किया करते थे। उन्होंने साधु-संन्यासियों की धर्म-संस्थाओं का अध्ययन किया और पाया कि धर्म प्रचार करने वाले लोग प्रारम्भ में तो सदासपूर्वक ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेते हैं पर वे बाद में उसका पालन नहीं कर पाते और शीघ्र ही विवाहों और परिस्थितियों का शिकार बन कर व्रत-भंग के दोषी बन जाते हैं।

महात्मा कन्फ्यूशियस ने इस परम्परा को ठीक नहीं समझा। उन्होंने इस वृत्ति को धर्म की आड़ में व्यभिचार ही माना। उन्होंने लोगों को समझाया कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर तोड़ने की अपेक्षा यही अच्छा है कि विवाहित जीवन स्वीकार किया जाये और पवित्रतापूर्वक रहकर धर्म का कर्तव्य किया जाये। अनिर्वपित ब्रह्मचर्य की अपेक्षा निवर्णित विवाह कहीं श्रेष्ठ और धर्मसम्मत है।

महात्मा कन्फ्यूशियस अपने समय के बहुत बड़े प्रचारक थे। जीवन भर उन्होंने लोगों को धर्म की शिक्षा दी। लाखों लोग उन्हें अपना गुरु मानते थे और उन्हीं के अनुरूप उनका सम्मान भी करते थे। किन्तु निस्पृह और निरुभिमानी कन्फ्यूशियस ने कभी अपने को धर्म-गुरुओं की परम्परा में नहीं माना। वे सदैव यही कहा करते थे कि मैं तो एक साधारण-सह धर्म-सैनिक हूँ और धर्म का आग्रह लेकर

अपने जीवन को पूर्ण पवित्र और सार्थक बनाना चाहता हूँ। मुझे न धन की इच्छा है न वश की। मैं सम्मान और प्रतिष्ठा भी नहीं चाहता। मुझे यदि कोई इच्छा है तो केवल यही कि मैं एक पूर्ण मनुष्य बन सकूँ। उसी के लिये मैंने धर्म का आश्रय लिया है और जीवन में आध्यात्मिक सदगुणों को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

वे मध्यम मार्ग पर चलने की शिक्षा लोगों को देते थे। वे 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' सिद्धान्त के समर्थक थे। उनका कहना था कि अति की सीढ़ी पर पहुँच कर उतय वस्तुएँ भी विकृत हो जाती हैं। सीढ़ी से बाहर हुई ब्रह्मा आदित्य के रूप में, सतर्कता भोक्ता के रूप में, शक्ति उद्वेगता के रूप में और सरलता, मूर्खता के रूप में परिणत हो जाती है। किसी भी विषय में जब मनुष्य सन्तुलित मात्रा से आगे बढ़ जाता है तब वह सामान्य स्त्री बैठता है और उसके कर्ब बढ़ते, हानिकारक तथा दुःखदायक बन जाते हैं। इसलिए मध्यम वृत्ति का जीवनयापन ही सर्व-साधारण के लिए उपयुक्त है।

वे कहा करते थे—मनुष्य को सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सत्य केवल बुद्धि का विषय नहीं उसे जन्म से ही काम न चलेगा, बल्कि उसकी उपयोगिता तभी है जब उसे जीवन में व्यवहार किया जाय। निश्चलता और आत्मविश्वास मानव जीवन की सफलता के दो प्रधान सोपान हैं। इनमें कमी आने से ही मनुष्य का अधः पतन होता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि आत्म निरीक्षण करता रहे और जब भी अपने अन्दर त्रुटियाँ दिखाई पड़े उनमें बिना संशय के सुधार करे। 'अपने दोषों को ढूँढ़ना और उन्हें निश्चल देना मच्छी बीरता का चिह्न है।

परिपूर्ण जीवन की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि—इन्द्रियों की तृप्ति और व्यक्तिगत महत्कामांश की पूर्ति से नहीं बल्कि मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि वह अपनी पान्थिक और नैतिक दुर्बलताओं पर विचार करे। जिसने अपने जीवन को अनुशासित और संयमित बनाया उसी का जीवन धन्य है। दुःख और सुख में, सफलता-असफलता में विषमता और सम्पन्नता में धैर्य, साहस और विवेक से काम लेकर मन की साम्यावस्था को बनाये रहना ही बुद्धिमानी का चिह्न है।

कन्फ्यूशियस धर्मानिष्ठ तो थे पर अपने आपको धर्म गुरुओं की श्रेणी में कभी सम्मिलित नहीं होने दिया। उन्होंने अपने संबंध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो नैराश्रय बने वैसा ही आचरण करे। मैंने जीवन भर यही प्रयत्न किया है कि मैं सदगुण सम्पन्न एक पूर्ण मनुष्य बनूँ और इसी को मैंने धर्मचरण माना है और इसी के लिए दूसरों को भी शिक्षा दी है।

वे चाहते थे कि कोई बुद्धिमान शासक उनकी सलाह से राजकाज चलाये पर जीवन के अंत तक ऐसा कोई शासक उन्हें मिला नहीं। जीवन के अन्तिम दिन उन्होंने ग्रन्थ लिखने और शिष्यों को पढ़ाने में लगाये उनका 'चन चिउ किंग' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

कई राजाओं ने आश्रय वृत्ति देने का प्रस्ताव रखा, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और गरीबी से दिन काटते रहे। उनके शिष्य

जब इस गरीबी से दुःखी होते और सहायता का प्रस्ताव करते तो वे कहते "उत्कृष्ट पुरुषों को कष्टसाध्य जीवनयापन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। निकृष्ट पुरुष इन अवस्थाओं में टिक नहीं पाते और वे शीघ्र ही महापुरुषों के उपयुक्त गरीबी को छोड़कर चल जाते हैं। मुझे अल्पहार, भूमिशयन और जीर्ण वस्त्रों पर सन्तोष है। यह पाप की कमाई से प्राप्त हुई विलासिता और धूम-धाम की बाहवाही की अपेक्षा मेरे लिए कहीं उत्तम है।"

चीन के एक अत्याचारी शासक ने कन्फ्यूशियस की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद ही उनकी लिखी सन पुस्तकों को जलवा दिया और उनके अनुयायी विद्वानों को फाँसी पर लटकवा दिया, फिर भी उनके सिद्धान्त आज भी चीन ही नहीं सारे ससार में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

अत्याचारी की छत्र-छाया से तो निर्जन बन ही श्रेष्ठ

एक बार चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस, अपने कुछ शिष्यों के साथ ताई नमक पहाड़ी पर से कहीं जा रहे थे। एक स्थान पर वे सहसा रुक गये। शिष्यों ने जिज्ञासु नेत्रों से उनकी ओर देखा वे बोले, 'कहीं पर कोई वे रुक है।' इतना कहकर वे रुदन को लास्य करके चल पड़े। शिष्यों ने उनका अनुगमन किया।

कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा एक स्त्री रो रही है। उन्होंने बड़ी सहानुभूति से रोने का कारण पूछा। स्त्री ने बताया कि इसी स्थान पर उसके पुत्र को एक चीते ने मार डाला। कन्फ्यूशियस ने कहा—'किन्तु तुम अकेली ही दीखती हो तुम्हारे परिवार के अन्य लोग कहाँ हैं?' स्त्री ने खतरा होकर बताया अब उसके परिवार में है ही कौन। इसी पहाड़ी पर उसके ससुर और पति को भी चीते ने फाड़ डाला था। कन्फ्यूशियस ने बड़े आश्चर्य से कहा, 'तो तुम इस भयंकर स्थान को छोड़ क्यों नहीं देती?' स्त्री बोली, 'इस स्थान को इसलिए नहीं छोड़ती कि वहाँ पर किसी अत्याचारी का शासन नहीं है।'

महात्मा कन्फ्यूशियस यह सुनकर चकित हो गये। उन्होंने शिष्यों की ओर उन्मुख होकर कहा, यद्यपि, निश्चित रूप से यह स्त्री कहणा और सहानुभूति की अधिकारिणी है। तथापि इसकी बात ने हम लोगों को एक महान् सत्य प्रदान किया है। वह यह कि अत्याचारी शासक एक चीते से अधिक भयंकर होता है। अत्याचारी शासन में रहने की अपेक्षा अच्छा है कि किसी पहाड़ी अथवा जंगल में रह लिया जाये। किन्तु यह व्यवस्था सर्वजनिक नहीं हो सकती। अस्तु, जनता को चाहिए कि वह अत्याचारी शासन का समुचित विरोध करे और सत्ताधारी को अपना सुधार करने के लिये विवश करने का उपाय करे। अत्याचारी शासन को भय के कारण सहन करने वाला समाज किसी प्रगति की उन्नति नहीं कर पाता। विकासहीन जीवन बिताता हुआ वह लोगों तक नास्वीय यत्नन योग्य करता है तथा सदा-सर्वदा अवनति के गर्त में ही पड़ा रहकर जिस-तिस प्रकार जीवन व्यतीत करता रहता है। अतः दुःशासन को फलटने के लिए जनता सदैव जागरूक रहे

सच्चा ज्ञानी

सन्त कम्प्यूशियस अपने शिष्यों को सच्चा ज्ञानी दिखाने चले। सबसे पहले वे एक महात्मा की गुफा में पहुँचे। महात्मा वहाँ जप, तप, ध्यानादि करते थे। उन्हें देखकर वे महात्मा उन्हें अपनी खासना में बाधक जान बिगड़ पड़े और उन्हें भगा दिया।

अब वे एक गाँव में पहुँचे वहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था। सन्त कम्प्यूशियस ने उससे ब्रह्म के विषय में पूछा। तेली ने उत्तर दिया— “यह बैल ही पेटा ब्रह्म है। वह पेटो सेवा करता है और मैं इसकी करता हूँ।”

आगे चले तो एक बुढ़िया मिली जो फस्ला करत रही थी। उसके निकट ही बच्चे शोर मचा रहे थे। वह किसी नटखट बालक को डाँट भी देती, कोई पाने माँगता तो पानी भी पिता देती और कोई कुछ प्रश्न पूछता तो उसका उत्तर भी दे देती। कम्प्यूशियस और उनकी शिष्य मण्डली को देख बच्चे भाग गये। उस बुढ़िया से भी उन्होंने ब्रह्म के बारे में पूछा— बुढ़िया बोली— हाँ, अभी तो वह वहीं खेल रहा था तुम्हें देखकर भाग गया।”

कम्प्यूशियस ने अपने शिष्यों को समझाया— पहले महात्मा छोटे ज्ञानी थे जो संसार से दूर ज्ञान्ति खोजते हैं। मध्यम श्रेणी का वह तेली है जो अपनी ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा को धीरे-धीरे पूरा करता जा रहा है और निष्काम ज्ञानी के रूप में वह बृद्ध ही सच्चे ज्ञानी है।

ईर्ष्या से बचें

पुरानी बात है चीन के दो व्यक्तियों ने आमने-सामने दुकानें खोलीं। दोनों ही धड़ल्ले से चलने लगीं। ग्राहकों की भीड़ लगी रहती और कमाई भी खूब होती।

इतने पर भी दोनों ही दुःखी रहते, उन्हें कितनी ही बीमारियों में घेर लिया और सुख-सुख कर काँटा हो चले। इलाज कोई कारगर न हुआ तो मौत के दिन गिनने लगे।

समझदारों ने सलाह दी कि वे कम्प्यूशियस के पास परामर्श के लिए जायें। कई बार दार्शनिक चिकित्सकों से अच्छा इलाज कर देते थे।

दोनों की अन्तर्व्यथा कम्प्यूशियस ने सुनी। दोनों ईर्ष्या के भूखे थे। सामने वाले की बढ़ोतरी सहन न कर पाते और मन ही मन कुदते रहते। यही था उन की बीमारियों का मूल कारण।

कम्प्यूशियस ने इलाज बताया वे दुकानों के काउन्टर बदल लें मालिकी ईश्वर की समझे और उनके गुफास्ते की तरह काम करते रहें।

इस उपाय से ईर्ष्या से पिण्ड छूट और कुछ ही समय में दोनों पूरी तरह निरोग हो गए।

अच्छी सरकार किसे कहते हैं ?

एक बार कम्प्यूशियस के किसी शिष्य ने उनसे पूछा “अच्छी सरकार किसे कहते हैं ?”

कम्प्यूशियस ने उत्तर दिया “जिसके पास पर्याप्त अन्न हो— पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र हों— तथा जिस पर जनता का विश्वास हो।”

शिष्य ने पुनः पूछा “मन लोजिये तीनों बातें न मिल सकें ?”

गुरु ने कहा “इनमें से हथियार निकाल सकते हो।”

शिष्य की जिज्ञासा शांत न हुई और उसने फिर प्रश्न किया “यदि इन चीजों में से केवल एक ही रखना हो— तो कौन-सी पसंद करेंगे ?”

कम्प्यूशियस ने गम्भीर मुद्रा में उत्तर दिया “जनता का विश्वास।”

कठोरता नहीं कोमलता अपनायें

चीन के महान् नवदरशी कम्प्यूशियस के मरने का समय आ पहुँचा। अन्तिम दर्शन के लिए उनके अनेक शिष्य समीप छाड़े थे। उनकी जिज्ञासा थी, गुरुदेव हमें कुछ उपदेश देकर जायें।

कम्प्यूशियस ने शिष्यों को पास बुलाकर पूछा देखना मेरे मुँह में जीभ है या नहीं ? और उन्होंने मुँह फाड़ दिया।

जीभ मुँह में थी ही। होने भी चाहिए। शिष्यों को आश्चर्य हुआ कि वह क्या बेतुका सवाल पूछ जा रहा है ? फिर भी शिष्टतावश उन्होंने यही कहा— है।

अब दूसरा प्रश्न पूछा गया— बताओ मेरे मुँह में दाँत है या नहीं ? इस बार भी उन्होंने पूरा मुँह खोला। दाँत नहीं थे। आयु के हिसाब से वे पहले ही झड़ चुके थे। शिष्यों को इस प्रश्न पर भी वैसा ही आश्चर्य हुआ।

फिर उन्होंने वही कहा— दाँत तो गुरुदेव एक भी नहीं है। कम्प्यूशियस ने तीसरा प्रश्न किया। बच्चे जीभ तो मेरे जन्म से पहले मौजूद थी और दाँत बाद में निकले। फिर यह क्या हुआ कि पीछे जन्मने वाले पहले चले गये और जो पहले पैदा हुई वह पीछे भी मौजूद है।

शिष्य क्या उत्तर देते। उनसे कुछ कहते न बन पड़ा। सब चुप खड़े थे एक-दूसरे का मुँह तक रहे थे।

सम्बन्धता तोड़ते हुए कम्प्यूशियस ने कहा— बच्चो, जीभ कोमल है और सरस। दाँत कठोर, कुर और निर्दय। सो दाँत दूट गये और जीभ का अस्तित्व अन्त तक बना हुआ है।

इस प्रकार इस महान् दार्शनिक ने अपनी अन्तिम और अति महत्वपूर्ण शिक्षा शिष्यों को दी और अपनी आँखें बन्द कर लीं।

सज्जनता

कम्प्यूशियस के एक शिष्य ने उनसे सज्जनता के विषय में पूछा। कम्प्यूशियस ने कहा— “साधारण जनों से सदा ऐसे व्यवहार करो जैसा किसी महत्वपूर्ण संस्कार का संचालन कर रहे हो। घर के बाहर सदा ऐसे व्यवहार करो, जैसे किसी महत्वपूर्ण अतिथि के सामने घर में करते हो। दूसरों के साथ ऐसा कुछ न करो, जैसा कि तुम नहीं चाहते कि दूसरा तुम्हारे साथ करे। सज्जन शब्दों में कृपण होते हैं।”

‘तो क्या शब्दों की कृपणता ही सबजनता है ?’ एक अन्य ज्ञिष्य ने पूछा

उन्होंने उत्तर दिया— “कमना, चेतने से कितना अधिक कठिन है, यह देखते हुए बोलने में भला कौन कृपण न होगा ?”

आगे जो युग है, वह गण से वक्तव्य का है, नेतृत्व का नहीं। हमारे यहाँ कुछ लोग बहुत ऊँचे हो गये, पर आम जनता का स्तर नीचे रहा। यूरोप में आम जनता का स्तर हमारे यहाँ से ऊँचा है। इस पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से सोचना होगा।

कोई एक ऊँचा अनुष्य हो और बाकी सब नीचे हों, उस एक की जय-जयकार चले और उसके करण लोगों का घेड़ा-बहुत अचान हो यह अधिक अच्छा नहीं। आवश्यक यह है कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ। यह भस्म ही उठना न उठे, चित्तस्थ व्यक्ति का उदा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी। चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काप करेगा, तब सुगमता होगी।

सरल व सौम्य धर्म संस्थापक— कांगफ्यूत्सी

चीन के प्राचीन तीन मुख्य धर्मों में से एक है ‘कनफ्यूस’ दूसरी संस्था है कांगफ्यूत्सी और तीसरी है त्जो धर्म।

कांगफ्यूत्सी ने अपने को कभी मसीहा नहीं कहा, न कोई अलौकिक चमत्कार दिखाने और सन्त-महन्त का खाना पहना। वे एक सामान्य नागरिक के घर जन्मे और उसी स्थिति में संसार छोड़कर चले गये। फिर भी उनका धर्म प्राचीनकाल के चीन में अत्यन्त लोक-प्रिय रहा। करोड़ों अनुयायी बड़ी ब्रह्म के साथ उसका पालन करते रहे। लोग उन्हें महन्त ही मानते रहे, जैसे कि वे वस्तुतः थे।

आज के शातुंग प्रदेश को उन दिनों ‘लू’ कहा जाता था। ईसा से कोई ५०० वर्ष पूर्व कांगफ्यूत्सी का जन्म वहीं ‘त्सै’ गांव में हुआ। दो बेटियों के बाद ७० वर्ष की आयु में उनके पिता ने यह सन्तान पाई थी सो खुशी से बहुत मन्मई गई।

तीन साल की उम्र में पिता स्वर्गवासी हुए और तैतीस साल की उम्र में माँ भी सिधार गई। उन्हें अपने पाँकों पर खड़ा होना पड़ा। सरकारी गोदाम में भण्डारी की नौकरी मिल गई। विवाह का सुयोग्य भी इन्हीं दिनों लाभ गया।

दूसरे युवक जिस तरह नौकरी से झूटते ही मटरगस्ती याद-बखी या दूसरे किस्म की समय की बातों में लग जाते हैं वह तरीका ‘त्सी’ को शराभी पसन्द नहीं आया। उन्होंने बचे हुए समय के एक एक क्षण की मूल्य बात समझी और खाली रहना एक शैतानी कृत्य जैसा मान लिया। जब देखो वे किसी के काम में लगे हुए ही देखते।

भण्डारी की नौकरी करते हुए जो समय बचता उसमें वे विद्याध्यन करते रहते। बाकी समय में उन्होंने संगीत और कविता का अच्छा अभ्यास कर लिया। गणित और इतिहास में भी उनकी रुचि हो गई।

ग्यारह वर्ष के निरन्तर परिश्रम से उन्होंने अच्छी विद्या प्राप्त करली और बचत का कुछ पैसा भी जमा हो गया। चौतीस साल

की आयु में उन्होंने मानवीय आदर्शों के शिक्षण तत्त्वामद् गुणों के अभ्यास का विद्यालय खोला। नौकरी छोड़ कर उनका विद्यालय चलाने का काम लोगों को अटपट लगता पर ‘त्सी’ ने इसी के लिए आरम्भ में ही तैयारी की थी। वे पेट पालते हुए जोने भर के लिए नहीं जमे थे। मानव जीवन का सदुपयोग लोक-मंगल के लिए बढ़ कर अनुदान प्रस्तुत करने में ही समझ लिया था और दिशा निर्धारण करने में उन्हें भूलना पड़ा न भटकना।

शिक्षण की शैली, अध्यापक की निष्ठा दोनों ने मिलकर सोने पे सुहागे का काम किया। विद्यालय ने आशातीत प्रगति की और उसमें तीन हजार छात्र पढ़ने लगे। इतनी बड़ी संख्या के छात्रों का वह एक ही विद्यालय उन दिनों उस प्रदेश में था।

अध्ययन करके निकले हुए छात्रों को व्यक्तित्व और कर्तव्य—‘त्सी’ की उनके विद्यालय की कीर्ति को बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। सारे देश में उन्हें कर्मनिष्ठ, परिश्रमान् और दूरदर्शी महापुरुष समझा जाने लगा था। वे वे अध्यापक, पर अपनी उन्होंने गतिविधियों के कारण वह अध्यापन कार्य भी उनकी गरिमा को आसमान तक उठ ले जाने में सफल हुआ। चीनी जनता के मन में उनके लिए असाधारण सम्मान उपजा।

जनता ने अति आग्रह करके उन्हें ‘चुंग लू’ इलाके का शासक बन दिया। उनकी शासन व्यवस्था में प्रजा की खुशहाली बे-हिसाब बढ़ी और अपराधों का एक प्रकार से सफाया ही हो गया।

लू के राज ने उन्हें बुलवा और ऐसे अच्छे शासन के हिन्द पूछे उन्होंने बहुत कुछ बताते हुए सार रूप में दो बातें कहीं। अच्छों को पुरस्कार और बुरों को दंड देने में उन्होंने कभी असावधानी नहीं बरती फलस्वरूप अच्छाइयाँ बढ़ती गई और बुराइयाँ निरस्त हो गई। अच्छे शासन में यह गुण होने ही चाहिए। जहाँ बुरे लोग लाभान्वित होंगे और अच्छाइयाँ नुकसान में मिलें, वहाँ राज और प्रजा दोनों को ही दुःखी होना पड़ेगा।

विशाल ‘लू’ राज्य का उन्हें मन्त्री बनाया गया। उन्होंने पद सम्भालते ही अपनी नीति सरकारी कर्मचारियों पर लागू की और उनके गुण-दोषों को खोज कर दंडित-पुरस्कार करना शुरू कर दिया। कर्मचारियों के सुधारने से सारी शासन व्यवस्था बदल गई, प्रजा में अच्छाई बढ़ने से खुशहाली बढ़ी और बुराई को कठोरतापूर्वक दंडित करने की नीति ने अपराधों का सफाया कर दिया, राज्य की आशा-अनक उन्नति हुई।

‘त्सी’ ज्यादा समय शासन में नहीं रहे। उन्होंने अपनी वास्तविक स्थिति प्रजा के बीच देखी सो वे शिक्षण के लिए निकल पड़े। विद्यालय दूसरे लोग चलाते थे, शासन दूसरे लोग। परामर्श उनका उन्हें भी मिलता रहा पर वे स्वयं परित्राजक की तरह लोक-शिक्षण की ही सर्वत्र कार्य समझ कर उसमें जुटे रहे। इस प्रकार उन्होंने तेरह वर्ष बिताये। जब शरीर घमण के योग्य न रहा, शिथिलता बढ़ गई तो वे घर लौट आये और ७३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु का शोक समस्त चीन में मनाया गया और शासन की ओर से उनकी संप्रति पर ब्रह्माजनि अर्पित की गई।

कागपयून्सी के स्वर्गवास के बाद उनके शिष्यों में विभ्रलता नहीं आई वरन् वे उनके मन्त्रव्यास का प्रचार और भी अधिक उत्साह से करने लगे। इस प्रचारकों में 'मैनशिबस' नाम मुख्य है। उसने अपना समय और धन उचित ब्रह्मा और तत्परता के साथ लगाकर उसके फलस्वरूप वह विचारधारा एक महान् धर्म के रूप में परिणत हो गई और 'कनफ्यूत्स' धर्म पुराने चीन का एक मान्य धर्म बन गया।

इस धर्म में स्वर्ग युक्ति की, मरणोत्तर जीवन की लम्बी-चौड़ी बातें नहीं हो सकी हैं। वरन् सारा महत्त्व मनुवीक सन्वस्रिता को दिया है (१) प्रेम, (२) न्याय, (३) नम्रता, (४) विवेक, (५) ईमानदारी इन पाँच आदर्शों को धनुष्य की सुख-शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है कि—*चरित्रवान् ही धर्मात्मा है।* जिनके अन्तःकरण में सज्जनता और उदारता है वही मनु सही अर्थों में आस्तिक है। पूजा प्रार्थना भी इस धर्म की ऐसी है जो सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य और सरल कही जा सके।

हसी ने यह सिद्ध कर दिया कि महान् व्यक्ति बनने के लिए विज्ञापन प्रदर्शित करने वाले साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं मिलती महान् गुणों और महान् आदर्शों के प्रति जन्मे रुच में निष्ठावान् होने की, उसी निष्ठा ने 'हसी' को महान् धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में ला बिठाया।

हसी अपनी झोपड़ी में कुछ लिख रहे थे। लेख पूरा करके उन्होंने एक लम्बी साँस खींची और उदास होकर कोने में लुढ़क गये।

उनके पोते ने यह स्थिति देखी तो धक्का मारा। तबियत का हाल पूछने के लिए आने वालों से उन्होंने बड़ी कहा—*जिनके चरित्र में लिखता हूँ उनकी तुलना में खुद कितना छोटा पड़ता हूँ। उसी रज में मेरा दिल दूटता है।*

हसी ने अपने समान ही अनेकों लोक-सेवी शिष्य डाले थे। ऐसे ही शिष्यों में एक था—*वेन हूई।*

हसी ने हूई की गरीबी को देखते हुए उसे अच्छा सरकारी पद दिलवाने की कोशिश की।

हूई ने उस अवग्रह को अस्वीकार करते हुए यही कहा—*थोड़ी-सी जमीन मेरे पास है सो उससे गुजर आसानी से हो जायेगी, मुझे इक तारे पर घर-घर अपेक्षा आदेश सुनाने भर की अभिलम्बन है सो उसी का आशीर्वाद दीजिए।*

फारस के तथागत— महात्मा जरथुस्त्र

फारस देश के मीडिया प्रान्त में एक नगर है अजरबेजान। ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व वहाँ बोरशसफ राजा का राज्य था। राजारानी ने दो पुत्रों को जन्म देने के बाद एक ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसकी यश कीर्ति से दसों दिशाये गुँज उठीं। यही पुत्र आगे चलकर महात्मा जरथुस्त्र के नाम से विख्यात हुआ और अपने जीवन-काल में ही हजारों लाखों व्यक्तियों को तमोमय अन्धकारपूर्ण मार्ग से हटाकर प्रकाश

और ज्योति के पथ पर अग्रसर करने में सफल हुआ। इस विभूति-वन आत्मा को धारण करने का श्रेय उनकी धर्मपरायणा कोमल चित्त और मधुर स्वभाव वाली माता को ही है। वस्तुतः ऐसी ही आत्मायें किसी तप-पूत आत्मा का तेजस सह और धारण कर सकती हैं।

जरथुस्त्र की माता मीडिया प्रान्त के नरेह की पुत्री थीं। बोरशसफ भी कम शक्तिशाली नहीं थे। परन्तु उस समय फारस देश कई छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और सभी राज्य एक-दूसरे को लतचापी दृष्टि से देखते थे व एक-दूसरे के बिनाह व विजय हेतु आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहते। ऐसे ही किसी महत्वाकांक्षी किन्तु ईर्ष्यालु नरेह से किसी ने कह दिया कि बोरशसफ का मंडला बेटा—*ईशवीय अनुग्रह प्राप्त है और वह शीघ्र ही सारे फारस को अपने राज्य में मिला लेगा तो कंस की तरह वह भी अपने इस शत्रु को जान से मार देने के लिए उद्यत रहने लगा।* प्रारम्भिक बार तो असफल रहा लेकिन उससे जरथुस्त्र के माता-पिता अवश्य सावधान हो गये। उक्त नरेह फिर भी अपनी वंशा पूरी करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु कड़ी सुरक्षा व्यवस्था और जरथुस्त्र की प्रबल जीवनीरक्ति के कारण वह उनका कुछ न बिगाड़ सका।

महात्मा जरथुस्त्र अपने शैशव काल में असाधारण प्रतिभा सम्पन्न और कुशाग्र बुद्धि रहे थे। वह उनके पूर्व जन्म की तप-साधनाओं का ही परिणाम कहना चाहिए। उचित समय पर माता-पिता ने अपने बेटे की शिक्षा दीक्षा का भी समुचित रूप से प्रबन्ध किया था। जिसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा दिन दूनी और रात चौगुनी गति से बढ़ने लगी। धर्मपरायणा और सुशीला माता ने अपने लाड़ले को धर्मशास्त्रों में पारंगत करने के लिए धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध भी किया। अध्यवसाय, लगन और संस्कारों के प्रभाव स्वरूप उन्होंने इस विषय में बड़ी कुशलता प्राप्त की। वे अन्य धर्मों के गूढ़ तत्त्वों को भी भलीभाँति समझने लगे।

वह बात नहीं थी कि धर्म और अध्यात्म को उन्होंने जानने भर का विषय समझा हो इस अनुभूत और खरे मार्ग को—*इसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने की भी चेष्टा की थी।* उस समय फारस देश के सामाजिक आचरण में धर्म-वर्चों का तो खूब जोर रहता लेकिन व्यवहार और जीवन उन आदर्शों से एकदम इतना विपरीत कि कुछ कहा नहीं जा सकता। शैशव को भोग कर कैशोर्य से गुजरते हुए महात्म जरथुस्त्र तब युवावस्था में पदार्पण कर चुके थे और अपनी खुन्नी आँखों से उन्होंने साम्राज्य की इस स्थिति को देखा-परखा था। इसलिए उनके लिए यही विचार्य हो गया था कि किस प्रकार इस महान् मार्ग को वाक्विलास का साधन उपकरण न रहने देकर व्यवहार और आचरण का विषय बनाया जाय।

बोरशसफ पाँच पुत्रों के पिता थे। उनका जब चौथापन आया और बच्चे भी जवान होने लगे तो उन्होंने सोचा कि राज्य सम्पदा और समस्त जायदाद पाँचों भाइयों में बराबर-बराबर बाँट दी जाय पता नहीं बृद्धावस्था के तकरजे में आकर प्राण अपने आपको कब मृत्यु के हवाले कर दें। एक-एक भाई को अलग-अलग बुलाकर

बोरशसफ ने अपना मनोगत कहा। सभी तैयार हो गये। पिता अपने उत्तरदायित्वों के साथ प्रचुर-धन सम्पदा भी लौप रहे हैं, उसे भोगने का प्रलोभन किसे अस्वीकार होगा। परन्तु अस्वीकार किया एक ने जराधुस्व-बोरशसफ के मंगलते और तीसरे पुत्र ने।

माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ जराधुस्व अपने भाग का हिस्सा लेने से क्यों मना कर रहे हैं यह किसी की समझ में न आ रहा था। माँ ने आखिर पूछ लिया—“क्या कारण है बेटा। क्या तुझे हमारा फैसला नपसन्द है।”

“नहीं माँ! यह बात नहीं है।” जराधुस्व ने कहा।

“तो फिर ?”

“मैंने अपने लिए एक ऐसी राह चुनी है जिस पर चलने में यह सब बाधक बनेगा।”

“क्या राह चुनी है। जरा हम भी तो सुनें।”

“यह राह है अज्ञान और क्लेश में डूबे अपने देशवासियों को सच्चा धर्म सिखाने का पुनीत कार्य।”

“क्या। तू धर्म के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है जो लोगों को सिखायेगा।”

“जानता तो नहीं हूँ। परन्तु मेरे भीतर ईश्वर का एक ऐसा प्रतिनिधि बैठा है जो मुझे यह सब सिखायेगा।” “अच्छा।” एक लम्बा-सा शब्द कहा बोरशसफ ने और फिर पूछा—“अब लोगों को सच्चा धर्म सिखायेगा तो इस राज्य को क्यों थलयेगा।”

“मेरे और भी भाई तो हैं और यह मेरा राज्य है भी नहीं। धर्म शासन क्षेत्र तो लोगों के हृदय है जिन पर मैं राज्य करूँगा।”

“और इस राज्य को नहीं भोगेगा तो खड़ेगा क्या ?”

“वही जो दीन-हीन और अकिञ्चन स्थिति में पड़े लोग खाय करते हैं”—जराधुस्व पूछे गये प्रश्नों का एक के बाद एक कर इस प्रकार जबाब देते जा रहे थे कि बोरशसफ तथा महात्मने ने कुछ भी कहना व्यर्थ समझा और जराधुस्व का निर्णय भटल जानकर छोड़ दिया। राज्य का बंटवारा हो गया और सम्पत्ति का विभजन भी करो भाइयों में दिया गया तो जराधुस्व एक छोटा-सा पटका अपनी कमर से बांध कर निकल पड़े—संतत्य था ईश्वर-लक्ष्य या सत्य की खोज।

घर छोड़ते ही उन्होंने साधु वेश धारण कर लिया और यत्र-तत्र घटकते रहे। अनेकों कठिनाइयाँ आसीं और अनेकों विपदाएँ परन्तु सत्य की खोज में निकले इस यात्री के लिए तो जैसे कुछ भी नहीं था। उन्होंने सब कुछ बिना आपत्ति किये सह लिया कहाँ तक कि दिनों और हफ्तों की भूख-प्यास भी। इस दैहिक सुषा तृषा से प्रकल सुषा तृषा थी सत्य और ईश्वर की। जिसे बुझाने के लिए वे घूमते-घूमते और कष्ट सहते सुख का काँटा हो गये। वर्षों तक खोज चलती रही तो किसी ने बताया कि महात्मा तूर के पास जाओ वह तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। अगणित कष्ट-फरेलानियाँ सह कर जराधुस्व महात्मा तूर के पास गये। तूर ने उनसे प्रेमपूर्ण और स्नेहमय व्यवहार किया व आत्मसाधना में दीक्षित भी। लगन-खोज कष्ट पूरी हो सखी।

दीर्घकाल तक अपने पास रखकर साधन-ओं का अभ्यास करने के बाद महात्मा तूर ने एकान्त तप की आज्ञा दी। जराधुस्व तूर के

आश्रम से निकल कर एक पर्वत श्रेणी पर चले गये और एक गुफा में रहने लगे। वहाँ उन्होंने कई वर्षों तक कठिन तप किया निग्रहार, निर्जल, शीत-उत्तप सहन, कर्षण, अर्जन आदि तितिक्षा साधनाओं का क्रम वर्षों चला। वहाँ उन्हें भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई और वे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश ससार मात्र को देने तथा दुःखों, कष्टों में जल रहे मनुष्यों को ज्ञान-शीतल करने के लिए निकल पड़े। उस समय उनकी अवस्था तीस वर्ष की थी और उन्होंने अपनी गाथाओं का प्रथम आरम्भ कर दिया। वे गाथाएँ गद्य के रूप में हैं और इनमें सीधे-सादे शब्दों में मनुष्य के कल्याण का उपदेश दिया गया है।

आरम्भ में तो लोग उनकी बात सुनने के लिए तैयार नहीं हुए। हर कोई उनका उपहास उड़ाकर चल देता परन्तु वे हिमाल न हारे वे धूम-धूम कर गाँव-गाँव में प्रचार करते रहे। लोग सुनें या न सुनें—इसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता न हुई। इसी धर्म-प्रवास के काल में जराधुस्व सीस्तान चले पहुँचे। सीस्तान का बादशाह परशातु उनकी बातों से बड़ा प्रभावित हुआ और उनकी शिक्षाओं से अपना हित भी होते देखा। परन्तु उन शिक्षाओं पर चलने से इनकार कर दिया। निरन्तर मिल रही इन असफलताओं ने महात्मा जराधुस्व के लिए यह तथ्य उद्घटित कर दिया कि जब तक आत्मबल और वाणी में प्रभावकारी क्षमता प्रसरता उत्पन्न न की जावे लोग उन्हें नहीं सुनेंगे और सुनेंगे भी सही तो बनेंगे नहीं। इसलिए अपनी वाणी में प्रखरता शक्ति उत्पन्न करने के लिए वे पुनः वन में लौट गये और वहाँ तप साधना द्वारा आत्मबल का अर्जन भी किया।

तपश्चर्चा और आत्मशोधन के विविध उपचारों से उन्हें द्विगुणित उत्साह भर आया। उनका चचेरा भाई तयोमाह उनका पहला शिष्य बन। तयोमाह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था दूसरे भ्रान्तों की राज-सभाओं में भी उसका खूब ध्यान सम्मान होता था। तयोमाह के प्रभाव और जराधुस्व के वर्षस से सब लोग इस नये धर्म में दीक्षित होने लगे इस प्रकार सफल प्रचार कार्यायें करते हुए वे अपनी जन्मभूमि की ओर लौटे।

महात्मा जराधुस्व की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, न केवल फारस के ही वरन् अरमपास के देशों से भी विद्वान् और गणमान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति उनके पास आका करते थे। उनके व्याख्यान सुक्तिपूर्ण, तर्कयुक्त और विवेकसम्मत विचारणाओं के प्रतिपादन हुआ करते थे। ओजस्वित और प्रभावपूर्ण बक्तृता शैली से उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति बस उनका ही होकर रह जाता था। वाणी ही नहीं उसके पीछे शक्तिरूप से विद्यमान उनका ओजस्वी और अद्भुत व्यक्तित्व ही इस सफलता का कारण था। स्वभाव से वे इतने दयालु और करुणार्द्र थे कि अपने सामने किसी कीड़े को भी मरते नहीं देख पते थे। एक बार की बात है तब वे एकान्त वन में तपाभ्यास में निरत थे। कोई कुत्ता भूख के कारण छटपटाते हुए दम तोड़ रहा था। वे दौड़कर पास की बस्ती में गये और बस्तीवासियों से खाना माँगकर लिये। जब तक वे खाना लेकर वहाँ पहुँचे तब तक कुत्ता दम तोड़ चुका था। इस घटना से उनका हृदय इतना दुःखी रहा कि कई दिनों तक वे खाना भी नहीं खा पाये।

पशुओं के प्रति भी जिनमें इतनी करुणा दबी हो, वह व्यक्ति यदि अपनी करुणा से प्रेरित होकर लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश दे तो असम्भव नहीं है कि लोग उसे न सुनें। अपनी जन्मभूमि की ओर लौटते हुए मार्ग में पड़ने वाले एक राज्य के नरेश सह गस्ताशप ने उनका आतिथ्य किया। शाह ने उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुना और प्रभावित हुए।

राजसभा में अन्य दूसरे बड़े-शासियों को यह सहन न हुआ। क्योंकि इससे उन्हें अपने स्वार्थों पर अग्रस्त होने का डर लगने लगा था। इसलिए उन्होंने शासार्थ की चुनौती दी। जलसभ में शासीगण महात्मा जरायुस्व के अकस्य तर्कों और प्रबल बुक्तियों का सामना न कर पाये। हार कर वे जरायुस्व को हर्षोत्सहित करने लगे। परन्तु महात्मा जरायुस्व उनके इन प्रयासों और आशेषों का भी संयत उत्तर देते रहे। मैं भी अपनी कुदिल मन्त्रा पूरी न होते देख छल छद्मों द्वारा उन्हें अपने मार्ग से हटाना चाहता हूँ। इन छद्मवेशी पुरुषों ने और धूर्त दुष्टों ने कुत्तों, बिल्लियों, बूढ़ों और कुँदों के स्त्रि, नाक, कान इत्यादि छुपके से उस स्थान पर रखवा दिये और उबार गस्ताशप के कान इस प्रकार भर दिये कि जरायुस्व मरवाही है। सह ने आत्म्य में तो विश्वास कर लिया परन्तु हीन ही उसे अपनी गलती का पता चल गया और भूल को सुधर लिया।

यहाँ तो उनकी जीवन रक्ष हो गई और गस्ताशप उनका परम भक्त हो गया। लेकिन कुछ वर्षों बाद पड़ोस के एक राजा शह अजीसप ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया। सैनिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण शाह हार गया और तोहरानी कुमुक ने राजधानी पर विजय प्राप्त कर ली। तोहरान का शासक भी महात्मा जरायुस्व के बढ़ते हुए प्रभाव से बड़ा चिन्तित था और कुछ राजदौही व अक्सर की ताक में बैठे सभासदों ने अजीसप के कान भर दिये। परिणाम-स्वरूप अपने शाह के आदेश पर तोहरानी सैनिकों ने उन्हें एक धर्म-मन्दिर में जा पकड़ा।

शाह का आदेश हुआ और किन्तु कोई अभियोग लगावे बिना कोई प्रश्न पूछे महात्मा जरायुस्व को मृत्यु दण्ड दे दिया। उस समय उनकी आयु ७७ वर्ष की थी। नास्तिकता और अन्धविश्वास के भंवर में फँस रही जनता को बचाकर ईश्वर की उपसम्पन्न और पूजा में प्रवृत्त करने तथा समाज के एक प्रगतिशील आचार-संहिता देने वाला वह महामानव उन्हीं जीवन मूल्यों के लिए बलिदान हो गया जिनके लिए वह जिया था। परन्तु उनके स्फूर्ति आदर्श इतने शारवत हैं कि आज भी लाखों करोड़ों लोग उनमें आस्था रखते हैं।

पारसी पैगम्बर जरायुस्व ने जिस समय जन्म लिया था, उनका देश अजरबैजान अन्धविश्वासों, अधर्म और पापों में बुरी तरह डूबा हुआ था। आहम्बरी जादूगर सारे समाज पर छाये हुये थे। मंत्र-तंत्र और नाजीगरी दिखलाकर जनता को भ्रमभ्रंत करते और अपनी जेब भरा करते थे। न जाने कितने प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा होती थी, धर्म के नाम पर पाप और पाखण्ड का बोलबाला था। लोग धर्म और ईश्वर को बिल्कुल भूल गये थे। जरायुस्व ने इस अंधकार में डूबी जनता को प्रकाश दिया। सर्व-शक्तिमान एक ईश्वर की

उपसना का उपदेश दिया और एक सद्धर्म का पथ दिखाया। उन्होंने पूरा जीवन ही इस उपकार में लगा दिया और उसके लिये जो भी कष्ट सहने पड़े, सहे।

जरायुस्व बाल्यकाल से ही बड़े ईश्वर भक्त, निर्भीक, सत्यवादी और अन्धविश्वासों के विरोधी थे। एक बार बहुत से जादूगर जरायुस्व के पिता पुरशस्व के पास आये और बहुत से वयत्कर दिखला कर कहने लगे “हमारा जादू ही भगवान् है। तुम इसी पर विश्वास करो और हमसे सेवा ले लो।” जरायुस्व के धोले पिता जादूगरों को देखकर डर गये और उन आहम्बरियों से प्रभावित होने लगे।

सात वर्षीय जरायुस्व भी उस समय वहाँ पर उपस्थित थे। भगवान् में अटल विश्वास रखने के कारण उन पर जादूगरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने साहसपूर्वक जादूगरों को संबोधित करते हुये कहा—“तुम लोग सब छलखीबी हो। अपने जादू को भगवान् कात्तना भयावह उस पर विश्वास करना और नास्तिकता है। जादू की पूजा तो नरक में ले जाने वाली है। इसलिए उस शक्तिमान परमात्मा में विश्वास करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा और तुम्हारे पाप सूरेंगे।”

बालक जरायुस्व न केवल भक्त भयावह निर्भीक भी थे वरन् बड़े दयालु और बन-सेवक भी थे। वे अपने गोदाम से भूसा-चार निकाल कर दूधरे भूछे जानवरों को खिला दिया करते थे। जब बार में पर्याप्त चारा नहीं होता था, तो जंगल से इकट्ठा कर लाते थे और बूढ़े, असहाय और लंगड़े, भूछे जानवरों को खिलाते थे। उनके इस उपकार से जानवर उन्हें इतना प्यार करने लगे थे कि देखते ही चारों ओर जमा हो जाते थे। जरायुस्व सबको समान रूप से प्यार करते थे और इस तरह उनका दुःख पूछते थे, पानो थे भी उन्हीं की तरह मनुष्य हों।

एक बार रास्ते में जाते हुए जरायुस्व ने देखा कि कोई उदार व्यक्ति गरीबों को आटा बाँट रहा है। लेकिन थोड़ा इतनी है कि उससे प्रबन्ध नहीं हो पा रहा है। जरायुस्व लौट कर गये और उनकी मदद करने लगे। निष्क होकर उस व्यक्ति ने जरायुस्व को धन्यवाद दिया और कहा—“बड़े अच्छे भालक हो।” जरायुस्व ने बड़ी दिनप्रता से उत्तर दिया—“आप एक परोपकारी व्यक्ति हैं। मेरे लिये बड़ी बहुत बड़ा परिचय है। आपको आटा बाँटते देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे आप स्वर्ग के हमारे साथी हैं और भूमि पर दीनों तथा असहायों की सहायता करने आये हैं।” उस परोपकारी ने जरायुस्व में एक बेष्ट आत्मा के दर्शन किए और आगे चलकर उनकी सेवा-साधना—लोक-मंगल के कार्यों में बड़ा सहयोगी सिद्ध हुआ।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जरायुस्व ने बड़ी कठोर साधना की। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही वे साधना करने लगे थे और बाईस वर्ष तक करते रहे। बीच के इन सात वर्षों में उन्होंने दूध के सिवाय न अन्न खाया, न फलफूल किया। अन्त में उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे अक्सर प्रकाश संसार को देने के लिये चल पड़े। उनका लक्ष्य एक ही था—“अधर्मिनः परोवेति गन्तव्यं समुचेतसाम्। उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।”

जरगुस्त्र अपने आचरण साधन और लोक-मंगल के बल पर एक पैगम्बर बने और उन्होंने पारसी धर्म का प्रवर्तन किया। बिना साधना के कोई कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हस्तगत नहीं कर पाता और साधना करने वाला लोक-मंगल के क्षेत्र में सेवा कार्य किये बिना रह ही नहीं सकता। जरगुस्त्र को उनकी परमार्थ साधना एवं आह्वानों से धरे संसार में विवेकशीलता के विस्तार हेतु सदैव याद किया जाता रहेगा।

महान् शिक्षक—अरस्तू

सिकन्दर महान् का गुरु होने के नाते अरस्तू की महत्ता प्रतिपादित करने वालों की अपनी धारणा बदल कर यह मान लेना चाहिये कि सिकन्दर जैसा शिष्य पाकर अरस्तू महान् नहीं हुए, बल्कि अरस्तू जैसा गुरु पाकर ही सिकन्दर महान् बना है। एक सच्चापन मिट्टी से बने राजकुमार सिकन्दर को फौलाटी बन देने का सारा श्रेय अरस्तू को ही है।

विद्वान् अरस्तू का जीवन लक्ष्य लोक-शिक्षा ही था। उन्होंने जीवन में जो भी विद्या, विचार, बुद्धि अथवा सदगुणों का अर्जन किया था वह सब उन्होंने व्यक्ति के निर्माण करने में ही लगा दिया। उन्होंने अपनी महान् उपलब्धियों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये कभी नहीं किया। संसार में सिकन्दर ने जो कुछ भी बल, वैभव वश अथवा महानता पाई उसके पीछे अरस्तू की ही वह शिक्षा कायम कर रही थी, जो उन्होंने एक-एक सिकन्दर को ही नहीं पूरे राष्ट्र को दी थी। सिकन्दर की सेना का एक सैनिक सिकन्दर की तरह सोर और बलशाली व्यक्ति था। एक अकेले सिकन्दर में वह शक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती थी कि संसार को विजय करने का सहस्र कर सकता। अथवा कमजोर चरित्र और निर्बल हृदय वाले व्यक्तियों की सेना लेकर दूर देशों तक जाकर इतिहास का निर्माण कर पाता। यह अरस्तू की शिक्षाओं का ही जादू था कि मेसीडोनिया जैसे दुर्ग देश के लोग इतने वीर, सहासी और कष्ट सहिष्णु बन सके, जो उन्होंने तूखनों के बीच से वस्त्र बनाकर भी अपने देश के धरा और प्रभाव का विस्तार किया। सिकन्दर और उसका बल स्वयं में कुछ नहीं था। वह जो कुछ था महान् विद्वान् अरस्तू की शिक्षाओं का परिणाम था।

मेसीडोन के राजा फिलिप अपने पुत्र को कुछ बन्धन चाहते थे। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि योग्य गुरु मिले। बहुत तलाश के बाद दार्शनिक अरस्तू इस योग्य दिखाई दिये कि वे किसी बच्चे का निर्माण कर सकते हैं। फिलिप विद्वान् और व्यक्ति निर्माता गुरु का मूल्य समझते थे। उन्होंने अरस्तू के पास अपना सन्देशवाहक पत्र लेकर भेजा और लिखा— “भगवान् ने मुझे एक पुत्र दिया है उसकी मुझे खुशी है, पर उससे भी अधिक खुशी इस बात की है कि वह इस जमाने में पैदा हुआ जब कि आप जैसे व्यक्ति निर्माता दार्शनिक मौजूद हैं। इसे मैं आपके द्वारा ऐसा शिक्षित और सुसंस्कृत बना हुआ देखना चाहता हूँ जो हमारे कुल को प्रभावित

करे।” अरस्तू ने इसे स्वीकार कर लिया और एक साधारण से राजकुमार को महान् सिकन्दर बना दिया, जिसका नाम पराक्रमी योद्धाओं के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

सधन वृक्षों की छाया में फल्लर की शिला पर बैठ कर अरस्तू शिक्षा दिया करता था, शिष्य चारों ओर से उसे घेर कर बैठ जाते थे और जीवन के गूढ़ विषयों पर अनुसंधान चलाता रहता था। गुरु अपने शिष्यों को लेकर कभी-कभी घने वृक्ष कुजों में, वन-पर्वतों में चले जाते थे और वहाँ नदी छरोवरों के तट पर बैठ कर शिक्षण क्रम चल करता था।

सिकन्दर जब शिक्षा प्राप्त करके लौटा तो उसका पिता फिलिप अपने पुत्र के गुणों को देखकर मुग्ध हो गया। उसने अरस्तू के प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हुए सिकन्दर से कहा— “तुम्हारे गुरु का हम अभी तक समुचित सम्मान नहीं कर सके। वे वस्तुतः ऊच्चतम सम्मान के पात्र हैं। तुम्हारे निर्माण का सारा श्रेय उन्हीं को है।” सिकन्दर ने भी एक प्रसंग में अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा— “पिता से तो मैंने शरीर मात्र प्राप्त किया है। वस्तुतः मेरे पिता तो अरस्तू हैं जिनने मुझे अनुपम ज्ञान देकर कुछ से कुछ बना दिया।”

सिकन्दर ने जो गुण, स्वभाव और चरित्र गुरु के समीप रहकर प्राप्त किया था, उसे केवल पर उसने अनेकों देशों को जीता, विशाल साम्राज्य बनाया और बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त कीं।

शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सिकन्दर ने आजकल के विद्यार्थियों की तरह गुरु की ओर से अपना मुँह नहीं मोड़ लिया, बरन् उनके कार्य को प्रगति देने के लिए भरपूर सहायता की। अरस्तू ने ऐथेन्स नगर में लीसियम नामक एक विशाल सांस्कृतिक विद्यालय की स्थापना की जिसमें हजारों की संख्या में छात्र विद्याध्ययन करते थे। न केवल यूनान में, बरन् सारे संसार में वह ज्ञानपीठ एक से एक योग्य शिक्षा निकाल सकने के कारण प्रख्यात हो गई।

इस लीसियम विद्यापीठ को सिकन्दर की सहायता प्राप्त थी अरस्तू अपने शोध कार्य में लगे थे। वे विभिन्न जीव-जन्तुओं की जीवन प्रणाली के संबंध में खोज कर रहे थे। इस कार्य के लिए अपेक्षित समय और कार्यकर्ता जुटाने का स्वयं भार भी सिकन्दर ने अपने ही ऊपर लिबा था। अरस्तू का जन्म स्टेगिर नामक गाँव में हुआ था। किसी अत्याचारी शासन ने उसे क्रुद्ध होकर उजाड़ दिया था। वहाँ के निवासी अन्यत्र भाग गये थे। गुरु के सम्मान में सिकन्दर ने उस नगर को फिर से बसाया और जो लोग बाहर भाग गये थे उन्हें सब प्रकार की सहायता देकर वापस उस नगरी में बसाया। शिष्य अपने गुरु की नगरी को उजड़ी हुई नहीं देख सकता था।

इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते ने अरस्तू को विद्वानों का अग्रतम नेता कहा। वह अपने समय का विचार सम्राट था। उसके शब्दों के साथ उसका चरित्र भी बोलता था। लगभग सवा दो हजार वर्ष उसके समय को बीते हो गये। फिर भी वह आज तक मानव जीवन के विभिन्न विचार क्षेत्रों को प्रभावित करता है।

अरस्तू अपने शिष्यों के चरित्र गठन के लिए बहुत जोर देकर आदेश दिया करते थे। एक बार सिकन्दर का किसी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध हो गया। अरस्तू उसे झिड़कते थे पर वह मानता न था। उस स्त्री को पता चला कि अरस्तू उसके मार्ग में बाँटा है इसलिए उसने सोचा कि उसे बदनाम करके सिकन्दर से शत्रुता करा देनी चाहिए। वह एक दिन अरस्तू के पास पहुँचे और एकान्त में मिलने के लिए प्रस्ताव किया। अरस्तू ने स्वीकार कर लिया और जिस उद्यान में उन्हें बुलाया गया था वहाँ निबल समय पर जा पहुँचे।

अरस्तू ने अपने शिष्यों द्वारा सिकन्दर तक भी यह सूचना पहुँचा दी थी पर सूचना अरस्तू ने कहलवाई है वह न बताने का आदेश कर दिया था सिकन्दर छिप हुआ टोह में बैठा ही था। वह तरुणी आई, उसने अरस्तू के गले में हस्तपाश डाले और कहा— क्या ही अच्छा हो कुछ देर खेलें। अरस्तू ने स्वीकृति दे दी। युवती ने उन्हें घोड़ा बनाया और खुद उनके पीठ पर बैठकर चलाने लगी। बूढ़ा घोड़ा लड़की को पीठ पर बिठाकर घुटनों के बल चल रहा था कि सिकन्दर सामने आ पहुँचा। उसने क्रोध में आकर कहा— गुरुजी यह क्या ?

अरस्तू ने अविचल भाव से धैर्यपूर्वक कहा— बेटा, पहले ही मैं कहा करता था। देखते नहीं, मुझ जैसे विद्वान् और बूढ़े को जो माया इस तरह घुटनों के बल चलने को विवश कर सकती है वह तुम जैसे अपरिपक्व बुद्धि के नौजवानों को तो पेट के बल रेंगा कर और नाक रगड़ा कर ही दम लेगी। यदि तुम इस मार्ग से मुँह न मोड़ोगे तो इतिहास में नाम अंकित न करा सकेगे।

अरस्तू के इस शिक्षण ने सिकन्दर पर भारी प्रभाव डाला और तबसे उसने उस ओर से मुँह ही मोड़ लिया।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अरस्तू ने चार सौ ग्रन्थ लिखे। कोई-कोई उनकी संख्या एक हजार बताते हैं। उसके सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं पर जो उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि उसे तर्कशास्त्र, खगोल विद्या, भौतिकी, विकास, काम-शास्त्र, वायु विज्ञान, प्रकृति विद्या, जन्तु-शास्त्र, कव्य, अलंकार, मनोविज्ञान, राजनीति, आचार-शास्त्र, दर्शन, अध्यात्म आदि अनेक विषयों का अगाध ज्ञान था।

अरस्तू आत्मोन्नति के लिए सामाजिक और सामूहिक जीवन को आवश्यक मानता था और एकाकी जीवन या एकान्तवास के विरुद्ध था। उसने लिखा है— एककी जीवन व्यतीत करने के लिए या तो मनुष्य को पशु बनना पड़ेगा या देवता।

परिष्कृत संस्कृत के प्रणेता— महर्षि पाणिनि

मनुष्य क्या और कितना कुछ कर सकता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि वह सब कुछ कर सकने में पूर्ण समर्थ है, यदि वह वास्तव में कुछ करना चाहता है। बात ऐसी भी नहीं है कि कुछ कर सकने

की श्रमता कुछेक गिने-चुने लोगों में ही होती है। हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकने में समान रूप से सक्षम है।

अब यहाँ पर मनुष्यों के कर्तव्यों में असमानता इसलिये हो जाती है कि कुछ कर दिखाने की चिन्ता करते हैं और हौसला रखते हैं बाकी अपने जीवन की सारी श्रमतायें खीना-खपटी, खाने पीने और हा हा, ह्री-ह्री, में गँवा देते हैं। मोटे तौर पर अपनी सामान्य क्रियाशीलता को उपयोग में लाकर स्थूल रूप से चल्न-घली वाली सिन्दगी जिता जाते हैं। वे अपने अन्दर सुरक्षित उन विशेष शक्तियों का साध नहीं उठाते जिनको काम में लाने पर मनुष्य अनिवार्य रूप से ध्यानाकर्षक कार्य सकता है। जो अपने अन्दर उठी इस विशेष कुमुद को काम में लाते हैं वे संसार के जीवन समर में सफल होकर अपने भ्रातृ स्मारक अवश्य ही छोड़ जाते हैं।

आचार्य पाणिनि उन्हें बुद्धिमान व्यक्तियों में से थे जिनका ध्येय जीवन बिताना नहीं उसे परकृष्ट तक काम में लाना होता है और जो अपनी बूढ़-बूढ़ श्रमता का सदुपयोग करने में जरा-भी मुरझात नहीं करते। इस आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता के प्रबल शत्रु ने मानव-शक्तियों के प्रयत्न में जो प्रस्थापना लगभग सार्द्ध हजार वर्ष पूर्व की वह 'पाणिनि अष्टाध्यायी' के नाम से आज भी अमर है और आगे भी रहेगी।

'पाणिनि अष्टाध्यायी' वह व्याकरण शास्त्र है जिसने युगों से अदलती-बदलती आ रही भारतीय भाषा का संस्कार कर उसे एकरूपता के साथ स्थायित्व प्रदान किया। पाणिनि ने अपने इस महान् कार्य से न केवल एक सर्वगर्भ भण्ड को ही जन्म नहीं दिया अपितु राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति को सदा-सर्वदा के लिए अभ्युपगम बना दिया। युग-युग की विचार-विभूति को पीढ़ी-दर पीढ़ी के लिये सुरक्षित रख सकने के लिए एक परम पात्र की रचना कर दी।

संभारण आचार-व्यवहार से लेकर दर्शन तक और लोक-कथाओं से लेकर इतिहास तक किसी राष्ट्र की जो भी सम्पदा होती है वह सब उसी भाषा में ही संकलित रहती है और आगामी पीढ़ियों उसे उसी माध्यम से प्राप्त कर साध उठाती हैं, जिससे राष्ट्र की सभ्यता एवं सांस्कृतिक परम्परा चिरजीविनी बनती है।

आज तक संसार में असंख्य भाषाओं का उदय-अस्त हुआ। अनेक तो अपने बदले हुए रूप में चलती रही हैं, कुछ के स्थान पर कोई नवीन भाषा आ गई और कोई भाषा अपने में किसी को मिलाकर अथवा स्वयं किसी में मिलकर एक नवीन भाषा बन गई और बहुतों का अस्तित्व ही संस्कार से मिट गया। केवल एक ही भाषा संस्कृत ही ऐसी है जो हजारों वर्षों से आज तक अपने एक रूप में चली आ रही है। इसी संस्कृत भाषा का सर्वगर्भ व्याकरण रचकर महर्षि पाणिनि ने उसे नियमबद्ध किया।

संस्कृत से पूर्व देश में कोई एक ऐसी सार्वदेशिक भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश के लोगों से विचार विनिमय कर सकते, और यह कभी राष्ट्र की एकता के लिये बहुत घातक थी। भारत का बहुमूल्य वांगमय न जाने कितनी भाषाओं में

बिखरा पड़ा था, जिसका अध्ययन कोई भी देश की लगभग सभी भाषाओं को पढ़े बिना नहीं कर सकता था और वह साधारणतः एक कठिनतम बात थी।

महर्षि पाणिनि ने इस देश की विशाल कमी को अनुभव किया और देश के सारे शब्द-भण्डार को एक व्यवस्थित रूप में रखकर, उनकी व्याख्या और अर्थ निश्चित करके एक नियमबद्ध भाषा का निर्माण करने का निश्चय कर लिया। यह काम साधारणतः कठिन ही नहीं बल्कि बहुत ही विराट तथा असाधारण था। इस एक काम को पूरा करने के लिए कितनी शक्ति, कितने परिश्रम, कितनी लगन और कितने अध्ययन, अनुभव एवं अविस्मरणीयता की आवश्यकता थी, पाणिनि इससे अनभिज्ञ नहीं थे। किन्तु उन्होंने इसकी रच-बाँध भी धिन्ता न की। जहाँ उन्हें कार्य की कठिनता तथा विराटता का ज्ञान था वहाँ मानव की अनन्त क्षमताओं का भी पता था।

अपने नियमपूर्ण निर्माण और संयमशील आत्मा, प्रबुद्ध बुद्धि, अविचल मन और अखण्ड अध्ययन के बल पर पाणिनि को पूर्ण विश्वास था कि वे राष्ट्र की इस बड़ी कमी को अवश्य पूरा कर लेंगे। वे जानते थे कि उन्होंने अब तक के अपने काम से जो कर्मठता उपार्जित की है उसकी मेजबान के सम्मुख अस्वस्थ, प्रचण्ड, तिलमिल अथवा दीर्घसूत्रता के पतंगे आ ही नहीं सकते। जब वे शरीर के साथ अपने मन-मस्तिष्क को सम्पूर्ण रूप से नियोजित करके काम करना शुरू करेंगे तब उनकी क्रियाशीलता एक अविचल लगन के रूप में बहती जायेगी और फिर ऐसी दृष्टि में काम के अपूर्ण रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। निदान उन्होंने संसार के सारे सुख-धन्यों का विचार त्याग कर अपने जीवन का अक्षुण्ण अंश के प्रति समर्पित कर दिया। अपने स्वार्थ, वैयक्तिक सुख और व्यक्तित्व के साथ अस्तित्व को जनोपयोगी कार्य के लिए दान कर दिया।

अपने विद्वान् गुरुवर्य से विद्या प्राप्त कर पाणिनि घर जाने के बजाय देशाटन पर चल पड़े। उनके देशाटन कार्यक्रम में उनके दो साथी व्याधि और वरसचि भी सम्मिलित हो लिए।

अपनी यात्रा क्रम में पाणिनि सबसे पहले हिमालय पहुँचे जहाँ उनकी भेंट ईश्वर देव नाम के एक प्रख्यात विद्वान् से हुई। पाणिनि ने उनका ध्यान देश की भाषाई कमी की ओर आकर्षित किया और उसे दूर करने की अपनी योजना बताई—उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण देश में जितनी भी बोलियाँ, भाषायें तथा लोक-भाषाएँ प्रचलित हैं उन सबका शब्द-कोष इकट्ठा करके समानार्थक शब्दों को वर्गबद्ध कर लिया जाये अनन्तर प्रत्येक शब्द का इस प्रकार परिष्कार किया जाये कि वे एक जातीय जैसे हो जायें। फिर उनके स्वरूप, प्रयोग अर्थ तथा आकर निश्चित कर दिया जाय और इस प्रकार भासा की तमाम भाषाओं की सहायताएँ एक ऐसी राष्ट्र-भाषा का निर्माण कर दिया जायें जो देश की समस्त जनता को समान रूप से ग्रहण हो। श्री ईश्वर देव ने पाणिनि की इस योजना को उपयोगी ही नहीं आवश्यक बतलाते हुए उनकी प्रतिभा, दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ की बहुत प्रशंसा की और स्वयं भी हर प्रकार का सहयोग तथा सहायता देने का वचन दिया।

जिस राष्ट्र में उसका हित सोचने वाले सर्वत्यागी तपस्वी होते रहे उसका अनादि से अनन्त तक जीवित रहना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। भासा की अज्ञान प्राचीनता का यही एक रहस्य है कि यह भूमि पाणिनि जैसे तपस्वियों से कभी खाली नहीं रही और जब तक इस प्रकार के महापुरुषों की परम्परा बनी रहेगी, भारत अपने गौरव के शिखर पर आसीन रहेगा ही। पाणिनि ने अपने उद्देश्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत का घूम्न किया। वे अपनी इस यात्रा में केवल नगरों में ही नहीं जनपदों कस्बों तथा छोटे से छोटे गाँव तक में गये, वहाँ रहे और अध्ययन के साथ अर्थ भ्रम तथा उच्चारण सहित अपार शब्द शक्ति संकलित की। शब्द शक्ति के अतिरिक्त पाणिनि ने प्रान्त-प्रान्त, नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम के रीति-रिवाज आहार बिहार तथा अचार विचार का भी अध्ययन किया। लोगों से मिलकर, बात कर और गहरी से गहरी खोज में उतर कर एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके इतिहास का पता लगाया।

इतना बड़ा और व्यापक कार्य करने में पाणिनि को कितना काम करना पड़ा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। पाणिनि अपनी खोज के लिए जहाँ भी गए होंगे वहाँ की भाषा सीखी होगी, निवासियों से अपमत्त्व प्राप्त करने के लिए आचार-व्यवहार का अभ्यास किया होगा। बूढ़ों एवं विद्वानों का सहयोग सहानुभूति पाने के लिए अपनी पात्रता सिद्ध की होगी, क्योंकि इसके बिना वे अपने कार्य में कृत-कृत्य न हो सकते थे। निःसन्देह पाणिनि ने इस शब्द संकलन तथा स्थान-स्थान की भाषाएँ सीखने और उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन एवं अभ्यास करने में आयु का बहुत बड़ा भाग लगा दिया होगा।

अपने इस यात्रा काल में वे घाँति-भाँति के अच्छे-बुरे, कूर-कुरुष, मूर्ख-विद्वान् स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आये होंगे और निःसन्देह यह सारी यात्रा पैदल ही पूरी की होगी। किन्तु उनके जीवन वृत्त, कार्यकुशलता तथा उद्देश्य की महानता से स्पष्ट है कि अपने लक्ष्य-पथ के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग पर एक पद भी न चले होंगे। इतनी विराट यात्रा में उनके सम्मुख हजारों बार भय, मोह अथवा स्वार्थ-प्रलम्भना के अनेक अवसर आये होंगे किन्तु उनकी सफलता इस बात की गवाही देती है, कि वे इन मानवीय दुर्बलताओं से एक से भी प्रभावित न हुए होंगे! भूख-प्यास, शीत-धाम तथा वर्षा के कष्टों को ठगते हुए पाणिनि निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते रहे होंगे। अन्यथा संसार की फिजूल बातों में अपने को उलझाकर वे इतना बड़ा काम न कर सके होते। जिनको जीवन में कुछ करने की लगन लगी होती है उनको सारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं का अभाव हो जाता है। इस प्रकार अपने को निःस्वार्थ, निस्पृह एवं निर्विकल्प बनाये बिना इतना बड़ा काम सम्पादित कर सकना असम्भव ही होता है।

देश का अपार शब्द भण्डार इकट्ठा करके पाणिनि हिमालय के एक एकान्त स्थान में जा बैठे और अपना काम शुरू कर दिया। अब तक का सारा पुरुषार्थ उनके असली काम की तैयारी मात्र ही था।

एक कुशल शिल्पी की भाँति अब पाणिनी ने अपने व्याकरण जमा कर लेने के बाद महाग्रन्थ की रचना शुरू कर दी।

सर्वप्रथम उन्होंने उस विशाल शब्द संकलन को क्रम से वर्गों में बाँटा, ठनकर परिष्कार किया, अर्थ एवं आकार निश्चित किया, प्रयोग के नियम बनाये और इस प्रकार एक व्यापक व्याकरण की रचना करके संस्कृत भाषा की भाषा को जन्म दिया, जो उसी समय से भारत की राष्ट्रभाषा और सार्वदेशिक आचार-विचार का मध्यम मान ली गई।

पाणिनी का व्याकरण शास्त्र आठ अध्यायों में विभक्त है, अतएव उसको अष्टाध्यायी कहा जाता है। जिसमें वर्तित तथा लटित एवं कृतित सिद्धान्तों को पाषाण के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति माना जाता है। उन्होंने शब्द निर्माण अर्थ संकोच अथवा विस्तार तथा रूपार्थ के परिवर्तन के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की कि जिनके आधार पर भाषा विज्ञान का जन्म हुआ।

अपने इस विशाल कार्य को पूरा करने के बाद पाणिनि पाटलिपुत्र में महाराज नन्द के दरबार में पहुँचे। उन दिनों नन्द का दरबार देश भर के बड़े-बड़े विद्वानों से भरा रहता था और वही विद्वन्मंडली उन दिनों नये पंडितों द्वारा किये गये कथों को आँच कर मान्यता प्रदान किया करती थी और किसी बहुत बड़ी नई खोज पर पंडित को 'सन्नयन' की उपाधि दिया करते थे।

उस विद्वन्मंडली ने पाणिनी की अष्टाध्यायी की आँच की और उनको 'सन्नयन' की उपाधि देकर यह भी घोषणा की कि पाणिनी के इस व्याकरणशास्त्र को जो अच्छी तरह समझ लेगा उसे भी एक हजार मुद्राये पुरस्कार में दी जाया करेगी।

भाषा शास्त्र में इस प्रकार एक क्रांति उपस्थित करने वाले महर्षि पाणिनी का जन्म गान्धार में सिन्धु तथा काकुल नदियों के संगम से चार मील ऊपर हट कर लघुर नामक ग्राम में हुआ था। किन्तु उनका पालन-पोषण उनके ननिहाल के ग्राम शलातुर में हुआ था जहाँ उनके पिता जाकर बस गये थे। इनके पिता का नाम सप्तम पाणिनि तथा बाबा का नाम विष्णु शर्मान पाणिनि था। केवल पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध इनका नाम आहिक पाणिनि था। इनके वंशज कालीक के रहने वाले थे, इनका जन्म ईसा पूर्व ४८०-४१० माना जाता है और मृत्यु के विषय में प्रसिद्ध है कि अपनी खोज में तल्लीन पाणिनी को एक भयान ने भक्षण कर लिया था।

राजनीति पर धर्मतंत्र का अंकुश रखने वाले चाणक्य

चाणक्य शब्द कथन में पड़ते ही मन्त्र-शुक्र पर एक ऐसी मूर्ति प्रतिबिम्बित हो उठती है जिसका निर्माण मानो विद्या, वैदग्ध्य, दूरदर्शिता, राजनीति तथा दृढ़ निश्चय के पंच तत्त्वों से हुआ था।

महर्षि चाणक्य एक व्यक्ति होने पर भी अपने में एक पूरे युग थे। उन्होंने अपनी बुद्धि एवं संकल्पशीलता के बल पर तात्कालिक मगध सम्राट् नन्द का नाश कर उसके स्थान पर एक सभारण बालक को स्वयं शिक्षित कर राज्य सिंहासन पर बिठाया।

चाणक्य न तो कोई धनवान् थे और न उनका कोई सम्बन्ध किसी राजनीतिक सूत्रधार से था। वे केवल एक साधारणतम व्यक्ति— एक गरीब ब्राह्मण थे। कल्कत्तल में चाणक्य में कोई विशेषता न थी। विशेषता थी तो केवल इतनी कि वे अपनी माँ के भक्त, विद्या-व्यसनी तथा संतोषी व्यक्ति थे। वे जो कुछ खाने-पहनने को पा जाते उसी में सन्तोष रखकर विद्याध्ययन करते हुए अपनी गमतामयी माता की सेवा किया करते थे।

उनकी मातृ भक्ति, विद्या व्यसन तथा दृढ़ संकल्प की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। एक बार, जिस समय वे केवल किशोर ही थे, अपनी माँ को पुस्तक सुनते हुए पड़े। माता ने उनकी मुँह की तरफ देखा और रो पड़ी।

चाणक्य को माँ के इस अहेतुक एवं असामयिक रुदन पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा— "माँ तु इस प्रकार मेरे मुँह की ओर देखकर रो क्यों पड़ी?"

माँ ने उत्तर दिया कि "तु बड़ा होकर बड़ा भारी राजा बनेगा और तब अपनी गरीब माँ को भूल जायेगा।"

चाणक्य ने पुनः विस्मय से पूछा— "पर तुम्हें यह कैसे पता चला कि मैं राजा बनूँगा।"

"तेरे आगे के दो दाँतों में राजा होने के लक्षण हैं उन्हें ही देखकर मैंने समझ लिया कि तू राजा बनेगा।" माँ ने चाणक्य को बतलाया।

चाणक्य ने माँ की बात सुनी और बाहर जाकर पत्थर से अपने दो दाँतों दाँत तोड़ डाले फिर अन्दर जाकर माँ से हँसते हुए बोले "ले अब तू निश्चिन्ता हो जा, मैंने राज-लक्षणों वाले दाँतों दाँत तोड़कर फेंक दिये। अब मैं राजा बनूँगा और न तुझे छोड़ कर जाऊँगा।" यह था चाणक्य की ज्वलन्त मातृभक्ति का प्रमाण।

चाणक्य का परिवार चोर निर्धन था। किन्तु विद्या प्राप्त करने की उन्हें प्रबल इच्छा थी। तत्कालीन उन दिनों देश में बहुत बड़ा विद्या केन्द्र था। माता के न रहने और बरेलू शिक्षा समाप्त करने के बाद चाणक्य पैदल ही तत्कालीन की ओर चल दिये। बिना किसी साधन के झनपिपासु चाणक्य सैकड़ों मील की पैदल यात्रा करके, मार्ग में मेहनत-मजदूरी तथा कन्द, मूल और शाक-पात खाते तत्कालीन जा पहुँचे।

चाणक्य तत्कालीन की विद्यापीठ में पहुँचते ही गये किन्तु अब विद्वान्धव, भोजन, निवास, वस्त्र, पुस्तक आदि की व्यवस्था किस प्रकार हो? घर से सैकड़ों कोस दूर परदेश में कोई साधारण किशोर हलाश होने के सिवाय क्या करता। किन्तु चाणक्य हलाश होने नहीं विद्वान् होने के लिए गये थे। निदान सेवा का सहाय लेकर मार्ग निकल ही तो लिया।

उन्होंने अनिर्घोषित आचार्यों, अध्यापकों एवं उपाध्यायों की सेवा करनी शुरू कर दी। वे गुरु माताओं के लिये जंगल से लकड़ी ला देते, कुएँ से पानी भर देते, बाजार से सौदा ला देते।

आचार्यों के हाथ से पुस्तकें लेकर उनके पीछे-पीछे विद्यालयों तक पहुँचा आते। अध्यापकों को कक्षा में पानी पिला आने, पकें हुए आचार्यों के सिर में मालिश कर देते।

इस प्रकार चाणक्य ने बिना कहे और बिना कोई परिचय दिये शिक्षकों को अपनी सेवा से इतनी सुविधा पहुँचाई कि उनका ध्यान आकर्षित हुए बिना न रह सका। कुछ समय तो गुरुजन तथा गुरु मातायें चाणक्य के विद्यालय की किसी शाखा का साधारण विद्यार्थी समझकर कोई विशेष ध्यान न देते रहे किन्तु जब उनकी सेवाओं का क्रम इतना बढ़ गया तो वे सोचने लगे कि यह विद्यार्थी जब हर समय सेवा ही में लगा रहता है तब अपना पाठ किस समय पढ़ता होगा ? इसी उत्सुकता से शेरित एक दिन एक आचार्य ने पूछ ही लिया— “बटुक ! तुम इतना समय तो हमारी सेवा में व्यतीत कर देते हो फिर अपना पाठ किस समय याद करते हो ?

चाणक्य ने सजल कंठ से उत्तर दिया कि “भगवन ! मैं विद्यालय का कोई छात्र नहीं हूँ। मगध से यहाँ विद्या प्राप्त करने की आज्ञा से आया था। किन्तु कोई अन्य साधन न होने से गुरुजनों की सेवा को ही अपना साधन बना लिया है। पेट गुरु माताओं की कृपा से भर जाता है, किन्तु आत्मा की पूछ तो आप गुरुजनों की कृपा से ही।” चाणक्य आगे कुछ न कह सके उनका कंठ स्थब्ध गया और नेत्र बहने लगे।

आचार्य का हृदय गद्गद हो गया और उन्होंने उसे छाती से लगाकर कहा— “बप्पा ! तुम्हारी इच्छा की पूर्ति को विधाता भी नहीं रोक सकता। जिसके अन्वरण में इतना सच्चा सेवा भाव और लक्ष्य के प्रति इतनी गहरी निष्ठा हो उसके लिये संसार में कौन पराया है, कौन-सा मार्ग अवरोध है और कौन-से साधन दुर्लभ हैं ? आज से तू मेरा पुत्र है। घर रहेगा और विद्यालय में पढ़ेगा। इस प्रकार लगनशील चाणक्य ने सेवा के बल पर भाग्य के अवरोध कपाटों को धक्का देकर खोल दिया।

लगभग चौदह वर्ष बाद वैदिक ज्ञान से लेकर राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं अस्त्र-शास्त्र का प्रकाण्ड पंडित्य प्राप्त करने के बाद लगभग छब्बीस वर्ष के तरुण चाणक्य ने अपने महान् विद्या मन्दिर की पावन धूल माथे पर चढ़ाकर और गुरुजनों से आज्ञा लेकर तक्षशिला से विदा ली— इसलिए कि अब वे मगध आकर अपनी जन्मभूमि में विद्या प्रचार करेंगे और महाराज नन्द के शासन में सुधार करवाने का प्रयत्न करेंगे जिसकी उसको उस समय नितान्त आवश्यकता थी।

तक्षशिला से आकर चाणक्य ने पाटलिपुत्र में एक साधारण विद्यालय की स्थापना की, जिसमें वे विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देते थे। अपनी जीविक की व्यवस्था उन्होंने पिता की उस खेती से कर ली थी जिसे वे बटाई पर उठाया करते थे। चाणक्य की योग्यता ने शीघ्र ही उन्हें प्रकाश में लाकर लोकप्रिय बना दिया।

जनता में सम्पर्क स्थापित हो जाने पर वे उसके दुःख सुख में साझीदार होने लगे। चाणक्य ने अपने प्रवचनों एवं प्रचार से शीघ्र ही जनमानस में अपने अधिकारी के प्रति जागरूकता ला दी जिससे स्थान-स्थान पर धननन्द की आलोचना होने लगी और जनता का असंतोष एक आन्दोलन का रूप लेने लगा।

धननन्द को जब इन सब बातों का पता चला तो उसने जनता का विखोप दूर करने और उसे अपने पक्ष में लाने के लिए अनेक दानशालायें खुलवा दीं जिनके द्वारा चादुकर और राज-समर्थक लोगों को रिश्वत की तरह अन्न, वस्त्र तथा धन का वितरण किया जाने लगा। धननन्द की इस नीति का भी कोई अच्छा प्रभाव जनता पर न पड़ा। पहले जहाँ लोग उसके शोषण से दुःख थे वहाँ अब धन के दुरुपयोग से अप्रसन्न रहने लगे।

चाणक्य नन्द की कपट नीति के विरुद्ध खुला प्रचार करने लगे समाचार पाकर धननन्द ने चाणक्य को वश में करने के लिए दानशालाओं की प्रबन्धक समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया।

चाणक्य ने शासन सुधार की इच्छा से वह पद स्वीकार कर लिया और सारे धूर्त सदस्यों को समिति से निकाल बाहर किया। अनियंत्रित दान को नियंत्रित करके दान पात्रों की योग्यतायें तथा सीमाएँ निर्धारित कर दीं।

चाणक्य के इन सुधारों से नन्द की मूर्खता से चलने वाले धूर्त उनके विरुद्ध हो गए और उसको नीचा दिखाने के लिए तरह-तरह के षडयंत्र करते हुए नन्द के कान भरने लगे। निदान धननन्द ने चाणक्य को एक दिन दरबार में बुलाकर उनकी भर्त्सना की और उन्हें चोटी फकड़ कर बाहर निकल दिया।

चाणक्य को अपना यह अपमान असह्य हो गया और उनका क्रोध परकाष्ठ पर पहुँच गया। उन्होंने अपनी खुली चोटी को फटकारते हुए प्रतिज्ञा की कि जब तक इस अन्यायी धननन्द को समूल नष्ट कर मगध के सिंहासन पर किसी कुलीन क्षत्रिय को न बिठाल दूँगा तब तक अपने चोटी नहीं बाँधूँगा। चाणक्य चले गये और उनकी प्रतिज्ञा पर नन्द के साथ चादुकर दरबारी हँसते रहे।

नन्द से अपमान पाकर चाणक्य की विचारधारा बदल गई अभी तक वे शांतिपूर्ण सुधारवादी थे किन्तु अब घोर क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनवादी हो गये। अब उनके जीवन का एक ही लक्ष्य बन गया, नन्द के निरंकुश शासन का नाश और मगध के राज-सिंहासन पर किसी सुयोग्य व्यक्ति की स्थापना।

सबसे पहले चाणक्य ने भारत का एक-छत्र सम्राट बनने योग्य किसी उपयुक्त व्यक्ति की खोज शुरू की जिसके फलस्वरूप चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त उन्होंने एक दासी पुत्र प्रतिभावान चन्द्रगुप्त मौर्य को खोज निकाला। चन्द्रगुप्त लगभग सत्तरह वर्ष का एक सुयोग्य प्रतिभावान, सूक्ष्म दृष्टि एवं दूरदर्शी किशोर था। उसकी सुगठित शरीर एवं व्युत्पन्नमति मस्तिष्क शासन एवं राज्य संचालन के सर्वथा योग्य था।

चाणक्य ने तक्षशिला ले जाकर चन्द्रगुप्त का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने लगभग दस वर्ष तक चन्द्रगुप्त को शास्त्र, शास्त्र तथा राजनीति की शिक्षा स्वयं दी। राजनीति के क्षेत्र में गुप्तचर से लेकर सम्राट और राज्य के क्षेत्र में सिपाही से लेकर सेनापति तक की दक्षताओं, क्षमताओं एवं योग्यताओं को विकसित कर चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर पुनः देशाटन पर चल दिये।

चाणक्य ने अपने अनवरत प्रयत्न से भारत के पश्चिमी प्रान्तों के बहुत से राजाओं को संगठित करने के साथ चन्द्रगुप्त के लिए भी एक स्वतन्त्र सेना का निर्माण कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की शक्ति बढ़कर चाणक्य ने भारत की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने पंजाब के संगठित राजाओं को सहयोगी बनाकर चन्द्रगुप्त को यूनानियों को भगाने का काम सौंपा। साहसी चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को युद्ध में हराकर भारत के पराधीन भू-भाग को स्वतन्त्र करा लिया।

चन्द्रगुप्त की इस महान् विजय ने उसे भारत के राजाओं के बीच इतना लोकप्रिय बना दिया कि वे उसे अपना नेता और चाणक्य को राजनीतिक गुरु मानने लगे।

अनन्तर चाणक्य ने बहुत-से राजाओं का आपसी मतभेद तथा विद्वेष अपनी कुशल बुद्धि तथा सूक्ष्म राजनीति के बल पर मिटा, उन्हें चन्द्रगुप्त के झण्डे के नीचे खड़ा कर दिया। इस प्रकार विदेशियों को भगाने के बाद चन्द्रगुप्त पंजाब तथा अन्य सीमान्त प्रदेशों के राजाओं की संगठित शक्ति का अगुआ बनकर चाणक्य को देखरेख में मगध की ओर चल पड़ा।

यूनानियों को देश से निकाल बाहर करने से चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का यश पूरे भारत में फैल चुका था। जिसके फलस्वरूप मगध तक पहुँचने में मार्ग में पड़े अधिकांश राजाओं ने न केवल चन्द्रगुप्त का स्वागत ही किया बल्कि भावी भारत सम्राट मानकर उसके झण्डे के नीचे आ गये।

मगध सम्राट चन्धनन्द अपने विलास तथा अन्य दुर्गुणों के कारण अन्दर और बाहर से पूरी तरह जर्जर हो चुका था। जनता तो उससे पहले ही रहू थी अतएव बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वह चन्द्रगुप्त को न रोक सका और अन्त में सर्वशः चन्द्रगुप्त के हाथों मारा जाकर सदा के लिए नष्ट हो गया।

चाणक्य ने विधिवत अपने हाथ से चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट पद पर अभिविस्त करके सन्तोषपूर्वक अपनी चौड़ी बाँधने हुए कहा—

“कोई साधन न होने पर भी मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई, राष्ट्र विदेशी प्रभाव से मुक्त हुआ और देश में एक-छत्र साम्राज्य की स्थापना हुई। किस प्रकार? केवल एकनिष्ठ कर्तव्यशीलता, आत्मविश्वास, अविरत प्रयत्न तथा सत्य के फल में रहने के बल पर। चन्द्रगुप्त! जब तक तुम में न्याय, सत्य, आत्मविश्वास, साहस एवं उत्थोग के गुण सुरक्षित रहेंगे तुम और तुम्हारी सन्तानें इस पद पर बनी रहेंगी। और यदि तुम और तुम्हारी सन्तानें इन गुणों से विरत हुई तो पतन का उत्तरदायित्व देश कल अधिकांश परिस्थितियों पर नहीं तुम पर और तुम्हारी सन्तानों पर होगा।”

एक बार वे नंगे पैरों कहीं जा रहे थे। रास्ते में ओं हुए कुछ कटकों से उनके पैरों में लहू निकल आया। उन्होंने उन कटकों को जड़मूल से नष्ट करके ही आगे कदम बढ़ाया।

दुर्बल मन्द वंश को हटाकर चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाने को सारा चक्रव्यूह ऐसी कुशलता से और दूरदर्शिता के साथ तैयार

किया कि वह सफल होकर ही रहा। यद्यपि चन्द्रगुप्त को इस बात की पूर्ण आशंका नहीं हुई थी कि उसकी सीमित शक्ति मन्द-वंश का मुक़ाबला न कर सकेगी। सीधे आक्रमण का साहस न हो रहा था। अन्त में उसने अपनी आशंका गुरु कौटिल्य से व्यक्त कर ही दी। महापंडित कौटिल्य को पञ्चानन्द की आन्तरिक कमजोरियों का पता था शिष्य के अधीर बचन सुनकर वे मुस्कराये फिर गम्भीर भाषा में बोले— “इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगयानापि विनश्यति” अर्थात् “किसी के पास विशाल चतुरंगिणी सेना हो, किन्तु चरित्र न हो तो अपनी इस दुर्बलता के कारण वह अवश्य नष्ट हो जाता।” चन्द्रगुप्त गुस्तेब के आशय को समझ गया। उसने मगध पर आक्रमण कर दिया और विजय भी पाई। चाणक्य इस साम्राज्य के प्रधानमन्त्री थे। शासन सूत्र का सफल चलाते थे और अपनी महान् योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए चन्द्रगुप्त का उपयोग करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का जीर्णोद्धार उन्होंने कराया और मनीषियों को प्रचुर परिमाण में उत्पन्न करने और उन्हें देश-देशान्तरों में भेजने का कार्य भी उतना ही महत्व-पूर्ण था, जितना राजतंत्र का विस्तार। प्रशासनिक और सांस्कृतिक विस्तार के लिए मनीषियों की आवश्यकता भी कम महत्व की नहीं है। वे उन्होंने इस विश्वविद्यालय के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्य के विस्तार को भी पूरी तत्परता के साथ संचालित किया।

चाणक्य ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। ‘कौटिल्य’ इस नाम से उन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की जिसे आज भी समस्त संसार में अति महत्वपूर्ण माना जाता है। आत्म साधना, साम्राज्य, नालन्दा विश्वविद्यालय, अर्थशास्त्र सूचन, बहुमुखी गतिविधियों का संचालन करते हुए चाणक्य ने अपनी हिमालय जैसी ऋषि परम्परा को अधुण ही रखा, वे लोभ-मोह से सर्वथा दूर रहे। उनका रहन-सहन, आहार विहार वैसा ही रहा जैसा तपस्वियों का होता है। प्रचुर साधन उनके हाथ में थे पर उन्होंने अपने लिये उनमें से नहीं के बराबर ही उपयोग किया। लोक-मंगल में निरत जन-सेवकों का निर्वाह न्यूनतम स्तर का ही होना चाहिए इस अदृष्ट को उन्होंने सदा ध्यान में रखा।

अपनी झोंपड़ी में वे नित्य पैदल चलकर जाने थे और वहीं अपना सन्धन नित्य कर्म सम्पन्न करते थे। उनके निजी रहन-सहन का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

अल्पलक्षकत पेतदुपेदकं गोमया नाम् ।
बहुधराइतानां बहिष्क स्तोय एष ॥
शरणं यनि समिद्धः सुष्कमाणाभिरामः ।
विनिर्मितं यत्नान्तं दृश्यते जीर्णं कुड्यम् ॥

गोबर से लिपि हुई, कच्ची फूस की झोंपड़ी, कुशाओं का गड्ढा उपला तोड़ने का पत्थर, हवन समिधार्ण, यही उस महा ब्राह्मण की सम्पत्ति थी।

प्राचीनकाल की ऋषि परम्परा का पुनरुद्धार करने वाले चाणक्य ने आन्तरिक जीवन और भौतिक साधनों पर समान रूप से ध्यान रखा। दोनों पक्षों को प्रखर बनाने की सयन्वयान्मक योजना को कार्य रूप में परिणत किया। वे जानते थे कि एककी वैभव विज्ञान दोनों ही

अन्धे लंगड़े की तरह अधूरे हैं। दोनों का समन्वय किया जाना चाहिए और ब्रह्म क्षात्र को परस्पर एक-दूसरे का पूरक होकर रहना चाहिए। आज महर्षि चाणक्य द्वारा प्रतिपादित इस तथ्य को अपनाने की आवश्यकता है। अस्त-व्यस्त 'ब्रह्म' और नष्ट-घट 'क्षत्र' यह इकट्ठे हो सकें, धौतिकता और आध्यात्मिकता के पुष्क पड़े पहिये यदि एक हाथ से जोड़े जा सकें तो सर्वतोमुखी प्रगति के दृश्य फिर उसी तरह दीख पड़ सकते हैं जैसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समन्वय से उन दिनों दिखाई पड़ते थे।

नीतिशास्त्र के रचयिता कामन्दर ने महर्षि चाणक्य की विशेषता और महानता का वर्णन करते हुए लिखा है—

जातवेदा इवाचिष्यान् वेदान् वेदविदांश्चरः ।
 यो भीतवान् सुबहुराज्यतुरोयेकं यदेत् ॥
 नीतिज्ञात्वायुतं भीमानर्भशास्त्रमहोदधेः ।
 समुद्रौ नयस्तस्य विष्णुगुप्तस्य केवसे ॥

अग्नि जैसे तेजस्वी, महान् आत्मा, वेदों के पर्यङ्ग, अति प्रतिभा-
 शालीन, अर्भशास्त्र के उद्धारक, नीति निर्भरता महर्षि विष्णुगुप्त
 (चाणक्य) का अपिवादन।

धर्म—संस्कृति के लिये समर्पित—फाह्यान

सद्ज्ञान की शुष्क को गुप्त करने के लिये मनुष्य ने कितने-कितने उद्योग नहीं किये हैं, किन्-किन कह-कठिनाइयों का सामना नहीं किया है, किन्-किन सुख-सुविधाओं को नहीं छोड़ा है किन्-किन सुनैतियों को नहीं स्वीकारा है ! इसका एक अनुपम उदाहरण है चीनी यात्री फाह्यान

मनुष्य को शक्ति सामर्थ्य का अनुदान देने समय उसका सर्वक उस पर कुछ अधिक ही कृपाशु रहा है तभी तो उसने उसे जो क्षमताएँ, योग्यताएँ और विभूतियाँ दी हैं वे अन्य प्राणियों को नहीं मिली। इन क्षमताओं का उपयोग अधिकांश व्यक्ति तो उसके छिपी अपने सिरजनहार की उन अपेक्षाओं को बिसर कर उनका उपयोग व्यक्तिगत आकांक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं में ही किया करते हैं पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो इनका सदुपयोग सार्वजनिक हित के लिये करते हैं। सार्वजनिक हित का सबसे बड़ा हेतु है सद्ज्ञान, जो व्यक्ति को मानवीय गौरव के अनुरूप जीवन्यूपन करने की दिशा में मार्ग-दर्शन देता है

बौद्ध धर्म भारत की अध्यात्म उर्वरा धरती पर उत्पन्न होकर लगभग आधे विश्व में फैला उसमें एक देश चीन भी था। वहीं का निवासी था फाह्यान भी। उसने अपने जीवन का विनियोग व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में नहीं करके सार्वजनिक हित में करने का निश्चय करके बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। अन्य नाम कुछ था बाद में धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने के कारण उसका नाम 'फाह्यान' हो गया जिसका अर्थ होता है धर्माचार्य।

कभी-कभी व्यक्ति के लिये विपत्तियाँ और दुःख घटनाएँ मार्गदर्शक बन कर आती हैं। कुछ के पिता का देहान्त जब वह दस वर्ष का था तभी हो गया। वोड़े दिनों में माता का भी देहावसान हो गया। माता-पिता की इस मृत्यु ने कुछ के चिन्तनशील मन शक्ति पर अत्यधिक प्रभाव डाला और वह जीवन के उस सत्य की खोज के लिये उत्सुक हो उठा जो जन्म और मृत्यु के इस रहस्य को सुलझा सके। अखिर इस जीवन का प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करवाया और उसके पश्चात् हजार बाधाओं, विपदाओं को झेलते हुए भारतवर्ष की यात्रा करने का साहस भी इस प्रश्न ने जुटाया।

उसने बौद्ध मत में दीक्षित होकर चीन में ठपलक सभी ग्रंथों का अध्ययन कर खला पर उसे तृप्ति नहीं हुई। उससे भी प्रमाणिक कुछ और ज्ञान मिले इसके लिये उसने भारत यात्रा का निश्चय किया

फाह्यान यदि बीसवें शताब्दी में पैदा हुआ होता उसे अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये कुछ ही हजार रुपयों की आवश्यकता पड़ती और वह वायुयान में बैठकर कुछ ही घण्टों में भारत आ गया होता लेकिन वह तो ईसा की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुआ था उस समय चीन से भारत आने का अर्थ था मृत्यु से खेलना। रास्ते में बिकट वन और हिमच्छादित गिरि शृंग थे जिनमें भयंकर हिंसक जीव-जन्तु निवास करते थे। तब न कोई सड़क ही थी और न कोई मार्ग ही। उसके पहले कितने ही यात्रियों ने भारत आने का प्रयास किया था पर एक आध को छोड़ कर उनमें से कोई वापस चीन नहीं लौट सका था।

फाह्यान के इस निश्चय की कई लोगों ने इस कारण बदलना चाहा कि इसमें प्राणों का भय था। पर फाह्यान तो प्राणों का भय करता ही नहीं था। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, आज न सही कल आयेगी ही तो फिर इसी शुभ कार्य को करते हुए क्यों न मरा जाय। अतः वह भारत यात्रा के लिये चल पड़ा। उसे चार साथी भी मिल गये जो राह में से ही वापस लौट गये पर वह नहीं लौटा। पूरे पाँच वर्ष की कठिन जेठिम भरी और कष्टपूर्ण यात्रा करने पर वह भारत पहुँचा उसे सैकड़ों पर्वत और हजारों नदियों लौंघनी पड़ी थीं, कई बार मरते-मरते बच था वह।

सबसे पहले वह गंधार देस पहुँचा। वहाँ से आधा और तसशिला और तसशिला से पुस्वपुर। पुस्वपुर से मधुरा, कान्यकुब्ज, श्रावस्ती, कुशीनगर, वैशाली होता हुआ वह पाटलिपुत्र पहुँचा जो तत्कालीन भारत की राजधानी थी मगध साम्राज्य की राजधानी। पाटलिपुत्र में वह कई तीन वर्ष तक रुका। वह वहाँ के राजा, राज्य प्रजा और उसकी शिखरस्थ सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिक सामाजिक व्यवस्था को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसने चीन पहुँच कर अपने मित्र से वहाँ के जन जीवन और राज्य प्रबन्ध के बारे में विस्तार से बताया, जिसे उसके मित्र ने लेखनीबद्ध कर लिखा उस समय मगध में पराक्रमी हिन्दू सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सुशासन चल रहा था। उसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण में किया है।

पद्मान ने पाटलिपुत्र नगर की श्री शोभा का वर्णन करते हुए बताया— “अशांक का बन्वाका हुआ राजमहल इतना सुन्दर था कि उसे देखकर दोनों नले अंगुली दबानी पड़ी। ऐसा लगता था कि यह महल आदमियों ने नहीं देवताओं ने बन्वाया हो।” इसी प्रकार यहाँ के सभ्य, शिष्ट और नैतिक सम्प्रदाय का भी उसने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

पद्मान सकीर्षमन्त्रा व्यक्ति नहीं था। उसने विदेशी होने हुए भी भारतीय जन-मानस को जिस गहराई से समझा और जिस प्रकार बिना किसी दुराग्रह के उसका वर्णन किया है उसे देखकर विद्वत्ता का ही नहीं विवेक का भी परिचय मिलता है।

वह जहाँ भी गया भारतवासियों से उसे अकुण्ठ सम्मान और आत्मीयता मिली। वह यहाँ से अनेकानेक धर्म और साहित्य ग्रन्थ अपने साथ ले गया। वह पाटलिपुत्र से नासन्दा राजगृह, काशी, सारनाथ होता हुआ ताक्षसिपि पहुँच। वहाँ से वर्ष तक ठहर कर वह लंका और जावा होते हुए समुद्री मार्ग से चीन पहुँचा। आते समय वह स्थल मार्ग से आया था पर आते समय उसे कोई दिक्कत नहीं हुई क्योंकि उन दिनों भारत का साथ विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता था। अतः वह समुद्री मार्ग से ही गया।

जाते समय उसके साथ कुछ भारतीय विद्यार्थी उसे ताक्षसिपि से लंका तक छोड़ने भी गये। वह भारत के लोगों द्वारा किये अतिथि सत्कार से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। भारतवर्ष में वह लगभग छह वर्ष तक रहा पर वे छह वर्ष उसे ऐसे लगे जैसे किसी स्वर्ग राज्य में रहा हो। क्योंकि यहाँ का हर व्यक्ति सभ्य, सुसंस्कृत शिष्ट और प्रिय लगा था उसके। वहाँ की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का विशद वर्णन उसके यात्रा सप्तराजों में आज भी सुनिश्चित है। उसने बताया है कि भारतीय सभ्य, सुशील, सदाचारी, चरित्रवान, नीतिप्रिय, व्यवस्था प्रिय, भयभीत नहीं, अनुपम विवेकशील, धर्म-साहिष्णु और अतिथि सत्कार प्रवीण थे। दण्ड विधान कठोर नहीं था, शासन व्यवस्था सुन्दर और प्रिय थी। कर नम्रभार के समान थे। मृत्यु-दण्ड किसी को नहीं दिया जाता था। फिर भी चोरी, लूट-छापा और अनैतिकता नहीं के बराबर थी।

जब वह भारत से चीन लौटा तो उसके पास अनमोल ग्रन्थ रत्नों का अपूर्व भण्डार था जिसे उसने भारत से बटोरा था। अपने साहस और पुरुषार्थ के बल पर उसने चीन की जनता को बहुमूल्य सम्पदा दी। उसे चीन वासी आज भी भूले नहीं हैं। सच ही भारत के उस स्वर्णिम अतीत का दिग्दर्शन करने वाले उसके यात्रा विवरण हमारी भी अनुपम निधि बन गये हैं। अंग्रेज और मुस्लिम इतिहासकारों के विकृत इतिहास के परिपेक्ष्य में उसके ये विवरण बहुत ऊँच और निष्पक्ष ठहरते हैं। अपने इस सत्साहस के कारण पद्मान अवितर्पणीय बन गये।

वैदिक धर्म की रक्षार्थ जीवन दान करने वाले—श्रीशंकराचार्यजी

अब से लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष पूर्व केरल प्रान्त के एक ग्राम में एक बालक का जन्म हुआ जो असामान्य विद्या बुद्धि से सम्पन्न

था। जैसे अब भी कोई-कोई बालक जिसको वैज्ञानिकग्रन्थ ‘प्रोटिजी’ कहते हैं चार-पाँच वर्ष की आयु में ही कई भाषाओं का अचम्ब गणित, सव्य, सगीत आदि उच्च विद्याओं का ज्ञान बन जाता है, उसी प्रकार इस बालक ने भी सत्र वर्ष की आयु में ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। उसकी अद्भुत विशेषता को सुनकर देश के बड़े-बड़े विद्वान् और वहाँ का विद्वानुपाधि राजा भी उनके देखने तथा उनकी अगाध विद्या के सम्मन्ध में फैली जन्तुति कहीं तक सत्य है, इसकी जाँच करने को आये। उन सबने इतनी छोटी आयु में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेना एक दैवी चमत्कार ही समझा और वे उनके सम्पन्नपूर्वक नमस्कार करके चले गये।

ऐसे आश्चर्यजनक बालक का समाचार सुनकर कुछ ज्योतिषी भी वह विज्ञान लेकर आये, देखे किन वहाँ के प्रभाव से उसे ऐसी अपूर्व शक्ति प्राप्त हो सकी। उन्होंने कुछदली में स्थित ब्रह्म की स्थिति को एक बहुत बड़े पद्मपुराण के योग्य तो जाना, पर साथ ही उसमें उनके एक बात ऐसी खेदजनक भी दिखाई पड़ी जिससे उनकी मुछ-मुछ शोकपूर्ण हो गई। वह देखकर बालक की माता ने आश्चर्य से कहकर इसका कारण पूछा तो उन्होंने बड़े संकोच से कहा कि “वैसे तो वे दैवी ज्ञान से भण्डित एक पद्मपुराण ही हैं, पर वहाँ के फलानुसार इनकी आयु केवल ८ वर्ष की है। अगर वे तपस्व करें तो वह आयु ८ वर्ष और बढ़ सकती है।

यह बालक जिनका नाम शंकर का पहले ही देश और धर्म की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण करना चाहते थे। अब इस परिणाम के प्रकट हो जाने पर उन्होंने अपनी माता से अपनी मनेभिलाष कह सुनाई। पर पर में कोई और उत्तराधिकारी न होने से वे इसके लिये तैयार न हुई।

तब बालक शंकर ने एक उच्छ्व से काम लेना सोचा। कुछ समय बाद जब वे अपनी माता के साथ किसी पर्व के अवसर पर नदी में स्नान करने गये तो तेरते-तेरते पुकारने लगे कि मुझे मगर ने पकड़ लिया और खींचे लिये जाता है। इस पर माता भी कुहराम मचाने लगी। शंकर ने कहा— “माता यदि तू मुझे शिष्यजी के लिये अर्पण कर दे तो वे मेरे रक्षा कर सकते हैं।” पुत्र की आज्ञा रक्षार्थ माता ने वैसा ही मन लिया और शंकर तेरकर घाट पर आ गये। उन्होंने कपड़े बदल कर माता को प्रणाम किया संन्यास ग्रहण करने के लिए सद्गुरु की सेवा में जाने की आज्ञा माँगी।

माता बहुत रोई-कसपी, पर धर्म के लिये जीवन अर्पण कर देने वाले शंकर उसके निर्दह की उचित व्यवस्था करके गर्मद की तरफ चल दिये। वहाँ तक कई सौ मील का जंगली और पहाड़ी मार्ग अतिक्रम कर सकना एक छोटे बालक के लिये असम्भव जान पड़ता था, पर दृढ़व्रती शंकर किसी कष्ट का भय की चिन्ता न करके निरन्तर यात्रा करते हुए वहाँ पहुँच गये। उस स्थान पर एक बहुत प्राचीन योगी गोविन्दपाद का आश्रम था जो वेदान्त शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता माने जाते थे। शंकरने उनसे दीक्षा ग्रहण की और दो वर्ष तक वेदान्त का अध्ययन किया। इसके पश्चात् गुरुजी ने शंकर को कश्मी जाकर धर्म और वेदान्त मत का प्रचार करने की आज्ञा दी और स्वयं महासमाधि ले ली।

जिस समय वह बाल-सन्ध्यासी अपने वयोवृद्ध गुरु पाइयों के साथ काशी पहुँचे और वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का प्रवचन करने लगे तो वहाँ एक हलचल मच गई और लोगों का समूह उनके दर्शनार्थ आने लगा। यद्यपि उनका शरीर बालक का था पर ज्ञान और बुद्धि पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुके थे। वे बड़े-बड़े पंडितों के प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी शंकाओं का समाधान करते और अन्य सब मतों का निराकरण करके वेदान्त मत का प्रतिपादन करते।

शंकराचार्य निर्गुण सिद्धान्त के अनुयायी थे और वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ससार को मिथ्या और माया समझने का भाव उनके भीतर इतना प्रबल हो चुका था कि वे भारतीय जनता में प्रचलित सगुण-पासना की तरफ कभी लौटकर ध्यान नहीं देते थे। वे सदा आत्मस्वरूप की भावना करके इस प्रकार कहते रहते—

निर्गुणो निर्विक्रियो क्रियो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यं मुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥
अवभाकाशवत् सर्वं ब्रह्मसर्गतोऽन्वितः ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चत्वरं ब्रह्माहमेव तत् ॥

अर्थात्— मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित हूँ। मैं शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण की क्रिया से रहित हूँ, तौनों काल में मेरा अस्तित्व है, समस्त विकल्पों और काम-क्रोध आदि विकारों से रहित हूँ, आकार रहित हूँ, अविद्या रूप मल से रहित हूँ। मैं तो आकाश तत्त्व के समान सब प्राणियों में व्याप्त हूँ। देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित जो परब्रह्म है वही मैं हूँ।

यह निर्गुण-भावना उनमें उस समय ऐसी दृढ़ हो गई थी कि एक मात्र निर्विकल्प समाधि के सिवाय भक्ति, उपासना आदि अन्य किसी साधन की तरफ वे बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे। विश्व-कल्याण की भावना धित में कभी-कभी अवश्य उत्पन्न होती थी, पर वह भी जगत् को 'असत्' समझने की भावना से दब जाती थी। गुरु की आज्ञा को स्मरण करके शिष्यों तथा जनता को वेदान्त-सिद्धान्त का उपदेश अवश्य देते थे, पर वह कार्य भी वे यत्नवत् कर रहे थे। वह भाव एक पुत्र की दृष्टि से अवश्य सराहनीय था, पर संसार में उनको सत्य-धर्म के प्रचार और उसकी रक्षा का जो कार्य करना था उसमें सहायक न होकर बाधक ही था।

पर काशी एक ऐसा ज्ञान-केन्द्र है जहाँ सदा शासक वर्ग ही चलती रहती है और सब प्रकार के मतों का प्रतिपादन करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म का प्रतिपादन करते रहते हैं। वहाँ श्री शंकराचार्य के सम्मुख दो-एक ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे उनको अपने वेदान्त सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना पड़ा। एक प्रसिद्ध घटना इस प्रकार बतलाई जाती है कि एक दिन जब वे गंगातट की ओर जा रहे थे उनको सामने से एक चांडाल आता दिखाई दिया जिसके साथ चार बड़े कुत्ते थे और जो मछ के नशे में झुमता-झपता चला आ रहा था। उससे स्पर्श हो जाने की आशंका से श्री शंकर ने कहा— "रस्ते के एक तरफ होकर चलो और मेरे जाने के लिए स्थान को छोड़ दो।" चांडाल ने उनकी बातों की तरफ कुछ ध्यान न दिया और चलते-चलते कहने लगा—

"कौन किसको स्पर्श करता है? सर्वत्र एक ही वस्तु है उसके सिवाय और क्या? किसके स्पर्श से भयभीत होकर तुम दब कर चल रहे हो? आत्मा तो किसी को स्पर्श नहीं करती। जो आत्मा तुम में है वह मेरे भीतर भी है। फिर तुम किससे दूर जाने की कह रहे हो? मेरी देह को वा मेरे आत्मा को? इन शब्दों को सुनते ही शंकर का ब्रह्मज्ञान सच्चे व्यावहारिक स्तर पर पहुँच गया और उन्होंने मन ही मन उस चांडाल को एक गुरु समझ कर प्रणाम किया। अनेक लोग इस घटना को सुनकर कहने लगे कि स्वयं भगवान् विश्वनाथ ने चांडाल के रूप में श्री शंकर को उपदेश दिया था और उनको केवल सिद्धान्त पर न अड़े रहकर वह मार्ग दिखलाया था जिससे वे जनमत को अपने साथ लेकर धर्म स्थापना का कार्य कर सकें।

इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने अपना जीवन कार्य आरम्भ कर दिया। वे अपने प्रमुख शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम चले गये और ब्रह्मसूत्र पर अपना प्रसिद्ध शरीरिक भाष्य लिखा। इसके साथ ही ग्यारह प्रमुख उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर भी भाष्य रचे। ये तीनों ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये और ऐसी परम्परा पड़ गई कि जो धर्म-प्रचारक पहले इन तीनों पर ऐसे ही विद्वत्पूर्ण भाष्यों की रचना करके अपने मत का प्रतिपादन कर सके वही 'आचार्य' की पदवी का अधिकारी माना जाय।

जब श्रीशंकर ने भारतवर्ष में प्रचलित बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों के खण्डन का दृष्टा उत्थापित तो उनसे कहा गया कि उनसे भी पहले इस कार्य की घोषणा श्री कुमारिल भट्ट कर चुके हैं। वे उनसे भेट करने प्रयाग पहुँचे, पर परास्थितिबल कुमारिल भट्ट उनसे प्रभावित होकर भी उनका साथ न दे सके और उसी समय देह त्याग दी। पर वे कह गये कि आप महिष्यती नगरी में जाइये, जहाँ मेरा शिष्य मंडन मिश्र रहता है जो मुझसे भी अधिक विद्वान् है। वह आपके कार्य में सहयोग करेगा। वास्तव में मंडन मिश्र उस युग का भारत प्रसिद्ध विद्वान् तथा पण्डित थे। श्रीशंकर ने साक्षात् करके उनको अपना सिद्धान्त मनवा दिया और उसके पश्चात् अन्त समय तक वही उनका सबसे बड़ा सहायक रहा।

बौद्धों को परास्त करके वैदिक मत का उत्कर्ष साधन करने पर भी शंकर को पाशुपत, शाक्त, तान्त्रिक, शैव, माहेश्वर, वैष्णव आदि हिन्दू धर्म के बहुसंख्यक सम्प्रदाय वालों का भी मुकाबला करना पड़ा, जिन्होंने धर्म के विकृत रूप का प्रचार करके जनता को कुमार्गगामी बना रखा था। इसमें से उग्र शैरव नाम का एक कर्णालिक बदला लेने की नीयत से एकट में आचार्य का शिष्य बन गया और एक दिन मौका पाकर उनको मारने लगा। पर अन्य शिष्य उसकी तरफ से सावधान रहते थे इसलिए उसी समय पदपाद रक्षा करने को पहुँच गया और उसने कर्णालिक का बर्तन वध कर डाला। इसी प्रकार जब वे राजा सुधन्वा को साथ लेकर प्रचार कर रहे थे तो कर्नाटक में कर्णालिकों के महन्त कुचक्र ने अपने सैकड़ों सशस्त्र अनुयायियों को लेकर उन पर आक्रमण किया। पर राजा सुधन्वा स्वध्यान था और उसने अपनी सेना के द्वारा उनको मारकर भगा दिया।

जब वे समस्त भारत में धर्म प्रचार करके आसन्न पहुँचे तो ज्ञानमत के आचार्य अभिनव गुप्त से मुकबल हुआ। बावपि परास्त होकर इकट में उनका यह शिष्य बन गया, पर प्रतिहिंसा बस उसने कोई गुप्त प्रयोग करके इनके शरीर में भगन्दर की व्याधि उत्पन्न कर दी। अन्य अनुयायियों ने इलाज या अन्य कोई उपाय करने की बार-बार सम्मति दी, पर आचार्य ने इसको अपना प्रारब्ध मानकर कोई प्रयत्न नहीं किया और अपने कार्य को यथासम्भव शीघ्र पूरा करके धर्म के काम पर प्रसन्नतापूर्वक जीवन की इतिश्री कर ली। उस अवसर पर उन्होंने अपने शिष्य वर्ग को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा—

“हे शिष्यो ! अब तुम सब दैवत्व प्राप्त करने और मुमुक्षुओं को उपदेश देने में सदा सावधान रहकर उद्योग करते रहना। तोटक को उत्तर दिशा में ज्योतिर्मठ, पञ्चपाद को पूर्व दिशा में गोवर्धन मठ, हस्तामलक को पश्चिम दिशा में शम्भामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में भृगुघाटी मठ की स्थापना करके अपने इस अपेक्षित अद्वैत ज्ञान का प्रचार धर्म और दृढ़ता से निरन्तर करते रहना चाहिए। अब सब शिष्यों को इन चारों का सम्मान करना चाहिये। अधिकारियों को वैदिक मार्ग में प्रवृत्त करना और दुराचारियों का सुधार करना चाहिये।”

एक दिन वे प्रातःकाल नदी में स्नान कर लौट रहे थे कि सहसा एक घाण्डाल से झू गये। स्पर्श होते ही शंकराचार्य कुपित हो उठे और घाण्डाल को अपवित्र कर देने का दोष लगाकर चला-बुरा करने लगे। चाँदाल उनका रोव देखकर हँसा और बोला—महाराज ! संन्यास लेकर सन्त तो बन गये और वेद शास्त्र पढ़ कर पंडित भी। किन्तु आपका कुछ देहाभिमान अब भी न गया। इस प्रकार की भेद बुद्धि रहते हुए आप अपने को पूर्ण सन्त मान रहे हैं। यह तो उचित नहीं दीखता। सबके शरीरों में एक आत्मा का निवास है, इस सत्य को प्रतीत किये बिना आपका संन्यास अपूर्ण है, आडम्बर है।

घाण्डाल की बातों ने शंकराचार्य की आँखें खोल दीं। उन्होंने अपनी अपूर्णता समझी और उसे पूरा करने के लिए पुनः शीघ्र साधन में लग गये और अब भी बार-बार अष्टावक्र के सत्य स्वरूप को हृदयंगम कर सके तो तुरन्त ही अपने कर्तव्य पथ पर चल पड़े। उन्होंने अटक से कटक और कन्हाकुम्हरी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिये। बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने-समझाने के लिये सभायें आयोजित कीं। उन्होंने धर्म का प्रचार करने के लिये चिद्विलास, विष्णु गुप्त, हस्तमलक, समित पाणि, ज्ञानकुन्द, भानु गर्भिक, बुद्धि विरचि त्रोटकाचार्य, पञ्चनाभ, शङ्कराचार्य भट्टन मिश्र, कृष्णदर्शन आदि देश के उद्भट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की एक विशाल धर्म सेना बनाई गई और सम्पूर्ण भारत में धर्म सुधार की हलचल पचा दी। उनके इस अखण्ड प्रयत्न का फल यह हुआ कि जनता के मानस में धर्म सम्बन्धी जो भी छोटियाँ घर कर रही थीं वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में वैदिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

श्रीशंकराचार्य एक कर्मठ धर्मवीर थे। यद्यपि उनको भगन्दर का फोड़ा निकला हुआ था और वैद्यों की राय थी कि वे आराम से एक

स्थान पर रहें उसका उपचार करें अन्यथा यह फोड़ा उनके लिये घातक बन जायेगा। किन्तु श्रीशंकराचार्य आराम से पड़े रहने को तैयार न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरे शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मेरा कर्तव्य है, उसके अपूर्ण रहते हुए मैं किस प्रकार विश्राम ले सकता हूँ। वे निरन्तर उस कष्ट में भी व्यथित रहते रहे और अन्त में तीस वर्ष की अवस्था में जगद्गुरु की पदवी पाकर इस संसार से चले गये।

साइस असम्भव को सम्भव बना देता है

बौद्ध मत राजन्याय मिलने तथा समर्थ प्रचारकों के कारण भारत भूमि से उत्पन्न होकर देश-देशान्तरों में फैल गया। जापान, चीन और कम तक उसका सीधा विस्तार हो गया। इस विस्तार के साथ ही उसके कुछ अनुयायियों में सकीर्णता पनपने लगी। वे दूसरे मतों का सम्मान करना भूलकर उन पर अत्याचार करने लगे। प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ बद्रीनाथ के मुख्य मन्दिर की देव मूर्ति उन्होंने नारद कुण्ड में फेंक दी जिससे वहाँ वैराग्य से कर्त्तिक तक होने वाली मानवी पूजा ही बन्द हो गयी।

भगवान् बुद्ध ने भारतीय प्रचलित धर्म में उत्पन्न हुए गतिरौध व भूत मान्यताओं को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म चलाया था। उसे एक साधविक सुधार-बीमारी की स्थिति में ही जाने वाली दवा व पथ्य के रूप में ही गिना जाना चाहिये था किन्तु उसी को सब कुछ मानकर बौद्ध मतावलम्बी हिन्दू देवी-देवताओं को अपमानित करने लगे तब स्वामी शंकराचार्य ने दिग्विजय का महान् संकल्प लेकर उसे पूरा किया और वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया।

जब वे बद्रीनाथ धाम पहुँचे तो वहाँ के निवासियों ने वहाँ के देवालय की दुर्दशा का वर्णन किया। वे उसकी पुनर्प्राप्ति करने के लिए मन्दिर पर पहुँचे। पूजा आरम्भ करवाना चाहते थे, किन्तु मूर्ति के अभाव में कुछ हो नहीं पा रहा था। वहाँ के मन्दिर के पुजारी तथा सम्बन्धित विद्वज्जन नयी मूर्ति बनवाने का विचार कर रहे थे।

इस पर उन्होंने पूछा—“पहले की मूर्ति कहाँ है?”

“उसे तो बौद्धों ने नारद कुण्ड में फेंक दिया है।”

“तो उसे ही क्यों न बिकला जाय?”

स्वामी जी के इस कथन पर सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। एकत्रित शताधिक मनुष्यों के चेहरों पर ‘यह असम्भव है’ का भाव तैर आया। स्वामी शंकराचार्य ने पूछा—“कोई देवमूर्ति को निकालने के लिए तैयार है।”

इतने गहरे कुण्ड से मूर्ति निकालने का प्रयास करना प्राणों से खेलना था। अतः कोई तैयार नहीं हुआ। सबको इस प्रकार पस्त देख वे स्वयं अपना उत्तरीय फेंककर कुण्ड में जा कूदे। लोगों के मुँह से दीर्घ निःश्वास निकल गया। यह संन्यासी या तो अपने प्राण गँवावेगा या अपने बचन।

बड़ी देर बाद वे खाली हाथ बाहर निकले। कुछ देर साँस लेने के बाद फिर कूदे। लोगों ने मन्त्र किया पर वे पाने नहीं। दूसरी बार भी वे खाली हाथ बाहर आये। तीसरे व अन्तिम प्रयास में जब वे ऊपर आये तो मूर्ति उनके हाथ में थी।

विग्रह का एक पाँव खण्डित था उसे जोड़कर पुनः उसकी प्रतिष्ठा की गयी। पण्डितों ने खण्डित विग्रह की स्थापना का विरोध किया पर शंकराचार्य के तर्कों व प्रमाणों के आगे उन्हें निस्तर होना पड़ा।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने श्रमों की कड़ी लगा बड़ीनाथ के विग्रह को नारद कुण्ड से निकाल कर यह प्रमाणित कर दिया कि वे पाण्डित्य और धर्म ज्ञान में ही शीर्षस्थ नहीं है वरन् उन सात्वत सिद्धान्तों पर दृढ़निष्ठ रखते हुए उन्हें जीवन में उतार कर दिख भी सकते हैं। यह अध्यात्म ज्ञान की ही शक्ति थी कि जिसके द्वारा उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनका यह शौर्य व साहस ही उनके दिग्विजय का आधार बना था। एक अत्यल्प युवक द्वारा इस महत् कर्म को सम्पादित कर जाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। उनके जीवन के साथ ऐसी कई सत्य घटनाएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें उन्होंने मृत्यु और जीवन को सपनाव से स्वीकार करने की तत्परता दिखायी थी।

स्वामी जी के इस साहस को गाथा आज भी असंभव को सम्भव कर दिखाने को हमें सन्साहसियों के हृदय में उत्पन्न करती रहती हैं। इसी धारण चिह्नों पर चलकर सामान्य मनुष्य महामानव बना करते हैं।

धर्मरक्षार्थ जीवन होमने वाले— श्री कुमारिल भट्ट

जात उस समय की है, जब बौद्ध धर्म सारे भारतवर्ष में तथा अन्य देश-देशान्तर्गतों में भी अपने पूरे वेग के साथ फैल चुका था। और वैदिक मान्यताएँ पंगु हुई पड़ी थीं। मृत प्रायः वैदिक धर्म का पुनरुद्धार आवश्यक ही नहीं—अनिवार्य हो गया था। बौद्ध धर्म के शून्यवाद की नास्तिक मान्यताएँ अधिकांश जनता को नास्तिक बनाती चली जा रही थीं।

ऐसी संघर्षमय परिस्थितियों में श्री कुमारिल भट्ट का अविर्भाव हुआ। वे वैदिक धर्म के प्रकण्ठ पण्डित तथा पूर्णतः अनुयायी थे। उन्होंने वेदों, शास्त्रों तथा उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था। उनका विश्वास था कि वैदिक तथ्य ही मनुष्य जीवन को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु जनता के सामने अपनी बात कहने तथा उसे मनवाने से पूर्व यह आवश्यक था कि उस प्रणाली को मिटाया जाय जो बौद्ध धर्म की नास्तिक विचारधारा के रूप में जन-मानस पर छाया हुआ था। उन्होंने प्रतिज्ञा की, कि—वाहे जो कठिनाई मेरा मार्ग अवरुद्ध करे—मैं वैदिक मन्त्र्यताओं का प्रचार तथा प्रसार करने में कुछ भी उठा न रखूँगा।

मार्ग की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि बौद्ध मतानुयायियों से शास्त्रार्थ करने से पूर्व बौद्ध धर्म का गहरा अध्ययन स्वयं को होना भी आवश्यक था। इसके लिये वे तपश्शिला गये और पूरे पाँच वर्ष तक बौद्ध धर्म का क्रमबद्ध तथा विशद अध्ययन किया। जब शिक्षा पूर्ण हो गई तो चलने का अवसर आया। उस समय की प्रथा के अनुसार

बौद्ध विश्वविद्यालय के स्नातकों को यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि—“मैं आजीवन बौद्ध धर्म का प्रचार तथा प्रसार करूँगा तथा धर्म के प्रति अटक्का रखूँगा।”

समस्या बड़ी ही गम्भीर तथा उलझनमय थी। करना तो था उन्हें वैदिक धर्म का प्रचार। बौद्ध धर्म का अध्ययन तो उसकी ही जड़ें खटने के लिए किया था। दृढ़ प्रतिज्ञा का पतलब था गुरु के प्रति विश्वासघात तथा वचन भंग।

किन्तु इस मानसिक संघर्ष के बीच भी उन्होंने अपना विवेक खोया नहीं और क्या करना चाहिए यह निश्चित कर लिया। आपत्ति धर्म के रूप में उन्होंने प्रतिज्ञा ली और बौद्ध धर्म का अपार ज्ञान लेकर यहाँ से चल दिये। लौटकर उन्होंने वैदिक धर्म का धुँआधार प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। जन-जन तक वेदों का दिव्य सन्देश पहुँचाया। फिर जहाँ भी विरोध की परिस्थिति उत्पन्न हुई वहाँ पर उन्होंने बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया। अपने गहन अध्ययन के आधार पर चुन-चुनकर एक-एक धान्त बौद्ध मान्यता को वैदिक तथ्यों द्वारा काटा। बौद्ध मतानुयायियों को खुला अभ्यन्त्रण दिया। शास्त्रार्थ के लिये और बड़े से बड़े विद्वानों को अपने अगाध ज्ञान तथा विशद अध्ययन के आधार पर धर्म-सम्बन्धी विश्लेषणों तथा वाद-विकारों में घराशाही किया। दिग्भ्रमित जनता को नया मार्ग, नया प्रकाश तथा नई प्रेरणाएँ दीं। समस्त विज्ञ तथा प्रज्ञ समाज में यह साबित कर दिया कि वैदिक धर्म ही मनुष्य जीवन के कल्याण का सही मार्ग है। बौद्ध धर्म के खण्डन तथा वैदिक धर्म के प्रचार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया।

और जब उन्हें ये विश्वास हो गया कि गिरती दीवार धम गई है वैदिक मान्यताओं के लड़खड़ाते पैर जम गये हैं—तब उन्हें कुछ सन्तोष हुआ। अब वे यह अनुभव कर रहे थे कि जो बीज मैंने बो दिये हैं, वे फलते-फूलते रहेंगे।

अब उन्होंने अपनी ओर देखा। छुटी प्रतिज्ञा करने का क्षोभ उनके हृदय को निरंतर कबोड़ता रहा था। महान् व्यक्तित्वों की यही तो विशेषता होती है कि जरा-सा भी अनीचित्व उन्हें सहन नहीं होता। निदान उन्होंने प्रावर्चित करने का निश्चय किया। शास्त्रीय विधान के अनुसार गुरु के प्रति विश्वासघात करने का प्रावर्चित था जीवित अग्नि में जल जाना और वह अग्नि भी धान के छिलकों की जो लौ उठाकर जल नहीं जल जाती केवल सुलगती रहती है।

इस प्रावर्चित के हृदयस्पर्शी दृश्य को देखने देश के बड़े बड़े विद्वान् आये थे। उनमें आदि शंकराचार्य भी थे। उन्होंने समझाया भी कि—“आपको तो लोकहित के लिए वैसा करना पड़ा। अपने स्वार्थ के लिए तो नहीं किया। अतः इस प्रकार का प्रयत्न प्रायश्चित्त मत् कीजिये।”

इस पर श्री कुमारिल भट्ट ने जो उत्तर मंद मुस्कन के साथ दिया वह उनकी महान्ता को और भी कई गुना बढ़ा देता है। उन्होंने कहा कि—“अच्छा काम केवल अच्छे रास्ते से ही किया जाना चाहिए तभी उसका प्रभाव लोगों पर अच्छा पड़ता है। जाना कि मैंने आपत्ति धर्म के रूप में ही ऐसे किया है, लेकिन इस प्रकार की परम्परा नहीं

चलाना चाहता। कुमार्ग पर चलकर श्रेष्ठ कर्म करने की परम्परा गलत है। हो सकता है, इस समय की मेरी स्थिति की उलटान को न समझ कर कोई केवल ऊपरी बात को ही अनुकरण करने लग जाय। यदि ऐसा हुआ तो धर्म और सदाचार नष्ट हो जाएगा। और तब— इस प्राप्त हुए लाभ का कोई मूल्य ही न रह जायेगा। अतः मेरा प्रार्थनार्थ करना ही उचित है।’

और उसके पश्चात् उस महान् अन्त्य के लिए दिव्य चिन्ता सजाई गई। वे उसमें सहर्ष बैठ गये और आग लगा दी गई। धीरे-धीरे सुलग-सुलग कर— पता नहीं कितनी पीड़ा के साथ, कितनी वेदनाओं के पर्व हटाकर निकले होंगे वे प्राण। और उस दुःख को सहते हुए आने वाली सन्तति के लिए उनके मन में, पता नही क्या-क्या भाव आये होंगे। निश्चय ही एक बात तो आई होगी कि— ‘हे मेरे देशवासियो! यदि कभी मेरे जीवन उद्देश्य अथवा जीवन-क्रम के प्रति तुम्हारे मन में किञ्चित् भी सहानुभूति अथवा सम्बन्धना जागे— तो अपने इस प्राणप्रिय वैदिक धर्म का सम्बर्द्धन तथा पोषण करके हो मेरे प्रति अपनी ममता का प्रदर्शन करना।’

वह देह जलकर भस्म हो गई उस प्रायश्चित्त की पोषण अग्नि में। लेकिन उनका आदर्श सदा अमर रहेगा। धर्म की वेदो पर किया गया उनका वह बलिदान सदा हमें प्रेरणा-प्रकाश तथा उत्साह देता रहेगा।

सेवा योगी— स्वामी रामकृष्ण परमहंस

श्री रामकृष्ण परमहंस की गणना अवतारी पुरुषों में की जाती है। कोई बहुत बड़े अस-शस्त्र लेकर वा अलौकिकताओं तथा चमत्कारों के साथ जन्म लेना, अवतार लेना लोगों की भ्रम बुद्धि की चमत्कृत भले ही करना हो, उसमें वस्तुतः कुछ भी तात्पर्य नहीं है। सामान्य एवं साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपने महान् कार्यों द्वारा अवतारी पुरुष बन सकता है। चमत्कार की शक्ति किसी के पास हो भी तो उससे किसी कार्य का सम्पादन करना उतना महान् नहीं है जितना कि परिस्थितियों, आकस्मिकताओं और प्रतिकूलताओं से लड़ते हुए किसी लोक-हितकारी कार्य का सम्पादन करना। श्री रामकृष्ण परमहंस एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने कर्तव्य की महानता से ही अवतार पद प्राप्त किया था।

विख्यात है कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने केवल छह वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त कर ली थी। सुनने में यह बात निःसन्देह विलक्षण लगती है और सहसा यह भाव मन में आता है कि छह वर्ष के अर्धाध बालक के हृदय में भगवदानुभूति का कारण केवल मात्र भगवान् की कृपा ही हो सकती है। नहीं तो छह वर्ष का एक बालक जिससे कि एक साधारण बात समझने की आज्ञा नहीं की जा सकती भगवदानुभूति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। छह वर्ष का बालक उक्त अलौकिक उपलब्धि के लिए कौन-सी ऐसी बड़ी साधना कर सकता है?

निःसन्देह किसी भी बड़ी उपलब्धि में भगवत् कृपा एक प्रधान हेतु होती है किन्तु इस कृपा को प्राप्त करने में मनुष्य का पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण होता है। मनुष्य जीवन कोई पहली और अन्तिम उपलब्धि नहीं होती। वह जन्म-जन्मान्तरों की एक शृङ्खला होती है। इसी शृङ्खला के अन्तर्गत मनुष्योत्तर योनियाँ भी आती हैं। अनेक अपने कर्मानुसार अन्य योनियों में भटकते फिरते हैं और बहुत से अपने सुकर्मों के फलस्वरूप बार-बार मनुष्यता का अवसर पाते हैं।

जन्म-जन्मान्तरों में मनुष्य जिस अनुपात से अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्मा को परिष्कार करता आता है उसी अनुपात से वह आगामी जीवन में बुद्धि, विद्या, विवेक, श्रद्धा और भक्ति की अनुभूति प्राप्त करता है। श्री रामकृष्ण परमहंस अवश्य ही पूर्व जन्म नहीं बल्कि जन्म-जन्मों में मनुष्य ही रहे थे और निरन्तर अपनी आत्मा के परिष्कार का प्रयत्न करते रहे। वह उनके पूर्व जन्म के सुकर्मों का ही फल था कि उन्होंने छः वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त करली। यही कारण है कि भारतीय ऋषि मुनियों ने मनुष्य जीवन को एक दुर्लभ अवसर कहा है और निर्देश किया है कि मनुष्य को अपने जीवन का सोमान्त सदुपयोग करके त्याग और तपस्या द्वारा भगवान् का साक्षात्कार कर लेना चाहिये और यदि वह कर्म न्यूनता के कारण यदि किसी प्रकार प्रभु का साक्षात्कार नहीं भी कर पाता तो अवश्य ही पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेकर या तो साक्षात्कार प्राप्त करेगा अथवा उस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ावेगा। अस्तु, मनुष्य को सावधानतापूर्वक साक्षात्कार होगा या नहीं होगा, वह तर्कवितर्क त्याग कर, मनुष्य जीवन का सदुपयोग कर, अगले जीवन में साक्षात्कार की आशा पर पूर्ण प्रयत्न रत रहना चाहिए। इसमें प्रमाद करने वाले ही आगामी जीवन की सारी सम्भावनायें छोकर चौरासी के चक्कर में घुमते हैं।

अपने पूर्व पुरुषार्थ के फलस्वरूप जब श्री रामकृष्ण परमहंस ने अल्प आयु में ही भगवान् की भक्ति प्राप्त कर ली तो वे उसी दिन से उसका साक्षात्कार करने के लिये साधना करने लगे। साधना के रूप में उन्होंने उपासना का मार्ग अपनाया। स्वयं अपनी विधि एवं बुद्धि से की हुई उपासना जब कोई उत्साहवर्द्धक फल लाते दिखलाई न दी तब उन्होंने क्रम से भारतीय ब्रह्मचारी और जगन् वेदान्ती लीलापुरी से सगुण स्मृति तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश लिया। अनन्तर उन्होंने इच्छाप तथा ईसाई उपासना पद्धतियों का भी प्रयोग किया, किन्तु पाया कि उन्हें इन उपासनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अन्त में वे अपने स्वयं के चिन्तन और ध्यान के आधार पर नर-नारायण की उपासना के निष्कर्ष पर पहुँचे।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की उज्ज्वल एवं उन्नत आत्मा ने जिस दिन मनुष्य सेवा के रूप में परमात्मा की सेवा स्वीकार की उसी दिन से उन्होंने अपने में एक स्थायी सुख-शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव किया। भगवत् प्राप्ति का अर्थाथ तपस्व पाकर उन्होंने सारी उपासना पद्धतियों को छोड़ दिया और नर-नारायण की सेवा में लग गये।

रोगियों की परिचर्या, अपंगों की सेवा और निर्धनों की सहायता करना उनका विशेष कार्यक्रम बन गया। जहाँ भी वे किसी रोगी को

कराहते देखते अपने हाथों से उसकी परिचर्या करते। अपंगों एवं विकलांगों के पास जाकर उनकी सहायता करते, दुःखी और दीन जनो को अपनी सुध-सिक्त सहायभूति से सज्जित करते। साधारण रोगियों से लेकर क्षय एवं कुष्ठ रोगियों तक की सेवा-सुख करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। दीन-दुःखियों को हृदय से लगाने में उन्हें एक स्वर्गीय सुख-ज्ञान का अनुभव होता था। दरिद्रों को भोजन कराना और उनके साथ बैठकर प्रेमपूर्वक बातें करने में वे जिस आनन्द का अनुभव किया करते थे वैसा आनन्द उन्होंने अपनी एकान्तिक साधना में कभी नहीं पाया था।

एक तो अध्यात्म साधना से निर्विकार एवं निर्मल हृदय दूसरे दीन-दरिद्रों तथा आकुल समाकुलों की सेवा—फिर क्यों न उनको एक ऐसी कारुणिक अनुभूति का स्तम्भ होता जो युग-युग की साधना के बाद पाये आत्मानन्द से किसी दशा में कम नहीं थी। दीन-दुःखियों के साथ बैठकर सच्ची सहायभूति से उनका दुःख बंटाने में जो आनन्द है उसका अनुभव वे भक्तजन ही कर सकते हैं जिनका हृदय पर-पीड़ा से कगार हो उठता है। जिसने लोभ, मोह, काम, क्रोध और अहंकार के शत्रुओं को परास्त कर लिये उसका हृदय अवश्य ही विश्व-प्रेम से भरकर धन्य हो उठेगा। जो सुख चाहता है शान्ति की कामना रखता है वह निःसार साधनाओं को छोड़कर स्वाधीन रामकृष्ण परमहंस की तरह हो जाये और दीन-दुःखियों की सेवा करता हुआ उनकी कगार तथा करण भूति में परमात्मा की झलकी प्राप्ति करे। जिस आनन्द की प्यास हो वह दुःखियों के पास जाये और अनुभव करे कि दूसरे का दुःख बंटाने पर हृदय में किस दिव्य आनन्द का उद्रेक होता है ?

स्वामी रामकृष्ण ने न केवल भक्ति पूर्ण उपासना ही की, प्रत्युत आत्म शान्ति तथा अन्य चमत्कारिक सिद्धियों के लिए तान्त्रिक साधना भी की। इस तान्त्रिक साधना में सिद्धियाँ उन्हें प्राप्ति हुईं वे नर-नारायण की सेवा में प्राप्ति सुख की तुलना में बड़ी ही तुच्छ तथा हेय थीं। उनमें उतना ही अन्तर था जितना एक स्लेपु धनवान और आत्म तुष्ट योगी में हो सकता है। इस निःसरता का अनुभव करके उन्होंने एण के समान तुच्छ तान्त्रिक साधना को त्याग कर जन-सेवा की महान् गुणमयी साधना को अपना लिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस निःसन्देह एक दिव्यदर्शी सिद्ध पुरुष थे और पञ्चभूत त्यागने के बाद उन्होंने मोक्ष पद को पया होगा। उनकी साधना बड़ी और तप महान् था। उन्होंने जन-सेवा द्वारा भगवत् प्राप्ति का जो मार्ग निकाला वह कोई कल्पना अथवा मात्र धारणा नहीं थी बल्कि एक चिरन्तन वास्तविकता तथा त्रयकालिक सत्य था। नर-नारायण की सेवा का निर्देश स्वयं उनका नहीं था, वह अवश्य ही उनकी निर्विकार आत्मा में प्रतिबिम्बित परमात्मा का ही आदेश था, जिसका पालन उन्होंने स्वयं किया और वैसा ही करने का उपदेश अपने शिष्यों, भक्तों एवं अनुयायियों को भी दिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के निश्चल हृदय से निकली हुई पुकार रामकृष्ण मिशन, मठों एवं आश्रमों में मूर्ति भले हुई, और आज क्या देश और क्या विदेश सभी जगह सैकड़ों की संख्या में श्री रामकृष्ण

मिशन, सेवाश्रम तथा वेदान्त केन्द्र सहस्रों रोगियों को परिचर्या और दुःखियों को सहायता और पथ प्रान्तों को आलोक दे रहे हैं।

कहना न होगा कि वैयक्तिक साधना से मोक्ष पाकर गये हुये रामकृष्ण परमहंस से न संसार को कोई लाभ होता और न संसार उन्हें बानता। इसके विपरीत नर-नारायण की उपासना तथा भक्ति करने पर उन्हें मोक्ष तो मिला ही होगा, इसके अतिरिक्त संसार उनकी सेवाओं का लाभ पाकर उन्हें एक अवतारी पुरुष के रूप में याद करता रहेगा

श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश

जो हीन बुद्धि हैं, वे ही सिद्धाई चाहते हैं। बीमारों को अच्छा करना, मुकदमा जिताना देना, जल के ऊपर से चलना—ये सब (सिद्धाई) हैं। जो भगवान् के भक्त हैं, वे ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं चाहते हैं। जिनकी छोड़ी बहुत सिद्धाई हो, उनकी प्रतिष्ठा लोकमान्य होती है।

व्याकुल होकर भगवान् की प्रार्थना करो। विवेक के लिए प्रार्थना करो। ईश्वर ही सत्य है और सब अनित्य है। इसी का नाम विवेक है। जल-छादन (जल छानने के महीन कपड़े) से जल छान लेना होता है। मैला-कुछ-करकट एक तरफ रहता है और अच्छा जल दूसरी तरफ पड़ता है। तुम उनको (ईश्वर को) जान कर संसार को छोड़ो इसी का नाम विद्या का संसार है।

नाना मत हैं। मत का पन्थ अर्थात् जितने मत हैं उतने ही पन्थ हैं। किन्तु सभी मानते हैं कि—मेरा मत ही ठीक है—मेरी ही पड़ी ठीक चल रही है।

सत्य कथ—सत्य बोलना—कल्लि की तपस्या है। कल्लियुग में अन्य तपस्या कठिन है। सत्य मार्ग पर रहने से भगवान् पाया जाता है।

अवतार का अवतार के अंश को ईश्वर कोटि कहते हैं और साधारण लोगों को जीव या जीव-कोटि। जो जीव कोटि के हैं, वे साधनाएँ कर ईश्वर का लाभ कर सकते हैं। वे (निर्विकल्प) समाधि से फिर लौटते नहीं हैं।

जो ईश्वर कोटि हैं, वे कान्हे राजा के बेटे हैं और मानो सात पञ्चित्त वाले मकान की चाबी उनके हाथ में है। वे सातों मंजिलों तक चढ़ सकते हैं, फिर इच्छानुसार उतर भी आ सकते हैं। जीव कोटि कान्हे छोटे कर्मचारी (नौकर) हैं, वे सात मंजिल के कुछ दूर तक पहुँच सकते हैं।

जनक ज्ञानी थे। साधनाएँ कर उन्होंने ज्ञान लाभ किया था। शुक्देव वे ज्ञान की मूर्ति। शुक्देव को साधनाएँ कर ज्ञान लाभ करना नहीं हुआ था। नरद में भी शुक्देव के जैसा ब्रह्मज्ञान था किन्तु वह भक्ति लेकर था। लोकशिक्षा के लिए प्रह्लाद कभी 'सोऽहं' भाव में रहते, फिर कभी दास भाव में और कभी सन्तान भाव में रहते थे। हनुमान की भी वैसी अवस्था थी।

भगवान् को लाभ करना हो तो संसार से नीत्र वैराग्य चाहिये जो कुछ ईश्वर के मार्ग के विरोधी मालूम हो, उसे तत्क्षण त्यागना चाहिये। पीछे होगा यह सोच का छोड़ रखना ठीक नहीं है। काम-संचन ईश्वर मार्ग के विरोधी है। उनसे मन हटा लेना चाहिये।

दीर्घसूत्री होने से परमार्थ का लाभ नहीं होगा। कोई एक अंगोछा लेकर स्नान करने को जा रहा था। उसकी औरत ने उससे कहा कि—तुम किसी भी काम के नहीं हो, उम्र बढ़ रही है, अब भी वह सब (व्यवहार) छोड़ नहीं सके। मुझको छोड़कर तुम एक दिन भी नहीं रह सकते। किन्तु देखो, वह रामदेव कैसा त्यागी है। पति ने कहा—क्यों उसने क्या किया? औरत ने कहा—उसकी सोलह औरत हैं। वह एक-एक करके उनको त्याग रहा है। तुम कभी त्याग कर नहीं सकोगे। पति ने कहा—“क्या वह एक-एक करके त्याग रहा है! ओरे पगली! वह कभी त्याग कर नहीं सकेगा। जो त्याग करता है वह क्या थोड़ा-थोड़ा करके त्याग करता है? औरत ने मुस्कराकर कहा—तो भी तुम से अच्छा है। पति ने कहा—पगली, तू नहीं समझती है त्याग करना उसका काम नहीं है। अर्थात् उसके कहने से त्याग नहीं होगा, मैं ही त्याग कर सकूँगा यह देख, मैं चल देता हूँ।”

इसी का नाम नील बैराग्य है। उस आदमी को ज्यों बैराग्य आ गया त्यों ही उसने त्याग किया। अंगोछा कन्धे में ही रहा कि—वह चल दिया। वह संसार का कुछ ठीक ठक नहीं कर पाया। पर की और एक बार पीछे लौट कर देखा भी नहीं।

जो त्याग करेगा उसके मनोबल चाहिये। लुटेरों का पक्ष! लूटने से पहले जैसे डाकू लोग कहते हैं, ऐ मारो! लूटो! काटो! अर्थात् पीछे क्या होगा, इसका ख्याल न कर खूब मनोबल के साथ आगे बढ़ना चाहिये।

तुम और क्या करोगे? उनके (ईश्वर के) प्रति प्रीति और प्रेम लाभ कर दिन बिताना है। श्रीकृष्ण के दर्शन से वरप्रेम पगली जैसी बनकर श्रीमती (पत्नी) के पास गई। श्रीमती ने उनका शोक देख कर आद्य शक्ति के रूप से उनको दर्शन दिया और उनसे कहा—‘माँ’ घर फिर क्या लूँ? तो इतना ही कहो कि—मैं तन, मन, बचन से कृष्ण की ही सेवा कर सकूँ, इन्हीं आँखों से उनके भक्तों का दर्शन हो। जहाँ-जहाँ उनकी लीलाएँ हों इन पैरों से वहीं जा सकूँ। इन हाथों से उनके ही प्रेमी भक्तों की सेवा हो। सब इन्द्रिय उन्हीं के दर्शन प्रवर्णादि में लगे।

इश्वर का (ईश्वरीय) आनन्द मिलने से उसको (वैषणिक) आनन्द अच्छा लगता है। ईश्वरीय आनन्द लाभ करने से सखार नमक का (शाक जैसा) निरस भान होता है। शाल मिलने से फिर वनला अच्छा नहीं लगता है।

जो ‘संसार के धर्म’ संसार में रह कर ही धर्मचरण करना ठीक है यह कहते हैं, वे यदि एक बार भगवान् का आनन्द पावें तो उनको फिर और कुछ अच्छा नहीं लगता। कभी के लिए आसक्ति कम होती जाती है। क्रमशः ज्यों ज्यों आनन्द बढ़ता जाता है त्यों-त्यों फिर कर्म भी कर नहीं सकते हैं। केवल उसी आनन्द को ढूँढ़ते फिरते हैं। ईश्वरीय आनन्द के पास फिर विषयानन्द और रमणानन्द तुच्छ हो जाते हैं, एक बार स्वरूपानन्द का स्वाद मिलने पर उसी आनन्द के लिए व्याकुल होकर फिरते हैं, तब संसार गृहस्थी रहे चाहे न रहे। उसके लिए कोई धरवाह नहीं रहती है।

संसारि लोग कहते हैं कि—दोनों तरफ रहेंगे! दो आने की शायन घेने से मनुष्य दोनों ओर ठीक रहना चाहते हैं। किन्तु अधिक शायन घेने से क्या फिर दोनों तरफ नजर रखी जा सकती है?

ईश्वरीय आनन्द मिलने से फिर कुछ सांसारिक कार्य अच्छा नहीं लगता है। तब काम-काज की बातें मानो हृदय में चोट ही लगती हैं। बाहरी बातें अच्छी नहीं लगती हैं। तब मनुष्य ईश्वर के लिए पगल होता है। रुपये-पैसे कुछ भी अच्छे नहीं लगते हैं।

ईश्वर लाभ के बाद कोई संसार है तो वह होता है—विद्या का संसार। उसमें कर्मिणी-कांचन का प्रभाव नहीं रहता है, उसमें रहते हैं, केवल प्रीति, धनत और भगवान्।

परमहंस रामकृष्ण देव की अमृतवाणी

परमहंस जो एक दिन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के घर पर उनसे मिलने गये। घंट होने पर कहा—“आज तो मैं सागर से आ मिला इतने दिन साई, सोता और अधिक से अधिक हुआ तो नदी देखी थी, पर अब सागर देख रहा हूँ।” विद्यासागर ने कहा—“तो इससे लाभ क्या हुआ, थोड़ा-सा खारा पानी मिल जायेगा।” परमहंस जी बोले “नहीं जी, खारा पानी क्यों? तुम तो अविद्या के नहीं विद्या के सागर हो, तुम खीर-समुद्र हो। तुम्हारा कर्म सात्विक कर्म है। यह सब सत्व का रजोगुण है। सत्वगुण से दया होती है। दया से जो कर्म किता जाता है वह राजसिक कर्म हो सकता है, पर फिर भी वह सत्वगुण से सम्बन्धित है, इसलिए उसमें कोई दोष नहीं बतला सकता। तुम विद्यादान, अन्नदान कर रहे हो यह भी अच्छा है। यह कर्म निष्काम भाव से करने से ईश्वर लाभ होगा।”

ब्रह्म की चर्चा चलने पर परमहंस जी ने कहा कि “आजकल केद, पुरुष, तंत्र बह्मदर्शन सब झूठे हो गये हैं। क्योंकि वे मुँह से पद्वे जाते हैं, मुँह से उच्चारित होते हैं, इसीसे उनको झूठा माना जावेगा। पर केवल एक वस्तु झूठी नहीं हुई है—वह वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म क्या है, यह बात आज तक कोई मुँह से बोल कर नहीं समझा सका है।”

“एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्म विद्या सीखने के लिये पिता ने उन दोनों को आश्वर्य को सौंप दिया। कई वर्ष बाद वे गुरु गृह से लौटे और घर आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। बड़े लड़के से उन्होंने पूछा—“बेटा तुमने तो सब कुछ पढ़ा है, अब यह बताओ कि ब्रह्म कैसा होता है?” बड़ा लड़का वेदों से बहुत से मन्त्रों की आयुति करता हुआ ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता धुप रहे। फिर उन्होंने छोटे लड़के से वही प्रश्न किया पर वह सिर झुकवये चुप रहा, मुँह से कोई बात न निकली। तब पिता ने प्रसन्न होकर कहा—“बेटा तुम्हीं ने कुछ समझा है, ब्रह्म क्या है—“यह मुँह से नहीं कहा जा सकता।”

“मनुष्य सोचता है कि हम ईश्वर को जान गये, एक चींटी चीनी के गोदाम में गई। एक टांग खाकर उसका पेट भर गया और दूसरा टांग मुँह में लेकर अपने घर को जाने लगी। जाते समय सोच रही थी कि अबकी बार समूचे गोदाम को ले आऊँगी? धुद्रजीव भी ब्रह्म

के बारे में इसी प्रकार की बातें सोचा करते हैं, वे नहीं जानते कि ब्रह्म वाणी और मन दोनों से परे है।

गीता का अर्थ क्या है ? जब चैतन्य देव कृष्ण में तीर्थ-प्रणम कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक आदमी गीता पढ़ रहा है। एक दूसरा आदमी थोड़ी दूर पर बैठे उसे सुन रहा है और सुनकर रो रहा है—आँखों से आँसू बह रहे हैं। चैतन्य देव ने पूछा—“क्या तुम यह सब समझ रहे हो ?” उसने कहा—“प्रभु ! इन श्लोकों का अर्थ तो मैं नहीं समझता हूँ।” चैतन्य ने पूछा—“तो फिर रोते क्यों हो ?” भक्त ने जवाब दिया—“मैं देख रहा हूँ कि अर्जुन का रथ है और उसके सामने भगवान् और अर्जुन खड़े हुए बात कर रहे हैं। बस यही देखकर मैं रो रहा हूँ।” इसलिये गीता केवल किताब से पढ़ी नहीं जानी, जब मन से आसक्ति दूर हो जाती है तभी उसका सच्चा आशय समझ में आता है।

“ब्रह्म ज्ञान की चर्चा उठने पर परमहंस जी ने कहा— पहले हृदय मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा करो। धारण, लेख्य आदि जी चाहे तो उसके बाद करना। खाली ‘ब्रह्म-ब्रह्म’ कहने से क्या लाभ यदि हृदय के भीतर विवेक-वैराग्य नहीं है।

“किसी गाँव में पणलोचन नाम का एक लड़का था। लोग उसे पटुआ कह कर पुकारते थे। उसी गाँव में एक जीर्ण मंदिर था, पर उसके भीतर इस समय देवता की कोई मूर्ति न थी। मंदिर की दीवारों पर पीपल और तरह-तरह के पेड़ पैदा हो गये थे। मंदिर के भीतर घमगादड़ अण्डा जमाये थे। पर्ज पर धूल और घमगादड़ों की विच्छा पड़ी रहती थी। मंदिर में कोई आत्म-जागृता न था।

“एक दिन संख्या के बाद लोगों ने मंदिर की तरफ से शंख की आवाज सुनी। मंदिर की तरफ से भौं-भौं शंख बज रहा था। गाँव वालों ने सोचा कि किसी ने मंदिर में देवता की मूर्ति पधरा ली होगी और संख्या के बाद आरती हो रही होगी। लड़के, बूढ़े, औरतें, मर्द सब दौड़ते हुए मंदिर की तरफ चले कि देवता के दर्शन करेंगे, आरती देखेंगे। उनमें से एक ने मंदिर का दरवाजा धीरे से खोला तो देखा कि पणलोचन एक तरफ खड़ा हुआ भौं-भौं शंख बजा रहा है। देवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, मंदिर में झाड़ू तक नहीं लगाया गया था। घमगादड़ों की विच्छा भी पड़ी हुई थी। तब उस मनुष्य ने विल्लाकर कहा—

“तेरे मंदिर में माघव कहाँ है, पटुआ तूने तो धूर्त ही में शंख फेंककर हुल्लाह मचा दिया।”

“इसी प्रकार यदि हृदय-मंदिर में माघव की प्रतिष्ठा करनी हो, यदि ईश्वर का लाभ करना चाहो, तो सिर्फ भौं-भौं शंख फेंकने से क्या होगा। पहले चित्त शुद्ध करना चाहिये। मन शुद्ध हुआ तो भगवान् उस पवित्र आसन पर स्वयं आ विराजेंगे।”

भक्तों ने पूछा कि हम ईश्वर को किस उपाय से देख सकते हैं ? परमहंस जी ने कहा कि “जब तुम उनके लिये व्यक्तुल होकर रोना सीख लोगे तो वे अपने आप मिल जायेंगे। जिस प्रकार कोई

स्त्री अपने छोटे बच्चे को खिलौनों से बहलाकर घर के काम-काज में लगी रहती है। पर जब बालक खिलौने फेंक कर जोर-जोर से रोने लगता है तो माँ रोटी बनाकर बन्द कर दौड़ आती है—बच्चे को गोद में उठा लेती है। उसी प्रकार भक्त जब ईश्वर को सच्चे हृदय से पुकारते हैं तो वे स्वयं उनके पास आ जाते हैं।”

दूसरे भक्त ने पूछा—“महासज्ज, ईश्वर के स्वरूप पर इतने भिन्न-भिन्न मत क्यों हैं। कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार। साकारवादियों में तो अनेकों रूपों की चर्चा सुनाई पड़ती है, यह कैसा गोरखधन्दा है ?”

परमहंस जी ने कहा—“जो भक्त जिस प्रकार देखता है वह वैसा ही समझता है। वास्तव में गोरखधन्दा कुछ भी नहीं है। यदि कोई ईश्वर को एक बार प्राप्त कर सके तो वे स्वयं समझा देते हैं। जब तुम किसी मुहल्ले में गये हो नहीं तो उसकी खबर कैसे जान सकते हो ? इस सम्बन्ध में एक दुष्टान्त है कि एक आदमी शौच के लिये जंगल में गया। उसने देखा कि पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर-सा कीड़ा बैठा है। लौट कर उसने अपने एक साथी से कहा—“देखो जी आज हमने अणुक पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर लाल रंग का कीड़ा देखा था।” दूसरे आदमी ने जवाब दिया कि “जब मैं शौच के लिये गया था तो मैंने भी उसे देखा था। पर उसका रंग लाल नहीं था बरन् हरा था।” तीसरे ने कहा—“उसे तो हमने भी देखा है, पर उसका रंग तो पीला है।” इसी प्रकार कुछ लोग और भी थे जिनमें से किसी ने कीड़े का रंग भूरा किसी ने बैंगनी किसी ने आसमानी बतलाया। इस पर सबके सब लड़ने लग गये। तब इसका फैसला करने को सब चितकर उस पेड़ के पास पहुँचे ! वहाँ एक आदमी बैठा था, पूछने पर उसने कहा—“मैं इसी पेड़ के नीचे रहता हूँ। इस कीड़े को मैं खूब पहचानता हूँ। तुमने जो कुछ कहा यह सब सत्य है। यह कभी लाल, कभी हरा, कभी पीला, कभी आसमानी न जाने कितने रंग बदलता है। यह बहुरूपिण है और कभी मैं देखता हूँ कि इसका कोई रंग ही नहीं है।”

“अशय यह कि जो मनुष्य सर्वदा ईश्वर चिन्तन करता है, वही जान सकता है कि उसका स्वरूप क्या है। वही यह भी प्रकार जानता है कि भगवान् तरह-तरह के रूपों में दर्शन देते हैं, अनेक भावों में देख पाते हैं, वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। अर्थात् ईश्वर को कोई किसी छस रंग या रूप में बांध नहीं सकता।

भावना सर्वोपरि है, विधि-विधान नहीं

कल जन्माष्टमी का उत्सव था। आज रामा-गोविन्द जी के मंदिर में नन्दोत्सव है। उत्तिशस्वर के काली मन्दिरों की सजावट आज देखने ही बनती है। भक्तजनों के झुंड के झुंड गोविन्द जी के दर्शनों के लिये आ रहे हैं। कीर्तन अपनी चरम सीमा पर है। भक्ति रस की धारा प्रवहित हो रही है।

दोपहर के योग के पश्चात् गोविन्द जी के विग्रह को शयन के लिये पीतरी प्रकोष्ठ में ले जाते समय पूजक शिव-नाथ का पाँव फिसल जाने से रंग में भंग हो गया। वह मूर्ति सहित फर्श पर जा गिरे जिससे मूर्ति का एक पाँव टूट गया। भक्ति रस की धारा मन्द पड़ गयी उसके

स्थान पर भय और आशंका के मेघ मँडराने लगे। मन्दिर में बड़ा कोलाहल मच उठा। अपने-अपने मन से सभी भावी अमंगल की सूचना दे रहे थे। सबके चेहरों पर भय की रेखाएँ खिच गयीं। निश्चय ही कोई सेवा अपराध हुआ है। उसका दण्ड अमंगल के रूप में सबको भोगना होगा।

रानी रासमणी ने सुना तो वह एक दम सिहर उठी। अन क्या होगा? किन्तु जो कुछ हो चुका था, उसे टाल सकने की सामर्थ्य किस में थी। अब क्या किया जाय, इसके लिये पण्डितों की सभा बुलायी गयी। पण्डित लोगों ने ग्रन्थ देखे, सोच-विचार किया और यह विधान दिया—भग्न विग्रह को गंगा में विसर्जित करके उसके स्थान पर नयी मूर्ति की स्थापना की जाय।

रानी रासमणी को पण्डितों का यह निष्ठुर विधान इत्ना नहीं किन्तु उसके हाथ की बात भी क्या थी। ब्राह्मणों की सम्मति को टालना उसके बस में कहाँ था। निदान नयी मूर्ति बनवाने का आदेश दे दिया गया। रानी ठहर हो गयी। भला इतनी श्रद्धा और प्रेम से किन गोविन्द जी को इतने दिन पूजा जाता रहा, उन्हें थोड़े-थोड़े बात पर जल में विसर्जित कर देने का कारण उसकी सत्ता में नहीं आया।

जामाता मधुरबाबू रानी की इस उदासी को त्राड़ गये। उन्होंने सम्मति दी—रानी माँ क्यों न इस विषय में छोटे भट्टाचार्य (स्वामी रामकृष्ण परमहंस) की राय भी जान ली जाय?

रानी स्वामी रामकृष्ण पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। उनकी अनूठी निष्ठा व भक्ति के कारण वे उनके द्वारा दिये जाने वाले निर्णय को स्वीकार करने की स्थिति में भी थीं। रानी ने अपने मन की जवाब रामकृष्ण से कह सुनायी। सुनकर उन्होंने रानी से प्रश्न किया—यदि आप के जामाताओं में से किसी एक का पाँव टूट जाता तो वह उनकी चिकित्सा करवातीं या उनके स्थान पर दूसरे को ले आतीं?

“मैं अपने जामाता की चिकित्सा कराती, उन्हें त्वाण कर दूसरा नहीं ले आती।”

“बस उसी प्रकार विग्रह के टूटे पैर को जोड़ कर उसकी सेवा-पूजा यथावत् होती रहे तो उसमें दोष ही क्या है।”

श्री रामकृष्ण परमहंस के इस सहज विधान को सुन कर रानी हर्षित हो उठीं। यद्यपि उनकी वह व्यवस्था ब्राह्मणों के मनेनुकूल नहीं थी। उन्होंने उसका विरोध भी किया पर अब रानी का धर्म संकट समाप्त हो चुका था। उसे स्वामी जी की बात ही पसन्द थी। उसने ब्राह्मणों के विरोध की चिन्ता नहीं की। स्वामी जी ने टूटे विग्रह के पाँव को ऐसा जोड़ दिया कि कुछ पता ही नहीं चलता। पूजा-सेवा उसी प्रकार चलती रही।

एक दिन किन्हीं जमींदार महाशय ने उनसे पूछा—मैंने सुना है आपके गोविन्द जी टूटे हैं। इस पर वे हंस कर बोले—“आप भी कैसी भोली बातें करते हैं जो अखण्ड मंडलाकार हैं, वे कहीं टूटे हो सकते हैं।”

भगवान् लोभ-मोह रहित हैं

रामकृष्ण परमहंस के शिष्य मधुरा बाबू ने एक मन्दिर बनवाया और उसमें विष्णु भगवान् की मूर्ति स्थापित करा दी गई। मूर्ति बढ़ी

लुभावनी थी। वस्त्राभूषण से साज-संवर की गई थी। कुछ ही दिन बीते होंगे कि चोर मूर्ति के कीमती आभूषणों को चुरा ले गये। प्रतिमा अब उतनी आकर्षक नहीं लगती थी। मधुरा बाबू उदास होकर बोले कि भगवान् आपके हाथ में गठ और चक्र दो-दो हथियार लगे रहे फिर भी चोर चोरी कर ले गये। इससे तो हम धनुष्य अच्छे। कुछ तो प्रतिशोध करते ही हैं। फस छोड़े रामकृष्ण भी यह वार्तालाप सुन रहे थे। वे बोल पड़े—“मधुरा बाबू! भगवान् को गहनों और जेवरों का तुम्हारी तरह स्नेह और मोह नहीं है और फिर उनके भण्डार में कभी किस बात की है जो रात भर जागने और तुच्छ गहनों की रखा-वाली करते।”

अहंकार का बीज

रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य इसी बात पर परस्पर उलझ पड़े कि उनमें से कौन बरिष्ठ है। विवाद तब न होने पर गुरुदेव के पास जाकर उन्होंने पूछा—“गुरुदेव! हम दोनों में से कौन बड़ा है?” बस इतनी-सी बात के लिये उलझ रहे थे तुम लोग—परमहंस ने कहा—‘तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो बहुत सरल है। जो दूसरे को बड़ा समझता है, वही बड़ा भी है और श्रेष्ठ भी। यह समाधान पाकर वे दोनों मन में बहुत सन्तुष्ट हुए। उस दिन से बड़ा बनने की लालक और अहंकार का बीज ही मन से पिट गया।

निराभिमानता की मूर्ति

स्वामी रामकृष्ण बगीचे में बैठे हुए ईश्वर चिन्तन में लीन थे। इतने ही में डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार उबर आये और उन्होंने स्वामी जी को बाग का फल्टी सम्झकर फूल तोड़ लाने को कहा। स्वामी जी मान-अपमान से परे निर्मल स्थिति में थे, उन्होंने तत्काल फूल तोड़ कर डॉक्टर साहब को दे दिए। दूसरे दिन वे डॉक्टर साहब स्वामी जी को देखने आये तब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उनकी निराभिमानता पर द्रवित हो गये।

वस्तुतः महान सन्त साधु व्यक्तियों की पहचान उनके अभिमान शून्य विनय युक्त स्वभाव से ही की जाती है।

निस्पृह माँ

रामकृष्ण परमहंस की माता एक बार कलकत्ता आई और कुछ समय स्नेहवश पुत्र के पास रहीं। दक्षिणेश्वर मन्दिर की स्वामिनी रासमणि ने उन्हें गरीब और सम्पन्नानास्नद समझ कर तरह-तरह के कीमती उपहार भेंट किए। वृद्धा ने उन सभी को अस्वीकार कर दिया और मान रखने के लिए एक इलायची भर स्वीकार की। उपस्थित लोगों ने कहा—“ऐसी निस्पृह माताएँ ही परमहंस जैसे पुत्र को जन्म दे सकती हैं।”

मुक्त एवं स्वतंत्र आत्माएँ

रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों के साथ टहलते हुये एक नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ मछुएँ जाल फेंक कर मछलियाँ पकड़ रहे

थे । एक मछुए के पास स्वामी जी खड़े हो गये और शिष्यों से कहा— तुम लोग ध्यानपूर्वक इस जाल में फँसी मछलियों की गतिविधि देखो

शिष्यों ने देखा कि कुछ मछलियाँ तो ऐसी हैं जो जाल में निश्चल पड़ी हैं । उन्होंने निकलने की कोई कोशिश ही नहीं की, कुछ मछलियाँ निकलने की कोशिश तो करती रहीं पर निकल नहीं पाई और कुछ जाल से मुक्त होकर पुनः जल में क्रीड़ा करने लगीं

परमहंस ने शिष्यों से कहा— जिस प्रकार मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं उसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं । एक श्रेणी ठनकी है जिनकी आत्मा ने बन्धन स्वीकार कर लिया है और इस बन्धन-जाल से निकलने की बात सोचते ही नहीं, दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की है जो वीरों की तरह प्रयत्न तो करते हैं पर मुक्ति से वंचित हो रहते हैं और तीसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है जो चरम प्रयत्न द्वारा आखिर मुक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं ।

परमहंस की बात समाप्त हुई एक शिष्य बोला “गुरुदेव ! एक चौथी श्रेणी भी है जिसके सम्बन्ध में आपने कुछ बताया ही नहीं ।”

“हाँ चौथी प्रकार की मछलियों की तरह ऐसी मछनू आत्माएँ भी होती हैं जो जाल के निकट ही नहीं आतीं फिर उनके फँसने का प्रयत्न ही नहीं उठाती ।”

पूर्ण समर्पण

श्री रामकृष्ण परमहंस शिष्यों को उपदेश दे रहे थे । वह समझा रहे थे कि जीवन में आये अवसरों को व्यक्ति साहस तथा ज्ञान की कमी के कारण खो देते हैं । अज्ञान के कारण उस अवसर का महत्व नहीं समझने पाते । समझकर भी उसके पूरे लाभों का ज्ञान न होने से उसमें अपने आपको पूरी शक्ति से लगा नहीं पाते । शिष्यों की समझ में यह बात ठीक ढंग से न आ सकी । तब श्रीरामकृष्ण देव बोले— “नरेन्द्र ! कल्पना कर तू एक मछली है । सम्पने एक कटोरे में अमृत भरा रखा है । तुझे यह पता है कि यह अमृत है, बतल उसमें एकदम कूद पड़ेगा कि किनारे बैठकर उसे स्पर्श करने का प्रयास करेगा ।”

उत्तर मिला— “किनारे बैठकर स्पर्श का प्रयास करूँगा । बीच में एकदम कूद पड़ने से अपने जीवन-अस्तित्व के लिए संकट उपस्थित हो सकता है । साधियों ने नरेन्द्र की विचारशीलता को सराहा । किन्तु परमहंस जी हँस पड़े । बोले— “पूछ ! जिसके स्पर्श से तू अमरता की कल्पना करता है, उसके बीच में कूदकर, उसमें स्नान करके, सरवोर होकर भी मृत्यु से भयभीत होता है ।”

“चाहे भौतिक उन्नति हो या आध्यात्मिक जब तक आत्मशक्ति का पूर्ण समर्पण नहीं होता सफलता नहीं मिलती” यह रहस्य शिष्यों ने उस दिन समझा ।

ध्यान की बात

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के समय दक्षिणेश्वर में श्री प्रताप हाजरा नाम के एक महाशय रहते थे । उन्होंने साधुओं जैसा जीवन अपना रखा था । वे कभी-कभी रामकृष्ण परमहंस के साथ कलकत्ता जाकर सत्संग का लाभ उठावा करते थे ।

एक बार वे स्वामी जी के साथ कलकत्ता जाकर जब लौटे तो अपना अंगोछा वहीं एक भक्त के घर भूल आये ।

स्वामी रामकृष्ण को जब यह पता चला तो उन्होंने हाजरा महाशय से कहा, “ऐसे भूलवकड़ स्वभाव के कारण तो तुम कभी-कभी भगवान् को भी भूल जाते होगे । जो नित्य प्रति के सांसारिक व्यवहार में सावधान नहीं रह सकता, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में सावधानी बरत सकता है, इसमें सन्देह है ।

हाजरा महाशय स्वामी जी के कथन का आशय न समझ कर सपमाई देते हुए बोले, “क्या बताऊँ महाशय ! भगवान् के भजन में लीन रहने से मुझे कुछ बाद ही नहीं रहता ।”

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने हाजरा महाशय को झूठी आत्म श्लाघा समझ ली । वे दुःखी होकर सोचने लगे साधु का नाम धरा कर इतनी आत्मप्रशंसा ! फिर प्रकट में बोले, “हाजरा तू धन्य है जो थोड़े से आप से ही इतना पहुँच गया कि सांसारिक विषयों की चट ही नहीं रहती । एक मैं ऐसा तुच्छ प्राणी हूँ जो दिन-रात भगवान् के चरणों में ही ध्यान दिखे रहता हूँ फिर भी आज तक न कभी अपना बटुआ कभी भूला हूँ और न अंगोछा ।

अब हाजरा महाशय को अपनी भूल का ध्यान हुआ । वे स्वामी जी के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगे ।

मंत्र-शक्ति का प्रभाव

रामकृष्ण परमहंस से किसी जिज्ञासु ने पूछा— “क्या मंत्र जप सबके लिए समान फलदायक होते हैं ?” उन्होंने उत्तर दिया— नहीं ऐसा क्यों ? के उत्तर में परमहंस जी ने जिज्ञासु को एक कथा सुनाई

एक राजा था । उसका मन्त्री नित्य जप करता । राजा ने जप का फल पूछा तो उसने कहा— वह सबके लिए समान नहीं होता । इस पर राजा को असमंजस हुआ और वह कारण बताने का आग्रह करने लगा । मन्त्री बहुत दिन तक खो टालता रहा, पर एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर समाधान का देन का ही निश्चय किया ।

मन्त्री और राजा एकत्र चर्चा कर रहे थे । एक छोटा बालक और वहाँ खड़ा था । मन्त्री ने बच्चे से कहा— “राजा साहब के मुँह पर पाँच चपत जगाओ, मन्त्री की बात पर बच्चे ने ध्यान नहीं दिया और जैसे का तैसा ही खड़ा रहा । इस अपमान पर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने बच्चे को हुक्म दिया कि मन्त्री के मुँह पर जोर से पाँच चोट लगाओ । बच्चा तुरन्त बढ़ा और उसने तड़ितद चोटें लगा दीं ।

मन्त्री ने निश्चिन्ततापूर्वक कहा— राजन् ! मन्त्र शक्ति इस बच्चे की तरह है जिसे इस बात का विवेक रहता है कि किस का कहना मानना चाहिए, किस का नहीं। किस पर अनुग्रह करना चाहिए, किस पर नहीं।

उपयुक्त वस्तु ही माँ को अर्पित

रामकृष्ण परमहंस को दक्षिणेश्वर में पुजारी का स्थान मिल गया। ईश्वर भक्त को ईश्वर की पूजा-उपासना के अतिरिक्त और चाह ही क्या होती है ? गुजारे के लिये बीस रुपये बाँचे गये जो पर्याप्त थे।

पन्द्रह दिन तो सब बीने जब मन्दिर कमठों के सम्मुख उनकी पेशी हो गई और कैफियत देने के लिये कहा गया। एक के बाद एक कितनी ही शिकायतें उनके विरुद्ध पहुँच चुकी थीं। किसी ने कहा कि वह पुजारी कैसा ? स्वयं बख्कर भगवान् का भोग लगाता है, फूल सूँघकर भगवान् के चरणों में अर्पित करता है। पूजा के इस ढंग पर कमेटी के सदस्यों को भी आश्चर्य हुआ अतः उन्होंने एक दिन बुलाकर पूछ ही लिया क्यों रामकृष्ण इसमें कहीं तक सत्यता है कि तुम फूल सूँघकर देवता पर चढ़ाते हो ?

“मैं बिना सूँघे भगवान् पर फूल क्यों चढ़ाऊँ ? पहले देख लेता हूँ कि उस फूल में कुछ सुगन्ध भी आ रही है या नहीं।” रामकृष्ण ने सफाई देते हुए कहा फिर तो दूसरी शिकायत भी सत्य होगी कि भगवान् को भोग लगाने से पहले अपना भोग लगा लेते हो वह दूसरा प्रश्न था।

“मैं अपना भोग तो नहीं लगाता।” पर मुझे अपनी माँ की याद है कि वे भी ऐसा ही करती थीं जब कोई चीज बनती तो चखकर देख लेती थीं और तब मुझे खाने को देती थीं। मैं भी चखकर देखता हूँ पता नहीं जो चीज किसी भक्त ने भोग के लिए लाकर रखी है या मैंने ही बनाई है वह भगवान् के देने योग्य है भी या नहीं। रामकृष्ण परमहंस का सीधा उत्तर था

असन्तुलन की भरपायी

रामकृष्ण परमहंस के गले में कैसर हो गया और वे उसका भारी कह सहते हुए मरणासन्न स्थिति में जा पहुँचे।

उनके एक भक्त ने कहा— आप भक्तानी से प्रार्थना क्यों नहीं करते जिससे वे आपको कह दूर कर दें। ऊपर में उन्होंने कहा कि एक तो मैंने जीवन भर देना ही देना जाना है। माता को भी समर्पण किया। माँगने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। अब चलते-चलते दानियों में से नाम कटाकर याचकों में गणना क्यों कराऊँ ? आत्म सम्मान क्यों गंवाऊँ ?

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि दु खियों को अपना पुण्य फल देकर उनके कह घटाता रहा जितना पुण्य जमा था उससे अधिक खर्च कर डाला। उस घाटे की भरपाई के लिए वाचकों कत्ता कह

थार मुझे ही सहन होगा। विधि विधान मूल्य थाकर ही किसी को कुछ देता है। पहले ही किसी की जेब से उसे चुकाया जाय। कैसर कह सहकर उसी असन्तुलन की भरपाई कर रहा हूँ। जो पीड़ितों को कह मुक्त करने के लिए पेशगी खर्च किया था।

नारीमात्र में मातृ दर्शन

सुधीर बोस रामकृष्ण परमहंस के मुँहलगे शिष्य थे। वे बिना संकोच के कई बार ऐसी बातें कह बैठते थे जिससे पीछे नीची आँखें करने पड़ें। एक दिन उन्होंने परमहंस जी से पूछा— “जब आप विवाहित हो हैं तो पत्नी के साथ दम्पत्य जीवन का निर्वाह क्यों नहीं करते ?

परमहंस गम्भीर हो गये बोले— “मैं नारी मात्र में मातृशक्ति का दर्शन करता हूँ।” सारा माता भी उसी समुदाय में से एक हैं इसलिए मुझे माता तुल्य प्रतीत होती हैं। माता के साथ दम्पति जीवन कैसे बने। सुधीर ने आँखें नीची कर लीं। परमहंस की महानता का पहली बार अनुभव हुआ।

ईश्वर की प्रतीति

केशव चन्द्र रामकृष्ण परमहंस के बड़े तार्किक शिष्य माने जाते हैं। रामकृष्ण जितने सीधे थे, केशव चन्द्र उतने ही तेज और अक्सर नाम्न के तार्किक। वे रामकृष्ण से भी तर्क करते रहते और अधिकांश समय यही सिद्ध करने की कोशिश करते कि “कहाँ है ईश्वर ? किसने देखा है ?” एक दिन तर्क इतनी जोरों से चल पड़ा कि शिष्यों की भीड़ एकट्ठी हो गई।

रामकृष्ण की प्रत्येक बात को केशव चन्द्र काट देते थे। किन्तु देखते ही देखते बात उलटी हो गई। केशव चन्द्र बिल्कुल नास्तिकों जैसे वक्तव्य देने लगे।

रामकृष्ण उठे और नाचने लगे। किन्तु केशव चन्द्र को बेचैनी होने लगी कि अब क्या करें ? यदि रामकृष्ण प्रतिपाद करें तो वाद विवाद आगे बढ़े। किन्तु वे तो स्मर कर केशव चन्द्र की बातें सुनकर नाचने लगते। धीरे-धीरे केशव चन्द्र के सभी तर्क धुक गये। अब केशव चन्द्र ने रामकृष्ण से पूछा कि ? तो फिर ! आप भी मानते हैं और मेरी बातों से सहमत हैं कि “ईश्वर नहीं है।”

रामकृष्ण ने कहा कि “तुम्हें न देखा होता तो शायद मान भी लेता किन्तु तुम्हारी जैसी विलक्षण प्रतिभा जहाँ पैदा होती है तो बिना ईश्वर के कैसे होगी ? तुम्हें देखकर यह प्रमाण और पक्का हो गया कि ईश्वर जरूर है। ईश्वर निराकार है। वह तो प्रतिभा प्रतिभासम्पन्न प्रज्ञा के रूप में ही हो सकता है।”

कहते हैं, केशव चन्द्र उस दिन तो भीड़ में से उठ कर चले गये किन्तु फिर लौटे तो पक्के नास्तिक होकर और रामकृष्ण के ही होकर रहे।

जगत जननी का ही सर्वत्र दर्शन

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस तब २४-२५ वर्षीय नव-युवक थे। यद्यपि उनके त्रिव्य-कलाप सिद्ध पुरुषों के से थे तथा माता शारदा मणि के साथ रहते हुए भी वे ब्रह्मचारी ही थे— तथापि लोगों को उनके चरित्र की परीक्षा लेने की बात सूझी।

रानी एसमणि के जमाता श्री यशुराज जी रामकृष्ण देव को लेकर मल्लुआ बाजार की एक सुन्दर वेश्या के यहाँ गये। वहाँ जाकर उन्हें तो एक ऐसे कमरे में बैठा दिया जहाँ आठ-दस नव-युवकियाँ अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं आवेशों के साथ उपस्थित थीं। स्वामी जी को पहुँचाकर वे स्वयं यहाँ से चले गये— तब वहीं जाकर परमहंस देव की समझ में सारी बात आई। सुन्दरियाँ अपने स्नान-प्रायश्चित्त तथा अनेक मुद्राओं द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगीं।

बचाव का कोई उपाय न देख, परमहंस देव ने 'मों' 'मों' की रट लगा दी। और "आनन्दमय्ये यों" कहकर सभी को प्रणाम करने लगे। उनके नेत्रों से प्रेमामृत उमड़ने लगे और वे शीघ्र ही सम्पत्ति अवस्था में पहुँच गये।

सभी नर्तकियाँ यह देखकर चकरा गईं और अपना ओरस झूल गई। थोड़ी देर बाद वे प्रकृतिस्थ हुए। सामने यशुराज बाबू लज्जामय खड़े थे। सिर उठाये भी ऊपर न ठठकाया।

सत्संग की शक्ति

रामकृष्ण परमहंस की धर्म-पत्नी शारदामणि महिलाओं का अलग सत्संग चलाती थीं। उनमें अधिकांश धार्मिक प्रकृति की और सम्मानित घरों की महिलाएँ आती थीं।

एक महिला सत्संग में ऐसी भी आने लगी जो वेश्या के रूप में कुख्यात थी। इस प्रकार अन्य महिलाएँ नाक घौं सिकोड़ने लगीं और उसे न आने देने के लिए माताजी से आग्रह करने लगीं।

इस पर माताजी ने कहा— सत्संग गंगा है। वह मछली, भेड़कों के रहने पर भी अशुद्ध नहीं होती। तनिक-सी मलीनता से ही जो अशुद्ध हो जाय वह गंगा कैसी? तुम लोग सत्संग की शक्ति पहचानो और अपने को गंगा के समतुल्य मानो।

यदि पात्र सोने का हो तो

तोतापुरी जी ने अपने चमकते हुए पीतल के लोटे की तरफ संकेत करते हुए कहा "देखिए, यह लोटा कैसा चमचमा रहा है। यदि इसे रोज माँजा न जाय तो इस पर मैल चढ़ जायेगा। यही दशा मन की भी है। यदि ध्यान धारण आदि द्वारा मन को निरन्तर स्वच्छ न किया जाय, तो उस पर भी मैल चढ़ जायेगा और उसकी दमक का स्थान मलिनता से लेगी।"

परमहंस देव ने हँसकर कहा "किन्तु महाराज! यदि यह लोटा सोने का हो— तब तो मलिन होने की कोई सम्भावना नहीं।" तोतापुरी समझ गये, परमहंस का मन वास्तव में स्वर्ण कति जैसा ही देदीप्यमान तथा अपरिवर्तनशील है।

०००

धार्मिक नवचेतना के उन्मायक प्रख्यात संत-महात्मा

सन्त रैदास की साधना

‘सन्त काल’ उस समय को कहा जाता है जिन दिनों कवन काल के उत्पातों से जनता किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। आन्तरिक फूट, आदर्शों में विडम्बना का समावेश, संगठन का अभाव आदि कितने ही कारण ऐसे आ जुटे थे कि बहुसंख्यक जनता मुझी पर निदेशी विधर्मियों द्वारा बुरी तरह फट-हलित हो जा रही थी। ऊपीड़न और अपमान के इनने कड़ुए घूँट भाये दिन पीने पड़ रहे थे कि चरों और अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ देख ही न पड़ता था। लोग हताश होकर पराजित जाति जैसी हीनता को स्वीकार करने लगे थे। संगड़ा, लूला प्रतिरोध सफल न हो सका तो उसे ईश्वरीय कोष खन कर चुप बैठे रहने में ही लोग अपनी भलाई सोचने लगे। ऐसी परिस्थितियों में आशा की एक नवीन किरण के रूप में धनत में ‘सन्त मत’ फनपा।

नानक, गुरु गोविन्दसिंह, रामानन्द, कबीर, ज्ञानदेव, एकनव, तुकाराम, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, रामकृष्ण परमहंस, धिवेकानन्द, रामतीर्थ, कबीर, दादू, रैदास, चैतन्य आदि अनेक सन्त-महात्मा उन्होंने परिस्थितियों में उत्पन्न हुए और उन्होंने धर्म और ईश्वर पर से डगमगाती हुई निराश जनता की आस्था को पुनः सजीव करने का सफल प्रयत्न किया। रैदास इसी माला की एक उज्ज्वल गणिका थे।

सन्त रैदास हरिजन कुल में उत्पन्न हुए। उनके पिता चमड़े का व्यापार करते थे। जूते भी बनाये जाते थे। रैदास बचपन से ही बड़े उदार थे। घर में सम्पन्नता थी। वे सोचते थे कि सम्पन्न लोगों को अपनी सम्पदा में दूसरे अभाव-ग्रस्तों को भी भागिदार बनाना चाहिए अन्यथा संग्रह किया हुआ अनावश्यक धन उनके लिए विपत्ति रूप ही सिद्ध होगा। वे प्रतिदिन एक ओड़ा जूता अपने हाथ से बनाकर असमर्थों को दान करते, जिससे वे कुश-कटकों और शीत-धूप से पैरों को बचाते हुए अपना कार्य करते रह सकें।

यह उदारता युवक रैदास के पिताजी को पसन्द न आई। दूसरे अन्य असंख्य लोगों की तरह वे अपने बेटे को ‘कमाऊ’ देखना चाहते थे। कमाऊ होना ही तो सब से बड़ा गुण माना जाता है। पिता ने उन्हें रोका, न माने तो बिना ऊपर का एक कड़ा रहने के लिये देकर उन्हें और उनकी स्त्री को घर से निकाल दिया। पसई कमाई पर निर्भर रहने की अपेक्षा परिश्रमपूर्वक स्वावलम्बी जीवन रैदास को पसन्द आया और वे पूरे परिश्रम तथा मनोयोगपूर्वक बढ़िया जूते बनाने लगे। इसी से अपना गुजारा करते और एक जोड़ी जूता नित्य दान भी करते।

गृहस्थ रहते हुए भी मनुष्य महात्मा हो सकता है इसका अनुकरणीय उदाहरण रैदास ने प्रस्तुत किया और वे उसमें पूर्ण सफल

थी रहे। गुजारे के लिए आठ घण्टा श्रम करने से काम चल सकता है। आठ घण्टा नित्य-कर्म और भोजन विज्ञाप के लिए पर्याप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आठ घण्टा समय लगभग सभी के पास शेष रहता है। प्रबुद्ध लोग उसका सदुपयोग करके अभीष्ट लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं जबकि प्रमादी लोग इस मूल्यवान समय को बर्बाद करके पत के दिन ही पूरे कर पाते हैं। रैदास प्रबुद्धों की श्रेणी में थे। उन्होंने बचे हुए समय को तप और साधना में लगाने का क्रम बनाया। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अगणित लोग उनके पास आते और उनकी शिक्षाएं प्राप्त करके अपना पथ निर्धारित करते। उनके घर में सत्संग का क्रम चलता ही रहता। जूते बनाते हुए भी वे धर्म चर्चा करते रहते।

“मन संग तो, कठौती में गंगा” कहावत किसने नहीं सुनी? वस्तुतः आध्यात्मिकता के ठोस तत्त्व प्राप्त करने के इच्छुकों के लिये यह एक वाक्य ही सिद्धि दाता मंत्र है। इस मंत्र के मंत्र दृष्टा थे हरिजन संत रविदास—उन्हें कहीं-कहीं रैदास भी कहते हैं।

बनारस की बात है एक दिन एक स्त्री गंगा स्नान करने गई। वहाँ उसके हाथ का एक कंगन पानी में खिसक गया। स्त्री बड़ी दुःखित हुई। संत रविदास, जो जन्म से चर्मकार थे, के विरोधियों को इस बात का पता चलता तो वे इसी बात को लेकर संत से झगड़ा करने आ पहुँचे। प्रतिस्पर्धियों ने सन्त रविदास के पास जाकर कहा—चर्मकार होकर आप अपने आप को सच्चा भक्त और गंगा जी का सेवक कहते हैं तो आज अपावस्था के दिन भी गंगा स्नान करने क्यों नहीं गये? सन्त रविदास बोले—“मन संग तो कठौती में गंगा” अरे भाई व्यक्ति का अन्त-करण शुद्ध और पवित्र हो तो गंगा अपने पास ही है। धार्मिक कर्मकाण्ड का भूल मन्तव्य अपनी भावनाओं को निर्मल और पवित्र बनाने रखना है यदि भावनायें शुद्ध हैं तो (अपने बगल में रखे कठौते के पानी की ओर संकेत करते हुये) इस कठौत में ही गंगा जी है।

विरोधियों की बात लग गई। बोले—तुम तो अपने आप को बहुत शुद्ध और पवित्र मानते हो, तुम्हारे लिये गंगा वहीं है तो इस बेचारी स्त्री का कंगन कठौते से ही निकाल कर दे दीजिये न? कहना है सन्त रविदास ने कठौते में हाथ डाला और उस स्त्री का कंगन उसी में से निकाल कर दे दिया?

घटना कितनी तक सच है इस विवाद में पढ़ने की अपेक्षा सन्त रविदास के जीवन की यह घटना यह बताती है कि आध्यात्मिक सिद्धियों का मूलस्वर पवित्र हुई आत्मा और निर्मल मन ही है यदि अन्त-करण अपवित्र और अशुद्ध है तो व्यक्ति ने भले ही जन्म किसी

१.१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अतिशय सनातन कुल में लिया हो पर वह उन विशेषताओं एवं महताओं से वंचित हो बना रहेगा जो एक सच्चे अध्यात्मवादी में होनी चाहिये

संत रविदास का जन्म वाराणसी में स. १४५६ विक्रम में वनारस में हुआ उनके पिता का नाम रघुजी और माता का नाम विनया था हिन्दू जाति का अंग होने पर भी जिस तरह अन्य अनेक हरिजन जातियों को सवर्णों के आगे खबर रहना पड़ता है इस परिवार का जीवन भी कुछ ऐसा ही था। वनारस जो कि ब्रह्मण्यवाद का गढ़ माना जाता है जहाँ “जन्मना जायते ब्राह्मणः” की धारणा आज भी सवर्णों के इशारे और पिछाई गर्व का कारण बनी हुई है। इस पूर्वामह ने जहाँ प्रसाद में पड़े सवर्णों को आध्यात्मिकता के महत्त्वपूर्ण लाभों से वंचित रख दिया वहाँ जातीय संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया। हजारों हरिजन ईसाई बन गये, हजारों बौद्ध तथा मुसलमान, हिन्दू हरिजनो को उपेक्षा न हुई होती तो आज फकिराना नहीं होता। दुर्भाग्यवश तब वह बात किसी की समझ में नहीं आई थी, आज भी लोग नहीं समझ रहे—ऐसे समय में संत रविदास का जन्म एक प्रकार से परमत्मा की ओर से स्थापित उत्तरावध वा कि “जाँति पौँति पूछे नहीं कोच, हरि को भजे सो हरि का होच” अर्थात् भगवान् को हर कोई श्रद्धा कर सकता है वहाँ सूत-अद्वैत का कोई भेद नहीं, वह मात्र मानवीय संकीर्णता है।

रविदास का मन बाल्यवस्था से ही आध्यात्मिकता की ओर मुड़ा जा रहा था। माता-पिता ने उनकी शादी करनी चाही, पहले तो रविदास ने इनकार किया और अपना जीवन सेवा साधन में बिटाने का निश्चय किया पर माता-पिता इतने ऊँचे आदर्शों की बात नहीं समझते थे, समझते भी थे तो उन्हें एक बात मालूम थी, कि अपने अनेक ऋषि-मुनि भी गृहस्थ थे और गृहस्थ में रह कर ही उन्होंने अनेक सिद्धिर्षा समर्थ प्राप्त की थी। सो उन्होंने कहा—तुम्हें भी संस्कारिक कर्तव्यों का पालन करते हुये भगवान् को कृपा करना चाहिये। रविदास विचारशील थे उन्होंने इस तर्क को मान लिया। माता-पिता ने एक समृद्ध परिवार की कच्चा लोहा के साथ उनका विवाह कर दिया। विवाह सामान्यतः आत्मोन्नति का बाधक माना जाता है पर संत रविदास ने अपने आप को प्रस्तुत करके यह दिखा दिया कि बाधक तो मनुष्य की कामनायें और वासनायें हैं। यदि मनुष्य अपनी तृष्णाओं और महत्वाकांक्षाओं को नियंत्रण में नहीं रख सकता तो जो आसक्ति, मोह और मिथ्याचार वह अपने कुटुम्ब के साथ कर सकता है वही वह समाज के अन्य व्यक्तियों में आरोपित कर सकता है। क्योंकि शरीरयापन के लिये उसे अन्ततः मनुष्य समाज पर ही तो निर्भर रहना पड़ेगा

संत रविदास १२० वर्ष जिये। जीवन के अखिरी प्रहर तक धर्मपत्नी लोणा उनके साथ रहीं पर उन्होंने अपने जीवन को इस तरह संयमित, सुव्यवस्थित बनाया कि पारिवारिक जीवन में भी सुख-आनन्द का अभाव नहीं होने पाया और आत्मोन्नति में भी कोई बाधा नहीं पड़ी। वे कहा करते थे, असली वस्तु तो मनो-निग्रह है यदि मन को आत्म्य का गुलाम बना लिया जाये तो घर-बाहर सर्वत्र वैराग्य

ही वैराग्य है यदि उसे इन्द्रियों का दास बना रहने दिया जाय तो चाहे कोई उच्च भौतिक और अन्तिक सम्पदार्थ हो लेकर क्यों न जन्म हो उसका पतन ही सुनिश्चित है।

रविदास का जीवन संघर्षों से प्रारम्भ हुआ और संघर्षों में ही बीता उससे वे न तो निराश हुये न सत्य पर से निष्ठा हिलाई। “हरिजन को भगवान् की भक्ति का अधिकार नहीं है।”—इस धारणा कारण सवर्णों ने उन्हें प्रारम्भ से ही यातना देना प्रारम्भ किया। सवर्णों के इस अनुचित दबाव का लाभ उस समय मुसलमानों को मिलता था। वे बहककर अद्वैतों को मुसलमान बना लेते थे। संत रविदास एक ओर अपने लोगों को समझाते और कहते तुम सब हिन्दू जाति के अभिन्न अंग हो तुम्हें दलित जीवन जीने की अपेक्षा मानवीय अधिकारों के लिये संघर्ष करना चाहिये—दूसरी ओर वे कुलीनों से टक्कर लेते और कहते वर्ण-विभाजन का सम्बन्ध परमार्थ से नहीं, मात्र सामाजिक व्यवस्था से है। उनकी इस सच्चाई में अदृढ़ निष्ठा का ही फल था, कि रामानन्द जैसे महान् संघर्ष सन्त एक दिन स्वयं ही उनकी कुटुम्ब में पधारे शिष्य गुरुओं की खोज किया करते हैं पर वहाँ गुरु स्वयं ही सन्पात्र शिष्य को खोजता हुआ उसके घर पहुँचा उन्हें दीक्षा देकर न केवल उन्हें बल्कि उनके आदर्शों की प्रामाणिकता को सब सिद्ध कर दिया।

संत रविदास गुरु प्रदत्त मंत्र और उपदेश के सहारे आत्म-विकास करने लगे। उनके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाओं के प्रसंग सुने जाते हैं। संत रविदास कथाओं के माध्यम से लोगों को धर्मोपदेश दिया करते थे। उनकी सीधी-सच्ची यथुर वाणी में अमृतोपम उपदेश सुनने के लिये हजारों लोग एकत्रित होते। उसमें से अधिकांश संघर्ष होते। एक दिन एक सेठ जी भी उपस्थित हुये। कथा के अन्त में प्रसन्न बितरण हुआ। भगवान् के प्रसाद को ब्रह्मण्य पाप है इस पय से सेठजी ने प्रसन्न स्वर में तो से लिया पर संत रविदास हरिजन थे उनके हाथ के प्रसाद से उन्हें कुछ सो आई बाहर आकर उन्होंने प्रसाद एक ओर फेंक दिया उधर एक कोढ़ी बैठा था, प्रसाद उसके शरीर पर गिरा और वह कोढ़ी कुछ ही समय में चंग हो गया जब कि अपनी ही कृपा और आत्महीनता के शिकार सेठ जी स्वयं ही उस कठिन रोग से ग्रस्त हो गये, अन्त में उन्हें पुनः संत की शरण में जान पड़ा मन की बात जानने वाले रविदास ने सेठ जी से कहा वह जल तो मुलतान गया। अर्थात् अब वह प्रसाद मिलना कठिन है पर पीछे दया बरस उन्होंने सेठ जी को भी अच्छा कर दिया।

इसी प्रकार उनके अवलोकन पर एक भगवान् की मूर्ति स्वयं ही उनके सम्मुख प्रकट हुई—यों यह चमत्कार आज के वैज्ञानिक युग में कोई महत्त्व नहीं रखता पर भावनाओं की शुद्धता और आत्मा के प्रताप से परिचित व्यक्ति ऐसे तथ्यों को नकारते भी नहीं—अध्यात्म एक सर्वसमर्थ सत्ता है उस शक्ति के लिये ससार का कोई भी समत्कार असंभव नहीं। विशाल ब्रह्माण्ड में आपतित ग्रह-कक्ष अपनी-अपनी पर्वत में चल रहे हैं। यह सब आध्यात्मिकता का ही तो चमत्कार है। फिर संत रविदास ने इतना कर दिखाया ही तो उसमें क्या आश्चर्य ?

इस प्रकार धर्म प्रचार से एक ओर जहाँ उनकी ख्याति बढ़ रही थी दूसरी ओर उनके विरोधी भी बढ़ते जाते थे। ईर्ष्या की छाँटिन ने मानवीय प्रगति में कितनी बाधा पहुँचाई है, सत्पुरुषों और भिदों को कितना सताया है, अकारण कितने ही लोगों को दूसरों की उन्नति देख कर जल धुन कर खाक होने के लिए विवश किया है, इसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि इस की सर्पिणी से बढ़कर और कोई व्यापक बुराई शायद ही अनुपपन्न हो सकेगी। उच्च वर्ण कहलाने वाले लोगों को वैदास की प्रतिष्ठा असह्य लगती, वे उनसे मन ही मन कुदृष्टि, निन्दा, व्यंग्य और उपहास करने तथा तरह-तरह के लाछन लगाने में पीछे न रहते। वैदास इस पर हँस भर देते और कहते हाथी अपने समने चल जाता है उसे किसी के भूलि फेंकने या चिढ़ाने से विचलित होने की जरूरत नहीं होती। धैर्य, साहस और सच्चरित्र जिसके साथ है उसका साग संसार विरोधी होकर भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उन्होंने अपना धर्म-प्रचार जारी रखा।

उन दिनों उच्च वर्ण के लोग भी आत्मिक से डर कर और प्रलोभन में खिंचकर धड़ाधड़ विधर्म बन रहे थे, फिर छोटे वर्ण वालों के लिए तो उस ओर लुढ़कने लगना और भी सरल था। छोटी कहलाने वाली जातियाँ और भी तेजी में विधर्म बनने लगे थीं। शासन का प्रलोभन और उच्च वर्ण वालों का तिरस्कार यह दुहरी दबाव उनके मन को डोबाडोल करने लगा था। इन परिस्थितियों में सन्त वैदास ने हिन्दू धर्म की महत्ता, आस्तिकता एवं ईश्वर विश्वास की आस्था को बढ़ाने के लिए कार्य आरम्भ किया और असंख्यो हरिजन उस प्रेरणा से प्रभावित होकर विचलित होने से बच गये। उन्होंने अपनी वाणियों में अपने आदर्शों का भली-भाँति प्रतिपादन किया है—अपना धर्म छोड़ कर विधर्म बनने के लिए लोगों को उन्होंने कहा—

**हरि-सा हीरा छोड़ि के, करै आन की आस ।
ते नर नरक जायंगे, सब भाँति वैदास ॥**

विधर्मियों की पराधीनता के लिए भर्त्सना करते हुए उन्होंने भारतीय-समाज को ललकारा और कहा—

**पराधीन का डीन क्या, पराधीन बेदीन ।
पराधीन पर दास को, सब ही समझै डीन ॥**

सन्त वैदास सच्चे ईश्वर भक्त थे। वे पूजा किने बिना जल तक ग्रहण न करते थे। आपने अपने ही स्थान पर भगवान् का मन्दिर बनाया जिसमें निरन्तर भजन, कीर्तन और उपदेश होते रहते थे।

उन्होंने अपने गुरुभाई कबीर, धन्ना, पीपा आदि के साथ मिलकर सारे भारत का भ्रमण किया और निराशाग्रस्त जनता को आशा का सन्देश पहुँचाया। ईश्वर पर विश्वास और धैर्य रख कर आशाजनक भविष्य के लिए कमर कस कर काम करने का मार्ग बताया। उनके अनेकों शिष्य हुए जिनमें प्रसिद्ध भक्तनारी मीराबाई भी एक थीं। ईश्वर भक्ति के माध्यम से सन्त काल के महात्माओं ने संगठन, आशा और उत्साह की जो धारा प्रवाहित की वह उन परिस्थितियों में सर्वत्र उपयुक्त ही थी। खुले प्रतिरोध का कोई कार्यक्रम तो उन दिनों चल

नहीं सकता था। सन्त मत के माध्यम से सिख गुरुओं ने कितना बड़ा काम किया यह सर्वविदित है। सीधा सार्व न सही सार्व की भूमिका में सभी सन्तों का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा है। सन्त वैदास ने हरिजन कुल में जन्म लेकर पिछड़े लोगों में धैर्य और स्थिरता की जो भावना उत्पन्न की उससे हिन्दू-धर्म की कितनी भारी सेवा सम्भव हुई आज उसका मूल्यांकन कर सकना भी हमारे लिए कठिन है।

अध्यात्म के सच्चे प्रतिनिधि— संत तुकाराम

यों तो समाज में साधु-संतों के रूप में हजारों रंगे स्यार देखने में आते हैं और हजारों अनपढ़, मूर्ख और गँवार उनकी पूजा करते देखे जाते हैं। यह रंगे स्यार इन अन्धविश्वासी मूर्खों की ब्रह्मा का लाभ उठाकर खूब गुस्सखो उड़ाते हैं।

लोग इन रंगे स्यारों की हजारों अव्यक्तनीय हरकतें देखते हैं किन्तु फिर भी उनकी पूजा-अर्चना करने में सकोश नहीं करते। इसका कारण यह नहीं है कि अंध ब्रह्मासुओं को उनसे कोई लाभ है और भला ये पूर्ण साधु संन्यसी उनके लाभ पहुँचा भी क्या सकते हैं? उल्टे उनका शोषण कर कुछ हानि ही पहुँचाते हैं। इसका कारण वास्तव में यह है कि समाज को सच्चे साधु-संन्यासियों ने इतनी सुख-शान्ति पहुँचाई है कि देश में उनके वेष तथा नाम की पूजा होने लगी है।

समाज और संस्कार के हित साधन करने और उसकी तापतप्त आत्मा को शीतल करने के लिए, उसे कुमार्ग से सुमार्ग पर चलाने के लिए बिन महात्माओं ने अपने सर्वस्व को, सुख-सुविधा को परिवार-परिजन को त्याग कर तपस्वापूर्ण जीवन अपनाकर अपने को तिल-तिल बलिदान कर दिया है, भला वे साधु-महात्मा जन-आदर के पात्र क्यों न बनते? अब यह एक अन्य अभिप्राय है कि उनके नामों और कर्मों का लाभ उठा कर, उन जैसा वेष बनाकर और बातें करके अपना वैयक्तिक स्वार्थ साधन करते हैं, और अविवेकी जन-समुदाय उनकी परीक्षा किये बिना, उनके कर्तव्यों को देखे बिना उनकी अंध भक्ति करने लगता है।

महाराष्ट्र के संत तुकाराम एक ऐसे ही सर्वस्व-त्यागी महात्मा थे जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज का हित करने में लगा दिया। उनके लिखे हुए अष्टांग ताप-तप्त जन-मानस को अपने चन्दन जैसे शीतल भावों से शान्त करते हैं। विवाद, निराशा और असहायता के समय उनको प्रकाश देकर जीवन में आगे का मार्ग दिखलाने हैं। कौन कह सकता है कि संत तुकाराम जैसे महात्माओं ने अपने गद्य-पद्यात्मक उपदेशों का संग्रह यदि समाज को न दिया होता तो उन परिस्थितियों में समस्त जन-साधारण की क्या दशा हुई होती?

वैसे संसार के किसी भी समाज में कवितायें रचने वाली तथा उपदेश देने वालों की कभी कभी नहीं रही है, किन्तु संतों को छोड़ कर अन्य किसी की वाणी ने दुःखियों का दुःख दूर नहीं कर पाया

२.४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

भावा के उन्हीं शब्दों में अन्य कवि तथा उपदेशक भी अपने विचार व्यक्त किया करते हैं, जिनमें कि एक संत । तब क्या बात है कि संतों की वाणी का प्रभाव जन-मानस पर ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा को स्थायी रूप से प्रभावित करता है और परम्परागत अपना प्रभाव बनाए रहता है । बात यह नहीं है कि जन-साधारण किसी अन्य कवि अथवा उपदेशक की वाणी की जान-बूझ कर उपेक्षा करते हैं अथवा इतना उन पर विश्वास नहीं करना चाहते ।

बात वास्तव में यह है कि जहाँ अन्य लेखक अथवा कवि अपने निवास पर बस करते हुए ही कल्पन के बल पर रचनाएँ करके जनमानस को प्रभावित करना चाहते हैं, साथ ही अपनी कृतियों का धन अथवा खान सम्पान के रूप में कुछ मूल्य भी चाहते हैं । उनकी कृतियों में उनका अपना व्यक्तिगत प्रयत्न रहता है और उनके सोचने, समझने तथा लिखने का स्तर बहुधा बौद्धिक ही रहता है । उनमें आत्म की पुकार तथा मन की कसक बहुत कम रहती है ।

इसके विपरीत एक संत संसार का दुःख दूर करने के लिए अथवा दुःख पीड़ित मानवता को देखकर बिरक्त होकर अपना साग सुख, सारी सुविधा, परिजन तथा प्रियजनों को त्याग कर चल देता है और जन-साधारण के बीच धर्म-तप तथा परिश्रम से पीड़ित मानवता के क्लेशों को अपनी आत्मा में सम्भाई के साथ अनुभव करता है और उसकी पवित्र आत्मा से जो हृदय अनायास निकल पड़ते हैं वही अकृत्रिम शब्द उसकी रचनाएँ अथवा उपदेश बनकर जन-मानस में घर बना लेते हैं, अपना एक स्थायी प्रभाव डालते हैं । वही कारण है कि लोग अन्य कवियों की कल्प-कृतियों की उपेक्षा संतों की दूरी-फूटी वाणी में की गई सीधी-सादी रचनाओं को अधिक मात्रा में कंठहार बना लेते हैं । किसी आपत्ति, दुःख अथवा निराशा के समय कलापूर्ण कृतियों के स्वन पर इन्हीं का सहारा लेते हैं ।

संसार के दुःखान्ध में दग्ध जीवों के लिए शांति-शीतल भगोरको लाने वाले संतों में संत तुकाराम का विशेष स्थान है । स्वर्णशिलाजी के निर्माता समर्थ गुड रामदास का जो स्थान महाराष्ट्र में है उससे कम आदरपूर्ण स्थान संत तुकाराम का नहीं है । वर्यापि उनके दिवंगत होने के बाद उनके भक्तों तथा अनुयायियों ने उनके साथ अनेक धामत्कारपूर्ण किंवदन्तियों को जोड़ कर उन्हें अलौकिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है कि संत तुकाराम कोई धामत्कारी अथवा अलौकिक पुरुष थे । हाँ यदि वे अतिमानव थे तो इस अर्थ में कि उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर अपने को समस्त की सेवा करने में तिल-तिल गला दिया । संसार की सुखशांति के लिए ही उन्होंने भगवान् की भक्ति की और उसी के लिए जिये तथा मरे । उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति, सिद्धि, समृद्धि अथवा मोक्ष आदि की कोई इच्छा नहीं थी ।

संत तुकाराम का जन्म पूना में इन्द्रायणी नदी के तट पर देह नामक ग्राम में हुआ । इनके जन्म काल के विषय में मतभेद पाया जाता है । तब भी कतिपय विश्वस्त विद्वान् इनका जन्म सम्वत् १५३० ई० अर्थात् शके १५९० बताते हैं । यद्यपि इनका जन्म

सूक्ष्म कुल में बतलाया जाता है तथापि इन्होंने अपने तप-त्याग तथा परमार्थ साधन से अपने में ब्राह्मणत्व उत्पन्न कर महाराष्ट्र में अतुल सम्मान प्राप्त किया ।

पहले-पहल जब इन्होंने भगवद्भजन-कीर्तन तथा पूजा पाठ प्रारम्भ किया, गाँव के रुढ़िवादी तथा संकीर्ण दृष्टिकोष वाले सबणों ने इनका घोर विरोध किया । इनके तरह-तरह के आस दिये किन्तु भगवद्भजन का रस अनुभव कर लेने वाले तुकाराम तनिक भी विचलित न हुए । वे रुढ़िवादियों का तिरस्कार तथा दण्ड सहन करते हुए भी भगवान् के भजन-कीर्तन में लगे रहे । इन्होंने न तो अपने पर किये जा रहे अत्याचार का प्रतिवाद किया और न किसी विरोधी की निन्दा की । संत तुकाराम अन्धरी तरह समझते थे कि रुढ़िवादियों के पास विवेक की कमी होती है । वह परम्परा के पालन में बुद्धि से काम न लेकर अपने अंधविश्वासों से प्रेरित रहा करते हैं । उन्हें पूरा विश्वास था कि आज अज्ञानवश जो लोग उनके सत्कर्म का विरोध करते हुए दण्ड और क्लेश दे रहे हैं एक दिन उनको सदबुद्धि प्राप्त होगी और वे लोग अपने किये पर पछतायेंगे ।

संत तुकाराम सब कुछ सांतिपूर्वक सहते रहे, यहाँ तक कि कुरीतिवादियों का अत्याचार उनको अपने ध्येय पथ से विचलित न कर सका तो उन्होंने खबरदस्ती उन्हें गाँव से बाहर निकाल कर गाँव में प्रवेश वर्जित कर दिया । इस अकारण निर्वासन का भी उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया । बल्कि गाँव के बाहर एक शिला पर बैठे हुए तेरह दिन तक भगवद्भजन करते रहे ।

संत तुकाराम का यह घोर तप देखकर विरोधवादियों का आसन हिल गया और उन्होंने संत तुकाराम को एक सच्चा महात्मा मानकर अत्याचार करना बन्द कर दिया और गाँव में प्रवेश का प्रतिबन्ध उठा लिया ।

भजन के प्रभाव से भगवान् की यह अनुकम्पा देखकर उनका ध्यान और भी अधिक परमात्मा की ओर लग गया । इधर ज्यों-ज्यों वे भगवान् में तन्मय होते गये त्यों-त्यों हृदय में अहिंसा सत्य तथा जन-सेवा के भाव बढ़ते चले गये । जिससे दीन-दुःखियों की सक्रिय सेवा करना उनके भगवद्भजन का एक विशेष अंग बन गया । अब उन्होंने अपने परमार्थ चिन्तन को दीन-दुःखियों की सेवा करने में क्रियान्वित रूप दे दिया । वे राह चलते बटोहियों के सिर का बोझ अपने सिर पर ले लेते और उनको उनके गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देते । किसानों के खेतों की रखवाली करते, उन्हें खेत जोतने, बोने में मदद करते । किसी के बैलों तथा किसी की गायों के लिए घास काट लाते और अपने हाथ से बड़े प्रेम से खिलाते । तीर्थ-यात्रियों के सूजे हुए पैरों को अपने हाथ से धोते और बण्टों तक उनकी सिकाई करते रहते । वे पैदल गाँव-गाँव की यात्रा करते और जहाँ भी किसी रोगी, अपाहिज अथवा अनाथ, दीन-दुःखी को देखते वहीं रम जाते और दिन-रात उनकी सेवा-सुश्रूषा करते ।

अपने इस प्रकार के सेवा कर्मों से संत तुकाराम बड़े ही जन-प्रिय बन गये । अब शायवासी दिन भर का अपना काम करने के बाद

उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ जाते, उनके उपदेश सुनते और मिलकर कीर्तन भजन करते

संत तुकाराम के सामूहिक कीर्तन-भजनों का इतना प्रभाव पड़ा कि ग्राम-ग्राम के अपने आपसे झगड़ सत्तम हो गये। लोग मिलजुल कर एक-दूसरे की सहायता करने लगे। सभी जाति तथा वर्णों के लोग उनके पास आते, छातृत्व भाव से घरकर मिल-जुल कर कीर्तन करते। उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हो गया कि पूरे के पूरे गाँव एक परिवार की तरह देखने लगे। जहाँ पहले लड़ाई झगड़े होते रहते थे वहाँ अब प्रेम की रागा बहने लगी।

संत तुकाराम लोगों को धर्मिता का उपदेश देते, त्याग और वैराग्य की प्रेरणा करते। किन्तु उनके त्याग का मार्ग निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति था। वे कभी किसी को घर-बार त्याग कर सन्त होने के लिए नहीं कहते और न कभी इस बात की प्रेरणा करते कि वे जीवन के आवश्यक कर्तव्य को त्याग कर केवल भजन, कीर्तन में ही लगे रहें। उन्होंने लोगों को परिश्रम और पारस्परिकता का महत्त्व समझाया और कर्तव्य के प्रति निष्ठावान बनने की प्रेरणा दी।

धीरे-धीरे तुकाराम की कीर्ति पूरे महाराष्ट्र में फैल गई। एक बार सत्तपति शिवाजी उनके दर्शनों के लिए आये और उनका कीर्तन सुनकर सारा राज-काज छोड़कर वैरागी होने को तैयार हो गये। किन्तु सन्त तुकाराम ने उन्हें प्रवृत्ति मार्ग का सच्चा स्वरूप समझाकर अपना कर्तव्य करते रहने की प्रेरणा दी। वे जानते थे कि निवृत्ति एक विशेष प्रकार के संस्कारवान लोगों के लिए ही सम्भव है। स्वधारण स्थिति के लोग तो निवृत्ति-मार्गी बनकर और भी अधिक भटक जाते हैं।

इस प्रकार तेतालीस वर्ष की आयु तक महाराष्ट्र में एक नवजीवन का जागरण कर के एक दिन स्वयं कीर्तन करते-करते परम धाम चले गये

संत तुकाराम का जीवन परतुः स्वस्मरता एवं कठम से लबालब भरा था। मृत्यु १६३२ की है अकाल का वह चौथा वर्ष था। चार वर्ष से वर्षा ऋतु में भी सूर्य उसी तरह चमकता था जैसे चैत-वैशाख में। सुबह से ही सूरज की तीखी किरणें लोगों के चेहरों को घुलसाती और पेट की भूख तल को निचोड़े डालती थी जैसे पानी में भिगोये फण्डे को सुखाने के पूर्व धोबी निचोड़ देता है। किसान नंगे आकाश की ओर सूनी आँखों से ताकते रह जाते—शायद कोई बदली उठे और बारसने लगे पर बदली तो क्या घुआँ भी उठान नहीं दिखाई देता था। धुआँ उठे भी तो कैसे, किसी के घर में अनाज के बोड़े से दाने होते तो कोई पक्कना भी। लोग गाँव से निकल कर आस-पास के अंगलों में जाते और कन्दमूल कुँदते। कहीं मिल जाने तो उन्हें ही अपने कमजोर दाँतों से होले-होले खा लेते।

पूना के पास देहू नाम का एक गाँव, उस गाँव में भी एक साहूकार की दुकान। साहूकार कहीं दूर देश से जोड़ा अनाज लाया, एक ही दिन में सारा अनाज बिक गया। बिक क्या गया—लोगों के पास कुछ था तो उसे लेकर पहुँच गये साहूकार के पास और कितना हिस्से में आया उतना अनाज उठा लाये। साहूकार भी कितना उदारमन था। उसने अकाल के इन दिनों में अपने घर भरने की बात नहीं सोची

थी, बात सोची थी कि गाँव के प्रत्येक व्यक्ति तक उसके हिस्सा का अनाज पहुँच जावे। चाहता तो वह ऐसे समय में खूब पैसा लूट सकता था। पर उसके सामने अपनी सम्पन्नता का आकर्षण पीका पड़ गया था, भूख से बिलबिलती आँखों का सूत्रपन देखकर उसने गाँव पर ये कदम दिखे कि साहूकार के बहाँ अनाज आया है। सभी लोग पहुँच जायें और अनाज ले जायें।

जिनके पास कुछ था, वे तो कुछ लेकर पहुँच गये थे। जिनके पास कुछ नहीं था उन्हें साहूकार की दुकान पर जाने में संकोच हो रहा था, पर भूख हर तरह का संकोच तोड़ देती है, उसकी आँच में कोंच की तरह स्वाभिमान भी चटख जाता है। जो जिनके पास कीमत चुकाने के लिए नहीं था वे भी साहूकार की दुकान पर पहुँच गये और साहूकार ने उन्हें निराश भी नहीं किया। इस प्रकार आनन-फानन में दुकान का सारा अनाज उठ गया। तब एक स्त्री आती है—साहूकार की ओर निहारती है। उसकी आवाज़ भी नहीं निकल रही है। पेट में अन्न नहीं है तो बोलकर कहे भी कैसे? और साहूकार की आँखों में विवशता तैर आती है।

उस विवशता को देखकर स्त्री की आँखों की वाचना और भी कनीपूत हो उठी। साहूकार अपनी जगह से उठा—शायद बिछोरे हुए कने समेट कर बोझ-अनाज जुड़ जाय। लेकिन समेटा तो पहले ही जा चुका था। साहूकार जब खाली हाथ दुकान पर आता है तो देखता है स्त्री मा चुकी है। कितनी कारुणिक स्थिति उत्पन्न हुई होगी उस समय—कल नहीं जा सकता और साहूकार के अन्तःकरण से एक अभाग फूट पड़ती है—“मुझे सर्प आ रही है। यह स्त्री अन्न की आशा में आई थी—मेरे बहाँ अन्न नहीं है और मुझ से आशा टूट जाने के कारण वह मर गई है।”

यह अभाग मराठी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस अभाग के रचनकार की वाणी महाराष्ट्रीय तथा मराठी साहित्य के मर्मज्ञों के लिए बंदवाणी बन गई। उक्त अभाग के सहा थे साहूकार सन्त तुकाराम जिनकी देह १६२८ में अनाज की दुकान की ओर १६२८ में महाराष्ट्र में अकाल चला आ रहा था। तुकाराम अपनी सारी सम्पत्ति इसी अकाल की भेंट चढ़ा चुके थे। उन्होंने गाथा है। “अकाल के कारण लोगों का धन निःशेष हुआ, उनका अन्त्यसम्पन्न खो गया, एक स्त्री ‘अन्न-अन्न’ करती हुई भूख से तड़पती दम तोड़ गई और शर्म से मेरा माथा जमीन में गड़ गया। मैं भी क्या करूँ, मैं इस दुःख से ऊब गया हूँ। सारा व्यवसाय ही चौपट हो गया है।” तुकाराम को व्यवसाय के चौपट हो जाने का रज नहीं था, रज था लोगों को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देखने का।

तत्कालीन समाज में घर-परिवार के उत्तरदायित्वों से विरक्त होकर वैराग्य और गन्त के गीत गाना हो साधु संन्यासियों का आदर्श था। किन्तु तुकाराम समाज में रहे, समाज के कठोर बर्णार्थ से सामना किया और कठिन परिस्थितियों—तोड़ डालने वालों विपत्तियों का उन्होंने सह्य और सन्त परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ी। इस प्रकार कठिन परिस्थितियों और विकट प्रतिकूलताओं में भी पारिवारिक और

सायाजिक उत्तरदायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए सन्त परम्परा के आदर्शों का अनुकरण करने वाले सन्त तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र में पूना के पास देहू नामक गाँव में हुआ था। सहृदयी पैतृक व्यवसाय था— अच्छी तरह परिवार चलाता था। गाँव में भी सुप्रसिद्धी थी। बड़ा भाई पितृ के करोबार में लक्ष बँटाता था सो तुकाराम को प्रारम्भ में पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त ही रहना पड़ा। अपने समय का उपयोग वे गीता, रामायण के अध्ययन में करते थे और जब भी सुनते कि गाँव में कोई महत्त्वा आया है तो तुमन्त जा पहुँचते उसके पास। परिवार के लोगों को तुकाराम की साधु-संगति से धिन्तित होना स्वाभाविक था। वे स्पष्टते कहीं बेटा घर-बार छोड़कर किसी दिन खुद भी साधु न हो जाय। कभी वे टोक कर तुकाराम की मन-स्थिति का परिचय भी लेते तो तुकाराम कहते— “मैं तो गोता, रामायण पर भ्राम्पाओं से चर्चा करने जाता हूँ। गोता में तो पगवान् ने अर्जुन को संन्यासी होने से रोक कर संसारिक कर्माण्यों में प्रवृत्त किया था। फिर उसके उपदेश का मुझ पर विपरीत प्रभाव कैसे हो सकता है।”

सुनकर कुछ देर के लिए तो घर वालों का समाधान हो जाता पर पीछे फिर वही आशंका होने लगती। तुकाराम अपनी निष्ठा को प्रमाणित करते हुए घर वालों को आश्वासन नहीं कर सके और परिजनो को आश्वासन करने का अक्सर भी अज्या तो ऐसे समय जबकि उनकी निष्ठा का दर्शन करने बल्ले माता-पिता ही नहीं रहे थे। तब तुकाराम ने किशोरावस्था में पदार्पण ही किया था कि उनके माता-पिता दोनों का ही देहान्त हो गया। परिवार की जिम्मेदारी बड़े भाई पर आ पड़े। करोबार इतना फैला हुआ था कि उसे सम्हालना भी बड़ा अवसाध्य था पर बड़े भाई के स्वभाव में वैसी अवशीलता भी नहीं थी और नहीं भी दायित्वों को अनुभव करने की क्षमता।

माता-पिता तुकाराम पर शका किया करते थे कि कहीं घर-बार छोड़ कर संन्यासी न हो जाय। उनके बारे में तो वह शका सही नहीं निकली। घर-बार छोड़कर चले गये उनके बड़े भाई की पत्नी और उसके बच्चों सहित घर के अन्य सदस्यों और अपने खी-बच्चों का भार भी तुकाराम के कंधों पर आ गया। तुकाराम ने उस उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता से सम्हाला और करोबार भी भली-भाँति चलाते लगे। आकस्मिक रूप से इतने बड़े परिवार का बोझ कंधों पर आ जाने से सामान्य मनोबल का व्यक्ति धबड़ा उठता है परन्तु तुकाराम ने बिना धबड़ाये ही इन बड़ी जिम्मेदारियों को अपने ऊपर ले लिया।

लेकिन परीक्षा अभी बाकी थी। धर्म और अन्त्यात्म दर्शन का स्वाध्याय निष्कर्ष और साधु संगति का प्रभाव कितना गहरा होता है— इसकी परख अभी भी शेष थी। आस्तिकतावादी आस्था के अनुसार सुख और दुःख दोनों का स्वागत करने की मन-स्थिति अभी विकसित हुई है या नहीं— पगवान् रामचंद्र यह देखना चाहता था। तुकाराम ने तो सीखा रखा था—

सुख सपना दुःख बुदबुदा, दोनों एक समान।
सबका आदर कीजिये जो भेजे पगवान् ॥

और इस सीख को उन्होंने अपने आचरण में भी उतारा था। करोबार ठीक चल रहा था कि सन् १६२८ में उस क्षेत्र में पहली बार बारिश नहीं आई लोगों के हाथ तंग हो गये। अब की बार नहीं तो अगली बार कल चुका दिया जायेगा— इस आशा में तुकाराम पूर्ववत् माहकों से व्यवहार करते रहे। किन्तु अगली बार भी वर्षा नहीं हुई और उसके अगली बार भी नहीं। इस तरह तीन साल गुजर गये। पास की सम्पत्ति चुकने लगी, लोगों से उधार पटाने के लिए तत्त्वजा भी करें तो कैसे, खनवीष आदर्शों से संस्कारित मन इसकी अनुमति नहीं देता था। तीसरे वर्ष गाँव में बीमारी भी फैली। उस बीमारी की चपेट में तुकाराम की पत्नी भी आ गई, वह दमे की मरीज तो पहले से ही थी सो पिछली और नई बीमारी के सम्मिलित आक्रमण ने तुकाराम को चिरविस्ती बना दिया।

पत्नी का देहान्त हुए अभी अधिक समय भी नहीं हुआ था कि तुकाराम के बच्चे भी चल बसे। उनके लिए सारी दुनिया सूनी हो गई। निराशा और एककीपन के ऐसे क्षणों में अक्सर लोग आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पन्ध्रवनावादी वैरागी बना धारण कर लेते हैं। पर तुकाराम दूसरी मिट्टी के बने थे। उन्होंने न तो पलायनवाद का रास्ता अपनाया और न कोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने तथा नया परिवार बसान की आनुरता दर्शाई बल्कि अकाल से पीड़ित जनसमुदाय की सेवा का धर्म मार्ग ही उन्होंने अपनाया। यद्यपि उनके सामने अपने स्वयं के परिवार की कोई जिम्मेदारी नहीं थी किन्तु बड़े भाई का परिवार तो था ही। उसके निर्वाह की व्यवस्था तुकाराम को अपना कर्तव्य लगा और करोबार ठण्ठ पड़ जाने पर भी तुकाराम उसके लिए प्रयत्न करते रहे।

अकाल के दिनों में उन्होंने उच्च कहे जाने वाले वर्ग की नैतिकता को भी निकट से देखा जो केवल दूसरों को उपदेश देने के लिए प्रयुक्त की जाती है। उन्होंने गवा है कि लोग तिलक और टोपी तो इस तरह दिखाते हैं जैसे वे दुनिया में एक ही गोस्वामी हैं जबकि भीतर विषम वासना टूँस-टूँस कर भरी पड़ी है।

समाज के सीरियस व्यक्तियों की इस दोहरी नैतिकता को खोग बताते हुए तुकाराम ने न केवल ऐसे लोगों की आलोचना ही की वरन् समाज में नैतिकता और आदर्शवादिता की प्रतिष्ठा के लिए जन-जागृति का कार्य भी किया। अकाल स्वयं हो जाने पर उनका करोबार भी धीरे-धीरे सफल गया किन्तु तुकाराम पूर्ववत् अपने गाँव वालों की सेवा में, उनका नैतिक स्तर ऊँचा उठाने में लगे रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध में परिवार के बड़े बच्चे घर-गृहस्थी और करोबार सम्भालने योग्य हो गये तो तुकाराम परिवार के सीमित दायरों से बाहर आकर समाज को ही अपना परिवार बनाने के लिए बाहर आ गये। कहते हैं उन्हें इसी विजनवास में अन्त्य साक्षात्कार हुआ। उस समय उनकी स्थिति सिद्ध अवधूतों की-सी थी— “आकाश मण्डप है, पृथ्वी आसन है, मन जहाँ रमता है— वहाँ झेड़ा करता है। देह की सेवा के लिए कम्बल और कम्पण्डल पर्याप्त है। हवा के निमित्त से समय भी ध्यान में आता है। हरिकृष्ण के ध्यान में मनचाहा विस्तार किया जा सकता है और उसके विविध प्रकार बनाकर रुचि से खाये जा सकते

हैं यहाँ अपने ही मन से संवाद हो सकता है तो अपने से ही विवाद किया जा सकता है ।”

इस स्थिति को प्राप्त होने पर भी तुकाराम समाज सेवा से विमुख नहीं हुए । समाज को शिक्षा देने और लोकशिक्षण का कार्य करने में वे पहले की भी अपेक्षा अधिक लगे रहते । उनके हृदय में सतप्ता और संवस्त मानवता के लिए जो पीड़ा थी और उपचार था वह अभंगों के रूप में व्यक्त होता रहा । यद्यपि उनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन होने देख लगाकर उच्च वर्ग नाराज भी हुआ किन्तु तुकाराम अपने आचरण और उपदेश से तथा अपनी ईमानदारी और पर-दुःस्वस्तरता से विरोधियों को भी जीतते रहे । पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन्त परम्परा का सच्चा अनुकरण करते रहे । सन् १६४९ में उनका पटरपुरा में देहान्त हो गया । आज भी फाल्गुन मास में उनकी विधवा तिथि पर वहाँ एक बड़ा मेला लगता है । लोग दूर-दूर से सन्त तुकाराम को ब्रह्मांजलि अर्पित करने आते हैं ।

सन्त तुकाराम के जीवन के कुछ अद्भुत प्रसंग

ईश्वर की कृपा

सन्त तुकाराम जन्मजात शूद्र थे । उनका ईश्वर भक्ति करना तथा भक्ति गीत लिखना तात्त्विक सवर्ण पंडितों की दृष्टि में अनुचित ही नहीं— एक अपराध था ।

एक निकटवर्ती पंडित श्री रामेश्वर भट्ट ने उन्हें बुलाया और कहा “कि तुम्हें शूद्र होने के नाते यह सब कुछ नहीं करना चाहिए । न ईश्वर भक्ति, न भजन कीर्तन और न अभंगों की रचना ।”

तुकाराम अत्यन्त ही सरल स्वभाव के—आवश्यकता से अधिक नर्म तथा बहुत ही सीधे-सादे व्यक्ति थे । उन्होंने रामेश्वर भट्ट की बात स्वीकार कर ली । और पूछा— “किन्तु जो अभंग रचे जा चुके हैं—उनका क्या होगा ?” तब उस हृदयहीन पंडित ने कहा— “उन्हें नदी में बहा दो ।”

अनासक्त योगी—तुकाराम ने सचमुच ही अपने अभंगों की पोथी इन्द्रायणी में प्रवाहित कर दी ! उस दबाव में वे ऐसा कर तो गये, पर मन भर्माहत हो गया कि वे विष्णु मन्दिर के सामने तेरह दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किए पड़े रहे और सोचते रहे “येही भक्ति में ही कहीं कोई त्रुटि है जो भगवान् मुझसे प्रतिकूल हो गये हैं ।”

दु खी मन की पुकार— जो मन सत्य के प्रकाश से उद्भासित हो— कभी खाली नहीं जाती । तेरहवें दिन तुकाराम को स्वप्न हुआ कि “पोथियाँ नदी किनारे पड़ी हैं— जाकर उठा ला” “तब उनके स्वप्न का हाल सुनकर उनके भक्तगण कम्पनित करते हुए गये और पोथियाँ किनारे पर से उठा लाये ।”

अनुभूति

सन्त तुकाराम अपने प्रारम्भिक जीवन में जब अत्यन्त ही अभावग्रस्त हो गये तो उन्होंने लिखा “हे भगवान् ! अच्छा ही हुआ जो मेरा दिवाला निकल गया । अबल पड़ा यह भी अच्छा ही हुआ । खी तथा पुत्र पोजन के अभाव से मर गये और मैं भी हर तरह से दुर्दशा भोग रहा हूँ यह भी ठीक ही हुआ । संसार में अपमानित हुआ, यह भी अच्छा ही हुआ । गाय, बैल, इव्य सब चला गया, यह भी अच्छा ही है । लोक-लाज भी जाती रही यह भी ठीक ही है क्योंकि इन्हीं बातों के फलस्वरूप तो तुम्हारी मधुरिमाभय, शान्तिपूर्ण गोद मिली ।”

भगवान् का दिया

सन्त तुकाराम को कहीं से कुछ गन्ने प्राप्त हुए । वे उन्हें लेकर घर आ रहे थे । रास्ते में बच्चे मिलते गये । बालक सन्त की सरल प्रकृति को जानते थे । वे गन्ने माँगते गये और सन्त उन्हें एक-एक बाँटते गये । घर पहुँचते-पहुँचते केवल एक गन्ना शेष रहा । शेष रास्ते में बालकों को ही बाँट गये ।

तुकाराम की पत्नी को गन्ना घर आने को पूर्व सूचना मिल चुकी थी, वह बहुत गन्ने घर आने की आशा लगाये बैठी थी । हाथ में केवल एक ही देख कर उसका कर्कश स्वभाव और भी उग्र हो गया । करण पुछा तो तुकाराम ने सारी बात सरलतापूर्वक बता दी । क्रुद्ध पत्नी ने वह एक गन्ना भी उनकी पीठ पर दे मारा । गन्ने के दो टुकड़े हो गये ।

हँसते हुए सन्त तुकाराम ने कहा— देवि, तुमने ठीक बाँटबाण कर दिया । इन दो टुकड़ों में एक तुम ले लो, दूसरा मुझे दे दो जो कुछ थोड़ा बहुत भगवान् ने दिया है उसे मिल-बाँट-कर खाना ही ठीक है ।

अद्भुत सहनशीलता

एक आदमी सन्त तुकाराम का कीर्तन सुनने तो निश्च ही आता— पर उससे बहुत द्वेष रखता । वह मन ही मन किसी अवसर पर सन्त तुकाराम को नीचा दिखाने की राक में रखा करता था ।

एक दिन तुकाराम की पैस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई बस वह आकर लगा गलियाँ सुनाने । इस पर भी जब सन्त उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया और एक काँटों वाली छड़ी लेकर तुकाराम को इतना पीटा, कि रक्त बहने लगा । फिर भी तुकाराम को न क्रोध आया— न प्रतिरोध ही किया ।

सन्ध्या समय जब वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन में नहीं आया— तो सन्त स्वयं उसके घर गये और स्नेहपूर्वक पैस की गलती को सच माँगते हुए उसे कीर्तन में ले आये ।

वह व्यक्ति तुकाराम की महानता देखकर उनके चरणों में आ पड़ा ।

परीक्षा

भगवन्मजन में लीन हुआ मन ऐसे ही भासित होता है जैसे तपा हुआ कुन्दन। फिर वहाँ कसना का एक भी कण जम नहीं जाता।

जिस समय सन्त तुकाराम ब्रह्मरा पर्वत पर अपनी साधना में लीन थे— एक स्त्री अपने कप-पाश में बाँधने के उद्देश्य से वहाँ आई। सन्त तुकाराम ने एक अभग में उसे जो उद्बोधन दिया उसने उस स्त्री का मन ही पलट दिया। वे कहते हैं “परस्त्री को लिए स्विमपी माता के समान है, इसलिए हे माता! तुम आओ और घेर लिये कुछ प्रयत्न मत करो, हम तो विष्णु के ठस हैं। मुझसे तुम्हारा वह पतन नहीं देखा जाता। तुम आगे कभी ऐसी अपवित्र बात मुख से मत निकलना।” और उस कामासक्त रमणी को इस प्रकार स्विमपी माता बनाकर सन्त ने उसे विदा कर दिया।

धार्मिक नवचेतना के प्रचारक— महाप्रभु चैतन्य

अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व दिल्ली में मुसलमान शासकों का आधिपत्य था। कहने को तो ये समस्त देश के ‘सम्राट’ थे पर उनका वास्तविक अधिकार दिल्ली और उसके आस-पास सी दो सौ मील तक ही रहता था। शेष भागों पर ‘सुबेदार’ लोग शासन करते थे जो सम्राट के शक्तिशाली होने पर कुछ रुपया ‘कर’ (खिराज) के रूप में देते रहते थे अन्यथा अपने प्रदेश के खुद मुख्तार मलिक बने बैठे रहते थे।

उन दिनों बंगाल पर पठन सुबेदार का शासन था। अब हकूमत जम जाने के कारण यद्यपि वे पहले की तरह मास्कट तथा लुटमार नहीं करते थे, पर तो भी हिन्दुओं के साथ उनका व्यवहार कठोर और स्वार्थपूर्ण ही रहता था। हिन्दुओं का धन, मान, इज्जत मुसलमान नहीं थे। कोई भी उर्दू मुसलमान हाकिम चाहे अब उनको सत्ता सत्ता था, उनसे जबरदस्ती धन वसूल कर सकता था, उनके धर्म पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आघात कर सकता था।

ऐसे ही जमाने में एक दिन नदिया (बंगाल) के कज्जी चाँद खाँ ने हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले ‘हरिकीर्तन’ को बन्द करने की आज्ञा दे दी। यद्यपि उसके पास कुछ मुसलमान और हिन्दू नागरिकों ने शिकायत की थी कि रात में हरिकीर्तन कल्ले के शोर के कारण हमारी नींद में बाधा पड़ती है, पर अन्तरंग रूप से भी वे स्वयं भी यह फसन्द नहीं करते थे कि हिन्दुओं के धार्मिक क्रिया-कलाप और धर्मोत्सव वगैरह अधिक बढ़ें। क्योंकि इससे हिन्दुओं के संगठन और शक्ति की वृद्धि होती थी, जिसे वे अपने लिये अहितकर समझते थे।

चैतन्य देव (सन् १५४२ से १५९०) ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया और निश्चय किया कि सम्मारी आज्ञा को चुपचाप मान लेने से हिन्दुओं की कमजोरी जाहिर होगी और तब वे पूर्वापेक्षा भी अधिक दबाये जायेंगे। इसलिए सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर घोषणा करा कि कल सध्या के समय हरिकीर्तन का एक

विशाल जलूस नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों में भ्रमण करता हुआ धर्म-प्रचार करेगा। दूसरे दिन नगरवासियों ने इस जलूस का स्वागत करने के लिये सब रास्तों को वन्दनवारों और कैले के स्तम्भों से सजा डाला और स्थान-स्थान पर उसकी आरती करके अपनी आन्तरिक ब्रद्धा व्यक्त की। जलूस धीरे-धीरे चल कर कज्जी के घर के सामने पहुँचा और वहाँ तुमुल ध्वनि से कीर्तन करने लगा। कज्जी भयभीत होकर घर के भीतर जा छिपा, पर चैतन्य ने उसे आश्वासन देकर बुलाया और प्रेमपूर्वक घेँट की। कज्जी ने उनका सदृश्यवहार और जनता पर प्रभाव देखकर कीर्तन सम्बन्धी आज्ञा को वापस ले लिया और सब लोग धर्म की जय-जयकार करते हुये वापस चले आये।

जिस समय की यह घटना है उस समय चैतन्य की आयु तेईस-चौबीस वर्ष की हो थी। पर इसी आयु में अपनी अपूर्व विद्या बुद्धि तथा पश्चिम द्वारा उन्होंने नदिया के समस्त पण्डितों में अन्यतम स्थान प्राप्त कर लिया था। केशव कश्मीरौ नाम का एक भारत प्रसिद्ध पण्डित उनसे शास्त्रार्थ में पराजय स्वीकार कर चुका था उन्होंने न्यायशास्त्र पर भी एक सर्वोच्च ग्रन्थ लिखा था पर अपने एक मित्र खुनाब की मान रख के निमित्त उसे गंगा की में डुबा दिया। शारीरिक दृष्टि से भी प्रकृति ने उनको अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया था और रंग इतना गहरा था कि उनका एक नाम ‘गोरंग’ भी प्रसिद्ध हो गया था उनकी पत्नी ‘विष्णुप्रिया’ भी वैसी ही लावण्यमयी थी और इस दम्पति में प्रगाढ़ प्रेम था, नदिया उस समय बंगाल का प्रमुख विद्या और शास्त्र-वर्धा का केन्द्र था और उसे ‘बंगाल की काशी’ के नाम से पुकारा जाता था। समस्त ज्ञान के विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन करने को आते थे और चैतन्य (निर्माई पण्डित) की ख्याति सुनकर उन्हीं के पास पढ़ने में अपना सौभाग्य समझते थे। इससे उनको कीर्ति और धन का भी अभाव न था।

गृहस्थ-जीवन का त्याग

पर जिस समय समाज और धर्म की विपन्न अवस्था का ख्याल उनके मन में आया तब वे अपने जीवन की समस्त सफलताओं को भूल गये। यद्यपि उस अवसर पर उन्होंने अपने बुद्धिबल और व्यवहार कुशलता से सफलता प्राप्त कर ली, पर विधर्मियों के प्रभाव से हिन्दु-जाति किस प्रकार सकटग्रस्त हो रही है यह भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया। उन्होंने निश्चय ज्ञान लिखा कि यदि उसे किसी उपाय से जाग्रत और संगठित न किया गया तो उसका अस्तित्व ही सन्देह में पड़ जायेगा। सारी परिस्थिति पर विचार करके वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक कुछ सच्चे धर्मानुयायी और आत्म-त्याग करने को तैयार व्यक्ति इस कार्य का भार न उठायेंगे तब तक जाति की रक्षा हो सक्ता सम्भव नहीं।

जब एक बार वे इस निर्णय पर पहुँच गये, तो आगे का मार्ग स्पष्ट हो था। महापुरुष ऐसे अवसरों पर दूसरे लोगों की राह नहीं देखते। वे जानते हैं कि इस प्रकार की गूढ़ और गम्भीर स्थिति का ठीक-ठीक स्वरूप समझ सकना और उसके लिये अपने कर्तव्य का निर्णय कर सकना हर एक व्यक्ति का कार्य नहीं है, जनता में से यदि कुछ लोग साहस करके इस कार्य में सहयोग देने को तैयार होंगे कष्ट

सहन के लिये आगे बढ़ेंगे तो यह भी तभी सम्भव है जब पहले कोई आगे बढ़कर उनका मार्गदर्शन करे। उन्होंने अपने को ही इस योग्य समझा और गृह त्याग के लिये तैयार हो गये। साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया कि देश तथा समाज की वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार का प्रचार कार्य बिना संन्यास ग्रहण किये नहीं हो सकता। संन्यासी ही बिना कौड़ी पैसा लिये देश पर घूम कर सकते हैं और सब श्रेणियों के व्यक्ति उसी की बातों को श्रद्धापूर्वक सुन सकते हैं।

पर पत्नी के प्रेम और माता की ममता को देखते हुए यह कार्य प्रकट रूप से कर सकना सम्भव न था। अतएव वे रात्रि के समय बिना किसी से कुछ कह चुपचाप चल दिये। चौबीस वर्ष की पूर्ण युवा अवस्था में घर के सब सुखों और प्रेम-बन्धनों को एक क्षण में त्याग कर कंटकाकीर्ण सेवा मार्ग पर चल देना सामान्य काम न थी। इसको देख कर हमको बुद्ध के गजपट्ट त्याग की ही बात याद आती है। बुद्ध ने तो फिर भी एक पुत्र हो जाने पर घर छोड़ा था, पर चैतन्य ने तो उसकी भी चिन्ता न की।

घर से निकलते ही वे गंगा पर करके केशव भारती के आश्रम में पहुँचे और उनसे संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की। प्रथम तो वे इनकी नवीन वयस को देखकर तैयार न हुये, पर जब इनके दृढ़ निश्चय की किसी प्रकार बदलना सम्भव न जान पड़ा, तब उन्होंने दीक्षा दी और इनका भक्तिभाव देखकर 'कृष्ण-चैतन्य' नाम रखा। कुछ समय तक आस-पास के प्रदेश में घूम करके वे फिर नदियाँ आये और अपने परम हितैषी अद्वैताचार्य के यहाँ ठहरे। कुछ लोग वहीं पर उनकी माता को बुला लाये पुत्र का मुझ हुआ फिर और गेरुआ वस्त्र देखकर माता को कह तो हुआ, पर वे महान् पुत्र की माता थीं। इससे धैर्य-धारण करके कहने लगीं "चैतन्य ! तेरा मार्ग मंगलमय हो, तू अब हमारा न रहकर सम्पूर्ण विश्व का बन गया है। तेरे द्वारा अनेकों का कल्याण होगा। हमारी रक्षा तो भगवान् करेंगे ही, वे विश्वम्भर हैं। इसलिये तू निश्चिन्त होकर अपने सेवा-मार्ग पर चलना।"

माता की धर्मसम्मत वाणी सुनकर चैतन्य बहुत सन्तुष्ट हुये। फिर उन्होंने पत्नी को भी प्रबोध किया और अपने सहकारी नित्यानन्द (निताई) को लेकर पुरी के लिये रवाना हो गये। उड़ीसा की सीमा पर रसकगण बंगाल से आने वाले यात्रियों को बहुत तंग किया करते थे, पर चैतन्य देव के समदर्शी मनोभाव को देखकर वे ऐसे प्रभावित हुए कि बड़ी विनय के साथ उनके मार्ग दे दिया। पुरी में भी वे अधिक समय तक नहीं ठहरे क्योंकि कर्मक्षेत्र उनकी पुकार कर रहा था। वे अपने साथ केवल एक सेवक कृष्णदास को लेकर भारत भ्रमण के लिये चल दिये। समाज और धर्म के संगठन का अभियान आरम्भ करने से पूर्व 'देश-दर्शन' कर लेना परमावश्यक था। शंकराचार्य से लेकर तुकाराम तक सभी धर्माचार्यों और सन्तों ने इसी परिष्कृष्ट का पालन किया है। क्योंकि जब तक जनता को नब्ब को अच्छी तरह टटोला न जाय, उसके रोग का ठीक-ठीक निर्णय न कर लिया जाय तब तक उसके लिये उपयुक्त चिकित्सा का निर्णय किया जाना

भी किस प्रकार सम्भव है ? गुरु सन्नक ने तो, जो चैतन्य के ही समकालीन थे पन्द्रह वर्ष तक देश भ्रमण करके अपने सिख समुदाय का संगठन बनाया था।

पुरी से चलकर चैतन्य देव गोदावरी, तटवर्ती विद्यानगर होते हुये कृष्णा, कावेरी, ताम्रपर्णी आदि नदियों पर बसे हुये अनेक नगरों तथा तीर्थों का भ्रमण करते रहे। इसी प्रकार चलते-चलते वे सेतुबन्धु राघोश्वर पहुँचे। वहाँ से पश्चिमी घाट के समानान्तर यात्रा करते हुए त्रिवेन्द्रम, पैसूर, कर्नाटक, मलिक, पट्टरपुर आदि अनेक स्थानों का अवलोकन किया। फिर बम्बई प्रदेश में होकर द्वारिका पहुँच और विजय नगरम् (दक्षिण भारत) होकर पुरी को लौट आये।

इस यात्रा में वे लगातार तीर्थस्थानों में एकत्रित धार्मिक जनता को उपदेश करते रहते थे और विशिष्ट भक्तजनों से मिलकर उनके धर्म रक्षा की प्रेरणा देते थे। उस समय अपना सदैव देश के विभिन्न स्थानों में पहुँचने का यदि कोई मार्ग था तो वह तीर्थ ही थे, वही दूर और सपीप के धर्म-प्रेमी व्यक्ति इकट्ठे मिल सकते थे। उनसे वार्तालाप करके ही अपने कार्यक्रम को उन्हे सपहाना और उनकी समस्याओं तथा परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करना सम्भव था। इस प्रकार चैतन्य देश के एक बड़े भाग की स्थिति से अवगत हो गये, लोगों की विचारधारा को समझ लिया और यह भी अनुमान कर लिया कि उनको जागृत और संगठित करने का कौन-सा मार्ग उपयुक्त रहेगा। उन्होंने यह भी जान लिया कि अपने प्रचार-कार्य के लिये सर्वोत्तम और केन्द्र स्वरूप स्थान पुरी ही हो सकता है। वहाँ के लोग कृष्ण भक्त हैं, बंगाल में भक्त-जन भी काफी आया करते हैं और भारत के चार धामों में से एक प्रसिद्ध धाम होने से देश भर के व्यक्ति बस एकत्रित हुआ करते हैं, जिनके द्वारा अपना सन्देश बहुत कम समय में देखावटी बनाया जा सकता है। इसलिये चैतन्य ने अपने हरिदास आदि प्रमुख सहकारियों को पुरी में ही रख कर प्रचार कार्य आरम्भ किया।

कुछ समय पश्चात् उनका ध्यान उत्तर प्रदेश की तरफ गया। कृष्ण भक्ति के प्रभाव से बंगाल तथा उड़ीसा के अनेक भक्त मधुरा वृन्दावन की यात्रा को आकांक्षित करते थे और पश्चिमी भारत के तीर्थ यात्री भी वहाँ पर्याप्त संख्या में आते थे। पुरी का केन्द्र महत्वपूर्ण अवश्य था पर वह देश की पूर्ववर्ती अन्तिम सीमा पर होने से, पश्चिम भारत को बहुत कम प्रभावित करता था। इसलिये प्रथम यात्रा से लौटने के कुछ समय बाद ही उन्होंने वृन्दावन की भी यात्रा की। प्रयाग में उनकी घेंट बाल्लभ-चार्य से हुई। भक्ति-मार्ग के इन दोनों महारथियों में जो विचार-वर्धनमय हुआ वह अवश्य महत्वपूर्ण रहा होगा। वृन्दावन उस समय बाढ़े-से साधुओं का ही निवास स्थान था। चैतन्य ने वहाँ पर अच्छी तरह घूम करके एक ऐसा सार्वजनिक तीर्थ स्थापित करने की योजना बनाई, जहाँ सामान्य जनता सदैव आती रहे और भगवत् भक्ति के साथ धर्मनिष्ठ और जातीयता की रक्षा की प्रेरणा ग्रहण करती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने सुमोक्ष सहकारी रूप-सनातन को वहाँ स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया और इसमें सन्देह नहीं कि आज वृन्दावन ने जो महिमा प्राप्त की है उसका बहुत

२१० महाप्रभुओं के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

कुछ त्रय चैतन्य और उनके अनुयायियों को ही है। इस प्रकार बीस-पच्चीस वर्ष तक प्रचार कार्य करके चैतन्य ने भारत के बड़े भू-भाग की जनता में इतनी धार्मिक नवचेतना उत्पन्न कर दी कि वह अपने धर्म पर सुदृढ़ हो गई और विधर्मियों का प्रभाव उस पर पड़ने का सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया। चैतन्य द्वारा प्रचारित कीर्तन-प्रणाली ने इस दिशा में बहुत कार्य किया। बंगाल तो उसका घर बन ही गया, धीरे-धीरे उसने बिहार और उत्तर प्रदेश में भी प्रवेश किया। आज हम अपने घाटों तटों कीर्तन का जो प्रचार और प्रभाव देख रहे हैं, यद्यपि वह चैतन्य के आदर्शों से बहुत हट गया है, कुछ लोगों ने उसे एक पेशे की तरह बना लिया है, तो भी जनता के एक भाग में धार्मिक भावना को फैलाने का वह एक बड़ा माध्यम है।

चैतन्य महाप्रभु एक परम भक्त थे, इसमें संशय ही सन्देह नहीं। किन्तु उनके केवल भक्त और कीर्तनकार मानकर रह जाना उनके व्यक्तित्व का अपूर्ण अंकन है। वे भक्त होने के साथ-साथ समाज के महान् सेवक और धर्म के रक्षक थे। जहाँ एक ओर उनकी भक्ति का उद्देश्य आत्मोद्धार था वहीं दूसरी ओर वे उसके प्रभाव का उपयोग जन-जागरण के लिये किया करते थे। यदि वे केवल आत्म-कल्याण तक सीमित रहने वाले स्वार्थी भक्त होते तो संन्यास लेने के बाद किसी से कोई सम्बन्ध न रखने और दिन-रात भगवत्चिन्तन करते हुए अपने में ही मगन रहते। किन्तु इसके विपरीत महाप्रभु चैतन्य ने सारे देश की पैदल यात्रा करके जन-जन में धर्मभक्तता का जागरण कर उन्हें मुसलमान शासकों के आत्याचार से होने वाली निराशा से बचाया।

वह समय बड़ा विषम था। हिन्दू धर्म भयंकर संक्रीति काल से गुजर रहा था। मुसलमान शासक न केवल राजनीतिक अत्याचार करते थे अपितु वे हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार भी कर रहे थे। वे अपनी शक्ति तथा आत्मक का उपयोग हिन्दू जनता को मुसलमान बनाने में कर रहे थे। हिन्दू राजाओं की शक्ति विलासिता, स्वार्थपरता और विशृंखलता के कारण नष्ट हो चुकी थी। हिन्दू जनता और हिन्दू धर्म का उस समय कोई रक्षक न दिखलाई देता था। उस निराश्रय पूर्ण संक्रांति काल में हिन्दू जनता में धर्म तथा भगवान् के प्रति अनास्था उत्पन्न होने लगी थी, जिसका लाभ उठाकर मुसलमान उन्हें आसानी से धर्मभ्रष्ट करते जा रहे थे।

महाप्रभु चैतन्य ने हिन्दू और हिन्दू धर्म की उस दुर्दशा को देखा। उनकी समाजभावी आत्मा उसकी रक्षा के लिए तड़प उठी। उनके पास एक भगवन्नाम और तीव्र भगवत्भक्ति के सिक्का और कोई साधन तो था नहीं। किन्तु एक यही साधन ससार के समस्त साधनों से शक्तिशाली सिद्ध होता है, यदि उसका उपयोग सच्चाई के साथ जनकल्याण में किया जाये।

महाप्रभु चैतन्य ने गम्भीरतापूर्वक उस संकट और उसके उपायों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि हिन्दू जनता में धर्म के प्रति उबड़ी आस्था और भगवान् के प्रति भक्ति भावना का पुनर्स्थापन कर दिया जाय तो उनकी निराशा, निस्तुहा और निराश्रय

की भावना नष्ट हो जाये और उसके स्थान पर निर्भयता, साहस विश्वास और आत्मगौरव का तेज आ जाये। ऐसी दशा में धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित अथवा आतंकित कर सकना सरल न रहे जब जिसमें आत्मतेज और आत्मगौरव का उदय हो जाता है तब प्राण देकर भी आत्मत्व की रक्षा करने को तत्पर रहता है। उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने अपने आत्म-प्रपञ्च से निराश्र जनता का हृदय परिवर्तन तथा धर्म मार्ग में उनका नेतृत्व करने का निश्चय कर लिया। इस व्रत पालन के संकटों से वे पूरी तरह अवगत थे तथापि जन-सेवा की प्रवल भावना लेकर वे कर्तव्य मार्ग पर, हथेली पर सिर लेकर उस आतंक और अत्याचार के अन्धकार में प्रकाश करने के लिये निकल पड़े।

श्री चैतन्य ने अध्यापक के आदर्शपूर्ण पद, सुख-साधनपूर्ण घर, रूप लावण्य से भरपूर जीवन का आकर्षण और पत्निघना पत्नी का पावन प्रेम—सब कुछ धर्म और जनकल्याण के लिए त्याग दिया और संन्यास लेकर जन-जागरण का अलख जगाने के लिये चल पड़े।

महाप्रभु चैतन्य की बाणी बड़ी ही मधुर और प्रभावशालिनी थी उनके गाये कीर्तन तथा भजनों से लोगों पर जादू हो जाता था। अस्तु उन्होंने अपनी इस विशेषता का उपयोग जनता के हितार्थ करना शुरू किया। उन्होंने अपने एक भिन्न श्रीवास पंडित के घर एक कीर्तन केन्द्र स्थापित किया और वहीं नित्य सायंकाल नियमित रूप से हरिकीर्तन करने लगे। लोगों की अकर्षित करने का उनका उद्देश्य पूरा हुआ लोग आ-आ कर उनके कीर्तन में सम्मिलित होने लगे। महाप्रभु नित्य ही, आयेजन समाप्त होने के बाद लोगों की धर्म की महत्ता और आत्म-गौरव की भावना पर उपदेश देते। भगवान् की शरण लेकर निर्भय रहने को कहते और अपने घरों पर नियमित रूप से कीर्तन का आयोजन जमाने की प्रेरणा देते, जनता में उत्साह का संचार होने लगा जिसके फलस्वरूप नदिया नगर के घरों पर मृदंग-मजीरा के साथ हरिनाम की गूँज उठने लगी और मृतप्राय हिन्दू धर्म ज्वाल लेता-सा विदित होने लगा।

हिन्दुओं में धर्म-जाग्रति के स्फुरण देख कर नदिया का काजी चाँद खाँ बौखला उठा और उसने उठनी हुई धर्म भवना का दमन करने के लिए हरिकीर्तन बन्द करने की आज्ञा निकाल दी। पुन आतंक का वातावरण छा गया और लोग भयभीत हो गये। भक्तों की कीर्तन मडली के सदस्य अपने नेता चैतन्य प्रभु के पास गये और दु खी स्वर से बोले— यदि इस प्रकार प्रतिबन्ध लगाया और अन्धकार होता रहा तो हम लोग हरिकीर्तन किस प्रकार कर सकेंगे? इसमें तो यही अच्छा है कि यह नगर छोड़ कर कहीं ऐसे स्थान पर चले जहाँ पर स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान् का नाम ले सकें।

श्री चैतन्य देव ने भक्तों की निराश्र बाणी सुनी और बोले— भक्तों को इस प्रकार पलायनवादी भाव शोभा नहीं देना। विघ्न यदि नदिया में आ सकता है तो दूसरे स्थान पर भी आ सकता है। विघ्न का उपाय पलायन नहीं है। उसका उपाय है दृढ़तापूर्वक उसका सामना करना। यदि हरिनाम का कीर्तन करने से आप लोगों में किसी विघ्न-बाधा का सामुख्य करने का भी साहस नहीं आ सका

तब तो यही मानना होगा कि आपकी भक्ति अभी है। किसी भगवत् भक्त के लिये भय अथवा आतंक का क्या भूत्य ? आप लोग निर्भय तथा निश्चिन्त रहें। हरि कीर्तन करना, भगवान् का नाम लेना कोई नहीं रोक सकता। हम सब इसी नगर में रहेंगे और सार्वजनिक कीर्तन द्वारा काजी के अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध को तोड़कर भगवत्भक्ति का प्रभाव प्रकट कर देंगे।

दूसरे दिन श्री चैतन्य देव ने नगर कीर्तन की योजना बनाई और भगवत्भक्तों को आदेश दिया कि आज ही नगर में कल के नगर-कीर्तन की घोषणा कर दी जाये और कह दिया जाये कि सब लोग कल सायंकाल हमारे घर पर एकत्र हो जायें वहीं से कीर्तन प्रारम्भ करते हुए सारे नगर में सार्वजनिक रूप से कीर्तन करेंगे। प्रकाश के लिये सब लोग एक-एक मशाल और उसके पास झोल, मृदंग और झोंझ मंजीरा हो लेना अर्थात् भक्तों ने सारे नगर में महाप्रभु की इस घोषणा का सम्वाद फैला दिया और लोग दूसरे दिन के समारोह में लग गये।

नियत समय पर श्री चैतन्य देव के निवास से कीर्तन का जलूस उठा और लोग जय ध्वनि और स्वर ताल के कणों पर हरिक्रम का संकीर्तन करते हुए चल दिये और राज-भागों पर धूपने लगे। वह अभूतपूर्व समारोह देखने के लिये स्थान-स्थान पर अफर भीड़ लग गई। नगर-वासियों ने उस कीर्तन मंडली का अनुपम स्वागत किया। जिधर से वह कीर्तन मंडली निकलती थी उधर ही सैकड़ों लोग उसमें सम्मिलित हो जाते थे और हरिनाम जपते हुए साथ चलने लगते थे। देखते ही देखते कीर्तन का वह जलूस सैकड़ों हजारों का हो गया। नगर में एक अभूतपूर्व जागरण की हलचल छा गई।

काजी को समाचार मिला और उसने अनेक सैनिक उस जलूस को भंग करने और कीर्तन बन्द कर देने के लिए भेजे। सैनिक आये और क्रोधपूर्वक काजी की आज्ञा सुनाते हुए कीर्तन बन्द कर देने के लिए धमकाने लगे। श्री चैतन्य देव ने सैनिकों की ओर अपनी तेजपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—“तुम लोग चलकर काजी से कहो कि हम लोग उन्हीं के घर कीर्तन करने आ रहे हैं। महाप्रभु का वह तेज और निर्भय वाणी देखकर सैनिकों का साहस टूट गया और उन्होंने जाकर काजी को सारा समाचार सुनाया।” काजी झल्ला उठा और बोला—आने दो देखूँगा उस फकीर को।

किन्तु जब उसने दूर से कीर्तन के विशाल जलूस को गते-वजाते आते देखा तो वह इतना डर गया कि तुरन्त घर के भीतर जाकर छुप गया। श्री चैतन्य देव अपनी मण्डली के साथ आये और सीधे काजी के घर में जा कर उसके चौक में कीर्तन करने लगे। भगवान् का आश्रय और उसका बल लेकर चलने वाले की गति कौन रोक सकता है।

दो घण्टे जमकर कीर्तन करने के बाद श्री चैतन्य देव ने एक नौकर से कहा, अपने मालिक से जा कर कहो कि हम सब तो उनके घर पर उनसे मिलने आये हैं और वह घर में मुझे बैठे हैं यह कहाँ की रीति है ? नौकर ने जा कर काजी को समाचार दिया। जब उसे विश्वास हो गया कि यह कीर्तनकार उसे कोई हानि नहीं पहुँचायेंगे तो वह बाहर निकल कर आया और महाप्रभु से माफ़ी माँगते हुए बोला—मैं समझ

था कि आप सब लोग मुझसे नाराज हैं और दण्ड देने के लिए आ रहे हैं। इसी डर से मैं घर के भीतर भाग गया था।

श्री चैतन्य देव ने काजी के साथ बड़ा भद्र व्यवहार किया। पूछा—“काजी साहब ! अब क्या भगवान् का नाम लेने पर भी बन्धन लगाया जायेगा ? जिस परमहत्मा ने हम आप सब को उत्पन्न किया उसका नाम लेने से रोकना तो उचित नहीं है।” आपने किस विचार से ऐसा प्रतिबन्ध लगा दिया है ? काजी ने अपनी गलती मानते हुए कतलाया कि दरअसल बात यह थी कि नगर के लोगों ने कीर्तन के खिलाफ मेरे पास शिकायत की थी कि इससे शहर में अशांति का अंदेश है। इसलिये शान्ति की रक्षा में मैंने उस पर प्रतिबन्ध की आज्ञा निकाल दी थी। किन्तु देखता हूँ कि लोगों की यह शिकायत झूठ थी। आप सब लोग सुशी से कीर्तन करिये और उस दुनिया के मलिक का नाम लीजिये, मैं अभी उस प्रतिबन्ध को रद्द किये देता हूँ और ऐसा कहकर उसने प्रतिबन्ध की आज्ञा रद्द करते हुए फरमान निकाल दिया। वह श्री चैतन्य देव के सत्त्व एवं साहस की अन्याय और आतंक पर पहली विजय थी। उनका आन्दोलन और उद्देश्य सफल हो गया। हिन्दु जनता के हृदय से भय का भूत निकल गया और लोग साहसपूर्वक अपने धर्म-कर्मों का पालन करने लगे।

किन्तु केवल नदिया ही तो पूरा देश नहीं था। श्री चैतन्य देव को तो पूरे देश में ही जन-जागरण की लहर उठानी थी। निदान वे सब के मना करने पर भी सारी ममता-मोह त्याग कर जन-कल्याण की दिशा में चल पड़े।

सबसे पहले वे जगन्नाथपुरी गये और कुछ दिन वहाँ जन-जागरण का काम करने के बाद अकेले ही पैदल सम्पूर्ण भारत में जाग्रति का संघ फूँकने के लिये चल दिये। गोदावरी के तट पर बसे विद्यानगर के हिन्दू राजा और वहाँ की जनता में धार्मिक प्रेरणा भरकर वे कृष्णा, कावेरी और त्रिवेणी नदियों के तट पर बसे नगरों में अलख जगाते, कीर्तन मंडलियाँ स्थापित करते, साहस और निर्भयता का मन्त्र फूँकते। हिन्दू धर्म की महत्ता तथा महिमा बतलाते और भगवान् वासुदेव में अखण्ड विश्वास जमते सेतुबन्ध रामेश्वरम् में जाकर जनता में धर्म-आन्दोलन उठाने लगे।

सेतुबन्ध रामेश्वरम् से चलकर वे पश्चिमी घाट को जगाते हुए त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक और पेंडरपुर की जनता की मोह निद्रा भंग कर द्वारकापुरी गये। अनन्तर दक्षिण भारत को प्रबुद्ध तथा सावधान करने के बाद वे पुनः जगन्नाथपुरी आ गये। इस प्रकार दो-तीन वर्ष तक देश की चारों दिशाओं अपने सन्देशों तथा उपदेशों द्वारा एकत्रपञ्च में बाँध कर श्री चैतन्य देव के अन्तर में भ्रमण करते और जन-जागरण का मन्त्र फूँकते वृन्दावन आये। वहाँ पर उन्होंने बल्लभाचार्य जैसे महान् भक्तों तथा धर्म प्राण विद्वानों को एक संगठन सूत्र में बाँधा और उन्हें जनता की निराशा दूर करने और साहसपूर्वक अन्याय का सामना करने की प्रेरणा देने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार महाप्रभु चैतन्य देव सारे देश को जगाकर और भक्तों, विद्वानों, राजाओं तथा सामान्य जनता को एक धर्म-सूत्र में बाँध कर जगन्नाथपुरी में स्थायी रूप से रहने और भगवान् का भजन करने लगे। प्रकृति

और समाज सेवा के समन्वय से उनको शीघ्र ही भगवान् के दर्शन हो गए।

उस समय वृद्धि चैतन्य की आयु ४८ वर्ष की हो चुकी थी, पर उन्होंने प्राणवेश में इतने वेग से कर्म किया था, कि उनकी जीवनी शक्ति समाप्त होने लग गई थी। कर्म जागरण का कर्म भी अन्य सहयोगी भली प्रकार चलाने लग गये। वह देखकर चैतन्य ने अपनी लीला सम्बरण कर लेना ही उचित समझी। सन् १५९० में ४८ वर्ष की आयु में ही एक दिन कथा सुनते-सुनते वे प्राणवेश में उठकर जगन्नाथ जी की मूर्ति के सम्मुख पहुँचे और प्रार्थना करते-करते कुछ क्षणों में प्राण त्याग दिये।

यदि ऐसी भक्ति मुझे भी मिली होती

आरती का पुनीत समय था संस्र और चण्डे की आवाज से भगवान् जगन्नाथ का मन्दिर गूँज रहा था। महाप्रभु चैतन्य गरुड-स्तम्भ के पास छोड़े भगवान् की आरती को बड़ी तन्मयता से गा रहे थे। मन्दिर में भक्तों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। बाद में आने वालों को मूर्ति के दर्शन नहीं हो पा रहे थे। एक उड़िया की कब दर्शन करने में असमर्थ रही तो दृढ़ गरुड स्तम्भ पर चढ़ गई और एक पैर महाप्रभु के कन्धे पर रखकर आरती देखने लगी।

महाप्रभु ने तो इस बात को सहन कर भी लिया परन्तु उनकी शिष्य गोविन्द भल्ल क्यों सहन करना? वह उस स्त्री को डाँटने लगा पर महाप्रभु ने ऐसा करने से मना किया। 'क्यों वाक्य बनने हो भगवान् के दर्शन कर लेने दो। इस माता को दर्शन की जो प्यास भगवान् ने दी है यदि मुझे भी प्राप्त होती तो मैं धन्य हो जाता। इससे तन्मयता तो देखो कि इसे यह भी भ्रमन नहीं रहा कि पैर किसके कन्धे पर है?'

महाप्रभु का इतना कहना था कि वह भ्रम से नीचे आ गिरी और उनके चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगी। महाप्रभु ने अपने चरण हटाते हुए कहा— 'ओ! तुम यह क्या कर रही हो, मुझे तुम्हारे चरणों की वन्दना करनी चाहिए ताकि तुम जैसा भक्ति-भाव मैं भी प्राप्त कर सकूँ।'

महाप्रभु चैतन्य के जीवन में आख्यात्मिकता का वास्तविक स्वरूप—लोकसेवा का लक्षण पूरी तरह प्रकट हुआ था। उन्होंने अपना सारा जीवन दुःखी-दरिद्रों तथा गिरे हुओं को ऊँचा उठाने में लगाया।

उक्त वृद्धा को उन्होंने पैरों में से उठाकर खड़ा किया और स्वयं पैर छूने लगे। उन्हें पैर छूते देखकर आसपास के लोगों ने, जो उन्हें पहचान गये थे महाप्रभु से कहा— 'यह क्या करते हो महाराज। इस नीच बुढ़िया के पैर छू रहे हो।'।

'क्या हुआ पाइयो?'—चैतन्य बोले— 'अपने से अच्छे और श्रेष्ठ लोगों को आदर सम्मान देने में कोई बुराई बोधे ही है। वैसे भी यह वृद्धा मुझसे आयु में बड़ी है। मैं इनके पैर छू रहा हूँ तो कौन-सा पाप कर रहा हूँ। यह तो लक्ष्मी का ही अवतार है।'।

भक्ति भाव से गदगद बाजी को सुनकर आसपास एकत्र लोग धन्य-धन्य कह उठे।

परम भागवत् सन्त नामदेव

मनुष्य लोहे-पत्थर से नहीं, भावना से बना परिवर्तनशील प्राणी है। मनोभूमि बदलने तो उसे बदलते देर नहीं लगती। आत्मसी और उद्योगी, सज्जन और दुर्जन, दुर्गुणी और सद्गुणी, धृष्टि और सम्मानस्पद स्थिति मनुष्य की आदतों पर निर्भर रहती है और ये आदतें यदि चाहे तो कोई भी मनुष्य आसानी से बदल सकता है।

सन्त नामदेव का आरम्भिक जीवन कुत्सित प्रकार का था। डाकू और लुटेरे की तरह वे अपना जीवनयापन करते थे। उनका आत्मक चरित्र भ्रष्ट रहता था, लोग नामदेव का नाम सुनते ही कंफने लगते थे। इनके उपद्रवों की शिक्कायत से सरकार भी क्रोध हुई और उन्हें पकड़ने के लिए अस्सी घुड़सवार भेजे। कहते हैं कि इन सबका उन अकेले ने सफाया कर दिया।

दुर्लभ दस्तुओं में भी अन्तरात्मा रहती है और वह जब कभी पलटती है तब दुरे से दुरे आचरण के व्यक्ति को सुधरते देर नहीं लगती। पूर्वकाल में बाल्योकि, अंगुलीमाल, विल्वमंगल, अम्बपाली, अज्जपिल, सदन आदि पतित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों ने अपने अन्तरात्मा की पुकार पर दुर्जनता का मार्ग छोड़ कर सज्जनता अपनाई तो वे देखते-देखते दुरात्मा से महात्मा बन गये। नामदेव का परिवर्तन भी इसी प्रकार आत्मा की पुकार सुनने वाले लोगों की गुंथला का एक उदाहरण माना जा सकता है।

ईश्वर विश्वास और आस्तिकता की भावना जब मन में जमी तो दुष्टता के लिए जीवन में स्थान ही कैसे रहता? जो ईश्वर को षट-षट् वासी जानेगा वह सब में समाये हुए परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार कैसे कर सकेगा? यों दृढ़ भक्त 'मुख में राम बगल में छुरी' का वानक भी बन सकते हैं। पाप निर्भीक होकर करते हैं और कुछ पूजा-पाठ करके वह आशा लगावे रहते हैं कि यह सब कुछ तो भवन के प्रताप से छूट ही जायेगा फिर अनीति का लाभ उठाने से डरे क्यों? वह मान्यता तो झूठे और बहके हुए भक्तों की रहती है। जिसके अन्तःकरण में एक कण भी सच्ची ईश्वर भक्ति का उपजन्म हो जावेगा वह सब में अपने प्रभु की झाँकी देखेगा और उनके साथ प्रेम एवं सज्जनता का व्यवहार करेगा। नामदेव जब ईश्वर भक्ति की ओर सच्चे मन से दृष्टे तो उन्हें अनीति का मार्ग छोड़ना ही पड़ा आस्तिक के लिए दुरात्मा बने रहना संभव नहीं, नामदेव की ईश्वर भक्ति ने उन्हें न तो दुष्ट रहने दिया और न डाकू।

गुरु की तलाश में नामदेव घटक रहे थे तो भगवान् पाण्डुरंग ने उन्हें निर्देश किया कि विसोबा खेकर नामक कोढ़ी को वे गुरु बनावें नामदेव ने वैसा ही किया। वे कोढ़ी को गुरु बनाकर उसकी सच्चे मन से सेवा करने लगे। आरम्भ में तो उन्हें यह निर्देश अटपटा लगा पर पीछे कुछ ही दिन में इस ईश्वरीय आज्ञा का रहस्य उनकी समझ में आ गया। पीड़ितों, अपेक्षितों और तिरस्कृतों की सेवा के बिना किसी का अन्तःकरण पवित्र नहीं हो सकता और जिसका हृदय पवित्र न होगा वह न तो गुरु ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा और न उसे ईश्वरीय प्रकाश का अनुभव ही होगा। सेवा भावना की अधिकता

सन्त हृदय की पहली विशेषता है। गुरु-दीक्षा के रूप में भगवान् पाण्डुरंग ने विसोवा कोढ़ी की सेवा करने का आदेश दिया और सेवा धर्म को अपनाते हुए नामदेव ने जो ज्ञान पाया वह जीवन को स्वर्णक बनाने में अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध हुआ। मनोस्वन के लिए या कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए आज के लोगों की तरह यदि उन्होंने भी गुरु दीक्षा ली होती तो संभवतः उनको भी खाली हाथ रहना पड़ता और निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगता।

नामदेव धान्य-कुधान्य का बड़ा ध्यान रखते थे। अभाव-ग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए भी वे किसी का दान स्वीकार न करते थे। उनकी धर्मपत्नी पत्त्रिमपूर्वक जो कमाने उसी में से वे जो दे जाते उसी से रूखा-सूखा खाकर फटा-टूटा पत्न कर-काय चलाते। कई उदार लोग उनकी निर्धनता का रत्ना चरने पर सहायता भेजते पर वे किसी का भी दान स्वीकार न करते और कहते जिसका अन्न खाया जाता है उनके लिए अपना भजन भी चला जाता है। फिर यदि किसी की अनीति की कपाई हुई तो उसे खाने पर अपना मन भी कलुषित होगा।

प्राणि मात्र में भगवान् की झाँकी करना और प्रत्येक के साथ प्रेम एवं आत्मीयता का व्यवहार करना वही तो ईश्वर भक्ति की कसौटी है। इस कसौटी पर भक्त नामदेव सदा खरे उतरते रहे। एक दिन वे रोटी बना रहे थे कि अचानक एक कुत्ता अगवा और उनकी बनाई हुई रोटियाँ मुँह में दबा कर भागा। नामदेव उसके पीछे चुपके से भी की कटोरी लेकर जा पहुँचे और कुत्ते से कहा—‘भै भगवान्! आपके भोग लगाने के लिए यह भी भी मैंने मंगा रखा था फिर आप रूखी रोटी क्यों खाते हैं?’ नामदेव ने कुत्ते को प्रेमपूर्वक खिलाया और उसकी रोटियाँ भी से चुपड़ दीं। वह तो एक घटना मात्र है। उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि प्राणि-मात्र में भगवान् को देखने और उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करने की नीति पर चलती थी। सच्चे सन्तों की अनादि परम्परा रही भी यही है।

जाति के दर्जी होने के कारण दूसरे लोग उन्हें समय-समय पर तिरस्कृत करते रहते थे पर इससे वे कभी छिन्न न हुए। ‘जो भूत करता है उसे दुःखी होना चाहिए, मेरी मान्यता तो प्राणिमात्र में एक आत्मा देखने की है, जो इस सत्य के विपरीत जाति बंध के आधार पर किसी को छोटा माने तो वह उनका अघिवेक है। किसी की भूल का दण्ड मैं क्यों सहूँ’ यह कहकर उन तिरस्कार करने वालों की बात को उपहास में उड़ा देते थे और अपने मन को कभी छोटा न होने देते थे। लोग कुछ भी कहते रहे उन्होंने न अपने को किसी से ऊँच माना और न नीच। सन्तों की उपयुक्त समता पर उनकी अगाध आस्था थी वह जीवन भर वैसी ही बनी रही।

सन्त नामदेव ने धर्म प्रसार को अपना आवश्यक धर्म कर्तव्य बनाया और वे महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक भगवद्दर्शन का उपदेश जन-साधारण को करते रहे। तत्कालीन पण्डित लोग दान-पुण्य, पाठ-पूजा, कथा कीर्तन और स्नान दर्शन मात्र से ही भगवान् की प्रतिष्ठा होने का प्रतिपादन करते थे। सदाचार और कर्तव्य-पालन को उन्होंने व्यर्थ मान रखा था और कहते थे कि इन कर्मकण्डों से ही जब पाप नष्ट हो सकते हैं तो उन्हें छोड़कर घरे में रहने की क्या आवश्यकता

है? नामदेव के प्रतिपादन में वह अन्तर था कि वे कर्मकण्ड को उपयोगी और आवश्यक तो मानते थे पर सदाचार एवं कर्तव्यपालन को प्रथम स्थान देते थे और स्पष्ट कहते थे कि दुरात्मा का भजन विडम्बना मात्र रह जाता है। भगवद्दर्शन से उनका प्रयोजन उसी आस्था से था जो उपासना के साथ साथ सच्चरित्रता एवं परमार्थ की प्रेरणा भी देती हो।

सच्चे भगवद्भक्त की तरह नामदेव ने भगवद्दर्शन को अपने जीवन में उत्तरा और उसी की शिक्षा दूसरों को भी दी। संसार में अधिक समस्या निहित स्वार्षों से ग्रसित समीप लोगों की होती है, वे ऐसे सत्य को सहन नहीं कर पाते जो उनकी मान्यताओं से भिन्न हो। सत्य का प्रतिपादन करने के अपराध में उन्हें विरोध और निन्दा का सामना करते रहना पड़ा। सुदृ समझे जाने वाले वरु में उत्पन्न होना भी एक जन्मजात अपराध की तरह उन्हें तत्कालीन पण्डितों का कोप-भाजन बनावे रहा। पर इससे क्या? सघाई का सूर्य चमकता ही रहा। उस पर धूल उड़ाने वाले अपनी दुरभिसन्धियों में कृतकार्य न हो सके। विवेकशील जाँझरियों ने उनकी परख तब भी की थी और सन्त नामदेव जैसे सन्त-महात्माओं की श्रेणी में अब भी विद्यमान हैं वे आज शरीर समेत मले ही न हों पर यह सन्देश तो देते ही रहेंगे कि आदमी बदल सकता है, उसे बदलना चाहिए। जब दुर्दान्त दस्यु से कोई व्यक्ति उच्च श्रेणी का सन्त बन सकता है तो गुण, कर्म, स्वभाव के साधारण परिवर्तनों में तो किसी मनस्वी व्यक्ति को कुछ भी कठिनाई न होनी चाहिए।

भाई रे भक्ति की शक्ति अपार

महाराष्ट्र हो या पंजाब सन्तों की विशाल दृष्टि से अनन्त आकाश में बालक के छोटे बाले गेंद के सपान तैरती हुई साँठ पृथ्वी ही धर है—वह खेचकर विश्वमंगल का भाव लिये आदित्यकता और आभ्युत्थिता का प्रचार करते हुये होगी श्री नामदेव महाराष्ट्र से पंजाब की ओर चल पड़े। पंजाब में भी उनके ज्ञान-वक्त्र का विस्तार और प्रसार होने लगा। आभ्युत्थिता को सरल और सरस बनाने के लिए उन्होंने कीर्तन को माध्यम बनाया। वे स्वयं भावविभोर होकर कीर्तन करते थे सो जहाँ भी उनका कीर्तन होता रस भरसने लगता।

एक दिन की बात है सन्त नामदेव का पंजाब के एक गाँव में कीर्तन चल रहा था—घटना सिद्धों के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ—‘ग्रन्थसाहब’ से उद्धृत की जा रही है—मुसलमान नवाब उनके आस्तिक भाव को साम्राज्यशक्ति और कुप्रभुत्व के पहलू से खलना-मुत्त बैठा था। पड़ौस में ही कीर्तन की बात से तो वह अग-बबूला हो गया। उसने दो सिपाहियों को सगद्दा-बुझकर भेजा। कूर सिपाही एक गाय को लेकर पहुँचे। घरे कीर्तन के बीच गाय की हत्था कर बोले—‘तुम्हारी भक्ति में कुछ शक्ति हो—तुम्हारी आस्तिकता सच्ची हो, तो इस गरी गाय को जित्त दो?’

नामदेव ने गाय की लाश देखी तो बड़े दुःखी हुये बोले—‘भाई मुझ से देव था तो मुझे मरते—गाय ने तुम्हारा कर्म बिगाड़ा था—मेरी क्या शक्ति सब भगवान् का खेल है जित्तयोग तो वहीं कहकर उन्होंने

भगवान् विठ्ठल देव का आह्वानपरक 'बिरह' गाया और शुरु कर दिया भावपूर्ण कीर्तन। सभी लोग स्वर में स्वर मिलाकर कीर्तन करने लगे। विठ्ठल की सी तड़ित शक्ति का अवतरण और कीर्तन की नम्रयन्ता। दोनों के बीच अलौकिक घटना घटी और लोग देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि गङ्गा की साँस चलने लगी है धीरे-धीरे वह उठ खड़ी हो गई और पीछे कई वर्ष तक स्वस्थ रह कर जीती रही। सिपाही ने कहा ठहरे भी नहीं, नामदेव को प्रणम कर वहाँ से चलते बने।

नवमशतक मध्य जगत में चतुर्दश की चर्चाओं और दाँव-पेच चला करते हैं जो एक मनुष्य का हृदय दूसरे से तोड़ते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिकता के जगत में भी मनमुगधकारी तरह-तरह के करतब चलते रहते हैं। कोई उन्हें योग्यसिद्धि कहता है, कोई सत्य और धर्म का प्रभाव, भक्त लोग उसे ईश्वर की अनन्य कृपा मानते हैं। अपनी-अपनी निष्ठा को अपनी-अपनी अनुभूति। काम सब एक ही तत्त्व करता है। किसी को वह काम, भक्ति द्वारा सम्पन्न होना दिखाई देता है किसी को साधना की शक्ति द्वारा। वस्तुतः दोनों एक हैं। तथापि सतोगुणी होने के कारण भक्ति को बड़ा मानते हैं।

पँवरपुर की तीर्थयात्रा के समय सन्त नामदेव और योगी ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) की भेंट हो गई। दोनों ने साध-साध तीर्थ यात्रा का निश्चय किया। तीर्थान्त से लौटते हुए जम बे बोकानेर से दस-बारह मील दूर कौलयात की स्थान से गुजर रहे थे, तीव्र गर्मी के कारण उन्हें प्यास सताने लगी। ओठ सूख गये, दम घुटने लगा—कुर्आ तो दिख गया पर बहुत नीचा और उस पर भी पानी नहीं। किया क्या जाय? श्री ज्ञानेश्वर तो योगी थे, उन्होंने योगाभ्यास द्वारा विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। लक्ष्मण शक्ति का अह्वान किया और जिस प्रकार लंकागरी में प्रवेश के समय 'मसक सपन्न रूप कपि धरी'—मच्छर जैसा छोटा रूप पवनसुत हनुमान ने रखा था उन्होंने भी अत्यन्त लघुरूप धारण और कुंठ में प्रविष्ट कर गये। उसकी सतह को घेद कर उन्होंने जल पी लिया और ऊपर आकर नामदेव से बोले—आप कहें तो आपको भी पानी ला दूँ।

नामदेव प्यासे थे, ज्ञानदेव की सहायता स्वीकारने में उन्हें कठिनाई भी न थी पर उनकी दूर-दृष्टि ने अनुभव किया—सिद्धियाँ अहंकार की घोषक होती हैं कहीं ऐसा न हो मैं श्री ज्ञानदेव के अहंकार बढ़ाने और उनके आत्मविकास में बाधा उत्पन्न करने का भागी बनूँ। जब परमात्मा सर्व समर्थ है तो अपने शरीर-वस्त्र को शक्ति-सिद्धियों के अहंकार में क्यों फँसावे। भक्त को तो हर क्षण भगवान् स्वर्ग और मुक्ति कलम्भरा प्रज्ञा, भक्ति और वैराग्य जैसी बहुमूल्य सम्पदाएँ दे सकते हैं तो एक लोटे पानी में क्या रखा है उनके लिये। बच्चा निर्धन होता है पर जब तक माँ रहती है वह निर्धनता कहीं अनुभव करता है। सोचना है चाहे जब चाहे जितनी आवश्यक वस्तुएँ ले लूँगा। नामदेव के अन्तःकरण का स्रोत उमड़ और अभंग (भक्ति गीत) लहराने लगा, वायुमण्डल में तानपूरा नज़ा, नामदेव विह्वल नाचने लगे। शब्द भाव का स्थूल रूप है—शब्द की शक्ति से घेदें नल सकती है, इच्छा काटा जा सकता है, सूक्ष्म अप्रवेशन किये

जा सकते हैं तो भाव से छे न जाने क्या क्या किया जा सकता है स्थूल की अपेक्षा द्रव अधिक शक्तिशाली होता है और सूक्ष्मतर होने पर भी गैसें द्रव से भी शक्तिशाली। प्लाज्मा पदार्थ की चौथी और गैसें भी सूक्ष्मतर स्थिति है उसकी शक्ति गैसों से भी अधिक अकृत है। सूक्ष्मता के इस परिवेश में भावनाओं की शक्ति को बाह्य तरंगों की प्रतिक्रिया थी कि जैसे ही सन्त नामदेव ने भगवान् का आह्वान कर उन्हें अपना प्यासे होने का कष्ट निवेदन किया न उन्हें लक्ष्मण प्रयोग करना पड़ा न अणिमा, कुंठ की तली से जल-झोल फूटा और उमड़ पड़ा ऊपर की ओर जलधारा ऊपर फूट पड़ी—नामदेव ने भी पिया और ग्रापवासियों ने भी। आज भी इस क्षेत्र में लोग लोक-गेतों में नामदेव की भक्ति के इस प्रभाव को गाते और उसका स्मरण कर पुलकित होते हैं।

एक और ऐसी ही घटना है सन्त नामदेव के जीवन की जो भक्ति की महान् शक्ति का प्रतिपादन करती है। शिवरात्रि पर्व था महाराष्ट्र के औदिक नापक स्थान में नामदेव भगवान् शंकर के दर्शनों के लिये गये। खेल में संलग्न बच्चा जब तक माँ को नहीं देखता तब तक माँ के प्रति उसके भाव भी प्रसुप्त से रहते हैं। माँ भी अपने काम से लगी रहती है पर खेल के बीच कभी उधर माँ आ गई तो बच्चा अपने अच्छे-अच्छे खिलौने, फल-फूल, मिठाई छोड़कर तड़फ उठता है दोनों हाथ ऊँचे कर अपनी जननी के स्नेह वात्सल्य के लिये माँ भी लपक कर बच्चे को गोद में उठा कर प्यार करती है, चूमती-चाटती है। भले ही वह आत्म-शक्ति की प्रतिक्रिया हो पर मूर्ति स्थापना का अटक होना ही तो है। नामदेव भगवान् के मन्दिर पर चढ़ गये—जब उमड़ने लगे तभी मन्दिर के प्रबन्धक दौड़े और बोले—नीच। हरिजन (श्री नामदेव दर्जी या छीपी जाति के थे) भू ऊपर मंदिर में क्यों चढ़ आया? हमारे धर्म की यह भूल बड़ी दुःखद है कि एक ओर तो वह अद्वैत आत्मा का प्रतिपादन करता है दूसरी ओर केवल मात्र सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से बनाई गई वर्ण-व्यवस्था का आत्मघात, ऊँच-नीच, शूद्र-अशूद्र का कुत्सित रूप दे देता है। इस मध्यकालीन साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-जाति के संगठन और उसके समर्थ स्वरूप को गृह किया। भगवान् के लिये तो दुनिया के सभी लोग सन्तानवत प्रिय हैं कोई भेदभाव क्यों करे। नामदेव को धक्के धारकर नीचे उतार दिया गया, नामदेव ने अपने अपमान का ख्याल तो भुला दिया स्वयं पिछवाड़े खड़े होकर कीर्तन करने लगे न जाने कौन-सी शक्ति थी जिस पर साग महाराष्ट्र और देश भक्ति है कि भगवान् शिव की मूर्ति ने अपना मुँह फेर लिया और अपने भक्त को दर्शन दिया। इस घटना का बोध स्वरूप आज भी इस मंदिर का 'नादिया' शिक्की के सम्मुख न होकर पीठ पीछे प्रतिष्ठित है सच्ची शक्ति के प्रभाव से लोग नत-मस्तक हुये और श्री नामदेव के लिये मन्दिर के द्वार खोल दिये गए।

संतों के जीवन-वृत्त अद्भुत घटनाओं से घरे हुये हैं उन घटनाओं का अन्धकार वह शक्ति ही है जो भक्ति द्वारा अस्तित्व में आती और ऐसे चमत्कार पूर्ण करतब दिखा जाती है।

ज्ञान धारा बहाने वाले दक्षिण के भगीरथ संत ज्ञानेश्वर

भक्ति मार्ग के प्रवर्तक प्रसिद्ध धार्मिक संत स्वामी रामानन्द काशी से रमेश्वरन् की यात्रा पर निकले थे। मार्ग में एक गाँव पड़ता था आलन्दी। स्वामी रामानन्द ने वहाँ अपना डेरा डाला और कुछ दिनों तक रुक जनसाधारण को ज्ञान कर्म और भक्ति त्रिवेणी में मज्जित कराते रहे। स्वामी रामानन्द एक मासति मन्दिर में ठहरे हुए थे, उसी मन्दिर में गाँव की एक युवती स्त्री भी प्रतिदिन दर्शन और पूजन के लिए आया करती थी। संयोग से एक दिन स्वामीजी का उससे सामना हो गया। स्त्री ने रामानन्द जी को प्रणाम किया तो सम्बन्ध उनके मुँह से निकल गया— 'युवती धन।'।

आशीर्वाद सुनकर युवती पहले तो हँसी फिर एकाएक चुप हो गयी। स्वामी जी को कुछ समझ में नहीं आया उन्होंने पूछा— 'देवी तुम हँसी क्यों हो? फिर एकाएक चुप क्यों हो गयी?'।

उस युवती ने कहा— 'मेरी हँसी और फिर चुप्पी का कारण यह है कि आप जैसे महात्मा का आशीर्वाद बिल्कुल निष्फल जायेगा।'।

क्यों बेटो तुम्हारे कोई सन्तान नहीं है क्या— पक्षे पर सिन्दूर और हाथों में चुड़ियाँ देखकर स्वामी जी ने उसके सधवा होने का अनुमान लगाते हुए कहा। तो स्त्री बोली— 'सन्तान हो भी तो कैसे स्वामी जी। मेरे पति तो बैराग्य धारण कर संन्यासी हो गये हैं। सुना है उन्होंने आप ही से ही दीक्षा ली है।'।

'मुझसे'— स्वामी जी ने चिन्तामन होकर पूछा। चिन्ता इसलिए थी कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने भूले तो गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और इस धर्म में अभी छेक से निर्वाह भरे नहीं हुआ था कि उसने पलायन कर लिया और मुझसे ही दीक्षा ग्रहण की। कुछ सोचते हुए स्वामी जी ने पूछा— 'बेटो तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारे पति किस नाम से पुकारे जाते हैं।'।

पेरा नाम रुक्मिणी है और मेरे पति विट्ठल पन्त कहे जाते हैं— युवती ने कहा— 'वे एक दिन गंगा स्नान की कह कर गये और फिर कभी नहीं लौटे। लौटे तो उनके सभाधार कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया है। तभी से मैं भी आठ पहर में केवल एक बार भोजन करती हूँ। बीपल की प्रदक्षिणा करती हूँ। इस बात को बारह वर्ष हो गये हैं।

रुक्मिणी अभी २९-३० के लगभग की थी। इसका अर्थ 'क्या' कि विट्ठल पन्त के कारण यह असमय में ही तापस वेश धारण करने के लिए विवश हो गयी थी। स्वामी जी ने कहा— समझ गया। समझ गया। इनने ही वर्ष पूर्व विट्ठल पन्त वे मुझसे संन्यास दीक्षा ली थी और चैतन्याश्रम स्वामी नाम धारण किया था।

फिर उन्होंने अपनी रमेश्वर यात्रा का विचार निरस्त करते हुए कहा— अब मैं काशी ही जाऊँगा और चैतन्याश्रम को वापस तुम्हारे पास भेजूँगा। जो व्यक्ति सन्तानहीन युवती पत्नी को छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है शास्त्रों की दृष्टि से वह अश्रम व धर्म की मर्यादा भंग

करने वाला पातकी है। उसे दीक्षा देने वाला गुरु भी उस दोष का भागी बनता है।

स्वामी जी के इस निश्चय की सुनकर रुक्मिणी ने भी उनके साथ काशी चलने का विचार व्यक्त किया। अपने माता-पिता की सम्पत्ति लेकर वह उनके साथ काशी गयी। स्वामी जी ने चैतन्याश्रम को बुलाकर सारा हाल पूछा तथा उसे सम्प्रा-बुद्धाकर रुक्मिणी के साथ आलन्दी भेज दिया। चैतन्याश्रम फिर गृहस्थ होकर विट्ठल पन्त हो गये। इन्हीं दम्पति ने सन १२७३ में ज्ञानदेव को जन्म दिया जो संत ज्ञानेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब उनके माता-पिता समाज से बहिष्कृत कर दिये गये थे। स्वामी रामानन्द ने तो विट्ठल पन्त को संन्यास छोड़कर गृहस्थ धर्म का पालन करने को आज्ञा दे दी थी और इसे शास्त्रोचित भी बताया था पर महाराष्ट्र के पण्डित इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। उस समय किसी संन्यासी का संन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम में लौट आना एक बहुत अद्भुत बात थी और इसे किसी भी रूप में सहन नहीं किया जाता था। समझा जाता था कि इससे संन्यासाश्रम का भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण पण्डितों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि उन्हें जाति और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय।

विट्ठल पन्त जब बहिष्कृत कर दिये गये तो उनकी आलोचना भी खूब हुई। पर गुरु द्वारा दी गयी व्यवस्था के कारण लोकमवाद से वे जरा-भी विचलित नहीं हुए। उल्टे उनके स्वाध्याय, आत्म चिन्ता और ईश्वर भजन में लगने वाला समय बढ़ता गया। पत्नी भी पति के पद-निष्ठ पर चलने लगी। इस प्रकार एक तरह से सारा परिवार ही भगवद्भक्त बन गया। उस समय विट्ठल पन्त की दशा अत्यन्त शोचनीय चल रही थी। न कहीं काम मिलता और न कोई शिक्षा देता था। फिर भी परम सन्तोषी वृत्ति के विट्ठल पन्त और उनकी पत्नी रुक्मिणी कई बार पेट की आग को पानी से बुझा लेते।

ज्ञानेश्वर अपने पिता की दूसरी सन्तान थे। उनसे पूर्व निवृत्ति नाम का जन्म हो चुका था। बाद में एक भाई और बहिन जन्मे इस प्रकार चार सन्तानों का पेट भरना बड़ा कठिन काम था। इस पर उनके भविष्य की चिन्ता अलग से। वह तो निश्चित था कि बहिष्कृत परिवार की सन्तान होने के कारण चाहे तो भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। न मिली ही। जब ज्ञानदेव के बड़े भाई निवृत्ति नाम सात वर्ष के हुए तो विट्ठल पन्त ने उनका उपनयन कराने का विचार किया। उन्हें पता था कि संस्कार के समय कोई ब्राह्मण नहीं आवेगा। फिर भी उन्होंने अपनी ओर से अनुनय विनय किया। कोई नहीं आया और निराश होकर विट्ठल पन्त ने पूरे परिवार को लेकर व्यवकेश्वर चलने का निश्चय किया।

वहाँ अप्रत्याशित रूप से प्रसिद्ध खंगी महिनीनाथ ने निवृत्ति नाम को दीक्षा दी। इसके बाद पूरा परिवार अपने गाँव आ गया। वहाँ कुछ दिनों तक रहे। फिर विट्ठल पन्त और रुक्मिणी अपने चार बच्चों को अनाथ छोड़कर प्रयाण कर गये। सब बालक अनाथ और असहाय

होकर पिशाचुति से अपना गुज़रा करने लगे। पिता की तरह शाखाध्ययन और सत्संग चर्चा में उनकी भी बड़ी रुचि थी। उनकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर वहाँ पैठण के ब्राह्मण बड़े प्रभावित होते थे वहीं उनकी दुर्दशा देखकर उन्हें दया भी आती थी।

कुछ ही वर्षों में ज्ञानदेव ने शस्त्रों का अध्ययन करने के साथ समाज की स्थिति का भी सुखी आँखों से अध्ययन कर लिया। इससे उनकी समझ में यह लघ्य चली गीति आ गया कि इन दिनों समाज में वर्ण, जाति और आश्रम के अनुसार बड़ा भेद-पाव प्रचलित था। और इस भेद-पाव के शिकार न केवल वही लोग हुए हैं बल्कि निम्न जाति के कहे जाने वाले लोग उनसे भी गये गुजरी स्थिति में हैं। ज्ञानदेव अपने अनुभव भाइयों को भी बताते हैं और सुझाते कि इन भेद-पावों को दूर किया जाना चाहिए। यह सुधार कार्य किस प्रकार हो इसका उचित उपाय यही संपन्न गया कि समाज में रहते हुए सौम्य और नम्र उपायों से ही काम लिया जाय।

धर पैठण के ब्राह्मणों ने भी अच्छे उत्तरता का परिचय दिया। उन्होंने निर्णय दिया कि पात्र-पित्र के अपराधों का दण्ड उनकी सन्तानों को देना अन्यायपूर्ण है इसलिए इन चारों भाई-बहनों की बुद्धि कर समाज में ले लेना चाहिए। तदनुसार सन् १२८८ में पैठण के ब्राह्मणों ने इन चारों बालकों की बुद्धि करवा कर समाज में सम्मिलित कर लिया। बुद्धि करवाकर ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहिन सहित वेसा से आ गये और वही रहने लगे। वही रहकर ज्ञानेश्वर जी ने भगवद्गीता पर १२९८ में एक सुन्दर भाष्य लिखा। जो 'ज्ञानेश्वरी गीता' के नाम से मराठी साहित्य और धर्म ग्रन्थों के भाष्यसाहित्य में अब भी अपना महत्त्व रखता है।

यों ज्ञानेश्वरजी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हैं। पता नहीं वे कितनी सत्य हैं और कितनी असत्य। पर ज्ञानेश्वरी-गीता के नाम से उन्होंने जो ग्रन्थ धार्मिक जनता को दिया वह अपने आप में एक बहुत बड़ा चमत्कार है। लगभग ८००० पृष्ठों के इस बृहद् ग्रन्थ में गीता का भावार्थ मराठी के ओवी छन्दों में बड़े सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया गया है अब से लगभग ७०० वर्ष पूर्व लिखी गई इस ज्ञानेश्वर गीता में ४६ प्रभावों के छन्द आये बताये जाते हैं। इसी से पता चलता है कि ज्ञानेश्वर जी ने अल्पानु में ही कितनी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

जिस समय ज्ञानेश्वर जी ने गीता पर अपनी भाषाई टीपिका टीका लिखी उस समय उनकी आयु केवल १५ वर्ष की बतायी जाती है। इतनी कम आयु में गीता जैसे गूढ़ग्रन्थ पर सुलझ हुआ भाष्य लिख देना एक चमत्कार ही कहा जायगा। ज्ञानेश्वरी पूरी करने के बाद वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्रा का उद्देश्य का लोगों को गीता के माध्यम से अधिक ज्ञान-कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का सरस सुगम मार्गदर्शन दिखाना। कहते हैं कि उनके समकालीन ब्रह्मसन्त नामदेव भी इस तीर्थयात्रा में साथ थे। उनके बड़े भाई निवृत्ति नाथ— जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे, सोपानदेव और मुक्ताबाई तो साथ थे ही। साथ में कई और लोग हो गये थे।

जगह-जगह जाकर उन्होंने सर्व साधारण को गीता का भावार्थ समझाया। इस ग्रन्थ की धारा उन्होंने प्रत्यक्षपूर्वक इतनी स्पष्ट रखी

कि जन-साधारण को आसानी से वे तथ्य समझ में आ जायें। जहाँ-जहाँ भी वे जाते भिक्षा-वृत्ति पर निकलते समय गीता सुनने के लिए भी लोगों को निर्णयित कर देते। पहले दिन जितने लोग उन्हें सुनने आते दूसरे दिन खेता बनकर आने वालों की संख्या उससे बड़ी-बड़ी हो रही। क्योंकि ज्ञानेश्वर के वक्तव्यों की धारा सीधी-सादी होने के साथ-साथ वे कहते समय वाकविधोर भी हो उठते। इसके अतिरिक्त वे अविरासी और दुष्टमयी प्रकृति के लोगों को अध्यात्म की शक्ति सापेक्ष बनाने के लिए विलक्षण कार्य भी कर बैठते। एक-बार कहते हैं उनके प्रतिपादनों की गूढ़ता देखकर कुछ लोगों ने उन पर संदेह किया कि वे कहीं रटी-रटाई बातें तो नहीं हैं। ज्ञानदेव पर आपेक्ष करते हुए किसी ने कहा था, 'नाम से क्या होता है? यह पैसा जा रहा है। इसको भी ज्ञानदेव कह सकते हैं।'।

इस पर ज्ञानदेव बोले— हाँ-हाँ ठीक है। इसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। इसमें भी पेरी ही अन्तर है।

इतना सुनने पर उस व्यक्ति ने पैसे की पीठ पर कस कर तीन कोड़े लगाये उस समय ज्ञानेश्वर जी ने सर्वात्मभाष की सिद्धि का अद्भुत परिचय का। कहते हैं कि पैसे की पीठ पर कोड़े पड़ते ही उसके निश्चय ज्ञानदेव की पीठ पर उभर आये थे और उन बातों से खून-बहने लगा का। इस प्रकार के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों और चमत्कारिक दृष्टियों ने अधिकांश जनता को ज्ञानेश्वर जी के पक्ष में कर दिया। अब उन्हें पण्डितों की हठधर्मिता की कोई चिन्ता नहीं रही उससे भी अधिक उन्हें सफ़लता प्राप्त चुकी थी। वह भी पण्डितों के अनुक्ति प्रभाव और अवांछनीय धारणाओं में त्रणाव का निरोधान।

कुछ लोग भले ही मानवताओं के सम्बन्ध में दुराग्रह करते रहें, उससे हमें तो तब है जब जन-साधारण में उनका प्रभाव बना रहे सन्त ज्ञानेश्वर इस स्थिति को बदलने में बहुत कुछ सफल हो गये थे, इसलिए उन्होंने मृदु पण्डितों से अनजाना छोड़ दिया। इस बढना के बाद वे कुछ दिनों तक अपने भाई-बहनों सहित पीण ग्राम में ही रहे और धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोगों में प्रचार करने लगे।

पीण में लोग उनकी विज्ञ-बुद्धि और धर्म-दर्शन में प्रवेश से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने विवेक और परमार्थ को ही धर्म का सच्चा स्वरूप निरूपित किया। लोगों के प्रश्न और जिज्ञासाओं का समुचित समाधान करने में उन्होंने अद्भुत कुशलता प्राप्त कर ली। ज्ञानबुद्धि के लिए धर्मशास्त्रों का अध्ययन और मनन-चिन्तन का क्रम भी चलता रहा फलस्वरूप उनके विद्या भण्डार में वृद्धि होने लगी।

धर्म प्रचार के लिए उन्होंने उस समय की प्रचलित पद्धति ही अपनाई। कथा-वार्ता और कीर्तन प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने सम्प्रदाय सिद्धान्तों को नया सन्दर्भ देना आरम्भ किया। वे प्रतिपादित करते थे कि धर्म और ईश्वर विश्वास ही सब सुखों का केन्द्र तथा कष्ट-कठिनाइयों के निवारण का मार्ग है। दुःख-कष्टों के निवारण में प्रभु विश्वास सहारे का काम देता है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के अभाव में धर्म लोगों को अति भ्रष्ट और अन्ध ब्रह्मालु बना देता है। इस कारण लोग ईश्वर को अपनी कामना पूर्ति तथा अस्वाभाविक लाभों का आधार बना लेते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार की

मान्यताओं का खण्डन हो किया और कहा कि ईश्वर की सहायता आत्म बल की वृद्धि, धैर्य प्रारण और सद्भावनाओं की प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त की जा सकती है।

पौष से चलकर वे जब नेत्र ग्राम में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने उनका अद्वितीय सन्त और प्रखर ज्ञान सिद्ध महत्त्व के रूप में स्वागत किया। अन्ध श्रद्धा और कामना पूर्ण के लिए कई लोगों ने उनसे सहायता की याचना भी की परन्तु ज्ञानेश्वर जी ने पुरुषार्थ और प्रयत्न को ही सफलता का मार्ग बतलाया। नेत्र गाँव में एक स्त्री इस कामना से उनके पास आई कि वे उसके मृत पति को जिवन्त कर दें। सन्त ज्ञानेश्वर ने उस स्त्री से प्रति कब नाम पूछा। स्त्री को आशा रही कि अब उसका पति जीवित हो जायेगा और उसने नाम बता दिया। मृत व्यक्ति का नाम था— 'सखिदानन्द'। ज्ञानेश्वर ने तुरन्त कहा— "सखिदानन्द तो अमर है। वह कभी मर ही नहीं सकता।"

स्त्री यह सोचकर लौट गई कि उसका पति इतना कहने मात्र से जीवित हो गया होगा। परन्तु घर आकर उसने अपनी आशा के विपरीत पति को उसी अवस्था में पाया। वह फिर ज्ञानेश्वर के पास लौट कर आई। तब उन्होंने जन्म-मरण को प्रकृति का सहज-स्वाभाविक तथा आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में विस्तार से समझाया। इन उपदेशों को सुनकर उस स्त्री का शोक सचमुच ही दूर हो गया। उनके वे उपदेश बाद में 'सखिदानन्द-विजय' नामक ग्रन्थ के रूप में परामय लिपिबद्ध कर लिए गये।

सन्त ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ भी लोक-कृतियों के रूप में मिलती हैं जिन्हें उन्हें अति मानवी स्वरूप देने के लिए कल्पना रचित कर दिया गया है। अन्यथा उन्होंने धर्म-साधना और ईश्वर-भक्ति की चमत्कारिक सिद्धियों का सदा विरोध ही किया। भगवान् की दी हुई विशेषताओं और योग-सम्पन्ना के फलस्वरूप अर्जित की गई सिद्धियों और चमत्कारों का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए प्रदर्शन के रूप में करना उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण में बाधक ही था।

चांगदेव नामक एक सिद्ध सन्त उन दिनों ताप्ती नदी के किनारे अभ्रम बनाकर रहते थे। वे कई विद्याओं के ज्ञाता तथा परकाया प्रवेश, अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के स्वामी थे। ताप्ती के तटवर्ती हलाकों में उनकी बड़ी उपाति थी। सन्त ज्ञानेश्वर ने इन तटवर्ती क्षेत्रों में प्रवेश किया तो स्वाभाविक ही उनकी कीर्ति फैली। चांगदेव को उनकी प्रसिद्धि से बड़ी ईर्ष्या हुई। अपना प्रतिस्पर्धक जानकर उन्हें अपमानित करने के लिए चांगदेव ने एक शिष्य को कोरा कागज देकर उनके पास भेजा। ज्ञानेश्वर ने उस कागज को उपस्थित कई लोगों के सामने खोला और चांगदेव के भावों को समझाकर उसके जकब में एक कविता लिखी। जिसमें अद्वितीय ब्रह्मज्ञान और चांगदेव के प्रति सम्मानप्रद भावनाएँ व्यक्त की गई थीं।

अपने व्यवहार के प्रत्युत्तर में इतना सद्व्यवहार करते देखकर चांगदेव का हृदय पिघल गया और वे अपने चौदह सौ शिष्यों के साथ सन्त ज्ञानेश्वर के पास आये। सन्त जी उनके आगमन का समाचार सुनकर उनका स्वागत करने के लिए कई मील दूर तक स्वयं चल कर आये।

चांगदेव और भी प्रभावित हुए और बाद में तो उनके शिष्य ही बन गये। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने इस नये शिष्य को चमत्कारों का प्रदर्शन छोड़कर आत्म-कल्याण की सन्धान में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने सदाशयतापूर्ण व्यवहार और आत्मोद्यता के प्रभाव से कई लोगों को सही मार्ग पर लगाया। वास्तव में यन्मुख जितना कहता है उससे कहीं अधिक सुना और समझा जाता है क्योंकि उसकी वाणी में उसके हृदय में बसने वाली भावना तथा सम्पर्क में आने वालों के प्रति व्यवहार और सद्गुण ही बल तथा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने को और मस्तिष्क को ही नहीं व्यवहार और हृदय को भी साधना। इसी कारण लोग उनके उपदेशों से अधिक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते थे।

धर्म प्रचार के लिए वे अपने शिष्यों सहित देश भर को गश्त पर भी निकलते थे। वे घूम-घूम कर ही लोगों को धर्म का उपदेश देने थे। दिल्ली पर उन दिनों कट्टर-पन्थी 'सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी' का राज्य था, जो हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था। उसके शासन में उषसन्ध, पूजा-पाठ, यज्ञ, कीर्तन-भजन आदि सर्वथा निषिद्ध था। सन्त ज्ञानेश्वर को यह सब पता था। फिर भी उन्होंने दिल्ली की सीमा में प्रवेश करते हुए भी अपना वह क्रम बालू रखा। भजन-कीर्तन करने हुए वे राजधानी की सड़कों पर घूमने लगे। मौलवियों ने पहले तो मना किया परन्तु जब वे नहीं माने तो उनकी शिकायत सुल्तान से कर दी। सुल्तान ने उन्हें पकड़वाकर बुला लिया। ज्ञानेश्वर जी की तेजस्वी वाणी, अगाध ज्ञान और आदर्श व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जलालुद्दीन खिलजी ने हिन्दू धर्म पर लगे सभी प्रतिबन्ध हटा लिए और सब लोगों को अपने धर्म और उपासना की खुली छूट दे दी।

इसी प्रकार सतपुड़ा के एक सुटेरे भील का हृदय परिवर्तन भी उनकी यात्रा के दौरान हुआ था और वह डाकू सन्त ज्ञानेश्वर का निष्ठावान शिष्य बन गया था। सन्त ज्ञानेश्वर ने घूम-घूमकर धर्म का सही धर्म सर्वसम्भारण को समझाया तथा उसे स्वयं भी अपने जीवन में उतारा।

उनकी मान्यता थी कि पूजा-पाठ तब तक अधूरा ही है, जब तक हृदय में सेवा और सद्भावनाएँ नहीं जागें। स्वयं गिरी हुई अभावग्रस्त स्थिति से ऊँचे उठे थे। बिना किसी का सहायता लिए स्वयं के प्रयासों से फिर भी गिरे हुए लोगों के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त सहानुभूति और उन्हें ऊँचा उठाने के लिए सहयोग देने की भावना थी। इसके लिए उन्होंने स्वयं भी प्रयत्न किया। चारित्रिक और आन्मिक दृष्टि से गिरे हुए लोगों को ऊँचा उठाना और दीन-दु खियों के प्रति सेवा-सहयोग की हवा बहाई। श्रद्धाभिषिक्त के लिए कई धनवान और सम्पन्न व्यक्ति उन्हें धन-सम्पदा घेंट करने आने रहते थे। अर्पित पैसों की ओर से आँख मूँद कर उसे दीन-दु खियों की सहायता में लगाने के लिए वे उन्हें का त्यों वापस कर देते।

प्रवचन और उपदेशों द्वारा ही नहीं, लेखनी और क्रियाओं द्वारा भी उन्होंने मानव मूल्यों के प्रतिपादक धर्म का प्रचार किया, भविष्य

में भी लोग इन सिद्धान्तों को भूल न जायें, इसका समुचित प्रबन्ध किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने साहित्य में लिखा। उनकी रचित ज्ञानेश्वरी गीता, अमृतानुभव योग वशिष्ठ-टीका आदि पुस्तकें आज भी आध्यात्मिक साहित्य की अमूल्य सम्पदा मानी जाती हैं। ये सब कृतियाँ उन्होंने अपनी यात्राओं और प्रवासों के समय ही लिखीं।

आषाढ़ और कार्तिक कृष्ण पक्ष की एकादशों को पंढरपुर में प्राचीनकाल से भारी मेला लगता है। इस अवसर पर देश-देशान्तर से हजारों की संख्या में लोग आते हैं। उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप से परिचित कराने का सहज-सुलभ अवसर जानकर सन्त ज्ञानेश्वर भी इस मेले में गये। स्थान-स्थान से आये दूर-दूर के लोगों ने उनके सान्निध्य का लाभ उठाया। इस मेले में कुछ विरोधियों ने उनसे पूछा कि—“आप महान् सन्त और ज्ञानी हैं तो घर बैठकर ही क्यों नहीं पुजते? इधर-उधर भटकते रहने की क्या जरूरत है?”

ज्ञानेश्वर जी ने कहा—“जगह-जगह घूमकर लोगों को ज्ञान और सन्मार्ग दिखाना तो मेरा धर्म है। कुँआ प्यास के पास नहीं जाता, इसलिए वह छोटा ही रह जाता है। सुखे तब जरूरत के क्षेत्रों में नदी बहती है तो वह अणु से विभु, क्षुद्र से गहन और छोटी बलधाग से सागर बन जाती है। यह समझकर ही मैं भी अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए यत्र-तत्र भटकता रहता हूँ।” कितना सटीक उत्तर था उनका। सन्त महापुरुषों की लोक-हित साधना भी उनके आत्म-कल्याण में सहायक बन जाती है।

कहा जाता है कि ज्ञानेश्वर जी ने एक बार गंधे के मुँह से भी वेद आधाओं का पाठ करवाया था। तीर्थ यात्रा द्वारा गांव-गांव में भक्तिमार्ग का प्रचार कर ज्ञानेश्वर जी वापस पंढरपुर लौटे। उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए जिस मार्ग का उपदेश दिया उसमें ज्ञानकर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए अधिकांश आचार्यों ने किसी एक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसे शंकराचार्य ने ज्ञान को ही सर्वाधिक प्रधानता दी है तथा कर्म और भक्ति को गौण बताया है लेकिन ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, भक्ति और योग तीनों विषयों का समुचित विश्लेषण करते हुए साधक से अपनी रुचि के अनुकूल मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी है।

ज्ञानेश्वर जी ने अपनी ज्ञानधारा प्रवाह से लेकर वृन्दावन, पंजाब, मारवाड़, काशी, गिरनार आदि स्थानों पर बहाई और मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों तथा स्थानों को उस ज्ञान गंगा में स्नान कराते गये। तीर्थ यात्रा पूरी कर लेने के बाद पंढरपुर में ही उन्होंने सन् १२९६ में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वरी गीता के अतिरिक्त योगवशिष्ठ पर भी उन्होंने अमृतानुभव नाम की एक टीका लिखी है। उनके उपदेशों से समाज में पिछड़े और निम्नकुल के लोगों में आत्मविश्वास का भाव जागा। बड़े-बड़े शास्त्रियों और धर्मगुरुओं ने उन्हें बस सर्व धर्म के लाभ से ही वंचित कर रखा था तब ज्ञानेश्वर जी ने उनके लिए ईश्वरीय राज्य का द्वार खोला और धर्मिक क्षेत्र में समानता का आदर्श स्थापित किया।

लोक-सेवी महात्मा— स्वामी विवेकानन्द

देश-विदेशों में श्री रामकृष्ण मिशन नाम के जो संस्था अपनी शाखाओं द्वारा लोक-सेवा के महान् कार्य कर रही हैं, उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द का भरोलू नाम नरेन्द्रनाथ था। उनका जन्म श्री विश्वनाथ दत्त के आत्मज के रूप में १२ फरवरी, १८६३ को कलकत्ता में हुआ था।

प्राथमिक शिक्षा घर पर पूरी करने के बाद उन्हें कलकत्ता के मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में प्रवेश कराया गया। स्वामी विवेकानन्द को प्रारम्भ से ज्ञान प्राप्त करने की बड़ी लगन थी। वे मन लगाकर पढ़ते थे और तब तक किसी प्रसंग को न छोड़ते थे जब तक उसे पूरी तरह समझ कर इदगम न कर लेते थे। अनेक बार उनके अध्यापकों ने उनसे कहा—नरेन्द्र! तुम हर बात पर तर्क बहुत किया करते हो। जो बात बतर्क खाया करे उसे सुन कर मान लिया करो।

बाल विवेकानन्द ने निवेदन किया कि आप की आज्ञा शिरोधार्य है। विभिन्न प्रकार से बात जानने के लिये तर्क करने में मेरा मन्तव्य यही रहता है कि बात मेरी समझ में पूरी तरह आ जाये। ऐसी किसी बात पर तर्क नहीं करता जो सामान्यतः मेरी समझ में आ जाती है। आगे से जिज्ञासा होने पर तर्क न करूँगा। गुरु की आज्ञा मान लेने में सब प्रकार से हित ही है। अध्यापक विवेकानन्द के कथन से सन्तुष्ट हो गये और कह दिया कि नरेन्द्र! जब तक तुम्हारी जिज्ञासा सन्तुष्ट तथा शक समाधान न हो जाये तब तक किसी भी बात को तर्कों के साथ पूछ और समझ सकते हो। विवेकानन्द का सतर्कतापूर्ण अध्ययन चलता रहा और उनकी सच्ची जिज्ञासा ज्ञान के रूप में परिणित होकर उन्हें आयु एवं अध्ययन के अनुपाल से आलोकित करती रही।

बाल विवेकानन्द जिस समय कलकत्ता में मैट्रिक परीक्षा की तैयारी कर रहे थे बहुत बीमार हो गये। बीमारी की दशा में भी वे अपने अध्ययन में पूर्ववत् ही लगे रहे जिससे उनका स्वास्थ्य निराशाजनक स्थिति में पहुँच गया। स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता प्रकट करने हुए एक दिन उनके कक्षा अध्यापक ने कहा—नरेन्द्र! तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है, जिसे उन्नत करने के लिये आवश्यक है कि तुम कुछ समय के लिये अध्ययन से अवकाश लेकर विश्राम करो।

अध्यापक की बात सुनकर विवेकानन्द ने दुःखी होकर कहा—“गुरुदेव! यदि अध्ययन से अवकाश लेकर बैठा रहूँगा तो मैं उस ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूँगा जिसे पाने के लिये त्यागार्पण हूँ। जन रहित अन्धेरा जीवन मृत्यु से बुरा होता है ऐसा मैंने अनेक पुस्तकों में पढ़ा है। अध्यापक ने नरेन्द्र को समझाने हुए कहा—यह बात ठीक है कि अज्ञान का अन्धकार मृत्यु के अन्धकार से घबराक होता है। फिर भी संसार की सारी उपलब्धियाँ शरीर के साथ ही हैं। जब आरोग्य के अभाव में शरीर ही अक्षय हो जायेगा तब न तो तुम

ज्ञान प्राप्त कर सकोगे और न उसका कोई उपयोग ही कर सकोगे। ज्ञान पाकर उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये न कर सकना भी ज्ञान न पाने के समान है। इस अस्वस्थ अवस्था में ज्ञान का एक बिन्दु पाने में जीवन के अनेक बिन्दु नष्ट हो जायेंगे। फिर अस्वस्थ अवस्था में हठपूर्वक पाया हुआ ज्ञान अपना निर्विकार एवं प्रसन्नपूर्ण नहीं होता जितना कि उसकी स्वभावतः होना चाहिये।

घर आकर विवेकानन्द ने अपने अध्यापक का परामर्श माता को बताया। आँखों में आँसू और मुख पर निराशा की छाया लिये विवेकानन्द से माता ने कहा—इसमें निराशा होने की क्या आवश्यकता, अभी मेरी आयु ही क्या है? थोड़े दिन विश्राम करके स्वास्थ्य सँभाल ले। अन्यथा पुनः अध्ययन करने लगना। गुरुजनों की बात मान कर नरेन्द्र ने विद्यालय छोड़ दिया। किन्तु वह चौदह वर्षीय किशोर विवेकानन्द इस व्यवधान से प्रसन्न न हो सका जिससे विश्राम की अवस्था में भी स्वास्थ्य का कोई लाभ न हुआ। निदान माता ने उसके पिता को स्थिति से अवगत कराया।

विवेकानन्द के पिता उस समय मध्य प्रदेश में काम कर रहे थे। उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास बुला लिया। सावधानीपूर्वक जब श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र को स्वास्थ्य लाभ की ओर बढ़ा दिया तब उसे स्वयं थोड़ा-थोड़ा पढ़ाने लगे। उन्हें पता था कि अन्धध्यास से प्राप्त विद्या भी चली जाती है।

दो वर्ष तक अपने पास रखकर स्वास्थ्य एवं शिक्षा वृद्धि कर श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र को पुनः 'मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता में पढ़ने के लिए भेज दिया। इस स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवधान से नरेन्द्र मैट्रिक की परीक्षा में दो साल फिछड़ गये। इसका उन्हें बहुत खेद था। किन्तु जो समय निकल जाता है वह किसी प्रकार वापस नहीं लाया जा सकता। उसकी क्षतिपूर्ति केवल इस उपाय से हो सकती है कि सामान्य अनुपात से कुछ अधिक समय काम किया जाय। स्वास्थ्य के प्रत्येक नियम का सावधानीपूर्वक पालन किया जाये जिससे कि समय की क्षतिपूर्ति में अस्वास्थ्य बाधा रूप न बन सके।

इस समय तक नरेन्द्र की आयु सोलह वर्ष की हो गई थी। वह पहले से अधिक सावधान, संयमित एवं संतुलित रह कर इस संकल्प के साथ अध्ययन में लग गया कि उसे हर परिश्रम के मूल्य पर मैट्रिक उत्तमोत्तम श्रेणी में पास करना है। पुरुषार्थ नरेन्द्र का संकल्प पुरा हुआ और वह स्कूल में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ।

मैट्रिक पास कर नरेन्द्र ने जिस समय कलेज में प्रवेश लिया उस समय उसके हृदय ने पुलकित होकर कहा अब मैं उस स्थिति के निकट आ गया हूँ जहाँ से ज्ञान के गहन स्तरों का उद्घाटन होता है। यदि मैं अपने परिश्रम के बल पर ईश्वरीय कृपा के समान ज्ञान की प्राप्ति कर सकूँ तो संसार का अधिकतर दूर करने में जीवन का एक एक क्षण लाभ दूँगा। इस शिव संकल्प की अनुभूति ने नरेन्द्रनाथ के हृदय में एक ऐसे उत्तरदायित्व का अङ्गण कर दिया जिससे उनका मानासिक स्तर सामान्य से उठ कर असामान्य स्थिति की ओर बढ़ गया। उनकी आत्मा में महानता का रोमंच होने और मन में कल्याण की कामनाएँ कल्लोल करने लगीं। उन्होंने आनन्द में आँखें मूँद कर

परमात्मा को धन्यवाद दिया और मन ही मन अपने आप से कहा—नरेन्द्र ! लोक-सेवा की मंगल कामना में इतना सुख है तब न जाने उसका प्रतिपादन करने में कितना सुख और सतोष होगा ! कर्तव्य ध्वनित हो चुका है उसका पालन करना और फलस्वरूप मानव जीवन की धन्यता प्राप्त करना अब तोरे हाथ में है। नवयुवक नरेन्द्रनाथ के इस मानसिक परिवर्तन को किसने देखा ? उसकी उस आत्मा ने जो लोक-कल्याण की भावना से तड़प उठी और उस भविष्य ने जो उनके स्वामी विवेकानन्द के रूप में पूजने की प्रतीक्षा कर रहा था। विश्वकल्याण के शिव संकल्प के साथ जीवन में जाग उठने वालों को ऐसे कौन श्रेय हैं जो पूर्ण रूप से न मिस जाते हों।

लोक-कल्याण के लिये नरेन्द्र नाथ ने जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी उसे प्राप्त करने के लिये उन्होंने पश्चात्त्य दर्शनों के साथ भारतीय दर्शन का अध्ययन किया। अनेक वर्षों तक दर्शनशास्त्रों में निमग्न रहने के बाद जब उन्होंने घटती प्रकार ज्ञान लिया कि अँग्रेजों ने जिस भारतीय तत्त्वज्ञान को दिग्गो उद्धान कह संसार में हेय स्थान दिसाने का प्रयत्न किया है, भारत का वह तत्त्वज्ञान संसार में सबसे अधिक सत्य है, शाश्वत एवं श्रेष्ठ है। तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे संसार को भारतीय तत्त्वज्ञान से अवगत करायेंगे और अँग्रेजों को इस दुर्भिक्षस्थि को निर्मूल कर देंगे जो कि वे भारतीयों को जड़, अन्ध-विश्वासी तथा अजिवेकी बह कर स्वराज्य के अयोग्य बान्हाने हुए विश्व-मत को भारत के पक्ष में होने से रोकते हैं।

इसके पूर्व कि वे संसार में भारत का आलोकित पक्ष प्रस्तुत करने के लिये आध्यात्मिक अभियान प्रारम्भ करते उन्होंने किसी सुयोग्य गुरु की छाया में सौगाध्यास द्वारा अपनी आत्मा तथा ज्ञान को प्रामाणिक बन लेना चाहा। निदान उन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शरण ली और उनकी कृपा से तेज-पूर्ण तपस्वा के साथ ज्ञान-सागर को अपनी आत्मा में भर लिया।

अभी तक जो नरेन्द्रनाथ अपने गुरु के सम्मुख आध्यात्मिक विद्यार्थी के गुस्तेव के विसर्जित होने के साथ ही संन्यास भारण का धर्म संकली बन कर स्वामी विवेकानन्द के रूप में बदल गये। गुरु के प्रति स्वामी विवेकानन्द की अनन्य ब्रह्मा ने उन्हें स्वामी रामकृष्ण परमहंस का तरुण संस्करण बना दिया। जिन्हें देखकर न जाने कितने तरुण देश-धर्म की सेवा करने के लिए तपस्वी बन गये।

तभी अमेरिका के शिक्षागो शहर में संसार का सर्वधर्म सम्मेलन हुआ जिसमें स्वामी जी ने भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व किया और अपने ज्ञानपूर्ण अंग्रेजी भाषण द्वारा न केवल अमेरिका बल्कि इंग्लैण्ड को आश्चर्यचकित बनाकर भारतीय तत्त्व ज्ञान की यथार्थता का समर्थक बना दिया। अनेक मास अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में सम्मान एवं साधुवाद पाकर जब स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे तब उनके साथ अनेक ऐसे शिष्य थे जो इससे पूर्व भारतीय धर्म को असमर्थ का विश्वास सिद्ध करने में ही जीवन की सप्रतार्थ्य लगा रहे थे।

धार्मिक विजय कर देश में लौटने पर स्वामी विवेकानन्द की शिष्य बनने की परम्परा लग गई जिनमें अधिकतर सुशिक्षित एवं सम्पन्न परिवार के तरुण ही थे जो कि आध्यात्मिक लाभ के लिये संसार के

२२० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

योगों को छोड़कर उन महात्मा की शरण में आवे थे। शिष्यों का अनुरोध था कि स्वामी विवेकानन्द आश्रम बना कर रहें और उन सब को योग साधना की शिक्षा देकर मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ावें। किन्तु वे लोग सेवा का सकल्य छोड़कर मठधीरों की तरह रहने को तैयार न हुए।

स्थानोप पूजा की मोहकनी मान्यता को छोड़कर मास्कर स्वामी विवेकानन्द ने दीन-दुःखियों, अन्धों तथा विधवाओं की सेवा करने के लिए अनेक मठ स्थापित किये, जिनमें वे आश्रमहीनों को आश्रय और शिष्यों को लोक-सेवा का शिक्षण एवं प्रशिक्षण करते थे। ज्ञानगिरि का साकार प्रतिमा स्वामी विवेकानन्द ने स्वयन्त-साधना द्वारा प्राप्त होने वाले आत्मामन्द को अंगीकार न कर सिद्ध कर दिया कि सच्चे योगी और तार्किक परमार्थी लोक-कल्याण तुलना में परम पद का कोई घुल्य नहीं मानते।

सन् १८८८ में रामकृष्ण मठ का कार्य अन्य गुरु भाइयों के सुपुर्न करके अपने उस महान् जीवन कार्य को सिद्ध करने के लिये निकल पड़े। उनका पहला कार्यक्रम यह था कि एक बार समस्त देश का भ्रमण करके जनता की दशा और प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाय, जिससे उसके उद्धार और प्रगति का ठीक-ठोक मार्ग निश्चय किया जा सके। उन्होंने वह प्रवास बङ्गाल से आरम्भ किया और राजस्थान, गुजरात, बम्बई, प्रान्त, मैसूर, मद्रास में कभी पैदल, कभी रेल द्वारा यात्रा करते हुये ठेठ कन्याकुमारी तक आ पहुँचे। इस यात्रा में उनको लगभग चार वर्ष लगे और अनेक राजा, महाराजाओं तथा जन-साधारण से उनका परिचय हुआ और सब प्रकार के भेद-भावों को त्याग कर साम्यभाव करने का अवसर मिला। संन्यास का सिद्धान्त है कि ब्राह्मण से लेकर खंडाल तक को समदृष्टि से देखा जाय और वैसा ही व्यवहार किया जाय। स्वामी जी ने संन्यास ग्रहण किया था पर अभी उसे व्यवहार में लाने का अवसर नहीं मिला था। बुन्दुवन को जाते हुये मार्ग में उन्होंने एक व्यक्ति को हुक्क पीते देखा तो उनके मन में भी चिलम पीने की इच्छा हो आई। पर जब उस व्यक्ति से चिलम माँगी तो उसने यह कह कर देने से इंकार कर दिया कि मैं तो जाति का मेहतर हूँ। यह सुनकर इनको भी संकोच हुआ और आगे चल दिये। पर कुछ ही क्षण बाद उनको ध्यान आया कि क्या यही मेरा संन्यास है कि मैं अब भी मेहतर को नीच मनु रहा हूँ। वे फिर वापस लौट आये और उस मेहतर से आग्रहपूर्वक चिलम माँग कर पी।

इसी प्रकार जब वे खेतड़ी में भ्रमण कर रहे थे तो एक गाँव में उनको तीन दिन तक अन्न-पानी नहीं मिला, यह देखकर एक वृद्ध दमर को बड़ा तरस आया और वह रात में चुपचाप उनके पास पहुँचा और खाने के सम्बन्ध में पूछने लगा। स्वामी जी ने उससे रोटी लाने को कहा पर उसने उत्तर दिया कि मैं चमार हूँ। अगर आपको रोटी खिलाऊँगा तो मासूम होने पर मुझे गाँव से निकाल दिया जावेगा। पर स्वामी जी के आश्वासन देने पर वह रोटी ले आया। कुछ समय पश्चात् जब स्वामी जी खेतड़ी के राजा के अतिथि बने तो उन्होंने इस घटना का जिक्र महाराज से किया। राजा ने चमार को बुलाया जिससे पहले तो वह बहुत डरा और रोकर क्षमा प्रार्थना करने लगा।

पर राजा ने उसे धैर्य देकर अच्छा इनाम दिया और जन्म भर के गुजारे की व्यवस्था कर दी।

स्वामी विवेकानन्द को सौराष्ट्र में भ्रमण करते समय किसी ने बताया कि सन् १८९३ में अमेरिका के शिकागो नगर में एक धर्म संसद का आयोजन किया जाने वाला है। उनके मन में विचार आया कि यदि पराधीन भारत विदेशी धर्म मंत्र से अध्यात्म का प्रकाश विभिन्न देशों को दे सके तो बड़े ही गौरव की बात होगी। एक दिन कन्याकुमारी के दर्शन कर वे समुद्र की लहरों में तैरने का आनन्द ले रहे थे कि पास में ही एक शिलाखण्ड दिखाई दिया। उस पर बैठ कर वे ध्यान-मग्न हो गये। साधना के बाद उठे तो उनमें शिकागो जाने का दृढ़ संकल्प था।

मद्रास में जाकर उन्होंने लोगों से अपने संकल्प की विधिवत् घोषणा कर दी और वह दिन निकट ही आ गया जिस दिन जलपोत में सवार हो शिकागो की ऐतिहासिक यात्रा करनी थी। ३१ मई १८९३ को उनके जलपोत ने भारत से विदा ली। वह वेनकूवर पहुँचे यहाँ से रेलगाड़ी द्वारा शिकागो तक की यात्रा पूर्ण की। शिकागो पहुँच कर स्वामी जी को जो जानकारी मिली वह बड़ी निराशाजनक थी। धर्म संसद का आयोजन तो सितम्बर माह में होना था पर बक्ताओं के नाप रजिस्टर्ड हो चुके थे और किसी मान्यता प्राप्त संस्था के प्रतिनिधियों को ही उस संसद में सम्मिलित होने का अधिकार था।

स्वामी जी तो किसी मान्य संस्था के प्रतिनिधि बन कर आये नहीं थे, फिर आयोजन में तो अभी दो माह शेष रह गये थे उनके पास इतना धन कहां था जो दो माह का समय किसी प्रकार बिताने सके। इस प्रकार की कठिनाइयों के मध्य वह तनिक भी विचलित नहीं हुए, वह तो किसी और ही बातु के बने थे। स्वभाव से ही आशावादी तथा सहस्रि थे। बोस्टन अमेरिका का कम खर्चीला स्थान था अतः वह वहीं चले गये। उन्होंने सोचा कि अब तक अपने पास गोड़े-बहुत पैसे हैं तब तक वहाँ गुजरा किया जावेगा। इसके बाद कुछ और व्यवस्था सोच ली जायेगी।

स्वामी जी का देदीप्यमान चेहरा और मधुर वाणी सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। उनका व्यक्तित्व ही चुम्बकीय था। वह रेल यात्रा कर रहे थे कि धनी परिवार की एक महिला उनके स्वभाव को देखकर मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई। उस महिला का कृषि फार्म मेटकाफ नामक स्थान में था जहाँ स्वामी जी को आतिथ्य स्वीकार कर जाना पड़ा।

अब तक स्वामी जी का नाम रजिस्टर्ड न हुआ था। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक साहित्य के प्राध्यापक प्रोफेसर जान हेनरी राइट जब स्वामी जी से प्रथम बार मिले तो वे बड़े प्रभावित हुए। उन्हें ऐसा लगा कि वे ऐसे उद्घाट विद्वान् तथा विचारक से अपने जीवन में प्रथम बार ही भेंट कर रहे हैं। उन्होंने अपनी ओर से ही स्वामी जी से निवेदन किया कि वे संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करें प्रतिनिधि-चयन-समिति के अध्यक्ष उनके मित्र थे अतः उन्होंने अध्यक्ष महोदय को स्वामी जी का परिचय कराते हुए कहा कि मेरे विश्व-विद्यालय के समस्त प्राध्यापकों की विद्वत्ता से भी अधिक विद्वत्ता

स्वामी जी में है। अन्त में स्वामी जी को किटा करते समय प्रो. जान ने शिकागो तक का एक टिकट भी खरीद कर दिया।

स्वामी जी कठिनाइयों से जूझने वाले थे, घबराने वाले नहीं। पास में एक घों पैसा न रहा तो रात भर भूखे पड़े रहे। सर्दों के दिन, जोर का हिमपात, बचाव के लिए कुछ भी नहीं मिला तो सड़क के किनारे पर पड़े टूटे सन्दूक में बैठकर ही सर्दों बचा ली। सुबह उठ कर द्वार द्वार भिक्षा माँगी तो बदले में मिला एक भारतीय सन्त को अपमान और अपशब्द क्योंकि स्वामी जी परकीन देश के निवासी थे। सहायता देना तो दूर रहा किन्तु ही व्यक्ति तो उनसे बात करना तक पसन्द नहीं करते थे।

सोमवार ११ सितम्बर, १८९३ शिकागो कला संस्थान का कोलेम्बस हाल और समय ठीक दस बजे का। आश्चर्य भी इस बात का कि एक धर्म मध्य पर विश्व के दस धर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित थे। विश्व के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। मध्य के मध्य में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के आचार्य कार्डिनल गिबन्स बैठे थे। उनके बाईं ओर रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, प्रेस्बेटीरियन आदि ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के पदरीगण काली पेशकश में तथा दायाँ ओर पूर्वी देशों के प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी पोशाकों में विराजमान थे। लंका से श्री धर्मपाल बौद्ध भिक्षु तथा जैन धर्म की ओर से गाँधी जी के एक सम्बन्धी पहुँचे थे। इस समारोह का प्रतिनिधित्व करने वाले थे बंगाल के प्रतापचन्द्र मजूमदार तथा बम्बई के नागरकर। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और श्री चक्रवर्ती ने धियासोफी सोसाइटी का प्रतिनिधित्व किया। पर इन सबके मध्य सर्वाधिक आकर्षित करने वाले थे स्वामी विवेकानन्द।

जो 'सिस्टर्स एण्ड ब्रादर्स ऑफ अमेरिका' ही बोल पाये थे कि साँठ हाल करतल ध्वनियों से गूँज उठा। सारे श्रोता उनके सम्मान में खड़े हो गये। वैसे अब तक कितने ही विद्वानों के भाषण सुने जा चुके थे पर जो आत्मीयता और मधुरता स्वामी जी के प्रथम शब्दों में थी वह अन्य किसी के भाषण में सुनने को न मिली थी। स्वामी जी स्वयं आश्चर्य में पड़ गये कि अभी तक मैं कुछ कह भी नहीं पाया हूँ फिर भी यह जन-समूह में हर्ष ध्वनि क्यों? स्वामी जी का यह प्रथम भाषण बहुत ही संक्षिप्त था। आमतौर से बोलने के पूर्व लोगों की यह धारणा थी कि परकीन देश का कोई पिलड़ा व्यक्ति अपनी बात शिक्षित समाज के सम्मुख बका रख सकेगा? पर छोटे-से भाषण में भी लोगों को अपनी धारणा बदलने के लिए विवश होना पड़ा।

स्वामी जी ने कहा जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से निकलने वाली और विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होने वाली सभी खरितें समुद्र में ही जाकर मिलती हैं उसी प्रकार अपनी रुचि की विभिन्नता के कारण टेढ़े अथवा सीधे मार्ग पर चलकर हम सब पहुँचते एक ही परमतत्त्व के पास हैं। इसके बाद तो स्वामी जी के भाषण को सुनने के लिये सैकड़ों मील से व्यक्ति आने लगे और स्वामी जी के नम्बर की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से करते थे। संसद के व्यवस्थापक भी कम चालाक

न थे उन्होंने स्वामी जी के प्रति सामान्य जनता का जब यह झुकाव देखा तो उनका कार्यक्रम सबसे अन्त में रखा जाने लगा जिससे अन्त तक सारा प्रवचन हाल भरा रहता था। बहाँ अन्य वक्ताओं को आधे घण्टे बोलने का समय निर्धारित किया गया था वहाँ स्वामी जी पर से समय का वह प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

उन दिनों स्वामी जी के शिकागो कार्यक्रमों के समाचार भी दैनिक पत्रों में प्रकाशित होते थे। न्यूयार्क हेरल्ड के सम्पादकीय लेख में तो यह लिखा था कि स्वामी जी का व्यक्तित्व धर्म संसद के समस्त वक्ताओं में अद्वितीय है। ऐसे विद्वान् का भाषण सुनकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारत अध्यात्म और विद्वत्ता की दृष्टि से कितना बढ़ा-चढ़ा देश होगा, फिर ऐसे देश में ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार के लिये भेजना कितनी बड़ी मुर्खता है।

भारत से दूर दो वर्षों तक स्वामी जी इस नई दुनिया का भ्रमण करते रहे और सैकड़ों स्थानों पर धर्म-जिज्ञासुओं को अध्यात्म का सन्देश सुनाते रहे पर उनके भाषणों में पिट्रपेवज नाम की कोई चीज न थी। प्रत्येक भ्रमण नये विचारों से ओत-प्रोत रहता था। सन् १८९७ में वे भारत लौटे। यहाँ ५ वर्ष तक देश के कोने-कोने में जाकर सन्देश देते रहे कि देशवासियों उठो, जागो और जब तक उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय तब तक रुको मत।

स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणावादी कथा प्रसंग

स्पष्टवादी

किशोरावस्था में ही विवेकानन्द एक ऐसे गुरु की खोज में थे जिन्होंने स्वयं ईश्वर को देखा हो और उन्हें भी दिखा लके वह जिस साधु-सन्त को देखते उसी से प्रश्न करते—“क्या आपने भगवान् को देखा है?”

एकबार उन्हें रामकृष्ण परमहंस के दर्शन हुए। उनके व्यक्तित्व और प्रवचनों से विवेकानन्द जी बहुत प्रभावित हुये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में उन्हें मिलने के लिये बुलाया।

विवेकानन्द उनसे मिलने गये तो देखा कि एक से एक बड़े आदमी उनकी सेवा में तत्पर हैं और वे उन्हें ईश्वर सम्बन्धी उपदेश कर रहे हैं। बालक विवेकानन्द उस प्रभावपूर्ण बालावरण में डरा-भी नहीं झिझके और श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रश्न कर दिया—“क्या आपने भगवान् को देखा है?”

बालक का यह दुःसाहस देखकर श्रीरामकृष्ण के भक्तों ने बुरा माना और कहा— बालक ! तुम्हें भगवान् से ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिये, स्वामी जी तो स्वयं भगवान् स्वरूप हैं।

बालक विवेकानन्द ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—“मैं बिना ठाँक से समझे किसी बात पर अन्धविश्वास नहीं करता।” श्रीरामकृष्ण उनकी इस स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हुये।

साथी की रक्षा

बालक विवेकानन्द अपने साथियों के साथ मेल देखकर आ रहा था। सन्ने में उसका एक साथी एक लॉगे के सामने इस प्रकार आ गया कि उसका दबले देखकर सभी चीख-पुकार करने लगे।

तभी वे बिजली की तरह दौड़कर छोड़े के सामने इस प्रकार खड़े हो गये कि महत्ता थोड़ा एक तरफ मुड़ गया और वह अपने साथी को खींच कर किनारे ले आये।

सहज शालीनता

स्वामी विवेकानन्द रेल के जिस डिब्बे में सफर कर रहे थे उसी डिब्बे में कुछ अंग्रेज यात्री भी थे। उन अंग्रेजों को साधुओं से बहुत घिठ थी। वे साधुओं को भर पेट निन्दा कर रहे थे। साथ खले साधु यात्री को भी गाली दे रहे थे। उनका विचार था कि वह साधु अंग्रेजों नहीं जानता होगा। उन दिनों अंग्रेजों जन्मने वाले साधु होते भी नहीं थे।

बड़े स्टेशन पर हजारों स्वागतार्थी उपस्थित थे जिनमें विद्वान् एवं अधिकारी भी थे। अंग्रेजों में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी अंग्रेजी में ही दे रहे थे। ऐसी अच्छी अंग्रेजी बोलते देखकर अंग्रेज यात्री स्तब्ध रह गये और अक्सर मिलने पर नम्रतापूर्वक पूछने लगे कि आपने हम लोगों की बातें सुनीं और बुरा मान होगा। स्वामी जी ने अपनी सहज शालीनता से कहा—

‘मेरा मस्तिष्क अपने ही कार्यों में इतना अधिक उलझा हुआ था कि आप लोगों की बातें सुनते हुए भी उन पर ध्यान देने और उनका बुरा मानने का अवसर ही नहीं मिला।’

मनुष्य की पहचान

मेरुआ बस्त्रधारी स्वामी विवेकानन्द न्यूयार्क की सड़क पर चले, तो पीछे कौतूहलप्रिय भीड़ चलने लगी। लोग उनका हंसी-मजाक बनाते और उनकी वेशभूषा पर टिप्पणी करते जा रहे थे। थोड़ा चलने के बाद, स्वामी जी रुके। भीड़ की ओर मुंह किया और बोले— ‘रुज्जने ! आपके देश में सम्भवतः सभ्य होने की परख वेशभूषा से की जाती है। किन्तु जिस देश से मैं आ रहा हूँ, वहाँ मनुष्य की पहचान उसके कपड़ों से नहीं, चरित्र से होती है।’

उन तंजस्वी बचनों को सुनकर भीड़ स्तब्ध-सी रह गई। स्वामी जी आगे बढ़ गये।

भागो मत—सामना करो

दुष्ट परिस्थितियों की तरह काशी के बन्दर भी बड़े दुष्ट होते हैं। एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे जो आने-जाने वालों को अकारण तंग करने में बड़े विख्यात थे।

मेरे साथ भी उन्होंने वही किया। मेरा रास्ते से गुजरना उन्हें अच्छा न लगा, वे चिल्लाकर मेरी ओर दौड़े और पैरों में कटने लगे। उनके हाथ से छुटकरा पा-ना असम्भव प्रतीत हुआ। तेजी से भागा पर जितना

भागता बन्दर भी उतना दौड़ते और काटते। तभी एक अपरिचित स्वर सुनाई दिया— ‘‘भागो मत सामना करो।’’ बस मैं खड़ा हो गया और ऐसी जोर की छट बताई कि एक घुड़की में ही बन्दर भाग खड़े हुए।

जीवन में जो कुछ भयानक है उसका हमें साहसपूर्वक सामना करना पड़ेगा। परिस्थितियों से भागना कायरता है। कायर पुरुष कभी विजयी नहीं होगा। धय, कष्ट और अज्ञान का जब हम सामना करने को तैयार होंगे तभी वे हमारे सामने से भागेंगे। यह शिक्षा मुझे उन बन्दरों से मिली।

धर्म की महत्ता आचरण में

स्वामी विवेकानन्द विरह भयण पर थे। वे अपने उपदेशों से भारतीय संस्कृति व धर्म की श्रेष्ठता का शंखनाद कर रहे थे। इसी बीच जापान के एक विद्वान् ने उनसे पूछा— ‘‘भारत में गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् आदि का इतना उच्च ज्ञान व दर्शन उपलब्ध है; फिर भी भारतवासी पराधीन और निर्धन क्यों बने हुए हैं?’’ इस पर स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर दिया— सर्वश्रेष्ठ व शक्तिशाली बन्दूक होते हुए भी उसके उपयोग की विधि उसका मालिक न जाने तो बन्दूक से वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यही विषयवस्तु है कि अपने श्रेष्ठ धर्म व संस्कृति के होने हुए भी भारतवासी तदनुरूप उसका आचरण नहीं करते। धर्म की महत्ता उसके आचरण में निहित है।

जरूरतमंदों की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म

कलकत्ता में स्वामी रामकृष्ण मठ की स्थापना हो चुकी थी। उनके सारे भक्त सन्ध्यास लेकर मठ में प्रवेश कर चुके थे। मठ का सारा काम मठ में लगी जमीन से चलता था।

तभी कलकत्ता में प्लेग का प्रकोप हुआ। लोग बुरी तरह मरने और बीमार होने लगे। स्वामी विवेकानन्द जी से यह देखा न गया और उन्होंने मठ को सुव्रथा शिविर में बदल दिया।

सारे अध्यात्म साधकों को सेवा कार्यों में लगा दिया और कहा— आज भगवान् ने अपने सच्चे भक्तों और सच्चे सन्ध्यापियों की परीक्षा ली है। आज मनुष्य और महामारी के बीच संग्राम छिड़ गया है। आज मठ के प्रत्येक सन्ध्यासी को अपनी सच्चाई का प्रमाण देना है। ऐसी सेवा करो, इतनी परिधर्या करो, इनकी सहानुभूति बरसाओ कि मठ में आया हुआ कोई भी रोगी मृत्यु से पराजित न होने पावे। धन की कमी होने पर मठ की भूमि बेच देंगे। चिन्ता न करना।

स्वामी जी की प्रभावान्तरक पुकार पर सन्ध्यासी जीवन के देवदूतों की भक्ति रोगियों की सेवा में जुट गये।

पहले स्वयं को जानो

स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों से प्रभावित होकर किसी ने कहा— ‘‘लगातार है आपकी पहुँच ईश्वर तक है। आप मुझे उस तक पहुँचा दीजिए। उसको मिलने का स्थान बता दीजिए।’’

स्वामी जी ने कहा— “आप अपना पता मुझे लिखा जाइये । जब ईश्वर की फुरसत होगी तब उसे आपके घर ही भेज दूंगा ।”

वह छाँककर अपने मकान का पता लिखाने लग्य ।

स्वामी जी ने कहा— “यह तो ईश्वर ने से बने धौंरे का पता है आप स्वयं अपना पता बताइये कि आप कौन हैं ? किस प्रयोजन के लिए नियत हैं और क्या कर रहे हैं ?”

ज्याँक इनके प्रश्न में छिपी दार्शनिकता का सकेत समझा और इस नतीजे पर पहुँचा कि पहले आत्म सत्ता के स्वरूप और उद्देश्य का पता लगाया चाहिए बाद में ही ईश्वर से मिलने की बात बनेगी ।

तप द्वारा विश्वहित में संलग्न पौहारी बाबा

हमारे शास्त्रों में मानव जीवन का सबसे उच्च उद्देश्य आत्मज्ञान बनलाया है । खाना-पीना, सोना-जगना, जीना-मरना तो सभी प्राणियों में स्वभावतः पाया जाता है । मनुष्य की विशेषता यही है कि वह इस प्राकृतिक-जीवन में रहते हुए अन्तर-जीवन को भी विकसित करे । इसी के लिये भजन-पूजन, सधना-उपासना आदि को अनेक प्रणालियों निकाली गई हैं, जिनके द्वारा मनुष्य को भौतिक-जगत की संघालिका आत्मशक्ति का ज्ञान हो सकता है और वह सधारण सांसारिक भोगों के संकीर्ण-जीवन से ऊपर उठकर एक विशाल और उच्च जीवन क्षेत्र में प्रवेश करने में समर्थ होना है ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार के बहुसंख्यक साधन प्रणालियाँ निर्धारित की हैं । इनमें सबसे प्रसिद्ध योग-साधन ही बतलाया गया है, पर ‘योग’ की भी स्रोतह शाखाएँ हो गई हैं जो एक दूसरे से बहुत भिन्न जान पड़ती हैं । इनमें से कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग का नाम तो सर्वत्र प्रसिद्ध है और गीता में भी उनका पुष्ट-पुष्ट वर्णन किया गया है । एक ही स्थान पर तीन प्रकार की प्रणालियों का उपदेश होता देखकर अनेक व्यक्ति विवाद करने लगते हैं कि इनमें से किसको अधिक उत्तम अथवा उपयुक्त माना जाय ? पर जो मनुष्य इस प्रकार के वाद-विवाद में न बढ़कर सच्चे हृदय से किसी भी प्रणाली का अनुसरण करके उसे अपने जीवन में कार्यरूप में स्थान देने लगता है, उसे कुछ ही समय में अनुभव हो जाता है कि वे सब भेदभाव बाहरी हैं और समस्त प्रणालियों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है । इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर गीताकार ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

तं बुद्धिमान् भनस्येषु सपुक्तः कृत्स्न कर्मकृन् ॥४३८॥

अर्थात् ‘जो कर्म में अकर्म (अर्थात् किञ्चित् वा शान्ति) का अनुभव करता है और अकर्म (अर्थात् शान्ति) में कर्मप्रयत्न बना रहता है वह मनुष्यो में बुद्धिमान है, वही योगी है और उसी ने सब कर्म किये हैं’

पिछले सौ वर्षों में हमारे देश में जिन अनेक उच्चकोटि के महात्माओं का आविर्भाव हुआ है उनमें पौहारी बाबा इसी श्रेणी में थे ।

उन्होंने किसी विशेष प्रणाली का आग्रह न रखकर सधारण भाव से आत्म-साधन को ही अपना लक्ष्य बनाया । सबसे पहले उनके चाचा लक्ष्मी शरण्य ही उनके गुरु बने और वे उनके आग्रह में ही विद्याप्यास और धार्मिक नियमों का पालन करने लगे । फिर जहाँ सुविधा मिली शास्त्रों का अध्ययन करते रहे और पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में इन धर्मियों के विद्वान् हो गये ।

इसी समय संवत् १९१३ में उनके चाचा का देहांत हो गया और उसके स्थान पर इनको मन्दिर और आश्रम की देखभाल और पूजा-पाठ का घर ग्रहण करना पड़ा । वे कुछ समय तक इस कार्य को करते रहे, पर इससे अध्यात्म-मार्ग में विशेष प्रगति न होते देखकर उनका चित्त अशान्त रहने लगा । इससे एक वर्ष बाद वे अपने एक गुरु भई को मन्दिर का भार देकर देश भ्रमण के लिये चल दिये । अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हुये जब वे गिरनार पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ एक सिद्ध योगी से इनकी भेंट हो गई । उसने इन्हें शिष्य बनाकर योग की शिक्षा दी । वहाँ से वे दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करके दो-तीन वर्ष बाद पुनः अपने आश्रम में वापस आ गये ।

अब उनका साधन-कार्य विधिवत् होने लगा । सुबह से लेकर दस बजे तक का समय वे स्नान, सध्या और पूजा-पाठ में लगाते । जब वे गंगा के जल में खुड़े होकर स्नान जोड़कर स्तोत्र पढ़ते तो यही जन पड़ता कि मानो देवगण अभी उनके सामने खड़े हो जायेंगे । पूजा सम्पन्न करके योगभ्यास में प्रवृत्त होते और चार-पाँच बण्टा तक भोग की विभिन्न क्रियाएँ करते रहते । इसके पश्चात् वे स्वयं रसोई बनाकर रामचन्द्र जी की मूर्ति के सम्मुख भोग लगाते । वे धाक विठा में निपुण थे और भोग के लिये उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते थे पर उन सब पदार्थों को स्वयं न खाकर दीनजनों को या परिचित व्यक्तियों को बाँट देते थे और स्वयं बहुत सधारण भोजन बनाकर खाते थे । इस प्रकार कई वर्ष तक करने के पश्चात् उनको विचार आया कि इस प्रकार कई बण्टा रसोई बनाने में व्यर्थ खर्च होते जाते हैं, इसलिए यह नियम धीरे-धीरे कम करना चाहिये । तब वे चाहे जब भोजन न बनाकर थोड़े से बिल्वपत्र दूध के साथ उबाल कर खा जाते या पणस-साठ भिर्ष पीसकर पानी के साथ पी जाते । किसी दिन पूर्ण उपवास ही कर झलते । इस प्रकार उनका भोजन घटते-घटते नाम मात्र को रह गया ।

कुछ समय पश्चात् उन्होंने आश्रम में एक गुफा बनवाई और उसमें बैठकर समाधि-योग करने लगे । अब वे कई-कई दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और न किसी तरह का भोजन लेते थे । इससे लोगों में उनका नाम ‘पौहारी बाबा’ (पवन का आहार करने वाले) प्रसिद्ध हो गया । उन्होंने अपनी कुटी से भी बाहर निकलना बन्द कर दिया था । बाहर के स्थानों से जो छो-छो पुरुष उनके दर्शनों के लिये आते उनके लिये एकदशी का दिन नियत का दिया था । इस प्रकार वे सासारिक कर्षों से यत्नसंभव दूर रहकर अपना समय साधना में ही व्यतीत करने लगे ।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि पौहारी बाबा प्राचीन ढंग के एक भजनानन्दी साधु ही थे और उनके लोक-कल्याण, समाज सेवा आदि

विषयों का कोई ज्ञान न था। सुप्रसिद्ध देशभक्त सन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी इन पौहारी बाबा के निकट कई महीने तक रहे थे, और उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर अमरीका में भाषण देते हुये यह कहा था कि “मैंने भारतवर्ष में गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस के पश्चात् किसी अन्य महापुरुष में महान् आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान का दर्शन किये तो वे पौहारी बाबा ही थे।” पर उन्होंने लोक-सेवा का कोई बड़ा कार्य सार्वजनिक रूप से नहीं उठाया तो इसका कारण यही था कि वे नम्रतावश अपने को उस योग्य नहीं समझते थे। एक बार बातचीत करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा कि “आप ससार को धर्म मार्ग दिखाने के लिये अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं निकलते?” इस पर उन्होंने उस दृष्ट मनुष्य का दृष्टान्त सुनाया जिसने अपनी नाक बगटे जाने पर इसी बड़े साधना का अंग बतलाया था और धीरे-धीरे एक ‘नकटा सम्प्रदाय’ की स्थापना ही कर दी थी! उन्होंने हँसते हुये स्वामी जी से कहा कि क्या आप चाहते हैं कि मैं भी ऐसा ही कोई ‘नकटा-सम्प्रदाय’ स्थापित कर जाऊँ? पर अब इसके बाद भी स्वामी जी उनसे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का आग्रह करते रहे तो उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा— “तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल-शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता की जा सकती है? क्या शरीर के क्रियाशील हुए बिना केवल मन से दूसरे लोगों की सहायता नहीं की जा सकती?”

एक-दूसरे अवसर पर जब उनसे प्रश्न किया गया कि “ज्येष्ठ ज्ञानी और सिद्ध योगी होते हुए भी आप मूर्ति पूजा और होम आदि क्यों करते हैं? ये कर्म तो साधना के आरम्भिक अंग ही माने जाते हैं।” तब उन्होंने कहा — “क्या प्रत्येक कर्म अपने कल्याण की दृष्टि से ही किया जाता है? ज्ञानी मनुष्य भी बहुत से साधारण कृष्ण दूसरों को उपदेश देने और उन्हें धर्म मार्ग पर स्थिर रखने के उद्देश्य से किया करते हैं।”

इस प्रकार पौहारी बाबा अपने कृपा से लोकोपकार और सेवाधर्म के पथिक थे। आश्रम के कर्मों की कुछ देख-रेख और वृद्धि करते हुये भी उससे पूर्णतः निस्पृह रहते थे और उनमें उसके प्रति किसी प्रकार की घमिला-मोह का भाव न था। एक बार एक वैष्णव साधु उनके पास आकर उनकी भर्त्सना करने लगा कि “तुम शम्भु और त्यागी होकर भी आश्रम की मर्यादा में क्यों फँसे हुये हो? तुमने वैराग्य धारण करके इतनी बड़ी सम्पत्ति और सामग्री क्यों इकट्ठी कर रखी है? इस सबको मुझे देकर तुम अज्ञात रूप से कहीं चले जाओ।” पौहारी बाबा ने उसकी बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया और अपनी कुटी की चाकी घुपकाप उसे देकर रुत के समय वहाँ से चल दिये। प्रातः काल जब शिष्यों तथा अन्य आश्रमवासियों ने बाबा को वहाँ न पाया तो बड़ा कोलाहल मचा और इस घटना का कारण उस साधु को मड़कर उसे मारने पीटने लगे। पर पौहारी बाबा का कहीं पता नहीं लगा। कई महीने बाद किसी जानकार व्यक्ति से उनकी खबर मिली और तब उनके बड़ी कठिनाई से समझाकर आश्रम में फिर से लौटा।

एक बार कोई चोर उनके आश्रम में चोरी करने आया और जो कुछ पित्त उसे गठरी में बांध लिया। इतने में पौहारी बाबा जाग गये और यह देखकर चोर गठरी छोड़कर भागने लगा। वे भी गठरी लेकर चोर के पीछे दौड़े और बहुत दूर जाकर उसे पकड़ लिया। इन्होंने चोर को पोटली देकर उससे कहा था कि वे जाग जाने से उसके कर्म में बाधक बने। वे बार-बार उससे यही प्रार्थना करते रहे कि “तुम इस साधन को ले जाओ, यह तुम्हारा ही है।”

अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में वे प्रायः एकांत में ही रहे और इस बीच में शायद ही किसी ने उनको देखा पाया हो। उनकी गुफा में दरवाजे के पीछे एक ताल में थोड़ा आलू और मक्खन रख दिया जाता था और जब वे समाधि से उठकर ऊपर वाले कमरे में आते तो इन चीजों को ले लेते थे। कभी वे पाँच-पाँच सात-सात दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और भोजन सामग्री जैसी की तैयारी ही रखी रहती थी। वे प्रायः रात के समय ही गुफा से निकलते थे और उसी समय आवश्यकतानुसार गंगा के उस पार जाकर कुछ योग-क्रिया भी किया करते थे। एक बार अकस्मात् किसी के आ जाने से इस क्रिया में विघ्न पड़ गया जिससे उनकी तबियत बिगड़ गई। लोगों ने अनेक बार जानना चाहा कि उनको क्या कष्ट है पर उन्होंने कुछ बतलाया नहीं। वे जीवनमुक्त स्थिति में पहुँच जाने के कारण शरीर के रहने या न रहने का कोई महत्त्व नहीं समझते थे और इसके लिये स्वयं विन्ता करना या किसी अन्य को कष्ट देना उन्हें स्वीकार न था। अन्त में संवत् १९५५ के ज्येष्ठ मास की सप्तमी को उन्होंने अपनी कुटी के भीतर हवन कुण्ड को प्रज्ज्वलित करके अन्य सामग्री के साथ अपनी देह की अहुति भी दे दी। कितने ही लोगों के देखते देखते उनका पाप बहारांध को फोड़कर बाहर निकल गया। सर्व साधारण ने इन घटना के विषय में तरह-तरह के अनुमान लगाये और कुछ ने इस कार्य को अनुचित भी बतलाया पर उनके सुपरिचित स्वामी विवेकानन्द ने बड़ी कहा कि “जब पौहारी बाबा ने यह जान लिया कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है, तो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके कारण किसी को कष्ट न हो, इसलिए उन्होंने स्वस्थ शरीर और मन से आर्पणार्थि एति से अपना अन्तिम संस्कार भी स्वयं ही कर लिया।”

कास्तव्य में महापुरुषों के चरित्र की अनेक घटनायें गूढ़ अर्थ रखती हैं और उनका रहस्य न समझ सकने के कारण सामान्यजन उनकी विपरीत आलोचना करने लगते हैं। पौहारी बाबा ने आत्मज्ञान अपना यह सिद्धान्त रखा कि दूसरों की मकारावृत्ति अधिक से अधिक सेवा और भलाई करते रहना, पर अपनी किसी प्रकार की सेवा किसी से न कराना।

अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम करके आश्रम की उन्नति करके उसे इस योग्य बनाया कि उससे अनिधियों और आस पास वात्तों की सेवा की जा सके और इसके बाद धीरे-धीरे उसकी व्यवस्था दूसरों को देकर स्वयं पृथक् होते चले गये। अन्त में पूर्ण निष्काम भाव का उदाहरण उपस्थित करते हुए वे आश्रम या उसकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक शब्द भी बोले बिना विश्व सत्ता में लीन हो गये।

योग मार्ग के प्रबल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ

‘जहाँ दो कोस तक चारों ओर जनशून्य स्थान मिले, वहीं आसन लगा ।’ अपने समर्थ शिष्य को दीक्षा देने के बाद मत्स्येन्द्रनाथ जी ने आदेश दिया । यह हिमप्रान्त जनशून्य क्या प्राणशून्य न । नेपाल में मुक्तिनाथ से काफी आगे दुर्गम पर्वतमालाओं में स्थित है यह शालिग्राम क्षेत्र । दाणोदर कुण्ड के पास की इस भूमि को बरफ ने अपनी लम्बी-सौड़ी सफेद चादर से ढक रखा था ।

कितना कठिन है देहाभ्यास । आठ घंटे जहाँ जाने के लिए विशेष पोशाक विशेष जूते और अनेक औषधियाँ जरूरी पड़ती हैं । जहाँ आँखों पर चश्मे का नीलाचरण न हो तो बर्फ पर प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणें आँखों में अन्धा बना दें । नासिका किसी चिकने लेप से ढकी न हो तो हिमदेश ने उसे कब्ज मला दिया, पता ही न लगे । ऐसे विकट क्षेत्र में उन दिनों जो केवल कालो कोपीन लपेटे नग्नदेह नंगे पाँव जा पहुँचा हो, उसकी कठिनाइयों का क्या ठिकाना ?

‘‘बहुत बाधक है देह की अनुभूति ।’’ उन जैसे के लिए भी मन को देह से हटाकर एकाग्र कर पाना कठिन हो रहा था । प्राणायाम से प्राप्त उष्मा थोड़ी देर में चुक जाती । तब, ऐसा लगने लगता कि सदी हज़ी में बलात घुस कर उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर देगी । नाड़ियों के फटने की असह्यवेदना मन को खंचल होने के लिए निवारा कर देती । पुनः प्राणायाम का सहाय लेना पड़ता ।

‘‘देह जब लक्ष्य की ओर जाने नहीं देती तब क्यों न देह को ही लक्ष्य बनाकर पहले उस ओर से निश्चिन्त हो लिया जाय ।’’ सर्वथा नया नहीं था यह तर्क । अवभूत गुरु दत्तत्रेय ने रसेश्वर—सम्प्रदाय की स्थापना इसीलिए की थी और वह सिद्ध रसेन्द्र प्रक्रिया से अपरिचित न थे ।

शुभ शशांक भवल विप्र पारा आज अग्राम्य है और सुलभ कभी था ही नहीं । किन्तु महायोगी के लिए दुष्काम्य क्या ? रस प्रक्रिया आरंभ कर दी गयी । आधिदैविक शक्तियों ने स्वयं को असमर्थ पाया उस महासाधक के सामने । जहाँ छिद्र होता है, विष्णु वहीं आते हैं । प्रभादरहित पूर्व जागरूक गोरखनाथ के समीप किन कर्तव्यों से जाते ?

सहसा वह आसन से उठ खड़े हुए । उन्होंने जल और बिस्व पत्र हाथ में लिया । धरती और गगन को अपने पदमात से पीड़ित करती भगवती स्निग्धभस्ता दौड़ती आ रही थी । ‘‘गोरखनाथ जी अत्यन्त विनीत स्वर में बोले ‘‘माता ! आप कोई रूप तो लें, अपने शिशु पर निष्कलन नहीं हो सकती ।’’

क्षण भर में चारों ओर शान्ति छा गई । महादेवी का हस्त स्थिति मस्तक गले पर आ लग्न । उनके बगल में खड़ी खेनो पुरीतों उनमें लीन हो गई । वे दिगम्बरा निरुपा अब पाटल अरुण बख्शों में किंचित श्याम रंग लिए त्रिपुर भैरवी बन चुकी थी ।

‘‘शंकर हृदि स्थिता करुणामयी अम्मे ।’’ गोरखनाथ ने सविधि स्तवन किया । किन्तु वह रूप त्रिपुर सुन्दरी नहीं बना । कोई

चिन्ता की बात नहीं थी । त्रिपुर भैरवी महाकाल शिव के हृदय में स्थित होने से अतिशय करुणामयी हैं । साधक के लिए सिद्धिप्रदा हैं ।

‘‘तुमने महाशक्ति की अर्चना के बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया । यह भी याद है तुम्हें कि समय कौन-सा है । इस समय रस सिद्धि कदाचित ही होती है । तुम केवल इसे अपने तीन शिष्यों को दे सकोगे ।’’ भगवती सीमा निर्धारित कर अन्तर्ध्यान हो गयी ।

रस को संस्कारित करने का श्रम तथा संकट को जिसने स्वीकार उस कौमारी शक्ति को तो वंचित नहीं किया जा सकता । सिद्ध रस के सेवन ने उन्हें अमर योगिनी बना दिया । विभिन्न योग सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में अनेक नामों से उनका उल्लेख है ।

रसेन्द्र का सेवन करके देह सिद्ध हो गई । अब उन्होंने फिर से दाणोदर कुण्ड के पास एक हिमशिला पर आसन जमाया । प्रकृति की शक्तियाँ अब उनकी देह पर अपना प्रभाव छोड़ने में असमर्थ थीं ध्यान में अब देह की बाधा नहीं थी ।

‘‘दम्भी कहीं का ?’’ एक प्रबल अट्टहास के बीच गुंजते इन शब्दों ने उनका ध्यान तोड़ दिया । बिखरी जटाएँ, अंगार जैसी आँखें, दिगम्बर, भलिनभय, भारी-भरकम डील-डौल वाला पागल इस निर्जन में कहीं से आ गया । सबसे बड़ा आश्चर्य यह था कि वह अपना ध्यान किसी भी तरह नहीं जमा पा रहे थे । सैकड़ों वज्रध्वनियों करते शिलाखण्ड जहाँ थोड़ी-थोड़ी देर में टूटते हों, उस भ्रमण्ड कोलाहल में सर्वथा अप्रभावित रहने वाले इस योगी को इस पागल के अट्टहास ने विचलित कर दिया था । उसे लगता था किसी ने उसके बल को वनपूर्वक काँट निकाल कर पटक दिया है ।

‘‘आप कौन हैं ?’’ गोरखनाथ जी ने पूछा । वे अपनी आँखों की पलकें भी नहीं झपका पा रहे थे ।

‘‘अपने आप का परिचय पूछता है, मूर्ख कहीं का ।’’ पागल ने हाथ की तलवार से उन पर प्रहार किया । किन्तु योगी की सिद्ध देह से टकराकर तलवार एक तीव्र झंकार ध्वनि के साथ पागल के हाथ से छूट कर दूर जा गिरी । उनके शरीर पर कोई चिह्न नहीं बना था ।

‘‘दम्भी तेरा गुरु’’ वह पागल गुल्देव को पता नहीं क्या अपशब्द कहेगा । गुरु के अपमान की संभावना को वह सहन नहीं कर पाये उन्होंने झपट कर तलवार उसकी और पूरी ताकत से पागल पर धोड़ की । पर वह क्या ? अचानक के वेग ने उन्हें स्वयं एक हिमशिला पर पटक दिया । पागल के शरीर में से तलवार ऐसे निकल गई, जैसे हवा में चलाई गयी हो ।

‘‘आप कौन ?’’ वह स्तम्भ वे, ऐसा कौन है जो उनकी सर्वज्ञ दृष्टि को पकड़ में नहीं आ रहा । ‘‘मैं दूढ़ नहीं कहता । अपने दम्भ के कारण तू अविश्वासी बन गया है ।’’ पागल का स्वरूप बदल गया और वह अपने गुरु को पहचान कर उनके चरणों में गिर पड़े ।

‘‘आफ़सो छोड़कर ऐसा शक्तिसम्पन्न धरती पर और कोई नहीं ।’’ उनकी आँखों से झरती अमुघार गुरु चरणों को धो रही थी । ‘‘ब्रह्मदेह पाने का मेरा गर्व गल गया । मुझ पर अनुग्रह करें देव ।

मेरी दम्भी ।” “माँ को अपने अशोध शिशु की चिन्ता रहती है और गुरु का हृदय यों से भी कहीं ज्यादा गमन्य लिए होता है । तू क्या समझता है मत्स्येन्द्र अपना कर्तव्य भूल गया । एक नर जिसे शिष्य स्वीकार किया उसे परम सिद्धि तक पहुँचाना तो मेरा कर्तव्य था । तेरे हर क्रियाकलाप पर मेरी नज़र रहती है । छिन्नमस्ता को तूने प्रसन्न कर लिया पर यदि चापुष्प अहंता तो ?” सचमुच आना तो चापुष्प को था । उनकी बड़ा देह पीपल के पत्ते की तरह काँप उठी । शिववत् तापहृष करने वाली उग्र भैरवी को वे कैसे शान्त करते ? वे तो कोई पर्यादा नहीं मानती ।

“चापुष्प पीठ से चला आ रहा हूँ मैं ।” गुरु इसे “मेरी अर्च की उपेक्षा वह नहीं कर सकती ।” शिष्य का मस्तक अपने समर्थ गुरु के चरणों पर था ।

“किन्तु तू दम्भी है” मत्स्येन्द्रनाथ कह रहे थे । “मेरी इच्छा थी कि तू इस निर्जन में दोड़े दिनों तप करता । तप अपार शक्ति का द्वार खोल देता है ।”

‘दम्भ !’ गुरु मुख से अपने लिए अनेक बार निकलने इस शब्द का आशय वह नहीं समझ पा रहे थे । दम्भ तो दूसरों के सामने अपना बड़प्पन दिखाने के लिए किया जाता है । इस निर्जन भूमि में उनके आचरण को कौन देखने वाला है ?

“तप का मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं शीत, तप, सुख दुःख आदि दुन्द्वों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करने को । तितिक्षा की आग में पक कर शरीर और मन निर्द्वन्द्व होते हैं । सपत्न का पाप लाभ प्राप्त करते हैं ।” मत्स्येन्द्र का स्वर छिन्न था । बबदेह से कौन-सा तप करेगा तू ? जब शरीर पर किसी सटी-गर्मी का प्रभाव ही नहीं है, तब वहाँ तेरा रहना तप का दम्भ नहीं तो और क्या है ।”

बहु चुप थे । उनके समीप कोई जवाब नहीं था । गुरु थोड़ा रुक कर बोले “मुझ से भी यही भूल हुई थी । व्योमदेह पाने के बाद मैं प्रसन्न हुआ था । अब जानता हूँ वह मेरी हार थी । माया ने मुझे देह की ओर आकृष्ट कर पंगु कर दिया ।”

“परमात्मसत्ता कर्तृता की निर्द्विणी है । देह को यदि कब्र या व्योम जैसा बनना जरूरी होता तो उसने ऐसा करने में संकोच न किया होता ।” शिष्य की ओर देखते हुए परम गुरु बोले “देह की दुर्बलता कष्ट अनुभव करने की क्षमता ही मनुष्य को तप एवं तितिक्षा के साधन देती है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि को बदल डालने की शक्ति है ।”

“अब से मेरी तरह संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिए स्वयं को नियोजित करो । मनुष्य जीवन को अर्धवर्गी बनाने के लिए जो मान-अपमान सहना पड़े उसमें समान रहो । वह तुम्हारा—मानसिक तप है । शारीरिक तप के लिए तो तुमने स्वयं को अवोयब बना लिया ।” “महाशिव की इच्छा पूर्ण हो ।”

शिष्य मोरछनाथ गुरु के पीछे चल पड़ा । अस्त्र मन ‘तितिक्षा दुःख सम्मर्ष’ के सूत्र पर मनन करने में लग गया था । अब उसे बोध हो गया था कि कैसे वह अपने पथ से विचलित हो गया था । सही समय पर गुरु ने आकर उसे मार्गदर्शन न दिया होता तो संभवतः

अपने ही अहम्कार में चूर वह लक्ष्य से भटक कर न जाने किधर चल दिया होता ।

व्यावहारिक जीवन जीते हुए, संघर्ष करते हुए, दुःखों का सामना करते हुए जो तपकर कुन्दन की तरह दमकता है, वही सही अर्थों में तपस्वी है ।

देश एवं धर्म साधना के साधक महर्षि अरविन्द

स्वामी विवेकानन्द ने मानव अन्तरात्मा को जाग्रत करने के लिए जो प्रबल प्रयत्न किए वे उनका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर—विशेषतया बंगाल पर पड़ा । अध्यात्म कथनों या भगोड़ों की बपौती नहीं बरन् शूरीयों और सत्पुरुषों की जीवन नीति है, यह उपदेश करते हुए स्वामी जी देशव्यापी प्रचार कार्य में लगे थे । तेजस्वी नवयुवक उनसे बहुत प्रभावित हुए । धर्म, संस्कृति समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठा पैदा करना और मानवता के महान् उत्तरदायित्वों को समझते हुए महापुरुषों जैसी जीवन-नीति के लिए भावनाशील व्यक्तियों को तैयार करना स्वामी जी का लक्ष्य था । उस क्राय वस्वधारी महात्मा ने भारत के सच्चे सपूत की तरह उस अध्यात्म का प्रसार किया जिससे मृतकों में भी जीवन उत्पन्न होता है । स्वामी रामदास ने जिस प्रकार यवन काल में सारे महापुरुषों को जाग्रत करके स्वतन्त्रता संग्राम के सैनानी पैदा किये थे उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने देश भर में, विशेषतया बंगाल में ऐसी लहर उत्पन्न की, जिससे प्रभावित होकर भावनाशील स्वर्ण गौरवास्पद जीवन जीने के लिए आतुर हो उठे । यही भावना बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में फूटी । यह प्रकट लक्ष्य है कि अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में बंगाल ही अग्रणी रहा ।

आत्मदर्शी नेताओं द्वारा झकझोर कर जाग्रत की गई नई पीढ़ी भारत के अतीत को वापस लाने के लिये जिन दिनों छटपटाहट अनुभव कर रही थी, उन्हीं दिनों १५ अगस्त, १८७२ में कलकत्ता में अरविन्द का जन्म हुआ । उस समय स्वराज्य की बात करना भी अपराध था पर अरविन्द की सतत साधना परिलत हुई । ७५ वर्ष के तप ने ठीक उनके जन्म दिन पर ही भारत में अपना पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त कर लिया ।

अरविन्द के पिता सुप्रसिद्ध सिविल सर्जन डॉक्टर कृष्णधन घोष, अपने इस बालक को उच्च शिक्षा दिलाकर सरकार में कोई बड़ा अफसर बनाना चाहते थे । अतएव ७ वर्ष की आयु में ही इंग्लैण्ड पढ़ने भेज दिया । १८ वर्ष की आयु में उसने सिविल सर्विस की परीक्षा दी और आई सी. एस. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली । इस अवधि में अपने निरन्तर अध्ययन के द्वारा उन्होंने अँग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच और इटली की भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर ली ।

आई सी एस पास करने पर उन्हें भारत सरकार द्वारा कोई उच्च पद दिया जाने वाला था । पर उनका जन्म गुलामी का पड़ा

बाधकर ऐश आराम की जिन्दगी बिताने के लिए नहीं हुआ था। उन्हें कुछ बड़े काम करने थे। सोचा यदि अफसरी मिल गई और फिर उसी में फँस गए तो प्रलोभन के बन्धन तोड़कर बाहर निकलना कठिन होगा। अतएव मुड़सबासी की परीक्षा देने से इन्कार कर दिया, इस प्रकार वे जानबूझ कर असफल बनने के लिए अड़ गये।

होरताग्रस्त मस्तिष्क दूसरों के अध्यानुकरण में अपनी बड़ाई समझते हैं। जैसा कि आज अंग्रेजों के चने जाने पर भी उनके रहन-सहन, आहार विहार, भाषा, धर्म, चक्र बसाने में अपना बह्मपन अनुभव करते हैं। अरविन्द ऐसे ओछे न थे। १८ वर्ष के इंग्लैण्ड में रहे और उन्होंने अंग्रेजों के जातीय गौरव और उग्रयुक्त गुणों को सीखा, स्वतन्त्र देश में रहकर उन्हें स्वतन्त्रता प्राणप्रिय लगने लगी। भारत लौटते तो उनके कप-कण में भारत को इंग्लैण्ड जैसा स्वतन्त्र, सम्पन्न और प्रबुद्ध बनाने की आकांक्षा भरी हुई थी।

अरविन्द की प्रतिभा और व्यक्तित्व से बड़ौदा नरेश बहुत प्रभावित हुए और उनकी नियुक्ति शिक्षा शास्त्री के रूप में हो गई। १३ वर्षों तक वे प्रधानाध्यापक और कइस प्रिंसिपल और निजी सचिव का काम धोद्यतापूर्वक करते रहे। इस बीच उन्होंने सहस्रो छात्रों में जातीय जीवन की भावनाएँ भर दी और उन्हें चरित्रवान् देशभक्त बनाया।

इंग्लैण्ड से लौटते ही उन्होंने बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन की नींव जमाने का कार्य आरम्भ कर दिया। संगठन के अतिरिक्त प्रचार को माध्यम बनाया। बम्बई के अंग्रेजी साप्ताहिक 'इन्दु-प्रकाश' में पुरानों के बदले नये दीपक' शीर्षक लेखमाला चालू रख कर भारत के नव-निर्माण के लिए प्रत्येक देशभक्त का आह्वान किया। उन दिनों पत्र कम निकलते थे, जो निकलते थे वे चाब से पड़े जाते थे। इन लेखों का भारी प्रभाव पड़ा और उन्हें अनेकों साथी सहयोगी मिलने लगे। उन्होंने 'तरुण संघ' की स्थापना की जिसमें आगे चलकर भारत के कितने ही स्वतन्त्र क्रान्तिकारी संगठन सम्मिलित हो गए। राष्ट्रीय दैनिक 'वन्दे मातरम्' के सम्पादक बने और क्रान्तिकारी दैनिक 'युगान्तर' का संचालन किया। उन्होंने क्रान्तिकारी योजना बनाने के लिए सुयोग्य विचारकों की एक 'अनुशीलन समिति' बनाई जो भारत की और संसार की परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके योजना तैयार करती और 'तरुण संघ' के सदस्य उन्हें कार्यान्वित करने में लग जाते। उन दिनों एक तरह से भारत में स्वाधीनता संग्राम की क्रान्तिकारी योजनाओं का समग्र संचालन वे स्वयं ही कर रहे थे।

अरविन्द के जीवनोद्देश्य का परिचय पाणिग्रहण के दिनों अपनी पत्नी को लिखे गये पत्रों में भली प्रकार मिल जाता है। उन्होंने एक पत्र में अपनी सहधर्मिणी को लिखा— "तुम चाहो तो मुझे सनकी कह सकती हो, मुझे एक नहीं तीन तरह का फगलपन है। एक फगलपन यह है कि मुझे जो कुछ ईश्वर ने दिया है उसमें से केवल निर्वाह योग्य अपने लिये केवल बाकी सबका सब जनता जनार्दन को लौटा देना चाहता हूँ। इस गये-गुजरे सम्पत्ति का अंग होते हुये भी यदि मैं अपने इस आराम या संग्रह की बात सोचूँ तब वह मेरे

लिये चोरी, बेईमानी की तरह ही एक घृणित काम होगा। दूसरा फगलपन यह है कि— मैंने निश्चय किया है कि मैं ईश्वर को प्राप्त करके रहूँगा। आज के सम्प्रदायवादियों के आडम्बरों पर मेरा कोई भरोसा नहीं, तो भी यह फक्की निष्ठा है कि ईश्वर है और उसे कोई भी सच्चा मनुष्य प्राप्त कर सकता है। मैं मार्ग तलाश करूँगा, उस पर चलूँगा और कितना ही श्रम, समय एवं कष्ट क्यों न हो मैं अपना ईश्वर प्राप्त कर लक्ष्य प्राप्ति करके रहूँगा। तीसरा फगलपन यह है कि भारत माता को अपनी सगी माता जैसी भावना से पूजना चाहता हूँ। उसका सच्चा भक्त बनना चाहता हूँ और इस मातृ-भक्ति के लिये बड़े से बड़ा कलिदान करने की प्रसन्नता अनुभव करना चाहता हूँ।" सचमुच उनकी यह तीनों सनके अन्तकाल तक बनी रहीं और वे एक साधारण बंगाली से बढ़कर विश्व की महान् विभूति इन सनकों के आधार पर ही बन सके।

सवाई कर्जन ने बंगाल को दो भागों में बाँट देने के लिये जो 'बंग-पंग' योजना रखी उससे सारा देश तिलमिल उठ। बंगाल में उसके प्रतिरोध के लिये सक्रिय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अरविन्द घोष उसका नेतृत्व करने लगे। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय स्वयं सेवकों का संगठन, अद्यतनों का बहिष्कार, शिक्षा का विस्तार तथा अंग्रेजों को आतंकित करने के अन्य उपाय इस आंदोलन के अंग थे। उन्होंने नेशनल कॉलेज की स्थापना में प्रमुख भाग लिया और मात्र ७५ रु० मासिक वेतन पर काम करते रहे। कांग्रेस में उन्होंने प्रवेश किया और नेताओं की अभिप्रेम पंक्ति में आ पहुँचे।

सरकार उनके क्रान्तिकारी विचारों और कार्यों से आतंकित हो उठी। २ मई सन् १९०८ को कलकत्ता के मानिक तल्ला बाग में तलाशे हुई, जिसमें बम, पिस्तौल और कारतूसों का भण्डार मिला, चालीस युवक पकड़े गये जिनमें अरविन्द घोष भी थे। अलीपुर बड़बन्ध केस का वह मुकदमा सेशनजज की अदालत में एक वर्ष तक चला। देशबन्धु धितरंजनदास की योग्यता और परिश्रम से अरविन्द इस मुकदमे से छूट गये। पीछे हाईकोर्ट ने हाथ मलते हुए अपने फैसले में लिखा— "प्रमुख अपराधी और षडयंत्रकारी तो इस मुकदमे में अरविन्द घोष थे जिन्हें पहले ही मुक्त कर दिया गया।"

जेल में उन्हें एकन्त काल कोठरी में रखा गया, जिसका अनुभव करते हुए उन्होंने लिखा है— "एकन्त में रहने वाला या तो सन्त बन जाता है या फिर पूरा शठ हो जाता है।" इनके इस कथन की सच्चाई भारत में बर्त-तर्त फैले एकन्तवासी 'शठों' के रूप में प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। पर वे सन्त ही बन।

कलकत्ता के बमकेस से कुटकार पाने के कुछ ही समय पश्चात् वे पाण्डिचेरी (मद्रास) चले गये, जिससे वहाँ अंग्रेजी पुलिस की छेड़खनी से बचकर निर्विघ्न रूप से योगाभ्यास कर सकें। आरम्भिक वर्षों में उनको आर्थिक अभाव से अपना समय एक छोटे मकान में व्यतीत करना पड़ा जिसमें स्नान तक की सुविधा न थी। पर १९२० में प्रॉंस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाल रिचार्ड तथा उनकी पत्नी मीरा रिचार्ड आश्रम में आकर रहने लगे। और एक कुशल महिला थी, उसकी

व्यवस्था से आश्रय की व्यवस्था का बहुत कुछ सुधार हो गया और उसकी आर्थिक दृष्टि भी कुछ वर्षों में संतोषजनक हो गई।

पूर्ण योग का प्रचार

पाण्डित्य की आश्रय में अरविंद का मुख्य लक्ष्य लोगों को एक ऐसी योग प्रणाली की शिक्षा देना था जिससे वे सुनिश्चित रूप से अध्यात्म के उच्च स्तरों तक पहुँच सकें। इसका नाम उन्होंने 'पूर्ण योग' रखा था। उनका कहना था कि "विश्व में जितनी भी ह्रास और विकास की क्रियाएँ चल रही हैं वह परम आत्मा का क्रमबद्ध योग है। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा गया है और ईश्वर की इस शक्ति को ही योगमय्या कहते हैं। व्यक्ति विशेष इस योग की ओर अनजाने ही खिंच आता है और बाद में उसे यह मालूम हो जाता है कि उसको इसमें अमुक समय करना है तो फिर वह योग में 'संयतन' होकर हिस्सा लेता है और अन्त के साथ सहयोग का आनंद प्राप्त करने लगता है।"

अपने विचारों तथा योग-प्रणाली का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'आर्य' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया जिसका उद्देश्य था (१) अस्तित्व की उच्चतम अवस्थाओं का विधिवत् अध्ययन, (२) ज्ञान के दिग्गज समन्वय की रचना। पूर्व और पश्चिम की सभी मानवता विरोधी धार्मिक परंपराओं का परिष्कार। इस कार्य को वैदिक और वैज्ञानिक अनुशासन के साथ पूरा करना।

'आर्य' के प्रथम पाँच-छः वर्षों में जो लेख मूल्यों प्रकाशित हुई वे आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्व की हैं। उनमें से 'देवी जीवन,' 'योग समन्वय,' 'बेद-तत्त्व,' 'मानव एकता का आदर्श,' 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' आदि कितने ही निबन्ध तो एक स्थायी निधि के समान हैं। श्री अरविंद ने इन निबन्धों तथा अन्य रचनाओं में जो विश्व प्रकाश किए हैं, वे एक प्रकार से भविष्य के स्वप्न थे। सन् १९४७ की १५ अगस्त को भारतीय स्वतंत्रता-दिवस पर उन्होंने कहा था—

"मेरा एक स्वप्न एशियावासियों के पुनरुत्थान और मुक्ति का था, जिससे वे मानव सभ्यता की प्रगति में अपना महान् योग दे सकें। दूसरा स्वप्न था सारे संसार का एक संघ स्थापित होने का, जिसका बाह्य आधार मानव मात्र का श्रेष्ठ, समुच्चय और शिष्ट जीवन हो।" कहना न होगा कि ये दोनों कर्तव्य अभिलाषाएँ पूर्ण हो चुकी हैं या उनकी सम्भावना निरंतर बढ़ती जाती है।

आगे चलकर उन्होंने ध्वनी परिवर्तनों की जो रूपरेखा खींची वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने कहा— "जो कुछ प्रयत्न किए जा रहे हैं, उनके मार्ग में आपत्तियाँ आ सकती हैं, उन प्रयत्नों को नष्ट कर सकती हैं, फिर भी अंतिम परिणाम निश्चित है। कारण यह कि एकीकरण ही प्रकृति की आवश्यकता और अनिवार्य गति है। मानव की जड़ता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थभाव उसमें बाधक बन सकता है, पर प्रकृति की आवश्यकता और दैवी इच्छा के आगे वे चीजें सदैव टिकी नहीं रह सकती। पर इसकी प्राप्ति के लिए केवल बाहरी आधार

ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अंतर्गर्भीय दृष्टिकोण तथा पारस्परिक अनुयाय की भी आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों की राष्ट्रीय भावना सर्वथा जाती रहेगी, पर वह अपने आप में पूर्णता प्राप्त कर लेगी और उसकी बुद्धिमत्ता नष्ट हो जायेगी।"

"एक और स्वप्न है, संसार को भारत की तरफ से आध्यात्मिकता का उपहार, जिसका श्रीगणेश हो चुका है। यह आंदोलन बढ़ता हो जायेगा। जमाने के संकटों के साथ-साथ संसार की अधिकाधिक आँखें उसकी ओर आशा से देख रही हैं और बहुसंख्यक लोग उसके समीप 'क्रियात्मक ज्ञान' प्राप्त करने आ रहे हैं।

श्री अरविंद को संसार का त्याग किये कई वर्ष हो चुके हैं और इस बीच में एक नहीं अनेक ऐसी विशेष घटनाएँ हो चुकी हैं जिनसे उपर्युक्त परिवर्तनों की आशा बढ़ती जाती है। जहाँ इस बीच में युद्ध की अभूतपूर्व तैयारियों की गई है, वहाँ विश्व संघ का प्रभाव भी बढ़ा है और कई बार उसने महायुद्ध की सभावना को टाला है। अरविंद के कल्पनानुसार बहुसंख्यक लोगों की जड़ता और स्वार्थ भावना के कारण इस आदर्श की प्राप्ति में बाधाएँ अवश्य पड़ेंगी, पर अंत में नये समाज और संसार का आगमन निश्चित है। वह नया संसार केन्द्र होगा इसकी भी बोड़ी-सी धाँकी श्री अरविंद ने इन शब्दों में कराई है—

"अंतिम स्वप्न है विकास की ओर एक नया कदम, जिससे मनुष्य वर्तमान की अपेक्षा उच्च और विशाल भेदना की ओर अग्रसर हो सके और उन समस्याओं का हल खोज सके, जिनको हल करने में वह आज तक परेशानी और क्लेशपूर्ण विमृष्टता का अनुभव करता रहा है। वह एक ऐसा आदर्श है जिसका प्रभाव भारत और पश्चिम के मस्तिष्कों पड़ने लगा है। इस कार्य में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक कठिनाईएँ हैं, पर वे दूर की जा सकती हैं और जगन्निर्घृता की इच्छा हुई तो वे कठिनाईएँ विलुप्त हो जायेगी। इस कार्य का आरम्भ आत्म और अंतर्वैतन्य द्वारा इसी देश में हो सकता है। यद्यपि इसका लक्ष्य सर्वभौम होगा, पर इसका केन्द्र भारत में ही रह सकता है।"

वास्तव में अरविंद पाँच ने एक ऐसे नये संसार का स्वप्न देखा था जो अब नहीं है, पर भविष्य में उत्पन्न होने वाला है। वर्तमान संसार अधिकांश में भौतिकवाद पर आधारित है, इसलिए लोगों का ध्यान धन, सम्पत्ति तथा अन्य सासारिक सामग्री पर रहता है। जब उसमें किसी कारण कमी पड़ती है तभी सब ये खींचतानी और कलह होने लगती है, पर पाँच जगत् का आधार अध्यात्म रहेगा और उसमें बहुत से कार्य आत्मशक्ति से सम्पन्न कर लिए जायेंगे, इसलिए उस समय आजकल के लड़ाई-झगड़ों का अंत हो जायेगा और मनुष्य एक ऐसे उच्च घण्टल पर पहुँच जायेगा जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

श्री अरविंद की साधना जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे ही उनका सम्बन्ध बाह्य जगत् से कम होता गया। अंत में उनकी सिद्धि का दिन आ पहुँचा और २४ नवम्बर, १९२६ को उन्होंने संसार से पूर्णरूप से अवकाश ग्रहण कर लिया। उसके पश्चात् उन्होंने किसी से भी

मिलना बिल्कुल बंद कर दिया। शिष्यों तथा सत्त्वर्धों का जो मार्ग दर्शन करते थे वह 'माताजी' (मीरा रिचाडी) द्वारा होने लगा गया।

इस प्रकार सन् १९२६ से १९५० तक श्री अरविन्द एकान्तवाद में एक ऐसी साधना में निमग्न रहे, जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक मार्ग के अन्यान्य साधकों को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर आगे बढ़ाना था। वे स्वयं तो योग के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच कर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके थे, पर साथ ही अपनी साधना द्वारा एक ऐसा मार्ग भी प्रस्तुत करना चाहते थे, जिस पर चलकर मुमुक्षु व्यक्ति सांसारिक बंधनों को काट कर फेंक सकें। संसार को आगे बढ़ाने के लिए यह एक बहुत बड़ा कदम था। इसलिए ५ दिसम्बर, १९५० को ७८ वर्ष की आयु में जब उनका देहावसान हुआ तो लोगों ने इसे एक बड़ी क्षति समझा। उस अवसर पर भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने जो उद्गार प्रकट किए थे उनसे श्री अरविन्द की महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

“श्री अरविन्द प्राचीन ऋषियों की भाँति साहसी और निर्भीक विचारक थे। वे केवल विचारक ही न थे साथ ही उन विचारों को कार्य रूप में भी परिणत करते थे। सिखित और मौखिक शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने अपनी साधना द्वारा उसे और भी दृढ़ रूप दे दिया था। उनके धार्मिक शरीर को जो अब कोई देख न सकेगा, पर जो संदेश वे छोड़ गये हैं, वह न केवल भारतवासियों को बल्कि सारे संसार को प्रेरणा देता रहेगा। भारत उनकी स्मृति की पूजा और प्रतिष्ठा करता रहेगा और उन्हें महान् मुनियों तथा देवदूतों में स्थान देगा।”

उनकी भावी भारत की परिकल्पना यह थी “हमें देव तथा मानवता के लिए मन प्राण लगाकर अधकृ परिश्रम करना होगा। अभी तक यह आदर्श एक छोटा-सा बीज मात्र है और जो जीवन इसे मूर्त रूप देता है वह स्वयं एक नन्हा-सा केन्द्र मात्र है, किन्तु हमारी ध्रुव आशा है कि बीज एक महान् वृक्ष बनेगा और केन्द्र एक सदा विस्तृत होती हुई रचना का हृदय होगा। इस विसर्जित होते हुए जगत की अस्त-व्यस्ता में जन्म लेने के लिए नई मानवता संघर्ष कर रही है जो भावना हमें प्रेरणा दे रही है उसमें दृढ़-निश्चय के साथ हम उस नई मानवता का, भावी भारत के ध्वजवाहकों का दर्शन करते हैं। यह विशद भारतीय अध्यात्म ही धके-मोढ़े शरीर का जीर्ण देव संस्कृति का काया-कल्प करके उसे नया जीवन देगा। वह दिन जल्दी ही आएगा।

त्याग का परिणाम

उस समय भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन जोर फकड़ रहा था। सरकारी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का भी बहिष्कार होना आवश्यक था, किन्तु उस समय आन्दोलनकारियों के पास न इतना धन था और न साधन ही थे जिससे वे महाविद्यालय चला सकें। कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। महाविद्यालय की रूपरेखा बनाई गई किन्तु, उसके संचालन के लिए भी तो योग्य अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो बिना करफ़ी वेतन के सम्भव नहीं था। विद्यालय की ओर से केवल ७५ रु. मासिक वेतन पर संचालक का विज्ञापन किया गया।

सभी ने सोच रखा था इतने-से वेतन पर कौन अच्छा आदमी आवेगा? सब निराश हो थे कि अचानक एक आवेदन-पत्र आया और वह भी एक योग्य अनुभवी व्यक्ति का जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती थी। नदौदा कॉलेज के अध्यक्ष श्री अरविन्द घोष ने जिन्हें उस समय अन्य सुविधाओं के साथ सान सौ पचास रुपया मासिक वेतन था, उसे छोड़कर बंगाल में स्थापित इस नव-राष्ट्रीय महाविद्यालय के लिए ७५ रु. मासिक वेतन पर काम करना स्वीकार कर लिया। जहाँ इतना त्याग आदर्श किसी संस्था का संचालक उपस्थित करे नहीं छात्रों के चरित्र एवं भावनाओं पर क्यों प्रभाव न पड़ेगा? उस विद्यालय के छात्रों ने आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारी भाग लिया और उनमें से कितने ही सोदी के राजनैतिक नेता बने।

महर्षि रमण—आत्मान्वेषण ही जिन्हें इष्ट था

घर में किसी अतिथि का आगमन हुआ। १५ वर्षीय किशोर ने स्वगतत्वं उनसे पूछा “आप कहाँ से आ रहे हैं?” अतिथि ने उत्तर दिया “अस्मावल से।” “अस्मावल” शब्द का सुनना था कि किशोर का रोम-रोम एक अपूर्व आनन्द से भर उठा। जाने कौन-सी तरंगें इस शब्द के साथ जुड़ी हुई थीं कि उसकी विलक्षण प्रतिक्रिया इस किशोर पर हुई।

माँ अबगम्पाल और पिता सुन्दर अय्यर वैक्टरमण के घर इस बालक का जन्म सन् १८७९ में हुआ था। सुन्दर अय्यर वैक्टरमण मदुरा में वकालत करते थे। वे एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे वैसे ही उनकी पत्नी साध्वी एवं धर्मनिष्ठ थी। इनके संस्कारों का बालक के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। फता-पित्त बालक के प्रथम गुरु होते हैं। स्वाभाविक है सुसंस्कृत परिवार का बालक सुसंस्कृत होगा ही।

पढ़ने के लिए इसे कई पाठशालाओं में भेजा गया पर यह जिस प्रकार की शिक्षा चाहता था, उसे वहाँ नहीं मिलती थी, इस कारण प्रायः शिक्षा के प्रति उग्रसीन ही रहा करता था। इसे सन्तों की जीवनियाँ बड़ी अच्छी लगती थीं। उसने तमिल सन्तों का जीवन चरित्र पढ़ा। उसके मन में वैसा ही बनने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। यही बालक आगे चलकर महर्षि रमण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उपनिषद् काल के आत्मान्वेषी ऋषियों की परम्परा को पुनर्जीवित करने का श्रेय महर्षि रमण को ही दिया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों वे बड़े होते गए इनका चिंतन बढ़ता गया। सत्रह वर्ष की आयु में उन्होंने मृत्यु पर विन्तन किया। मृत्यु के बाद इस शरीर के नष्ट हो जाने पर क्या चेतना सम्प्राप्त हो जाती है? या कहीं अन्यत्र चली जाती है? इसका उत्तर पाने के लिये वे चिंतन करते करते थक गए। पर कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका। मैं मर जाऊँगा। क्या यह शरीर ही ‘मैं’ हूँ, शरीर हूँ तो मरता क्यों हूँ? आदि प्रश्नों के उत्तर वे नहीं पाते थे।

ज्यों-ज्यों इनकी आयु बढ़ी त्यों-त्यों इनका चिन्तन और भी गहन होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे पढ़ाई में पिछड़ गये। उन्हें प्रायः गृह कार्य पूरा करके न लाने के कारण अध्यापक की डाँट सहनी पड़ती थी। इनके बड़े भाई नाग स्वामी इनकी इस दशा को देखकर इन पर कृपित हो जाते थे। इस बालक को इस विद्या से तृप्ति नहीं हो पाती थी। वह तो शास्वत सत्य को जानने के लिये प्रयत्न रहा था। उसे इस प्रकार की विद्या से विरक्त हो गया। उनका मन्दिरों में आना-जाना बंद गया। वे सप्तेों देव प्रतिमा के सम्मुख बैठकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने की प्रार्थना करते रहते।

उन्हें लगा कि उन्हें 'अरुणाचल' बुलवा रहा है। वहाँ उनकी सारी जिज्ञासा शान्त हो सकती है। इस खोज के लिये प्रयागशाला वहीं बनाई जा सकती है। सत्रह वर्ष की आयु में वे घर छोड़कर इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये अरुणाचल के लिये चल पड़े।

जितना बड़ा उद्देश्य होता है उतना ही साहस और क्रम भी आवश्यक होता है। जिन रहस्यों को वे खोजना चाहते थे वे इतने गूढ़ थे कि उसके लिए सारा जीवन समर्पित करना पड़ता है। इस प्रकार का साहस बिरले ही कर पाने हैं।

अरुणाचल पहुँच कर वे अपनी गहन साधना में लीन हो गए। इन्होंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ समेट कर एकाग्र कर लीं अपने ध्येय में सफल होने के लिये उन्होंने मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश किया जहाँ वर्षों से जहरीले कीड़े-फकोड़ों का साम्राज्य तो था ही साथ ही शुष्प अंधेरा भी था। वह विचलित न हुए। इनका एक ही लक्ष्य था कि अपने विषय में चरम सत्य की खोज करनी है। इसके लिये उन्होंने अन्य सब कामनाएँ त्याग दीं।

इनका सारा शरीर कलम पड़ गया, केश बढ़कर अंशु का रूप धारण कर गए, नाखून बड़े बड़े हो गये पर इनका चिन्तन क्रम बन्द नहीं हुआ।

माता अवगमनाल अपने पुत्र को देखने के लिये आई। उस समय ये मौन धारण किए हुए थे। इनकी यह दशा देख माँ का हृदय रुक न सका वे रो पड़ीं तब इन्हें घर चलने का आग्रह करने लगीं। इन्होंने माता को लिखकर बताया कि जो हो रहा है ठीक है अब चिन्तन न करें।

अरुणाचल आने पर महर्षि कहीं नहीं गए समस्त प्राणियों में एक ही दिव्य चेतना का अनुभव इन्होंने यहाँ किया। उसी आत्म-तत्त्व को सब में देखकर उसकी सत्यता को अपने जीवन-क्रम के द्वारा सिद्ध किया।

मौन भी वर्षों से अधिक मुखर हो सकता है आँखों की भाषा में भी कहा सुना जा सकता है। महर्षि स्वयं इसके अनुपम उदाहरण थे। कई शंकराएँ लेकर लोग इनके पास आते थे वे इन्हीं भाषाओं में आत्मा की स्फुरण के द्वारा उनका समाधान कर देते थे। इनसे लाभ उठाने वालों में गणपति शास्त्री, अणालि शास्त्री, शुद्धानन्द

भारती, शेषाद्रि स्वामी, खेंगी रामनाथ, हमफोस, पाल ब्रंटन आदि व्यक्ति भी थे।

शरीर भव से महर्षि वित्तुक्त शून्य थे वे चिदानन्द आत्म के जीवित जाग्रत स्वरूप थे। स्कन्दाश्रम में एक बार योगी रामनाथ ने देखा महर्षि के पावों में अगणित काँटे चुभे हुए थे। वे निकलने का आग्रह करने लगे। महर्षि ने कहा "काँटे तो चुभेंगे ही नून कब तक निकलते रहेंगे।"

सभी प्राणियों को आत्म रूप समझने वाले महर्षि रामण का आत्म तत्त्व ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं था। उन्होंने अपने इस सत्य स्वरूप को केवल देखा ही नहीं उसे पा भी लिया था। सभी प्राणियों में एक ही चेतन तत्त्व है इसका उदाहरण रामनाथ्रम में उन्होंने प्रस्तुत किया था। आश्रम के बन्दर, गिलहरी, घोर, सँप, गाय और कुत्ते महर्षि रामण की तरह ही महत्त्वपूर्ण अंग थे।

महर्षि रामण तपस्या करने के लिये पर्वत की एक कन्दरा में गये थे। उस कन्दरा पर कितने ही समय से जीव-जन्तुओं का साम्राज्य था। उन्हें इस नवागन्तुक पर बड़ा क्रोध आया। वर्षों से जो सकान केवल उनकी ही बापाती था अब उसका दूसरा अधिकारी आ पहुँचा, यह जानकर उनके एकधिकार में विघ्न आ उपस्थित हुआ। यह प्राणी शरीर में उन्हें बड़ा लम्बा-चौड़ा और भयानक लगा।

वे सब अपनी साधार्थ के अनुसार इनको काट देने लगे। महर्षि को कोई दुःख नहीं हुआ। वे जानते थे कि यह स्थान तो उन्हीं का है। मैंने तो यहाँ आने की अनधिकार चेष्टा की है। इनके एकान्त में विघ्न उपस्थित किया है। वे नहीं चाहते थे कि अपने एकान्त के लिये इन प्राणियों के अधिकारों का हनन करें, पर विवश थे अपने को उनका अतिथि मानकर रहने लगे। अतिथि अपनी सब कामनाओं का त्याग कर देता है। उसे कोई दाल-सब्जी या रोटी जैसी कि गृह स्वामी खिलाता है, अस्वीकार ही नहीं करता वरन् प्रशंसा भी करता है। जहाँ वह सुलाता है वहीं सोता है जैसा कुछ व्यवहार करता है स्वीकार करता है। यही नीति महर्षि ने अपनाई।

इनका स्वागत सत्कार गृहस्वामी करने लगे। जब वे साधना करने बैठते तो कोई छिपकली ऊपर आ कूदती और भाग जाती। मच्छर अपना राग अलापने लगते, बहो नही तीन बार तो बिच्छुओं ने डंक मारा। इस स्वागत के वे निर्विकर भाव से ग्रहण करने लगे वे ध्यानस्थ हो जाते उनके क्रिया-कलाप चलने रहते उन्होंने अपना शरीर में पत्थर की-सी दृढ़ता उत्पन्न कर ली। उन्हें न विष व्याप्त हुआ न इन प्राणियों की इन हरकतों का कुछ प्रभाव ही हुआ।

कुछ दिन बाद स्वापी जी को इन स्तंभों ने अपने परिवार का ही मान लिया। मनुष्य के प्रति जो इन प्राणियों में करुणा थी वह इनके व्यवहार को देखकर समाप्त हो गई। वे मनुष्य को प्रेम होन प्राणी मानते थे। जो सदा इनकी अवधारण सत्या करता था। लेकिन स्वामी जी में उन्होंने ऐसा कुछ भी न पाया, तो परायेपन की दीवार टूट गई।

एक विषधर सर्प उनके स्कन्दाश्रम में आया। उन दिनों महर्षि की माता जी भी वहाँ थीं। वे उसे देखकर डर गईं पर महर्षि ने उसे बड़े स्नेह से देखा। उसे विश्वास हो गया। वह महर्षि के चरणों पर लोट गया। इसके बाद वह प्रायः आया करता व उनके चरण स्पर्श करता।

एक मदा कौआ तो अपने बच्चों का भार ही महर्षि पर छोड़ देता था। वह दिन की भोजन की तलाश में जाती तो बच्चे उनके पास छोड़ जाते। वे उनकी देख-भाल करते और जब उन्हें भूख लगती थी चिड़ियाएँ तब उन्हें भोजन देते और पानी पिलाते।

महर्षि के वहाँ निवास से कई प्राणी अपने परम्परागत वैमनस्य को भुत्नाकर मित्र बन गए। यह साँप आश्रम के एक मोर का मित्र बन गया और जब मोर पंख फैलाकर नाचना तो साँप भी अपना फन फैलाकर लहराने लगता।

आश्रम के पशु-पक्षी उनके बन्धु-बांधव बन चुके थे वे प्रायः उन्हें प्रेम से सहलाते उनसे बात करते और प्रतिदान में उनसे भी स्नेह पाते थे। प्राणी मन्त्र में एकान्त्यना की यह अनुभूति ही उन्हें साधन पथ पर शीघ्रता से आगे बढ़ाने में सहायक हुई थी।

महर्षि रमण एक बार शिलाखण्ड पर बैठे थे। एक सर्प रेंगता हुआ आया और उनके पैर पर चढ़कर चला गया। शिष्यों ने पूछा 'सर्प ने काटा क्यों नहीं?' महर्षि ने आरंभ दिया, "क्या सर्प भूमि पर फन से प्रहार करता है?" सर्प के लिए भूमि कोई अवरोध, वैषम्य या अहंकार पैदा नहीं करती। सर्प के काटने का कारण जीव का अहंकार, उससे उत्पन्न विषमता, भेद और उससे उत्पन्न अवरोध है। जहाँ अहंकार नहीं वहाँ शत्रुता नहीं है। महर्षि मौन रहते थे पर उनके समीप आने वालों और प्रश्न पूछने वालों को मौन भाषा में ही उत्तर मिल जाते थे। उनकी दृष्टि नीची रहती थी। पर कभी किसी की आँख से आँख मिलाकर देखा तो इसका अर्थ होता था, उसकी दीक्षा हो गई। उन्हें ब्रह्मज्ञान का लम्प मिल गया। ऐसे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मपत्नी थोड़े से ही थे।

आरम्भिक दिनों में वे अरुणाचल के कतिपय अनुकूल स्थानों में निवास करते रहे। पीछे उन्होंने एक स्थान स्थायी रूप से चुन लिया। आरम्भ में उनकी साधना का कोई नियत स्थान और समय नहीं था। पीछे वे नियम-बद्ध हो गये, ताकि दर्शनार्थी आगन्तुकों को वहाँ-वहाँ नलाह में न घटकना पड़े।

महर्षि रमण सिद्ध पुरुष थे। मौन ही उनकी भाषा थी। उनके सत्संग में सब को एक जैसे ही संदेश मिलते थे मानो वे वाणी से दिया हुआ प्रवचन सुन कर उठे थे। सत्संग के स्थान में उस प्रदेश के निवासी कितने ही प्राणी नियत स्थान और नियत समय पर उनका संदेश सुनने आया करते थे। बन्दर, तोते, माँव, कौए सभी को ऐसा अभ्यास हो गया कि आगन्तुकों की थोड़ी से चिन्ता डरे बिना अपने नियत स्थान पर आ बैठते थे और मौन सत्संग समाप्त होते ही उड़कर अपने-अपने घोंसलों को चले जाया करते थे।

संस्कृत के कितने ही विद्वान् उनकी सेवा में आये तथा अपने अपने समाचार लेकर वापस गये। उन्होंने लोगों ने रमण गीता आदि कतिपय संस्कृत पुस्तकें लिखीं जिनमें महर्षि की अनुभूतियों तथा शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है।

वे सिद्ध पुरुष थे पर उन्होंने ज्ञान-बुद्धि का कभी सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं किया। भारत में योगियों की खोज करने वाले पाल ब्रंटन ने बड़े सम्मानपूर्वक उनकी कितनी ही अलौकिकताओं का उल्लेख किया है।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में जिन तपस्वियों का उल्लेख किया जाता है उनमें योगीराज अरविन्द, रामकृष्ण परमहंस और महर्षि रमण के नाम प्रमुख हैं।

रमण महर्षि की समदृष्टि

भारतवर्ष के महास प्रांत में उत्तरी भारत की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की सभ्यता तथा संस्कृति के दर्शन होते हैं, जिसे विद्वान् लोग 'ग्रैंड' के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि वहाँ के निवासी भी हिन्दू हैं और वेदों का वहाँ उत्तर भारत की अपेक्षा बहुत अधिक प्रचार है, तो भी उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, पूजा-पाठ, भजन-ध्यान आदि सभी बातों में उत्तरी प्रांतों की अपेक्षा बहुत विलक्षणता पाई जाती है। यद्यपि उत्तर भारत में प्रचलित वैष्णव सम्प्रदायों के सभी आचार्य दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुये थे पर वहाँ के निवासी प्रायः शैव हैं और शिव की पूजा का जितना प्रचार वहाँ है, उतना अन्य प्रांतों में देखने में नहीं आता।

इसी महास या तमिल प्रांत में हाल ही में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ था जो आध्यात्मिक दृष्टि से एक दैवी पुरुष थे और जिनके आकर्षण से भारतवर्ष ही नहीं विदेशों के भी अध्यात्म प्रेमी व्यक्ति खिचकर चले आते थे। इस भौतिकवाद के युग में भी अच्छे-अच्छे आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति इस जंगल में रहने वाले, अल्पशिक्षित और नंगे व्यक्ति के दर्शन करने और उपदेशों को सुनने के लिये पहुँच जाते थे। वहाँ के धार्मिक व्यक्ति तो उनको शिवजी के पुत्र स्कन्द जी का अवतार मानने लगे थे और अरुणाचल महादेव के साथ उनकी भी पूजा करते। इनका नाम था महर्षि रमण।

कहते हैं कि महर्षि रमण के पूर्वजों के वहाँ किसी समय एक संन्यासी भिक्षा माँगने आया। उसे वहाँ एक ठग भी नहीं दिया गया, उसने दो-चार खरी-खोटी कर्ते सुनाई गई। इस पर संन्यासी को भी गुस्सा आ गया और उसने ज्ञाप दिया कि तुम्हारे वंश में भी कोई न कोई मेरे समान भीख माँगने वाला पैदा होना रहेगा। तब से वास्तव में इनके वंश में ऐसी घटना स्पष्ट दिखलाई पड़ रही थी। रमण के एक नाम संन्यासी थे। उनके एक चाचा 'वैकटेश्वर' भी योगी बन गये थे। महर्षि रमण के पिता एक अच्छी स्थिति के वकील थे और उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी उत्तम थी पर वे घर के सब बन्धनों को

तोड़ कर और घर वालों के, विशेषतया माता के, आग्रह की भी अपेक्षा करके संन्यासी बन गये।

× × × ×

घर से निकलने पर साधन करते हुये, रमण को बहुत विघ्नों का सामना करना पड़ा था। वे न तो अधिक बोलते थे और न किसी से कुछ मागतें थे, अधिकांश समय ध्यान में अंशे बन्द किये बैठे ही रहते थे, इसलिये लोगों ने उनको एक फगल समझ लिया था। आस-पास के आवाश लड़के उन पर घूल, मिट्टी, कंकड़, पत्थर फेंकते रहते थे। इससे उनको बड़ा कष्ट होता, तपस्वी में बाधा पड़ती और थोड़ा भी लग जाती। इनसे बचने के लिये वे मंदिर के नीचे की अपेरी कोठरी में आ बैठते तो वहाँ तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े काटने जिससे बदन में घाव हो जाते। अन्त में कुछ स्त्रियों ने उनकी तपस्वी के महत्त्व को समझा और वे उपद्रवकारियों से उनकी रक्षा करने लगे। फिर भी स्वामी जी कभी जीव को हानि नहीं पहुँचते थे और सबको आत्मवत् समझते थे। अरुमायल पहाड़ की गुफा में रहते समय तीन बार विष्णुओं ने उनको डंक मारा, पर उन्होंने बिचुओं को मारने के बजाय जीवित ही छोड़ दिया। एक बड़ा काला नाग भी प्रायः इनके पास होकर निकल जाता था और कभी-कभी तो इनके ऊपर चढ़ने लगता था पर उससे भी इन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। आस-पास में रहने वाले गिलहरी, कौए, चिड़िया तो उनसे ऐसे निर्भय हो गये थे कि पास में आकर हाथ से दाना, फल आदि खाते रहते थे। एक बन्दर का बच्चा भी दूसरे बड़े बन्दरों के मध्य से इनकी शरण में चला आया और इनके पास ही रहने लगा। एकबार उसने इनको धमकता मार भी दिया, पर इन्होंने उसे क्षमा प्रदान कर दी।

× × × ×

इस प्रकार अज्ञान पशु-पक्षी तो स्वामी जी के शुद्ध और अहिंसात्मक मनोभाव को देख कर उनके मित्र बन जाते थे, पर मनुष्य तो इस दृष्टि से पशुओं से भी नीचे गिरा हुआ है। एक दिन रात के समय कुछ चोर स्वामी जी के आश्रम में उनके लूटने के लिये आ पहुँचे उस समय स्वामी जी के साथ अन्य फँत-सात साधू भी आकर रहने लगे थे और उन सबके खाने-पीने के लिये बोझ-सा सामान वहाँ एकत्रित हो गया था। चोरों ने समझा था कि अन्य मंदिर-मठों की तरह यहाँ भी गहरी रक्षक अमा होगी, पर जब सब जगह दूँदने पर भी उनको कुछ रुपया से अधिक नहीं मिला तो वे बड़े गुस्से में आये और उन्होंने स्वामी जी तथा अन्य साधुओं को डण्डों से मारा। जेबों ने कई बार स्वामी जी पर लड़ी तानकर पूछा “बलाओ, तुमने अपना धन कहाँ लुपाया है?” पर स्वामी जी के पास धन होता तब तो वे बतलाते। अन्त में चोर लौट गये।

थोड़ी देर बाद आश्रम का एक साधू, जो चोरों के आते ही लौट गया था, पुलिस वालों को लेकर वहाँ आया। पुलिस ने कहा कि “आप चोरी की रिपोर्ट लिखाइये।” पर महर्षि ने इस बात पर ध्यान न दिया और केवल यही कहा कि “कुछ अज्ञानीजन आश्रम में चोरी

करने चले आये थे, पर जब उनको यहाँ बहुत कष्ट सापान मिला तो निराश्र के साथ लौट गये।” बाद में पुलिस के बड़े अफसर स्वयं इस घटना की तहकीकात करने को आये, पर स्वामी जी ने उनसे भी अपने पीटे जाने या चोरों की दुष्टता की कोई बात नहीं कही।

× × × ×

महर्षि के आश्रम से थोड़ी ही दूर एक गाँव में कोई अध्यापक रहता था। महर्षि की कीर्ति सुनकर उसने इरादा किया कि वह भी उनके समान ही त्वाणी और तपस्वी बन जायेगा और तभी उनके पास जायेगा। पर संसार त्याग का सच्चा भाव हँसी-खेल तो है नहीं फलतः वैराग्य तो दूर रहा उसके चित्त में बुरी-बुरी भावनाओं का उदय होने लगा। एक बार कर वह महर्षि की शरण में गया। महर्षि ने अन्य लोगों के मन की बात जानने की स्वाभाविक शक्ति थी। इस अध्यापक को देखकर वे मुस्कराने लगे और यह भाव प्रकट किया कि “पंख आने के पहले ही उड़ने की कोशिश नहीं करनी चाहिये अन्यथा नीचे गिरना पड़ेगा। सभी साधक एक ही मार्ग पर नहीं चल सकते। पहले तो साधक को उचित है कि परहित को ही स्वार्थ समझ कर समाज सेवा की शक्ति प्राप्त करे। जब इसमें कृत कार्य हो जगत् तब एकान्त में रहकर साधना की अभिलाषा करे।”

कुछ समय बाद इसी अध्यापक ने अपने कौटुम्बिक जीवन से ऊब कर आत्महत्या का विचार किया। यदि वह न हो सके तो संन्यासी होकर वन में निकल जाने का निश्चय था। वह इस सम्बन्ध में महर्षि की संपत्ति जानने के लिये इनके पास आया। उस समय ये आश्रम वासियों के भोजन के लिये पत्तल बना रहे थे। अध्यापक के कुछ कहने से पूर्व ही स्वामी जी कहने लगे—“देखो, पत्तल बनाना आसान नहीं है। पत्ते बीनने पड़ेंगे, सीक लनी होगी और बड़ी सावधानी से पत्तों को एक-दूसरे से जोड़ना होगा। तब कहीं जाकर भोजन करने के लिये पत्तल तैयार मिलेंगे। उसका पूरा उपयोग करने के बाद ही उसको फेंक देना चाहिए। अध्यापक ने स्वामी जी का आशय समझ लिया कि मनुष्य शरीर बड़ी कोशिश से मिलता है, उससे आत्मोन्नति का पूरा-पूरा लाभ उठाने के पहले उसको छोड़ना नहीं चाहिये।”

वेदान्त को अपने जीवन माध्यम से समझाने वाले—स्वामी रामतीर्थ

घटना सन् १९०१ की है। मधुरा में एक धर्म सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन के आयोजक आचार्य शिवराण ने सभी धर्मों के प्रतिनिधि विद्वानों को आमन्त्रित किया पर सम्मेलन का अध्यक्ष बनया स्वामी रामतीर्थ को जिम्मा न कोई मठ था और न कोई आश्रम तीसरे दिन की बात है। ईसाई धर्म के प्रतिनिधि फादर स्काट ने अपने धर्म का विवेचन करते हुए हिन्दू धर्म पर कुछ भौण्ड आक्षेप किये, श्रोतागणों में श्रेष्ठ उत्पन्न हो गया, लोग शोर मचाने, पर स्वामीजी ने सबको शांतिपूर्वक बैठे रहने का आग्रह किया।

फादर स्काट जब अपना भाषण समाप्त कर चुके तो स्वामी रामतीर्थ उठे और उन्होंने फादर स्काट के आशेषों का इतना नम्र-समाधान किया कि फादरी स्काट को बड़ी लज्जा अनुभव हुई और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की तथा उपस्थित जनसमुदाय से क्षमा माँगी। यह प्रभाव स्वामी जी की वाणी से अधिक उनके व्यवितत्व का था अन्यथा सैकड़ों लोग हैं जो अपने वाक्चातुर्य से लोगों को हतप्रभ करते हैं पर उनकी वाणी का जस-भी असर नहीं पड़ता, स्वामी जी की स्वयं यह मान्यता रही है जितना तुम बोलते हो उससे ज्यादा तुम्हारा व्यक्तित्व सुना जाता है और स्वामी जी ने वेदन्त को जो लक्ष्य तक चर्चा और परिसम्भाव का विषय ही समझा जाता था अपने जीवन और आचरण में उतार कर निज के व्यक्तित्व को इतना तेजस्वी तथा प्रखर बना लिया था कि उसके आगे हर कोई नतमस्तक हो उठता था।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म उत्तरी सोमा प्रान्त में स्थित गुजरावल्स जिले के मुरली वाला गाँव में २२ अक्टूबर, १८७३ ई. को हुआ। उनके पिता का नाम हीरानन्द था और माता का नाम रत्न था। तीर्थराम। तीर्थराम का जन्म होने के कुछ माह बाद ही उनकी माँ का देहान्त हो गया। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी। अतः उनको उच्च शिक्षा नहीं दिला सके। जब तक वह गाँव में रहे तब तक वहाँ के एक मौलवी से ठेढ़ पढ़ते रहे।

परिवार की आर्थिक स्थिति भले ही दयनीय हो पर हीरानन्द जी की आकांक्षा थी कि अपने पुत्र को पढ़-लिखकर योग्य बनावे इसलिए उन्होंने नौ वर्ष की आयु में तीर्थराम को अपने एक मित्र धन्ना भगत की देखरेख में शहर में रख दिया और हाईस्कूल में भर्ती करवा दिया। धन्ना भगता कसरती पहलवान थे और अविवाहित थे। साथ ही अध्यात्म में भी उनकी रुचि थी। तीर्थराम उनसे धर्म और अध्यात्म आदि विषयों पर चर्चा करते थे। धन्ना भगत के सङ्निध्य का तीर्थराम पर बहुत प्रभाव पड़ा।

षट्त्रह वर्ष की आयु में तीर्थराम ने एण्ट्रेस की परीक्षा पास की और पंजाब भर में प्रथम आये। इस सफलता ने उनकी प्रतिभा को प्रमाणित किया और परीक्षा बोर्ड ने उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए छात्रवृत्ति दी। लेकिन हीरानन्द जी तीर्थराम को और अधिक पढ़ना नहीं चाहते थे। तीर्थराम ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध आगे बढ़ाई जारी रखने का निश्चय किया और कॉलेज में भर्ती हो गए। कॉलेज की पढ़ाई के लिए स्कूली खर्चा और भोजन वस्त्र के व्यय का प्रबंध तो आवश्यक था वह कहा से पूरा हो। तीर्थराम ने इसका सहज रास्ता निकाल लिया। उन्होंने छात्रवृत्ति से तो स्कूल की फीस और पुस्तक आदि का खर्च चलाने का निश्चय किया तथा भोजन, वस्त्र के लिए ट्यूशन द्वारा खर्च चलाने का रास्ता निकाल लिया। अपनी मर्जी के खिलाफ कॉलेज में भर्ती होने के कारण हीरानन्द जी ने तो उन्हें कोई भी किसी भी तरह की मदद न करने की छान ली थी। पर तीर्थराम जी की आवश्यकताएँ भी ही कितनी जिन्हें पूरा

करने के लिए ज्यादा परिश्रम करना पड़े और वे अपना करम बड़ी गितव्ययिता तथा सादगी से चलाते रहे। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को इस स्तर का रखा जो आसानी से पूरी हो सकती थी। कदाचित कभी कोई कमी पड़ती भी तो वे उसे बड़ी सूझबूझ के साथ निभा लेते थे। इस तरह की कई घटनाओं का उल्लेख उनके जीवनी लेखकों ने किया है जिनसे विदित होता है कि घोर अभाव के दिनों में भी वे अपने आपको किस प्रकार परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेते थे। उनकी आयदनी औसतन तीन पैसे रोज थी और उसी में वे सन्तोषपूर्वक गुजार कर लेते थे। लाहौर जैसे शहर में तीन पैसे रोज पर गुजारा करना बड़ा ही कष्टसाध्य था। वे सुबह के बत्त एक दुकान पर दो पैसे की रोटी खरीद लेते। दाल मुफ्त मिलती थी। उसी से भोजन चला जाता था। कुछ दिनों तो इसी तरह बीत गये पर बाद में दुकानदार ने अपना नियम बदल दिया और तीर्थराम से कह दिया कि दाल मुफ्त नहीं मिल सकती। इस पर क्रिवा होकर तीर्थराम ने शाम का खाना बन्द कर दिया और सुबह एक वक्त ही भोजन करने लगे। उनके पास कड़ाके की सड़ें में भी पहनने के लिए कोट नहीं था न ही पतलून और न नेकटई ही थी। पहनने के लिए केवल छहर की एक कमीज और एक पावजाया भर था।

पैरों में साधारण से देसी जूते थे। एक बार वे किसी दुकान से कुछ सामान खरीद रहे थे। सामान खरीद कर दुकान से उतर ही रहे थे कि पाँवों से एक जूता खिसक गया और नाली में गिर गया। नाली गहरी थी और उसमें काफी पानी था जो जूता उसमें डूबकर बह गया। निर्हन्द भाव से तीर्थराम एक जूता हाथ में लिये घर आये और उन्होंने बेमेल का दूसरा जूता दूसरे पाँव में डालकर कभी दिनों तक काम चलाया। इस हास्य में देखकर तीर्थराम के कई सहपाठी उनकी हँसी उड़ाते थे पर तीर्थराम को इसकी कोई परवाह नहीं थी। बाद में जब उनके पास पैसे आ गये तो उन्होंने नये जूते खरीदे।

इस प्रकार तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए ही तीर्थराम बड़ी लगन के साथ पढ़ते रहे। सभी वर्ग की परीक्षाओं में वे सदा प्रथम ही आते रहे पर अपनी योग्यता का लाभ अपने लिए उठाने की उनमें जरा भी भावना नहीं थी। जब वे एम. ए. की परीक्षा के फार्म भेज रहे थे तो लाहौर कॉलेज के अंग्रेज प्रिन्सीपल ने उनकी सच्ची लगन और योग्यता, प्रतिभा से प्रभावित होकर एक दिन तीर्थराम से कहा— “क्या मैं आपको नाम आई. सी. एस. (इण्डियन सिविल सर्विस) की परीक्षा के लिए भेज दूँ?”

तीर्थराम कुछ समय तक विचारमग्न रहे। उनकी आँखों में आँसू भर आये और डबडबती आँखों से ही बोले— “मैंने इतनी मेहनत से ज्ञान का जो खजाना पाया है उसे धनवान बनने के लिए खर्च नहीं करना चाहता। उच्च पदों पर आसीन रहकर मैं अपना इस प्रतिभा का क्या उपयोग करूँगा? मैंने तो यह ज्ञान इसलिए कमाया है कि इस ज्ञान को बाँट कर अपने आपको तथा अन्य लोगों को सुखी बनाऊँ।”

तो एम. ए. पास करने के बाद क्या करेंगे— तीर्थराम से पूछा— प्रिन्सीपल ने। वे अपने इस होनहार शिष्य के इन विचारों को सुनकर न केवल अश्चर्यचकित रह गये थे वरन् बेहद प्रभावित भी हुए थे।

प्रिन्सीपल का वह प्रश्न सुनकर तीर्थराम ने कहा— 'यदि कोई विचार है तो रही कि अपना सारा जीवन और हर एक सँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ तथा मानव भाव की सेवा करता रहूँ।'

स्वामी रामतीर्थ के अन्न करण में सच्चा सेवा-भाव था और जन-सेवा की उत्कट लगन थी। विद्यार्थी जीवन में उन्होंने तप साधना तथा कठोर तपों का निभाना आरम्भ कर दिया था। शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने कॉलेज में अध्यापन कार्य अपनाया। सब ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया। सन् १८९७ में लाहौर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। तीर्थराम जी भी उसमें शामिल हुए और उन्होंने बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने, पर उन्होंने अनुभव किया कि भाषणों से देश का कोई उद्धार नहीं हो सकता। इन्हीं दिनों भारत के सामाजिक और धार्मिक हितों पर स्वामी विवेकानन्द का अवतरण हुआ। तीर्थराम जी स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से बहुत प्रभावित हुए और उनके सम्पर्क में आकर उन्होंने भी अध्यात्म के प्रयोगों को ही अपना लक्ष्य बना लिया।

एक दिन वे अपने साथ बिना कोई सामान लिये घर से निकले और उत्तराखण्ड के जंगलों में चल पड़े। काफी दिनों तक उन्होंने उत्तराखण्ड के बन-प्रान्तों का भ्रमण किया। वहाँ की जलवायु का उन पर विपरीत प्रभाव हुआ। इस भ्रमण के दौरान ही उनका नारायण स्वामी से साक्षात्कार हुआ। नारायण स्वामी ने अपने युग के इस विभूतिवान व्यक्तित्व को पहचाना और शिष्य भाव से स्वामी रामतीर्थ की सेवा सुझाव करने लगे। इन्हीं नारायण स्वामी ने स्वामी रामतीर्थ के देहान्त के बाद उनके विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार का कार्य सम्भाला तथा उनके प्रयासों से ही देश भर में स्वामी रामतीर्थ के भाषण और उपदेश विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो सके थे।

१९०१ में मथुरा में धर्म सम्मेलन हुआ। स्वामी तीर्थराम इस धर्म सम्मेलन के अध्यक्ष बजाये गये। उन्होंने जिस कुशलता से सम्मेलन का संचालन किया वह प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ की पंक्तियों में बताया जा चुका है। धर्म सम्मेलन सम्पन्न हो चुकने के बाद उन्होंने मथुरा में कुछ समय तक एकान्तवास किया और अप्रैल, १९०२ में देहरी चले गये। देहरी नरेश को जब उनके आगमन का सम्चार मिला तो उन्होंने स्वयं स्वामी रामतीर्थ से भेंट की और उनके लिए गंगा किनारे एक कुटी बनवा दी।

उन्हीं दिनों सफ़र पत्रों में जापान की राजधानी टोकियो में एक विश्व धर्म सम्मेलन होने की सूचना छपी, सूचना में आयोजित सम्मेलन को उसी स्तर का बताया गया था जैसा कि १८९३ में अमेरिका में हुआ था और स्वामी विवेकानन्द ने उसमें हिन्दू धर्म का

विषय दुन्दुभि बजायी थी। देहरी नरेश ने इस सम्मेलन में स्वामी रामतीर्थ को भेजने का निश्चय किया और उसे इस तरह का आग्रह भी किया। स्वामी राम तुरन्त इस आग्रह को मान गये और आवश्यक तैयारियों के बाद जापान को प्रस्थान किया। वे जापान के लिए जहाज से रवाना हुए, रास्ते में जहाँ-जहाँ कहीं भी रुका लोगों ने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया।

जापान में स्वामी जी लगभग दो सप्ताह ठहरे। उनके भाषणों को वहाँ हर किसी ने पसन्द किया। एक बार किसी जापानी ने स्वामीजी से पूछा कि आपने सी-बन्धों को क्यों छोड़ा तो उन्हें उत्तर दिया कि अपने छोटे से दरवार को एक बहुत बड़ा और विशाल परिवार बनाने के लिए। इसी तरह उन्होंने अपने कृत्यों द्वारा भी जापानियों को बहुत कुछ सिखाया। जिस सर्वधर्म सम्मेलन की बात सुनकर स्वामीजी जापान गये थे वह गलत निकली, इसकी पुष्टि हो जाने के बाद भी स्वामी जी स्वदेश वापस आने को उत्सुक नहीं हुए और अपना प्रचार अभियान चलाते रहे।

जापान में प्रचार कार्य सम्पन्न कर वे अमेरिका रवाना हुए और वहाँ लगभग दो वर्ष तक रहे। अमेरिका में उनके सैकड़ों व्याख्यान हुए। कई व्यक्ति उनसे प्रेरण प्राप्त कर उनके मार्गदर्शन से आत्मविकास की संधान में संलग्न हुए। उनके अमेरिकी शिष्यों ने ही उनके व्याख्यान के नोट्स लिये, स्वामी नारायण भी उनके साथ ही रहते थे और वे भी प्रस्तुत कार्य में आवश्यक सहयोग दिया करते थे।

अमेरिका से वापस भारत लौटते समय स्वामी जी कुछ समय यूरोप के अन्य देशों तथा मिस्र में रुके। मिस्र में इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उनके व्याख्यान को बड़े ध्यानपूर्वक सुना और अनुभव किया कि इस्लाम धर्म के मूल सिद्धान्तों की इतनी सुन्दर व्याख्या कोई व्यक्ति अजीवन अध्ययन करता रहकर भी शायद ही कर सके।

भारत आने के बाद उन्होंने कुछ समय तक देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और लोगों को व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा दी। बाद में उत्तराखण्ड चले गये और वहीं उन्होंने अपना स्थायी निवास बना दिया। सन् १९०६ की दीपावली थी। उन दिनों उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें मौत का आह्वान किया गया था। उससे कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने अपने शिष्य नारायण स्वामी से कहा था कि— राम की तन्त्रित अब संसार से ऊब गयी है। अतः वह शीघ्र ही इस संसार को त्यागने वाला है और दीपावली का ही तृतीय वर्ष की आयु में उन्होंने गंगा में जल संप्रधि ले ली। स्वामी रामतीर्थ जिस समय संसार से विदा होने लगे उस समय मृत्यु को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो शब्द व्यक्त किये वे एक अम्यात्मवादी भारतीय के अनुरूप ही थे उन्होंने आनन्द विष्णु होते हुए कहा था—

ऐ मर् की गोद के समान शान्तदर्शनी मृत्यु। आओ और इस भौतिक संसार को ले जाओ। मेरे पास और बहुत से नये शरीर हैं।

मैं तारों की चमक और चन्द्रमा की किरणों का शरीर धारण कर सकता हूँ मैं आत्मा रूप हूँ संसार के सारे शरीर मेरे हैं। सारी सृष्टि हो मेरी देह है और मैं उसका शाश्वत, अविनश्य और चिर चेतना देहो हूँ मैं शुद्ध, बुद्ध और निरुपाधि ब्रह्म हूँ ब्रह्म। व्यापक और विस्मर रहित ब्रह्म।”

प्रेम-पथ के निर्भय पथिक

विद्यालय चल रहा था। छात्रगण दो कक्षाओं में बैठे शिक्षक से पाठ पढ़ रहे थे। पाठ खत्म होने पर अध्यापक ने जयाम पट पर एक लकीर खींची और छात्रों से प्रश्न किया—“बच्चों तुममें से कोई लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता है।”

सभी छात्र चुप रह गये। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। एक छात्र उठा और जयाम-पट के निकट आया। उसने शिक्षक के हाथ से छड़िया लेकर जयाम-पट पर खींची हुई लकीर के पास ही, उससे एक बड़ी लकीर खींच दी।

अध्यापक उस छात्र के बुद्धिचतुर्य से अवाक रह गये और विद्यार्थियों से बोले—यह बाद रखो कि जीवन में महान् बनने के लिए किसी को मिटाना आवश्यक नहीं है। इसके लिए तो हमें स्वयं ही अपने कार्यों द्वारा औरों से आगे बढ़ना होगा।”—यह अध्यापक थे—प्रोफेसर तीर्थराम। प्रायोगिक प्रतीकों के माध्यम से शिक्षा देने की यह उनकी अपनी विधि थी।

बाल्यकाल से ही उनमें विद्याध्ययन के प्रति अदृढ़ लगन थी। फाकाकशी का जीवन ध्यातीत करते हुए भी उन्होंने अपनी क्रिज्जल्यक-आराधना में लवलेश कमी नहीं आने दी। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके प्रिन्सीपल ने उस समय आग्रह किया जब कि वे एम. एम. सी. गणित में सर्वाधिक अंकों से उत्तीर्ण हुए थे कि—“तुम्हारा नाम सिविल-सर्विस की परीक्षा के लिए दे रहा हूँ।” तो तीर्थराम ने कहा—“मैंने अपनी फसल से लाभ उठाने के लिए—उसे बेगने के लिए मेहनत नहीं की है। मैं तो उसे बंटवारा चाहता हूँ और सेवक बनकर ही रहूँगा।”

खूब समझाया प्रिन्सीपल ने परन्तु वे अपने निश्चय से इस से मस नहीं हुए। फलस्वरूप उसी कॉलेज में अगले सत्र में प्रथम मास में ही वे प्रोफेसर बन गये।

विद्यार्थी जीवन में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इण्डर पास कर लेने के बाद घर वालों ने आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। परन्तु तीर्थराम तो अपनी विद्या ध्यसनी वृत्ति को किसी भी प्रकार मेटना नहीं चाहते थे। इसी बात पर माँ-बाप से मतभेद हो गया। तीर्थराम घर छोड़कर लाहौर चले आये। साथ में पत्नी भी। घर से विरोध रखने वाले पुत्र की पत्नी का स्वर्च अभिभातक क्यों उठाएँ वहीं उनका शिक्षण चलता रहा। किन्तु कठिनाइयों से वे अपना तथा अपनी पत्नी का निर्वाह करते हुए फट रहे थे उस समय के बड़े ही मर्मस्पर्शी संस्मरण सरदार पूर्णसिंह ने लिखे हैं। और जब शिष्या पूर्ण हुई तो अधिकारी बनने की अपेक्षा अध्यापक बनना पसन्द किया।

अध्यात्म साधना के प्रति उनके मन में आरम्भ से ही लगन थी विद्यार्थी जीवन में एक बार उनसे किसी ने पूछा—“तुम एम. ए. कर लेने के बाद क्या करोगे?”

तीर्थराम ने उत्तर दिया—“यदि कोई इच्छा है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक सांस प्रभु की सेवा में लगा दूँ और प्रनुष्य मात्र की सेवा करूँ।”—इस उत्तर में उनकी आध्यात्मिक विचार धारा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। कोई भी सच्चा आत्मवादी शरीर की सुख-सुविधा और साज-सज्जा पर निर्वाह मात्र से अधिक ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि स्वामी जी एम. ए. में जब ६० रु प्रति मास शिष्य वृत्ति प्राप्त कर रहे थे अब कि और अधःगमन काल में दो सौ रु. बेतन पाने लगे तब भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं लाए। जो रुपया बचता उसे गरीब विद्यार्थियों की मदद करने में लगाते गरीबों का उन्हें अच्छा अनुभव था और इसी कारण उनकी सहानुभूति गरीबों से सदैव जुड़ी रही।

शरीर में कभी रोग उत्पन्न हो जाए तो उसकी चिन्ता किए बिना भी अपने कर्ष में लगे रहना उनका स्वभाव बन गया था। एक बार उन्हें गुर्दे का दर्द होने लगा। धीरे-धीरे बढ़ता गया और उन्हें बिस्तर पकड़ लेना पड़ा। कोई और होता तो कराह-तड़प कर ही मर जाता परन्तु स्वामी राम के चेहरे पर कस्य हँसी-मुस्मन खिली रहती। उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल उनके चरित्र चित्रों में से वे। वे उन्हें देखने पहुँचे, जैसी टीन-टयनीय दशा की कल्पना भी ठीक उसके विपरीत स्थिति देखकर आश्चर्यचकित रह गए। स्वामी राम ने कहा—“क्या हुआ अगर शरीर रोगी है। पर आत्मा तो सब जगह है। वह प्रसन्न है। शरीरिक रोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।”

सन् १८९९ में स्वामी विवेकानन्द लाहौर आये। उनके प्रवचनों की व्यवस्था हुई। रामतीर्थ तो इस प्रकार के आयोजनों में अग्रणी रहने लगे। वहाँ उनका स्वामी जी से निकट सम्पर्क बना और वे उनके व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए। अन्तिम दिन विदाई के अवसर पर रामतीर्थ ने स्वामी जी को एक घड़ी भेंट में दी। विवेकानन्द जी ने उसे कुछ देर तक अपने पास रखा और फिर रामतीर्थ जी की जेब में ही रखते हुये कहा—“मैं इसे अपनी जेब में रखूँगा?” अब तो जैसे रामतीर्थ को अपना वाञ्छित आदर्श प्राप्त हो गया। इस प्रसंग ने उनके सामने जीवन का एक नया आत्म प्रस्तुत कर दिया। वे अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए स्थान-स्थान पर घूमने लगे। हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ आदि कई स्थानों पर उन्होंने एकत्र जप और ध्यान साधना की।

नौकरी से भी उनका मन हट गया। मिशन कॉलेज में वे केवल दो घण्टे काम कर निर्वाहोपयोगी जीविक प्रप्त कर लेने थे और सन् १८९९ में उन्होंने नौकरी भी छोड़ दी। सब लोग आश्चर्यान्वित हो उठे। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी ने इनके त्याग पत्र पर विचार किया। सीनेट के सदस्यों ने रामतीर्थ को हर तरह मनाया परन्तु वे

२ ३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

स्तीफ़ वापस लेने के लिए राजी न हुए। अन्ततः एक सदस्य के पुरु से निकल गया— “तीर्थराम पागल हो गये हैं।”

इकबाल भी वहीं पर बैठे हुए थे। बोले— “तीर्थराम पागल हो गये हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि दुनिया में फिर अक्ल कहां है।”

स्वामी रामतीर्थ ने नौकरी छोड़कर संन्यास ले लिया और वे वेदान्त का प्रचार करने लगे। इस दार्शनिक विचारधारा का जो परिष्कृत रूप उन्होंने सर्व साधारण के सामने रखा वह आज तक की प्रचलित सभी मान्यताओं से अलग और प्रगतिशील अर्थ रखता है। इसके प्रति उन्हें इतनी दृढ़ आस्था थी कि एक-एक अवसर पर उन्होंने कहा— “भारतवर्ष का पतन वेदान्त के जीवन मूल्यों में अनास्था होने से हुआ है।”

उनके कर्तृत्व और व्यावहारिक वेदान्त के विचारों में सामञ्जस्य बूझा जाय तो यही प्रतीत होता है कि स्वामी रामतीर्थ वेदान्त के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके धारणा का मूल था— “हर चड़ी ऐसा अनुभव करो कि जो शक्ति सूर्य और नक्षत्रों में अपने को प्रकट कर रही है वही तुम में भी है और तुम उसके अविभाज्य अंग हो। कुछ विचारों और बन्धनों को सर्वथा भूल जाओ फिर तुम अमर जीवन प्राप्त कर सकोगे।” स्वयं को ईश्वर का अंश—अविनाशी राजकुमार, आत्मा स्वीकार कर लेने के बाद कौन मनुष्य, सम्भक निराश और अकर्मण्य रह सकता है।

जापान के सागरिकों की कर्मनिष्ठा और परिश्रमशीलता देखकर उन्होंने कहा था कि वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों से घले ही आप परिचित न हैं परन्तु उसका व्यवहारिक पक्ष आम लोगों की उन्नति का मूल कारण है। उन्होंने ‘प्रेम’ को सब धर्मों का मूल कहा, इसकी शक्ति के बल पर ही उन्होंने स्थान-स्थान पर असंख्य लोगों को प्रभावित किया। प्रेममय होकर ही कोई व्यक्ति पवित्रता की रक्षा कर सकता है क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है। ईश्वर भक्ति का लक्षण वे प्रेम ही मानते थे और कहते थे जब तक किसी साधक के आत्म-विचार में यह दिव्य गुण नहीं झलकता तब तक वह अपूर्ण ही है।

परिवार को वे प्रेम की प्राथमिक ज्वाला कहा करते थे। उनके एक अनन्यतम सहयोगी सरदार पूर्णसिंह ने जब परिवार छोड़कर संन्यास लेने की बात कही तो उन्होंने सरदार जी को बना किया और कहा कि जब तक तुम इस प्राथमिक कक्षा में दिव्य प्रेम का अवतरण नहीं कर लेते संन्यास की बात भी नहीं खेचनी चाहिए।

कैसे संयोग की बात है कि जन्म दिन के पर्व पर ही १७ अक्टूबर, १९०६ को अन्धकार की अपेरी रात में टिमटिगाते हुए दीपों से एक प्रकाश पुञ्ज निकला और सचमुच उनकी आत्मा चांद की किरणों को पहन कर देह मुक्त हो गयी।

दृष्टि-भेद नहीं

स्वामी रामतीर्थ संन्यास से पूर्व जिस मुहल्ले में रहते थे उसमें वेश्याएँ भी रहती थीं। मुहल्ले वालों ने सरकार को अर्जें दी कि इन

वेश्याओं को वहाँ से हटाया जाय। अर्जों पर हस्ताक्षर करने के लिए रामतीर्थ से भी कहा गया।

उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा— मैंने आज तक यहाँ कोई वेश्या नहीं देखी। हर घर में इधर तो मृदुल मनोहर बहिनें ही रहती हैं।

ज्ञानमयी श्रद्धा

स्वामी रामतीर्थ बचपन में गाँव के मौलवी साहब से पढ़ा करते थे। प्राथमिक पढ़ाई पूरी होने पर उन्हें पाठशाला भेजा गया तब मौलवी साहब को क्या दिया जाय यह प्रश्न सामने आया। स्वामी जी के पिताजी उन्हें मासिक वेतन के अतिरिक्त इस समय कुछ और भेंट करके चाहते थे तभी स्वामी जी बोले उठे “पिताजी। इन्हें अपनी बढ़िया दूध देने वाली गाय दे दीजिये। इन्होंने मुझे सबसे बढ़िया दूध विश्व का दूध पिलाया है। शिष्य की इस ज्ञानमयी श्रद्धा से पिता तथा गुरु दोनों ही पुलकित हो उठे।”

आत्मीयतापूर्ण वाणी का प्रभाव

जहाज सेनप्रतिसिस्को बन्दरगाह पर रुका। जहाज खड़ा होते ही सभी यात्री जल्दी-जल्दी अपना सामान संभालने लगे। सबमें उतरने की जल्दी और उत्सुकता दिखाई देने लगी। जहाज में एक तरफ एक व्यक्ति शान्तभाव से डैक पर खड़ा था। उसे कुछ देर तक एक अमेरिकन व्यक्ति देखता रहा और अन्त में बोला— “क्यों महाशय, आपके यहाँ नहीं उतरना है क्या? अपना सामान क्यों नहीं संभालते?”

व्यक्ति स्वभाविक मुस्कराहट की मुद्रा में प्रत्युत्तर देते हुए बोला— “मेरे पास कोई सामान नहीं है।” “तो पास में पैसे तो होंगे ही, जिससे खाने-पीने का काम चलता है?” यह तुरन्त दूसरा प्रश्न हो उठा। “मैं अपने पास पैसे भी नहीं रखता।” तब तो यहाँ कोई आपका मित्र होगा, जिसके यहाँ ठहरना होगा?” यह उस व्यक्ति का तीसरा प्रश्न था।

स्वामी जी युवक को प्रत्युत्तर देते हुए बोले— “हाँ यहाँ हमारा एक मित्र है, जिसके यहाँ हमें रुकना है और जो हमारी सब सहायताएँ करेगा।” “वह व्यक्ति कौन है?” सच्चे वेदान्ती रामतीर्थ जी हँसे और उसके बन्धे पर हाथ रखते हुए बोले— “आप ही मेरे मित्र हैं।”

प्रेम की पवित्रता से पीगता हुआ वह व्यक्ति सचमुच ही उनका परम मित्र बन गया।

सुख और शान्ति का मार्ग

स्वामी रामतीर्थ उन दिनों अमेरिका के दौरे पर थे, एक दिन स्वामी जी का प्रवचन समाप्त होने पर एक महिला आई और विषाद युक्त वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगी। “स्वामी जी। मेरे एक ही पुत्र था। बीड़े दिन पूर्व उसकी मृत्यु हो गई। मैं विधवा हूँ

किसी तरह चिन की शान्ति नहीं मिलती। आप कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरे जीवन को शान्ति मिल सके।'

आपको शान्ति की पुनः प्राप्ति हो सकती है और अपने जीवन में आनन्द का अनुभव कर सकती है। पर हर वस्तु का मूल्य चुकाना पड़ना है क्या आप सुख-शान्ति की पुनः प्राप्ति हेतु कुछ त्याग करने को तैयार हैं ?

बस आपके आदेश देने की देर है। मैं अपना सर्वस्व त्याग करने को तैयार हूँ।'

'पर इतना ध्यान रखना कि आपके देशवासी भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देते हैं। वहाँ डाक्टर और सेप्ट के त्याग से काम नहीं चलता। यदि आप सचमुच तैयार हैं तो मैं कल स्वयं ही आपके निवास स्थान पर उपस्थित होऊँगा। दूसरे दिन स्वामी रामतीर्थ एक हल्की बालक को अपने साथ लेकर उस महिला के घर पहुँचे और उसे अपने बच्चे के तौर पर पालने के लिए कहा।'

उसे देखकर महिला बोली— 'स्वामी जी ! वह हल्की बालक मेरे घर में प्रवेश कैसे कर सकता है ?' 'हाँ ! यदि इसमें आपको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है तो सच्चे सुख और शान्ति का प्राप्ति करने का मार्ग तो और भी कठिन है।'

ज्ञान साधना

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उनकी भेंट वहाँ एक बूढ़े से हुई, जीर्णशीर्ण कपड़ा का यह बूढ़ा ७५ वर्ष की आयु में भी युवकचित उत्साह से जर्मन भाषा सीख रहा था। स्वामी जी ने पूछा— 'बाबा ! इस उम्र में यह भाषा सीखकर आप क्या करेंगे ?' बूढ़ा बोला— 'स्वामी जी ! सीखने के लिये कोई उम्र नहीं होती। मैंने प्राणिविज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की है, जर्मन भाषा में इस विषय पर कई अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मैं उनका जपानी में रूपान्तरण करूँगा ताकि हमारे देशवासी भी उससे लाभान्वित हो सकें।' उसके उत्साह, राष्ट्र की शैक्षणिक प्रगति के लिये उत्कट लालसा को देख स्वामी रामतीर्थ ने बूढ़ा से उसके पैर छू लिये और कहा— 'मैं समझ गया, अब जापान को आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता।''

विचारों का महत्त्व

आध्यात्मवेत्ता स्वामी रामतीर्थ अमेरिका में महिलाओं की शक्तों का समाधान कर रहे थे। धर्म की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते जा रहे थे तब तक एक युवती पूछ बैठी— 'कृष्ण अधिकतर गोपियों के मध्य रहते थे। क्या युवतियों के मध्य धिरा रहने वाला व्यक्ति पवित्र हो सकता है ?' 'इसमें भी कोई शक की बात है ? व्यक्ति के चरित्र का सम्बन्ध तो उसके विचारों से है। विचारों की पवित्रता उसे कभी विचलित नहीं होने देती।'

'मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता।' इतना सुनते ही बिना कुछ कहे सुने स्वामीजी अपना आसन छोड़ भागने लगे। कपड़े दूर निकल जाने पर वह खड़े होकर पीछे की ओर देखने लगे। उन्हें

से अधिकतर महिलाएँ स्वामी जी के पीछे-पीछे दौड़कर आ रही थीं। जब वे सभी महिलाएँ निकट आ गईं तो स्वामी जी ने पूछा— 'अच्छा बताइये क्या मैं अपवित्र हो गया।' 'नहीं। बिल्कुल नहीं।' फिर योगिराज कृष्ण को गोपियों से घिरे रहने पर कैसे अपवित्र कहा जा सकता है।'

हम भी बोन्साई न बनें

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उन्होंने कितने ही बगीचे में छोटे देवदारु के पेड़ देखे जो बीस-बीस वर्ष पुराने थे। इतने दिन में तो वह बूढ़ा पुरा बड़ जाता है।

स्वामी जी ने फर्से से पूछा इनके इतना छोटा रह जाने का क्या कारण है ? उसने बताया इनके बड़े होने पर हम लोग हर साल काटते रहते हैं। उन्हें फैलने नहीं देते इसलिए वे आजीवन बौने ही बने रहते हैं। इन्हें 'बोन्साई' कहते हैं।

स्वामी जी इस घटना का अपने प्रवचनों में प्रायः उल्लेख किया करते थे और कहते थे जो लोग अपने सदगुणों की जड़ें फैलाने नहीं देते उन्हें काटते ही रहते हैं वे व्यक्ति की दृष्टि में ऐसे ही बौने रह जाते हैं।

अब और कलंक नहीं

स्वामी रामतीर्थ की विद्वता तथा भोजस्वी वाणी से प्रभावित होकर अमेरिका की १८ यूनिवर्सिटियों ने मिलकर उन्हें एल एल डी की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा। जिसे उन्होंने सधन्यवाद अस्वीकार करते हुये कहा— 'स्वामी' और 'एम. ए.' ये दो कलंक पहले ही नाम के आगे-पीछे लगे हुए हैं अब तीसरे कलंक को कहाँ रखेंगे ?

यश, कीर्ति, लोकप्रियता, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, पूजा, मान, बड़ाई के फेरे में घड़कर सन्तों और लोक-सेवियों का अहंकार उभरता है इसलिए सच्चे सन्त मन-बड़ाई से सदा बचते रहते हैं।

सिख धर्म के गृहस्थ गुरु

किसी व्यक्ति के उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में, जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में गृहस्थ धर्म-वाचक नहीं है। गृही और विरक्त दोनों ही स्थिति में रहकर ईश्वर की उपासना और आध्यात्मिक साधना की जा सकती है। इन दोनों मार्गों में से जिस जो अनुकूल जंचे है उसे उसने स्वीकार किया है। प्राचीनकाल में अनेकों ऋषि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए साधना सतत रहे और बहुतों ने एकवर्षी जीवन को सुविधजनक समझकर ब्रह्मचारी या संन्यासी रह कर आत्मिक प्रगति की।

आन्तरिक विकास का सम्बन्ध भावना की उत्कृष्टता से है। सत्यनिष्ठा, सदाचार, दया, निष्पृहता, अनासक्ति, निरहंकारिता, ईश्वर उपासना, परमार्थ भावना आदि सदवृत्तियों को अपनाने से किसी भी वर्ण आश्रम में रहते हुए मनुष्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इनके अभाव में वेश धारण कर लेने या घर त्याग अविवाहित रहने

२.३८ बहापुरियों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

जैसी बाह्य प्रक्रियाओं के ही आकार पर कोई लक्ष प्राप्त करना चाहे तो सम्भव नहीं ।

सन्तों के कई सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमें पत्नी न रखने का विधान है, पर कई सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जिनमें गृहस्थ जीवन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । सिख धर्म भी उन्हीं सम्प्रदायों में से एक है जिसके गुरुओं और सन्तों ने गृहस्थ धर्म में रहकर आत्म-कल्याण और लोक सेवा का महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपस्थित किया है ।

सिख धर्म के संस्थापक और आदि गुरु नानक का विवाह १९ वर्ष की आयु में हुआ । गृहस्थ होने पर भी वे विवक्त की भाँति भावनायें रखे रहे । उनके दो पुत्र हुए । प्रथम उद्यासीमत के प्रवर्तक श्रीकन्द जी और दूसरे लक्ष्मीदास ।

दूसरे गुरु अमर देव भी गृहस्थ थे । उनकी धर्म-पत्नी का नाम जीबी था । जिससे चार सन्तान हुईं दो पुत्र तथा दो कन्याएँ ।

तीसरे गुरु अमरदास जी हुए हैं, उनकी धर्म पत्नी का नाम रामकुँवर था । उनकी भी चार सन्तानें थीं । दो कन्याएँ, दो पुत्र ।

चौथे गुरु रामदास जी का विवाह गुरु अमरदास जी की कन्या प्रानी कुँवर से हुआ । उनके तीन पुत्र हुए, पृथ्वीचन्द्र, महदेव और अर्जुन देव । सबसे छोटे पुत्र अर्जुन देव को उन्होंने अपनी गरी सौपी ।

पाँचवें गुरु अर्जुन देव जी के दो विवाह हुए । पहला मोगगाँव के चन्दनदास खत्री की कन्या रामदेवी जी के साथ, दूसरा कृष्ण चन्द्र की पुत्री गंगादेवी के साथ । प्रथम की से कोई सन्तान नहीं थी । दूसरी से भी कई वर्षों तक सन्तान नहीं हुई । अन्त में गंगादेवी के गर्भ से एक बालक जन्मा—हरगोविन्द सिंह, सिख धर्म के वे ही ठठवे गुरु बने ।

छठवें गुरु हरगोविन्द जी के तीन विवाह हुए । पहला उत्तरे गाँव में नारायणदास की पुत्री दामोदरी के साथ । दूसरा अमृतसर निवासी हरिचन्द की पुत्री नानकी के साथ । तीसरा मंदवाली के दयाराम की पुत्री महादेवी के साथ । प्रथम पत्नी से पुत्र गुरुदत्ता और कन्या बीबी बीरोजी थी । द्वितीय पत्नी से तेग बहादुर और तीसरी पत्नी से तीन पुत्र सूरजमल, हरराम और अटल जी जन्मे । इस प्रकार गुरु हरगोविन्द जी की तीन पत्नियों से पाँच पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ । इसके साथ ही गुरुजी के एक और विवाह का भी पता लगता है । एक मुसलमान काजी की कन्या कौल्ला उनके पास किसी प्रकार आ गई । वह बड़ी रूपवती और बुद्धिमती थी । गुरु साहब ने उस पर बहुत अनुराग रखते थे । गुरु साहब ने उसके नाम पर अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर के पास एक सरोवर बनवा दिया और उसका नाम कौलसर रखा । गुरु हरगोविन्द जी अपने पौत्र—गुरुदत्त के पुत्र हरराय से विशेष प्रेम रखते थे । अन्त उन्होंने उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी बनाया ।

सातवें गुरु हरराय का विवाह सं० १७०४ में दयाराम की पुत्री कृष्णकौर से हुआ । उससे दो पुत्र हुए, रामराय और हरकिशन । अपने छोटे पुत्र हरकिशन को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया । तब वे केवल पाँच वर्ष के थे । गुरु गद्दी प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद ही—आठ वर्ष की आयु में वे स्वर्गवासी हो गये । इसलिए उनका

विवाह न हो सका । इस प्रकार अठवें गुरु हरकिशन जी अविवाहित ही स्वर्गवासी हुए ।

नौवें गुरु तेगबहादुरजी का विवाह सं० १६८६ में लालचन्द की पुत्री गुजरी जी से हुआ । उनके पुत्र गुरु गोविन्दसिंह सं० १७१३ में जन्मे ।

दसवें गुरु गोविन्दसिंह के दो पत्नियाँ थीं । उनका बड़ा पुत्र अजीतसिंह मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ । दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने भी इसी प्रकार की वीरगति प्राप्त की । दो छोटे पुत्र जोरावरसिंह और कतेहसिंह मुसलमानों द्वारा पकड़े गये और उन्हें जीवित ही दीवार में चुनवा कर मारा गया । इस प्रकार दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी के चारों पुत्र धर्म के लिए बलिदान हो गये ।

इस प्रकार दसों गुरुओं की परम्परा गृहस्थ-धर्म की है । यह उचित एवं युग-धर्म के सर्वथा अनुकूल भी है । विवक्त जीवन जनसमाज से सर्वथा दूर जंगलों में एकाकी रहने वाले महात्माओं के लिए अनुकूल हो सकता है पर यदि वे जन-सम्पर्क में आते हैं तो उनके पारिव्यक्त पतन की घबराहट संभावना रहती है, जैसी कि आजकल आमतौर से देखी जाती है । आत्म-कल्याण के जो पथिक जनसम्पर्क से दूर नहीं रह सकते हैं उनके लिये गृहस्थ धर्म ही उपयुक्त है । इस दृष्टि से सिख गुरुओं ने एक अनुकरणीय परम्परा की स्थापना की ।

धार्मिक ऐक्य के प्रचारक— गुरु नानक

भारत में सम्प्रदायवाद का रोग काफी पुराना है । हम में यदि इतनी ठदारता और विचारों की विशालता न हो कि मनुष्यमात्र को—प्रत्येक धर्मावलम्बी को—अपना भाई समझ सकें, तो कम से कम अपने मतहब के मानने वालों से तो बन्धु-भाव रखें । पर हिन्दुओं में इसका भी अभाव हो गया था । वे बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक सम्प्रदायों को ही गैर नहीं समझते थे बल्कि शैव, वैष्णव, शैव-शक्त आदि सम्प्रदाय तथा ब्राह्मण, वैश्य आदि जाति के कहे जाने वाले व्यक्तियों को भी एक-दूसरे से अलग और विरोधी मानने लग जाते थे ।

मुसलमानों के आक्रमण से पहले ही भारत के इन धार्मिक सम्प्रदायों में वैषम्य का भाव बहुत अधिक फैल गया था और अनेक स्थानों पर तो इसी के नाम पर निर्दोष लोगों पर अकथनीय अत्याचार और हत्याएँ तक की गयी थी । जिस प्रदेश में जिस सम्प्रदाय वालों की प्रबलता होती अथवा वहाँ का राजा जिस सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेता वहाँ अन्य सम्प्रदाय वालों की कम्बख्ती आ जाती थी या तो उन्हें अपना धार्मिक विश्वास बदलना पड़ता था अथवा विरोधियों के हाथों तरह-तरह की यातनायें उठानी पड़ती थीं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विदेशी आक्रमणकारियों की सफलता और पराधीनता का एक कारण आपस का यह धार्मिक वैषम्य भी था ।

यह सम्प्रदायवाद का भूत लोगों के सिर पर इतना अधिक सवार हो गया था कि वे धार्मिक उदारता को भूल ही गए थे। यह नहीं समझते थे कि धर्म का गहन लक्षण प्रणिमात्र में सदभाव रखना, उनके कष्टों में सहायक बनना है, न कि अन्धविश्वास और सर्वज्ञता के वशीभूत होकर अपनी दाईं चावल की खिचड़ी अलग पकाना और थोड़े-से मतवैधिन्य के लिए अपने सहवासी मनुष्यों पर अत्यन्त करन।

गुरु नानक (सन् १४६९ से १५३८) आरम्भ से ही इस भेदभाव को देखकर परेशान होते थे। उनकी समझ में नहीं आता कि जब सब लोग भगवान् को मानते हैं और वह भी स्वीकार करते हैं कि सबको उसी ने बनाया है, तब धर्म के नाम पर झगड़ा किस बात का? इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में एक परमात्मा का नाम ही सत्य है और उसकी उपासना सच्चे मन से की जाननी चाहिए, चाहे वह मन्दिर में हो या धरिजट में, जंगल में हो शहर में।

पिता ने नानक को पढ़ा-लिखा कर संसारी बनाने की कोशिश की, पर उनको तो भगवान् का चस्का लग गया था, इससे संस्कृत, फारसी कुछ भी न पढ़ सके थे। तब उनकी बहिन, जिसका नाम भी नानकी था, उनको संग ले गई और एक मुसलमान शासक दौलत खाँ के मोदीखाने में नौकर कर दिया। उनका बिराह भी करा दिया गया। पर वहाँ भी वे हिसाब-किताब की परवाह न करते थे और जिस किसी को जरूरतमन्द देखते थे उसको दान न मिलने पर भी सौदा दे देते थे। इससे उनकी यह नौकरी थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गई।

इससे कुछ समय बाद वे भारत भ्रमण के लिए चल पड़े और उन्होंने चारों दिशाओं में सैकड़ों मील तक पैदल यात्रा करके देश और समाज की स्थिति का भरपूर अनुभव प्राप्त कर लिया। उन्होंने देखा कि सम्प्रदायों की विभिन्नता, सुआधून, अन्धविश्वास, पाखंडों के कारण हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न जर्जर हो रहा है और यही उसकी निर्बलता का मुख्य कारण है। यदि हमको सबल बनकर अपनी रक्षा करनी है, संसार में कुछ करके दिखाना है तो उसके लिये आवश्यक है कि इन पारस्परिक भेद-भावों और अन्धविश्वासों को दूर किया जाय। जब तक हम धर्म और ईश्वर के सच्चे स्वरूप को नहीं समझेंगे, तब तक न तो हम अपना कुछ भला कर सकेंगे और न संसार में कुछ काम करके दिखला सकेंगे।

अपने विचारों के प्रचार करने का गुरु नानक का दंग निराला ही था। वे मुँह से ज्यादा बात नहीं करते थे और न शास्त्रों के प्रमाणों को पेश करते थे। उनके उपदेश क्रियात्मक होते थे। कहा जाता है कि जब वे तीर्थयात्रा करते हुए हरिद्वार पहुँचे और पण्डितों द्वारा लोगों को तर्पण करते देखा तो वे भी गंगाजी में खड़े होकर पूर्व के बजाय पश्चिम की पानी उछालने लगे। लोगों ने उनको मूर्ख समझकर पूर्व दिशा में जल देने को बताया। उन्होंने कहा— “मेरा गाँव तो पश्चिम की दिशा में है और मैं चाहता हूँ कि वहाँ जल छोड़कर अपने खेतों की सिंचाई करूँ।” लोगों ने उनकी हँसी उड़ा कर कहा कि कहीं इतनी दूर से खेत सींचे जाते हैं? नानक जी ने उत्तर दिया कि— “अगर तर्पण का जल परलोक में पितरों के पास पहुँच जायेगा

तो मेरा बल दो-तीन सैं कोस के फासले पर खेतों तक क्यों नहीं पहुँच सकता?” लोग निश्चर रह गये।

इसी प्रकार जब वे पश्चिमी देशों की यात्रा करते हुये मक्का पहुँचे तो अनजाने में क़त्ला की तरफ पैर कर सो गये। किसी मुसलमान मुल्ला ने देखा तो उनको फटकारा— “कैसे बेवकूफ हो जो ख़ुदा के घर की तरफ पैर करके सो रहे हो!” नानक ने कहा— मुल्ला जी! मैं अजनबी हूँ, मेहस्बानी करके मेरे पैरों को आप ही उस दिशा में कर दें जिस तरफ़ ख़ुदा का घर न हो।” मुल्ला सोचने लगा कि— ख़ुदा तो सब जगह व्यापक है, मैं किस तरह उनके न होने की बात कह सकता हूँ? वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

नानक गरीबों के साथी थे क्योंकि वे जानते थे कि अमीरों का पैसा कुल्म-जोर से ही इकट्ठा होता है। एक दिन वे किसी गाँव में जाकर एक गरीब किसान की झोंपड़ी में टिक गये। उस दिन वहाँ के जमींदार के यहाँ एक बहुत बड़ा भोज था, जिसमें गाँव के समस्त निवासियों को खाने के लिए बुलाया गया। वह जमींदार किसी काम से बाहर निकला तो देखा कि नानक अपने लिए किसान से रोटी बनवा रहे हैं। उसने कहा— आज तो मेरे यहाँ भोज है, बहुत तरह के पकवान बनाये गये हैं, आप वहाँ खाना खाइये। नानक जी ने कहा— “मूँह जो स्वयं परिश्रम की कमाई इन सूखी रोटियों में मिलता है वह लुट-खुसोट कर जमा किये हुए धन से बनये गये पकवानों में नहीं मिल सकता।” जमींदार अपने धन की असलियत को समझ कर कुछ न कर सका।

इस प्रकार गुरु नानक आजीवन लोगों को नेकी और चरोपकार की राह पर चलने का उपदेश देते रहे। उन्होंने बतलाया कि— यही सच्चा धर्म है और इसी से ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। अन्यथा तरह-तरह के कर्मकाण्डों में लगे रहना, पूजा-पाठ का डोंग करते रहना और इन बातों के नाम पर आपस में झगड़े, द्वेषभाव, कलह फैलाना किसी प्रकार का धर्म नहीं कहा जा सकता। उनकी इन शिक्षाओं का असर हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों, जाति कालों के साथ सैकड़ों निष्पक्ष मुसलमानों पर भी पड़ा। सन् १५३८ में उनका देहांत होने पर सबने मिलकर उनका अन्तिम संस्कार किया और हजारों कण्ठों से यही आवाज निकली—

गुरु नानक शाह फकीर ।

हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर ॥

जिस समय गुरु नानक अपने गाँव से जमींदार दौलतखाँ के यहाँ से नौकरी छोड़ कर सत्-धर्म का प्रचार करने के लिए चलने लगे उस समय दौलतखाँ ने उनका हिसाब कराया। हिसाब किब जाने पर गुरु नानक के सात सौ रुपये जमींदार पर निकले। उसने गुरु नानक से वह धनराशि ले लेने के लिये कहा। किन्तु उन्होंने उसे न लिया और कहा कि वह रुपया गरीबों की मदद करने में खर्च कर दिया जाये। दौलत खाँ उनके इस तर्क से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने कई हजार रुपये अपने पास से लेकर गुरु नानक को भेंट किये और उन्हें स्वीकार करने की प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने वह धन भी स्वीकार न किया

२.४० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

और गरीबों को बाँट देने के लिये कहा। गुरु नानक के सम्बन्धियों ने समझाया कि वे वह धन लेकर अपने बच्चों को क्यों नहीं दे देते। गुरु नानक ने कहा— “दुनिया के सारे गरीब बच्चे हैं। उनके सामने मेरी दृष्टि में मेरी निजी बच्चों का कोई महत्त्व नहीं।”

एक बार उनके एक जमींदार शिष्य ने उनको रहने और परिवार के गुजारे के लिए एक गाँव खन किया। गुरु नानक ने उसे स्वीकार कर लिया और उसमें एक बड़ा स्थल बनवाकर सत-समागत तथा सत्संग की व्यवस्था कर दी। स्वयं भी उसी में रहने लगे। गाँव की आयदनी को उन्होंने इस स्थल को ही खन कर दिया। जिसके द्वारा गरीबों को भोजन, महात्माओं को सुविधा और असहायों को सहायता दी जाने लगी।

गरीबों को दिये जाने वाले भोजन की व्यवस्था स्वयं गुरु नानक ही करते थे। वे अपने हाथ से बहुत-सा काम करते थे। स्वयं ही भोजनार्थियों को बुलाकर लाते थे और स्वयं ही अपने हाथ से परोसकर खिलाते थे। सबको खिलाने के बाद ही जो कुछ बचता था उससे अपना काम चलाते इस नियम के अन्तर्गत बहुत बार कुछ भी न बचता था और गुरुनानक स्वयं भूखे ही रह जाते थे। वे अपने लिये दुबारा भोजन नहीं बनाने देते थे अनेक बार तो उन्हें पंच-पंचकः—छ दिन एक साथ ही भूख रहना पड़ता था। तब भी वे कोई चिन्ता न करते थे।

पौलिक विग्रह की अवधि सम्पन्न होते देखकर गुरु नानक ने धर्म-प्रचार और जन-सेवा का कार्य आगे चलाने के मन्तव्य से अपनी गद्दी के लिए उत्तराधिकारी खोजने का विचार बनाया। लोगों का विचार था कि गुरु नानक उत्तराधिकार का भार अपने बड़े पुत्र श्रीचन्द्र को सौंपेंगे। किन्तु लोगों का यह अनुमान गलत सिद्ध हुआ। इस विषय में गुरु नानक के सम्मुख बैठे-पोते का प्रश्न नहीं था, प्रश्न था योग्य व्यक्ति का जो उन्हीं की भाँति निस्पृह भाव से निर्वह कर सके। सच्चे सतगुरु नानक अपने और पराये के भेद-भाव से सर्वथा मुक्त हो चुके थे।

उनकी खोज निरन्तर जारी रही। उन्होंने अनेक लोगों पर दृष्टि डाली। लेकिन कोई सन्त-प्रतिभात अर्को में उत्तीर्ण नहीं हुआ। अन्त में एक लोहाना नाम का व्यक्ति उनके पास शिष्य होने के लिये आया। उसने जब गुरु का धर्म-प्रवचन सुना तो वह प्रेम-विह्वल होकर बेहोश हो गया। गुरु नानक ने उसके हृदय के भाव और आत्मा की कोमलता को समझा और होश में आने पर उन्होंने उसका नाम अंगद रखकर अपने पास ही रख लिया।

अंगद जब ज्ञान और आयु में पूर्ण हो गया तो गुरु नानक ने उसे विवाह कर लेने का आदेश दिया। अंगद ने आश्चर्य से कहा कि महासज में तो आपकी और आपके पाध्यम से भगवान् की पूजा भाक्ति करना चाहता हूँ मुझे इस जल-ज्वाल में पड़ने का आदेश न दें। गुरु नानक ने कहा— अंगद मैं तो गुरुस्थों के लिये सत्-धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ और चाहता हूँ मेरा हर प्रचारक भी अच्छा गृहस्थ बने। अंगद ने गुरु का आदेश मानकर विवाह कर लिया।

विवाह के बाद गुरु नानक एक दिन अंगद को जंगल में ले गये और कहा— ‘अंगद गुरु के लिए थोड़ी सी घास तो बाँध कर लेता चल। फस में कोई कपड़ा तो था नहीं। अंगद ने तुरन्त ही बहुत सारी घास अपने विवाह के बेशकीमती दुपट्टे में बाँध कर रख ली और चल दिया। गुरु नानक बहुत खुश हुए। उन्होंने सोच लिया कि उन्हें योग्य उत्तराधिकारी मिल गया।

अन्त में गुरु नानक ने विग्रह त्याग किया तो उसके कुछ क्षण पहले अपने हाथ से अंगद को गुरु गद्दी पर अभिविक्त कर दिया वहीं अंगद गुरु अंगद देव के नाम से दूसरे गुरु हुए।

गुरु नानक जिस समय सैयदपुर में गये हुए थे, उन्ही दिनों भारत पर बाबर का आक्रमण चल रहा था। उसका शिविर भी सैयदपुर में लगा हुआ था। नगर लूटा जा रहा था। प्रजा ब्रहि-ब्रहि कर रही थी, कोई सुनने कत्त नहीं था। चारों ओर भय और आतंक छाया हुआ था। गुरु नानक का हृदय यह सब देखकर दुःखी हो उठा और वे प्रजा का कष्ट निवारण करने की युक्ति सोचने लगे।

उन्होंने सोचा यदि किसी प्रकार बादशाह बाबर के पास पहुँच सकूँ तो उसे उसके किये का ज्ञान कराकर ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करूँ। उन्होंने बहुत-से उपाय किये पर बाबर के पास जाने का अवसर न मिला। लेकिन वे हताश नहीं हुये और अवसर की तलाश करते रहे। अन्त में साधन पूरी हुई और उन्हें बाबर के पास पहुँचने का रास्ता मिल गया।

उन्होंने देखा कि बाबर के सिपाही जो कुछ लूटते हैं, वह सब एक स्थान पर इकट्ठा करते हैं और उसे गरीब भारतीयों के सिर पर स्तदकर फिर उसे बाबर के पास ले जाते हैं। गुरु नानक ने तत्काल एक गरीब का वेप बनावा और ऐसी जगह पर पहुँच गये जहाँ पर सिपाही माल स्तदने के लिए आदमियों को पकड़ रहे थे। गुरु नानक ने जन-कल्याण के लिये अपने मान-अपमान की जरा-भी परवाह नहीं की और हर त्याग करने का तैयार हो गये।

गुरु नानक ने अपने मुख मण्डल का तेज छिपाने के लिये उसे कुछ-कुछ ढँक लिपा था और फटे-पुराने कपड़े पहन लिये थे। सिपाहियों ने उन्हें भी एक गरीब आदमी समझा और धक्के मारते हुये सामान स्तदने के लिये ले गये। गुरु नानक ने उस अपमानपूर्ण बर्गार के लिये पकड़े जाने के लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया और सिर पर ढेर-सा सामान लाद कर बाबर के पास चल दिये। सैनिक उन्हें जानवरों की तरह खँकते हुये ले चले।

बाबर के सम्मुख पहुँचकर गुरु नानक ने सामान रखा तभी अपना मुँह ठीक से खोला। जन-कल्याण की भावना से भरे नानक का मुख मण्डल एक स्रव दमक उठा। वह प्रकाश बाबर ने भी देखा और तत्काल उस अनुभवों ने समझ लिया कि हो न हो वह कोई खुदा परस्त (भगवात् भक्ता) फकीर (सन्त) है। उसका अस्तित्व यह सोचकर काँप उठा कि कहीं इस अपमान की पीड़ा से इसकी आत्मा सुन्न होकर उसे बददुआ (ज्ञाप) न दे दे। बाबर तत्काल उठा और अदरपूर्वक उन्हें अपनी गद्दी पर ले आया।

पहले तो उसने उनका परिचय पूछा और उसके बाद उनके चरित्र की परीक्षा लेने की छानी। बाबर ने गुरु नानक की खूब अभ्यर्चना की और उसके बाद उन्हें शान्त पाकर शाही सम्मान की रीति के अनुसार शराब मंगाकर पीने के लिए अनुरोध किया। गुरु नानक हँसे और बोले—बादशाह बाबर! हमने तो वह आला सराब पी रखी है जिसका नशा जन्म-जन्मान्तर तक नहीं उतरता अब हम वह दुनिया की शराब क्या पियेंगे? जिसका नशा नकली हो नहीं बल्कि आदमी को इन्सानियत से गिरा देने वाला भी होता है।

उनको बाबर ने बहुत-से जवाहरात और कीमती कपड़े मंगकर उनकी भेंट किये और कहा—‘अगर आप शराब नहीं पीते तो इन्हें मंजूर कर लीजिये।’ गुरु नानक ने वह भेंट भी नमस्जूर करने हुए कहा—इनको तो उन गरीबों को बाँट दे जिन्हें उबरता है। मेरे पास तो भगवान् नाम का वह धन है जिसकी तुलना में दुनिया की सारी दौलत मिट्टी है।

बाबर ने कहा—‘आपने न शराब पी और न जवाहरात की मंजूर किये। कोई तो ऐसी खिदमत (सेवा) बतलाइये जिसको करके मैं अपनी रूह (आत्मा) को सुश कर सकूँ।’ गुरु नानक ने कहा—‘अगर तू हमारी सेवा ही करना चाहता है तो सारे कैदियों को छोड़ दे और लूट-पाट बन्द कर दे। यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी।’

बाबर ने तत्काल सारे बन्दिषों को मुक्त कर दिया और लूटपाट बन्द करने का आदेश दे दिया। सच्चे सन्त इसी प्रकार जनता के हित के लिये हर कष्ट सहने और हर त्याग करने पर तत्पर रहते हैं।

गुरु नानक ने देखा कि थोड़े उपदेशों से समाज का कोई सुधार होने वाला नहीं है इसलिए उन्होंने कोरे उपदेश के स्थान पर व्यवहार द्वारा प्रशिक्षण देने का क्रम अपनाया। उनके जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने सामाजिक कदियों और भिन्नवर्णियों का खण्डन ही नहीं किया बरन् मूल से उखाड़ने का पुर-पुरा प्रयास किया। मध्यकालीन सन्त परम्परा के अधिकतर सन्तों ने मात्र शक्ति की शेर निन्दा की है और नारी को नरक की स्त्रान बताकर धर्म के मार्ग में बाधक बताया। पर नानक ने उन नारी निन्दकों की कसकर खबर ली और अपनी ओजस्वी बाणी में नारी की महत्ता को प्रतिपादित किया—

भंडि जमीए भंडि निमीए, भंडि भगाने—विआहु ।
भंडु मेव सती भंडु धले राहु ।
सकित मंदा आखिर निरु भंडहि राजन ।
भंडु ही अपने वडे बाहु न कोई ।

अर्थात्—स्त्री से प्रनुष्य का जन्म होता है। स्त्री से विवाह होता है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम स्त्री से ही चलता है। यह उन्ना तक को जन्म देने वाला है कि फिर उसके महत्त्व को कम क्यों समझा जाय।

सामाजिक विकास को अवरुद्ध कर एकता को तिर्यहित करने वालों ज्ञातिप्रथा पर भी उन्होंने करारा प्रहार किया। उन्होंने सबके सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहा—जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से अनेक

प्रकार के बर्तन बनाता करता है उसी तरह ईश्वर ने पाँच तत्वों से मानव शरीर बनाया है फिर ऊँच-नीच का भेद-भाव क्यों? सांसारिक व्यक्तियों! तुम्हें ज्ञाति का गर्व नहीं करना चाहिए इससे अनेक प्रकार के बखेड़े उत्पन्न होते हैं।

उनके लिए न कोई हिन्दू का और न मुसलमान के तो केवल मानवता के उपासक थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्मावलम्बी समान थे। मरदाना नाम के मुसलमान ने उनकी शिष्यता ग्रहण की थी और आजीवन उनके साथ रहा। जब वे सुल्तानपुर में थे तब एक फकीर वहाँ से जाते समय अपना निवास उन्हें प्रदान करने का प्रस्ताव करने लगा तो नानक ने तुरन्त उत्तर दिया—निवास पर उसी व्यक्ति का अधिकार होना चाहिए जो बेघर है। उनका यह कथन वर्तमान समस्या के सन्दर्भ में कितना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है जब देश में करोड़ों व्यक्ति भूमिहीन और घर-हीन हैं।

गुरु नानक को गरीबों के साथ रहने में विशेष आनन्द आता था। उन्होंने मस्तिष्क भागो जैसे अश्वीर व्यक्ति की अपेक्षा लाले नामक एक सामान्य व्यक्ति का अतिथि स्वीकार किया था। जब वे सुल्तानपुर के अमाज धण्डार में किसी उलटायी पट पर कार्यरत थे तो किसी ही गरीबों की आर्थिक सहायता करते रहते थे। वे दूसरों के अधिकारों को हड़पने के सख्त विरोधी थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे और सरल भाषा बोलते थे। उन्हें आश्चर्य किसी भी तरह का पसन्द न था। उनके सबद, इतने सरल हैं कि कोई अशिक्षित व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। उनकी भाषा दार्शनिक ऊहापोहों और तर्क-वितर्कों से मुक्त है। यदि अपने देश की भाषा नीति निर्धारण में उनके सन्देश को ग्रहण कर सकें तो काफी समस्या हल हो सकती है।

नानक देव सामाजिक जीवन से समानता के समर्थक थे। उन्होंने अपने इस अदृष्ट को संघर्ष के रूप में सबके सामने रखा था। इसमें बिना किसी भेद-भाव के सभी लोग भोजन कर सकते थे। इससे परस्पर सद्भाव और सहृदिकता में वृद्धि हुई। वे सबका भला चाहते थे। गैंगीजी ने सामाजिक और आर्थिक विकास के रूप में जिस सर्वोदय सिद्धान्त की स्थापना की वह नानक के ‘सरवस्त का भला’ में देखने को मिलता है। उनकी यह शिक्षा यह भी अनेक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है।

इमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे अस्त्र निर्माण के लिए आंतरिक पवित्रता को अधिक आवश्यक मानते थे। उन्होंने सेवा और प्रेम के एक व्यवहारिक धर्म का उपदेश दिया। उनकी अधिकतर शिक्षाएँ ‘जप जी’ नामक गीत में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। इसे सर्व प्रसिद्ध रचना स्वीकार किया गया है। विद्वानों का यह कहना है कि नानक और कुछ भी न होते फिर भी इस रचना के प्रणेता होने के कारण अमर रहते। मुसलमानों में कुरान को और ईसाइयों में बाइबिल को जो गौरव प्राप्त है वह सिक्ख समाज में ‘जप जी’ को है। मध्यकाल में अशिक्षित नर-रत्नों द्वारा समाज निर्माण के लिए जो सन्देश दिये गये थे वे कविता में ही थे। नानक ने भी कविता

१४२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

का आश्रय लिया था। जन-साधारण में जिस भाषा में उन्होंने सत्य का सृजन किया वह अविकसित स्थिति में थी फिर भी उन्होंने समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न बोलियों के शब्दों का उपयोग किया। पंजाब की चप्पा-चप्पा भूमि से तो वे परिचित थे ही इसके अतिरिक्त उन्होंने लाहौर, एमनाबाद, हरिद्वार, दिल्ली, मथुरा, आगरा, बनारस, गया, पटना, बंगाल, गुजरात, सिंध और करांची तक पूरे देश का भ्रमण किया था। मक्का, भदीना, बगदाद, पेशावर, कंधार और बलोचिस्तान आदि अनेक सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचकर अपनी अमृतमयी वाणी से लोगों को कृत-कृत्य किया। इसलिए उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी और खड़ी बोली के शब्दों का उपयोग देखने को मिलता है।

नानक देव सत्य को ही ईश्वर मानते थे। उनका विश्वास था ईश्वर का नाम स्मरण करने और उसकी स्तुति गाने से हमारी पबित भावना जाग्रत होती है जिस प्रकार गन्धे कपड़े साफ़ और फर्श से धुलकर साफ़ हो जाते हैं उसी प्रकार शरीरना से मन के कलुष धुल जाते हैं। उन्होंने जनता को बताया कि वे अपनी भाषा में ईश्वर से सीधा सम्पर्क कर सकते हैं पर कोई शब्द जाल से काम नहीं चलता। इसके लिए भावना के समन्वय को भी विशेष आवश्यकता है।

आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाने से मनुष्य को इच्छा परमात्मा के अधीन हो जानी है और फिर उसके सारे क्रिया-कलाप ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही चलते हैं। ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा शक्ति मानव के लिए बहुत बड़ा बरदान है उसके सम्मुख सत्य और असत्य, पाप और पुण्य के मार्ग खुले रहते हैं उसे मार्ग चयन की पूरी-पूरी छूट रहती है। यदि ऐसा न होता तो उसका जीवन एक स्वाधालित यन्त्र की तरह नीरस हो जाता। ऐसी स्थिति में न वह प्रतिष्ठा प्राप्त कर पाता और न महान् बन पाता।

ईश्वर को समर्पित जीवन जीने वाले लोगों का व्यक्तित्व प्रभावशाली इसलिए है कि वे सामान्य मनुष्यों को प्राप्त अवसरों से लाभ उठाकर अपने को महान्त का ओर ले जाते हैं और अपने चारों ओर के मनुष्यों से ऊपर ठठ जाते हैं।

गुरु नानक के आगमन को पहले ही पाँच शताब्दियों बीत गई हों पर उनके प्रेरक जीवन प्रसंग एवं सन्देश शत्रुता है। जो अज्ञ के अज्ञानांधकार में भटकते मानव को प्रकाश किरणों की तरह मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं और धार्मिक एकता एवं राष्ट्रीय कल्याण की भूमिका में सहायक हो सकते हैं।

संग्रह की सार्थकता

बगदाद के शासक ने जितना कर सकता था धन-सम्पत्ति जमा की। उसके लिये वह प्रजा पर तरह-तरह के अन्याय और अत्याचार भी करता था। उससे प्रजा बड़ी दुःखी थी।

एक दिन गुरु नानक घूमते-घूमते बगदाद जा पहुँचे। खलीफ़ा के महल के सामने ही वह कंकड़ों का छेत ख़ेद जमा करके उन्हीं के पास बैठ गये।

किसी ने खलीफ़ा को नानक के आने की सूचना दी। खलीफ़ा स्वयं वहाँ पहुँचा। कंकड़ों का ढेर देखते ही उसने पूछा—“महाराज ! आपने यह कंकड़ किसलिये इकट्ठे किये हैं।”

गुरु नानक ने मुस्कुरा कर उत्तर दिया—“खलीफ़ा जी ! इन्हें कयामत के दिन ईश्वर को उपहार में दूँगा।”

खलीफ़ा जोर से हँसा और बोला—“अरे नानक ! मैंने तो सुना था तू बड़ा ज्ञानी है पर तुझे इतना भी पता नहीं कि कयामत के दिन रुहेँ अपने साथ कंकड़ तो क्या सुई-धागा भी नहीं ले जा सकूँ।”

गुरु नानक ने चुटकी ली—“मालूम नहीं महोदय पर मैं आया इसी उद्देश्य से हूँ कि और तो नहीं पर शायद आप प्रजा को सुटकर जो धन इकट्ठा कर रहे हैं, उसे अपने साथ ले जायेंगे तो उसके साथ ही वह कंकड़ भी चले जायेंगे ?”

खलीफ़ा समझ गया, इसके आगे प्रजा का उत्पीड़न बन्द कर उनकी सेवा में जुट गया।

सज्जनता का बिखराव

सन्त नानक एक गाँव में गये। वहाँ के निवासियों ने बड़ा आदर किया—चलते समय नानक जी ने आशीर्वाद दिया—‘उजड़ जाओ।’

वे दूसरे गाँव में गये तो वहाँ के लोगों ने तिरस्कार किया, कटु वचन बोले और लड़ने-झगड़ने पर उतारु हो गये नानक जी ने आशीर्वाद दिया—‘आबाद रहो।’

साथ में चल रहे शिष्यों ने पूछा—भगवन् ! आपने आदर करने वालों को ‘उजड़ जाओ’ और तिरस्कार करने वालों को ‘आबाद रहो’ का उलटा आशीर्वाद क्यों दिया ?

नानक ने कहा—सज्जन लोग उजड़ेंगे तो वे बिखर कर जहाँ भी जायेंगे सज्जनता फैलावेंगे इसलिए उनका उजड़ना ही ठीक है किन्तु दुर्जन सर्वत्र अशान्ति उत्पन्न न करें इसलिए उनके एक ही जगह रहने में भलाई है।

चोरी से छुटकारा

एक चोर सन्त नानक के पास पहुँचा और इस बुरी आदत से छुटकारा पाने का उपाय पूछा।

नानक ने जो उपाय बताया वे उससे निभते न थे। एक के बाद एक उपाय बदलते-बदलते जब बहुत दिन बीत गये और किसी से भी वह आदत न छूटी तो उन्होंने चोर को बताया कि तुम अपने पाप सबके सापने प्रकट करने लगो।

चोर का बार-बार आना और पूछना समाप्त हो गया और आदत भी सुधर गई। पाप प्रकट करने से उसे लज्जा लगती थी, सो उसने चोरी करना ही बन्द कर दिया।

सम्पत्ति का दर्प

लाहौर के प्रसिद्ध सेठ दुनीचन्द को अपनी सम्पत्ति के ऊपर बहुत नाज था। उन्होंने अपने यक़न के ऊपर अनगिनत झण्डे लगा रखे थे, जो इस बात के प्रतीक थे कि जितने झण्डे हैं उतने करोड़ रुपया सेठ के खजाने में जमा है।

एक दिन गुरु नानक वहाँ पहुँचे उनके मन का इस प्रकार का प्रदर्शन देख, एक सुई देते हुए कहा इसे अभी सुरक्षित रख लें और स्वर्ग में मुझे वापस कर दें। गुरु की बात सुनकर दुर्नीचन्द को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने मुस्कराते हुए पूछा— “महोदय मैं अपने मरने के बाद यह सुई आपको कैसे लौटा पाऊँगा मरने के बाद तो किसी वस्तु को स्वर्ग नहीं ले जाया जा सकता।”

इस पर गुरु नानक देव मुस्करा उठे और कल्पना भरे शब्दों में कहा— “यदि तुम अपने मरने पर एक छोटी सी सुई भी नहीं ले जा सकते तो यह करोड़ों की सम्पत्ति तुम कैसे ले जा सकते हो?” गुरु के इस वचन ने दुर्नीचन्द के हृदय को छू लिया और उसने गुरु नानक के उपदेशों का पालन करते हुए त्याग और सेवा का मार्ग अपनाने का संकल्प लिया।

खरी कमाई

ईश्वर भक्ति और नानक देव की बढ़ती लगन को देखकर उनके पिता चिन्तित रहने लगे। उन्होंने सोचा यदि वही स्थिति रहे तो यह कभी भी परिवार छोड़कर अन्धधुं जा सकते हैं, इसलिए किसी रोजगार में लगाना उचित है।

दूसरे दिन उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर कहा— “इधर-उधर घटकने से काम न चलेगा। खाने को तो दोनों समय भोजन चाहिए ही अब तुम बराबर के हो गये हो आत-दुकान की ओर ध्यान देना चाहिए। तुम आज बाहर चले जाओ। वहाँ से दुकान के लिए खपान ले आओ। हाँ इतना ध्यान रखना कि सामान अच्छी किस्म का हो और किसी के बहकावे में आकर गॉठ का पैसा भी मत गँवा आना।”

नानक ने रुपये लेकर कहा— “पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा।” पुत्र का आश्वासन पाकर पिता निश्चिन्त हो गये। उन्हें मार्ग में भगवान् का गुणानुवाद गाते हुए कुछ साधु मिले जो कई दिन से भूखे थे। अब नानक को पता चला तो उन्होंने अपनी गॉठ के सारे रुपये से साधुओं के भोजन की व्यवस्था की। उन्हें भरपेट खाना खिलाया और रात भर उनके साथ रहकर सत्संग किया। दूसरे दिन खाली हाथ घर लौट आये।

जब पिता ने दुकान के माल के सम्बन्ध में पूछताछ की तो उन्होंने सारी बात का विवरण समझाते हुए कहा— “भर्म की कमाई सर्वप्रिय कमाई है। इसका सुफल इस लोक में ही नहीं बल्कि परलोक में भी मिलता है। मैं आपसे कहकर गया था कि सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा। अब आप ही बताइए कि भूखे ईश्वर भक्तों को भोजन कराने से भी बढ़कर कौन-सा सच्चा सौदा हो सकता है?”

फकीरी का सही स्वरूप

एक बार गुरु नानक घनीघत भये, जहाँ साहशरफ नामक एक प्रसिद्ध सूफी फकीर रहते थे। गुरु नानक उस समय गृहस्थियों वस्त्रे वस्त्र धारण किए हुए थे। यह देखकर साहशरफ ने पूछा— “फकीर होकर आपने गृहस्थियों वाले कपड़े क्यों पहन रखे हैं और संन्यासियों की तरह आपने अपना सिर क्यों नहीं मुड़ा रखा है?”

नानक ने उत्तर दिया— मुड़ना मन को चाहिए, सिर को नहीं और पिट्टी की तरह नम्र होकर ही मन को मुड़ा जा सकता है। अपने वेश के सम्बन्ध में उन्होंने कहा— जो मनुष्य परमेश्वर के दर पर अपने सुख, स्वाद और अहंकार को त्याग कर गिर पड़े वह जो भी वस्त्र धारण करे, परमात्मा उसे स्वीकार करता है। दरवेश का चोग्रा और टोपी यही है कि वह ईश्वरीय ज्ञान को अपने आत्म में बसा ले। जो कोई मन जीत ले, सुख-दुःख में एक समान रहे और हर समय सहजावस्था में विचारण करे, उसके लिए हर तरह का वेश शोभनीय है।

जब साहशरफ ने पूछा— “आपकी जाति क्या है आपका मत क्या है, गुजर कैसे होती है?”

गुरुजी ने कहा— “मेरा मत है सत्यपार्थ, मेरी जाति ब्रह्म है जो अग्नि और वायु की है— जो शत्रु-मित्र को एक समान समझती है। मेरा जीवन वृक्ष धरती की तरह है। नदी की तरह मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि मुझ पर कोई धूल फेंकता है या फूल और मैं जीवित उभी को समझता हूँ जिसका जीवन चन्दन के समान दूसरों के लिए घिसता हुआ संसार में अपनी सुगन्ध फैला रहा हो।”

यह सुनकर साहशरफ ने कहा— “दरवेश कौन है?” नानक ने कहा— “जो जिनमें ही मरे की तरह अविचल रहे। जागते हुए सोता रहे, जानबूझकर अपने आपको लुटाता रहे। जो श्रेष्ठ में न आये, अधिष्ठान न करे। न स्वयं दुःखी हो, न किसी को दुःख दे। जो हमेशा ईश्वर में मग्न रहे और वही सुने जो उसके अन्दर से ईश्वर बोलता है और उसी सर्वान्तर्यामी परमात्म को हर व्यक्ति हर स्थान में देखे।

तपोनिष्ठ महात्मा श्रीचन्द्र

भगवत भक्ति से ओत-प्रोत योग साधन में कितनी शक्ति होती है। इसका उदाहरण सन्त श्रीचन्द्र के जीवन की अनेक घटनाओं से मिलता है।

महात्म्य श्रीचन्द्र गुरु नानक के सबसे बड़े पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से ही योग-साधना तथा भगवत् भक्ति की शिक्षा-दीक्षा ली थी। कुछ समय तक गृहस्थ धर्म में रहकर उन्होंने साधना की और बाद में समय आने पर जब उन्हें सहज वैराग्य हो गया तो वे संन्यासी हो गए। महात्म्य श्रीचन्द्र ने एक सौ साल की आयु पायी थी और उनके स्वप्न में सिक्खों के छह गुरु गद्दी पर बैठे थे।

महात्मा श्रीचन्द्र कितने बड़े त्यागी और योग सिद्ध महापुरुष थे उसके उदाहरण में एक घटना है। गुरुनानक ने शरीर त्याग के कुछ समय पूर्व श्री अंगद देव को गद्दी दे दी थी। श्री अंगद देव स्वयं ही बड़े त्यागी व्यक्ति थे और सदा भगवान् के ध्यान में निमग्न रहा करते थे। गुरु का पद पा लेने के बाद भी वे महात्मा श्रीचन्द्र के पास गये और किन्-पूरक बोले— “आप गुरु के सबसे बड़े पुत्र हैं और बड़े पापी महात्मा हैं। उनकी गद्दी के आप ही सच्चे उत्तराधिकारी हैं। कृपामूर्तक गुरु की गद्दी पर बैठिये और शिष्यों को उपदेश दीजिये।

आप गुरु पुत्र हैं और मेरे लिये गुरु के समान ही हैं। गद्दी पर बैठना और शिष्यों को उपदेश देना आपके लिये ही योग्य है।”

श्री अंगद देव की बात सुनकर श्रीचन्द्र प्रेम से विभोर हो उठे और गद्गद कण्ठ से बोले— “हे स्वरूप ! आप मुझसे ऐसा क्यों कह रहे हैं। मुझे तो सात संस्कार एक भगवत् रूप ही मालूम होता है। मैं भक्त लोग में गुरु और शिष्य का भेद करके उपदेश किस प्रकार कर सकता हूँ। मेरा हृदय तो परमात्मा के अखण्ड प्रेम में दूबकर घटवाला हो चुका है। शिक्षा-दीक्षा देने की योग्यता मुझ में नहीं रह गई है। गुरु की कृपा से आप में यह शक्ति और योग्यता अवश्य है कि आप आवश्यकतानुसार जब चाहें ससार में उतर कर लोगों को उपदेश कर सकते हैं। इसलिये गुरु की गद्दी पर आप ही बैठिये और उनका मन्त्राध्य आगे बढ़ाइए ? श्री अंगद देव ने बहुत कुछ अनुरोध किया किन्तु महात्मा श्रीचन्द्र ने गद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया।

महात्मा श्रीचन्द्र अधिकतर जंगल में ही रहा करते थे और वहीं आने वाले विशासुओं को धर्म का उपदेश दिया करते थे। एक बार साप्ताहिक समाधि से उठने के बाद उन्होंने भोजन के नाम पर छोड़ा-सा गुड़ खाने की इच्छा प्रकट की। एक शिष्य भाग्य-भाग्य पास के गाँव में गया और वहाँ के दुकानदार से कह— “भाई छोड़ा-सा गुड़ दे दो गुरु ने खाने की इच्छा प्रकट की है। बनिधे ने समझ लिया कि यह पैसे देने वाला तो नहीं।” निदान उसने कह दिया कि गुड़ नहीं है। लेकिन उसका बड़ा भारी कोड़ा गुड़ से भरा हुआ था।

शिष्य ने कहा, “भाई तुम्हारे पास कोठे के कोठे गुड़ भरा है लेकिन तुम छोड़ा-सा देने के लिये झूठ बोलते हो। दुकानदार ने कह दिया उसमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।” शिष्य न्यास होकर वापस आ गया और महात्मा श्रीचन्द्र से दुकानदार की शिकायत करते हुये बोला— “महाराज दुकानदार के पास गुड़ के कोठे भरे हैं लेकिन उसने न देने के लिये झूठ बोल दिया और कहा उसमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।”

स्वरूप ! क्या तुमने उसका कोठा खोल कर देखा था। गुरु ने पूछा। शिष्य ने कहा नहीं महाराज ! गुरु ने फिर कहा— तब तुम बिना देखे दुकानदार को झूठ कैसे कहते हो। यह तो ठीक नहीं। क्या ठीक उसके कोठे में मिट्टी ही भरी हो या उसका गुड़ खण्ड लेकर मिट्टी हो गया हो और वह दुकानदार सब बोलता हो। बिना प्रमाण पाये किसी को झूठ कहना भले आदमियों को शोषण नहीं देता।

बताया जाता है कि जब उस दुकानदार ने दूसरे दिन गुड़ का कोठा खोला तो उसका सात गुड़ खण्ड होकर मिट्टी हो गया था। दुकानदार ने अपना परिवार बुलवाया और कहा अब इस गाँव से चलो। यहाँ तो ऐसे योगी आ गये हैं कि जो कुछ कह देते हैं वही हो जाता है। दुकानदार गाँव छोड़कर चला गया।

महात्मा श्रीचन्द्र को जब पता चला तो वे दुःख के गारे घेने लगे और बोले धिक्कार है मुझे जो मेरे भय से एक आदमी गाँव छोड़ गया। उन्होंने दुकानदार को बुलवाया और कहा, “भाई ! तुम गाँव में आ जाओ।” वह बोला महाराज हम ससारी आदमी हैं कहीं फिर कोई

गलती हो गई तो आप ज्ञाप दे देंगे और हमारा नाश हो जायेगा। श्रीचन्द्र उसे समझाते हुये बोले भाई मैंने तो कोई शाप नहीं दिया तुम्हारे कहे का समर्थन कर दिया था। हो सकता है तुम्हारे वचन तुम्हें फलीभूत हुए हों। तुम गाँव में आ जाओ और अच्छे आदमियों की तरह सत्य और ईमानदारी का पालन करते रहो। मैं क्या किसी महात्मा का शाप तुम्हें नहीं लग सकता। दुकानदार गाँव में चला आया।

महात्मा श्रीचन्द्र ने समझ लिया कि भगवत् भजन से उनके बाणी में शक्ति आ गई है इसलिये वे आगे किसी के लिये भी कुछ कहने के लिये बहुत सावधान हो गये।

इसी तरह एक बार भानाराम नाम का एक आदमी उनके पास आया और बोला— “महाराज ! मेरे पिता घर छोड़कर संन्यासी हुए जा रहे हैं। किसी के समझाने से पानने ही नहीं। आप उन्हें समझा दें तो शायद मान जायें। महात्मा श्रीचन्द्र ने पिता को उनके पास भेज देने के लिए कहकर भानाराम को विदा कर दिया।”

भानाराम ने घर जाकर पिता से गुरु का संदेश कह दिया। वह बड़ा खुश हुआ। उसने सोचा महात्मा श्रीचन्द्र तो संन्यासी हैं, मेरे संन्यास लेने की बात सुन कर मुझे दीक्षा दे देंगे। वह उनके पास आया और बोला— “महाराज ! पीक आ गया। मेरे लिए क्या आदेश है ? आश्रम है आप मुझे संन्यास की दीक्षा दे देंगे।”

श्रीचन्द्र ने कहा— “पहले तुम एक रात जंगल में रहकर आओ और जो कुछ वस्त्र अनुभव हो उसे आकर मुझे बताना और तब दीक्षा की बात है।” वह व्यक्ति वन में चला गया। सबेर होने पर गुरु के पास आया। महात्मा श्रीचन्द्र ने उससे उसका अनुभव पूछा। उसने बतलाया— महाराज ! रात को एक पेड़ के नीचे बैठा भजन कर रहा था तभी देखा कि एक कबूतर और कबूतरी सूखी डालियाँ और पत्ते तोड़ तोड़कर मेरे सामने डाल रहे हैं। मैंने उन्हें यो ही एक जगह इकट्ठा कर दिया और फिर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद देखा कि ये दोनों पक्षी एक जलती हुई डाली से आये और मेरे सामने डाल गये। कुछ सर्दों थी। मैंने उस आग से वह पत्ते और डालों का धेर जला दिया और फिर आँख बन्द कर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद फड़-फड़ की आवाज सुनकर मैंने आँख खोली तो देखा कि वे दोनों पक्षी आग में पड़े फड़-फड़ रहे हैं। मैंने उन्हें निकलता पर वे बच न सके। मैं रात भर उनके शोक में बैठा रहा और प्रभात होने पर आपके पास चला आया।”

कहा सुनकर गुरु ने कहा— “अब एक रात बस्ती में रहकर आओ और जो अनुभव हो उसे मुझे आकर सुनाओ।” वह व्यक्ति रात भर एक बस्ती में रहा और सबरे आकर अपना अनुभव महात्मा को सुनाया। वह बोला— “महाराज ! मैंने देखा कि कड़ाके की सर्दों में एक साधु एक स्थान पर नंगा बैठ कुछ ध्यान सा कर रहा है। एक आदमी ऊपर से निकलता और उससे बोला, इधर से लोगो के घरों की छेटियाँ निकलती हैं और तू नंगा धड़ंगा बैठा है। जा प्राग जा कहां से। लेकिन उस साधु ने न तो कोई उत्तर दिया और न उधर गया ही। अपने ध्यान में बैठा रहा। उस आदमी ने उसे पीटा और फिर पैर पकड़ कर पीटता हुआ ले जाकर एक तरफ डाल आया।

तब भी उस साधु ने उससे कुछ न कहा। उसका सारा शरीर घसीटने से लहलुहान हो गया था।

तभी एक दूसरा आदमी आया और उसने उस साधु की महम पट्टी की और उसे एक शाल उठा गया। लेकिन उस साधु ने उसको भी कोई दुआ या धन्यवाद नहीं दिया। उसी प्रकार अपने ध्यान में बैठा रहा। तभी प्रधान हो गया और मैं उसके पास चला आया।

महान्या ग्रीचन्द्र बोले ! 'देखो स्वरूप' जगल के उस कपोत बोड़े ने तुम्हारे सामने सच्चे गृहस्थ का उदाहरण रखा। उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जाड़े में उनके वृक्ष के नीचे बैठ है। उन्होंने तुम्हारे लिए ईंधन और आग का प्रबन्ध किया और रात में तुम्हारी सुख तृप्ति के लिए अपने को ही आग में डाल कर भून दिया और दूसरा उस साधु ने तुम्हारे लिए एक सच्चे साधु का उदाहरण रखा जो कष्ट तथा सुख में एक जैसा ही रहता है। न तो धरने-घसीटने वाले को बुरा कहता है और न सुख देने वाले को बदान देता है उसके लिए जिस प्रकार सुख-दुःख सपान होते हैं उसी प्रकार दुःख-सुख देने वाले भी सपान होते हैं। अब तुम संन्यास अथवा गृहस्थ धर्म जो भी चाहो ग्रहण कर लो।

उस व्यक्ति ने कहा महाराज गृहस्थ धर्म, संन्यास धर्म से मुझे तो ऊँचा लगा है तो वही ग्रहण करूँगा और वह साधु इन का विचार छोड़कर अपने घर चला गया।

समर्पण के आदर्श प्रतीक— गुरु अंगद देव

गन्दे नाले में गुरु नानक का प्याला गिर गया। उन्होंने अपने शिष्यों की ओर देखा और कहा— 'इस प्याले को उठाओ।' शिष्य दौड़े, प्याला उठाने के लिये नहीं मेहतर को बुलाने के लिए। नानक की आँखों में निराशा का भाव उभर आया। जिन शिष्यों को उन्होंने कार्य को ही पूजा समझने तथा स्वाकलम्बी बनने का पाठ पढ़ाया था वे ही एक छोटे-से कार्य को करने में हिचक रहे हैं।

परन्तु लहिणा नाम का एक शिष्य उठा और प्याला निकालने के लिए गन्दे नाले में झुका। प्याला नाली में डूब गया, तब में बैठ गया। लहिणा ने अपने कपड़े ऊँचे पढ़ाये और नाली में उतर गया। हाथों को गन्दे पानी में डालकर प्याला उठा लिया। इस कार्य में उनके कपड़ों पर कुछ दाग भी लग गये। इतने में दूसरे शिष्य भी मेहतर को बुला लाये थे। गुरु नानक ने सबके सामने लहिणा की प्रशंसा की। दुन्दरु दूसरे शिष्यों को भी नहीं कारण वे समझते थे—जन्म जन्मान्तर के संस्कारों को सीमित अवधि में मिटा सकना सम्भव नहीं है। वे कार्य की पूजा साधन में और अधिक निष्ठा के साथ संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहे।

इसी प्रकार की एक घटना है—लहिणा खेतों में से घास का गट्टर उठाकर ला रहे थे। उनके कपड़े पर गौली मिट्टी के दाग पड़ गये। गुरु नानक की पत्नी ने गुरु से कहा— 'आप लहिणा को कैसे-कैसे काम बता देते हैं। देखिए उसके कपड़ों पर कितना कीचड़ गिर गया है।'।

यह सुनकर वे मुस्कराये। यह कीचड़ नहीं केसर है जो लहिणा के चरित्र को सुवासित कर देगा और वास्तव में लहिणा जी का जीवन इतना सुगन्धित हो उठा कि गुरु नानक ने अपने बाद उन्हें ही सिक्खों का मार्गदर्शक चुना।

यही लहिणा आगे चलकर गुरु अंगद देव के नाम से विख्यात हुए। उनका जन्म सन् १९०४ में पंजाब के फिरोजपुर जिले में हुआ माता-पिता धार्मिक स्वभाव के थे। उसके साथ बालक लहिणा प्रतिवर्ष दूर देवी दर्शन के लिये जाया करते थे। इसी दर्शन यात्रा में उनका सपर्क एक बार गुरु नानक से हुआ।

माता दया कौर तथा पिता फेरू जी गुरु नानक के प्रति बड़ी ब्रद्ध रखते थे। लहिणा को देखकर गुरु नानक ने उन दम्पति से पुत्र माँग लिया और फेरू जी तथा दया कौर ने इसे गुरु कृपा समझ कर सहर्ष स्वीकार कर लिया। गुरु अंगद देव भी नानक से बड़े प्रभावित हुए। उनके फस रहने के बाद वे बड़ी ब्रद्ध तथा निष्ठा के साथ गुरु की सेवा में लगे रहते।

नानक ने अंगद की हर प्रकार से परीक्षा ली और सेवा साधना की कसौटी पर खरा पाया। उनकी सेवा, निष्ठा की अनेकों प्रेरणाप्रद कथाएँ साखियों के रूप में प्रचलित हैं। अनुशासन और आज्ञापालन में गुरु अंगद देव की कोई सानी नहीं रखता। समर्पण के वे जीते जागते प्रतीक थे। कठपुतली की तरह अपने गुरु के हाथों का खिलौना बनकर रहने का सिद्धान्त उन्होंने जीवन में पूरी तरह ठनार लिया था। सुत्रधार की तरह गुरु जिस प्रकार नचाता उसे प्रकार नाचना—काम करना उनका धर्म हो गया था। अपने गुरु की इच्छा के अनुकूल रहना जो आदेश हुआ उसी का पालन, जिस स्थिति में मार्गदर्शक रखना चाहे उसे में सन्तोष समर्पण की यही तो सच्ची स्थिति है। यही कारण है कि गुरु कृपा का लाभ उन्होंने अन्य शिष्यों की अपेक्षा अगणित गुना ज्यादा ठाठया था।

उत्तराधिकार में गुरुपद मिलने के बाद भी उन्होंने नानक की शिक्षाओं और आदर्शों को ही महत्व दिया। सच्चे धर्म और आस्तिकता के जीवन मूल्यों का प्रचार किया। गुरु नानक ने अपने उपदेश प्रचलित भाषा में दिये थे। उस समय सामान्य जनता में एक पुरानी लिपि जिसे उस समय 'शारदा' लिपि के नाम से जाना जाता था, में नानक की वाणी लिखी पड़ी थी। अंगद देव ने सर्वप्रथम गुरु की शिक्षाओं साखियों को एकत्रित किया और उसे लिपिबद्ध करवाया। यही शारदा लिपि आगे चलकर गुरुमुखी कहलायी। यजावी भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है। अंगद देव की सकलित साखियों का संग्रह आज जनम सखी के नाम से उपलब्ध है।

गुरु अंगद का सबसे प्रमुख कार्य है लंगर प्रथा को प्रचलित करना। लंगर सामूहिक भोज की तरह होता है। जिसमें सभी वर्ग के ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, अमीर-गरीब एक साथ बैठकर एक ही भोजन खाते हैं। इस परंपरा से सिक्खों में सामूहिकता और सहयोग की भावना का विकास हुआ। बिना किसी प्रकार के भेदभाव के लोग इसमें एक साथ भोजन बनाते हैं। इस प्रथा को चलाकर मानव मात्र एक समान के सिद्धान्त को उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया। यद्यपि

१.४६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

इस परम्परा का विरोध करने वाले भी उस समय मौजूद थे। ऊँची जातियों के लोग गुरु अंगद की निन्दा करने लगे। उन्हें नानक की पवित्रता और मर्यादा को भंग करने वाला निरूपित किया जाने लगा परन्तु इसकी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। विरोध के बावजूद भी हजारों लोग उनके लंगर में सम्मिलित होते थे। जो भोजन बचता उसे लोगों के घरों में बाँट दिया जाता।

उसके बाद भी कुछ कदम तो तालाबों में डाल दिया जाता ताकि मछलियाँ उन्हें खा लें। मानव मात्र ही नहीं जीव मात्र के प्रति समान भावना का उच्चतम विकास उनमें हुआ था।

अपने पिछड़ी मनोवृत्ति के गुरु भाइयों को अंगद देव ने बड़े प्यार और स्नेह दिया जिसकी परम्परा नानक ने डाली थी। इसी प्रकार की एक घटना है। जोध भाई नामक एक जाति अधिकांश विद्वान् उनके दर्शन करने आये। गुरु अंगद देव चाहते थे कि उनमें अहंकार का दोष न रहे। जोध भाई ने कुछ योग्य सेवा बताने के लिए कहा तो गुरु अंगद ने कहा—“लंगर की सेवा करो।”

जोध भाई के मन में बड़ी ठेस पहुँची परन्तु निष्ठा का उनमें अभाव नहीं था सो लंगर की सेवा में भोजन बनाने से लेकर बरतन साफ करने तक का काम उन्होंने किया। धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल और अहंकार का भान हुआ वे बड़ा परमात्माप करने लगे। अंगद देव के पास पहुँचे और कहा—“अभिमान के कारण मैं अपने आपका न जाने क्या समझने लगा था। मुझसे बड़ी भूल हुई है।”

अंगद देव ने कहा—कोई चिन्ता नहीं। बर्तन साफ करते-करते अब तुम्हारा हृदय भी साफ हो गया है। चाहो तो इस काम को छोड़ सकते हो।

जोध भाई ने अपने कार्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा—जिस साधन के परिणाम में मेरा मलीन हृदय स्वच्छ हो गया है उसे कैसे छोड़ दूँ। गुरु अंगद के अन्य कार्यों में सहयोग देते हुए भी जोध भाई ने फिर कभी लंगर सेवा को छोड़ा नहीं समझा।

गुरु अंगद देव ने समझा शरीर ही धर्म साधना का आधार है। इसे स्वस्थ रखना ईश्वर की पूजा का प्रथम कृत्य है इसलिए स्वास्थ्य रक्षा के लिए लोगों को प्रम और व्यायाम का अभ्यास बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जगह-जगह व्यायामशालायें खोलीं और अखाड़े बनाये। स्वास्थ्य के प्रति आरम्भ से ही जागरूकता बनी रहे इसके लिए उन्होंने बच्चों को दण्ड-बैठक एवं कुश्ती का अभ्यास करवाया। भारतीय समाज में बल की उपासना का भाव जगाने के लिए वे इन व्यायामशालाओं तथा अखाड़ों में स्वयं देखरेख करने जाते। कहते हैं हुमायूँ भी इन अखाड़ों में कुश्तियाँ देखने के लिए आया था तथा गुरु अंगद देव से बड़ा प्रभावित हुआ था। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि वह अपने पुत्र को इन अखाड़ों के संरक्षण में देने के लिए भी तैयार हो गया था।

अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपना सर्वस्व मानव सेवा में लगा दें। वहाँ तक कि कल के लिए भी कुछ बचाकर रखना आवश्यक नहीं है। जो भगवान् आज के लिए हमारे निर्वाह का प्रबन्ध करता है कल की व्यवस्था

भी वहीं करेगा। इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वयं के जीवन में भी उतार कर दिखाया।

सन् १५५२ में ४८ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया अपने उत्तराधिकारों उन्होंने अपने शिष्य अमर दास को सिक्खों का तीसरा गुरु बनाया। उनके बुने हुए उपदेश गुरु ग्रन्थ साहब में भी संकलित हैं।

योग्य गुरु के योग्य शिष्य अमरदास और रामदास

गुरु अमरदास सिक्खों के तीसरे गुरु थे। वे गुरु अंगद देव के उत्तराधिकारी बने थे। गुरु अंगद देव के शिष्यों में बड़े धनवान और विद्वान् लोग थे और आशा करते थे कि गुरु का उत्तराधिकार उन्हें मिलेगा। अमरदास के गुरु बनने की किसी को आशा न थी। अमरदास कुछ अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं थे और गरीब आदमी भी थे। लेकिन उनमें गुरु निष्ठा और सेवा भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। इन्हीं गुणों के आधार पर उन्होंने वह प्रतिष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व पाया था।

गुरुद्वारे में जब-जिस समय भी कोई अतिथि आ जाता था तो अमरदास उसकी सराहनीय सेवा किया करते थे। आधी-आधी रात को उठकर उन्होंने अतिथियों और अभ्यागतों की सेवा की और कोई अन्य प्रबन्ध न होने पर अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया। अमरदास अतिथियों के लिए खुद अपने हाथ से पानी भरते और उन्हें रहलाते थे। इसके अतिरिक्त गुरुद्वारे की सफाई और वहाँ रहने वालों का सारा काम अपने हाथ से किया करते थे।

गुरु के प्रति उनकी निष्ठा और भक्ति अपनी समता न रखती थी। गुरु के नित्य स्नान के लिए वे प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में स्वयं स्नान करके नदी से पानी लेने जाया करते थे। नदी जाने समय वे गुरुद्वारे की ओर जहाँ गुरु का निवास होता था, कभी पीठ नहीं करते थे और पूरे मार्ग उल्टे चल्कर जाया करते थे। इस क्रम में बहुत बार छेकर लग जाने से वे गिर भी पड़ते थे, किन्तु तब भी गुरुद्वारे को पीठ न देते थे। गुरु को स्वयं स्नान कराते और उनके वस्त्र स्वयं धोते थे। इसी सेवा और भक्ति को देखकर गुरु अंगद देव ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाएँ था। उनका कहना था कि गुरु की गद्दी जन-सेवा का उत्तरदायित्व है, शासन का अधिकार नहीं। अमरदास सच्चा जन-सेवक और हर तरह से गद्दी पर बैठने योग्य है।

गुरु अमरदास भी अपने गुरु अंगद देव के समान ही न्यायपरायण और सच्चा सेवा भाव रखने वाले का बड़ा आदर करते थे। उनके मोहनचन्द और मेहरचन्द नाम के दो लड़के थे, पर उन्होंने अपना उत्तराधिकार अपने किसी लड़के को न देकर रामदास नाम के एक शिष्य को दिया था।

रामदास बड़े ही निरक्षरमानो, सज्जन और सेवाभावी व्यक्ति थे वे भी अपने गुरु अमरदास की तरह ही अतिथियों की सेवा और गुरुद्वारे का सब काम किया करते थे। गुरु अमरदास उनसे बड़े प्रसन्न थे और अपने पुत्रों से अधिक उन्हें चाहते और प्यार करते थे। रामदास

पर गुरु की कृपा देखकर उनके लड़के मोहनचन्द और मेहरचन्द उनसे बहुत जला करते थे। बहुत दिन तक तो वे उन्हें फँटते और तरह-तरह से परेशान करने रहे। किन्तु रामदास ने उनसे कभी कुछ नहीं कहा और न गुरु से कभी शिकायत की। वे सदा ही गुरु पुत्रों को आदर की दृष्टि से देखते रहे।

एक बार की घटना है कि दोनों गुरु पुत्र और रामदास जंगल में सैर करने गये। रास्ते में एक पानी से भरा पोखर पड़ा। मोहनचन्द ने रामदास को उसमें धकेल दिया और अपने भाई को साथ लेकर सैर करने को निकल पड़ा। भोला रामदास देर तक उसमें गोते खाता रहा फिर किसी प्रकार उससे बाहर निकल कर गुरु पुत्रों की तलाश में चला दिया। उसके सब कपड़े धींग गये थे और जगह-जगह कीचड़ लग गई थी। जब वह गुरु पुत्रों के पास पहुँचे तो वे दोनों हँसने लगे, पर रामदास ने उन पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं किया और न शिकायत ही की।

घर वापस आने पर भी रामदास ने गुरु से उसकी शिकायत नहीं की, किन्तु गुरु अमरदास को उस घटना का पता चल चुका था। गुरु ने तीनों को बुलाया और पूछा आज क्या बात हुई तुम तीनों के बीच। मोहनचन्द और मेहरचन्द ने तो झूठ बोलकर कह दिया कि कुछ भी नहीं हुआ। गुरु पुत्रों को डाँट न पड़े—इस दर से रामदास ने भी कह दिया कि गुरुजी कुछ नहीं हुआ। हम तीनों जंगल में खेलते गये थे। लेकिन गुरु ने मोहनचन्द को उसके अपराध के लिए डाँटा और रामदास से क्षमा माँगने को कहा। किन्तु जब ईर्ष्यावश मोहनचन्द ने अपने अपराध की क्षमा नहीं माँगी तो उन्होंने उसे घर और पन्थ दोनों से निकाल दिया।

इस दण्ड पर रामदास रोने और प्रार्थना करने लगे कि भाई मोहनचन्द को इतना कठोर दण्ड न दिया जाये। उन्हें क्षमा कर दिया जाए। गुरु ने देखा कि रामदास के हृदय में अपने को दुःख देने वाले के प्रति भी प्रेम और सहानुभूति भरी है और सन्तोष के योग्य सज्जनता और सहनशीलता भी है। उसी दिन से रामदास गुरु अमरदास की दृष्टि में बढ़ गये और आगे चलकर उन्हीं को गरी दी गई।

सेवाधर्म के उपासक—अमरदास

तृतीय सिख गुरु अमरदास जी ने बीसठ वर्ष की उम्र तक कोई गुरु न किया। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता तो उन्होंने गुरु अमर देव जी से दीक्षा ली। वे बड़े धीर उठ कर तीन कोस दूर व्यास नदी से गुरु के स्नानार्थ जल ले आते। एक अँधेरी रात में वे जल लेकर लौट रहे थे तो छतों में जुलाहे की खड़ी से उन का पाँव टकरा गया और वे गिर पड़े। जुलाहा आग उठा और पत्नी से बोला ‘देख तो कौन गिर पड़ा खड़ी में?’

जुलाहिम ने कहा, ‘और कौन होगा, वही अनाथ अमरू आधी रात में गुरु की छिदमत के लिए उठ जाता है।’

प्रातः काल गुरु अमर देव जी ने यह बात सुनी। उन्होंने सिखों के दरबार में बिह्वल कंठ से रात की घटना बतायी और अमरदास जी को गले लगा कर बोले, ‘यह अमरू अनाथ नहीं, सिखों का स्वामी

है। सेवा-धर्म का पालन करने के कारण यह गुरु गद्दी का अधिकारी है।’ जिस स्थान पर गुरु अमरदास जी ठोकर खा कर गिरे थे वहाँ आज भी विशाल गुरुद्वारा उन की गुरु भक्ति का संदेश देने के लिए खड़ा है।

मनुष्य-मनुष्य में भेद कैसा

ससुर में अपरिमित ज्ञान भरा पड़ा है पर उसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब अपना अहंकार मिटा कर शिष्य भाव लाया जाय, ब्रह्मा और भवनापूर्वक ज्ञान पाने की पवित्रता व्यक्त की जाय—इसलिये हे बत्सु ! आप शहशाह अब्दुल से जाकर कहिये वे अब तक बादशाह होने का बमण्ड परित्याग नहीं करते तब तक अमरदास के दर्शन असम्भव हैं।

अमरदास सिक्ख सम्प्रदाय के तृतीय गुरु थे, उन्होंने अपने अनुयायियों को सामूहिक लंगर में भोजन करने की प्रथा का सूत्र-पात किया। उन दिनों हिन्दुओं में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भाव अत्यधिक विकृत रूप धारण कर चुका था। गुरु अमरदास की धारणा थी कि इस प्रथा से—मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की खाई पटेगी इसलिये ही उन्होंने अपने अनुयायियों को इस प्रथा से बाँध दिया था।

बलिदानी सन्त गुरु तेगबहादुर

सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर बड़े ही धर्मात्मा और भगवान् भक्त थे। उनके समय में भारत में मुगल बादशाह औरंगजेब का शासन था। वह बड़ा ही कट्टर बादशाह था। मुसलमान धर्म के सिवाय वह सारे धर्मों को बोंग कहता था और धिटा देने की कोशिश करता था। उन दिनों वह काश्मीर के हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनावा रहा था।

अत्यन्त से क्रुद्ध होकर काश्मीर के बहुत-से पण्डित एक बार गुरु तेगबहादुर के पास आए और बोले—‘‘गुरुजी ! हम हिन्दू लोग तो बड़ी मुसीबत में पड़े हैं। हमारी बहु-बेटियों की लाज और धन-दौलत दिन दहाड़े मुसलमानों द्वारा लूटी जा रही है। इसके अतिरिक्त काश्मीर में हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा है। आप हिन्दू धर्म की रक्षा कीजिए। आपके सिवाय इस समय कोई रक्षक दिखलाई नहीं देता। हम आपकी तरफ हैं। हमारी रक्षा कीजिए !’’

गुरु तेगबहादुर काश्मीरी पण्डितों का दुःख सुनकर मौन हो गये और बड़ी देर तक विचार करते रहे। तत्पश्चात् बोले—‘‘भाई ! जबत दरअसल यह है कि धर्म की रक्षा बलिदान द्वारा होती है। यदि कोई बड़ा और भला आदमी इस समय अपना बलिदान दे दे तो धर्म की रक्षा हो सकती है।’’ गुरु की बात सुनकर सब लोग सोचने लगे कि ऐसा बड़ा और भला आदमी कौन हो सकता है, जो अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा करे। इस बलिदान के लिए तो कोई सच्चा धर्मात्मा ही होना चाहिए।

गुरु तेगबहादुर के पाँच वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह उस समय वहाँ बैठे थे। सबको असमंजस में बैठे देखकर बोले—‘‘पिताजी ! इस

समय आप से बढ़कर और कौन बढ़ा और भला आदमी हो सकता है। आप तो पूरे धर्मात्मा हैं। आप अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा क्यों नहीं करते।” पुत्र की बात सुनकर गुरु तेगबहादुर भद्गा हो उठे और बोले, “धन्य है मेरे वीर पुत्र! तू ने मेरा पक्ष प्रदर्शन किया है।” उसके बाद काश्मीरी पंडितों को यह कह कर विदा कर दिया कि अब जब कोई तुम से मुसलमान होने के लिए कहे तो कह देना कि यदि गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जायें तो हम सब खुशी से हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हो जायेंगे।

कुछ समय बाद औरंगजेब को इस शर्त का पता लगा। उसने गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलवाया। गुरु तेगबहादुर घुमते-घूमते और लोगों को धर्मोपदेश देते हुए दिल्ली पहुँचे तो वहाँ के हिन्दू सिक्खों ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। औरंगजेब को जब पता चला तो उसने उन्हें दरबार में बुलवा भेजा। गुरु के भक्तों और शिष्यों ने प्रार्थना की कि वे दरबार में न जायें। औरंगजेब बड़ा खराब कदसाह है। वह हिन्दू और सिक्खों से शत्रुता मानता है। आपका चहों जान भय से छाती नहीं है।

गुरु तेगबहादुर ने कहा—“सच्चा सन्त किसी भय से अपने कर्तव्य का त्याग नहीं करता। मैं दरबार में जाऊँगा और बादशाह से बात करूँगा। सिक्खों और भक्तों को सपष्टकर गुरु तेगबहादुर औरंगजेब के दरबार में गये।

बादशाह ने कहा—“आप एक पहुँचे हुए फकीर बतलाए जाते हैं, अगर ऐसा है तो कोई करामात या कमाल दिखलाइये।” गुरु तेगबहादुर ने कहा—“बादशाह! करामात या कमाल तो बाजीगर दिखलाते हैं, हमारी करामात तो सत्य का पालन करना है।” औरंगजेब ने कहा—“सत्य तो हमारा इस्लाम धर्म है तो फिर उसे मंजूर क्यों नहीं कर लेते।” गुरु तेगबहादुर ने कहा—“यह तुम्हारा धर्म है। यदि इस्लाम ही केवल सत्य होता तो सुदूर दुनिया में और धर्म पैदा ही न होने देता जब कि यहाँ पर बहुत-से धर्म मौजूद हैं। सदाचार, प्रेम और दया जिस धर्म में होगी वही सत्य होगा और संसार में जीवित रहेगा। यह गुण जिस धर्म में नहीं है वह सत्य नहीं मिथ्या है।”

औरंगजेब फिर बोले—“यह सब बेकार की बातें हैं। अब कोई करामात नहीं दिखला सकते तो फिर नया धर्म चलाने का तुमको क्या हक है?” बादशाह का हठ देखकर गुरु तेगबहादुर ने कहा—“मेरी करामात यही है कि एक मन्त्र लिखा हुआ यह परचा मेरी गर्दन में बाँधा है। इसके प्रभाव से तुम्हारी तलवार का वार हमारी गर्दन पर असर नहीं कर सकता। चाहो तो परीक्षा कर देखो। औरंगजेब ने अल्लाह को तलवार चलाने को कहा। किन्तु अल्लाह के तलवार चलाने ही गुरु का सिर कट कर गिर गया दरबार में सन्नाटा छा गया। उनकी गर्दन से खोलकर फर्ज फड़ा गया, उसमें लिखा था—“सर दिया लेकिन सार नहीं दिया।” गुरु का बलिदान अपूर्व था जिसने आगे चलकर औरंगजेब का तख्त हिला दिया।

पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर गुरु गोविन्दसिंह

चम्कौर के किले में गुरु गोविन्दसिंह को समाचार मिला कि उनके दो बेटे किले की दीवार में जिया कुनवा दिए गये हैं और उनके दुःख में उनकी माता और पत्नी ने प्राण छोड़ दिये हैं। इस हृदय विदारक समाचार को सुनकर भी गुरु गोविन्दसिंह विचलित न हुए और रोते हुए साधियों को समझाते हुए बोले—

“भाइयों! आप लोग उस समाचार पर रो रहे हैं जिसको सुनकर हर्ष विह्वल हो उठना चाहिए था। यह तो खुशी की बात है कि बच्चों ने प्राण दे दिए लेकिन धर्म नहीं दिया। दुःख की बात तो यह होती जब वे भय और लोभ में आकर अपना धर्म दे देते। यदि आप लोग जीवन के सार की ओर न देखकर नरवर शरीरों का शोक कर रहे हों तो पी छीक नहीं।”

गुरु गोविन्दसिंह बोले, “इस रहस्य को समझो— आप लोग जमीन पर दो लकीरें खींचो।” साधियों ने लकीरें खींचीं उन्होंने फिर कहा—“अब इन्हें मिटा डालो।” साधियों ने लकीरें मिटा दीं गुरु गोविन्दसिंह ने पूछा—“क्या आप लोगों को यह लकीरें बनाते हुए कोई आनन्द हुआ।” साधिकों ने कहा, “नहीं।” “क्या आप लोगों को इन्हें मिटाने समय कोई दुःख हुआ?” गुरु गोविन्दसिंह ने फिर पूछा। साधिकों ने कहा, “नहीं।”

गुरु गोविन्दसिंह समझाते हुए बोले—“बस इसी तरह मनुष्य शरीरों को समझ लो, इन्हीं रेखाओं की तरह बने और मिटते रहते हैं। जो जन्म लेता है वह एक दिन मरता भी है। एक दिन उन दोनों कुम्हारों ने भी इन्हीं रेखाओं की तरह अस्तित्व पाया और उन्हीं की तरह मिट गए। उन्होंने धर्म पर अपना बलिदान दे दिया है। इसलिए उनकी मृत्यु कदाई का विषय है, दुःख अथवा शोक का नहीं।” गुरु का सार बचन सुनकर सबको ज्ञान हो गया और सभी सत्सत्री अकाल के घोष के साथ हर्षित हो उठे।

छोटे कुषाणे के बलिदान के समाचार की ताजगी अभी कम न हुई थी कि जब तक बलिदान की घड़ी और आ गई। मुगलों ने चम्कौर पर एक बड़ी फौज के साथ हमला कर दिया और किले को सब तरफ से घेर लिया। साधन और सामग्री की कमी में भी गुरु गोविन्दसिंह मोर्चा लेते रहे। किन्तु अन्त में जब रसद और सैनिकों के नाम पर “नहीं” का शब्द बनने लगा तो मैदान में लड़कर बलिदान हो जाने का निश्चय किया गया।

गुरु गोविन्दसिंह इधियार बाँधकर चलते तो उनके बड़े लड़के अजीतसिंह ने हथ जोड़कर कहा—“पिताजी आप नहीं पहले मैं युद्ध में जाऊँगा।” गुरु गोविन्दसिंह का उत्साह दो गुना हो गया बोले—“अजीत! तुम अभी बच्चे हो। शत्रु की ताकत ज्यादा है। इस समय मैदान लेना मृत्यु का आतिथ्य करना है। अच्छा हो कि तुम किले में रहो और मुझे मैदान में जाने दो।” अजीत उदास होकर बोले—“आप हमें धर्म पर बलिदान होने से रोकना चाहते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह ने उस वीर बालक की भावनाएँ समझीं और अपने हाथ से हथियार बाँधकर युद्ध में भेज दिया। जिस समय सैकड़ों शत्रुओं को पौत के घाट उतार कर अजीतसिंह ने वीरगति पाई गुरु गोविन्दसिंह बोल उठे— “धन्य अजीतसिंह ! धर्म के लिए बलिदान होकर तुम अमर हो गये ।” दूसरी बार उनके दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। गुरु गोविन्दसिंह ने उसको भी हथियार बाँधे। साथी सैनिक कह उठे— “गुरुजी ! आप क्या कर रहे हैं ? तीन बेटे तो आपने बलिदान कर दिये। अब क्या इस अकेले बचे बेटे को भी बलिदान कर देंगे। कुल का रीफक ही बुझा लेंगे क्या ? गुरु गोविन्दसिंह ने कहा— “खुद है कि इसके बलिदान देने के बाद मेरे पास कोई भी बेटा न बचेगा। भाइयों ! कुल का प्रकाश तो पुत्रों के शरीरों से नहीं उनके सत्कर्मों से होता है। सो यह सब कर ही रहे हैं।” उन्होंने चौथे पुत्र को भी युद्ध में भेज दिया और उसका बलिदान भी अपने आँखों से देखा, पर आह नहीं की।

अन्धविश्वास के विरोधी—गुरु गोविन्दसिंह

सिक्ख सम्प्रदाय के दसवें गुरु—गुरु गोविन्दसिंह एक महान् योद्धा होने के साथ बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति थे। धर्म के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी गहरी थी। वह धर्म के लिए ही लिये और धर्म के लिये ही मरे। धर्म के प्रति अडिग आस्थावान् होते हुए भी वे अन्ध-विश्वासों जरा भी न थे और न अन्धविश्वासियों को पसन्द करते थे।

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों का संगठन और शक्ति बढ़ाने की चिन्ता में रहते थे। उनकी इस चिन्ता से, एक पण्डित ने स्वप्न उठाने की सोची। वह गुरु गोविन्दसिंह के पास आया और केन्द्र—“यदि आप सिक्खों की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं तो दुर्गा देवी का यज्ञ कराइये। यज्ञ की अग्नि से देवी प्रकट होगी और वह सिक्खों को शक्ति का वरदान दे देगी। गुरु गोविन्दसिंह यज्ञ करने को तैयार हो गये। उस पण्डित ने यज्ञ कराना शुरू किया।

कई दिन तक यज्ञ होते रहने पर भी जब देवी प्रकट नहीं हुई तो उन्होंने पण्डित से कहा— “महाराज देवी अभी तक प्रकट नहीं हुई।” धूर्त पण्डित ने कहा देवी अभी प्रसन्न नहीं हुई है। वह प्रसन्नता के लिये बलिदान चाहती है। यदि आप किसी पुरुष का बलिदान दे सकें तो वह प्रसन्न होकर दर्शन दे देगी और बलिदानी व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

देवी की प्रसन्नता के लिये नर बलि की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह उस पण्डित की धूर्तता समझ गये। उन्होंने उस पण्डित को पकड़ कर कहा— “बलि के लिये आपसे अच्छा आदमी कहाँ मिलेगा। आपका बलिदान पाकर देवी तो प्रसन्न हो ही जायेगी, आप को भी स्वर्ग मिल जायेगा। इस प्रकार हम दोनों का काम बन जायेगा।” गुरु गोविन्दसिंह का व्यवहार देखकर पण्डित स्तब्ध रह गया। गुरु गोविन्दसिंह ने बलिदान दूसरे दिन के लिये स्थगित करके पण्डित को एक कोठरी में रख दिया।

पण्डित बचकर गुरु गोविन्दसिंह के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाने लगा— “मुझे नहीं मालूम था कि बलिदान की बात मेरे

सिर पर ही आ पड़ेगी, गुरु जी मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।” गुरु गोविन्दसिंह ने कहा— अब क्यों घबराते हो ? बलिदान से तो स्वर्ग मिलेगा, क्यों पण्डितजी, बलिदान की बातें तभी तक अच्छी लगती हैं न जब तक वह दूसरों के लिये होती हैं ? अपने सिर आते ही असलियत खुल गई न।”

पण्डित केन्द्र— “इस बार क्षमा कर दीजिये महाराज। अब कभी ऐसी बातें न करूँगा।” गुरु गोविन्दसिंह ने उसे छोड़ दिया और समझाया— “इस प्रकार का अन्धविश्वास समाज में फैलाना ठीक नहीं। देवी अपने नाम पर किसी के प्राण लेकर प्रसन्न नहीं होती वह प्रसन्न होती है अपने नाम पर किये गये अच्छे कामों से।” बाद में गुरु गोविन्दसिंह ने उसे रास्ते का खर्च देकर भगा दिया।

‘एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला’—मंत्र को अपनाने वाले आगे आये

गुरु गोविन्दसिंह अपने बड़े सड़कें अजीत सिंह और जुझार सिंह के साथ चम्पार के किले में बैठे मुगलों के विरुद्ध अपनी रणनीति बनाने और योजना को क्रियान्वित करने में व्यस्त थे। यहाँ पहुँचने से पूर्व ही इनसे माँ, दो सड़कें फतेहसिंह व गोयबसिंह बिछड़ गये थे। युद्ध में व्यस्त गोविन्दसिंह उन्हें खोजने के बजाय सुरक्षित स्थान खोजकर अपनी निखरी सेना को व्यवस्थित करने में जुट गये। तभी एक दिन मुखबल और आनन्दगढ़ से कुछ दूत उनके पास सन्देश लेकर आये। दूतों ने उन्हें बताया “गुरुजी ! जो सिक्ख आपका साथ छोड़कर चले गये थे, सब गाँव पहुँचे तो उनके परिवार वालों ने उन्हें बहुत धिक्कारा वे आप से क्षमा माँगने इधर चल पड़े हैं।” गुरुजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा वह तो बड़ा शुभ समाचार है। धर्म युद्ध में सभी को अपनी प्रान्तियाँ दूर कर अब एक हो जाना चाहिए। जरा, माँ व हमारे दोनों बेटों की कोई खबर तुम्हें मिली है तो बताओ।

दूत वस्तुतः दोनों कुमारों के शहीद होने का समाचार ही लाये थे। पर गुरु जी को सुनकर धक्का न लगे, इसी कारण तुरन्त बता नहीं पा रहे थे। उन्होंने प्रश्न को टाल कर कहा कि मुगलों की सेना आक्रमण करने चम्पार की ओर खाना होने वाली है। इस समाचार को भी चुनौती के रूप में लते हुए गुरु जी बोल उठे “लगता है तुम मेरे बेटों व माता का समाचार इसलिये नहीं दे पा रहे हो कि उन्होंने शत्रुओं को समर्पण कर दिया है अथवा धर्म से विचलित हो गए हैं।” दूत तुरन्त रो पड़े और कंधे कण्ठ से बोले— “गुरुजी ! ऐसा न कहें। दोनों कुमारों ने धर्म के नाम पर बलिदान दे दिया। सरहिन्द के नेवाह की धमकी व लातच किसी का भी उन पर प्रभाव न पड़ा और उन्हें हमारे देखते-देखते किले की दीवार में जिन्दा धुनक दिया गया। वह समाचार सुनते ही माता ने छत से कूद कर प्राण दे दिए।”

पिता के रूप में नहीं, धर्म-रक्षक सस्कृति के उद्धारक के रूप में गुरु गोविन्दसिंह यह समाचार सुनते ही खुशी से उछल पड़े और कहा— “धन्य हो मेरे बेटे ! तुमने आज धर्म को साख बढ़ा दी। तुमने बता दिया कि धर्म-सस्कृति की रक्षा के लिए तुम बलिदान देने

२५० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

पसद करोगे न कि विधर्मों बनना ।” तीन सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु का समाचार सुनकर भी दुगुने असाह से विधर्मियों से लड़ मरने का संकल्प लेने वाले गुरु गोविन्दसिंह अवसाद की उन घड़ियों में अवतरित हुए थे जबकि विदेशियों के बार-बार आक्रमण हो रहे थे और आपसी फूट-विद्वेष के कारण संगठित विरोध किश्त से भी नहीं बन पा रहा था।

भक्ति भावना प्रधान सिक्ख धर्म को गुरुजी ने नई दिशा दी। अन्याय, अनीति के प्रतिरोध को भी उन्होंने आस्तिकता ईश्वर भक्ति का पर्याय बनाते हुए ‘एक हाथ में माला, एक हाथ में धाला’ देकर बड़ी संख्या में धर्म-द्रोहियों को धर्म युद्ध के मंच पर ला खड़ा किया। युद्ध कला से अपरिचित उनकी सेना जब युद्ध में आती तो उनकी प्रचण्ड भावना देखते बनती थी। उन्होंने सेना में कोपल हृदय वालों को सेवा कार्य सौंपा तो साहसो—हिम्मत के घनी बीतों को टलवार घमाई, उनका धर्म-युद्ध किसी मत-ममदाय के विरुद्ध नहीं बल्कि अत्याचार बलान् धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध था।

दो छोटे पुत्रों को शहादत के बाद उनके अपने दो नवयुवक पुत्र जुझार और अमरसिंह भी आनन्दपुर, मुक्तसर, सिरमाण्ट के युद्ध में काम आए। अपने डेढ़ हजार शिष्यों के साथ ही बहादुरों से लड़ते हुए उन्होंने चालीस हजार मुगल बादशाही सेना को परास्त कर दिखाया। इन संघर्षों के साथ उपासना क्रम की भी उन्होंने कभी अबाहेलना नहीं की। धर्म-सहिष्णु का सृजन वे निरन्तर करते रहे अपने अनुयायियों में भक्ति भावना भी भरते रहे तथा अपनी सेना में शौर्य का संचार भी करते रहे। उन्होंने मात्र बचपन की ही आयु पाकी और अपने एक मुसलमान शिष्य के हाथों थोड़ा साकर शहीद हो गए।

गुरु गोविन्दसिंह जी ने जिस पराक्रम, पुरुषार्थ को इस अत्यावधि में कर दिखाया, उसी की परिपति आज इस धर्म-सहिष्णु भारतवर्ष के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है। आवश्यकता के अनुरूप महामानवों को चोला बदल बदलकर अवतारित होना पड़ा है। आज फिर माला और धाला के मन्त्र को जीवन में उतार लेने वालों की आवश्यकता आ पड़ी है। संस्कृति की रक्षा हो अथवा राष्ट्र की सुरक्षा, भावनाशील प्रखर अनीति से मोर्चा लेने वाले शूरवीर ही हमेशा काम आए हैं। आज जब आस्था का संकट गहन होता जा रहा है, मानवी मूल्यों का ह्रास हो रहा है समाज की रक्षा के लिये गुरु गोविन्दसिंह की सेना की परम्परा में ही, ‘मृत्यु’ जिम्मा आपत हो, ऐसे सत्साहसियों को एक-जुट हो जाना चाहिये।

आह्वान—मनु की सन्तानों से

राशिक के पास पचवटी में एक तरुण नैस ध्यान कर रहा था। आज पन्द्रह वर्षों से उसका एक ही क्रम था प्रातः सांभ गोदावरी में स्नान दिन भर स्वध्याय-जप-तप, रात्रि के कुछ घण्टों को नौद के लिए छोड़कर ध्यान। क्रम की निरन्तरता अनवरत चल रही थी। उन्हीं दिनों दशम गुरु गोविन्दसिंह जन-जागरण के लिए देश भर की यात्रा के लिए निकले थे। पचवटी पहुँचने पर उन्होंने इस तरुण तपस्वी

का साधना क्रम देखा। उस गुरु के लोगों से पता लगाया। जिज्ञासा और बढ़ी। रात्रि को ध्यान से उठकर जब वह प्रातः नदी स्नान की ओर जा रहे थे गुरु साथ हो लिए।

पूछा “आप का शुभ नाम ?”

“अब माधवदास ।”

“अब का तात्पर्य ?”

“एकान्त साधना के पहले लक्ष्य देव था ।” छोटे प्रश्न का छोटा उत्तर। ऐसा जैसे अन्तर्मुखी तपस्वी कुछ अधिक बताने के लिये अनुकूल न हो। गुरु ने कुरेदा, अपने बारे में अधिक बताने की कृपा करेंगे ?

उसने गुरु के लिए से पाँच तक एक नजर डाली। प्रखर तेजोमूर्ति का अनुरोध वह अस्वीकार न कर सका। उसने बताना शुरू किया।

“मैं काश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्म हुआ। पिता का नाम रामदेव था। उन्होंने मुझे शास्त्र और ज्ञान दोनों में निष्णात किया। एक दिन जब मैं शिकार खेल रहा था तब गर्भवती हिरणी को लगा उसके नीचे गिरते ही गर्भ से दो पुत्रावक छिटक गए और कुछ ही समय बाद तीनों कंसपते-तड़पते मर गए। हृदय बिदारक इस दृश्य ने मुझे इतना व्यथित किया कि मैं यहाँ तप के लिए चला आया। उस समय मेरी आयु सौतह वर्ष की थी और आज कुछ सोचते हुए रुक कर उसने ३१ वर्ष ”। ” तो इस तप साधना का लक्ष्य क्या है ? बुद्धक ”। मान-अपमान में समान रहना, उद्दोंगों को शान्त करना और कहते-कहते वह रुक गया।

“बताओ-बताओ” गुरु ने प्रोत्साहित किया। मुक्ति निर्वाण का परम लाभ पाना।

“अच्छ तो यह है आपकी साधना ”। गुरु ने उसकी ओर इस तरह से देखा मानो वह कोई बहुत छोटी चीज के लिए यत्न कर रहा हो। अभी तक उसे प्रशंसा करने वाले मिले थे। पर गुरु की आँखों में प्रशंसा का कोई भाव न था उनके उनमें उद्गारक की कृपा थी।

अच्छ ! सब बताना अभी तक तुम मान-अपमान में समान रहकर उद्दोंगों को शान्त कर सके ?

बुद्धक कुछ क्षण मौन रहा मानो अपने अन्दर निहार रहा हो। मौन के बाद बोला नहीं—और शायद इस तरह जल्दी कर भी न सके उन्होंने धीरे से कहा।

क्या ? कहकर वह अटक रहा था। लगा उसके पैरों से जमीन खिसक गई हो। एक साथ हजारों सोंप-बिच्छू शरीर पर रेंग गए हों।

कुछ क्षणों तक दोनों मौन रहे। “क्यों ?” तपस्वी ने पूछा। “वत्स”। गुरु का स्वर करुणा विगलित था। “जहाँ तुम्हें कोई सम्मान देने वाला नहीं, अपमानित तिरस्कृत करने वाला नहीं, उद्दोंगों के अवसरों का पास फटकारने का मौका नहीं जहाँ समन्त कैला ” ? तो क्या अब तक की तपश्चर्या व्यर्थ गई ? “नहीं” उससे तुम निष्पाप हुए पर अधिक समय इसमें जुटे रहना हठ होगा। समय को पहचानने की कोशिश करो

कुछ क्षण वह युवक की आँखों में देखते रहे फिर प्यार भरे स्वर से बोले 'तुम मुक्ति चाहते हो न ?' 'यदि मैं उसे इसी जीवन में उपलब्ध करा दूँ ।'

'सच ! जैसे उस सारी दुनिया का वैभव एक साथ मिल गया हो । अस्फुट स्वरों में बुदबुदाया— जीवन मुक्ति ।'

'हाँ' गुरु का स्वर था, 'पर कीमत चुकानी होगी' 'मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हूँ' 'तो उठो और जुट पड़ो जन-कान्ति का झण्डा फूँकने में । अपने तपे-तपाए जीवन और सधे-सधाए मन के द्वारा घर-घर जाकर बनाओ मनुष्य कब कैमल होता है ? मनुष्य देवता कैसे बनता है ? घरे-घरे । जन-समुदाय अनुकरण का आदी है । इसकी प्रवृत्तियों को समझ की ओर मोड़ने के लिए तुम्हारे जैसे खरे शिक्षक चाहिए ।' बोले— 'क्या तैयार हो ? मनु की सन्तानें अज्ञान के अन्धकार में पड़ी कीड़े-मकड़ों को तरह भिल्लिबिल्ल रही हैं । उनके उद्धार के लिए विद्या का आलोक चाहिए, जो पुस्तकों से नहीं तपे-तपाए कले-कलाए जीवन से ही सम्भव है । चुप क्यों हो ? कुछ तो बोलो ! क्या नीलकण्ठ बन मानवीय जीवन में घरती जा रही विषाक्तता के शमन के लिए तैयार हो ?' कहते-कहते गुरु का गला भर गया, आँखों की कोरों से आँसू बुल्लक पड़े ।

तैयार हूँ गुरुदेव । कहकर वह साष्टांग पैरों पर गिर पड़ा ।

गुरु ने उठा कर छाती से लगाया । दोनों बेसुप हो रोते रहे । बड़ी देर बाद एक-दूसरे से अलग हुए । दोनों की आँखों में अभी भी आँसू थे, पर वे दुःख के नहीं प्रसन्नता के थे । गुरु को प्रसन्नता थी कि मानवता के प्रति उसके हृदय की मार्मान्तक पीड़ा को पीने वाला शिष्य मिला । शिष्य को प्रसन्नता थी कि उसके जीवन को खरी राह दिखाने वाला गुरु मिला ।

घटना का पटाक्षेप हुआ । उस दिन से लक्ष्मणराव गया, माधवदास गया, रह गये सिर्फ गुरु का 'बन्दा बैरागी' । वह उपाधि उसे गुरुगोविन्द से जो मिली थी । अब उसमें स्वार्थ संकोर्षता का कण भी न था । सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय काम करने की लगन । यही था उसका बैराग्य । इन्हीं अर्थों में वह बन्दा बैरागी था ।

बैरागी ने माला रखकर तलवार उठाई और तत्काल बलि-भूमि पंजाब पहुँचा । वहाँ जाकर उसने नये सिरे से संगठन का शंख फूँका और धर्म-युद्ध का समारम्भ कर दिया । बन्दा ने अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सारी शक्तियाँ धर्म-युद्ध में लगा दीं । नव सूर्योदय के समान बन्दा को पाकर पंजाब का सारा हिन्दू और सिक्ख समाज जागकर उसके झण्डे के नीचे आ गया । बन्दा ने इस जन-बल के आधार पर सरहिन्द जीता, पंजाब के अठ्ठाईस परगनों से दखन शासन का अन्त कर दिया और सतलज से यमुना तक की भूमि पर धर्मध्वज फहरा दिया ।

पंजाब को स्वाधीन कर बन्दा आगे की योजना बनाने और बलिदान हुए वीरों की याद में एक गुरुद्वारा बनवाने में व्यस्त हुआ । नभी भारत भर के मुसलमान शासकों ने औरंगजेब के नेतृत्व में उस पर चारों ओर से धावा बोल दिया ।

अत्यन्तरी बादशाह ने बन्दा का मांस रोच-रोच कर भाग डालने का आदेश दे दिया । बन्दा जंजीरों से बांधकर खड़ा कर दिया गया और बल्लबटे ने गरम चीमटियों से उसके मांस निकालना शुरू किया, किन्तु धर्मवीर सच्चा बैरागी अन्त तक आनन्द की हँसी ही हँसा रहा ।

जून १७१६ में उन्होंने अपनी नश्वर काया का परित्याग किया परन्तु आज शरीर के न रहने पर भी उनकी आत्मा बीछ-बीछ कर पुकार रही है ! गुरु के बन्दों । कहाँ हो ? मनु की सन्तानों की पीड़ा तुम से कैसे देखी जाती है ? इनके लिए वापस सत्यगुण लौटा लाने के लिए तुम्हारे पराक्रम क्यों नहीं जाग रहा ? क्या वे पुकारें हमें सुनाई पड़ रही हैं ? यदि हाँ, तो फिर गुरु के बन्दे बनें और कर्तव्य कर्म को पहचान कर जुट पड़े ।

बलिदान का महत्त्व

एक संगठित शक्ति की आवश्यकता हुई । गुरु गोविन्दसिंह ने एतदर्थ एक नरपेय यज्ञ किया । उक्त अवसर पर उन्होंने शेषणा कां भाइयो । देश की स्वधीनता पाने और अन्याय से मुक्ति के लिये चण्डो बलिदान चाहती है तुममें से जो अपना सिर दे सका हो वह आगे आये । गोविन्दसिंह की मर्ण का सामना करने का कितना बँ साहस नहीं हो रहा था तभी दशरथ नामक एक युवक आगे बढ़ा । गुरु उसे एक तरफ ले गये और तलवार रख दी रक्त की धार वह निकली लोग चमकीले हो उठे । तभी गुरु गोविन्दसिंह फिर सामने आये और फिर पुकार लगाई अब कौन सिर कटाने आता है । एक-एक कर क्रमशः धर्मदास, मोहकम चन्द, हिम्मत राय तथा साहब चन्द आये और उनके शीश भी कट लिये गये । बस अब मैदान साफ था कोई आगे बढ़ने को तैयार न हुआ ।

गुरु गोविन्दसिंह अब उन पाँचों को बाहर निकाल लाये और विषमयन लोगों को बताएँ यह तो निष्ठा और सामर्थ्य की पंथ की वस्तुतः सिर ले बक्यों के कटे गये । तभी भीड़ में से 'हमारा भी बलिदान लो'— 'हमारा भी बलिदान लो' की आवाज आने लगी । गुरु ने हँसकर कहा— यह पाँच ही तुम पाँच हजार के बराबर हैं जिनमें निष्ठा और संघर्ष की शक्ति न हो उन हजारों से निष्ठावान पाँच अच्छे ? इन्हेंस जानता है इन्हीं पाँच प्यारों में सिख संगठन को मजबूत बनाया ।

अनुपम साहसपूर्ण त्याग

सिखों के नौवें गुरु श्री तेगबहादुर की औरंगजेब ने दिल्ली बुलाकर मरवा डाला था और उनकी लाश को नगर के एक सौराहे पर डलवाकर घोषणा कर दी कि जो कोई इसका अन्तिम सम्कार करने का प्रयत्न करेगा उसे भी प्राणदण्ड की सजा दी जावेगी । अब यह खबर गुरु गोविन्दसिंह जी के पास पहुँची तो वे उनकी लाश को प्राप्त करवा दिल्ली की तरफ चले । उस रूप में उनकी अवस्था कबल सोलह वर्ष की थी । जब वे दिल्ली के निकट पहुँचे तो उनकी एक गोरब गाड़ी वाला सिख मिला । उसने गुरुजी से कहा कि 'आपको दिल्ली जाना

२५२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

बड़े भय की बात है” और गजेब कभी आपको नहीं छोड़ेगा। इसलिए आप इसी जगह गुप्त रूप से ठहरे रहें, हम आपके पिता के शव को यहीं ला देंगे। यह कह कर अपने बेटे को साथ लेकर दिल्ली पहुंचा। उस समय तक गुरु तेगबहादुर का शव काफी गल सड़ गया था और उसमें से बड़ी बदबू आने लगी थी। पहले वाले भी दूर हटकर बैठने लगे थे। वे गाड़ी वाले बाप-बेटे जब वहां पहुंचे तो बाप ने बेटे से कहा—गुरुजी के शव को हटाने से पहले हम दोनों में से एक को प्राण त्याग करना पड़ेगा क्योंकि पहले वाले शव को न देखकर उसे दूढ़ने लगेंगे। अभी तुम जवान हो इसलिए मेरा घरना हो उचित है। बेटे के जबाब देने से पहले बुद्ध ने कृपाण अपनी छाती में मार ली और वहीं गिर गया। बेटे ने गुरुजी के शव के स्थान पर अपने पिता का शव रख दिया और गुरुजी के शव को गुरु गोविन्दसिंह के पास पहुंचा दिया।

आत्मबल ही चमत्कार है

आज मुगल दरबार में विशेष हलचल की। मन्थि-वार्ता हेतु सिक्खों के सम्माननीय गुरु गोविन्दसिंह जो आज आमन्त्रण पर पधारें थे। उनके गुरु शब्द से एक मौलवी को मन में रोष था। वह सोचता था सेना संचालन, युद्ध आदि के कार्यों में सन्त, गुरु का क्या सम्बन्ध? उसने उनके आध्यात्मिक स्तर पर खेड़ करने के विचार में प्रवृत्त कर दिया—महाराज, आप गुरु हैं—अपने नाम की सर्वकला में उभरकर कुछ चमत्कार दिखावायें?

गुरु गोविन्दसिंह हँसे। बोले—“मौलवी जी चमत्कार तथा आध्यात्मिकता का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। गुरु का काम चमत्कार दिखाना नहीं, शिष्यों का सही मार्गदर्शन करना होता है।” पर मौलवीजी ने पुनः आग्रह किया—“कोई चमत्कार तो दिखावें ही?” गुरुजी ने मुस्करा कर कहा—चमत्कार देखना ही है तो आंखें खोल कर देख लो, ईश्वर ने चारों ओर बिखेर रखे हैं। यह पृथ्वी, आकाश, तारे, वायु सभी चमत्कार हैं।” पर मौलवी का आग्रह वा मनुष्य का चमत्कार दिखाने हेतु। गुरुजी ने पुनः सम्मान किया—“अपने शहंशाह का चमत्कार देख लो न! किस प्रकार एक व्यक्ति की शक्ति पूरे राज्य में काम करती है।” पुनः आग्रह हुआ—“वह नहीं अपनी सीमा में कुछ चमत्कार दिखावें।”

गुरु गोविन्दसिंह के माथे पर बल पड़ गये। बिना स्के के तड़प कर खड़े हो गये। ध्यान से तलवार निकाल कर कहवाँ आवाज में बाले—“मेरे हाथ का चमत्कार देखने की शक्ति यदि तुझ में है तो देख। अभी एक हाथ से तेरा सिर अलग हुआ जाता है।”

मौलवी जी को भसीन्ना चूट गया। यदि स्वयं शहंशाह उनके मानपूर्वक रोक कर हाथ पकड़ कर अपनी बगल में न बिठा लते तो मौलवी सहब खुदाबन्द के दरबार में पहुँच चुके होते।

भया के बिना

सबसे सिद्ध गुरु गोविन्दसिंह आनन्दपुर साहिब में विराजमान थे। यहाँ मान लिये जाँ बोले—“कोई मुझे पावन हाथों से ढल पिला

दे।” एक घनवन व्यक्ति उठा और बल ले आया। जल पात्र लाने समय उस व्यक्ति के हाथ गुरुजी को स्पर्श कर गये। वे पृष्ठ ही बैठे—“तुम्हारे हाथ तो बड़े कोमल हैं।”

वह व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर फूल न समझा और बोला—गुरुजी मेरे अनेक सेवक हैं। मैंने स्वयं कोई सेवा कार्य नहीं किया इसलिए मेरे हाथ इतने कोमल हैं। सुनकर गुरुजी ने होठों तक लावे जल पात्र को रख दिया और बोले—जिन हाथों ने कभी कोई सेवा नहीं की वे पवित्र कैसे हो सकते हैं। मैं तुम्हारे हाथ का जल ग्रहण नहीं कर सकूँगा।

वहीं प्यास बुझा लेना

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने १६ वर्षीय बड़े पुत्र अजीतसिंह को आज्ञा दी कि तत्तबार लो और युद्ध में जाओ। पिता की आज्ञा पाकर अजीतसिंह युद्ध में कूद पड़ा और वही काम आया। इसके बाद गुरु ने अपने द्वितीय पुत्र जोहरसिंह को वही आज्ञा दी। पुत्र ने इतना हो कहा—पिताजी प्यास लगी है, पानी पी लूँ। इस पर पिता ने कहा—‘तुम्हारे भाई के पास खून की नदियाँ बह रही हैं वहीं प्यास बुझा लेना’। जोहरसिंह उसी समय युद्ध क्षेत्र को चल दिया और वह अपने भाई का बरतन लेते हुए माया गया।

धार्मिक मतभेदों के समन्वयकारी— संत कबीर

सन् १८०० के लगभग दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी बनारस आया। उसके सामने उस नगर के मुसलमान काजी ने शिकायत की कि यहाँ पर कबीर नामक उपदेशक लोगों को इस्लाम के विरुद्ध नसीहत देता है, जिससे बहुत-से मुसलमान कुरान के मार्ग से हटकर हिन्दुओं की तरह ध्यान और भजन करने लग गये हैं। साथ ही कुछ प्रमुख हिन्दुओं ने भी कहा कि कबीर परम्परा से चले आये धार्मिक और सामाजिक नियमों का खण्डन करता है और लोगों को ऐसे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है जिसे न हिन्दू कहा जा सकता है और न मुसलमान। वह स्वयं ही सब का गुरु बनकर अपना नया ही पंथ चला रहा है।

वद्यपि धर्म के नाम एक ही व्यक्ति के विरुद्ध हिन्दू-मुसलमानों द्वारा शिकायत किया जाना एक नई बात थी, तो भी सिकन्दर लोदी ने एक शासक की हैसियत से कबीर को दरबार में हाजिर होने का हुक्म दिया। उनके आने पर मुसलमान और हिन्दुओं द्वारा कही गई शिकायतें उनको बतलाई और भावेष्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार न करने की आज्ञा दी। सरकारी फैसले की बात सुनकर कबीर साहब ने कहा—

हिन्दू तुरक कहें से आया, किन यह राह चलाई।
हिन्दू तुरक की एक राह है, सतगुरु इसे बताई ॥

कबीर साहब का कहना था कि हिन्दू और मुसलमानी धर्म आखिर कहाँ से आये? ये सृष्टि के अन्दि से तो नहीं हैं, बीच में ही किन्हीं

आचार्यों या धर्मोपदेशकों ने इनका प्रचार किया है। अगर ये परमात्मा द्वारा ही प्रेरित होते तो इनमें इतना अधिक भेदभाव दिखाई न पड़ता और न इनके अनुयायी इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते। इससे मालूम होता है कि इनके सिद्धान्तों में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं अथवा बाद में नये-नये विचारकों और आचार्यों ने उनमें ऐसे पारम्परिक विरोधी परिवर्तन कर दिये हैं। कुछ भी हो, इन हानिकारक मतभेदों को देखते हुए अगर हम दोनों में समन्वय करते हैं और जीवन को सार्थक बनाने योग्य सरल और सच्चे सिद्धान्तों पर अमल करने की बात समझते हैं, तो हममें दोष क्या है ?

पर जमाना इस प्रकार के तर्क और न्याय की बातों को सहज में मान्यता दे सकने का नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों मजहबों के गुरुओं में अहमन्यता और स्वार्थ के ध्वज भेरे हुए थे और वे यह सहन करने को कभी तैयार न थे कि कोई नया आदमी जनता को उनके प्रभाव से निकाल कर अपना अनुयायी बना लेवे। इसलिए इस प्रकार के धर्मजीवी लोगों ने बादशाह को खूब मझकया और खास तौर से मुसलमानी धर्म को हानि पहुँचाने का भय दिखाया। मुसलमान बादशाह स्वयं भी तलवार के जोर से धर्म प्रचार करने में विश्वास करते थे। इसलिए सिकन्दर लोदी ने कबीर को दण्डनीय समझा। कबीर पंथियों के कथनानुसार तो बादशाह ने ५२ प्रकार के उपायों से कबीर साहब को मरवाने का प्रयत्न किया पर दैवी शक्ति के प्रभाव या चमत्कार के कारण उनमें से कोई कारगर नहीं हो सका। अन्य लोगों के मतानुसार काशी की जनता का एक बड़ा भाग कबीर साहब की शुद्धता और परोपकारिता से प्रभावित था और उसका परिचय पाकर बादशाह ने उनको छोड़ देना ही उचित समझा। कुछ भी हो कबीर जैसे सत्य की राह पर चलने वाले कभी अन्धकार के सामने सिर नहीं झुका सकते और उनकी आत्मशक्ति अन्त में उनको विजयी बनाती है।

कबीर साहब के जन्म के सम्बन्ध में लोगों में काफी मतभेद है। अधिकांश लोगों का मत है कि वे एक सद्यः जात शिशु के रूप में काशी के लहरतारा तालाब पर नीरू नामक जुलाहे को मिले थे। कुछ लोग इनको नीरू का ही पुत्र बतलाते हैं। कुछ भी हो जनता में वे नीरू (पिता) और नीमा (माता) के पुत्र के रूप में ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपनी जाति जुलाहा ही लिखी है। बाल्यावस्था में ही साधु-सन्तों की बातें सुनकर उनके हृदय में भक्ति भाव उत्पन्न हो गया था और वे सरल भाव से भगवान् का भजन करने लग गये। पर शीघ्र ही उनके अनुभव हुआ कि दुनिया के लोग भगवान् को सच्चे अन्तःकरण से मानने का महत्त्व नहीं समझते वरन् सबसे पहले जाति और मजहब का 'लेबिल' ही देखना चाहते हैं। हर एक व्यक्ति कबीर से पहला प्रश्न यही करता कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान ? पर कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान अतः पूछने वाले को उत्तर से उनके कैसे सन्तोष होता ? बस, हिन्दू उनको मुसलमान कह कर पास बैठाने से इन्कार करते और मुसलमान उनको 'राम' का नाम लेने के कारण काफिर बल्लभ कर भर्त्सना करते।

पर कबीर भी अपने सिद्धान्त के पक्के थे। वे जानते थे कि सच्चाई किसी खास मजहब से बंधी हुई नहीं है। जो कोई अपनी अन्तरात्मा में घुसकर निष्पक्ष भाव से उसकी खोज करेगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन द्वारा छोटी अवस्था में ही उसको प्राप्त कर लिया और डके की चोट पर कहने लगे—“तुई जगदीश कहाँ से आया।” इसके साथ ही वे हिन्दू मुसलमानों के अन्धविश्वासों और रूढ़िवादिता की भी तीव्र आलोचना करने लगे जहाँ उन्होंने हिन्दुओं के 'माला और तिलक' धारण करने मात्र से सद्गति मिलने की आलोचना की वहाँ मुसलमानों से कहा—“क्या खुदा बहरा हो गया है जो इतने जोर से उसे पुकारते हो ?” उन्होंने “वे हलात वे झटका मारे आग दुहुन घर लागी” कहकर दोनों मजहब वालों को फटकारा कि “युद्ध लेंगो ! धर्म के नाम पर गौ और बकरो को हत्या करके चट कर जाते हो और इसी पर अपने को ऊँचा बतलाते हो।” धर्म का पहला लक्षण किसी पौढ़ित, दुःख से व्यथित प्राणी की सहायता और रक्षा करना ही हो सकता है, इसके बिना हर प्रकार का बाह्य कर्मकाण्ड केवल ठोंग है। इस प्रकार खरी बात करने के कारण पुराने विचारों के संकीर्ण मनोवृत्ति वाले बहुत से व्यक्ति उनके विरोधी हो गये।

काशी भारतवर्ष का सर्वप्रधान तीर्थ और हिन्दू धर्म का केन्द्र माना जाता था। आज भी वहाँ के 'पण्डितों' से किसी धार्मिक समस्या की व्यवस्था लेने के लिए लोग हजारों रुपये भेंट देते हैं। जब लोकमान्य तिलक ने काशी के एक शास्त्री से विदेश यात्रा की व्यवस्था कर देने को कहा तो उसने पाँच हजार रुपये माँगा था। जब आजकल यह दशा है तो पाँच सौ वर्ष पहले जब जनता में शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम था और रूढ़ि पूजा को ही धर्म का मुख्य अंग माना जाता था, तब उस समयाने में इन 'पण्डित' और 'पुरोहित' नाम-धारी लोगों का प्रभाव कितना अधिक रहा होगा इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। इन लोगों ने कबीर को तरह-तरह से तंग किया। पर सच्चे सन्तों पर ऐसी बातों का प्रभाव कब पड़ता है ? वे अपने अपकारियों को भी सदा क्षमा करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सबने उनकी महत्ता को समझ लिया। कबीर साहब के सिद्धान्त उनके जीवन काल में ही अच्छी तरह फैल गये।

कबीर छोटे-बड़े का भेद नहीं मानते थे। वे ज्ञानमार्ग के पथिक थे और उपनिषदों के इस तत्त्व को अच्छी तरह समझते थे कि “ब्राह्मण और शूद्र के भीतर एक ही आत्मा का अस्तित्व है।” इस युग में महत्त्व गांधी ने शूद्रों के उत्थान के लिए उन्हें 'हरिजन' की पदवी देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। कबीर ने पाँच सौ वर्ष पहले ही लिखा था 'हरिजन सखीन जति' अर्थात् हरिजन से बढ़कर कोई जाति नहीं है। अवश्य ही उनका अग्रगण्य इस शब्द से केवल शूद्रों से न था, फिर भी उन्होंने शूद्रों को ऊपर उठाने का मार्ग दिखलाया और घोषणा की कि वे भी अपने जीवन को शुद्ध और भक्तिमय बनाकर ऊँची जातियों के समकक्ष बन सकते हैं। भारत में कुछ समय से जय

२५४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

से ही मनुष्य को छोटा-बड़ा मान लेने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी है उसके ऊपर कबीर ने तीव्र प्रहार किया। वास्तव में यह दोष 'वर्ण व्यवस्था' के सिद्धान्त का नहीं है। अधिकांश विदेशियों ने भी इसको समझ संगठन और आवश्यक कर्मों को सुचारु रूप से सम्पन्न किए जाने का माध्यम माना है इसका व्यवहार प्रचीनकाल की तरह गुण-कर्म के आधार पर ही होना चाहिए। कबीर सत्त्व की शिक्षा इसी से मिलती-जुलती है और उन्होंने वास्तव में करोड़ों अछूतों को ऊंचा उठाने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

कबीर के जीवन में दूसरी अनुकरणीय बात यह थी कि उन्होंने शारीरिक श्रम को महत्त्व को स्वीकार किया, सदैव अपने पेशे को करते रहे। जैसे गांधी जी ने चरखा चलाने को एक धर्म-कार्य का रूप दे दिया उसी प्रकार कबीर कपड़ा उद्योग में भी भगवान् की भक्ति और आध्यात्मिक प्रगति का अनुभव करते थे। उनके समय में और आजकल भी हिन्दुओं में साधु-सन्तों का एक लक्षण यह भी मान लिया गया है कि गृहस्थ जीवन के सामाजिक कर्तव्यों को त्यागकर केवल भजन उपासना में ही सब समय व्यतीत कर दिया जाय। इस हानिकारक मनोवृत्ति का ही परिणाम हुआ है कि देश में लाखों अकर्मण्य साधु और 'संन्यासियों' का अतिर्भाव हो गया जिनके जीवन निर्वाह का भार समाज को उठाना पड़ रहा है। इनमें से कितने ही 'साधु-संत' तो 'त्यागी और विरागी' कहलाते हुए भी गृहस्थों की अपेक्षा बहुत अधिक शान्त शौकत और आराम से रहते हैं। कबीर ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से इसका प्रतिकार किया और एक महान् सन्त होने हुए भी अपने परिश्रम की कमाई से ही सदैव अपना जीवन निर्वाह किया।

इस प्रकार कबीर ने सामान्य जनता के लिए ऐसा मार्गदर्शन किया जिससे वे सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार का जीवन बिताते हुए समाज में सम्माननीय स्थिति प्राप्त कर सकें। यद्यपि आज धन का गौरव सबसे अधिक बढ़ गया है और उसी के आधार पर मनुष्यों को छोटा-बड़ा समझा जाने लगा है और यह बात सभी महापुरुषों के सिद्धान्त के विपरीत है। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद जैसे संसार के सबसे बड़े धर्मज्ञ और ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार उसके चरित्र, नैतिकता और परोपकारिता को ही बतलाया था। सन्त कबीर भी इसी मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने गरीबी की ही प्रशंसा की है और "माया महा धर्मि हम जानी" कहकर सांसारिक वैभव को दुकराया ही है। इसीलिए इस नये युग में भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे आधुनिक विचार के महानुभावों ने कबीर की महत्ता स्वीकार करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विश्व इतिहास की प्रत्येक पृष्ठ में लिखा है—

"कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे। हिन्दी में उनके मज्जान बहुत दूर दूर के गाँवों तक में खूब प्रचलित थे। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे और दोनों मजहबों तथा सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे तो उनका शव एक चादर से ढँक दिया गया। हिन्दू चले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शार्दि दफन करने

पर ज़ोर दे रहे थे। इस पर दोनों में विवाद और झगड़ा बढ़ा। पर जब चादर हटाई गई तो देखा कि वह शरीर जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पड़े थे। मुसलमान है वह कहानी कल्पनिक हो सके, लेकिन है बहुत सुन्दर।"

कबीर पढ़े-लिखे भी नहीं थे। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि 'कलम नहीं नहीं हाथ।' फिर भी केवल अपने सहज ज्ञान और उसी के अनुसार सत्यवचन के मार्ग पर चलकर उन्होंने एक अमर पदवी प्राप्त कर ली। वे बाहरी पूजा-पाठ और उपासना की बजाय 'सेवा-धर्म' को अधिक महत्त्व देते थे और सर्वत्र भगवान् की विभूति का अनुभव करते थे।

जो पग बरक सोइ परिकारण, जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोई तब करु दण्डवत, पूजु और न देवा ॥

उन्होंने समाज में फैली हुई दुष्टवृत्तियों को मिटाने के लिए बड़े जोरदार ढंग से प्रचार किया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव हिंसा करने वालों को फटकारते हुए कहा— "सन्तो! पाँडे निपुण कसाई, बकरा मार भैंस पर छावें, दिल में दर्द न आवै।" इसके साथ ही मुसलमानों के लिए भी कहा "गाव बधे तेहि तुरक कहिए, इनते क्या वे छोटे।" वे केवल परोपकार और दूसरों के साथ भलाई करने को ही मानवता का सबसे बड़ा लक्षण बतलाते थे और उपदेश करते थे— "जो तो कूँ काँट बुवे, ताहि बोहि तू फूल।" वे भगवान् को सर्वव्यापी देखते हुए कहते थे— "मोको कहाँ दूँ बन्दे मैं तो तेरे पास में।" वे धर्म में अन्ध श्रद्धा के भी विरुद्ध थे और स्वयं अपने लिए भी कहते थे कि "जब लग देखें न अपने नयन, तब लग न मानो गुरु को वैरा।" इस प्रकार जनता में सत्य धर्म और सत् शिक्षाओं का अजीवन प्रसार करने वाले सन्त कबीर दास के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त और उसके बाद की कई चमत्कारी किंवदन्तियाँ हैं। वे कितनी सच हैं और कितनी मन-गढ़न इसकी चर्चा तो अनावश्यक है, परन्तु सच यह है कि मध्य काल में ऐसे चमत्कारों, अन्धविश्वासों और मुल्ला-पण्डितों द्वारा निर्मित अन्ध-परम्पराओं से लेकर सामाजिक कुनीतियों पर कितना घातक प्रहार कबीरदास करते रहे उतना शायद ही किसी सन्त या आध्यात्मिक विभूति ने किया हो।

उनकी दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-वंश, परिवार और पद-प्रतिष्ठा नहीं व्यक्ति का व्यक्तित्व और आन्तरिक निष्ठा थे ही अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वास्तुतः सन्त का साधारण इन्सान में अन्तर जानने के लिए परख की कसौटी है भी वही। उच्च ब्राह्मणों और राजकुलों में जन्म लेने वाले व्यक्ति का स्तर भी निम्न और पतित हो सकता है तथा निम्न कुल के, उपेक्षित और पिछड़े वंश परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपनी आन्तरिक श्रेष्ठता के कारण सन्त, महात्मा और देव पुरुषों की पंक्ति में जा बैठ सकता है। उस समय जब कबीर का जन्म हुआ तो लोक-संसार के साथ अध्यात्म जगत में भी यही मान्यता स्थापित की हुई थी। समाज और राजपरिवार में तो प्रगति और श्रेष्ठता का आधार जाति या वंश था ही, आध्यात्मिक क्षेत्र में

भी साधना और आत्म-कल्याण का अधिकार उच्च कुल के व्यक्तियों को ही दिया गया। समाज में इस परम्परा का इतना दुष्प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि अध्यात्म क्षेत्र में। क्योंकि इससे तो व्यक्ति के विकास की सम्भावनाएँ ही नष्ट हो जाती हैं और इसलिए संत कबीरदास ने सर्वप्रथम इस मान्यता को तोड़ा और 'जाति न पूछे साधु की पूछ लेउ बस ज्ञान'। ऐसी कुरीतियाँ भी प्रायः विरमोचित अन्धविश्वास के परिणामस्वरूप जन्म लेती हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं कबीर दास के कुल और वंश का कोई पता नहीं है। जहाँ तक उनके सम्बन्ध में पता चला है उनका पालन-पोषण नीरू और नोया नामक कुलहा दम्पति ने किया था। अधिकांश लोगों की मान्यता है कि इस दम्पति को काशी के नहरतारा तालाब के तट पर एक बालक पड़ा मिला था वे निःसन्तान थे—स्वाभाविक ही उनके मन में इस अनाथ शिशु के प्रति ममत्व जागा और वे इसे उठाकर अपने घर ले आये तथा बेटे की तरह पालन करने लगे। यही कबीर बड़े हुए और अपने अभिभावक माता-पिता के पेशे में लगे।

काशी जैसा पवित्र तीर्थ स्थल। उन दिनों करों में एक से एक पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुष थे, जिनकी जीवन वाटिका में धर्म-साधना और ईश्वर उपासना की कला से विकसित पुष्पों की सुगन्ध महानगरी में फैली हुई थी। स्वामी रामानन्द जैसे वैष्णव संत भी वहाँ निवास करते थे और वहाँ की जनता पर अनूठा प्रभाव था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी के मन में उनके प्रति अगाध कट्टा थी। नीरू जुलहा भी उनके प्रति श्रद्धा-वनत था और इन नियोजित माता-पिता की श्रद्धा भावना—कबीर को उत्तराधिकार में मिली।

संत कबीर जब थोड़े बड़े हुए तो उनके अन्तःकरण में आरोपित ईश्वर की भक्ति की बेल भी फलने-फूलने लगी। इदम मे तीव्र आकांक्षा थी कि स्वामी रामानन्द से ईश्वर भक्ति की—उपासना साधना की दीक्षा ली जाय। परन्तु असमंजस यह था कि गुलाहा परिवार का सदस्य होने के कारण, जाति से मुसलमान होने के कारण कहीं स्वामी जी मना न कर दें, अनधिकारी घोषित न कर दें और यदि यह आशंका सच निकली तो उन्हें अपना गुरु मानने की आशंका धूल-धूसरित हो जायेगी।

इस सम्भावना को दृष्टिगत रखते हुए कबीर ने एक ऐसा उपाय सोचा जिससे यह सम्भावना भी न रहे और स्वामी जी के शिष्यत्व की पात्रता भी मिल जाये। स्वामी रामानन्द प्रतः काल ब्रह्ममुहूर्त में गंगा स्नान के लिए जाया करते थे। कबीर को यह पता चला तो वे अन्धी रात को ही उसी घाट पर आ बैठे तथा स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। सूर्योदय होने में कोई एक फहर ही कन्दि रह होगा तब स्वामी जी आये और कबीर दास उनके जाने से पूर्व ही घाट की सीढ़ियों पर लेट गये।

अन्धकार के कारण स्वामी जी न देख पाये और उनका पाँव कबीर की देह पर रख गया। जैसे ही उन्हें यह लगा कि पाँव के नीचे कोई दब रहा है वे एक-दम राम-राम कहते हुए उठले और इधर कबीर

भी उठ बैठे। बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने स्वगत कहा—'मिल गया। अब कोई चिन्ता नहीं।'।

स्वामी जी ने विस्मृत हो पूछा—'क्या मिल गया।'।

'मैं भक्ति का बुलहा हूँ और आप से गुरुदीक्षा चाहता हूँ। सो मुझे गुरु मन्त्र मिला गया।'।

'गुरुदीक्षा ही लेनी थी तो मुझसे कहना था। इस प्रकार के लेटने से क्या लाभ मिला।'।

कबीर ने कहा—'मैं सोचता था। कहीं मुसलमान होने के कारण मुझे दीक्षा का अनधिकारी न कर दें।'।

लोक-व्यवहार में परिणाम विपर्यय की सम्भावना से सावधान रहते और चातुरी बरतते देखा है परन्तु धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र भी इतना संदिग्ध है कि मुमुक्षु को पहली सीढ़ी पार करने के लिए यह मार्ग अपनाना पड़ा। स्वामीजी ने अपने इस विचित्र शिष्य को गले से लगा लिया और उन्हें लगा कि जिस प्रतिभासम्पन्न शिष्य की तलाश थी वह मिल गया।

धर्म के क्षेत्र में मनप रहे छल-कपट तथा धूर्त व्यवहार से स्वामी जी धलीभाँति विज्ञ थे। उसे निर्मूल करने के लिए कबीर श्रेष्ठ भूमिका निवाह सकेगे—प्रथम भेंट में ही उन्होंने ज्ञान लिया और कबीर को धर्म तथा अध्यात्म के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने के साथ-साथ साधन मार्ग पर भी आरुढ़ किया।

स्वयं को ईश्वर से भी अधिक गुरु का उपकृत मानने वाले कबीर की ब्रह्मा इन पक्तियों में मुखरित हुई है—

गुरु गोविन्द दोउ छोड़े काके लागू पाँच ।
कलिघरी गुल आपने गोविन्द दियो बताय ॥

वे कैसे सधु-महात्माओं के विरोधी हो सकते हैं? फिर भी वे सधु-पण्डित, काजी, मुस्ताओं के सबसे बड़े और जबल शत्रु थे। उस वर्ग के जिन्होंने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म के पुण्य क्षेत्र को विकृतियों से दूषित किया। जन-साधारण के कल्याण और सुख-शान्ति के मार्गदर्शन के स्थान पर जनमानस में अन्धविश्वास, पतन, हिंसा और अन्ध व्यक्तिगत विकृतियों तथा सामाजिक कुरीतियों के विष बीज बोये।

कबीर समाज में ऐसे वर्ग से उठकर आये जिसे अभी तक विद्या बुद्धि प्रगति के क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं मिला था। उस वर्ग को अमनन्त का पशु का दर्जा दिला गया था। उस समय के कई पण्डितों और राजियों ने तो इस वर्ग को काड़ भी घोषित कर रखा था। ऐसे वर्ग और समुदायों की कुन्ठाओं या प्रतिक्रियाओं ने कबीर जैसे विद्रोही को जन्म दिया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कुछ लोग कबीर को हठवादी और पूर्वाग्रही सिद्ध करने पर आज भी तुले हैं। परन्तु यह मान्यता अपने आप में एक पूर्वाग्रह है।

उस समय समाज की तन्त्रा तोड़ने के लिए यह आवश्यकता थी कि प्रचलित विश्वासी, मान्यताओं और प्रतीकों पर तीव्र प्रहार किया जाय। उन्हें तोड़े बिना जनता की निष्ठाएँ और आस्थाएँ सच्चे धर्म के प्रति उद्भूत ही नहीं हो सकती थीं। कबीर ने इस मार्ग को

गम्भीरता से समझा, अपनी पैनी दृष्टि से देखा और अपनी तीखी सैली में कह दिया धर्मतन्त्र और अध्यात्म की स्थापना सन्तों की महिमा और शाश्वत सिद्धान्तों के जीवन मूल्यों की अकहेलना किये बिना असम्भव ही है। इस तथ्य को कबीर की नस-नस में बहता हुआ देखा जा सकता है। साधना, उपासना, चरित्र, सद्गुण, सत्त्व, न्याय, प्रेम, गुरु, शास्त्र, दर्शन आदि के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करने में, आवश्यकता प्रतिपादित करने में कबीर अपने समय के सभी विद्वानों से आगे निकल गये।

संत कबीर ने अपने समय में प्रचलित पाखण्ड और अन्य-विश्वास का ही खण्डन नहीं किया बल्कि उस समय की कई सामाजिक कुत्तियों और परम्पराओं को भी नहीं बखशा। जाति-धर्म से लेकर मुसलमान तक और बाबा चिड़ पूजा से लेकर पशुबलि के अन्यविश्वास तक कोई भी विभूति उनके आक्रमण से बच नहीं सकी। निःसन्देह ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित नेतृत्व में निहित स्वार्थ की भावना पनपने के कारण आती हैं। इन परम्पराओं और मान्यताओं पर प्रहार होते देखकर स्वार्थी तत्त्वों का कुपित होना स्वाभाविक ही है और सन कबीर को ऐसी का कोपभोजन बनना ही पड़ा परन्तु उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा।

तत्कालीन शासकसिकन्दर लोदी ने उन्हें तरह-तरह से उत्पीड़ित किया। शारीरिक यातनाओं से लेकर मरणान्तक कह देने तक कोई उपाय नहीं छोड़ा। परन्तु अन्तर्निहित जाग्रत आत्मदेव की शक्ति क्षमता ने उनका सदैव बचाव किया। एक बार तो उन्हें गंगा तक में फेंक दिया गया, पर सिद्धान्तों और आस्था निष्ठाओं के धन कबीर ने जीवन मूल्यों को ही अधिक महत्व दिया।

उनके व्यक्तिगत निजी जीवन की ओर दृष्टिगत करने पर तो सर्वाधिक विस्मित रह जाना पड़ता है। कुलहीन व्यक्ति ने और वह भी अनपढ़ जिसकी अँगुली ने कभी कागज और कलम को छुआ तक नहीं, कैसे इतना साहित्य सृजन किया, अपने व्यक्तित्व में कर्तु से इतनी प्रभावकारी क्षमता अर्जित की जिसने क्या मुगल साम्राज्य और क्या हिन्दू धर्म की पण्डित-पुरोहित नियन्त्रित व्यवस्था की अड़े हिला दी। कबीर के कई-कई दोहे ऐसे हैं जिनका अर्थ आज तक नहीं खोजा जा सका है। उनकी उलटवासियाँ तो शोध छात्रों का शिव विषय बनी हैं। उन पर शोध प्रबन्ध लिखकर ही वे अपनी योग्यता तथा विद्वत्ता को प्रमाणित करते हैं। कबीर के व्यक्तित्व की इस संपृद्धि और सम्पन्नता की ओर देखने पर अध्यात्म तथा धर्म को, जीवन विद्या में निहित शक्ति जागरण की महानतम सम्भावनाओं को स्वीकार करना ही पड़ता है।

समाज में उनका प्रभाव और अनुयायियों की एक बड़ी संख्या होते हुये भी कबीर ने जुलाहे का-सा घर का पेशा अपन्नक। वे एक साधारण गृहस्थ की तरह जिये। लोई जो उनकी धर्मपत्नी काँ ने दो बच्चों को भी जन्म दिया। पारिवारिक क्लेशयित्वों के होने पर भी कबीर की मस्ती और सेवा सभ्यता में कोई अन्तर नहीं आया। समाज में व्यापक परिवर्तन के सूत्रधार बनकर भी— अर्हतिज्ञ इन प्रवृत्तियों

और गतिविधियों में सलग्न रहकर भी कबीर ने अन्य साधु संन्यासियों की तरह कभी भिक्षा या दान नहीं लिया। इस मार्ग के अन्य पथिकों को भी उन्होंने सदैव यही प्रेरणा दी—

साधु संघ न करे, उदर सपाता लेय ।
आगे पीछे हरि खड़े, जो माँगो सो देय ॥

और—

जो अस चाहे नाव में, घर में चाहे दास ।
दोनों हाथ उसीचिये, यही सज्जन को काम ।

इस आदर्श को लेकर जीने वाले व्यक्ति ही अपने जीवन में समाज सेवा के लिए, नवनिर्माण के लिए कुछ कर पाने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा जीवन स्रो-बच्चों के लिए विलास सुविधाएँ जुटाने में ही बीत जाता है। १२० वर्ष की आयु में सन्त कबीर का देहान्त सन् १५८० ई० में हुआ। अपने अन्तिम समय में वे मगहर चले गए थे क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि मगहर में मरने वाला व्यक्ति नर्क को जाता है। मरने के बाद भी अन्यविश्वास टूटे इसके लिए कबीर कितने यत्नशील थे।

कबीर की सिखावन

एक बार एक गृहस्थ कबीरदास के पास सत्संग के लिये गया। वह व्यक्ति अपने दाम्पत्य जीवन से असंतुष्ट था। स्वागत शिष्टाचार के बाद गृहस्थ ने पूछा— भगवन् ! सुखी दाम्पत्य जीवन का रहस्य क्या है ?

कबीर उस व्यक्ति की निराश मुख-मुद्रा देख कर समझ गये कि उसकी धर्मपत्नी से पटती नहीं। कबीर यह कह कर कि— “अभी समझता हूँ” घर के भीतर चले गये।

कोड़ी देर में घर से सूत लेकर लौटे और उस व्यक्ति के सामने बैठकर उसे सुलझाने लगे। दो मिनट बाद अपनी पत्नी को आवाज लगाकर कहा वहाँ बड़ा अंधेरा है सूत नहीं सुलझता, दीपक तो रख जाओ। उनकी पत्नी दीपक जलाकर लाई और पुपचाप रखकर चली गई।

उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ कि क्या कबीर जी अंधे हो गये हैं जो सूरज के प्रकाश में भी उन्हें अंधेरा लगता है। इनकी पत्नी भी कैसी है जो बिना प्रतिवाद किये दीपक जलाकर रख गई। इसी बीच उनकी भी दो गिलासों में दूध लेकर आई, एक उस आदमी के सम्पने रख दिया दूसरा कबीर को दे दिया। दोनों दूध पीने लगे। कोड़ी देर में स्त्री फिर आई और कबीर से पूछने लगी दूध में मीठा तो कम नहीं है। कबीर बोले नहीं, बहुत मीठा है, इसके बाद वे उसी भाव से दूध पी गये। वह आदमी फिर हैरान हुआ कि उसमें मीठा तो था भी नहीं गलती से चीनी की जगह नमक डाल दिया गया था।

आदमी बहुत झुलसाया, बोला— महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सकें तो चलो ? कबीर बोले चाई समझा तो दिया और क्या सुनना चाहते हो ? विस्तर से सुनना चाहते हो, तो ? देखो परिवार के लिये आवश्यक है कि सदस्यों को अपने अनुकूल बनाओ और स्वयं भी

परिवार के अनुकूल बनीं। पत्नी और सन्तति को सुशील और आज्ञाकारी बना सके और स्वयं भी जीवन में हर जगह स्नेह और क्षमता का दान दे सकें, तभी गृहस्थ जीवन सफल हो सकता है। वह व्यक्ति सारी बात समझ गया और खुशी-खुशी घर लौट आया।

दृष्टिकोण की भिन्नता

कबीर सिद्ध पुरुष की तरह प्रख्यात हो गये। दूर-दूर से जिज्ञासु लोग आते। तब भी वे पहले की तरह ही कपड़ा बनाते रहते और साथ-साथ सन्तसंग चलाते।

शिष्यों में से एक ने पूछा— “आप जब सन्धारण से तब कपड़ा बुनना बंद कर दें, पर अब जब कि सिद्ध पुरुष हो गये और निर्वह में कभी नहीं रहती तो आप कपड़ा क्यों बुनते हैं।”

कबीर ने सरल भाव से कहा— “पहले मैं पैर पालने के लिए बुनता था। पर अब मैं जन्म-सम्राज में समाये हुए भगवान् का मन ठकने और अपना मनोयोग साधने के लिए बुनता हूँ।”

कार्य वही रहने पर भी दृष्टिकोण की भिन्नता से उत्पन्न होने वाले अन्तर को समझने से शिष्य का समाधान हो गया।

विश्वास की प्रगाढ़ता—दाम्पत्य जीवन की आधारशिला

कबीर अपने दरवाजे पर बैठे ग्रामवासियों को उपदेश दे रहे थे। तभी एक युवक ने पूछा— महाराज! वह तो बताइये कि विवाह करना ठीक होता है या नहीं? कबीर एक क्षण चुप रहे फिर अपनी पत्नी को आवाज देकर बुलाया और कहा— देख! यहाँ बड़ा अन्धकार फैला है दीपक तो जला कर ले आ। धर्म-पत्नी घर गई और दीपक जलाकर ले आई। युवक हँस कर बोला— महाराज! आप तो विलक्षण हैं ही आधुनिक पत्नी भी खूब हैं। आप दिन को रात बताते हैं तो पत्नी ने दीपक लाकर आपकी बात का समर्थन भी कर दिया। क्या खूब नाटक रहा। कबीर हँसकर बोले— नाटक नहीं, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर। यदि युवक-युवती एक-दूसरे पर इतना प्रगाढ़ विश्वास रख सकें तो ही उन्हें विवाह करना चाहिए।

संन्यासी बनूँ या गृहस्थ

एक जिज्ञासु कबीर के पास पहुँचा, बोला— ‘दो बातें समझने हैं— संन्यासी बनूँ या गृहस्थ।’

कबीर ने कहा— ‘जो भी बनो आदर्श बनो।’

उदाहरण समझाने के लिए उन्होंने दो घटनाएँ प्रस्तुत कीं।

अपनी पत्नी को बुलाया। दोपहर का प्रकाश तो था, पर उन्होंने दीपक जला लाने के लिए कहा ताकि वे कमड़ा अच्छी तरह बुन सकें। पत्नी दीपक जला लायी और बिना कुछ बहस किये रखकर चली गई।

कबीर ने कहा— ‘गृहस्थ बनना हो तो परस्पर ऐसे विश्वास बनाना कि दूसरे की इच्छा ही अपनी इच्छा रहे।’

दूसरा उदाहरण सन्त का देना था। वे जिज्ञासु का लेकर एक टीले पर गये, जहाँ वयोवृद्ध महात्मा रहते थे। वे कबीर को जानते न थे। नगाब के उपरान्त उनसे पूछा ‘आपकी आयु कितनी है।’ बोले— ‘अस्सी बरस।’

इस-उमर की बातों के बाद कबीर ने कहा— ‘बाबा जी, आयु क्यों नहीं बताते?’ सन्त ने कहा था— ‘बेटे, अभी तो बताया था, अस्सी बरस। तुम भूल गये हो। टीले से आधी बढ़ाई उतर लेने पर कबीर ने सन्त को जोर से पुकारा और नीचे आने के लिए कहा। वे छॉफने-छॉफने चले गये। कारण पूछा, तो फिर वही प्रश्न किया— ‘आपकी आयु कितनी है?’ सन्त को तनिक भी क्रोध नहीं आया। वे उसे फूलने वाले की विस्मृति मात्र समझे और कहा— ‘अस्सी बरस है।’ हँसते हुए वापस लौट गये।

कबीर ने कहा— ‘सन्त बनना हो तो ऐसा मनना, जिसे क्रोध ही न आवे।’

शैतान का वश नहीं चलता

महर्षि कबीर अपने शिष्यों से कहा करते कि ‘रोज सबेरे शैतान आकर मुझसे प्रश्न करता है— ‘आज तू क्या खायेगा?’ मैं जवाब देता हूँ— ‘मिट्टी खाऊँगा।’ वह पूछता है— ‘क्या पहनेगा?’ मैं जवाब देता हूँ— ‘मुट्टे का कपड़ा।’ वह फिर पूछता है ‘रहेगा कहाँ!’ मैं जवाब देता हूँ— ‘रमरतान में।’

मेरे ये उत्तर सुनकर शैतान मुझे बड़ा अभागा बताकर चल देता है। क्योंकि मैं उन सभी चीजों से अनिच्छा प्रकट करता रहता हूँ कि जिनमें वह संसार के प्राणियों को फँसाकर मनुष्य से राक्षस बना देता है। इसी से उस का वश नहीं चलता।

पत्नी की सूझ-बूझ

एक पापी मनुष्य को एक बार अपने पापों के लिए पछतावा हुआ। उससे किसी ने कहा— ‘तू कबीर दास के पास जा। वे तेरे मन को शान्ति प्रदान करेंगे।’ वह मनुष्य जैसे रोगी अस्पताल में जा पहुँचा, उसी तरह कबीर के वहाँ गया। कबीर घर पर नहीं थे। इसलिए उनकी पत्नी ने दृढ़तापूर्वक तीन बार भगवान् का नाम लेने को कहा। पापी ने सच्चे भाव से वैसा ही किया। इससे उसका मन शान्त हो गया और वह नाचता-कूदता हुआ ईश्वर-स्मरण में मस्त हो गया। इसी समय कबीर घर आ गये। ऐसे प्रेमी मनुष्य को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। पत्नी ने उस भक्त का सब हाल बताया। कबीर ने खिन्न होकर अपनी पत्नी से कहा— ‘केवल एक बार प्रभु का नाम ले लेने से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। तब तुमने तीन बार हरिनाम लेने को क्यों कहा? इससे पालुप होता है कि तुमको ईश्वर पर विश्वास नहीं है।’ सी बोली— ‘तीन बार नाम लेने का आशय यह था कि जिससे उस पापी का कथिक, जादिक और मानसिक मेल दूर हो जाय।’ कबीर अपनी पत्नी की इस सूझ पर बहुत प्रसन्न हुए।

मन से दुर्भावनाएँ दूर न हुई तो फिर गंगा स्नान किस काम का ?

प्रातः का समय था। भक्त लोग स्नान कर रहे थे। कुछ ब्राह्मण भी गंगा स्नान करने आये। पानी काफी गहरा था। अतः घुसकर स्नान करने का साहस नहीं हो रहा था। पानी कोई नहीं था। एक किनारे पर सन्त कबीर स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा तो उनसे न रहा गया। उन्होंने अपना स्रोटा मोज़-धोकर एक व्यक्ति को दिया और कहा कि जाओ, ब्राह्मणों को दे आओ ताकि वे भी सुविधा से स्नान कर लें।

कबीर का स्रोटा देखकर ब्राह्मण चिल्ला उठे—“अरे, जुलाहे के स्रोटे को दूर रखो।” चाहो ! कबीर बोले—“इस लोटे को कई बार मोज़ और गंगा-जल से धोया फिर भी पवित्र न हुआ, तो यह मानव-शरीर जो दुर्भावनाओं से भरा है, गंगा जी में स्नान करने से कैसे पवित्र होगा ?”

कबीर के ये शब्द सुनकर ब्राह्मण बड़े लज्जित हुए और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

अन्तिम समय मगहर में

कबीर का अन्तिम समय आ पहुँचा। वे शिष्यों से बोले—“मेरी अन्तिम साँस मगहर में ली जाय। मुझे तुरन्त वहाँ ले चलो।” सभी हैरान कि मरते समय तो लोग काशी आते हैं पर यह मगहर आना चाहते हैं। कबीर बोले—मरकर यदि मैं स्वर्ग भी चला गया तो फिर काशी की ही महिमा गाँधी जाती रहेगी। मेरे छुट्ट के किये-धरे का तो फिर कोई मतलब नहीं है। लोगों के मन में बैठे भ्रान्तियों को निकालने के लिए मेरा मगहर में शरीर छोड़ना जरूरी है। लोग जानें कि कबीर ने ऐसी जगह शरीर त्यागा, जहाँ मरने पर अधोगति प्राप्त होती है किन्तु उसके कर्म इतने पवित्र थे कि परमपिता परमात्मा ने उसे सद्गति प्रदान की।

धर्मोद्धारक—राघवेन्द्र स्वामी

पुत्र के निर्माण में माता-पिता की भावनाएँ एक विशेष महत्त्व रखती हैं। माता-पिता की भावनाएँ ही सन्तान में संस्कार बनकर आत्मानुसार उसके आचरण की रचना करती हैं।

जिन अभिभावकों को राष्ट्र से प्रेम और सम्पन्न से स्नेह होता है, जो यह चाहते हैं कि उनका राष्ट्र संसार में मस्तक ऊँचा करके खड़ा हो, राष्ट्र का हर बेटा अपने में एक पूर्ण मनुष्य बने, वे देश को अच्छे नागरिक देने के अपने कर्तव्य को बड़ी जागरूकता से निभाते हुये सन्तान का निर्माण किया करते हैं।

देश को एक होनहार नागरिक प्रदान करना बहुत बड़ी सद्-सेवा है। यदि देश के सारे माता-पिता समाज को उपयुक्त नागरिक देने के अपने उत्तरदायित्व को समझने लगे तो कुछ अन्य प्रयत्न किये बिना शीघ्र ही देश व समाज का कल्याण हो जाये।

राघवेन्द्र स्वामी के पिता श्री तिमम्पण भट्ट एक ऐसे ही उत्तरदायी व्यक्ति थे। समान का वे जो कुछ बोझ बहुत हित कर सकते थे वह तो उन्होंने अपनी परिस्थितियों के अनुसार किया ही, साथ ही देश को एक महान् नागरिक देने के लिए कुछ कम प्रयत्न नहीं किया।

पुत्र की कामना सबको होती है। किन्तु उनकी यह कामना केवल अपने स्वार्थ तथा हर्ष के लिये ही होती है। ऐसे कितने बुद्धिमान होते हैं जो पुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि वे एक ऐसे मनुष्य एक ऐसे नागरिक का निर्माण कर देश को प्रदान करने के अपने राष्ट्रीय-कर्तव्य को पूरा कर सकें, जो कि युग-आवश्यकता को पूर्ण करने में अपना तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर कर दे। अपने स्वार्थ-साधन को न देख कर पुत्र को समाज सेवा के लिये प्रदान कर देना एक महान् तपोपूर्ण त्याग ही है।

तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महान्ता माधवाचार्य जी द्वारा भक्ति मार्ग का उद्धार करने के लिये जिस वैष्णव मत की स्थापना की गई थी वह लगभग तीन सौ वर्ष की यात्रा करके सोलहवीं शताब्दी में आकर लड़खड़ाने लगा। श्री माधवाचार्य का यह वैष्णव भक्ति मार्ग कोई साधारण उपसन्न प्रणाली मात्र ही नहीं था बल्कि यह उन मार्गलिक साधनों में से एक था जिसने यवन बादशाहों के अत्याचारपूर्ण प्रयत्नों द्वारा तीव्रता से बढ़ते हुये इस्लामी प्रभाव से शिक्षा-सूत्र की रक्षा की थी। यह मत एक धार्मिक बरोहर थी जिसे हिन्दुत्व में फिर जीवन फुँकने के लिये सुरक्षित रखना आवश्यक था।

भक्ति प्राण तिमम्पण भट्ट ने वैष्णव मत की जीर्णोद्धार को पहचान लिया और उनकी आत्मा उसकी रक्षा के लिये छटपटा उठी। किन्तु वे आयु, पारिवारिक परिस्थिति, योग्यता एवं समय की कमी के कारण इच्छा रखते हुये भी उतना कुछ नहीं कर पाते थे जितना कि सम्प्रदाय की रक्षा के लिये करना आवश्यक था।

श्री तिमम्पण भट्ट के कोई पुत्र नहीं था और न उन्हें पुत्र की कोई कामना ही थी। वे निरन्तर भगवान्-भजन में लीन रहने से निस्पृह, निष्काम तथा एषणाओं से रहित हो चुके थे। किन्तु, जिस भक्ति का फल वे अन्तःकामन्द के रूप में भोगते हुये संसार के दुःख-दुन्दों से दूर हो चुके थे उसी सर्व सुख-सम्पन्न वैष्णव भक्ति का तिरोधान होते देख कर विचलित हो उठे और एक ऐसे पुत्र की कामना करने लगे जो समाज के कल्याण और उनकी आत्म-शान्ति के लिये उक्त भक्ति मार्ग को पुनर्जीवित कर सके।

निष्काम भक्त ने पुत्र की कामना से आराधना प्रारम्भ की और अपनी परमार्थपूर्ण इच्छा की प्रबलता से अपने विश्वासानुसार भगवान् वेङ्कटेश से इस वरदान के साथ पुत्र रत्न प्राप्त कर ही लिया—कि उनका पुत्र संसार के विषय-कामनाओं से विरक्त रहकर अपने कर्तृत्वा द्वारा देश और धर्म का उद्धार करे।

अपनी संपन्न माला कामनाओं के साथ मन मार्ग द्वारा अपने पुत्र में संगठित होकर श्री तिमम्पण भट्ट इस प्रसन्नता के साथ शीघ्र ही अन्तर्हीन हो गये कि यदि भगवान् वेङ्कटेश की इच्छा धर्मोद्धार की न होती तो वे मुझे इस उत्तरती आयु में माँगने पर पुत्र रत्न प्रदान न करते।

भगवान् वेंकटेश के नाम पर अधिष्ठातृ पितृहोम वेंकटनाथ के लालन-पालन का भार उनकी विधवा माता पर आ पड़ा। पति को पुत्र रूप में पाकर गोपा देवी ने अपने कैथव्य पर रोते रहना अवोग्य समझकर पति की भावनाओं को पुत्र में निष्ठापूर्ण कर्तव्य के रूप में रच देना ही पतिव्रत के अनुरूप समझा।

भक्त के पास विभूति का क्या काम ? वेंकटनाथ के पिता ने अपने पीछे कोई सम्पत्ति तो छोड़ी न थी, अतएव उनकी माता ने अपने परिश्रम के बल पर जीविका की व्यवस्था करके सततपूर्वक पुत्र का पालन प्रारम्भ कर दिया। उनके पुत्र पालन का कार्य वा अवस्थानुसार विविध उपायों द्वारा पुत्र के मनोविकास के साथ उसमें पति की भावनाओं की स्थापना करना। यद्यपि वे कुछ पढ़े-लिखी न थीं तथापि पुत्र वर्णमाला की आयु में पहुँचा तो वे उसके हृदय में विद्या की अम्वार-शिला रखने की योग्यता प्राप्त करा चुकी थीं।

प्रारम्भिक शिक्षा देकर गोपा देवी ने अपने मोह को दबाकर पुत्र को उच्च शिक्षा के लिए अपने विद्वान् दामाद पं. लक्ष्मी नरसिंहचार्य के पास भेज दिया। किसी महान् मन्तव्य के लिए सुरक्षित की हुई पति की धरोहर को अन्तःसन्तोष के लिए अपने तक सीमित रखने का अधिकार गोपा देवी को नहीं था। इस बात को वे अच्छी तरह जानती थीं और इसीलिए अपने धैर्य की चिन्ता छोड़कर उन्होंने पुत्र को उसी मार्ग पर अग्रसर किया जिस पर चलकर वह अपने स्वीकृत पिता की इच्छा पूर्ण करके कुल को उज्ज्वल करे। गोपा देवी अच्छी तरह जानती थीं कि उन्होंने पुत्र में जिन संस्कारों का जागरण किया है और जिस मार्ग पर उसे अग्रसर किया है उससे वापस आकर वह उन्हें पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु देश-धर्म की धरोहर उसे सौंपकर उन्होंने सन्तोष ही पाया।

माता द्वारा निर्मित मनोभूमि की उर्वरता, यस्तिष्ठ की प्रखरता तथा पिता की इच्छा के प्रतिनिधित्व भाव ने मिल कर वेंकटनाथ में एक ऐसी लगन उत्पन्न कर दी जिससे वह आगामी कर्तव्यों के योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थि में आमूल निमग्न हो गया। शीघ्र ही उसने धर्म के सारे अंगों-उपांगों के सब साहित्य, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि में निपुणता प्राप्त कर ली।

विद्या विदग्ध होने के साथ-साथ तरुण होकर आए, अपने पुत्र को देखकर गोपा देवी के हृदय में हर्ष के साथ मोह की भी पुनरुत्पत्ति हो उठी और वे कम से कम पुत्र को विद्या बन्धन में बाँधकर उसको सपत्नीक देखने की अपनी इच्छा को न रोक सकीं। कोई इच्छा अथवा आवश्यकता न होने पर भी ज्ञान-गरिमा के पुष्प-प्रभाव से बीतराग हुए वेंकटनाथ ने माता की प्रथमान्त इच्छा को पूर्ण करना अपना धर्म-कर्तव्य ही समझा।

अपनी सहधर्मिणी के रूप में विद्वान् वेंकटनाथ ने जिस सरस्वती नामक कन्या का चुनाव किया वह देखने में सुन्दर तो नहीं थी किन्तु विद्या बुद्धि और पति-प्रयणत्ता में हजार सुन्दरियों से बढ़कर थी। वेंकटनाथ के इस चुनाव की जब लोग चर्चा करते तो वे एक ही उत्तर देते थे कि मुझे अपने चुनाव चातुर्य पर न केवल सन्तोष ही है अपितु

गर्व भी है। जो व्यक्ति नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देते हैं वे अधिक बुद्धिमान नहीं कह जा सकते। नारी का वास्तविक सौन्दर्य तो उसके गुण हैं, बाह्य सौन्दर्य अचिर-जीवी विभ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

ध्येय-धर्म की तैयारी करके और माता को तोष देकर श्री वेंकटनाथ अपने कर्तव्य मार्ग पर चल पड़े। इसके पहले कि वे जनत में धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करते उन्होंने अपने गुरु श्री सुधीन्द्रतीर्थ जी का आशीर्वाद ले लेना आवश्यक समझा। गुरु ने वेंकटनाथ का उद्देश्य सुनकर तथा उस पर गहराई से विचार करके उन्हें अपने पास ठेक लिया और शास्त्रों की पुनरावृत्ति का परामर्श दिया। यद्यपि वेंकटनाथ को अपने शास्त्रीय ज्ञान में कोई सन्देह न था तथापि वे गुरु की आज्ञा में किसी महान् मंगल का समावेश समझकर रुक गये और शास्त्रों के पुनर्मन्थन के साथ गुरु की सेवा में तल्लीन हो गये।

गुरु आश्रम में रहकर उन्होंने न केवल अपने ज्ञान को ही परिपुष्ट किया अपितु बलवत्-विकास के लिये अनेक शिष्यों को भी पढ़ाया, विद्या और धापी पर समान रूप से अधिकार पाकर वेंकटनाथ ने गुरु से पुनः धर्माभियान की अनुमति माँगी। गुरु ने आश्चर्य होकर न केवल अनुमति ही दी अपितु अपने विश्वस्त शिष्य को स्वयं साथ लेकर पुण्य-पर्यटन पर चल पड़े।

सबसे पहले वेंकटनाथ अपने गुरु के साथ धर्म-जिज्ञासुओं के सम्मेलन तथा व्यावसायिक धर्म-प्रचारकों के केन्द्र स्थल तीर्थों पर अन्धविश्वास तथा धातियों को दूर करने के लिये गये। यद्यपि तीर्थों पर उन्हें बन्धकों के विकट विरोध का सामना करना पड़ा तथापि उन्होंने अपने साहस, स्वतन्त्रविश्वास तथा विश्वास के बल पर पुण्य स्थलों को पायावियों से मुक्त कर दिया। उन्होंने वर्णानुवर्ष सब्जे वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करके भजन-कीर्तन तथा पूजापाठ के रूप में अपना सत्य सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचा दिया। उनकी छयाति से उत्तेजित होकर अनेक धर्माधिकारियों तथा सम्प्रदायवादियों ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये सतकारा। चुनौती स्वीकार करके उन्होंने सबको शास्त्रार्थ किये और अपने अमोघ वक्तापणा द्वारा विरोधियों के न केवल मुँह ही बन्द कर दिये बल्कि उन्हें वैष्णव मत का प्रचारक बना दिया।

श्री वेंकटनाथ की अविश्वसनीय निष्ठा, अनवरत प्रयत्न एवं अग्रिम प्रतिभा ने तात्कालिक धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी जिसकी हलचल ने भक्तिपूर्ण विश्वसों को भागने पर विवश कर दिया। ध्येय के प्रति अर्पितत्वा वेंकटनाथ की धाक सारे देश में बैठ गई और वे वैष्णव मत के पुनरुद्धारक के रूप में पूजे जाने लगे।

धार्मिक क्षेत्र में वांछित परिवर्तन लाकर श्री वेंकटनाथ ने संन्यास ले लिया और कृष्णकृत्यता के सन्तोष के साथ राघवेन्द्र स्वाधी के नाम से गुरु आश्रम में रहकर शान्तिपूर्वक लोक-शिक्षण की व्यवस्था करने लगे।

सेवा धर्म अपना कर आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचे हुये श्री राघवेन्द्र स्वाधी ने लोक-शिक्षा के लिये अन्तिम दिन तक आश्रम के नियमों का निर्वाह किया। वे नित्य ब्रह्ममूर्त में उठते, कपड़ेरी में स्नान करके गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों का प्रवचन करते। शिष्यों को पढ़ाते तथा कीर्तन-भजन के लिये पद्यों की रचना करते।

२.६० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

वैष्णव मत की रक्षा करके और अनेक भविष्य-स्थलों का निर्माण करने के बाद श्री राघवेन्द्र स्वामी ने सस्कार में आगे अपने आवश्यकता न समझकर तुंगभद्रा के तट पर मंचाली ग्राम में वृन्दावन नामक स्वरचित समाधि-संधि के नीचे निर्धारित समय पर, भजन करते हुये ब्रह्म समाधि प्राप्त की। उनके शिष्यों ने गुरु के आदेशानुसार बाह्य सौ शालिग्रामों से उन्हें तक दिया और समाधि-संधि बन्द करके पत्थर पर—“बदा-बदा हि धर्मस्य गतानिर्धयति धाम्ना” का मंगल-वाक्य अंकित कर दिया। स्वामी जी धर्म की स्थापना के लिये अवतरित हुये थे, उस कर्तव्य का अन्तिम स्वास चलने तक वे पूरा करते रहे।

धार्मिक क्रान्ति के स्वप्नदृष्टा— स्वामी विरजानन्द

स्वामी दयानन्द—जब मूलशंकर सत्य की खोज के लिए अपनी साधना में किसी योग्य षष्-प्रदर्शक को सहायक और सूत्र-धार बनाने के लिए घन-तन्त्र घूम रहे थे। बरसों हो गये इस खोज में घूमते हुए परन्तु बात बननी न दिखाई दी। घर-परिवार का व्यग्रोद चक्र भी बड़ी मुश्किल से तोड़ पाये थे कि यह एक और समस्या सामने आ गयी। अध्यात्म क्षेत्र में घनप रह पाण्डित्य और डोंग इतनी चालाकी से छड़ा किया जाता था कि उसकी असंख्यत का पता ही नहीं चल पाता। मूलशंकर कई ऐसे साधु-महात्माओं के सान्निध्य में महोत्सव तक रहे परन्तु यही पाया कि जितनी कृपाति उनकी सुनने में आती थी अन्दर से उठने ही थे उथले और स्तरहीन होते। असंख्यत का पता चलते ही वे उन्हें छोड़कर अपनी खोज पुनः शुरू करते।

यह खोज पूरी हुई मधुरा में। पुण्य सलिला यमुना के तट पर इस नवजिज्ञासु ने एक कुटिया का दाम खटखटाया। अन्दर से पूछा गया—कौन तो जिज्ञासु सधक ने कहा—मैं दयानन्द। कुटिया में निवास करने वाले सन्त अपने आपको दयानन्द कहने वाले इस मुक्क से अपरिचित ही थे सो पुनः पूछा—“क्या चाहते हो।” “मैं शिष्य बनना चाहता हूँ।” और इतना कहने के बाद इस कुटिया के द्वार खुले। एक कृपाकाय, नेत्रहीन किन्तु आत्म साधन तप, तन से उद्विग्न मुख मण्डल के दर्शन हुए। शरीर पर बसों के नाम पर एक लंगोटी थी और तन देह की कृपता इस तरह की थी कि एक-एक हड्डी गिनी जा सके। दयानन्द को उनके मुखमण्डल पर समकक्ष तेज देखकर लगा कि अब खोज पूरी हो गयी है। अब उन्हें कहीं अन्यत्र न भटकना पड़ेगा। प्रथम दर्शन में ही स्वतः गतस्तक होकर दयानन्द ने प्रणाम किया और ऋषि ओष्ठ बुदबुदाये “आयुष्मान भव।”

कृपाकाय, नेत्रहीन किन्तु प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न वह ऋषि थे स्वामी विरजानन्द। जिनके प्रथम दर्शन से ही स्वामी दयानन्द का स्थिति अनुमान सत्य निकला और सचमुच उन्हें विरजानन्द जी को छोड़कर कहीं और न जाना पड़ा। स्वामी विरजानन्द जी तब मधुरा में—उसी कुटिया में रहते हुए एक संस्कृत पाठशाला चलाते थे। इस पाठशाला का उद्देश्य था वैदिक धर्म के सम्बन्ध में अनधिकार चेला से हस्तक्षेप

करने वाले पुरोधा और पण्डितों द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तियों का उन्मूलन तथा उनके स्थान पर छात्र को संस्कृत भाषा का ज्ञान करा कर स्वयं वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सक्षम बनाना।

ईश्वर आराधना और आत्म साधना के बाद स्वामी विरजानन्द जी का कही एकमात्र मिशन था। प्रकाण्ड विद्वत्ता और प्रचण्ड तपश्चर्या से उद्भूत आत्मबल इस मिशन को पूरा करने में सक्षम तो था परन्तु शारीरिक स्थिति इस मिशन को पूरा करने में बाधक थी। सो विरजानन्द जी किसी ऐसे शिष्य की प्रतीक्षा में थे जो सत्पात्र हो और जिसे वे अपनी इन सभी विभूतियों से आलोकित कर इस मिशन को पूरा कर सकें। स्वामी दयानन्द के रूप में उनकी यह साध पूरी हुई और लगा कि जिस सत्पात्र को उन्हें तलाश था वह घर बैठे ही आ गया है। गुरु की अनुकम्प प्राप्त करने के लिए तीन गुण आवश्यक हैं—जिज्ञासा, निष्ठा और सेवा। स्वामी दयानन्द में ये तीनों गुण फूट-फूट कर भरे हुए थे। जिज्ञासा-ज्ञान पिपासा के प्रति उनकी निष्ठा इस प्रकार विकसित थी कि जब गुरु ने कहा—सब अनार्थ ग्रन्थों को फेंक दो और अपने ज्ञान को भूल जाओ। यद्यपि यह एक कठिन कार्य था। मन को सहज ही इस दृष्टि से तैयार नहीं किया जा सकता परन्तु दयानन्द जी ने अपने गुरुभक्ति के बल पर यह कर दिखाया। पत्रत्व की अन्य कसौटियों पर भी जब दयानन्द एक के बाद एक कर खरे उतरते गये तो विरजानन्द जी ने अपनी समस्त ज्ञान सम्पदा और आत्मिक विभूतियों को उन पर न्योछावर कर दिया।

सन् १८६० से ६३ तक—तीन वर्ष में दयानन्दजी ने गुरु सान्निध्य में रहकर शास्त्राध्ययन और साधन मार्ग का प्रशिक्षण प्राप्त किया और जब गुरुगृह से संन्यसनाश्रम की दीक्षा लेकर विदा होने लगे तो अपने शिष्य से दीक्षा माँगी—दयानन्द मुझे दक्षिणा में क्या दोगे

“गुरुवर ! वही तो मैं भी सोच रहा हूँ।”

“तेरे पास क्या है रे जो माँगू।”—गुरु ने कहा।

“बहुत कुछ है। जो भी चाहे माँग लो। आज तो इन्कार न करूँगा।”

“तो ठीक है अपना सारा जीवन ही मुझे दे डाल। मन में बड़ी स्थिति है कि वैदिक धर्म के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों दूर करके उस कार्य को तू ही पूरा करना।”

बिना कोई सोच-विचार किये दयानन्द जी ने कह दिया जो आज्ञा पूज्यवर और ऋषि ने अपने शिष्य को भी छाती से लगा लिया। इस अनूठे आत्मदान के सा- ही गुरु के अजस्र अनुदान भी प्रवाहित हो उठे और आत्मदान का सकल्य पूरा करने के लिए दयानन्द निकल पड़े।

इस गुरुदक्षिणा को स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार चुकया यह सर्वविदित है। स्वामी दयानन्द के कार्य और वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान अभिमान की उपलब्धियाँ ऐतिहासिक हैं। उन ऐतिहासिक उपलब्धियों के पीछे करण और शक्तिरूप से स्वामी विरजानन्द जी का व्यक्तित्व ही विद्यमान है। अन्यथा स्वयं के बलबूते पर इतना कार्य नहीं हो सक्त होता। स्वामी विरजानन्द के व्यक्तित्व की जिस प्रखरता का बहो संकेत किया जा रहा है वह भी आत्म साधना, धर्म

निष्ठ और अध्यात्म दर्शन की अमूल्य मिसाल है। कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने जो बीज बोए किये वे ही अपनी विशालकाय सम्भावनाओं के रूप में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर ऐतिहासिक बन गये। यह बात और है कि श्रेय की दृष्टि से उन्होंने अपने शिष्य को आगे कर दिया।

स्वामी विरजानन्द को सामान्यतः लोग दण्डी स्वामी के नाम से सम्बोधित करते थे। उनकी जन्म सन् १७७८ ई० में पंजाब के गगापुर गाँव में हुआ था। यह गाँव कर्तारपुर के समीप बुई नदी के तट पर स्थित है। घर परिवार की आर्थिक स्थिति औसत स्तर की थी। जब उनकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी तभी उन्हें शीतला का रोग हुआ और उसी रोग के कारण उनकी आँखें जाली रह गईं। वे अपने चर्म चक्षुओं से केवल पाँच वर्ष की अवधि आयु तक ही यह संसार देख सके और उनकी शेष आयु में अन्धेरा हो गया। लेकिन उन्होंने तपश्चर्या, पुरुषार्थ, अध्यात्म और जीवन साधना के कण्टककीर्ण मार्ग पर चलकर अपने उन्मीलित प्रज्ञा चक्षुओं को खोल लिए और उसके बल पर इतना कुछ देखा व परखा जिन्हें देखने में हजार आँखें भी अक्षम हैं।

देवी प्रकोप उनसे आँखें खोलकर सन्तुष्ट न रह गया। इसके तीन चार वर्ष बाद ही उनके माता-पिता भी स्वर्गवासी हो गये। जब तक माता-पिता थे—अपने अन्धे ही सही किन्तु बेरा तो है और उसी के प्रति दायित्वों को ध्यान में रखने के कारण उनके संरक्षण में शिक्षण की व्यवस्था चली। वह व्यवस्था भी अब नष्ट हो गयी और विरजानन्द अनाथ। बड़े भाई ने लोक लाज से अपने अनुज को धांध में रखा। लेकिन लोक-लाज ही भाई के प्रति कर्तव्य अच्छे तरह निभाने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती। दुनिया की गंगा में विरजानन्द का पालन-पोषण उनके भाई-भयज कर रहे थे परन्तु उनकी नासमझी और दुर्व्यवहार के कारण विरजानन्द जी को कितना कष्ट तथा दुःख सहना पड़ा—यह कहा नहीं जा सकता। आरम्भ में तो ९-१० वर्ष का यह अर्बोध और संसार के ऊँच-नीच से अज्ञात बालक सब-कुछ सहता रहा। परन्तु जैसे-जैसे सपका बढ़ती गयी—स्थिति असह्य लगने लगी और अन्त में १४ वर्ष की आयु में घर छोड़कर भाग निकले।

परिवार के बालावरण और माता-पिता से विरासत में मिली थी—ईश्वरनिष्ठा। मन में यह आस्था सुदृढ़ हो चली थी कि ईश्वर ही सबसे अच्छा और सबसे ऊँचा साथी है सो उसी सबसे अच्छे और सबसे सच्चे साथी से मिलने की धुन सवार हुई। गंगा और तीर्थ स्थानों पर बड़ी श्रद्धा थी सो मार्ग के कष्टों और कठिनाइयों को सहते हुए वे ऋषिकेश जा पहुँचे। गंगाजल में घण्टों तक आकण्ठ खड़े रहकर उन्होंने गायत्री का जाप किया और अपनी अन्तश्चेतना को तपश्चर्या की शान पर निखारा।

इसके बाद वे कनखल पहुँचे और वहाँ स्वामी पूर्णानन्द जी से सन्यास आश्रम की दीक्षा लेकर काशी आ गये। इन दिनों उनके अनुभव में यह भली भाँति आ गया था कि धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में असफल जो धारणाएँ प्रचलित हैं उनसे सत्य की अपेक्षा घम ही उपलब्ध हो सकता है। इस अनर्घपूर्ण विडम्बना को उलटने के लिए

आवश्यक है कि लोगों को धर्म और अध्यात्म का सच्चा अर्थ समझाया जाय। धर्म और अध्यात्म के शास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए वे काशी आकर रहने लगे और वहाँ संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् प्रसिद्ध विद्याधर से संस्कृत सीखी। अल्प समय में ही उन्होंने संस्कृत का इतना ज्ञान अर्जित कर लिया कि शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ-साथ वे बालकों को संस्कृत भी पढ़ाने लगे। अध्ययन और अध्यापन से बचा हुआ समय वे सत्संग और वेदान्त चर्चा में लगाते।

काशी के बालावरण से वे जल्दी ही ऊब गये। चूँकि उनकी क्रिया पद्धति सही अर्थों में क्रान्तिकारी थी इसलिए गठायी और महन्तों का अवरोधक बनना भी स्वाभाविक था। इसी कारण और सन्यास आश्रम की मर्यादों के प्रति निष्ठ से प्रेरित होकर वे कलकत्ता और गया पहुँच कर सौरों में आ गये और फिर गाढ़िया घाट। गाढ़िया घाट में भी गंगा के जल में उनकी ऋषिकेश वाली पद्धति पर गायत्री जप साधना चली। साथ ही वे कुछ स्तोत्रों का भी पाठ करते। परन्तु वे स्तोत्र होते थे उनके स्वचित।

अलवर नरेश द्वारा स्वतः और स्वयं सम्पर्क साधने व अलवर चतने का सघन आग्रह करने पर दण्डी स्वामी अलवर चले गये। वहाँ पर अलवर नरेश और उनकी पत्नी को संस्कृत पढ़ाने लगे। आतिथ्य सभ्य में वे अन्य विद्यार्थियों को भी संस्कृत पढ़ाने लगे। उन्हा के शिक्षक होने के नाते राजगुरु होने पर भी वे एक साधारण सी कुटिया में रहते थे। वहीं रहकर उन्होंने संस्कृत व्याकरण पर शब्द बाध नामक एक पुस्तक लिखी। लेकिन अलवर में भी वे स्थायी रूप से न रहे वहाँ से चलकर सौरों, पुरस्नान, भरतपुर आदि स्थानों पर रहते पढ़ा आ गये और यमुना तट पर एक कुटिया में रहने लगे। इसी कुटिया में स्वामी जी ने संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। अब यहाँ पर उनकी स्मृति में विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन स्थित है।

दण्डी स्वामी आत्मकल्याण की तपसाधना के साथ लोकमंगल और जन-कल्याण के लिये धर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए भी शेष जीवन भर वहीं रहते हुए प्रयत्न करते रहे। उस समय वेद और दर्शनशास्त्रों की अपेक्षा मध्यमाल में रहे गये—अपने-अपने सम्प्रदायों और मतों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न ग्रन्थों का ही अधिक प्रचलन था। इन ग्रन्थों में न केवल वैदिक आदर्शों की उपेक्षा तथा अवहेलना की गयी है बल्कि उनके स्थान पर अनैतिक और अनार्थ मान्यताओं का भी बड़ा समर्थन किया गया है। परिणामस्वरूप वे अर्च्यता मुपुष्प की आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर करने के स्थान पर उन्हें नैतिक दृष्टि से पतित बनाने में ही अधिक सहायक होते हैं।

इस विडम्बना के उन्मूलन हेतु वह आवश्यक था कि वैदिक ग्रन्थों की पुनर्प्रतिष्ठा की जाय। अतः स्वामी जी ने अपने शिष्यों को अनेक अनार्थ ग्रन्थों का परित्याग कर आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन पर ही अधिक जोर दिया। उनके सम्पर्क और प्रभाव से भारत के कई प्रसिद्ध विद्वान् आर्ष ग्रन्थों के परम भक्त बन गये। दण्डी स्वामी जी शास्त्र ज्ञान के अगाध सागर थे। यद्यपि उनकी पाठशाला में कई स्थानीय और बाहरी छात्र अध्ययन करते थे परन्तु उनकी आकांक्षा थी कि कोई ऐसा

२६२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

शिष्य मिले जो उनके सिद्धान्तों का प्रचार कर ससार में विशेषकर भारत में एक नयी विचार क्रान्ति करने में सफल हो ।

उनकी यह आकांक्षा स्वाधीन दयानन्द के रूप में पूरी हुई । पराधीनता का कलक भी प्रज्ञा-चक्षु दण्डी स्वाधीन से अछूता अनदेखा न रहा था । उन्होंने स्वतन्त्रता के बारे में विचार-विमर्श करने हेतु एक सर्वजाति सभा भी आयोजित की थी जिसमें प्रभावशाली निर्णय लिया तथा धर्म और समाज के क्षेत्र में नई क्रान्ति के पृष्ठभूमि निर्माता स्वामी विराजयन्द जी अपनी विधूतियों से देश और समाज को लाभान्वित करने हुए १० वर्ष जीवित रहे । सन् १८६८ में उनका देहान्त हो गया ।

धर्म समन्वयकर्ता— सन्त मलूकदास

समय-समय पर सन्तजनों ने अपनी साधना, आचरण, व्यवहार व भाषा से भारतीय जनमानस को अनुप्राणित किया है । उसके प्रभाव को आज भी भारतीय जनता में देखा जा सकता है । सन्त मलूकदास भी इसी कोटि के सन्त थे । उनका यह दोहा—

अज्ञगर करे न चाकरी, पंछी करे न काय ।
दास मलूका कह गये, सबके दास राय ॥

अपने आप में बहुत गूढ़ार्थ लिए हुए है, पर उसके पीछे छिपी आस्तिकता और ईश्वर विश्वास की प्रामाणिकता के स्थान पर लोग मनचाहे ढंग से उसका वह अर्थ लगाते हैं कि हमें भी अकर्षणता को स्वीकार लेना चाहिए । इसमें दोष मलूकदास का नहीं उन लोगों का ही है जो उसका गलत अर्थ लगाते हैं । जो कुछ भी हो इस दोहे के माध्यम से मलूकदास की स्मृति सदियों बाद भी बनी हुई है, पर इसके गूढ़ार्थ पर न जाकर उसके छिछले और विकृत अर्थ के सहारे हम सन्त मलूकदास की जो तस्वीर अपने मस्तिष्क में बना सकते हैं, वे वास्तव में उससे भिन्न थे । उनका जीवन, उनके विचार और उनके दृष्टिकोण बड़े ही उच्च थे । वे भूढ़ परम्पराओं के अन्वयक न होकर बड़े प्रगतिशील और क्रान्तिकारी थे ।

मलूकदास पर जो साहित्यिक शोध हुई है, उससे उनके सम्बन्ध में उनके साहित्य और विचारधारा के सम्बन्ध में, जो तथ्य प्रकाश में आये हैं वे बहुत प्रेरक हैं । सन्त मलूकदास की गणना इस नवीन शोध के आधार पर कबीर, रैदास और टाडू जैसे सन्त कवियों के साथ की जा सकती है

सन्त मलूकदास सन्त तुलसीदास के समकालीन थे । उनका जन्म उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष में तुलसी ने रामचरितमानस की रचना करती आरम्भ की थी । सम्वत् १६३१ में इल्हाबाद से ३८ मील दूर कड़ा नामक स्थान पर सन्त मलूकदास का जन्म हुआ था । अधिकांश हिन्दी सन्त कवियों के जन्म, शैशव और जीवन सम्बन्धी अन्य जानकारियाँ कहीं उल्लिखित नहीं होने के कारण जिस प्रकार विस्मृति के गर्भ में चली गई है वैसे ही सन्त मलूकदास के साथ भी

हुआ । उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के बारे में उनके साहित्य से ही थोड़ी-सी जानकारी मिल पाई है ।

जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं होने से मलूकदास जी की महत्ता कम नहीं हो जाती । हिन्दी काव्य साहित्य, आध्यात्मिक साधना और लोकमानस के परिष्कारार्थ समुचित मार्ग दर्शन विषयक उनकी देन भारतीय साहित्य, संस्कृति व इतिहास की अमूल्य निधि है ।

उनकी संयम, साधना और लोकहित में निरत जीवन यात्रा १०८ वर्ष लम्बी रही । उनके जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर चार मुगल बादशाह—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब बैठे । अकबर के बाद मुगल बादशाहों की हिन्दू विरोधी नीति और भारतीय जनमानस में तज्जनिनित निराशा, असहिष्णुता और धार्मिक विद्वेष पैदा हो गया था उसे मिटाने के लिए सन्त मलूकदास ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयास किया । सभ्यता द्वारा फैलाये गये धार्मिक विद्वेष के इस गरल से समाज शरीर को रोगमन्त्रित होने से बचाने के लिए उन्होंने एक कुशल वैद्य की भूमिका सम्पादित की थी ।

अकबर के बाद मुगल बादशाहों की नीति हिन्दुओं के प्रति कठोर होती गई और औरंगजेब के समय में तो इस कठोरता की पराकाष्ठा ही हो गई । इन शासकों के धार्मिक अत्याचारों के कारण हिन्दू समाज अत्यन्त पीड़ित हुआ । अनेक धार्मिक आह्वानों और बहुदेववादी धार्मिक व्यवस्था के कारण एक तो हिन्दुओं का धार्मिक जीवन पहले ही अस्त-व्यस्त था, उस पर मुगल शासकों की धार्मिक संकीर्णतापूर्ण मुस्लिमपरस्त नीति के कारण वह और भी छिन्न-भिन्न हो गया । परम्पर धार्मिक भेदभाव के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच विरोध उम्र होता चला गया ।

ऐसे विषम समय में सन्त मलूकदास ने न केवल हिन्दू-मुसलमानों के बीच सहिष्णुता उपजाने का कर्ष किया वरन् उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप का भी ज्ञान कराया । उन्होंने दोनों मतावलम्बियों को इस सत्य से परिचित कराया कि ईश्वर एक है । ईश्वर एक है तो उसके बेटों का धर्म के नाम पर लड़ना कहीं तक उचित है ? हिन्दू जिसे भगवान् कहते हैं, उसे ही मुसलमान खुदाबन्द-करीम की संज्ञा देते हैं । यह तो मात्र नाम का भेद हुआ । इससे ईश्वर दो नहीं हो जाते । वही एक ईश्वर इस जगत् का सृष्टा, पालक और नियन्त्रक है । उसके नाम पर कोई मस्जिद खड़ी करता है कोई मन्दिर, किन्तु ईश्वर इन्हीं में तो निवास नहीं करता । वह तो सर्वव्यापक है । वे कहते थे—

दास मलूका कहा परयो नुम, राय रहीम कहावत एके ।

इस प्रकार के अपने उपदेशों के माध्यम से इस महान् सन्त ने धार्मिक समन्वय की नीति का प्रचार किया— धार्मिक विद्वेष के फैलने हुए जहर से मानवता को बचाने के लिए ।

सन्त मलूकदास की सामाजिक भेदभाव और भिन्नताओं तथा विविधताओं में कोई आस्था नहीं थी । उन्होंने बिना किसी भेदभाव के हर वर्ग के, हर जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया । उनका कहना था कि हर प्राणी को ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा समाज का हो ।

उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता तथा समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सन्त कबीर की तरह ही उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही आडम्बरों पर कड़ी चोट करते हुए परम सत्य की शाश्वत दिशा दिखाई।

वह धर्म जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाता, उसमें दया, ममता, करुणा, सहनशीलता, पर-दुःखकरता और आत्मीयता के भाव नहीं उपजाता, वह उनकी दृष्टि में धर्म नहीं था। वे स्पष्ट कहते थे—

सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू मुसलमान ।
साहब तिनको बन्दता, जिनका तोर इमान ॥

मलूकदास अध्यात्म साधना के क्षेत्र में भी पहुँचे हुए सन्त माने जाते थे। उनके जीवन के साथ लोगों ने कई चमत्कारिक किंवदन्तियाँ जोड़ दी हैं। उनकी सच्चाई पर विश्वास सहज ही नहीं होता। पर इतना सत्य है कि जो अपने आपको साध लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जो सिद्ध हो जाता है वह ऐसे कार्य सम्पन्न कर जाता है जो साधारण मनुष्य के बस के नहीं होते।

उस समय में जब बालायान के सहजों का अभाव था, वे सत्य और शाश्वत सिद्धान्तों के प्रचार के लिए न केवल भारतवर्ष की वर्तमान भौगोलिक सीमाओं में ही घूमे बरन् वे नेपाल और काबुल तक पहुँचे थे। यह भी अपने आप में क्या कम चमत्कार था।

उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता, उनके आध्यात्मिक सम्पदों से भरे-पूरे व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों ने समुचित प्रभाव दिखाया। उनके शिष्य हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। वे भी बहुत बड़ी संख्या में थे। ऐसे काल में इस प्रकार का कार्य कर दिखाना भी क्या कम चमत्कार की बात थी।

औरंगजेब जैसा कट्टर बादशाह भी उनके व्यक्तित्व और उनके वाणी का लोहा मान चुका था। औरंगजेब जैसे कट्टरपक्षी ने उन्हें कड़ा के पास के आठ गाँव उनके निर्वाह तथा ध्येय पूर्ति के निमित्त अपेक्षित आर्थिक साधन जुटाने के लिए जमीन में दिये थे। इसे भी एक चमत्कार ही कहना चाहिए।

वस्तुतः बाजीगरी और चमत्कार में बहुत बड़ा अन्तर होता है। जो बाजीगर है वह चमत्कारी नहीं हो सकता और जो चमत्कारी है वह बाजीगरी नहीं दिखाता फिरता। सन्त मलूकदास ने समय की हवा के ठीक विपरीत कार्य हाथ में लिया और उसे करके दिखा दिया। यह उनका चमत्कार था।

उस समय लोग धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर उसके बाह्य क्रियाकलाप को ही मुखझा देने लगे थे। उन प्रचलित धारणाओं पर सन्त मलूकदास ने कड़ी चोट करते हुए कहा है—

न वह रीझे जप तप कीन्हें, न आत्म के जागे ।
न वह रोझे बोती नेती, न वह चरण पछारे ॥
दया करे धर्म मन राखे, घर में रहे उदासी ।
अपना सा दुःख सबका जाने, ताड़ि मिले अविनाशी ॥
भूखे ही ठूक प्यासे ही पानी, यह भगति हरि के मन जानी ।
कहे मलूक आत्म ली लम्हे, जगन्नाथ घर बैठे राखे ॥

उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि लोग पत्थर की मूर्ति को तो जाने क्या-क्या समझ कर उसकी पूजा करते रहते हैं लेकिन चलते-फिरते चैतन्य इन्सान के प्रति उन्हें अपना कुछ भी दायित्व समझ में नहीं आता। तभी तो वे कहते थे—

आत्म सब न चिन्हहीं, पूजत फिरे पथान ।
केसहु मुक्ति न होवाये केतिक सुनो पुरान ॥

धर्म तथा अध्यात्म मात्र मन्दिर में जाकर ईश्वर की पूजा करने, कथा प्रवचन सुनने या व्रत-उपवास करने तक ही सीमित नहीं है। वह बाह्य कर्मकाण्ड तो अपने भीतर के देवता को, भगवान् को जगाने के लिए है। मूर्ति और कथा-प्रवचन आदि तो साधन भर हैं, इन्हें साधन जितना ही महत्व दिया जाना चाहिए— इस बात का उन्होंने खुलकर प्रचार किया।

देखने में आज भी यही आता है। धर्म के नाम पर वही कुछ हो रहा है जो ऊपर बताया जा चुका है। धर्म आज कहने-सुनने भर की बात रह गया है। इसके पीछे मनुष्य को पशु से ऊपर उठाकर और उसके बाद देवता बनाने का जो विधान था, उसकी इस आत्मा को ही विचार दिया गया है। सन्त मलूकदास ने अपने समय में इस प्रकार की गलत धारणाओं का खण्डन किया था और लोगों को सच्चा मार्ग बताया था।

साहित्य के क्षेत्र में भी सन्त मलूकदास जी की देन अभूत है। उन्होंने जिन विराट् ग्रन्थों की रचना की वे साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके जीवन और उनके कृतित्व पर जो शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं—उनसे कई महत्वपूर्ण बातें प्रकाश में आई हैं।

सन्त मलूकदास ने अपने १०८ वर्ष के दीर्घजीवन में मानव समाज को जो सेवा की, अपना सा जीवन एक महान् ध्येय को समर्पित किया, उसे देखते हुए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो कार्य उन्होंने आज से चार सौ वर्ष पहले आरम्भ किया था वह अभी भी पूरा नहीं हुआ है। धर्म के सच्चे स्वरूप के दिग्दर्शन और उसमें निहित सोक्षेपकारी तत्वों को समझना, आत्मसात करना और उनका प्रचार-प्रसार करना आज भी आवश्यक है। सन्त मलूकदास के पास आने साधन भी नहीं थे जितने आज के मनुष्य के पास हैं। उन्हें देखते हुए यह कार्य आज और भी सहज है।

धार्मिक समता के प्रचारक— श्री रामानुज

धर्म का क्या स्वरूप है? इस बात पर सदा से विवाद होता चला आया है। दुनियादार लोग तो भगवान् के नाम दाड़ी पूजा पाठ कर लेने को ही धर्म का पालन करना समझ लेते हैं और इस 'धर्म' को भी वे इसलिये महत्वपूर्ण समझते हैं जिससे प्रसन्न होकर भगवान् उनको धन-वैभव, स्त्री-पुत्र का भरपूर सुख दें। पर विचारकों ने 'धर्म' उसे बताया जिससे अभ्युदय, निव्रेयस और मुक्ति की प्राप्ति हो

यह लक्षण अधिकांश में सत्य और स्वार्थपरायण व्यक्तियों के कथन से बहुत ऊँचा है, पर इसमें भी एक मुख्य बात विचारणीय है। हमारे यहाँ के धार्मिक जन्म इसका आशय व्यक्तिगत शुद्धाचरण, त्याग, तपस्या, साधना को ही मानते हैं। सम्भव है कि इसका पान करने से वे अन्तिम लक्ष्य 'मुक्ति' के अधिकारी बन जाते हों। पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ऐसी व्यक्तिगत मुक्ति मनुष्य का चरम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। प्रत्येक मनुष्य को 'अभ्युदय, निर्वयस, मुक्ति' का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, पर वह केवल अपने लिये न होकर सम्स्त समाज के लिये होना चाहिये। कारण यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जन्म से मृत्यु तक उसका निर्वाह अन्य अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ही होता है। इसलिये यदि वह समाज जिसमें वह जीवनयापन करता है, उन्नत नहीं बनता, सदगुणों का ग्रहण करना तो उसके अकेले के सुख जाने से कोई विशेष फल नहीं निकल सकता।

श्री रामानुजाचार्य (अभिर्भाव ११वीं शताब्दी) ने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया था और इसलिये जन्म से बहुत उच्च ब्राह्मण होते हुए भी वे चरित्र और कर्तव्यपालन को ही सर्वाधिक महत्व देते रहे, चाहे वह किसी जाति के व्यक्ति में क्यों न पाया जाता हो। उनमें इस प्रवृत्ति के कुछ छोटी अवस्था से ही पाये जाते थे। अब वे अपनी पितृभूमि पैरुमुधेरम् (मद्रास) रहते थे तो उनकी भेंट एक दिन 'कांचीपूर्ण स्वामी' नामक वैष्णव संन्यासी से हो गई। वे उनकी त्यागवृत्ति को देखकर घर लिये लाने और आदरपूर्वक भोजन कराया। भोजन के पश्चात् जब कांचीपूर्ण बाहर बरामदे में जाकर विन्यास करने लगे तो रामानुज उनके पैर दबाने को पहुँचे। पर कांचीपूर्ण ने उनको यह कह कर रोक दिया कि तुम ब्राह्मण हो और मैं शूद्र वर्ण का हूँ, इसलिये तुमको मेरे पैर नहीं छूने चाहिये। इस प्रकार रामानुज को बड़ा दुःख हुआ और कहने लगे— 'यह मेरा अभाग्य ही है जो आप जैसे सर्वस्व त्यागी महात्माओं की सेवा मैं नहीं कर सकता। बनेक पहन लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। सच्चे भक्त ही कस्ताविक ब्राह्मण हैं।

रामानुज को विद्याध्ययन से असाधारण प्रेम थी। अनेक महापुरुषों की तरह उनकी भी विद्याध्ययन की भारी रुचि थी। जन्म भूमि में पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद वे कांची चले आये जो दक्षिण भारत में विद्या का केन्द्र माना जाता था। वहाँ पर वे अध्ययन करने लगे। बाद में उन्होंने घर रहकर ही अपने आप शास्त्रों का अध्ययन, भजन किया।

उस समय वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र स्थान श्रीरंगम् था, जहाँ यामुनाचार्य जी महन्त की गद्दी पर विराजमान थे। रामानुज की विद्वत्ता और उच्च विचारों से अवगत होने पर उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरंगम् की गद्दी पर वे ही बिठाये जायें। इसके लिये उन्होंने अपने एक प्रमुख शिष्य को रामानुज को बुलाने भेजा। पर जिस समय वे श्रीरंगम् पहुँचे यामुनाचार्य का देहावसान हो चुका था। इससे वे बिना जरा भी ठहरे

कांची वापस चले आये। कुछ समय बाद एक योग्य नेता की आवश्यकता समझ कर श्रीरंगम् के वैष्णवों ने फिर एक दूत भेजा अब वे कर्तव्य की पुकार को अधिक अनसुनी न कर सकें और उन्होंने श्रीरंगम् जाकर महन्त की गद्दी का कार्य संपाल लिया। पर इस उच्च पदवी पर पहुँच कर भी उन्होंने मन्दिर की आय में से अपने लिये कुछ खर्च करना अनुचित समझा, वह सब मन्दिर की व्यवस्था में ही खर्च की जाती थी और रामानुज एक साधु की तरह भिक्षा लेकर ही निर्वाह करते थे। रुपये-पैसे के सम्बन्ध में वे आजन्म ऐसे ही निस्पृह बने रहे।

रामानुज के जीवन का उद्देश्य परोपकार और दूसरों की कल्याण-पाटना ही था। वैष्णव सम्प्रदाय के एक मन्त्र का रहस्य जानने के लिये वे यामुनाचार्य के एक वृद्ध शिष्य गोष्ठीपूर्ण स्वामी के पास गये। उन्होंने १८ कर रामानुज की प्रार्थना को टाल दिया। अब उन्होंने १९ वीं बार वही प्रार्थना की तो वे इस शर्त पर मन्त्र का रहस्य बतलाने को राजी हुए कि वह किसी अनधिकारी व्यक्ति को कभी न बतलाया जाय।

'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' से मन्त्र दीक्षा लेकर वे अपने निवास स्थान को लौटे। रास्ते में नर्मिह स्वामी का मन्दिर मिला जहाँ पर उस दिन मेले के कारण वैष्णवों की अपार भीड़ थी। उस समुदाय को देखकर रामानुज से न रहा गया और उन्होंने जोर-जोर से उस मन्त्र को दुहरा कर सब लोगों को उसे अच्छी तरह सुन दिया। यह भावचार जानकर 'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' बहुत नाराज हुए और रामानुज को बुलाकर कहा— 'क्या तुम्हें मालूम है कि गुरु की आज्ञा न मानने का क्या फल होता है?'

रामानुज ने लज्जा जाड़ कर कहा— 'हाँ गुरुदेव मैं जानता हूँ कि ऐसा अधिर्ष करने पर दस हजार वर्ष तक नर्क में रहना पड़ता है।'

गोष्ठीपूर्ण ने पूछा— 'तब तुमने मेरी आज्ञा के विरुद्ध उस मन्त्र को उन लोगों को क्यों बतलाया?'

रामानुज ने उत्तर दिया— 'भगवन्! मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। पर आपने ही पुत्र बतलाया कि इस मन्त्र के सभी सुनने वाले स्वर्ग जावेंगे। इतने लोगों को वहाँ इकट्ठे देखकर मेरे मन में यह भाव उठा कि मन्त्र को सुनकर उन सब लोगों को स्वर्ग प्राप्त हो, चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े। मेरे इस अपराध के लिए आप जो कुछ दण्ड देंगे उसे मैं भोगने को तैयार हूँ।'

रामानुज के उत्तर से गोष्ठीपूर्ण शान्त हो गये और रामानुज को गले लगा कर कहने लगे— तुम्हीं मेरे गुरु हो। यही सच्चे वैष्णव का कर्तव्य है।

इसी प्रकार उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अधिक अवस्था हो जाने पर नदी स्नान के लिये आते समय किसी ब्राह्मण शिष्य का सहारा लेकर घाट तक जाते थे, पर वहाँ से लौटते समय एक शूद्र का सहारा ले लेते थे। लोगों ने इसे ठीक न बतलाकर करुण पूछा उन्होंने कहा कि - मेरे भीतर अपनी शुद्धता अथवा प्रेष्ठता का अहंकार न जग जाय, इसलिये मैं शूद्र का सहारा लेकर चलता हूँ। भगवन् की निगाह में कोई नीच नहीं है।

रामानुज ने अपने समुदाय में जिस धार्मिक समता का प्रचार किया और दीन दुःखियों की सेवा को धर्म का सर्वोच्च लक्षण बतलाया उसी का परिणाम है कि आज भी वैष्णवों में कुआकृत और ऊँच-नीच की भावना अपेक्षाकृत कम है। जो धर्म लोगों में भेदभाव की दीवारों को ऊँचा करता है उसे श्रेष्ठ मानना भूल है। धर्म वही है जो मानव मात्र के उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सके।

कहाँ जाऊँ ?

पाठ समाप्त हुआ। आचार्य रामानुज प्रदक्षिण के लिये उठे ही थे कि सामने से चाण्डाल आ गया। उसे देखते ही आचार्य श्री क्रुद्ध हो उठे और गजकर बोले— शठ ! आगे से हट जा, रास्ते को अपवित्र न कर। चाण्डाल ठिठक गया। सौटना चातुर पर किसी अज्ञात शक्ति ने उसे रोक दिया। हाथ जड़कर उसने धिनयपूर्वक पूछा— भगवान् अभी क्या जा रहा है किन्तु आप यह बताइये जाऊँ किधर ? मेरे चारों ओर पवित्रता जितनी पड़ी है फिर मैं अपवित्र क्यों जाऊँ ? रामानुज की आँखों से अज्ञान का पर्दा गिर गया। चाण्डाल सब ओर पवित्रता के ही दर्शन करता है और मैं भगवान् का भक्त होकर भी अपने मन का मल भी नहीं साफ कर सका ?

रामानुज ने हाथ जोड़कर कहा— क्षमा करो नात ! अज्ञ तो तुमने मेरी आँखें खोल दीं। तुमने तो मुझे भी पवित्र कर दिया।

ब्रह्मराक्षस क्यों बना ?

कांची नरेश की राजकुमारी प्रेत बाधा से पीड़ित हुई। भूल सामान्य नहीं, ब्रह्मराक्षस था। तब श्री रामानुजचार्य बुलाये गये। उन्होंने वहाँ जाकर पूछा— “आपको यह योनि क्यों कर मिली।” रोकर ब्रह्मराक्षस बोला— “मैं विद्वान् था, किन्तु मैंने अपनी विद्या छिप रखी। किसी को भी मैंने विद्या दान नहीं किया, इससे ब्रह्म-राक्षस हुआ। आप समर्थ हैं, मुझे इस प्रेतत्व से मुक्ति दिलाइये।” श्री रामानुज ने राजकुमारी के मस्तक पर हाथ रखकर जैसे ही भगवान् का स्मरण किया, तैसे ही ब्रह्मराक्षस ने उसे छोड़ दिया, क्योंकि वह स्वयं प्रेतयोनि से मुक्त हो गया। उस दिन से श्री रामानुज ने प्रतिज्ञा की कि वह स्वाध्याय का लाभ अपने समाज को भी देते रहेंगे।

धर्म का तत्त्वज्ञान समझाने वाले— सन्त वसवेश्वर

धर्म का वास्तविक प्रयोजन है जन-सुधारण को कर्त्तव्य और विवेक का अवलम्बन लेकर परिष्कृत जीवन जीने के लिये तत्पर करना। इसी के लिए भक्ति भाव से लेकर विविध-विधि कर्मकाण्डों की अनेकों क्रिया-प्रक्रियाएँ, व्यवस्थाएँ तत्त्वदर्शियों ने विनिर्मित की हैं।

जन मानस का दुलमुल्लस ही कहना चाहिये कि लोग तथ्य को भूल जाते हैं और आवरण को पकड़ बैठते हैं। प्राण की उपेक्षा करते

हैं और कलेवर को पूजते हैं। धर्म के बारे में यही होता रहा है लोग विविध विधानों को ही सब कुछ मानने लगते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि इनका सृजन किसे किस प्रयोजन के लिये गया था। कर्मकाण्डों को ही लक्ष्यपूर्ति का आधार मान लेते हैं। क्रिया मुख्य हो जाती है और भावना गौण। धर्म अन्धविश्वास भर रह जाता है। कर्त्तव्यहीन व्यक्ति तथाकथित धर्म-कृत्यों को ही सब कुछ मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग आदर्शवादी तथ्य अपनाने के कष्टकारक कार्य को व्यर्थ कहकर निरर्थक समझने लगते हैं। जब रास्ते में ही अर्धाण्ड लाभ होता हो तो कोई महगे रास्ते पर क्यों चले।

इससे धर्म-विकृति का समाधान करने के लिये समय-समय पर तत्त्वदर्शी ऋषि षनीषी अवतरित होते हैं और विडम्बनाओं का निराकरण करके जनसुधारण को यथार्थता से अवगत कराते हैं ताकि धर्म का मूल-मूल प्रयोजन जीवित बना रहे और वह अपनी उपयोगिता अक्षुण्ण बनाए रख सके।

कर्नाटक के महान् सन्त वसवेश्वर इसी स्तर के धर्म-संशोधकों में एक हुए हैं। शुद्ध नाम उनका कृष्णेश्वर था पर कर्नाटक की उच्चारण प्रक्रिया के अनुसार वह शब्द वसवेश्वर बन गया और वे उसी नाम से प्रख्यात हो गये। वे दक्षिण धरत के बीजापुर नगर से २४ मील दूर ‘वससन बागेबाड़ी’ नामक ग्राम में सन् ११२५ में जन्मे थे।

उन दिनों उस क्षेत्र में बहु देवी-देवतावाद फैला पड़ा था। धर्म के नाम पर अगणित कुप्रेतियाँ चल पड़ी थी। दोंग, पाण्डु से नुरी तरह धर्म-क्षेत्र को आन्धरित करके उसे अनुपयोगी ही नहीं अबाखनीय भी बना दिया था। वह उनसे सन्न न हो सका। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपना जीवन धर्म का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने और उसे प्रतिपादित करने के लिए ही समर्पित करेंगे।

इसके लिये विद्याध्वजन आवश्यक था, उन्होंने कृष्णा और माला सरिताओं के संगम पर अवस्थित ऋषि जठवेद के आश्रम में जाकर शास्त्रों का प्रगाढ़ अध्ययन किया और साधनानिरत रहकर आत्मबल बढ़ाया। वाणी की मधुरता, चरित्रनिष्ठता, निरहंकरिता, कर्मठता, निर्लोभता जैसे संतगुणों का जब समुचित विकास हो गया तो उनके गुरु ने उन्हें धर्मोपदेशक का कार्य कर सकने योग्य क्षिति किया और भ्रमण करके धर्मोद्धार में निरत रहने का आदेश दे दिया। गुरु का आश्रम छोड़कर वे धर्म-प्रचार के लिये चल पड़े। उन्होंने व्याख्यान शैली नहीं अपनाई वरन् सुकरात की तरह प्रश्नोत्तर करके विचार-विमर्श और संस्था करने का क्रम अपनाकर चले। फलस्वरूप उनके सम्पर्क में आने वाले सच्चे धर्मपरायण बनते चले गये। यह सख्या इतनी बढ़ी कि उनका समूह एक धर्म-सम्प्रदाय ही बनना चला गया। पीछे यह सम्प्रदाय ‘लिङ्गयत’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण भारत में यह सम्प्रदाय बहुत बड़ी सख्या के अनुसमूह द्वारा अपनाया गया है। आज उस मान्यता के व्यक्ति लाखों की सख्या में हैं। इस विस्तार का कारण केवल धर्म-प्रेरणा ही नहीं उनके व्यक्तित्व की, सन्तगुणों और उच्च जीवन नीति अपनाने की महानत्ता भी थी।

उन्होंने प्रधानतया कर्मयोग का प्रतिपादन किया। भक्ति और ज्ञान के दर्शन को कर्म निष्ठा के बिना अधूरा और अपूर्ण बताया। उनका कहना था कि जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करता है वही सच्चा धर्मपरायण है। वे पूजा-पाठ द्वारा पाप फल न मिलने का बहकावा नहीं देते थे वरन् यह कहते थे कि जो धर्म प्रेमी है उसे पाप से घृणा करनी चाहिये, और अवाञ्छनीय गतिविधियों का सर्वथा त्याग करना चाहिये, उसके लिये भले ही अभावग्रस्त या कष्टसाध्य जीवन क्यों न जीना पड़े। बाहर से वे धर्म-गुरुधर्म सम्पादक जैसे लगते थे, पर उनका लक्ष्य और प्रतिपादन देखकर उन्हें नैति-शिक्षक, समज-निर्माता ही उहरेवा जा सकता था।

आध्यात्मिक शिक्षणकों से भरापरा उनका व्यक्तित्व ऐसा प्रभावशील, आकर्षक और सिद्धि-सम्पन्न बन गया कि सर्वसम्भारण द्वारा उसे अलौकिक समझा गया। वे सिद्ध पुरुष माने जाते थे। उनके कहे हुए वचन और दिये हुए आजीवन प्रभाव सफल सार्वक ही होते थे। इस प्रकार का उनका चरित्र-चित्रण लेलगू के महकवि फल कुरिकी द्वारा लिखित 'वासवपुराण' में विस्तारपूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ में उस महान् विभूति के मूल मन्तव्यों और क्रियाकलापों का नाट्यिक विवेचन किया गया है। उसे पढ़कर यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि उनकी जीवन साधना किस महान् प्रयोजन के लिये नियोजित रही।

शैवमत के सिंगायत सम्प्रदाय को इन्होंने ऐकेश्वरवाद पर केन्द्रित किया। संकीर्ण जाति-पाँति को अधार्मिक घोषित करते हुए मानव-मात्र की एकता समस्त को सही बताया। विश्व-प्रेम और सेवा-साधना को स्वर्ग, भुक्ति की आधार भूत साधना सिद्ध किया। उन्होंने बताया ईश्वर की प्राप्ति उच्च-चरित्र, उदार-प्रकृति, परमार्थ-परायणत्व पर निर्भर है। केवल पूजा-प्रार्थना के आधार पर भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त किया जा सकता।

सन्त बसवेश्वर को सामाजिक क्रान्ति का ध्वजवाहक भी कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उन दिनों दक्षिण भारत में ऊँच-नीच, भूत-छात का पूरी तरह बोलबाला था। अहंकारी सवर्ण वंश-परम्परा के आधार पर अपनी श्रेष्ठता ही नहीं बताते थे, दूसरे लोगों को अशुभ-अन्त्यज बतकर उनके साथ हेय और तिरस्कृत व्यवहार करने में अपनी गरिमा भी समझते थे। ऐसे समय में इस ऊँच-नीच को अधर्म उहराना कितना कठिन और कितना जोखिम भरा था। यह जानते हुए भी इन्होंने सामाजिक काया-कल्प का सकल्प लिख और सबर्णों के कोणभाजन रहते हुए भी अपना मिशन आगे बढ़ाया।

समाज में अन्धविश्वासों का बाहुल्य था। बरसाती उद्भिजों की तरह फैले पड़े देवी-देवताओं, भूत-पत्नीतों की आड़ में ओझा, झाड़-फूंक वालों का अन्तक छाया हुआ था। लोग बहुत सा धन और समय इसी आतंक से शयणीत होकर बर्बाद करते थे। धूर्तों की पाँचों अँगुलियाँ भी में रहती थीं। भोली-भाली जनता नेतरह ठगी जाती थी। मनश्चेत में भीरुता और जड़ता की जड़ें गहराई तक घुस जाने से अनेक प्रकार की सामाजिक और नैतिक कुरीतियों का जाल-बजाल

बुरी तरह फैल गया था। उसमें जकड़ी हुई जनता अवाञ्छनीय जीवन जी रही थी।

इन विवृतियों के विरुद्ध सन्त बसवेश्वर विद्रोह का झंडा लेकर आगे बढ़े और असम्भव दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया, उन्होंने युक्तियों से काम लिया। काँटे से काँटा निकाला। चमत्कारों पर विश्वास करने वाली जनता को अपनी चमत्कारी विशेषताओं से प्रभावित करके अवाञ्छनीय मान्यता और गतिविधियाँ छोड़ने तथा विवेकशीलता का मार्ग अपनाने के लिए सहमत, तत्पर बना दिया। उनकी नीति इतनी सफल रही कि तत्कालीन विचारशील लोगों द्वारा उन्हें 'भगवान्' कहा जाने लगा और उन्हें सन नहीं भगवान् की समझा जाने लगा। अब भी सिंगायत सम्प्रदाय के लोग उन्हें भगवान् की तरह ब्रह्म और भक्ति के साथ नमन करते हैं।

केवल पूजा-पाठ और जप-तप तक सीमित एककी और व्यक्तिवादी तथाकथित सम्प्रदायवादियों के लिये सन्त बसवेश्वर का जीवनक्रम आदर्श के रूप में प्रस्तुत है और प्रकाश प्रेरणा से भरी दिशा दे रहा है।

सन्त बसवेश्वर के जीवन से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण घटना प्रसंग इस प्रकार हैं—

एक दिन भगवान् की सामूहिक उपासना का आयोजन किया गया। अधिष्ठाता बसवेश्वर स्वयं थे। व्यक्तित्व उनका साधारण नहीं आसाधारण था। उस पूजा मंडली में नीची जाति के लोग भी सम्मिलित थे और अक्क महदेवी, बिज्जत्वा तथा नीलम्मा आदि विदुषी देवियाँ भी सम्मिलित थीं। कीर्तन पुराण भावनाशील वातावरण में सम्पन्न हुआ। इसके बाद सन्त का प्रवचन प्रारम्भ हुआ, उस दिन 'कर्म ही परमात्मा की सच्ची पूजा है और ईश्वर आराधना का अधिकार प्राणिपात्र को है।' इन दो विषयों पर सन्त को भाषण देना था।

पन्ना न चला गाँव के प्रतिक्रियावादी उच्च वर्ण लोगों में कब कानाफूसी हुई और कब संगठित विरोध का वातावरण तैयार हो गया। वे अभी प्रवचन प्रारम्भ कर ही रहे थे कि बीच में खड़े होकर किसी अभद्र व्यक्ति ने उग्र होकर कहा— 'आपने स्त्रियों और नीच वर्ण के लोगों की सभा में स्थान दिया है। इसे हम भट्ट मानते हैं और विरोध करते हैं।'।

ऐसी आवाजें चारों ओर से आईं, विरोध उग्र हो उठा। जो जिस तरह जल की ठंडी बूँदें अग्नि पर छेंदें मारती हैं उसी प्रकार बसवेश्वर चिनम वाणी में बोले— उपासना का सम्बन्ध भड़ियों। मन हृदय और अन्तःकरण से है। किसी की अन्तरात्मक ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, शूद्र होतों से तो बतड़य।'

'आत्मा विशुद्ध तत्त्व स्वरूप है। अनन्त, अलम्ब, अखण्ड, अभेद, अनाम, अरूप आत्मा ही विांधन्य शरीरों में व्याप्त है। शारीरिक बन्धनों से विपुक्त होकर आत्मस्वरूप में रमण करने का अधिकार किसी को हो, किसी को न हो यह न तो मानव धर्म है और न शास्त्रानुमोदित है।' भला विरोधी लोग उसका क्या जवाब दे पाते तो भी गड़बड़ी में उस दिन का अनुष्ठान विधिवत् सम्पन्न न हो पाया।

तरुण साधक का हृदय अधीर हो उठा। उन्होंने विचार किया हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें सामाजिक समानता न होना मनुष्य जाति पर कलंक ही है उसे मिटाने के लिये मेरा शरीर भी लग जाये तो कुछ हर्ज नहीं।

उस दिन की निराशा मिटाने के लिए और सामाजिक चुनौतियों के प्रति प्रबल संघर्ष के लिए तप की आवश्यकता अनुभव हुई। ऐसी परिस्थितियों में जहाँ साधारण लोग निरुश होकर चुप हो बैठते हैं वहाँ उत्कृष्ट और तेजस्वी आत्मायें श्रद्धा पथ अपनाती हैं। वही कमवेश्वर ने भी किया। उन्होंने कुछ दिन के लिये घर का परिवाराग कर दिया। एकान्त साधना और शास्त्र के अध्ययन, चिन्तन द्वारा आत्मशक्ति संचयन किया। कृष्ण नदी के तट पर संगम क्षेत्र में अपने जातवेदन मुनि से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की। इससे उनकी आत्मा, बुद्धि और आध्यात्मिक संस्कार और भी सक्रिय हुए।

गुरु की इच्छा थी बसवेश्वर गहन साधना द्वारा स्याधि-स्थिति को प्राप्त करें। शिष्य की कमजोर वर्तमान योग्यता का लाभ समाज को उँचे उठाने में लगाने के लिए हो रही थी। उन दिनों सामाजिक जीवन में बड़ी अस्थिरता थी। भक्ति-साधना न रहकर अन्ध-बुद्धा के रूप में प्रचलित थी। कर्मवाद से बचा जा रहा था लोग घर-घर छोड़ कर संन्यास ग्रहण करने और संसार को मिथ्या मानने को हो असली अध्यात्म मानते थे। बसवेश्वर चाहते तो योग साधना में लग गये होते, पर उनके नवनीत हृदय ने पुकारा—“बसवेश्वर—तुम्हारी हिन्दू संस्कृति जर्जरित होती जा रही है, समाज अपने आप में ही विमृखलित होकर टूट रहा है। धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, पारिवारिक व्यवस्थाएँ और मर्यादाएँ नष्ट होती जा रही हैं, बस अपने जातीय स्वाभिमान, धार्मिक गौरव की रक्षा करना पुण्य और आत्म-कल्याण नहीं। मेरी जाति, मेरा धर्म और मेरा देश का कल्याण ही आत्मकल्याण है और मुझे अपना जीवन उसी में लगाना चाहिये।”

समाज-सेवा को सर्वोपरि मानकर बसवेश्वर ने गुरु आज्ञा छोड़ दिया और प्रजा में भक्ति और कर्मयोग का प्रसार करने लगे। बसव कहते थे—भक्ति सरल नहीं है, उसकी पूर्णता और सार्थकता के लिए मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक आचरण शुद्ध, सच्चरित्र, ईमानदार, नेक और पवित्र होना चाहिए। मनुष्य अपने परिवार और सामाजिक उत्तरदायित्वों का समुचित पालन किये बिना आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। संसार को छोड़कर मोक्ष पद की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

पर एक दिन उन्होंने अपने आपको भी अभी तक इस सिद्धान्त से अव्यवहार्य पाया, क्योंकि उन्हें आजीविका के लिये पगबलम्बी रहना पड़ता था। दैनिक सन्देश तो दिया करते थे, पर स्वयं गृहस्थ में प्रविष्ट नहीं हुए थे, इसलिए उन्हें अपना ही कबन अधूरा लगा करता था।

उन्होंने तब अपने परित्रय से कर्म करने और कर्मवाद को व्यावहारिक जीवन में ढालने का दृढ़ निश्चय किया। इसी विचार से

वे कल्याण की ओर चल पड़े। राज-दरबार में वह राजकीय पत्र लेखक के रूप में काम करने लगे। अब उनके सिद्धान्तों के चरितार्थ होने का असली समय था।

राज्य कर्मचारियों के रूप में उनके सामने अनेक प्रलोभन आये अलसत्व, भोग और सामन्तराही के विचार और परिस्थितियों की बिजली मस्तिष्क में कौंधी पर तटस्थ योगी की भाँति बसवेश्वर पूर्ण योग्यता, सच्चरित्रता, कर्तव्य-परायणता और प्रामाणिकता से काम करते रहे। “**भोगः कर्मसुकीर्तनम्**” कर्म में दत्तचित्तता, कुशलता और परमात्म के प्रति श्रद्धा-भक्तिक समर्पण रखना ही सच्चा कर्मयोग है, उसे बसवेश्वर पूर्ण निष्कप भाव से निभाते रहे।

ईमानदारी, सच्चरित्रता, दृढ़ता और पश्चिमशीलता जहाँ है, सुख-वैभव, साधन, सुविधायें भी वहाँ अनायास ही जुटती चली जाती हैं। कल्याण की मंत्रिपुत्री गंगादेवी के साथ उनका पवित्र प्रस्थि-बन्धन हुआ। उनकी योगनिष्ठ कर्तव्य भावना से प्रभावित होकर कल्याण-नरेश दिग्गज ने सम्मानपूर्वक उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया। इस तरह उन्हें भारतीय अध्यात्म की उपयोगिता और व्यावहारिकता को और भी प्रभावशाली ढंग से प्रसारित करने का अवसर मिला।

बसव अपने राजकीय कर्तव्यों से बचा हुआ समय समाज, हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रसार में लगाने लगे। धर्म-प्रचार और आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए ‘अनुभव मंडल’ की स्थापना की और स्वयं भी स्थान-स्थान पर घूमकर पशु-बलि, जाति-भेद, अन्ध-विश्वास और दुर्योग्यता पर प्रहार करने लगे। उनका मुख्य उद्देश्य जनता के जीवन में ज्ञान और सन्मार्ग का प्रवाह जाग्रत करना था, उसके लिये उन्होंने मन्त्री खोले हुए भी एक छोटे से कर्मचारी की भाँति काम किया। यही कारण था कि उस समय बौद्ध और जैन धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव रुक गया और हिन्दू धर्म का शुद्ध स्वरूप लोगों की निगाह के सामने आया। जाति-पाँति के भेद-भाव शिथिल हुए, स्त्रियों को बर्पाचरण के लिए सम्मान अधिकार मिले। कन्नड़ भाषा में उन्होंने हिन्दू धर्म के सन्देश प्रसारित कर उसे सर्व-साधारण के लिये सुलभ और सरल बना दिया। “**कामकवे कैलास ड**”—अर्थात्—कर्म ही ईश्वर की सच्ची पूजा है, उनका यह जीवन मन्त्र अधिकतर लोगों का जीवन मन्त्र बना।

परम्परागत धार्मिक प्रथाओं और विधि-विधानों के प्रति संघर्ष कर हिन्दू धर्म को सगाठित करने में उन्होंने अभूतपूर्व साधना की। उसी का वह प्रतिफल था कि भारतीय संस्कृति की मरुझाई बेलि पुनः हरी हो चली उसे एक नया जीवन और नया प्रकाश मिला।

बसवेश्वर का जन्म कर्नाटक के बीजापुर जिले में ग्राम बागेवाड़ी में हुआ था। उनके पिता मादरास बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। माता मदलाम्बिका आदर्श और श्रद्धालु नारी थीं। माता-पिता के भावनात्मक संस्कारों ने ही बच्चे को सन्त बनाया। अपने महान् त्याग, तप, साधना, श्रम और लगन से भारतीय धर्म को उँचे उठा कर उन्होंने न केवल कर्नाटक वरन् सारे भारतवर्ष को गौरवान्वित किया। उनके इस उत्सर्ग को भुलाना नहीं जा सकता। उसे तो अब नया रूप लेने का अवसर आ गया है।

ऋषि परम्परा निभाने वाले— महात्मा 'लिखित'

ऋषि 'लिखित' अपने बड़े भाई के आश्रम की ओर चल पड़े। दीर्घकाल तक एक स्थान पर साधना करते-करते एक दिन उन्हें भाई के पास जाने की इच्छा हो आई थी। उनका उद्देश्य भाई के पास जाकर उनके आश्रम में विश्राम करने का नहीं था। उनके अग्रज अयु में ही बड़े नहीं थे, तप और ज्ञान में भी श्रेष्ठ थे। उन्होंने निर्देशन के अनुसार 'लिखित' अपनी साधना चला रहे थे। समय-समय पर यह भाई के पास जाकर प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्राप्त किया करते थे।

नदी के किनारे भाई के सुन्दर आश्रम में लिखित ऋषि पहुँचे। भाई को प्रणाम किया। भाई ने असीमाद दिया—स्नेह से पास बिठाकर कुशाभक्ष्य तथा साधना की प्रशंसा पूछी। फिर स्नेहसिक्त स्वर में कुछ दिनों अग्रज में हो सकने का आग्रह किया। लिखित को विशेष प्रसन्नता हुई। भाई के सान्निध्य में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। साधना के निर्देशों के साथ उन्हें बहुधा जाने की आज्ञा भी तुलना मिल जाया करती थी। मार्गदर्शक भाई के आदेश का पालन कर परम कर्तव्य मानते थे। अस्तु, कभी अपने रुकने की इच्छा भी व्यक्त नहीं किया करते थे। आज जब भाई द्वारा स्वयं कुछ दिन रुकने का आग्रह किया गया तो उन्हें गृह-मोक्ष घरदान ही मिल गया।

दोनों भाई स्वर्गीय सुख का अनुभव करते हुए एक साथ रह रहे थे। साधना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग आश्रम व्यवस्था आदि के व्यस्त कार्यक्रम के बीच समय बीतता प्रतीत ही नहीं होता था। एक दिन लिखित ऋषि आश्रम के उपवन में टहल रहे थे। भाई के त्रमणोचित वृक्षों को देखकर आह्लादित हो रहे थे। अचानक उन्हें भूख का अनुभव हुआ। भाई की छाँज में दृष्टि दींवाई किन्तु वह दीखे नहीं। अस्तु उन्होंने फल तोड़कर खा लिये। थोड़ी देर बाद ही भाई के आने पर उन्होंने भूख लगने तथा फल खाकर उसे शान्त करने की बात सामान्य ढंग से कह दी। भाई ने सुना तो गम्भीर हो गये, बोले "अनुज परे तुम्हारे में कोई घेद नहीं है। किन्तु बिना पूर्व अनुमति के इस प्रकार फल खा लेना तुम्हारी अस्तेय साधना के विपरीत है। तुम्हारी साधना में विघ्न आ गया।"

'लिखित' ऋषि स्तब्ध रह गये। भाई का तर्क सुनकर नहीं, जय में विचारशीलता को स्मरण करके। "इतनी सामान्य बात पहले की मांस्तब्ध में क्यों नहीं आई? किन्तु अब तो भूल हो ही चुकी थी। साधना में खण्डन ऋषि के लिये वह कल्पना ही कहकर थी। भाई से भूल के परिहार हेतु अनुज्ञासन मांगा। सन्तुलित उत्तर मिला "तुम्हें कथमनुसार अपराधी की भाँति राजदण्ड मिलना चाहिए।" लिखित ऋषि की चित्त हलका हुआ। दोष-पारहार का विधान सामर्थ्य के बाहर नहीं था। जहाँ दाँतों को स्वीकार न करने तथा उसकी प्रतिक्रिया न करने का प्रयास करने की वृत्ति पनपने लगती है, वहाँ प्रगति रुक जाती है। यह सत्य वह भली भाँति जानते थे। अस्तु किंचित मात्र नैतिक विचारों को अन्तर्गत नृनवश हुए अपराध के दोष निवारण

का प्रयास किया। वे राजदरबार में अपराध का दण्ड पाने के लिये पहुँचे।

दरबार में ऋषि के अचानक पहुँचते ही सभासद आसन छोड़कर खड़े हो गये। महाराज ने आगे बढ़कर प्रणाम किया तथा स्वागत स्तुति करके कुशल पूछी। फिर नम्रतापूर्वक इस प्रकार अभित्याजित रूप से पहुँचने का कारण पूछा। ऋषि द्वारा कारण बतलाये जाने पर राजा तथा सभासद चौंक पड़े। ऋषि को दण्ड? वह भी चोरी का। राजा ने कहा— "महात्मन परस्पर स्नेह से रहने वाले भाइयों में एक-दूसरे की वस्तुओं का उपभोग किया जाना स्वाभाविक है। बिना पूछे फल तोड़कर खा लेना चोरी नहीं है जिसके कारण दण्ड दिया जावे।"

ऋषि की झुकती तन गई। भावभंगिमा में परिवर्तन देख राजा सह्य गये—कुछ समझ न सकने के कारण मौन खड़े रहे। ऋषि की गम्भीर बाणी निकली "राजन! अनधिकार चेष्टा मत करो। सीमा से बाहर निर्णय लेने का प्रयास अहितकर होता है।" सारा दरबार स्तब्ध था। राजा ने पुनः प्रश्नवाचक दृष्टि से ऋषि की ओर देखा यह समझ न सके थे उनसे कहा सीमा का उल्लंघन हो गया। ऋषि उनकी दृष्टि सपन्न गये। स्वर में थोड़ा स्नेह प्रकट करते हुए कहा— "राजन! वर्णधर्म व्यवस्था भूल गये? किस कर्ष को उचित किमको अनुचित कहा जाये वह निर्णय ऋषि-ब्राह्मण किया करते हैं। राजा का कर्ष तो अनुचित घोषित किये जाने वाले कर्षों का वर्गीकरण करके उन पर दण्ड विधान बनाना है। मेरी साधना के स्तर के अनुसार मेरा कर्ष गोप्य घोषित किया जा चुका है। अब आप उसमें अपना निर्णय लगाने का प्रयास न करें। चोरी के अपराधी को क्या दण्ड दिया जाये यह निर्णय करना आपको उचित है।"

राज, एवं सभासदों ने ऋषि का उद्बोधन सुना और उनके कहे का औचित्य स्वीकार किया। परन्तु राजा अभी भी सहमे हुए खड़े थे। उनके दण्ड विधान में गोर के हाथ काटे जाने की व्यवस्था थी वह दण्ड ऋषि को कैसे दें। ऋषि लिखित ने राजा की दुविधा समझी तथा पुनः बोले— "कर्तव्य पालन में सामने वाले के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। राजा ही दण्ड देने में लक्ष्यअधेया तो राज्य व्यवस्था कैसे चलेगी?" राजा ने समझ ऋषि प्रश्न नहीं कर रहे आदेश दे रहे हैं और उन्होंने उनके हाथ काटे जाने की आज्ञा दे दी।

ऋषियों तथा शासकों का यह सन्तुलित सम्बन्ध जहाँ विचारक तथा सत्ताधारी एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य करते हैं। किसी समाज के लिये अदृष्ट व्यवस्था कही जा सकती है। जब तक शक्ति को विचारक प्रकाशदर्शन, व्यवस्था को चिन्तन का मार्गदर्शन मिलना रहा मानव दिनों-दिन प्रगति करता रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

काटे हाथ लिये लिखित ऋषि प्रसन्नचित्त भाई के पास पहुँचे हाथों के अग्रभाग न रहने से क्या-क्या कठिनाइयाँ खड़ा हो जावेगी इसको उन्हें चिन्ता नहीं थी। बिना हाथों के अनेक प्राणी अपना कार्य किसी प्रकार चला लेते हैं और जीवित रहते हैं तो बुद्धि सामान्य मनुष्य भी वैसा कर सक्ता है। बड़े भाई ने उनके दण्ड पाने का विवरण

सुग और उन्हें हृदय से लगा लिया। कहा—“तुमने ऋषि परम्परा को सुशोभित किया है। अविचलित भाव से दण्ड स्वीकार करना तथा शासन को कर्तव्य बोध कराना, दोनों ही कार्य अभिवन्दनीय हैं। तुम्हारे इस कार्य से हम प्रसन्न हैं—इच्छित वर माँग लो।

सामने तपोपुञ्ज समर्थ भाई खड़े थे तथा कटे हुए हथियों को लिए लिखित ऋषि। हाथों की पीड़ा की ओर उनका ध्यान नहीं था। भाई के अनुग्रह से उनकी आँखें जमक उठीं। बोले—“कन्धु श्रेष्ठ आप प्रसन्न हैं यह जानकर मैंने सब कुछ पाल लिया। किन्तु आपने स्वयं कहा है तो मन की बात बाहर न लाना अभ्युक्त न होगा।” भाई ने अर्थ भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा कहने की अनुमति दी। तब लिखित बोले—“मेरे अन्तःकरण में फल खाने के पूर्व इतनी सामान्य बात न जगो इसका मुझे दुःख है। ऐसा प्रयास करें कि मेरी सहज प्रज्ञा जाग्रत हो।” भाई हँस पड़े, बोले—कन्धु उसके तो तुम सहज अधिकारी हो। तुम्हारे साधना से ही तुम्हें वह प्राप्त हो चुकी है। वह तो मैंने तुम्हारी निष्ठा की परीक्षा के लिये उस समय फल खाने के भाव पैदा किये थे। तुम्हारी भावना तो पवित्र है।

आज का भाई हो तो न जाने क्या अनर्थ खड़ा हो जाता। ऐसी भी क्या परीक्षा, मेरे हाथ कटवा दिखे अब किसके सहारे बैठूँ? किन्तु ऋषि लिखित सब सुनकर भाई के पैरों पर गिर पड़े। बोले—“शत्रु श्रेष्ठ आपकी कृपा का मैं कहीं तक आभार मानूँ मेरे लिये अपने सदैव कष्ट सहे। मेरे निर्माण में अपना अमूल्य तपोबल नष्ट करने को क्या आवश्यकता थी?”

भाई ने उन्हें आश्चर्य किया। कहा—“मार्गदर्शक को अपना कर्तव्य निभाना पड़ता है। तुम परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। तुम्हारे साधना सफल है। अब तुम अपने सिद्धान्त का प्रसार संसार में सहर्ष कर सकते हो। अनुभूत तथा परिपुष्ट ज्ञान ही संसार को प्रभावित कर सकता है। आधारहीन व्यक्ति का सिद्धान्त कभी सिद्ध होता है। तुम्हारे द्वारा मानव कल्याण का महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा होगा—यह हमारा आशीर्वाद है।”

भाई का आशीर्वाद मिला, साधना की सफलता का प्रमाणपत्र। लिखित ऋषि हर्षविभोर हो उठे। भाई के स्नेह तथा तपोबल से वह चकित थे। किन्तु उनका हर्ष तथा आश्चर्य दूसरे दिन प्रातः सीमा पर था जब स्नान के बाद तर्पण के लिये हम जल में छानते ही उनके हाथ पूर्ववत् हो गये। पीछे खड़े उनके अग्रज मुमुक्षु रहे थे। उन्होंने कहा—“लोक-सेवी को किसी प्रकार के अभाव में रक्षना पातक है वत्स! मैंने ही तुम्हारे हाथ कटवाये थे उसकी पूर्ति भी कर दी। अब अपने प्रयासों से ईश्वर की इस पुण्य भूमि को सुशोभित करते रहना।

यह आदर्श ऋषि परम्परा जिस देश में रही है उसका विश्वगुरु कहलाना कोई आश्चर्य की बात न थी। अभी भी वह परम्परा जगत् की जा सकती है, वह गौरव प्राप्त किया जा सकता है।

क्षमाशील हो तो सन्त दादू जैसा

सन्त दादू शहर से दूर एक जंगल में ठहरे हुए थे। उस क्षेत्र के लोगों को पता चला तो सभी सत्संग करने हेतु जंगल में ही आने

लगे। शहर क्षेत्रवाल को उनके श्रुपागमन का सन्देश मिला तो उनके मन में भी सन्त के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई। वह उनकी ख्याति किन्तु ही व्यक्तियों के मुँह सुन चुके थे। अतः घोड़े पर सवार चाल पड़े जंगल की ओर।

वहाँ कोई सुन्दर सी कुटिया तो बनी न थी और न सन्त के लिए किसी प्रकार के बोर्ड लगे थे। काफी दूर आने पर एक टुबला पतला व्यक्ति रास्ते की झाड़ियाँ साफ करता दिखाई दिया। वह बड़ी मुस्तैदी से झाड़ियों को काटने में लगा था। जैसे ठेर इकट्ठा हो जाता किन्तु के किसी गद्दे में फेंक देता। शरीर पर वस्त्र के नाम पर केवल एक लंगोटी थी। क्षेत्रवाल ने सोचा शायद सन्त का पता इस व्यक्ति से चल जाये उन्होंने उसके पास आकर घोड़े को रोक लिया और पूछा—“हे भिखारी! तूने सत दादू की कुटिया देखी है।

दादू ने क्षेत्रवाल की ओर देखा और पुनर्थाप अपने कार्य में लगे रहे। अब क्षेत्रवाल घोड़े से नीचे उतर धुक धा। उभे लगा कि सामने वाला व्यक्ति बहरा है अतः चिल्लाकर पूछा—“मूर्ख! क्या तू दादू को बता सकता है? इतना सुनकर भी दादू ने उसकी ओर नहीं देखा। वे झाड़ियाँ काटने के समय में लगे रहे।

क्षेत्रवाल को गुस्सा आ चुका था। घोड़े को हॉकने वाला चाबुक उसके हाथ में था। उसी से क्षेत्रवाल ने पिटाई शुरू कर दी। दादू के शरीर में नीले निशान पड़ चुके थे। फिर भी उसने कुछ न कहा क्षेत्रवाल गाली देता हुआ गुस्से में चिल्लाया—“बेबकूफ”। एक भी शब्द नहीं बोल सकता। गुँगे और बहरे होने के साथ क्या पागल है। इतना कहकर क्षेत्रवाल ने चाबुक का डण्डा उसके सिर पर दे मारा। उसका सिर लद्दलुलन हो गया। रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी। दादू को ऐसी दयनीय स्थिति में वहीं पड़ा छोड़ कर वह आगे बढ़ गया।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर उसे एक किसान जाता हुआ दिखाई दिया। उसे रोककर कर क्षेत्रवाल ने दादू का पता पूछा। उसने कहा—“मैं अभी सन्त से ही मिल कर आया हूँ। ऐसा लगता है कि आप उन्हें पीछे ही छोड़ आये हैं। टुबले पतले शरीर वाला, लंगोटी धारी, मार्ग की कटेदार झाड़ियों को साफ करने वाला और कोई व्यक्ति नहीं सन्त दादू हैं।”

क्षेत्रवाल ने चौकते हुए पूछा—“वह टुबला-पतला व्यक्ति दादू है। वह तो मजदूर की तरह झाड़ियों काट रहा था।”

“बढ़ी तो महत्त्वा दादू हैं। आप उन्हें पीछे छोड़ आये। कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता। उन्होंने देखा बरसात में झाड़ियों से साव मार्ग अवरोध हो गया है और यात्रियों को बड़ी कठिनाई होती है। अतः बचे हुए समय में इस कार्य को ही करना ठीक समझ कर लग गये इसमें।”

क्षेत्रवाल घोड़े को पीछे की ओर मोड़कर उस स्थान पर आये जहाँ एक व्यक्ति को गूंगा-बहरा और पागल समझकर पाँटा था। अब उस व्यक्ति के सिर में पट्टी बँधी हुई थी। पास में जाकर घोड़े से नीचे उतर पड़े। और हाथ जोड़ते हुए बड़े विनम्र शब्दों में बोले—“आप, क्या आपको सन्त दादू कहते हैं?”

दादू ने सहज भाव से उत्तर दिया— 'हो'। इस शरीर के लोग दादू के नाम से ही जानते हैं।'

अब कोतवाल उनके चरणों में पड़ा आँसू बहा रहा था। अपनी करनी पर बार बार पछता रहा था। उसने बड़ी दैनंदिता पूरी आवाज में कहा— महाराज। मुझे क्षमा कीजिये। मैं तो आपको गुरु बनाने की इच्छा से आया था।

दादू ने बड़े स्नेह से उसे उठाकर अपने गले से लगा लिया। सन्त दादू ने क्रोध को जीतकर धर्म की राह पर चलने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा देने की शक्ति प्राप्त की थी।

इसी तरह की अन्य घटना है— 'महाराज आप कोई ऐसा बशीकरण मन्त्र या कवच दीजिये जिससे मेरा पति वश में हो जाय— सन्त दादू दयाल के पास एक सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार की महिला आई। दादू ने कहा— बेटी मैं कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं जानता ईश्वर का विश्वास ही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है।'

स्त्री ने दादू के पैर पकड़ लिए और कहने लगी—

'नहीं स्वामी जी। ऐसा नहीं हो सकता कि आप कोई तन्त्र मन्त्र नहीं जानते हों। आप मुझे इस कठिनाई से नहीं उबारेंगे तो मैं मर जाऊँगी।'

दादू ने उसकी कठिनाई का युक्तिपूर्ण निराकरण ढूँढ़ने के लिए स्थिति का अध्ययन करना चाहा। स्त्री से दूसरे दिन उसके पति को बुलाकर साथ लाने के लिए कहा दूसरे दिन दोनों साथ आये। दादू ने स्थिति का अन्दाज लेने के लिए आदमी से कुछ प्रश्न पूछे। पता लगा कि— 'स्त्री पति के कुल से गरीब घर की है। विवाह पूर्व उसकी सेवाभावना पर शीघ्र कर उस आदमी के पिता ने लहकरी को अपनी पुत्रवधू बना लिया था। स्त्री एकदम सम्पन्न और सुखी वातावरण में आई गयी। जीवन स्तर जैसे ही बढ़ा ऊँचा उठता है, सामान्य लोगों में अहंकार, घमण्ड की भावना धीरे-धीरे भर कर लेती है और परिणाम यह होता है कि एक-एक कर सभी सदगुण विदा हो जाते हैं तथा व्यक्ति झुण्डा और तिरस्कार का पात्र बन जाता है।

इसी प्रकार की परिस्थितियाँ उक्त परिवार में घटी थी फलस्वरूप पहले की तुलना में ध्यात व मन कम हो जाने के कारण युवती का मन उद्ध्विग्न हो उठा था।

सन्त दादू ने परिस्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर स्त्री को अलग ले जाकर एक लिखा हुआ मन्त्र का पुर्जा दिया और कहा कि— इसका ताबीज बनाकर अपने गले में पहनना तथा इस मन्त्र को सिद्ध करने के लिए अपने पति की खूब सेवा करना।

मुस्लिम दम्पति चले गये। मन्त्र की साधना के लिए स्त्री अपने पति की खूब सेवा करने लगी और अन्ततः वह प्रसन्न हो गया। वह भी अपनी पत्नी को पूर्ववत् प्रेम करने लगा। स्त्री अपनी सेवा निष्ठा के कारण पहले से भी ज्यादा घर के लोगों की प्रेम भावना हो गयी। दादू दयाल का मन्त्र अपना चमत्कारी प्रभाव दिखा गया।

एक दिन ही बात में स्त्री ने उस मन्त्र और साधना की चर्चा अपने पति से कर दी पुरुष ने कौतूहलवश मन्त्र खोलकर देखना चाहा तो

स्त्री ने मना कर दिया और कहा कि— उस सन्त को यथेष्ट दक्षिणा दिए बगैर ताबीज गले से नहीं उतारूँगे।

दक्षिणा की व्यवस्था की गयी। अपने शौकरों और रिश्तेदारों के साथ सब लोग दादू दयाल के पास पहुँचे। सन्त तो एक क्षण यह जुलूस देखकर स्तम्भित रह गये और स्त्री ने उनका ताबीज सिद्ध हो जाने की बात बताई तो सारी बात समझ गये।

वहाँ सन्त ने सोचा कि लोग इस प्रकार ताबीजों और मन्त्रों के चक्कर में फँस जायेंगे तो जो बात अपना प्रभाव करती है उस सेवा साधना की ओर होने लगेगी इसलिए सब बातें स्पष्ट कह देना ही उचित समझा।

दादू ने कहा— पर उस मन्त्र में कोई छद्म बात नहीं मिली मैंने तो तुमसे जो कहा था वही शब्द उस पुर्जे में भी लिखे हैं। इतना कहकर सन्त ने ताबीज में से कागज का पुर्जा खोलकर पढ़ा— सेवा साधन से भगवान् भी वश में हो जाता है।

वस्तुतः किसी तन्त्र व मन्त्र के पीछे मनुष्य की अपनी संकल्प शक्ति काम करती है। वहाँ भी उस स्त्री के मन की शक्ति ही काम कर रही थी। वह समझ रही थी कि ताबीज की सामर्थ्य से वह सब हुआ है। इस महिला की सेवा साधना का ही सुपरिणाम था कि उसका पति तथा उसके परिवार के सदस्य उससे प्रसन्न रहने लगे थे। सही अर्थों में यह सेवा साधना ही व्यक्ति की लोकप्रियता का आधार होता है।

ब्राह्मणत्व का पालन करने वाले— संत एकनाथ

वर्ग-व्यवस्था की स्थापना किसी समय समाज को सुसंगठित बनाये रखने और उसकी आवश्यकताओं की उचित रूप से पूर्ति होते रहने के उद्देश्य से की गई थी। उसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च पद दिया गया था और साथ ही उनके कर्तव्य भी उतने ही कठिन रखे गए थे। त्यागमय जीवन बिताना और समाज की अधिक से अधिक सेवा करना ब्राह्मणत्व का आदर्श बतलाया गया था। जिन्होंने इसके अनुसार आचरण किया उनके नाम हजारों वर्ष बीत जाने पर आज भी आदर के साथ लिखे जाते हैं। समय के परिवर्तन से इस प्रकार के ब्राह्मणों की संख्या मध्यकाल में बहुत घट गई और अधिकांश ब्राह्मण कर्तव्य को भूल कर केवल अपने विशेष अधिकारों के लिए ही सचेष्ट रहने लगे। ऐसे समय में महाराष्ट्र प्रांत में श्री एकनाथ महाराज ने व्यावहारिक रूप से ब्राह्मणत्व के उदाहरण को उपस्थित करके देश और ज्ञान की उन्नति में विशेष रूप से योग दिया।

एकनाथ महाराज का अविर्भाव अब से लगभग सवा चार सौ वर्ष पूर्व पैठण में हुआ था। यह नगर उस समय में विद्या और शास्त्रों के अध्ययन का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था। दूर दूर के मनुष्य वहाँ के पण्डितों से धार्मिक प्रश्नों पर व्यवस्था लेने आते थे। एकनाथ भी बाल्यावस्था से धर्म में अभिरुचि रखने वाले और बड़े प्रतिभाशाली

तथा मेधावी थे। छोटी अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत में नतचीत करने की योग्यता प्राप्त करली थी। बारह वर्ष की अवस्था तक उन्होंने रामायण, महाभारत, भागवत् के अनेक अंश और कितनी ही पौराणिक कथाओं का अध्ययन कर लिया। इससे उनका ध्यान ईश्वर की तरफ जाने लगा और उनमें आध्यात्मिक ज्ञान की अभिलाषा उत्पन्न होने लगी। एक दिन अन्न प्रेरणा से वे घर से निकल पड़े और देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के शिष्य बन गए। वे जनार्दन स्वामी अपने उच्चकोटि के आध्यात्मिक ज्ञान के कारण 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध थे। वैसे वे चालीसगँव नामक स्थान के प्रधान अधिकारी थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य बार-बार ही जितनी चाहे आध्यात्मिक ऊन्नति कर सकता है और इस बात का उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से पूरा करके भी दिखा दिया था।

जनार्दन स्वामी के पास रहकर एकनाथ छः वर्ष तक आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करके अभ्यास करते रहे। इसके बाद कितने ही मास तक उन्होंने शून्यभज नामक पर्वत पर जाकर एकान्त में तपस्व्य की। जब गुरु ने उनको सब प्रकार से योग्य देख लिया तो तीर्थ-भ्रमण के लिए जाने की आज्ञा दी जिससे संसार का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर सकें, भिन्न-भिन्न स्थानों पर सन्तों और विद्वानों के सत्संग में रहकर अपने अनुभव और ज्ञान की वृद्धि कर सकें और समाज की परिस्थिति को देखकर अपने कर्तव्य का निर्णय कर सकें। उन्होंने दो-तीन वर्ष में भारत के प्रायः सभी तीर्थों की यात्रा की और अन्त में अपने गाँव पहुँच कर गृहस्थ आश्रम में रहने स्वीकार कर लिया।

एकनाथ के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि वे एक महान् आत्मज्ञानी और विद्वान् होने के साथ ही सहिष्णुता और सेवाभाव के मूर्तिमान् अवतार भी थे। कहते हैं कि जिस मार्ग से वे नित्य गोदावरी स्नान करने के लिए जाया करते थे उस पर एक मुसलमान का घर था जो स्वभाव से बड़ा दुष्ट था। वह जब इनको स्नान से लौटते देखता तो जान-बूझ कर ऊपर से कुल्ला कर देता जिससे इनको पुनः स्नान करने जाना पड़ता। इस प्रकार वह इन पर कई-कई बार कुल्ला कर देता। एक दिन उसने हृदय कर दी और एकसौ आठ बार कुल्ला किया। पर धन्य है एकनाथजी की सहिष्णुता कि उस पर जरा भी क्रोध किये बिना वे बार-बार स्नान करते रहे। अन्त में जब बही थक गया, तब इन्होंने उसे धन्यवाद दिया कि आज तुम्हारे कारण मुझे १०८ दफे पवित्र गोदावरी का स्नान करने का पुण्य प्राप्त हो सका। इसके उपलक्ष्य में इन्होंने उसे अपने घर बुलाकर उत्तम भोजन भी कराया। इससे वह अत्यन्त लज्जित हुआ और फिर शिष्य की तरह इनका आदर-सम्मान करने लगा।

इसी प्रकार एक बार कुछ शरापती लोगों ने एक ब्राह्मण को दो सौ रुपये का लालच देकर इनके पास भेजा कि वह किसी तरह इनको क्रोधित कर दे। जब वह इनके स्थान पर पहुँचा तो वे मन्दिर में पूजा कर रहे थे। वह आकर अचानक इनकी पीठ पर बैठ गया। पर क्रोधित होने के बजाय वे उससे कहने लगे कि 'बाह भाई, मेरे पास इतने व्यक्ति आते हैं, पर तुम्हारा जैसा प्रेमी कोई नहीं आया जो आते ही लिपट जाय।' कुछ देर बाद वह इनके सब भोजन करने बैठा तो

अचानक उठल कर भोजन परोसती हुई इनकी पत्नी गिरिजाबाई की पीठ पर बैठ गया। वह देखकर वे हँसने लगे और कहा - "देखना यह बड़ा बालक पीठ से गिरकर चोट न लगावे।" गिरिजाबाई ने भी हँसकर उत्तर दिया कि मुझे बच्चे को पीठ पर लेकर काम करने का अभ्यास है इससे मैं इसे गिरने न दूँगी। "अन्त में अत्यन्त लज्जित होकर उसने पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा माँगी और कहा कि मैंने आवश्यकतावश कुछ लोगों के कहने से ऐसा अनुचित व्यवहार किया। एकनाथजी ने स्वयं ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर दी।

भारतवर्ष में अछूत जाति वालों की दशा आजकल भी बड़ी हीन है। कुछ सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्रीय समाज में उनकी स्थिति और भी शोचनीय थी। पर एकनाथजी उच्चकुल के ब्राह्मण होते हुए भी किसी से भृणा व उपेक्षा का व्यवहार नहीं करते थे, वरन् सब के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त का ही पालन करते थे। एक दिन उनके पूर्वजों का श्राद्ध था और इसलिए गिरिजाबाई ब्राह्मण-भोजन के लिए उत्तम पकवान बना रही थीं। उसी समय कुछ अछूत जाति के व्यक्ति उनके घर की बगल में होकर निकले और पकवानों की खुशबू आने से आपस में चर्चा करने लगे कि "हम लोगों का ऐसा भाग्य क्यों जो ऐसे पकवान पा सकें।" सयोगवश यह बात घर के एक कमरे में बैठे एकनाथजी के कर्णों में सुनाई दे गई। उन्हें इन लोगों की दुर्दशा पर बड़ी दया आयी और उनको घर में बुलाकर अच्छी तरह भोजन करा दिया। इसके पश्चात् रसोईघर और समस्त बर्तनों को फिर खूब अच्छी तरह साफ करके ब्राह्मणों के लिए फिर दुबारा रसोई बनाई। पर उनके लिए बनाया गया भोजन अछूतों को खिला देने की बात सुनकर वे ऐसे नाराज हुए कि उन्होंने खाने से इन्कार ही कर दिया। एकनाथजी के बार-बार आग्रह करने पर भी वे राजी नहीं हुए तो उन्होंने अपनी लाचारी बताकर पित्रों का आह्वान किया। उनकी हार्दिक भावना को देखकर पितृगण सशरीर वहाँ उपस्थित हो गए और उन्होंने भोजन को ग्रहण किया। वह देखकर हठधारी ब्राह्मण बहुत पछताए और क्षमा प्रार्थना करने लगे।

इसी प्रकार एक बार शन्या नामक अछूत ने एकनाथ को अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। उसने कीर्तन करते हुए एकनाथजी को एक उपदेश करते सुना कि "प्राणिमात्र में एक ही परमेश्वर का निवास है।" इस पर उसने सोचा कि यदि हम में भी वास्तव में परमेश्वर का निवास है तो एकनाथजी हमारे हाथ का भोजन ग्रहण क्यों न करेंगे? वैसे भी वह शन्या बहुत ही धर्मनिष्ठ और सदाचारी था तथा कभी मद्य-मत्स के सृला भी नहीं था। एकनाथ ने उसका निमन्त्रण निमस्रचित्त भाव से स्वीकार कर लिया और अन्य ब्राह्मणों के बहुत कुछ बुरा कहने पर भी उनके बहाँ जाकर भोजन किया। इसके लिए कट्टरपंथी उनकी बहुत समय तक निन्दा करते रहे, पर उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह न की।

इसी प्रकार पैठण में रहने वाली एक वेश्या इनके घर कभी-कभी कथा सुन्ने आ जाया करती थी। एक दिन उसने इनके मुख से मागवन् में वर्णित पिण्डनाम की वेश्या का आख्यान सुना, जिससे उसकी

वैराग्य हो गया। वह बार-बार यही विचार करने लगी कि “मैं कैसी पापिनी अभागिनी हूँ जो जीवनभर इन स्वतः, मांस, विष, मूत्र के पिण्ड परपुरुषों का आलिंगन करने में ही लगी रही और कभी अन्तरात्मा में रहने वाले भगवान् का ध्यान भी नहीं किया।” इस प्रकार रंती और पश्चात्ताप करती वह घर में ही पड़ी रही। वह एकनाथजी का स्मरण करने लगी और विचार करने लगी कि क्या वे मुझ जैसी पापिनी को अपनी चरण रज प्रदान करेंगे? एक दिन जब वह इस प्रकार विचार कर रही थी तो उसने उसी समय एकनाथजी को गोदावरी में स्नान करके अपने घर के पास से आते हुए देखा। वह दौड़ती हुई आई और कहने लगी—“महाराज! क्या अब इस पापिनी के घर को अपनी चरण रज से पवित्र कर सकते हैं?” एकनाथजी ने सहज भाव से कहा—“इसमें कौनसी कठिनाई है?” वे घर के भीतर गए और उनके पहुँचते ही वहाँ का पाप पूर्ण वाष्पकरण नष्ट होकर सात्विक भाव का अनुभव होने लगा। वेश्या ने उनसे ‘राम कृष्ण हरि’ का मन्त्र ग्रहण किया और फिर जीवन के अन्त तक भगवान् के ध्यान और पुण्य कार्यों में ही समय लगाती रही।

इस प्रकार एकनाथजी ने अपने उदाहरण द्वारा अपने सम्प्रदाय के लोगों को सच्चे ब्राह्मणत्व का आदर्श दिखलाया कि केवल बाह्य शुद्धाचार और पूजा-पाठ से ही मनुष्य ब्राह्मण नहीं बन सकता, वरन् उसका असली कर्तव्य तो नीची दशा में पड़े हुए प्राणियों को ऊँच उठाकर पुण्य-मार्ग पर चलने की प्रेरणा करना है। जो व्यक्ति समझता है कि नीच या पतित लोगों के संसर्ग में आने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे अथवा हमको पाप लगेगा, वे शुद्धता और ज्ञान का डोंग ही करते हैं। जो निष्काम भाव से किसी जीव के उद्धार के लिए किसी अवसर पर अशुद्ध अथवा पापयुक्त वातावरण में भी जाता है, तो उसका उससे कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। किसी गिरते-पड़ने को बचाने में थोड़ी देर के लिए हमारे हाथ गन्दे भी हो जायें तो उससे हमारी आत्मा दूषित नहीं हो सकती। श्री एकनाथ महाराज ने अजीवन इस प्रकार के सत्यधर्म के पालन का उपदेश देकर अन्त में यह कहते हुए संसार से विदा ली कि—“भगवद् भक्तों मेरे चले जाने के बाद तुम भागवत धर्म का प्रचार जारी रखना और लोगों के विरोध, निन्द्य आदि की परवाह न करके इस पवित्र कार्य के लिए प्राण देने की भी तैयार रहना।”

उपकार का प्रतिफल

कुछ आशीष एक सोंप को मार रहे थे तभी ऊपर आ पहुँचे सन्त एकनाथ, बोले पाइयो इसे क्यों पीट रहे हो—कर्मवश सर्प होने से क्या? यह भी आत्मा ही तो है। एक युवक ने कहा—आत्मा है तो फिर काटता क्यों है? एकनाथ ने कहा—तुम लोग सर्प को न मारो तो वही तुम्हें क्यों काटेगा? लोगों ने एकनाथ के कहने से सर्प को छोड़ दिया।

कुछ दिन पीछे एकनाथ अंधेरे में नदी स्नान करने जा रहे थे। तभी उन्हें सामने फन फैलाये खड़ा सर्प दिखाई दिया, उन्होंने उसे बहुत हटाना चाहा पर वह उस से घस न हुआ। एकनाथ मुड़कर

दूसरे घाट स्नान करने चले गये। उजाला होने पर लौटे तो देखा बरसान के कारण वहाँ एक गहरा खड्ड हो गया है सर्प ने न बचाया होना तो एकनाथ उसमें कब के समा चुके होते।

तुम्बा पलटी की आदत न गयी

सन्त एकनाथ के साथ तीर्थयात्रा पर एक चोर भी चल पड़ा। साथ लेने से पूर्व सन्त ने उससे पहले से चोरी न करने की प्रतिज्ञा कराई।

यात्रा मण्डली को निश्चय ही एक परेशानी का सामना करना पड़ता। रत को रखा गया सामान कहीं से कहीं चला जाता। नियत स्थान पर न पाकर सभी हैरान होते और जैसे जैसे जहाँ लूट से घृद्धकर लाते।

निश्चय की इस परेशानी से तब अक्कर करण की खोज शुरू हुई रत को जागकर इस असह-पुलक की वजह ढूँढ़ने का जिम्मा एक चतुर यात्री ने उठाया।

खुरफाती फकड़ा गया। सबरे उसे सन्त एकनाथ के सम्मुख पेश किया गया। पूछने पर उसने वास्तविकता कही। चोरी करने की उसकी आदत मजबूत हो गई है। चोरी न करने की यात्राकाल में कसम निभानी पड़ रही है पर मन नहीं मानता तो तुम्बा पलटी-इयर से ऊपर सामान रख आने से उसका मन बहल जाता है। इससे कम में क्या चल नहीं सके तो वह कौतूहल करने लगा।

सन्त एकनाथ ने मण्डली के साथियों को समझाया कि मन भी एक चोर है उसे बाहरी दबाव से एक सीमित मात्रा में ही काबू में रखा जा सकता है। आत्म सुधार तो हृदय परिवर्तन से ही सम्भव है और उसे स्वयं ही संवप साधना के आधार पर करना होता है।

दरिद्र नारायण की सेवा ही सच्ची भक्ति

सन्त एकनाथ गंगाजल की काँवर रामेश्वर पर चढ़ाने के लिए हरिद्वार से चल पड़े।

सफ़र तप्या था। रास्ते में कई विराम करने थे। एक जगह उन्होंने प्यासे गधे को देखा जो मरणासन्न स्थिति में पड़ा था। उस क्षेत्र में कहीं दूर-दूर तक पानी था नहीं।

एकनाथ जी को देखा आई। प्यासे गधे को देखकर उन्होंने गंगाजल का एक घड़ा गधे के मुँह में डाल दिया। पीकर वह खड़ा हो गया और बोला दूसरा घड़ा भी पिला दे तो बड़ी कृपा होगी। इसके बिना इस रेगिस्तान से पार जा नहीं सकूँगा।

सन्त ने दूसरा घड़ा भी पिला दिया और खाली काँवर एक ओर पटककर वापस चलने लगे। भगवान् पर जल चढ़ाने का पुण्य न मिला, तो न सही एक प्यासे की जान तो बच गई।

गधा लौट पड़ा। बोला, सन्त आओ गले पिलें और एक दूसरे को निहल करने पर प्रसन्नता व्यक्त करें।

आश्चर्यचकित सन्त का सम्प्रधान करने हुये गधे ने कहा—मैं रामेश्वरम् हूँ। सच्चे भक्त का दर्शन करने हेतु इस मार्ग पर पड़ा

रहता था। पुजारों बहुत निकलते थे, पर दबलु सन्त आप ही मिले, मेरा दर्शन मनोरमपूर्ण हो गया।

एकनाथ ने पीड़ित के रूप में भगवान् को देखकर नमन किया। बोले, अब मैं सदा आपके दरिद्र शरणस्थ स्वरूप की ही पूजा करूँगा और पीड़ितों-पतितों की सेवा में निरत रहकर आपकी सच्ची भक्ति में संलग्न रहूँगा।

धर्म के लिये मर मिटने वाले— महात्मा पाल

जब तक मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में रहता है तब तक उसे सत्य के दर्शन नहीं होते। वह असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझता रहता है। किन्तु जब स्वाध्याय, सत्संग और विचार-चिन्तन द्वारा अपने को प्रकाशित करता है तब सत्य का महान् अनुपायी बन जाता है और जीवन भर उसका प्रचार करता रहता है। उसके सारे पूर्वग्रह नष्ट हो जाते हैं और वह एक सत्य बात को महान् करने लगता है।

सन्त पाल ईसा धर्म के महान् प्रचारक हुए हैं। बिदेशों में और यहूदी जातियों में ईसा धर्म के प्रचार का अधिकांश श्रेय उन्हों को है। पहले सन्त पाल ईसाइयों के शेर विरोधी थे। पर बाद में जब उसके प्रति उनका अज्ञान दूर हो गया तो वे उसके बहुत बड़े प्रचारक बने और उस प्रचार में अपार कष्ट सहें। अन्त में उसी उद्देश्य के लिये प्राण तक दे दिये।

अज्ञानावस्था में पाल ईसाई धर्म के कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि जब महात्मा स्टेफिन को उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए देखा तो लोगों को उनके विरुद्ध भड़कावा और पत्थरों से मार-मार कर मार डालने की प्रेरणा दी। यहूदी लोग वैसा करने को तैयार हो गये। पाल ने उनके लिये पत्थर जमा किये और अत्याचारियों के कपड़ों की खुद रखवाली की। अन्त में उन्होंने महात्मा स्टेफिन को पत्थरों से मरवा ही डाला।

पाल ने ईसाइयों को नष्ट कर डालने की कसम खा रखी थी। उन्होंने येरुशलम में उन्हें बँध नहीं लेने दिया और जब वे येरुशलम से भागकर दमश्क आदि नगरों में भाग गये तो वहाँ भी उनका पीछा किया और बहुतों को मार डाला और बहुतों को जेलखाने में डलवा दिया। इस प्रकार जब पाल ईसाइयों को मारने और नष्ट करने में लगे थे एक दिन उनके भस्तिष्क में आया कि एक बार यह भी तो विचार करना चाहिए कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ठीक भी है या नहीं। ईसाई जिस धर्म के लिये इतना कष्ट सह रहे हैं उसमें क्या विशेषता है। यह पाल के हृदय परिवर्तन का पुण्य क्षण था। उन्होंने निष्पक्षता पूर्वक विचार किया और ईसा के उपदेशों का अध्ययन किया। ऐसा करने से उन्होंने शान्ति, अहिंसा, प्रेम और दया, क्षमा का महत्व समझा। उन्हें अपनी पिछली क्रूरता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे भगवान् ईसा के पक्के अनुयायी बन गये और ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे।

अपने प्रचार कार्य में महात्मा पाल ने अपार कष्ट सहें। उन्हीं की चलाई छिति के अनुसार यहूदियों ने उन्हें येरुशलम में ही पत्थर मार-मारकर मार डालने का प्रयत्न किया। महात्मा पाल के पत्थर लगते थे और वे खुश होकर कहते थे “मारो और मारो— जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है। दूसरों के लिये कुँआ खोदने वाला खुद उसमें गिरता है।” जब महात्मा पालों की मार से चूर होकर गिर पड़े तो लोगों ने उन्हें मरा हुआ समझा और घसीट कर नगर के बाहर खाल आये। किन्तु पाल होश में आते ही फिर धर्म प्रचार में लग गये। अबकी बार लोगों ने उनको एक टोकरी में बन्द करके शहर-पन्नाह के बाहर फेंक दिया। किन्तु वे फिर भी किसी प्रकार बच गये और अपना काम करने लगे।

उनके इस प्रभाव को वहाँ के कट्टर लोग सहन न कर सके और उन्होंने सन्त पाल को बहुत मार कोड़ों से मारा। जब यह अत्याचार भी उन्हें उनके उद्देश्य से विचलित न कर सका तो उनको जेलखाने में डाल दिया गया। उनको काठ में देकर एक कोठरी में बन्द कर दिया गया, किन्तु उनकी दृढ़ता, प्रेम, क्षमा, दया और सहनशीलता ने ज्यादा दिन जेल में नहीं रहने दिया।

अन्त में जब दृश्मिक से पाल येरुशलम आये तो आखिर अज्ञाताधियों ने उन्हें मार ही डाला। इस प्रकार एक बार ज्ञान पाकर पाल जीवन भर उसका प्रचार करते रहे और अन्त में उसी उद्देश्य में हर्षपूर्वक बलिदान हो गये।

धर्म के लिये बलि हो जाने वाले— संत पीटर

ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारक सन्त पीटर प्रारम्भ में मछली पकड़कर बेचने का काम करते थे। वे न तो कुछ पढ़े-लिखे थे और न धर्म-कर्म से ही सम्बन्ध रखते थे। उनकी प्रवृत्ति भी नास्तिकता की ओर झुकी हुई थी। मछली मारना, बेचकर रोटी कमाना और पेट भरकर सो रहना—वही तीन बातों को वे जानते थे। कभी कहीं होने वाले धार्मिक सत्संगों में वे कभी नहीं गए। ऐसे आयोजनों को वे बेचकर भी चीज समझते थे।

एक बार मस्तथा ईसा अपने कुछ शिष्यों के साथ उधर जा पहुँचे जिधर पीटर नाव पर मछली मार रहे थे और कोई उपयुक्त स्थान न देखकर महात्मा ईसा उसकी नाव पर चढ़ गए और लोगों को उपदेश देने लगे। पीटर के जीवन में वह पहला अवसर था, उनको एक महात्मा का सम्पर्क प्राप्त हुआ था और प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला।

मस्तथा ईसा का प्रवचन सुनते-सुनते पीटर अपने आपको भूल गए। उन्हें ऐसा लगा जैसे अमृत की छाय उनके कानों द्वारा हृदय में जा रही है और अन्त में एक दिव्य प्रकाश का जागरण हो रहा है। ईसा का प्रवचन समाप्त हुआ और वे चलने लगे तो पीटर भाव-विह्वल होकर उनके चरणों पर गिर गये और बोले—“प्रभो मैं कृतार्थ हुआ। आपके वचनों ने मुझे मानव जीवन का रहस्य बता दिया। मुझे ज्ञान का प्रकाश मिल गया। अब तक मैंने अपना सारा जीवन

जानवरों की तरह ही बिताया। न कभी सत्संग किया और न महत्त्वकों के वचन सुने। इसका मुझको खेद है। किन्तु इसकी प्रसन्नता भी कम नहीं है कि आज मैं सत्संग का महत्त्व समझ गया। अब आप मुझे अपने साथ ही रख लें जिससे आपके सम्पर्क तथा प्रवचनों का लाभ उठाकर ज्ञान का पूरा प्रकाश पा सकूँ और आगे का जीवन सार्थक बना सकूँ।” महात्मा ईसा ने उन्हें अपने साथ कर लिया।

महात्मा ईसा के कथनानुसार पीटर ने उनके स्वर्गवास के बाद से उनके धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। पीटर ईसा की तरह ही जनता में प्रवचन करते थे। लोगों को सत्य और सदाचार का मार्ग बतलाते थे। इसके अनिरिक्त वे रास्ते चलते लंगड़ों-सूतों और अपाहिजों को सेवा करते रहते थे। पीटर ने कुछ ही समय में हजारों लोगों को ईसा-धर्म में दीक्षित कर लिया।

एक बार जब येरुशलम में पीटर का प्रवचन सुनकर लोग ईसा-धर्म में प्रवेश कर रहे थे, तो वहाँ के कटि-धर्म के मन्ने वाले सदस्यों लोगों ने बड़ा विरोध किया। वे झुण्ड के झुण्ड उनके पास आए और बोले—“तू किसके नाम का प्रचार कर रहा है?” पीटर ने उत्तर दिया—“भगवान् के उस नाम का जो पृथ्वी पर ईसायसोह के नाम से प्रसिद्ध है।” सदस्यों लोग इस बात से बड़े कुपित हुए और बोले—“तू या तो नये धर्म का प्रचार करना छोड़ दे नहीं तो मरने की तैयार हो जा।” पीटर ने उत्तर दिया—“आप लोग जिसको नया धर्म कहते हो वह पुराने धर्म का ही सुधार हुआ रूप है। उसका ही सच्चा स्वरूप लोगों को बतलता हूँ।

किन्तु सदस्यों लोग न माने उन्होंने कहा कि पुराना धर्म जिस रूप में चला आ रहा है तुम उसमें सुधार मत करो। इससे धर्म-क्रान्ति पैदा हो सकती है।” पीटर ने कहा, “मैं एक सद-क्रान्ति ही तो लाना चाहता हूँ जिससे धर्म के नाम पर स्वदियों और कुशितियों की चलती परंपरा समाप्त हो जाए और लोग सत्य का दर्शन पा सकें।”

इस पर सदस्यों लोगों ने उन्हें बुरी तरह मारा-पीटा और धर्म-सभा में मुकद्दमा चलाकर जेल में डाल दिया। किन्तु सत्यवादी पीटर ने जेल से छूटकर फिर वही काम शुरू कर दिया। इस प्रकार वे जीवन-भर जेल और जुल्म सहते रहे किन्तु सच्चे धर्म-प्रचार से विचलित न हुए।

यही कारण है कि ईसाई धर्म के प्रचारकों में सन्त पीटर का प्रमुख स्थान है। यह उसी धर्म के पहले प्रचारक भी हैं। सन्त पीटर ईसायसीह के मात्र शिष्य अथवा अनुयायी ही नहीं थे बल्कि अपने चरित्र और आचरण में उनके प्रतिबिम्ब थे। सन्त पीटर ईसा के समान ही सहनशील, क्षमाशील और शान्ति, प्रेम तथा अहिंसा के पुजारी थे। धर्म-प्रचार के कार्य में उन्होंने अजीवन कष्ट सहे और कतनाएँ योगी, किन्तु अपने उद्देश्य से विचलित न हुए।

पीटर के धर्म-प्रचार से यहूदी जाति के बहुत-से लोग ईसा-धर्म को मानने और उसके नियम तथा रीति-रिवाजों को चलने वाले बन गये। चूँकि ईसा और पीटर यहूदी जाति के थे इसलिये यहूदी, ईसाई उन्हें अपनी ही सम्पत्ति समझने लगे। संकीर्णतावश वे नहीं चाहते

थे कि ईसाई धर्म का प्रचार ऐसे लोगों में किया जाये जो यहूदी नहीं थे, किन्तु सन्त पीटर इस संकीर्णता से परे थे। वे ईसा धर्म में सबका अधिकार मानते थे और सभी जातियों को उपदेश दिया करते थे।

कैसरीया नगर में जाने और वहाँ के लोगों को उपदेश करने पर येरुशलम में यहूदी ईसाई विरोधी हो गये। उन्होंने कहा—“पीटर अनधिकारी जाति को लोगों का धर्म का उपदेश कर के अनधिकार चेष्टा करते हैं।” पीटर की प्रतिष्ठा चली जाने का संयोग आ गया। किन्तु निरहंकर पीटर ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की और स्पष्ट कह दिया—“ईश्वर किसी एक जाति का पक्ष नहीं करना। वरन् जो भी जाति अबया जो भी मनुष्य उससे डरता है, उसमें विश्वास और आस्था रखता है, वह उसे अच्छा लगता है और ऐसी जाति अथवा मनुष्य को सद्गर्प का उपदेश दिया जा सकता है वह उसे पाने का सर्वथा अधिकारी है।”

किन्तु इस कथन से यहूदी ईसाइयों को सन्तोष न हुआ और उन्होंने एक बड़ी भारी धर्म-सभा की और पीटर पर वह आरोप लगाया कि वह उस जाति के लोगों को भी धर्म का उपदेश देते हैं, जो अपवित्र हैं और यहूदी जाति के नियमों से भिन्न नियम मानती हैं। धर्म-सभा ने पीटर से इसका स्पष्टीकरण माँगा। पीटर ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—

“भइयो! मैं संसार की सारी जातियों को उत्पन्न करने वाला एक ही ईश्वर मानता हूँ। इसलिये मेरी दृष्टि में कोई भी जाति अपवित्र नहीं है। यदि किसी जाति के रस्म-रिवाज दूसरी तरह के हैं, तो इससे वह जाति ईश्वरोप उपदेश की अनधिकारिणी नहीं हो जाती। पवित्र आत्मा की छाया उन पर भी उसी प्रकार पड़ती है जिस प्रकार हम लोगों पर।”

पीटर ने आगे कहा—“भगवान् की भक्ति किसी एक प्रकार के रस्म-रिवाजों में नहीं बँधी है। आप लोग भी पहले यहूदी रस्म-रिवाजों को मानने वाले थे। आप लोगों को भी भगवान् ईसा का उपदेश मिला और आप लोगों ने उन पर आस्था की। उनके बतलाये नियम ग्रहण किये। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् की भक्ति किसी प्रकार के रस्म-रिवाज मानने वाले कर सकते हैं। ईसाई धर्म किसी एक जाति के लिये नहीं है। इस धर्म का स्वरूप तो भगवान् की भक्ति, भगवान् ईसा के विश्वास और सदाचार हैं, जिससे सभी जातियों और सभी वर्ग का अधिकार है।”

धर्म-सभा ने पीटर का स्पष्टीकरण स्वीकार किया और सभी जातियों को ईसा-धर्म का अधिकारी मान लिया।

विदेशों में प्रचार करते-करते पीटर रूस देश गये और वहाँ भी अपने धर्म का प्रचार करने लगे। रूस देश का राजा नीरोवड संकीर्ण, अनुत्तर और निर्दयी था। उसने पीटर को पकड़ कर क्रॉस पर लटक देने की आज्ञा दे दी। सजा का हुक्म सुनकर पीटर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—“वह मेरा अहोभाग्य है कि जो सजा धर्म-प्रचार में हमारे प्रभु ईसा को मिली वही मुझे मिल रही है।”

लोकशाह—जिन्होंने धर्म-क्रान्ति का सूत्र संचालन किया

इतिहासकारों का मत है कि पन्द्रहवीं शताब्दी विश्व में धर्म-क्रान्ति की शताब्दी थी। योरोप में इन्हीं दिनों पोप की जर्जर धर्म-सत्ता के विरुद्ध अधिनव धर्म-चेतना जाग रही थी, मार्टिन लूथर के नेतृत्व में। भारत में भी कबीर और नानक जैसे सुधारवादी सन्तों का आविर्भाव इसी समय में हुआ था जिन्होंने धर्म-चेतना पर आ गयी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की राख को हटाया था। आडम्बरों और बाह्याचारों के विरुद्ध सन्त नामदेव के नेतृत्व में एक नया स्वर गूँज रहा था। इन्हीं दिनों जैनधर्म में भी जो शिथिलता और गतिरोध आ गया था उसे दूर करने का उद्योग लोकशाह नामक धर्म-सुधारक ने किया।

चौबीसवें तोर्यंकर वर्धमान महावीर से लेकर जैन मुनि मद्गबाहु तक जैन धर्म की धारा अविकल गति से बढ़ती रही थी। पर उसके पश्चात् जैन संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में बँट गया और उस धारा का प्रवाह भी बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया। उस धारा के जल में वह वेग, वह निर्मलता नहीं रही थी जो नदी की प्रारम्भिक अवस्था में होती है। पूर्वोक्त भारत से श्रमण संस्कृति का पराभव होने लगता है। अधिकांश श्रमण दक्षिण पश्चिम की ओर चल पड़ते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक धर्म-सुधारक ने किसी अधिनव धर्म की सृष्टि नहीं की है वरन् उस सनातन धर्म-धारा में आ गये गतिरोधों, कूड़े-ककड़ों, शैकलों और हाड़-हस्ताड़ों को हटाकर उस धारा की चिरन्तनता का सातत्य बनाये रखा है। जैन मत और बौद्ध मत हो नहीं सभी भारतीय मत उसी धर्म-धारा के सातत्य को बनाये रखने का प्रयास भर थे। भगवान् महावीर का प्रयास भी विवेकशील और पूर्वाग्रह मुक्त धर्मावलम्बियों को ऐसा ही लगता है। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते उस मत में भी कई ऐसी बातें आ गयी थीं कि जो भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के भी विपरीत थीं। स्त्रियों को निर्वाण की अधिकारिणी नहीं मानना और शूद्रों के द्वारा दिये गये अन्न का अहिष्कार करना आदि ऐसी ही बातें थीं जो रूढ़ियों का आकार ग्रहण करने लगी थीं।

इसके साथ ही श्रमणों का जीवन भी अपने मूल उद्देश्य से हटने लगा था। वे भी चैत्य और धर्म-प्रभावना के नाम पर धन की वर्षा करने लगे और पूजा और जिन भक्ति के नाम पर आडम्बर रचने लगे। श्रमणों के जीवन का उद्देश्य घर-घर, गाँव-गाँव जाकर अपने उपदेशों व आचरणों द्वारा अन्न-मन को चेतना प्रदान करना न रहकर मठाधीश बनने जैसा ही बनता जा रहा था। यद्यपि इसके पीछे उनके मन में कोई लौकिक एषणा नहीं थी। यह सब वे धर्म-प्रचार के लिये ही करना चाहते थे। किन्तु आगे चलकर इसका परिणाम शुभ होने वाला नहीं था क्योंकि यह मार्ग ही गलत था, उनके लिये। कहने का

अर्थ यही है कि भगवान् महावीर ने धर्म के क्षेत्र में जो सुधार किये थे वही मत वहाँ आकर सुधार परिष्कार की चाह करने लगा था।

इसे आश्चर्य का विषय ही कहना होगा कि साधु समुदाय के मानस, चिन्तन में आ गये इस शैथिल्य को दूर करने का प्रयास एक सामान्य गृहस्थ द्वारा किया गया। यह गृहस्थ थे—लोकशाह। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में उन्होंने पश्चिमी भारत से धर्म-क्रान्ति का शंखनाद किया।

एक सामान्य गृहस्थ द्वारा श्रमण, योगी और यतियों के विचारों और क्रियाकलापों पर अँगुली ठठाना साधारण काम नहीं था। जैसा कि आज भी कहलवत प्रचलित है। राजा, जोगी और अग्नि से डरते रहना चाहिए क्योंकि ये शीति बहुत कम फाला करते हैं, तो उस समय जबकि धर्म-सत्ता अजब की अपेक्षा कई गुना अधिक समर्थ थी और उस सत्ता के चारक वे श्रमण और यती जिनके तन्त्र-मन्त्रों से सामान्य जन तो क्या बड़े-बड़े राजा और जनपति भी धव छाने थे तो एक सामान्य स्थिति के आकर लोकशाह द्वारा उनके विरुद्ध क्रान्ति का शंख फुँकना किसने साहस, आत्मबल, बुद्धिबल और शास्त्रबल का काम था।

लोकशाह ने क्रान्ति का शंखनाद तो किया पर उसका जो डंका अपनाया वह मुटु का और शिट्टी का था, कठोरता और निन्दा का नहीं। उन्होंने साधु परम्परा की निन्दा नहीं की। उनका विद्रोही स्वर सत्य की दृढ़ता लिये तो था पर उसमें किसी को नीचा दिखाने का भाव उन्हें पराजित करके अपने बुद्धिबल का झण्डा फहराने का भाव नहीं था वरन् वही भाव था कि यह सब हम सबके हित के लिए आवश्यक है। इसलिये मुझे करना पड़ रहा है। उनका विद्रोह भी मर्यादा में बँध हुआ ओचित्य की सीमा में सिमटा हुआ था।

उनकी अपनी बात कहने का तरीका, उनकी भाषा भी शिष्ट है, छानडन-पण्डन का कटु तरीका उन्होंने नहीं अपनाया। वे अपनी बात जनता के सामने, विद्वज्जनों के सामने, विवेकीजनों के सामने रखते थे और कहते थे कि वे इसे समझने का प्रयास करें। यदि बात समझ में आ जाती है तो सहयोगी बने नहीं तो मन में कोई कटुता नहीं लावें। वे अशेष नहीं करते थे, किसी की बात को काटने नहीं थे, अपनी बात कहते थे। किसी के गले उतरती है तो उसे माने बस यही उनका विमल आग्रह रहता था।

लोकशाह एक सामान्य शणिक परिवार में जन्मे थे। घर की आर्थिक स्थिति सामान्य ही थी। विद्याभ्ययन का नियमित अवसर तो उन्हें नहीं मिला पर उन्होंने अपनी आत्मार्जन की लालसा को तृप्त करने की एक राह अवश्य खोज निकाली। उनका हस्त लेख सुन्दर था अतः उन्होंने लिपिक का काम करना आरम्भ कर दिया। उन दिनों आज की तरह मुद्रणालय नहीं थे। अन्य हाथ से ही लिखे जाते थे लोकशाह ने भी 'गन्ने की निम्नी पुष्कर बाजा' जैसा ही काम अपनाया। उनके पास जो ग्रन्थ नकल करने के लिये आते थे उन्हें वे बड़े ध्यान से पढ़ते थे और उनमें निहित विचारों पर चिन्तन, मनन किया करते थे।

२.७६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

जैन धतावलम्बी होने के कारण जैन साहित्य और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन उन्हें विशेष प्रिय था। इस प्रकार नकल करने के साथ-साथ ग्रन्थों के स्वाध्याय और चिन्तन-मनन का क्रम चलता रहा। जब उन्होंने ग्रन्थों में लिखे उपदेशों के, विचारों को प्रचलित धर्म-परम्पराओं में देखने का प्रयास किया तो उन्हें लगा कि बहुत कुछ उन विचारों के विपरीत हो रहा है जो धर्म-ग्रन्थों में संग्रहित हैं तो वे धर्म-परम्पराओं में आ गयी विकृतियों को दूर करने के विषय में विचार करने लगे।

अपनी लगन, जिज्ञासा और चिन्तन, मनन के द्वारा उनके भीतर तलस्पर्शी चिन्तक का जन्म हुआ साथ ही उन विचारों को व्यवहार में लाने के कारण उनके चरित्र में एक प्रखरता भी उत्पन्न हो गयी थी। वे यह कैसे सहन कर सकते थे कि भगवान् महावीर ने जिन श्रमणों के लिये पुण्य की पंखुड़ी का स्पर्श करने और अन्न के एक कण को भी संग्रह करने का निषेध कर रखा था उसी की पूजा और भक्ति के नाम पर पुण्य, अन्न और धन के संग्रह किये जायें। वीतराग कहाने वाले जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर शोधित सजाये जायें। समता और वैराग्य के अवशेषों पर आह्वयों और बाह्यचार की धूल जमते देखकर उनका हृदय वेदना से भर उठा।

यह जानते हुए कि श्रमण समुदाय के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण उन्हें लोक-प्रतिष्ठा का मोह छोड़ना होगा, सुख, सुविधाओं को त्यागना होगा, बड़े-बड़े विरोध और आतंक सामने आयेंगे, बहुत सम्भव है प्राण विसर्जन भी करने पड़ें इस क्रान्ति यज्ञ में, उन्होंने विद्रोह का क्रान्ति का स्वर गुंजाया।

आरम्भ में उन्हें बहुत दुःख सहना पड़ा। अपने धर्मपुरुष, मार्गदर्शक, गृहत्यागी श्रमणों के विरुद्ध जन-सामान्य में जो अन्ध श्रद्धा थी उस अन्ध-श्रद्धा ने उन्हें कण-पण पर अधमनिष्ठ, लज्जित और प्रताड़ित किया। पर वे इस प्रारम्भिक प्रतिक्रिया को अविचलित होकर सह गये। फिर तो कुछ विवेकीजनों ने उनके विद्रोह के अर्थ को समझ, सराहा और सहायता देना आरम्भ किया। घटना का एक मन्त्रद्वय व्यापारी-लक्षपती उनका समर्थक बन गया। उसके प्रभाव से लोकशाह के समर्थकों की संख्या में वृद्धि हुई।

‘सत्य में हजार हाथियों का बल होता है’ इस उक्ति की सत्यता, स्वामी दयानन्द, शंकराचार्य, मार्टिन लूथर, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति कई महामानवों के कर्तृत्व में देखने को मिलती है। वही सत्य लोकशाह के समय में भी उजागर हुआ था। एक सामान्य से लिपिक ने जिसके पास केवल सत्य का बल था उसके अतिरिक्त, न राज्य का बल था, न धन का मर उस सत्य के बल पर उसने तत्कालीन जैन परम्पराओं में श्रमण-संस्कृति में जो विकृतियाँ आ गयी थीं उनके विरुद्ध सफल क्रान्ति का सूत्र संचालन किया।

परम्पराओं के मूल में जो विचार होता है वह कभी मरता नहीं है। उसका प्रारम्भिक प्रवाह तो निर्मल होता है पर आगे चलकर उसमें रुदियों का कचरा आ जाता है। फिर कोई महापुरुष आता है और वह उस कचरे को दूर कर देता है। लोकशाह ऐसे ही एक महापुरुष

थे। अपने अध्यवसाय, आत्मशक्ति और साहस के बल पर वे इस गौरव तक पहुँचे थे। ऐसा साहस जो जुटाता है वही महापुरुष की मणना में गिना जाता है।

सत्य के साधक लोकशाह ने जब आगम के साथ तत्कालीन सामु जीवन के अन्धकार-ज्वार की तुलना की और उन्हें उसमें जमीन और आसमान का अन्तर दिखायी दिया। इस पर वे चुप बैठ आते तो उन्हें यह श्रेय कभी न मिलता। वे चुप नहीं बैठे वरन् क्रान्ति के फटकारकीर्ण पथ पर चल पड़े। अपने पक्ष को घिनम किन्तु दृढ़ स्वरों में मुद्रता के साथ रखने के कारण उन्हें सफ़सला भी शीघ्र मिली। आरम्भ में उनका विरोध साधारण था पर धीरे धीरे यह प्रबल होता गया। वे मूर्ति पूजा और वेत्त परिवर्तन आदि का विरोध भी करने लगे।

यह कत अरम्भ में भी कही जा चुकी है कि समय की अपनी एक गति होती है। काल-चक्र अबाध गति से चलता ही रहता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति का वातावरण भारत में ही नहीं सारे विश्व में भी उत्पन्न हुआ था। उस विराट् क्रान्ति का स्फूर्तिपूर्ण बनकर कुछ व्यक्ति उदंगित हुए थे। उन्हीं में से एक लोकशाह भी थे। समय की इस नियति को, गति को पहचानने और युग धर्म-फलन के लिये उठ खड़ा होने के बीच तो जनमानस में होते ही हैं ऐसे वातावरण में वे शीघ्र अंकुरित होते हैं। अतः जब लोकशाह ने धर्म-क्रान्ति का स्वर निनादित किया तो उसकी प्रतिध्वनियाँ भी सब ओर से उठीं और क्रान्ति का महारथ बन गयीं। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया वह आन्दोलन दिन पर दिन समर्थ होता गया। हजारों साधक उनके इस कार्य को सफल बनाने के लिये निकल आये।

लोकशाह को मृत्यु भी वैसी मिली जैसी प्रायः महामानवों को मिलती है। सुकृत की तरह उन्हें भी विषपान करना पड़ा था सत्य के लिये अपना जीवन समर्पित कर देने वालों के लिये धर्म-सक्ति की क्षा में आये अवरोधों को हटाने के लिये जीवन समर्पित करने वाले महत्त्वपूर्ण का यही अभिनेन्दन किया करता है मनुष्य समुदाय।

हजरत मोहम्मद—सहिष्णुता से हृदय जीता

घटना अरब देश के एक सुसम्पन्न परिवार की है उन दिनों अरब में हजरत मुसा का पुसाई पत बड़े जोरों पर अपना प्रभाव जमाये बैठा था। उन दिनों इस धर्म में अन्धविश्वास, रुढ़िवादिता और कट्टरता प्रधान रूप से विद्यमान थे।

इस धर्म से पूर्व प्रभावित और आबद्ध अजमत नाम की एक महिला थी। इनके पति ‘अमीर’ वास्तव में अमीर थे। खुद ने उन्हें खूब कुछ दे रखा था। किसी भी वस्तु की कमी न थी। अजमत को इस कत का भी बहुत बड़ा धमण्ड था और वह पास-पड़ोस तथा मोहल्ले की सियों में अपने को नवाबजादी बताया करती थी। जब

भी वह कहीं जाती दूसरी स्त्रियों को उपेक्षा नहीं करने से देखती और बात चीत तथा व्यवहार में भी अभिमान एवं अहंकार टपक करता था।

अजमत के घर के बगल से जो रास्ता जाता था उसी से इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब नित्य ही प्रातः-सायं कबु सेवन के लिये निकलते थे। अपने मत को वह सही मानती थी और इस्लाम की निन्दा किया करती थी। मोहम्मद साहब से भी उसे चिढ़ थी। अजमत को ऐसी शरारत सूझी कि वह अपने घर का कूड़ा-कचरा एक टोकरी में इकट्ठा कर लेती और उनकी प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। ज्यों ही वे उस मार्ग से निकलते त्योंही उनके ऊपर निःसंकोच भाव से फेंक देती। ऐसा लगता था खन्ने वह उन्हें कूड़ा-कचरा का घुरा समझती हो।

वही नित्य का क्रम चल पड़ा था। देखने वाले राहगीर और पास-पड़ोस के लोग भी हैरत करते थे। सहिष्णुता और दुष्टता दोनों में जोरों की होड़ लगी हुई थी कि देखें कौन बाजी मार ले जाता है? अन्त में अजमत को हार माननी पड़ी। अत्यन्त दुःख से उसका पश्चात्ताप करने लगी। इसी अफसोस में वह बीमार पड़ गई और चारपाई पकड़ ली।

उस दिन मोहम्मद साहब शान्त भाव से आगे निकल गये और कूड़ा-कचरा उन पर न पड़ा। इसी तरह दूसरा, तीसरा और चौथा दिन भी व्यतीत हो गया, जब अजमत बिल्कुल ही दिखाई न दी। अन्त में मोहम्मद साहब ने पास के एक पड़ोसी से पूछा, “भाई! आज कई दिनों से बहिन अजमत दिखाई नहीं दे रही है?” पड़ोसी मुस्कराते हुए बोला “कूड़े-कचरे का मेह सिर का बरसते हुए अधिक आनन्द आता है क्या?” हँसते हुए मोहम्मद साहब ने कहा, “हाँ भाई बहिन की इन सेवाओं को भी मुझे स्वीकार ही करना पड़ता है। इसलिये तो मुझे इतनी बेचैनी है।” आगे पड़ोसी के द्वारा फलूम हुआ कि वह कई दिनों से बीमार है।

अजमत की बीमारी का समाचार सुनते ही हजमत साहब का चेहरा उदास हो गया, मानो उनका कोई घरम स्नेही सम्बन्धी बीमार पड़ गया हो। तुरन्त ही वे पारिवारिक से आज्ञा लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ अजमत बिस्तर पर लेटी पड़ी हुई थी। उसे इस अवस्था में देखते ही हजमत का हृदय करुणा से भर आया और बोले, “बहिन अजमत, तुम्हारी यह क्या दशा हो गई? तबियत कैसी है?” उन्हें देखते ही अजमत की आँखें शर्म से नीचे गड़ गई। अन्तःकरण अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करके नीचे दबा जा रहा था। आखिर वह बोलती क्या? उसके आँखों के सामने तो वे सब दृश्य नाच रहे थे, जो उनके सख्त व्यवहार किये थे। हजमत उसकी कठिनाइयों और उलझनों को समझ रहे थे।

उन्होंने अधिक वार्तालाप की आवश्यकता न समझी और तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था में लग गये। अच्छे चिकित्सक को लिखकर लाना, दवादारु तथा परिचर्या की व्यवस्था करना मोहम्मद साहब का दैनिक

कार्य बन गया और वह तब तक चलता रहा जब तक कि अजमत पूर्ण स्वस्थ न हो गई।

दूसरों पर रहम करो

नदर के युद्ध में कुरैश लोग बुरी तरह परास्त हो चुके थे और हजमत मुहम्मद साहब के खून के प्यासे हो रहे थे। अनेक कुरैश युवकों ने बीड़ा उठाया था कि हम एक दिन जरूर मुहम्मद का सिर काट कर लावेंगे। दासूर उन्हीं कुरैश युवकों में से एक था।

एक दिन दोपहर के समय हजमत मुहम्मद साहब अपने खोपे से कुछ फासले पर एक वृक्ष की छाँव में लेटे हुए थे। ठण्डी-ठण्डी हवा चलती, तो उनकी आँख लग गई। दासूर उनके पीछे लगा हुआ था। यह मौका पक़ा, तो वह अपने घोड़े को तेजी से दौड़ा कर उनके निकट आ पहुँचा। घोड़े की टाँपों की धनक पड़ी, तो हजमत मुहम्मद साहब जाग उठे। परन्तु, वे समझने भी न पाये थे कि दासूर ने उनके कण्ठ पर तलवार रख दी और अभिमानपूर्वक कहा ‘मुहम्मद, बोल इस वक़्त तुझे कौन बचावेगा?’

मुहम्मद साहब ने गरज कर उत्तर दिया— ‘अल्लाह!’ उनकी आवाज में ऐसी कुछ शक्ति थी कि दासूर का हृदय हिल उठा और उसके हाथ से तलवार छूट कर भूमि पर जा गिरी। मुहम्मद साहब ने पौरन पैतृक बदलकर तलवार उठा ली और उसे खींचते हुए पुनः गर्जन की— ‘दासूर! बोल अब तुझे कौन बचावेगा?’

दासूर कांपते हुए उनके पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ा कर बोला— “वा हजरत, अब आपके सिवा मुझे कोई नहीं बचा सकता।”

यह सुनना था कि मुहम्मद साहब ने तलवार फेंक दी और दासूर से कहा— ‘ऐ बदवसीब इन्सान! इस वक़्त भी तेरे मुँह से खुदा का नाम न निकल्ये! उफ़, तेरे भाषिक मोहताज और कौन होगा? जा, आज से दूसरों पर रहम करना सीख।”

दासूर का हजमत मुहम्मद के इस व्यवहार से ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी समय उन पर ईमान लाया और उनका शिष्य हो गया।

स्वर्ग उन लोगों के लिए है

पैगम्बर मुहम्मद के नती हुसैन बहुत सम्पन्न थे। उनके कई दास थे। एक दिन दास खोलते जल से भर पात्र ले जा रहा था। अन्ध दुर्यन भोजन कर रहे थे। बोझ-सा जल पात्र से उछला और हुसैन के पैरों में छिँट पड़े। वे क्रोध से चीख पड़े। दास वहीं घुटने टेककर बैठ गया, पर डरा नहीं। उसने कुरान की एक आयत पढ़ी— ‘स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो अपने क्रोध को वश में रखते हैं।’

दुर्यन का क्रोध हवा में उड़ने लगा। तभी दास ने दूसरी आयत पढ़ी— ‘और स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो क्षमा करते हैं।’ हुसैन का क्रोध समाप्त हो गया। उन्होंने दास को ठठाकर उसे चार सौ दिरहम देते हुए कहा— ‘आज से तुम स्वतन्त्र हो?’

अब तू मेरी सच्ची बेटा है

हजरत मोहम्मद एक दिन फातिमा से मिलने उसके घर गये। वहाँ जाकर देखा उनकी बेटी हाथों में चाँदी के मोटे-मोटे कंगन पहने है और दरवाजों पर रेशमी परदे लहरा रहे हैं। मोहम्मद साहब बिना कुछ बोले ठलठे पाँव घर से वापस चल दिये और मस्जिद में आकर रोने लगे।

फातिमा कुछ न समझ सकी। उसने अपने लड़के को टौढ़ाया कि देख तो मेरे नाना घर आकर एकाएक वापस क्यों चले गये।

लड़के ने जाकर देखा कि नाना मस्जिद में बैठे रो रहे हैं। उसने घर से एकाएक वापस चले आने और इस प्रकार रोने का कारण पूछा। मुहम्मद साहब ने कहा—“वहाँ गरीब भूख से परेशान होकर मस्जिद के सामने रो रहे हैं और वहाँ मेरी बेटी रेशमी परदों के बीच चाँदी के कड़े पहने मौज कर रही है—यह देखकर मुझे बड़ी शर्म आई और मैं मस्जिद में वापस चला आया।”

लड़के ने जाकर अपने माँ को सारी बातें बताईं। फातिमा ने रेशमी परदों में चाँदी के कड़े बाँधकर पिता के पास भिजवा दिये। मोहम्मद साहब ने उन्हें बेचकर गरीबों को रोटी बँटी और खुश हो जाकर अपनी बेटी से मिले और बोले—अब तू मेरी सच्ची बेटा है।

विवेक का आश्रय

हजरत मुहम्मद ने मुआज को यमना का सूबेदार बनाकर भेजा। जब सूबेदार चलने लगा, हजरत ने पूछा कि वहाँ की समस्याओं का समाधान कैसे करोगे? मुआज ने कहा, “कुरान के आधार पर”। हजरत ने पूछा, “अगर कुरान के साथ समस्याओं का तात्त्विक न बैठा तो?” मुआज ने कहा, “पैगम्बर की मिसाल सामने रखकर”। हजरत ने पूछा, “यदि वह भी ठीक न बैठे तब?” मुआज ने कहा, “अपनी अकल और इन्साफ को आगे रखकर काम करूँगा।”

हजरत ने इसी तरीके को ठीक बताया और समझाया कि हर बात दूसरी के कहने पर ही सही नहीं माननी चाहिये।

उद्दण्डता का प्रतिकार कैसे करें?

अरब देश में इस्लाम अपने प्रथम चरण में था। एक बार कुछ लोग मुहम्मद साहब के पास आये। उन्होंने अतिथियों की मेहमानदारी का प्रबन्ध किया। अपने मित्रों से कहा कि एक-एक अदमी ले लो और उनकी अच्छी तरह सेवा करो।

इन मेहमानों में एक व्यक्ति अपनी उद्दण्डता के लिए कुख्यात था। उसे अपने यहाँ मेहमान बनाना किसी ने स्वीकार नहीं किया। मुहम्मद साहब ने उसे अपने यहाँ अतिथि बनाया। घर में सब लोगों के लिए जितना पका था, वह इस नीवत से सब खा गया कि सब भूखे पेट सोयें। मुहम्मद साहब ने उसे एक अलग कोठरी में सुलाया और आराधदेह बिछौन बिछा दिया। अधिक भोजन कर लेने से उसे बदहजमी हो गयी। उसने बिस्तर भी खराब कर दिया।

सुबह जल्दी उठ कर वह दर से भाग गया। जब मुहम्मद साहब उस को जलपान देने पहुँचे तो उसे न पाकर उन्हें अफसोस हुआ। फिर वे बिस्तर और कमरे की सफाई में लग गए।

वह आदमी अपनी तलवार कोठरी में ही भूल गया था। उसे लेने के लिए वह लौट पड़ा। उसे वह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उसके द्वारा अपवित्र किए कपड़े मुहम्मद स्वयं साफ कर रहे हैं और उनके चेहरे पर क्रोध का कोई चिह्न नहीं है। जब मुहम्मद साहब ने उसे देखा तो प्रसन्नतापूर्वक उस से बोले, “भाई, कहाँ चले गये थे? चलो, नाश्ता कर लो।” उद्दण्ड व्यक्ति शर्म से पानी-पानी हो गया।

श्रद्धालु को अश्रद्धालु न बनायें

हजरत मूसा ने एक अनपढ़ किसान देखा जो ध्यानमग्न होकर प्रार्थना कर रहा है—“हे परमेश्वर यदि तू मेरे पास आ जाय तो तुझे खूब स्नान कराऊँ, अच्छे कपड़े पहनाऊँ, भोजन कराऊँ और पैर दबाऊँ, सुख पहुँचाऊँ।”

किसान की प्रार्थना सुनी तो हजरत मूसा अग्रसन्न हुए और झोंढ़ते हुए बोले—पूछ, ईश्वर कोई मनुष्य धोड़े हो है जो भोजन वस्त्र आदि से प्रसन्न होगा। वह तो निराकार है।

हजरत की बात सुनकर किसान उदास हो गया और सोचने लगा भला निराकार ईश्वर की मैं क्या सेवा कर सकूँगा। मेरे जैसों के लिए तो पूजा का रास्ता ही बन्द है। दु खी किसान ने हजरत से अपने अज्ञान की शमा पांगी और आगे से पूजा-प्रार्थना बन्द कर दी।

परमेश्वर ने सन्देश भेजा और कहा—मूसा हमने तुम्हें श्रद्धालु उत्पन्न करने लोगों के पास भेजा था, कि श्रद्धालुओं को अश्रद्धालु बनाने के लिए।

धर्म और जाति से परे— फकीर अजीजउद्दीन

“आप माला के दाने बाहर की ओर फेरते हैं और हम अंदर की ओर। बताइये इन दोनों में कौनसा तरीका श्रेष्ठ है?” पंजाब के तत्कालीन महाराजा रणजीतसिंह ने सिख साम्राज्य के विदेश मंत्री फकीर अजीजउद्दीन से पूछा और फकीर ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया—“महाराज! मुसलमान माला के दाने बाहर की ओर फेरकर लूट निकालने का प्रयास करते हैं जबकि हिन्दू अंदर की ओर फेरकर गुण ग्रहण करने का वत्सल्य करते हैं।”

धर्म और जाति की सीमा को पार कर मानवता के अनन्य उपासक फकीर अजीजउद्दीन का जन्म नई परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज बुखारा से आए थे। लखौर के प्रमुख हकीम ताल्ल हाकिमराय के पास रहकर इन्होंने चिकित्सा का कार्य सीखा और अपनी योग्यता तथा पश्चिमशीलता के आधार पर यह राज-दरबार के चिकित्सक बन गए। इतना ही नहीं फकीर अजीजउद्दीन महाराजा रणजीतसिंह के प्रमुख परामर्शदाता, उच्च श्रेणी के मनी-विज्ञानवेत्ता तथा बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। उनके जीवन की सरलता, सदागी तथा चरित्र की उत्कृष्टता का महाराजा पर विशेष प्रभाव था।

अजीजउद्दीन अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। जब महाराजा की जिह्वा पर आंशिक रूप से लकवे का प्रभाव हो गया था तब तो इनके उत्तरदायित्वों का क्षेत्र भी बंद गवा था। उच्च अधिकारियों से परामर्श के समय अजीजउद्दीन अनुवादक एवं प्रवक्ता के रूप में सामने आते थे। महाराजा को उनमें कुशल कूटनीतिज्ञ के गुण दिखाई दिए। इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी से पत्र व्यवहार करते समय उनसे सलाह लिया करते थे।

सैनिक और नागरिक सेना में धर्म और जाति भेद को प्रश्रय न देने की नीति में अजीजउद्दीन की प्रेरणा ने ही काम किया था। महाराज को सेनाओं को सही अर्थ में राष्ट्रीय कहा जा सकता था क्योंकि धर्म और जाति के भेदभाव को तिलांजलि देकर सेना में सभी वर्गों के व्यक्तियों को भरती किया गया था। मुसलमान, सिख, ईसाई, खोगरा, राजपूत और गोरखा सभी तो सेना में थे। वे सैनिक राष्ट्र हित में अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। सैन्य संगठन और संचालन में अजीजउद्दीन का प्रमुख हाथ था।

युद्ध संचालन की तरह शांति स्थापना हेतु उनके प्रयत्नों को भी भुलाया नहीं जा सकता। घटना सन् १८०९ की है। सर चार्ल्स मेटकफ सिख राज्य की सीमा निर्धारण हेतु आए हुए थे। दोनों ओर की सेनाएँ तैयार थीं। स्वर्ण मंदिर, अमृतसर के शहीदी जत्थे ने गोरे सेना पर आक्रमण कर दिया। उस समय स्थिति बड़ी पक्कर हो गई। ऐसी विकट स्थिति में अजीजउद्दीन ने महाराजा को सलाह दी कि वह अपने गोविंदगढ़ दुर्ग से निकल कर सफेद कुमाल हिनाते हुए सर चार्ल्स मेटकफ के डेरे की ओर बढ़ें। उनका यह प्रयास शांति का प्रतीक मान्य जायेगा। महाराजा ने ऐसा ही किया। दोनों ओर से मोर्चे बंदी थी। लड़ाई की पूरी तैयारी थी। अजीजउद्दीन की सूझ-बूझ का ही यह परिणाम हुआ कि अमृतसर की युद्ध बंदी संधि हो गई और सारे पंजाब में शांति की स्थापना हुई। न जाने इस भयंकर युद्ध से कितनी धन-जन की हानि होती? महाराजा रणजीतसिंह और सर विलियम बैंटिक के मध्य जो संधि हुई थी, उसके पीछे भी अजीजउद्दीन का ही हाथ था।

जब काबुल के दोस्त मोहम्मद ने सिखों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की और अफगानिस्तान की सीमा पर मोर्चेबंदी होने लगी उस समय भी अजीजउद्दीन ने आगे बढ़कर वार्तालाप की पहल की और महाराजा को रक्तविहीन विजय दिलवाई। अजीजउद्दीन बिदेश मंत्री के रूप में लोकप्रियता प्राप्त करते जा रहे थे। राज्य स्तर की गुप्त से गुप्त मंत्रणा भी इनके अभाव में अपूर्ण मानी जाती थी। वे इस्लाम के अनुयायी होते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रति पूरी श्रद्धा रखते थे। दिसंबर १८४५ में देशभक्त अजीजउद्दीन ने अंतिम सांस ली।

भक्ति-मार्ग के अविचल पथिक— सनम साहब

जहाँ इह और उपासक का प्रश्न है वहाँ यदि उपासना, भक्ति में अविचल निष्ठ रहे तो व्यक्ति धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्णताओं

से ऊपर उठकर सार्वजनीन प्रेम के चरम सत्य तक पहुँच जाता है अपनी उत्कट भक्ति के कारण। उसके लिए फिर मानव मात्र में कोई भेद नहीं रहता। कई कृष्ण भक्त मुस्लिम सन्तों ने हिन्दू, मुस्लिम के विभेद से ऊपर उठकर जन-सामान्य को प्रेम और भक्ति की रस सरिता से आप्लावित किया है। रहीम, रसखान प्रभृति सन्त इसी कोटि के थे। ठसी परम्परा की एक कड़ी थे, सनम साहब।

अपने मार्मिक और भक्ति भावपूर्ण प्रवचनों में उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वरूप पर प्रकाश छलते हुए बताया था—“श्रीकृष्ण को हम दो रूपों में प्यते हैं—निराकार और साकार। निराकार तीन रूपों में अधिव्यक्त होता है—प्रेम, जीवन तथा आनन्द के रूप में। प्रेम ही जीवन विधान है। जीवन सत्यता का आधार है तथा आनन्द ही जीवन का मूल आदेश है। श्रीकृष्ण में ये तीनों भाव प्रखर रूप में उद्भासित हुए हैं। श्रीकृष्ण की भक्ति करने का अर्थ इन तीनों में गहन आस्था रखना है। जो इन तीनों में आस्था रखता है उससे इस जगत का कोई अहित नहीं हो सकता है। होगा तो फल ही। भक्ति का अर्थ वही है कि व्यक्ति में, अपने इह में निहित महाभाव-उपासक में घी उतारे। श्रीकृष्ण का निराकार रूप सब के लिये उपास्य है। उसके लिये हिन्दू, मुस्लिम का भेद करना बेमानी है।” सनम साहब के कथन में निहित इस सत्य को सभी धर्मावलम्बी समझ सके होते तो धर्म के नाम पर अशहज्युता कहीं देखने को नहीं मिलती।

परम सत्य-परमात्मा तक पहुँचने, ईश्वर को पाने के कई मार्ग हैं। उन्हीं में से सबसे सुगम और सहज मार्ग है—भक्ति मार्ग। यही मार्ग सामान्य जन के लिये उपयुक्त है। मन्दिर, मस्जिद और गिरजाओं की स्थापना इसी के लिये की गयी है। वे सब एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। इतने अधिक मार्ग होने से मनुष्य को अपने लिये उपयुक्त, मनभावन मार्ग को पाने के अधिक अवसर मिले हैं किन्तु इन्हें रुढ़ नहीं बना दिये जायें, इतने जटिल न बना दिये जायें कि प्रारम्भिक समनस्य-सहिष्णुता ही नष्ट हो जाय। सनम साहब का जीवन इसी रुढ़िता को मिटाने का अथक् प्रयास कहा जा सकता है।

ऊनोसवीं सदी के आठवें दशक के प्रथम चरण में अजमेर के एक मुस्लिम परिवार में जन्मे मोहम्मद बाकूब खाँ का बड़े होकर सनम साहब बन जाना यह स्पष्ट करता है कि धर्म व्यक्ति की आस्थाओं पर टिकता होना चाहिये न कि जन्म पर। पिता हिन्दू धर्मावलम्बी है या इस्लामप्रिय है वह आवश्यक नहीं कि पुत्र भी उसी मत को माने। ईश्वर में उसकी आस्था जिस मार्ग का अनुसरण करके दृढ़ होती है, मानवता और लोक-मंगल की भावनाएँ जिस पथ पर चलकर क्रियात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं उसे ग्रहण करने में कोई बाधा, दबाव न हो।

किशोर मोहम्मद बाकूब को रसखान, सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं ने ऐसा मोह कि वे भी उसी भाव सरिता में बह चले। पिता सम्पन्न थे, पढ़ने की जिज्ञासा मन में भी ही सो अपनी लग्न और पत्निग्र जुटाकर वे संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता बन गये। इन सभी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले कृष्ण भक्ति साहित्य का गहन अध्ययन किया। श्रीकृष्ण

१.८० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

भक्ति के सर्वांगपूर्ण चरित्र ने उन्हें ऐसा मोह कि उन्होंने अपना सारा जीवन उनकी भक्ति करते हुए लोकसेवा में लगा देने का निश्चय कर लिया।

अपने गुरु की आज्ञा लेकर उन्होंने देश भर में कृष्ण भक्ति और उसके साथ जुड़ी हुई सार्वजनिक प्रेम, जीवन के प्रति दृढ़ आस्था और सुख दुःख से ऊपर उठकर आनन्द के नित्य रस का रसास्वादन करने की भावनाओं का प्रचार करने का उद्योग किया। कहना न होगा कि इस प्रकार के पीछे लोकहित की उत्कट भावनाएँ छिपी हुई थीं।

सनम साहब एक मुस्लिम परिवार में उत्पन्न हुए थे अतः कई मुस्लिम धर्मावलम्बी यह समझते थे कि वे मुसलमान हैं, उन्हें कृष्ण भक्ति का प्रचार नहीं करना चाहिए। किन्तु उन्होंने न तो इस्लाम को छोड़ा था और न हिन्दू धर्म को ग्रहण किया था। वरन् वे तो कृष्ण के परम भक्त बन गये थे। उनकी दृष्टि कल्पमय हो चुकी थी जिसमें हिन्दू, मुसलमान के विभेद का कुछ भी महत्व नहीं था। वे उपासना के क्षेत्र में संकीर्णता को महत्वहीन मानते थे।

उनकी इस दृष्टि को समझ सकना कई इस्लाम धर्मावलम्बी के लिये दुष्कर था। वे उन्हें समझाने के लिये उनके पास पहुँचे। उन्होंने बताया कि आप मुसलमान हैं आपको हिन्दुओं के भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं करनी चाहिए और न ही उसका प्रचार। इस पर सनम साहब ने बताया कि ईश्वर के दरबार में न कोई हिन्दू है न मुसलमान, वह अपने प्रभु को जिस रूप में भजना चाहे वह उस रूप में भज सकता है। भक्ति और उपासना के क्षेत्र में उसके लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है। चाहे जिस मार्ग से हो मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए यह उसकी इच्छा पर है कि वह अपने लिये कौनसा मार्ग उपयुक्त समझता है।

समझाने-बुझाने का उन पर कोई असर नहीं हुआ तो कुछ संकीर्ण-मना धर्मान्ध लोगों ने उनके ज्ञान से मार देने की धमकियाँ भी दीं। पर वे बिचलित नहीं हुए उन्हें ईश्वर ने जिस प्रयोजन से भेजा है वह पूरा होने तक तो उन्हें कोई मार नहीं सकता। “उसे जब तक मुझसे कोई काम लेना होगा तब तक तो मेरा कोई कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता।” यह उनका विश्वास था अतः वे धमकियों से डरे नहीं। कई बार उन पर आक्रमण भी हुए पर हर बार वे बच जाते।

अजमेर में ‘श्रीकृष्ण पुस्तकालय’ उन्हीं के सद्प्रयासों के फलस्वरूप स्थापित हुआ। इस पुस्तकालय के लिये १२०० दुर्लभ ग्रन्थों को संग्रहित करने के लिये उन्हें बड़ा श्रम करना पड़ा था। धर्म और उपासना के क्षेत्र में मनुष्य की स्वतन्त्रता और सभी धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता का यह स्मरक छोटा फल ही हो कम महत्वपूर्ण नहीं है।

सन् १९३४ में महामना मालवीय जी ने उन्हें कण्ठसे आमन्त्रित किया। इनसे भक्ति विषयक वार्तालाप करने पर— उनके लोकहितकारी विचारों को सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए। सनम साहब ने व्यक्तित्व में जिस भक्ति, ज्ञान और विद्वत्ता की निवेष्टी नहीं थी उसे देखकर वे बहुत-बहुत प्रसन्न हुए। महामना ने अपने क्षेत्र में उनके

कई प्रवचन किये। उनकी निष्ठा और भक्ति से कई हिन्दू सन्त, भक्त भी बहुत प्रभावित हुए थे।

कीर्तन करना उनके नित्य कर्म का महत्वपूर्ण अंश था। कीर्तन के माध्यम से जन-जन में भक्ति और उदात्त जीवन दृष्टि का रसोद्रेक करना और उसे दिखाने देने में वे सिद्धहस्त थे। उन्हीं जैसे एक ईसाई कृष्ण भक्त रोनाल्ड निक्सन से भी उनका निकट सम्पर्क रहा। भारतीय संस्कृति और धर्म के एक पहलू भक्ति मार्ग पर आरुढ़ रहकर जन-जीवन में धर्म-व्याप्त को बनाये रखने का उसे विकसित, परिपुष्ट करने का उनका जीवन बड़ा अभूत भूति से चलता रहा था। मार्ग के अवरोधों को परवाह उन्होंने कभी नहीं की।

वे किसी की आस्थाओं पर चोट नहीं करते थे। वे श्रीकृष्ण को अकारण मारते थे, पर जो उन्हें महापुरुष मानते थे उनसे वे किसी प्रकार का कोई मलाल नहीं रखते थे विवाद करने की अपेक्षा वे अपनी भावना को स्पष्ट कर देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे।

१५ अगस्त सन् १९४५ में श्रीकृष्ण की लीला भूमि ब्रजभूमि में उनका देहावसान हुआ। जिस प्रकार जाति का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार किसी विशेष धर्मावलम्बी के घर उत्पन्न होकर ही कोई उस धर्म का अनुयायी नहीं बन जाता यह तो अपनी व्रत्ता का विषय है। व्यक्ति को धार्मिक होना चाहिए यह तो आवश्यक है पर उसके लिये कोई दुष्प्रभाव फलन ठीक नहीं। इस तथ्य की सत्यता और त्वावस्थिरता को उनके जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है।

अन्याय के विरोधी—

हजरत इमाम हंबल

हजरत इमाम अहमद हंबल ईराक के शर्यात सन्त थे। उनका ज्ञान अगाध और वैराग्य अटल था। धर्माधन के वे कट्टर विरोधी थे तथा कुपान की भ्रान्त व्याख्याओं का स्पष्ट खण्डन करते थे। तत्कालीन रुढ़िकारी काजियों के निहित स्वार्थों को इससे घोट पहुँचती। वे कुपान शरीफ की विवेकपूर्ण व्याख्या कर ऐसे काजियों के आचरण की असलियत उजाड़ कर रख देते। इन काजियों की राजसत्ता में पहुँच व सहप्रगिता थी। उन्होंने खलीफा के क्रम भरे कत्ल गया कि सन्त कुपान शरीफ की गलत सलत व्याख्या कर उसे पवित्र ग्रन्थ का अपमान कर रहे हैं।

वयोवृद्ध सन्त को बन्दों बनाकर खलीफा के महल के सामने लाया गया। अन्धधो शासक के अमानवीय अत्याचारों की अनेक घटनाएँ सन्त ने सुन-जान रखी थीं। अतः उन क्रूरताओं का स्मरण कर उनके मन में उबल-धुबल-सी भव रही थी।

तभी महल के द्वार पर पहण दे रहा एक सिपाही सन्त के समीप पहुँचा और फुसफुसाकर कहने लगा— “हजरत, सच्ची बहादुरी दिखाइएगा। जुल्म से डरिएगा नहीं। मैं एक बार चोरी के जुर्म में पकड़ा गया। मुझे एक हजार कोड़ों की सज़ा दी गई। मैंने कोई सह

लिए, पर ज़ुर्म कबूल नहीं किया और मुझे छोड़ दिया गया। मैंने झूठ के लिए इतनी हिम्मत दिखाई, तो फिर आप तो सच के लिए कष्ट सहेंगे। “दर कैसा ?”

बृद्ध सन्त को लगा, जैसे कोई दिव्य-ज्योति पथ-संकेत कर रही है। भावविह्वल हो उठे। वे बोले— “मेरे अन्तर्भाव ! तूने सही समय पर मुझे जगाया है।”

खलीफ़ा के दरबार में सन्त सत्य पक्ष पर अडिग रहे। असत्य के अभ्यस्त लोग भला यह कैसे सहते ? हजार कोड़ों का दण्ड सन्त को दिया गया। हजरत इमाम अहमद का बृद्ध शरीर इतने बेंत सहने लायक नहीं था। पर उनका मन प्रसन्न-संतुष्ट था। क्रूर प्रहारों से शिथिल उनका शरीर घराशाही हो गया। मृत्यु से मिलने की केल में भी हजरत को उस चोर-सिपाही की बातें याद रही और प्रफुल्लित से उन्होंने शरीर त्याग।

धर्मगुरु और शासक हजरत उमर जिन्होंने जिम्मेदारी निभायी

इस्लाम धर्म के आरम्भिक दिनों में शासन-व्यवस्था के साथ-साथ सत्त्ववृत्तियों के सुसंचालन का दायित्व भी उनके कंधों पर रहता था। इसलिए खलीफ़ा वे ही बनते थे, जो व्यक्तिगत की दृष्टि से इसके योग्य होते थे। फलस्वरूप इस कर्तों के ताज को पहनने के लिए अपाधापी भी नहीं होती थी। बुद्धियों के बंध से उस दायित्व से कमराते भी थे, पर उस आवश्यकता की पूर्ति किसे बिना काम चलता भी नहीं था। इसलिए आत्मविश्वासी लोगों को इसके लिए आगे आना भी पड़ता था। वे सामान्य लोगों से अधिक कठिनाइयाँ उठाने से सतर्कता बरतते थे, फिर भी उस कठिन दायित्व के निर्वाह की अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण ही होते रहते थे।

खलीफ़ाओं की जीवन गाथाओं में ऐसे ही प्रेरणाप्रद संस्मरण बड़ी मात्रा में भरे हुए हैं। इन्हीं में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है। यदि ऐसी विशेषताएँ उनमें न रही होतीं तो अपने प्रयास को इतना व्यापक, लोकप्रिय बनाने में वे कदाचित् ही सफल हो सके होते।

रसूल के न रहने पर विरोधियों की बन अक्षी थी। वे न केवल झूठे-सच्चे आरोप लगाने लगे, बल्कि लुक्छिपकर तथा आमने सामने आक्रमण भी करने लगे। साधारण लोग राज्य कर स्वेच्छपूर्वक चुकाने में भी आनाकानी करने लगे। ऐसी दशा में बहुमुखी मोर्चों को संचालन असाधारण काम था, जिसे हजरत अबूबक़ ने बड़ी कुशलतापूर्वक निभाया।

उन्होंने शासन संचालते ही जनता को एकत्रित करके कहा— “लोगो ! मैं तुम पर शासन करने के लिए नियुक्त किया गया हूँ, लोगो ! मैं तुमसे अच्छा नहीं हूँ ? यदि मैं फ़लाई का काम करूँ तो मेरी सहायता करो और अगर मुसई की ओर बढ़ूँ, तो मुझे ठीक कर दो। जब तक मैं श्रेष्ठता के मार्ग पर चलूँ तो मेरा कहना मानना, जब इसके विपरीत करूँ तो मेरी आज्ञा पर चलना अनिवार्य नहीं है।”

शासकीय कर्मचारियों से उन्होंने कहा— “खुदा के बन्दों के साथ फ़लाई करो, भेद-भाव का पक्षपात से दूर रहो। अपने अधिकारों से निकट संबंधियों और मित्रों को साधारण लोगों की तुलना में अधिक लाभ न पहुँचाओ। अपने अधीनस्थ के दुःख-दर्द में सम्मिलित रहो, ऐसा न हो कि वे आपस में हों और तुम मजे करो।”

हजरत अपने नचे हुए समय में निर्बलों की सेवा करने के लिए अवसर निकालने में उत्सुक रहते थे।

खलीफ़ा बनने से पूर्व वे एक बूढ़ी औरत की बकरियाँ चुरा लिया करते थे। जब वे शासक के पद पर पहुँचे, तो बुद्धिया ने अत्याहना देते हुए कहा— “अब तो खलीफ़ा हो गये हो, हमारी बकरी चुराने और दुहने क्यों आना करेंगे ?” हजरत ने मुस्कराते हुए कहा— “नहीं अभी भी मैं तुम्हारी बकरियाँ दुहता रहूँगा।”

— वे खलाफ़त में व्यस्त रहते हुए भी अपने पुत्रैनी बन्धु कपड़ा बेचने के लिए समय निकाल लेते थे, ताकि निर्वाह के लिए जनता का पैसा खर्च न करना पड़े।

— कोई उन्हें अतिथि में शरबन दिस्ताक़ नो इन्कार करने और साथ पानी ही पीते। एक बार साही भण्डार में जमा शहद में से एक गिलास शरबत बना कर दिया। वह भी उन्होंने यह कहकर लौटा दिया कि यह बीमारों और कमजोरों के लिए सुरक्षित रखा जाय।

— स्वर्गवास के समय उन्होंने अपनी सारी निजी सम्पत्ति राज्यकोष में जमा कर दी। वह मात्र मुट्ठी भर कीमत की थी। कफ़न के लिए उन्होंने नया कपड़ा इस्तेमाल करने से मना ही कर दिया और कहा— मुर्दे के लिए पुराने कपड़े का कफ़न काफी है। नया कपड़ा तो जीवित को चाहिए। वे अपने बड़प्पन का इजहार करने के साथ-साथ यह भी कहते कि “दुनिया में सामर्थ्यवानों और साधन वालों का उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है।” कथामत के दिन उनसे पूछताक़ अधिक होती है और सभी एमालनामे की अच्छी खासी सुरेदबीन की जाती है।

हजरत सुलेमान के पास कुछ शिक्षार्थी विद्या ग्रहण करने आया करते थे। गुरु शिष्य मिलकर निर्वाह सम्बन्धी घरेलू कार्यों को पूरा किया करते थे। गुरु इयेसा यह प्रयत्न करते कि बन्धों को कम और उन्हें अधिक काम करने का अवसर मिले। वे पक़ाते भी जाते और काम भी करते जाते। इस प्रकार बिना किसी मौक़र की सहायता के मिल-जुल कर सारे काम निपट जाते। सेटी बनाने से लेकर पशु घराने तक।

सीरिया से एक अप्पेर कुछ सामान लेकर आ रहा था। बोझ भारी था। रास्ते में हजरत सुलेमान मोटे कपड़े पहने और सादे वेशभूषा में मिले। उसने मज़ूर समझकर ग़ड्ढा ले चलने का हुक्म दिया। हजरत ने खुशी-खुशी उठा लिया और उसके घर तक पहुँचाया। जब भेद खुला कि वह तो वर्षों के शासक हजरत सुलेमान हैं तो घबराया और माफी माँगने लगा। हजरत वहीं कहते रहे— “छिदमत का मौक़ा देकर तुमने अहसान ही किया है। माफी किस बात की ?”

हजरत उमर इब्न अब्दुल अज़ेज़ ने मरते समय अपने बच्चों को नुताना। उनके लिए न वे कुछ सम्पत्ति जमा कर सके थे और

५ उन्हें योग्य बना सके थे। इसका कारण बताते हुए उन्होंने बच्चों को समझाया कि मेरे सामने दो ही रास्ते थे। एक तुम लोगों के लिए खुशहाली की सोचना। दूसरा यह कि दीन की सेवा का जो काम फिर पर आया उसे पूरा करना। दोनों में से एक ही काम हो सकता था सो मैंने दूसरा ही चुना। तुम मेरी स्थिति को समझना और खुद भी ऐसा ही करना।

सीरिया फतह करने के बाद वहाँ के शासक सईद बिन आमिद नियुक्त किये गये। समय निकल कर बड़े अफसर को वहाँ के असहाय असमर्थों की सहायता करने भेजा गया। सूची बनी तो सबसे निर्धन वहाँ के शासक सईद का नाम आया। हजरत उमर ने जब उनकी इतनी गरीबी सुनी तो दीनारों को एक पैली बेजी ताकि वे गरीबी से छुटकारा पा सकें। पर उन्होंने यह पैसा लिया नहीं और धर्म युद्ध में लगे सैनिकों की जरूरतों के लिए भेज दिया। वे गरीबी में ही दिन काटते रहे।

हजरत सुलेमान जब मरने लगे तो उनकी आँखों से पानी बह रहा था। लोगों ने पूछा तो उन्होंने कहा— मैं रसूल के राहे कदम न चल सका। उन्होंने कहा था कि आदमी के पास इतना स्वयं होना चाहिए जितना एक मुसाफिर के पास होना चाहिए। पर मैं तो अपना सामान इतना बिखरा दे रहा हूँ। सारा संपन्न बेच कर वह धर्म-सभा में जमा किया गया। उसकी कीमत बीस दिग्य उठी। उस बज्रन को हलका करके हजरत ने अपना मन हलका कर लिया।

शासक सईद के पास हजरत उमर की शिकायत पहुँची कि वे लोगों से मिलने के लिए कम वक्त निकालते हैं। जाँच करने पर मालूम हुआ उनके पास एक ही कपड़ा था जिसे धोते और सुखाते। तब तक नंगे होने के कारण घर से बाहर न निकलते। दिन भर घर का काम करते। बीबी उतनी मेहनत करने की स्थिति में नहीं थी। रात को वे घण्टों नमाज पढ़ते। इतने पर भी जो समय मिलता उसमें लोगों से मिलते और उनकी सारी जरूरतें पूरी करते।

हजरत उमर को मदीने बुलाया गया। उनकी आर्थिक तंगी की रिपोर्ट मिल चुकी थी। सी आवश्यक सामान ले जाने के लिए उनके सामने रखा गया।

उमर ने कहा— सत सीर औ घर छोड़कर आया हूँ सो अनाज का संग्रह करके क्या करूँगा। हाँ बीबी को एक पोली में गुजर चलाने कठिनाई होती है, सो उसके लिए एक और ले लेता हूँ। सुल्तान ने हजरत उमर से कहा— “यदि आप जैसे त्यागी और कर्मठ कुछ और मिल पाते तो मिल्लत का असमान चूमने का मौका मिलता।”

हजरत उस्मान बहुत बड़े व्यापारी थे। मदीने में उन दिनों अकाल पड़ा हुआ था। अनाज के लाले पड़ रहे थे। हजरत उस्मान ने एक हजार ऊँट अनाज मदीने भेजा। यद्यपि व्यापारी उसे खरीद कर भारी लाभ उठाना चाहते थे। पर उन्होंने उन्हें बीच में नहीं पड़ने दिया और हर स्थिति के व्यक्ति को उसके कहे दम पर अनाज दे दिया। फलतः यह अकाल का वर्ष बिना भुखमरी का सामना किये गुजर गया।

सूफी सन्त ‘सरमद’

औरंगजेब जब मरने लगा तो उसने कई मुल्लाओं को बुलाया कि मुझे अपने तीन पाप बहुत भारी मालूम पड़ते हैं। आप लोग किसी तरह उन्हें खुदा से माफ करा दें। तीन पाप थे (१) पिता को जेल में बन्द कर देना। (२) दाएँ पाँख भाइयों को कत्ल करा देना तथा (३) सूफी फकीर सरमद का सिर उतरवा लेना। गुनाह माफ हुए ख नहीं यह तो ईश्वर ही जाने पर वह स्पष्ट है कि मरते समय उसे इन पापों का ख़ाब अवश्य था।

सरमद सूफी सन्त थे। मध्य एशिया से भारत व्यापार के लिए आये थे। पहले वे सिन्ध में निजारात करते रहे, साथ ही सूफी पन्थ का प्रचार भी। जन्मतः वे यहूदी थे। बाद में मुसलमान हुए और अन्त में वेदन्त धर्म के अनुयायी हो गये। दारा उनकी विद्वता और भक्ति से बहुत प्रभावित थे। औरंगजेब ने जब दारा को कत्ल करा दिया तो उसे वह मय बरबर बना रहा कि दाएँ के मित्र और जन्ता में अत्यन्त लोकप्रिय सरमद कहीं उसके लिए कोई संकट खड़ा न करें। वे उसकी आँखों में कौटो की तरह छटकने लगे।

एक दिन औरंगजेब सरमद के पास से गुजरे। देखा कि वे नंग धड़ंग पड़े हैं। कम्बल दूर पड़ा है। औरंगजेब ने कड़ककर कहा— नंगा क्यों पड़ा है, पास में पड़े कम्बल से बदन क्यों नहीं ढक लेता, सरमद ने कहा— इतनी कृपा आप ही कर दें। मुझे तो बन नहीं पड़ता। औरंगजेब ने कम्बल उठाया तो उसके नीचे उन सबके सिर थे जिन्हें उसने कत्ल कराया। औरंगजेब के बूने कम्बल न उठा। तो सरमद ने कहा— तु ही बता— तैरे पापों को ककन्य ज्यादा जरूरी है या अपने बदन को ढकना।

सरमद का दिल्ली की बनता पर असाधारण प्रभाव औरंगजेब से देखा न गया। उसके इशारे पर मुल्ताओं ने इल्जाम लगाया कि वह अधूरा कलमा पढ़ता है। अदालत में पेश किया गया तो वहाँ भी उसने वह अधूरा स्त्रे सुनाया ‘ला इला इललिलाह’ जिसका अर्थ होता है। सही दोषी है। शेष अंश जो रह गया था। वह था। मुहम्मद ‘रसूलिल्लाह’। सरमद का कहना था कि मैंने अभी उस देवदूत का दर्शन नहीं किया। जिन्हें देखना हूँ, दोषी पाता हूँ। इस कथन पर मुल्ताओं की अदालत में सरमद को दोषी पाया गया और उसका सिर उतार लेने का हुक्म हुआ। सरमद का सिर काट लिया गया। जब सिर कटा तो उसमें से तीन बार आवाज निकली— ‘ला इलाह इल्लिल्लाह’। सरमद के सच्चे विश्वास की इस गवाही को देख का सभी दंग रह गये।

जिस दिन सरमद का सिर कट्य उस दिन पूरी दिल्ली में रंज मनाया गया। न किसी के घर में चिराग जला न चूल्हा। बादशाह के सामने कोई कुछ कह ही नहीं सकता था, पर इतना सभी ने अनुभव किया कि एक बेगुनाह सच्चे फकीर का कत्ल हुआ।

औरंगजेब के मन पर उस अन्याय का बोझ जिन्दगी भर तन्दा रहा और जब वह मरा तब भी उसे वह गुनाह बेतरह असुरता रहा।

सूफी सन्त अपनी भक्ति भावना के लिए भारत भर में लोकप्रिय रहे। अजमेर के ख्वाजा भी सूफी थे। जिनकी दरगाह पूजने हिन्दू, मुसलमान सभी जाते हैं। सूफी धर्म के सिद्धान्त, हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन से पूरी तरह तालमेल खाते हैं। सरमद की कब्र दिल्ली में है जिन्हें उनका इतिहास स्मरण है उन सब के सिर उस स्थान के समीप जाकर झुक जाते हैं।

प्रेम और सेवा का अवतार— महात्मा फरशाद

बहराम बिन फरशाद फारस देश के एक बड़े सन्त हुए हैं। उन्होंने प्रेम और सेवा के रूप में भगवान् की प्राप्ति की थी। वे कहते थे कि मनुष्य को हर साँस पर भगवान् का नाम लेना चाहिए। आई हुई एक श्वास ही अपनी होती है। आने वाली दूसरी साँस का कोई धरोसा नहीं। वह आ भी सकती है और नहीं भी। इसलिये अपनी किसी साँस को भगवान् के नाम के बिना बेवश नहीं जाने देना चाहिए।

महात्मा बहराम बिन फरशाद भगवान् का नाम लेते-लेते इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि रोने लगते थे। उनके लिये प्रसिद्ध था कि उनके सामने कैसा ही क्रूर और कुटिल अन्दरों क्यों न जाये वह भी उनकी प्रेम भावना से प्रभावित होकर सज्जन बन जाता था। महात्मा बहराम बिन फरशाद सब में भगवान् की उपाति देखते थे और हर आने वाले को खुद ही पहले उठकर प्रणाम किया करते थे।

एक बार एक बड़ा ही दुष्ट आदमी उनकी प्रेम-परीक्षा लेने गया। महात्मा बहराम बिन फरशाद उस समय भगवान् का पूजन कर रहे थे। उस आदमी को आया देखकर विह्वल होकर दौड़ पड़े और आर्क्षित होकर बोले—“मेरे भगवान् तुम आ गये। आइये और मेरे पास बैठकर मुझे कृतार्थ करिये।” कहने के साथ उन्होंने प्रेमाकुओं से उस आगन्तुक के कपड़े भिगो दिये। आगन्तुक अवाक रहकर उन्हें देखता रहा। फिर उनके पैरों पर गिरकर रो उठा और बोला—महात्मन! मुझे क्षमा करें। मैंने आपको गलत समझा। आप सदात्त प्रेम के अवतार हैं। बाद में वह दुष्ट व्यक्ति उनका शिष्य बनकर बड़ा भारी सन्त बना।

एक बार महात्मा बहराम बिन फरशाद कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक सिपाही एक आदमी को बुरी तरह धर रहा है। वे उसके पास पहुँचे और पूछा—“भाई आप इस आदमी को क्यों धर रहे हो। इसने क्या अपराध किया है।”

सिपाही बोला—इसका भाई मेरे पास नौकर था। मैंने उसे पेशगी रुपये दे रखे थे। मगर वह भाग गया। अब मैं इससे रुपये माँगता हूँ तो यह नहीं देता। इसलिये इसे पीट-पीट कर रुपये वसूल करने की कोशिश कर रहा हूँ। यह बेईमान सीधे तरह मेरे रुपये चोड़े ही देगा।”

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा—भाई तुम्हारे रुपये तो इसका भाई लेकर भाग गया है और तुम मार झपे रहे हो। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई आदमी अपराध करके भाग जाय और

न मिले तो उसका दण्ड उसके किसी सम्बन्धी को दिया जा सकता है। यदि आपके भाई की गलती के लिये कोई आपको दण्ड देने लग तो क्या उसे आप उचित कहेंगे। मेरा ख्याल है, शायद नहीं। इसी तरह इस बात को समझ लो। आप अन्धधुन तो खुद कर रहे हैं और बेईमान इस बेचारे को बतला रहे हैं। यह तो ठीक नहीं।

वह सिपाही बड़ा अहंकारी था। बात का महत्व समझने के बजाय महात्मा बहराम बिन फरशाद पर सीधा हो गया। अपनी मुसीबत किसी भले आदमी के सिर पर जतते देखकर वह आदमी बोल उठा—“मैं अपने भाई को बुलवा दूँगा।” सिपाही उसकी तरफ घूमा और बोला, “तब तक मेरा काम सैन करेगा?”

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने तुरन्त उत्तर दिया—“तब तक आपको काम मैं करूँगा।” सिपाही तैयार हो गया और उन्हें अपने घर लेकर चला गया।

महात्मा बहराम बिन फरशाद बड़े प्रेम और लगन से सिपाही के घर का सब काम करने लगे। वे झाड़ू, बुहारी लगाने, पानी भरने, अटा पीसने और बरतन साफ करने से लेकर सबको नहलाने-धुलाने तक का काम करते थे। जो कुछ खाने-पीने को मिल जाता था खा पी लेते थे, पूजन का समय धुल जाता था कर लेते थे। नहीं तो उसी सेवा को भगवान् का भूजन समझ लेते थे। इस प्रकार कई दिन गुजर गये।

महात्मा बहराम बिन फरशाद के शिष्यों को बड़ी चिन्ता हुई कि गुरु जी कई दिन से कहाँ चले गये थे? ढूँढ़ने-खोजने और पता लगाने उस सिपाही के घर पहुँच गये। उस समय वे बाहर कुँए पर सिपाही को नहला रहे थे। उनको देखते ही सब शिष्य गुरुदेव “आप यहाँ यह क्या कर रहे हैं?” कह कर पैरों पर गिर पड़े। सिपाही यह दृश्य देखकर बड़े सन्तों में पड़ गया और शिष्यों से उनका परिचय पूछा जब उसे पता चला कि यह तो महात्मा बहराम बिन फरशाद हैं, तो वह धबका उठा और पैरों पर गिर कर माफ़ी माँगने लगा। महात्मा बहराम बिन फरशाद ने शिष्यों से कहा कि तुम लोग चलो। मैं इनकी सेवा की अवधि पूरी करके आऊँगा। सिपाही बोला—भगवान् अब मैं आप से सेवा लेने का पाप आगे नहीं कर सकता। महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा—इससे क्या हर्ज है—सेवा करना तो हमारा धर्म है। सिपाही गिड़गिड़ाते लगा—भगवान् जो दण्ड चाहें दे लें लेकिन अब मुझे क्षमा कर दें। बहुत कहने पर महात्मा बहराम बिन फरशाद ने उससे कहा—कि अगर तुम जीवन में किसी को मारने खताने अथवा अन्धधुन न करने की प्रतिज्ञा करे तो मैं अपना सेवा-व्रत अवधि से पूर्व तोड़ सकता हूँ। सिपाही ने ईश्वर को साक्षी का तीन बार कसम खाई और तब महात्मा बहराम बिन फरशाद उसे अशीर्वाद देकर चले गये।

धर्म-सहिष्णु सुल्तान— जैनुल आब्दीन

महाकूट्टर सुल्तान सिकन्दर से परम उदार धर्म सहिष्णु सुल्तान जैनुल आब्दीन का जन्म होना कैसा विचित्र संयोग है। काश्मीर के

१८४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

हिन्दू राजाओं में जो स्थान खलितादित्य मुक्तापी का है, वही मुस्लिम शासकों में जैनुल आब्दीन का है। काश्मीर की जम्हा आज भी इस महान् सुल्तान को 'बड़े शाह' के नाम से खद करती है। सुल्तान जैनुल आब्दीन ने सन् १४२० से १४७० तक ५० वर्ष राज्य किया। इसके शासनकाल में काश्मीर अपने गौरव तथा उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँच गया था। सभी इतिहासकारों ने एक मत से उसे महान् उदार शासक बतलाया है।

सिंहासन पर बैठते ही उसने सबसे पहला काम अपने पिता सिकन्दर द्वारा चलाए कठमुल्लाकाद का अन्त किया। उसने संगीत, नृत्य आदि पर से रोक हटा ली। सुल्तान स्वयं संगीत का बड़ा प्रशंसक था और उसकी सभा में अनेक महान् संगीतकार थे।

सुल्तान ने कलाकौशल और शिक्षा के विकास में बहुत ध्यान दिया। काश्मीरी शालों के लिए सैकड़ों करीगर रात दिन एक से एक सुन्दर डिजाइन और कलात्मक सज्जा की ओर ध्यान देते थे। कितने ही चित्रकार, मूर्तिकार और कलाकार उसके द्वारा पुरस्कृत हुए। उसने शिक्षा के लिए अनेक मदरसे व विद्यालय स्थापित किए। उसने दूर-दूर से मुल्ला, मौलवी, पण्डित तथा आचार्यों को बुलाया और उन्हें जागीर देकर अपने राज्य में बसाया। वह संस्कृत की पाठशालाओं के लिए खुले हाथ दान देता था।

सुल्तान स्वयं फारसी, संस्कृत, लिच्छवी और काश्मीरी इन चार भाषाओं का पण्डित था। उसे नए-नए ग्रन्थ खरीदने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। इस शौक को पूरा करने के लिए उसने एक विशाल पुस्तकालय भी बनवाया। उसने दूर-दूर देशों से हजारों ग्रन्थ पंगवने और खुले हाथ से उनका मूल्य चुकाया, जिन्होंने ग्रन्थ बेचने से इनकार किया उस ग्रन्थ की फौरन साफ सुन्दर अधरों में नकल करवाई। मिस्र और बंगाल तक उसके आदमी पुस्तकों की खोज में घूमते रहे, संस्कृत और फारसी का ऐसा कोई ग्रन्थ न था, जो सुल्तान के पुस्तकालय में न हो।

हजारों ग्रन्थ एकत्रित हो जाने के बाद सुल्तान ने सोचा कि संस्कृत और फारसी दोनों ही भाषाएँ साहित्य की दृष्टि से अस्थिर समृद्ध हैं अतः क्यों न इनके धुने हुए कव्यों व ग्रन्थों का एक से दूसरी भाषा में अनुवाद कर दिया जाए जिससे फारसी के जानकार सम्पूर्ण का और संस्कृत के जानकार फारसी साहित्य का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकें। इस प्रकार के दोनों साहित्यों की महान् सेवा भी हो जाएगी।

ऐसा विचार कर सुल्तान ने एक अनुवाद विभाग खोला और उसने काश्मीर के दिग्गज विद्वानों को इस कार्य में लगाया संस्कृत का ऐसा कोई काव्य-नाटक नहीं था, जिसका फारसी में अनुवाद न हुआ हो। वही बात फारसी के सम्बन्ध में भी थी। उसकी सभा में विद्वानों की कमी न थी। कैगधट्ट नामक एक विद्वान को फिरलैसी का पूरा 'शाहनामा' ही कण्ठस्थ था। उसने संस्कृत में इसका सुललित अनुवाद किया। पण्डित श्रीवर कवि ने जम्भीकृत 'यूसफो जुलेखो' का कथा कौतुकम् नाम से अनुवाद किया। इसी तरह मुल्ला अहमद ने जो फारसी और संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् था, महाभारत एवं

राजतरंगिणी जैसे विशालकाय ग्रन्थों का फारसी में सुन्दर अनुवाद किया।

सुल्तान जैनुल आब्दीन की उल्लेखनीय विशेषता अपनी हिन्दू प्रजा के साथ उदार व्यवहार करना था। उसने उन सभी हिन्दुओं को आदरपूर्वक काश्मीर बुलवा लिया, जो सिकन्दर की कष्टरता से दुःखी होकर जम्मू और पंजाब की ओर भाग गये थे। हिन्दुओं को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई। उनके तीज-त्यौहार एवं पर्वों पर लगी हुई सभी रोक पूरी तरह सम्पन्न कर दी। उसने सिकन्दर द्वारा तुड़वाए मन्दिरों को फिर से बनवाने और नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने की आज्ञा दे दी। सुल्तान ने बहुत-से मन्दिर स्वयं अपने खर्च से बनवाए। उनमें पूर्ति-प्रतिष्ठा के समय होने वाले यज्ञ व उत्सव में वह बड़े असाहस से अपने सभासदों के साथ सम्मिलित होता था।

उसके पिता के शासन-काल में जिन लाखों हिन्दुओं को धर्म-बदलने के लिए बाध्य किया गया था, उन्हें उसने बड़ी ठाढ़ता से आज्ञा दे दी कि यदि वे चाहें तो फिर अपने धर्म में वापस जा सकते हैं। सुल्तान की इस दैवीपरम उदारता से बहुत से लोग फिर अपने पुराने धर्म व जाति में आ गए। हिन्दुओं का दिल जीतने के लिए वह दरबारियों के साथ उनके उत्सवों में सम्मिलित होता था, झेलम नदी के जन्मोत्सव के अवसर पर वह नदी के दोनों ओर होने वाली दीपमाला को देखने के लिए खारी रात नदी में ही नाव पर बिता देता था। जगह-जगह होने वाले संगीत-समारोह, नृत्य आदि देखता और दूसरे दिन आयोजित पुष्प-प्रदर्शनी में भाग लेता एवं सबको दान, पान और पुरस्कारों से सन्तुष्ट करता था।

सुल्तान जैनुल आब्दीन जाति और धर्म की संकीर्णता से बहुत ऊपर उठा हुआ था। योग्य व्यक्ति ही उसके शासन में ऊँचे पद पर आते थे। जाति और धर्म का उसमें कोई भेदभाव नहीं होता था। यही कारण था कि उसके समय में हिन्दू बहुत ऊँचे और विश्वस्त पदों पर आसीन थे। कपूर भट्ट और शिव भट्ट नामक दो आयुर्वेदचार्य ब्राह्मण सुल्तान के व्यक्तिगत चिकित्सक थे। तिलकराचार्य नामक एक बौद्ध विद्वान् ब्राह्मण सुल्तान के उच्च-न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश था। सिंह भट्ट और रुक्मिण भट्ट उसकी सभा में महान् उद्योतक थे।

सुल्तान बहुत न्यायप्रिय था। वह जब-तब राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता रहता था और खलीफा हार्क रशीद, विक्रम एवं भोज आदि की तरह वेश बदल कर रात को घूम करता ताकि प्रजा के सुख-दुःख का पूरा-पूरा पता लग्न सके। यदि उसे कोई सरकारी अधिकारी रिश्वत लेता हुआ या अत्याचार करता हुआ मिल जाता तो वह उसे सख्त सजा देता था। उसने पौरव सम्राट अशोक की तरह अपने राज्य के नियम बड़े-बड़े शिलालेखों में खुदवा दिए थे। गाँव-गाँव में ताम्रपत्रों पर उसकी विभिन्न आज्ञाएँ खुदी रहती थीं। आज भी श्रीनगर के पुरातन संग्रहालय में उसके बहुत-से ताम्रपत्र एवं शिलालेख देखे जा सकते हैं।

सुल्तान ने काश्मीर की आर्थिक स्थिति सुधारने का बहुत चत्न किया। उसने खेती की दशा सुधराने के लिए अनेक नहरें बनवाईं

श्रीनगर की भार-नहर पर सात पुल बनवाये, जिससे आवागमन और व्यापार में बहुत सुविधा हो गई।

कला की उन्नति के लिए उसने अपने अद्वयी प्रशिक्षण के लिए दूर-दूर देशों में भेजे ताकि वहाँ से नई नई चीजें नए-नए इत्म व हुनर सीख कर आये। उसने यह नियम बना दिया था कि कोई भी विदेशी काश्मीर को जब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कि अपनी कला लोगों को सिखा न जाए। इन कारणों से काश्मीर में कलाकौशल की अभूतपूर्व उन्नति हुई। शालों की कटाई बुनाई में तो सदियों बाद आज भी कोई काश्मीर के सामने टिक नहीं सकता। इसी प्रकार लकड़ी का काम, कागज बनाना, आतिशबाजी, रेशम आदि के निर्माण में भी यह प्रदेश बहुत बढ़ा-चढ़ा था और ये चीजें दूसरे देशों को भी पर्याप्त मात्रा में भेजी जाती थीं।

सुल्तान बहुत न्यायप्रिय था। न्याय करते समय वह धनी-निधन, ऊँच-नीच और अपने पराये का भेदभाव पास फटकने भी नहीं देता था। चाहे किसी ने अपराध किया हो, उसे उचित दण्ड प्रयोग ही पड़ता था। एक बार उसके एक विश्वस्त साथी मीरसाह ने क्रोध में आकर अपनी पत्नी को हत्या कर दी। सुल्तान ने इसके फलस्वरूप उसको मृत्युदण्ड दिया था।

सुल्तान अत्यन्त दयालु था। उसने चोर, डाकुओं को मिलने वाला मृत्युदण्ड समाप्त करके उन्हें उपयोगी कामों में लगाया। उन पर कड़े नहीं बरसाए जाते थे, सिर्फ जंजीर से बाँधकर रखा जाता था और खेती, खान आदि में उनसे काम लिया जाता था। उसने यह नियम भी बना दिया था कि किसी गाँव या नगर में यदि चोरी, डकैती होगी तो उसके मुखिया को वह सारी रकम भरनी पड़ेगी। इस नियम के कारण सभी मुखिया बहुत चौकन्ने रहने लगे और काश्मीर राज्य से चोरों का अस्तित्व ही मिट गया।

सुल्तान के सम्बन्ध अन्य देशों से बहुत ही मैत्रीपूर्ण थे और उनके समय-समय पर बहुमूल्य पेटों का आदान-प्रदान हुआ करता था। एक बार तैमूरलंग के विद्वान् पुत्र समरकन्द के शासक शाह्रुख ने सुल्तान के लिए बहुत से हाथी, हिर, जकहज़त भेंट भेजे। सुल्तान ने धन्यवाद सहित उन्हें वापस करते हुए एक पत्र लिख भेजा—“यदि आप इनके स्थान पर मेरे लिए कुछ विद्वान् तथा अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के ग्रन्थ भेज सके तो मुझे बड़ी खुशी होगी।” इससे यह ज्ञात होता है कि सुल्तान की नज़र में हिर-जकहज़त से भी ज्यादा कीमत एक विद्वान् की थी।

सुल्तान प्रजा-पालन की ओर भी खूब ध्यान देता था, वह प्रजा के सुख और हित के लिए सर्वस्व त्यागने को तैयार हो जाता। सन् १४६० में काश्मीर घाटी में भयंकर हिमपात हुआ, जिससे धान की फसल को बहुत हानि पहुँची। भूख के कारण लोग जड़ें और पत्तियाँ तक खाने को मजबूर हो गए। हजारों व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर भरने लगे। लोगों ने अपनी जमीन, मकान, गहने आदि गिरवी रखकर अन्न खरीदा। यह संकट देखकर सुल्तान ने सरकारी गोदामों के द्वार खोल दिए। सभी को मुफ्त अन्न बाँटा जाने लगा जब अकाल

दूर हो गया तो सुल्तान ने विशेष आज्ञा निकाली कि कोई भी व्यापारी अन्न की कीमत के रूप में गिरवी रखी हुई—किस्ती भी चल या अचल सम्पत्ति पर अधिकार न करे। अन्न की सारी कीमत सरकारी खजाने से चुकाई जायेगी। इस तरह उस दयालु और उदार सुल्तान ने अपनी सारी प्रजा का काम खुद ही चुकाया।

सुल्तान जैनुल आब्दीन की ६९ साल की अवस्था में १२ मई, १४७० सुक्रवार को मृत्यु हुई। उस दिन राज्य में किसी के घर चूल्हा नहीं जला। सारी प्रजा अपने पितृतुल्य सुल्तान के लिए रो रही थी। सुल्तान की इच्छानुसार कब्र के पत्थर पर कर्मसंश्रुता, संस्कृत और फ़ारसी भाषाओं में नाम व लेख खोदे गये। सुल्तान की कब्र पर तीन प्रमुख भाषों की तीन भाषाओं में खुदे हुए वे अक्षर आज भी उस धर्म-सहिष्णु सुल्तान की अमर-गवा गा-रहे हैं।

आज भी काश्मीर में आकर आप किसी बृद्ध काश्मीरी सज्जन से सुल्तान जैनुल आब्दीन की चर्चा करें तो वह आपको भावविभोर होकर बड़े प्रेम से अपने ‘बड़े शाह’ से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ सुनाएगा। उन पर भले ही आपका पूरा-पूरा विश्वास न हो पर उन शब्दों के पीछे छिपी उन मोले लोगों की इच्छा से आप प्रभावित हुए बिना न रहेंगे। पाटलिपुत्र में जो स्थान सम्राट अशोक का और उज्जयिनी में विक्रमादित्य का है वही स्थान श्रीनगर में सुल्तान जैनुल आब्दीन का है।

इन्हे सिना—ज्ञान ही जिनका अराध्य देवता था

सन् १००० के आस-पास की बात है। बुधवार में उस समय सुल्तान अन्न मंसूर का राज्य था। भोग-विलास और ऐशो-आराम के जीवन ने उनके स्वास्थ्य को बड़ी बुरी तरह झकझोर कर रख दिया। सुल्तान एक भयंकर रोग का शिकार हो गया और अब तक की स्थिति आ गयी। चारों ओर नज़रें दौड़ाई गयीं। चिकित्सक बुलाये गये परन्तु कोई भी औषधि काम करती नहीं दिखायी दे रही। निश्चयन लगता था यह कि सुल्तान बच नहीं सकेगा। मुल्ला और मौलवी अन्तिम समय में अदा किये जाने वाले रस्म-रिवाजों की व्यवस्था तैयारी कर रहे थे।

तभी राजमहल के सिंहपौर पर सत्रह-अठारह वर्ष का कोई किशोर आकर चौकीदार से कहने लगा—जरा सम्राट तक यह समाचार पहुँचा देना कि मैं उसकी चिकित्सा करना चाहता हूँ। ठीक हीना तो मालिक के लक्ष में है फिर भी मैं अपना प्रयोग तो कर देखूँ। मुझे पूरा यकीन है कि सुल्तान ठीक हो जायेंगे। सत्रह-अठारह वर्ष का यह किशोर! सुल्तान के रोग का उपचार कर सकेगा। मुश्किल है यह बात। अस्सी अस्सी वर्ष के अनुभवी और बृद्ध हकीम जब सुल्तान की बीमारी ठीक नहीं कर सके तो यह कत्त का चोकरा ऐसी निश्चित बात कैसे कह रहा है। जरूर इसका दिमाग फिर गया है और चौकीदार ने डाँटते हुए कहा—चल-चल! क्यों अपनी जान का दुश्मन बना हुआ है

२ ८६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

यह समझ ले अच्छी तरह कि यदि सुल्तान को कुछ हो गया तो तेरी गर्दन अलग करवा दी जायेगी ।’

कुछ होना न होना तो ऊपर बाते के हाथ में है भाई उस युवक ने कहा— मैं तो यकीन भर दिला सकता हूँ कि मेरी दवाई चर्ब नहीं जायेगी

‘कभी किसी का इलाज भी किया है । जो यकीन होने लगा मुझे और हम क्या बेवकूफ समझ रखा है कि हम इतनी आसानी से गुश्न जैसे गैर-तजुर्बकर को सुल्तान तक पहुँचने देंगे ’—अर्दली लोग अपनी बात पर अड़े हुए से मलूम देते थे । और आगस्तुक किशोर इन लोगों की कमजोरियों को अच्छी तरह जानता था । उसने जब में हाथ डाला और एक सिक्का निकाल कर देते हुए कहने लगा— कबन जाने मेरे दोस्त । मेरा इलाज सुल्तान को एकदम ठीक कर दे । तुम लोग अपनी जिद भी बर्बाद अड़े हुए हो जाओ और जरूर पूछ कर तो आओ ।’

सिक्के ने सचमुच जादू का-सा काम किया । एक अर्दली दौड़ता हुआ अन्दर गया और कुछ ही मिनटों बाद वापस लौटा तो उसकी मुछमुछा पर स्वीकृति की सूचना झाँक रही थी । अर्दली ने आकर भी वही कहा— ऐ भाई तुम अन्दर जा सकते हो ।

और राजमहल के अन्तर्कक्ष में जाकर युवक ने सुल्तान की रोग परीक्षा की । उसका उपचार आरम्भ किया । औषधियों से अधिक युवक के प्रेम प्रदर्शन ने काम किया । वस्तुतः अपने चारों ओर चापलूस, खुशामदखोर स्वार्थी लोगों का जमघट लगा रहने के कारण सुल्तान सच्चे और श्रद्धा के अभाव में जीवन के प्रति अभ्रम्यस्तु, निराशा और हताशा हो चुका था । जीवन की आशा ज्येति ही जब बुझ गयी हो तो कोई सार्थकता नहीं रह जाती है जीने में और वह जीवन मृत्यु की एक शामिल प्रतीक्षा ही बन कर रह जाता है ।

सुल्तान का जीवन भी मृत्यु की प्रतीक्षा ही बन कर रह गया था । लेकिन जब उसे नये वैद्य किशोर को औषधियों के साथ क्रमशः प्रेम, स्नेह, आशा और उत्साह मिलने लगा जो सूखी पड़ी जीवन की बेल पुनः हरी-भरी होने लगी । कुछ ही दिनों में सुल्तान का स्वास्थ्य लौटने लगा और रोग विदा आने की स्थिति में आ गया । लौटते हुए सुल्तान के स्वास्थ्य ने महलवासियों की दृष्टि में युवक का मूल्य और महत्व बढ़ा दिया । एक दिन जब सुल्तान आराम से ले कर उठा था । अपने पास उसी युवक को बैठा पाया । रात अपने पूरे उपार पर थी और ऐसे समय में परिचारक का लगते हुए मिलना वस्तुतः एक सुखद आश्चर्य ही था । कृतज्ञता से भर उठा सुल्तान और उसने पहला प्रश्न किया— ‘आप कौन हैं ?’

‘मैं आपके अदना सा सेवक हूँ ।’

सुल्तान का तात्पर्य कुछ और ही था । वह अभी तक अपने वैद्य का परिचय भी नहीं जान पाया था और युवक का उतर उसका अपना परिचय नहीं था । इसलिए और अधिक स्पष्टता से सुल्तान ने पूछा— मेरा मतलब है आपको परिचय प्राप्त करना । मैं आपको अभी तक नहीं जान पाया है कि आप किन्के साहबजादे हैं ।’

‘मैं अन्द अल्लाह का बेटा हूँ और मेरा नाम है अबुआनी इब्ने सिना ।’

‘अच्छा अच्छा’— सुल्तान ने अपनी स्मृति पर जोर डालते हुए कहा— वही इब्ने सिना । जिन्होंने कम उम्र में ही गणित, दर्शन और हकीमी में क्रांतिलिखत कर ली है ।’

इब्ने सिना की आँखें अपनी प्रशंसा होते देख शर्म से झुक गयी सुल्तान और अधिक कृतज्ञता दर्शाते हुए कहने लगा— ‘अब आप भी मुझे उपकार का बोझ प्रतिदान करने का मौका दें । सुबह तक आप फल्ले-भोल्ले विचार करलें और अपनी मनपसंद वस्तु का नाम मुझसे कह दें । वह चाहे जो भी हो मैं उसे अवश्य दे दूँगा । आपने मुझे मेरी दुनिया की अनमोल चीज दी है— जीवन ।’

‘नहीं ! नहीं !!’ इब्ने सिना ने कहा— मैंने ग्रन्थुपकार के लिए यह सब नहीं किया था । आपके सघों हमारे देश का भविष्य है इसलिए आपके स्वास्थ्य की चिन्ता करना मैंने अपना कर्तव्य समझा और उसका ही पालन किया ।’

‘मैं आपकी भावना को समझता हूँ’— सुल्तान बोला ‘मैं जानता हूँ कि आपने यह कर्ब ग्रन्थुपकार के लिए नहीं किया था । फिर भी आपकी सेवा का जो गहन धार मैं ऊपर है उसे बोझा हलका करने के लिए ही वह है ।’

‘ठीक है’— सुल्तान की भावनाओं का खगल रख कर इब्ने सिना ने कहा । अन्यथा व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपने लिए कुछ प्राप्त करने की तनिक भी आकांक्षा नहीं थी । सुबह सुल्तान ने दरबार में आने की घोषणा करा दी । अब इस योग्य हो गया था कि धीरे धीरे सामान्य दिनचर्या बना सके और उस रोज दरबार में सम्राट को स्वास्थ्य लाभ के लिए बधाइयाँ देने कल्लों का ताँता-सा लग गया । सामान्य कार्यकारी से लेकर जन-प्रतिनिधि और उच्च अधिकारियों तक ने सम्राट के लिए प्रभु से दुआ माँगी । दरबार से सम्राट के समीप ही इब्ने सिना को बिठाया गया । सभा की कार्यवाही इस नन्हें से कुशल चिकित्सक को पुरस्कृत करने की ध्येयता से आरम्भ हुई ।

सभी सभासद यह भली-भाँति जानते थे कि सुल्तान पर इब्ने सिना का महती उपकार है और उसके लिए इब्ने सिना पुरस्कार में जो भी माँग रखेगा वह मिल जायेगा । पूरी रात सोच-सोच कर इब्ने सिना ने अपना मन-पसन्द पुरस्कार चुन लिया था जब वे खड़े हुए यह कहने के लिए कि मैं वह पुरस्कार लूँगा तो लोगों के मुँह पर कौतूहल के भाव थे ।

इब्ने सिना ने सम्राट के अभिमुख होकर कहा— महाराज आप मुझे पुरस्कृत करना ही चाहते हैं तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ जो मुझे आश्वासन है कि मेरी मन-पसंद वस्तु मिल जायेगी । सभासदों का कौतूहल वह सुनकर और बढ़ गया । सचमुच इब्ने सिना सम्राट की सर्वाधिक प्रिय वस्तु ही माँगेगा । वह खज्ज और जागीर से लेकर सुन्दर महल और खूबमूरत स्त्री बेगम का बेटी भी हो सकती है । लोगों की आतुरता बेहद बढ़ गयी ।

और इन्हे सिना ने कहा— मैंने सुना है कि आपके पास एक बहुत अच्छा और समृद्ध पुस्तकालय है। अगर आप मुझसे खुश हैं तो मुझे इस पुस्तकालय में अध्ययन करने की अनुमति दें ?

लोग सुनकर बड़ी हैरत में पड़ गये। इन्हे सिना को मिले हुये हुए अवसर का लाभ उठाना नहीं आया। वह मूर्ख हो गया है। उस समय दरबार में उपहासास्पद अट्टहासों का सम्मिलित शोर गूँज उठा। सब अपनी सपझ में बुद्धिमान थे। जिन्हें इन्हे सिना जैसे मूर्ख पर हँसने का अन्य ज्ञान अधिकार था। लेकिन सुल्तान की दृष्टि में इन्हे सिना का मूल्य और भी अधिक बढ़ गया था। क्योंकि उन्होंने बड़े प्रयत्नपूर्वक संजोये और एकत्रित किये गये ज्ञान के प्रकाश स्रोतों के पाठ का महानतम बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया था।

अपने वायदे के अनुसार ज्ञान और विद्या के उस श्रेष्ठतम भंडार से मंसूर ने इन्हे सिना को भगवती सरस्वती की आराधना का अवसर दिया और इन्हे सिना अहर्निश उसी पुस्तकालय में बैठे रहकर संसार के सर्वश्रेष्ठ विद्या ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। उन दिनों जबकि इन्हे सिना निष्ठापूर्वक ज्ञान साधना में लगे हुए थे— स्मरण करते हुए उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— “मैं रात को बिन्कुल सो नहीं पाता था। मैं सदा पुस्तकों की ओर ही केन्द्रित रहता। जब कभी ऐसी गुन्थियाँ आ जातीं जिन्हें मैं समझ नहीं पाता तो मेरी परेशानियाँ बढ़ जातीं और मैं भस्मिन् में जाकर अलस्य से प्रार्थना करता कि गुन्थी को सुलझाने की शक्ति दे मुझे। रात को देर तक चिराग जला कर पढ़ता रहता और जब मेरी आँखों को नींद थका देती तो सो जाया करता। यह क्रम अनवरत चलता रहा। मुझे कभी अपने ज्ञान पर संतोष नहीं हुआ।”

यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि जीवन में उपलब्धियों के सभी क्षेत्रों में संतोष को सुख और प्रगति का अन्तिम मार्ग समझा जाता है परन्तु ज्ञान-साधना में तो असंतोष है विकास का मार्ग। उसके बिना कोई भी ज्ञान पिपासु इष्ट धर्म भी आगे नहीं बढ़ पाया। इन्हे सिना को आजीवन अपने से असंतोष ही रहा। परिणामस्वरूप वे बृद्धावस्था में भी पुस्तकों के लिए यत्र-तत्र भटकते रहे और सुरापान करते रहे उन लोगों की, जिनके पास उन्नीस मन्ग्राही पुस्तक मिली।

आजीवन अतृप्त रहने वाली यह ज्ञान पिपासा उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिली थी। उनके पिता के पास भी सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ थे और वे स्वयं उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहते। रात में जब कभी इन्हे सिना की आँख खुलती तो वे पुस्तकों के ढेर के बीच चिराग की रोशनी में झुके हुए अध्ययन करते अपने पिता को देखते। इसी प्रेरक परिवेश ने इन्हे सिना को ज्ञान साधना के पथ पर आरुढ़ कर दिया। युवावस्था तक तो उन्होंने तर्कशास्त्र, विज्ञान, गणित और चिकित्सा के विषयों का अधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इन्हे मंसूर के ग्रन्थालय में उन्होंने अदु-नन्न-अलफराबी नामक दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ा और वे अघ्यात्म विज्ञान की ओर अग्रगण्य हुए। इसके बाद तो उन्होंने विख्यात दार्शनिक अरस्तू के भी कई अन्य ग्रन्थों का बीसियों बार अध्ययन कर डाला।

सन् १०१२ में उनके पिता का देहांत हो गया। अब उनकी परीक्षा का समय आया। अभी तक तो उनके और परिवार के निर्वाह का दायित्व पिता सम्हाल रहे थे। इसलिए ज्ञान साधना में कोई अवरोध नहीं आ पाया था। लेकिन पिता का देहांत हो जाने से ज्ञान साधना में बड़ा भारी व्यतिक्रम आ उपस्थित हुआ। परिवार की जीविका के लिए भी उन्हें ही चिंतित होना पड़ा। दुनियादारी के क्षेत्र में उनका अनुभव नहीं के बराबर था सो मुश्किलें आना स्वाभाविक ही था। लेकिन इन्हे सिना तो जीवन में प्राण फूँकने वाली संजीवनी के सान्निध्य में रह चुके थे। वहाँ घबड़ाने का चिंतित होने की क्या आवश्यकता? निर्विकार और अविच्छिन्न लिप्त से वे जीविका की तलाश के साथ साथ नियमित ज्ञान साधना भी करते रहे। परिवार को उन दिनों बड़े दुर्दिन देखने पड़ते। इन्हे सिना उतना ध्यान जीविका की तलाश में नहीं दे पाते थे जिसना कि देना चाहिए। उनका अधिकांश ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर ही रहता।

सुल्तान अब्दुल मंसूर को उनकी इस स्थिति का पता चला तो उसने इन्हे सिना को बुलाकर एक उच्च पद पर नियुक्त कर दिया। स्वाभाविक ही ज्ञान और विद्या की संपदा ने उनकी प्रसिद्धा को बढ़ाया लेकिन पुराने, लम्बे समय से काय करते चले आ रहे ईर्ष्यालु अधिकारियों को यह नहीं भाया। उन लोगों ने इन्हे सिना के विरुद्ध यत्र-तत्र टोच लगाना शुरू किये। अपने प्रति अनर्गल प्रचार को वे सह न सके और न ही उन्होंने स्वयं को ऐसी स्थिति में रह सकने योग्य पाया। पता चलते ही सिना के उच्च पद से त्यागपत्र दे दिया और गुगुगुन चले गये।

वहाँ उनके एक परिचित अमीर थे इब्न अलमामून इस परिचय को उन्होंने पैरी सम्बेदना तक ही सीमित रखा। किसी प्रकार का लाभ उठाना उचित न समझा। उन्होंने वहाँ वकालत करना आरम्भ किया। लेकिन वे इस धन्धे में नहीं रह सके। इसका कारण था उनका आदर्श निष्ठ व्यक्तित्व। वे वकालत के पेशे में केवल उन्हीं लोगों की पैरवी करते थे जिसका पक्ष सत्य और न्याय का हो। वे झूठे मुकदमे नहीं लेते और अदालतों में तो झूठे लोग ही अच्छा दलील दूँदते हैं। इन्हे सिना के पास योग्यता थी, प्रतिभा थी और इन सबसे भी अधिक थी सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा।

परिणामस्वरूप वे सफल न हो सके वकालत के धन्धे में और इन्हे सिना को फिर ब्रेजी-रोटी की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ा उन्होंने परिवार को साथ लेकर दर-दर की ठीकें छायीं। भटकते भटकते वे बुरजान शहर पहुँचे। वहाँ के राजकुमार असाध्य रोग के शिकार बने हुए थे। इन्हे सिना ने उसकी चिकित्सा की, वह ठीक भी हो गया और राज-परिवार ने उन्हें आश्रय देना चाहा। परन्तु नौकरियों का बड़ा कटु अनुभव था उन्हें भूखे रहना स्वीकार कर उन्होंने नौकरी नहीं की। चिकित्सा का जो पारिवर्षिक मिला उसी में संतोष किया।

और यहीं रहकर चिकित्सा विज्ञान पर अस कानून तिल निब नामक ग्रन्थ लिखा। जो बाद में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विज्ञान की

निधि बन गया। हफ्तन में रहकर उन्होंने एक और पुस्तक लिखी—‘किताब अल शफा’। इस पुस्तक ने हफ्तन के सुल्तान को इतना प्रभावित किया कि उसने सिना को अपने कक्ष में भर्ती कर रख लिया। उनकी इस प्रतिष्ठा ने वहाँ भी ईर्ष्यातु अधिकारियों की आँख का खटना बना दिया। वहाँ भी उनके विरुद्ध षडयंत्र रचे जाने लगे। इन्हे सिना को भी इसका फल तो चल गया था परन्तु अन्तरी बार वे यह निश्चय कर चुके थे कि चाहे जो हो अवांछनीयता के आगे सिर न झुकेंगे।

वस्तुतः, अनीति और अवांछनीयतायें इसीलिए बढ़ती हैं कि उसके सामने औचित्य और ज्ञान परास्त हो कर भाग खड़े होते हैं। औचित्य के साथ साहसिकता भी जुड़ी हो तो कोई संदेह नहीं कि अनीति को परास्त करने का उपक्रम न किया जा सके। इन्हे सिना ने भी यही किया। उन्होंने विरवास किया स्वयं पर कि इस बार मर भले ही जायें अनीति के सामने सिर न झुकेंगे और सचमुच उन्हें मर ही जाना पड़ा परन्तु सिर न झुकया। अनीति से हार न मानी।

गुप्त षडयंत्रों द्वारा ईर्ष्यातु अधिकारियों ने नज़मन्द कर लिया। इन्हे सिना को एकान्त और घने वन में स्थित एक बड़ी इमारत में कैद किया गया। महीनों तक वहाँ भूखे-प्यासे रह कर कैद रहे। एक रात उनके कुछ साथियों ने उन्हें मुक्त कराया और भगा कर ले गये अपने साथ। इन्हे सिना को जब होश आया तो उन्होंने स्वयं को इस्फ़हान राज्य में—एक सूफी संत के कक्ष में पाया। वहाँ के सुल्तान ने उन्हें अपना दरबारी बना लिया।

जीवन भर संघर्ष करते रहने के बाद उन्हें खेड़ा अवकाश मिला था। इस अवकाश में भी उन्होंने विश्राम नहीं किया। वे अपनी कुछ अधूरी पुस्तकें पूरी करने लगे। लम्बी कष्ट-वतनाओं के कारण और बाद में एकदम सामान्य जीवन-क्रम बन जाने के कारण उन्हें उदर रोग हो गया। रोग बढ़ा भयंकर था—इतना भयंकर कि जिससे उन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों को मुक्ति दिलायी वही उनकी जीवन मुक्ति का कारण बन गया। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने यह कह कर किसी भी प्रकार की औषधियों सेना बंद कर दिया था कि—“जो सदैव मेरी रक्षा करता रहा है वह अब अरक्षित रहने में ही मेरा हित समझता है। इसलिए अब कोई दवा लेना मैं नहीं चाहता।

इस वाक्य में ईश्वर के प्रति उनकी वह आस्था ही व्यक्त हुई है जिसे वे जीवन भर सुदृढ़ करते आये। अभी कुछ वर्षों पूर्व विश्वभर में उनकी सहस्राब्दी मनायी गयी है। दुनिया के कई प्रतिष्ठित विश्व-विद्यालयों में उनकी पुस्तकें पाठ्यक्रम में सम्मिलित की गयी हैं। मरने के बाद जिस व्यक्ति की महामानव के रूप में प्रतिष्ठा की गयी वह व्यक्ति जीवन में कभी किसी से प्रोत्साहन नहीं पा सका परन्तु उनका वस्तु जीवन तो मरणोपरांत ही आरम्भ हुआ। सही मानने में भर कर ही जीवन पाया भी जाता क्योंकि वह जीवन अमर है। जो मरण धर्म है वह कोई जीवन नहीं है वस्तुतः वह तो जीवन की तैयारी है।

इब्राहीम बिन अदहम— सियाराम मय सब जग जानीं

सूफी सन्तों के इतिहास में सन्त इब्राहीम बिन अदहम का भूधन्य स्थान है। एक बार उनके मन में इच्छा जाग्रत हुई कि मक्का की यात्रा कर मक्का के दर्शन किये जायें। सो, वे विचार करने लगे कि यह किस प्रकार की हो। क्योंकि वे चाहते थे कि यह सामान्य प्रकार की न होकर कोई विशेष तरह की हो, ताकि पैगम्बर मुहम्मद उससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद वरदान से उन्हें निहाल कर दें। ध्यान आया कि क्यों न हर कदम पर रक़भत (एक विशेष प्रकार की नमाज़) का पाठ करते हुए क़श सम्पन्न की जाय।

बस, फिर क्या था। विचार को क्रिया रूप दे दिया गया। यात्रा शुभारंभ हुई। पग-पग पर नकाब पड़े जाने के कारण मक्का पहुँचने में उन्हें काफी विलम्ब हुआ। चौदह वर्ष लग गये। इतनी लम्बी यात्रा के उपरान्त भगवान् की इकदत करते हुए गन्तव्य पर जब वे पहुँचे तो हतप्रभ रह गये। क़बा अपने स्थान से गायब था। सोचा, शायद दृष्टि में कोई अन्तर आ गया है। कई बार आँखें मलीं, मुलमुलायीं, किन्तु फिर भी क़बा नदारद। अभी वे इस संबंध में लोगों से पूछताछ करना चाह ही रहे थे कि आकाशवाणी हुई कहा गया—अदहम! न तो तुम्हारी आँखों में कोई फर्क आया है, न जो तुम देख रहे हो, वह धर्म ही है। क़बा वस्तुतः इस समय अपने स्थान पर नहीं है वह अपने एक अत्यन्त शिष्या के स्वागतार्थ गया हुआ है।

इतना सुनना था कि अदहम सोच में पड़ गये कि आखिर वह कौन-सा सौभाग्यशाली है, जिसकी अगवानी करने के लिए क़बा को अपना स्थान छोड़ना पड़ा? हमने तो पग-पग पर, कदम-कदम पर भगवान् को बंद किया, उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं किया, फिर भी हम उनके प्रेमपात्रन न बन सके।

इन्ही विचारों में खोये इब्राहीम अदहम अपने भाग्य का रोना रो रहे थे कि चौदह वर्ष हमने बेकार में गुंवा दिये। यदि इतना मालूम होता कि पैगम्बर इस तरह के मनुहार से प्रसन्न नहीं होते हैं, तो भला इतनी समय और श्रम क्यों बरबाद करता। इतने में सामने से सन्त शबिब आती दिखाई पड़ी।

आनन्दसन्ध्या एक बार पुनः हुई—“ऐ! इब्राहीम! यही खुदा की वह हबीब है, जिसके स्वागत के लिए क़बा गया हुआ था। तू अफ़सोस न कर और शबिब से वह रहस्य ज्ञात कर कि वह हमारी इतनी शिष्य किस प्रकार बन गई। उपाव जान कर तू भी उसी तरह के कार्य में संलग्न हो जा। तुम्हारे वह सेवा हम ग्रहण करेंगे। फिर तुम भी हमारे अतने ही निकटस्थ व अजीब होंगे, जितनी शबिबा है।”

सन्त नीच ही में खेल पड़े—“ऐ नन्दानबाज! आप ही क्यों नहीं बता देते कि मेरी बन्दगी में कभी क्या रह गई, जिससे आप उसे कबूल नहीं किया?”

‘तो सुन’ इब्राहीम के कानों से आवाज टूटायी “ तुमने मेरी सच्ची सेवा की जगह प्रदर्शन और आडम्बर को अपनाया, सस्ती बाहवाही नूटनी चाही। इसलिए तुम्हें उसका फल प्राप्त नहीं हो सका, जबकि राबिआ ने इन सब से सर्वथा मुक्त रहकर मेरी सच्चे हृदय से सेवा की है फलतः उसका परम पुनीत फल सामने देख रहे हो।”

अब तक राबिआ इब्राहीम के काफी करीब आ चुकी थी। उसने सन्त को पहचान कर आदाब में सिर झुका लिया। सन्त ने भी अस्वस्थ प्रभुत्वं दिया। इब्राहीम इस आश्चर्य में डालने वाली घटना से कुछ गंभीर और परेशान से लग रहे थे। राबिआ ने इसे भांप कर सन्त से पूछा। “यदि इजाजत हो, तो एक सवाल पूछूँ ?” हाँ में इब्राहीम ने सिर हिला दिया।

‘आप अल्लाह के दरबार में इतने गंभीर और गमगीन क्यों दिखाई पड़ रहे हैं ? यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। कुछ रोज़नी डालेंगे ? इसका कारण क्या है ?’

एक गंभीर निश्वास छोड़ते हुए सन्त की करुण चापी मुखरित हुई— “क्या बताऊँ राबिआ ! तुमने जो कुछ इतनी जल्दी पाया है, उसे मैं अब तक न पा सका। इसे मैं तुम्हारी तपश्चर्या ही कहूँगा, जिसका हाथों-हाथ फल तुम्हें मिला है।” उनकी आवाज से दुःखपी करुणा टपक रही थी। उन्होंने अपनी सन-सो-सो श्वेत दाढ़ी को सहलाते हुए पुनः कहना आरंभ किया— “यह देख रही हो ? जीवन भर परवरदिगार की इबादत में ही बाल सफेद हो गए, किन्तु आज समझ में आयी कि उनकी बन्दानवाजी के योग्य मैं क्यों न हो सकूँ ? अर्थात् एक बात बताओगी राबिआ ?”

‘अं !’ अचानक के प्रश्न से वह चिह्नक उठी। ‘फरमाइए।’

“तुम खुदा की बन्दगी कैसे करती हो ? यह बता सकोगी।” सन्त का अनुरोध था।

‘क्यों मजाक उड़ा रहे हैं मेरी ?’ राबिआ ने तनिक संकोच भरे लहजे में कहा— “भला आपकी तुलना मुझसे कैसे हो सकती है। तनिक सोचिए तो तप-तप कर सफेद हुए आपके इन बालों और मध्य व्यक्तित्व के समक्ष मेरे हयम केशों और लुप्त अस्तित्व की क्या बिसात !”

“नहीं-नहीं, इसे हँसी में न टालो राबिआ, अभी-अभी इलहाम हुआ है कि मुझे तुमसे इबादत का वह रहस्य जान कर उसी में संलग्न हो जाना चाहिए, जिसे सिर्फ़ तुम्हीं जानती हो।”

‘अच्छा !’ राबिआ ने आश्चर्य प्रकट किया। “यदि परवरदिगार की यही मर्जी है तो सुनिए” राबिआ कह रही थी— “यदि बन्दगी से आपका मतलब नमाज़ की अदायगी से है, तो वह तो मैं दिन में सिर्फ़ एक ही बार पढ़ती हूँ और शेष समय खुदा के बन्दों की सेवा में बिता देती हूँ। यही मेरी प्रतिदिन की दिनचर्या है। यहाँ मन्सूर भी मैं इसी दिनचर्या का पालन करती हुई आती हूँ। रास्ते में मिलने वाले राहगीरों, अपंगों, अपाहिजों की खिदमत करते-करते आने के कारण ही मुझे यहाँ पहुँचने में पाँच वर्ष लग गये, अन्यथा एक महीने में पहुँच जाती, पर क्या बताऊँ मेरी अजीब। मुझसे इनकी पीछा सहन

नहीं होती और बरबस इनकी सहायता करने को जो तड़फड़ाने लगता है। मैं तो इसी को खुदा की नेक बन्दगी मान लेती हूँ और प्रार्थना करती रहती हूँ कि जब तक वह ज़रूर जीवित रहे, इसी काम आये। खुदा इसे स्वीकारे या न स्वीकारे मुझे इसकी कोई परवाह नहीं।”

“नहीं-नहीं राबिआ ! ऐसा मत कहो। उस बन्दानवाज ने तुम्हारी सेवा प्रसन्नतापूर्वक कबूल की है और इसे ही अपने सच्ची खिदमत बतायी है व मुझे भी इसी राह पर चलने की सलाह दी है। तुम धन्य हो, तो तुम्हें भूरे-इलाही के दीदार होने वाले हैं।”

इस घटना के बाद घर पहुँच कर इब्राहीम ने अपने छोटे से मकान और दौलत को गरीबों में बाँट दिया और स्वयं एक छप्पर तले रहने लगे व कंगड़ों एवं जरूरतमंदों की खिदमत करने लगे। कहते हैं कि इस बार की सेवा से खुश होकर पैगम्बर मुहम्मद ने इब्राहीम को उनके श्रेष्ठ में दर्शन व आशीर्वाद दिये जो एक सच्चे सन्त को ही नसीब होता है। हदीस पर आधारित यह कथा हमें सेवा साधना का सच्चा रूप समझाती है व विरुद्ध ब्रह्म की आराधना करने की प्रेरणा देती है।

सच्चे साधु-महात्मा आजर कैवाँ

आजर कैवाँ पारस के शाही खानदान के व्यक्ति थे। किन्तु इन्होंने जीवन का सारा भोग-विलास के जीवन में नहीं तप और त्याग में देखा। इन्हें प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति बड़ी आस्था थी और उसे पाने के लिये व्यग्र रहते थे। भगवान् की उद्योति पाने के लिए इन्होंने बड़ी कठोर साधना की थी। इन्होंने १२५ वर्ष का लम्बा जीवन पाया और सारे का सारा भगवान् की ठप्पसना में लग्न दिया। इसमें से अठ्ठाइस वर्ष तो दिन-रात भगवान् के भजन में ही लगाये और उस समय बड़े संयम का पालन किया। भोजन की मात्रा कम करते थे, दिन भर में एक तोले भोजन पर आ गये थे। वे भारतीय योग-साधना की शिक्षा लेने भारत भी आये थे और बिहार की राजधानी पटना में रहे थे। इन्होंने त्रिकुटी समाधि और अनहद नाद की साधना सीखी और अपने पारसी शिष्यों को सिखलाई की। जिनमें से मूबद होशियार और मूबद सरेख नाम के शिष्य इस योग के बड़े सफल साधक हुए हैं।

आजर कैवाँ बड़े विद्वान् सन्त थे और ज्ञान को ही भगवान् की उद्योति मानते थे। इन्होंने अध्यात्म दर्शन और सदाचार पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी थीं। वे अपने पारसी धर्म के बड़े ही पक्के और सच्चे अनुयायी थे। उस समय जब कि पारसी धर्म लोप हो रहा था और उसके स्थान पर पुसलमान धर्म बढ़ रहा था, महात्मा आजर कैवाँ ने पारसी धर्म का उच्चदर्श उपस्थित कर उसकी रक्षा की थी। यह उनका ब्रह्म है, जो आज अन्य धर्मों के साथ पारसी धर्म का भी अस्तित्व संसार में है अन्यथा इसके इस्ताम धर्म में निहित हो जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया था। महात्मा आजर कैवाँ को पारसी धर्म का रक्षक कहा जाय तब भी अतिशयोक्ति न होगी। सच्चा सन्त सब कुछ करने में सपक्ष होता है।

पारसी होने पर भी वे बड़े ही अहिंसावादी और जीव दया समर्थक थे और सदैव ही शांति का निवेदन किया करते थे। एक बार एक

२.१० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

मुसलमान ने इनसे पूछा— “हजरत ! आप अपने शिष्यों और अनुयायियों को जानवरों को मार कर उनका मांस खाने से क्यों रोकते हैं ? मांस खाना तो पारसियों में जयज माना जाता है ।”

उन्होंने उत्तर दिया— “जीव हिंस्र और मांस भोजन की आज्ञा किसी धर्म में नहीं है । यह तो स्वार्थ और जिह्म के दास लोगों ने आरोप कर दिया है । आपको पता है कि जब कबा-शरीफ की यात्रा की जाती है तो मांस भोजन का निषेध रहता है । जानते हो क्यों ? इसलिये कि कबा-शरीफ ईश्वर का घर माना जाता है और लोग उसकी खोज में ही वहाँ जाते हैं । इसी तरह जो भगवान् का भक्त है, उस पर विश्वास रखता है, उसके लिये उसका दिल ही कबा है, ईश्वर का घर है । भक्ति द्वारा हृदय में परमात्मा की स्थापना करने वाले का जीव-हिंसा अथवा मांस-भोजन किस प्रकार उचित हो सकता है । मेरे सारे शिष्य और सारे अनुयायी हृदय में ही परमात्मा की खोज करते हैं, उनको मैं जीव-हिंसा न करने और मांस न खाने के लिए कहता हूँ ।” प्रश्नकर्ता उनका उत्तर सुनकर संतुष्ट हो गया और उस दिन से पूरा निरामिषहारी बन गया ।

एक बार एक मनुष्य उनके पास आया और बोला— “महात्मन् ! मैंने देखा लिया है कि संसार निस्तार है । इसलिये उसे छोड़ कर फकीरी ले लेने का विचार किया है ।” लेकिन उसके योग्य वाला, कपडल, आसन और गुदड़ी आदि वस्तुयें नहीं मिल पाई हैं ।”

महात्मा आज्ञा कैवर्ष ने कहा— “भाई ! तुम तो संसार छोड़ कर भी संसार की वस्तुयें इकट्ठी करना चाहते हो । फकीरी सामान जमा करने में नहीं, छोड़ने में होती है । तुम अभी संन्यास के योग्य नहीं हो । जाओ घर-गृहस्थी में रहकर अपने कर्तव्य के साथ भगवान् का भजन करो । यही तुम्हारे लिये फकीरी और दरवेशी है ।”

धर्मोद्धारक राजा— अर्दशीर बाबकान

फारस का राजा अर्दशीर बाबकान अपने समय का बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ है । यह एक भेड़ें चराने वाले दास का बेटा था । किन्तु अपने गुणों के बल पर बढ़ता-बढ़ता फारस का बादशाह बन गया । यह पारसी धर्म का मानने वाला था । उसके पहले जब फारस को सिकन्दर ने जीत लिया था— बहुत से राजा फारस पर राज्य कर चुके थे, किन्तु वे सभी बड़े ही नास्तिक और विलासी थे । इसलिए फारस के सच्चे पारसी धर्म का लोप हो गया था और उसका स्थान अन्ध-विश्वासों और पाखण्डों ने ले लिया था । किन्तु आगे चलकर अर्दशीर बाबकान ने पारसी धर्म का पुनरुत्थान किया ।

अर्दशीर जब बालक ही था तभी बादशाह अर्दबान ने उसे अपने पास बुलाकर रख लिया था और उसके गुणों पर गीहकर अपने बेटे के समान मान लिया था । अर्दशीर बाबकान और शाहजादा एक साथ ही रहते थे । एक बार शाहजादा और अर्दशीर साथ-साथ शिकार खेलने गये । वहाँ पर एक हिंसक पशु शाहजादे पर दौड़ पड़ा । अर्दशीर

ने तुरन्त ही उसे तीर मारकर मार गिराया और तभी शाहजादे ने भी अपना तीर उस पर चला दिया ।

अपने साथी का श्रेय छीन लेने के लिये शाहजादे ने कहा यह जानवर तो मेरे तीर से मरा है । अर्दशीर तुम इसे मारने के घमण्ड में मत आ जाना, यह मेरा शिकार है । अर्दशीर ने हँसकर कहा कि लीजिये आपका शिकार ही माने लेते हैं । वैसे सच्चाई की बात यही है कि इसे मैंने ही मारा है । शाहजादे के अहंकार पर चोट लगी और वह अर्दशीर से जिद करने लगा कि वह कहे कि शिकार शाहजादे का है उसके तीर से मरा है, मैंने इसे नहीं मारा । अर्दशीर को शाहजादे की जिद पर बड़ा खेद हुआ— वह बोला— शाहजादे अब तुम गैर ईमानदारी पर उतर आये और मुझसे सरासर झूठ बुलवाना चाहते हो जो मुझसे नहीं हो सकता है । शाहजादा खिसिया गया और उसने आकर अपने पिता बादशाह से शिकायत की ।

बादशाह ने अर्दशीर को बुलवाया और कहा कि तुम शाहजादे की बराबरी करने लगे हो इसलिये अब उसके साथ रहने योग्य नहीं रहे । मैं तुम्हें अस्तबस्त का अफसर बनाकर उससे अलग करता हूँ किन्तु अर्दशीर के स्वाभिमान में उस अपमान को स्वीकार न किया और वहाँ से चला आया और बाद में अपनी वीरता और गुणों के आधार पर फारस का बादशाह बना ।

बादशाह बनकर अर्दशीर भोग-विलास में नहीं पड़ा । उसने धर्म-सुधार का और उसके प्रचार का काम अपने हाथ में लिया । जिन दिनों वह कुरीतियों, रुढ़ियों और अंधविश्वासों का विनाश कर रहा था उन्हीं दिनों किर्मानशह नामक नगर राज्य में एक बड़ा भयंकर अंध-विश्वास चल रहा था । वहाँ के एक किले के भीतर एक मन्दिर में बहुत दिनों से न जाने कहां एक अजदह साँप आकर रहने लगा था । पाखण्डियों ने उसकी पूजा शुरू करवा दी और उस नगर को कर्म अजदहे (अजगर साँप की राजधानी) प्रसिद्ध कर दिया था । धूर्त लोग उसी के नाम पर नगर पर राज्य करने और प्रजा को लूटने लगे । प्रतिदिन उस अजगर को बीसों भेड़ें और दूसरे जानवर पार कर उनका खून पिलाया जाता था । बहुत बार तो धूर्त लोग किसी से ठह होकर धर्म और राजा अजगर के नाम पर मनुष्यों को ही कटकर उनका खून पिला दिया करते थे खून पी-पीकर अजगर खूब मोटा और भयंकर हो गया और वहीं जयकर रहने लगा ।

उसी अजगर राजा का नाम दूर-दूर तक फैल गया और लोग देशान्तर से उसकी पूजा और दर्शन करने आने लगे । इस प्रकार धूर्तों का ने केवल प्रभाव ही बढ़ने लगा बल्कि राज्य विस्तार भी हो गया । धर्मात्मा अर्दशीर ने इसका धर्म के लिये एक बड़ा खतरा समझा और उस अजगर की पूजा करने के बहाने जाकर उसे खून के स्थान पर पिघला हुआ गरम तौबा पिलाकर मार डाला । बाद में किर्म अजदहे और अर्दशीर के राज्यों में समासान युद्ध भी हुआ । किन्तु उसमें धर्म के पक्षपक्षी अर्दशीर की ही विजय हुई । इस प्रकार अर्दशीर ने एक भयंकर अन्धविश्वास मिटाकर धर्म और जनता की बड़ी सेवा की ।

वृद्ध होने पर अर्दशीर ने राज्य का भार अपने बेटे को दे दिया और पूरी तरह धर्म-सुधार और प्रचार में लग गया । उसने जानीस

हजार दस्तूरों (पुजारी) और विद्वानों की एक सभा की। उनमें से चार हजार चुने और चार हजार में से चार सौ, चार सौ में से चालीस और चालीस में से सात व्यक्तियों को चुनकर एक धर्म-प्रचार समिति बनायी और मरते समय अपने पुत्र को उपदेश दिया—

‘यह कभी मत भूलो कि धर्म की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार राज्य की। धर्म और राज्य एक-दूसरे की शक्ति हैं। फिर भी बिना राज्य के धर्म तो रह सकता है किन्तु धर्म के बिना राज्य नहीं रह सकता। राज्य में शान्ति रखने के लिये धर्म सर्वोत्तम साधन है। इसलिये अपने आचरण से ऐसा आदर्श उपस्थित करो जिससे तुम्हारी राजा प्रभावित बनी रहे।’

सत्य के प्रति अगाध निष्ठा— सैयद अब्दुल कादिर

प्राचीन समय में, जब दातायाल के साधनों का विकास नहीं हुआ था रीगिस्थानी देशों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने की बड़ी असुविधा थी। व्यापारी लोग प्रायः ऊंटों पर सामान लादकर, काफिले बनाकर चलते थे क्योंकि मार्ग में लुटेरों का भी भय रहता था।

एक बार एक विद्याभ्यसनी बालक ने बगदाद जाकर ज्ञानार्जन की बात सोची। माँ ने मातृसुलभ ममत्व के बशीभूत होकर प्रारम्भ में तो उसे अपना नगर छोड़कर इतनी दूर न जाने के लिए समझाया, परन्तु बालक का हठ तथा ज्ञान-प्राप्ति के प्रति उसकी असामान्य निष्ठा देखकर अन्ततः अनुमति देनी ही पड़ी।

माता ने पुत्र की सदरी के अन्दर चालीस अशर्फियाँ सावधानी से टांक दीं जिससे कि किसी को उसका पता न लग जाये। चलते समय बालक को समझाया— ‘बेटे ! तुम्हारे पिता इतना ही धन छोड़ गये थे। इसे सावधानी से खर्च करना। एक बात ध्यान रखना— तुम पर चाहे कितने ही संकट आयें, कभी झूठ मत बोलना। अल्ताह पर विश्वास रखना, वे बुरी से बुरी परिस्थितियों में भी तुम्हारी सहायता करेंगे।’

माँ की लीख बच्चे ने गोंठ बांध ली और उनका आशीर्वाद लेकर काफिले के साथ चल दिया। रास्ते में अचानक काफिले को चारों ओर से डाकुओं ने घेर लिया। व्यापारी भय से कोपने लगे। डाकुओं ने उन्हें बहुत पीटा और सारा सामान छीन लिया।

चलते समय डाकुओं की दृष्टि सहसा एक स्थान पर खड़े बालक पर पड़ी। एक डाकू पूछ बैठा ‘अरे लड़के क्या तेरे पास भी कुछ है ?’ उसे अपनी माता की बात याद आ गयी। बोला— ‘मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं।’ डाकुओं को विश्वास न आया कि इस फटे-पुराने कपड़े पहनने वाले गरीब बालक के पास इतना धन कहाँ से आया। एक डाकू ने हसया— ‘य तो अशर्फियाँ निकाल कर दे, अन्यथा अभी मारते हैं। तुझे झूठ बोलने का परिणाम भुगतना पड़ेगा।’ सभी की आँखें फटी की फटी रह गयीं जब उसने अपनी सदरी

फाड़कर चालीस अशर्फियाँ निकाल कर दीं। डाकुओं के सरदार ने पूछा— ‘लड़के क्या तुझे पता नहीं था कि हम तेरी अशर्फियाँ छीन लेंगे ?’ बालक ने उत्तर दिया— ‘इन थोड़ी-सी अशर्फियों के पीछे मैं झूठ कैसे बोलता। यदि तुम मेरा धन छीन लोगे— तो भी खुदा मेरी सहायता करेगा परन्तु झूठ बोलने तथा दूसरों को सताने वालों को खुदा कभी माफ नहीं करता।’

एक बार साधु-जनों के तनिक से वार्तालाप से लुटेरे बाल्मीकि के ज्ञान बाधु खुल गये थे। इस इतिहास की पुनरावृत्ति यहाँ भी हुई। छोटे-से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर डाकुओं के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसी दिन भविष्य में कभी इस प्रकार की लूट मार न मचाने का संकल्प लिया तथा व्यापारियों को सारा माल लौटा दिया।

सत्य के प्रति ऐसी असामान्य निष्ठा रखने वाला यह बालक एक महान् सन्त हुआ। आज संसार इन्हें इजरात अब्दुल कादिर जीलानी के नाम से जानता है। मुसलमानों में वे बड़े पौर साहब के नाम से जाने जाते हैं। इनका मकबरा आज भी बगदाद शरीफ में बना हुआ है जहाँ प्रति वर्ष हजारों मुसलमान विराट के कोने-कोने से आते हैं तथा अपनी ब्रह्मात्मज्ञान अर्पित करते हैं।

अब्दुल कादिर का जन्म लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व ईरान देश में जालान नामक स्थान पर हुआ था। उन दिनों जालान के आस-पास शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था अतएव इन्होंने बगदाद जाकर ज्ञान-पिपासा तृप्त की थी।

इनका सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या और साधना की कथा है। पानव अन्तःकरण में प्रसुप्त देवत्व की भावनाओं को जगाने वाले ऐसे महापुरुषों के चरणों में जिनकी ब्रह्मांजलियाँ चढ़ायी जायें। उतनी ही कम है।

अनीति के जन्मजात विरोधी— मौलवी अहमदुल्ला

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में आजादी के लिए संघर्ष करने वाले क्रांतिकारियों में विस्मृत योद्धा मौलवी अहमदुल्ला का नाम भी सदैव याद रखा जाना चाहिए। वे आजीवन अंग्रेज और अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा लिए खड़े रहे और अपने अनुयायियों की दसतक की बंजीरों का तोड़ देने अथवा मर जाने के लिए प्रेरित करते रहे।

पटना (सादिकपुर) के एक विख्यात मौलवी परिवार में उनका जन्म हुआ। यह परिवार अपनी विद्वत्ता और साम्प्रदायिक कारण भारतीय मुसलमानों के साथ ही साथ उनके सम्पर्क में आए मुस्लिमोत्तर लोगों में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। अहमदुल्ला का बाल हृदय आरम्भ से ही अंग्रेजों की कुटिल नीति तथा अत्याचारों के प्रति घृणा और विद्रोह से भरने लगा। किशोरवय में अपने साथियों को उन्होंने विरोध व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने हेतु संगठनबद्ध भी किया। जिस परिवार का बालक

११२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

इतना आक्रोश व्यक्त करता है उसके अभिभावक तो और भी ज्यादा विद्रोह पावना वाले तब स्वातन्त्र्य सिद्ध हो सकते हैं। किशोर बुद्ध अहमदुल्ला की गतिविधियों को देख जल्द अंग्रेज अधिकारी उनके परिवार के प्रत्येक सदस्य को सन्देश की दृष्टि से देखने लगे। परन्तु परिवार के इभाव और जन साधारण का उदात्त होने के कारण उन पर हाथ डालने की हिम्मत नहीं हुई।

कुछ बड़े होने पर अहमदुल्ला ने सौभाग्य प्राप्ति की विद्रोही सैनिक छावनियों से सम्पर्क बनाया और उन्हें प्रत्येक आवश्यक सहायता देना आरम्भ कर दिया। अदमी, रुपय, हथियार और अन्य प्रकार से उनकी मदद की। इन क्रियाकलापों का समाचार अंग्रेजों के पास भी पहुँच। उन्होंने पर्याप्त प्रमाण जुटाए और अहमदुल्ला को अपना शिकार बनाना चाहा। जिस अधिकारी को इस कार्य के लिए भेजा वह जनसाधारण पर 'मौलवी परिवार' की अगाध शक्ति के कारण वह भी चुप रह गया। विद्रोही छावनी के मुख्य मुहम्मद अली और उसके साथियों को पकड़ कर उन्हें ही सजा दी गयी और यमला खत्म कर दिया गया।

मौलवी साहब को इन घटनाओं से अपने गतिविधियों और अधिक तीव्र करने का सहस्र मिला। अब अगस्त सन् १८५७ तब तत्कालीन क्रांतिकारियों ने सभी स्थानों पर एक निश्चित दिन। सशक्त संघर्ष छेड़ देने का समय निर्धारित कर लिया था। परन्तु इदय में भरे अपरिमित उत्साह के कारण साहसी और जान की कमी लगाकर स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्वयंस्फूर्त तरीके ने नियत समय से पूर्व ही विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप स्थान-स्थान पर एक साथ मोर्चा सम्भालने की अपेक्षा अलग-अलग समय पर लड़ाई चली। अंग्रेजों ने स्थान-स्थान पर अपने छोड़े-से सैन्य बल से ही विद्रोह कुचलने के सफल प्रयास किये।

पटना भी इस आन्दोलन से अछूता कैसे रह सकता था। वहाँ भी उत्तेजन फैलने लगे और तत्कालीन कमिश्नर से न रहा गया। मौलवी साहब को घर बुलाया नगर में शक्ति रखने के उपायों के सम्बन्ध में परामर्श करने के बहाने। मौलवी साहब तो जानते थे कि जन-भावनाओं को और अधिक नहीं कुचला जा सकता। स्वतन्त्रता संघर्ष के रूप में जो विस्फोट हुआ है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अवश्य ही सफल होगा। यही फल रखने के लिए मौलवी अहमदुल्ला कमिश्नर डेलर के घर गये। परन्तु कुटिल डेलर तो अपने काम की तैयारी पहले से ही कर चुका था। मौलवी साहब को गिरफ्तार कर लिया गया।

सोचा गया था जनता को उत्तेजित करने तथा विद्रोह की आग फूँकने का काम मौलवी साहब ही करते हैं। अभी तक तो पटना शहर में उत्तेजन ही फैली थी। जैसे ही लोगों में वह सम्पत्ति फैला कि उनके प्रिय जन-नेता को गिरफ्तार लिया गया है उपद्रव होने शुरू हो गये। ३ जुलाई, १८५७ को एक बड़े जन-समूह ने ईस्ट इंडिया कम्पनी का झण्डा उतार कर अपना झण्डा फहराया और स्वाधीनता की घोषणा कर दी। एक सिख रेजीमेंट को यह आन्दोलन कुचलने के लिए भेजा गया तो भीड़ ने उसका डटकर मुकाबला किया। सख्खों से लैस प्रशिक्षित सैनिकों के आगे निहत्थे या बड़े से हथियारबन्द भी परन्तु अप्रशिक्षित लोग कब तक टिके रहते। अन्ततः सेना जनता

पर चारी पड़ने लगी। आन्दोलन शान्त होने के बाद लगभग चालीस व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया जिनमें से आठ को फाँसी हो गयी।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत दिनों तक नजरबन्द रखे गए अंग्रेजी शासन ने देखा कि यह 'उपद्रव' उनकी गिरफ्तारी के कारण ही जनता ने उत्तेजित होकर किया था तो कमिश्नर डेलर को पद मुक्त कर दिया गया तथा मौलवी साहब रिहा हो गये।

सख्खों भारतीयों का खून बहाकर अंग्रेजों ने इस क्रांति को विफल कर दिया। परन्तु सीमा शान्त की इस विद्रोही छावनी की सक्रियता मौलवी साहब के रिहा हो जाने के बाद और भी अधिक बढ़ने लगी। क्रांति के बाद इस छावनी की शक्ति भी काफी बढ़ गयी। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले बहुत-से विद्रोही सुरक्षा और अपने प्राण बचाकर आजादी के लिए लड़ने की संकल्प पूर्ण दृष्टि से इस छावनी में आ गए। इस समय हिन्दू और मुसलमान सभी धर्म और जाति के लोग विदेशियों को भारत से छेड़ने के लिए पीढ़ियों से चले आ रहे वैरभाव को भुलाकर बत्परीस थे। इस छावनी के लोग ब्रिटिश चौकियों पर हमला कर अपनी सम्पत्ति के अनुसार विरोध तथा बगावत की आवाज बुलन्द करते। सख्ख के रूप में नगण्य रहते हुए भी सन् १८६३ में सीमा शान्त पर स्थित इस छावनी में एक बार फिर विद्रोह कर दिया। सन् ५७ के बाद के वर्षों में उन्होंने पर्याप्त युद्ध सामग्री जुटा ली थी। सरहद की पहचानों एक बार फिर शोले उगलने लगीं। अंग्रेजों ने अब की बार कूटनीतिक चाल चलनी पड़ी। पठान कबीलों को अपनी ओर फेर लिया। युद्ध जारी रहा परन्तु शक्ति और सामर्थ्य की तुलना में अंग्रेजी सेनाएँ भारी पड़ीं। एक बार फिर विद्रोह कुचल दिया गया।

इस युद्ध में अंग्रेज बीखता उठे और मौलवी अहमदुल्ला को दूसरी बार गिरफ्तार किया गया तथा उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। पंजाब-साक्षर ने इस मुकदमे में लोगों को बहला फुसला कर अपने गवाह खड़े किए। मौलवी साहब पर सरकार के विरुद्ध युद्ध की योजनाएँ बनाने, सीमा शान्त की छावनी का संगठन और सशक्त करने तथा विद्रोह के लिए लगातार प्रयास करने के अभियोग लगाकर उन्हें फाँसी की सजा सुना दी गयी।

सर्वोच्च न्यायालय ने इस घण्टे की आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया और उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और उसे नीलाग कर दिया गया। जन-साधारण में से कोई भी व्यक्ति इस देशभक्त का सम्मान खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ इसलिए सरकारी अफसरों को ग्राहक भी जुटाने पड़े।

अण्डमान जेल में भी मौलवी साहब सीमा शान्त की छावनी को जीवित रखने के लिये योजनाओं पर चिन्ता करते रहे तथा उसे अपने मित्रों, भाइयों और रिश्तेदारों को बताकर करते।

सीमा शान्त की यह छावनी जिसे मौलवी अहमदुल्ला ने अपने जीवन से सींचा था सन् १९४७ तक बनी रही और अंग्रेजों की छाती पर मूँग टलती रही। परसक कोशिशें करने पर भी इसे सबर्षा नष्ट नहीं किया जा सका। इस छावनी के अन्तिम नेता मौलवी फजल इलाहाबादी थे जो भारत के स्वतन्त्र होने के बाद ही इस छावनी से वापस आये।

जो लोग मौलवी साहब और उनके कुन्नों से परिचित हैं उन्हें नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की अजब हिन्दू सेना के साथ ही मौलवी साहब की इस हीमान्त सैनिक ज़रनी का भी सहज स्मरण हो आता है जो अपने स्वयं को प्राप्त करने तक संघर्षरत रहें। वीर स्वतन्त्रता का श्रेय अन्यान्य लोगों का भी दिया जा सकता है परन्तु उनका साहस और देशप्रेम अप्रत्यूष है।

मिर्जा अहमदशाहमुद्दीन परिश्रमशील और निष्ठावान् होते हुए भी जिनका जीवन एक करुण गाथा है

अंग्रेज भारत में यद्यपि व्यापारी के रूप में आये थे। परन्तु आसुरवदित, चालाकी, मक्करो और झूठ-फरेबों के आभार पर वे किस प्रकार वहाँ के स्वतन्त्र जन बैठे इतिहास का बोझ भी ज्ञान रखने वाले यह अच्छी तरह जानते हैं। १६३४ में तत्कालीन मुस्लिम बादशाहों की सुलतान और बाबरशाहों के बत पर अंग्रेजों ने बंगाल में अपना व्यापार आरम्भ किया था। अंग्रेज प्रारम्भ से ही अपने इरादों को किसी भी प्रकार पूरा करने के लिये प्रयत्नशील थे। व्यापार से उन्होंने राजकीय व्यवस्था में भी अपना सिर घुमाया और १६९८ में सुलतान, कलकत्ता और मोरिशपुर की जमींदारी प्राप्त की। उस समय इस क्षेत्र का नाम कलीकत्ता था। कलकत्ता तो आगे चलकर कल जाने लगा। उन दिनों दिल्ली पर शक्तिशाली और राजनीतिक प्रभुत्व बादशाह राज्य करते थे। इसलिए तब तो अंग्रेजों की धृति न सकी।

लेकिन जब बादशाह ने १७३४ में दिल्ली को लूटा और दिल्ली के बादशाहों की कमजोर नसीब का राज खुला तो अपने धन के पीछे अंग्रेजों ने मौका देखकर राजमाला को इस लाने में बड़ी धातुरी दिखाई। बड़े पैमाने पर व्यापार कार्य के बढ़ने से मुग़ल के लिए अंग्रेज सेनाओं को भी तब रखा जाने लगा था और जब इतना प्रबन्ध कर लिया कि वे किसी देशी रियासत से टक्का सके तो तो कलाइव के सेवकत्व में अंग्रेजी सेनाएँ बंगाल पर दूट पड़ी और नवाब को हराकर अंग्रेजी राज की नींव रखी। इसी कारण लार्ड क्लाइव भारत में अंग्रेजी राज्य की आधारशिला रखने वाला माना जाता है। इसके बाद क्लाइव ने बड़ी चालाकी से शाहआलम को नवाब बनाया और अपना उल्लू सीधा कर पूरी बंगाल, बिहार व उड़ीसा की टीकानी प्राप्त की।

शाहआलम को उस समय तक कुछ पता नहीं था। लेकिन जिन शतों के आधार पर दिल्ली सम्राट ने अंग्रेजों को इन ज़ान्तों की टीकानी सौंपी थी उन शतों की अवहेलना की जाने लगी तो शाहआलम का मान्य डगमगा। इन शतों में एक शर्त यह भी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी दिल्ली सम्राट के लिए दिल्ली में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रखेगी। लेकिन टीकानी प्राप्त करते ही क्लाइव ने इस शर्त की भी उपेक्षा कर दी, शाहआलम अनुभव करने लगे कि क्लाइव ने उन्हें धोखा दिया है। अब उन्होंने यह अनुभव किया तो बात बूते से बाहर हो चुकी थी।

शायद कहीं भूल हो रही हो। हालाँकि ऐसा था नहीं फिर भी वह सोच कर क्लाइव को इस शर्त की याद दिलवायी गयी तो जवाब आया कि सन्धियों में यह सूत्र जल्दबाजी के कारण आ गया है।

इंग्लैण्ड के राजा की अनुमति प्राप्त किये बिना कम्पनी किसी भी भारतीय के लिए उसके अन्वीन अंग्रेजी सेना नहीं रख सकती। यह सलह भी दी गयी कि शाहआलम अपने सदस्यवाहक को इंग्लैण्ड भेजें। प्रश्न उठा कि नजराना भी से बाबत जब तो एक लाख रुपये पर पहुँच कर बात खत्म हुई कि इतना रुपया नजराने के रूप में दिया जाय। राजदूत के हाथों दिल्ली सम्राट और लार्ड क्लाइव को इसी संदर्भ में सिफारशी-पत्र भेजा जाय निश्चित हुआ। इस विश्वासघात से शाहआलम इतने दूट चुके थे कि उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं आ रहा था। एक लाख रुपये उस समय काफी मूल्य रखते थे। जब लोगों को पाँच सात रुपये मासिक वेतन मिलता तो—अच्छे-अच्छे अधिकारियों का वेतनफन भी इतना हो। तो एक लाख रुपये देखकर तो हर किसी का ईमान छेस सकता है और इस बात की भी कोई निश्चित सम्भावना नहीं थी कि इंग्लैण्ड का राजा अपने पक्ष में ही निर्णय देगा। क्लाइव को तो यह एक बात ही थी। प्रत्यक्ष यह था कि शाहआलम को पूरी तरह निर्योद्ध कर कमजोर कर दिया जाय। और शाहआलम यह भाँखी टाँक चल देना ही चाहते थे।

सभी पक्षों से विचार कर उन्होंने अपने विश्वासपात्र मीर मुंशी-को हर कसौटी पर उनके लिए विश्वस्त, प्रामाणिक और बफ़ादार सिद्ध हो रहा था—जो एक लाख रुपये और दोनों पक्ष देकर भेजने का निश्चय किया। वह विश्वासपात्र मीर मुंशी थे मिर्जा अहमदशाहमुद्दीन अहमदशाहमुद्दीन वहाँ से शाहआलम की सेवा करते रहे थे। एक समयान्तर और तीन निर्धन स्थिति में रहते हुए अपनी कर्मठता, परिश्रम, लगन और सुझाव के आधार पर उन्होंने शाहआलम के इरादे में सर्वाधिक विश्वासपूर्ण स्थान बनाया था। कई बार ऐसे अवसर आये जिसका फायदा यदि मिर्जा उठा लेते तो उनका साथ जीवन बड़ी सान के साथ गुजर सकता था परन्तु उन्होंने सम्झौते को ईमान से अधिक महत्व नहीं दिया। हक और ईमान की जो भी नसीब हुई भले ही वह कच्ची सुखी कर्कश हो—पाकर उन्होंने सदैव सन्तोष ही किया। इसी कारण शाहआलम का उन्होंने इतना विश्वास अर्जित किया कि कहते हैं—'शाह अपने आप पर विश्वास खो सकता है परन्तु मिर्जा अहमदशाहमुद्दीन पर नहीं।'।

मिर्जा अहमदशाहमुद्दीन का जन्म परिचय बंगाल के जिला नदिया ग्राम पाबनूर में हुआ था। १७३० में जन्मे मिर्जा की पारिवारिक आर्थिक दशा अत्यन्त साधारण थी। जिस समय वे जन्मे उस समय बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर नवाब मुर्शिदाबाद का शासन था। नवाब के ही दरबार में उनके निकट सम्बन्धी मुंशी शकी अल्लाह काम करते थे। शकी अल्लाह ने ही उनके पालन-पोषण और शिक्षादीक्षा का प्रबन्ध किया। शकी अल्लाह एक पत्रिमी और कर्तव्यनिष्ठ कार्यकारी थे। जब क्लाइव ने बंगाल के नवाब को हराकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य करवाया किन्ता तो जिन झूठ मुंशियों की कम्पनी में लिया गया उनमें से एक शकी अल्लाह भी थे।

शकी अल्लाह के सान्निध्य और संरक्षण में रहने से अहमदशाहमुद्दीन पर भी उनके व्यक्तित्व का असर हुआ और वे भी मुर्शिदाजी की ही तरह कर्कश कुशल और कर्तव्यनिष्ठ सिद्ध हुए। शकी अल्लाह ने ही उन्हें पढ़ाई-लिखाई और जीवन के सम्बन्ध के तौर पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी दिलवायी।

२.१४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अहमशामुद्दीन को कम्पनी में मेजर पार्क के अधीन काम मिला था। मेजर उनके व्यक्तित्व, असाधारण कार्य क्षमता और वफादारी से काफी प्रभावित हुए। युद्ध में कई बार मिर्जा ने अपने प्राणों पर खेल कर मेजर की जान बचायी। दोनों में अधिकारी और अधीनस्थ का सम्बन्ध होते हुए भी विश्वसनीय हार्दिक मैत्री का नाता बना। इसलिए जब मेजर सेवा निवृत्त होकर इंग्लैण्ड जाने लगे तो उन्होंने अहमशामुद्दीन की वफादार मित्रता से थोड़ा उलझ होना चाहा और किसी अच्छे ढर पर नियुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया।

मेजर पार्क के ही एक स्वजन्तीय गहरे मित्र थे मेजर एडम। जिनका विभागीय कार्य क्षेत्र था अजीमाबाद। अहमशामुद्दीन जब अपने बास को बिदा करने उनके साथ दूर तक गये और वापस लौटने लगे तो मेजर ने एक पत्र दिया और कहा कि इसे लेकर वे अजीमाबाद, मेजर एडम के पास पहुँच जायें। एडम उसके लिए और अधिक अच्छी व्यवस्था कर देंगे। उस पत्र में लिखा था—अहमशामुद्दीन बहुत मेहनती और वफादार आदमी है। उन्हें किसी अच्छे काम पर रखा जाय।

अहमशामुद्दीन वह पत्र लेकर मेजर एडम के पास गये परन्तु उन्हें खाली हाथ ही लौट आना पड़ा। मेजर एडम की कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जिनके कारण वह अपने मित्र की इच्छा का आदेश नहीं कर सका था। उधार की भी गयी और इधर की भी नहीं रही। अब अहमशामुद्दीन बेकरार इधर-उधर भटकने लगे।

लेकिन परमात्मा परिश्रमी और मेहनती व्यक्तियों के लिए कोई न कोई प्रवेश द्वार खोल ही देता है। एक मिचरक का वह कथन—'हरिवर एक द्वार बन्द करता है तो दस नये द्वार खोल देता है।' मिर्जा के सम्बन्ध में पूरी तरह सत्य सिद्ध हो रहा था। वे ज़ोर चले आगे और प्रयत्न किया तो कैप्टन निम्सन के अधीन एक छोटा-सा काम मिल गया। जो प्राप्त है उसे ही स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न करना—मिर्जा का सिद्धान्त वाक्य था। कार्य कुशलता, परिश्रम और ईमानदारी तो उनमें थी। उसी के बल पर अपने कर्मचारी दायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए मिर्जा कुतुबपुर के तहसीलदार बन गये। बाद में और भी विकास किया।

शाहआलम ने जब उनके गुणों की सर्वा सुन्नी और पक्ष भेंट का अवसर मिला तो वे उनकी बुद्धिमत्ता और पैनी सूझबूझ से बड़े प्रभावित हुए। शाहआलम के निधत्रय पर वे शाह के निजी सचिव-स्तर पुरी हो गये। कई पेचीदे मामलों को उन्होंने इस तरह सुलझा कर रख दिया कि लगाने लगाने कि ये इस क्षेत्र के पुराने खिलाड़ी रहे हों, उनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न हो कर शाहआलम ने उन्हें मिर्जा की उपाधि से विभूषित किया। यह उपाधि उस समय सर्वोच्च सम्मान का द्योतक समझी जाती थी और कदाचिन् ही विख्यात घराने के बड़े अपीरों को मिलती थी। स्वे अब उनकी गणना दिल्ली के अपीरों में की जाने लगी। इस उपाधि ने उन्हें गर्वित करने की अपेक्षा विनम्र और उत्तर ही बनाया तथा दायित्वों के प्रति और अधिक सजग भी।

शाहआलम ने जब मिर्जा को इंग्लैण्ड भेजने का प्रस्ताव किया तो—'जिसका नामक साथ उसके लिए यह भी हाज़िर मानने वाले मिर्जा ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। कम्पनी ने नजराने का एक लाख रुपया यह कह कर पहले ही बसूल कर लिया कि मार्ग में चोर डाकुओं का खतरा होने से इतनी नदी यति सुरक्षापूर्वक आसानी से नहीं ले जायी जा सकती। नजराने का यह रुपया उनके राजदूत को जलयान में ही दे दिया जायगा। शाह ने मिर्जा को मार्ग व्यय के चार हजार रुपये देकर विदा किया।'

जहाज़ हुगली नदी के सीने पर नैरत हुआ समुद्र में उतरा परन्तु मिर्जा को नजराने की राशि नहीं दी गयी। मिर्जा को आशंका हुई कि कहीं उनके साथ धोखा तो नहीं हुआ। उन्होंने जहाज़ के कप्तान से पूछ-तलाश की तो पता चला कि वह रुपया और पत्र कलाइब ने अपने पास ही रख लिया है। क्योंकि वे एक और अन्य जहाज़ से इंग्लैण्ड आने वाले हैं। आशंका अब प्रतीति में बदल गयी कि उनके साथ सरसर धोखा हुआ है। उनके हृदय को बड़ा आघात लगा और वे बोमार पड़ गये। उन्होंने खाना-पीना भी छोड़ दिया था। किस मुँह से वापस हुआ जा सकेगा तथा पत्र के बिना उन्हें इंग्लैण्ड में पहुँचानेगा भी कौन कि वे शाहआलम के प्रतिनिधि हैं।

जहाज़ के डॉक्टरों ने उन्हें दवा बगैर पिलाना चाहा परन्तु मिर्जा ने इसके लिए अनिच्छा ज़ाहिर कर दी। इंग्लैण्ड में उनके बहुत से परिचित व्यक्ति थे और किसी प्रकार यह बात भी लंदन में पहुँच गयी थी कि मिर्जा शाहआलम के प्रतिनिधि रूप में यहाँ आ रहे हैं। मार्ग में पड़ने वाले कई देशों और बंदरगाहों का निरीक्षण करते हुए वे लंदन पहुँचे। जब उनके साथ जटी घटना के बारे में यहाँ के अधिकारियों ने जाना और यह भी जाना कि वे कलाइब के व्यवहार से तथा अपने मिशन की असफलता से दुःखी होकर वापस भारत जाने की तैयारी कर रहे हैं, तो अंग्रेजों को यह डर सताने लगा कि कहीं उनकी काली करतूतों का पर्दाफाश न हो जाय।

इसका एक ही समाधान था कि उन्हें इंग्लैण्ड में ही रोका जाय। 'दो वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कलाइब इंग्लैण्ड नहीं आया तो मिर्जा ने वापस भारत आने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने उन्हें इंग्लैण्ड में रोकने का प्रयत्न किया। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में फारसी का प्रोफेसर बनाने का प्रस्ताव किया। यह भी लालच दिया कि बंगाल में उनके रिश्तेदारों को काफी पैसा देकर मालदार बना दिया जायेगा परन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ। उन्होंने समझ लिया कि वे दिल्ली सम्राट, को मुँह दिखाने लायक नहीं रहे हैं। परन्तु जब वे भारत लौटे तब तक तो भारत की तस्वीर ही बदल गयी।

मिर्जा अहमशामुद्दीन का जीवन एक कलव्यनिष्ठ ईमानदार और परिश्रमशील व्यक्ति की प्रेरक कहानी होते हुए भी अन्ततः हृदय द्रावक और करुण है। सपन रहते जो कुटिल व्यक्ति की या समुदाय की कुटिलताओं को समझते नहीं उनके हाथ पकड़ाने के सिवा कुछ नहीं आता। ईमानदारी, परिश्रमशील और कर्तव्य निष्ठ के साथ साथ सजग चातुरी भी हो तो सुखद फल प्रप्ति किये जा सकते हैं। मिर्जा ने अपने खाना के सम्प्राण 'सफर नाम चिलावन' में लिखा जिसमें अंग्रेजों को लज्जाति को अन्तर्गत किया गया है।

000

विश्व मानवता के संदेशवाहक

स्वामी सहजानन्द—जिन्होंने संन्यास को सार्थक बनाया

प्राचीन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार संन्यास व्यक्ति के आत्मविस्तार का वह अन्तिम चरण होता था जहाँ जाकर वह परिवार से सब प्रकार से नाता तोड़ प्राणियात्र से आन्वीयता जोड़ लेता था। अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर तक घटाकर अपनी समस्त शक्ति, ज्ञान अनुभव का लाभ सारे विश्व को सपभाव से बाँटता था। संन्यास आश्रम वह संस्था थी जो समाज के निरीक्षण, संचालन, नियन्त्रण और दिशा निर्धारण का कार्य भली प्रकार से सम्पादित कर सकती थी। संन्यासी होने का अवसर प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलता था। उसके पात्रत्व की कसौटी भी बड़ी खरी होती थी। थोड़े-से ज्ञान वृद्ध ब्राह्मणों को यह सौभाग्य मिलता था।

उद्यो-उद्यो आश्रम धर्म में विकृतियाँ आती गयीं त्यों-त्यों संन्यास की महान् गरिमा, महत्ता भी क्षीण होती गयी और आज स्थिति यह है कि संन्यासी का अर्थ मात्र भिक्षुक रह गया है। हजारों में से एक-आध व्यक्ति अपवाद हो सकता है। पर अन्य सभी आज के तथाकथित संन्यासी साधु, बाबा, त्यगी समाज पर बहुत बड़ा बोझ बने हुए हैं।

स्वामी सहजानन्द भी इसी समुदाय के एक घटक थे। उन्होंने इस वर्ग की समस्त दुर्बलताओं से ऊपर अपने को सर्वतोभावेन लोकहित के लिये समर्पित कर संन्यास को सार्थक किया। उन्होंने मठों में पड़े रहने और अकर्मण्यता का जीवन बिताने की अपेक्षा देश की स्वतन्त्रता व देशवासियों की, विशेषकर कृषकों की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कर्मक्षेत्र में आकर जो उद्योग किया वह उन्हें अविस्मरणीय बनाये हुये हैं।

सन् १८६९ में गाजीपुर (उ. प्र.) के निकटवर्ती एक गाँव के सामान्य ब्राह्मण परिवार में जन्मे स्वामी सहजानन्द जब अठारह वर्ष के थे तभी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। बचपन में वे नवीं कक्षा तक पढ़ सके थे। संन्यासी बनने के पीछे उसका उद्देश्य शास्त्राध्ययन व योगाभ्यास ही था न कि किसी मन्दिर का अधिकारी बनने का।

संन्यासी जीवन के बोझ से वर्षों के अनुभव से वे समझ गये कि ये परम्परा अत्यधिक विकृत हो चुकी है, इस संन्यास से तो गृहस्थ धर्म क्या बुरा था? पर अब जब वे संन्यासी बन गये हैं। उन्हें पूर्व पद्धति के अनुसार लोक-सेवा का बहुत बड़ा क्षेत्र मिल गया है। उन्हें उसी क्षेत्र में जम कर कार्य करना है।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए उन्होंने सामान्य जनता की जो दुःखस्थ देखी तो वे उसे दूर करने के लिए कृत संकल्प हो गये। आगे चलकर उन्होंने इस दुःखस्था को घटाने के लिए जो कार्य किये वह बड़े क्रान्तिकारी सिद्ध हुए।

कश्मी में रहकर विद्याध्ययन व साधना करते हुए उनके निकटवर्ती क्षेत्रों को देखने का अवसर मिला। उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बलिया के ब्राह्मण लोग अपने खेतों पर स्वयं कृषि कार्य नहीं करके दूसरों से कराते थे। वे खेती को पाप कर्म मानते थे क्योंकि इसमें जीव हत्या की सम्भावनाएँ रहती थीं। १९१४ ई. में भूमिहार ब्राह्मण महासभा में उन्हें आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने वहाँ प्रवचन में मुख्य बात बतई कही कि आज की परिस्थिति में पुरोहित कार्य करने की अपेक्षा खेती करना अधिक श्रेयस्कर है। यह एक क्रान्तिकारी विचार था इसे सुन लोगों को यह तो आश्चर्य हुआ पर स्वामी जी ने उनकी शंकाओं का समाधान किया तो बात उनके गले उतर गयी।

धीरे-धीरे स्वामी जी का ध्यान प्राणायाम और समाधि से हटकर लोकसेवा की ओर गया तो परम्परा के अन्ध-पुजारी लोगों ने उनका विरोध भी किया किन्तु उन्होंने विरोधियों की परबाह न करते हुए क्षेत्र के भूमिहार ब्राह्मणों की भिन्न-भिन्न शाखाओं को एक करने के उद्देश्य से समस्त बिहार में घूम-घूम कर ऐसे तथ्य एकत्रित किये जिनसे कि एक ही जाति के भिन्न-भिन्न गोत्रों के मध्य वैवाहिक तथा सम्बन्ध स्थापित हो सके। इससे उनके बीच का बिखराव समाप्त हो सके इन तथ्यों के आधार पर उन्होंने भूमिहार ब्राह्मण परिचय नामक चार-सौ पृष्ठ का एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ तैयार किया।

स्वामी सहजानन्द बिहार और उत्तरप्रदेश के सीमावर्ती जिलों में यह कार्य कर रहे थे उसी दिनों जालियाँवाला बाग काण्ड हो गया। इसका समाचार जब उन्हें मिला तो उनका मन भारत की अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के लिए जो जन-अभ्युदय चल रहा था, उसमें भाग लेने के लिये तड़प उठा। इसका फल यह हुआ कि गांधी जी जब पटना आये तो स्वामी सहजानन्द ने उनसे सम्पर्क किया। गांधी जी से मिलने के बाद वे उनके परम भक्त बन गये और असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए कटिबद्ध हो गये।

नगपुर कांग्रेस अधिवेशन में भी उन्होंने भाग लिया। वहाँ से लौटकर अपने क्षेत्र में जोर-शोर से प्रचार करने लगे। जातीय सुधार के कार्य के साथ ही जनता पर उनका प्रभाव तो बढ़ ही चुका था अब वे पैदल-पैदल ही गाँवों का दौरा करके जन-साधारण का काम

३ २ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

करने लगे। वे गांधी जी के इस आदेश का पालन करते और कांग्रेस समर्थकों की संख्या में वृद्धि करते। इस कार्य के लिये उन्होंने न दिन को दिन समझा न रात को रात। पंख में बिवाई फट गयी है तो भी उनका चलना नहीं रुकता। जो कुछ रुखा-सूखा मिल जाता उसे ही स्वीकार कर वे स्वतन्त्रता का शंखनाद किया करते।

स्वामी जी ने राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर ही ध्यान नहीं दिया वरन् उन्होंने समग्र शांति से जनता को मुक्त कराने का प्रयास किया। शांति, अत्याचार, उत्पीड़न चाहे वह विदेशी स्वामियों द्वारा किया जाता हो या भारतीय जमींदारों द्वारा या पुँजीपतियों द्वारा, वे इसके विरोधी थे। उनका विरोध किसी जाति या वर्ग से न होकर शांति व अत्याचार से था। अतः आगे चलकर वे राजनैतिक नहीं आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्ष में ही निरत रहे।

प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के समय टटरी (बलिया) में हुई हड़ताल और ग्रन्थीय किसानों की समस्या के चुनाव में हुआ नरेश को हराकर कांग्रेस की भाक जफ्त देने के बाद उन्होंने शाहबाद के सिपिरी ग्राम को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। वहाँ के निवासियों में से उन्होंने राम सुभग पाण्डे व राम आदर्श पाण्डे जैसे दृढ़ सत्वाग्रही साथी चुँड़ निकाले। राम आदर्श पाण्डे को इस आन्दोलन में अपनी एक आँख की आहुति देनी पड़ी किन्तु उन्हें इस बात का कोई पल्ला नही रहा।

स्वामी सहजानन्द जी ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य बिहार और उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती जिलों में किया वह था किसान आन्दोलन, जो वहाँ से उठकर राष्ट्रव्यापी आन्दोलन बन। इसके पूर्व वे कांग्रेस के एक अग्रगण्य सेनानी की तरह कार्य करते रहे थे। उन्हें सत्वाग्रह में भाग लेने के कारण जेल भी जाना पड़ा। जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे। वहाँ राजनैतिक कैदियों का एक संगठन बनाकर वे उन्हें गीत पढ़ाया करते थे। उनकी राजनीति का मूल अङ्गम अध्यात्म ही था। जेल में उन्हें पर्याप्त समय मिला और उन्होंने गीत का गम्भीरतापूर्वक मनन-ध्यान किया।

एक वर्ष की जेल कैदकर वे गाजीपुर लौटे। यही आने के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति में अनुचित लाभ उठाने की गरज से कुछ अवसरवादी अमीर और जमींदार लोग इसमें घुस आये हैं। यह अब जन-सामान्य की पार्टी न रहकर अमीरों की पार्टी बन जायेगी इस बात की उन्हें धनक लग गयी। उन्होंने सामान्यजन विशेषकर कुषमों की आर्थिक दशा सुधारने और उन्हें जमींदारों के शोषण तथा अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये उन्हें संगठित करने की ओर अधिक ध्यान देने आरम्भ कर दिया।

इस आन्दोलन में उन्हें कांग्रेस से सहायता नहीं भी मिल सकती है बहुत सम्भव है उसका विरोध भी सहना पड़ सकता है। यह सँचकर स्वामी जी ने अपना पृथक् केन्द्र स्थापित किया क्योंकि आज तक के अनुभवों से वे यह सीख ले चुके थे कि कई अच्छे-अच्छे संगठनों में अवसरवादी और स्वार्थी तत्वों ने घुसकर उन्हें सिद्धान्तहीन बना दिया। जनतन्त्र आने पर जनता को उसका समुचित लाभ मिले इसके लिये उसे अपने अधिकारों के लिए जागरूक बनाना बहुत जरूरी है। उनके अपने इस कार्य के लिये कांग्रेस से विशेष सहायता मिलने वाली नहीं है। यह अनुमान उन्होंने पहले ही लगा लिया था और अपने

कृष्क आन्दोलन के लिये सर्वकर्तृ तैयार करने के लिए उन्होंने पटना से थोड़ा दूर बिहटा नामक स्थान में श्री सीतारामाश्रम की स्थापना की।

वही हुआ जिनकी उन्हें अप्रशक्त की। अगले दिनों उन्हें किसान आन्दोलन का सूत्र संचालन करना पड़ा। इस आन्दोलन में कांग्रेस से उन्हें कोई सहायता नहीं मिली। १९२६-२७ में उन्होंने 'लोक सभ्य' नामक निर्धन पत्र का पटना से प्रकाशन आरम्भ किया। इसका उद्देश्य किसानों को जमींदारों के शोषण, अत्याचार से मुक्त होने के लिए संगठित करना था। यहीं से आगे चलकर किसान सभा संगठित हुई और उसने जोरदार आन्दोलन चलाया।

१९३० में नमक सत्वाग्रह में भाग लेने के कारण सहजानन्द जी छह मास की कड़ी सजा भोगकर वापस बिहटा आये तो उन्हें यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि उनके दल के समयान्तर कुछ स्वार्थी लोगों ने नकली किसान पार्टी स्थापित कर ली है। स्वामी जी ने सारे राज्य का तृष्णनी दौर करके उस नकली किसान सभा का भण्डाफोड़ किया।

जमींदारों ने स्वामी जी को धन का लालच दिया। उनके लिए अच्छा सब मठ बना देने का लालच दिया पर वे जनहित के काम से हटे नहीं इन सब को ठुकराकर वे किसान सभा को मजबूत बनाते गये। इस प्रश्न को लेकर उन्हें कांग्रेस का भी विरोध सहना पड़ा किन्तु वे तो सत्य के समर्थक थे। सब कुछ सहते हुए भी उन्होंने इस किसान सभा को राष्ट्रीय स्तर पर विकसित किया।

१९३७ में बिहार में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल बन जाने पर भी किसानों के हितों की उपेक्षा की गयी तो स्वामी जी ने आन्दोलन की गति और तेज कर दी। सन् १९३८ में स्वामी जी पटना के सेक्रेटेरियट तक एक मोल सच्चा बलस लेकर गये। सामान्य जन शोषित वर्ग को इस बढ़ती शक्ति से सरकार भी भयभीत होने लगी। स्वामी जी को कांग्रेस छोड़नी पड़ी पर जनहित का जो कार्य उन्होंने हाथ में लिया था उसे नहीं छोड़ा। बिहार से उठकर यह कृष्क आन्दोलन राष्ट्रव्यापी बना। सरकार ने किसानों के साथ सख्तों बरती। आन्दोलन व भूख हड़ताल में कई लोगों ने प्राणों की आहुति दी। स्वामी जी को भी दो वर्ष तक जेल भागनी पड़ी। जमींदारी उन्मूलन में उनके इस आन्दोलन का बहुत बड़ा सब रहा। अगर वह किसान आन्दोलन नहीं चला होता तो बहुत सम्भव था जमींदारियों इतनी शीघ्र समाप्त नहीं होती।

१९५० में स्वामी जी की मृत्यु हुई तब तक वे अपने इसी कार्य में लगे रहे। एक संन्यासी का समाज को दिया गया यह अनुदान उन्हें सच्चे संन्यासी की उस प्राचीन कसौटी पर खरा सिद्ध करा। अन्तः यह जीवन संन्यासियों को अपना धर्म और जनता को जो सीख देता है वह कम मूल्यवान नहीं है।

मातृ हृदय—मातृ उपासक— साने गुरुजी

अज्ञात और दलित वर्ग की जातियों के लिए महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो इतिहास में शब्द ही कभी किसी के लिए किया गया हो। उनके शब्दों में 'अस्पृश्यता' के सर्व

को मारे बिना हम कुछ नहीं कर सकते। अस्पृश्यता वह विष है, जो हिन्दू समाज के धर्म को खाखला कर रहा है। वर्णाश्रम ऊँच-नीच का धर्म नहीं है। भगवान् का कोई भी भक्त दूसरे को अपने से नीच नहीं समझता। उसे तो प्रत्येक भाई को अपना सगा मानना चाहिए। इसी आधार पर गांधीजी ने अस्पृश्यता निवर्तन को स्वराज्य के समकक्ष का सवाल माना था और कुआँछूत के निवारण हेतु प्रबल अभियान भी छेड़ा था।

तब हरिजनों को भगवान् के मन्दिर में जाने और उनके पूजा विग्रह का दर्शन करने का भी अधिकार नहीं था। इसलिए हरिजनों को मंदिर प्रवेश का अधिकार हरिजनोद्धार का एक प्रमुख कार्यक्रम बना। इस आन्दोलन की सत्तार महाराष्ट्र प्रान्त में भी पहुँची और वहाँ भी हरिजनों के लिए मंदिर प्रवेश की माँग उठी। महाराष्ट्र में इस अभियान के प्रमुख सेनानी का दायित्व ग्रहण किया साने गुरुजी ने। उन्होंने अपने साथी कार्यकर्ताओं को लेकर मंदिर प्रवेश का सन्देश गाँव-गाँव जाकर सुनाया। मोवा से नागपुर तक सभी स्तानों पर उनके माध्यम से यह सन्देश गुँजा।

और सब जगह तो अपेक्षित सफलतायेँ मिली परन्तु महाराष्ट्र प्रान्त भर के प्रमुख तीर्थ स्थल पंढरपुर के मन्दिर में अफ़लों को प्रवेशाधिकार नहीं मिला। ऐसे स्थानों पर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिए गाँधीजी, आचार्य विन्सेबा धावे तथा अन्य सर्वोदयी गाँधीवादी नेताओं ने सत्याग्रह करने का आह्वान भी किया था। पंढरपुर में भी सत्याग्रह का प्रश्न उठा और उसके लिए स्वयं को प्रस्तुत किया साने गुरुजी ने। अनशन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था— “अगर हमारे जीने से कुछ नहीं होगा तो हमें अपने जीवन की आहुति देकर इस काम को करना होगा।”

सत्याग्रह की प्रेरणा देते हुए वे छह माह तक आस-पास के गाँवों में घूमे और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का औचित्य प्रचारित करते रहे। यद्यपि इस कार्य की जनशक्ति के आधार पर भी सम्पन्न किया जा सकता था परन्तु गाँधीजी का समय जीवन दर्शन नैतिक बल और हृदय परिवर्तन पर निर्भर है। इस विचार का छह माह तक प्रचार करते हुए उन्होंने जन-जागरण किया और छह माह बाद अनशन के लिए बैठे।

एक दिन— दो दिन— तीन दिन यह अनशन लगातार ग़ारह दिन तक चला। साने गुरुजी अपने सकल्य पर दृढ़ रहे अन्ततः पुजारियों को ही उनके सामने घुटने टेकने पड़े और पंढरपुर मन्दिर के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। आरम्भ में पुजारियों तथा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा लोकमत की उपेक्षा होते देख यह भय होने लगा था कि कहीं साने गुरुजी को अपने फ़्राण हो न गँवाने पड़े। परन्तु साने गुरुजी नैतिक बल और न्याय तथा औचित्य के आधार पर पुजारियों का हृदय परिवर्तन कराने में सफल रहे। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने साने गुरुजी की भूति-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— “पंढरपुर का पुण्य और मशहूर मन्दिर उन्होंने शतों पर हरिजनों के लिए खोल दिया गया जैसे कि दूसरे हिन्दुओं के लिए।

इसका समूचा त्रेय साने गुरुजी को है, जिन्होंने उसे हरिजनों के लिए हमेशा खुलवाने के मकसद से आमरण उपवास किया। उनकी यह हरिजन यात्रा इतिहास में अभूतपूर्व कही जायेगी।”

इस प्रकार सामाजिक न्याय और धार्मिक अधिकारों के लिए अपने श्रणों को धी-टँव पर लगा देने वाले साने गुरुजी का नाम सर्वोदय और स्वराज्य आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णक्षरों में लिखा जायेगा। उनका पूरा नाम पाण्डुरंग सदाशिव साने था लेकिन लोग श्रद्धा से उन्हें साने गुरुजी के नाम से ही अधिक जानते हैं। यह नाम आचार्य विन्सेबा धावे का दिया था— जो उनके उन्नयन और व्यवहार से वाणी तथा विचार से— वाणी और लेखन से लोक मानस का शिक्षण करने के लिए गाँधीजी ने सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

साने गुरुजी का जन्म २४ दिसम्बर, १८९९ ई० को हुआ था। उनके पिता महाराष्ट्र में बडवली नाम के गाँव के छोटे से जमींदार थे। इस गाँव से जमींदारी के रूप में कोई विशेष आमदनी नहीं होती थी। जो होती थी वह भी उनके पिता अपने पर-दु खकातर स्वभाव से बिबश होकर दूसरे स्वर्गों की आवश्यकताओं में लगा देने थे। परिणतः परिवार को सदैव आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा। साने गुरुजी की माता भी बड़ी संस्कारवान महिला थीं— वे भी अपने पति के कदम ध कदम चलती थीं। दोनों का स्वभाव इतना मेल खाता था कि दोनों ने एक-दूसरे को अपने कर्तव्यों में बाधक नहीं पाया।

पूरे परिवार को सदैव अभावग्रस्त स्थिति में रहना पड़ा परन्तु संस्कारवान माता-पिता ने अपने बच्चों को इतना स्नेह और वात्सल्य दिया कि उन्हें कभी अभावों का अनुभव ही नहीं हुआ और न ही दूसरे सम्पन्न बच्चों से अपनी तुलना करने की इच्छा। माता-पिता के स्वभाव का प्रभाव अनिवार्य रूप से सन्तान पर पड़ता है और उस स्थिति में तो और भी अधिक जब माता-पिता इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं। विशेषतः उनकी माता ने साने गुरुजी को सुसंस्कृत व्यक्तित्वसम्पन्न बनाने पर ज्यादा ध्यान दिया। छोटी-छोटी बातों को लेकर वे अपने बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करतीं कि साने गुरुजी में ऊँच और अच्छा बनने की महत्वाकांक्षा जाग्रत हो गयी और जोर भी पकड़ गयी।

शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्वाह की भाँति ही उन्हें काफी लंगियों का सामना करना पड़ा। घर में कभी-कभी तो फ़क्क भी हो जाता। ऐसी स्थिति में उनकी माता भगवान् की इच्छा में सन्तुष्ट रहने तथा ध्येयमुखी दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करतीं। समय पर साने गुरुजी पाठशाला की फीस भी नहीं दे पते— अक्सर भूखे पेट ही स्कूल दौड़ना पड़ता और इधर माँ का स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा था। इन सब परिस्थितियों में वे बचाव इतना होने के इस धुन में रहने लगे कि किस प्रकार माँ को उपराम दिया जाय। एक ही रास्ता था कि खूब पढ़ें और वे दिन-रात मेहनत से जो लगाकर खूब पढ़ते परन्तु उनका वह सपना अधूरा ही रह गया जो उन्होंने अपनी माँ के लिए देखा था। जिस समय वे मैट्रिक में अपने गाँव से बाहर पढ़ रहे थे— उनकी अनुपस्थिति में माँ स्वर्ग सिंघार गयीं।

साने गुरुजी को लगा सब-कुछ लुट गया। अब उन्हें पढ़ने में कोई रस नहीं आता। तभी उनके मन में वह विचार आया कि शरीर ही कोई माँ नहीं मातृ-भावना तो शरीर से परे है और उसका विकास करना—माँ की आकांक्षा पूरी करने के लिए साधनारत रहना ही सच्ची मातृ-सेवा है और सचमुच ही उन्होंने मातृ भावना का उच्चतर विकास किया। अपनी सर्वाधिक चर्चित कृति में मातृशक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“माता के रूप में ही भारतीय संस्कृति की अपार महिमा है। वह सार सम्भाल करने वाली है। बच्चों को संभालने वाली, पति को सम्भालने वाली, धन्य को सम्भालने वाली है। वह किसी को भी मरने नहीं देती ईश्वर को भी माँ कहकर पुकारने से कटकर और कोई अर्थ वाली उपयुक्त पुकार नहीं है। यदि ऐसी कोई वस्तु है जिससे ईश्वर के प्रेम की कल्पना हो सकती है तो वह ‘माँ’ ही है।”

यही भावना आगे इन शब्दों में व्यक्त हुई है—“विद्वान् (ईश्वर) माँ है। भारत माँ है। गाँव माँ है। भारतवर्ष में सब जगह माता की घंटा पहले की जाती है। कोई भी मगत कार्य क्यों न हो सबसे पहले माँ को ही प्रणाम किया जाता है।”

न केवल ‘भारतीय संस्कृति’ पुस्तक में वरन् जीवन के हर क्षेत्र में उनकी यह मातृ-भावना ही प्रकट रही है। मातृ-शक्ति के प्रति श्रद्धा जगाने के लिए भी आगे चलकर उन्होने कई प्रयास किये और ‘श्यामयी आई’ जैसे पुस्तक लिखी, जिसमें उनकी माँ के सम्मरण समर्पित है। इस पुस्तक को पढ़कर पठकों की आँखें प्रनायास हो अनुपूरित हो उठती हैं। जिस लेखक की कृति में इतनी भाव-प्रवणता हो उसकी अन्त-स्थिति का परिचय और आन्तरिक निष्ठायों का बोध शब्दों में नहीं दिया जा सकता।

मातृ-भावना के विकास में इतनी ऊँची मंजिलों को अपना लक्ष्य बनाकर चलते हुए साने गुरुजी उस समय पुनः पढ़ने लगे। यद्यपि बाह्य परिस्थितियाँ तो पहले से भी अधिक विकट हो उठी थीं लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ और परिश्रम के बल पर उन सभी परिस्थितियों को परास्त करते हुए एम. ए. पास किया और अमलनेर के तत्वज्ञान मन्दिर में प्रवेश प्राप्त किया। एक साल वहाँ रहने के बाद वे अमलनेर हाईस्कूल के शिक्षक बनकर युवकों को पढ़ाने लगे। यद्यपि उनके सामने और भी क्षेत्र पड़े थे—उन दिनों तो एम. ए. पास युवकों का अच्छा मान था और ऊँचे पदों पर भी ऐसे युवकों की सदा आवश्यकता अनुभव की जाती। परन्तु साने गुरुजी ने शिक्षक का कार्य ही चुना।

वे जानते थे कि छात्रों का रचनात्मक मार्गदर्शन कर उन्हें देश के नव-निर्माण के लिए तैयार किया जा सकता है और वह कार्य भावनाशील तथा क्रसक रखने वाले लोग ही कर सकते हैं। सौभाग्य से यह दीक्षा उन्होंने अपने में उत्पन्न कर ली थी अतः उन्होंने शिक्षक का पेशा ही चुना। इस नौकरी से उपार्जन का एक रास्ता तो खुला परन्तु उन्होंने अर्जित रशि का उपयोग अपनी अपेक्षा ऐसे विद्यार्थियों पर ही अधिक किया जो उनकी-सी परिस्थितियों में रहते हुए पढ़ रहे थे। उनका यापन स्तर पूर्ववत् ही रहा। अमलनेर के हाईस्कूल में छात्रों से रुचक बना रहे इस उद्देश्य से उन्होंने छात्रावास का काम भी

सम्भाला। वहाँ विद्यार्थियों को उन्होंने मातृवत् प्यार दिया। यद्यपि वे नव-कलेवर से तो युवक थे परन्तु उनके सीने में माँ की ममता भरा हृदय था। उसी ममत्व का परिचाय कहना चाहिए कि उनके शिष्य छात्र त्वागी और संयमी बन गये। उन्होंने ऐसे छात्रों को भी सुधाग्र जो क्लृप्तसंधि और उद्विग्न-उद्धतता के लिए कुर्यात रहे थे

स्कूल के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त उन्होंने अन्य विषयों की जानकारी देना भी अपने अध्यापन में सम्मिलित किया। इस प्रकार के अतिरिक्त शिक्षण का कार्य मुख्यतः छात्रों के वास्तविक निर्माण को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता था। कुछ दिनों बाद विद्यार्थियों के लिए हस्तलिखित पत्र निकालने लगे। यह प्रक्रिया आगे चलकर छपे हुए ‘विद्यार्थी’ मासिक के रूप में विकसित हुई

१९२०-२१ में अग्रम्भ हुआ असहयोग आन्दोलन। यह आन्दोलन अंग्रेजी शासन के विरवासघात के जवाब में छेड़ा गया था। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों का सहयोग अंग्रेजी सरकार ने इस वचन-बद्धता के आधार पर लिखा था कि वह धीरे-धीरे भारतीयों को उनका देश सौंप देगी परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेज सरकार अपने वचनों से मुक्त गयी और उससे खिन्न तथा क्रुद्ध होकर महात्मा गाँधी, कांग्रेसी नेता तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आन्दोलन का शंखनाद किया। यह आन्दोलन दिनों-दिन बढ़ता गया और कुछ ही वर्षों में पूर्ण स्वाधीनता की माँग का प्रतीक बन गया। साने गुरुजी ने इस स्थिति में अनुभव किया कि उन्हें अब भारतमाता पुकार रही है। और वे असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े— उनके साथ उनके पुत्रवत् विद्यार्थी भी।

अंग्रेजी सरकार ने विद्यार्थी मासिक-पत्र भी बन्द करा दिया क्योंकि उसमें राष्ट्रपक्षिपूर्ण लेख निकलते थे। साने गुरुजी अब असहयोग आन्दोलन में कूदे तो अमलनेर के अधिकारियों ने उन्हें पकड़ कर कारावास में भेज दिया। जेल में उनके अन्य परिचित, मित्र, साथी भी थे, वे अपने साथियों को निरन्तर देश के लिए कुर्बानी और त्याग बलिदान की प्रेरणा दिया करते। अन्य कैदियों पर उनका गहरा प्रभाव होता था अतः अधिकारियों ने उन्हें सुदूर दक्षिण की त्रिचनापल्ली जेल में भेज दिया। यहाँ उनसे मिलने-जुलने वाले तो थे नहीं— परिचय करने के लिए भी वहाँ की भाषा का जानना आवश्यक था अतः उन्होंने दक्षिण की भाषाएँ बहो रहकर सीख लीं।

१९३० में उनकी रिहाई हुई। इसके बाद वे स्वातन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के साथ-साथ एक ऐसी समस्या खोलने का स्वप्न देखने लगे। बर्ह देशभर के लोगों में भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए कुछ किया जा सके। आन्तर भारत का नाम भी इस समस्या का स्पष्ट चित्रावली में बहुत कुछ खीन-झनाघ टैंगार की विश्व-भारती जैसा था। इस स्वप्न को साकार किया जा सके इससे पूर्व ही सरकार ने उन्हें १९३२ में पुनः गिरफ्तार कर लिया और जेल भेज दिया

उस समय धूलिया जेल में महाराष्ट्र के कई तपे हुए देशभक्त नवयुवक थे : जमनालाल बजाज, विनोबा भावे आदि भी उस समय कारावास कर रहे थे। विनोबा जी साने गुरुजी से परिचित हुए तो बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने साने गुरुजी को धूलिया जेल में रह

रहे महापुरुषों को संस्कारित करने का दायित्व सौंपा और वहीं से उन्हें साने सर के स्थान पर साने गुरुजी कहा जाने लगा। साने गुरुजी तथा विनोबा भावे में प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध कायम हो गये। जैसे दोनों में पूर्व जन्म के सम्बन्ध हों। इन्होंने विनोबा भावे ने कैदियों को गीता समझाने के लिए प्रति रविवार गीता के एक अध्याय पर प्रवचन देना आरम्भ किया। ११ फरवरी से ये प्रवचन आरम्भ हुए तथा अन्तिम प्रवचन १९ मई को हुआ। इन प्रवचनों में विनोबा भावे ने गीता पर अपना दृष्टिकोण सरल भाषा में व्यक्त किया— जिसमें गीता के गूढ़ ज्ञान का सहज विश्लेषण भी आ गया। साने गुरुजी प्रवचन के समय कागज-कलम लेकर बैठते और नोट करते आते। बाद में यह प्रवचन (गीता-प्रवचन) के रूप में पुस्तकबद्ध प्रकाशित हुए। यह पुस्तक अब तक पच्चीस संस्करण में छप चुकी है तथा लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। यही नहीं देश-विदेश की २० अन्य भाषाओं में भी इसका अनुबाद प्रकाशित हुआ है और इसका श्रेय साने गुरुजी को ही जाता है। विनोबा भावे ने स्वयं लिखा है— “मेरी तो कल्पना में भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसे सहृदय और शार्दूल हृदय से लिख सकने वाला लेखक यदि नहीं मिल पाता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना उन्होंने में इसकी परिसमाप्ति हो जाती।”

विनोबा और साने गुरुजी का स्तुका प्रभव धूलिया जेल में इतना गहरा हो गया कि अंग्रेज अधिकारियों को चिन्ता होने लगी और अन्ततः दोनों को अलग-अलग करना ही उन्होंने हित में समझा। साने गुरुजी को वहाँ से हटाकर नासिक जेल में भेज दिया गया। वहाँ रहकर उन्होंने कई कविताएँ, संस्मरण तथा गद्य साहित्य लिख डाला। पत्र श्यामशी आई तथा भडपडपारी भुले आदि के रूप में ये पुस्तकें प्रकाश में आईं। पत्रों की कविताएँ तो इतनी क्रान्तिकारी सिद्ध हुई कि अंग्रेज सरकार ने उसे जामा ही कर लिया।

जेल से छूटने के बाद वे अज्ञात रहने लगे और अपने कार्य करते रहे। विद्यार्थियों का समुदाय ही प्रमुख रूप से उनका कार्यक्षेत्र होता था। अज्ञातवास में पूना में रहते हुए उन्होंने मराठी भाषा की कोई दो हजार ओवियों का संकलन किया जो बाद में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ।

उन दिनों स्वाधीनता ही उनकी आत्मा की पुकार बन चुकी थी तथा भारत माता की सेवा ही एकमात्र कार्य। इसके लिए उन्होंने अर्हार्थ परित्याग किया। महाराष्ट्र में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के लिए तो उन्होंने अपने प्राणों की बाजी ही लगा दी। वे इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि एक वर्ष में कांग्रेस की सदस्य संख्या एक लाख हो जाय। राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए उन्होंने कांग्रेस नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला।

१९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध हुआ। राष्ट्रीय नेत्र जेल में ठूँसे जाने लगे। साने गुरुजी को भी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। रिहा होने पर उन्होंने जन जागरण की नयी पद्धति अपनायी। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के अनेक किस्से और घटनाएँ वे गाँव-गाँव जाकर सुनाने लगे।

१९४८ में महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गयी। यह हत्या अपने ही देश के एक युवक ने की थी उसका उद्देश्य काफ़ी दुःख हुआ और इसके प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने २१ दिन का उपवास किया। उन्हीं दिनों साप्ताहिक तनाव बढ़ा और जगह-जगह साप्ताहिक दंगे होने लगे। साने गुरुजी जगह-जगह शान्ति स्थापन के लिए जाने लगे। ११ जून, १९५० ई० को उनका निधन हो गया। उस समय उन्हें सम्मकतया अपने जीवन से पूर्ण सन्तोष था कि उन्होंने अपनी लौकिक माता की आकांक्षाएँ सन्ने अर्थों में पूरी कर दी हैं।

धर्मात्मा सुचारु नरेश की न्यायप्रियता

समुद्र के तट पर बसा वह प्रदेश धरती का स्वर्ग कहा जाता था। प्रकृति का प्रसन्न दर्शन, सुस्वादु अन्न से भरे भण्डार, निर्मल नीर से चर्यपूर्ण जलाराध, फलवारियों की प्रफुल्लित सुमनावली, फलों और फलों और बहुमूल्य वस्त्र से भरपूर बन की। प्रजाजन मिठा और आस्था के प्रतिरूप : कृपा-भक्ति, भावना और श्रद्धाभूति से सम्पन्न आवास, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सन्तुष्ट, सुखी और समृद्ध, जीवन का आनन्द लेते हुये वह जानते ही न थे, कि उनकी मृतभूमि के अनिर्मित नहीं कोई अन्य स्वर्ग भी है और अपने इस स्वर्ग को उन्होंने न्याय, नियम, सहाय, सह-अस्तित्व, परिश्रम एवं पुण्यार्थ के बल पर स्वयं रचा था। आत्मनिर्भर अपने उस स्वर्ग से उन्हें बहुत प्रेम था। जन-जन अपने प्राणपथ से अपनी उस श्री को बनाये रखने में सदा सावधान तथा संतर्क रहते थे।

उस प्रदेश के पुनर्निर्माण सुचारु नरेश विषय, वास्तव धर्म, विलास, शोषण-पीड़न से सर्वथा विरत आत्मोपार्जित अजीविक में ही विश्वास करते थे। राजकोष का एक पैसा भी अपने पर खर्च करना पाप मानते थे और महापात्य। वह तो सामान्यजन से भी अधिक परिश्रम करते और साधारण स्थिति में रहते थे। प्रजा की सेवा करने का वह कोई पाश्चात्तिक न लेते थे। स्वयं खेती करते और सन्तुष्ट रहते। ऐसे शुभ संस्कार और पूत चरित्र के रक्षक और शिक्षक पाकर क्यों न प्रजाजन जैसे बरते और क्यों न वह प्रदेश स्वर्ग का उपमान बनकर सर्वसाधनों से सुसम्पन्न होकर सुखी रहता।

एक बार झंझावात से विधुत्त वह समुद्र भयंकर हो ही उठा ऊँची-ऊँची तरंगों के अंक में घँसकर एक व्यापारी का बहुमूल्य सामग्री से भरा जहाज समुद्र में डूब गया। किसी प्रकार वह व्यापारी एक सहायक नौका के सहारे तट पर आकर लग गया। किन्तु उसने उस जीवन की ध्वनि समझा। वह धन-कुदर से भिखारी बन चुका था। उसका सर्वस्व उस समुद्र के तल में समा चुका था। समुद्र-तट पर बैठा वह विनाश करता हुआ, भाग्य की कंस रख था। तभी एक व्यक्ति आया और उससे दुःख का कारण पूछा। उस व्यापारी ने रोते हुये अपना दुर्भाग्य कह सुनाया। उस व्यक्ति ने उस दुःखी व्यापारी को दाढ़स बंधाया और राजा के पास जाकर सहायता की प्रार्थना करने

३ ६ महापुरुषों के अधिष्ठातृजीवन-प्रसंग—१

को कहा। व्यापारी को आश्वस्त बंध गई और वह नगर की ओर चल दिया।

नागरिकों द्वारा निर्दिष्ट किये सकेतों के अनुसार वह राजा के निवास पर पहुँचा। किन्तु उसे विश्वास न हुआ कि राजालय हो सकता है। उस निवास और नगर में देखे अन्य निवासों में कोई विशेष अन्तर न था। उसने विश्वास के लिये पास ही जाते हुये एक व्यक्ति से पूछा— क्या राज-निवास यही है? 'हाँ भद्र' उत्तर सुनकर व्यापारी झिझकता हुआ अन्दर बढ़ा। उसे कोई इमरान अथवा प्रहरी रोकने नहीं आया और वह आगे बढ़कर एक सुन्दर उद्यान से घिरे एक विशाल प्रांगण के द्वार पर आकर रुक गया। तभी सुना— 'आइये भद्र, निस्संकोच चले आइये। व्यापारी ने पास जाकर देखा कि एक स्मार्टक वेदिक पर अमराई की सपन छाया में एक अत्यन्त सुन्दर, स्वरूप और तेजस्वी युवा बैठा हुआ सन रहा है।

उसने क्षण भर अपना काम रोककर आगन्तुक को पास ही बनी उपवेदिका पर बैठने को कहकर कहा "बापू मातुम होते हैं।" कहिये कैसे कह किया। युवक का कर्म पुनः शुरू हो गया था। व्यापारी ने कहा— "भद्र मैं मुसीबत का मगर एक व्यापारी हूँ, इस प्रदेश के राजा से मिलकर कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। आप मुझे उनके दर्शन करा दें। बड़ी कृपा होगी।"

युवक ने बड़े सौम्यभाष में बतलाया, "मैं ही इस प्रदेश का राजा कहा जाता हूँ। कहिये आपको क्या कहना है।" व्यापारी ब्रह्म से आत्मविभोर होकर चरणों पर गिरकर रो उठा। राजा ने अपना सन और धरखा एक ओर हटाकर व्यापारी को इशारा दिया और अपनी वरथा बतलाने को कहा।

व्यापारी ने हँथे हुये कंठ और भरी हुई आँखों से अपनी दुःख-कथा कह सुनाई। राजा ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी खोई हुई सम्पत्ति वापस मिलेगी और एक चिट्ठी के साथ महामात्य के पास भेज दिया।

व्यापारी महामात्य के निवास पर पहुँचा और यह देखकर चकित रह गया कि प्रदेश के महामात्य बाहर से जल भर कर ला रहे थे। व्यापारी ने नमस्कार करके पत्र सेवा में प्रस्तुत किया। महामात्य ने पत्र पढ़ा और वे तुरन्त व्यापारी को साथ लेकर कार्यालय आये। वहाँ उन्होंने समुद्र के नाम एक आदेश लिखा कि इस व्यापारी का जहाज तुरन्त शिपस कर दिया जाय—और उस पर छत्रमुद्रा अंकित कर व्यापारी को सौंपते हुये निर्देश किया कि वह पत्र को समुद्र में पहुँचा दे।

व्यापारी ने समुद्र तट पर पहुँच कर उस पत्र को एक पत्थर से बांधकर समुद्र में फेंक दिया और किनारे पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही देर बाद अमक विशाल व्यापार-पोत समुद्र के बाहर सकुशल आकर किनारे पर लग गया। व्यापारी पुनः राजा के पास आया और पैरों पर गिर पड़ा। राजा ने पूछा आपका जहाज मिल गया। व्यापारी ने 'हाँ' उत्तर दिया और हाथ जोड़कर निवेदन किया— 'महाराज, अब मैं इस जहाज को ले न जाऊँगा। आप इसे उत्तम रूप में स्वीकार करें।' "

राजा ने मुस्कराते हुये पूछा— "ब्रेष्ठो! क्या तुम्हारे देश में किसी आपत्तिग्रस्त की सहायता करने का उपहार भी लिया जाता है? यदि ऐसा है तब तो निश्चय ही तुम्हारे देश में जल नहीं बरसना चाहिये।" नहीं, महाराज! फ़नी खूब बरसता है।" व्यापारी ने उत्तर दिया, "तब वह पानी अवश्य ही उन पशु-पक्षियों के पुण्य-प्रताप से बरसता है जो अपनी सेवा और उपकार के बदले में कोई उपकार न तो लेते हैं और न चाहते हैं। आपकी विपत्ति का निवारण ही मेरा उपहार है जाओ और आनन्दपूर्वक अपनी मातृभूमि के दर्शन करो।"

साधुओं के लिये मार्गदर्शक— स्वामी सोमदत्त गिरि

एक बे साधु। एक गाँव के शिव मंदिर में पूजा किया करते थे। गाँव वालों ने उनकी आज्ञाविरुद्ध के लिये कुछ सम्पत्ति व थोड़ी जमीन लगा दी थी। उस जमीन का कोई उपयोग न हुआ। साधु के लिये गाँव वाले ही भोजन की, दूध-फनी की व्यवस्था करते थे। जैसी स्थिति आज सम्पन्न साधुओं की है ठीक वैसी ही, उसी परम्परा के यह भी एक साधु बाबा थे, जिन्हें न तो लोकशिक्षण से कोई प्रयोजन था न तप-साधन से। स्वावलम्बन की बात तो बेचारे सोचने भी कहाँ से

यह कोई कहानी नहीं एक सत्य घटना है। जो इन पंक्तियों में उद्धृत की जा रही है। दिल्ली से कोई २० मील दूर दिल्ली-कलकत्ता ट्रान्क ट्रक रोड पर अब— स्थित बुलन्दशहर जिले का भूमदादरी गाँव है यहाँ पर वह मन्दिर है जहाँ इस प्रकार के एक बाबा जी रहा करते थे।

कुछ दिन में एक आत्म-जिज्ञासु वैरागी शिष्य भी उधर आ गुजरे बाबा जी को जीवन के अन्तिम दिन सेवा-सुव्रूपा के लिये एक चेले की आवश्यकता भी थी तो इस बात का कोई ध्यान किये बिना कि उसकी जिज्ञासाओं की कोई तृप्ति की जा सकती है अथवा नहीं उस अन्ध शिष्य को आत्मज्ञान का कोई प्रकाश एवं मार्गदर्शन दिया भी जा सकता है या नहीं, सहर्ष शिष्य वरण कर लिया गया, शिष्य का नाम था सोमदत्त गिरि।

गिरि महाराज ने थोड़े दिन के ही सत्संग से ज्ञान लिया कि उन्हें यहाँ क्या मिल सकता है। उन्हें साधु-बाबाओं की दयनीय स्थिति का बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सोचा क्या यही वह लोग हैं जो समाज का मार्गदर्शन किया करते थे। क्या यही वह वर्ग है जिसे समाज ने भगवान् की तरह पूजा और यह आश्वस्त करे कि वे जन-जन के कल्याण का, देश, धर्म, जाति एवं सस्कृति के ऊँचाई की पावन ज्योति जाग्रत रखेंगे। जब समाज शिक्षण के कोई लक्षण उनमें न जान पड़े तो सोमदत्त गिरि को बड़ा दुःख हुआ, पर अब वे थोड़े कदम हटाकर गृहस्थ में भी नहीं आ सकते थे। उससे पंच कर्त्तव्य होने का भय था। इसलिए उन्होंने सोचा यदि हम समाज को कुछ दे नहीं सकते तो हमें उस पर आश्रित रहने का भी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

जब तक सोमदत्त के गुरु जीवित रहे तब तक वे चुप रहे स्वाध्याय के द्वारा, कुछ कथा-कीर्तन के द्वारा अपनी योग्यता और

भक्ति बढ़ाने रहे। इसी बीच गुरु की मृत्यु हो गई। अब श्री गिरि ने विचार किया कि क्या उन्हें अब तक चली आ रही परम्पराओं पर ही चलने रहना चाहिये अथवा कुछ ऐसा सुधार करना चाहिये जिससे ग्रामवासियों के हित में मन्दिर का कुछ उपयोग भी हो सके, उसमें लगी सम्पत्ति निरर्थक न पड़ी रहे और अपना साधु-वत भी कलवित न हो।

अपनी विचार शक्ति ने काम नहीं दिया तो उन्होंने कई शिक्षित व्यक्तियों से परामर्श किया। कई लोगों ने कई काम के सुझाव दिये जिससे उनकी कठिनाई का सरल समाधान निकल आया।

उन्होंने पहला काम तो यह किया कि मन्दिर में नियमित कीर्तन की व्यवस्था की जिससे नवयुवक, बन्धु और बृद्ध जो अपने खाली समय का उपयोग झगड़े और राजनीतिबाजी में किया करते थे वे उन बुराइयों से बचने लगे। लोगों का मनोरंजन होने लगा और धर्मपावन के प्रसार से परस्पर प्रेम भाव, आत्मीयता, सहयोग और सगठन के भाव भी बनपने लगे। जन-मार्गदर्शन के लिये तो आज साधुओं के उत्तरदायित्व बहुत अधिक और बहुत कठिन है किन्तु इनका भी क्या काम था कि श्री सोमदत्त गिरि ने असांझनीय परम्परा को उसी तरह तोड़कर रख दिया जिस तरह किसी अखेर्य और अशिक्षित बाप का शिक्षित और समझदार बेटा परिवार में अब तक चल रहे रूढ़िवादी रीति-रिवाजों, अन्ध मान्यताओं, मुक्त भोज, शालियों में अपव्यय से जेवर जकड़े के मोह, बालिकाओं को न पढ़ाने आदि की संकीर्णताओं को तोड़कर रख देता है और पारिवारिक जीवन में नये आदर्शों, कई और विवेकशील मान्यताओं को प्रतिष्ठित और क्रियान्वित करता है।

सोमदत्त ने एक बार मन्दिर के आस-पास दृष्टि दौड़ाई। सब जगह झाड़-झंखाड़ भर पड़ा था। पेड़-पौधों की न कभी निकाई हुई थी न गोड़ाई, न ही उन्हें खाद-पानी मिला था, इसलिए वे ऐसे सूख गये थे जिस तरह मार्गदर्शन, उचित पालन-पोषण एवं संरक्षण के अभाव में छोटे बालकों के संस्कार सूख जाते हैं। श्री गिरि ने कई दिन केवल सफाई में लगाये, अनावश्यक झाड़ियाँ, सूखे पेड़ काटकर लकड़ी एक स्थान पर जमा की और जो कुछ-करकट का उसे दूसरी तरफ इकट्ठा करके आँच लगा दी। अब वही स्थान सफ-सुधरा व सुन्दर दीखने लगा जो लोग न भी आना चाहते थे वह भी मन्दिर आने लगे। सौन्दर्य के आकर्षण के साथ ही ग्रामीणों की श्रद्धा-भक्ति का भी विकास होने लगा।

दूसरा काम, जो श्री सोमदत्त की प्रतिष्ठा बढ़ता है वह यह था कि आपने अन्न के लिये पराजय त्याग दिया। सूखी लकड़ी बेचकर चार गाँव खरीदीं, उनके दूध से अपनी अधिकांश भोजन का काम चलाते। बचा हुआ दूध बेच देते उससे जो पैसा बचता उसका छोटा अंश अपने भोजन, मन्दिर के प्रसाद आदि पर लगाते, शेष से जमीन को खेती योग्य बनाने और एक बाग लगाने का काम प्रारम्भ किया। पहली बार ही उन्हें खेतों से ६०० रुपये का गोहूँ मिला। वह उस हिस्से से अलग था जिसे उन्होंने अपने खाने के लिये रख छोड़ा था। इस धन से मन्दिर की सफाई, सजावट, कच्चा, कीर्तन, स्वागत-

समापेह, सत्कार का खर्च खूब मजे में चलने लगा और गाँव वालों के आश्रय की जो बात की सो दूर हो गई।

एक फसल उत्तरने के बाद जमीन खाली पड़ी रहती थी, उसका कैसे उपयोग किया जावे? यह प्रश्न कई दिन तक गिरि जी को परेशान किये रहा, अन्त में उसका भी एक उपयुक्त हल निकल ही आया।

गिरि जी ने तीन गाँव बेच दिये। अपने और मन्दिर में भोग के लिये एक गाँव रखी। कुछ पैसा पहले एकत्रित था उससे एक ट्यूबवेल लगवा दिया और जमीन को खाद देकर उसे फसल के अतिरिक्त समय में साग-भाजें पैदा करने का कार्य आरम्भ कर दिया। बाहर खेतों में बीया, टिन्डे, टमाटर, मिर्छी आदि सब्जियाँ बोनी प्रारम्भ कर दीं। उससे उन्होंने दूध की कमी पूरे की, शेष को बेचने की व्यवस्था कर दी। इस तरह फसल और साग-सब्जों के दोहरे उपयोग ने मन्दिर की आर्थिक स्थिति सम्बल दी। उन्होंने ८-८ बण्टे लगाकर का कठोर श्रम खेतों में किया। फसल की निकाई-गुड़ाई तक अपने हाथों की खुरपी-फवड़ा ही उनके धनी और कमंडल हैं, वेध से ही वे एक साधु लगते हैं अन्यथा हैं वे सत-प्रतिष्ठत किसान ही।

जिस तरह कोई चतुर किसान अपनी उन्नति के लिये तरह-तरह के उन्नत बीज, खाद और पानी की व्यवस्था के नये और उन्नत प्रयोग करता है, मन्दिर की खेती की उन्नति के लिये श्री सोमदत्त जी ने भी वैसे ही प्रयोग किये हैं। सोनाह ६५ किन्म का गोहूँ और मैक्सिकन गोहूँ का बीज लाकर बोधा पर उपज बढ़ाने के लिये कैलिशायम अमोनियम नाइट्रेट व यूरिया आदि का भी उपज-वृद्धि साधनों में उपयोग किया और उसके सम्पादनाओं से न केवल साधु-महन्त वरन् गाँवों की किसान जनता भी बहुत प्रभावित हुई। गिरि जी ने ग्रामीणों के मनोरंजन और देश-विदेश की गतिविधियों की जानकारी के लिये रेडियो भी लगाया है। इस तरह मन्दिर को समुन्नत और स्वावलम्बी संस्था का सफल रूप प्रदान करने का वेध श्री सोमदत्त जी गिरि ने प्राप्त किया और यह सिद्ध कर दिया कि साधुओं को यदि सामाजिक जीवन में अपनी प्रतिष्ठा और उत्तरदायित्व के पालन की योग्यता बनाये रखनी है तो उन्हें स्वावलम्बी, कर्मठ और परिश्रमी होना चाहिये जो औरों को मार्ग दिखता, औरों का कल्याण करता है, उसे पर-मुखापेक्षी और परवलम्बी क्यों होना चाहिये।

साधुवेश का गौरव बढ़ाने वाले— स्वामी शंकरदास

इन पंक्तियों में जिस व्यक्ति का जिक्र किया जा रहा है, इसका सश्रिप्त परिचय इतना ही है कि वे एक साधु हैं, देश से भी और वृत्तियों से भी। समाज के सच्चे जीवित रहे तो बदले में उनसे अधिक सेवा भी करते रहे। साधु का यही धर्म है कि वह अपना जीवन मुक्त भोगों से हटाकर परोपकार में लगावे। उसके बदले में समाज जो कुछ सुखा सुख दे उसे भिक्षा के रूप में नहीं, प्रसाद के रूप में ग्रहण कर ले भिक्षा को अधिकार नहीं मानना चाहिये। भिक्षा से प्राप्त धन नशा संचय-भोग जैसी दुष्प्रवृत्तियों में नहीं लगाना चाहिये।

३.८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

प्रथम भट में बाबा शंकरदास के बारे में भी धारणा ऐसी ही थी। एक हफ्ते पूरा अधेड़ व्यक्ति को शिक्षा-पात्र अङ्गे बढ़ते हुए देख बड़ा कह हुआ। हमारे मन में विचार आया कि आज देश में वैसे ही खाद्य-संकट है, दूसरे इन आलसी बाबाओं का बोझ और झोना पड़ता है। क्या ये अपने उद्योग-धंधे के लिये भी मजदूरी नहीं कर सकते? कर सकते हैं, पर हराय का खाने की इनकी आदत पड़ गई है। अविवेकशील वर्ग इनकी प्रतिष्ठा करता है और प्रबुद्ध वर्ग उद्दसीन है, इन्हें निरुत्साहित नहीं कर सकते, इन्से से शिक्षावृत्ति बढ़ती जा रही है। हथ और कुछ नहीं कर सकते तो इनकी संख्या न बढ़ने देने का काम तो कर ही सकते हैं।

शंकरदास का रोककर मैने जग से कहा— महाराज, झील-झील से तो कमजोर नहीं दिखाई देते, फिर क्या अपना अकेले का पेट भी नहीं भर सकते?

मेरी माता जी को मेरी खचालता अच्छी नहीं लगी, पर मुझे हर्ष हुआ। समझ रहा था, साधु महाराज अप्रसन्न हो उठेंगे, उठकर चान देगे या कुछ उलटी-सीधी कहेंगे। पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बाबा जी ने न कुछ कटु कहा और न अप्रसन्न हुए। उनके भारी शब्दों से इतना ही जान पड़ा कि उन्हें मानसिक आघात अवश्य पहुंचा है। बाबा जी जाने-जाते कह गये— बेटा! तुमने समझ कर दिया। आगे भीड़ न भागूँगा।

हुआ भी ऐसा ही, बाबा शंकरदास ने आगे किसी के सामने भिक्षा-पात्र नहीं उठाया, पर इस घटना ने मुझे बड़ा मानसिक कष्ट पहुंचाया। बाद में माता जी और दूसरे ग्रामवासियों ने बताया कि वह बाबा जी वैसे तो टिकैया पुरवा के निवासी हैं, पर आस-पास के २५-३० गाँवों में उनका इतना अच्छा परिचय है कि किसी दरवाजे पर रुक जम्ये, वहीं लोग प्रसन्नतापूर्वक उनका आतिथ्य करते हैं। भोजन वे स्वयं पकाते हैं। भिक्षा में एक घर से एक मुट्ठी से अधिक कोई देना भी चाहे तो नहीं लेते। दस घर से ज्यादा माँगते नहीं। जो खाने से बच जाता है उसे गंद के गरीब हरिजनों को बाँट देते हैं। क्या कर रखन उन्होंने पाप समझा, बीड़ी-तम्बाकू पीते नहीं, भिक्षा का अनाज बेच कर कभी कोई चीज खरीद कर खाई हो, यह किसी ने नहीं देखा।

साधु शंकरदास पढ़े-लिखे नहीं हैं इसलिए कथा-प्रवचन या उपदेश नहीं दे सकते, पर उनके शरीर से जो सेव होती है वह किसी प्रेरणाप्रद शिक्षण से कम महत्त्व नहीं रखती। आस-पास के गाँवों में वे हलकरों का काम करते हैं। दस घर माँगने के बाद उनका अधिकांश समय लोगों से मिलने-जुलने में लगता है। योग्य लड़कों को जानकारी लड़की वालों को देना, सगाई धक्की कराना, दहेज लेने वालों पर दबाव डालकर कम कर देना, किसी के जानवर को चोट लगे तो पशुओं के डॉक्टर को बुला देना, बाजार से कोई सौदा ला देना वह सारे कार्य शंकरदास जी ऐसे करते हैं जैसे सब उन्हीं का काम हो। इन गाँवों के लोगों में उनके प्रति विश्वास जम गया है। बाबा जी स्वयं पढ़े-लिखे नहीं, पर बच्चों को बड़े आग्रह करके पढ़ने भिजवाते हैं। उनका लगाना में रुग्ण भी कुछ ऐसा है कि कोई उनकी बात नहीं सुकना।

जब इन सब बातों की जानकारी मिली तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ उनका जी दुःखाने का असमंजस बहुत दिन तक बना रहा। फिर काफी दिनों तक उनके दर्शन नहीं हुए। एक दिन अवसर निकाल कर टिकैया पुरवा गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे स्तब्ध रह गया, एक बाड़ी लगा ली थी, उसमें तरह-तरह की सब्जियाँ लगी थीं। लोगों ने बताया कि अब ये धोख नहीं माँगते, सब्जी और तरकारी उगाते हैं और उसी को खाकर ही गुज़ार करते हैं और समाज-सेवा का स्वयंसेवक? हाँ, उसमें कोई अन्तर नहीं आया, जन-सम्पर्क का कार्य यथावत् चलता है। मैंने जब उनसे अपने कहे को क्षमा माँगी तो हँसकर बोले— बेटा, तुमने ठीक ही किया था, हम साधु हो गये तो इसका मतलब यह नहीं कि मैं गलती नहीं कर सकता। अच्छी बात कोई भी करे, मानना चाहिये। तुमने तो भला ही किया।

इधर टिकैया पुरवा में एक शिवालय की स्थापना की गई तो बाबा शंकरदास ही उसके पुजारी नियुक्त कर दिये गये। यह काम तो वे करना नहीं चाहते थे, पर जब लोगों ने स्वीकार कर लिया कि उनकी क्रियाओं पर प्रतिबन्ध न लगेगा तो वे शिवालय में रहने लगे। यहाँ रहकर भी उनकी समाज-सेवा का काम उधों का त्यों चलता रहा। इसी बीच गाँव वालों ने भण्डारा करने का निश्चय किया। शिवालय के लिए जो जमीन सगाई गई है उसकी उपज का बहुत-सा अनाज जमा था, उसे खर्च करने की बात थी। पर फसलों में सूखा पड़ रहा था, दूरदर्शी साधु ने जैसे पहले ही भविष्य जान लिया था और वे भण्डारे के लिए हरगिज तैयार न हुए। कई लोग बुरा मान गये, पर शंकरदास इस बार बड़ान की तरह अडिग हो गये।

समय पित्तले वर्ष भयानक सूखा पड़ा। ग्रामीणों में सर्वत्र हल-मल बघ गई। जिसके पास अनाज था, उसने दाब लिया और मनमाने दायों पर बेच। पर न तो किसी ने गरीबों की परवाह की, न कृषि के लिए बीज की। ऐसे समय में शंकरदास देवता सिद्ध हुए। मन्दिर के भण्डार में जो सुरक्षित गल्लन था, उसे वे बीज बँटने वालों को उधार बाँटने लगे। बाद में धनी लोगों को भी लज्जा आई और उन्होंने भी अनाज के बोरे खोल दिये। अन्न के अभाव में कोई मरने न पाया साथ ही साथ समय पर किसानों को बीज मिल गया।

इस तरह अथवा एक छोटा-सा क्षेत्र बनाकर बाबा शंकरदास आत्म-कल्याण और समाज-सेवा के कार्य किया करते हैं। इस युग में इतना भी कम नहीं है। देश में जितने साधु हैं वे सब अपने लिए इसी तरह सेवा के लोटे-छोटे दायरे नियत कर लें और उस पर सच्चाई के साथ चलते रहे तो उसी से समाज का बड़ा हित हो सकता है।

भक्त हरिदास—जो कठिन से कठिन परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए

भारतवर्ष में सदैव भगवान् के अनेक भक्त होते रहे हैं। ये भक्त प्रायः त्यागी हुये हैं और सर्वसम्भारण में भक्ति का प्रचार करने के लिये उन्होंने प्रयत्न भी किया है। पर इधर कुछ समय से भक्ति मार्ग में कुछ अन्तर आने लगा है। अब अनेक भक्त वैभव और

ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं और इस कारण अन्य लोगों पर उनका प्रभाव भी स्थायी नहीं होता।

× × × ×
यवन हरिदास प्रथम श्रेणी के भक्त थे। वे मुसलमान खानदान में उत्पन्न होने पर भी बाल्यावस्था से ही हिन्दू धर्म के अनुसार भक्ति के रस में डूब गये थे। इसलिये छोटी अवस्था में ही उनको अपना घर त्याग देना पड़ा और वे बनग्राम नायक स्थान के समीप जंगल में कुटी बनाकर निवास करने लगे। वे प्रायः लोगों के घरों पर जाकर भिक्षा माँग लाते थे और उनके भक्त भी अनेक प्रकार के फल-फूल लाकर दे देते थे। हरिदास इस साधुजी में से दिन-रात में केवल एक बार आवश्यकतानुसार खा लेते और जितना बच रहता था उसे अगले दिन के लिये न रखकर बालकों तथा अन्य आगन्तुकों को बाँट देते थे।

× × × ×
बनग्राम का जमींदार रामचन्द्राई दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था। हरिदास की प्रशंसा सुनकर उसने निश्चय किया कि हरिदास को भजन से भ्रष्ट करके बदलाना किया जाय। इसलिये एक रूपवती, चौवन सम्पन्न वेश्या को सिखा पढ़ाकर हरिदास के पास भेजा। वह संध्या के समय हरिदास की कुटी पर पहुँची। हरिदास भी रूप-चौवन सम्पन्न पुरुष थे और उनको देखकर वह उन पर मोहित हो गई। उसने हाव-भाव द्वारा अपना आशय उन पर प्रकट कर दिया। हरिदास ने कहा—“मैंने नाम जप का जो व्रत ग्रहण कर रखा है वह पूर्ण हो जाय तो मैं तुम्हारी जो इच्छा हो उसे पूर्ण करूँ। बस वे जप करने लग गये, ठस जप में न विराम था और न नाम कीर्तन छोड़ी भी देर के लिये रुका। वेश्या कुटी के द्वार पर बैठी-बैठी सब देखती रही। भजन ही भजन में सबोरा हो गया। तब वह उठकर जमींदार के पास गई और कहने लगी कि “कल तो काम नहीं हो सका, पर आज मैं उसे अपने रूप-जाल में फँसाकर अवश्य भ्रष्ट कर दूँगी।” शाम होने पर वह फिर कुटी पर पहुँच गई और कामुकतापूर्ण हाव-भाव और नजाकत दिखाने लगी। हरिदास ने फिर वही उत्तर दिया कि “नाम-जप की संख्या पूरी होने पर तुम्हारी बात पर ध्यान दूँगा।” उस दिन भी भजन करते-करते सबोरा हो गया और वेश्या को निराशा होकर उठ जाना पड़ा। जब इसी प्रकार तीन दिन बीत गये और चौथे दिन भी हरिदास ने वही उत्तर दिया तो वेश्या का मनोभाव बदल गया। उसने विचार किया यह रक्त-मांस का पुतला जब ऐसे अवलम्ब प्रलोभन को इस प्रकार ठुकरा रहा है, तो वह सच्चा हरिभक्त है और इसके सामने किसी प्रकार का नीच प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। उसकी आँखों में अनुताप के आँसू भर आये और उसने अपनी समस्त पाप कथा भक्त के आगे निवेदन कर दी।

हरिदास ने कहा—“मैं तो तुम्हारे उद्धार के लिये ही बर्तन टिका हुआ था। अब तुम्हारे पास जितनी सम्पत्ति हो वह सब दीन-दुःखियों को बाँट दो और अपना शेष जीवन भगवान् का भजन करने में लगाओ।” यह कह कर वे अपनी कुटी को छोड़ कर अन्यत्र चले

गये। इस वेश्या ने अपना सर्वस्व गरीबों को दान करके सिर मुड़ा लिया और हरिदास की उसी कुटी में रहकर तपस्वी जीवन बिताने लगी। वेश्या के जीवन में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन देखकर सब लोगों की भक्तिहरिदास पर और भी बढ़ गई।

× × × ×
कुछ समय बाद हरिदास की कठिन परीक्षा का अवसर उपस्थित हो गया। उस प्रदेश के काजी ने नवाब के यहाँ जाकर हरिदास की शिकायत की कि “उसने मुसलमान होकर हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया है। इस उद्वहरण का दूसरे मुसलमानों पर भी बुरा असर पड़ सकता है, इसलिये हरिदास को उचित दण्ड दिया जाय।” इस पर हरिदास अपने निवास स्थान फुलिख गाँव में गिरफ्तार कर लिये गये और नवाब के सम्मुख हजरि किये गये। पहले तो उनको फिर से मुसलमानों धर्मानुसार आचरण करने को बहुत समझाया गया पर जब वे अपने विश्वास पर अटल रहे तो काजी के आग्रह पर नवाब ने उनको बाईस बाजारों में ले जाकर बेतों से पारने का दण्ड दिया। सरकारी सिपाही उनको पकड़ कर एक-एक बाजार में ले जाते और पोट पर सड़ासड़ बेतों की बौछार करते। पर रोना-चिल्लाना या क्रोध करना तो दूर रहा हरिदास भगवान् का नाम लेते हुये बेतों की मार को प्रसन्नता-पूर्वक सहन कर रहे थे। जब सिपाहियों ने देखा कि इन पर इस भयकर मार का भी कोई असर नहीं होता तो वे बड़े घबड़ाये और कहने लगे—“महाराज, हमको आज्ञा दी गई है कि बेतों से पारने-पारते आपके प्राण ले लिये जायें। पर यदि आप न मरे तो नकाब हमको दण्ड देंगे।” हरिदास तो अपने शत्रुओं पर भी दया करने वाले थे। उन्होंने सिपाहियों की विपत्ति को मिटाना स्वीकार कर लिया और उसी समय खंग बल के प्रभाव से शरीर से प्राणों को खींच कर अचेत होकर गिर गये। सिपाही लोग उनको उठाकर नवाब के सामने ले गये और जब सबको उनकी मृत्यु का निश्चय हो गया तो उनके शरीर को गंगाजी में फेंक दिया गया। गंगाजी में बहते-बहते कुछ देर में वे फिर होश में आकर हरिनाम लेने लगे। जब यह समाचार नगर में फैला तो स्वयं नकाब और काजी आदि उनके दर्शन को पहुँचे और उनके चरणों पर गिरकर अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी।

× × × ×
अन्त में हरिदास बंगाल में भक्ति रस की धारा बहाने वाले चैतन्य महाप्रभु की शरण में जा पहुँचे। वे अपने को बहुत दीन-हीन और मुक्तमान खानदान में जन्म लेने के कारण अपवित्र मानते थे इस लिये कर्तन के समय सबसे पीछे बैठे रहते, पर चैतन्य ने उनको अपने पास बुलाकर कहा—“तुम अपने को अशुद्ध कदापि मत समझे, तुम्हारी देह मेरी अपेक्षा भी पवित्र है।” जब चैतन्य महाप्रभु पूरी छाम में जाकर रहने लगे तो वहाँ भी उन्होंने हरिदास के लिये एक सुन्दर उद्यान में कुटिया बनवा दी। हरिदास जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहकर लोगों को भगवत्पक्ति का उपदेश करते रहे, और हजारों पत्ति लोगों को दुष्कर्मों से छुड़ाकर सुपार्ग पर चलाने रहे। अत्यन्त दीन-हीन वेध में रह कर भी उन्होंने अनगिनती लोगों का उपकार किया और उनके जीवन को सुधार दिया।

अभिनव समाज के रचनाकार हारीत मुनि

“इतने समय कौन ?” उन्होंने अचकचा कर झर-झर देखा न दिखाई देने पर भी पदों की आहटें, जरीशों के रगड़ खाने से उठी पत्तों की सरसराहट साफ सुनाई दे रही थी, वह सोचने लगे इस घुंघलके में यहाँ कौन भटक गया ? सम्पन्नता यहाँ तो कोई आता भी नहीं, जानवर चराने वाले लड़के भी दिवस के जोसरे प्रहर तक बापस चले जाते हैं। इतने में कुछ सुनाई पड़ा, आवाजें क्रमशः साफ होती गई। वह भी कान लगाकर सुनने लगे। एक अपने साथियों से कह रहा था “अरे ! यहाँ कहीं अह फेंसे इस सिक्खन जंगल में रात हो चली है, कुछ सूझ भी नहीं रहा, अच्छा हो हम लौट चलें।”

कोई और कुछ कहे, इसके पहले सभी की आँखें नजदीक आती जा रही मशाल की ज्योति शिखा की ओर जा टिकी, कौन ? कौन मार्गदर्शक, देवदूत, आश्रयदाता सभी के मनो में अलग-अलग भाव उभरे। धीरे-धीरे मशाल के प्रकाश में एक अमूर्ति स्पष्ट हुई अरे ! वह तो साधू है—एक सब कई कंठस्वर बोल पड़े, हाँ भाई ! मैंने आप लोगों की आवाजें सुनीं, मुझसे रहा नहीं गया, मशाल जलाई और इधर चला आया। कौन हैं आप लोग ? आने वाले ने सहज भाव से पूछा “मैं ब्राह्मण हूँ” कुछ दिखने वाले व्यक्ति ने कहा “साधू और ब्राह्मण, एक कर्महीन दूसरा विचारहीन।” कहकर ठहाका लगाकर हँस पड़ा सुनने वाले सकम्पका गए, अपने को संभावित हुए एक ने कहा—“महाराज ! एक के बाद अनेक असह्य दुःखों ने आचार्य जी को व्यथित कर दिया है, उनके कथन का बुरा न मानें।”

नहीं भाई इसमें बुरा मानने की क्या बात ? वह तो कठोर सच्चाई है। जर्जरित समाज की दुरावस्था का प्रधान कारण है—साधु ने सौम्य स्वर में बात आगे बढ़ाई, अच्छा हो आप सब यही पास में मेरे कुरिया तक चले। कोढ़ी ही देर में पच्चीस-तीस लोगों का समूह कुटिया के सामने आ। सभी ने हाथ, पैर, मुँह धोए। इतने में गौतम वसधारी सन्त ने धुने हुए कटोरे का एक छोटा डेर सबके सामने लगा दिया, कुछ अन्य जंगली फल भी थे। सभी धीरे-धीरे खाने लगे, अचानक अनेक दिनों के बाद उन्हें तृप्ति अनुभव हो रही थी। तृप्ति सत्कार की, अधनत्य की, ध्यान की, सम्मान की। सिर्फ भोजन से भला कौन कहीं तृप्त हुआ है ?

भोजन के बाद बातों का क्रम चल निकला। फूट पड़ी व्यापा कथा सिन्ध के राजा दहिर पर आक्रमण की, किसी ने तो अस्त्र साथ नहीं दिया। हे मानव ! तूने पच्चीस में लगी आग बुझाने को बड़ा सोचा है। तेरे नींद तो खुद के जल रहे पर को देखकर भी नहीं टूट रही। महिलार्प कुचली मसली गई। बच्चे मालों की नौक पर उछलने के लिए मजबूर हुए। पुरुषों की रक्तपात से मेदिनी सिक्ता हुई और आप लोग इतने पर भी भाग कर चले आए। साधु के शब्द बताने वाले के वाणी प्रवाह के सामने बाँध बनकर खड़े हो गये। एक क्षण के लिए वह सहम्र फिर प्रकृतिस्म होकर बोला—“भागो - भागते क्यों ? नहीं हम सावधान करने, आए हैं यह बताने आए हैं कि हम

तो जल गए अब तुम्हीं बुलसने से बचो।” कहते कहते वह तपनमा उठा। तपतगाह्य सिसकियों में घुलने लगी। साधु ने सभी को आश्वासन दे जैसे-तैसे उन्हें सोने के लिए प्रेरित किया। वह भी कुटिया के अन्दर चले गए।

सोने की कोशिश की पर आँखों में नींद कहाँ ? सोचने लगे आज समाज में चारों ओर हिंसा ही छिद्र हो गए हैं। जन अज्ञान, अभाव और आत्म चिन्तन से जर्जर है, मूर्तियों की पर्याप्तताएँ, कुरियों के वृथिक दल उसे मूर्छित और विकल कर रहे हैं, अनन्त विदीर्ष हो उठा है। जन-जीवन। क्या करूँ ? तुम्हीं कुछ कार्य सुझाओ—एकलिंग ! कहकर उसने सामने प्रतिष्ठित शिवलिंग की ओर कानर पाव से ताक। सोचते-विचारते पता नहीं उसे क्या नींद आ गई। स्वप्न में देखा ज्योतिर्लिंग साकार हो उठा है। धीरे-धीरे उसने एक ज्योति पुरुष का रूप लिया। ज्योति रेखाओं से इसका शरीर बना है, माना अग्नि शिखा को छानकर स्वर्ण शलाकाओं से बांधकर, विद्युत शिखाओं से खरादकर और सूर्यकान्त मणियों को गस्ताकर ही वह अपूर्व ज्योति घण्टल सँघार किया गया है। अहा यह अकारण टपाल परमदेव कौन है ?

मानव का चिरपुण्य और चिरनवीन मार्गदर्शक अन्त स्थित और बहिर्व्याप्त महाकल। एक गुरु गम्भीर स्वर उभरा। समाज जर्जर है तो सिर्फ इस कारण कि हर कोई अपने स्वार्थों का घोड़ा बनाने के फेर में है। यहाँ तक कि तेरा भी जगत प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तिगत साधन के कंपुक से विरन्तर सकुचित होते रहकर स्वयं के पुक्ति लाभ की आशा करना और क्या है ? समाज की रक्षा का अर्थ है—स्वार्थों का बलिदान। धरती पर स्वर्ग बही लाएगा, जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धर्म का स्थ होगा, साहस की छाल होगी, वैरी का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा, उठो, रोदों इन स्वार्थों को तुम्हारे बलिदानों का प्रत्येक कण भावी पीढ़ियों की साहस और निर्भीकता का सन्देश देगा, प्रचण्ड आँधी की तरह बसे, बिजली की तरह कड़को, सुधा की तरह बरसो, कायरों और निकम्मों के गढ़ पर धक्का पाओ। उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने वाले प्रत्येक नि स्वार्थ कदम के साथ मैं स्वयं हूँ।

टूट गई उसकी झपकी, सोचने लगा कैसी सारगर्भित थी उद्बोधक वाणी, स्वप्न होने पर भी जाग्रत से कहीं अधिक सजीव, वही तो वह सन्देश है जिसे सुनने के लिए मेरा अन्तर तक व्याकुल आ। सधमुध कहाँ समाज की स्तम्भता, अवमानता, भय, कानरता और परमुखापेक्षिता से बचाने का महान् सन्देश और कहां व्यक्तिगत चौखटों में छटपटाने वाली भुक्ति-साधना के भरे प्रवाह ! उपाम्य के निर्देश ने उसके अंग-अंग में स्फूर्ति, अल्पस और प्रसन्नता भर दी थी।

लक्ष्य स्पष्ट था धरती पर स्वर्ग उतार कर रहंगा। राह सुस्पष्ट थी—महाकल का सहचर बनने की। योजना दिमाग में कौंध गई कौन देगा मेरा खाव ? बनिंक ! जो वैभव के भद में चूर है, विद्वान। बुद्धि के तिनड़ियों की पट्टी जिनकी आँखों से कस कस बंधी है, फिर कौन ? शासन करने वाले, पर उन्हें शोषण और उत्पीड़न से फुरसत कहाँ ? तब फिर ? साधारण जन, श्रम, आदिवासी हर व्यक्ति जिसके

कम विकसितता की मर्मभेदी पुकारों को सुनने के लिए नहरे नहीं हुए हैं, जिनका सम्बेदनशील हृदय हर किसी छटपटाहट और तड़पन के साथ धड़क उठता है, और बोज्जा के प्रथम चरण में वह जा पहुँचा भीलों की बस्ती में उनके तरुण नायक बप्पा के मन में अपनी सारी व्यथा उड़ेल दी। सद्गुरु जीवन को अपनी समर्पित मानने वाले भील कह ठठे— हम तैयार हैं महाराज किन्तु किन्तु क्या ? हम अनगढ़ और अशिक्षित माने जाते हैं, तैयार होने पर भी हम आपके अनुयायी बन सकेंगे, सन्देह है। अनुयायी हमारे नहीं, भगवान् एल्विन के उस पर चेतना के जिसने मुझे झकझोर कर उठाया है, अपना वंश बनाना चाहा है। वही तुम्हें, तुम जैसी को अपना वंश बनाना चाहते हैं। परवाह नहीं, यदि तुम बहुत नहीं हो, धन का अभाव है, रहने के लिए गरमचुम्बी अट्टालिकाएँ नहीं हैं, वर्तमान के अराजकीय समाज में तुम्हारा स्थान नहीं है। हमें नया समाज रचना है, नया समाज किसका हर स्मन्दन मनुष्य में दिव्यत्व को उभार सके। जिसके समस्त धन-दण्डों के आधार धन और बुद्धि न होकर संवेदनशील पानवीयता होगी।

बोलो तैयार हो ? हाँ जनाधिक कंठस्वर गूँज ठठे। ये शब्द सुनकर साधु भी हर्षपूर्वक बोला, “भीलो तुम्हारे कले शरीरों में उजले दिल हैं, तुम्हारी आत्माएँ महान् और पवित्र हैं, आज के तुम्हारे वे संकल्पित स्वर आने वाली मानवता का दिग्दर्शन करेंगे। तुम्हारा कर्तृत्व प्रज्वलित दीपशिखा की तरह अनेकों के धके पाँवों को बल देगा। उसके ये शब्द हारीतमुनि की जय, बप्पा राबल की जय की प्रचण्ड ध्वनि के साथ फैल गए।

प्रचण्ड गति से बढ़ चला परिवर्तन का चक्र जिसकी धुरी हारीत मुनि थे। बप्पा राबल लोकनायक बने। उनकी प्रचण्ड कर्पिणी ने इतिहास में एक स्वर्णयुग रचा। बीतते समय में महाकाल के स्वर पुनः गूँजे हैं पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सतेज सूरज की तपन, हवा का बहाव, जल की लहरें एक ही गीत गा रही हैं— किसी भी स्थिति में लोकनायक चाहिए।

ईसा के सच्चे शिष्य और सच्चे प्रेम पुजारी—वेरियर एल्विन

कटनी बिलासपुर रेलवे लाइन पर एक छोटा-सा स्टेशन—‘पेण्डारोड’। वहाँ के आदिवासी क्षेत्रों से सर्वथा अनभिज्ञ, दो भुक्क बापू का आशीर्वाद लेकर इसी स्टेशन पर उतरे। दोनों ने इस अनजान इलाके में आने की बात तो दूर कल्पना तक नहीं की थी। उन्हें करजिया तक जाना था। पुलिस की सहायता लेना अनिवार्य लगा। पेण्डारोड के पुलिस स्टेशन से मदद मिली भी सही। लेकिन कुछ दूर चलकर पुलिस इन्सपेक्टर ने आगे चलने से इनकार किया। दोनों साथी समझाने-बुझाने लगे पर इन्सपेक्टर टस से मस नहीं हुआ और वापस चला गया।

एक गोंड युगल आता दिखाई दिया। उन्होंने सोचा इनकी मदद से गाँव तक पहुँचा जाय परन्तु वह युगल इन्हें देखकर ही भाग गया।

ऐसे जीवन और संघर्षशील अनुभवों के शुरूआत में ही सहकर दूने उत्साह से अपने काम में लगे रहने वाले इस महामानव का नाम था—वेरियर एल्विन और उनके साथी थे शामराव। जिन्होंने अपना सारा जीवन आदिवासियों की सेवा में लगा दिया। एल्विन उसी घने जंगल में बैठ गये और शामराव करजिया पहुँचे। गाँव वालों को सारी घटनाएँ सुनाई। कुछ भलेमानुस साथ आए जहाँ एल्विन बैठे शामराव की प्रतीक्षा कर रहे थे।

एल्विन को इस क्षेत्र में आने की प्रेरणा तत्कालीन कांग्रेस के निष्ठावान नेता श्री जमनालाल बजाज ने दी थी। एल्विन ने महात्मा गाँधी से भी परामर्श किया। उनकी भी सहमति और आशीर्वाद पाकर नर्मद के पोले लान्दल्लों की सेवा भावना से अमर कटक से दस मील दूरी पर स्थिति इस रम्य स्थान पर आये।

करजिया में एल्विन कार करवा रहे। पूरे आदिवासी बनकर— ठेठ आदिवासियों। आदिवासियों के समस्त जीवन बनाकर ही उनकी सेवा कर सकना सम्भव था अन्यथा किसी शहरी आदमी का वहाँ रहना तो क्या ठहर पाना भी मुश्किल था। और कोई शहर का विलायती साहब एकदम प्राचीन—आदिवासियों जैसा जीवन बिता सकेगा इसकी कल्पना करने से पहले भी हजार बार सोचना पड़ेगा। परन्तु एल्विन ने यह सब कर दिखाया और सिद्ध कर दिया कि जिनके मन में सेवा की लगन है वे हर कलावरण में सॉस से सकते हैं। किसी भी प्रकार के सामयिक जीवन में अपने आपको एक रस कर सकते हैं।

एल्विन इंग्लैंड के रहने वाले थे। आरम्भ में ही इनमें लोकसेवा के लिए बड़ी उमंग थी। इनका पालन-पोषण भी धार्मिक वातावरण में हुआ था फलस्वरूप महत्वा ईश्वर की पवित्र शिक्षाओं के प्रसार का सेवा मार्ग चुना। उन दिनों शासक वर्ग यूरोपीय देशों में भारत की भरी एवं विकृत तस्वीर जनता के सामने रखते थे। जिससे वहाँ के लोगों के मन में भारत के गन्दे, असाध्य, गरीब और अन्धविश्वासी जन-समाज के प्रति घृणास्पद भाव पैदा हो जाता, एल्विन को मालूम हुआ तो उन्होंने भारत के पिछड़े समूह जाने वाले समाज को ही अपना कार्यक्षेत्र चुन लिया।

‘क्रिस्त सेवा संघ’—नामक संस्था के अंतर्गत वे भारत आये परन्तु उन्होंने सेवा का यहाँ दूसरा ही रूप देखा। इस संघ का उद्देश्य था गरीब आदिवासियों को प्रशिक्षण देकर ईसाई बनाना तथा उनकी राष्ट्रीय और धार्मिक मान्यताओं को खरीद लेना। इस प्रकार विदेशी साम्राज्यवाद की जड़ें भारत में मजबूत बनाने का कुत्तर चल रहा था। एल्विन ने यह सब देखा तो मिशनरियों की कार्य पद्धति से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

उन्हीं दिनों भारत में राजनैतिक स्वतन्त्रता का युद्ध घोष चल रहा था। भारत की सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना करबट बदल रही थी। संघर्ष और उत्थान का वह समय गाँधी की प्रतिष्ठा का युग था। वहाँ की नैतिक और प्राचीन सभ्यता की महानता अरविन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ जैसे उद्भट विद्वानों और महापुरुषों के रूप में व्यक्त हो रही थी। एल्विन ने भारत की सांस्कृतिक गरिमा के आगे पश्चिम की बहुत नौना अनुभव किए।

उन्होंने पाया कि जिन सिद्धान्तों और धार्मिक मान्यताओं का प्रचार करने के उद्देश्य से वे यहाँ आये हैं। पर भारत तो उनका प्रवर्तन ईसा के जन्म से भी शताब्दियों पूर्व कर चुका है। मानवता की शिक्षाएँ भारत में प्रचारित करने का झाँसा देने का बहुमूल्य तो उन्होंने यहाँ आते ही अनुभव कर लिया। परन्तु जब वे यहाँ के दार्शनिक विचारों के सम्पर्क में आये तो समझ कि अपना प्रवास क ख ग जानने वाले विद्वानों का विद्वान् आचार्य को उपदेश देने समीक्षा है।

अन्ततः उपदेश देने और अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करने की अपेक्षा उन्होंने आदिवासियों की सेवा का मार्ग अपनाया। तथा अपने साधियों के साथ मिलकर करजिया में ही एक 'गोड-सेवा मण्डल' की स्थापना की। वहाँ उन्होंने आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार के लिए एक स्कूल खोला, एक अस्पताल भी खोला। जिसके माध्यम से वे आदिवासियों के निकटवर्ती सम्बन्धियों की तरह स्नेह प्राप्त बन गये। कहीं तो शुक में लोग उनसे डरकर भाग जाते थे और कहीं बात-बात में एल्विन—'बड़े-भैया'—की सलाह को मान्यता दी जाने लगी। इस क्रममाध्य परिवर्तन और लोकप्रियता का कारण एल्विन की सेवा भावना तथा वहाँ के जन-जीवन से मध्यस्थ प्राप्त कर लेना ही था।

एल्विन का विश्वास था कि कोई मिशन या सेवा कार्य विश्वास और लगन से ही पूरा हो सकता है परन्तु इसकी यह एक और अनिवार्य शर्त है कि—जिस समाज को अपना कार्यक्षेत्र चुन जाए, उसके अनुरूप स्वयं को ढाला जाय। उस सम्प्रदाय से सम्पर्क हुए बिना न तो नागरिकों की सहानुभूति प्राप्त की जा सकती है और न ही सहयोग। इसीलिए एल्विन ने स्वयं को भी अपनी इस मान्यता के साँचे में ढाला। लोकप्रियता के मार्ग में आने वाली हर कठिनाई को उन्होंने धैर्य के साथ सहन किया तथा आजीवन आदिवासियों समीप, उनमें घुल-मिलकर रहे। आदिवासियों की तरह पोशाक, उन्हीं की तरह नंगे पैर। यहीं के अन्दाज में बात करने का प्रयास। एल्विन की हर दैनिक कार्य चेष्टा आदिवासियों की शैली में होने लगी। वहाँ के लोकगीतों को वे बड़े धाव से सुनते, उनके अनुवादों की भावार्थ को निष्ठ रखकर अनुवाद कर संकलित रखते व लोकनृत्यों में भाग लेते। खाना भी एकदम आदिवासियों जैसा। एल्विन का रहन-सहन देखकर उन्हें आदिवासियों से भिन्न कुछ जाना मुश्किल था।

स्वयं को आदिवासी समाज में ही घुल देने के लिए उन्होंने अपना जीवन साधी भी एक गोड कन्या 'लीला' को चुना। यद्यपि लीला निरक्षर और गँवार थी परन्तु ऐसे उदार और आदर्श पति को प्राप्त कर लीला ने अपनी अन्तर्निहित महत्त्व को साक्षात् कर लिया। उनकी धर्म-पत्नी का जीवन इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि कोई भी महान् उद्देश्य पूरा करने के लिए साधर होना जरूरी नहीं है। महानता हर स्थिति में और हर श्रेणी के व्यक्ति में है तथा उसे प्रकट किया जा सकता है निष्ठा और लगन के बल पर। लीला अपने पति के साथ हर क्षेत्र में कदम से कदम मिलाकर चली। उसने भी इस

सहरी और विदेशी नाबू के मिश्रण को अपनी अशिक्षित बुद्धि से समझा था और उसकी महत्ता को स्वीकार था। स्वयं एल्विन ने अनेक स्थानों पर यह स्वीकार किया है कि जो सन्तोष और सहयोग उन्हें लीला से मिला वह अन्य दूसरी सहरी लहकी से नहीं मिल सकता था।

आदिवासियों की सेवा के साथ-साथ एल्विन एक साहित्यकार के रूप में खगने आये। उन्होंने कुल २६ किताबें लिखी हैं और एक-एक किताब पर वर्षों मेहनत की। आदिवासियों के रहन-सहन विश्वास, परम्पराओं और कार्य शैलियों की जितनी जानकारी उनकी पुस्तकों से मिल सकती है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

चार सत्स तक एल्विन करजिया में रहने के बाद पारमगढ़ आये उन्होंने वहाँ भी अपना सेवा यज्ञ आरम्भ किया। पूर्ववत् अस्पताल और स्कूल खोले। सेवा धर्म के प्रति समर्पित भावना से गाँव वालों के मन से उन्होंने एक भय के भूत-अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाई। लोगों का विश्वास था कि परबट एक अशुभ जगह है परन्तु एल्विन ने अपना दफ्तर वहीं खोला। लोगों के मन से अन्धविश्वास का भूत पगाने के लिए वे वहीं काम करते रहे—निग्रह, लोकप्रवाद की बिना चिन्ता किये।

उन दिनों पुनः चर्च मिशन के प्रधान विनस्लो थे। बीमारी के कारण उन्हें लन्दन जाना पड़ा। उनके स्थान पर यह पद एल्विन को दिया गया। आरम्भ से ही मिशनरियों की कार्य पद्धति के प्रति उनके मन में पूर्ण भयने लगी थी। इस उत्तरदायी पद पर अनाचार का सूत्रधार बन जाने से उन्हें और शोभ हुआ। आखिर एक दिन क्रिस्त सेवा सभ के ऊपर एक तिरंगा झण्डा लहरा दिया। अंग्रेजी शासन की जड़ें खींचने वाले पञ्चगव्य धर्म प्रचारकों का रोष भड़क उठा और उन्हें मिशन से निकाल दिया गया।

एल्विन अब साबरमती आश्रम आ गये। बापू ने उन्हें आश्रम में जगह दी और वे वहीं रहने लगे। यहीं रहकर वे भारत के सभी बड़े नेताओं के सम्पर्क में आए। मन पर बोझ बना हुआ अनुशासन और सहरी निबन्धन तो ख नहीं। पहले से ज्यादा उन्मुक्त और स्वच्छन्द। एल्विन ने सुलकर स्वातन्त्र्य सभ में भाग लेना आरम्भ कर दिया। आश्रम के हर आयोजन और कार्यक्रम में अपना सहयोग देते तथा मानवता के धुक्ति आन्दोलन को सबल बनाने में सक्ते रहते।

बम्बई में जब गाँधी जी की गिरफ्तारी हुई तो एल्विन साबरमती में ही थे। वे सारी व्यवस्था सम्भाल रहे थे। उस समय के कर्तव्यों से सुल होकर गाँधी जी ने इन्हें अपना बेटा मान लिया। कभी-कभी वे कहते थे कि मीरा (बहन) मेरी बेटी है तो एल्विन बेटा।

अपने उदार दृष्टिकोण और मृदुल स्वभाव के कारण एल्विन ने सहज में ही पटेल, नेहरू, सुभाष बोस, सीमांत गाँधी आदि जैसे नेताओं का स्नेह प्राप्त कर लिया। आचार्य कृपलानी के साथ वे मध्यप्रदेश के अनेक सहृदय और गाँवों में घूमे। स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाने लगे। एक अंग्रेज के मुँह से ही अंग्रेजियत के विरोध में भारत की दसता और उससे उत्पन्न कुत्सित स्थिति का विश्लेषण सुनकर हर नागरिक का अन्तःकरण मचल उठता। दासता और

प्राचीनता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए हर आवाल वृद्ध का रक्त उबलने लगा ।

राष्ट्रीय पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनका सहयोग अविस्मरणीय है । साथ ही व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी उनकी सदाशयता कम महत्वपूर्ण नहीं रही । वे सभी धर्मों का समान आदर करते थे फलस्वरूप समय आने पर प्रत्येक धर्मावलम्बी ने उनकी मदद की । जन चर्च ने नाराज होकर उनकी आर्थिक सहायता करना बंद कर दिया तो एक प्रसिद्ध उद्योगपति ने उनकी मदद की । जिन मित्रों ने भी उनकी सहायता की, उनका आजीवन एल्बिन ने अहसान माना । उनकी आत्मकथा में करीब करीब सभी साधियों का उल्लेख आया है । जाम्नाब के बारे में उन्होंने एक जगह लिखा है कि— “वे जीवन में जो कुछ भी कर पाये वह सब जाम्नाब की मदद से ही कर पाये ।”

उनके पिता ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पादरियों में एक बने जाते थे । चर्च में उनका अच्छा-खासा प्रभाव था इसलिए वे चाहते थे कि उनका बेटा भी धर्म प्रचारक ही बने । इसीलिये उन्होंने एल्बिन को भारत भेजा था परन्तु हुआ उलटा ही पैतृक परम्परा से हटकर वे विद्रोही बन गए ।

विद्रोही बने या मानवता के—परमार्थ के—सच्चे सेवक इसका निर्णय तो इतिहासकार ही कर पायेंगे, परन्तु ईसा के पवित्र नाम का और उनकी शिक्षाओं का उपयोग गरीबों और दलितों की आस्था तथा विश्वासों को लूटने में प्रयोग करना कितना सम्प्रेयोजन है ? एक-दूसरे देश को दैन्य और दरिद्रता की महमारी देकर वहाँ की आर्थिक उपलब्धियों का जीक की तरह शोचक कर्त्ता तक मानवता की सेवा है ? ईसा के प्रेम और न्याय की आज्ञा-में निहित स्वर्णी तत्त्वों का कुछक देखकर कोई सजग आत्म अपने साधियों का सहा देने से इन्कार कर दे तो वह विद्रोह कितना पुण्यवान होगा, कल्पनातीत है ।

गाँधी जी के जेल जाने के बाद वापस करंजिक आकर और अन्त तक करंजिया के गोदों में ही नहीं देश के विभिन्न भागों में बेगा, भुरिया, बाँदा, नागा, अगरिया आदि लोगों की सेवा करते रहते । वे जहाँ भी रहते मिट्टी के कच्चे मकान में लालटेन के उजाले में लिखा-पढ़ी करते । कुछ रोगियों के इलाज के लिए अस्पताल, शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल जैसी सेवा संस्थाएँ खोलते और अन्त तक विश्व मानव परमात्मा की सेवा करते रहे ।

गाँधी जी के इस प्रिय शिष्य और आदिकारियों के ‘बड़े पैका’ का निधन फरवरी ६२ में हो गया । मानवता का यह महान् पुजारी युगों युगों तक अमर रहेगा ।

बेसहारों का मसीहा—ओवेपियर

फ्रांस के सुविख्यात पादरी फादर ओवेपियर पेरिस में रहते थे । जाड़ों की कड़कड़ाती सर्दों की एक रात में जब वह लिफ्ट में खुसे पलंग पर चैन की नींद सो रहे थे कि किसी ने दरवाजा खटखटाया । खट खट की आवाज ने उनकी नींद भंग की ।

इतनी रात गए कौन हो सकता है ? मन ही मन फादर ने प्रश्न किया और उत्तर वहीं से आया जहाँ से प्रश्न पूछा गया था— शायद कोई मुसीबत का मारा व्यक्ति है ।

दरवाजा खोला तो सचमुच एक व्यक्ति जिसके तन पर नाम मर के बस थे, खचना की मुद्रा में खड़ा था । फादर ने कहा— “कहो बेटे क्या बात है” ?

“फादर ठंड लग रही है । आज आपके मकान में शरण चाहता हूँ” — व्यक्ति ने कहा ।

ईसा की रात पर चलने वाले फादर ने कैसे करते । उन्होंने उलटे प्रेमपूर्वक हाँट ही लगाई । “इतनी देर क्यों कर दी । कभी का आ जाना चाहिए था ।” और वह व्यक्ति अन्दर आ गया ।

फादर ने उसके सोने, ओढ़ने को अच्छा प्रबन्ध कर दिया और रात भर वह चैन की नींद सोया ।

सुबह हुई, दिन बीत गया पर रात बिताने की इच्छा से आये उस व्यक्ति का जाने का मन नहीं हुआ । मौसम ही ऐसा था और उसने सारा दिन गुजार दिया । एक दिन, दो दिन, तीन दिन— चार-पाँच, पूरा सप्ताह ही बीत गया । न आये व्यक्ति की जाने की इच्छा हुई और न फादर ने उसे जाने के लिए कहा ।

विपरीत इसके कुछ और लोग जाताकरन के गिरते तापमान को देखकर अपने आपको बचाने के लिए फादर के पास आकर रहने लगे ।

जब अगन्तुकों की संख्या बढ़ने लगी तो फादर का ध्यान उनकी ओर गम्भीर हुआ । पूछा— “सारे नगर में तुम्हारे जैसे कितने लोग हैं” ?

“बहुत सारे” उत्तर पिला ।

“तो एक कम करो । फादर ने कुछ विचार करने के बाद कहा ।” उन सबको चर्च में इकट्ठा करो ।

सध्य समय ऐसे सभी लोग चर्च में इकट्ठे हुए और फादर ने उन्हें अपनी बात समझाते हुए कहा— “क्यों न हम सब लोग मिलकर जाड़े की समस्या का स्थाई हल ढूँढ़ें । इसके लिए हमें मकान बनाना होगा ।” उन्होंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा ।

सुनकर सब लोग आश्चर्य और अविश्वास भरे घावों से उनकी ओर देखने लगे ।

एक ने खड़े होकर कहा— “क्यों हँसी करते हैं, फादर ? हम लोग तन का कपड़ा और पेट की रोटी तो कुटा नहीं पाते फिर मकान कैसे बनाएँगे ।” फादर ने उत्साह भरते हुए कहा— “तुम नहीं जानते हो सामूहिक प्रयत्नों में बड़ी ताकत होती है । यदि इस शक्ति का सही सदुपयोग किया जा सके तो क्रान्तिकारी परिणाम सामने आ सकते हैं । हम लोग ऐसा ही करेंगे । मेरी योजना ध्यानपूर्वक सुनी-तवित लगे तो उत्साहपूर्वक क्रियाशीलता के लिए कटिबद्ध हो ”

और उन्होंने योजना बताने शुरू की । इसके अनुसार बेघर लोगों ने शहर के तमाम कूड़े-कचरादानों को छान मारा, जो कि सड़कों के आस-पास कई स्थानों पर लगे थे । टूटी क्राकरी, टूटे-फूटे बर्तन और पुराने टूटे फर्नीचर मिले । इन सब सामानों को जो व्यर्थ समझकर

फेंक दिए गए थे इकट्ठा किया गया और उनकी मरम्मत कर बाजार में सस्ते दामों में बेच दिया गया।

जो राशि इकट्ठी हुई उससे पुनः वही धन्धा चलाया गया। धीरे-धीरे रकम इकट्ठी हुई जिससे कि एक साफ बस्ती के निर्माण की योजना को साकार रूप दिया जा सके और जब वह योजना साकार होने की ओर अग्रसर हुई तो पेरिस ही नहीं फ्रांस भर के समाचार पत्रों ने फरद की सूझ-बूझ और बेबर लोगों की अप्रशीलता की मुक्त कंठ से सराहना की। जनसहयोग भी प्राप्त हुआ। इस उपलब्धि से सूझ-बूझ और जपनिष्ठा की प्रेरणा मिलती रहे इसलिए बस्ती का नाम भी 'रेग पिक्वर्स कलौनी' अर्थात् कूड़ा-करकट बटोरने वालों की बस्ती रखा गया। कहा ! फरद आंदोलन की भाँति कोई साधक भारत में भी होता।

जीवन यज्ञ के उद्गाता— संत एमर्सन

आत्मा हमें उन प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध करती है, जो चेतनावाद से हमें प्राप्त नहीं होते। प्रकृति के इत्येक अणु में आत्मा का निवास है। वह आत्मा अथवा चेतन तत्त्व ही परब्रह्म है। 'मेरे कार्यों के बारे में अपनी आत्मा का मत क्या है ? यही मेरे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, दूसरे लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, यह नहीं ?'

परमात्मा सम्बन्धी इन विचारों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी पुरातन भारतीय मनीषी ने प्रस्तुत किये हैं। पर ऐसा है नहीं, यह शब्द भारतीय 'प्रवचन' के अनुप्रणीत अमेरिकी संत एमर्सन के हैं।

एमर्सन का जन्म अमेरिका के बोस्टन नगर में २५ मई, १८०२ को हुआ था। अपनी शिक्षा को पूर्ण कर हार्वर्ड डिविनिटी स्कूल में प्रमुख पद पर कार्य करने लगे, पर उस कार्य को ठरेस्य से पोर जानकर त्यागपत्र दे दिया और निकल पड़े दो वर्षों के लिए यूरोपीय देशों का भ्रमण करने। भ्रमण के दौरान उनकी भेंट कार्लाइल, जे. एस. मिल्स, मैक्स मूलर, वर्ड्सवर्थ और एस्कन जैसे विचारकों और दार्शनिकों से हुई। इन विद्वानों से भारतीय दर्शन पर उनकी खुलकर चर्चा होती थी जिससे वे बहुत प्रभावित हुये।

एमर्सन के मस्तिष्क पर पड़े हुये विचारों ने हलचल मचा दी और वह अपनी भारतीय विचारधारा के प्रचार प्रसार में लग गये। उनकी प्रेरणा से एक चिन्तक मण्डल अस्तित्व में आया जो 'कौन्कर्ड मण्डली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय एमर्सन कौन्कर्ड में रहते थे वहीं इस मण्डल की स्थापना हुई थी अतः उस मण्डल का नाम नगर के नाम पर ही पड़ गया। इसके सदस्य 'सर्वोत्ति-शाखीवाद' के चिन्तन मनन में व्यस्त रहने लगे।

एमर्सन ने अपने ऊपर राजा राममोहन के प्रभाव को स्वीकार किया है। राजा राममोहन राय ने भारतीय वांगमय का अध्ययन कर जिन तथ्यों को स्पष्ट किया था वह कौन्कर्ड मण्डली के विचारों से काफी मेल खाते थे। राजा राममोहन राय हिन्दू तथा ईसाई धर्म के समन्वय का प्रयत्न कर रहे थे।

महात्मा गाँधी एमर्सन के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुये थे कि उन्होंने अपने पुत्र मणिलाल को एक पत्र लिखा— " ' ' ' एमर्सन के निबन्धों को पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य गुरु के द्वारा भारतीय दर्शन की शिक्षा दी गई है। अपनी संस्कृति पर दूसरे विद्वानों के विचारों को पढ़कर प्रसन्नता होती है तुम मणिलाल से कहना कि वह एमर्सन के निबन्धों को ध्यान से पढ़ा करे। महत्वपूर्ण अंशों को रेखांकित कर अलग किसी कापी पर उतार लिया करे। "

सन् १८८२ में एमर्सन का देहान्त हो जाने के कारण गाँधी से घेंट का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने एक राजनीतिक निबन्ध में लिखा था कि मुझे किसी ऐसे व्यक्ति का स्मरण नहीं आ रहा है जिसने नैतिक कारणों से प्रचलित नियमों तथा कानूनों की सख्त अवज्ञा करने का साहस दिखाया हो। महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में एमर्सन के विचारों को ही चुनौती दी थी। उन्होंने नैतिक कारणों से प्रचलित नियमों को तोड़ा और कानून की सख्त अवज्ञा की। सरकार की दृष्टि में वही उनका अपराध था और इसी के लिये दक्षिण अफ्रीका में काठवास का दण्ड दिया गया था।

पं. जवाहर लाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन पर भी एमर्सन के विचारों का प्रभाव था। इसीलिये उक्त ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में एमर्सन के निबन्ध 'सेल्फरि लाइन्स' से अनेक अंश उद्धृत हैं।

एमर्सन को सर्वप्रथम जून १८४५ में धर्मशास्त्र गीता का अध्ययन करने का अवसर मिला। उसकी आत्म-तत्त्व की विवेचना से वे इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन दिनों एमर्सन के द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों में भी गीता के प्रसंगों की चर्चा मिलती है।

उन्होंने भारतीय वेदान्त दर्शन का अध्ययन ही नहीं किया था वरन् बहुत कुछ सीखा भी था। वह जीवन में सुख और दुःख को समान भाव से देखते थे। वह अपने व्याख्यानो में प्रकृति की एकता तथा मानव की आधारभूत सरलता पर जोर दिया करते थे।

सृष्टि में उन्हें शाश्वत तत्त्व का साकार रूप दिखाई पड़ता था, अतः ईश्वर ने जगत की मौलिक एकता को विविधता प्रदान की है एमर्सन कौन्कर्ड नगर के जिस मकान में रहते थे उसमें उनके द्वारा प्रयुक्त, प्रत्येक वस्तु सुरक्षित है उसे देखने से 'सादा जीवन उच्च विचार' का भारतीय मूलमंत्र स्मरण हो आता है।

वह शरीर से भले ही अमेरिका के रहे हों पर उनकी आत्मा भारतीय मनीषियों की आत्मा थी। वह जीवन में एकरसता के सिद्धान्त को मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि कोई मनुष्य प्रयास को तो इन्द्रियों के प्रभुत्व से मुक्त हो सकता है। उन्होंने इन्द्रियवाद से चेतनवाद की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त किया पर चेतनवाद उनका साध्य न था। चेतनवाद की कमी आत्मा के द्वारा पूरी होती है और वह आत्मा ही परमात्मा है, परब्रह्म है।

एमर्सन प्रत्येक प्राणी में देवत्व के दर्शन करते थे। उन्होंने जन-साधारण शब्द का कभी प्रयोग न किया। वह मानते थे कि साधारण जन कोई नहीं होता सब असाधारण होते हैं। सबमें देवत्व होता है और यह देवत्व ही प्रत्येक जन्म की रचना का अनिवार्य अंग है।

उनका कहना था कि किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उस आधार पर कभी नहीं किया जाना चाहिये कि दूसरे व्यक्तियों की धारणा उसके प्रति क्या है। अपने विचारों की सत्यता जानने के लिये हमें अपनी आत्मा से ही पूछना चाहिये।

जो सत्य उनके जीवन का आधार था, उसके दर्शन जब अल्प-संख्याकों में ही पाते तो दुःख होता था। अधिकांश लोगों में कृत्रिमता दिखाई पड़ती थी, उनके विचारों और अतिज्ञाओं में मौलिकता का अभाव रहता था। व्यक्ति मरने समय भी आत्म-निरीक्षण नहीं करना चाहता बल्कि यह सोचता है कि उसकी शव खात्रा में कितने लोग सम्मिलित होंगे।

भारतीय विचारधारा में ओल प्रेत होने के कारण इस वेदांती संत पर यहाँ के लोगों की गर्व है और प्रत्येक भारतीय को उनके प्रति अगाध प्रेमा है। दक्षिण भारत द्वारा एक नये राग का नामकरण 'एसर्सन प्रिया' इस प्रेमा का छोटक है।

ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी— डॉ. क्रिश्चन

अर्द्धरात्रि का समय होगा। अस्पताल के सभी कर्मचारी अपने अपने कमरों में विश्राम कर रहे थे। डॉ. क्रिश्चन अभी दो रोगियों को देखकर, सब बाड़ों का निरीक्षण कर लौटे ही थे और सोने की तैयारी कर रहे थे। इतने में ही किसी ने कॉलबेल दबाये। डॉक्टर आधे कपड़े पहने ही दरवाजे की ओर दौड़े। इस समय कौन हो सकता है? डॉक्टर के पास कोई रोगी ही अस्समय में आता है। दरवाजा खोलकर देखा— एक गौँस का मोल्क-भाला युवक अपनी माँ को बरामदे में छोड़कर आया था। माँ बहुत बीमार थी। हालाँकि वह अपने घर से दोपहर को चला था। तीन-चार मील का रास्ता तै करने में ज्यादा समय तो नहीं लगाना चाहिए था। रास्ते में तेज बारिश और फिर गाड़ी ने धोखा दे दिया इसलिए समय पर पहुँच नहीं सका।

डॉक्टर ने बारिश में भीगे युवक की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा— 'क्या बात है?'

माई-बाप— युवक ने कहा— 'मेरी माँ सख्त बीमार है। बारिश की ठण्डी हवा के कारण उसे रास्ते में ही तेज बुखार बढ़ गया। आपको अभी तकलीफ उठानी पड़ेगी।'।

डॉक्टर भी तुरन्त तैयार होकर युवक के साथ हो लिए। न चेहरे पर परेशानी के भाव और न ही मन में किसी प्रकार की उन्माहट। उनके लिए तो रोगी के रूप में स्वयं ईसा ही आते थे। डॉक्टर ने इन्जीनियर के साथ मरीज बुद्ध का परीक्षण किया और इन्जेक्शन दिये। युवक को दिलासा देने लगे— 'देखो! हालत अगर सुधरी नहीं तो मुझे फिर जगा देना।'।

एक बाई में रोगी को दाखिल भी कर दिया। यह सब करते हुए उन्होंने किसी भी नर्स या कर्मचारी को नहीं बगवाया। स्वयं ही अपने हाथों से अस्पताल का काम खोल और दवाइयाँ दी थीं। ऐसे

समय कोई पेशेवर या नौकरी से ही सम्बन्ध रखने वाला डॉक्टर होता तो यों ही युवक को टरकाकर भगा देता। डॉक्टर क्रिश्चन के लिए यह कोई नये बात नहीं थी। येव ही ऐसा क्रम चलता रहता। शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो जब उन्हें सोते हुए जागना नहीं पड़ा हो। इतना सोते हुए भी उन्होंने कभी किसी प्रकार की कोई परेशानी अनुभव नहीं की। कई बार तो निर्धन रोगियों के लिए स्वयं ही औषधियों का प्रबन्ध किया और जब रोगी परिवार के सदस्य उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते तो बड़े संकोच के साथ वे कह देते— 'माई' इसमें मैंने क्या बड़ा उपकार किया है। यह तो मेरा फर्ज था। तुम लोगों के रूप में मेरा भगवान् ही आया है, उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करूँ तो फिर क्या करूँ।

यह उत्तर मात्र औपचारिक नहीं हृदय से निकलता था। इसका प्रमाण है उनके द्वारा अपनाया गया वह रवैया जब उपकृत लोग अधिक ही कृतज्ञता ज्ञापन करते और उन्हें बड़ा संकोच होता था। डॉ. क्रिश्चन ऐसे अवसरों पर कह देते यह दवाई तो सरकार ने तुम लोगों के लिए ही पेजी है। मैं कोई अपनी जेब से बोड़े ही दे रहा हूँ।

घेतन का अधिकांश भाग इसी प्रकार खर्च हो जाता। डॉ. सामान्य स्तर का जीवन जीते और अपनी आवश्यकता भर का पैसा अपने लिए रखते थे। कर्मयोग का इससे उत्तम उदाहरण और क्या हो सकता है। अपनी उपार्जित कमाई को दीन-दुःखियों की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगाना, स्वयं के लिए न्यूनतम और शेष सब अन्य औरों की सहायता में खर्च कर देना— डॉ. क्रिश्चन की यही साधना बन गयी थी।

अजन्ता एल्लोर की गुफाओं के बीच, महाराष्ट्र के औरंगाबाद शहर में परिचित फेरक पहने ईसाई मत के अनुयायी डॉ. क्रिश्चन के व्यक्तित्व की सुवास कुछ ही वर्षों पूर्व फैल चुकी है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर अब नहीं रहा फिर भी उनसे लाभान्वित हुए लोग अभी उनकी चर्चा प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं। सेवा का मार्ग व्यक्ति को इसी प्रकार सत्कीर्ति और यश प्रदान करता है। केवल कीर्ति और ख्याति ही नहीं सेवा के बदले मिलने वाला सन्तोष और तृप्ति मनुष्य को एक ऐसे आनन्द से भर देता है, जो बड़े-बड़े साम्राज्यों के अधिपति, सम्राटों और कनेइपति धन्या सेतों के लिए दिवास्वप्न ही सिद्ध होती है।

विनोबा जी अब औरंगाबाद गये तो डॉ. क्रिश्चन की ख्याति उन्हें भी सुनने को मिली। स्वयं डॉक्टर भी उनसे मिलने आये। उनकी गतिविधियों से परिचित होकर विनोबा जी के मुँह से सहसा निकल पड़ा— 'वास्तव में आप ईसा के सच्चे अनुयायी हैं। ईसा ने भी दीन, दुःखियों और रोग पीड़ितों में उसी परमकृत्या का दर्शन किया था जिसका कि आप करते हैं।'।

डॉक्टर साहब ने बड़ी विनम्रता के साथ उत्तर दिया था— 'आप मुझे शर्म्भित कर रहे हैं। मैं अपने प्रयत्नों से सन्तुष्ट नहीं हूँ। इसके लिए क्या करना चाहिए यह आपसे जानने के लिए आया हूँ, न कि अपनी प्रशंसा सुनने।'।

३ १६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

डॉ. क्रिश्चन की सेवा भावना अभी अतृप्त ही थी। यद्यपि उनके सहयोग से कई लोकसेवी संस्थायें चल रही थीं। फिर भी असन्तोष। विनोबा ने कहा— 'अपनी प्रगति से असन्तोष करना ही साधक को ऊँचा उठाता है। आप अपनी लोकसेवा की साधना में लगे रहें। विशेष चिन्ता न करें।'

और डॉक्टर साहब ने विनोबा के मार्गदर्शन को गाँठ से बाँध लिया। उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी था जिसने उन्हें निश्चय हुआ रूप प्रदान किया है। दिन-रात रोगियों की सेवा में लगे रहते हुए भी वे सामाजिक कार्यों में भाग लेते रहते थे। रोटरी क्लब, मेडिकल ऐम्बुलेंसिडेशन, मराठवाड़ा सांस्कृतिक मण्डल, कुम्भ सेवा समिति, विवेकानन्द समिति आदि कई संस्थाओं के वे अध्यक्ष रहे और इन संस्थाओं के कई कार्यक्रमों में भाग लेना, परीजों की देख-भाल भी करना— दोनों ही कार्यों में समान रूप से रुचि रखते हुए उसका निर्वाह करना आसान नहीं है। परन्तु डॉ. क्रिश्चन ने जितनी सफलता के साथ ये दोनों कार्य बिना रुके चलाये उसे देखकर आश्चर्य ही होता है।

उनसे कई बार लोगों ने पूछा भी सही कि— आप किस प्रकार इतना सब कर लेते हैं? डॉक्टर ने इसका सूत्र सफ़ाई हुए कहा था— सामाजिक कार्यों के लिए मेरा समय बँटा हुआ है। दोनों काम आसानी से इसी कारण चल सके हैं कि मैंने नियमित और अनुरक्षित दिनचर्या को सर्वाधिक महत्व दिया है। एक भी क्षण बर्बाद नहीं जाने दिया। बस्तुतः किसी के भी पास समय की कमी है नही। लोकसेवी कार्यों में लगाने के लिए एक-एक क्षण का सदुपयोग किया जाये तो बहुत कुछ हो सकता है।

डॉ. क्रिश्चन की एक और बड़ी विशेषता थी सभी धर्मों के प्रति समभाव। यही नहीं सभी धर्मों का अन्तर्विरोध मिटाकर वे एक-दूसरे को नज़दीक भी लाना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'सर्वधर्म समन्वय-ज्योति मन्दिर' का निर्माण भी करवाया था, जहाँ सभी मतों के अनुयायियों के लिए आराधना की व्यवस्था है। स्वयं उन्होंने अपने घर में भी भगवान् राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध और कुरान के कथनों की तस्वीरें तथा चित्र लगा रखे थे। प्रत्येक के सामने वे एक समान ही श्रद्धा और आदर के साथ झुकते थे। सब धर्मों को एक ईश्वर की ओर ले जाने वाली विभिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ मानते हुए वे बताते कि बस्तुतः इन सबका आधारभूत सिद्धान्त एक है। सभी धर्म सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, करुणा, सेवा जैसे सद्गुणों की समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं और इन्हें व्यावहारिक जीवन में उतारने का उपदेश देते हैं। उपासना मार्गों के मूल सिद्धान्त भी एक हैं। किसी भी पद्धति से ईश्वर की अर्चना बन्दना एक ही भाव निष्ठा के साथ की जाती है। ईश्वर को अपने समीप, सम्मुख, साथ मानकर उसका प्यार पाने की प्रार्थना ही तो उपासना का मर्म है। देश, कल, पात्र के अनुसार पद्धतियाँ अलग-अलग बना दी गयीं तो क्या हुआ?

उनकी सेवानिष्ठ ने उन्हें जहाँ आस-पास के क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाया वहीं उनके सर्वधर्म समन्वय और ज्योति मन्दिर ने उनकी कीर्ति

को देश विदेशों में भी विस्तारित कर दिया। विदेश यात्रा के दौरान दूसरे देशों के लोग उन्हें 'क्रिश्चन योगी' के नाम से जानते थे। ईसा को उन्होंने अपने जीवन में जितनी सफलता के साथ अवतारित किया है। वह अन्य लोगों के लिए भी अनुकरणीय है।

कुंग फुत्ज—मनुष्य जो देवता की तरह पूजा गया

तेरह वर्ष तक वह एक राजा से दूसरे राजा के पास जाना रहा कि वे उसकी नैतिक पुनरुत्थान परक सेवाएँ लें। किन्तु किसी ने भी उसकी बात नहीं मानी। सम्मान सभी ने किया। सभी ने कहा— "आप बहुत बड़े विचारक हैं, विद्वान् हैं। आपसे हमारी सभा की शोभा है। आपके लिये हम सब प्रकार की सुविधाएँ जुटाएँगे आप हमारे पास रहिये, हमें कृतार्थ कीजिए।"

राजा लोगों की यह बात उसे मनोनुकूल नहीं लगी। वह मात्र आदमी ही नहीं था कि उसे आवास, भोजन व अन्य सुख-सुविधाएँ मिल जाने से ही सन्तुष्ट रह जाता। उसका एक मिशन (ध्येय) भी तो था, जो कठमे बागे से बाँधकर उसे द्वार-द्वार भटकता रहा था। उसका यह ध्येय था चीन के लोगों की नैतिकता में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना उसने सभी राज्यों से वही कहा— "यह नहीं हो सकता महाराज, सेवा नहीं लेते तो मैं कैसे राज-धन पर अपना निर्वाह करता रहूँ यों ही अकर्मण्य बनकर।" और वह बिना राज्याश्रय के ही चीन देश में अपने सुविचारित नैतिक सिद्धान्तों को जन-जन को सुनाता रहा उनकी उपयोगिता समझाता रहा। कालान्तर में उसके यही उपदेश चीन का धर्म बन गये।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि उसे भूखा रहना पड़ता था उसके एक शिष्य ने उससे पूछा— "गुरुदेव ऐसे धर्म प्रचार से क्या लाभ?" इस पर वह बोला— "प्रत्येक काम मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नहीं करता और सच्चा मनुष्य तो ऐसा कभी नहीं करता। हमने भी सच्चे मनुष्य बनने की शपथ ली है। भूखों मरने से हमारी सच्चाई धूमिल होने वाली नहीं है बरन् वह तो कष्टों की आँध में तप कर खरा कुन्दन बन जाने वाली है, जिसे सभी को स्वीकार करना होगा। वह सबके सामने आते हैं जो अधिधलित भाव से उनका स्वागत करते हैं वे कष्टों को जीव लेने हैं। सच्चे आदमी ऐसे ही होते हैं।" और उनकी यह तपस्या, द्वार-द्वार, घर-घर जाकर अपने नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने का, स्वेच्छा से अभावों को सिर ओढ़ने जैसा काम रहा लाभ। उसके प्रणोपरान्त सारे चीन में करोड़ों लोग उसके अनुयायी बन गये और १९१२ तक उसके द्वारा चलाया गया धर्म चीन का राजधर्म रहा। बौद्धधर्म के प्रसार के उपरान्त भी उसके नैतिक सिद्धान्तों के करोड़ों अनुयायी चीन में थे और आज भी करोड़ों लोगों की आस्थाएँ उनमें है। यह व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी बाद में देवता मानकर पूजा गया। उसका नाम था कुंग फुत्ज जिसे हिन्दी में सामान्य तथा कमपशुलियस कहा जाता है।

बाल्यकाल से ही नियति ने उसकी परीक्षाएँ लेना आरम्भ कर दिया था। हड़हत्सी प्रदेश के प्रशासक के वे अन्तिम और इकलौते पुत्र थे। उनके पैदा होने के तीन वर्ष बाद ही उनके पिता का देहवसान हो गया। पिता की मृत्यु होते ही उनका पद दूसरे व्यक्ति को मिल गया। पिता धन के प्रति विशेष अनुरक्ति नहीं रखते थे अतः उनके घरते ही परिवार पर आर्थिक संकट के बादल मँढ़राने लगे, अभावों की वर्षा होने लगी। किन्तु यदि उनके पिता धन-दौलत व भौतिक सम्पदा छोड़ जाते तो बहुत सम्भव था वे उन्हीं में फँस जाते और उनके द्वारा मानवता की कोई सेवा नहीं हो पाती और न आज उनका नाम ही कोई जानता। सद्गुणों और आदर्शवादिता की जो सम्पदा पिता से विरासत में मिली थी वही उनकी प्रगति में सहायक बनी।

बाल्यावस्था में ही कुंग फुत्ज को आजीविका कमाना और परिवार का खर्च चलाना पड़ा। उनके मन में इन की भद्रमय गृह थी। उन दिनों आज की तरह न तो पुस्तकें ही प्रचुरता से मिलती थीं न इस प्रकार गाँव-गाँव में स्कूल होते थे। चीन घर में कोई बोर्डे से गिने-घुने शिखालय थे। कुंग फुत्ज ने जीवन में बिसरी ज्ञान की मणि मुक्ताओं को यत्नपूर्वक ढूँढ़े और उसे अपनी झेलनी में सहेजा।

प्रकृति से चिन्ता और शिक्षक या सख्त बन्धक लोकशिक्षण करने की उनकी कसमनाओं को देखकर उसकी मना को भय लगा कि कहीं यह विरागी न बन जाय तो बारह वर्ष के होते न होते उनके गले में पत्नी रूपी डोर बाँध दी कि वे भाग खड़े न हों। उन्नीस के हुये तब तक तो वह डोर और भी कस गयी। दो सड़कियाँ भी उत्पन्न हो गयीं उनके। किन्तु परिवार का पालन करना एक बात है और अन्ये मुँहों की तरह परिवार की चक्की के चारों ओर चक्कर काटना दूसरी बात। परिवार समाज सेवा के काम में विशेष आड़ा नहीं आता वरन् वह व्यक्ति का नियमन करता रहता है।

थोड़े दिनों सरकारी नौकरी करने के बाद उन्होंने अपना एक विद्यालय खोला। उस समय उनकी आयु २२ वर्ष की थी। इस विद्यालय में मात्र अक्षर ज्ञान की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी वरन् सदाचार और सुशासन सिखाना उनका मुख्य लक्ष्य था। थोड़े ही दिनों में उनका यह विद्यालय बहुत प्रसिद्ध हो गया। वे गरीबों को निशुल्क शिक्षा देते थे जबकि धनिकों से शुल्क लिया करते थे।

यह विद्यालय वास्तव में सद्चरित्रों के प्रसार का केन्द्र था और समाज सुधार का केन्द्र भी। वे तत्कालीन कुीतियों का डटकर विरोध किया करते थे। वे धर्म के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को मानते थे जो चिरन्तन थे शाश्वत थे। समय के साथ उन्हें कोई विकृति नहीं आती थी। सदाचार के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वे किया करते थे। उन्होंने इतिहास और दर्शनशास्त्र का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात् सदाचरण व सुशासन के जो नियम बनाए थे वे बहुत लोकप्रिय हो गये। उन्हें सुयोग्य शिक्षक व प्रशासक माना जाने लगा।

शिक्षक होते हुए भी उनके मन में अपने शिक्षक होने के प्रति कोई दुराग्रह नहीं था। ३४ वर्ष की आयु में जब लु प्रदेश के दो मेधावी युवक उनके शिष्य बने तो उन्हें नैतिक व प्रशासन सम्बन्धी शिक्षा

देने के साथ ही उनसे उन्होंने संगीत भी सीखा। संगीत को वे ईश्वर की बहुत बड़ी देन मानते थे।

कुंग फुत्ज ने जो उपदेश दिये वे जैसे व्यावहारिक धरातल पर टिके होने के कारण अधिक व्यावहारिक थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर दिया। समाज के व्यक्तियों द्वारा जिन नियमों को पालने से समाज में सुख, शान्ति, सन्तोष और स्वर्गीय कलावराण बने वे नियम ही उनके धर्म के आधार थे। प्रत्येक व्यक्ति वह चाहता है कि उसकी वस्तु कोई दूसरा गुप्तचुप या छीन कर न ले इसलिये अस्तेय की उपयोगिता है। धर्म के सभी सिद्धान्तों को उन्होंने व्यावहारिक स्वरूप में प्रस्तुत किया। अतः वे शीघ्र प्रचलित हुये।

उनकी घेंट उनके सम्कलीन सन्त लोओत्से से भी हुई जो ताओ धर्म के प्रतिपादक थे। कुंग फुत्ज ने धर्म को मात्र सैद्धान्तिक स्वरूप न देकर उसे व्यावहारिक बनवा ताकि समय के साथ उसमें विकृतियों न आ जायें और सम्प्रदायवादी विकृतियाँ उठ खड़ी हों—भिन्न-भिन्न मतमतलबों आपस में घात-काट बचाएँ।

राज्य में उनका प्रभाव बढ़ रहा था। प्रदेश का राजा उनका बड़ा आदर करता था। तभी लु राज्य में क्रान्ति हो गयी। राजा कोत्सी राज्य के राज के चढ़ाई करण लेनी पड़ी। विद्रोहियों ने परेशान किया पर वे अविचलित भाव से उन्हें सहते रहे। वे जानते थे कि कोई भी अच्छा काम किया जाता है तो उसमें कह-कहनाइयाँ आती हैं। अब वे शिखालय का भार अपने योग्य शिष्यों के धरोरे छोड़कर धर्म, नैतिकता व सदाचरण के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रचार करने निकल पड़े। उनकी वाणी की ओज, व्यक्तित्व की प्रखरता और चरित्र की दृढ़ता उनके इस धर्म प्रचार में बहुत सहायक रही। उनके पास शिक्षा लेने वालों का जमघट लगा रहता। उनके अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। उनके शिष्य उनके उपदेशों को लिपिबद्ध कर लिया करते थे।

बावन वर्ष की आयु में उन्हें लु राज्य के चुंग लु नगर का प्रशासक बना दिया गया। उन्होंने इस नगर का प्रशासन अपने सिद्धान्तों के आधार पर किया जिससे नगर एक प्रकार का स्वर्ग ही बन गया। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी लोग उनके गुणगान करने लगे सदाचरण और नैतिकता के पालन से ऐसा चमत्कार उन्होंने कर दिखाया जो अद्भुत था।

अपने नगर प्रशासन में उन्होंने रोगियों व दुर्बलों के लिए मुक्त भोजन की व्यवस्था की साथ ही सबत व्यक्तियों के लिये काम करना अनिवार्य कर दिया। उन्होंने स्कूलों को बढ़ावा दिया, सड़कें व पुलों का निर्माण किया, सामंतों के अधिकार कम किये, न्याय की दृष्टि में गरीब-अमीर का भेदभाव नहीं बर्ता, धोर डाकुओं का सफाया किया। नगर में अमन-चैन रहने लगा। यह देखकर लु प्रदेश का राजा उनका भक्त बन गया।

कुंग फुत्ज के इस बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर कुछ ईर्ष्यालु दरबारी उनसे जलने लगे। उन्होंने राजा को सुन्दरियों के मोहपारा

यें बाँधकर बिलास्री बना दिया। यह कुंग फुत्ज को बहुत बुरा लगा। उन्होंने राजा को सचेत भी किया किन्तु राजा पर तो बुराइयों ने विजय पा ली थी। निदान कुंग फुत्ज ने राजा पर दबाव डालने के लिये नगर के प्रशासक पद से इस्तीफा दे दिया। किन्तु राजा तो बिलास के मंदिर में रुक पड़ा था, उसने इस्तीफा स्वीकार कर लिया।

नगर के प्रशासक पद को त्याग कर वे पुनः धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। कहीं राज्यप्राप्त मिल जाय तो ठीक है कि वे किसी एक नगर को चुग लें की तरह आदर्श बना सकें। किन्तु तेरह वर्ष तक ऐसा अवसर नहीं आया और वे घर-घर, द्वार-द्वार जाकर शाश्वत मानव धर्म का प्रचार करते रहे। जब वे सत्तर वर्ष के हुए तो लू राज्य के नये राजा ने उन्हें शासन के प्रशासन में सुधार करने के लिये आमन्त्रित किया। चार वर्ष तक उन्होंने लू राज्य में लोगों को धर्मचरण सिखाया। उसके पश्चात् ७४ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। श्रेष्ठ पथ पर चलकर जीते जो भी उन्हें खूब श्रद्धा-सम्मान मिला मरने पर उन्हें देवता की तरह पूजा गया।

मनुष्य जीवन तो पानी का बुलबुला है। वह पैदा भी होता है और मर भी जाता है। किन्तु शाश्वत रहते हैं उसके कर्म और विचार। सद्विचार ही मनुष्य को सद्कर्मों को करने के लिये प्रेरित करते हैं और सद्कर्म ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध करते हैं। मनुष्य के विचार ही उसका वास्तविक स्वरूप होते हैं। ये विचार ही नये-नये पंक्तिधर्मों में घुसकर हृदय में प्रभाव जमाकर मनुष्य को देवता बना देते हैं और राक्षस भी। जैसे विचार होंगे मनुष्य वैसा ही बनता जाएगा।

कुंग फुत्ज का पार्थिव शरीर मर सकता था पर उनके विचार तो शाश्वत थे। आदमी की तरह विचारों को नहीं मात जा सकता। ईसा की सूली पर टांग देने से ईसाइयत नहीं मरी। कुंग फुत्ज के दो सौ वर्ष पश्चात् एक राजा ने उनके विचारों—उनकी शिक्षाओं को नष्ट कर देने का प्रयास किया। उनकी लिखी पुस्तकें, उनके उपदेशों व शिक्षाओं के संग्रह उसने जला दिये। जो लोग उनके मतनुवायी थे और प्रचार करते थे उन्हें उसने मौत के घाट उतार दिया। फिर भी कुंग फुत्ज के विचार मरे नहीं, वे और जीवन्त हो उठे। उनके उपदेश लोगों के मन, मस्तिष्क, हृदय अन्तःकरण में जीवित रहे। बाद के सम्राटों ने उन विचारों को स्वीकारा। कुंग फुत्ज के धर्म की मान्यता मिली, राजाग्रय मिला और वह खूब फला-फूला। आज भी चीन में करोड़ों व्यक्तियों को उनके उपदेश कण्ठस्थ हैं। यह है विचारों का अमृतत्व।

कुंग फुत्ज ने स्वयं केवल एक पुस्तक लिखी—‘बसंत और पतझड़।’ इसमें २५० वर्ष का इतिहास लिखा है। उस इतिहास का वर्ण्य विषय मात्र घटनाएँ या लोगों के विवरण ही नहीं हैं। “व्यक्ति कोई अच्छा कार्य करता है तो उसका स्वयं पर और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है और बुरा काम करता है तो वह समाज में दुःख फैलाने के साथ स्वयं अपना कितना अहित करता है।” इस तथ्य को बिना किसी आग्रह के इस पुस्तक में बताया है। इसे चीन के लोग बड़ा पवित्र मानते थे। आज भी करोड़ों लोगों की उस पर श्रद्धा है।

कुंग फुत्ज अपने विचारों के रूप में आज भी अमर हैं और वह अमरत्व मनुष्य जीवन में ही सुलभ होता है। अवसर खोजने पर पछताना ही साथ लगाता है, इसे वह भूलना नहीं चाहिए।

करुणा तथा सेवा के पुण्य प्रतीक— जार्ज पियरे

बेल्जियम के पादरी श्री जार्ज पियरे को जब अभिनन्दनपूर्वक, उनकी शांति सेवाओं के लिये नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया तब उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये वे सच्चे लोकसेवी के लिये सर्वत्र उपयुक्त ही थे। उन्होंने गर्वद कण्ठ से कहा—

“एक सच्चे मनुष्य को पौष्टिक मानवता के लिये जितना जो कुछ करना चाहिए, उतना मैं न कर सका। मेरी सेवायें तो सिन्धु में एक बिन्दु बराबर भी नहीं हैं। मैं एक पादरी हूँ जनसेवा तो मेरा एक स्वाभाविक कर्तव्य है। मैंने जो कुछ किया वह कोई विशेष बात नहीं है। इसके लिये जिन महानुभावों ने मुझे पुरस्कार दिया है उन्होंने उदारतापूर्वक मेरी सेवाओं का अधिक मूल्यांकन किया है, मैं उनकी इस उदारता के लिये धिर कुलङ्ग रहूँगा। लोकसेवा ही मेरी ईश्वर भक्ति है। अभी उस मार्ग में मैं कुछ ही दूर चल पाया हूँ। इस सम्मान और इस पुरस्कार को मैंने अपने लिये जनसेवा की अधिकाधिक सेवा के लिये एक प्रेरणार्थक उत्तरदायित्व माना और उसी नाते इसको स्वीकार किया है। देखता हूँ आगे मैं अपने इस दायित्व निर्वाह में कहाँ तक सफल होता हूँ। जो लोग मुझे बधाई दे रहे हैं, मेरी सराहना कर रहे हैं, उनसे मैं यही कहूँगा कि वे मेरे बजाय उन लोगों का अभिनन्दन करें जिन्होंने मेरे साथ यह उदारता बरती है। वे ही इसके पात्र भी हैं और अधिकारी भी हैं, मैं नहीं।”

इन विनम्र तथा निष्पक्ष लोक-सेवी को जब यह भाशंका हुई कि द्वितीय महायुद्ध की सम्भावनायें साकार हो सकती हैं तो युद्ध की भयानक विभीषिका की कल्पना में उनका हृदय ठे उठा और वे मानवता को उस संसार से बचाने के लिये प्रयत्नशील हो उठे। फादर पियरे कई राजनेता तो थे नहीं और न किसी शक्तिशाली राष्ट्र के कर्णधार, जो वे राजनीति के दाँव-पेच चलकर अथवा अपना प्रभाव प्रयोग करके सम्भावित युद्ध को स्थगित कर सकते। वे तो धर्म प्रचारक एक पादरी थे। वे युद्ध रोकने के जो उपाय कर सकते थे उनमें से प्राथमिक निवेदन और युद्ध द्वारा मनुष्यता के विनाश का दिग्दर्शन कराने के सिवाय और क्या हो सकते थे। उन्होंने अपने साधन और शक्ति भर उपाय किया था।

सबसे पहले उन्होंने उद्भट राष्ट्रों के लिये युद्ध से विरत रहने की अपील निकाली। राष्ट्रों के राजनेताओं से मानवता पर दण्ड करने के लिये प्रार्थनायें कीं। युद्धोन्मुख देशों की जनता में युद्ध के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिये उसकी भयंकरता का प्रकाशन करने हुए बड़ी मार्मिकता के साथ लेख लिखे। उन्होंने ययासम्भव स्थान-स्थान पर जा-जाकर जन सभायें कीं और उसमें अपनी बात लोकमन के सम्मुख

रखी। जिन राष्ट्र नेताओं से मिलना और बात कर सकना सम्भव हो सका उनसे मिले और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उन्होंने लोगों को युद्ध और धर्म के विरोध में अवगत करवा और सत्य, अहिंसा एवं शान्ति के देवदूत ईसा के अनुयायियों के लिये अस्त्रों घोर पाप बनलाया। इस प्रकार फादर पियरे युद्ध रुकवाने के लिये अपनी स्थिति और साधनों के अनुसार जो कुछ कर सकते थे उन्होंने तत्परतापूर्वक किया किन्तु काल के प्रभाव से उनके प्रयत्न नक्कामरखने में तूतों की आवाज बनकर रह गये। विनाश से सिर टकराने की कसब खा कर उत्पन्न हुए संसार ने युद्ध के द्वार खोल ही तो दिये। फादर पियरे के पास अब मानवता की कल्याण कामना करने के सिवाय और चारा ही क्या रह गया था।

उस भयानक युद्ध के समय फादर पियरे के लिये जो राष्ट्रीय कर्तव्य छविन थे उनका पालन तो वे करते ही थे, साथ ही जेब समय में पर्याप्त से प्रार्थना करते रहते थे कि वह युद्ध ऐसे और आसुरी प्रवृत्तियों से प्रभावित युद्धरत लोगों को सदबुद्धि देकर उस निराशा से विरत करे। वे स्वयं प्रार्थनायें करते थे सो तो करते ही थे, उन्हें और धर्म-सभाओं में सम्मिलित होने वाले लोगों को भी वही प्रेरणा देते थे। वे घर-घर जाकर परिवार वालों से विनय करते थे कि वे लोग संसार में शान्ति स्थापना के लिये घरों में साँझ-सबरे पूरे परिवार के साथ ईश्वर प्रार्थना किया करें। इस प्रकार उन्होंने शान्ति स्थापना के लिये एक प्रार्थना-आन्दोलन ही चला दिया।

अपने प्रचण्ड परिणामों के साथ युद्ध का उपसहस्र हुआ और उसकी नारकीय विधोषिका की भयानक पूर्ति संसार के सम्मुख खड़ी हो गई। चारों ओर अनाथों, निराश्रितों, अपंगों, घायलों, रोगियों और विस्थापितों का हा-हाकार सुनाई पड़ने लगा। अभाव, आवश्यकता और भूखमरी का ताण्डव प्रारम्भ हो गया। जने खेत, उजड़े और तारे घरों से इलाके के इलाके वीरान दिखाई देने लगे। कुछ समय पहले सामान्य गति से चलने वाला जन-जीवन भयंकर रूप से अस्त-व्यस्त हो गया। संसार की सूरत ही बदल कर उरावनी हो गई।

फादर पियरे को अभिन्न था कि वे उनकी बात न सुनने वाले संसार को उसकी दुर्दशा का उल्लाहना देते। युद्ध लिप्यस्तु राष्ट्र नेताओं की गरदन पकड़कर ध्वंस के दृश्य दिखाताते। रेली-बिलखती मानवता के आँसुओं में उनका अहंकार डुबते और युद्ध के समर्थक असुर अनुयायियों की जी-भरकर घत्सना करते। किन्तु नहीं, सज्जन एवं जन-सेवी सन्त पुरुष कहीं किसी के साथ कटु व्यवहार करते हैं? उनके हृदय में तो अपराधियों तथा पापियों तक के लिये दया, धर्म और सुधार की सत्भावनायें विकसित करती हैं।

युद्ध से सत्रस्त एवं जर्जर हुए असंख्यों विस्थापित एवं शरणार्थी बेल्जियम के विभिन्न भागों में आने लगे। उनके पास न खाना था न कपड़ा। घर उनके ऊजड़ धुके थे। परिवार बिछुड़ गये थे। न उनके पास आजीविका के साधन थे और न दुःख के कारण उनका मन-मस्तिष्क ही ठीक से काम कर रहा था। घायलों, रोगियों और अपंगों का श्रम नही था। सब के सब एक अजीब दयनीय दशा से ग्रसित पागल से बने हुए थे। विधवाओं और अनाथ बच्चों-बूढ़ों की सेना सी तैयार हो गई थी।

फादर पियरे उनकी दशा देखकर आँसुओं के साथ रो उठे और अपने जीवन के सारे कर्ष और सुख-सुविधाओं को छोड़कर उनकी सेवा, सहायता करने के लिये दौड़ पड़े। वे दुःखी जनों के पास गये और रोते हुए धनुषों के आँसु पोंछे, बिलखते बच्चों को गले लगाया निराशों को आशा और तड़पते हुआ को धैर्य का प्रसाद दिया। उन्होंने दुःखियों का दुःख पूछा और सलनुभूतिपूर्वक द्वादस बंधाया। मानवता की वह पहली मानसिक सेवा करके फादर पियरे सक्रिय सेवाओं में लग गये।

उन्होंने विस्थापितों के लिये अनेक शरणार्थी शिविरों की स्थापना की और स्व-स्वकर उनकी उनमें आश्रय दिया। जो कुछ उनके पास था वह तो उन्होंने उनकी सेवा-सहायता में समर्पित ही कर दिया। इसके अतिरिक्त लोगों से दुःखी-जनों की सहायता करने की अपील की। घर-घर जाकर नंगों-भूखों के लिये भोजन, बख की भीख माँगी डॉक्टरों तथा अताओं से छेगियों तथा घायलों के लिये उपचार तथा औषधियों की भीख माँगी और हजारों स्वयंसेवकों को अपंगों का सहारा बनाया। इस प्रकार दृष्टवान फादर पियरे ने अनेक प्रयत्नों द्वारा उस उखड़ी हुई धनुष्यता को फिर से बसाया और वहाँ तक उनकी सेवा में तब तक लगे रहे जब तक उसकी अस्तव्यस्तता में व्यवस्था न आ गई। फादर पियरे के वे शरणार्थी शिविर नगरों में बढ़सकर आज भी उनकी सेवाओं के सक्षी बने हुए हैं।

संसार में शान्ति स्थापना के बाद फादर पियरे ने एक अभुण्ण एवं स्थायी शान्ति के लिये संसार में प्रचार का कार्य उठाया और उस मन्तव्य से लगभग तीन, साढ़े तीन लाख मील की यात्रा की। उनकी इसी महानीय शान्ति सेवाओं के लिये उन्हें नोबेल पुरस्कार दिया गया था, जिसको स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने को उसके योग्य नहीं माना था।

अस्य-महाद्वीप के प्रदीप— डेविड लिविंगस्टन

एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में फादरी का प्रशिक्षण पाने वाला एक सुन्दर सुशिक्षित किन्तु लचीला युवक जब पहली बार जन-समूह के साधने उपदेश देने के लिए खड़ा हुआ तो कुछ ऐसा हुआ कि जो कुछ उसने तैयारी की वही सब भूल गया। हार कर उसे वही कहना पड़ा—“मित्रों जो कुछ मैं कहना चाहता था भूल गया हूँ।” शर्म के मरे वह धर्मोपदेशक के आसन पर भी नहीं बैठ सका था। असफलता के कारण युवक कहीं लोकमगल के पथ पर बढ़ाया हुआ अपना पग पीछे न हटा ले इस भय से एक महदय सज्जन राबर्ट पोफ्ट, जिन्होंने लिविंग्स्टन के कुरुमान नगर में अपना मिशन स्थापित किया था, ने उसे धैर्य बंधते हुए कहा—“भबराकर तुम वह उद्देश्य छोड़ मत देना। तुम उपदेशक नहीं तो डॉक्टर बनकर मानवता की सेवा कर सकते हो।” युवक भी अस्थिरमति नहीं था उसने उपदेशक व डॉक्टर दोनों बनने का दृढ़ संकल्प ले लिया जिसे उसने पूरा किया।

३.२ • महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

इस युवक डेविड लिविंगस्टन ने आगे चलकर मानवता की महान् सेवा की। उसने करोड़ों लोगों के हृदयासन पर स्थान पाया। अफ्रीका के घने जंगलों में वहाँ की विषम जलवायु तथा भयानक बंगली जानवरों के बीच रहकर उसने वहाँ के अर्द्धवासियों की सेवा करते-करते ही प्राण त्याग। उस दिन उन लोगों के मुँह से यही शब्द निकले थे— 'देवता चला गया। उन लोगों ने धनवान् को तो कभी देखा नहीं था। डेविड लिविंगस्टन के मुँह से सुना अवश्य था, किन्तु वह स्वयं उनके लिए किसी दूसरे भगवान् से कम नहीं थे। अपने जीवन के ३३ बहुमूल्य वर्ष उन्होंने इन्हीं लोगों की सेवा में लगा दिये थे।'

डेविड लिविंगस्टन का जन्म स्कॉटलैंड के एक शिकारी परिवार में १८ मार्च सन् १८१३ में हुआ था। शिकारियों की दशा आज से भी बदतर थी। अपने पिता का पाप हत्या करने के लिए वह छोटी आयु में ही बारह मण्टे स्कॉटलैंड के कपड़ा मेल में काम करते थे। यह तरीका और अफाकों का बलाबल उनका प्रगति में बाधक नहीं बना। वे स्वयं कमाते और पढ़ते थे। इसी प्रकार उन्होंने डॉक्टरों और धर्मोपदेशकों दोनों क्षेत्रों में सफलता अर्जित की।

बचपन में उनका लक्ष्य एक अमीर अदमी बनने का था किन्तु ज्यों-ज्यों उनका ज्ञान भण्डार बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका ध्यान अन्ध्यात्म, सेवा और ज्ञान प्रसार की ओर होता गया। उनके मन में यह बात पूरी तरह जम गयी कि धन कमाना या मीज करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। यदि मनुष्य जीवन का इतना ही प्रयोजन रहा होता तो ईश्वर मानव को अन्य प्राणियों से अधिक सुखिष्ठा क्यों देता? यह सब उसे मिली है ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर-सुसज्जित बनाने के लिए— गिरे हुए लोगों को उठाने और पिछड़े दुओं को बराबर स्थान के लिए। अभी भी इस विश्व में ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ के मनुष्य पशुओं जैसा ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मैं उन तक धर्मीशिक्ष और सभ्यता की प्रकाश किरणें पहुँचाऊँगा।

अपनी इसी अन्त प्रेरणा के कच्चे भागों से कभी वे डॉक्टर बन जाने के बाद सन् १९४० में एक ईसाई मिशनरी बनकर अफ्रीका पहुँचे। अफ्रीका उस समय अन्ध महाद्वीप कहल जाता था। विश्व के मानचित्र में अफ्रीका महाद्वीप का मध्यवर्ती भाग बिलकुल कोमल दिखाया जाता था क्योंकि वहाँ के सम्बन्ध में किसी को कुछ ज्ञात ही नहीं था। इस क्षेत्र को प्रकाश में लाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को जाता है। वहाँ के लोगों को गुलामी, अन्धविश्वास तथा अशिक्षा रूपी राक्षसियों के पंजों से छुड़ाने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन बलिदान कर दिया।

अफ्रीका से जहाजों पर पशुओं की तरह काले दास लादकर लाये जाते थे जिनके सस्य गोरे घालिक पशुओं से भी गया गुजरा व्यवहार करते थे। अपने शिक्षा काल में भी वे इन लोगों के साथ यह अमानवीय व्यवहार होता देखते थे तो उन्हें बड़ा दुःख होता था। उनकी यह संवेदना ही उन्हें अफ्रीका खींच कर लायी थी, जहाँ आने के नाम से ही लोग कपँपते थे। वे काले अफ्रीकी गोरे लोगों से बहुत डरते थे तथा उन पर कभी विश्वास नहीं करते थे। उनका यह अविश्वास थोड़े समय में लिविंगस्टन व उनके बीच दीवार बना रहा पर उनकी

प्राणरक्षक औषधियों में जीवनरक्षण के उत्तमोत्तम तरीकों की शिक्षा ने थोड़े ही दिनों में फाट दिया तथा वे उन लोगों के बीच 'एक देवता बन गये।

उनके द्वारा बढ़ाया गया एक-एक पग जोखिम भरा तथा रोमाचक होता था क्योंकि अफ्रीकावासी अपने कबीलों के लोगों पर ही विश्वास करते थे। वे निर्भीक होकर प्रत्येक अफ्रीकावासी से मिलते थे। इससे पहले उन्होंने कोई गोरा आदमी नहीं देखा था। वह उन्हें कपड़े, दवाएँ तथा मित्रता के प्रतीक रूप में कोई न कोई उपहार देते थे। इस मित्रता की स्थापना के बाद कुछ दिन वे एक कबीले में काम करते फिर आगे बढ़ जाते थे।

सुविचार के दिन वे उन्हें धर्मोपदेश देते थे। उन्हें समझाने के लिए डा० डेविड लिविंगस्टन की उन्हीं की भाषा का प्रयोग करना था। उनकी लगन तथा कर्मनिष्ठा का ही परिमाण था कि वे थोड़े ही समय में कठिन से कठिन भाषा भी सीख लेते थे। जितना प्रभाव उनके उपदेशों का नहीं होता था उतना उनके व्यवहार एवं चरित्र का होता था। अफ्रीकावासियों के लिए वह कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि कोई व्यक्ति इतना उदार और पर-दुःख कातर हो सकता है। यदि है तो यह व्यक्ति कोई न कोई देवता है और उसकी बातों में सच्चाई है। इसे मानना चाहिए। सच है बिना आचरण में लाये उपदेशों का कोई महत्व नहीं होता।

सर्वत्र उनका स्वागत ही होता हो ऐसी बात नहीं थी कहीं-कहीं उन्हें बोर विरोध भी सहना पड़ता था। कबीले का मुखिया यदि कोई अधिपत्य होता तो वह इनके कामों में कम अड़गे नहीं डालता। एक बार तो उनके एक सवारी के लिए प्रयुक्त होने वाले बैल को मार डाला गया तथा उन्हें पकड़ लिया गया। वे निर्बिचार भाव से मुखिया के सामने पहुँचे उससे अपनी बात कही तो उसने लज्जित होकर उन्हें छोड़ दिया।

कई बार उन्हें उस समय बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता था जब वे जंगली लोग उन्हें दैवी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति मानकर उनके सामने अस्वाभाविक प्रस्ताव रखते थे और उन्हें समझाना भारी पड़ जाता था। फिर भी वे साहस नहीं खोते थे। एक बार बेकवेन कबीले के लोगों ने सूखे मौसम में उन्हें वर्षा करवाने के लिए कहा लिविंगस्टन ने उनकी इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा— 'यदि आप लोग मेरी सहायता करें तो मैं पानी ला सकता हूँ।' वे सब सहमत हो गये। उन्होंने उन अर्द्धवासियों की सहायता से निकटवर्ती झील से लकड़ी की नावियों के सहारे सिचाई की नहर निकाली।

प्रतिकूल वातावरण, जलवायु, असह्य जंगली लोगों, भयकर साँपों व खूंखार शेरों के इस प्रदेश में पग-पग पर प्राणों का भय था। कई बार वे मृत्यु के मुँह में जात जाते बचे थे। मोजम्बासा नामक स्थान पर एक क्रुद्ध शेर ने उन पर आक्रमण कर दिया और उनका बायाँ हाथ लगभग तोड़ ही डाला। उनके एक अप्रान्त की शिष्य के कारण उनकी घाव रखा हुई। पर्याप्त चिकित्सा के बाद भी वह हाथ पहली स्थिति में नहीं आ सका। जब भी उस हाथ से कोई कार्य लिया जाता वह दर्द करता ही रहता।

उनकी सहन शक्ति गजब की थी। उन्होंने कब कभी लेके सरदार के साथ यह जानते हुए भी कि उसने तब उसके साथियों ने कुछ ही दिन पहले एक निर्दोष अस्त्र व्यापारी की हत्या कर दी थी, गोजन किया। उसी की झोंपड़ी में सोये। “पाप से घृणा करो पापी से नहीं” ईसा के इन वचनों को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह उतारा था।

उनकी चिकित्सक के रूप में की गई सेवाएँ एक वर्णोपदेशक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थीं। मलेरिया जो वहाँ की सामान्य बीमारी थी उसे दूर करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। स्वयं उनको पहले पाँच वर्षों में इकतीस बार मलेरिया से ग्रस्त होना पड़ा था। उन्होंने उसके बाद कुनेन का नियमित सेवन आरम्भ कर दिया। वे कहते थे कि कुनेन न लेता तो मैं मर ही जाता।

केपटाउन से लगाकर विषुवत् रेखा तक और अटलांटिक सागर के अफ्रीकी तट से हिन्द महासागर के अफ्रीकी तट तक यात्रावर की तरह घूमने और अन्धकार में प्रकाश फैलाने का काम उन्होंने अकेले सम्पन्न किया था। मध्य अफ्रीका की बहुत कुछ जानकारीयों दुनिया को इन्हीं की देन थीं। वे प्रथम यूरोपवासी थे जिन्होंने निवाशा से दुगुनी ऊँचाई से गिरने वाले जल-प्रपात नगापी को पहली बार देखा था। उन्होंने उसका मापकरण विक्टोरिया प्रपात किया था।

कुरुमान मिशन के संचालन दि. मेथुन की पुत्री मेरी गोपबट से उन्होंने विवाह किया था। मेरी कभी अफ्रीका में स्वस्थ नहीं रह सकी थीं। अतः उन्हें बार-बार उसे तथा अपने पुत्र-पुत्रियों को इंग्लैण्ड भेजना पड़ता था। उनका अधिकांश जीवन परिवार से दूर असम्य आदिवासियों में ही बीता किन्तु धुन के धनी और मन्चे लोकसेवा वाली डेविड लिविंगस्टन के चेहरे पर कभी उदासी की छीन रेखा भी नहीं उभरी। वे सदा मुस्कुराने रहते थे।

कोलोबेग में पाँच-छह वर्ष तक वे अपने परिवार के साथ रहे थे। उनकी पत्नी मेरी का हृदय भी उन्हीं की तरह सेवा भावना से परिपूर्ण था। वह उनके मिशन में भरसक सहायता करती थी किन्तु थोड़े ही दिनों में अस्वस्थ हो जाती थी। हरकर उन्होंने उसे इंग्लैण्ड भेज दिया। जब वे अपने परिवार को जहाज में बिठाने केपटाउन गये तो लौटने पर उन्होंने फया कि उनका सारा घर अस्त-व्यस्त पड़ा है। कपड़े व पुस्तकें चुरा ली गयी हैं। फनीयर अलग दिया गया है। यह सब उन लोगों ने किया था जो दासों का व्यापार करते थे। लिविंगस्टन दास प्रथा के घोर विरोधी थे। उन्होंने इसे बन्द करने के लिए आन्दोलन किये थे।

यह सब उन्हें डराने के लिए किया गया था। किन्तु वे डरते होते तो इंग्लैण्ड से अफ्रीका ही क्यों आते। उन्होंने निर्भय होकर दास प्रथा के विरुद्ध आंदोलन किया तथा अफ्रीका का तूफानी दौर किया। ब्रिटिश सरकार को भी उन्होंने इस बन्धे को बन्द बनाने के सम्बन्ध में कठोर कदम उठाने के लिए पत्र लिखे।

लिविंगस्टन का जीवन एक मिशनरी धर्म प्रचारक व डॉक्टर का ही नहीं था उन्हें नये-नये स्थान खोजने का बड़ा शौक था। यही इस अन्ध महाद्वीप में उनके लिए मनोरंजन का साधन भी था। जेम्बेजी नदी तथा मासा झील को उन्होंने ही खोजा था। उनके पत्नी मेरी

तथा पुत्र ऑसवेल भी कई खोज अभियानों में उनके साथ थे। ऐसे ही एक दौरान मेरी को भयंकर ज्वर हुआ और प्राण लेकर ही गया। अपनी जीवनसंगिनी से बिछुड़कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपना पत्नी ही नहीं उन्होंने अपना एक साथी खो दिया था। किन्तु इस बिछोह ने उन्हें कर्म पथ पर अग्रसर ही किया।

अपने इन कार्य-कलापों से वे अफ्रीकावासियों में ही लोकप्रिय नहीं हुए वरन् विश्व भर में उनकी ख्याति फैल चुकी थी। एक मनुष्य किस प्रकार एक सभ्य जगत को छोड़कर महान् उद्देश्य की खातिर अपनी जान हथेली पर लेकर अफ्रीका के घने जंगलों में घटक रहा था। इन दो मानव समाजों के बीच जो चौड़ी नदी बह रही थी उस पर वे पुल बना रहे थे।

वे अपनी खोज और सहायता के कार्यों में इतने मग्न हो गये थे कि वर्षों तक उनके परिवारों तथा मित्रों तक कोई समाचार ही नहीं पहुँचा। उन्होंने स्थान-स्थान पर स्कूल खोले, चर्च स्थापित किये, लोगों को खेती करने के सही तरीके बताए, उनकी रोगों से रक्षा की। इतने बड़े महाद्वीप में वे अकेले सब कुछ कर रहे थे। उन्हें एक क्षण भी चैन की साँस लेने का समय नहीं मिलता था।

उन्हें खोजने के लिए आये लोगों ने उन्हें उनके साथ इंग्लैण्ड लौट चलने का आग्रह किया तो उन्होंने उत्तर दिया— “मुझे यहाँ बहुत काम करना है।” उन्होंने अफ्रीका की धरती पर ही प्राण त्यागे। पाने पर उनका सब इंग्लैण्ड पहुँचाया गया पर हृदय अफ्रीकावासियों को मिला जिसके वे ही अधिकारी थे।

कोटियों में ईश्वर देखने वाले— फादर दामियेन

“कोटियों को अलग बसाकर सरकार ने जन-सुरक्षा की दृष्टि से ठीक ही किया है, किन्तु उन्हें हम भी उपेक्षा की दृष्टि से देखें तो अनीति होगी। उन बेकारों को शरीर का कुछ रोग हो गया है तो क्या उनकी भावना की दिव्यता जाग्रत होने का अवसर भी नहीं दिया जाना चाहिए? वे भी तो प्रभु के प्यारे बच्चे हैं। उन्हें हम शारीरिक सुविधायें न दे सकें तो क्या हृदय का प्यार भी न दें?”

फादर ‘दामियेन’ अपने मित्री का समझा रहे थे। मित्र उनके लिए चितित थे। ‘हवाई द्वीप’ राष्ट्र की अनोखी घटना— वहाँ की सरकार ने मोलोकई नामक एक छोटे टापू को कोटियों का द्वीप बना दिया था। नरेंद्र के रोगियों को सपाज से पृथक उत्तर द्वीप में निर्वासित कर दिया जाता था। वहाँ पहुँचे व्यक्ति का अन्य संसार से सम्पर्क टूट जाता था। कभी किसी स्वस्थ व्यक्ति के वहाँ आकर रहने की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। जब फादर दामियेन ने उन्हीं निर्वासित कोटियों के बीच जाकर रहने की अपनी योजना बतलाई तो उनके मित्र स्तब्ध रह गये।

सेवा के लिए धार्मिक नेताओं को तत्पर रहना चाहिये यह बात उनके मित्रों को उचित लगती थी। उपेक्षितों के प्रति करुणा होना भी अच्छी बात है। दुःखियों के लिए प्राण की बाजी लगा देना भी किसी

अवसर पर उपयुक्त हो सकता है। किन्तु जल-बूझकर, सारे जीवन तिल-तिल कर जलने की तैयारी? मित्र सिंह उठे। कोढ़ जैसा भयानक रोग। एक बार भी किसी कुष्ठ रोगी के निकट जाने में व्यक्ति हजार बार साँचना है। अपनी सुरक्षा के स्वयं उनके लिए कुछ कर देना और बाल है। किन्तु जहाँ कोढ़ी ही हों—अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था न हो, शेष ससार से जहाँ सम्पर्क टूट-सा जाता हो—वहाँ जाकर रहना—कल्पना तक भयावह थी। किन्तु फ़ादर दामियेन उसी के लिये कृत निश्चय थे।

हर प्रश्न का सतुलित उत्तर उनके पास था। हर भय की कल्पना करने वाले को उनकी दिव्य मुस्कान शान्त कर देती थी। उनका मत था कि “यद्यपि किस बात का किया जावे? जब अपना जीवन उस कुशल शिल्पी के हाथ में औजार के रूप में दे दिया तो पल-भुल सब उसी के हिस्से में चला गया—हम क्यों चिन्ता अपने सिर लें?”

भक्त की कितनी उत्कृष्ट धारणा है। हमारे यहाँ धर्म के सर्वेसर्वा कहलाने वाले—ईश्वर भक्ति में आँसू बहाने वाले, ठसी नाथ पर अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से करने वाले कम नहीं हैं। भगवान् को दीनदयाल, करुणानिधन कहकर उनकी ठपासना का दम भरने वाले हैं। किन्तु उन्हें न दीन दीखने हैं और न हृदय में दया अथवा करुणा आती है। “सिद्धार्थ भव सब जग जानी” तथा “बो मां पर्यति सर्वत्र”—का जाप श्वास प्रश्वास के साथ करने वालों के दर्शन भी ऐसे ‘पापियों’ को होना कठिन है जिनकी सेवा का संकल्प फ़ादर दामियेन ने लिया था। वहाँ तो भक्त बना जाता है सेवा करने के लिए, न कि सेवा करने का सार्वभौमिक अधिकार पाने के लिए। सम्भवतः भगवान् की यदि परीक्षा होगी तो ऐसे ही भक्तों से हो सकता है।

किन्तु फ़ादर दामियेन ईश्वर भक्त थे, सही अर्थों में धर्म के प्रतिनिधि थे। उन्हें ईश्वर के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे “इन छोटी में से छोटी के लिए भी तुम जो कुछ करोगे, वह मेरे लिये करोगे।” और वह चल पड़े मोलोकई टापू की ओर। मित्र और सुद्यों की आँखों में आँसू थे, हृदय भारी था—किन्तु आशीर्वाद से लगाव भर हुआ। युवा दामियेन सिर्फ तेतीस वर्ष की आयु में चले जा रहे थे—अपने जीवन से खेलने कोढ़ियों के संसार में? नहीं, अपनी जीवन साधना को सफल करने अपने प्रभु के उन प्यारों के पास जिनके शारीरिक तथा आध्यात्मिक दुर्भाग्य पर उनका हृदय रक्त के आँसू बहाया करता था। मन में अपूर्व उत्साह था कि उनके लिये कुछ किया जा सकेगा।

मोलोकई द्वीप। एक ओर ऊँचे पर्वत तथा दूसरी ओर अथाह समुद्र बीच में रहते हुए ८०० चलते-फिरते निर्जीव शरीर। निर्जीव ही कहा जावेगा उन्हें—जिनमें न आशा की चमक, न उत्साह की लहर। समय काटन और मृत्यु की प्रतीक्षा, वही दो कार्य उनकी दृष्टि में थे। फ़ादर दामियेन वहाँ पहुँचे १६०० मध्यम आँखें उस ओर उठीं, फिर उनमें आश्चर्य का भाव आ गया। अगस्त्यक के शरीर पर कोढ़ के चिह्न नहीं—फिर क्यों आया यहाँ?

उन्हें शब्दों से कुछ भी कहकर समझाया जाता तो उन्हें कभी भरोसा न होता कि कोई उनके हित की दृष्टि से उनके बीच पहुँचा है। किन्तु फ़ादर दामियेन ने अपने व्यवहार तथा कार्य द्वारा शीघ्र ही उनके मन में यह बात बिछ दी। उन्हें भरोसा हो गया कि आने वाला व्यक्ति सचमुच उनके जीवन में दुःख बंटाने तथा सुखों का संचार करने आया है। हर तरह से उपेक्षित उन दीन रोगियों के लिए यह विचार ही अनुपम निधि था कि उन्हें भी कोई हृदय से प्यार करने वाला है। प्यार! इससे मधुर कल्पना और क्या हो सकती है? फ़ादर के प्यार ने उन चलती-फिरती लाशों में प्राण डाल दिए। उदास चेहरे मुस्काने लगे, मन में उमंगें उठने लगीं।

फ़ादर ने उन्हें स्वयं ही प्यार नहीं किया, ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति भी करा दी। वह अपने आपको सर्वथा उपेक्षित मानते थे, ईश्वर द्वारा उपेक्षित पापी, जिनके हिस्से में केवल घातनाई तथा पीड़ाएँ ही हैं। किन्तु उन्हें बतलाया गया कि ईश्वर उन्हें भी प्यार करता है, वह भी जल-संभारण से अधिक। पित्त जो ठहरा, शरीर से रोगी बच्चों का उसे विशेष ध्यान रहना ही चाहिए और अपने को दुर्भाग्य का पिढारा समझने वाले अपने सौभाग्य पर चुप उठे। जब उनका भाई कहलाने वाला पतुष्य उन्हें इतना प्यार करता है तो वह परम कृपातु परमपिता कितना प्यार करता होगा? कोढ़ियों का मन स्वर्गीय सुख से सराबोर हो उठा। ईश्वर के सच्चे भक्त के प्रेम का चमत्कार संसार के सारे चमत्कारों से ऊपर है।

फ़ादर दामियेन की सेवावृत्ति तथा व्यवस्था बुद्धि ने कार्य करना प्रारम्भ किया। उनके दृढ़-पुष्ट शरीर की चेतना जैसे सारे द्वीपवासियों में संचारित हो उठी। स्वयं उनकी श्रमशीलता अद्वितीय थी। प्रातः से सायं तक कठोर श्रम—किसी छोटे या बड़े कार्य की भाषना से मुक्त वह करते रहते। भारी सहतीर खोना हो या नालियाँ खोदना, रोगी परिवर्तन हो या प्रार्थना-सारे कार्य एकरस होकर वह किया करते थे। उन्होंने कोढ़ियों के लिये अच्छे मकान बनाये, गिरजे बनाये, नालियाँ आदि एवं सफ़ाई की अन्य व्यवस्थाएँ कीं। स्वच्छ पानी की व्यवस्था की। अनाथ बच्चों के लिये अनाथालय एवं स्कूल की भी व्यवस्था की। मोलोकई की कावा पलट गयी।

इतना सब फ़ादर दामियेन ने निस्पृह भाव से बिना किसी लौकिक कामना के किया। उन्हें सासारिक एषणाओं की नहीं सच्ची प्रभु भक्ति की कामना थी। संसार की बड़ी से बड़ी विभूति उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनकी निर्लिप्त एवं अनासक्ति की झलक निम्न घटना से मिल सकती है—

सन् १८८१ में ‘हवाई द्वीप’ राष्ट्र की महारानी मोलोकई टापू गयीं। वहाँ फ़ादर दामियेन के कार्य से वह अत्यधिक प्रभावित हुईं। जिन मानवीय कर्तव्यों का निर्वाह राज्य न कर सका था उनकी पूर्ति फ़ादर दामियेन द्वारा होती देख उनको आन्तरिक सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनका अभिनन्दन किया तथा बहुत सम्माननीय खिताब से विभूषित किया। उसके प्रतीक रूप उन्हें सोने का मैडल भी भेजा

उक्त घटना के कुछ माह बाद फादर के एक मित्र उनसे मिलने गये। उन्होंने उनके कमरे के एक कोने में किसी डिब्बे में रखा वह मैडिल पाया। इतने बड़े सम्मान के लिये लोग न जाने क्या-क्या करते हैं— और वहाँ उसकी वह कीमत— ? मित्र ने दामियेन से पूछा तो उनका सामान्य उत्तर मिला— “भला इसका मैं करूँ भी तो क्या ?”

बारह वर्षों तक वह कोढ़ियों की सेवा तन्मय लेकर करते रहे। वह यथा-शक्ति कोढ़ियों को वह अनुभव नहीं होने देना चाहते थे कि उनमें कोई अन्तर है। अन्तर चाह भी कैसे सकते थे जब वह अपने इष्ट का दर्शन इन्हीं में किया करते थे। उनका साधनामय जीवन चलता रहा। कभी उन्हें होनोलूलू (राजधानी) जाना पड़ता था तो वहाँ शाही मेहमान के रूप में उनका स्वागत होता था। किन्तु वह नर्व बिस्तरों के स्थान पर फर्श पर अपना कमल ओढ़कर सोना पसन्द करते थे। सच्चे इन्द्रियजयी की तरह उन्होंने सांसारिक सुखों के प्रति रसानुभूति को भी जीत लिया था।

संयमशाल जीवन के बारह वर्ष बाद वह दिन भी आया जिसकी कल्पना से उनके स्नेहियों के हृदय बैठ जाते थे। उन्हें चैर पर गर्व जल के स्पर्श का अनुभव न हुआ। उन पर भी कुछ का प्रभाव हो गया था। सामान्य व्यक्ति के लिये वह भयकर दुर्भाग्य एवं कष्ट की बात थी। किन्तु फादर दामियेन किसी अन्य धातु के बने थे। वह मुस्कुरा उठे, उन्होंने अनुभव किया कि परमात्मा ने अब उनकी साधना का पारितोषिक भेज दिया है। उन्हें ‘इष्ट’ के साथ एकरूपता प्राप्ति का सुख हुआ। अपने साथियों को जैसे खुशखबरी सुनाते हुए बोले— “भाइयो, अब मैं सही अर्थों में तुम्हारा साथी बन गया। ईश्वर के प्रेम का आप जैसा ही अधिकारी हो गया।”

फादर दामियेन ने समझ लिया कि अब शरीर अधिक दिनों सेवा न कर सकेगा। अतः उन्होंने अपनी गति और भी तीव्र कर दी। अगले पाँच वर्ष उन्होंने अविरल सेवा की। उनकी भावना बधावन् थी। मोलोकॉई के लिये रवाना होते समय उनमें जो उत्साह का इसमें वृद्धि हो गई थी— कभी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने कार्य अकेले किया था किन्तु कभी अकेलापन अनुभव नहीं किया। उन्हें अपना प्रिय— अपना प्रभु सदा अपने साथ दिखता था। जीवन भर ठसी के साथ उन्होंने कार्य किया और मृत्यु रूप में भी वहीं उन्हें निकट आता दिखता था।

अन्त में १५ अप्रैल सन् १८९९ को वह देवदूत चला गया पार्थिव शरीर छोड़कर। कोढ़ियों को लगा कि वे अनाथ हो गये— किन्तु फादर दामियेन की आत्मा जैसे चेल रही थी— “उस प्रभु की छाया के नीचे कोई अनाथ नहीं है। शरीर से कोढ़ी होने के कारण अपने आपको उसकी दृष्टि में छोटा मत गिने। उसकी दृष्टि में कोढ़ी वे हैं जिनके मन में दुष्टता एवं क्रूरता के, स्वार्थ एवं ईर्ष्या के भाव हैं। शरीर तो तुम्हारा भी इसी प्रकार चूटने वाला है जैसे येरा चूट गया। ईश्वरीय दिव्य प्यार से अन्त-करण को पवित्र रखना प्रभु में तुम्हारा मूल्य असामान्य रहेगा।”

फादर दामियेन ने मानवता एवं ईश्वर भक्ति का सही रूप समझा— सही साधना की तथा संसार के लिये एक मूर्तिमान आदर्श छोड़ गये। जब तक मानवता तथा ईश्वर भक्ति के प्रति लोगों के मन में श्रेष्ठता की भावना है तब तक ऐसे मानव रत्नों के आगे सबके मस्तक झुकते रहेंगे।

लोकनिर्माण के नैष्ठिक पथिक— संत पायर

एक फ्रेम में मढ़ा हुआ एने फ्रैंक का वाक्य— “प्रकृति बदलेगी और मनुष्य पुनः अच्छा बनेगा। बुरा दिन समाप्त हो जायेगा और संसार एक बार फिर देख सकेगा— शांति व्यवस्था और सुख” आफिस की उस टीवाल पर टंगा था जहाँ पायर एक सैनिक अप्सर की हैसियत से काम करते थे।

पायर का जन्म बेल्जियम में हुआ था। रोम के होमिसियम कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे बेल्जियम में प्रोफेसर हो गये थे। इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ और वे सेना में घर्त हो गये।

हम आये दिन महापुरुषों के सूक्त, वेद-वाक्य और सुभाषित पढ़ते और सुनते रहते हैं पर हमारे जीवन में उनकी प्रेरणाएँ और प्रभाव कहाँ उतर पाते हैं ? जबकि पायर को इन शब्दों ने ही सोचने के लिये एक नई दिशा और जीवन का कार्यक्षेत्र चुनने की नई सूझ दे दी।

वे इन वाक्यों पर विचार करने लगे— क्या सधमुच युग बदल सकता है ? युद्ध और आतंक की वर्तमान विभीषिकाएँ, मनुष्य का मनुष्य के प्रति द्वेष, दुर्भाव, स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के कष्ट-कलह भी, क्या कभी शान्ति, सदाचार, व्यवस्था और सुख में बदल सकते हैं ? क्या कोई ऐसी सत्ता है जो स्वयं यह कर दे ? उन्होंने इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखे तो उन्हें एक ही बात सूझ पड़ी— जिस तरह अपनी घूल, पाप और व्यक्तिगत दोषों के कारण मनुष्य पतित होता है और कालचक्र को कलंकित करता है उसी प्रकार यदि संसार के सब आदमी अच्छे बन जायें तो युग स्वर्गीय परिस्थितियों में क्यों नहीं बदल सकता ? बदला है पर उसके लिये अनेक संत और समाज सुधारकों ने लोकमंगल के लिये त्याग और संघर्ष किये हैं तब वह परिस्थितियाँ बन पाई हैं अपने आप युग क्या एक दिन की परिचर्चा तक नहीं बदल सकती ?

फिर करे कौन ? इस प्रश्न का सबसे अच्छा उत्तर यही था— “हमारे पास जो भी शक्ति और योग्यता है उसे इस प्रयोजन में जुटाने के लिए हमें तो लग पड़ना ही चाहिये शेष की बात शेष जाने” — यह विचार आते ही भरी आजीविका को छोकर बारकर, बड़े सम्मान को हाथ छोड़कर पायर फादरी हो गये और सामाजिक जीवन को अच्छा व सुव्यवस्थित बनाने के कार्य में जुट गये।

बीमारों की सेवा, जहाँ स्कूल न थे वहाँ स्कूलों की स्थापना और रूस से आये हुए शरणार्थियों की सेवा में उन्होंने अपना तन-मन धन सब कुछ जुटा दिया। शरणार्थियों की समस्या उन दिनों बेल्जियम

३ २४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

पर भार थे। १,५०,००० तो केवल बूढ़े, बीमार व बच्चे थे। २०,००० टो की के मरीज, ३५,००० बच्चे और ९,५७,००० वृद्ध। उनके निवास, औषधि तथा शिक्षण के लिये दिन-रात काम करके उन्होंने यह दिखा दिया कि असहायों की सेवा और दलितों के उत्थान कार्य से बढ़कर पुण्य नहीं। इससे मनुष्य को सच्ची शान्ति मिलती है।

पायर पादरी धं पर उनमें धार्मिक—असहिष्णुता का किंचित मात्र भाव न था। वे मानवता के सेवक और सन्त थे। जिस कार्यलय में बैठकर वे काम करते थे उसकी चार दीवारों में एक में (१) महात्मा गांधी, (२) अल्बर्ट आइन्सटर, (३) फ्रावड जाक नैन्सेन और (४) जर्मनी के एने फ्रैंक के चित्र टँगे थे और उनसे सत्साग्रह, समर्प, समभाव और प्राणिप्राय के प्रति प्रेम की प्रेरणा ग्रहण करते थे। एक दिन वह था जब उन्हें अपने लक्ष्य का चुनाव करना पड़ा था तब उन्होंने यह अनुभव किया था कि कोई मूल्यांकन करे या न कर सहीद, सुधारक और सन्त से बड़ा सम्मान कुछ नहीं है और जब वे उस पर निष्ठापूर्वक चल पड़े तो उनका विश्वास सत्य में बदलत दिखाई दिया।

पायर कमरे में बैठे थे। टेलीफोन की घण्टी बजी। चौगा उठकर कान में लगाया—उधर से किसी ने बधाई भेजी थी—“आपको यह जानकर हर्ष होगा कि आपको इस वर्ष का शान्ति के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है।”

किन्तु पायर को इससे कोई ऐसी प्रसन्नता न थी कि उछलते फिरते। कर्तव्य-निष्ठ के लिए तो कर्तव्य ही सुख है। मान-अपमान यश-अपयश की उसे क्या चिन्ता। अपनी सम्पत्ति वे पहले ही जनता जनार्दन की सेवा में सौंप चुके थे। नोबेल पुरस्कार में प्राप्त धनराशि उन्होंने शरणार्थियों के हित के लिये दान कर दी।

फीजी द्वीपवासियों के सच्चे बन्धु— पादरी बर्टन

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जब भारत में अंग्रेजों का एकसूत्र राज्य था तो शासक जाति इस देश का दोहन कर अधिक से अधिक लाभ उठाने की किसी भी सम्भावना से नहीं चूकती थी। अंग्रेजों का शासन और भी कई देशों में था—द्वीपों और महाद्वीपों में। उनमें कई ऐसे देश भी थे जहाँ प्रचुर प्राकृतिक संपदा थी और उस संपदा का प्राप्त करने के लिए आवश्यक था, मानवीय श्रम। यह मानवीय श्रम ही दुःख था जो अंग्रेज अपने अधीन देशों के निवासियों को उन स्थानों पर रौंते-कापड़े के मूल्य पर श्रम करने के लिए ले जाते थे। किसमें संशय था जो इतने रस्त मूल्य पर अपने परिवार से हजारों मील दूर जाकर इन्कार करना तो दूर रहा उस स्थिति में अपनी कठिनाइयाँ कि कह सकें।

इस तरह हजारों की संख्या में भारतीय मजदूरों को जबरन घसीट कर उन देशों में ले जाया गया जहाँ अंग्रेजों ने उसकी आवश्यकता अनुभव की। ऐसा ही एक देश है—फीजी, जहाँ हजारों मजदूर ले जाये गये और उनसे १२ से १५ घण्ट तक काम लिया जाता। वहाँ

उन्हें किन-किन यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ता था इसका विवरण कई लेखकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने किया है, निस्संदेह ही उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था वह किसी भी स्तर से मानवीय नहीं था और उन पर किये जाने वाले अत्याचारों, उन पर ढाये जाने वाले अन्याय को कई बुद्धिजीवियों ने अमानवीय और अनुचित ठहराया किन्तु ऐसे ज्ञानिकारी व्यक्ति बहुत थोड़े ही हुए हैं जिन्होंने इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई हो। ऐसे ही तथे हुए, मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए कटिबद्ध व्यक्ति थे—पादरी जे. डब्ल्यू. बर्टन। उन्होंने कई ऐसी घटनाओं और स्थितियों से साक्षात् किया था जिसे देखकर उनके आत्म चीत्सर उठते थे।

एक बार की घटना है। बर्टन साहब खेलों में घूम रहे थे। खेल की मेड़ पर उन्होंने नवजान एक शिशु देखा जो भूख से तड़प रहा था और रुक रुक कर रो उठता था बर्टन उस शिशु के पास गये और उसे प्यार से सहलाने लगे। उस बच्चे के पास ही कुछ और बच्चे भी लेटे हुए थे किन्तु वे उस शिशु से बड़े थे। उसे देखकर तो यही लगता था कि उसे इस धरती पर आये एक सप्ताह से अधिक समय नहीं हुआ। सोचने लगे थे कि कितना अभाग्य है यह बच्चा, जिसे अपने जन्म के बाद, इतनी आयु देखने पर ही भूख और व्याकुलता व्याप गयी है।

जब वे उसे सहल रहे थे, उसे चुप कराने की कोशिश कर रहे थे तो एक स्त्री दौड़ी आई और उसने चट से उठाकर उस बच्चे को अपनी छाती से लगा लिया। उसकी आँखों से सन्देह के साथ-साथ याचना का भाव भी था। संदेह तो इसलिए कि बर्टन भी गैरे आदमी थे और इन गोरों के व्यवहार का उसे बहुत ही कटु अनुभव था ये लोग किस प्रकार जानवरों का सा व्यवहार इन कुलियों-मजदूरों से करते थे और याचना इसलिए कि काम छोड़कर बच्चे को समालाने के लिए आने पर कहीं गौरे मालिक उसे दण्ड न देने लगे। बर्टन ने दृष्ट कि “बच्चा कितने दिन का है? तो उस स्त्री का सन्देह कुछ कम हुआ कि साहब नगरवा नहीं है।” उसने कहा—“अभी चार दिन का ही है।”

बर्टन ने पूछा—“तो अभी इतनी जल्दी खेल पर आने की क्या जरूरत थी।”

बर्टन नये-नये थे, इसलिए उन्हें मालूम नहीं था कि अपने सवातीस अंग्रेजों में इन काले जानवरों के लिए आराम का स्वास्थ्य की क्या जरूरत है। यह प्रश्न सुनकर स्त्री को भी आश्चर्य हुआ और वह कुछ नहीं बोल सकी। बर्टन साहब ने फिर कहा—“अभी तो चार दिन हो चुके हैं प्रसव को। इस बीच तुम्हारी हालत भी ऐसी नहीं हो सकती कि तुम खेल में काम कर सको। बच्चे को हवा लग जायगी प्रसव के बाद इतनी जल्दी ही मेहनत में लग जाने पर तुम बीमार भी हो सकती हो। अभी तुम्हें आराम करना चाहिए था, अपनी सेहत ठीक बननी चाहिए थी।”

अपनी ओर से तो बर्टन उस स्त्री को समझा रहे थे और वह स्त्री चुपचाप सुने जा रही थी। साथ ही उसकी आँखों में विवशता के आँसू

भी नैरने लगे थे, पीड़ा के पाव चेहरे पर उतरने लगे थे। प्रतीत होता था कि बर्टन से सहानुभूति फकर वह खी भी फूट-फूट कर रोने लगी थी। किन्तु बर्टन की कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था।

इतने में ही एक गोर साहब ऊपर आया और उस खी को झटने लगा— 'पिल्ले से लाड़ लड़ा रही है। चल भाग और काम कर अपना।' देखते रह गये बर्टन और वह खी अपने बच्चे को चुपचाप लिटाकर खेत में चली गयी। बच्चा फिर रोने लगा किन्तु उस माँ ने पीछे मुड़कर भी न देखा।

अब बर्टन की समझ में आया कि वह खी चार दिन का बच्चा लेकर हो खेत पर काम करने के लिए क्यों आ गयी थी। इस तरह की कई और स्थितियाँ थीं जिनका संश्लेष बर्टन साहब ने अपनी पत्नी के साथ-साथ किया था। किन्तु वे केवल देखकर ही चुप न रहे गये बरन् उन्होंने अपने समान ही कुछ और सहृदय व्यक्तियों को लेकर एक आन्दोलन थलाया जिसके परिणामस्वरूप प्लाण्टर न केवल प्रसूता स्त्रियों को छुट्टी देने लगे बरन् उनके लिए टाई का प्रबन्ध करने को भी राजी हो गये। इससे पूर्व मजदूर स्त्रियाँ अपने बच्चों को खेत की घेड़ पर टाट बिछाकर लिटा देती थीं और काम में लग जाती थीं। बर्टन दम्पति द्वारा धस्तिये गये आन्दोलन के परिणामस्वरूप उन बच्चों की देखभाल एक टाई करने लगी।

फीजी में कुली मजदूरों की स्थिति सुधारना बर्टन साहब का काम नहीं था। वे तो मुख्यतः फिलिपिनों तथा भारतीयों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए आये थे। किन्तु वहाँ आकर जब उन्होंने मजदूरों की कष्टपूर्ण स्थिति देखी तो उस स्थिति को उनका हृदय सह नहीं सका और वे मुख्यतः उनकी स्थिति सुधारने के लिए ही प्रयत्नशील रहने लगे। उन्होंने मजदूरों की समस्याओं, उनके कष्टों को निकट से देखा और वहाँ के प्रभुत्व सम्पन्न लोगों को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। वह वर्ग जिम्मेदार था भी, क्योंकि वही लोग उन कुलियों को फीजी लाये थे और उनकी व्यवस्था, मजदूरी का भुगतान, उनकी के द्वारा होता था। बर्टन साहब ने पहले तो इस वर्ग को हृदय परिवर्तन कराकर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। किन्तु इन प्रयत्नों का जब कोई परिणाम होता नहीं दिखाई दिया तो उन्होंने विश्व के प्रबुद्ध व्यक्तियों तक इनकी जानकारी पहुँच कर जनमत को प्रभावित करने का निश्चय किया। ताकि जनमत का दबाव वहाँ के गौरे स्वामियों पर पड़े और मजदूरों की स्थिति में सुधार हो सके।

इसके लिए मजदूरों की स्थिति का चित्रण उन्होंने अपने कई लेखों और पुस्तकों में किया। ज्यों-ज्यों वे कुली-मजदूरों की समस्याओं का निकट से अध्ययन करते जाते थे त्यों-त्यों इस निष्कर्ष पर पहुँचते गये कि समूची कुली प्रजा ही जड़मूल से नष्ट कर देनी चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक 'फीजी ऑफ टुडे' में लिखा था— "कुली प्रजा बड़ी निष्पुरुषपूर्ण है और उसकी अच्छी से अच्छी देखभाल भी उसकी निर्दयता और अन्याय को दूर नहीं कर सकती। पूँजी लगाकर व्यवसाय करने के लिए मजदूर रखने की वह पद्धति गले ही अवश्य है

पर वह सम्पूर्ण प्रजा घट, अपकृष्ट और मनुष्यत्व को नष्ट करने वाली है। कुली लोगों के लिए तो वह बुरी है ही अंग्रेजों के लिए भी यह अच्छी नहीं है।"

बर्टन साहब आये तो ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किन्तु वे लग गये विवश मानवों के कष्टों का निवारण करने में। उनके यह प्रयास गोरों की सहनशीला से बाहर थे। वे अपने स्वार्थ पर आघात क्यों सहन करते। 'फीजी ऑफ टुडे'— पुस्तक जब प्रकाशित हुई प्रबुद्ध व्यक्ति इस प्रश्न को नष्ट करने के लिए भाग उठते दिखाई दिये प्रबुद्ध जनमत को अपने विरुद्ध जाते देख गोरों ने बर्टन की प्रवृत्तियों पर अक्रुश लगाने का विचार किया और उसके लिए एक आन्दोलन ही चला दिया। फीजी सरकार ने बर्टन के खिलाफ एक विरोधी पत्र लिखकर मैजिस्ट्रेट पिशन के अधिकारियों को भी धेजा पर मिशनर कर्तों ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया और उत्तर में लिख दिया कि— "बर्टन साहब के विचारों के लिए हम जिम्मेदार नहीं हैं।"

उस समय हैनरी वे फीजी के गवर्नर थे। उन्होंने बर्टन साहब के खिलाफ एक मुसिप भी चला दी और जगह-जगह उनके व्यक्तित्व पर आक्रमण होने लगे। हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता कि गवर्नर एकदम लापरवाह, दुर्गमही और अविश्वसनीय आलोचक है। किन्तु बर्टन ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। जब कभी कोई उनसे इस बारे में पूछता तो वे यही कहते— "मैंने ईमानदारी के साथ जो कुछ सोचा तथा देखा है उस ही ईमानदारी के साथ व्यक्त करने का प्रयास किया है।"

फटरी बर्टन साहब का जन्म सन् १८२५ ई. में चार्कशावर के सेज नदी नामक स्थान पर हुआ था। बचपन से ही वे अपने माता-पिता के साथ कई स्थानों पर भ्रमण करने गये और २२ वर्ष की आयु में मिशनरी बन गये। मिशनरी बनकर धर्म प्रचार करते समय उनका दृष्टिकोण ईसाई मन्त्रबलधियों की संख्या बढ़ाना मात्र नहीं होता था, बल्कि वे मनुष्य में सोये हुए मानव को जगाने के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते। इसके साथ ही वे दुःखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा के लिए भी इर पड़ी प्रस्तुत रहते। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के साथ-साथ वे सेवा-सन्धन द्वारा महात्मा ईसा के आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए भी प्रस्तुत रहते।

सन् १९०३ में जब वे फीजी आ गये तो सेवा धर्म, पीड़ा और कष्ट का निवारण ही उनका मिशन बन गया। उनकी पत्नी भी उनके समान ही सहृदय और सेवाभावी थी। पण्डित तोलाराम ने उनके सम्बन्ध में लिखा है "एक बार फटरी बर्टन साहब और उनकी धर्मपत्नी मुझे साथ लेकर मजदूरों की हालत देखने के लिए एक कोठी में गये उस कोठी की प्रवर्ती भारतीय बहिनें गन्ने के खेत में काम कर रही थीं। उनके वस्त्र बहुत फटे हुये तार-तार हो रहे थे, काया दुर्बल थी और चेहरे से लगता था कि उन्हें ख़ुद ही कभी भरपेट खाना मिलता हो। बर्टन साहब ने उनसे उनकी स्थिति के बारे में कई प्रश्न किये बहुत-सी बातें सुन कर तो बर्टन साहब तथा उनकी धर्म-पत्नी हिलकी काँधकर रोने लगे और बोले— हमारा यदि कोई बरु होता तो इस रूतबन्दी गुलागी को जड़मूल से नष्ट कर देते।

बर्टन साहब के साथ, उनकी धर्मपत्नी भी उनकी सेवाप्रवृत्तियों में योगदान देती। उन्होंने फीजी में रहकर कुली प्रथा, शर्तबन्दी की प्रथा को नष्ट करने के लिए ही अपना सारा जीवन लगा दिया। स्थानीय कार्यक्रमों का संचालन और आन्दोलन चलाने के साथ ही उन्होंने संसार को कुलियों की दुर्दशा से अवगत कराने के लिए कई पुस्तकें भी लिखीं और विचारशील व्यक्तियों को आह्वान किया कि वे इस प्रथा को सगूल नष्ट करने के लिए प्रबल प्रयत्न करें। उनका अपेक्षित परिणाम प्रभावी भी रहा। अपने सेवा प्रयासों के साथ विश्व जनता के कर्णों पर भी पूरा-पूरा ध्यान रखते वे और १६ वर्ष की आयु तक अपने हाथ से सयूची मानवता की सेवा करने रहे। सन् १९२१ में उनका देहान्त हुआ। फीजीवासियों उन्हें अपने पिता की तरह सम्मान देने से क्योंकि वे जानते थे एक जन्म पितृ ने दिया है और मानवों द्वारा ही बाँचे गयी शर्तबन्दी, कुली प्रथा की बेड़ियों को काट कर उन्हें दूसरा जन्म पादरी बर्टन साहब ने दिया है।”

सच्चा धर्मनिष्ठ जुलाहे का बेटा पोप-पायस

उन्नीसवीं शताब्दी में रोम पर ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप का शासन था। जनता भी उनके इशारों पर नचती थी स्वेच्छया भी और विवश होकर भी। अनुशासन की दृष्टि से योग्य प्रशासनिक नियमों का अनुगामी होना बहुत अच्छी बात है। बिना कारण सत्ता के खिलाफ कभी विद्रोह नहीं होता। भले ही वे कारण कृत्रिम हों परन्तु षडयन्त्रकारियों द्वारा उन कारणों तथा दोषों को प्रचारित करना ही पड़ता है। फिर पोप का शासन तो उस समय एकदम स्वेच्छाचारी था। लोग सभी प्रकार से तंग आ गये थे।

धर्म के क्षेत्र में पाखण्ड का बोलबाला था। स्वर्ग के सर्टिफिकेट और धनपतियों को अपना भक्तव्य पूरा करने की खुली छूट, जनता का निरीह शोषण इस दुग में धर्मसम्मत ही बन गया था। राजनीति में भी नित नये कुचक्र चलते। अवसरवादिता, भाई-भतीजावाद और चापलूसी का पूरा साम्राज्य था। पाप का धड़ा भर आने पर फूटता ही है। अनाचारी आरम्भ में तो बहुत ऊँचाई पर चढ़ता है और बाद में इतनी बोधवत् स्थिति से गिरता है कि चकनाचूर हो जाता है। वही हालत तत्कालीन सत्ताधियों की हुई। जनता परेशान हो गयी और तभी इटली की सेना ने रोम पर हमला कर दिया।

शासन तन्त्र हलके से झटके में ही लड़खड़ा गया। दम्भ और अहंकार के कारण तत्कालीन शासक पूरी सुरक्षात्मक व्यवस्था थी नहीं कर पाये थे। वे तो समझते थे कि दुनिया के तमाम ईसाई उनकी इच्छाओं के दास हैं, कठपुतली मात्र है उन्हें चाहे जिस समय मनचाही दिशा में मोड़ दिया जायेगा। परन्तु यह विचार, विचार मात्र ही सिद्ध हुआ पोप ने अपने अनुयायियों को धर्म और ईश्वर का भव दिखाया परन्तु किसी ने भी एक न सुनी। उनकी संपन्न में धर्म का वचार्थ स्वरूप तो अब आया था कि अनीति का विरोध किया ही जाना चाहिए भले

हैं कितने ही आराध्य और वन्दनीय व्यक्ति द्वारा क्यों न चलाई जा रही हो। अन्तिम सत्ता पोप के हाथों से छीन ली गयी। उसके शासन तन्त्र के अग पादरी लोग जान बचाकर भागने लगे। कितने ही पादरियों ने तो सरकार से श्रवण कर जेल में पहुँचे।

यह स्थिति देखकर इटली के एक छोटे-से गाँव में जन्मा जुलाहे का बेटा ऐंचिले बड़ा दुःखी हुआ। पादरियों के प्रति उसके मन में बड़ी प्रेम्हा थी। उनकी बाहरी कस्तेवर और कृत्रिम पावन जीवन से प्रभावित होकर वह स्वयं भी पादरी बनने का स्वप्न सजोये हुआ था। परन्तु उस समय पादरियों की वह दुर्गति देखकर वह बड़ा दुःखी हुआ। उसे लगा कि येरा लक्ष्य दृष्ट है। येरी भी यही दुर्दशा होगी अपमान और शोष मिलेगा। मेरे अन्दर भी वे सभी बुराईयाँ होंगी जो इन पादरियों में हैं। उस समय जो पादरी पकड़े गये थे, सार्वजनिक रूप से उनके कुकर्मों का घण्टा-फोड़ किया जाता और उन्हें दण्ड दिया जाता। ऐंचिले के मन में बैठी अमर्त्य की मूर्ति टूटने-सी लगी। पवित्र धर्मात्मा और ईश्वर भक्त टोखने वाले लोग भी शेर की छाल में गीदड़ हैं यह जानकर उसका हृदय टूट गया और वह उदास रहने लगा।

पहले ऐंचिले कई बार अपनी माँ से कह चुका था कि मैं भी पादरी बनकर प्रभु की सेवा करूँगा। इटली और रोम में जो कुछ चल रहा था उसे तथा अपने पुत्र की मनोदशा ताड़कर माता सारी बात समझ गयी और बोली— बेटा निराश होने की जरूरत नहीं है। सच्चे धर्म प्रचारकों की सदैव आवश्यकता रही है और रहेगी। इस समय जिन साधुओं की दुर्दशा देखकर तुम खिन्न हो वे सच्चे साधु नहीं थे बल्कि साधु का वेष धारण किये विलासी और नरपशु थे। वास्तव में यदि कोई सच्चा साधु बने तो उसमें उसका भी कल्याण है और जनता का भी।

ऐंचिले ने पूछा— ‘तो सच्चा धर्म प्रचारक बनने के लिए क्या करना पड़ेगा।’

माता ने बताया कि— ‘धर्म प्रचारक बनने के लिए ज्ञान और चरित्र की आवश्यकता होती है। ज्ञानार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करो और स्वयं के सद्गुणों का विकास करो।’

उत्साही ऐंचिले तुरन्त अपने पिता के पास पहुँचा और शिक्षा का प्रबन्ध करने का आग्रह करने लगा। उसके पिता दस-बारह घण्टे प्रतिदिन कठोर परिश्रम कर अपने परिवार के भुजूर-बसिर जितना कमाते थे। बेटे की शिक्षा के लिए अलग से व्यवस्था कैसे हो यह वह सोचने लगे। पति-पत्नी दोनों ने विचार-विमर्श किया और मार्ग भी दिखाई पड़ा।

ऐंचिले के चाचा पास के ही एक गाँव में पादरी थे। ग्रामवासियों को उनके चरित्र में कहीं भी कोई बुराई नहीं दिखाई दी। इस कारण उन पर कोई आँच नहीं आई। कुछ समय बाद ऐंचिले को उनके पास पढ़ने के लिए भेज दिया गया। अस्सी— जहाँ पर उसके चाचा पादरी थे, पर्वतों की घाटियों में बसा एक सुन्दर गाँव था। प्राकृतिक सुषमा भरे इस उपवन से गाँव में ऐंचिले की प्रारम्भिक शिक्षा पूरी हुई और चाचा ने अग्रे के अध्ययन हेतु शहर के स्कूल में भर्ती करवाया।

व कई पाठशालाओं में पढ़े। लगन और निष्ठा के बल पर उन्होंने तीन विषयों में डाक्टरेट किया। शिक्षा पूरी कर लेने के बाद वे जर्मनी के हज़र में उतरे। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने नौकरी कर ली। आरम्भ में वे इटली ही एक कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए और आगे चलकर अज़ोशियन लाइब्रेरी के प्रधान संचालक नियुक्त हुए इसे उन्होंने अपना बहुत सौभाग्य माना। देश-विदेश के ज्ञान विज्ञान के सम्पर्क में आने का यह अलभ्य अवसर था जिसका लाभ उठाने से वे नहीं चूके, अज़ोशियन लाइब्रेरी उस समय दुनिया का सबसे बड़ा पुस्तकालय था।

ज्ञान जो सच्चे धर्म प्रचारक की सर्वोपरि अनिवार्य आवश्यकता है अर्जित करने के साथ-साथ ऐचिले ने व्यक्तिगत जीवन में चरित्र और सामाजिक जीवन में सेवा पर भी बराबर ध्यान दिया। ज्ञान-चरित्र और सेवा ही किसी मनुष्य को महापुरुष के पद पर बिठाने में सक्षम होती है। ऐचिले ने नर से नारायण की साधना में इन तीनों गुणों का समावेश किया।

उसका चरित्र तो सामाजिक था ही। जन-सेवा के क्षेत्र में उनका कृतित्व भी उल्लेखनीय रहा। कई शिक्षा संस्थाओं को उन्होंने सहयोग दिया। बचपन में माँ से मिला हुआ यह उपदेश कि जीवन तपस्य प्राप्त करने के लिए शिक्षा या ज्ञान की सम्पदा जरूरी है। धर्म प्रचारक एक प्रकार का युग निर्माता होता है। सच्चे मनुष्यों, आस्तिकजनों और अध्यात्मवादियों का निर्माण धर्म प्रचारक का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य बोध से समाज निर्माण की पहली शर्त पूरी करने के लिए ऐचिले ने शिक्षा प्रसार में सहयोग दिया।

बाइबिल में पढ़ा था— वे धन्य हैं जो दया करते हैं और पीड़ितों और दुःखियों की सेवा में लगे रहते हैं। स्वर्ग का राज्य उनका है। इस शिक्षा को उन्होंने आत्मसात किया और मजदूरों, दुःखियों के सुधार के हेतु कई महत्वपूर्ण कार्य किये। बीमार तथा दुःखियों की सेवा सुबूषा से लेकर बेरोजगार व्यक्तियों के लिये काम की व्यवस्था के अनेकों उदाहरण उनके दैनन्दिन जीवन में दिखाई दिये।

उनकी इसी सेवा निष्ठता ने उन्हें जन-जन का प्रिय पात्र बना दिया। १८७० में पादरियों के अन्दरूनी कुत्सित जीवन को देखकर लोगों का यह विश्वास उठ चला था कि इस धरती पर कोई सच्चा धर्म प्रचारक है। परन्तु ऐचिले को उन्होंने जब इस तरह से ठेक-काज का देखा तो लोकमेवी की कसौटी पर उन्हें सही ठान्य सरा पाया।

ऐसे आदर्श महापुरुष की हर क्षेत्र में आवश्यकता होती है। तत्कालीन सरकार ने उन्हें राजनीति में भाग लेने तथा प्रशासनिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करने का आग्रह किया। उन्होंने तो हर क्षेत्र में 'सुधार' और 'सृजन' को ही अपना लक्ष्य चुना था। राजनीति का क्षेत्र कितना ही गन्द्य क्यों न माना जाता हो। पावन चरित्र के लोगों की मान्यता अलग ही होती है। उनकी दृष्टि में मलीनता बाहर नहीं अन्तर में रहती है। उन्होंने सरकार का आग्रह स्वीकार कर लिया। पोलैण्ड में उन्हें अपोस्टालिक विजिटोर बनाकर भेजा गया। तीन साल तक उन्होंने इस पद पर कुशलतापूर्वक कार्य किया और फिर अपने देश लौट आये।

स्वदेश लौटन पर वे अर्क विशप बनाये गये। पहले ही कहा जा चुका है १८७० की राजनैतिक और धार्मिक क्रान्ति ने जनता के ब्रह्म पात्रों और धर्म गुरुओं के सम्बन्ध में उनके विश्वासों को तोड़ दिया था। देश में पादरियों का कोई सम्मान नहीं था परन्तु ऐचिले अपनी योग्यता और सेवा भावना के बल पर लोगों का प्यार जीतने में सफल हो गये। ज्ञान, चरित्र और सेवा से सम्पन्न उनका व्यक्तित्व एक चुम्बक बन गया था। जिसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनका ही होकर रह जाता था। इसी कारण जनता की ब्रह्म बदल गयी।

पोप का शासन सम्पन्न होने के बाद कोई योग्य और अनुभवी व्यक्ति का चुनाव किया जाना था। सभी लोगों की राय ऐचिले के पक्ष में गयी और वे अर्क विशप ऐचिले से ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप पायस बन गये। सरकार ने उन्हें 'नइट ऑफ ब्रस' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समय लोक-सेवी प्रतिभाओं का यह सर्वोच्च सम्मान था।

ऐचिले को जब पोप पायस चुना गया। उस पद का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के बाद वे बाहर विशाल धन्य पर आये। हजारों लोगों का समूह उस समय वहाँ उपस्थित था। पोप पायस के धन्य पर आते ही सबने घुटने टेक कर नये पोप का सम्मान किया। शासकीय सेना ने उनके अभिवादन स्वरूप अपने शस्त्रास्त्र भेंट किये। तत्कालीन प्रत्यक्षदर्शियों ने लिखा है कि ऐसा सम्मान पिछले पचास वर्षों से उनके अपने जीवन-काल में कभी नहीं देखा गया।

पोप पायस भारतीय संस्कृति की उस व्यवस्था के प्रतीक थे जिसके अनुसार राजनैतिक पर धर्म तन्त्र का नियन्त्रण रहना चाहिए। सरकार ने अनेक अवसरों पर आपसी और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर उनकी सहमति और निर्देशन में कई सफलताएँ प्राप्त कीं। उन्होंने समर भर में सदभावनाओं का विकास करने और विश्व शान्ति के लिए कई प्रयास किये। इटली और रोम के परस्पर विवाद से फ्रांस को त्रिभुज व्यवस्था तक को सुलझाने में अपूर्व सहयोग दिया। फ्रांस में कपड़ के मिल-मालिकों और श्रमिकों में मतभेद हो जाने के कारण एक बार सभी कारखाने बन्द हो गये। पोप पायस ने श्रमिकों की न्यायिक माँग का पूर्ण समर्थन किया।

साम्यवादी अस्तित्व की निन्दा करते हुए पूँजीवादी शोषण को भी उन्होंने नहीं बख्शा। उस समय ईसाई मतानुवादी यहूदियों के प्रति पृथक् का प्रचार कर रहे थे, पोप पायस ने इसे अधार्मिक और भ्रष्टाचारपूर्ण कहा। इतना सब कुछ होने हुए भी वे अतिविनम्र बने रहे। उन्होंने अपना सात जीवन विश्व शान्ति और मानव मात्र की सुख अभिवृद्धि के लिए समर्पित कर दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे कुछ दिनों तक बीमार रहे। इस लोक से परलोक में प्रयाण करते समय मानव मात्र के लिए उनका अन्तिम संदेश था— "विश्वशान्ति के लिए मानव मात्र को प्रयत्न करना चाहिए और स्वयं के लिए तो केवल सच्चा मानव बनना ही पर्याप्त है। ऐचिले पोप पायस का स्थूल शरीर ससार में नहीं है। परन्तु उनके प्रतिष्ठित आदर्श और जीवन मूल्य धर्म गुरुओं का ही नहीं मानव मात्र का मार्गदर्शन करते हैं।"

नोवास्कोटिया के पसीह— फादर जेम्स थापकिन्स

सन् १९२३ की एक उज्ज्वल सन्धा में एक ईसाई धर्म प्रचारक ने कान्तो के नगरम सागर तट के नैऋतिक सौन्दर्य को अपनी आँखों में भर लेना चाहा। वह आज सबसे ही यहाँ आया था। छोड़ा धूमने के लिए सागर तट तक चला आया था। किन्तु वह क्या? इस उज्ज्वल सन्धा व नीली लहरों की ध्वनि जलगर्ज से उपटकर उसकी दृष्टि अन्धकार ही जा उठती। भूख से जर्जर आत्म पर धुँई नज़रों और सिकिया पहलवान से ठनक बच्चों को देख उसे विस्मय हुआ। डेर से मछुओं में एक भी उसे हट-पुट दिखाई नहीं दिया।

अभावों ने जीवन पर दृढ़ावस्था को अक्षय छाया डाल दी थी। केशोर्य और अधेड़ के बीच की कड़ी—जीवन का स्वर्ण काल इस दैत्य ने लील ही लिया था। पराजय के स्मृति चिह्न प्रत्येक पर अपने रेखाएँ छोड़ गये थे। इस लहराते सागर के तट पर उभरे एक और सागर फुफकारता देखा—गरीबी, अज्ञान और अस्वस्थता का सागर। ये वही मत्स्य व्यवसायी थे जो प्रतिदिन शतश्रृंखल मनुष्यों के लिए भोजन समझी जुटाते हुए भी स्वयं भूखे थे। उनके परिवार पूछे थे।

वह इन्हीं लोगों को उपदेश देने—धर्म मार्ग बताने आया था। किन्तु जिनके पेट में भी पौष्ट नहीं वे किस बल पर आदर्शों के—धर्म के कठिन मार्ग पर चल पायेंगे। इन्हें चाहिये रोटी और उसके पास थे उपदेश। वह जानता था कि उपदेशों से पेट नहीं भरा जा सकता। अतः उसने पहले उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने की योजना बनाना आरम्भ किया।

अब वह धर्मोपदेशों की बातें नहीं करता बरन् सहकारी संस्थान खोलने, सहकारी ऋणदात्री समितियों गठित करने की बातें करता। पाप और पुण्य के भेद-विभेदों की व्याख्या करने के स्थान पर वह मत्स्य सापदा का मूल्य बढ़ाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करता। उसके साथी उपदेशक उसके इन क्रिया-कलापों को देखकर कन्धे उधकाते—एक दूसरे से फुसफुसाकर कहते “यह अध्यात्मवादी कहाँ भौतिक माया-जाल में फँसा जा रहा है।” कोई तो उसके सामने ही आलोचना—सर्गों का परायण करने लगता तो वह खीझ कर कह उठता—“यदि मेरे स्थान पर स्वयं महात्मा यशु भी होते तो भी वे इन लोगों को कदापि धर्मोपदेश नहीं देते। वे वही करते जो मैं कर रहा हूँ।”

यह विवेकी तथा दृढ़ निश्चयी धर्मोपदेशक थे डा. जेम्स थापकिन्स। वे अपने इस “एन्टीगोनिश” आन्दोलन के कारण विश्व-विख्यात हुए। उन्होंने कनडा के नोवास्कोटिया प्रदेश के मछुओं, कोयला खान-श्रमिकों तथा कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अथक श्रम किया और अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त की। अपनी सहायता आप करने की यह हिम्मत इन शोषित, पीड़ित, निर्धन वर्गों में जगाने का प्रेरण उन्हें को जाता है। इनके इसी आन्दोलन का परिणाम

था कि विश्वव्यापी गन्दी की लहर नोवास्कोटिया तक पहुँच गई। पानी पीया। सर्वत्र मूल्य गिरे थे, बेकारी बढ़ी थी। इसके विपरीत उस क्षेत्र में मूल्य बढ़े थे, बेकारी मिटी थी।

डा. थापकिन्स का जन्म १८७१ में कैपा ब्रिचन ग्राम के एक कृषक परिवार में हुआ था। वह पुत्र से भी अधिक ऊँचे ई के गो. के परिवार में वे ही सबसे कम ऊँचे सदस्य थे। किन्तु व्यक्तिगत एवं कृतित्व के गज से नपने पर वे सबसे लम्बे उठते हैं। बचपन में अपने गाँव के एक कपड़े वाले स्कूल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर वे पढ़ते बनने के उद्देश्य में रोग प्रहृत। इकतीस वर्ष की आयु में उन्होंने नोवास्कोटिया के एन्टीगोनिश नगर स्थित एक छोटे-से कॉलेज में प्राध्यापक के स्थान पर नियुक्ति पाकर पठ भार सम्भाला। यह कॉलेज सेंट फ्रांसिस जेवियर विश्वविद्यालय से २ फ्रांसिस जेवियर के अन्तर्गत चल्ता था। वहाँ शीघ्र ही अध्यापन कार्य करने के बाद उन्हें मिशन का उपध्यक्ष बना दिया। उन्होंने इस परमार्थ परवर्ण कार्य को अपनी पूरी सावधानी से किया। नये-नये स्कूल कांतेज खोलने, धर्म गृहों की स्थापना करने के लिए वे पूरे क्षेत्र में घूम-घूम कर धन संग्रह करते थे। इस भ्रमण के दौरान उन्हें लोगों की वास्तविक स्थिति जानने का पूरा-पूरा अवसर मिला।

नोवास्कोटिया प्रदेश के नागरिकों की आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। किसानों को कृषि कार्य करने का कोई लाभ नहीं मिलने से वे लोग खेती की ओर से मुँह गोड़ते जा रहे थे। मछुओं तथा खान श्रमिकों के साथ शोषण का ऐसा भक्त चल रहा था कि वे रीढ़ों के व्यूह को घेंद नहीं पा रहे थे। शीघ्र से सम्पूर्ण लोगों को छोड़कर जेष की स्थिति निराशाजनक थी। उन्हें अपना वर्तमान अभावों से ऊँच लाना भविष्य अन्धकार से परिपूर्ण लग रहा था। ऐसी उलझन भरी वैराग्य की मन-स्थिति में धर्म और आदर्शों की पौध नहीं लगनी जा सकती थी। पहली आवश्यकता उनके जीवन में उन्नत, उन्नत और आशाओं को पुनर्जीवन करना था।

इन समस्याओं के पीछे बड़ा कारण शिक्षा का अभाव था। उनका मिशन जो शिक्षण संस्थाएँ खोलता था उससे बालक, किशोर तथा युवक ही लाभान्वित हो सकते थे। प्रौढ़ वर्ग तो उनका लाभ नहीं उठा पाते थे। उन्हें शिक्षित बनाने के लिए उन्होंने प्रौढ़ शिक्षण का एक व्यापक अभियान चलाया जिसके लिए उन्होंने अपने मिशन द्वारा चलाये जाने वाले कॉलेजों के विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों से पूर्ण सहायता मिली। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपकरणों को सामान्य कृषक तक पहुँचाने, खान श्रमिकों को संगठन एवं संघर्ष का मार्ग बनाने तथा मछुओं को सहकारिता का पाठ पढ़ाने में यह वर्ग बहुत सक्रिय रहा।

१९२३ में कानो जन पत्र तो वे दीन-हीन मछुओं की दृष्टि दर्शकर लगभग रो ही पड़े थे। सच ही तो है धर्म, व्यक्ति को एकान्त सची तथा पलायनवादी नहीं बनाता। गिरि कन्दराओं में बैठा हुआ सन्यासी उतना धार्मिक तथा अध्यात्मवादी नहीं माना जा सकता जितना वह व्यक्ति जो जन-जन की पीड़ा को अपने सागर जैसे विशाल हृदय में स्थान देता है। डा. जेम्स थापकिन्स इन्हें लोग श्रद्धा व

आदर से फादर जिम्मी कहा करते थे, उन्हें इस पीड़ा से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया।

प्रथम तो उन्होंने इन सागर के बेटों की इस दीनता के कारणों को खोजने का प्रयास किया। पर्याप्त पूछताछ के बाद उनके इस गुरिद्रिय का जो कारण उन्हें मिला वह था मनुष्य का स्वार्थ उनकी सर्वोन्नता। माँसाहारी पशु एक-दूसरे को खा जाते हैं। उन्हें प्रकृति ने ऐसे ही क्रूर तथा बुद्धिहीन बनाया है। उन्हें स्वयं-सुविधाएँ देने में भी प्रकृति ने कम कृपणत्व नहीं की। किन्तु मनुष्य को सब प्राणियों से अधिक समर्थ, बुद्धिमान तथा सुख-सुविधाओं से युक्त किया है, भावनाओं की पुष्करिणियों के अमृत से उसके हृदय को सींच है। वह भी अपने ही जैसे मनुष्यों को खा—उनका शोषण कर अपना पेट भरे तो उसे पशु से भी गथा-गुजरा पाना आवेगा। इन मनुष्यों को मत्स्य व्यापारी नौका, मकान, जाल, रस्सियाँ तथा छोड़ी-सी धन राशि देकर अपना कर्जदार बना लेते हैं तथा फिर उनका मनमाना शोषण करते हैं। कर्ज भार से दबे होने के कारण उन्हें अपनी पकड़ी हुई मछलियाँ, व्यापारी को उसके मनमाने भाव पर देनी पड़ती थीं जो बहुत कम होता था। वे व्यापारी कनाडा व अमेरिका की बड़ी-बड़ी फर्मों के एजेंट थे जो गरियों को आर्थिक गलत्यूह में फँसाए हुए थे। इसी शोषण के अन्ध कूप में उन्हें व्यापारियों ने कैद कर रखा था।

नोवास्कोटिया समस्याओं का केन्द्र बना हुआ था। दो वर्ष में ही मत्स्य केन्द्रों का मूल्य १५० डॉलर से घट कर ९० लाख हो गयी थी। केप ब्रिटेन जैसे कोपला उत्पादक नगर में बेकारी मशहारी की तरह फैल रही थी। किसान अपनी खेती छोड़ रहे थे। इस कारण लोग इस प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र जाने लगे थे। अमेरिका के एक अकेले नगर में एक लाख नोवास्कोटिया बसी गिने गये थे।

अपनी मातृभूमि तथा उसके निवासियों की इस दशा से वे बहुत दुःखी हुए। वे इन समस्याओं का निदान करना चाहते थे। किन्तु वे अकेले क्या कर सकते थे। इसलिए चुप थे। एक दिन उन्हें एक ऐसा अन्ध मिला गया जो उन्हें अपने उद्देश्य में सफल बन सकता था जिस प्रकार परमाणु बम एक व्यक्ति को अपार शक्ति प्रदान कर देता है और वह लाखों-करोड़ों पर भारी पड़ता है, वैसा ही अन्ध उन्हें मिला था। वह अन्ध था 'विचारों' का अन्ध। उन्हें पूरा विश्वास था कि इसके बल पर वे लोगों के खोये हुए सुख को पुनः ला सकते हैं।

उन्होंने लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उठ खड़े होने तथा सहकारिता के आधार पर धनपतियों का जाल छिन्न-भिन्न कर देने के लिये उद्बोधन देना आरम्भ कर दिया। वे कहा करते थे— 'विचारों के हाथ-पाँव होते हैं वे तुम्हारे लिए वह काम कर सकते हैं जो तुम चाहते हो।' उन्होंने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित कराने के लिये प्रभावशाली व लक्ष्यपूर्ण शब्दों में छोटी-छोटी विज्ञापितियाँ तैयार कीं जिनमें मछुओं, किसानों व खनिकों की समस्याओं का समाधान था वे इन विज्ञापितियों को अपने झोले में रखे रहते तथा जिससे भी भेंट होती उसके हाथ में एक विज्ञापित बना कर कहते— इसे पढ़ें इसमें आपकी समस्या का समाधान है।

केवल विज्ञापितियाँ बाँटकर ही वे सन्तुष्ट नहीं हो जाने वे लोगों को समझाते, उनसे तर्क करते— अपनी बात को उसके गले इनारते भी थे। यही नहीं वे लोगों को रोक्ते भी थे। जब कोई मछुवा अपने माल को कम मूल्य पर बेच देता तो उससे पूछते— 'तुमने उस काठ को केवल डेढ़ सेंट में क्यों बेच दिया जब कि हेलीफेक्स में उसका मूल्य १० सेंट है। तुम अपना को इतने में ही क्यों बेच देते हो जब कि होटल पर उसका मूल्य एक डॉलर से कम नहीं होता।'।

वे जानते थे कि छोटे-छोटे आदमी मिलकर संगठन बना लें तो वे राक्षस को भी हरा सकते हैं। पतले-पतले सूत के धागों से बटी हुई रस्सियाँ मनो भार उठा लेती हैं। संगठन की अभिशक्ति ही इन सब समस्याओं का समाधान कर सकती है। मछुओं को, खनिकों को व किसानों को संगठित करने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। उसका परिणाम भी आश्चर्यजनक ही हुआ।

छोटे-छोटे लोगों को जगाने के साथ-साथ उनकी आवाज को समर्थ व्यक्तियों तक पहुँचाने का काम भी फादर जिम्मी ने किया। उन्होंने जजों, इन्जीनियरों तथा राजनीतिज्ञों से भी इनकी प्रगति में सहयोग देने के लिए अनुरोध किया। उन लोगों ने यह जाना कि वह ज्ञान ही इन गरियों के पाँवों की जमीन बनकर उन्हें शोषण के नरक में भटकने को बाध्य कर रहा है।

जब मनुष्य अपनी किरी सामर्थ्य को जन समुदाय में छिपी शक्ति को पहचान लेता है तो फिर उसे कोई दीन-हीन दशा में पड़ा रहने को बाध्य नहीं करता। भड़भड़ सहकारी संस्थाएँ खुलने लगीं। उन्होंने अपनी श्रमद्वारी समितियाँ स्थापित कीं। वस्तुओं को उचित मूल्य पर ही बेचने की कसम खा ली। व्यापारियों तथा बड़ी फर्मों को अपना व्याह टूटता दिखा तो उन्होंने अपने हथकण्डे अपनाये। सरकार ने भी उनका पक्ष लिया। मछुओं व मजदूरों ने प्रतिवाद किया। थोड़े समय कड़ा संघर्ष हुआ। अन्त में विजय जनता की हुई। नोवा स्कोटिया में समृद्धि का सूर्य चमकने लगा जिसे मन्दी के बादल भी छिपा नहीं सके। इसका प्रेरक फादर जिम्मी को ही जाता है।

उन्होंने जीवन-भर लोगों को धर्म का— सत्कार का— आदर्शों का जीवन जीने का उपदेश दिया। स्वयं भी वे इन सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करते रहे। इन सबसे अधिक उन्होंने अपने आन्दोलन के माध्यम से नोवास्कोटियावासियों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। यह आन्दोलन इनको १९५३ में मृत्यु हो जाने के बाद अमेरिका में ही नहीं अन्धान्य देशों में भी चल पड़ा नर्क में स्वर्ग के सुन्दर प्रभात लाने वाले इस महत्मानव की कीर्ति भला किसे उनके चरण चिह्न पर चलने को बाध्य न करेगा ?

उपेक्षित किशोरों के मार्गदर्शक— फादर जिम्मी

किशोर जेम्स बटरवर्थ की समय की ठीकरी न समय से पूर्व ही वयस्क और विवेकी बना दिया था। अतः उसने अथः जीवन लक्ष्य

पी अपनी उस ज्ञान प्रौढ़ता के अनुरूप ही चुन—सुख में सद्वृत्त और सत्प्रवृत्तियों का प्रसार करना। वह जानता था कि जिसने अपनी सहायता स्वयं करना सीख लिया, जिसने आत्म-देवता को मन्त्र लिया उसके लिये ईश्वर की कृपा पा लेना बहुत सहज होता है। उसके लिये किसी भी क्षेत्र में कैसी भी उपलब्धि पा लेना असम्भव नहीं होता। पर यह जानते हुए भी उसने अन्य लोगों की तरह धनधान, विद्या, कलावान या सामर्थ्यवान बनने की अपेक्षा एक सामान्य फटरी बनना चाहा ताकि वह ऐसे वर्ग को ज्ञान दान दे सके, जिन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसका यह संकल्प पूरा हुआ और वह सामान्य-सा किशोर अपने इस उच्च दृष्टिकोण और परपक्वरी कृति के कारण लाखों लोगों का श्रद्धापाजन फटरी जिम्मी बन गया।

जेम्स बारह वर्ष का ही था उसके पिता ने आत्महत्या कर ली। गरीबी तो पहले ही उसके परिवार के फल्ले बंधी हुई थी ही कि अब वह अनाथ भी हो गया। परिवार में रही एक ऐसा सदस्य था जो पिता के रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकता था। बिप्लव माँ और चार छोटे-छोटे भाई-बहिनों के भरण-पोषण के दुर्बल दायित्व को उसने अपने दुर्बल कंधों पर उठाने का दृढ़ निश्चय करके लंकाशायर के सूती कपड़े के एक मिल में फटरी की। समूचे की कड़कड़ाती शीत में उसे काम पर जाना पड़ता था। रविवार की छुट्टी को छोड़कर सप्ताह में पूरे छः दिन उसे नमी और कास्टिक के घोल युक्त फर्मा पर खड़े रह कर काम करना पड़ता था। जिससे उसके हाथ-पंख व अंगुलियों के पोरों से रक्त रिसने लगता था। इतना कठोर काम करने पर उसे सप्ताह भर में तीन शिलिंग नौ पैसे ही मजदूरी मिलती थी, जिससे छह सदस्यों वाले उसके परिवार की गाड़ी बड़ी मुश्किल से चलती थी। इस अपर्याप्त वेतन की कमी की पूर्ति वह अनिश्चित समय में समाधार पत्र बेचकर किया करता था। इस प्रकार वह अपनी पारिवारिक नौका का नन्हा माँझी बन गया और उसे डूबने से बचा लिया।

छुट्टी का दिन रविवार का दिन उसने धर्म कार्य के लिये नियुक्त कर रखा था। इस दिन वह चर्च जाता था। उसे चर्च जाना बहुत प्यारा था। वहाँ उसे जो आत्मिक शान्ति मिलती थी वह उसकी जीवनी शक्ति थी, जो बचपन में ही उसे इतना दृढ़ बना सकी थी। अपनी इस धार्मिक अभिरुचि के अनुरूप ही उसने अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित किया था।

जेम्स सब मनुष्य की तुलना अन्य प्राणियों से करता था तो उसे मनुष्यों पर ईश्वर की विशेष कृपा का सहज परिचय मिल जाता था। वह सोच करता था जिस तरह कमजोर और खाना तथा बच्चे-बच्ची पैदा करने का काम मनुष्य करते हैं वह तो अन्य प्राणियों जैसा ही है। उसे तो अपने विशिष्ट स्वरूप तथा सम्पत्ति के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। वह कार्य कैसा हो इस सम्बन्ध में धर्म ही दिशा निर्देश दे सकता है। मनुष्य को अपनी गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने सम्बन्धी मार्गदर्शन वही दे सकता है। अतः उसने भी धर्म प्रचार को ही अपना लक्ष्य बनाया।

वह जानता था कि धर्म प्रचार के लिये जीवन समर्पित करने वाले अधिकतर फटरी-गण भी गरीब और पिछड़े वर्ग के लोगों की ओर ध्यान नहीं देते जबकि उन्हें इस दिशा-निर्देशन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। यद्यपि ईसा भी तो स्वयं दीन दुखियों तथा पापियों से घिरे रहते थे क्योंकि ऐसे ही लोगों को उनके उपदेशों की सबसे अधिक आवश्यकता होती थी। सम्पन्न और समृद्ध लोगों को धर्म शिक्षण हर कोई देता है पर ऐसे विरले ही होते हैं जो दीन दुखियों और पब घमियों की ओर ध्यान देते हैं। ऐसे धर्मसेवियों की कमी मैं पूरी करूँगा यह संकल्प उसके बाल्य मन में दृढ़ हो गया।

एक दिन उस मिल के मालिक ने जिसमें जिम्मी बटरवर्थ कार्य करता था, फटरी को उपदेश देने के लिये मेथोडिस्ट चर्च के फटरी को आमंत्रित किया। फटरी के उपदेश मन को छू लेने वाले थे। उन्हें सुनकर उसके भीतर का संकल्प दृढ़तर हो गया। वह भाषण सम्पन्न पर सकुचते हुए बड़े फटरी के पास पहुँचा और सकुचाने हुए बोला “मैं भी आपकी तरह फटरी बनकर इस प्रकार धर्मोपदेश देना चाहता हूँ। क्या मेरी यह कामना कभी पूर्ण हो सकेगी।”

बड़े फटरी ने इस कटे-दुबले किशोर की ओर देखा। उसकी आँखों में संकल्पजन्य दृढ़ता विद्यमान थी। उसे आश्वासन प्रोत्साहन मिला—“अवश्य! यदि तुम प्रबलशील रहोगे तो यह कामना पूरी होकर रहेगी। प्रयत्न करने से तो हर कामना पूरी हो सकती है। फिर तुमने तो कामना ही ऐसी की है जिसमें लोक-हित की दृष्टि है तो वह क्यों पूरी न होगी।”

सचमुच एक दिन जिम्मी बटरवर्थ की यह कामना पूरी हो गयी। एक दिन स्काटिश मेथोडिस्ट चर्च के उस बड़े फटरी जिसने उसके मिल में प्रवचन दिया था और वह इस किशोर की धर्म भावना से बहुत प्रभावित हुआ था, ने उसे फटरी बनने के लिये आमंत्रित किया। १९ वर्ष की आयु में वह संतान स्थित एक चर्च में फटरी बन गया।

जब उसे अपने स्वप्नों को साकार करने का अवसर मिला वह ऐसे लोगों में कार्य करना चाहता था जो सब ओर से उपेक्षित थे। वह गरीब वर्ग के किशोरों की दयनीय स्थिति से बहुत दुःखी रहता था। वह जानता था कि यह सब बहुत विषम होती है। इस वय संश्लेषण में यदि उन्हें उचित मार्गदर्शन तथा यथोचित व्यवहार न मिले तो वे भटक जाते हैं। इससे उनके भविष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन लोगों के बच्चों का भविष्य तो प्रायः अनिश्चित ही रहता है जो गरीब अथवा निम्न मध्यम वर्ग से हैं। ऐसे किशोरों के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लेने की योजना उसके मस्तिष्क में चक्कर खाट रही थी। वह ऐसे किशोरों के कल्याण के लिए एक संस्थान खोलना चाह रहा था।

एक दिन वह कहीं जा रहा था तो उसका ध्यान एक बीरान से मकान की ओर गया। मकान का फर्श उखाड़ गया था, खिड़कियों के फल्ले टूट गये थे। वर्षों से इसकी पुतई नहीं हुई थी। इसमें कोई रहता ही नहीं था। तो पुतई कौन करवाता। यदि इस मकान की मरम्मत की जाये तो यह उसकी कल्पना के संस्थान का प्रारम्भिक आधार बन सकता है। उसने मकान मालिक से बातचीत की। उसे

अपनी सारी योजना समझायी। प्रकटन मालिक सद्बुद्ध व्यक्ति था। जिम्मी प्रकटन अपने व्यक्तिगत हित रखन के लिये तो माँग नहीं रहा था सो उसने पादरी की माँग को सहज स्वीकार कर लिया। वही नहीं उस सद्बुद्ध व्यक्ति ने उसकी योजना पूर्ति के लिये और भी सहायता दी।

जिम्मी बटरवर्थ ने यह प्रकटन ही क्यों चुना था इसके पीछे कई कारण थे। एक तो यह ऐसे स्थान पर था जिसके आस-पास बसने वाले लोग वैसे ही थे जिनकी उसे आवश्यकता थी और उन्हें ऐसे संस्थान की। इस प्रकटन के आस-पास वे गरीब लोग बसते थे जिन्हें अपने बच्चों के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं थी और न इतने योग्य ही थे कि उनका निर्माण कर सकें।

युवा पादरी जिम्मी बटरवर्थ ने आस-पास के इन लोगों से अपनी योजना सम्बन्धी बातचीत की पर एक-दो को छोड़कर शेष किसी ने उसको इस योजना में कोई रुचि नहीं ली। उन्हें अपने कोहलने में ऐसे संस्थान की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। आज तक किसी पादरी ने उन गरीबों के पास आकर ऐसी बातें की नहीं थीं अतः वे इस युवा पादरी को बातों को कौतूहलपूर्वक ही सुन रहे थे। उसका साथ नहीं दे रहे थे।

इन लोगों की इस उदासीनता ने जिम्मी को निराश नहीं किया। उसके स्थान पर कोई दूसरा होता तो वह बही सोचता, किस के लिये किया जाय यह सब मैं क्यों महँ-छपुं जिनके लिये कुछ करना चाहते हैं वे तो छोड़े ही नहीं होते। पर वह इस प्रकार के पलायनवादी विचारों को अपने पास फटकने ही नहीं देता था। अपने कोड़े-से सहयोगियों के साथ उसने इस बीरान पड़े प्रकटन की मरम्मत करना आरम्भ कर दिया। दूसरे लोग कुछ देर तक तो तमाशा देखते रहे पर जब उन्होंने देखा कि ये लोग वास्तव में कुछ करना चाहते हैं तो वे भी सहयोग देने लगे। फिर तो जन-सहयोग से जिम्मी बटरवर्थ ने इस प्रकटन का कार्या-कल्प ही कर दिया।

यहाँ उसने किशोरों के 'क्लब लैण्ड' की स्थापना की। यह गरीब और निम्न मध्यम वर्ग के बालकों-किशोरों का निर्माणस्थली था। यहाँ उनके फादर जिम्मी उन्हें उपासना कराते थे, खेल छिलकते थे तथा मानवोचित जीवन जीने की राह बताते थे। आरम्भ में उसे बड़ी मुश्किल ही यह लड़के मिल सके थे जो 'क्लब लैण्ड' में नियमित प्रशिक्षण पाने को बड़ी मुश्किल से तैयार हुए थे। इस मुहल्ले के दूसरे बच्चों को तो अपने हुड़दंग से ही फुर्सत नहीं थी। इन सब बच्चों का सम्मिलित अनुदान सिर्फ पाँच पौण्ड धनराशि से आरम्भ हुआ यह क्लब लैण्ड आगे चलकर अपनी गतिविधियों के कारण सारे इलैण्ड में विख्यात हुआ तथा हजारों सम्पन्नहीन किशोरों के उज्ज्वल भविष्य का भाग्य विधायक बना।

क्लब लैण्ड की अपनी योजना को साकार करने के लिये फादर जिम्मी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। मार्ग में कई बाधाएँ भी आयीं। उसने क्लब लैण्ड की किशोर निर्माण की गतिविधियाँ आरम्भ की ही थीं कि उसे फादरी के प्रशिक्षण के लिये मेनचेस्टर के मेथोडिस्ट कालेज जाना पड़ा। प्रशिक्षण के दौरान क्लब

लैण्ड का कार्य रुक रहा। वापस लौटकर उसने पुनः अपना 'क्लब लैण्ड' चलाया तो उसे यह अनुभव हुआ कि यह कार्य इतना समय लेने वाला है कि वह चर्च की अन्य गतिविधियों को ठीक से सम्पादित नहीं कर सकेगा। अतः उसने मेथोडिस्ट चर्च के प्रबन्धकों को अपना मन्ताव्य बताते हुए स्वीफ़ पेश कर दिया। प्रबन्धकगण उसकी इस निष्ठा व ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए। वह जानकर कि फादर जिम्मी जो कार्य कर रहा है वह चर्च की पारम्परिक गतिविधियों से कई गुना अधिक महत्वपूर्ण है सो उन्हें पूरी तरह 'क्लब लैण्ड' के कार्यों में लगे रहने की स्वीकृति दे दी। इसके लिये पादरी पद त्याग देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

यह फादर जिम्मी की लगन, निष्ठा व उनके उद्योग का परिणाम था कि ठनीस वर्षों में क्लब लैण्ड इतनी प्रगति कर गया कि उसके चर्च सारे देश में होने लगे। १९४५ तक इसमें सभागृह, क्रीडांगण, कर्मशाला तथा क्लब लैण्ड संसद सभी कुछ बन चुके थे। यह धार्मिक, अर्थ, वर्य, मोक्ष चारों साधनों की संतुलित शिक्षणशाला बन चुकी थी। किन्तु उनकी इन दो दृष्टांतियों की तपस्या से लहलहाते इस उद्यम को बीस सैकड़ की जर्मन बमबारी ने धूसात कर दिया।

स्वप्न दृष्टा जिम्मी बटरवर्थ ने क्लब लैण्ड के स्वप्न को साकार किया था। उसे सजाव-सँवार और समृद्ध किया था। जिस क्लब लैण्ड का आरम्भ वह बालकों और पाँच पौण्ड धनराशि से हुआ था वह बीस वर्ष बाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था पर युद्ध की धक्कर विभीषिका ने उनके धुजन को नष्ट करके रख दिया था। युद्ध मनवीर्य बर्बरता का कटु उदाहरण होता है जिसमें मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक ही नहीं वरन् नागरिकों को भी इस बर्बरता का शिकार होना पड़ता है।

छत्र में बप वर्षा हुई। शान-काल फादर जिम्मी ने अपने क्लब लैण्ड की दुर्दशा देखी तो वे रो पड़े। इन आँसुओं में जहाँ शोक था, युद्ध के बर्बर विनाश पर जहाँ दुःख था वहीं नव-सृजन का शुभ संकल्प भी था। किसी की छत गिर गयी थी तो किसी की दीवारें धसक गयी थी। किसी का फर्श उखड़ चुका था तो कोई गलवे का ढेर बन चुकी थी। कल तक जहाँ सब कुछ रमणीय था वहीं आज खण्डहर छोड़े विनाश की दुःखद कक्षाएँ बह रहे थे।

फादर को उन सैकड़ों किशोरों ने घेर लिया, क्लब लैण्ड जिनकी आँखों का केन्द्र था। वे वहाँ उपासना, उपाजिन, मनोरंजन तथा प्रशिक्षण मार्गदर्शन पाते थे। उन्होंने अपने मार्गदर्शक को रोने देखा तो उनकी भी आँखों से आँसु बह निकले। एक किशोर ने पूछा "फादर हमारे स्वप्नों का क्लब-लैण्ड धराशायी हो गया। अब हम क्या करेंगे?"

"प्यारे बच्चो! हमारे क्लब लैण्ड का भवन ही तो धराशायी हुआ है हमारे संकल्प तो नहीं टूटे हैं, हमारे सपनों का क्लब लैण्ड तो हमारी आँखों में सपना बनकर अब का त्यों विद्यमान है। कल यहाँ भव्य भवन थे, आज यहाँ खण्डहर है तो कल फिर यहाँ भव्य भवन बन सकते हैं। यह सब असम्भव नहीं है। हमें हिम्मत नहीं हानी चाहिए।" फादर बटरवर्थ ने स्नेहसिक्त स्वर में संकल्पजन्य

दृढ़ता बालने हुए कहा। उनके ये आशा भरे वचन सुनकर निराशा के बादल छुट गये। वहाँ पर आशा का सूर्य चमकने लगता। अपने सतविहीन चर्च में दैनिक उपासना करके वे अपने-अपने घरों को चले गये। उन्हें आशा बंध गयी थी कि क्लब लैण्ड के संस्थापक तथा संचालक फादर जिम्मी बटरवर्थ उसका पुनर्निर्माण कर सकेंगे।

सौ सौ पौण्ड के व्यक्तिगत खर्चे से क्लब लैण्ड का पुनर्निर्माण आरम्भ हो गया। रानो पेरी की ओर से भी पर्याप्त सहायता मिली। उसने आधार के पांच पत्थर अपने पांच पुत्रों की स्मृति में लगवाये। सहायता तो मिल रही थी पर वह जिस गति से मिल रही थी उसे देखते हुए तो वर्षों बाद वह कार्य पूरा हो सकेगा तब तक जो किशोर क्लब लैण्ड से अपने जीवन निर्माण की आशाएँ लगाए बैठे थे वे तो उस आयु की ही पार का धुक होंगे। वह क्या उन्हें शक्तिपूर्वक सोने भी नहीं देती थी।

फादर जिम्मी ने अमेरिकी जाकर धन संग्रह करने की सोची। वे अमेरिका गये। जन-सेवा का लक्ष्य रखकर थोड़ा भी माँगो जाय तो वह पुण्य कार्य ही होता है। वह सोचकर उन्होंने अमेरिका में क्लब लैण्ड के पुनर्निर्माण के लिए झोली फैलायी। वहाँ एक ही दत्ता ऐसा मिला कि उसने उनको इतना देने का वादा किया कि उन्हें और अधिक झोली फैलानी नहीं पड़ी। यह दाता था हलीवुड का प्रसिद्ध हास्य अभिनेता बॉब होप। उसने दो सप्ताह तक प्रिंस आफ वेल्स थियेटर में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करके ११,५०० पौण्ड की जो धनराशि प्राप्त की वह सारी की सारी क्लब लैण्ड को दे दी। यही नहीं उसने प्रति वर्ष दो सप्ताह तक लन्दन में कार्यक्रम प्रस्तुत करके उपार्जित राशि क्लब लैण्ड को देने की परम्परा ही चला दी और उसे तब तक निभाया जब तक उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हुई।

फादर जिम्मी ने अपने ध्येय समर्पित जीवन द्वारा एक अदृश प्रस्तुत किया है कि जन-कल्याण की योजनाएँ एक अकेला व्यक्ति भी चला सकता है जन-सहयोग के माध्यम से।

निराशा में आशा के सन्देश वाहक— बेन्द्रे

मेरा बेटा एक दिन बहुत बड़ा आदमी बनेगा बहन। तुम नहीं जानती, उसके अध्यापक कहते हैं इसमें कोई दैवी प्रतिभा है। अभी वह पाँचवी कक्षा में है पर उसे संस्कृत में धारा-प्रवाह बोलने का अभ्यास है। उसने हैक्सपियर का श्वेण्ट ऑफ बेनिस अभी से कंठस्थ कर लिया है। वह बाद-काल में पं जगन्नाथ के भामिनी विलास के श्लोकों के उदाहरण देता है। क्या यह उसके बड़े बनने के लक्षण नहीं हैं ?

इससे पूर्व की आगन्तुका कुछ अपनी राय व्यक्त कर बालक बेन्द्रे वहाँ आ गया। समस्या का समाधान उसने स्वयं कर दिया— माँ तुम भौंक कहल ह, मैं एक दिन राम कृष्ण भजन का सन्यासी बनूँगा और तुम्हारे के तमाम फंडित मनुष्यों की सेवा करूँगा।

माँ का कहना यह गई क्योंकि उसके मास्टर ने बड़प्पन की कल्पना कुछ और ही की। उसने अपने बेटे के बड़े होकर की कल्पना— समृद्ध

सम्पत्ति, उच्च पद और यश से की थी, मनुष्य सेवा और परोपकार से भी बड़ा बनता है ऐसा उसने सोचा भी न था। इसमें उस बेचारी का दोष ही क्या था। हमारे जीवन की सक्तीरता, हमारे समाज का छिछलापन जब लोगों को ऐसा अनुभव करने का अवसर प्रदान करे तब न। जब तक ऐसे स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं होती जिसमें मनुष्यता की सेवा को शीर्ष प्रतिष्ठा मिले तब तक बेचारी स्त्रियाँ ही क्यों पढ़े-लिखे लोगों में भी यदि बड़प्पन का यही मापदण्ड हो तो उसमें आश्चर्य क्या ?

अस्पायु से ही जीवन जैसे बहुमूल्य वस्तु को सेवा जैसी महान् संधान से जोड़ने का स्वप्न देखने वाला वह विद्यार्थी एक दिन कन्वेंट स्कूलों की जिद पर उसी तरह छा गया जिस तरह उत्तर भारतवर्ष में लोग तुलसीदास को जानते हैं। जानकर सराने वालों से लेकर अचार्यों तक को आशा और सन्तोष-सेवा और सदाचार की प्रेरणा देने वाले इस कवि का अपना जीवन तो एक तपस्या ही रहा है इसलिये उसे लोग अभी भी उतने ही प्यार से स्मरण करते हैं जैसे कोई माँ अपने छोटे शिशु को करती है।

बेन्द्रे का पूरा नाम द. रा. बेन्द्रे था पर साहित्यिक क्षेत्र में उनको 'अम्बिका तनय दत्त' के नाम से जाना जाता है। उनका जन्म पाखाड़ नगर के एक सधारण परिवार में हुआ था। नगुंद (गुलबर्गा) और फर्ग्युसन कॉलेज पुन से उन्होंने बी. ए. तक का शिक्षण पूरा किया। पिता यद्यपि आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे तथापि उनकी यह मान्यता थी कि बच्चों के लिये धन न छोड़े पर उसे शिक्षित और संस्कारित करने में कोई भी कमर नहीं छोड़नी चाहिये। शिक्षा और संस्कारों के अभाव में बड़े होने वाले बच्चे पाई हुई कमाई को अपने पतन का ही कारण बनाते हैं और समाज के लिये भी सिरदर्द बनते हैं, अपनी इस आदर्शवादिता से प्रेरित होकर उन्होंने बच्चे को उच्च शिक्षा दिलाई किन्तु बेन्द्रे अभी ग्यारह वर्ष के ही थे कि उनका निधन हो गया और इसीलिये बी. ए. पास करने के तुरन्त बाद बेन्द्रे को यह सोचना आवश्यक हो गया कि अब आगे जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए।

संसार के मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त करें तो एक वह होते हैं जो काल के प्रवाह में जैसा कुछ सामने आया उसी में बहते चले गये, एक वह जो जीवन निर्धारित तरीके से समझ-बूझकर जीते हैं। दूसरी प्रकार के मनुष्य भले ही अपनी सांसारिक स्थिति मजबूत न बना पाते हों पर संसार की विचार, ज्ञान, प्रकाश और मार्गदर्शन ऐसे लोगों ने ही दिया है। जो अपने जीवन का आकार-प्रकार भी मिश्चन नहीं कर सकते वे परिस्थितियों के चपेड़ों से अपनी ही सुरक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते, समाज को कुछ देना तो उनसे ही भी कैसे सकता है।

बेन्द्रे की कल्पना सन्यासी बनकर धार्मिक सेवा करने की थी वे संसार की ज्ञान का, मानवता का सन्देश देना चाहते थे पर जब उन्होंने अपने परिवार को पिता के निधन के कारण असहाय पाया तो उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदला और विचार करने लगे क्या मनुष्य अपने सीमित क्षेत्र से ही सेवा का नाथ्य पूरा नहीं कर सकता, क्या अपने आपको पीड़कों से अलग रखकर ही जीवितों की सेवा की जाती

है । दो-तीन प्रश्नों का जो उत्तर उन्होंने खोजा वह यह था कि मनुष्य उन परिस्थितियों में स्वयं भी बन रहे जिससे पीड़ितों की सेवा को ज्ञान प्रेरणा मिलती है । बस इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने वर्षों में संचित अभिलाषा का परिष्कार कर दिया और एक स्कूल में अध्यापक हो गये ।

अध्यापक होकर उन्होंने जाना— समाज की सबसे अच्छी सेवा तो उसे अच्छे विचार देकर ही की जा सकती है । इसलिए अपने व्यवसाय के प्रांत उन्हें सहज ही प्रेम हो गये पर उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि वर्तमान शिक्षा पद्धति से अधर ज्ञान का अंश तो पूरा होता है पर मनुष्य ज़ोर हो नहीं दर्शन भी है, मनुष्य, कर्म ही नहीं धर्म भी है, मनुष्य की आयु ६० और १०० वर्ष हो नहीं, वह उस गहराई से निकला है जिसकी आयु सांता कभी निर्धारित नहीं की जा सकती । जीवन की उन गहराइयों को पाठ्यक्रम में प्रवेश किये बिना शिक्षा अधूरी है । इसलिये अध्ययन में पूर्ण सज्ज रहते हुये भी तबसे उनका मन न भरता था । उनको इच्छा ऐसे शिक्षण के विकास की थी जे मनुष्य को बुद्धिबंदी ही नहीं हृदय और आत्मदर्शों भी बना सकता हो पर तुर्भाग्य कि न तो तब ऐसे परिस्थितियों की और न ही उनके पास साधन । भारतवर्ष ब्रिटिश राज के चंगुल में था और वे जिरा रकूल में पड़ाये थे वह भी उसी का मग था ।

इस बीच उन्होंने मानवीय स्वच्छन्दता के नाम पर शासक और प्रजा के बीच की खाई को देखा, इन बीच उन्होंने समृद्धि और निर्धनता के बीच खड़ी हुई दम्भ की दीवार देखी, इस बीच उन्होंने धार्मिकता के अभाव में भाप पक में जलते हुए सामाजिक जीवन को देखा । वह स्वयं भी एक मनुष्य थे और उस नाते उन्होंने वह सासारिक कष्ट भी देखे जो ससार में आकर प्रत्येक प्राणी को देखने पड़ते हैं । ये वेद और तो वेदियों का निधन उन्होंने अपनी आँखों से देखा था । माता और पिता के शत्रु तभी पूँक चुके थे जब वह छोटे ही थे । भोला भाई आनन्द भी उन्हीं के हाथों शमशान घाट तक गये थे । १९४४ का वह दिन जब वह कक्षा में पड़ा रहे थे एक सम्बन्धी आये और उनके हाथ में एक पर्चा दिया । पर्चा पढ़कर भी उस भूर्तिवत तपस्वी की मुख-मृदा और कण्ठी में कोई कम्पन न था । जब कक्षा समाप्त हुई तब लोगों को पता चल कि आज बेन्द्रे के २० वीं वयुवक पुत्र का देहावसान हो गया है उसे क्या बेन्द्रे भूल सके होंगे, पर उन्होंने एक सहज गुम्फन के साथ कहा— यह तो जीवन के स्वाभाविक नियम हैं, हमें उनसे विचलित न होकर निरन्तर समाज की सेवा में जुटे रहना चाहिये जिससे आने वाली पीढ़ी यथार्थ मुक्ति और स्वाधीनता, जीवन और सक्रियता का आनन्द उपभोग कर सके । इस प्रकार के चिन्तन और इस तरह की परिस्थितियों से उनका हृदय समाज और पीड़ित मानवता के लिये द्रवित हो होना गया और वह वेदा एक दिन उनकी लेखनी से प्रवाहित हो ही उठे । काशी में सेवा का कार्य उन्हें व्यावहारिक रूप में ही मिल गया था अब अपने ज्ञान, अपने साधन और जीवन सम्बन्धी अनुभवों का लाभ वे काव्य रूप में उन जन तक पहुँचाने लगे ।

सत्य की आत्मा बड़ी सुन्दर है । उसे व्यक्त करने और लोक-प्रतिष्ठा दिलाने के लिये बनबट को आवश्यकता नहीं होती । बेन्द्रे की आत्मा से सत्य फूट रहा था इसलिये उसका स्वभाव हर एक को मधुर लगा । उनके गीतों में भवायी जाटलक नहीं, संघे सादे जीवन का प्रवाह था । कविता तो क्या कहे जन गायन लिखते थे वे, उनमें वह प्रवाह और मधुरता होती थी कि कवाहे दोर घराने समय भी वही आनन्द पाते उन गीतों को गाकर जो विद्वान् अध्यापक कक्षाओं में गाते हुये पाते ।

ग्लाई के रास्ते को भगवान् ने, कहते हैं, काँटों से सजाया है यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा न करता तो उसे अपने जन को पहचानने में कठिनाता होती है । भगवान् उन्हें प्यार करता है जो कटककोर्ण पथ पर चलकर भी मानवोद्य अदर्शों को गेठ नहीं दिखाता । अपने इस परिष्ठा से तो उसने हरिश्चन्द्र और नारद को भी नहीं छोड़ा बेन्द्रे तो उनके बहुत बाद में हुये थे । अभी उनका कविता संग्रह 'गर्भ' प्रकाशित ही हुआ था कि अंग्रेज कलक्टर के हथ एक प्रांत एड़ गई उसमें उसे बगावत की गन्ध आती दिखाई दी फलस्वरूप वह पुस्तक भी जन्म हो गई, नीकरी भी भूट गई और उन्हें कारावास भी भुगतना पड़ा । तो भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुये । उन्होंने निराश भारतीय जनता को संघर्ष और पौराणिक भविष्य की उज्ज्वल आशा का संदेश देना बंद नहीं किया । उनके गीतों में जहाँ जीवन की नश्वरता और मुक्ति की गाथाएँ गुँजती थी वहीं उनकी प्राप्ति के लिये पौरुष की ध्वनि भी प्रस्फुटित होती थी । मोहित अर्जुन को वीरोचित कर्म करने की जैसी आज्ञा भगवान् कृष्ण ने दी थी बेन्द्रे ने भी वैसी नमस्कर्षा, धैर्य, सहिष्णुता, साहस और जीवन मुक्ति का पाठ भारतीयों को पढ़ाया । 'मेरा गीत' (नन्हा हाडु) में उन्होंने अपने पाठक को बताया—रस ही जीवन है और उससे विमुखता ही मृत्यु । इन दोनों के बीच रहकर भी जो दुःखी नहीं होता वही जीवन सच्चा है । इन पंक्तियों में उन्होंने सम्पूर्ण कर्मयोग को निरोड़कर रख दिया ।

बेन्द्रे ने अपना जीवन अपने आदर्शों की सीमा में ही बिताया । भारतीयों की यही तो विशेषता रही है कि वे सत्य सिद्धान्तों का समर्थन कठिन परीक्षाओं में भी उसी तरह करते रहे हैं जिस तरह सुख की पड़ियों में । जब तक सुख मिले या सम्मान मिले तब तक भगवान् और सगाज को प्यार करने की पद्धति पाश्चात्य है, भारतीय जीवन का अद्दर्श तो वह शिवत्व है जो विष पीकर भी भगवान् को रत्ने से लगाये रहता है । बेन्द्रे जेल से छूटे तब तन्हे कमीज सिलवाने के लिये अपने मित्र पारित मेकटेश अय्यंगर से एक रुपये उधार लेना पड़ा पर इतने पर भी उन्होंने सगाज से क्षण नहीं की । यह भी पारस्वित्य है चलती ही रहती है बच्चा दूध पीने-पीते माँ के स्तनों को कट भी खाता है क्या उतने से माँ अपने बालक से विद्रोह कर देती है । अपने इसी भारतीय-आदर्श के कारण बेन्द्रे की आत्मा महानता के लक्ष्य पर अग्रती हो गई । सम्भवतः समकृष्ण मिशन का संन्यासी हो जाने पर उन्हें यह शान्ति, वह प्रसन्नता, वर्चस्व और यश भी—म मिलता जो उन्होंने अपने कर्मयोग की साधना द्वारा अर्जित किया । उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, कन्नड़ और मराठी भाषा के माध्यम से विश्व

को जो ज्ञान प्रेरणाएँ और प्रकाश दिया उसे देखकर आज भी कन्नड़ भाषी विद्वान् कहा करते हैं वेन्द्रे जी तो सन्ध्यामी थे। वेश से भले ही वे गृहस्थ रहे हों पर उनकी जीवन मतिना संन्यासियों जैसी ही थी।

धर्म पर आस्था रखने वाले, दया न छोड़ने वाले—महात्मा रिचे

नार्वेल्ड (अलवानिया) का एक छोटा देसती गाँव है जहाँ अधिकांश कृषक रहते हैं। वहाँ की परम्परा और स्थिति ऐसी है जिससे वहाँ अधिकांश व्यक्ति माँसाहार को स्वाभाविक भोजन मानते और प्रयोग करते हैं।

ऐसे ही एक कृषक परिवार का छोटा बालक न्यूनरिचे फ़स के मिशन स्कूल में भर्ती हुआ। स्कूल में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त एक बड़ा धर्म-शिक्षा का भी होना था। वहाँ मुद्दलों से भरा था। पादरी बाइबिल पढ़ाने और लड़के उसे पढ़ते। ऊँचे आदमों की चर्चा होती, ईसाई धर्म का गौरव बताया जाना, पर वह सब धर्म-शिक्षण—जानकारी की आवश्यकता पूरी करने तक ही सीमित।

एक दिन धर्म-शिक्षा के घण्टे में पादरी प्रभु यीशु की सहृदयता और शिक्षा की विवेचना कर रहे थे। वे बता रहे थे—“यीशु ने दया और करुणा की सरिता बहाई और अपने अनुयायियों को हर प्राणी के साथ दया का सहृदय व्यवहार करने का उपदेश दिया। सच्चे ईसाई को ऐसा ही दयावान होना चाहिये।”

यह सब पढ़ा-पढ़ाया एक लकीर पीटने के लिये पढ़ाया जाना था। पर बालक रिचे ने उसे गम्भीर रूप से लिया। वह कई दिन तक लगातार यह सोचता रहा—क्या हम सच्चे ईसाई नहीं हैं? क्या हम प्रभु यीशु के उपदेशों को कहते-सुनते पर ही हैं? उन्हें अपनाते क्यों नहीं? उन पर चलते क्यों नहीं?

बालक ने कई दिन तक अपने घर में माँस के लिये छोटे जानवरों और पक्षियों का वध होते देखा था। उनके कट और उतपीड़न को भी आँखों में आँसु भरकर देखा था। कोमल भावना काले कालक ने एक दिन इस दृश्य को देखकर तड़पते हुए प्राणी के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ी तो उसे लगा जैसे उसी को काटा—अपड़ा जा रहा है। बेचारा घर से बाहर गला गया और सुनक-सुनक कर घंटों रोता रहा।

तब वह इतना छोटा था कि अपने मनोभाव घर के लोगों पर ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता था, पर अकसूर वह बड़ा हो चला था, लगभग दस साल का। अपनी सकेदनाओं को प्रकट करने लायक शब्द उसके हाथ आ गये थे। अपनी वेदना उसने दूसरे दिन शिक्षक पादरी के सामने रखी—और पूछा, क्या माँस के लिये पशु पक्षियों को हत्या करना ईसाई धर्म के और प्रभु यीशु की शिक्षाओं के अनुरूप है?

पादरी स्वयं मांस खाते थे। वहाँ घर-घर में, माँस खाया जाता था। इसलिये वे कुछ स्पष्ट बात न कह सके। अगर मगर के साथ

दया के प्रतिपादन और माँसाहार के समर्पण की बात कहने लगे। आत्म-शिक्षित बालक के गले सुशिक्षित पादरी की लाज्बी चौड़ा व्याख्या तनिक भी न उतरी। उसे लगा वह बहकसा जा रहा है। यदि दया, धर्म का अंग है, तो उसे धर्मात्मा लोग हर प्राणी के लिये प्रयोग क्यों न करें? धर्म यदि वास्तविक है तो उसे व्यवहार में क्यों न उतारें?

बालक रिचे ने निश्चय किया कि वह सच्चा ईसाई बनेगा, प्रभु यीशु का सच्चा अनुयायी। उसने माँस न खाने का निश्चय कर लिया। सामने भोजन आया तो उसने माँस की कटोरी दूर हटा दी। कारण पूछा गया तो उसने यही कहा—“यदि हम धर्म पर आस्था रखते हैं तो हमें उसकी शिक्षाओं का व्यवहार में भी लाना चाहिये। हथियार और रक्त-पिपासु लोग धर्मात्मा नहीं हो सकते।” घर के लोगों ने माँस न खाने से शरीर कमजोर हो जाने की दलील दी तो उसने पूछा—क्या शारीरिक कमजोरी आत्मिक पतन से अधिक घातक है? घर वालों का समझक-बुझाव बेकरार चला गया, उसने माँस खाना छोड़ा सो सोड़ ही दिया।

ईसाई धर्म और यीशु की दया, शिक्षा का प्रसंग जहाँ भी चलता तब रिचे कठे कण्ठ और डबडबाई आँखों से यही पूछता—क्या पेट को बुलंदखाना बन्द्ये रहने वालों को धर्म और परमेश्वर की चर्चा करने का अधिकार है? लोगों के तर्क कुण्ठित हो जाते और सन्ध्याई के आगे सर नीचा हो जाता।

बालक रिचे जब भी माँस की शक्ति के लिये होने वाले उतपीड़न पर विचार करता तभी उसकी आत्मा रो पड़ती, उसकी हस मनोदशा से उसकी माँ प्रभावित हुई, फिर दोनों बड़ी बाहनें। तीनों ने माँस छोड़ा। भावनाओं का मोड़ अशुभ या शुभ की दिशा में जिधर भी मुड़ चले ऊपर बढ़ता ही जाता है। उस सारे परिवार ने माँस खाना छोड़ दिया। यह हवा आगे बढ़ी। पड़ोस और परित्यक्त क्षेत्रों में यह विचार जड़ डबने लगा कि सच्चे धर्मात्मा को दयालु ही होना चाहिये? जो दयालु होगा वह माँसाहार का कैसे सकेगा?

रिचे बड़े होकर पादरी बने। उन्होंने घर-घर घूमकर सच्ची धर्मात्मा का प्रचार किया और माँसाहार से विरति उत्पन्न कराई। “दयान्तु धर्म प्रेमियों की सत्य” नामक संगठन ने अलवानिया में अनेकों धर्म प्रचारकों तथा प्रचार सामग्री के माध्यम से आ लोकाशिक्षण किया उससे प्रभावित होकर लाखों व्यक्तियों ने माँसाहार छोड़ा और धर्मात्मा अपनाई। कट्टर कम्युनिस्टों के हाथ में जाने से रिचे के सत्यवादी को धार्मिक क्षेत्रों में सच्चे मन से सराहा जाता रहा है।

धर्मशिक्षा को व्यावहारिक रूप देने वाले—श्री राबर्ट

१७८० की एक धुंध भरी सन्ध्या। ग्लाउसटर नगर के एक गन्दी बस्ती में एक सम्पन्न व्यक्ति जा रहा था। उसका मेकअप उसके

आगे आगे अपने स्वामी का पथ प्रदर्शन करने के लिए लालटेन हथ में लिये हुए चल रहा था।

इस गन्दी कीचड़ भरी बस्ती के बालक अपने इस क्षेत्र में एक सम्पन्न व्यक्ति को जाने देखकर उस पर व्यंग्य कर रहे थे। एक ने तो उस पर कीचड़ ही उछाल दिया जो उसके कपड़ों पर आ लगा था। वह इन उच्छृंखल लड़कों के मुँह लगाना नहीं चाहता था, किन्तु उनका यह व्यवहार उसे बहुत अभद्र लगा था।

उसे इस प्रकार ज्ञान देकर लड़कों ने उसको और भी पोषान करना आरम्भ कर दिया। विवश होकर उसे एक टूटे फूटे मकान के दरवाजे में घुसकर ज़राम लेनी पड़ी।

इस जीर्ण-शीर्ण घर की मालकिन एक रंगिणी बुढ़ा थी जो अपने जीवन के दिन किसी तरह कट रही थी। इस सम्पन्न व्यक्ति ने उस बुढ़ा से इन बच्चों के इस व्यवहार का कारण पूछा— “क्या इन बालकों का माता-पिता इन्हें शिक्षा नही सिखाते। वे अपने बच्चों की ये गन्दी हरकतें किस तरह सहते होंगे?”

बुढ़ा ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया — “यह लोग इस प्रकार का हुड़दंग न करें तो क्या करें। इनके माता-पिता न तो इतने समझदार ही हैं कि वे इन्हें कुछ समझा सकें न इतने चरित्रवान हों कि वे इन्हें उपदेश देने की क्षमता उत्पन्न कर सकें। वे सब अपने शराब, जुये तथा अन्य अशोभनीय कामों में लगे होंगे। इन बच्चों का भी क्या दोष इन्हें छह वर्ष की आयु में ही बारह-बारह घण्टे काम करना पड़ता है। इसके पश्चात् इस खाली समय में उनके लिये न तो कोई पढ़ने का इन्तजाम है, न खेलने का ही, न मनोरंजन का। इसलिये इस समय ये लोग इसी प्रकार हुड़दंग किया करते हैं। हर किसी राह चलते का माली दे देना ही इनके लिए मनोरंजन।”

यह धनीमानी व्यक्ति जिसका नाम रॉबर्ट रेक्स था इन बालकों के विषय में चिन्तन करने लगा। ग्लाउसटर के एक प्रमुख पत्र के सम्पादक तथा बुद्धक के नामे वह इस प्रकार के लालों बालकों की समस्या से अनभिज्ञ नहीं था। आज उसको अपनी आँखों से देख भी चुका था तथा उस बुढ़ा के मुँह से उसका कारण भी सुन चुका था।

तबने अपने आप से पूछा— समाज के सदस्य के तबे मेरा इन लोगों के प्रति कोई दायित्व है वा नहीं। उत्तर सकारात्मक ही मिला। तो मुझे इस दिशा में — इन भावी नागरिकों के लिये कुछ न कुछ करना चाहिये। वह जानता था कि मनुष्य बुरा नहीं होता। वह इस प्रकार की परिस्थितियों में पड़कर बुरा बन आता है। वे किशोर वर्तमान में जैसा दिशाहीन जीवन जी रहे हैं। उसका परिणाम यह होगा कि ये समाज में अनैतिकता तथा अव्यवस्था फैलाने के माध्यम बनेंगे। इन्हें अभी सही दिशा दी जाय तो वे अपना जीवन तो सुधरेगा ही साथ साथ समाज की समृद्धि तथा सुव्यवस्था में योगदान भी देंगे।

रॉबर्ट ने निश्चय कर लिया कि वह जितना उससे बन पड़ेगा उतना इन बच्चों को सुधारने का प्रयत्न करेगा। आरम्भ में लोग उसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं किन्तु यदि वह अपने ध्येय पर डटा रहा तो

उसे बन सहयोग की कमी नहीं रहेगी। यदि जन सहयोग न मिला तो भी वह इस पुण्य पथ पर चलकर स्वयं तो कृत कृत्य हो ही

इस दृढ़ निश्चय का शुभ परिणाम यह हुआ कि दूसरे ही रविवार को वह उस गन्दी बस्ती में जा पहुँचा जहाँ के बच्चों ने उसका कीचड़ तथा गालियों से स्वागत किया था।

रविवार के दिन सभी फैक्ट्रियों तथा कारखानों में साप्ताहिक अवकाश रहता था। इस कारण बच्चे दिन भर घर पर ही रहते थे। आज तो उनकी सैलानियाँ चरम सीमा पर थीं। कुछ ने मिल कर एक मकान की खिड़की तोड़ दी थी तथा मकान पालिक से उल्लाह रहे थे।

रॉबर्ट ने उन्हें अपने ही जैसा मनुष्य मानकर उन्हें आत्मीयता पूर्वक समझाया कि रविवार को वे लोग उसके साथ गिरजाघर चला करें वा वहीं किसी गिरजाघर के पादरी वा स्कूल के अध्यापक का प्रवचन सुना जाये तो कितना अच्छा रहे। यह खिड़की तोड़ने जैसे खेल जो आप लोग खेलते हैं उसमें किसी की हानि होती है। इससे अच्छे खेलों का भी इन्तजाम हो सकता है।

तबके इस मद्द पुरुष की बात को एक मजाक ही मान रहे थे आज तक वे अपने को इस प्रकार के लोगों से भिन्न ही समझते आये थे। उनके जीवन का इनके जीवन से कोई तालमेल नहीं था। इनके बच्चे स्कूल तक कॉलेजों में पढ़ते रहते हैं तब तक तो इन गन्दी बस्तियों में उपजने वाले वे बच्चे कई बार जेलों की सैर कर आये होते हैं। कई तो खतरनाक अपराधी तथा उठाईगीर बन चुके होते हैं।

इनमें से अधिकांश ने तो रॉबर्ट के कथन के अनुसार काम करने से मना कर दिया फिर भी बीस लड़के दूसरे रविवार को उसके साथ चर्च करने को तैयार हो गये।

चर्च के उपदेशों की सहायता प्राप्त किये बिना रॉबर्ट का प्रयोजन पूरा होने कत्त नहीं था। वह इन लड़कों से निपट कर चर्च के उपदेशकों से मिला। उसकी भावनाओं की प्रशंसा तो सभी ने की किन्तु पूर्वाग्रहों से प्रभुत ये पादरी उसको सहयोग देने के लिए तत्पर नहीं हुए। बहुत प्रयास करने पर एक सहृदय उपदेशिक श्रीमती किंग इस शुभ कार्य में रॉबर्ट का सहयोग देने के लिए तत्पर हो सकीं।

दूसरे रविवार को ये दोनों व्यक्ति लड़के ही उस बस्ती में जा पहुँचे। वे लोग अपने साथ साबुन, तेल, कमी आदि लेने गये थे इन मैले कुचैले बालकों को उन्होंने स्नान कराया, उनके कपड़े धोका पहनाये तथा उन्हें सभ्य व्यवहार जैसा बनाकर गिरजाघर ले गये। वहाँ उन्हें शिक्षाप्रद कहानियाँ कही गईं, खेल खिलावे गये मिठाइयाँ बाँटी गईं साथ ही एक-एक पेनी भेंट में दी गई। इस दिन बारह बच्चों ने इस प्रशिक्षण में भाग लिया।

मनुष्य में सभ्य तरीके से रहने की लालसा जन्म-जात होती है वह रविवार का प्रशिक्षण इन बच्चों के लिये अपर्याप्त नहीं था।

प्रथम दिन बारह बालक आये थे। वे जब चर्च से लौटे तो उन्हें देखकर दूसरों को अपनी भूल का ज्ञान हुआ तथा वे भी अगले रविवार के दिन इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिए तैयार हो गये।

बालकों की संख्या बढ़ने लगी। रविवार के दिन राबर्ट अत्यधिक व्यस्त रहता था। उसकी यह व्यस्तता इन बालकों को लेकर ही थी। उसे इन बालकों को उत्तम नगरिक बनाने के प्रयास में जो आनन्द मिलता था वैसा अन्य किसी काम में नहीं मिलता था।

रविवार के दिन चर्च जाने से आरम्भ होकर यह कार्यक्रम रविवार के स्कूल के रूप में परिणित हो गया। सेंट केथरिन स्ट्रीट चर्च रविवार के दिन नियमित स्कूल लगाने लगा था। बालकों की देखा-देखी अब बालिकाएँ भी जाने लगी थीं।

धार्मिक, नैतिक शिक्षण तथा स्वस्थ मनोरंजन के कारण इन बालकों की कार्य-क्षमता में भी वृद्धि होने लगी। जिन कारखानों में रेक्स की पाठशाला के बालक काम करते थे, उनके व्यवस्थापक इन बच्चों के आचरण तथा कार्य-कुशलता से बहुत प्रभावित हुए।

चर्च के कई मुख्य पादरी इस प्रकार के बच्चों को चर्च में पढ़ाने के विरोधी थे। उन्होंने रेक्स की योजना का जपकर विरोध किया किन्तु वह रेक्स तथा उसके साथियों के सदुरेश्वर तथा कार्य निष्ठा के आगे ठहर नहीं सके।

कई औद्योगिक संस्थानों के संचालकों से भी राबर्ट रेक्स ने इस प्रकार की रविवारीय पाठशालाएँ चलाने का अनुरोध किया। अपना तथा इन बालकों दोनों का हित देखते हुए इन उद्योगपतियों ने रविवारीय पाठशालाएँ चलानी आरम्भ कर दीं।

राबर्ट रेक्स के साथियों तथा सहायकों की संख्या बढ़ने लगी तथा पाठशालाओं की संख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि होने लगी। १७८५ तक केवल पाँच वर्षों में इन पाठशालाओं में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण पाने के लिए ढाई लाख बालक-बालिकाएँ नियमित रूप से आने लगे थे।

यह सब राबर्ट तथा उसके साथियों की सेवा-साधना तथा लगन के कारण ही सम्भव हो सका था। ऐसे बालक जिनके माता-पिता या तो जेल में थे या वे अनैतिक कामों में लगे हुए थे अथवा गरीबी के शिकंजे में जकड़े हुए कराह रहे थे। उन्हें रंग के बस देना, नहलाना, कमी करना, तेल लगाने के तरीके बताने जैसे सामान्य कार्य के लिए इन्हें रविवार को ही नहीं अन्य दिनों भी घर जा-आकर सिखाना पड़ता था।

आगे चलकर उसकी यह योजना पूरा तरह सफल ही नहीं हुई वरन् उसे यथेष्ट सम्मान भी मिला। महारानी चार्लोट उसके इस मिशन की संरक्षिका बनीं तथा सारे इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा आयरलैण्ड में उसके द्वारा चलायी गयी रविवारीय पाठशालाओं की धूम मच गयी।

इन पाठशालाओं ने बाल श्रम बन्द करने में समुचित योगदान दिया। राबर्ट की मृत्यु सन् १८११ में हुई तब तक ये पाठशालाएँ सप्ताह में छह दिन चलने लगी थीं तथा बच्चों को बाह्य के स्थान पर चार घण्टे ही पैकिट्रियों में काम करना पड़ता था शेष समय में वे इन पाठशालाओं में पढ़ते थे।

राबर्ट की यह योजना महान् उद्देश्य का छोटा-सा मुष्कारम्भ कही जाती है। ऐसा सत्साहस सदा ही स्मरणीय तथा अनुकूलणीय रहेगा।

सार्त्र की जीवन दर्शन पाठशाला

ज्या पाल सार्त्र (अग्रस) संसार के माने हुए दार्शनिक थे। उन्होंने सारा जीवन परमार्थ प्रयोजनों में लगाया। साथ ही जीवन को आनन्द से भरा-पूरा बनाने के लिए उन्होंने अपने अनुभवों का सारा संचोद भा अनेक लेखों में लिखा है। उनके सामने कठिनाइयाँ भी कम नहीं रही पर एक दिन के लिए भी कभी किसी ने उन्हें खिन्न, उद्विग्न या उदास नहीं देखा। वे परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाने में और दूसरों को भी वैसी ही शिक्षा देते थे। उनको शिक्षाओं ने अनेकों के मुरझाये जीवनो में उत्साह भरी किरणें उत्पन्न करने में सफलता पाई।

सार्त्र की एक आँख आरम्भ से ही खराब थी। दूसरी पर अत्यधिक दबाव न डालने के लिए डॉक्टरों ने सलाह दी तो भी वे शिक्षा से वंचित नहीं रहे। पढ़कर सुना देने हेतु उन्होंने अपने घर के लोगों को सहमत कर लिया। इसके उपलक्ष में कुशलता व्यक्त करने और दूसरों के सामने प्रशंसा करने में कभी उन्होंने कोताही न की। कर्कश और रुखा स्वभाव होने पर जो लाभ उठाना उनके लिए कठिन पड़ता वह उन्हें सरलतापूर्वक उपलब्ध होता रहा और उन्होंने अपनी स्मरण शक्ति पर दृढ़ जोर देकर स्नातकोत्तर परीक्षा अच्छे डिवीजन में पास कर ली एवं अपने काम में जुट गये। लेखन कार्य में भी वे दूसरों की महायत्ना लेते रहे। साथ ही जीवन दर्शन पर अति महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सृजन करते रहे। आँखों के अभाव में जो कठिनाई किसी को हो सकती है वे सभी उनके सामने थी। पर इसके कारण न तो कभी उन्होंने बेहरे पर उधारी आने दी, न निराशा व्यक्त की और न अपना काम रोका। कुत्रापे में दूसरी आँख ने भी जवाब दे दिया था पर वे इस पर भी सदा यही कहते रहे कि संसार में कहीं कोई आँखें मेरी हैं। सहायता करने को इच्छुक और उत्सुक लोगो की कमी नहीं मात्र हम अपनी कर्कशता के कारण ही उस सहयोग का लाभ नहीं उठा पाते।

सार्त्र सदैव मित्रों से घिरे रहते थे। उपयोगी ज्ञान का आदान-प्रदान क्रम वे सदा ही चलाते रहते। उनके मित्रों में वृद्ध कम थे और युवक अधिक। इसका कारण वे बताते, मैं युवक जो हूँ। फिर अपने साथियों की संख्या अपनी आयु वालों के साथ ही क्यों न बढ़ाऊँ। उन्हें बुद्धों (मानसिक दृष्टि से) के प्रति चिह्न थी। कारण कि वे सदा अपने अच्छे भूतकाल का बखान करते रहते हैं और भविष्य का आशंकाओं से भरा अनुभव करते रहते हैं। जबकि बुढ़ापे में मनुष्य का आयुष्य और अनुभव परिपक्व होने के कारण वह अधिक उपयोगी होना चाहिए एवं जो उपयोगी है उसका प्रसिद्धि उज्ज्वल होना चाहिए। सार्त्र न परामर्श के लिए कई घण्टों का समय निर्धारित कर रख था। उसमें वे उन्हें प्रसंगों को छेड़ने से जिसमें कठिनाइयाँ के बीच प्रसन्नता से रह सकना और सफलता के मार्ग पर चल सकना सम्भव हुआ हो। ऐसे घटनाक्रमों के लिए उनकी स्मृति एक विश्व कोष माननी जाती थी। जो भी परामर्श वे देते थे उनके पीछे सिद्धान्त की विवेचना खोड़ी और घटना क्रमों की लड़ी बहुत लम्बी होती थी।

उदाहरणों के माध्यम से वे यह गले उतारते थे कि साधन सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार अपनी क्षमताओं को सन्प्रयोजनों में लगाकर अपने क्षेत्र में प्रशंसा के पात्र बनें। साथ ही उन्हें ऐसी घटनाओं की स्मृति भी कम नहीं थी जिनमें कठिनाइयों से घिरे हुए लोगों ने अपने धैर्य, सहस्र और अनवरत प्रयत्न के आधार पर इतना कुछ कर दिखाया जितना कि साधन-सम्पन्न लोगों के लिए भी सम्भव नहीं थे। मनुष्य का पराक्रम कितना सामर्थ्यवान है और किसी को भी किस प्रकार आगे बढ़ाने तथा ऊँचा उठाने में कारगर हो सकता है, इसके रहस्य वे इतने अच्छे ढंग से समझते थे कि किसी को उम्र परामर्श प्रतिपादन में सन्देह न रह जाता था। उनकी मित्र मण्डली में से एक भी ऐसा नहीं था जो अपने को अनेकों के लिए अनुकरणीय न बना सका हो। एक मित्र दूसरे अनेक पित्रों को साथ लेकर आता था। इस प्रकार उनकी नियत समय पर चलने वाली सार्त्त एक प्रकार से जीवन दर्शन की पाठशाला बन गई थी। सुकरात भी ऐसी ही शिक्षा विधि के लिए विख्यात थे। सार्त्त को सुकरात का बेटों सले संस्कारण माना जा सकता है।

यशस्वी गुलाम—ईसप महान

संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में ईसप की कहानियाँ पाई जाती हैं और उनका उपयोग बच्चों को शिक्षा देने में किया जाता है।

ईसप कोई व्यवसायी लेखक नहीं था और न वह प्रचार, बन अथवा यश के लिये कथायेँ लिखता। वह ऐसा कर भी कैसे सकता था। वह बेचारा तो एक गुलाम था। ऐसा गुलाम जो जानकों की तरह बेचा और खरीदा जा सकता था। यह यूनान में ही किसी परम्परागत गुलाम के घर पैदा हुआ था, उसी स्थिति में बड़ा और काम करने लायक होते ही उसके माँ-बाप के स्वामी ने उसके दाप छोड़े कर लिये थे। वह बाजार में बेच दिया गया और तब से न जाने कितनी बार बाजारों में उसकी बोली लगाई जा चुकी थी। ईसप बहुत ही कुरूप और दुबला-पतला भी था। इसलिये कोई स्वामी उसे ज्यादा दिन अपने पास न रखता था। कुछ दिन काम लेकर बेच दिया करता था। ऐसी दशा में पढ़न-लिखन उसके भाग्य में कहाँ से हो सकता था।

ईसप ने अपनी इस शीघ्र-शीघ्र तन्टौली का लाभ अनुभव के रूप में उठाया। तन्हीं अनुभवों को उसने कहानियों के रूप में बदल दिया था। अनुभवजन्य होने के कारण ईसप की कहानियाँ बड़ी मार्मिक, यथार्थ तथा शिक्षाप्रद होती थीं। वह उनमें पशु-पक्षियों का समन्वय करके बड़ी ही रोचक तथा मनोरंजन भी बना लेता था। वह अपनी कहानियाँ अधिकतर बच्चों को ही सुनाया करता था और जब-तब स्वामियों के बच्चे उसे कहानी सुनने के लोभ से घेरे ही रहते थे।

ईसप ने सैकड़ों कहानियाँ गढ़ीं, बच्चों को सुनाई जो कि बच्चों द्वारा बड़ों के पास और बड़ों के मुख से समाज में पहुँच कर यूनान भर में फैल गईं। फिर उसके बाद तो ईसप की कहानियाँ अपनी शिक्षण विशेषता के कारण सारे संसार में ही जा पहुँचीं, जिन्होंने ईसप को

बड़ा ही लोकप्रिय तथा जन-परिचित बना दिया। दूर-दूर से चल कर जन-साधारण, शिक्षित तथा विद्वान् उसके पास आने और कहानियाँ ले जाने लगे। ईसप की प्रतिष्ठा और उसके अचित प्रयोग ने उसे न केवल एक प्रतिष्ठित गुलाम ही बना दिया बल्कि मुक्त करा कर ऊँचे पद पर पहुँचा दिया।

यूनान के राज-दरबार में एक बार एक जटिल प्रश्न आ पड़ा कोई भी दरबारी उसका उत्तर न दे सका। राजा ने ईसप की बुद्धिमत्ता के विषय में सुन रखा था। उसने उसकी परख करने का यह अच्छा अवसर समझा। दूत भेजकर ईसप को दरबार में बुलाया गया। दरबारी लोग उसका फटा-पुराना वेश और कुरूपता देखकर हँस पड़े और उसका उपहास उड़ाने पर आ गये। लेकिन राजा ने सबको शान्त कर ईसप के सम्मुख प्रश्न रखा और उत्तर माँगा। ईसप ने कुछ देर विचार किया और उसके बाद ऐसा उपयुक्त उत्तर दिया कि दरबारियों को अपनी पूर्व भूल पर लज्जित होना पड़ा। राजा बेहद प्रसन्न हुआ उसने ईसप को दासता से मुक्त करा कर अपना सभासद बना लिया किन्तु ईसप का वही सम्पन्न अन्य सभासदों की ईर्ष्या के कारण उसके प्राणों का ग्राहक बन गया।

ईसप अन्य गुलामों की तरह अपनी स्थिति पर रोते रहने वाला गुलाम नहीं था। उसने अपने को बड़ा ही सामंजस्यपूर्ण तथा शिष्ट बना लिया था। वह गुलाम होकर भी स्वामियों को अपनी सभ्यता और शैलीनता का परिचय देता रहता था। जो भी काम करता था पूरी दक्षता, मनोयोग के साथ अपना समझ कर करता था। उसने किसी प्रकार भी अपनी स्थिति पर असंतोष प्रकट नहीं किया। वह सदैव संतुष्ट तथा प्रसन्न ही रहा करता था। प्रतिकूलतायें कम तक गुणी को छिपाये रख सकती हैं या कम तक उसका मार्ग रोक सकती हैं? गुणों ने ईसप की गरिया बढ़ाई और समय की संस्था में उसका मूल्यांकन हुआ। उसे एक मालिक मिला जिसके पास रह कर वह और अधिक प्रगति एवं विकास कर सका।

एक स्वामी से अन्य दासों के साथ ईसप को बाजार में बेचने के लिये लाया। ईसप तो कुरूप और क्षीणकाय था ही, दूसरे दोनों दास भी बड़े हीठ और कामचोर मालूम होते थे। बाजार के सारे दास बिक गये लेकिन इन तीनों को किसी ने नहीं पूछा। मालिक बड़ा परेशान था। वह उन्हें बेचना ही चाहता था। उसने उनका मूल्य भी घटा दिया। एक बूढ़ा दार्शनिक सस्ते माल की खोज में आया और उसने धैर्य-ताव करके दासों की शोषण परखने के लिये प्रश्न किया—“तुम लोग क्या काम कर सकते हो?”

दो दासों में से एक ने तो रटा उत्तर कि “मैं कुछ भी कर सकता हूँ।” दूसरे ने कहा—“मैं सब कुछ कर सकता हूँ।” अब ईसप का नम्बर आया तो उसने बड़े बंग से उत्तर दिया—“मालिक! हमारे साथियों में से जब एक कुछ भी कर सकता है और दूसरा सब कुछ कर सकता है तो मेरे करने का रह ही क्या जाता है?”

वह दार्शनिक आश्चर्य ईसप का उत्तर सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ उसने उसकी प्रतिष्ठा पहचानी और केवल उसी को खरीद कर घर ले आया। मालिक ने ईसप के साथ अभी घर में प्रवेश भी नहीं किया

३.३८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

या कि मालकिन दूर से ही देखकर बरस पड़ी— “क्या बाजार भर से सब दास घर गये थे, जो इस काले कुरूप जानवर को खरीद लाये हो । ले जाकर वापस करो मैं इसे अपने घर में नहीं रखूंगी ।”

मालिक ईसप को अलग ले जाकर बोला— “ईसप ! अब इस घर में तुम्हारा रह सकना तुम्हारी इस योग्यता पर निर्भर है कि मालकिन को प्रसन्न कर लो । मैं तुम्हें अपने पास से अलग नहीं करना चाहता ।” ईसप ने बड़े आत्मविश्वास से कहा— “मालिक चिन्ता न करें, मेरी सेवाएँ मालकिन को इतना प्रसन्न कर लेगीं कि यदि आप मुझे बचाना भी चाहें तो वे बेचने न देंगीं ।”

और हुआ भी यही । मालिक से अधिक मालकिन प्रसन्न रहने लगी । ईसप को बड़ी सुविधाएँ मिल गई । यहीं उसने पढ़ना सीखा और यहीं पर अधिकांश कहानियाँ गयीं । यहीं से उसने अपना विकास किया और यहीं से राजसभा में पहुँचा ।

राज-दरबार में ईसप की प्रतिष्ठा से सप्तासद जमने लगे और उन्होंने उसे नीचा दिखलाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया । तभी स्किथ्स के राजा क्रूसस ने यूनान पर चढ़ाई कर दी । आक्रमण की शक्ति अधिक थी । यूनान कमजोर पड़ गया । सन्धि के सिक्के और कोई उपाय न था । प्रस्ताव रखा गया और स्किथिया का राजा सन्धि करने को तैयार हो गया, पर यूनान की तरफ से उस विजेता के दरबार में वार्ता करने जाय कौन ? सभी को क्रूसस की ओर से मनमानी बातों का डर था । ऐसी दशा में या तो वार्तिक को असफल होना था या फिर राज्य की हानि पर अपने राजा का कोपभाजन बनना था । सप्तासदों ने ईसप को नीचा दिखलाने का यह अच्छा मौका देखा और राजा को समझाकर ईसप को सन्धि-वार्ता करने के लिये भिजवाया ।

ईसप क्रूसस के दरबार में पहुँचा । लेकिन उसने उसका कुरूप चेहरा देखकर घृणा से मुख फेर लिया और बात करने से इकार कर दिया । ईसप निराश न हुआ । उसने विनम्रतापूर्वक कहा— “श्रीमान मेरा कुरूप मुख न देखें । लेकिन यों ही मुख फेरे-फेरे मेरी एक कहानी अवश्य सुन लें ।” क्रूसस ने जिज्ञासावश स्वीकृति दे दी । ईसप ने एक जिड़िया की बड़ी ही मार्मिक तथा करुणापूर्ण कहानी सुनाई । क्रूसस का हृदय द्रवित हो गया और वह यूनान को स्वतन्त्र करके चला गया ।

ईसप की इस सफलता ने उसके सम्मान में चार चोंद लगा दिये । किन्तु ईर्ष्या ने दरबारियों को पिशाच बना दिया था । उन्होंने एक बार ईसप की अनुपस्थिति में राजा की एक बहुमूल्य सुराही उसके बिस्तर में रखवाकर चोरी का अभियोग लगा दिया और न्यायकर्ताओं पर प्रभाव प्रयोग कर उसे मृत्यु-दण्ड दिला दिया ।

ईसप को एक पहाड़ की चोटी से गिराकर मार डाला गया । वे नर-पिशाच दरबारी आज ससार में नहीं रहे किन्तु ईसप की महान् कहानियाँ, कीर्ति और सदाशयता के आधार पर अब भी जीवित हैं ।

हँसती हँसाती जिन्दगी

महान् कहानी लेखक ईसप छोटे बच्चों के साथ खेल रहे थे और उन्हीं की तरह हँसने-चिल्लाने और कुछ बनाने-बिगड़ने में व्यस्त थे । नगर के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ईसप की इन बालक्रीड़ाओं को देखा

और उनकी महानता का स्मरण दिलाते हुए अपना समय नष्ट करने का कारण पूछा ।

ईसप ने उत्तर में खूंटों पर से खुली प्रत्यंचा का धनुष उठाकर दिखाया और कहा यदि इसकी डोरी सदा खिंची रखी जायेगी तो यह समय पर काम देने योग्य न रहेगा । इसी प्रकार यदि मनुष्य सदा गम्भीर और तनावग्रस्त रहे तो वह अपनी विशिष्टताएँ खोती ही गँवा बैठेगा । मनुष्य के लिए हँसना-हँसाना भी आवश्यक है ।

ईसप की नीति शिक्षा

(१)

पिता के मरने के बाद उसके मोले किन्तु उदार लड़के को खेतों का सारा कसौदार सँभालना पड़ा । लड़के ने देखा कि अंगूरों के हरे भरे खेतों के किनारे नागफनी के कँटीले पौधे लगे हुए हैं । लड़के को यह खचित मालूम न हुआ कि अंगूरों के साथ कँटीले पौधे भी रहें, उसने तुरन्त ही सब नागफनी उखड़वाकर फेंक दी । दूसरे दिन से ही जंगली पशु उस खेत में निधड़क आने लगे और एक पखवाण भी न होने पाया कि सारे खेतों का उजाड़ कर गये । तब लड़के की समझ में आया कि अंगूरों की सिफजत के लिए नागफनी की भी जरूरत है ।

दण्ड की व्यवस्था हुए बिना दुष्टों से रक्षा नहीं हो सकती ।

(२)

एक बच्चे ने बिच्छू को जप-सा सू दिया, इस पर बिच्छू ने उसे डक मार दिया । बालक रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और कहने लगा— देखो माँ, मैंने उस बिच्छू को कुछ भी नुकसान न पहुँचाया था, सिर्फ सू भर दिया था, इस पर ही उसने मुझे डक मार दिया । माता ने कहा— तुमने उसे झूठ झोड़ दिया, इसीलिए तो उसने काट ही खाया अगर देखते ही उसे मार डालते तो उसे काटने का मौका न मिलता ।

दुष्ट को देखते ही उसका मुँह जला देना चाहिए ।

(३)

प्यास के मारे घबराया हुआ एक कबूतर इधर-उधर उड़ रहा था । उसने बाजार में एक दुकान पर ठण्डे पीठे शरबत का साइनबोर्ड लगा देखा । उसे विश्वास हो गया कि यहाँ मुझे पानी मिल जायेगा । इसलिए वह उस दुकान पर उतरा । अफ़सोस वह तरबूत पर बैठने भी न पाया कि दुकान वाले ने उसे पकड़ लिया और बावर्ची के सुपुर्द कर दिया ।

निर्बल की कोई सहायता नहीं करता ।

(४)

सृष्टि से आदि में जब सब जीव अपना-अपना काम करने लगे तो पशुपक्षियों ने अपने छत्ते में पशु जया करना आरम्भ किया ।

उम मधु का देवता लोग बहुत पसंद करते और नित्य उनके को निचेड़ ले जाते । पक्खियों के कार्य से इसन्न होकर ब्रह्माजी ने उनसे कहा — बर माँगा । मधुपक्खियों ने कहा— भगवन् हमें ऐसा ठंक दीजिए जिससे पुष्पखोरों को यज्ञ चखा सकें और अपनी कमाई की रक्षा कर सकें । ब्रह्मा जी ने उन्हें इक दे दिया ।

सीधे आदमी को हर कोई अनुचित रीति से सत्कता है ।

(५)

एक आदमी को कुत्ते ने काट खाया । एक आदमी ने उसे सलाह दी कि अपने घर के लोह में भीगने हुई रोटी कुत्ते को खिलाओ तो तुम्हारा घाव अच्छा हो जायेगा । वह उपाय सुनकर वह आदमी हँस पड़ा और बोला— इस उपाय को करने का मतलब है कि काटने वालों की संख्या और बढ़ाऊँ ?

जालिम को रिश्वत देकर अपना झुटका कराने का अर्थ है कि अपने तथा दूसरों के ऊपर अधिक कुत्त कलने का निमन्त्रण देना ।

(६)

जाड़ों के दिनों में एक किसान अपने घर लौट रहा था, रास्ते में उसने देखा कि एक साँप ठण्ड से अकड़ा पड़ा है । किसान को उस पर दया आई वह उसे उठाकर घर ले आया और भाग के पास तपाने के लिये रखा दिया । जब साँप की ठण्ड छुटी और शरीर में गर्मी आई तो वह किसान के बच्चों को काटने लगका ।

किसान ने यह कहते हुए उस साँप का मुँह कुत्तल डाला कि— दुष्ट के साथ बलमनसाहत करना बेकार है ।

दक्षिण के विनोबा कुट्टी जी

स्नायु रोग के तेज आघात से उनके दोनों हाथ खराब हो गए । जिसने सुना वही पीड़ा से कराह उठा । हरेक के मुँह से निकल पड़ा अरे ! अब क्या होगा ? जो हमेशा दूसरों की सेवा के लिए तत्पर रहा करता ही उसे अब स्वयं के भोजन के लिए दूसरों का सहाय तकल पड़ेगा । मित्रों ने पूछा “अब क्या होगा आपकी सेवा का ?” “क्यों ? वह तो चलती रहेगी” उनका जवाब था ।

“कैसे ?” सुनने वाले आश्चर्यचकित थे ।

“अरे भाई ! हाथ ही तो खराब और बेकार हुए हैं । अभी मेरे पास भावनाओं से लबालब हृदय, सक्रिय, सतेज मस्तिष्क और सुदृढ़ पैर हैं ।”

“भला इनसे कैसे करेंगे सेवा ?” “ओह ! शक्यद आप नहीं जानते आज मनुष्य को दूसरों की शारीरिक सहायता की उतनी जरूरत नहीं जितनी मानसिक सहायता की । शारीरिक सेवा तो सिर्फ बीमारों को चाहिए । ऐसे कितने हैं ? बहुत थोड़े । अधिकांश जनसंख्या जो शरीर से स्वस्थ रहते हुए मानसिक रूप से बेतराह परेशान है । उसकी सहायता तो विचारों से ही हो सकता सम्भव है ।”

सुनने वालों को उनकी बात कितनी सपन्न में आयी पता नहीं । पर उनकी पदयात्रा शुरू हो गई । घर-घर, दरवाजे-दरवाजे पहुँचने लगे । हरेक से मिलते बड़े प्रेम से उसके घर का हाल-वाल पूछते उनकी हैरानी परेशानी कलुम करते और उपयुक्त समाधान सुझाने

कभी-कभी उनके इस तरह पूछने पर लोगों को अत्यधिक विस्मय होता जिसके स्वयं हल नहीं हैं वह हमारी तकलीफें पूछ रहा है । कभी कभार इसे प्रकट भी कर देते । सुनकर वह कहते “मेरे तो हाथ रोग से बरबाद हो गए । पर ऐसे न जाने कितने जो सब कुछ सही खयाल रखते हुए पटक रहे हैं, उन्हें यह नहीं सूझ रही क्या करें ? कैसे करें ? मेरा काम उन्हीं पटककों को राह दिखाना है । उन्हें जीवन का मर्या सुझाना है । यह बात उनके गले उतारनी है कि अभावों का रोना मत रो अभी भी तुम्हारे पास ऐसा कुछ है जिसका उपयोग कर स्वयं निहल हो सकते हो औरों को निहल कर सकते हो ।”

कर्नाटक के पेलुकीटे नामक स्थान में जन्मे इस अलौकिक लोक-सेवी ने अपने समूचे प्रान्त की तीन बार पदयात्रा की । लोग उन्हें सत्क-समर्ष मानने लगे । उनके बारे में यह बात फैल गई कि वह तत्काल तरह की समस्याओं को हँसते-मुस्कुराते सुलझा देते हैं किसी ने पूछा कौन से तप द्वारा आपको यह शक्ति मिली ? सत्साहित्य के अध्ययन से । यही मेरा वह तप है जिसके द्वारा स्वयं शक्ति पाता और औरों को बाँटता हूँ ।

उनकी ख्याति को सुनकर तमिलनाडु निवासियों ने अपने यहाँ आने का आग्रह किया । सारा भारत मेरा घर “नीति के मानने वाले थे वहाँ भी पहुँच गए । थोड़े ही प्रवास से तमिल भाषा सीखकर तमिलनाडु में अपनी पदयात्रा शुरू कर दी ।”

उनका समूचा जीवन पुखार होकर प्रेरणा देने लगा । वाणी के द्वारा इसे वह मर्मस्पर्शी व सौ गुना अधिक प्रभावशाली बनाने लगे एक बार तंजौर जिले के एक गाँव में सभा हो रही थी उन्होंने कहा यदि हम सब एक-दूसरे के दुःख-दर्द में हिस्सा बाँटना सीख जाएँ तो परेशानियों का सौआ खुद ही गायब हो जाए । गाँव में विद्यालय की समस्या थी । इसके निदान के लिए धन इकट्ठा करने की बात आयी सभा में सन्ध्या हो गई । थोड़ी देर बाद एक अध्यापिका तानपुरे को ठीक करते उत्र । मंच के पास आया और गोंठ खोलकर पैसे गिनने लगा । कुल एक रुपए के पैसे उसके पास निकले । सबक सब उसने दान में दे दिये । कई दिन की बची हुई कमाई का सारा भाग समर्पित करने वाले पिछारी को देखकर औरों की बँलियाँ खुलीं, समस्या सुलझ गई ।

चलते-फिरते समस्याओं का निदान प्रस्तुत करने वाले इस व्यक्ति से विनोबा जी अपनी भूदान यात्रा के समय मिले । गाटे कद के दोनों हाथों से सहित इस व्यक्ति को देखकर उन्होंने कहा वह वामन नहीं विराट हैं जिन्होंने अपने पैरों से पूरे दो प्रान्तों को नाप लिया विनोबा ने उन्हें चलते-फिरते विश्वविद्यालय का नाम दिया जो हरेक का दरवाजा खटखटाकर उन्हें जीवन विद्या की सीख देता है । सीख

देने वाले ये व्यक्ति थे येनुगोहे जो अपने नाते बन्ध के कारण जनन में कुट्टी जी के नाम से विख्यात हुए। सचमुच वे चलते-फिरते विश्व-विद्यालय थे।

अविनीतः धर्मो रक्षति रक्षितः

अविनीत सुनने वाले की भौंहों पर बल पड़ गए। उनके की रेखाएँ कुछ गहरी हुई। स्वर में कसैलापन झलकने पर अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। कुछ बुदबुदाते हुए उसने एक ओर कदम बढ़ाए। शब्द अस्फुट और अस्पष्ट भले हों किन्तु उसके चेहरे से यही लग रहा था जैसे वह कह रहा हो धर्मियों के इस महानगर में यह अधार्मिक कहाँ से आ गया? पर विधस्ताक थी। उसके बिना किसी का काम भी तो नहीं चलता।

उसका यह महानगर अब तो गहरे शोध प्रयत्नों का विषय बन चुका है। लेकिन इस समय को भौतिक विज्ञान के भूतत्त्व विरोध तथा प्राणिशास्त्र के विशारद एकमत से स्वीकार कर चुके हैं कि पृथ्वी की केन्द्र ध्युति से पहले उत्तर दक्षिण दोनों ध्रुव प्रदेशों में मनुष्य मुख पूर्वक रहते थे। इसी दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में एक महाद्वीप या अन्तःकूर्मिक जिसे अब अपटार्क्टिक कहते हैं। इसी के एक महानगर की बात है यह, जिसे अन्तःसालिक नाम से जाना जाता था।

यों अभी भी इस क्षेत्र में अनेक रहस्य हैं। इनमें से कुछ को आधुनिक अन्वेषकों ने भी स्वीकार है। जैसे वहाँ प्रत्येक वस्तु में दाहिने घूमने की विविध प्रवृत्ति है। आँधियाँ दक्षिणावर्त चलती हैं। वहाँ के पक्षी बायें से दाहिने मण्डलाकार चलते हैं। प्रकृति की यह शक्ति मन पर भी अनेक प्रभाव डालती है। मन बहुत कम बाहरी दृश्यों और कथ्यों में रस ले पाता है। स्वभाव से चुपचाप बैठने और अन्तर्मुख होने का जी करता है यहाँ।

जहाँ प्रकृति स्वयं अन्तर्मुख होने में सहायक है, मनुष्य एकमत प्राप्त करने के अनेक साधनों को जीवन में उत्तार ले इसमें आश्चर्य की बात क्या? महाद्वीप के प्रत्येक नगर में बहुत कम कोलाहल था। यहाँ पर बहुत जरूरी होने पर ही कोई निकलता था। जीवन बहुत सादा और परिग्रह रहित।

कोई कान बन्द किए दोनों कानों में गुटिका लगाए बैठे हैं। अनन्त के माधुर्य के समान जगत के सारे रस उसे फेंके लग रहे हैं। कोई जिह्वा का दोहन-छेदन कर उसे कण्ठ छिद्र में दबाए गगन गुप्ता से झरते रस के आस्वादन में मग्न है। इस स्वभाव का विचित्र परिणाम यह हुआ कि लोगों में बोलने की प्रवृत्ति नहीं रह गई, सुनने के लिए तो जैसे किसी को अवकाश ही न था।

बस पूरे अन्तःसालिक नगर में अगर कोई अपवाद था तो बस अविनीत। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तर्मुखता के प्रयत्नों, उपलब्धियों और अपने धार्मिक होने पर गर्व था। वहीं रहकर उसने कभी अन्तर्मुख होने की कोई चेष्टा नहीं की। किसी के टोकने पर वह हँसकर बोल पड़ता। क्या परमात्मा तुम्हारे इसी झड़-झंस के पिटार में कैद है? बाहर की दुनिया में उसका अभाव है क्या? सुनने

वाले का चिढ़ना सहज था। लेकिन सबको उचित सम्मान देता था वह, शायद उनके धार्मिक होने के गते।

“मेरा पशु कीचड़ में फँस गया है। मैं अकेले उसे नहीं निकाल पाऊँगा। यदि आप चलते।”

वह शब्द विनय के कुछ और शब्द कहता तभी कानों में यह नाम पड़ा ‘अविनीत’। मन ही मन झुंझलाकर रह गया लेकिन कहने वाला सहज वंग से कह रहा था— मेरे सम्बन्धकालीन कृत्य का समय है। नियम को भंग करना असम्भव है। आप उसी को ढूँढ़ लें। अब विवशतावश इस अधार्मिक व्यक्ति से आश्रय लेना ही था।

मैं बीमार हूँ, बच्चा बहुत कष्ट में है। चिकित्सक को बुला देने की कृपा करेंगे आप। एक रोगी पड़ोसी से प्रार्थना करने के अलावा और कर भी क्या सकता है?

“मैं अर्चन में बैठने जा रहा हूँ। आराधना में व्यक्तिक्रम अभीष्ट नहीं। आप यह पर नजर रखें अविनीत आता होगा इधर से।” उत्तर अप्रिय अवश्य है किन्तु प्रार्थना करने वाले को मालूम है कि इस परिस्थिति में उसका उत्तर भी बही होता।

‘अविनीत’ इस शब्द के उच्चारण के साथ हरेक के मन में उपेक्षा, तिरस्कार, फटकार के भाव घुल जाते हैं, आखिर वह अधार्मिक जो है। पर वही एक आश्रय भी है इन विपत्ति में पड़े लोगों का। वह किसी के लिए औषधि लाने टौड़ रहा है और किसी के लिए चिकित्सक बुलाने। किसी का खोया पशु उसे ढूँढ़ना है अथवा किसी के प्रियजन तक संदेश पहुँचा देना है। बनावट, कृत्रिमता तथा संकोच उसमें नाम का नहीं।

सबके कार्य करके, सबकी सहायता करके, सबसे भिन्न रीति से रहने वाला वह अविनीत है बड़ा विचित्र। सभी कहते हैं सांसारिक है यह। कोई अन्तर्मुख होने का साधन उसने नहीं अपनाया। उससे सेवा चाहे जितनी लोग लें, समाज में तिरस्कृत उपेक्षणीय ही है वह।

अचानक एक रात वह चौक कर उठा। काफ़ी कोशिश के बाद अपने गोल भवन का दरवाजा खोलने में समर्थ हुआ। बाहर उसने जो कुछ देखा उसे देख कर फूट-फूट कर रोया।

उसे अपने आप-पास कुछ नहीं दिख रहा था। कोई भवन, कोई मार्ग, कोई जीवन बिड़ सेव नहीं थे पृथ्वी की केन्द्र ध्युति हुई है यह कौन बतलाता। सम्पूर्ण सृष्टि पर इतने अंधकार छाया दिख रहा था वैसे अंधकार से कहीं अधिक भयानक था यह सफेद अँधेरा।

एक रात में संपूर्ण अन्तःकूर्मिक द्वीप आज के अपटार्क्टिक में बदल गया था। पूरी रात में कितना हिमपात हुआ, जानने का कोई साधन नहीं था, कदम बढ़ाते ही अविनीत कमर तक कोमल बर्फ में धँस गया। कठिनाई से निकलता लेकिन अब तक भवन का द्वार भी हिम के गर्भ में अदृश्य हो चुका था, जिसमें से वह अभी बाहर आया था।

वह सिर पकड़ कर बैठ गया और रोता रहा। उसकी आँखों के सामने धुंधलका गहरता गया। लगा उसका शरीर ही नहीं मन, विचार शक्ति, समूची चेतना एक गहरे अँधेरे में विलीन होती जा रही है।

रटा बन्स । पन्द्रह मिनट की तनी दर के बाद एक कोमल स्पर्श का उसे आभास हुआ । आभास वा सत्य ? उसने बड़ी कठिनाई से आखें खोली— सार शरीर अभी भी वक्त्रन से चूर था । उसे अनुभव हुआ कि उसका धिर किसी की गोद में है, किसकी ? यह खेच पाए इसके पढ़ने एक बंदोशी पुन उसे दबाने लगी ।

धिर पर लम्ह भरी धपको देने वाले महापुरुष के प्रयत्न उसे होश में लाए । अब वह चैतन्य था । कम्पने देर बाद वह विश्वास कर सका— यह यश नहीं बल्कि जीवित है और यह हिमाच्छादित प्रान्त अन्न कृषिक द्वारा नहीं— बल्कि हिमालय है— और ये महापुरुष अध्यात्म के इस भुव केन्द्र में रहने वाली सिद्ध मण्डली के सदस्य परम सिद्ध कहैया है

लेकिन स्वस्थ होने ही उसका मन पुन चिन्ता से धिर गया । सामने बैठे महापुरुष ने करण पृष्ठ— उनके स्वर में पर्याप्त वात्सल्य था

“वह पुरा महादेश धार्मिक था । धर्म को जो धारण करता है, धर्म उसे धारण करता है।” किसी समय धर्म से मुने वचनो को स्मरण कर वह कह रहा था “धर्म ने वहां के धार्मिक लोगों का धारण रक्षण क्यों नहीं किया ?”

“किया तो अवश्य पर धार्मिक का, उनका नहीं जिन्हें अपनी धार्मिकता का दम्भ था ।” महासिद्ध के होंठों पर रहस्यपूर्ण मुस्कान धिरक रही थी

“मैं और धार्मिक ?” उसे इस विकट परिस्थिति में भी हंसी आ गई । हंसी धमने पर उसने उन कृपा पुरुष की ओर देखा ।

“उन परम सिद्ध की आँखों से अभी भी स्नेह झर रहा है । अविनीत को सम्बोधित कर वे बोले वे सभी दय के पात्र थे बन्स । उनके साधनों की भीड़ में साध्य कहीं खो गया था । काश वे जान सके होते अपनी उल्लनामयी झूठी तपस्या के बारे में । साधना धार्मिकता की ओर बढ़ चलने के प्रच्छन्न पुरुषार्थ का नाम है पुत्र । महासिद्ध एक क्षण के लिए रुके दूसरे ही क्षण उनकी-वाणी का प्रवाह-हिमसरिता के समान बह चला और धार्मिकता है संवेदनशीलता का चरपोतर्क । इसको प्राप्ति के लिए एक ही साधन है दूसरों की ज्ञानि के लिए अशान्त होना, अपने आप को दुर्लभ द्रष्टा की भाँति निच्छेद कर महाअज्ञान के चरणों में उड़ेल देना । तुम इस साधना में सिद्ध हुए हो । तुम्हारी धार्मिकता के कारण उस महाअज्ञान की प्रेरणा मुझे तुम्हारे पास ले गई और आज तुम यहाँ सिद्धों की मण्डली के सदस्य हो ।”

अविनीत आश्चर्य से सब कुछ सुन रहा था, धर्म और साधना के गूढ़ तत्व उसे प्रच्छन्न हो रहे थे । तभी हिमालय के श्वेत धुँधलके से कुछ छायाएँ उभरीं जो पास आकर प्रत्यक्ष हो गईं, सभी दिव्य ऋषि मन्त्रण थीं जिनका सान्निध्य प्राप्त हो रहा था । सामने योजनों तक रुई का तरह बर्फ का सम्राज्य था ।

अविनीत अभी भी अपनी सिद्ध देह से हिमालय के अदृश्य परिकर में रहने वाले कारक पुरुषों के साथ रहते हैं । सिद्ध सम्राज में उनका नाम अब अविनीतपुत्र लिया जाता है । माटीय ब्लाकतास्की

जैसे अधिकारियों ने उनके दर्शन किए हैं । यह सुलभता उनके लिए भी होना सम्भव है जिन्होंने उन्हीं की भाँति धर्म-साधना को समझा हो ।

योग-विद्या के अन्वेषक— स्वामी कुवलयाणन्द

जिन्होंने योग-शिक्षा द्वारा सम्राज का आध्यात्मिक पुनर्निर्माण करने के लिए सारा जीवन अर्पित कर दिया था, ऐसे असामान्य योगी स्वामी कुवलयाणन्द जी के देहावसान से भारत एक महान् आध्यात्मवादी विद्वान् से वंचित हो गया है । स्वामी का कुछ वर्ष पहले ही स्वर्गवास हुआ है ।

स्वामी कुवलयाणन्द का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुनरुत्थान, आधुनिक विज्ञान और योग के समन्वय एवं नित्य जीवन में उसका सम्बन्ध स्थापित करने से ही हो सकेगा । उन्होंने योग द्वारा अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा की अन्वेषण एवं आविष्कार कर उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का सतत प्रयास किया था । योग-विद्या, जो अब तक केवल विशिष्ट योगियों तक सीमित गढ़ ज्ञान माना जाता था, उसे सामान्य साधक की पहुँच तक लाने का अधिकार श्रेय ‘कैवल्य घास’ के संस्थापक स्वामी कुवलयाणन्द जी को ही है ।

स्वामी जी का जन्म सन् १८८३ में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनका पूर्वजन्म का नाम जगन्नाथ गुणे था । उन्हें अपनी शिक्षा-टीका के लिये सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ा था । स्वामी जी ने बाल्य में ही आजन्म ब्रह्मचारी रहने तथा सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी, जिसका उन्होंने अन्त तक पालन किया ।

स्वामी जी ने अपने जीवन के तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे—(१) धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा द्वारा राष्ट्र-निष्ठ तेजस्वी राष्ट्र पीढ़ी का निर्माण । (२) शारीरिक बल-संवर्धन की भारतीय पद्धतियों का आधुनिकीकरण कर उनका शिक्षा-योजना में समावेश और (३) शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से योग का आधुनिक विज्ञान से समन्वय कर अध्यात्म और विज्ञान में अद्वैत सिद्ध करना ।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं भाषाओं की जाननी संस्कृत का गहन अध्ययन कर उसका शिक्षा-संस्थाओं में प्रचार किया । सन् १९२३ तक खानदेश शिक्षण-संस्थान द्वारा संचालित ‘नेशनल कॉलेज’ में प्राचार्य एवं रेक्टर के पद पर रहकर उन्होंने इस दिशा में असाधारण प्रगति की थी ।

दूसरे उद्देश्य की सिद्धि के लिये स्वामी जी ने बड़ौदा के सुविख्यात शारीरिक शिक्षा-विशेषज्ञ प्रोफेसर मानिकराव से मार्गदर्शन प्राप्त किया तथा उनके सक्रिय सहयोग से सन् १९०७ से १९१० तक की तीन वर्ष की कालावधि में बड़ौदा राज्य में अनेक व्यायामशालायें तथा खेल कूद संस्थायें स्थापित कीं । उनका अद्वैत-विश्वास था कि सुदृढ़ राष्ट्र

३.४२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

निर्माण एवं विश्वबन्धुत्व के लिये पुस्तकीय पढ़ाई के साथ-साथ शरीर-संवर्धन एवं क्रीड़ागण के खिलाड़ी जीवन की भी अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु शारीरिक शिक्षा की अल्प-कल्पनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने में उन्हें सन् १९३७ तक प्रतीक्षा करना पड़ी। सन् १९३७ में बम्बई सरकार द्वारा शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए एक समिति गठित की गई और उक्त समिति के अध्यक्ष पद पर स्वामी जी की नियुक्ति हुई। स्वामी जी बम्बई राज्य शारीरिक शिक्षा मण्डल के अध्यक्ष के पते पर रह कर्य तक इस कार्य में सलग्न रहे और अपने निदिध्यास और सतत परिश्रम से बम्बई राज्य में शारीरिक शिक्षा की होस बुनियाद कायम की।

अपने तीसरे उद्देश्य में अख्यान्य और विज्ञान के समन्वय को प्रत्यक्ष प्रमाणित करने के लिये स्वामी जी ने सन् १९१७ में गुजरात में मात्सर स्थान परपहस स्वामी पाधयदास जी महाराज से योग की दीक्षा ली। स्वामी जी ने सन् १९२४ में पूना के समीप लोनावला में 'कैवल्य-धाम' नामक एक योगशाला की स्थापना की। यह संस्था भारत में ही नहीं, सारे संसार में अपने ढंग की अनेकों संस्था है। जहाँ प्रयोगों द्वारा योग व आधुनिक विज्ञान की सुसूत्र सिद्ध की गई है और योग को व्यावहारिक एवं वास्तविक स्वरूप देकर उसके द्वारा आत्मोन्नति के साधन ही रोग-चिकित्सा किस तरह की जा सकती है इसकी प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा शिक्षा दी जाती है। प्रति वर्ष भारत के कोने-कोने से सैकड़ों जिज्ञासु पुरुष एवं रोग-ग्रस्त व्यक्ति वहाँ जाकर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते हैं। कई विदेशी सज्जन भी इस संस्थान में रहकर योग पर आविष्कार का कार्य कर रहे हैं।

प्रथम आश्रम का कार्य एक मामूली किनारे के मकान में आरम्भ किया गया था पर आज 'कैवल्य-धाम' की खुद की लगभग १०० एकड़ भूमि है, जिसमें विविध प्रकार की अनुध्यागिक संस्थाएँ स्थापित हैं। संस्था की तीन शाखाएँ हैं — बम्बई, राजकोट (गुजरात) व कनकेश्वर महाराष्ट्र में।

स्वामी जी के कार्यदर्शन में उपलब्ध संशोधन कार्य को सारे संसार में मान्यता प्राप्त हुई है। वहाँ विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध और मुद्रा आदि के अतिरिक्त ध्यान-समाधि व भूगर्भ-समाधि इडा और पिंगला नाड़ियाँ आदि का भी शास्त्रीय परीक्षण किया जाता है। संस्था की प्रयोगशाला में लगभग दो लाख के आधुनिक शास्त्रीय उपकरण हैं, जिनके द्वारा मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर के विविध मज्जातंतुओं की क्रियाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन किया जा सकता है। तत्त्व-ज्ञान युक्त साहित्य की दृष्टि से योगशास्त्र पर एक कृत् कोश तैयार करने का कार्य जारी है। साथ ही १९५० से उपाधि प्राप्त स्नातक विद्यार्थियों के लिए स्वामी जी ने एक 'योग-विद्या महाविद्यालय' भी स्थापित किया। सेठ माखन लाल सक्सेरिया की उदार आर्थिक सहायता से यह सब सम्भव हुआ। यशस्वी छात्रों को योगशास्त्र की उपाधि प्रदान की जाती है। गत कुछ वर्षों से एम. एस.सी. उत्तीर्ण छात्र भी उक्त महाविद्यालय में प्रविष्ट हो रहे हैं। पाठ्यक्रम में योग, भारतीय ज्योतिष-ज्ञान, शरीर विज्ञान, मानव-शास्त्र तथा आसन, क्रिया, बन्ध, मुद्रा,

प्राणायाम आदि की शिक्षा दी जाती है। कॉलेज से सलग्न एक सुसज्ज पुस्तकालय भी है।

'कैवल्य-धाम' की स्थापना के समय ही स्वामी जी के पास योग सम्बन्धी संशोधनात्मक साहित्य पर्याप्त मात्रा में संग्रहित था। अतएव उन्होंने उसके आधार पर 'योग-मीमांसा' नामक वैमर्शिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'योग-मीमांसा' द्वारा स्वामी जी का भारत तथा विदेशों में अच्छा प्रचार हुआ और उनकी लोकप्रियता में पर्याप्त वृद्धि हुई। महत्त्व गांधी, महात्मा फाल्गुनी, पं. मोतीलाल नेहरू आदि नेताओं ने भी उनके कार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

'आसन और प्राणायाम' सम्बन्धी स्वामी जी का साहित्य न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। इन पुस्तकों में स्वामी जी ने अपने दीर्घ व्यक्तिगत अनुभव मूलगामी शास्त्रीय विचार एवं परम्परागत शिक्षा के आधार पर योग-शास्त्र का सरल भाषा में सुसम्बद्ध प्रतिपादन किया है।

स्वामी जी का साधु-संन्यासी एवं योगियों के लिये निर्धारित गेरुए वस्त्र आदि परिधान पर विश्वास नहीं था। अतः उन्होंने सर्वसाधारण वेश-भूष में ही अपना जीवन बिताया। वे नियमित रूप से कुछ समय तक गायत्री मन्त्र के जप तथा आत्म-चिंतन में लीन रहा करते थे पर उन्होंने कभी सिद्धि प्राप्त करने, बलत्कार कर दिखाने आदि भौतिक प्रवृत्तियों में अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया। मनुष्य मात्र की शारीरिक एवं मानसिक क-धियों का निराकरण कर उसे अध्यात्मिकता की ओर अप्रसर करके, यही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, जिस पर वे अन्त तक आरुढ़ रहे। हृदय-व्यथा और वृद्धावस्था के बावजूद वे 'कैवल्य-धाम' के नित्य कार्य में अन्त समय तक जुटे रहे।

स्वामी जी का यह विश्वास था कि जब तक मनुष्य स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, भय आदि विषयों से अलिप्त नहीं हो पाता तब तक स्थायी विश्व-शान्ति की अकल्पनीय है। उनकी मान्यता के अनुसार योग इस ध्येय प्राप्ति के लिये एक परिणामकारी साधन हो सकता है।

जिसके द्वारा राजकीय, आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों पर अधिष्ठित हों, ऐसे योगनिष्ठ समाज का पुनर्निर्माण ही स्वामी जी का जीवन स्वप्न था, जिस प्रत्यक्ष करना भारत की प्रबुद्ध पीढ़ी का कर्तव्य है। प्रभु, सबको इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा दे, यही प्रार्थना है।

कर्मयोग का सन्देश देने वाले— केदारनाथ कुलकर्णी

पतञ्जल भास्य की दयनीय स्थिति देखकर युवक केदारनाथ कुलकर्णी की चेतना जाग उठी। वह सोचने लगे शायद ईश्वर की जब कृपा होगी तब देश का उद्धार अपने आप हो जायेगा। ईश्वर

दर्शन की लगन तो उन्हें पहले से ही लगी थी। उपासना, जप, तप, अनुष्ठान आदि धार्मिक कर्मकण्ड जिसने जो बताये वह करने लगे। बर-गृहस्त्री को व्यर्थ का झमेला समझ स्वयंसेवक के लिए हिमालय की ओर चल पड़े। जमुनादेवी, गंगोत्री, बद्रीनाथ तथा और केदारनाथ आदि तीर्थों की यात्रा भी कर ली। इस बीच इजरायेली सन्त और संन्यासियों को धर्म और तप के नाम पर सेटी तोड़ते और समाज पर बोझ बने देखा तो एक बार परमात्मा का ठेका लेने वाले इन साधुओं के प्रति आश्चर्य हिलने लगे।

योग-साधन के प्रति जिज्ञासु हुई तो उसमें भी काफी सिद्धि प्राप्त कर ली, पर एक दिन समाज की बुरी स्थिति देखकर योग-साधना के मार्गदर्शक से वह पूछ ही बैठे—“महाराज ! यह जो विभिन्न प्रकार की साधनाएँ की जा रही हैं और लोग चमत्कार दिखाने में अपना मूल्यवान समय नष्ट कर रहे हैं। कृपया यह तो बताइये कि देश को उन्नति और लोक-कल्याण की दृष्टि से उम्मा क्या महत्त्व है ?”

उन्हें यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि इन्हीं का शिष्य उनसे ही ऐसा बेहतर प्रश्न पूछ बैठेगा। कुछ जमते झेले तो बताते भाँखी होप मिटाते हुए यही कह दिव—“बेटा ! यह तो राम की दुनिया है, राम ही जाने” इतना सुनने ही कुस्कर्मी जी के विचार ही बदल गये और मन में एक नई इलजल उत्पन्न हो गई। बार-बार यह सोचने लगे कि जिस साधन से कोई स्मृतिगत स्थाप नहीं उसे करने से लाभ ही क्या है ? अब चमत्कारी दुनिया के प्रति उनका आकर्षण समाप्त हो गया और फिर अपने परिवार में आकर रहने लगे। जिस समाज से सम्बन्ध तोड़ दिया का अब पुनः जोड़ लिया।

बोधवृद्ध आत्म-साधक कुलकर्णी जी अपने कार्यक्षेत्र में नाथ जी महाराज के नाम से विख्यात हैं। इनका जन्म १८८३ में हुआ था। पिता के शासकीय सेवा में होने के कारण नाथ जी का बचपन बाना, खानदेश और रत्नगिरि आदि कई जिलों में बीता। जब यह कक्षा ५ में पढ़ते थे, उस समय के पाठ्यक्रम और शिक्षा के ढंग को देखकर उनके मन में भारतीय शिक्षा प्रणाली के प्रति प्रश्न उत्पन्न हो गई। उनके मन में आया कि जो शिक्षा देश को स्वतन्त्र नहीं करा सकती, वह किसी काम की नहीं। अतः फ़र्माई-लिखाई छोड़कर अपने शक्तियों में स्वस्थ शरीर और व्यायाम के प्रति उत्साह पैदा करने लगे। उन्होंने नव-युवक शक्तियों को नियमित रूप से व्यायाम करने और अखाड़े में जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने लोगों को बताया कि कमजोर व्यक्ति अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता फिर राष्ट्रीय कार्यों की उससे क्या आशा की जाय। उनका स्वर्ण का शरीर इतना सुगठित और सुदृढ़ था कि लोग देखते ही रहते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि व्यक्तियों के शरीर इतने मजबूत और फौलादी होने चाहिए कि यदि उसे पत्थर पर गिरने का भी अवसर आ जाये तो एक बार पत्थर को भी उसका डर लगने लगे।

ऐसे बलिष्ठ व्यक्ति का मन चमत्कार की दुनिया में लग भी कैसे सकता था सन् १९०८ से १९१८ तक १० वर्ष का समय जो बिना परिश्रम के बीता था उस पर उन्हें आत्मग्लानि होने लगी और

हिमालय की एकान्त दुनिया को छोड़कर अन्य लाखों व्यक्तियों की तरह संसार में रहकर उसी के लाभ के लिए कार्य करने लगे। पिछले दस वर्षों में प्राप्त अनेक अनुभवों से नाथ जी का न तो समाधान हुआ और न कर्तव्य का निर्धारण हो कर सके। विवेक दृष्टि से आँकने पर जीवन के उत्साह भरे दस वर्षों की प्रतिविधियाँ बेकर साबित होने लगीं। पर चिन्तन की यह दिशा भीतर छिपे ठग विचारों को समाज के सामने प्रकट करने लगी। उपासना के नाम पर चलने वाले ढोंग व गुरुद्वय के प्रति उन्होंने लोगों को सचेत किया और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर अपने विवेक को ही गुरु मानकर आगे बढ़ने का निश्चय किया और लोगों को भी इसी प्रकार का शिक्षण दिया।

वह स्वदेशी का दल लेकर बड़ौदागौरी, बुनाई और सिलाई जैसे अनेक कार्य सीखने लगे और लोगों को बाण्डे द्वारा नहीं बनाने करनी से यह बताने लगे कि संसार में शारीरिक परिश्रम का कोई कार्य बुरा नहीं है। नाथ जी गांधी जी के निकट सम्पर्क में अन्त तक रहे। आध्यात्मिक चिन्तन और सधना का जीवन जीने के साथ-साथ परिश्रमशील बनने पर उन्होंने विशेष जोर दिया।

प्रसिद्धि से कोखों दूर रहने वाले नाथजी का परिचय भारत में विशेष प्रभाव है फिर भी किसी सम्प्रदाय की स्थापना न कर सामान्य ढंग से जीवन जीते हैं। किसी का मार्गदर्शक बनकर नाम कमाने की धावना तो उनमें कभी आई ही नहीं। ज्ञान-ब्रह्मचारी होने पर भी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने बड़ी ईमानदारी से किया है। वह अपनी विधवा भवनी गन्ध की व्यवस्था आज भी कर रहे हैं। वे सदैव प्रकृतियों को छोड़ने के स्थान पर उन्हें शुद्ध करने के लिए जोर देते रहे हैं। गुरुस्वग्राम छोड़कर त्वाग का ढोंग करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि परिवार का पालन करते हुए अपने गुरुस्व जीवन को पवित्रता से रखा जाय। संसार में रहते हुए भी जो अपने सगे-सम्बन्धियों की चिन्ता नहीं करता, उन्हें दयनीय स्थिति में रहने को विवश करता है उसका राष्ट्र कार्य में लगाना अथवा संन्यासी बनना व्यर्थ है। नाथ जी तो यह मानते हैं कि स्थान का वेध बदल जाने से मनुष्य की प्रकृति नहीं बदल जाती। उसे तो अपने में मानवीय गुणों को विकसित करने के लिए सभी का ध्यान रखना चाहिए।

दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर सेवा सह्यता करने वाले नाथ जी के प्रति उन्हें के एक मित्र ने कहा था कि यदि नाथ जी की सेवा उपलब्ध हो सके तो पुनः बीमार पड़ने की इच्छा होती है। गोगियों की सेवा करना और जीवन के प्रति आशाजन बनाना तो उनके दैनिक जीवन का एक अंग रहा है। पंथीवादी विचारक स्वर्गीय किशोरीलाल नलकुवाला को जब अपने निकट सम्बन्धियों में ही स्वार्थ की गंध आने लगी तो सबसे मिथ्या तथा नाराजान मानकर घर छोड़ने की तैयारी कर ली तो गांधी जी के कहने पर नाथ जी ने ही उन्हें रोक था और सम्झना-बुझाया था। जीवन की सार्थकता पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था—“मनुष्य को पूर्णता तक ले जाने की सामर्थ्य सिर्फ कर्मयोग में है। अतः हमारे छोटे-बड़े सभी कार्य

३.४४ बहापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

सावधानीपूर्वक और निर्दोष भाव से सम्पन्न होने चाहिए। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।”

आज भी ८५ वर्ष की आयु में अपने त्रान्तिकारी विचारों के कारण नवयुवकों के प्रेरण केन्द्र बने हैं क्योंकि कर्म में, उनकी आस्था में प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थ बनने की ही प्रेरणा देते रहते हैं।

संन्यास जीवन के सार्थक प्रयोक्ता—स्वामी केशवानन्द

पन्द्रह-सोलह वर्ष के एक अनाथ किशोर ने अपने हठ उग्र बच्चों को पढ़ते-लिखते देखा तो स्वयं भी पढ़ने की इच्छा हुई। उस समय किशोर गाये चराने का काम किया करता था। पिता पहले ही चल बसे थे—छह वर्ष की आयु में माँ भी उसी छह पर चल दी। घर में अकेला रह गया किशोर पेट पालने के लिए गाँव खानों के गाव, पैस, बछड़े, बछड़ियाँ चराने लगा।

विद्याध्ययन की इच्छा के बलबली होने पर किशोर ने अपना जन्म स्थान छोड़ दिया और इधर-उधर भटकने लगा। देश में तो स्कूलों की ही भरमार थी। ऐसी शिक्षण संस्था कहीं मिलती जो विद्यार्थी के भरण-पोषण का भी दायित्व निवाहे। विद्या की प्यास लेकर किशोर यत्र-तत्र भटकता रहा और पंजाब के फाजिल्का क्षेत्र में जा पहुँचा।

यहीं संयोग से महन्त कुशलदास जी के सम्पर्क में आया और शिक्षा प्राप्ति के लिए साधु बन गया। महन्त कुशलदास ने उन्हें नाम दिया—केशवानन्द। साधु बनने का प्रस्ताव उनके गले तो नहीं उतरता था परन्तु विद्या के प्रति प्रेम इस दीक्षा को स्वीकार करने के लिए विवश कर रहा था।

शिक्षा प्राप्ति करने के लिए साधु वेध ब्रह्म का केशवानन्द जी पढ़ने लगे। कई महीने तक यत्न करने के बाद भी वे बोझ-सा ही ज्ञान प्राप्त कर सके। इसका कारण उनमें लगन और अध्ययन शीलता का अभाव नहीं था, बल्कि योग्य शिक्षक की कमी थी। फाजिल्का के आश्रम में कोई खास शैक्षणिक प्रगति नहीं कर सके इसलिए वे १९०५ में इलाहाबाद चले आये।

उस वर्ष प्रयाग में कुम्भ का मेला लगा था। केशवानन्द जी ने सभी साधु-महात्माओं के सामने अपना क्लेश और इच्छा व्यक्त की। सन्त-महात्माओं ने उन्हें हरिद्वार के गुरुकुलों में जाने की सलाह दी। सबकी सलाह से वे कुछ दिनों के लिए हरिद्वार रहकर पढ़ते रहे और बाद में अमृतसर चले आये। वहाँ एक आश्रम में रहकर उन्होंने संस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त किया। अब उन्हें स्वयं ही अध्ययन करने की योग्यता पर विश्वास हो गया था।

सन् १९०८ में उनके गुरु स्वामी कुशलदास जी का देहान्त हो गया। स्वामी जी के सभी शिष्य साधुओं में केशवानन्द जी अधिक पढ़े-लिखे थे इसलिए उन्हें ही आश्रम के अधिपति पद पर विरजित किया गया। अभी तक तो स्वामी केशवानन्द अपने ही विकास की बात सोचते थे। उन्हें अब महन्त बनाया गया तो इस पद की गौरव गरिमा को समझ कर उसे सार्थक बनाने का विचार भी स्वाभाविक ही बन्य।

स्वामी जी ने साधु पद के महान् उत्तरदायित्व को समझा। यह जीवन अकर्मण्य बनकर, समाज पर भाररूप बनकर पूजा पाठ करने के लिए ही नहीं अपनाया जाता है। बल्कि इसकी एक महान् जिम्मेदारी है, जो सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक सेवा करने के लिए उत्तरदायित्व का बोध कराती है। साधु और संन्यासी जीवन की यही आदि परम्परा है। जिसे आज का साधु समाज अपनाता तो दूर उसे समझना भी नहीं चाहता। उन्हें तो केवल आश्रम में रहकर आराम से खाना पीना और मौज-मजे करना ही अच्छा लगता है, केशवानन्द जी ने इस लोभ से हटकर कुछ करने का निश्चय किया।

और लोग साधु की महान् परम्परा निभायें या न निभायें, मुझे तो उस कर्तव्य का पालन करना ही है। इस निश्चय के साथ उन्होंने सेवा क्षेत्र तलाश किया। उन्होंने स्वयं के जीवन में अशिक्षा और अज्ञान का दुष्परिणाम भोगा था। आज भी भारत की अधिकांश जनता निरक्षर ही है। शिक्षा और ज्ञान का लोभ सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी मिलना चाहिए, इस विचार से उन्होंने अपने आश्रम में एक पुस्तकालय खोला, अन्य सभी साधु-महात्माओं को ज्ञानार्जन का समाज सेवा की दिशा में प्रेरणा दी। कुछ दिनों बाद उन्होंने आश्रम में ही संस्कृत पाठशाला भी खोली।

दो वर्ष तक सफलतापूर्वक स्थानीय प्रवास चलाकर स्वामी केशवानन्द देश यात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा का उद्देश्य था देशवासियों की स्थिति का निरीक्षण और सेवा करने योग्य क्षेत्र की तलाश। उन्होंने पाँच-छह वर्ष तक देश भर का भ्रमण किया और देखा कि सर्व-साधारण जन अभाव, गरीबी, अशिक्षा, दासता तथा अन्य कई प्रकार की समस्याओं का शिकार बने हुए हैं। इन समस्याओं के निराकरण के उन्होंने दो ओस और अचूक उपाय ढूँढ़ निकाले—स्वतन्त्रता आन्दोलन और शिक्षा का प्रचार।

अबोध—साामाजिक विकास और राष्ट्रोत्थान में सबसे बड़ी बाधा थी हिंदी-दासता। संसार के कई देशों का इतिहास पलट कर उन्होंने पाया कि पराधीन राष्ट्रों ने किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं की है। स्वराज्य और स्वतन्त्रता राष्ट्रीय प्रगति की भूतभूत आवश्यकता है। इसलिए केशवानन्द जी स्वाधीनता संग्राम में भी कूद पड़े।

इसके पूर्व सन् १९२० में उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के नाम से अन्धश्रु युवकों का एक दल तैयार किया था। जो मात्र साक्षरता ही नहीं अध्ययन और ज्ञानवर्द्धन की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहित करता था। इस दल का एक पुस्तकालय भी था, जहाँ चुनी हुई विचारोत्तेजक देश विदेश की मूल और अनुवादित कृतियाँ रखी हुई थीं। स्वामी जी इस दल की गतिविधियों के साथ साथ असहयोग आन्दोलन में भी भाग लेने लगे थे। इस कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा। लम्बे समय तक कारावास में रहने के कारण नागरी प्रचारिणी सभा की व्यवस्था विमूर्खलिप्त हो गयी।

जेल से छूटने पर उन्होंने अपनी सम्पत्ति की यह दशा देखी तो बड़ी निराशा हुई। युवकों द्वारा सभा के पुस्तकालय की सभी पुस्तकें आश्रम में जमा करवा दी गयी थीं। स्वामी जी ने इन नयी परिस्थितियों

की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई निराशा पर तुरन्त कम्बू पा लिया और एक नये पुस्तकालय की स्थापना की। अब की बार वाचनालय अपने निजी मकान में बनवाया गया था। स्वामी रूप से वह लाइब्रेरी चलती रहे इसके लिए उन्होंने वाचनालय भवन और जमीन आदि सब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम कर दी। इसका अर्थ यह नहीं कि वे वाचनालय के सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त होना चाहते थे। बल्कि वे तो अब अगला कदम उठाने का विचार कर रहे थे।

सन् १९२६ में स्वामी केशवानन्द द्वारा संस्थापित अवोहर, साहित्य सदन कार्यशील हो गया। अच्छे पुस्तकों और साहित्यिक कृतियों की आवश्यकता हर क्षण में रहती है। महापुरुषों के विचार, व्यक्तित्व का सान्निध्य लाभ हर कोई आसानी से उठा सके इसके लिए पुस्तकालय ही अत्यन्त उपयोगी होने हैं। भाषा शिक्षित होना ही पर्याप्त नहीं है। प्राप्त शिक्षा के क्रमशः अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्धारण कर उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही शिक्षा की सार्थकता है। पुस्तकालय इस दिशा में भारी सहायक सिद्ध होने हैं। शिक्षितों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति के साथ-साथ अशिक्षितों में शिक्षा की भी एक अप्रत्याशित प्रेरणा जागती है।

स्वामी जी का अगला कदम था शिक्षा का प्रचार। बिना पढ़े लिखे लोगों का सदृशान और अपने अस्तित्व, महत्त्व तथा मूल्य से परिचित कराने का एकमात्र उपाय शिक्षा ही तो है। मनुष्य और पशु के अन्तर को स्पष्ट करने वाली बौद्धिक चेतना शिक्षा के माध्यम से ही तो विकसित होकर उसके गौरव के अनुरूप जीवन की प्रेरणा देती है। इसके लिए उन्होंने अपना प्रथम प्रयास राजस्थान के एक ऐसे गाँव में किया, जहाँ भीलों के क्षेत्र में एक भी विद्यालय नहीं था।

सन् १९१६ में स्वामी जी ने राजस्थान के सर्वाधिक पिछड़े क्षेत्र संगरिया में एक छोटा-सा स्कूल खोलने का निश्चय किया। उस समय उनके पास न तो सहयोगियों की कोई सेना थी और न ही अर्थ शक्ति। साधनों के नाम पर उनके पास केवल संकल्प बल था जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को अजेय और सफल बनाता है। इस शक्ति के बल पर ही वे अल्पसंख्यक सामर्थ्य और साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में बढ़े।

कोई व्यक्ति एकाकी ही परामर्श प्रयोजनों के लिए जुड़ता है तो अन्य कई और भी उत्साही लोग उसके सहयोगी और अनुयायी बन कर आगे आते हैं। स्वामी केशवानन्द जी ने एक टूटे मकान में जैसे ही अपनी छोटी-सी पाठशाला खोली तो गाँव के लोगों ने पक्कत सुविधा-साधन जुटाने का उत्साह दिखाया। गाँव के ही एक स्थानीय व्यक्ति ने चौदह बीघा जमीन विद्यालय भवन के लिए दान कर दी। वहाँ के निवासियों ने दौड़-धूप कर इमारत बनवाने के लिए धन एकत्रित किया और स्कूल खुलने के एक वर्ष बाद ही विद्यालय का निजी भवन तैयार हो गया।

तत्कालीन सामाजिक कुरीतियाँ भी उनके मार्ग में बाधा बनकर आयीं। स्वामी जी सभी जाति के बच्चों को अपने विद्यालय में प्रवेश देते थे। यह बात ऊँच-नीच का भेदभाव मानने वाले पण्डितों और

रुढ़िवादी ग्रामवासियों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल भेजना बन्द कर दिया और इस विद्यालय को ढेड़ियों (चमारों), का स्कूल कह कर बहिष्कृत करने लगे। स्वामी जी इस विरोध और असहयोग से अप्रभावित रहकर लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए बलशरील रहे। बनमानस में सही दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास कभी निष्फल नहीं जाता। स्वामी जी को भी अन्ततः सफलता मिली ही। शीघ्र ही ग्रामीण कठमुल्ला पण्डितों के अनुचित तर्कों और आदेशों को अमान्य करने के लिए तैयार हो गए।

सेवा कर्मों के सत्परिणाम की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक ही करनी पड़ती है। जावली और तत्काल प्रगति की बात लोकसेवा के क्षेत्र में तो नहीं ही बनती। ग्रामवासियों का विरोध हलत हो जाने के बाद संगरिया स्कूल का कार्यक्षेत्र बढ़ने लगा। वह प्रतिकूल परिस्थिति मानो स्वामी जी तथा उनके सहयोगियों की परीक्षा लेने आयी थी। धैर्य और लगन, निष्ठा के बल पर वे इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इसके पुरस्कार में संस्था विकास की दिशा में अग्रसर होने लगे।

१९२५ तक विद्यालय में १२० छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तथा संगरिया क्षेत्र में संस्थान की १२ शालाएँ कार्यरत हो गयी थीं। कार्यक्षेत्र बढ़ जाने पर आर्थिक साधनों की भी आवश्यकता हुई। संस्था के पास अब का कोई स्रोत तो था नहीं। साथ कार्य गाँववासियों के सहयोग से चलता था। एक बार अर्धभाष के कारण विद्यापीठ बन्द हो जाने की नीबल आयी। बड़ी पुरस्कृत से स्थिति को ढाला जा सका। गाँव के प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न लोगों ने अवसर पर अगाध सहयोगे भाव का परिचय दिया और घर-घर से चन्द्रा एकत्रित कर स्कूल चलाया।

सर्वसाधारण को इतना गहरा प्रभावित करने की शक्ति स्वामी जी के उस व्यक्तित्व में थी, जो स्वर्ण के बाह्य आडम्बर और ज्ञान-शौक्ल से कोसों दूर था। सादगी और सज्जनता ही मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावोत्पन्नक बनाते हैं, न कि लच्छेदार भाषण और स्वयं को विशिष्ट बनाने की झूठी महत्वाकांक्षा, अपने लिए—साधारण-सी आवश्यकताओं के लिए ही धन का प्रयोग तथा सेवा कर्मों में सही स्थान पर समुचित व्यव। इस नीति ने स्वामी जी को लोकशायन का पात्र बन दिया। बीमार रहने पर भी, वे मृत्युदान पथ्य और अनाप-जनाप औपधियों नहीं लेते थे। कोई आगन्तुक व्यक्ति जबर्न इसलिए कुछ भी दे जाता तो उसे भी दीन-हीन छात्रों के लिए खर्च कर देते।

मिसा प्रसार के साथ शिक्षा पद्धति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन का श्रेय उन्हें प्राप्त है। मात्र कितनी ही ज्ञान को महत्त्व देने वाली संस्थाएँ ही उन्होंने खड़ी नहीं कीं वरन् जीविक-उत्पन्न और उद्योग शिल्पों का प्रशिक्षण देने की संस्थाएँ भी उन्होंने खोलीं। सन् १९४४ से उनके विद्यापीठ में शिल्प और उद्योग-बन्धों को भी पाठ्यक्रम में समाविष्ट किया गया। ज्ञान, व्यवहार और निर्वाह की सर्वांग शिक्षा पद्धति के कारण कई बच्चे इस विद्यापीठ में भर्ती हुए। अगले चार वर्षों में दो हजार से भी अधिक छात्रों ने यहाँ शिक्षा प्राप्त की और सीधे जीवन क्षेत्र में तैयारी के साथ प्रवेश किया। अब तो इस विद्यालय में रुढ़ि रचनात्मक कार्य बिना किसी बाहरी सहायता के सम्पन्न होने लगें हैं।

३.४६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

संसद में पहुँच कर स्वामी जी देशभक्ति एवं जनसेवा के सिद्धान्तों के लिए अन्तिम समय तक संघर्ष करते रहे। शिक्षा जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले स्वामी केशवानन्द का देहान्त १३ सितम्बर १९७२ को हुआ। स्वामी जी केशवानन्द साधु की महान् और गौरवशाली परम्परा मर्यादा के आदर्श प्रतीक थे।

अनपढ़ साधु की शिक्षण सामर्थ्य

घटना सन् १९३२ की है। राजस्थान के गंगानगर जिले में एक स्थान है, संगरिया। वहाँ के निवासियों में शिक्षा के प्रति न कोई रुचि थी और न ही ग्रामवासी शिक्षा की कोई आवश्यकता ही अनुभव करते थे। परिणामस्वरूप उनके बच्चे या तो अपने माता-पिता के साथ खेन-खलिहानों में हाड़-गोड़ मेहनत करते अथवा आवागमन करते रहते। शिक्षा के कोई सम्कार तो उन्हें मिले ही नहीं थे, जिससे कि अपना अपने परिवार का तथा अपने गाँव का कोई विकास कर सकें। पीढ़ियों से चली आ रही हलत ज्यों की त्यों बनी रहती और उन्हें हर कोई बहल-फुसलाकर आसानी से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता, दूसरे शब्दों में ठग लेता। बैथारे भोल-भाले ग्रामीण किसी को भी बातों में आ जाते और खुरी-खुरी अपने को तुटवा देते।

क्षेत्र के मिछड़ेपन को दूर करने के लिए एक भूतपूर्व सैनिक ने वहाँ एक स्कूल खोलवाया और गाँव वालों में शिक्षा के प्रति रुचि जगाने का मोर्चा सम्हालता कुछ और सेवाभावी व्यक्ति भी इस कार्य में आ लगे और संगरिया के आस-पास के गाँवों से भी बच्चे उस स्कूल में पढ़ने के लिए आने लगे। किन्तु लोगों में शिक्षा रुचि का विकास संतोषजनक रूप से न हो सका। परिवर्तन इतना धीरे-धीरे आ कि गिन दिनों खेतों में कोई काम नहीं होता था, उन दिनों ही ग्रामीण लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजते और जब खेती होने लगती थी तो फिर स्कूल बंद हो जाता। गाँव वालों का कोई सहयोग भी स्कूल को नहीं मिलता था परिणामस्वरूप स्कूल की व्यवस्था धीरे-धीरे लड़खड़ाते लगे। संचालकों ने कुछ समय तक तो विद्यालय को जैसे-तैसे चलाया पर सन् ३२ में ऐसी स्थिति आ गयी कि विद्यालय को बन्द करने की बात सौची जाने लगी।

काफी प्रयत्न किये गये कि विद्यालय चलाने की व्यवस्था किसी प्रकार बन जाय और जैसे-तैसे भी विद्यालय चलता रहे। लेकिन संचालकों को कोई रास्ता ही नहीं सूझता था अन्त में इस समस्या पर विचार करने के लिए क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक मीटिंग बुलाई गई और बताया गया कि अर्थाभाव के कारण विद्यालय बन्द करना पड़ रहा है। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने समस्या के ऊपरी समाधान बताये। कोई ठोस रास्ता नहीं निकल रहा था, जिसे अपना कर विद्यालय को सुव्यवस्थित रीति से चलाया जा सके।

उस सम्मेलन में इलाके के एक अनपढ़ साधु भी थे। साधु अनपढ़ तो जरूर थे परन्तु उनका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी था कि उन्हें लोग ऋषि महर्षि की तरह पूजते थे। उनके पास साधन भी कुछ नहीं थे, रहने को एक कुटिया भर थी, जहाँ ग्रामवासी उनके खाने-पीने को पहुँचा देते थे। उन स्वामी जी ने जब देखा कि मीटिंग इस निर्णय

पर पहुँच रही है कि विद्यालय बन्द कर दिया जाय तो उन्होंने उठकर कहा विद्यालय इसलिए नहीं खोले जाते कि उन्हें बन्द करना पड़े प्रश्न उठा कि फिर किया भी क्या जा सकता है। तो साधु ने कहा, करने की जिम्मेदारी मेरी रही।

और विद्यालय की जिम्मेदारी उक्त साधु ने ग्रहण की। उन्होंने दिन-रात परिश्रम किया, लोकश्रद्धा को सहयोग की दिशा दी और विद्यालय जन-सहयोग तथा स्वामी जी के परिश्रम से फिर चल पड़ा न केवल विद्यालय चल पड़ा बल्कि पहले से कहीं अच्छे रूप में चलने लगा। लोगों में भी शिक्षा के प्रति इतना प्रेम जगा कि वह मिडिल स्कूल कुछ ही वर्षों में महाविद्यालय हो गया। इतना ही नहीं उस क्षेत्र में चार महाविद्यालय, दो उच्च माध्यमिक विद्यालय, एक बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय खुल गया। जन-सहयोग से उन स्वामी जी ने रियासत पर में लगभग तीन सौ प्राथमिक शालाएँ भी खोलवायीं। आज संगरिया में उस मिडिल स्कूल के स्थान पर 'प्रामोत्थान विद्यापीठ' स्थापित है, जो क्षेत्र में इन शिक्षण प्रवृत्तियों का संचालन करता है एक लड़खड़ाते हुए मिडिल स्कूल को समूचे क्षेत्र में शिक्षण प्रवृत्तियों के प्रसार का केन्द्र बनाने वाले साधु थे— स्वामी केशवानन्द, जो अनपढ़ थे, किन्तु जिन्होंने कितने ही व्यक्तियों को प्रकाश दिया

संन्यासी का आदर्श

स्वामी केशवानन्द जिन्होंने शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, राज्य सभा के सदस्य थे। तब-की बात है कि उनके एक सहकारी ने देखा कि वे हाथ पर दो-तीन रुखी रोटियाँ रखे दाल से खा रहे हैं। रोटियाँ सुखी व ठण्डी थीं उन्हें वे जल्दी-जल्दी चबाकर गले के नीचे उतार रहे थे। सहकारी ने इसका कारण पूछा तो बोले— “मुझे कई जगह जाना है और शाम को गाड़ी पकड़नी है इसलिए तंदूर से यहाँ दो रोटियाँ पंगवाली हैं।”

“इस आधु में आपको ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए। कुछ, नहीं तो थोड़ा, मक्खन व फल तो लिया करें।” सहकारी बोला। इस पर वे मुस्कराते हुए बोले— “ठीक तो है पर जब इन्हीं बातों की चिन्ता करनी थी तो संन्यासी बनकर कुछ सेवा करने का व्रत ही क्यों लेता।”

व्यक्तिगत सुखों की चिन्ता न करना सेवा-व्रत का आदर्श है

जे. कृष्णमूर्ति—भगवान् जो इंसान बन गये

जे. कृष्णमूर्ति कभी भगवान् थे, पर अब इंसान हो गये। यह एक अचम्बे की बात है। इंसानों में से अपने को भगवान् घोषित करते अनेक देखे और सुने गये हैं, पर ऐसा कदाचित् ही कहीं हुआ हो कि भगवान् ने अपना ईश्वरीय चोला उतार फेंका हो और मात्र इंसान रह गये हों।

यह कथा जे. कृष्णमूर्ति की है। इन्हें थियोसोफिकल सोसायटी ने नया मसीहा घोषित किया था। बाइबिल के एक प्रसंग में ईसा मसीह का दुनारा प्रकट होने का जिक्र है। समय का वर्णन भी ऐसा ही है,

जिसकी सगति इस शताब्दी से मेल खाती है। उसमें जो चिह्न होने चाहिए, उसका तुक भी पिबोसॉफिक्ल सोसायटी की कर्ता-धर्ता श्रीमती एनीबेसन्ट एवं श्री लेडबीटर ने कृष्णमूर्ति के साथ मिला दिया था।

एक अवकाश प्राप्त ब्राह्मण अफसर के घर कृष्णमूर्ति का जन्म हुआ। यूरोप में ख्याति प्राप्त अध्यात्म नेता लेडबीटर ने अपने दिव्य ज्ञान के सहारे घोषणा की कि इस बालक में ईसा मसीह की दिव्य आत्मा है। इस भाषणा पर विश्वास किया गया और बालक को अधिक योग्य बनाने के लिए उनकी शिक्षा-दीक्षा की गई, उन्हें इंग्लैण्ड ले जाया गया, उन्हें कुलीनों के लिए विनिर्दिष्ट विद्यालयों में पढ़ाया गया। बचस्क होने पर उन्हें फ्रांस की सोरबीन यूनिवर्सिटी में पढ़ने भेजा गया। चुपके-चुपके उनकी ख्याति फैलती गयी, फलतः उनके भक्तों की कमी न रही।

सन् १९२९ में कैम्ब्रिज नगर के एड्डे किने के मैदान में एक सम्पन्न भक्त ने अपनी पाँच हजार एकड़ भूमि इस नवे मस्जिद को भेंट की, ताकि भक्तजनों के लिए एक साधन-सम्पन्न नगर उस पर बसाया जा सके।

पर यह सिलसिला बहुत दिन न चल सका। कृष्णमूर्ति के कितने ही स्वागरा समारोह हो चुके थे, उनमें वे नभी-मुन्ने बालें कहते थे और बताये हुए तौर-तरीके से बैठते थे, पर हेम्पशायर के बुक्स बुड पार्क में एक नया धमाका हुआ। उस समारोह में उन्होंने अपनी पोल स्वयं खोल दी और कहा कि “न तो मैं मसीहा हूँ, न कोई विचित्र व्यक्ति। दूसरों की तरह मैं साधारण आदमी हूँ। मुझसे किसी चमत्कार की आशाएँ कोई न करे। आप लोग अपने ही जैसा एक सामान्य व्यक्ति मुझे समझें। जहाँ तक मैं समझ पाता हूँ, अन्य व्यक्ति भी मेरे ही जैसे हैं। मसीहा या उद्धारकर्ता अपने सिवाय अपने लिए और कोई हो नहीं सकता। यदि कोई व्यक्ति ऊँचा उठा, तो वह अपने प्रथम-पुरुषार्थ से स्वयं ही ऊँचा उठा है। आप में से जो ऊँचे उठना चाहते हों या उद्धार के इच्छुक हों अपने ही प्रथम-पुरुषार्थ की ओर देखें, अन्य किसी की आशा न करें, मेरे सम्बन्ध में अब तक की मान्यताओं को बदल दें किसी भ्रम में न रहें। मैं भगवान् नहीं, मात्र इंसान हूँ।”

इनका यह भाषण धमाके जैसा था। जो उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाये बैठे थे, उन पर एक प्रकार से तुफानपात हो गया। भगवान् न ईसा के नये अवतार के सम्बन्ध में जिन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे थे उनकी आँखें खुल गईं।

साथ ही सत्य के अन्वेषकों को एक बड़ा सहारा मिला जो उठ है अपने ही कर्मों या पुरुषार्थ से उठा है। जो गिर है, उसे अपने कर्मों ने ही गिराया है। दूसरे किसी को सलाह भर दे सकता है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि अपने बलबूते किसी का उद्धार करे।

जो कृष्णमूर्ति के इस भाषण से धर्मक्षेत्र में व्यापक हलचल मच गई। अवतार की आशा पर बहुत कुछ फाँसे की जो आशा लगाये बैठे, उनके सपनों का बालू का महल ढह गया। जिन्होंने उन्हें भगवान् बनाया था और उनके सहारे बहुत खेल खड़ा करने की आशा कर

रहे थे, उनके पैरों के नीचे से भी जमीन खिसक गयी। इसके बाद जो कृष्णमूर्ति ने साबक वेष्ट-भूषा से सत्य का उद्घाटन करते हुए अपना प्रचार आरम्भ किया कि हर मनुष्य आत्मनिर्भर है, अपने विचारों और कर्मों से ही वह उठ या गिर सकता है। अभी भी वे यही कर रहे हैं।

सन्त परम्परा सार्थक करने वाले— स्वामी कृष्णानन्द

सन्त जीवन के आदर्श उद्देश्य को यो एक प्रकार से इस देश में भुला ही दिया गया है फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषिप्रणीत महान् प्रक्रिया सर्वथा लुप्त हो गई। उसके ध्वंसावशेष अभी भी बाकी है। वे जहाँ कहीं अपने वधार्थ रूप में कही भी दीख पड़ते हैं वहाँ उज्ज्वल भाविष्य की आशा से आँखें चमकने लगती हैं।

सन्त परम्परा के वधार्थ उद्देश्य, स्वरूप की एक हाँकी कराने वाले संन्यासियों में एक हैं—स्वामी कृष्णानन्द जी ! वे इन दिनों भारतीय मूल के नागरिकों के बहुमत वाले देश श्रीरिशस द्वीप में जन-जगरण के लिये सतत प्रवृत्त हैं। व्यक्तिगत ईश्वर उपासना द्वारा अपने भल आचरण पर समुन लगाने की प्रक्रिया वे थोड़े ही समय में पूर्ण कर लेते हैं और फिर अहिंसा लोकमंगल के क्रियाकलापों में ही भुटे रहते हैं। उनकी साधना तपस्का का यही स्वरूप है जिसने नर-नारायण की गरिमा बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

स्वामी जी का जन्म यों तो उत्तरप्रदेश के किसी गाँव में हुआ पर वे पीछे विश्व जगरण के रूप में ही विकसित हो गये। संन्यास की प्रेरणा और दिशा भी यही है। कुछ समय तप साधना करके अपनी अन्तरात्मा को पवित्र के उपरान्त उन्हें यही उपयुक्त प्रतीत हुआ कि अपने अस्तित्व को लोकमंगल के लिए—विश्व मानव के लिए समर्पित किया जाय और मानवी गरिमा को ऊँचा उठाने में अपनी क्षमता को सर्वतोभावेन समर्पित किया जाय।

सेवा साधना के आरम्भिक दिनों में उन्होंने गुजरात प्रान्त को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। शहरों के सुविधाजनक क्षेत्र में तथाकथित लोकसेवियों की भीड़ बरसाती पंढरों की तरह सर्वत्र दीखनी है पर देशतों के वृष्टसाध्य क्षेत्र में जाने और फोटो, समाचार, जालूस-माला, स्वागत-सत्कार आदि का लोप छोड़कर ईसाई पादरियों की तरह जंगलों में घटकने की प्रवृत्ति अपने देश में कहा है ? स्वामी जी ने इसी अभाव की पूर्ति आवश्यक सनड़ी और देहाना को अपना कार्य क्षेत्र बनाया।

“सेवा के साथ शिक्षा” की पद्धति ईसाई मिशनरियों ने अपनाई है और उन्होंने अपना सत्य आश्चर्यजनक रीति से पूरा किया है। कुछ ही शताब्दियों में ईसाई धर्म ससार का सबसे बड़ा—विश्व का एक तिहाई जन-संख्या का धर्म बन गया है, इसका कारण उसके दर्शन की उत्कृष्टता नहीं वरन् सेवा सम्मिश्रित धर्म शिक्षा ही प्रधा है।

ईसाई प्रचारकों तथा पादरियों से इस दिशा में हमें बहुत कुछ सीखना है। स्वामी कृष्णानन्द जी ने वही मार्ग अपनाया था। हिमालय छावना में लौटकर वे अपने सेवा प्रयोजनों में लग गये।

पड़ोच (गुजरात) के जम्बूसर क्षेत्र में गजेरा ग्राम से उन्होंने सेवा सहित शिक्षा कार्य आरम्भ किया। उस क्षेत्र में उन दिनों नेत्र रोग बहुत फैले हुए थे। उन्होंने हर घर से एक-एक रुपया एकत्रित करके नेत्र दान पत्रों की व्यवस्था की और हर रोगी का आपरेशन निशुल्क ही नहीं बल्कि आपरेशन करने वाले के लिये किन्तु मूल्य आवास की भी व्यवस्था की। प्रथम शिविर में मात्र ६०० नेत्र आपरेशन हुए जिनमें रोगियों तथा उनके साथ वालों को मिलकर लगभग १००० व्यक्तियों का भोजन प्रतिदिन होता था। प्रथम शिविर में ही २५ हजार रुपया खर्च हुआ। पर-सेवा की सच्ची लगन, सद्ब्यवहार और कुशल सेवा धृति के कारण उसकी पूर्ति सहज ही हो गई। ऐसे कई निधियों की व्यवस्था की और सेवाभावी डॉक्टरों, अस्पतालों को प्रभावित करके उस क्षेत्र के ऐसे ही रोग पीड़ितों की सेवा करने का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। शय पीड़ितों के लिए भी ऐसी ही पिकनिसा व्यवस्था करके अगणित मृत्यु के मुख में झूलते हुए लोगों को जीवन दान दिया।

स्वास्थ्य ही नहीं शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने काम किया। मादण नामक ग्राम में जन-सहयोग से एक कॉलेज खड़ा किया। कितने ही छोटे-बड़े अन्य शिक्षा संस्थान खड़े किये। इन सब सृजनोत्पन्न कार्यों में २५ लाख रुपया लग गया पर जन-ब्रह्म जो उनकी सेवा साधन के फलस्वरूप उभरी वी उसके कारण उन साधनों को जुटाना कुछ भी कठिन न रह गया।

इस कार्य में दूसरे लोग भी साथ देने लगे और उन सेवा सहित शिक्षा वाले कार्य को चलाने के लिए उन्होंने बड़ीदा में विश्ववित्री स्टेशन के पास 'विश्व ज्योति आश्रम' बना दिया। और स्वयं प्रवासी भारतीयों में भारतीय धर्म-संस्कृति की जड़ें मजबूत करने के लिए निकल पड़े।

स्वामी जी ने प्रवासी भारतीयों में संगठन, सटकरा और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिये विश्वव्यापी प्रयत्न किया। इस संदर्भ में उन्हें अफ्रीका, सोमालिया, युगांडा, टंगानिया, केनिया, इत्यान्धा, कांगो, बुरुन्डी, अडम, काम्बिया, रोडेसिया, नेपाल, भूटान, हंग-कांग, फिलीपाइन, जापान, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, सिंगापुर आदि में भ्रमण किया और प्रवासी भारतीयों में नवजीवन संचार किया।

लोकसेवा यों तो कोई भी किसी भी प्रकार कर सकता है पर आज की परिस्थितियों, आवश्यकताओं और उपलब्धियों का समन्वय करके किस तरह अधिक लोगों को अधिक महत्वपूर्ण लाभ पहुँचाया जा सकता है। इसके लिए सुव्यवस्थित रीति से कैसे काम किया जा सकता है यह जानने के लिए उन्हें सेवा संस्थाओं की कार्य पद्धति देखना और वहाँ से कुछ महत्वपूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अस्तु, इन देशों में जाना पड़ा जहाँ इस दिशा में कुछ अधिक खोजबीन की गई है। इस संदर्भ में इंग्लैण्ड, अमेरिका और जापान की यात्रा पर चले गये।

वहाँ से लौटने के उपरान्त उनका प्रधान कार्य-क्षेत्र अफ्रीका का योसेशस द्वीप बन गया। यह भारतीय मूल के बहुमत प्रधान व्यक्तियों का एक छोटा-सा द्वीप है जिसमें लम्बाई चौड़ाई केवल ३० x २८ मील है। वहाँ केवल ४०० गाँव हैं। इनमें घूम घूम कर उन्होंने घर-घर जन-सम्पर्क बनाया और सेवा शिविर संगठन संस्था के अन्तर्गत हजारों युवकों को मानवीय उत्कर्ष की विविध-विविध प्रवृत्तियों में लगा दिया। भारतीय संस्कृति के मूल उद्देश्यों से उस क्षेत्र के सर्वसाधारण को परिचित कराने के लिए उन्होंने एक लाख श्रमायण की पुस्तकें भारत से ले जाकर वहाँ के हर घर में पहुँचाई। हिन्दी को लोग भूल न जायें, इसके लिए प्रयाग महिला विद्यापीठ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के परीक्षा केन्द्र खुलवाये और उनमें पढ़ने के लिए सभी भारतीयों में उत्साह की नई उमंग पैदा की। उस सेवा संगठन के संचालन का कार्य उन्होंने प्रोफेसर कुमारी सीता को सौंप दिया और वे अचक परिवार के साथ सेवा शिविर का कार्य संचालन कर रही हैं।

आस्तिकता—प्रार्थना की नियमितता के प्रशिक्षण से स्वामी जी का सेवा कार्य अधिक होता है। वे अपने मधुर स्वभाव और सेवा कृत्यों में अचक उत्साह के साथ जन-साधारण का मन सहज ही जीत लेते हैं और सम्पर्क में आने वालों को—आस्तिक, उपासना परायण ही नहीं बनाते बल्कि उन्हें लोकसेवा की दिशा में कुछ न कुछ करने को ध्यान जीवन का लक्ष्य समझाने हुए उसमें प्रवृत्त करते हैं। यही कारण है कि भारत में और प्रवासी भारतीयों में उन्होंने कहने योग्य सेवा कार्य सम्पन्न किया है।

विविध भाषा-धारी लोगों के साथ सम्पर्क के लिए उन्होंने प्रायः उन सब भाषाओं को अपने प्रवास काल में सीखने का प्रयत्न किया है जिनकी आवश्यकता अनुभव होती है। वे गुजराती, पंजाबी, नेपाली, मराठी आदि कितनी ही भारतीय भाषाएँ जानते हैं यह शिक्षण उन्होंने सेवा साधन के साथ-साथ ही पूरा किया है।

स्वामी कृष्णानन्द भारत की सनातन सन्त परम्परा के प्रतिमान प्रतीक हैं। वे अपने आचरण से उस युग की झोंकी करते हैं जब सेवा-भावी साधु-संन्यासी अपनी अन्तरात्मा को पवित्रतम बनाकर परमेश्वर स्तर तक पहुँचा करते थे और जन-सेवा द्वारा ससार की स्मृति और मानसिक आधि-व्याधियों के निवारण में अपने आप को अचक और अनन्तरूप से जुटाये रहते थे।

कदाचित्, भारत मात्र ऐसे सन्त परम्परा की उपयोगिता सिद्ध कर सकने वाले अन्य साधु भी उत्पन्न कर सकी होती।

श्रम के साथक बाबा गरीबदास

बाबा गरीबदास को बाण्डेर क्षेत्र में सर्व-साधारण बड़ी आदर की दृष्टि से देखता है। सम्प्रदाय कार्यकारी से लेकर उच्च अधिकारी तक तथा ग्रामिक से लेकर बड़े व्यापारी तक, क्या डॉक्टर क्या वकील, क्या स्त्री क्या पुरुष सभी उनका नाम आदरपूर्वक लेते हैं।

उन्हें यह सर्व साधारण का सम्मान कैसे प्राप्त हुआ ? उनके पास चमत्कार नाम की कोई चीज नहीं है। कोई बड़ा यज्ञ जबवा भंडार उन्होंने कराया हो ऐसे भी बात नहीं। बड़े भारी विद्वान, ज्ञानी, चमत्कारी होने की बात तो दूर, साधारण फटे-तिखे भी यह शब्द ही हों। प्रचलित ठपासना या तप की कोई बड़ी साधना भी उन्होंने नहीं की, फिर भी आबाल वृद्ध नर-नारी उनके प्रति सहज ऋण रखने लगे इसका एकमात्र कारण है उनकी “ब्रम की सधना”।

बाबा जी भगवान् का नाम हाथ में सुमिरनी लेकर नहीं, खुरपी, फवड़ा या (कुदाली) गँती लेकर अपते हैं। इसे ही वह अपनी माला या सुमिरनी कहते हैं। भगवान् के नाम के साथ-साथ वह भगवान् का काम भी अपने तरीके से करते जाते हैं। किसी सामु ने सुमिरनी फेरकर कुछ तप शक्ति अर्जित करके किसी का कुछ भत्ता किया हो इस पर शंका या तर्क-वितर्क के लिए स्थान हो सकता है किन्तु उनकी सुमिरनी से एक के बाद एक खुदने वाले कुएं तथा उनके आस-पास लगे हुए छोटे-छोटे बगीचों के प्रति कोई क्या संकर करेगा ?

किसी नई जगह पहुँचने पर बाबाजी कोई ऐसा स्थान चुन लेते हैं जहाँ आस-पास बोझा खुला स्थान हो तथा सर्व-साधारण के लिए दूर भी न हो। विशेषकर पानी की आवश्यकता जहाँ हो। ऐसे स्थान पर उनकी धुनी जम जाती है। स्थानीय व्यक्तियों से ही, जिनके पास उपलब्ध हो, फवड़ा, कुदाली आदि माँगे लेते हैं। शुरू में लोग उन पर शक करते थे। एक व्यक्ति अकेले कुआँ खोदेगा, इस बात पर आज के पुरुषार्थहीन बालावरण में सहज विश्वास नहीं होता। फिर कुआँ खनने के बाद उसको बँधवाने आदि की भी व्यवस्था साधारण नहीं है। ईंटों व चूने आदि से लेकर कारीगर व मजदूरों तक की व्यवस्था का प्रश्न सामने आ जाता है।

लेकिन साधनसम्पन्न व्यक्तियों को भी जो व्यवस्था समस्या रूप लगती है वह ब्रम के साधक काका के लिए माने कुछ चीज ही नहीं। उनकी माला जिसकन्ना शुरू हुई कि भरती भाता ने रास्ता देना प्रारम्भ किया। किसी से कोई शिकार्यत नहीं, कोई सहायता की अपील नहीं। साधक की साधना चलती रहती है। कोई सहज प्रेरणा से आ गया तो साथ ले लिया— चला गया तो ‘सीताराम’ बोल कर बिछ दे दी। हाथ न निरुत्साह से धीमा पड़ा न उतावली में तेज हुआ।

और अपने इस सपूत के प्रति स्नेह के कारण धरती मृता अपने अन्दर का स्रोत अधिक देर रोक नहीं पाती। अन्दर से मधुर अल की भार के रूप में वह फूट पड़ता है। अब तक काना द्वारा खोदे गये कुओं का जल मीठा ही निकलता है।

अब बाना की माला बोझ कुछ बदलती है तथा भगवत् नाम के साथ निकलने लगती है। ईंटों की कतार। आवश्यकता भर की ईंटें भी देखते-देखते तैयार हो जाती हैं। एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का यह कार्य लोगों के अन्दर की चेतना को बैठ नहीं रहने देता। कत की बात में ईंटें पकाने, चिनाई के साधन आदि एकत्रित हो जाते हैं। जन सहयोग से कार्य पूरा होते देर नहीं लगती। समाज में साधनों की कमी नहीं है उनका ठीक-ठीक उपयोग करा सकते जाते चाहिए।

कुएं का कार्य पूरा होने पर आस-पास छोटे-सी रमणीक बगीची लगा दी जाती है। अधिकांश स्थानों पर कोई देवस्थान का तो पहले से ही होता है—वा बना दिया जाता है। बैठने के लिये चबूतरा, कुएं पर स्नानार्थ से स्त्री-बाली आदि की व्यवस्था भी हो जाती है।

महायोगी गोरखनाथ और उनका योग-मार्ग

महात्मा गोरखनाथ अपने समय के एक बहुत प्रसिद्ध योगी हो गये हैं। वैसे सोम्याभ्यास करने वालों की भारतवर्ष में कभी कभी नहीं रही, अब भी हजारों योगविदा के जानकर और अभ्यासी इस देश में मिल सकते हैं, पर गोरखनाथ योगविदा के बहुत बड़े आचार्य और सिद्ध थे और अपनी शक्ति द्वारा बड़े-बड़े असंभव समझे जाने वाले कार्यों को भी कर सकते थे।

गोरखनाथ का समय खोज करने वाले विद्वानों ने विक्रम संवत् ११०० के लगभग माना है। कहा जाता है कि एक बार उनके भावी गुरु मत्स्येन्द्रनाथ फिरते-फिरते अयोध्या के पास ‘जयश्री’ नाम के नगर में पहुँचे। वहाँ एक ब्राह्मणी के घर जाकर भिक्षा माँगी और उसने बड़े आदर सम्मान से उनको भिक्षा दी। ब्राह्मणी का भक्तिभाव देखकर मत्स्येन्द्रनाथ बड़े प्रसन्न हुये और उसके चेहरे पर उदासीनता का चिह्न देखकर कारण पूछने लगे। ब्राह्मणी ने बतलाया कि उसके कोई सन्तान नहीं है, इसी से वह उदासीन रहती है। वह सुन योगीराज ने अपनी झेलने से गरु-सी भभूत निकाली और उसे देकर कहा कि “इसको रख लेना, तेरे पुत्र हो जायेगा।” उनके धले जाने पर उसने इस बात की चर्चा एक पड़ोसिन से की। पड़ोसिन ने कहा “कहीं इसके छाने से कोई नुकसान न हो जाय ?” इस बात से डरकर भभूत नहीं खाई और गौओं के बचने के स्थान के निकट एक गोबर के गद्दे में उसे फेंक दिया।

इस बात को बारह वर्ष बीत गए और एक दिन फिर मत्स्येन्द्रनाथ पेरी लगते उस ब्राह्मणी के वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने उसके द्वार पर ‘अलख’ जगना। जब ब्राह्मणी बाहर आई तो उन्होंने पूछा— “अब तो तेरा पुत्र १२ वर्ष का हो गया होगा, देखूँ तो वह कहाँ है ?” यह सुनकर सी फवड़ा गई और डरकर उसने समस्त बटना उनको सुना दी। मत्स्येन्द्रनाथ ने भभूत को फेंकने का स्थान पूछा और वहाँ जाकर ‘अलख’ की ध्वनि की। उसे सुनते ही एक बारह वर्ष का तेजपुत्र बालक बाहर निकल आया और उसने योगीराज के चरणों में भस्मक नवाया। वही बालक आगे चलकर ‘गोरखनाथ’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे शिष्य बनाकर योग की पूरी शिक्षा दी। गोरखनाथ ने गुरु की शिक्षा से और स्वानुभाव से जो योग-मार्ग में बहुत अधिक उन्नति की और उसमें हर प्रकार से पारंगत हो गए। लोगों की तो धारणा है कि योग की सिद्धि के प्रभाव से उन्होंने ‘अमर स्थिति’ प्राप्त की थी और आज भी वे कभी किसी प्राणशाली

३ ५० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—२

को दर्शन दे जाते हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि गोरखनाथ ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण में बहुत अधिक सहयोग दिया है और शंकराचार्य और तुलसीदास के मध्यकाल में इतना प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्ति भारतवर्ष में कोई नहीं हुआ था। उनके विषय में 'गोरखविजय' ग्रन्थ में लिखा है—

ए बलिया जतिनाथ जासन करिस ।
तंग महातंग दुई संहति लड़ल ॥
आधन करिया नाथ शून्ये कैल भरा ।
साचन उड़ये जेन गगन ऊपर ॥
आडे-आडे चाहे नाथ शून्य चर करि ॥

“गोरखनाथ योगासन लगाकर आकाश मार्ग में पहुँच गए और बाज की तरह उड़ने हुए एक देश से दूसरे देश को जाने लगे।”

बंगाल के राजा गोपीचन्द की पत्नी मथनाबती गोरखनाथ की शिष्या थी और योग साधना तथा तपस्व्य इत्यादि महान् ज्ञान की अधिकारिणी बन गई थी। इसने अपनी विद्या के बल से देखा कि उसके पुत्र के भाग्य में बाढ़ी हो अबस्था लिखी है और वह बीस वर्ष की अवस्था में मर जायेगा। इससे बचने का एकमात्र उपाय है कि वह किसी महान् योगी से दीक्षा लेकर योग साधना करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करे। इसलिये उसने जालधरनाथ से गोपीचन्द की योग-मार्ग की शिक्षा विलाकर उसे उच्च कोटि का योगी बनवाया।

गोरखनाथ योग-विद्या के आचार्य थे। वर्तमान समय में जो हठ योग विशेष रूप से प्रचलित है उसका उन्होंने अपने अनुयायियों में बहुत प्रचार किया और उनके लिए गुप्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का मार्ग खोल दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'गोरख-संहिता,' 'गोरख विजय,' 'अमरीथ रासन,' 'कया बोध' आदि बहुत-से ग्रंथ रचे थे जिनमें से कुछ अब भी प्राप्त हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अगर तुम शरीर और मन पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो इसका एकमात्र यही मार्ग है। यदि मनुष्य सोचे कि वह धन-सम्पत्ति द्वारा समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर लेगा अथवा जड़-बूटी से रसायनों की सहायता से शरीर को सुरक्षित रख सकेगा तो यह उसका भ्रम है—

सोने रुपे सोझै काल । तौ कल राज छोटे राज ॥
जड़ी-बूटी भूले मत कोई । बहसी राँठ कैद की होई ॥

अमर होने का उपाय तो योग का पथ ही है जिसमें अमृत प्राप्त करने का मार्ग बतलाया गया है—

गगन मंडल में औंषा कुंवा, तहें अमृत का वासा ।
सगुरा होइ सु घर-घर पीया, निगुरा जब भिकसा ॥

शून्य गगन अथवा मनुष्य के ब्रह्म रूप में औंषे मुँह का अमृत कूप है, जिसमें से बराबर अमृत निकलता रहता है। जो व्यक्ति सतगुरु के उपदेश से इस अमृत का उपयोग करना जान लेता है वह अजरामर हो जाता है और जो बिना गुरु से विधि सीखे केवल मन के लहलहाया करता है, उसका अमृत सूर्य तत्व द्वारा सोख लिया जाता है

और वह साधारण मनुष्य की तरह आधि-व्याधि का ही शिकार बन रहता है। योग द्वारा इस अमृत को प्राप्त करने का सर्वप्रथम उपाय ब्रह्मचर्य-साधन का शीर्यस्त (विन्दु की साधना) है—

व्यंदहि जोग, व्यंद ही भोग ।
व्यंदहि हरि जे चौंसठि रोग ॥
का व्यंद का कोई जाणे भेव ।
सो आप करत आप देव ॥

विन्दु (वीर्य) का रहस्य समझकर उसकी पूर्ण रूप से रक्षा करने पर मनुष्य सर्व-शक्तिताली और देवस्वरूप बन जाता है। इस प्रकार का साधन कर लेने से मनुष्य स्वयं शक्ति और शिव स्वरूप हो जाता है और उसे तीनों लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है—

सहु बन सकती सहु मन सीव ।
सहु मन पंच तत्व का जीव ॥
सहु मन लै जो ज्ञान रहै ।
तौ तीनों लोक की चाबी कहै ॥

गोरखनाथ का मत समन्वयवादी है। वे स्वयं बाल-योगी थे और यह भी कहते थे जो वास्तव में योग में सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, उसे युवावस्था में ही कामदेव की वश में करना चाहिये। पर वह अन्य कितने साधना-मार्गों की तरह शरीर को अनावश्यक कष्ट देने, दिखावटी तपस्या करने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था—

देव-काल ते संजय रहिय । भूत-कला आहार ॥
मर पवन ले जमन बरिय । ते जोगी सतसार ॥

“साधक को देव-कला (आध्यात्मिक मार्ग) पर चलकर आत्म शक्ति प्राप्त करनी चाहिये और भूत-कला (पार्थिव-विधि) से आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही वह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त कर सकेगा।” इस प्रकार साधना मार्ग में अग्रसर होते रहने पर अंत में साधक 'निष्कृति' अवस्था में पहुँच जाता है, जिससे उसकी समष्टि हो जाती है, राग-द्वेष का अन्त हो जाता है, सांसारिक माया-मोह सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वह कल के भय से भी छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

उनका कहना है कि “सतगुरु कहते हैं कि गोरखनाथ जब माया रूपिणी जगती के सम्पर्क में आया तब वह जीवित थी, पर उसने माया को बलीभूत करके उसे मृत (मष्ट) कर दिया ॥ १॥ पहले तो माया रूपी भैंस संसारी सुख रूप दूध देती थी, जिससे उसका मान होता था। पर जब साधन द्वारा उसका आवरण अलग कर दिया तो उल्टी स्थिति हो गई। तब भैंस को बाँध रखने वाला खोला (खँटा) तो अपार्षित आनन्द रूपी दूध देने लगा और माया रूपी भैंस ज्ञान की दासी बनकर उस दूध को खिलाने लगी जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रूपी मन्त्रज्ञान प्राप्त हुआ। माया सस है और मानवीय इच्छा बहू है। यह इच्छा माया का पालन करती है (अर्थात् उसे पालने में झुल जाती है) ॥ २ ॥ मनुष्य के कया रूपी खेन में साधन रूपी खेती की जाती

है और परिपक्व हो जाती है तब वह अहंकार को खा जाती है (नष्ट कर देती है) इसी प्रकार काम-क्रोध-रूपी पक्षिणी (शिकारी) पहले मन को शिकार करता रहता है अर्थात् उससे इच्छानुसार अनुचित कार्य कराता है। पर जब मन जाग्रत हो जाता है, स्वप्न में सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह उल्टा इस शिकारी को ही बांध लेता है ॥ ३ ॥ पहले कुंडलिनी शक्ति रूप हाँडी नीचे (नाभिकमल) में सुप्त अवस्था में पड़ी थी, पर जब वह जाग्रत होकर चैतन्य हो गई तो ऊपर चढ़ती गई। पहले मन रूपी भ्रष्टली को माया रूपी बगुला खाता रहता था, जब मन अपने स्वरूप को समझ कर साक्षात् हो गया तो वह उत्तम माया को ही निगलने लग गया ॥ ४ ॥ आरम्भ में मिथ्या जगत रूपी आकाश शक्ति आनंद की वर्षा करता था, पर जब (परब्रह्म को) ज्ञान हृदय रूपी भरती पर जागृत हुआ तो धूमि तो वर्षा करने लगी और आत्मा स्पर्श करने लगी, इस प्रकार वह जल ऊपर की तरफ बढ़ने लगा। इसका आशय यह कि पहले माया का प्रभाव अधोगामी था, पर कुंडलिनी शक्ति के जागृत होने से स्वप्न का उर्ध्वगामी होने लग गई ॥ ५ ॥ मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ कहता है कि “अब मैं ममता-माया-मोह को त्याग कर अवधूत हो गया हूँ ॥ ६ ॥”

इस प्रकार गोरखनाथ जी ने एक ‘अगम-अज्ञेय’ परमपुरुष को अनुभूति का मार्ग दिखलाकर लोगों में फैले अनेक भ्रांत मतों का निराकरण किया और साधना की एक ऐसी स्पष्ट विधि बतलाई जिससे साधारण-जन भी आत्मोन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं।

प्रेम धर्म के उपदेश— महात्मा चरणदास

भारतीय इतिहास के मध्यकाल को अंधकार का युग कहा जाता है उस समय यहाँ की बहुसंख्यक जनता शासक वर्ग के अत्याचारों से घुरी तरह पीड़ित हो रही थी। शासक वर्ग भी अपने अधिकार पद में मानवता को धुलाकर जनता का आर्थिक ही नहीं नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शोषण में प्रमत्त होकर लगा हुआ था। ऐसे समय यहाँ की निवासी जाति तथा विदेशी आक्रमणकारी जातियों में अपने व्यक्तित्व, प्रभाव और वर्चस्व के बल पर सेतु का काम किया महात्मा चरणदास ने। अनाचार, अनैति और अराजकता के युग में वे शासक और प्रजा दोनों के नैतिक उत्थान में प्रणयन से जुट गये।

१८वीं शताब्दी के आरम्भिक समय में जब हिन्दू मन्दिर और देवालय औरंगजेब के इशारों पर ध्वस्त हो रहे थे। कहीं कोई रखक बनकर सामने नहीं आ रहा था। उसी नज्माने में अलवर के एक गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में महात्मा चरणदास का जन्म हुआ। नवम्बर से ही उन्हें हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के शिकार लोगों के सम्पर्क में रहने का मौका मिला। उस समय औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था। आगे चलकर चरणदास ने अनुभव किया कि जब तक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त नहीं किया जाता लोग सुख-शांति का

जीवन नहीं जी सकेंगे। इसी केन्द्र के परिधिगत चिन्तन में उन्होंने इस समस्या का निदान ढूँढ़ और पाया कि इन दोनों जातियों में प्रेम और सद्भाव की स्थापना करना ही एक-मात्र समाधान हो सकता है।

औरंगजेब के बाद चरणदास जी ने युवावस्था में प्रवेश किया तो नादिरशाह और मुहम्मदशाह जैसे बादशाहों ने भी उसी परम्परा को जारी रखा और अर चरणदास जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करने लगे। उस समय मुसलमानों में भी शासन की नीति के अनौचित्य को स्वीकार करने वाले कई विचारशील लोग थे। महात्मा चरणदास जी ने ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और दोनों जातियों में एकता-अभिवर्द्धन के लिए कार्यक्रम बनाये।

कुछ दिनों बाद कई मुस्लिम-हिन्दुओं के त्यौहार और उत्सवों में सम्मिलित होने लगे तथा बहुत-से हिन्दू भी मुस्लिम पर्वों में उसी प्रकार भाग लेने लगे। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य-हट अन्त करने तथा आत्मीयता-एकता की भावना बढ़ाने के लिए यह एक व्यावहारिक सफल प्रयोग था। देखा-देखी तो बाद में यह एक परम्परा ही बन गयी और हिन्दू-मुसलमान एक साथ बड़े प्रेम से रहने लगे। इन गतिविधियों के सम्बन्ध में नादिरशाह को लग्न तो वह बड़ा आनन्द हुआ। महात्मा चरणदास जी को अपने दरबार में बुलाया और पूछा—“आप यह सब किस उद्देश्य से कर रहे हैं। आप नहीं जानते इस प्रकार इस्लाम को फैलाने में आप कितनी इकावट पैदा कर रहे हैं। यह कभी माफ नहीं किया जा सकता।”

चरणदास जी ने बादशाह को शांत और निर्भय शब्दों में स्पष्ट उत्तर दिया—“नादिरशाह तुम स्वामी गफ़लत में रहकर इस्लाम के भसली अर्थ को भूल रहे हो। कोई भी पज़हब इन्सान में ऊँच-नीच का भेद नहीं करता। सभी धर्म एक ईश्वर तक ही पहुँचाने वाले अलग-अलग मार्ग हैं। महात्मा जी ने और कई तर्क, उदाहरण देकर प्रेमधर्म का आधार प्रतिपादित किया। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और ओजस्वी कण्ठ से बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। इसी प्रकार की घटनाएँ अन्व कई राज-दरबारों में भी घटीं, मुहम्मद शाह ने भी आरम्भ में तो उनका विरोध किया परन्तु बाद में उनके प्रशंसक बन गये।”

मुस्लिम शासकों द्वारा चरणदास जी की प्रशंसा किये जाने पर हिन्दू राजाओं को शक हुआ। उस समय कुछ हिन्दू राज्य अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए शक्ति भर प्रयत्न कर रहे थे। जयपुर नरेश सवाई ईश्वरसिंह तथा प्रतापसिंह जैसे राजपूत राजाओं को मुगल बादशाहों द्वारा महत्त्व की भी शिथिलता स्वीकार करने की घटना में किसी पड़यंत्र की गन्ध आयी। उन्हें लगा कि चरणदास जी मुगलों से मिल गये हैं। अपनी इस आशंका को परखने के लिए वे महात्मा जी के पास गये। परन्तु उन्हें भी चरणदास जी के विचारों और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्मुख नत-मस्तक हो जान पड़ा। जो राजपूत मुसलमानों के कट्टर दुश्मन थे वे ही उन लोगों को गले से लगाने के लिए तैयार हो गये।

चरणदास जी की इस सफलता ने उन्हें भारत भर में विख्यात बना दिया। समस्त उत्तरे भारत की आध्यात्मिक चेतना उनके इर्दगिर्द

धूमने लगी। पूर्ति भक्त औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता स्वयं को असहाय और निर्बल अनुभव कर रही थी। ऐसे समय में उन्होंने शक्तिपुञ्ज निर्बलों के बल और प्रेरणा स्रोत ईश्वर पर विश्वास रखकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। ईश्वर हगरी सहायता करेगा। इस विश्वास ने चरणदास जी के अनुयायी हिन्दुओं में आत्मविश्वास को जागड़ा।

धीरे-धीरे उनके आस्तिकता, आत्मविश्वास, ईश्वर भक्ति और कर्मनिष्ठा के विचार फैलने लगे। कविता के माध्यम से उन्होंने अपने सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया और उनके शिष्यों ने कम्पठरु कर गंगाक्षर सुदूर प्रान्तों तथा देश में विशुद्ध अध्यात्मक जीवन दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार के प्रचार द्वारा उनकी विचारधारा उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत से लेकर अफगानिस्तान तक फैल गयी।

इन विचारों की सर्वजनोपलब्धि का एकमात्र कारण है तत्कालीन कठिन परिस्थितियों का समाधानकारक प्रतिफलन। हिन्दू जाति को शक्ति स्रोत परमेश्वर का उपदेश देने के साथ-साथ उन्होंने मानव मात्र को उसी एक परमात्मका का पुत्र भी निरूपित किया। निस्सन्देह इसका एकमात्र ठोस तत्कालीन भेदभावपरक समाज व्यवस्था को संशोधित करना था।

उस समय हिन्दू जाति में व्याप्त निराशा में एक अस्पृश्यता और कुभासूत की मान्यता भी थी। चरणदास जी ने इनका निराकरण करते हुए मानव मात्र को भगवान् की प्रिय सन्तान घोषित किया और उन्हें भजन का अधिकार दिया। उनके पदों और छन्दों में सर्वत्र समानता का स्वर मुखरित हुआ है। एक बार किसी गाँव में अस्कुओं द्वारा भजन गवाने पर चरणदास जी को ठाकुरों तथा उच्च जाति के लोगों का विरोध भी सहन पड़ा था। कुछ लोग तो मारने पर भी उत्तक हो गये थे। ऐसे समय में महात्मा जी ने अपनी मोहक वाणी तथा प्रभावपूर्ण वक्तृत्व शैली द्वारा स्थिति पर काबू पाया। इस प्रकार की सफलताओं के कारण लोग उन्हें सिद्ध योगी कहने लगे। कई निष्ठावान शिष्यों तथा गृहस्थ अनुयायियों ने इस सिद्धि का राज भी पूछा तो चरणदास जी ने बिना किसी दुराव-छिपाव के बता दिया—“प्रेम ही सबसे बड़ी सिद्धि है। आत्मीयता और सद्व्यवहार से किसी भी मनुष्य का हृदय जीता जा सकता है।”

एक बार सिद्ध योगी के रूप में जानकर कोई स्त्री उससे वशीकरण का उपाय पूछने आयी तो चरणदास जी ने एक कगल पर मन्त्र लिखते हुए उसे घर में रखने के लिए कहा और उसका साधन विधान बताया—“घर के जिस सदस्य को वशीभूत करना हो उसकी खूब सेवा किया करो।”

कुछ समय बाद ही उस स्त्री के पारिवारिक जीवन में आवश्यक सुधार हुआ। वह अपने पति के साथ महात्मा जी के पास कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए आयी। चरणदास जी ने कहा—“यह मन्त्र का नहीं तुम्हारी साधन का प्रभाव है और ताबीज में लिपटा हुआ कगल का पुरजा खोलकर बताया जिसमें लिखा था—“प्रेम ही प्रभु है और सेवा ही भक्ति।”

प्रेम के उपदेश इस महान् सन्त का एक ही जीवन सूत्र था जिसके माध्यम से द्वेष, क्लेश, अशक्ति और फूट की असह्य वेदनामूलक

समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है और वह है निष्काम सेवा तथा आत्मीय भावना। योग और सिद्धि के इस सरल किन्तु प्रमसाध्य होने के कारण दूसर भी विधि-विधान का दिग्दर्शन करने वाले सन्त के रूप में महात्मा चरणदास जी सदैव याद किये जाते रहेंगे। राजा महाराजों की गुणचुम्बी अट्टालिकाओं से लेकर दीन-दरिद्र की झोपड़ी तक उनका समान रूप से आदर होता था। यही नहीं आज भी वे अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में उसी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं।

समाज व संस्कृति के सेवक— शंकर देव

बटन अब से लगभग ४०० वर्ष पुरानी है। तब भारत में जाति-पाँति और ऊँच-नीच का बड़ा प्रचलन था। समझा जाता है कि उस समय मन्दिरों के परकोटे से पड़ने वाली ऊँची पर छाया तक में शूद्रों को पाँव नहीं रखने दिया जाता था। उस समय अलिपुखुरी नामक एक गाँव में बहुत बड़े जागीरदार थे। लोग उन्हें जागीरदार शिरोमणि कहा करते थे और अपनी कह-कठिनाइयों का हल तथा समस्याओं का समाधान खोजने के लिए उनके पास आया करते थे।

उस क्षेत्र में जागीरदारों और ब्राह्मणों की ऊँची जाति का तथा शेष सब की नीची जाति का समझा जाता है। अब से पचास वर्ष पहले भी शूद्रों-कम्बों तक वे यह स्थिति थी कि तथाकथित उच्च कुल के लोग गरीबों और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को अपने सामने जूने पहन कर निकलते नहीं देखना चाहते थे। कैसी भी धूप हो और कितनी ही धरती तप रही हो तो क्या उनके लिए रंगे पैरों निकलना अनिवार्य था। कई गाँवों में तो अभी तक यह प्रथा रही है। पचास वर्ष पहले की यह स्थिति है तो सहजता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चा सौ वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक प्रयावह स्थिति रही होगी।

एक वर्ष की बात है उस इलाके में पर्याप्त बारिश नहीं हुई। सर्तों में होने वाली फसलें सूखने लगीं तो ब्राह्मणों और उच्चवर्ग के लोगों ने मिलकर जागीरदार से कहा कि—पास ही एक नाला (बाँध) बना लिया जाय ताकि गर्मियों में पानी की परेशानी न हो।

सहृदय जागीरदार ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुहूर्त निकलकर कर सारी तैयारियों की जाने लगीं। निश्चित किया गया कि पहला पत्थर जागीरदार की उपस्थिति में रखा जाय और अब मुहूर्त पर पूजन वगैरह हो गया तो लोग सोचने लगे कि अब जागीरदार स्वयं पत्थर रखकर बाँध की आधारशिला रखेंगे। सारे गाँव के व आस-पास के सारे गाँवों के लोग वहाँ जमा हुए थे और जागीरदार को पितृ तुल्य ब्रह्मा की दृष्टि से देख रहे थे।

जागीरदार ने अपने आसपास खड़े प्रतिष्ठितजनों से पूछा—“पहला पत्थर कौन रखेगा।”

“हुजूर जिसे आज्ञा दें।”

जागीरदार की दृष्टि सब ओर दौड़ गई और जाकर दूर छड़े गल्लाहों के समूह पर जा टिकी। उसमें से उन्होंने एक महिला को पुकारा—“उस झुण्ड में से कोई भी बहिन आगे आ जाय।”

सार्धका नाम की एक केवट बुबती आगे आई और जागीरदार ने कहा— 'वह बहिन पहला पत्थर रखेगी ।'

सब लोग देखते से रह गये । किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर ही नहीं बरन् हर समय पददलित लोगों का पारिवारिक आत्मीयता के भाव से ध्यान रखने वाले इस जागीरदार का नाम था शंकरदेव जो आगे चलकर एक सच्चे भगवत्भक्त के रूप से प्रसिद्ध हुए । शंकरदेव का जन्म आलिपुखुरी के जागीरदार परिवार में सन् १४४९ ई में विजयादशमी के दिन हुआ । उनके पिता का नाम कुसुंवर और माता का नाम सत्यसंधा देवी था । लेकिन शंकरदेव के जन्म के कुछ समय बाद ही थोड़े बहुत अन्तर से मला-पिता दोनों मल नसे । पितामह ने— जिन्होंने अपनी जागीरदारी अपने पुत्र पर छोड़ दी थी और भगवत्भजन में लगे रहते थे पुनः लौकिक जीवन में प्रवेश किया और पोते के पालन-पोषण के साथ-साथ जागीरदारी का कामकाज भी सम्हालने लगे । उनको भावुकता प्रेम दिया दादी खेरसुती ने ।

माता-पिता के अभाव में बच्चा अपने आपको अनेक अनुभव न करे दादा-दादी इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे । इसी कारण वे बचपन में पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान नहीं दे पाये । लगभग बारह वर्ष तक वे अपने संगी-साथियों के बीच खेलते कुदते रहे । बाल-संगियों को साथ लेकर वे जंगल में निकल जाक करते । साथ में तीर-कमान भी होता कभी चिड़ियाएँ पकड़ने, कभी तीर कमान से शिकार करते और कभी ब्रह्मपुत्र में इस किनारे पर उतर कर तैरते हुए उस पार पहुँच जाते ।

१२ वर्ष की आयु तक उन्होंने पढ़ाई-लिखाई में कोई ध्यान नहीं दिया । खेलकूद और बालसंगियों के सहवास में इतने अधिक व्यस्त कि उन्हें खाने-पीने तक की फुरसत नहीं रहती थी । अपने पोते को खेल में इस प्रकार मशगूल रहते देखकर आरम्भ से ठट्ठ-ठटी पहले तो बहुत खुश हुए । उन्होंने सोचा कि इस प्रकार शंकरदेव अपने माता-पिता के अभाव को भूल रहा है । पर अधिक दिन तक वे पोते की इन गतिविधियों को सह नहीं सके ।

एक दिन दादी को इस कदर चिन्ता-सवार हुई कि वे स्वर्णित हो उठीं । उन्होंने शंकर को अपनी गोदी में बिठाया । कुछ कहने ही जा रही थीं कि आँखों से द्रवादप आँसू गिरने लगे और वे बोलीं— बत बेटे तू पढ़ता क्यों नहीं ?

न जाने आत्मीयता और व्यक्त से भरे इस प्रश्न ने शंकर के अन्तरांग के किस तार को झूँल दिया । वे बोले से मत दादी । अब मैं सारे शास्त्र पढ़ लूँगा ।

हृदय के जिस कोने ने यह प्रश्न पूछा उत्तर भी ठीक वहीं आकर सुनाई पड़ा और खेरसुती ने अपने धृति से शंकर को चारसाल (पाठशाला) में भर्ती करा देने के लिए कहा । दादा उन्हें महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में भर्ती करा आये ।

इसके बाद तो शंकर जैसे सभी खेलकूद और संगी-साथियों के साथ भूमना फिरका भूल गये और तन्मयतापूर्वक विद्याभ्यास में जुट गये । कुछ ही वर्षों में शंकरदेव व्याकरण, काव्यशास्त्र और धर्मशास्त्रों में गहरा प्रवेश करने लगे ।

गुरु महेन्द्र कन्दली अपने समय के जाने पहचाने विद्वान् तो थे ही । अध्यात्म और योग सधना में भी वे अधिकार रखते थे । शंकर में आत्मिक विकास की सम्भावनाओं को देखकर उन्होंने अपने इस शिष्य शिष्य को योग सिखाना तथा भागवत् पढ़ाना आरम्भ कर दिया । भागवत् में शंकर को इतना रस मिला कि अब सोते जागते उन्हें इसी भागवत्स की प्यास रहने लगी । हर घड़ी वे भागवत् का रसास्वादन करते ही दिखई देते । अब स्वयं तो भागवत् का स्वाध्याय करते ही दूसरों को भी भागवत् पढ़ कर सुनाते तथा उसके तथ्यों को समझाया करते ।

अन घर-परिवार के लोगों को नई चिन्ता सवार हुई । शंकर कहीं भक्तिरस में डूबकर हमारे हृदय से ही न खो जाय । एक दिन चिड़ कर परिवार के किसी वृद्ध सदस्य ने उनसे कहा— शंकर बेटा ! अब हम से तो कुछ होना जाना है नहीं । हम सबके लिए बैकुण्ठ तू ही बना दे ।

बड़ी सहजता से शंकर ने इस कटाक्ष को लिया । महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में उन्होंने कुछ चित्रकारी तो सीखी थी ही । अतः तूलिका उठाई और परें खनकर बैकुण्ठ का चित्र बनाने लगे । ईश्वर, हरताल आदि रंगों से उन्होंने सात पर्तों पर सात स्वर्ग के दृश्य खींचे और जहाँ तहाँ झीलें तथा फुलवारीयाँ भी बनायीं । शंकर की इस कलात्मक प्रतिभा को देखकर सभी लोग दंग रह गये । कहा जाता है कि आलिपुखुरी का शासक ही कोई नगरिक उस समय रहा हो जिसने इन चित्रों को देखकर काह न कहा हो ।

चित्रकारी के बाद व्यस्त हुई शंकर की काव्य प्रतिभा । गाँव की भाषा में ही उन्होंने 'चिह्न चित्रा' नामक एक नाटक लिखा । कुछ अधिनेताओं को तैयार किया और गाँव की चौपाल पर यह नाटक खेला जाने लगा । भक्तिभाव से भरे इस नाटक को देखकर सभी प्रपञ्चाली भावाविभूत हो गये । इन्हीं दिनों उन्होंने एक छण्ड काव्य भी लिखा ।

शंकरदेव जैसे-जैसे बड़े होते गये— समाज को समझने लगे वे अनुभव करने लगे कि समाज में आदमी और आदमी के बीच विषमता तथा ऊँच-नीच की दीवारें खींची हुई हैं । ऊँचे लोगों का दूटा अहं सता रहा है तो नीचे लोगों को विषमता की हीनता । इन विषमताओं को और विडम्बनाओं को देखकर शंकरदेव की युवा हृदय बड़ा परीक्षित उठता ।

उस समय अस्सम में योगमार्ग का बड़ा जोर था । शंकर ने भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेकर लोगों को नयी दिशा देने का संकल्प लिया । भक्तिमार्ग के द्वारा वे लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करने लगे कि दुनिया में सभी धर्म बराबर हैं, सभी लोग बराबर हैं और सभी जातियों बराबर हैं क्योंकि सभी भगवान् के हैं ।

इन भावनाओं से भरे कीर्तन उन्होंने विपुल संख्या में लिखे और अस्सम में स्थान-स्थान पर नामगरी (कीर्तन मन्दिरों) की स्थापना का निश्चय किया । २१ वर्ष की आयु में ही वे इतना ऊँचा और आदर्श स्वप्न देखने लगे थे । घर वालों ने जब यह देखा कि वे रात-दिन धर्मकर्म में ही व्यस्त रहते हैं तो उनका विवाह सूर्यवती से कर दिया । भक्तिमार्ग की प्रवृत्तिभारा के अपासक होने के नाते उन्हें घर-परिवार

मी अपने लक्ष्य में सहायक ही लगा और बिना किसी नुस्खे के विवाह कर लिया।

इसके साथ ही उन्हें आगीरदारी की देखभाल का दायित्व भी सौंप दिया गया। शंकरदेव ने यह दायित्व भी कुशलतापूर्वक सम्भाला। पर अपनी गतिविधियों का आधारभूत सिद्धान्त वही रखा जिसके कि वह प्रचारक थे। यानि कि ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित समतापूर्ण व्यवहार।

सन् १४७८ ई. में उनकी पत्नी ने एक कन्या स्त्र को जन्म दिया और खुद उस नौ पहीने का छोड़कर चल बसीं। जोते जी शंकरदेव बाहरी दायित्वों के साथ-साथ अपनी पत्नी का भी बराबर ध्यान रखते थे। सूर्यवती देवी ने कभी यह महसूस नहीं किया कि वह एक विरागी की पत्नी है। पर जब पत्नी का देहान्त हो गया तो इस घटना को उन्होंने प्रभु की इच्छा मानकर निर्विकार भाव से स्वीकार किया।

नौ वर्ष तक पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन् १४८७ में वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़े ताकि अपनी विचारधारा का प्रचार कर सकें और दूरे दिलों को जोड़ सकें। बारह वर्ष तक उन्होंने देश के कई क्षेत्रों का भ्रमण किया और पूर्व निर्धारित लक्ष्य— नामधरों की स्थापना— की पूर्ति के लिए अत्यन्त प्रयत्न करते रहे। इन नामधरों की विशेषता यह थी की इनमें सभी वर्ग और जातियों के लोग साथ-साथ भगवद्भजन करते। पुराणखण्डों पण्डितों को छोड़ कर उनकी मोहक वाणी ने सभी को प्रभावित किया और सभी स्थानों पर उन्हें सहयोग मिलने लगा।

यात्रा में ही उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे 'कीर्तन धोषा', 'भक्ति प्रदीप', 'लक्ष्मणी हरण', 'काव्य बङ्गी', 'गुणमाला' आदि कई कृतियाँ उन्होंने लिखीं जिसमे कीर्तन शैली में अपने विचार और भक्त हृदय को खोल कर रख दिया है।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद सत्तानवे वर्ष की आयु में भी आसाम में कीर्तनों की भूम मचा दी। उनके विरोधी भी प्रबल हुए और विरोधियों के प्रभाव में आकर कोचराज ने उन्हें गिरफ्तार कर दण्डित करने की सोची। पर शंकरदेव को सामने पाकर उनकी प्रतिभा से परिचित होते ही कोच राजा उनका शिष्य हो गया। सन् १५६८ ई. में उनका देहान्त हुआ पर उन्होंने अपने भक्त हृदय से सम्प्रज्ञ, साहित्य और संस्कृति की जो सेवा की उसने उन्हें अमर बना दिया।

धर्म व राष्ट्र के महान् सेवक— साधु वास्वानी

लाहौर कलेज के प्राचार्य अपनी मृत्यु का अन्तिम संस्कार करके आए तो उनके मन में बड़ी उल्लस-पुल्लस मचने लगी। उन्हें यह कि वह बात याद आ गई। जब वे एम. ए. कर चुके थे तब कहीं थी— “बेटा अब तू इतना पढ़ गया है जितना मैं चाहती थी। अब चाहे जो कर बस एक बात याद रखना कि इसका समुचित सदुपयोग हो

टी. एल. वास्वानी को इस पद को पाने के लिये बड़ी मेहनत करनी पड़ी थी। बचपन में पिता चल बसे। घर की स्थिति ठीक थी नहीं कि वे पढ़ सकते। इनकी माता इन्हें पढ़ाना चाहती थीं कम से कम एम. ए. करना चाहती थीं।

इन्होंने सीमित साधनों, विपरीत परिस्थितियों की चिन्ता नहीं की और अपने उद्देश्य में दृढ़ रहे। जिनके पास साधन सुविधाएँ थीं, सदा उनसे आगे रहे। इस प्रकार इन्होंने एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

इस प्रकार की तप साधना से अर्जित ज्ञान का उपयोग केवल स्वयं के हित में किया जाय इतना हीन दृष्टिकोण इनका न था। वे तो इसका कम-कम सदुपयोग में लगाना चाहते थे। शारीरिक आवश्यकताएँ तो इतनी न्यून होती हैं कि वे सहज पूरी हो जाती हैं फिर सम्प्रदाय का मोह इस प्रकार के ज्ञानों को क्यों होता ?

मृत्यु की सेवा तथा सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया था। अपने वेतन का अधिकांश वे साधनहीन विद्यार्थियों को बाँट देते थे। अब उन्हें इस पद पर रहने की आवश्यकता न रही। मातृ-रुचि चुका दिया। अब वे समाज व देश के लिये ही जीना चाहते थे।

उन्होंने प्राचार्य पद से त्याग-पत्र दे दिया। मित्रों, परिचितों को यह अजीब लगा। इतने सम्मानित पद को छोड़ना कौन-सी बिबेक-शीलता है ? यह उनके समझ में नहीं आया। पूछने पर जब उन्हें उनके महान् उद्देश्य का परिचय मिला तो वे इनकी महानता के सामने नतमस्तक हो गए। उसी समय प्राचार्य वास्वानी साधु वास्वानी कहलाने लगे।

वे भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उन्हीं दिनों बर्लिन में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में सम्मिलित हुए। अंग्रेजी पर इनका बड़ा अच्छा अधिकार था। वहाँ भारतीय धर्म व संस्कृति पर इन्होंने अंग्रेजी में जो भाषण दिया तो लोग इनकी प्रतिभा व भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप से बहुत प्रभावित हुए। भारत के लिये उन देशों के लोगों में सम्मान की भावना पैदा हुई। जिससे स्वतन्त्रता संग्राम में बहुत सहायता मिली।

वे सच्ये अर्थों में साधु थे धर्म व्यवसायी साधु बाबा नहीं। भारत आकर वे भारत माता को अंग्रेजी छत्रता से मुक्त कराने के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे। सिंध क्षेत्र जो इस लपट से अछूता था वहाँ इन्होंने देश प्रेम की अग्नि प्रज्ज्वलित की। पुस्तकों, लेखों व परिपत्रों के माध्यम से सभे भारतीयों को जगाने का सरहनीय प्रयास किया। साधु वास्वानी के इस कुन्व से अंग्रेज सरकार बड़ी क्रुपित हुई। इन्हें बन्दी बना लिया गया। उन्होंने उस समय कहा था— “मेरे कर्णों में कुछ सार है तभी सरकार ने जेल दी है।”

साधु वास्वानी का शरीर भले ही बन्दी था किन्तु उनका मन, मस्तिष्क और आत्मा तो मुक्त थे। इस समय में उन्होंने नव जागरण के लिये भावी रूपरेखा बनाई। गहन चिन्तन और मनन किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि धर्म और संस्कृति की एक व्यापक परम्परा इस देश में चली आ रही है। अंग्रेज इस धर्म और संस्कृति को ही अपनी शिक्षा के द्वारा मिटा देना चाहते हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में ऐसी शिक्षा संस्थाएँ चलाकर ही भारत को इस मानसिक पराभव से बचाया जा सकता है।

करावास से मुक्त होते ही उन्होंने अपनी योजना क्रियान्वित करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने देहसदून, मसूरी मार्ग पर स्थित राजपुर ग्राम में एक आश्रम की स्थापना की, उसका नाम रख रान्ति आश्रम। इस केन्द्र का कार्य ऐसे प्रशिक्षित लोकसेवियों की सेना तैयार करना था, जो समाज में नई चेतना उत्पन्न करने में सहायक हों। यहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति की शिक्षा दी जाती थी तथा उसे सारे भारत में फैलाने की प्रवृत्तियाँ चलाई जाती थी।

अब तक ये इतने विख्यात हो चुके थे कि इन्हें सर्वत्र आमन्त्रित करने के लिये जनता लातायित हो उठी। इन्होंने देखा कि सिन्ध इस जाग्रति में बहुत पीछे रह गया है। वे सिन्ध चले गये। वहाँ 'रान्ति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' की स्थापना इन्होंने की। इनके द्वारा लोक-शिक्षण चलने लगा। साथ ही साथ भजन गण्डलियों द्वारा उस क्षेत्र में धार्मिक चेतना फैलाने का प्रयत्न साधु बख्शानी ने किया।

देश की आजादी मिली साथ ही बँटवारा भी हुआ। साधु बाख्शानी भी अन्य हिन्दुओं की तरह भारत आ गये। उन्होंने पूना में 'रान्ति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' को पुनः स्थापना की। अब इनका एक लक्ष्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता दिलाने का तो समाप्त हो चुका था। अब केवल एक ही लक्ष्य रह गया था। उसी में उन्होंने अपना पूरा मनोबल जुटा दिया। उन्होंने वहाँ आकर 'मीरा' नाम की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया।

पूना अब देश-विदेश में धर्म प्रचार करने का केन्द्र बनाया गया। भारतीय जनता धर्म के आह्वानों से इतनी भ्रमित हो चुकी थी कि उन्हें पुराणादि ग्रन्थों से अपने जीवन अध्यापन की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती थी। इसके लिए इन्होंने महापुरुषों के जीवन चरित्र लिखे जिससे कि जनमानस उनके जीवन में धारण किये आदर्शों को अपने जीवन में उतारकर स्वयं सुखी हो सके तथा समाज में सुख की वृद्धि कर सके। 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक एक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उन्होंने देश-विदेश के प्रबुद्ध वर्ग को भारतीय संस्कृति का अनुगामी बनाने के लिये अंग्रेजी तथा सिन्धी भाषा में लगभग १५० पुस्तकें लिखी।

इनके सामने काम इतने अधिक और समय इतना कम था कि इन्होंने विवाह तक नहीं किया। वे अपनी सम्पूर्ण योग्यता, प्रतिभा तथा श्रम समाज तथा राष्ट्र के हित में ही नियोजित करना चाहते थे। शादी करते तो जाने कितने झगड़ इनके मार्ग में आ खड़े होते। वे कहते थे "साधु का सारा जीवन समाज के लिये ही तो नियोजित होना चाहिये।"

इनकी अन्तिम इच्छा एक गीता मन्दिर स्थापित करने की थी इसके लिये इन्होंने जनता से कहा। एक विदेशी गीता भक्त महिला के सहयोग से इनकी यह इच्छा भी पूरी हो गई।

१६ जनवरी १९६५ को इस महान् देशभक्त तथा भारतीय संस्कृति के लिये सर्वस्व बलिदान करने वाले साधु का शरीरान्त हुआ। साधु केवल समाज पर भार बनकर जीने वाला नहीं कहला सकता। साधु की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है वह उन्होंने मुँह से कहकर नहीं जीवन जीकर बताया। काश! इस चरित्र का अमूल्यत्व के तत्कालीन साधु अनुकरण करते

मुक्तिदायिनी गुफा में स्थिर प्रवेश

साधु टी. एल. बाख्शानी ने एक स्थान पर लिखा है— मैं स्वर्ग का राज्य पाना चाहता हूँ। पर इस दुनिया का निवास छोड़ना नहीं चाहता। क्या मुक्ति प्राप्ति में गुफा का निवास कुछ सहायक होगा? ऐसी मुझे कुछ आशा नहीं है। क्योंकि सारा खेल मन का है। वह गुफा में बैठे-बैठे महल बना सकता है और यह भी हो सकता कि महलों में रहते हुए राजा जन्म की तरह उसमें अपने लिए गुफा की संरचना कर ली जाय।

मैंने अपनी गुफा बना ली है और जहाँ चाहूँ वहाँ अपने साथ लिये-लिये फिरता हूँ। इसे मन के अतिरिक्त और कोई मुझसे कभी छीन नहीं सकता। अपने मन के अन्तराल की गहराई में बैठकर मैं जिस मुक्ति का सपना देखता हूँ वह जन-सेवा पर आधारित है। वह जन-सेवा आन्तरिक परिवर्तता का अनावरण बन जाने के उपरान्त ही बन पड़ती है।

मन की गुफा में ललसाएँ भरी पड़ी हैं, तो उस गन्दगी के रहने जो कुछ भी सोचा जायेगा, मात्र कल्पना-लोक होगा। ऐसा कल्पना लोक जिसका यथार्थता से कोई सीधा सम्बन्ध न होगा। यह ठीक है कि आरम्भ कल्पना से होता है पर उसके साथ-साथ वे होनी ऊँची स्तर की चाहिए। ऊँचे स्तर से तात्पर्य है— मनुष्य मात्र की सच्ची सेवा और उस सेवा की सम्भावना को सार्थक करने के लिए लक्ष्य और चरित्र की परिवर्तता अभीष्ट है।

सच्ची ऊँचाई से तो भी साधनों के भ्रष्ट होने पर वह नहीं पड़ता फट्टी का जाला भर बनकर रह जाता है। जिन सपनों में सच्चाई और सम्भावना है उनसे का कोई मूल्य है। जहाँ इन दोनों का अस्तित्व न हो वहाँ जो कुछ रचा जा रहा होगा, वह कल्पना का महल मात्र होगा। ऐसी मुक्ति के प्रति भी मुझे असुरक्षित है जो रंगीन सपने बना सपने खड़ी हो किन्तु यथार्थता के साथ उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो समझना चाहिए कि एक कल्पनिक मुक्ति अपनी टोकरी में जमा कर ली है।

लोकसेवा की कार्यपद्धति अपनाते ही मुझे अपने लक्ष्य की समीपता और यथार्थता दीखती है। अन्तरात्मा में तत्क्षण सन्तोष होता है कि अपने से कुछ भलाई बन पड़ी वह भलाई काल्पनिक तो नहीं थी, इसकी यह कसौटी रखी है कि चिन्तन और चरित्र में परिवर्तता का संसार करती है या नहीं।

वहाँ ने कहा है कि मुक्ति के लिए गुफा का निवास आवश्यक है। उनके कथन को मैंने चुनौती नहीं दी। गुफा का शब्द और स्वरूप दोनों ही मुझे भले लगे हैं। किन्तु उस भलाई को, सेवा धर्म को अपनाने पर ही कसौटी पर खरा पाया है। अब तक मुक्ति की बात सोचना रहा और उसके लिए कल्पना की गुफा बनाता रहा तब तक समाधान हुआ नहीं और प्रतीत होता रहा कि कोई कल्पना लोक गढ़ लिया है और उसमें विचरण करते हुए मन के मोदक खाये जा रहे हैं।

अब मुझे विश्वास हो गया है कि सच्चाई के साथ अपनाई गई सेवा की रीति-नीति मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। इसलिए भटकने की अपेक्षा इसी गुफा में प्रवेश करना और सदा सर्वथा के लिए उसी में रहना मुझे भला लगा है।

गुजरात के गौरव— रविशंकर महाराज

“खबरदार ! एक भी कदम आगे बढ़ तो गोली छूटेगी ।”

चारों ओर छाया हुआ बन्धु अधकार । दोनों ओर खड़ी टेकड़ियों के बीच बहता छोटा-सा झरना । बातबरण को ध्वनिमय बनाने वाली रात, कीड़ों की आवाज और उस ध्वनिमयता को बढ़ाने वाली किसी महाकाय व्यक्ति की ध्वनित आवाज सुनकर मुस्लिम रुक गया, चारों ओर से बन्दूकधारी डाकुओं ने उसे घेर लिया । उनको देखकर मुस्लिम का हास्य फूट रहा था— हा ३ ३ ३ हा ३ ३ हा ३ ३ ।

“कौन हो तुम ?” बन्दूकों के पीछे से आवाज गरज उठी ।

“लुटेरा हूँ ।” शानि से उत्तर मिला ।

“यहाँ क्यों आये हो ?”

“आप सबसे मिलने आया हूँ ।”

“किस टोली के हो ?”

“गाँधी महात्मा की । तुम लोगों को सुदने की सही रीति सिखाने आया हूँ । उस महात्मा ने अंग्रेज सरकार के सामने बगावत आरम्भ की है । आप लोग भी चलिए हमारे साथ । उसमें शामिल होइये ।”

आत्मविश्वास के साथ ये शब्द कहने वाला मुस्लिम था, गुजरात का गौरव— रविशंकर महाराज ! इस नाम ने अनेक डाकुओं के दिल में घुसकर उनका जीवन-परिवर्तन किया है । हृदय-परिवर्तन की एकाएक घटना उनकी जीवन-फुलकारी में छिले हुए सुन्दर, सुगन्धित फूल के समान है । जनसेवा का व्रत धारण किये हुये इस महातपस्वी को जनता ने अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा कर ‘महाराज’ की उपाधि दे दी ।

गुजरात के खेड़ा जिले में सरसकनी नामक गाँव में शिवराय मास्टर के घर सन् १८८४ में महाराज का जन्म हुआ । माता नवीबा बचपन से ही बच्चे को रामायण, महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती । और होते ही काम में लगने रहती । श्रम में काम और ओठों पर भगवान् का नाम— यही मातृ-स्वरूप बालक देखता आया । ऐसी संस्कारी मातृ-छाया में महाराज के जीवन का निर्माण हुआ । बचपन में ‘रामा प्रताप’ नाटक को उन पर बहुत प्रभाव पड़ा । वक्ता के लिये सर्वस्व त्याग करने का बल उनके उस नाटक से मिला ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् घर-गृहस्थी की सारी जिम्मेदारी उन पर आई, जो उन्होंने बहुत कुशलता से निभाई । इतने में भारत में गाँधी जी की आंधी आई और परिष्कारमय महाराज के जीवन को बन्दी करने वाली दीवारें गिर गई ।

एक दिन महाराज ने अपनी पत्नी सूरज का से कहा— “आज से हमारे बच्चे सरकारी स्कूल में पढ़ने के लिये नहीं जायेंगे ।” कुछ दिन बाद आदेश हुआ— “तुम्हारी सुती रेसमी सब सड़ियाँ निकालो ।” “क्यों ?” सूरज का ने पूछा । “कपू की आज्ञा है मिला के कपड़े जला दो ।” महाराज ने कहा ।

“तो क्या आप सब कपड़े जला देंगे ?” पत्नी बोली ।

“तुमको क्या चाहिये— कपड़ा, पैसा या मैं ?”

महाराज ने शक्तिपूर्वक पूछा । पत्नी ने तुरन्त उस होली में अपना पूरा योगदान दे दिया । वे सम्मत् गई कि वह तो अनारखी राह का यात्री है । तब उन्होंने विरोध करने की अपेक्षा सहयोग का रास्ता अपनाया और प्रति के लोकमंगल कार्यों में पूरा-पूरा योगदान देने लगीं ।

महाराज कर्मयोग में जुट गये । बड़ौदा राज्य में बारिया और पाठणबड़ियाओं की बस्ती में उनका प्रचार कार्य चला । वहाँ के लोग चोरी में सिद्धहस्त थे । महाराज गाँव-गाँव घूमते थे । एक गाँव में एक दिन रुकते थे और दल खाल पांग का छुद खिचड़ी पका लेते थे । खालों तक महाराज ने खिचड़ी के सिवा अन्य भोजन नहीं किया, साथ में कुर्से से पानी निकालने के लिए एक रस्सी रखते थे । यह क्रम दस वर्ष तक चला । आखिर बारदौली सत्याग्रह के समय सरदार बल्लभ भाई ने उनका यह रवैया बदलवाकर सबके साथ भोजन करने का क्रम आरम्भ करवाया ।

महाराज ने एक दिन अपने साथे सम्पत्ति को विसर्जन करने के लिये सूरज का से कहा । लेकिन का इसके लिये तैयार नहीं हुई । तब से महाराज ने एक ही ध्येय पर रहने का निश्चय किया । आखिर का को अपना निश्चय बदलना पड़ा ।

महाराज का अपरिग्रह व्रत भी आदर्श है । एक बार पद-यात्रा में बारिश आरम्भ हुई । साथ में दो कार्यकर्ता थे । बारिश की बूँदें आने लगीं तो उन धारणों ने अपने झोले में से प्लास्टिक की टोपी निकाली और सिर पर चढ़ा ली । महाराज ने अपनी सफेद टोपी उतार कर जेब में रख ली । बारिश का जोर बढ़ने लगता तो उन भाइयों ने झोले में से रैनकोट निकाला और बदन पर चढ़ाया । महाराज ने अपने बदन पर से कुर्ता उतारा और झोले में रख लिया । भाई पूछने लगे— “महाराज ! यह क्या ?” महाराज ने कहा— “आप लोगों ने बारिश से बचने के लिये वाटरप्रूफ रैनकोट पहना, वैसे मैंने भी घेरे पास जो वाटरप्रूफ था, वह बारिश के सामने खोलकर रख दिया ।”

डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करवाने वाले जैसे महाराज के लोक-सेवा के अनेक कार्य विभूत हैं । इसके अलावा महाराज आदर्श शांति सैनिक भी हैं । जहाँ कहीं झण्डे की गंध आती हो महाराज वहाँ बेखौफ पहुँच जाते हैं । अहमदाबाद में जब हिन्दू-मुस्लिम दंगल हुआ, तब महाराज मुस्लिम क्षेत्र में अकेले घूम रहे थे । एक बार दो बहिनें उनके साथ थीं । वे पस्त्रिज में गये । वहाँ एक फकीर कपड़ा लपेटकर बैठा हुआ था । महाराज उसके पास गये और तुरन्त लौट आये । लड़कियाँ पूछने लगीं— “महाराज, क्या हुआ ?”

महाराज ने कहा— “उस फकीर के कपड़े के अन्दर हथियार थे । तुम दोनों साथ भी, इसलिये बाहर आ गया ।” रास्ते पर शब पड़े हुये थे । उन शवों को उठाकर अग्नि-सत्कार करने की जिम्मेदारी महाराज ने उठाई । हिन्दू-मुस्लिम दोनों बस्तियों में महाराज निःशंक हो घर-घर पहुँच जाते और सबको कुशल पूछते ।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद जनता का वह प्रतिनिधि किसी सत्ता स्थान पर नहीं बैठा— जनता के साथ ही रहा । सत्य और अहिंसा के लिये, जहाँ आवश्यकता महसूस हुई । हमारी सरकार का भी उन्होंने विरोध किया ।

सुनते हैं कि प्रत्येक युग का एक-एक पुरुषार्थ होता है। अपने युग के पुरुषार्थ में जिसकी शक्ति खर्च हो जाती है, उसकी शक्ति दूसरे युग के पुरुषार्थ के लिये नहीं बचती। परन्तु महाराज ने नित्य युवा बन कर, स्वराज्य प्राप्ति के बाद आर्थिक और सामाजिक क्रांति का जो नया पैगाप आया, उसको भी स्वीकार कर लिया और भूतन भाँगते हुये गाँव-गाँव पैदल घूमे। दो वर्ष तक सतत पद यात्रा का व्रत ही रहा। विनोबा जी के साथ गुजरात से अजमेर तक पैदल यात्रा की और वहाँ से गुजरात वापस आये भी पैदल।

८० वर्ष की आयु में भी वे उत्तमखण्ड की पैदल यात्रा कर आये। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ चढ़े। लोगों की बातें सुनीं और अपनी लोगों को सुनाई।

लोकसेवा कार्य में इतने व्यस्त होने हुए भी महाराज का सुन-यज्ञ सतत चलता रहता। साल भर में वर्षों के दो पहीने शरीर शुद्धि के लिये एक स्थान पर निवास कर वे सप्त दिन का उपवास करते थे। उपवास के बाद पहले कुछ दिन दूँध का पानी फिर खेड़ा अनाज। यों करते-करते महीने भर में पूरे आहार पर आते। अपने किसी कार्य के अलावा बाकी सारे समय में अध्ययन-अभ्यापन चलता रहता। कताई भी साथ-साथ चलती। कहा करते हैं—“जरखा चलाना यही मेरा आराम है।”

वस्तुतः गुजरात निवासी रविशंकर महाराज का नया सामने आते ही एक साधारणतम व्यक्ति की तस्वीर मन्स पटल पर उभर आती है। वह तस्वीर इस प्रकार की होती है। एक मोटे-गठे की आँखें बाँह वाली फलौड़ी और मुट्ठों तक की मारकीन की मोटी भोली। साथ ही “पाँव उपातह की नहीं साम्” — अर्थात् पैरों में न जूते और न चप्पल। सिर पर हो सका तो छोटी-मोटी पगड़ी है, नहीं तो वह भी नहीं।

‘यह तो रहा उस तस्वीर का वाक्य दृश्य’ अब उसके अन्तर का दृश्य देखिये। निष्काम और निःस्वार्थ से भरी भावना, सेवा और सदाचार के प्रशिक्षण का उत्साह, शिक्षा और सुधार की लगन उनके मनोमन्दिर के मृगार उपकरण थे। रहन-सहन और आहार-विहार के विषय में— एक छोटी-सी कुटिया, फलंग और बिस्तर के नाम पर एक तख्त और साधारण साधरी। भोजन और ज्वजन के नाम पर किसी भी तरह की बिना नमक की खिचड़ी। अन्नन्द-असब के रूप में संयम-नियम और भगवान् का भजन। बस, श्री रविशंकर महाराज का यही सब जीवन था। जिसको वे अग्नि से अन्त तक हर्षपूर्वक चलाते हुए गुजरात के महान् समाज-सेवियों की सूची में उल्लिखित हुए।

श्री रविशंकर महाराज एक पुरोहित थे और इस पद पर उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनके यजमान पाठशालाओं जब कभी भी उनके दर्शन पा जाते थे, तो न केवल नमस्कार ही करते थे बल्कि अपनी पगड़ी उतार कर उनके पैरों के नीचे बिछा देते थे और पद रख लेकर शीश पर चढ़ाते थे।

अन्य पेट प्रधान पुरोहितों की भाँति यदि रविशंकर महाराज अपनी इस प्रतिष्ठा का आर्थिक लाभ उठाना कहते तो अपने जीवन में सुख-

सुविधाओं की बहुतायत कर लेते। घर-मकान बनवा लेते और बैंकों के खातों में स्थान पा लेते। किन्तु लालची पुरोहितों की भाँति उन्होंने उसका न तो दुरुपयोग किया और न उसे बदनाम। उन्होंने लोभ, लिप्सा और लाभ से अलग रहकर एक सच्चे पुरोहित के रूप में जन-सेवा में अपना जीवन लगाकर धन्यता की पात्रता प्राप्त की।

गुजरात की पाठशालाधिया जाति अपने दुर्व्यसनों और अपराध वृत्ति के कारण बदनाम थी। चोरी, ठगी और बेईमानी का जीवन जीना वे लोग अपना आराधिकार समझते थे। शिक्षा और सामाजिकता का उनमें सर्वथा अभाव ही था। रविशंकर महाराज इसी अपराधी जगत के पुरोहित थे। रविशंकर महाराज के इन यजमानों का मुख्य पेशा चोरी करना था। जो पाठशालाधियों जितनी अधिक चोरी कर लेता था, वह अपने समाज में उतना ही अधिक आदर का पात्र माना जाता था। जो पाठशालाधियों एक हफ्ते तक चोरी करने नहीं जाता था, उसकी खी उससे कुछ जाती थी और उसे निठल्ला, निकम्मा और इरपोक कहकर निरस्मृत किया करती थी। ऐसी अपराधी जाति में रविशंकर महाराज ने सद्वृत्तियों का संचार कर पुरोहित के सच्चे कर्तव्य और उसके महत्व की स्थापना की।

पुरोहित होने के नते वे इन पाठशालाधियों के परिवारों में जाया करते थे। उन्हें अच्छी-अच्छी सदाचारपूर्ण कथा बार्ताएँ सुनाते थे। बस्ती के लोगों को एकत्र कर सदाचार का उपदेश किया करते थे। जब कभी उन्हें रुई रात में देर हो जाती थी, तो वे उन्हीं के घर रह जाया करते थे। वे न तो उन संस्कारहीन मनुष्यों से घृणा करते थे और न उनके साथ कुआ-कुआ का आहम्वार ही बरतते थे। वे सबके साथ अपने पाइयों, बच्चों और बहू बेटियों जैसा व्यवहार किया करते थे। रविशंकर महाराज का अधिकतर समय उन पिछड़े लोगों के बीच ही व्यतीत होता था।

अपने अदरबीध पुरोहित के इस सम्पर्क एवं व्यवहार से प्रभावित होकर पाठशालाधियों ने सबसे पहले शरीरों और घरों की सफाई रखनी शुरू कर दी। संस्कार का प्रभाव पड़ता ही है। पाठशालाधियों महिलाओं ने रविशंकर महाराज के लिहाज के कारण आपस में लड़ना-झगड़ना और गाली-गलौज करना बन्द कर दिया। उनकी कपड़ी और व्यवहार में शील संकोच का संचार होने लगा।

श्री रविशंकर महाराज को अपने अपराधी यजमानों के साथ आत्मीयतापूर्ण सहानुभूति थी। वे उनके सुधार का स्वयं तो प्रयत्न करते ही थे, अपने उत्सवों में परमात्मा से उनको सद्बुद्धि देने के लिए भी प्रार्थना किया करते थे। तन-मन से ही नहीं आत्मा तक से पाठशालाधियों का कल्याण चाहने वाले रविशंकर महाराज जब अपनी मूर्खिक पीड़ा के साथ चोरी, जुआ, शराब आदि बुराइयों छोड़ने के लिए कहते थे, तो उन पर प्रभाव पड़े बिना न रहता था। वे बुराइयों छोड़ने की प्रतिज्ञा करते और उसे निभाने का प्रयत्न करते थे। एक बार अनेक व्यक्तियों ने उनसे कहा— ‘महाराज ! हम शराब छोड़ना तो चाहते हैं, किन्तु यह पिस्तुचिनी हमें खुद नहीं छोड़ती है। बुरी तरह फकड़े हुए हैं। महाराज ने उन्हें सायंकाल अपने घर मिलाने के लिए बुलाया। जब वे लोग उनके घर पहुँचे तब रविशंकर महाराज

३.५८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

एक खम्भे से लिपटे खड़े थे। आगन्तुकों को देखकर बोले— “घड़ये ! मैं तुम्हारे पास आकर तुम्हारा स्वागत करना चाहता हूँ। पर क्या करूँ, यह दुष्ट खम्भा मुझे छोड़ता नहीं।” सारे आगन्तुक खिल-खिल कर हँस पड़े और बोले— “महाराज आप भी क्या कहते हैं ? पत्त बोजान खम्भा आपको पकड़ कर रख सकता है। आप तो स्वयं उसे पकड़े हैं छोड़ दीजिये और बसे से जाइये।”

रविवंकर महाराज ने तुरन्त कहा— “जब बोजान शायद आप लोगों को पकड़े रह सकती है, तब यह बोजान खम्भा मुझे क्यों नहीं पकड़े रह सकता है।” उन पाटण्डवजियों ने उनके कथन का पर्य और अपनी शान्तिक दुर्बलता समझी और अगले दिन से शराब ही नहीं और सारे व्यसन मद के लिए त्याग दिए। रविवंकर महाराज इस प्रकार अपने बजमानों का सुधार किया करते थे।

रविवंकर महाराज अपने यजमानों के कर्मों का पुरा लेखा-जोखा रखते थे। जब कोई पाटण्डवजियों कहीं से चोरी कर लाता था, तो वे तुरन्त उसके पास जाने दे और उसे सम्झ-बुझा और चिक्कार कर अपने किए के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते और माल वापस कर दिया करते थे। बहुत कर वे अपराध करने वालों को पुलिस में ले जाकर अपराध स्वीकार करने को कहते और राज-दण्ड भोग कर प्रशिक्षित की प्रेरणा देते। इस प्रकार वे अनेक ठगवों, उकितियों और प्रयत्नों द्वारा जीवन भर अपने यजमानों की अपराध वृत्ति दूर करते रहे।

उन्होंने अपने प्रयत्नों और समझ के मदद से अपराधियों के बच्चों के लिए पाठशालाएँ खोलाई और अनेक आजीविका-जनक बरेलु उद्योग-धन्धों की व्यवस्था की। उन्होंने ग्रीकों के लिए एक साथ पाठशाला भी प्रारम्भ की और उसमें स्वयं अध्यापन कर लोगों में सद्वृत्तियों का जागरण किया। इस प्रकार जब तक वे जिये निरन्तर अपने पिछड़े हुए यजमानों की सुधार सेवा ही करते रहे।

उनके इस सराहनीय स्तुतिकर्म ने उनका प्रभाव गुजरात की पिछड़ी जातियों में ही नहीं बल्कि अन्य लोगों में भी बढ़ा दिया। सरदार पटेल जैसे नेताओं ने उनका प्रभाव राजनीति में उपयोग करने का प्रयत्न किया और चाहा कि वे उस छोटे से क्षेत्र से निकलकर राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में चले आयें। धनीमन्त्री व्यक्तियों ने कहा कि रविवंकर महाराज अपराधी लोगों की पुरोहिता छोड़ कर उनकी पुरोहिता स्वीकार कर लें और सम्मान और सुख-सुविधापूर्ण जीवन बितावे। पर निर्विषम महात्मा ने इनमें से एक बात भी स्वीकार न की। उनसे जो कुछ हो सका दूसरे क्षेत्रों में भी सेवा करते रहे। किन्तु पाटण्डवजियों जाति के सुधार का अपना जीवनोद्देश्य नहीं छोड़ा और इस प्रकार उता, सद्भावना और सेवा कार्यों द्वारा सदा के लिये अमर हो गये।

मैं गुड़ नहीं लूंगी

गुजरात के रविवंकर महाराज एक गाँव में सब सौ मन गुड़ बाँट रहे थे। सैकड़ों लोग गुड़ लेने के लिये दौड़े आ रहे थे। पर एक लड़की चुपचाप घर की ओर चली जा रही थी। दूसरों को गुड़ पाने हुए देखकर भी उसके मन में गुड़ के लिये कोई इच्छा नहीं हुई वह अपने घर की ओर ही बढ़ती रही।

रविवंकर महाराज ने उसे रोक्कर कहा— तो बेटो गुड़ लो, कन्या ने कहा— नहीं मुझे गुड़ नहीं चाहिए। मेरी माँ ने सिखाया कि बिन पश्रिम किये मुफ्त में कोई चीज नहीं लेनी चाहिए। भगवान् ने हमें हाथ-पाँव दिये हैं उनका ही भरोसा करना चाहिए।

रविवंकर महाराज लड़की के साथ उसके घर गये और उस ईमानदार और पश्रिमशील स्त्री के दर्शन कर धन्य हुए। इस स्त्री ने अपनी सारी सम्पत्ति बालिक विद्यालय को दान दे दी थी स्वयं सक्रियता से बचकर अपना और भव्यी का गुजारा करती थी।

दान उपकार नहीं

पुनः आन्दोलन का प्रचार करते हुए स्वामी रविवंकर महाराज खंवरकांठ के एक गाँव में ठहरे हुए थे। उनकी प्रत्यक्षता वाणी और हृदय को छू देने वाले वृत्तिपादनों से प्रभावित होकर कई व्यक्तियों ने अपनी जमीनें दान में दीं। एक दिन गाँव की एक बूढ़ा उनके पास आयी और कहने लगी— “महाराज ! मेरे पास जमीन जायदाद तो कुछ नहीं। मेरे पास कुल दस बकरियाँ हैं, मैं चाहती हूँ कि जो व्यक्ति मुझसे गरीब हो उसे मैं अपनी आधी बकरियाँ दान में दे दूँ। क्या आप मुझे इसकी अनुमति देंगे।”

महाराज जी ने कहा— “क्यों नहीं ? परन्तु यह देखना भी तुम्हारा कर्म है कि इस गाँव में सबसे गरीब कौन है ?”

बूढ़ा कुछ देर तक विचारमग्न रही फिर किसी निश्चय पर पहुँच कर बोली— “महाराज इस गाँव में एक लड़का है, जिसके घर में केवल उसकी बूढ़ी माँ है किसी तरह मेहनत-मजदूरी कर वह अपना और अपनी माँ का पेट पालता है। यह बकरियाँ उसे ही दे दी जानी चाहिए।”

वे बकरियाँ बूढ़ा द्वारा बग़ावे गये लड़के को दे दी गयीं। दूसरे दिन बूढ़ा ने आकर रविवंकर जी से कहा— “महाराज कल मुझे बहुत मीठी नींद आयी। मेरा मन कहता है कि मेरा काम एक मकान से हो चल सकता है जबकि मेरे पास दो मकान हैं। मेरी आत्मा गवाही देती है कि एक मकान किसी बेघर आदमी को दे देना चाहिए।”

“जल्द देना चाहिए”— रविवंकर जी ने प्रोत्साहित किया। यही बूढ़ा कल आकर अपनी आधी बकरियाँ दान दे जा चुकी थी और आज अपना एक मकान भी किसी बेघर गरीब को देने आयी है। बूढ़ा की परमार्थ भावना से रविवंकर जी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने फिर पूछा— “अच्छा तुम्हीं बताओ गाँव में सबसे ज्यादा गरीब कौन है ?”

बूढ़ा ने कुछ देर तक विचार किया और फिर बोली— “महाराज एक रैबरी है। वही सबसे ज्यादा गरीब है। उसके तीन बच्चे भी हैं पर वह एक टूटी-सी झोपड़ी में रहता है। ऐसी झोपड़ी जो बारिश में टपकती है और गर्मियों में उसकी छत से धूप के इतने तारवरे टपकने लगते हैं कि सारी जमीन गरम हो ठठती है।”

“तो ठीक है”— रविवंकर जी ने कहा है— “मकान की उसे बड़ी जरूरत है। उसे बुला लाओ।”

रविवंकर जी की बात सुनकर एक व्यक्ति दौड़ा-दौड़ा गया उस रैबरी के पास और उसे बुला लाया। रैबरी को उस व्यक्ति ने रास्ते

में ही बता दिया था कि अमुक माँ ने रविशंकर जी महाराज की शिष्याओं से प्रेरित होकर अपना आधा मकान किसी ऐसे व्यक्ति को देने का निश्चय किया है जो नितान्त ही गरीब हो और उसके लिए तुम सर्वथा उपयुक्त समझे गये हो।

रैबारी को स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि वह इस टूटी-फूटी झोंपड़ी को छोड़कर जीवन में कभी हंग की छत वाले मकान में रह सकेगा और अपने बच्चों को नारिज तथा धूप से बचा सकेगा। उस वृद्धा के प्रति कृतज्ञता किस प्रकार व्यक्त करे और किन भावनाओं से रविशंकर जी को अपने हृदयस्थान पर आसीन करे जिनकी कृपा से उसे वह स्वप्न साकार होता दिखाई दिया। वहाँ पहुँच कर उसने रविशंकर जी का प्रणाम किया। रविशंकर जी ने उसे देखकर कहा—‘तुम्हारे पास घर नहीं है।’

‘नहीं’ है महाराज—उसे सारी बात तो रास्ते में ही पता चल गयी थी सो वह अपनी भावनाओं का उपवन रोक न सका और रविशंकर जी के चरणों में गिर पड़ा। रविशंकर जी ने कहा—“पगले मुझे नहीं उस माँ को प्रणाम कर और सुन।”

‘जी हुजूर’—रैबारी ने पूछा ‘ये माँ जो तुझे मकान तो दे रही है लेकिन मैं इसमें एक शर्त लगाता हूँ कि जब तक वे जीती रहेंगी तब तक तुम्हें इनकी सेवा करनी पड़ेगी।’

रैबारी कुछ करे इसके पीछे तो वृद्धा बोच में टोक उठे—‘नहीं नहीं महाराज। मैं सेवा कराने के लिए मकान छोड़े ही दे रही हूँ। मेरे पास तो आवश्यकता से अधिक जगह है, उसे ही दे रही हूँ और उसके बदले जो आत्मसंतोष मुझे मिल रहा है वह मकान के मूल्य से कहीं अधिक है, फिर इस भाई की सेवा का कर्ज मैं अपने ऊपर क्यों थकाऊँ।’

वृद्धा की परमार्थ भावना देखकर रविशंकर महाराज गदगद हो उठे। उन्होंने कई स्थानों पर अपने प्रवचनों में इस घटना का उल्लेख किया।

एक वीर हुतात्मा—स्वामी श्रद्धानन्द

मुन्शीराम तथा स्वामी श्रद्धानन्द। एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। किन्तु दोनों में अन्तर अना ही है, जितना एक तख्ते के दोनों तरफ के पादों में जिन्हें एक ओर काल तथा एक ओर सफेद पोत दिया गया हो।

स्वामी जी का नाम पहले मुन्शीराम था। वे अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही कुमार्त्तगामी थे। सुरापान से लेकर वेश्यागमन तक सारे ही दुर्गुण इनमें थे। पिता कोतकल थे। किसी प्रकार की शैक्षिक अथवा आर्थिक समस्या का कोई प्रश्न ही न था।

कहते हैं कालिदास को विद्वान् कवि तथा मनीषी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी विद्योत्तमा को है।

सन्त तुलसीदास भी पत्नी की प्रेरणा अथवा सटुद्बोधन के फलस्वरूप ही ‘राम बौला’ से सन्त तुलसीदास बनकर मनुष्य जैसे महाकाव्य का प्रणयन करने योग्य बन सके।

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्नी भी इसी श्रेणी की देवी थीं, नाम था शिवदेवी ! सेवा, त्याग, मर्यादा, उदारता, सहिष्णुता तथा धर्मता शीलता की साकार प्रतिमा। भारतीय नारीत्व की जीवंत जागती मूर्ति।

उनका यह नियम था कि कभी भी स्वामी जी घर लौटें भोजन गरम बनकर ही खिलायें और उनके खा लेने के पश्चात् ही खातीं।

एक दिन की बात है। वही दिन स्वामी जी के जीवन का वह दिन है जब उनकी सोई हुई आत्मा जगी और उन्होंने यह विचार किया कि मैं कहाँ हूँ और मुझे कहाँ होना चाहिए।

स्वामी जी लौटे थे—रात के दो या तीन बजे। नृत्य संगीत की सभा से। गद्दी से उतर कर अन्दर आते ही जोर की कै हुई दो कोमल लम्ब सदाएँ दिये अन्दर ले गये। वस्त्र बदलवाकर लिटा दिया। वे सो गये परन्तु शिवदेवी पैर दबाती रहीं—सिर दबाती रहीं। काँपते पैर नर आँख खुली। यह उनके चर्मचक्षु ही नहीं, ज्ञानचक्षु भी खुले थे। देखा छिगड़ी बल रही है। अगटा गुंथा रखा है। पत्नी की ओर दृष्टि गई। पैर दबाते-दबाने बैठी ही बैठी सो गई थीं।

आँखों में आसु आ गये हृदय चीत्कार कर उठा। मन प्रचालाप की अग्नि में जलने लगा। यस्तिक ने गिरे हुए जीवन से बगावत कर दी।

सोचा, ‘मेरे करण न जाने कितनी रातें इसे यों ही भूखे सो जाना पड़ा होगा। और मैं ? ओह ईश्वर ! तेरी आचार संहिता में जो भी दण्ड विधान हो—कड़े से कड़ा दण्ड देना मुझे।’

उसी दिन से वे अपनी समस्त दुर्बलताओं को शिलाजलि दे बैठे और जीवन की दिशा मुड़ी तो ऐसी मुड़ी कि फिर पीछे की ओर मुड़कर भी न देखा। विवेक का दिनम्न उग्र तो फिर ऐसा—कि तपस्विका को चीरता हुआ गगन की छाती पर चढ़ता ही गया।

अब उनका एक ही पक्ष था—सम्राज-सेवा। एक ही लक्ष्य था लोक-कल्याण। उस समय का सबसे बड़ा युग धर्म था, भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करना। सो एक वीर सैनानी की भाँति स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूट पड़े। अघड़ी-छासी चलती हुई वक्रालत को छोड़ा। जज के पद के आकर्षण को कच्चे धागे की भाँति तोड़ दिया।

क्यों कर्य किया अपनी भारत माँ की बेड़ियाँ काटने के लिये इसके लिए उनकी लेखनी ने भी वह काम किया कि लोग लेख पढ़ते और अपनी जीवन दिशा बदलने की प्रेरणा ग्रहण करते। ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये ‘रोलेट एक्ट’ के विरुद्ध दैनिक विजय में आपके पाँच लेख ‘छाती पर पिस्तौल’ शीर्षक से निकले थे उन्होंने तहलका मचा दिया था।

उन दिनों आप ‘अर्ध संन्वासी’ के नाम से विख्यात थे। दिल्ली शहर में तब स्वामी जी का इतना प्रामुख्य था कि आपकी एक आवाज पर लाखों स्वयंसेवक अपनी जान हथेली पर लिये तैयार रहते थे। सब उन्हें दिल्ली का बेताज का बादशाह कहते थे।

तीस दिसम्बर सन् १९२९ का दिन दिल्ली तथा स्वातन्त्र्य संग्राम—दोनों के इतिहास में अविस्मरणीय है। स्वामी जी के नेतृत्व में सफल हड़ताल रखी गई और जब मालूम पड़ा कि पुलिस की गोलियों ने अगणित युवकों का रक्त भी लिया है तो सम्पूर्ण दिल्ली ने खून के आँसु बहाये। स्वामी जी का तो जैसे हृदय ही किसी ने छेद दिया हो।

परेड के मैदान में सभा आयोजित हुई। डिप्टी कमिश्नर ने धारा १४४ घोषित कर दी। स्वामी जी से कहा गया—“सभा भंग कर दें।”

किन्तु सभा भंग करने का अर्थ वा लहराते जन-समुदाय की भावनाओं को उत्तेजित कर देना। कमिश्नर स्वामी जी के प्रभाव को जानता था। सभा भंग न करने की बात सुनकर बोला—“और यदि इससे शान्ति भंग हुई तो कौन जिम्मेदार होगा?”

और तभी सिंहों की गर्जन करते हुए श्रद्धानन्द बोले—“कई आप पुलिस तथा फौज हटा लें तब मैं जिम्मेदार लेता हूँ।” सभा शान्तिपूर्ण ढंग से होकर विघटित हो गई। ऐसा अजेय साहस था इनमें।

और जब उनके पीछे-पीछे जन-समूह चाँदनी चौक पहुँच तो फिर पुलिस की कतारें और सगीनों की चमकती नेकलें का सामना हुआ। तब भीड़ में से आगे निकलकर सामने आये स्वामी जी और अपनी छाती आगे करके उच्च स्वर में बोले—“चलओ गोली” यौत को गेंद के समान हाथ में लेकर खेलने का साहस—केवल आत्म-बल सम्पन्न, ध्येय के प्रति निष्ठावान तथा सगन के पक्के धारिण ही व्यक्तियों में पाया जाता है। उसके समक्ष भौतिक शक्तियाँ स्वयमेव ही झुक जाती हैं।

स्वामी जी के इनका कहते हो फौजी अधिकारी स्वप्ने आक और उसने कहा—“इन्हें रास्ता दे दो।”

संगीनें झुक गईं। रास्ता दे दिया गया और महर्षि विश्वामित्र की वृक्ष दिव्य बाणी एक बार फिर चरितार्थ हो उठी—“चिक् बलम् क्षत्रिय बलम्। ब्रह्म तेनो बलम् बलम्।”

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन त्याग तथा सेवा की कहानी है। परमार्थ के लिए किये गये कार्यों की एक लम्बी मंथला है। समाज का जो भी पक्ष उन्हें दुर्बल दिखाई दिया उसे ही उन्होंने मजबूत बनाया।

उन दिनों अंग्रेजी का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा था। हिन्दी पृथग्राय हो रही थी। राष्ट्र को जीवित रखना है तो राष्ट्र की एक जीवित भाषा भी होनी चाहिए यह सोचकर उन्होंने हिन्दी भाषा का जो प्रचार तथा प्रसार किया वह एक ऐतिहासिक प्रयत्न है।

हिमालय की तलहटी में तब उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र यह सोचकर चुना कि वेदबाणी भी यही कहती है—

“उप गच्छरे गिरीणां, संगमे च नदीनां, यिष्णु विप्रो अजयत।”

फलतः गंगा के पार चण्डी पर्वत की अधिकांश में ‘गुरुकुल कांगड़ी’ की स्थापना की। यहाँ निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की। यह हिन्दी को ऊँचा उठाने में एक क्रियात्मक सफल प्रयोग था।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री (मजदूर दल के नेता) मिस्टर रेम्जे मैकडोमल्ड ने महात्मा श्रद्धानन्द में ईसा की अन्तर्गत के दर्शन किये थे और इस गुरुकुल की स्थापना को ब्रिटिश सरकार तथा मैकले शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रथम सफल अभियान कहा गया था। सेंट्रल कमीशन ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का यह सफल प्रयोग है।

उनका जीवन बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है। गिरे हुए समाज को ऊँचा उठाने के लिये उन्होंने अपना जीवन तिल-तिलकर जलाया। जितना ही ऐश तथा आराम प्रारम्भिक जीवन में किया था उसका बदला ब्याज समेत चुका दिया।

अपने ओजस्वी लेखों तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व शक्ति द्वारा भूली-भटकी जनता को जो आध्यात्मिक मार्गदर्शन आपने दिया वह

एक बहुत बड़ा काम है। वे स्वयं सच्चे अध्यात्मवादी थे। गुरुकुल के बच्चों तथा वयस्कों को सदा वे यही उपदेश देते थे कि अच्छे बनो, उत्कृष्ट जीवन बिचो और ऐसा कुछ करो रहो जो स्वार्थ की सोचों से परे हो, लोकमंगल के लिये हो।

विधवा विवाह को भी उन्होंने शास्त्रसम्मत सिद्ध किया और कई विवाह करवाये भी। इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों तथा महिलाओं के लिये कई आश्रम भी खोले। स्वामी श्रद्धानन्द ने उन परिस्थितियों को सम्पन्न किया जो हिन्दू धर्म की परिधि को संकीर्ण बना रही थीं तथा उन व्यक्तियों की शुद्धि करके पुनः हिन्दू धर्म में मिलाया जो ईसाई अथवा मुसलमान हो चुके थे।

उनका यह कार्य सबसे महान् कार्य है जो उन्होंने हिन्दू धर्म के लिए किया। उनकी सेवाओं तथा सक्रिय चेष्टाओं ने एक बार फिर जगद्गुरु शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट की स्मृति को जाग्रत कर दिया था। हिन्दूधर्म, वैदिक मान्यताओं तथा शास्त्रोक्त पुण्य-परम्पराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिये उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया।

एक दिन उनकी भेंट आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से हुई। कई दिन तक उनका बाद-बिबाद चलता रहा। उनकी युक्ति संगत बातों से वह बहुत प्रभावित हुए और उनका परमेश्वर पर अटूट विश्वास जपने लगा।

अर्थ समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने की पर उसे पुष्पित और पल्लवित करने का बहुत कुछ श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को है। उन्होंने मिशनरी भावना से कार्य कर अपना तन, मन, धन, लोकमंगल के लिए उत्सर्ग कर दिया था। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति स्वामी दयानन्द का स्वप्न था और उसे साकार किया श्रद्धानन्द ने। इन्होंने प्रतिज्ञा की—“जब तक गुरुकुल की स्थापना हेतु तीस हजार रुपये एकत्र न कर लूँगा तब तक घर में प्रवेश नहीं करूँगा।”

स्वामी जी का यह संकल्प कोई साधारण संकल्प न था। इसके लिए उन्होंने घर-घर जाकर चन्दा वसूल किया और सड़क पर खाड़े होकर लोगों को इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य समझाया। स्वामी जी जिस कार्य को अपने हाथ में लेते थे उसे पूर्ण करके ही मानते थे। आखिर वह दिन आ ही गया जब कांगड़ी के भयानक जंगलों में स्वामी जी के अचक प्रयत्नों और आत्मत्याग के बल से नये तीर्थ की स्थापना हुई। भारत के बाइसराव ही नहीं वरन् ब्रिटेन के प्रधानमंत्री राम्से मैकडोमल्ड तक शिक्षा क्षेत्र में किये गये इस अनूठे प्रयोग को देखने के लिए आतुर हो उठे।

मातृभाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने बड़े-बड़े शिक्षा शास्त्रियों के दिल से इस बात को निखल दिया कि हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की उच्च शिक्षा नहीं हो सकती। गुरुकुल के अनेक स्नातकों द्वारा विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास विषय के मौलिक ग्रन्थों की रचना की गई, साथ ही पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया गया।

स्वामी जी शिक्षा को केवल पुरुषों तक ही सीमित करने के पक्षपाती नहीं थे। वे चाहते थे कि भारतीय जनसंख्या का अर्द्ध अंग

भी विकसित हो जाये। इसलिए उन्होंने आर्य कन्या पाठशालाओं की स्थापना हेतु भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। जल्दी ही गुरुकुलों और महाविद्यालयों का जाल पूरे देश में फैल गया और उनके ही प्रयास से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का महत्वपूर्ण पद मिला।

स्वामी जी १८ वर्षों तक गुरुकुल के आचार्य पद पर कार्य करते रहे। कितने ही अधिभावकों ने अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति से प्रभावित होकर गुरुकुल में भेजा और कितने ही व्यक्ति तो यह देखने आते थे कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने के लिए कौन-सी योजनाएँ तैयार की जा रही हैं।

स्वामी जी के विशाल शरीर में विशाल आत्मा निवास करती थी, अनेक क्षेत्रों में उनके महत्वपूर्ण योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। आदर्शवादी सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार हेतु उन्होंने सन् १८८९ में 'सद्धर्म प्रचारक' तथा १९१८ में 'ब्रह्मा' नामक साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन किया। स्वयंस्वतंत्र संशोधन के समय १९१९ में 'विज्ञान' और १९१८ में 'दैनिक अर्जुन' का प्रकाशन आरम्भ कर उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को जन-जन तक पहुँचाया।

गुरुकुल के विद्यार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नही कराया जाता था। समय मिलने पर अनेक विद्यार्थी दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने जाते थे। उनकी इन्हीं सेवाओं को देखकर सन् १९१७ में भागलपुर में जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौथा वार्षिक अधिवेशन हुआ तो स्वामी जी को उसका अध्यक्ष चुना गया।

स्वामी जी सच्चे देशभक्त थे। विदेशी शासन उनको आँखों में कटो की तरह खटकता रहता था। गाँधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया तो स्वामी जी ने अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया।

स्वामी जी को अमृतसर कांग्रेस-अधिवेशन का स्वागतार्थ्य बनाया गया तो उन्होंने कांग्रेस मंच से प्रथम बार हिन्दी में भाषण दिया था और राजनेताओं का ध्यान असूत तट्टार की ओर आकर्षित किया।

स्वामी जी ने दलितोद्धार सभा की स्थापना का अस्पृश्यता निवारण का कार्य शुरू कर दिया। वे चाहते थे कि हिन्दुओं के बीच से छुआछूत की भावना को निकाल फेंका जाय। मन्दिर और कुँए समानता के अधिकारों के साथ अछूतों के लिए खोल दिये जायें। स्वामीजी निर्भीक थे। वह इससे होने वाले प्रत्येक परिणाम की भुगतान के लिए तैयार थे।

स्वामी जी सभी धर्मों के प्रति समान आस्था रखने पर उनका यह विश्वास था कि यदि मुसलमान और ईसाई प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्मानुयायी बन सकते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति को आर्य भी बनाया जा सकता है। स्वामी ब्रह्मानन्द अपने इसी विश्वास को क्रियान्वित कर रहे थे। एक बार उन्हें जनता के अग्रदूत पर दिल्ली की जामा मस्जिद में भाषण देने हेतु आमन्त्रित किया गया। इस्लाम के इतिहास में वह प्रथम अवसर था जब मुसलमान के अतिरिक्त अन्य किसी

धर्मानुयायी को मस्जिद की घग्घिदी पर भाषण करने का सुअवसर प्रदान किया गया हो। स्वामीजी ने ऋग्वेद के मन्त्रों के सस्वर पाठ से अपना व्याख्यान शुरू किया और शान्ति पाठ से समाप्त।

स्वामी जी स्पष्टवादी और अति साहसी थे। वे जिस कार्य को अपने हाथ में लेते पूर्ण करके ही मानते थे। अपने दोषों को दूसरे के सम्मुख रखने में उन्हें तनिक भी संकोच न होता था। अत्याचार का विरोध करना उनकी प्रमुख विशेषता थी। सिद्धान्त का प्रश्न जब भी सामने आया वह कभी झुके नहीं। भरे घौवन में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। इस युग में जबकि छोटी-छोटी बातों पर लोगों को बालि से अलग कर दिया जाता था स्वामी जी ने अपनी संतान का विवाह जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर किया। गुरुकुल हो या मकरी क्षेत्र उन्हें प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सदैव संघर्ष करना पड़ा।

स्वामी जी उन समाज सुधारकों से बिल्कुल अलग थे जिनकी कचनी और करनी में वैषम्य होता है। उन्होंने आर्य समाज मंच से अपने प्रथम भाषण में ही स्पष्ट कह दिया था— 'जो वैदिक धर्म के अनुकूल अपने जीवन को नहीं ढाल रहे हैं, उन्हें उपदेशक बनने का कोई अधिकार नहीं है।'

भारत के नव निर्माण में उनके योगदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने प्रत्येक कार्य क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी थी और एक दिन अपने सिद्धान्तों के लिए बलिदान हो गये।

२४ दिसम्बर, १९२६ को उन्हें एक धर्मोन्मादी आन्दोलनशील नामक मुसलमान ने गोली से मार डाला फिर भी वे भारतीय महापुरुषों के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह सदा अजर अमर बनकर प्रकाशमान बने ही रहेंगे।

विचार स्वातंत्र्य का सम्मान

एक बार एक अंग्रेज पदवी ने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को लिखा कि मैं भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये आया हूँ। किन्तु हिन्दी का ज्ञान न होने से मुझे अपने कर्तव्य में कठिनाई हो रही है। मैं आपके गुरुकुल कोंगड़ी में रहकर हिन्दी सीखना चाहता हूँ। मैं वचन देता हूँ कि जब तक गुरुकुल में रहूँगा, ईसाई धर्म का प्रचार विद्यार्थियों के बीच नहीं करूँगा।'

हिन्दू धर्म के अखण्ड भक्त एवं विद्वान् स्वामी ब्रह्मानन्द ने पादरी को उत्तर में लिख भेजा कि आप अवश्य आकर गुरुकुल में रहें और हिन्दी पढ़ें किन्तु इस बात का वचन दें कि यहाँ आकर आप अपने धर्म का प्रचार पूरी तरह करेंगे। इससे मुझे प्रसन्नता होगी— क्योंकि इससे मेरे विद्यार्थी ईस्लामसीह तथा उनके प्रचारित धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।

पादरी स्वामी जी की यह धर्मोन्मुख एवं उदारता देखकर इतना प्रभावित हुआ कि जीवन भर के लिये उनका मित्र बन गया।

आधुनिक बोधिसत्व— डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर

डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर का जन्म जर्मनी के आल्सीसी शान्त में सन् १८७५ में हुआ था किन्तु उन्होंने अपना सारा जीवन अफ्रीका के प्रेन्सीसी कालो में लाम्बार्ने नामक स्थान पर हस्तिशयों की सेवा में लगा दिया। उनकी करुणा, दया और सेवा-भावना की गहराई को समझने वाले ब्रह्मदर्शन उन्हें बोधिसत्व की सजा देते हैं और ध्यानपूर्वक उनके जीवन-दर्शन और जीव के प्रति दया भाव की निष्पक्ष रूप से देखा जाये तो वे बोधिसत्व के ही रूप प्रतीत होंगे।

महात्मा बोधिसत्व ने अपने एक प्रवचन में कहा था— “जब तक संसार के दूसरे प्राणी कह से पीड़ित हो रहे हैं, तब तक हमें सुखोपभोग का अधिकार नहीं है।” और डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर का कथन है— “संज्ञानात्मक पीड़ा से तड़पता हुआ खोया हुआ प्राणी हमारे सामने आता है उस समय मेरी भावनाओं की कक्षा की शक्त-सहस्र धाराओं में वह डूबती है। मैं सोचने लगता हूँ कि वह पीड़ित मनुष्य वह आशा करता है कि इस असाहाय प्रदेश में मैं ही एक अकेला ऐसा व्यक्ति हूँ जो उसकी कुछ सहायता कर सकता हूँ। इसका आशय यह नहीं कि मैं उसके जीवन की रक्षा कर सकता हूँ। हम सभी को एक न एक दिन मृत्यु की गोद में जाना है। विशेष बात तो यह है कि वह यह आशा लेकर आता है कि मैं उसकी पीड़ा हर सकता हूँ, कम कर सकता हूँ। यही मेरा महान् और गिरनूतन अधिकार बन गया है। मृत्यु की अपेक्षा पीड़ा मनुष्य को कहीं अधिक दुःखी करती है।”

डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर एक जर्मन वंशज थे किन्तु उनकी पालन पोषण फ्रांस में हुआ था। उनकी इच्छा धर्मार्थी और महान् संगीतज्ञ बनने की थी और इसीलिये उन्होंने धर्म-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र तथा संगीत-शास्त्र पर अध्ययन कर पारंगति प्राप्ति की थी। किन्तु एक छोटी-सी घटना ने उनकी जीवन धारा बदल दी, जिससे वे धर्मार्थी तथा संगीतज्ञ के रूप में उपाधि प्राप्ति की जिज्ञासा छोड़कर चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करके एक डॉक्टर बने।

एक बार एक भिन्न से मिलने के लिये वे पेरिस गये। वहाँ उनकी दृष्टि मेज पर पड़ी एक ‘जर्नल दे मिशनसएवेन्जेलीक्स’ नामक पत्रिका पर पड़ी। उन्होंने उसको हाथ में लेकर पन्ना उल्टा ही था कि उनकी नजर उसमें छपी इस अपील पर पड़ गई— “अफ्रीका में प्रशिक्षित चिकित्सकों का बहुत अभाव है। जहाँ के असाहाय लोग भयानक रोगों से पीड़ित होकर नारकीय मृत्यु भर रहे हैं। जिन्हें अपनी आत्मा में यह अनुभव हो कि परमात्मा ने उन्हें उन असाहाय मानवों की सेवा करने के लिये पहले से चुन लिया है, वे इस ओर ध्यान दें।”

डॉ. श्वाइत्जर को लगा जैसे ईश्वर ने उन्हें ही इस काम के लिये चुना है। बस फिर क्या था उस आत्मनिष्ठ महामानव ने अपने जीवन का चरम उद्देश्य निश्चित कर लिया। उन्होंने जीवन में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को विदा कर दिया और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने लगे। सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अखण्ड अध्ययन

करने के बाद उन्होंने पत्नी, परिवार तथा इष्ट मित्रों के मग करने और समझाने पर भी अपेक्षा में असाहाय मानवों की सेवा करने के लिये १९१३ में प्रस्थान कर दिया। उनकी पत्नी ने जब सपझ लिया कि उनके महान् पति ने मानव हित के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया है तो वे भी पति के महान् कार्य में सहयोग देने के लिये नर्स के रूप में प्रशिक्षित होकर तैयार हो गई।

महान् मानव दम्पति अफ्रीका में लाम्बार्ने नामक स्थान पर पहुँचे और अपना चिकित्सालय एक टूटे-फूटे मकान के छण्डहर में खोल दिया। वह स्थान क्या था एक प्रकार से दो-तीन तरफ टूटी-फूटी दीवारों से घिरा एक छोटा-सा पैशन ही था। न उस पर छत थी और न कोई खिड़की अथवा रोशनदान। डॉ. श्वाइत्जर को स्थानाभाव से कुछ परेशानी हुई। किन्तु उनकी पत्नी ने उत्साहित करते हुये कहा— “परमात्मा ने हम लोगों को मानवता की सेवा करने के लिये चुना है। हमने जो कम-ज्यादा साधन दिये हैं हम उन्हीं के द्वारा अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।” पत्नी के पवित्र शब्द सुनकर डॉ. श्वाइत्जर का रोम-रोम आनन्द बिभोर हो उठा और वे समग्र तन-पन से पीड़ितों की सेवा में सलग्न हो गये। उन दोनों पति-पत्नी ने घास-फूस का छप्पर डालकर अपने चिकित्सालय पर छाया कर ला।

अभी उनका चिकित्सालय खुला ही था कि सौ-सौ मील के हर्द-गिर्द से रोग पीड़ित मनुष्यो उन परमात्मा के भेजे हुये देवदूत के पास आने लगे और डॉक्टर श्वाइत्जर ने उनकी चिकित्सा करनी शुरू कर दी। उन्होंने आठ-नौ माह की अवधि में ही लगभग दो-ढाई सौ असाध्य रोगियों को नया जीवन दे दिया। डॉ. श्वाइत्जर के इस पुण्य कार्य ने उनको न केवल ख्यातिनामा बना दिया बल्कि वे देवता की तरह लक्ष्मियों के ब्रह्म-भाजन बन गये।

तन्मयता से पीड़ितों की चिकित्सा करते-करते डॉ. श्वाइत्जर का सेवा कर्ष आध्यात्मिक साधना के रूप में बदल गया। अभी तक वे अपने विचार से पीड़ितों की सेवा कर अपने मानवीय कर्तव्य का पालन करते थे किन्तु अब उनका विश्वास हो गया कि मानस-सेवा के माध्यम से साक्षात् परमात्मा की ही भक्ति कर रहे हैं। उन्होंने अपनी इस आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करते हुये कहा—

“अभी तक मैं एक धर्म-शिक्षक के रूप में शब्दों द्वारा आत्म-दान करता रहा था। प्रेम-योग की शान्दिक चर्चा करते हुये आनन्द पाता रहा था। परन्तु अब मैं अपने इस सेवा कार्य को प्रेम-योग की चर्चा करके पूरा नहीं कर सकता। यह प्रेम के व्यावहारिक प्रयोग का क्षेत्र है। मैं धर्मार्थी न बनकर चिकित्सक इसलिये बना कि बिना बोले सेवा कर सकूँ। अपनी इस पौन प्रधान सेवा को मैं आध्यात्मिक साधना ही मानता हूँ।”

इस प्रकार डॉक्टर श्वाइत्जर आध्यात्मिक विश्वास के साथ सेवा करते-करते मानवपान और हानि लाभ से परे होकर सच्चे योगी बन गए और उनका चिकित्सालय सेवाआश्रम। डॉ. श्वाइत्जर सदैव छह बजे बिस्तर छोड़ देते और अपने दिन भर के कार्यक्रम की योजना

बनाते । वे पहले से ही कोई योजना तैयार न रखते थे । आवश्यकतानुसार तत्काल बनया करते थे । क्योंकि वे जानते थे कि उनका कार्य ही कुछ इस प्रकार का है कि न जाने किस समय उन्हें क्या करना या कहाँ जाना पड़ जाये । ऐसी दश में निश्चित कार्यक्रम में विघ्न अथवा अनियमितता आ जाने से उन्हें परेशानी होगी । उनकी दिनचर्या का मूल उद्देश्य सेवा करना था उसके वे नियमित रूप से बिना पूर्व कार्यक्रम के किया करते थे । साढ़े छः बजे से साढ़े सात तक निरन्तर नैमित्तिक से निवृत्त होते । आठ बजे तक नाश्ता करके सहयोगियों को दिन भर का काम बताते, डिस्पेन्सरी और औजार ठीक करने । दस बजे तक बागवानी, सड़क की मरम्मत, धवन निर्माण और वृक्षारोपण के काम करते और फिर अपने चिकित्सालय में आकर रोगियों की सेवा में संलग्न हो जाते । सवा बाराह बजे तक चिकित्सालय का काम निबटा कर छे बजे तक भोजन और आराम से निवृत्त होकर पुनः चिकित्सालय में आ जाते और साढ़े छह बजे तक काम में लगे रहते । उसके बाद भोजन आदि से निवृत्त होकर रोगियों की देखभाल करने निकल जाते और इस प्रकार उनका यह कार्यक्रम साढ़े ग्यारह बजे रात तक चलता रहता । डॉ. श्वाइत्जर ने अपने इस व्यस्त कार्यक्रम को पूरे नब्बे वर्षों तक चलाया । उन्होंने अपने कार्य के घंटों में से न तो एक मिनट कभी कप दिया और न आराम के समय को बचाया । अपनी इस एकान्त कार्यनिष्ठा के कारण डॉ. श्वाइत्जर नब्बे वर्ष की आयु तक पूर्ण स्वस्थ बने रहे । वे अपने जीवन में बहुत कम बीमार पड़े और यदि कभी ऐसा संयोग हुआ भी तो भी उन्होंने पड़कर आराम कभी न किया । उनकी इस अछूट कार्यव्यस्तता को देखकर एक दिन उनकी पत्नी ने पूछा “आप कब तक इस प्रकार अविश्रान्त काम करते रहेंगे ।” डॉ. श्वाइत्जर ने बड़े सरल भाव से उत्तर दिया— “जीवन की अन्तिम रबास तक ।” और निःसन्देह उन्होंने अपने कथन को पूर्णरूपेण निवाह कर दिखा दिया ।

डा. श्वाइत्जर के आश्रम में जहाँ एक ओर रोगी इन्डियों की चारपाइयाँ पड़ी रहती थीं, वहीं दूसरी ओर बहुत से पशु-पक्षी भी रह रहे थे । हिरन, चीतर, गुरिल्ला, चिम्पाजी, बत्तख, मुर्गी, ठल्लू आदि न जाने कितने पशु-पक्षी उनके परिवार के सदस्य बने हुये थे । वह सब पशु-पक्षी वही थे जो एक बार रोगी होने के कारण जंगल से पकड़कर उपचार के लिए डॉ. श्वाइत्जर के पास लाए गए थे और फिर लगे होकर अपने प्रेमी सेवक को छोड़कर दुबारा जंगल में नहीं गए ।

सन्त श्वाइत्जर को मानव जाति की तरह ही अन्य जीवों से भी प्यार था । उन्हें उनकी भावनाओं का किन्तु खाल रता था यह इस छोटी घटना से ही प्रकट हो जाता है । एक बार वे अपने कमरे में जा रहे थे । रास्ते में एक मुर्गी अपने बच्चों को प्यार कर रही थी । वे रुक गए । किन्तु जब मुर्गी ने रास्ता नहीं दिया तब उन्होंने उसके कान में धीरे से कहा— “गॉ मुर्गी, मुझे चले जाने के लिए रास्ता दे दो । किन्तु जब वह तब भी नहीं हटी तो वे उसके ऊपर से लॉप

कर इस प्रकार धीरे से निकल गये कि मुर्गी के कार्यक्रम में तनिक भी बाधा नहीं पड़ी । इस छोटी सी घटना में डॉ. श्वाइत्जर के हृदय की विशालता का कितना सुन्दर तथा स्पष्ट चित्र प्रतिबिम्बित होता है इसे भावुक व्यक्ति ही समझ सकते हैं । वे स्वयं तो मांस नहीं खाते थे । उन्होंने इन्डियों को भी कभी किसी पशु-पक्षी को मारने नहीं दिया । उनके आश्रम में भोजन से पूर्व प्रार्थना होती थी और ब्यालू के बाद सामूहिक प्रार्थना । उनका चिकित्सालय पूर्ण रूप से एक ऋषि आश्रम के समान ही था ।

मानव सेवा के इस सफलनीय कार्य के लिये डॉ. श्वाइत्जर को १९४८ में नोबेल पुरस्कार दिया गया जिसकी समग्र धनराशि उन्होंने चिकित्सालय से थोड़ी दूर महारोगी (कुष्ठ) सेवकालय खोलने में लगा दी । इस नये सेवकालय में उन्होंने पाँच छौ कोठियों के रहने के लिये व्यवस्था कर दी । उसी अवसर पर जब वे ओसलने गये तो अपने सम्मान समारोह में बोलते हुये उन्होंने कहा था— “मानव को आत्मा अभी मरी नहीं है । वह उन जीवों के प्रति दया एवं करुणा भावना से परिचित है जिसमें सम्पूर्ण नैतिकता सम्निहित है । वह जीव दया सभी सार्थक होती है जब कोई मानव-जाति से ऊपर उठकर सारी जीव-सृष्टि को अपने अगस्त की छाया में ले ले । मनुष्य ने विज्ञान के बल पर अतिमानव शक्तियाँ तो प्राप्त कर ली हैं किन्तु वह अभी बांछित अतिमानवी बुद्धि का विकास नहीं कर सकता है । इसीलिये उस वैज्ञानिक शक्ति के वातक परिणाम सामने आने की सम्भावना दिनों-दिन बढ़ती जा रही है । अब हम मानवता के धर्मिक को अधिक समय तक टाल नहीं सकते । इसके लिये सबसे महत्वपूर्ण एवं मूल बात यह है कि हम सब एक स्वर से स्वीकार करें, कि हम सब अमानवीय आधार के अपराधी हैं । वही एक उपाय है जिससे कि हम उस मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे जो एक बुद्धिविहीन जगत की ओर जाता है ।”

इसके पूर्व भी जब वे जर्मन विद्वान् गेटे की शताब्दी के उपलक्ष्य में फ्रेकफर्ट महोत्सव में बोलने के लिये आमंत्रित किए गए थे उन्होंने बड़े ही मार्मिक सत्तों को उद्घाटित करते हुए कहा था— “मनुष्य एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है और उसे उसी रूप में मानकर व्यवहार करना चाहिए । उसे हठानु पदार्थवादी सभ्यता के धूरे में दबाना सरासर अन्याय एवं अनर्थ है ।” इस पर जर्मन डिक्टेटर हिटलर बहुत कुछ लाल-तलत हुआ किन्तु उन्होंने उसकी जरा भी चिन्ता नहीं की ।

इसी प्रकार एक बार आनफोर्ड में हिबर्ट माषन करते हुए उन्होंने केन्सल चार छोटे वाक्यों में पश्चिमी सभ्यता का सार रखकर उसका में उपस्थित लोगों को न केवल स्तब्ध ही कर दिया बल्कि धक्काओं की वाचालता समाप्त कर दी । उन्होंने कहा— “क्या आज हमारे जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व है ? नहीं ! प्रमाण ! युद्ध ।” इतना कहकर उन्होंने अपना प्रमाण सम्पन्न कर दिया और फिर उसके बाद कोई भी बोलने खड़ा नहीं हुआ ।

इस प्रकार आधुनिक बोधिसत्त्व सन्त श्वाइत्जर आजीवन मानव सेवा करते और सत्य का सन्देश देते हुये नब्बे वर्ष की आयु में ४ दिसम्बर, १९६५ को मानव देह से मुक्त हो गए ।

भारतीयता के संरक्षक— महात्मा हंसराज

यह वह समय था, जब भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिये शिक्षा का साधन रूप में प्रयुक्त किया जा रहा था। १८५७ के बाद अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि जब तक भारतीयता का नष्ट करके भारत में अंग्रेजियत का प्रचार नहीं किया जायेगा, अंग्रेजों का राज्य धिरम्भायी नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने इसके दो मार्ग निकाले, एक तो धर्म-प्रिय सभारण जनता को ईसाइयत की विशेषता बतलाकर और उनकी सामाजिक परिस्थिति तथा आर्थिक दशा का लाभ उठाकर ईसाई बनाना। दूसरे अपेक्षाकृत सम्पन्न तथा जागरूक जनता में से तरुण वर्ग को शिक्षा के माध्यम से अंग्रेजियत में रंगकर अपना मनसिक गुत्ताम बनाना।

निदान सरकार ने शिक्षा प्रसार का दायित्व अपने पर लाने के बहाने से जनता के बीच जन-सहयोग से चलने वाली सधी छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थानों को बन्द कर दिया, जिनमें धर्म के माध्यम से जीवन के सभी अंगों की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी स्कूल स्थापित किये गये और उनमें बाबूशाहों का निर्माण होने लगा, ईसाइयत सिखाई जाने लगी।

सरकार की यह योजना सफल हुई और नवयुवक अंग्रेजी राज्य के अनुकूल शिक्षा पा-पाकर उसके यन्त्र बनने लगे। थोड़ी अंग्रेजी पढ़ने और अंग्रेजियत को अपनाने वालों को अच्छे-अच्छे सरकारी पद मिलने लगे और वे लोग इसे अपना धर्म्य समझने लगे।

उस समय सरकार की इस धर्म्य योजना का विरोध करना शेर के दाँत पिनने के समान था। सरकार सन् १८५७ के अफगान से आहत होकर बीस चुकी थी और जरा-सा भी विरोध करने वाले को राज-द्रोही ठहरा कर तरह-तरह के त्रास देकर बर्बाद कर रही थी। बड़ा विषम समय था। एक ओर भारतीयता थी और दूसरी ओर प्राणों का भय, स्वातन्त्र्य-संग्राम की विकलता ने जनता में एक निराशा की भावना पैदा कर दी थी। लोग किसी भी अत्याचार को ईश्वरीय इच्छा समझकर सह लेने में ही खैरियत समझते थे।

ऐसी भयकर परिस्थिति में जो व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं साहस के बल पर राष्ट्र की रक्षा कर सके, वह वास्तव में परमात्मा का रूप ही थे।

जहाँ एक ओर लोग भय से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अनचाहे भी सरकारी शिक्षा योजना में सहयोग कर रहे थे, वहाँ एक आत्म-विश्वासी व्यक्ति ऐसा भी था, जो प्राणों को दाँव पर लगाकर सरकार की इस विषम योजना को सफल होने से रोक देने के लिये मन ही मन संकल्पपूर्ण तैयारी कर रहा था और वह व्यक्ति था—नवयुवक हंसराज।

हंसराज, जो आगे चलकर—महात्मा हंसराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह जिस समय शिक्षा पर रहे थे, उस समय सरकार की इस

नीति का भी अध्ययन कर रहे थे। वे सरकार की इस शिक्षा प्रणाली के प्रारम्भ से ही विरोधी थे, किन्तु उन्होंने उसका बाह्यकार नहीं किया प्रत्युत अधिकधिक संलग्नता से विद्या प्राप्त की, अंग्रेजी पढ़ी। वे जानते थे कि कोई भी भाषा क्यों न हो, यदि वह ऊँचे स्तर तक पढ़ी जाती है तो कोई ऐसी हानि नहीं पहुँच सकती, जैसी कि हानि वह निम्न स्तर तक पढ़ने पर पहुँचाती है। हानि, पूर्णता से नहीं अपूर्णता से होती है।

यही बात किसी धार्मिक दर्शन के सम्बन्ध में भी होती है जिस धार्मिक शिक्षा की रूपरी बातों तक ही सीमित रह जायेगा उसका कुछ ऐसा प्रभाव भले पड़ जाये, जिससे कोई एक विश्वास अथवा पद्धति से हटकर दूसरे विश्वास अथवा पद्धति पर चला आये किन्तु जब उसकी गहराई में उतरकर उसका सागोपाग अध्ययन तथा मनन किया जाता है, तब उसकी सारी असलियत सामने आ जाती है और उस दशा में यदि वह दर्शन सत्य पर आधारित है तो उसके अपनाने में किसी हानि की सम्भावना नहीं रहती और वह यदि यों ही कपेल कल्पित चिन्तन पर आधारित होगा तो किसी भी विवेकशील व्यक्ति पर प्रभाव न डाल सकेगा।

महात्मा हंसराज अंग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उसी के माध्यम से अंग्रेजों को समझने और उनकी चाल को विफल करना चाहते थे साज ही ईसाइयत के प्रभाव का उन्हें कोई भय न था। इसके लिये वे भारतीय-धर्म तथा वैदिक साहित्य को अच्छी तरह पढ़ चुके थे और स्वप्नो दयानन्द की तीव्र तर्क पद्धति की अपने प्रतिष्ठा में प्रति-स्थापन कर चुके थे।

महात्मा हंसराज ने ईसाइयत के बीच अंग्रेजी पढ़ी और इतना गम्भीर अध्ययन किया कि जिस समय उन्होंने उत्तम श्रेणी में बी ए पास किया तो उन्हें अपने में लाने और उनकी योग्यता का लाभ उठाने के लिए सरकार के मुँह में पानी आ गया। निदान बी ए की उपाधि लेते ही उसने महात्मा हंसराज की ओर बड़ी से बड़ी सरकारी नौकरी की फूल मालाये बवाई। सरकार को पूरी आशा थी कि उनकी मादक गन्ध से एक भारतीय युवक अवश्य मोहित होकर आकर्षित होगा और अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने में सहायक बनेगा।

किन्तु महात्मा हंसराज उन युवकों में न थे जिनका सामने भीज मजा लेने के अतिरिक्त जीवन का कोई अन्य लक्ष्य ही नहीं होगा। उस समय जब अंग्रेज सरकार शिक्षा के कुंठार से भारतीयता की जड़ें काटकर अंग्रेजियत बो रही थी और किसी भी दाई के ताल के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही थी, तब भला भारतीयता के प्रति भयकर खतरा अनुभव कर लेने पर भी वह किस मुँह से बीज मजा लेने और चैन की नींद सोते। अन्याय एवं अनुचित के प्रति बलिदान की परम्परा जगाते रखने के लिए कोई न कोई बलि बेदी पर आना ही रहना चाहिए। अन्यथा राष्ट्रीयता मिट जायेगी, देश निर्जीव हो जायेगा और समाज की तेजस्विता नष्ट हो जायेगी।

जिसने खतरा अनुभव किया, उसका कर्तव्य था कि वह आगे बढ़े। महात्मा हंसराज ने बड़ी गम्भीरता से विचार करके नया समाज की मनेवृत्ति का ठीक-ठीक अध्ययन करके वह निष्कर्ष निकाला कि

सरकार की इस कुटिल शिक्षा नीति का विरोध किसी आन्दोलन, संघर्ष अथवा खुली चुनौती के रूप में करना ठीक न होगा। सरकारी शिक्षा प्रणाली को किसी सम्मानान्तर शिक्षा प्रणाली से ही निरस्त करना ठीक होगा।

अध्ययन से निवृत्त होकर चल पड़ा, भारतीयता के संरक्षण का प्रतीक। किधर ? रोटी-रोजी और मौज-मजे की तलाश में— नहीं— एक ऐसे बिन्दु की तलाश में, जहाँ से वह अपना शुभ अभियान प्रारम्भ करे। जिस दिन निस्पृह एवं निष्कलक समाज-संघियों, धर्मनिष्ठों तथा देश-भक्तों को सड़क की कमी पड़ने लगेगी, उस दिन संसार से राष्ट्रीयता की संज्ञा ही उठ जायेगी। देश और धर्म की चिन्ता करने वाले मनोविषयों को चाहिए ही क्या ? केवल मुट्ठीभर अन्न और वह भी इसलिये कि जनसेवा के लिए वे कल भी जी सकें। जिस आत्म तत्वांगी की सारी कामनाएँ, वासनाएँ और आवश्यकताएँ किसी जन-कल्याण के यज्ञ में आहुति बन चुकी हों, उसे अपनी सुख रहती ही क्या है ? उसकी छोड़ छुड़ार लेने का दायित्व तो उन कई-कोटि व्यक्तियों पर आ जाता है जिनके हित के लिए वह अपने को खपा रहा है।

सा हंसराज के सामने केवल एक उद्देश्य था कि कोई ऐसी योजना बनाई जाये, जिससे जन-साधारण को भारतीय राष्ट्र के अनुकूल शिक्षित करके उनमें आत्मविश्वास, देशभक्ति तथा स्वाभिमान की भावना जगाई जा सके। भारतीयता के प्रति बढ़ती हुई, उनकी हीन भावना और ईसाइयत से ओत-प्रोत अंग्रेजियत के प्रति बढ़ती हुई आस्था को रोका जा सके। महात्मा हंसराज के बुद्धिमत्तापूर्ण इस एक उद्देश्य में ही राष्ट्र की सारी आवश्यकताएँ सम्निहित थीं। देखने में छोटा लगने वाला यह उद्देश्य कितना व्यापक था ? इसको कोई दूरदर्शी बुद्धिमान ही देख सकता था। वे कोई लम्बी-चौड़ी योजना सापने रखकर जनता को भयभीत करना तथा सरकार को चौकाना न चाहते थे।

एक समय में कोई एक ही विचार, किसी एक ही मस्तिष्क में नहीं आता, लाखों के मस्तिष्क में १९-२० के अनुपात तथा बुद्धि की पात्रता के अनुसार एक साथ अवतरित होता है। और जब कोई एक साहसी उसकी समीचीनता की खोज करने के लिए खड़ा होता है तो उसके झंड़े के नीचे सज्जतीय विचारवानों को एक बड़ी संख्या में इकट्ठा होते देर नहीं लगती।

लाहौर में कुछ विचारवानों ने स्वामी दयानन्द कॉलेज कमेटी की स्थापना कर रखी थी और चाहते थे कि किसी प्रकार स्वामी दयानन्द के नाम पर ऐसा विद्यालय प्रारम्भ किया जाये, जिसमें ठीक-ठीक राष्ट्रीय शिक्षा दी जा सके। कोई कमेटी बन लेना एक बात है और उसके उद्देश्यों को कार्यन्वित करना दूसरी बात। कमेटी तो बना ली किन्तु सरकारी भय के कारण उसके सदस्य यह न समझ पाते थे कि स्कूल की स्थापना करके उसे कैसे चलाया जाये ?

विद्वान् हंसराज ने कमेटी में प्रवेश किया और एक छोटा-सा विद्यालय स्थापित करके उसमें अवैतनिक शिक्षक बन गये। सच्ची भावना से योजना का सूत्रपात हो गया और उसी प्रगति के साथ विरोध भी प्रारम्भ हो चला। किन्तु इससे क्या ? जन-साधारण का विरोध

योजना की महानता का प्रमाण-पत्र होता है। जिस योजना का विरोध नहीं होता, जिस नियोजन की आलोचना नहीं होती, समझ लेना चाहिए कि उस योजना में कोई जीवन नहीं है, कोई नवीनता नहीं है।

अतः नवजात संस्था को पिटा सकने के लिए सरकार कोई बहाना न पाकर केवल इतना ही कर सकी कि उसने उसे कोई आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया इसको संस्था के संस्थापकों ने शुभ ही समझा क्योंकि वे स्वयं ही सरकार से कोई सहायता न लेना चाहते थे क्योंकि उस दशा में उन्हें सरकारी निकायों के पचड़े में पड़ना होता, जिससे संभव था उन्हें अपने उद्देश्य में कुछ हेर फेर करना पड़ता। उद्देश्य की न्यूनता के साथ पाई हुई किसी सुविधा की अपेक्षा उद्देश्य की रक्षा में पाई असुविधा अधिक प्रेरक होती है।

सरकार ने न केवल अनुदान देने में ही विमुखता दिखाई बल्कि उक्त विद्यालय को मान्यता देने में भी अनुदारता बरती। किन्तु सुयोग्य शिक्षक महात्मा हंसराज अपना काम करते रहे। शीघ्र ही उनके परिश्रम का फल जन-साधारण की चर्चा के रूप में फलीभूत हुआ और लोग संस्था की ओर आकर्षित होने लगे। अल्प अनुशासित तथा त्यागी शिक्षक के पदार्थ हुए छात्र समकते हुए हीरों की तरह निकलने लगे, जिससे अभिभावकों की आस्था दिनों-दिन बढ़ती गई और छोटा-सा प्रारम्भिक स्कूल विस्तार एवं विकास पाने लगा।

कुछ समय बाद उस संस्था को डी. ए. वी. स्कूल के नाम से स्थापति प्राप्त हुई और उसके शिक्षा अभियान को डी. ए. वी. आन्दोलन का नाम मिला। डी. ए. वी. स्कूल की वेग से बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर सरकार को जर्ज आर्ब और उसने जन-आलोचना के भय से स्कूल को मान्यता दे दी। मान्यता के प्रथम वर्ष में ही सुयोग्य शिक्षक के पदार्थ विद्यार्थियों ने हाईस्कूल की सारी छात्रवृत्तियाँ जीत लीं।

महात्मा हंसराज की भावनापूर्ण तपस्या फलीभूत हुई, उनका त्याग अंगुर्भूत हुआ और देश में डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलेजों का जल बिसने लगा। अनेकों बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा उद्योगों ने मुक्तहस्त दान देना प्रारम्भ कर दिया और स्कूल कॉलेजों में बदलने लगे।

महात्मा हंसराज के जीवन काल में डी. ए. वी. मिशन के अनेक विश्व विद्यालय, टेक्निकल स्कूल, आधुनिक कॉलेज, नार्मल स्कूल, वैदिक शोध संस्थान, कला-विज्ञान कॉलेज तथा वैदिक धर्म प्रचारकों की शिक्षण संस्थानें बन गईं। इसके अतिरिक्त डी. ए. वी. आन्दोलन के अन्तर्गत उसके अपने बैंक, बीमा कम्पनी तथा अनेक उद्योग भी चलने लगे।

महात्मा हंसराज की तपस्या का वह हाहाकारी फल देखकर सरकार के पाँव काँपने लगे और उसे अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए सरकारी शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा हंसराज का मिशन पूरा हुआ। भारतीयता की रक्षा हुई और अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की दूरगामी योजना विफल हुई। डी. ए. वी. आन्दोलन, के रूप में देश को महात्मा हंसराज की दान अनुपम है, जिसके लिए—क्या भारतीय और क्या भारतीयता, युग युग तक उनकी आभारी रहेगी।

आज से लगभग २७-२८ वर्ष पूर्व ससार से वह महान् आत्मा दिवंगत हो गई किन्तु डी. ए. वी. शिक्षा संस्थाओं तथा आन्दोलन के अन्तर्गत चलती हुई योजनाओं में अमर रहेंगी।

गोस्वामी गणेश दत्त देश, जाति और संस्कृति के गौरव प्रतिष्ठाता

शताब्दियों तक पंजाब पर मुसलमानों का प्रभुत्व छाया रहा। राजनीति की दृष्टि से चतुर चात्सक मुगल शासकों ने वहाँ की हिन्दू सभ्यता को समूल नष्ट कर देने का षड्यन्त्र चलाया और इस षड्यन्त्र में उन्हें बड़ी हद तक सफलता भी मिली। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पंजाब के अधिकांश हिन्दू नागरिकों ने कट्टर हिन्दू निष्ठा के परिणाम स्वरूप अपना धर्म भले ही न बदला हो—रहन-सहन और जीवन का ढंग-ढंग अवश्य बदल दिया। पंजाबी मुसलमानों की तरह ही रहने लगे। उनकी भाषा, वेषभूषा, भाव और रहन-सहन सब कुछ विजातीय संस्कृति के अनुरूप चलने लगा। वे लोग उर्दू बोलते थे। हिन्दी का कहीं नामो-निशान भी नहीं दिखाई देता और ऐसी अवस्था में देशकाल की इन परिस्थितियों में वहाँ के निवासियों एक युवक ने रचनात्मक दृष्टिकोण से सोचा। वह युवक बाद में गोस्वामी गणेशदत्त के नाम से जाना जाने लगा।

इस विचार की प्रेरणा उन्हें बड़े इटवस्मयी ढंग से मिली। एक साधारण-सी घटना ने उनके अन्तस् को छू लिया। हुआ यह बताया जाता है कि एक बार उन्होंने अपनी पुस्तिका में कुछ प्रश्नों के उत्तर हिन्दी भाषा में लिखे। परम्परा यह थी कि जो भी उत्तर लिख जाय वह उर्दू भाषा में हो अथवा अंग्रेजी में। अपने हिन्दी प्रेम के कारण गोस्वामी जी ने इस परम्परा का उल्लंघन किया। परिवार में हिन्दी और संस्कृत भाषा की प्रधानता रहने से गोस्वामी जी को हिन्दी में लिखे गये उत्तरों से स्वाध्याय में सुविधा रहती थी।

उक्त-पुस्तिका जब रजपने के लिए कक्षाध्यापक के पास पहुँची तो कक्षाध्यापक बीखला उठे। बात यह नहीं थी कि शिक्षक हिन्दी न जानता हो। परन्तु नियम और परम्परा टूटने देखकर उसे कैसे सहन हो सकता था। इसलिए उसने गणेशदत्त को मुर्गा बनने के लिए कहा। गणेशदत्त जी ने इस सजा का कारण पूछा तो शिक्षक ने कहा—‘तुमने इस पुस्तिका में प्रश्नों के उत्तर हिन्दी में क्यों लिखे हैं।’

‘महाशय जी ! हिन्दी में लिखने से मुझे अध्ययन में सुविधा जान पड़ी। हमारे परिवार में प्रचल रही भाषा कोली जाती है इसलिए हिन्दी में पढ़ना-लिखना मेरे लिए आसान और सुविधाजनक रहता है।’—गणेशदत्त जी ने कहा।

कुछ नहीं। तुमने विद्यालय का नियम तोड़ा है। इसलिए तुम्हें यह भोगना ही पड़ेगा।

‘दण्ड सहने से मुझे एतराज नहीं है परन्तु मैं यह फूटना चाहता हूँ कि इस प्रकार विद्यालय का नियम कहीं टूटता है। पुस्तिका तो

मेरी अपनी निजी सामग्री है उसमें किसी भी भाषा में लिखू तो विद्यालय को क्यों एतराज होना चाहिए।’—युवा छात्र गणेशदत्त ने घटना के हर पक्ष पहलू को छूकर अपना दृष्टिकोण बताया परन्तु अध्यापक भी अपने ढंग का एक ही पूर्वग्रह, जिद्दी और अड़ जाने वाला व्यक्ति था।

इस विषय में हुई और भी बातों ने गोस्वामी जी को इस तथ्य से अवगत करा दिया कि पंजाब में उर्दू निष्ठा और हिन्दी उपेक्षा की प्रकृति चरम सीमा पर है। जब किसी देश को अपनी ही भाषा के प्रति बर्तन की जनता का लगाव छूटने लगे जाता है तो उस देश की सभ्यता और संस्कृति का भी अन्ध पतन होने लगता है। गणेशदत्त जी ने उसी समय संकल्प लिया कि चाहे जो हो। पंजाब में देश धर्म और संस्कृति को निरन्तर लेनी जा रही इस क्षति को रोककर ही रहेंगे उन्होंने पंजाब में हिन्दी भाषा के प्रचार का व्रत लिखा।

संकल्प ले लेना ही उसे पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होता वरन् उसे पूरा करने के लिए साधन और सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। जिन्हें जुटाना पूर्ति की साधना में प्रथम आवश्यक है। यही प्रश्न गोस्वामी जी के सम्मुख भी खड़ा हुआ लेकिन लगता था असाध्य। पास में न तो पैसा था और न समाज पर प्रभाव कि आवश्यक साधन गुट जायें। काप प्रारम्भ भी करें तो किस प्रकार, कपड़े सोच-विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि काम का श्री गणेश का देना चाहिए। किसी भी दुस्साध्य कार्य का आरम्भ कर दिया जाय साहसपूर्वक तो शनैः-शनैः मार्ग भी मिल जाता है। साहस करना व्यक्ति का काम होता है और सहायता करना भगवान् का।

उन्होंने आरम्भ भी बहुत छोटे प्रयास से किया। वस्तुतः उनकी सामर्थ्य भी नहीं थी अभी कि वे तुरन्त इस क्षेत्र में अधियान स्तर का प्रयास शुरू कर दें। छोट-से सप्ताह में भी उन्हें अन्य संस्थाओं से सहयोग की अपेक्षा करना पड़ी। जिस नगर में वे रहते थे—लायनपुर वे वहाँ की सनातन धर्म सभा के मन्त्री के पास पहुँचे और अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला। सभा के मन्त्री ने उनसे पूछा—‘आखिर आप चाहते क्या हैं।’

“मैं अपने इस सप्ताहिक उद्देश्य के हेतु आपसे कुछ सहायता चाहता हूँ।”

“मेरे पास है क्या जो मैं आपकी सहायता कर सकना हूँ।”—मन्त्री ने टालने के भाव से कहा।

“जो सहायता आप कर सकते हैं। वही मैं आपसे माँगने भी आया हूँ। बात छोटी-सी है। यदि आप मेरे निवेदन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करें तो आसानी से पूरी हो सकती है।”

“कहिए-कहिए”—मन्त्री ने उत्सुकतापूर्वक कहा। शायद वह समझा होगा कि कोई दो-चार पांच रुपये का चन्द लेने के लिए य आये होंगे, इतना सहयोग तो मैं आसानी से कर दूँगा। इस युवक पर अपने व्यक्तित्व का मुक्त प्रभाव पड़ेगा सो अलग।

“दरअसल बात यह है कि आप सभा भवन में विद्यार्थियों को बैठने के लिए एक कमरा दे दें और थोड़ी सी तेल की व्यवस्था कर

दें तो मैं हिन्दी की एक रात्रि पाठशाला आराम से चल सकूँगा' गोस्वामी जी बोले।

और इतना सुनकर मंत्री महोदय को जैसे सोंप सूँघ गया। उन्होंने कहा—सभा भवन में ऐसा कोई फलतू कमरा नहीं है, जो आपके इस सर्वथा नये काम के लिये दिया जा सके। तेल-बत्ती की व्यवस्था भी नहीं की जा सकती।

सभा के मंत्री का उत्तर सर्वथा निराशादायक था और इस उत्तर को सुनकर निराश होने में कोई देर नहीं लगती। किन्तु गोस्वामी जी हतोत्साहित नहीं हुए वे बराबर मंत्री से सम्पर्क करते रहे और अपने उद्देश्य के विषय में समझाने रहे, निवेदन करते रहे। गोस्वामी जी को सभा भवन ही अपने कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त लगता था। और उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि थोड़ा प्रयत्न करने पर मंत्री को अवश्य ही सहयोगी बनाया जा सकता है। अखिर गोस्वामी जी का यह प्रयत्न सफल हुआ और कुछ समय बाद सन्तान धर्म सभा के मंत्री ने रात के समय कुछ बंटों तक सभा भवन को उपयोग में लेने की अनुमति से दी। फिर भी तेल-बत्ती के लिए उसने स्पष्ट कह दिया कि उसका प्रबन्ध गोस्वामी जी स्वयं करें, गोस्वामी जी ने इस अनुमति को ही पर्याप्त माना और इस सहयोग के लिए उन्हें हृदय से धन्यवाद दिया। और उस छोटे-से कमरे में हिन्दी कक्षा आरम्भ करने की योजना बनी।

गोस्वामी जी तो अभाव देवता की सन्तान थे। उनके पास स्वयं अपना भरण पोषण करने योग्य सुविधा-साधन ही नहीं थे तो वे विद्यालय के लिए आवश्यक धनराशि कहाँ से जुटाते। एक ही मार्ग सुझाई देता था वह था जन-सहयोग का उपाय। इसलिए उन्होंने झोली तैयार की और उसे लेकर घर-घर, द्वार-द्वार पर जाना आरम्भ किया। गोस्वामी जी जिस द्वार पर भी जाते उस द्वार पर ही गृहवासियों से दो निवेदन करते थे एक तो अपने बच्चों को रात्रिपाला में पढ़ने के लिए भेजने का निवेदन और दूसरा हिन्दी कक्षा के लिए आवश्यक साधन जुटाने हेतु चन्दा। यह दो निवेदन करते हुए वे घर-घर जाने लगे। यद्यपि जीवन में उन्होंने कभी अपने लिए किसी से कुछ नहीं मांगा था। आर्थिक दुरवस्था और अभावग्रस्त स्थिति में भी उन्होंने किसी से एक पाई का सहयोग नहीं लिया। इतना आत्मसम्मान जीव देश-धर्म और संस्कृति के मूल्यों की पुनर्प्राप्ति हेतु झोली फैलाने लगा। लोग ताने कसते। गोस्वामी जी कभी किसी की सहायता नहीं लेते थे न देने पर भी कैसा इन्कार करते थे। परन्तु अब कहीं झोली पकड़नी पड़ी।

गोस्वामी जी का उत्तर होता—भाई अपने लिए तो नहीं मांगना हूँ। जो मांग रहा हूँ वह इसलिए कि हम लोगों में देश, जाति और भाषा के प्रति आत्मसम्मान और अत्मगौरव की भावना पैदा हो 'पर जाऊँ मांगूँ नहीं'—का दृढ़ संकल्प गोस्वामी जी को परमार्थ प्रयोजन के लिए मांगने में किञ्चित् भी सक्तेच नहीं होता। कई घरों से निराश भी लौटना पड़ता परन्तु उन्हें इसमें अपना आत्मसम्मान गन्त नहीं लगा। कन् इससे तो आत्मगौरव और भी बढ़ा। वह

इस कारण कि परमार्थ हित में अपना आत्मसम्मान भी तब तक छोड़ें।

संस्कारों से मजबूर सर्वस्वधारण किसी भी नयी बात को आसानी से ग्रहण नहीं कर पाते। लोगों का विरोध चलता रहा, उनकी उपेक्षा भी होती रही और मजाक भी लेकिन हतोत्साहित या निराश होने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। विजयो त्री उसी का वरण करती है जो धैर्य प्रयत्न, पुस्कार और लगन के धनी होते हैं। इस ग्रन्थ की साधना से गोस्वामी जी ने अपने चरित्र को उदात्त आदर्श के रूप में प्रतिष्ठापित किया। वे प्रयत्नपूर्वक इस साधना में लगे रहे। विद्यार्थी और पैसा दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलने लगे। रात्रि पाठशाला के प्रति लोगों में आकर्षण, अभिरुचि और उत्साह जागा तथा व्यर्थक्य गतिशील होने लगा। गोस्वामी जी इस कार्य में इतने तन्मय और समर्पित हो गये कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी और शिक्षा प्रचार के लिए अर्पित कर दिया।

घर-घर काय बढ़ता गया। अब सभा भवन में कक्षाएँ नहीं लग सकती थीं अतः उन्होंने अलग स्थान की व्यवस्था की। इसी क्रम से लाधनपुर के बाहर भी उनका कार्यक्षेत्र फैला और एक-एक कर उनकी सस्था की शाखाएँ स्थापित होने लगीं। गोस्वामी ने क्रम से पञ्जाब भर में लगभग चार सौ स्कूल, हाईस्कूल, इण्टर कॉलेज, बाल विद्यालय और कन्याशालाओं की स्थापना करवायी, इन शालाओं में हिन्दी को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। कुछ ही दिनों में हिन्दी पंजाब की प्रमुख भाषा बन गयी। गोस्वामी जी द्वारा तैयार किया गया यह तन्त्र सुचारु रूप से चलने लगा।

तभी भारत आजाद हुआ और आजादी मिलते ही देश के टुकड़े भी हुए। उर्दू भाषी क्षेत्र पाकिस्तान बन गया। गोस्वामी जी की अधिकांश शाखाएँ पूर्वी-पंजाब में थीं और वह साथ का साथ भाग पाकिस्तान बन गया। पाकिस्तान के अन्धे साम्प्रदायिक नेताओं ने गोस्वामी जी की समुची व्यवस्था को ही नष्ट-भट्ट कर दिया। गोस्वामी जी ऐसी दशा में भी किञ्चित् विचिपृष्ट नहीं हुए और पाकिस्तान छोड़कर भारत आ गये। धैर्यपूर्वक उन्होंने इस ऐनी को परमात्मा की इच्छा समझकर सहन किया।

भारत आकर गोस्वामी जी बनसका के दूसरे कार्य में लगे। उन दिनों पंजाब और बंगाल से हजारों-लाखों की संख्या में शरणार्थी आ रहे थे। गोस्वामी जी ने इन लोगों के पुनर्वास कार्य में बहुत बड़ा योगदान दिया। दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में अपने सेवा कार्य का केन्द्र बनाकर शरणार्थियों के लिए अन्न, वस्त्र और आवासदि साधनों की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त वे दुःखी शरणार्थियों के पास जाते और उनकी वेदना में भी भागीदार बनते। यथाशक्ति सहायता देने के नाबजूद, यद्यपि वह अत्यल्प ही होती थी—फिर भी वे शरणार्थियों के प्रति संवेदना, सहानुभूति, करुणा और आश्वासन आदि प्रकारों से उनका जो दुःख न्यतते वे उससे शरणार्थियों को बड़ी राहत मिलती थी।

३ ६८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

पंजाब में प्लेग, बंगाल के अकाल और अन्य ऐसी ही संकट की घड़ियाँ ये देशवासियों को उन्होंने जो सेवा की उसकी गिनात बँह पाना मुश्किल है। अपना समा जीवन सेवा कर्यों में लगाकर गोस्वामी जी ने इस परम पिता परमात्मा के विराट स्वरूप का साक्षात् कर लिया जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है।

मानवता के महान् उपासक— संत श्री गाडगे बाबा

सन् १९०७ के पौष महीने का अन्तिम शिववार। दिन ढलने के साथ-साथ ऋण मोचन (अमरावती) के मेले में एकत्रित भीड़ घुटने लगी। सदा की भाँति खुर पत्तों के कूड़े, रसोई के लिए प्रयोग किये गए मिट्टी के दूढ़े बर्तन, भोजन के बचे हुए कूड़े, यही नहीं ऊँचे-नीचे स्थानों पर मलमूत्र जहाँ-तहाँ भरे पड़े थे। प्रत्येक वर्ष इस तरह की गन्दगी से उत्पन्न बीमारियों के कारण मेले के आस-पास के गाँवों के निवासियों को अनेक कष्ट झेलने पड़े थे पर उसको सफाई की ओर अब तक किसी ने ध्यान नहीं दिया था। हाँ, इस साल एक युवक, जो मेले के पूर्व नदी की ऊँची कगार को काट-काटकर स्नानार्थियों के लिए राह बना रहा था। अब राह में झाड़ू लिए मेले की गन्दगी की सफाई में अकेला व्यस्त था। दर्शकों का कीतूहल धीरे-धीरे प्रशंसा में बदल चला था। कुछेक यह भी कहने लगे कि जो व्यक्ति आम लोगों की सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिए पूरे दिन कुली और भगी की तरह सेवा कार्य में जुटा है, उसका स्थान मन्दिर के देवताओं की आरती उतारने वालों से कम महत्त्व का नहीं है। यही नहीं उसका मार्ग ही भगवत् की सच्ची उपासना का मार्ग है।

मेले की सफाई के उपरान्त संत गाडगे, वहाँ उन्हें ढूँढ़ने आई अपनी माँ सखुजाई के सपथ आकर बैठ गये। भगी के समान उन्हें मेले की सफाई करते देख माँ का हृदय भर आया था, जिसे संत ने भाँप लिया। अतः जब माँ ने रोते हुए अपने इकलौते बेटे से घर लौट चलने के लिए अग्रह किया तो संत गाडगे ने कहा— “माँ अपने आस-पास का पतन संसार ही भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। इन कोटि कोटि लोगों की वधाशक्ति सेव करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना हो सकती है। सुगन्धित फूल-पत्तों को पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाने की अपेक्षा अपने आस-पास विद्यमान धन-पिन्तु दुनिया की सेवायें तथा भूखों के लिए रोटी मुहैया करने में जीवन खपा देने में उनकी शर्थात्क है। ऐसे फूल-पत्तों से हमारी झाड़ू श्रेष्ठ है। पर यह बात आज तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती।”

मानवता के इस महान् उपासक का जन्म महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले में १८७६ में हुआ था और २० दिसम्बर, १९५६ को राष्ट्र संत स्व. तुकड़ो जी महाराज ने “मानवता के महान् पुजारी संत गाडगे बाबा” नामक पुस्तक के अपने प्रकाशन में संत गाडगे की मानवता के मूर्तिमान आदर्श के रूप में कदना की है।

एक बार जब संत गाडगे बाबा व्यसन मुक्ति प्रचार के सिलसिले में वर्धा जिले में घूम रहे थे, गांधी जी के निमन्त्रण पर उनसे मिलने सेवा प्राप्त गये। जब आश्रम के आस-पास के गाँवों के निवासियों को उनके आश्रम में आने की सूचना मिली तो सैकड़ों की संख्या में लोग वहाँ आ पहुँचे। गांधी जी ने गाडगे बाबा को बैठने को आसन दिया पर वे उनके सामने जमीन पर ही बैठ गये। राष्ट्रपिता के अनुरोध पर संत ने कीर्तन किया और बाद में उनके साथ भोजन भी किया। संत गाडगे की लोकप्रियता और सरलता देखकर गांधी जी मुग्ध हो गये।

संत गाडगे बाबा सच्चे निष्कल कर्मयोगी थे। महाराष्ट्र के कोने-कोने में उन्होंने अनेक धर्मशालाएँ, गौशालाएँ, स्कूल, छात्रावास, दवाखाने आदि का निर्माण कराया, जिनका मूल्य इस समय दो करोड़ रुपयों से भी अधिक है। यह सब उन्होंने धीरे-धीरे पाँच-पाँचकर बनवाया परन्तु अपने सारे जीवन में इस महापुरुष ने अपने लिए एक कुटिया तक नहीं बनवाई, धर्मशालाओं के बरामदे या आस-पास के किसी वृक्ष के नीचे ही अपनी सारी जिन्दगी बिता दी। एक लकड़ी, फटी पुरानी चादर और मिट्टी का एक बर्तन (जो खाने-पीने और कीर्तन के समय ठपली का काम देना था) ही उनकी सम्पत्ति थी। इसी से उन्हें महाराष्ट्र के भिन्न-भिन्न भागों में कहीं गाडगे (मिट्टी के बर्तन वाले) गोधड़े (विधड़े वाले) बाबा के नाम से पुकारा जाता था। उनका वास्तविक नाम आज तक किसी को मालूम नहीं।

गाडगे बाबा के जीवन का एकमात्र ध्येय था लोकसेवा। दी-दि-दु-लियों, उपासितों की सेवा का ही वे ईश्वर सेवा मानते थे। धार्मिक बाह्याङ्गमयों के वे प्रबल विरोधी थे। वे कहा करते थे कि भगवान् न तो तीर्थ स्थानों में हैं और न मूर्तियों में, बल्कि दरिद्र नारायण के रूप में वह मानव-समाज में ही विद्यमान है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस भगवान् को पहचाने और उसकी तन-पन-धन से सेवा करे। भूखों को भोजन, प्यासे को पानी, ग़ने को वस्त्र, अनपढ़ को शिक्षा, बेकार को काम, निराश को खवास और मूक जनों को अभ्य प्रदान करना ही वे भगवान् की सच्ची सेवा मानते थे। तीर्थ स्थानों पर १२ बड़ी-बड़ी धर्मशालायें स्थापित काने का उनका एकमात्र उद्देश्य था कि गरीब यात्रियों को वहाँ नुपत्त पें ठहरने का स्थान मिल सके। नासिक में बनी उनकी विशाल धर्मशाला में ५०० यात्री तक एक साथ ठहर सकते हैं, वहाँ यात्रियों को सिन्दी, बर्तन आदि भी निःशुल्क देने की व्यवस्था है। दरिद्र नारायण के लिये वे प्रतिवर्ष अनेक बड़े-बड़े अन्न क्षेत्र भी किया करते थे, जिनमें अन्धों, लंगडों तथा अन्य अपाहिजों को कम्बल और बर्तन आदि भी बाँटते थे।

संत गाडगे बाबा बड़े बुद्धिवादी थे, यद्यपि वे अनपढ़ थे। बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। अतः उन्हें छूतमन में अपने नाना के पास रहना पड़ा, जहाँ उन्हें गाँव चराने तथा खेती का काम करना पड़ता था। सन् १९०५ से लेकर १९१७ तक संत गाडगे बाबा अज्ञातवास में रहे। इस दौरान उन्हें देश और समाज को नज़दीक से देखने का पर्याप्त अवसर मिला। अर्थव्यवस्थाओं का आङ्गुली, स्वर्द्धि तथा सामाजिक कुसृष्टियों एवं दुर्व्यसनों से समाज

को कितनी भयंकर हानि हो रही है, इसका उन्हें भली-भाँति अनुभव हुआ। यही कारण है कि इन चीजों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। वे कहाँ काते थे कि नीरव और मन्दिरों के पण्डे पुजारी सब भ्रष्टाचारी रहते हैं, अतः वे तुम्हारा क्या भला कर सकेंगे? धर्म के नाम पर होने वाले पशुबलि के भी वे कट्टर विरोधी थे। यही नहीं नशाखोरी, कुआड़ूत जैसी सामाजिक बुराईयाँ तथा मजदूरों और किसानों के शोषण का भी वे प्रबल विरोध करते थे।

साधु-महात्माओं के पाँव छूने की प्रथा आज भी सर्वत्र प्रचलित है। सन्त गाडगे इसके घोर विरोधी थे। जब भी कोई उनके पाँव छूने की चेष्टा करता तो दूर हट जाते और झिड़कते हुए कहते— “खबरदार जो मेरे पाँव को स्पर्श किया।” यही नहीं जब ब्रह्मचरु लोगों की भोड़ उनके पैर छूने के लिए दूट पड़ती तो वे अपने छड़ी से उन्हें दूर हटाते हुए भाग जाते।

सन्त गाडगे बाबा द्वारा उनके जीवन काल में ही स्थापित ‘गाडगे महाराज मिशन’ आज भी १२ धर्मशाखाओं तथा ३१ कॉलेज, स्कूल छात्रावास आदि संस्थाओं का सफल संचालन तथा समाज-सेवा के अन्य कार्यों में संलग्न है।

सन्त गाडगे बाबा आज के सन्त-महंताओं एवं महात्माओं के लिये समाज-सेवा का जो आदर्श छोड़ गये हैं, उस पर यदि वे चलने का प्रयास और संकल्प करें तो दिन प्रतिदिन इस पुण्य भूमि भारत की ही रही अवनति और अधःपतन से उसे उबार सकते हैं। प्रभु इसके लिए उन्हें सद्बुद्धि एवं सन्तरेणा दे।

जैन धर्म के प्रचारक— पं. गोपालदास बरैया

‘जैन उन्हें कहते हैं जो ‘जिन’ के अनुयायी हों जिन्होंने अपनी वाणी को, कथा को जीत लिया, वे ही ‘जिन’ हैं। यह गर्व का विषय है कि जैन धर्म भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों में से है। प्राणिमित्र के अंत कल्याण की कामना तथा सार्वभौमता के कारण ही इसे वह महत्वपूर्ण स्थान मिला है।’

“हम यह मानते हैं कि अपने को जीतना ही सबसे बड़ी साधना है। पुरुष संसार में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्म पर ही विजय प्राप्त कर ले, वही श्रेष्ठ जय है। अहिंसा, तप और संयम—यही जैन धर्म के प्रमुख तीन स्तम्भ हैं।

आज समाज में धारों ओर जो अशान्ति और कुंठाएँ व्याप्त हैं, उन्हें दूर करने में यह धर्म पूर्णतः सक्षम है। परन्तु आवश्यकता ऐसे लोगों की है जो समाज-कल्याण के लिए वैयक्तिक सुखों का मोह त्याग कर कमर कसकर कर्मक्षेत्र में कूट पड़ें। यदि युवाओं की धर्मानियों का लहू अभी जफ़ा न हो तो वे आगे आयें।”

वक्ता का धाराप्रवाह भाषण चल रहा था। अनेक श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। श्रोताओं में एक युवक ऐसा भी था जिसके जीवन की धारा ही भाषण के द्वारा परिवर्तित हो गयी। धर्म क्या होता है,

धर्म की शक्ति सामर्थ्य कैसी होती है, यह उसे प्रथम बार पता लगा था। वक्ता महोदय के तर्क इतने युक्तिसंगत थे कि युवक को मनना पड़ा कि समाज-कल्याण के लिए, उसे सद्गुणी, सदाचारी चरित्रवान बनाने के लिए धर्म का प्रचार आवश्यक है। उसी दिन उसने अपना जीवन जैन सिद्धान्त और जैन धर्म के प्रचार प्रसार के लिए समर्पित कर दिया। वह युवक थे पं. गोपाल दास बरैया जो आगे चलकर जैन धर्म के प्रचारकों में अग्रगण्य गिने गये। इनकी महान् सेवाओं के फलस्वरूप आज भी इनका नाम अत्यन्त श्रद्धा तथा आदर के साथ लिखा जाता है।

पं. गोपालदास बरैया को उपर्युक्त घटना से पूर्व घमौंटि में कोई खिच न थी। उनका बचपन बहुत साधारण-सा था। बाल्यावस्था में ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अजमेर में रेलवे दफ्तर में नौकरी करने लगे। ‘छाओ-पौओ और मौज मनाओ’ यही उनका जीवन-क्रम चल रहा था। अचानक ही वे एक जैन विद्वान् के सम्पर्क में आये तथा उन्हें इस धर्म की गरिमा का स्वीकार करना पड़ा। उनके अन्तःकरण में प्रस्तुत देवत्व के बीज जागृत हो उठे और देश और धर्म के पुनरुद्धार के लिए उन्होंने अपना जीवन दे दिया।

नौकरी छोड़कर पंडित जी बम्बई चले गये। वहाँ वे जैन महा-सभा के कार्यों में सक्रिय भाग लेने लगे। यहीं पर उन्होंने संस्कृति प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के पठ्यप से जैन धर्म का गंभीर अध्ययन किया तथा जैन संस्कृति महाविद्यालय की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं।

जैन धर्म का तन्त्र समझ कर अब वे जनता को भी उसका रहस्य समझाने में जुट गये। १९०० ई. में पंडित गोपालदास बरैया ने ‘जैन मित्र’ नामक पत्र निकाला। इसके माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्त को जनसाधारण तक पहुँचाया। ‘जैन धर्म का पालन घर-परिवार छोड़कर ही किया जा सकता है’ जनसाधारण को उन्होंने जैन धर्म के सम्यक् विवेचन से निर्मूल सिद्ध कर दिया, साथ ही पंडित जी ने यह भी सिद्ध किया कि यदि गृहस्थ लोग अणुव्रतों का डीक से पालन करें तो संपाद में धारों ओर फैला हाह-कार दू ख और अशान्ति दूर होते देर न लगे।

जनता में त्याग, तपस्या, सेवा, अहिंसा, सत्य, परिग्रह आदि की भावनाएँ भरने के लिए उन्होंने मृग-धूम कर प्रचार किया। जैन मुनियों के महान् संदेश को उन्होंने अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में जन-साधारण के अन्तःकरण तक उतरा तथा उन्हें सान्त्विक और प्रोत्साहक जीवन जीने की प्रेरणा दी। आज जैन धर्म का जो व्यापक प्रचार है, उसका श्रेय एक इन्वर से पंडित जी को दिया जा सकता है।

जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली का सार्थक तप

“बापू! बापू!! अरे देखिए न, कक्का को क्या हो गया है?” बच्चों का एक पूरा झुण्ड कोठरी के द्वार पर दौड़ आया। अभी सबरा हुआ ही था। दिसम्बर जनवरी के महीने में सूर्य राशियाँ वैसा भी

अलसाई रहती है, फिर तो आज उन्होंने कोहरे की सफेद चादर तान रखी थी। ऐसे में इतनी सुबह बालकों के समूह का द्वार पर कमल की पंखुड़ियों की तरह सिमट आना। क्यों न सिमटे? आखिर एक वही तो है जिनसे छोटे बड़ों की शिक्षणवर्त, आपस की नोक-झोंक सब कुछ कह लेते हैं। कभी-कभी तो उनसे उनकी भी गलतियों बताने में नहीं चुकते। सुनकर वह हँसते हैं समझते हैं और जवाब में पूरा आश्रम परिसर खिलखिलाहट से भर जाता है। आज फिर पत्त नहीं क्यों?

द्वार खोलने ही सबके सब घुस गए। बच्चों से घिरे उन्होंने पूछा 'क्या हुआ तुम्हारे काका को?' बच्चों के ये कथन दुनिया की विचित्र वस्तुओं से भी विचित्रतर। कहा जाता है कि संसार के सात आश्चर्य हैं किन्तु ये ऐसे कि सातों आश्चर्य इन्हें देखकर स्वयं आश्चर्य में पड़ जायें। सभी आश्रमवासी उनके बारे में चर्चा राय रखते थे। आपस में हो रही चर्चा में कहीं न कहीं उनका नाम अवश्य कूट पड़ता। इस नाम कूट से बातों का मन्त्र बढ़ जाता था। उनका जीवन क्रम उपवास करने लग जाय तो ६८ दिन तक बिना खाए-पिए बने रहें और अगर खाने लग जायें तो आश्रम का साग दूध अकेले पी जाने लगें, तब गौशाला के इन्वार्ज ने बापू से विनय की इस समय लगभग बीस सेर तो दूध ही होता है, वह सब का सब काका के पेट में चला जाता है। बापू हँस पड़े 'कोई प्रयोग कर रहा होगा, मैं मना कर दूँगा' और दूसरे दिन से बारह-तेरह किलो खली खाने का क्रम चल गइ। छूटा तो महीनों कड़वी नीम की पत्ती के बोल पर गुजरे। आश्रमवासी हँसते में पड़े थे आखिर ये है क्या? इतना कठोर जीवन कि कठोरता को भी कंपकंपी छूट जाय। इस पर बीमारी तकलीफ उनसे कोसों दूर।

तब आज फिर क्या कोई नया? बापू की पुस्तकान अपने आप में गहरा रहस्य छुपाए थी। बच्चे तो अपना साग आश्चर्य ठही की झोली में उड़लने आए ही थे। तनिक-सा संकेत मिलते ही सब के सब एक साथ बोल पड़े 'आज कत क्या हुआ? तु नहीं मैं बताऊँगा नहीं मैं।' आखिर हँसते हुए उन्होंने सबको चुप कराया फिर एक बारह-तेरह साल के बालक को खेलने का इशारा किया।

'कल शाम काका ने गावों की लम्बी वाली नाल को साफ किया फिर उसमें पानी भरा, उसने कतना शुरू किया हम लोगों ने सोचा कि ऐसे ही सफाई चल रही होगी। पर नहीं वह तो डाढ़ की एक लंगोटी पहने नंगे बदन सारी रात उस पानी में लेटे रहे। कल रात की सर्दी ठफ। जैसे उसे स्मरणमंत्र से दुरगरी हो आयी हो।' 'असली बात बता।' एक साँवले से तनिक खचाल लगने वाले लड़के ने अपनी आँखें मटकते हुए टोका। इसके पहले कि दोनों में नोक-झोंक हो जाती, उन्होंने हस के इशारे से शान्त करते हुए उसी साँवले बालक को कताने का संकेत किया।' उन्होंने मुँह सिलवा लिया बापू। मुँह सिलवा लिया।' अब तो उन्हें भी लज्जुब हुआ। महावरा तो सुना है मुँह सिलवाना पर कोई सचमुच में। किस चीज से सिलवाया है? नावें के तार से। कई लड़के एक साथ बोल पड़े।

अब की बार गाँधी जी को गम्भीर होना पड़ा। लोग जब कहते बापू तुम्हारे आश्रम में चोर से लेकर संन्यासी तक तरह-तरह के आदमी रहते हैं। आपने इंसानों का चिड़ियाघर खोल रखा है। सुनकर वह हँसते हुए मजाक में कहते चिड़ियाघर नहीं शिव की बरात है। नन्दी-भुंगी से लेकर भूत-बैताल, साँप-बिच्छू सभी हैं वीरभद्रों की भी भारी तबल है। भाँति-भाँति के इंसानी नमूनों में एक यह भी फिर कुछ सोचते हुए पूछा अच्छा इस समय क्या कर रहे हैं? नदी के पानी में दोनों हथ उठाए खड़े आकाश की ओर देख रहे हैं। बच्चों का जवाब था।

अपनी हलकी-सी शाल को लपेटते हुए वह बच्चों के साथ चल पड़े। कदमों के सहारे पगडंडी को माघते उनका चिंतन चक्र चल पड़ा। अनेक गुण हैं उसमें स्वाध्यायी है, विनयशील है, कर्मठ है, सन्तवादी है सधेप में एक महापुरुष के लिए जितने गुणों की अपेक्षा रहती है, प्रायः वे सभी हैं। यदि कोई दोष है तो यह कि हठी है, यों जीवन के अन्य विषयों में पारस्परिक व्यवहार में नीति परामर्श में। उसका हठ कहीं भी आड़े नहीं आता। इसके प्रकटीकरण का क्षेत्र तो एक ही है जिसे वह 'तप' कहता है।

'तप' कितना गहरा अर्थ छुपा है इस शब्द में। 'जीवन का, अर्थात् मन्वन का, ऊर्जीस्वतः के अर्जन का नाम है 'तप'। व्यक्तित्व के महसुसगार का मन्वन कर चौदह गुण रत्नों के प्रकटीकरण की प्रक्रिया है यह। पर - अन्वयक उनकी नजर सामने की ओर उठी। चारों ओर कोहरे की सफेद धुंध अभी भी पगडण्डी, खेतों-बुझ, वनस्पति और हक्के-दुक्के आने-जाने वालों को अपनी सुविस्तीर्ण चादर में नपेटती जा रही थी। सन्नाटे के बीच कभी-कभार नदी की लहरों की ध्वनि तरंगित हो जाती। आगे बढ़ गए बच्चों को पुकार कर पास बुलाकर स्नेहपूर्ण स्वरों में कहा साथ-साथ चलें। वह पुनः उनके बारे में सोचने लगे तप के नाम पर ही तो अपने शरीर को यातना देता है। कई बार उसे उन्होंने संकेत भी किए फिर वह कोई नासमझ तो नहीं है, जिसने इतिहास, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र तथा क्रैष विषयों में एम. ए. (अनर्स) किया हो। जो सेण्ट जेवियर कॉलेज में प्राध्यापक रहा हो।

इस ओर नहीं उस तरफ। एक बच्चे ने उनके कदमों को दूसरी ओर मोड़ा उस ओर जिधर इनके काका खड़े थे। वे सोचने लगे— 'कितना प्यार करते हैं ये सब बच्चे उसको। तभी तो ऐसी कड़ाके की ठण्ड में भी आकर उसे देख गए। मुझे लेकर आये। वह भी इन बच्चों के लिए जान देता है। जब होता है तब इन्हीं बच्चों के विकास का चिन्तन। बिना किसी आशा अपेक्षा के इनके हित में लगे रहना। प्रेम भाव है, दिव्य भाव, मनुष्य में विकसित देवत्व यह। जिस निस्सी भाव का स्वयं को विकास होता है, बाह्य जगत् से उसी का प्रतिदान मिलता है। जिसने अपने अन्दर मृणा पनपाई है, उसे बदले में मृणा के सिवा और कुछ न मिलेगा। जिसने अपने अस्तित्व को निचोड़ कर अमृत बिन्दु छिड़के सम्पूर्ण विश्व उसे अमृत कलश समर्पण करने में गौरव की अनुभूति करेगा।''

कमर तक पानी में खड़ा ठसकर निष्कम्प शरीर कोहरे को नेचकर झिलमिलाना दीख रहा था। 'ये रहे।' बच्चों का सघनेत स्वर गुँज उठा। नदी का जल अभी भी सफेद बुंध से ढका था। ये सब बिल्कुल पास जाकर खड़े हो गए। थोड़ी देर बाद हल्का सा कंपन हुआ। आकाश की ओर उसने हाथ जोड़े और पीछे की ओर मुड़ा। शाब्द उसने आज की उपासना पूर्ण कर ली थी। मुड़ने पर एकएक वह अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका दो-चार बार पलकें झपकीं। तो क्या बापू स्वयं? दिल की धड़कनें तेज हो गईं?

इस तरफ आ जाओ। कानों के अन्दर चिरपरिचित आवाज ने प्रवेश किया। अब तो अविश्वास का कोई मबल न था। धीरे-धीरे पानी को पार करता हुआ उनके पास आ पहुँचा। "धन्यशाली! क्यों इतनी तत्कालीक उठाने हो?" कहते हुए उन्होंने अपने शाल के अन्दर से एक सूखा कपड़ा निकाला उनके शरीर को पोंछना शुरू किया। आहिस्ते-आहिस्ते लम्बे के उस तार को निकाला जिससे उन्होंने अपने होठों की बीध रखा था। दूसरे क्षण ऊनी खटौती का एक मोटा कपड़ा उसे लपेटने को दिया। सम्भवतः वह इसे अपने सब लेकर चले थे। बच्चे मौन लड़ अपने कानों को देख रहे थे।

थोड़ी देर में सब साव-साव चल दिये। अग्रम की जानी पहचानी राह पर बच्चे उछलते-कूदते भग्न चले। आखिर उन्हें अपना विजय सन्देश सुनाने की जल्दी जो थी। धनशाली कानों को डिगाना और हिमालय को डिगाना एक। पर बापू की सहायता से सब कुछ... देखते-देखते बालकों का समूह ओझल हो गया।

इधर बापू कह रहे थे "धनशाली जिद छोड़ो, तपस्या हठ नहीं जीवन का शोधन है। वही तो करने की कोशिश कर रहा हूँ। शब्दों में बिधे होठों का कष्ट सुना था, जवाब में बापू ने वात्सल्य भरी झिड़की दी फिर वही बच्चों वाली बात, लगता है तुम लड़कों को पढ़ाते-पढ़ाते लड़के हो गए जिंदी लड़के। भले आदमी! हठ भर फाँदे की, नाँद में लेटने, तपती कालू में पड़े रहने, होठ सिलवा लेने से जीवन का शोधन कैसे होगा? उत्तर में एक चुप्पे थी, जिसे तोड़ते हुए गाँधी जी की कागुभाय पुनः बह चली। "जिस जीवन का परिष्कार कर सैकड़ों-हजारों लाखों क्षत-विक्षत जिन्दगियों में नए प्राण फूँके जा सकते हैं, जो परिष्कृत जीवन सहस्रों-सहस्र नर पशुओं को देव मानव की दीक्षा देने में समर्थ है उसी को तिल-तिल करके गलना परमात्मा की दिव्य धरोहर का अपमान नहीं तो और क्या है?"

वे बोल उठे "पर बापू मैं तो शास्त्र विधान के अनुरूप तप...।" वाक्य पूरा होने के पूर्व गाँधी जी ने टोका "शास्त्रों में गीता को पढ़ना भूल गए क्या? जिसके सत्रहवें अध्याय में इस शरीर यतना को अविचिकियों के द्वारा किया जाने वाला आसुर कर्म कहा है। पर छोड़ो अगत भाग्ये, कम्प्रे छोड़ो, गुफा दूँदो मनस्वियों के इसो पतनयन धर्म के कारण विधानों के विश्व उद्यान का बंटाघर हुआ है। जिस बगीचे के माली भ्रम आए तो परिणाम जानते हो बगीचे और फलियों का गाँधी ने तीव्र बेधक दृष्टि से उनकी आँखों में झाँका। कुछ पल रुक कर शिक्षक के स्वर में बोले बगीचे को बनते पशु रेंदेंगे। हंसते-खिलमिलाने फूलों को कुचले-गसले जाने के लिए विवश होना पड़ेगा और तप के राम पर युग धर्म से मुख मोड़ने वाले इन पलायन धर्मियों

को आत्मग्लानि के तुषान्त में जन्म-जन्मन्तर तक झुलसना पड़ेगा आज अपने देश की दुर्दशा, उसके जिस पर हो रहे सहस्रश आघातों का एकमात्र कारण इसके फलियों का पलायनवाद है।" बापू के स्वर गाम्भीर्य ने उसे सहम दिया। मानवता के लिए उनके दिल में अहर्निश उठने वाला पुगड़न से वह अपरिचित न था पर...

शायद उन्होंने अपने स्वर की तीव्रता स्वयं अनुभव कर ली। इसी कारण अपने को अपेक्षाकृत सहज करते हुए कहने लगे। योगेश्वर कृष्ण तप की व्याख्या करते हुए कहते हैं शरीर का तप है सेवा के लिए श्रम। बापी का तप है सत्य प्रिय हितकरक वचन और मन का तप है सौम्यता व विचारशीलता। हठ छोड़कर इसे अंगीकार करो- बदलो अपने मन की प्रवृत्तियों को।

वार्तालिपि के क्रम में नदी से आग्रम का एस्त कब पूरा हुआ इसका दोनों में से किसी को भान तक न होने पाया। उस दिन से प्रारम्भ हुआ इनका बभार्थ तप। खरिजन गंग इण्डिया का सम्पादन हो अथवा आटा चक्की चलना पूर्ण तन्मयता से आग्रम के हर छोटे-बड़े काम करते रहते। अग्रमवासी उनके इस परिवर्तित स्वरूप को देखकर चकित थे। १९४२ के अगस्त महीने में महिलाओं के रक्षणार्थ किए गए उनके सत्याग्रह ने सारे देश को चकित कर दिया। थिभुर स्थान में किए गए इस सत्याग्रह पर स्वयं गाँधी जी कह उठे जब कृष्ण प्रभुदास धनशाली ने मेरा सिर दुनिया में ऊँचा कर दिया। युगधर्म के निर्वाह के लिए 'कष्ट सहिष्णुता हो तप है।' इसी आदर्श के निर्वाह में उनका जीवन बीता। कल प्रवाह के बदले स्वरूप में आज हमारी बरी है इस तप का निर्वाह का अपने मार्गदर्शक का सिर ऊँचा करने की। ब्राह्मणोचित जीवन जी कर, ब्रह्म बीज की तरह गलकर सारी विश्वसुधा को ब्रह्म कपलों से सुबिकसित करने की।

समाज-सुधार के शंखोच्चारक— महात्मा ज्योतिबा फुले

२७ नवम्बर, १८९० की फल-कल जब उनके जीवन की अन्तिम साँसें चल रही थी उन्होंने अपने निकटवर्ती अनुयायियों को बुलाया। उन्होंने जीवन भर सामाजिक कुरीतियों के साथ विद्रोह किया था। आज उनके विश्वास का दिन था पर जैसे उनकी आत्मचेतना को तब तक विश्राम स्वीकार नहीं था जब तक इस देश का बध्वा-बध्वा भेद-भाव, जाति-पाँति, ऊँच-नीच की संकीर्णता से मुक्त नहीं हो जाता। जब तक इस देश की नारी अपना बथेह सम्पन्न और समानाधिकार प्राप्त नहीं कर लेती, जब तक एक भी विधवा इस संसार में भार रूप जी रही हो तब तक उस कान्तिकारी की आत्मा विश्राम लेना स्वीकार नहीं कर सकती थी। इसलिए उन्होंने अपने साधियों को सामने बैठाकर उसी प्रकार सपज्ञान प्रारम्भ किया जिस प्रकार एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को पाठ सिखाता है। चाइयो अपना देश धर्म और अपनी संस्कृति जब तक अपने पूर्व उज्ज्वल कीर्ति को नहीं पा लेती सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सत्याग्रह की आवाज को मन्द मत पड़ने देना।

अपने भीतर यही दर्द छुपाने हुए वह इस संसार से किंदा हो गये पर मरते मरते वह यह समझा गये— मनुष्य के लिये समाज सेवा में बढ़कर कोई धर्म नहीं। उससे अच्छी कोई ईश्वर उपासना नहीं। जो अपने समाज को ऊँचा उठाने में अपनी योग्यताओं, शक्ति, सुख और सुविधाओं का बलिदान कर सकता है वही सच्चा ईश्वरभक्त और लोकनायक है। दुनिया उसे चाहे बुरा कहे या विरोध करे वह सब निरर्थक है।

समाज के प्रति इतना प्रेम करने वाले वह महात्मा महाराष्ट्र में सामाजिक सुधार के अष्टि प्रवर्तक और पिता माने जाते हैं। उनकी सेवाओं के लिये न केवल महाराष्ट्र बल्कि सारा देश ही चिरन्तन तक अनुगृहीत रहेगा। उनका नाम था महात्मा ज्योतिबा फुले। ज्योतिबा का जन्म १८२७ में पूना में एक माली परिवार में हुआ था। वह सबसे पहले भारतीय थे जिन्होंने इस देश में समाज-सुधार और पद-उत्थितों के उत्थान का अभियान ही नहीं चलाया बल्कि धर्म और संस्कृति के सत्य स्वरूप की शोध के लिये भी एक महान् परम्परा का श्री गणेश किया। इतना बड़ा कार्य जो उन्होंने अकेले सम्पन्न किया वह किसी मिशनरी के बराबर का काम था। लोग आश्चर्यचकित हैं इतनी कठिन तपश्चर्या के कैसे कर सकें पर जिनके हृदय में दूसरों के लिये छोड़ी दया थोड़ी करुणा, आत्मभाव और प्रेम होता है, उसको आपूर्ति के लिये जो केवल बालें ही नहीं करते बल्कि मैदान में कूटकर एक सच्चे योद्धा की तरह लड़ने और संघर्ष भी करने की हिम्मत रखने हैं, उनके लिये यह उपलब्धि एक साधारण बात है।

सहायता देने तो उन्हें भगवान् देता है। सुविधाये मनुष्य कहाँ दे सकता है वह भी परमात्मा की ही प्रेरणा से जुड़ती है। सिद्धियाँ— मनुष्य की कर्मवृत्ति ही वह सिद्धि है जो बड़े से बड़ा घमटकर कर दिखाती है। ज्योतिबा जिस परिवार में जन्मे थे उसमें आज तक किसी ने उच्च शिक्षा नहीं पाई थी। उसमें उस परिवार का कोई दोष नहीं था। उन्हें बताया ही नहीं गया था कि तुम नीच वर्ग के हो तुम्हें शिक्षित होने का अधिकार नहीं है। पढ़ना, लिखना केवल कुलीनों की बपौती है। इस अन्धमान्यता के कारण ही हिन्दू जाति अपने संगठन को छोटी बौली और उसे सैकड़ों वर्ष लम्बी मुलामी के शिकवे में जकड़े रहने पड़ा।

ज्योतिबा के पिता ने कहा— मैं अपने बच्चे को अवश्य पढ़ाऊँगा चाहे मुझे सुखी रोटी खाकर ही गुजारा करना पड़े। दुर्भाग्यवश सन्तानें छोड़कर मैं भगवान् के सुन्दर संसार की कुरूपता नहीं बढ़ाना चाहता और इस तरह ज्योतिबा को उच्च शिक्षा के लिये मार्ग मिल गया जिस पर ये उसी निष्ठा से चले भी और यह सिद्ध कर दिखाया कि विद्या और ज्ञान किसी एक वर्ग की विरासत नहीं, वह तो साधन है और उसका लाभ कोई भी ले सकता है। उसका अधिकार सबको है। सभी अपनी आत्मा के उत्थान के लिये ज्ञानार्जन की इस प्रारम्भिक शर्त का पूरा कर सकते हैं इसमें समाज की अपनी ही भलाई है। अच्छे आदमियों की उससे संख्या ही बढ़ती है।

ज्योतिबा अभी स्वयुक्त ही थे। एक ब्रह्मण मित्र की शादी थी। मित्र ने बहुत अप्रह किया कि ज्योतिबा भी बारात में चले। ज्योतिबा

सहर्ष तैयार हो गये पर अभी बारात बीच रास्ते में ही थी कि वर के किसी सम्बन्धी को पता चल गया कि ज्योतिबा नाम का बाराती धाली है वह उसे माने सर्प ने काट लिया। पहले तो उसने जो धर कर अकूतों को बुरा-भूला कहा और फिर ज्योतिबा को बारात से चुपचाप लौट जाने की चेष्टावनी दी। मित्र के आग्रह को भी किसी ने नहीं माना उसे वह कह कर चुप कर दिया गया— तुम पढ़ लिख गये हो इसलिये धर्म को भी नहीं पहचानते। अच्छा होना तुम्हें पढ़ाया नहीं जाता तो जाति-प्राप्ति के बन्धनों का उल्लंघन करने की हिम्मत तो नहीं करते।

ज्योतिबा लौट आये पर एक टूफान और क्रान्ति की उत्साहा सेकर। उसके ब्रह्मण मित्र ने इस अपमान को सहा तो पर उसे अपने धर्म से ही धृष्टा हो गई। आज का तरुण वर्ग नास्तिक होना चला जात है इसका दोष उसको नहीं बल्कि इस संकीर्ण और दकियानूसी विचारों को हो है। जो फर्कताये मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं जिसमें इतनी संकीर्णता हो कि एक-ही परिस्थितियों में जन्मे एक को कुल और दूसरे को अकुल कहें। उसके वर्णस्व को स्वीकार भी कौन करेगा। भारतीय धर्म का पतन न हुआ होता यदि इस तरह के दम्पट, पाखण्डों और आत्म-प्रवचन पूर्ण कुरीतियों और मान्यताओं से उसे बना लिया गया होता।

ज्योतिबा ने निश्चय किया कि जब तक समाज में बुराईयाँ हैं तब तक मुझे केवल अपने बारे में सोचना भी पाप है। हम जिस जाति में जन्मे हैं उसके प्रति भी अपने कर्तव्य हैं ऊपर की पीढ़ी ने यह पाप किया है उसका फल हम भुगत रहे हैं पर आगामी पीढ़ी को उस दण्ड से बचाने के लिये यदि कुछ प्रयत्न नहीं करते तो हम भी इन पूर्वजों की तरह ही अपराधी होंगे। माना हमारा अपमान हुआ है पर यह हम तक ही तो सीमित नहीं है। इससे मनुष्यता भी तो कलंकित होती है इसलिये उसके उत्थान का कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए।

२१वर्ष के तरुण ज्योतिबा ने अब तक अपने घर के कर्तव्यों का पालन किया था। उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले अनपढ़ आई थीं। उन्हें एक-एक मिनट का समय निकालकर उन्होंने इस ख्याल से पढ़ाया था कि वह विचारवान साक्षी की तरह जीवन पथ पर कार्यात्मक सहयोग प्रदान कर सके।

२१ वर्ष की अवस्था जब लोग साधारण सुख और लौकिक लाभार्थों के लिये मचलते हैं जब ज्योतिबा फुले ने अपने सामाजिक दायित्व के लिये अपने आपको सम्पूर्ण साहस के साथ प्रस्तुत किया उनके निकटवर्ती सम्बन्धी ने मना किया— ज्योतिबा पहले तो अपनी हैसियत का विचार कर फिर अवस्था कर। सेवा करनी ही है तो उसके लिये भी एक अवस्था होती है। तेरी सुनेगा कौन ? तेरी मानेगा कौन ?

पर रस्ती भर निराश हुए बिना ज्योतिबा ने उत्तर दिया काका जी, नैपोलियन २३ साल की आयु में त्रिगेडियर बना था। इतनी ही अवस्था होगी कि शिवाजी ने कई किले मुगलों से छीन लिये थे सन्त ज्ञानेश्वर की अवस्था ही क्या थी जब उन्होंने ज्ञानेश्वरी टीका रचकर तैयार कर दी थी, यही अवस्था काम की है। काका अभी जिस

कार्य की आवश्यकता है उसके लिये आबु की प्रतीक्षा करने का अर्थ है हम उसे करना नहीं चाहते या हमारी सिद्धान्तबद्धिता केवल औरों को दिखाने के लिये है।

ज्योतिबा में साहस था और काम करने की लगन भी। इसलिये सहयोग भी अपने आप जुग। उनकी धर्मपत्नी सावित्री ने शिक्षा के महत्त्व को ध्यान लिया था क्योंकि वह दोनों स्थितियों में रह चुकी थीं उन्होंने अपने पति के इस कार्य में न केवल उत्साह बढ़ाया वरन् पूरा सहयोग भी दिया। दोनों ने मिलकर समाज सुधार का शंख निर्नादित कर ही दिया।

एक कन्याशाला की स्थापना की गई। पास-पड़ोस की बानी-पहचानी कन्याओं को जोड़ने में तत्पत्ति को जितना पश्चिम्प नहीं करना पड़ा उससे अधिक विरोध का सामना। ब्राह्मण वर्ग कन्याओं को स्कूल भेजने के पक्ष में न था इसलिये उनकी खुलकर आलोचना हुई, बार-बार झगड़ने तक की भी घमकी दी गई। पर ज्योतिबा ने कहा— 'नेक हस्ते पर पाई हुई मृत्यु से मुझे सन्तोष होगा। वे अपने रास्ते इटे रहे। नारी शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता पर लेख लिखे, वाचन भी दिये उससे पढ़ी-लिखी जनता को जोश उमड़ा और देखते-देखते वह कन्या पाठशाला धूम-धाम से चलने लगी, विरोधो अपना-सा मुंह लेकर रह गये। नारी शिक्षा के विस्तार के लिये वे लगे ही रहे और अन्ततः सारे महाराष्ट्र में नारी शिक्षा के व्यापक प्रसार में सफलता पाई। ब्रिटिश सरकार ने भी उनके इन प्रयत्नों पर काफी सहायता दी।

इसी बीच उनकी भेंट एक गर्भवती विधवा से हुई। उसकी कठ्ठन कहानी सुनकर ज्योतिबा का हृदय कण्ठा से भर गया। तब उन्होंने विधवा विवाह का प्रसार भी प्रारम्भ कर दिया। कई विधवाओं के विवाह उन्होंने स्वयं कराये और ऐसी विधवाओं और उनके बच्चों का आत्महीनता से बचाने के लिये उन्होंने एक अश्रम की स्थापना भी की जो भारतवर्ष में अपने ढंग की पहली संस्था थी। विधवा विवाह के लिये उन्हें कई बार अपमानित होना पड़ा पर इस पर उन्होंने दौकियानूसी समाज को करारी लतक देते हुए कहा— 'स्वयं तो कई-कई विवाह करें और स्त्री को सती बनाकर रखना चाहे यह कहाँ का न्याय है।' उनको इन कटुक्तियों का किसी के पास कोई जवाब न था। 'हैं कुत्त लोगो ने धार्मिक और शस्त्रों की दुहाई दी तो उन्होने वह अंश भी लोगों को दिखा दिये जिनमें पूर्व पुरुषों द्वारा विधवा विवाह का समर्थन किया है।

इस स्थिति पर पहुँचने के बाद ज्योतिबा ने अनुभव किया कि यह जितनी सामाजिक बुराइयाँ जड़ पकड़ रही हैं उनका एकमात्र कारण धार्मिक अन्धविश्वास है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर आज लोग उसके बाह्य कलेवर को पकड़ बैठे हैं इसलिये धर्म को सुधारना अत्यावश्यक है। उसी की पूर्ति के लिये उन्होंने 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की। इस संस्था का कार्य धर्म के वास्तविक स्वरूप की खोज और उसकी जानकारी सर्वसाधारण तक पहुँचाना नियत कर दिया। इस समाज ने अनेक धार्मिक सुधार किये। पहले ब्राह्मण ही कर्मकाण्ड कर सकते थे पर 'सत्य शोधक समाज' ने वर्ण

व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कर दिया तो फिर लोगों की हिम्मत बढ़ गई और दूसरे योग्य व्यक्तियों ने भी पौरुहित्य कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ईश्वर उपासना के लिये मध्यस्थ की अपेक्षा को भी फटकारा और उपासना और ईश्वर भक्ति को भी पुरुषार्थ बताकर लोगों में उसके लिये आन्तरिक प्रेरणाये जाग्रत कीं। यह समाज भारतवर्ष में धार्मिक स्वदिव्यदिताओं का पर्दाफाश करने वाली पहली संस्था थी। उसके माध्यम से ज्योतिबा ने समाज को एक नया प्रकाश दिया और इस तरह हिन्दू धर्म का ज्ञान शिक्षितों में भी जाँविल बना रह सका। यदि यह अनुभव न हो रहे होते तो कौन जाने आज भारतवर्ष पूरी तरह नास्तिक हो गया होता। इस तरह ज्योतिबा ने अपना सारा जीवन ही धर्म और समाज की सेवा में खपाकर उसे एक नई ज्योति दी।

भारतीय संस्कृति को नवजीवन प्रदान करने के लिये आज अनेको तरह ज्योतिबाओं की आवश्यकता है। उनका जीवन दर्शन किसी में ऐसी कसक पैदा कर सके तो यह धर्मों कि अभी लोगों के हृदय में अपने महापुरुषों का मान और आदर जीवित है।

भारतीय संस्कृति के अनन्य आराधक— पं. गोपीनाथ जी कविराज

बटना सन् १९११ की है। काशी के क्वीन्स कॉलेज में एक अत्यन्त ही मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र ने एम. ए. के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। उस समय क्वीन्स कॉलेज के आचार्य थे डॉ. वेनिस जो नयी प्रतिभाओं को अपनी पारखी निगाहों से तुरन्त पहचान लेते थे और उसे आगे बढ़ने के लिए दिशाबोध कराने के साथ-साथ प्रोत्साहन भी देते थे। जिस छात्र की चर्चा उपरोक्त पंक्ति में की गयी है उसकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय डॉ. वेनिस को भी मिला। तो उन्होंने छात्र को अपने संपर्क में आने का अवसर दिया और उस संपर्क के दौरान वे छात्र की प्रतिभा क्षमता को सौलते रहे। उन्होंने देखा दर्शनशास्त्र, संस्कृति और प्राच्यभाषाओं में छात्र की अभिरुचि जैसे निसर्गजात है तो डॉ. वेनिस ने एक दिन कहा— "गोपीनाथ। मैं बहुत दिनों से कहना चाह रहा हूँ कि तुम यदि दर्शन, साहित्य और प्राच्य भाषाओं के साथ प्राच्यविज्ञ और पुरातत्त्व का भी अध्ययन करो तो वह तुम्हारे लिए अधिक लाभदायक होगा।"

गोपीनाथ ने डॉ. वेनिस के परामर्श की गुरुता को समझा और उसके महत्त्व को स्वीकार किया। इस परामर्श को स्वीकार कर गोपीनाथ ने प्राच्यदर्शन, प्राच्य कला, प्राच्य संस्कृति का अध्ययन आरम्भ किया। यद्यपि आगे चलकर उस छात्र के निर्माण में अन्य तत्व भी सहायक हुए किन्तु उस तरह के व्यक्तित्व की नींव डॉ. वेनिस के परामर्श से ही जमी। किसी के द्वारा दिशाबोध कर देना और प्रेरणा प्रदान करना अलग बात है किन्तु उस दिशा में बढ़ते रहने का सहस्र जुटाना तथा मनोबल अर्जित करना उससे आगे की ओर श्रमसाध्य साधना ही है। उस साधना को सफलता के द्वार तक लेकर पहुँचने वाले डॉ. गोपीनाथ कविराज अपनी साधना निष्ठा के बल

पर स्वयं भी अकल्पित उपलब्धियाँ प्राप्त कर सके हैं और समाज को भी उन्होंने बहुत कुछ दिया है।

अब तक भारतीय आर्य साहित्य और योगविद्या को तथ्यावधिगत प्रगतिशील गुरुद्वय और अन्धविश्वास का ही फलवा देते रहे हैं। दोष उनका भी नहीं है—क्योंकि इस क्षेत्र में भूर्तल और पाश्चात्त्य की छलनीति अपनाकर अनेकों निहित स्वार्थी योगविद्या का मसौल उड़ाने जैसे करतब करते रहे हैं। इसे करण योगविद्या और प्राचीनकाल प्रणीत साधना विज्ञान को भी लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे। डॉ. गोपीनाथ कविराज ने योगविद्या, तंत्रशास्त्र के गुह्य आचार्यों का प्रस्तुतीकरण न केवल वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किया बल्कि भारतीय संस्कृति के तुल्य तत्त्वों को भी प्रकाश में ला दिया।

क्वीन्स कॉलेज में डॉ. गोपीनाथ कविराज ने अपने जीवन की जो दिशा ग्रहण की उस दिशा में बढ़ते रहने के लिए सख्त प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहीं पर वे अविचल होकर धैर्यपूर्वक उसी दिशा में बढ़ते रहे। उनका जन्म ७ सितम्बर, १८८७ को बंगाल (अब बंगला देश) के धामराई ग्राम में हुआ था। जन्म से ही गोपीनाथ जी को केवल माता की गोद ही दिखाई दी। पिता की छवि कैसी होती है इसका कोई लौकिक अनुभव उन्हें नहीं हो सका। उनके जन्म के पाँच माह पूर्व ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। उनके पिता बैकुण्ठनाथ बड़े ही धार्मिक स्वभाव के थे—परन्तु वे अपने इस होनहार लाडले का मुँह देखने के लिए भी जीवित नहीं रह सके थे। चार माह की गर्भवती माता सुखद सुन्दरी को असमर्थ ही वैधव्य का सामना करना पड़ा और वह—निर्बल के बलराय को अम्बा का आश्रय लेकर भजन-पूजन में व्यस्त रहते हुए अपने दुःख का भार ढोने का प्रयत्न करने लगीं।

गर्भवती माता के मनोभावों का प्रभाव मूलकाल पर भी संस्कारों के रूप में पड़ा। बाद में पति के अभाव में सुखद सुन्दरी को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा उन्हें सहने की शक्ति भी वह भजन-पूजन में रत रहते हुए प्राप्त करने लगीं। इस प्रकार बालक गोपीनाथ को प्रारम्भ से ही धार्मिक, आध्यात्मिक वातावरण मिला।

गोपीनाथ जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा धामराई में ही हुई। आगे पढ़ने के लिए माँ ने उन्हें कलकत्ता भेज दिया। कलकत्ता में रहकर उन्होंने मैट्रिक तक की शिक्षा प्राप्त कर ली। बालक गोपीनाथ के मन में अपने परिवेश और अपनी पारिवारिक परिस्थितियों का प्रभाव यह हुआ था कि मुझे अपना निर्माण स्वयं करना है। पिता की छत्र-छाया नहीं है इसलिए किसी का पूर्ण संरक्षण मिल सकेगा—वह सोचा भी नहीं जाना चाहिए। इस प्रक्रिया ने गोपीनाथ को बचपन में ही स्वयं के प्रति उत्तरदायी, मेहनती, ध्येयनिष्ठ और लगनशील बना दिया था। जब उनके अन्य सहपाठी, मित्र तथा परिचित खेलकूद में व्यस्त रहते तो गोपीनाथ जी अपने निर्धारित दिनचर्या कार्यक्रमों के अनुसार पढ़ाई में व्यस्त रहते थे। माँ से विरासत के रूप में उन्हें आस्तिकता और ईश्वरनिष्ठ के सम्कार तो मिले ही थे, सो वे पढ़ने-लिखने और अन्य कार्यक्रम निबटाने के साथ-साथ भजन-पूजन और ध्यान-उपासना भी किया करते। धर्म और आध्यात्म के प्रति वे जिज्ञासु

भी थे—अतः जब कभी कोई जिज्ञासा होती तो उसका समाधान करने के लिए वे अपने से बड़ी के पास भी जाते।

यद्यपि गोपीनाथ जी को अपने पिता के न होने से कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था परन्तु बैकुण्ठनाथ जी के मित्र स्नेही उनके पुत्र की यथासम्भव सहायता भी किया करते थे। कुछ तो उनका बड़ा ध्यान भी रहते थे। उनके हितैषियों ने कविराज जी की प्रतिभा को भी पहचाना और वे निरन्तर उन्हें सहस्र व धैर्य बँधाया करते। उन्होंने दिनों कलकत्ता में मलेरिया फैला। आजकल तो चिकित्सा साधनों का बहुत विकास हो जाने के कारण मलेरिया से तीन-चार दिनों में ही छुटकारा पाया जा सकता है। पर उन दिनों वैसी बात नहीं थी। चिकित्सा साधन उसने सुलभ तो थे नहीं, अतः जब भी किसी को मलेरिया हो जाता था वह हफ्तों तक बिस्तर पर पड़ा रहता और महीनों उसका प्रभाव बना रहता। कलकत्ता में कविराज जी मलेरिया के शिकार हो गये और काफ़ी दिनों तक बीमार रहे। उनके हितचिन्तक उन्हें कलकत्ता से हटाकर जयपुर ले आये और ठीक होने के बाद शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया।

जयपुर से इण्टर और बी. ए. की परीक्षा पास करने के बाद कविराज जी सरस्वी आ गये और वहाँ एम. ए. में भर्ती हुए। जहाँ डॉ. वेनिस ने उनके व्यक्तित्व को संवारने में महत्वपूर्ण सहायता दी। डॉ. वेनिस कविराज से बहुत प्रभाव रखते थे। स्वयं में निष्ठा और लगन होने के कारण परिस्थितियों से भी अयाचित सहयोग मिलता था और इस प्रकार सन् १९१३ में कविराज जी ने एम. ए. की परीक्षा पास की। उन्होंने पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर लाहौर तथा जयपुर विश्व-विद्यालयों ने तार देकर उन्हें तुरन्त अपने वहाँ आमंत्रित किया और अध्यापक के पद पर काम करने का प्रस्ताव रखा। कविराज जी के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था परन्तु अब तक तो उन्होंने अपने जीवन का एक सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित कर लिया था—वह था भारतीय संस्कृति की तुल्य कड़ियों की खोज और उनका उद्घाटन।

इस प्रस्ताव पर निर्णय लेने के लिए उन्होंने डॉ. वेनिस से भी परामर्श किया तो वेनिस ने सुझाव दिया कि इस पद को स्वीकार कर तुम आर्थिक दृष्टि से भले ही सुविधा में रहें परन्तु तुमने अपने लिए जो कार्यक्षेत्र चुना है उसमें यह कार्य बाधा ही उत्पन्न करेगा। गोपीनाथ जी का विवेक भी इसी बात की गवाही दे रहा था सो उन्होंने अध्यापक के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए क्वीन्स कॉलेज में ही रहकर अनुसंधान तथा अनुशीलन जारी रखा। इसके साथ ही कविराज जी रहस्यवादी साहित्य का अध्ययन भी करते रहे। रहस्यवादी और आध्यात्मिक साहित्य का अनुशीलन करते हुए ही अग्रे आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन भी हुआ इस दिशा में उनकी गहरी रुझान एक घटना से प्रेरित थी।

सन् १९१२ की बात है। वे आर्यशास्त्र प्रदीप नामक पुस्तक पढ़ रहे थे। पुस्तक इतनी प्रेरक और प्रभावपूरित थी कि लगता था वह आध्यात्म विद्या का विश्वकोश ही है। आध्यात्म विद्या पर इतना

उच्चकोटि का ग्रन्थ देखकर कविराज जी बड़े प्रभावित हुए, वहीं उन पर इसका और भी ज्यादा प्रभाव पड़ा कि इस पुस्तक पर लेखक का नाम कहीं भी नहीं छपा था। उनके मन में विचार आया कि इतने उच्चकोटि का ग्रन्थ लिखने वाले व्यक्ति से यदि सम्सात्कर हो सके तो आध्यात्मिक-विद्वान् के और भी महत्वपूर्ण तथ्य जाने जा सकते हैं। इसलिए उन्होंने आर्यशास्त्र प्रदीप के लेखक का नाम-पता खोजने का प्रयास किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। एक बार जब वे जयपुर आये तो उन्हें पता चला कि उस ग्रन्थ के प्रणेता श्री शिवराय किन्नर हैं और वे काशी में रह रहे हैं। वे वापस काशी आये और पता लगाते लगाते जब शिवराय किन्नर जी के निवास पर पहुँचे तो देखा साधुवेष्ट में एक प्रसन्न बदन नेत्रोन्मय मुखयण्डित व्यक्ति ग्रन्थों से घिरा बैठा है। उनका दर्शन कर कविराज जी जैसे प्राचीनकाल के ऋषि महर्षि के सम्पर्क में पहुँच गये हैं। धीरे-धीरे शिवराय किन्नर जी और कविराज जी में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया।

कविराज जी के जीवन को पहला आध्यात्मिक मोड़ शिवराय किन्नर जी के सम्पर्क सान्निध्य से मिला और फिर स्वामी विशुद्धानन्द के सम्पर्क में आये तो जैसे उनका आध्यात्मिक कायाकल्प ही हो गया। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कविराज को सुषुप्त और प्रतिभसम्पन्न पुरुष योग-विज्ञान के रहस्यों की सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक शिक्षा भी दी और कविराज जी की योगसाधना का सतत विकास होता गया।

स्वामी विशुद्धानन्द का पहला सम्पर्क उन्हें सन् १९१८ में प्राप्त हुआ था। इससे पूर्व ही कविराज जी प्राचीन तन्त्रविद्या और योग विज्ञान की शोध अपने हाथ से कर रहे थे। परन्तु योग्य गुरु के सम्पर्क सम्बन्ध ने तो इन्हें जैसे कल्पवृक्ष के नीचे बैठने का अवसर उपलब्ध करा दिया था। अब कविराज जी यौगिक साधनाओं में भी प्रगति करते हुए भारतीय आगम्य के पुनरुद्धार की संस्कृति साधना करने लगे। उन्होंने इस उद्देश्य से काशी में सरस्वती भवन ग्रन्थालय का भी सुप्रपात किया जिसके अनर्गल संस्कृत साहित्य के अनसुर पहलुओं पर प्रकाश डाला गया। सन् १९३७ में उन्होंने अपने सध्व विभागीय दायित्वों से अवकाश ले लिया और विशुद्ध रूप से योग विज्ञान की पुनर्शोध में ही अपना सारा समय लगाने लगे। उनका कहना था— 'योग की मुख्य वस्तु प्राकृत नेत्रों से नहीं दिखाई देती। विज्ञान के प्रयोगों का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राचीनकाल में भारत में योगविद्या का बहुत प्रचार था उसी से यह देश आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति के क्षेत्र में भी पराकाष्ठा तक पहुँच सका। विज्ञान में आज जिस आकर्षण शक्ति को इतना महत्व दिया जा रहा है उसका मूल योग के सहमे बड़ी सरलता से फकड़ा जा सकता है और उस रहस्य को जान लेने पर चंद्र, मरुत, वायु, पृथ्वी आदि के विज्ञान करतलगत से हो जाते हैं।'।

इन प्रतिपादनों को हवाई उड़ान नहीं कहा जा सकता। तर्क, तथ्य और प्रमाणों के आधार पर कविराज जी ने अपने प्रतिपादनों को पुष्ट किया। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म विज्ञान की इन सेवाओं को सम्मानित करते हुए कविराज जी को भारत सरकार ने महामहोपाध्याय की उपाधि दी थी। स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें विशिष्ट विद्वान् के लिए प्रशस्ति पत्र देकर भी सम्मानित किया।

२२ जून, १९७६ को उनका देहान्त हो गया। परन्तु अपने वैयक्तिक स्वर्णों को तिलांजलि देते हुए उन्होंने संस्कृति, योग, सत्त, पुरुषतत्त्व, इतिहास आदि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की जो सेवा की वह उन्हें चिरकाल तक अमर रखेगी।

तैलंग स्वामी का अद्भुत योगबल

तैलंग स्वामी अन्ध प्रदेश के निवासी थे। वे योगशास्त्र में निष्कन्त थे और उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों से इस विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। उनका धर्मसक दूकब बाल्यावस्था से ही वैराग्य की तरफ था और वे अविवाहित रह कर धर्म-साधना करने के इच्छुक थे, पर माता के बहुत अधिक आग्रह करने पर उन्होंने विवाह कर लिया और जब तक माता जीवित रहें वे गृहस्थाश्रम का निर्वाह करते रहे। पर जैसे ही माता की मृत्यु हुई और उन्होंने इमरान में जाकर उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया, उसी समय उन्होंने अपना संसार त्याग का निश्चय सब पर प्रकट कर दिया। उन्होंने इमरान भूमि से घर लौटना भी स्वीकार नहीं किया और अपने हिस्से की समस्त जायदाद अपने सौतेले भाइयों को देकर वहाँ कुटी बनाकर रहने लगे उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी और नाम शिवराय था।

कुछ समय बाद वे तीर्थयात्रा को निकल पड़े। घूमते-घूमते उनकी भेट एक बृद्ध साधू से हुई, जो योग विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसने भी इन्हें योग्य अधिकारी देखकर सच्चे हृदय से शिक्षा देना आरम्भ किया। कुछ समय बाद उसी से संन्यास की दीक्षा लेकर ये तैलंग स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुये।

गुरु का देहान्त होने पर कुछ वर्षों तक वे सेतुबन्ध रामेश्वर और नेपाल में रहे पर दोनों जगह उनकी योग-विद्या के चमत्कारों की बात फैल गई और उनके दर्शनों के लिये लोगो की भीड़ जमा होने लगी। इससे उनको बड़ी असुविधा हुई और योग-साधना में विघ्न पड़ने लगा। तब वे तिब्बत की तरफ चले गये। वहाँ पान सरोवर के तट पर रहकर उन्होंने बहुत समय तक योगाभ्यास किया। जब उनके सिद्धि प्राप्त हो गईं तो वे वहाँ से चलकर मोक्ष-भाष काशी नगरी में पधारे कुछ समय तक तो वे दशाश्वमेध घाट पर निवास करते रहे और अन्त में पंचगंगा घाट पर योगाश्रम बनवा कर वहीं रहने लग गये। उसी आश्रम में वे जिज्ञासुओं को योग विद्या की शिक्षा दिया करते थे और अभावग्रस्त लोगों की सहायता भी करते रहते थे।

बंगाल के हुगली जिले में त्रीपपुर नाम का एक गाँव है। उसमें जब गोपाल नाम का व्यक्ति निवास करता था। उसके मन में वैराग्य का उदय होने से वह घर-बार की सब व्यवस्था अपने पुत्रों के सुपुर्द करके काशीधाम में चला आया। उसने पहले से ही तैलंग स्वामी का नाम सुन रखा था। काशी आने पर वह दर-दर राज स्वामी जी के दर्शनों के लिये आया करता था और थोड़ा फल, फूल और दूध उनके लिये ले जाता था। इस प्रकार बराबर जाते रहने से स्वामी जी की

कृपा दृष्टि उस पर रहने लगी। एक दिन उसने स्वामी जी से कहा कि "आज न जाने क्यों मेरी छाती धड़क रही है और भबराहट हो रही है। इससे मुझे शक होती है कि कोई अशुभ घटना न हो।" स्वामी जी ने कहा कि "मैं अभी तुम्हारे घर का समाचार मंगावे देता हूँ।" यह कह कर उन्होंने जरा देर के लिये आँखें बन्द कर लीं और फिर जय गोपाल से कहा कि "तुम सध्या के समय भोजन करके यहाँ आना।" जब वे संध्य समय वहाँ आये तो स्वामी ने कहा कि आज प्रातः तुम्हारे बड़े पुत्र की देजा से मृत्यु हो गई है। वह सुन कर जय गोपाल बड़ा व्याकुल हो गया। तब स्वामी जी ने उसे ससार की असारता का उपदेश दिया जिससे उसे कुछ जाति प्राप्त हो गई। रात्रि के समय निद्रावश हो जाने पर उसके अपना पुत्र दिखलाई पड़ा। दूसरे दिन उसने अपने घर को 'अरजेंट' तार भेज कर समाचार मंगाये तो उत्तर आने पर मालूम हुआ कि स्वामी जी का कथन अश्वरश-सत्य था।

काशी में आने के बाद स्वामी जी चार माड़े की कतु में खोजन और निद्रा का त्याग करके दो-दो, तीन-तीन दिन तक गंगाजी के जल पर पड़े रहते और कठिन से कठिन गर्मों के मौसम में तपे हुये पत्थरों पर बैठे रहते। वे भिक्षा माँगने किसी के घर नहीं जाते, जो कुछ भक्त लोग आश्रम में आकर दे जाते उन्हें को संतोषपूर्वक ग्रहण करते। एक बार एक दुष्ट स्वभाव के मनुष्य ने उनकी परीक्षा लेने के लिये आधा सेर घूने को पानी में घोलकर दूध की तरह बना दिया और स्वामी जी के सामने रखकर विनम्रपूर्वक कहा "महाराज यह दूध आपके लिये लाया हूँ।" स्वामी जी ने तत्काल ही पहचान लिया कि वह घूना है, तो भी बिना कुछ कहे बर्तन को उठाकर सबका सब पी गये। उस आदमी को भय लग्न कि जब इनको मालूम होगा कि यह घूना है तो यह क्रोधित होगे और कदाचित् मुझे मार बैठेंगे। इससे वह कुछ पीछे हटकर बैठ गया। पर स्वामी जी घूना पीकर भी पूर्ण शान्त बने रहे और उन्होंने जरा-सा मुँह भी नहीं बिगाड़ा यह देख कर उसे बड़ा परचाताप हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगने लग्न। पर स्वामी जी ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न देकर वह सब का सब घूने का पानी उलटी करके बाहर निकाल दिया। उनकी सामर्थ्य देखकर वह दुष्ट चकित होकर बैठा रह गया।

एक बार काशी के राजा का एक अफसर नाव द्वारा रामनगर से बनारस आ रहा था। उस समय तैलंग स्वामी पद्मसन लग्न कर जल के ऊपर तैर रहे थे। इस अफसर ने मत्लाहों से इनके विषय में पूछा और प्रशंसा सुनकर इनको अपनी नाव में बैठा लिया। उसने इनसे कुछ प्रश्न किये, पर स्वामी जी सुपचाप गूँगे-बहरे की तरह बैठे रहे। जब नाव बीच धारा में पहुँची तो स्वामी जी ने उस अफसर की तलवार, जो बड़ी सुन्दर और बहुमूल्य थी, देखने को माँगी। न जाने कैसे वह उसी समय हाथ से छूटकर गंगाजी में गिर पड़ी। इस पर वह अफसर बड़ा नाराज हुआ, क्योंकि वह उसे किसी बड़े अंग्रेज की तरफ से गैटस्करूप प्राप्त हुई थी। इतने में तब किनारे पर आ लगी। वहाँ स्वामी जी का एक मुख्य शिष्य उपस्थित था। उसने अफसर को गुस्सा होकर बकते हुये देखा तो कहा कि "आप

नाराज न हों, मैं गौताखोरों को बुलकर गंगाजी में से तलवार निकलवा दूँगा।" स्वामी जी ने जब देखा कि उनका शिष्य बहुत दुःखी हो रहा है तो उन्होंने गंगाजी में हाथ डाला और तीन तलवारें निकाल कर अफसर के हाथ में रखीं कि इनमें से जो तुम्हारी हो उसे पहचान कर ले लो। यह चमत्कार देख कर अफसर तो चौंक्कर रह गया और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगने लग्न। अफसर ने अपनी तलवार पहचान कर ले ली और शेष दो तलवारें स्वामी जी ने पुनः पानी में फेंक दीं।

एक दिन पृथ्वींगिरि नाम के साधु का शिष्य इनसे मिलने को आया। उस समय स्वामी जी के पास बहुत-से व्यक्ति बैठे हुये थे जो झींझेर में वे दोनों लोगों के देखते-देखते अदृश्य हो गये। लगभग आध घंटे बाद स्वामी जी तो अपने स्थान पर फिर दिखाई देने लगे, पर पृथ्वींगिरि का शिष्य वहाँ दिखालाई न पड़ा।

तैलंग स्वामी एक सिद्ध योगी थे, यह ऊपर दिये चमत्कारों से भली प्रकार विदित होता है। उनमें हर तरह की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ थीं, पर उन्होंने उनके द्वारा सिखाए लोगों के उपकार के अपकार कभी नहीं किये और अपने साथ शत्रुभाव रखने वालों को भी कभी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई। इससे वह भी प्रकट होता है कि वे केवल योगी ही न थे वरन् एक सच्चे सन्त और साधु भी थे। अपनी मृत्यु का समय आने पर उन्होंने अपने सब शिष्यों तथा भक्तों को एक दिन पहले ही उसकी सूचना दे दी थी। उसके अनुसार संवत् १९४४ (सन् १८८७) के पौष सुदी ११ के दिन सध्या के समय उन्होंने योगसन पर बैठकर चित्त को एकाग्र करके देह त्याग किया ऐसा कहा जाता है कि उस समय उनकी आयु २८० वर्ष की थी।

संत चतुर्भुज के संकल्प से हुआ कायाकल्प

नर्मदा तट पर बसे एक गाँव मेखलमती में एक धर्म सभा आयोजित की गयी। उसी दिन यहाँ मंत्र दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुए थे। बहुत बड़ी संख्या में ग्रामवासियों ने पशुबलि न करने का संकल्प लिया था और काली के स्थान पर गायत्री महाशक्ति की उपासना का व्रत लिया था। धर्म सभा का आयोजन उन्हीं के उद्बोधन के लिए हुआ था।

बात उस समय की है जब गोंडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से पशुहिंसा का प्रचलन था। काली को प्रसन्न करने के नाम पर निरीह जीवों की हत्या का क्रम इस तेजी से चलता था कि नवरात्रियों पर कई बार एक-एक लाख पशुओं तक का देवबलि के नाम पर बलि कर दिया जाता था। इन्हीं दिनों वहाँ चतुर्भुज नामक एक महापुरुष का अवतरण हुआ। वे उपासना के नाम पर होने वाली ऐसी निर्दय जीवहिंसा देखकर द्रवित हो गये। उन्होंने लोगों को बहुतेरा समझाने का प्रयत्न किया किन्तु समर्थ को मानने और प्रभावशील व्यक्तित्व का आदेश स्वीकारने की अनादि काल से चली आ रही परम्परा झूठी कैसे होती? प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्राणपूर्ण वाणी ही जन दिशा

घोड़ती है। उसके अभाव में अत्यन्त कठमर्द चतुर्भुज का भी कोई प्रभाव पड़ा नहीं।

तब उन्होंने विधिवत गायत्री उपासना प्रारंभ की। गायत्री उपासना से उन्हें न केवल आत्मबोध हुआ, वरन् वह शक्ति भी मिली जिससे दूसरों को प्रभावित कर पाते। उनकी बाणी में वह शक्ति उभरी जिससे सुनने वाले ठगे से रह जाते। गायत्री उपासना से विमल हुई बुद्धि में विद्वान्ता की तीव्र धार चढ़ती चली गयी जिससे अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्य एक के बाद एक परन्तों की तरह खुलते चले गये। प्रतिफल यह हुआ कि बड़ी संख्या में लोग उनसे दीक्षा ग्रहण करने लगे। उन्होंने लोगों को बताया कि महाकाली गायत्री की ही एक शक्ति धारा है जिसका अर्थ पशु प्रवृत्तियों का उन्मूलन होता है—पशुवध नहीं, फलान गौडवाना प्रदेश का वह कस्तक सूटा और लोग गायत्री महाशक्ति की सात्त्विक दक्षिणमार्गी उपासना में प्रवृत्त हो सके। चतुर्भुज ने सर्वत्र घूम-घूमकर गायत्री उपासना की दीक्षा दी और इस अन्धकार के युग में भी इस महाविद्या को विनष्ट होने विलुप्त होने से बचा लिया।

जिस समय यह सभा चल रही थी, श्रौताओं में चोरी के माल सहित एक चोर भी उत्कण्ठावश आ बैठा। उसी सभा में वह व्यक्ति भी उपस्थित था जिसके यहाँ चोरी हुई थी, संत ने कहा—गायत्री सदबुद्धि की, सद्-विवेक की, ज्ञानमय प्रज्ञा की देवी है। इसका अवलम्बन लेने वालों का मन पाप-पेन्ड में कभी नहीं लिपटता। गायत्री दीक्षा का अर्थ ही है—दूसरा जन्म अर्थात् पापपूर्ण अन्धकार मय जीवन का अन्त और पवित्र प्रकाशपूर्ण जीवन का आरंभ। यद्यपि वह चोर को पहचान नहीं सके तथापि चोर के मन में संत की बाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपने कृत्य का वहीं प्रायश्चित्त करने का निश्चय कर लिया। जैसे ही सभा विरामित हुई उसने चोरी का सारा सामान उनके चरणों पर रखते हुए स्वीकार किया कि उसने अभी तक अनेक अपराध किये हैं, उसकी सजा भुगतने के लिए वह तैयार है।

संत ने चोरी का माल जिसका वह उसे लौटा दिया और चोर से प्रायश्चित्त स्वरूप कुछ चन्द्रायण करा कर उसे शुद्ध कर दिया।

गौडवाना नरेश उस दस्यु को अपनी सारी शक्ति लगाकर भी नहीं पकड़ पाये थे। जहाँ-कहीं भी उसका पता चलता, पकड़ने के प्रयास किये जाते, पर वह किसी के हाथ नहीं आता। संत चतुर्भुज के सामने आत्मसमर्पण करने और दीक्षा ग्रहण कर साधनारत होने का समाचार पाकर वे स्वयं भी जन-सभा में उपस्थित हुए। गायत्री उपासना से विनम्रित संत की तेजस्विता देखकर वे पराभूत हो उठे और उन्होंने स्वीकार किया कि लोगों का हृदय परिवर्तन राजतंत्र से नहीं आध्यात्मिक धरातल पर ही सम्भव है। सो उन्होंने भी विधिवत गायत्री उपासना की दीक्षा ग्रहण की और माँसाहार जैसी दुष्प्रवृत्ति का परित्याग किया।

तेजस्वी संत के समक्ष दस्यु द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने एवं नरेश द्वारा स्वयं दीक्षा ग्रहण करने का सम्न्धार सारे प्रान्त में आग की तरह फैल गया। अब तो जन-जन में उत्साह की लहर दौड़ गयी। लोग देव साक्षी में अपनी बुराइयों की बलि देने लगे और इस तरह

पूरे गौडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से लगा पशु-हिंसा का पाप पूरी तरह धुल कर स्वच्छ हो गया।

गौडवाना प्रदेश में विद्या व्यस्त जाग्रत हुआ। लोग अभ्यवसायी बने। देखते-देखते यह प्रान्त देश का समुन्नत और साक्षर क्षेत्र बन गया। संत चतुर्भुज की गायत्री उपासना का फल उस क्षेत्र की उन्नति के रूप में उभरा। सारे प्रदेश की जनता ने अपना दूसरा जन्म हुआ अनुभव किया। लोगों ने जेब-हिंसा से विरत करने और उनका कयाकल्प करने का संत का संकल्प पूरा हुआ।

भक्त जलाराम—सत्कर्म कभी अधूरे नहीं रहते

भक्त जलाराम सौराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत पुरुष थे। वे न तो कोई विद्वान् थे और न कोई बहुत बड़े साधक, योगी ही थे। उनका समस्त जीवन एक स्मभारण गृहस्थ की धौत व्यतीत हुआ और उन्होंने 'अन्नदान' को ही अपना एक प्रमुख कर्तव्य निश्चित कर लिया। परमात्मा की कुछ ऐसी कृपा हुई कि बीच-बीच में अनेक बार किन्त बाधएँ आने पर भी उनका अन्न क्षेत्र अभी तक बराबर चल रहा है। इस क्षेत्र में उनके द्वारा न मालूम कितने स्त्रात्र मन आज भिक्षुकों, साधुओं और धुखे लोगों को विनरण किया जा चुका होगा।

भक्त जलाराम का जन्म वीरपुर ग्राम (राजकोट) में संवत् १८५६ में हुआ था। उनके पिता प्रधान ठक्कर तथा माता राजबाई सीधे-सच्चे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। काल्पावस्था से ही उनके हृदय में भक्ति का पौधा उत्पन्न हो गया था और ठठले-बैठले, सोते-जागते भगवान् नाम की ध्वनि करते रहते थे। कहते हैं जिस समय वे बालक ही थे, गिरनार पर्वत के एक संत इनको देखने आये थे और उनसे भेंट होने के बाद इनका भक्तिभाव विशेष रूप से बढ़ गया। सोलह वर्ष की आयु में इनका विवाह वीरबाई नाम की सुशीला कन्या से कर दिया गया। आरम्भ में तो इन्होंने अनिच्छा प्रकट की, पर परिवार वालों का आग्रह देखकर अधिक विरोध नहीं किया। भगवान् की कृपा से पत्नी भी इनको अपनी ही जैसी मिली जिसने इनके धर्म-पालन में कभी तनिक भी बाधा नहीं डाली वरन् कठिन से कठिन परीक्षा के अवसर पर भी इनको पूर्ण सहयोग दिया।

जैसे-जैसे वे बड़े होते जाते जा रहे थे इनकी दानवृत्ति बढ़ती जा रही थी। जो कोई साधु-संत आकर खजना करता उसी को यह खेजन्, वस्त्र आदि प्रदान करने को तैयार रहते थे। यह देखकर इनके पिता ने कहा कि इस प्रकार दान करना घेरी सामर्थ्य के बाहर है। इसलिये उचित यही है कि तू अलग रह और तब इच्छानुसार दान-धर्म किया कर। जब वे अपनी पत्नी को लेकर घर से निकले तो कन्या ने इन्होने अपने यहाँ बुला लिया और अपनी दुकान का काम देखने को कहा। वहाँ रह कर भी वे साधु-संतों की सेवा में लगे रहते।

x x x x

एक दिन दस-बारह साधुओं की एक मंडली वीरपुर में पहुँची। एकाध साधु को तो कुछ निष्ठा देने वाले मिल सकते थे। पर इतने

३ ७८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

जनों की भोजन व्यवस्था करना उस छोटे गाँव में सम्भव न था। वे लोग जलाराम के फस पहुँच गये और अपने स्वाभाविक वे इनकी भोजन व्यवस्था करने को तैयार हो गये। दुकान से आवश्यक आटा, दाल, धी आदि ठठकर दे दिया। आठ-दस गज कपड़े की आवश्यकता भी वह भी धान में से फाड़ दिया और स्वयं ही इस सामान को साधुओं के ठहरने की जगह तक पहुँचाने को चले। इसी बीच में इस प्रकार के कार्यों से ईर्ष्या रखने वाले एक वैश्य दुकानदार ने जकर इनके कर्क से शिकायत कर दी कि जलाराम तो दुकान को साधुओं को खुटाये देता है। वह कर्क को साथ में लिवाकर लाया और रास्ते में ही सामान सहित इनको जा पकड़ा। कर्क ने पूछा कि इस गठरी में क्या है, तो भयवश इनके मुँह से निकल गया उपले हैं और लोटे में पानी है। कर्क ने जब खुलवाकर देखा तो सबको उपले और पानी ही नजर आया। इस पर कर्क ने शिकायत करने वाले बनिचे को बहुत फटकारा और वे अपने घर चले गये। तब जलाराम ने सब सामग्री साधुओं के पड़ाव पर पहुँचा दी और सबने पकेष्ठ भोजन बनाकर ग्रहण किया।

उपरोक्त घटना के बाद इनका मन व्यथित से विलकुल हट गया और वे तीर्थयात्रा की अभिलाषा करने लगे। १८ वर्ष की आयु में घर से चलकर डेढ़ वर्ष में चारों भ्रम और अन्य तीर्थों को यात्रा करके घर वापस आये। वहाँ आकर ये कर्क से भी अलग हो गये और पत्नी को बुलाकर मेहनत-मजदूरी करके जीवन व्यतीत करने लगे। उसी समय वे फतेहपुर गाँव के भक्त भोजलाराम के यहाँ पहुँच कर उनके शिष्य बन गये। इन्होंने गुरु से प्रार्थना की कि मेरी इच्छा अपने गाँव में एक 'अन्नक्षेत्र' खोलने की है। गुरु ने इनको आशीर्वाद देकर इस कार्य की अनुमति प्रदान की।

जब ये अलग हुये तो इनके फस निजी सम्पत्ति कुछ भी न थी। खेतों में मजदूरी करके पति-पत्नी जो कुछ प्राप्त करते थे उसी से अपना निर्वाह करते हुये कुछ समय में इन्होंने काफी अन्न इकट्ठा कर लिया। इन्होंने पत्नी से पूछा कि हम तो अपने निर्वाह के लक्ष्य अन्न प्रति दिन मेहनत-मजदूरी करके कमा ही लेते हैं, इस इकट्ठे हो गये अन्न का क्या करें? पत्नी ने इनके मन की बात समझ कर कहा कि इसी अन्न से अपना 'सदाव्रत' स्थापित कर दीजिये अगर भगवान् की दया होगी तो वह सदैव चलता ही रहेगा। जिस समय "सदाव्रत" के लिये स्थान बनाया जाने लगा तो एक महात्मा वीरपुर में आये। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम नि स्वार्थभाव से प्राणिमात्र की सेवा करते चलो। तुम्हें कभी घाटा न होगा। तुम्हारे सभी कर्मों की पूर्ति होती चली जायेगी। और अन्न कटने का काम भी भली प्रकार आरम्भ हो गया और उसकी खबर फैलने से साधु-संत अधिकाधिक संख्या में वहाँ आने लगे। कुछ ही समय में उनका जमा किया हुआ अन्न खर्च हो गया। तब उनकी पत्नी ने अपने समस्त आभूषण उतार कर दे दिये कि इनका सबसे अच्छा उपयोग तो यही है कि ये साधुओं की सेवा में काम आवें। जलाराम जी ने कुछ दिन गहन को नेच

कर अन्नक्षेत्र का काम चलाया। इनका यह त्याग देखकर अन्य लोगों पर भी प्रभाव पड़ा और अनेक लोग इनके भक्त बनकर सब प्रकार की साध सामग्री से अन्नक्षेत्र के कार्य में सहयोग करने लगे और उसकी नैव खूब मजबूती के साथ जम गई।

जब जलाराम जी के अन्नदान की प्रशंसा वीरपुर के ठाकुर साहब श्री मूलजी ने सुनी तो उन्होंने दो सौ बीघा जमीन, एक कुआँ उसके सहस्रतार्य अर्पण किया और अपने गाँव के समस्त किसानों को आज्ञा दी कि वे फसल के समय एक पैमाना अनाज अन्नक्षेत्र के लिये धो दें। इसके सिवाय जो कोई भी कष्ट पीड़ित या अभावग्रस्त व्यक्ति इनके पास आता, इनके आशीर्वाद से वह कष्ट से मुक्त हो जाता। इससे इनका प्रभाव आस-पास के स्थानों में फैल गया। उसी समय को दो एक ऐसी घटनायें लोगों में बहुत प्रसिद्ध हैं जो दी जा रही हैं—

वीरपुर में ही जमाल नाम का एक मुसलमान तेली रहता था। उसका दस वर्षीय पुत्र ऐसा बीमार हो गया कि कितनी ही दवा-दारु करने पर अच्छा न हो सका और जान पड़ने लगा कि वह अब थोड़ी ही देर में सम्पन्न हो जावेगा। उसका बाप पागल की तरह दवा के लिये इधर-उधर दौड़ने लगा। रास्ते में उसकी भेंट हरजी नाम के दर्जी से हुई। लड़के के विषय में पूछने पर जमाल ने कहा— "क्या कहूँ इस जो भाई, अम्ल बनायेगा तो बचेगा अभी तो कोई उम्मेद नहीं।" हरजी— मैं एक उपाय बता सकता हूँ, पर शायद मुसलमान होने से तुम उसे न मानो और मेरी हँसी करने लगो।

"हिन्दू-मुसलमान का क्या खवाल है भाई! जिस सूरत से मेरा लड़का बच सकता हो वह बताओ। मैं वही तरकीब करने को तैयार हूँ।"

"तो सुने, तुम जानते हो कि मेरे घेठ में कितना दर्द हुआ करता था। जब किसी दवा दारु से अच्छा न हुआ तो मैंने अपने गाँव के जलाराम की मानता मानी, उसी समय से मेरी पीड़ा जाती रही तुम भी यही उपाय करके देखो।"

जमाल ने उसी समय हाथ जोड़ कर और आँखें बन्द करके कहा— "मेरा लड़का बचेगा इसकी मुझ उम्मीद नहीं है, तो भी अगर वह एक बार आँखें खोलकर होश में आ जाय तो आपके 'जग्गा' (अन्न) में चालीस पैसा अन्न चढ़ाऊँगा।"

दो-तीन घंटे बाद ही लड़के की दशा में सुधार होने लग गया। रात्रि के चार बजे उसने आँखें खोलीं और बाप से पानी माँगा और सुबह सात बजे भाँ से कुछ खाने को माँगने लगा।

इस खुशी में जमाल ने गाड़ी में चालीस पैमाना अन्न भरा और 'जग्गा' की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचते ही वह भक्त के चरणों में सिर नवाकर रोने लगा।

भक्त ने आश्चर्य से पूछा— तब जमाल क्या बात है? तू अनाज देने आया है, फिर रोता क्यों है?

"क्या कहूँ हजूर! मेरा लड़का बीत के मुँह में था, बचने की कोई उम्मेद नहीं रह गई थी। बड़े पीर पैगम्बरों की यिन्नते की, पर

कोई फायदा नहीं हुआ। तब मैंने अपनी पिन्नत स्त्री, उससे लड़के के पानी मांगा और खाना खाया। अब वह जिन्य रहेगा, इसका मुझे पूरा धरोसा है। इसकी खुशी के मारे मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं। मैंने ४० पैमाना अनाज देना कबूल किया था, पर अब यह बैलगाड़ी भी 'जग्गा' को घेद करता है।'

'जन्तु सो अल्ला, जिसको न दे अल्ला उसको दे जल्ला।' इस प्रकार कहता हुआ प्रसन्न होकर सलाह करता हुआ वह चला गया। यह सबत १८७८ की बात है जब कि जलाराम २२ वर्ष की आयु के ही थे।

× × × × ×
एक बार धांगड़ा के महाराज के सिपाही खीरपुर के पास से निकले। जलाराम उनको बुलाकर एक बर्तन में से छे लड्डू और एक मुट्ठी सेब प्रसाद देने लगे। जब लगभग १५० सैनिकों का प्रसन्न करने पर भी वे बर्तन ज्यों के त्यों धरे नजर आये तब सिपाही आश्चर्यचकित हो गये। उनमें एक सिपाही छेड़ा टौड़ा कर महाराज के पास पहुँचा और इस घटना को खबर उनका सुनाई। राजा प्रभास पाटन की यात्रा करने निकले थे और उनके साथ भी उन १५० के अतिरिक्त २५० सिपाही और थे। आश्चर्य की बात सुनकर वे भी अपनी सेना सहित खीरपुर की ओर चले आये। वहाँ पर देखा तो वास्तव में भक्त जलाराम दोनों हाथों से प्रसाद बाँट रहे थे। उन्होंने महाराज को देखकर हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और कहा— "राजा साहब अभी जूनागढ़ दूर है, भावान् का प्रसाद तो लेते जाइये।"

राजा— अभी पहुँच जायेंगे भक्तराज, मेरे साथ सैनिक बहुत हैं।

"प्रसाद लिये बिना तो न जाने दूँगा।" यह कह कर जलाराम ने सब सैनिकों को उसी बर्तन में से प्रसाद बाँटने आरम्भ कर दिया।

चमत्कार से प्रभावित होकर राजा ने कुछ देने की इच्छा प्रकट की तो भक्त ने कहा— "आश्रम में कुछ बड़ी चिकियों की आवश्यकता है। सुना है कि आपके राज्य में इसके लायक चूड़िया पत्थर मिलता है। इसलिये कुछ पत्थर भिजवा दें तो कृपा होगी।"

राजा— ओ भक्त, यह क्या माँगा! धन अथवा जमीन माँगी होती तो बात थी।

जला— यहाँ तो साधु-संत हैं, राम का भजन करते हैं और वे ही जो कुछ देते हैं वह सबको खिला देते हैं।

महाराज ऐसा भाव देखकर कड़े प्रसन्न हुये और अपनी इच्छा से बहुत-सा धन भेंट चढ़ाकर चले गये। उन्होंने बहुत से बाढ़िया पत्थर भी भिजवाये जिनकी चिकिया अब तक काम दे रही हैं।

× × × × ×
भक्त जलाराम के इस प्रकार के अनर्गल चमत्कार अनन्त में प्रसिद्ध हैं। आज भी उस प्रदेश के बहुसंख्यक लोग भक्त जलाराम की मानता मानकर अपने मनोरथ को पूरा करते हैं। जलाराम जी के उत्तराधिकारियों ने इस 'अन्नदान' की परम्परा को और भी बढ़ाया है। अब मम्बाई, अहमदाबाद, सूरत तथा अन्य अनेक छोटे स्थानों में भी अन्नक्षेत्र स्थापित किये गये हैं जहाँ हजारों मन अनाज प्रतिपास

वितरण किया जाता है। इनका चरित्र इस बात का प्रमाण है कि अगर मनुष्य सच्ची निष्ठा और खुद अन्तःकरण से कार्य करे तो साधारण स्थिति में रह कर भी आत्मकल्याण करते हुए दीन दुःखी जनों की गरूर सेवा कर सकता है।

संत तुकड़ो जी महाराज— मैं वैरागी कैसे बना ?

महाराष्ट्र में बच्चा-बच्चा संत तुकड़ो जी के नाम से परिचित है। उनकी सेवा-साधना से महाराष्ट्र ने जो उन्नति की है, वह अवर्णनीय है। अपने बारे में वे लिखते हैं कि मैं बहुत खोजता हूँ कि मुझे त्याग और वैराग की प्रेरणा कब से मिली? मगर मुझे उसका समय भी याद नहीं आता और आज भी मेरे पास उसका पता नहीं है। फल मात्र है निश्चित! जैसे ही मुझे बचपन में होश आया, अन्य लड़के से मेरा कदम कुछ दूसरे ओर था। जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे ही उनके साथ मेरे विचार भी बढ़ने लगे, काम भी और व्यवहार भी बढ़ने लगे। जो चीज पहले मेरी लगती थी वह विचारों के साथ-साथ सब की होती रही। मैं जो अपने को अपना मानता था वह बढ़ते-बढ़ते सब का मानने लगा— 'मैं मानव मात्र का हूँ' ऐसा स्वाभाविकता से लगने लगा। जो सम्प्रदाय मेरा धालूम होता था, विचार के बढ़ जाने से वह व्यक्त हो गया और सब का सम्प्रदाय मेरा प्रतीत होने लगा। मैं जिनको अपने गुरु, अपने माँ-बाप मानता था, उनकी जगह अब 'सभी गुरु अपने हैं, सभी माँ-बाप का मैं बेटा हूँ, सभी बेटे मेरे सम्पन्न हैं' ऐसा बिना कुछ छोड़े और बिना कुछ पकड़े ही ख्याल होने लगा। वह तो जैसे नैसर्गिक क्रम से होता गया। मैं इसका शास्त्रीय क्रम अभी भी नहीं जानता हूँ कि मैं कैसे बड़ा और किस साधना से बढ़ा।

हाँ, वह एक साधन मेरे पास जरूर था कि जिस किसी ने मुझसे जो भी कहा उसका बोध मुझे बराबर हुआ और श्रद्धायुक्त भावना से उनको सुनते हुए आगे बढ़ने की मैंने कोशिश की। पर उसमें यही देखते गये कि वे सब साधन उनके हैं— उनके अनुभव के हैं, खुद अपने को कुछ उनसे और कुछ अपने मन से लेना पड़ेगा। यही धारणा बनती गयी। अभी भी मैंने कुछ त्यागा नहीं। ख्याल में थोड़ा फर्क जरूर है। कपड़ा पहनता हूँ, मगर कल का कौन-सा कपड़ा अपने पास है— कभी कुछ ही नहीं। जो मिला सो पहन लिया, खाने-पीने का भी वही तरीका है। जो मिला खा लिया, जहाँ जगह मिली वहीं रहा और जिसने सम्भाला उसी का बना। अब लोग मुझे अपने-अपने घर ले जाने को अग्रस में दृगड़ा करने लगे सब सब ने तब किया कि तारीखबार दिन दिये जायें। तारीख सम्भालने वाले भी मिले।

मुझे टी हुई भेंट मैंने कभी पास नहीं रखी। किसी ने जेब में डाल दी तो याद नहीं रही। घाने में सैंकड़ों नोटें घीग गयीं, खराब हो गयीं, फट गयीं। कद में पास के आदिमियों ने उसे सम्भाला। जो भजन बनते गये वे जहाँ लिखे वह रह गये। जब जनता को ठीक लगा तब उन्होंने लोगों ने उसका सश्रव किया और फिर 'भक्तराज

३.४ • महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

मंडल' बने। कुछ बातें अच्छी लगीं तो जनता ने उनका भी संग्रह कर लिया। कुछ लोग प्रेम के, उनका एक मंडल बन गया और अब तक हजारों शाखाएँ बन चुकीं। लाखों भेंटें मिलीं, लाखों खर्च चले। समय बचा नहीं, पास में खजाना नहीं, पर खर्च करने को कम नहीं। जो मिले सो अपना, जो गल्ले दे सो भी अपना। वह सब जीवन के साथ बढ़ता ही गया। अनुभव बढ़ा, त्याग बढ़ा, वैराग्य बढ़ा। मगर बढ़ा कम और शुरु हुआ कम, इसका अंदाज नहीं पाया।

मैं तो यही मानता हूँ कि किसी को कुछ भी त्यागना नहीं है, सिर्फ उसकी मालिकियत को व्यक्ति से हटाकर सर्वव्यापी करना है। त्याग-वैराग्य के लिये कुछ करना नहीं है, बल्कि सब की मालिकियत को समझना है। ईश्वर से मिलना नहीं है, बल्कि अपने में उसका अनुभव करना है। मुक्ति प्राप्त करना नहीं, बल्कि अपनी मुक्त आत्मा का ज्ञान घर कर लेना है, समझकर उसी में रहना है। क्योंकि आत्मा का यही रूप है। अनुसंधान में सब कुछ पता जाता है।

हाँ, कुछ स्मरण है कि जब मंदिर में ध्यान करने गया तब मंदिर में ही रामायण होने लगी और वहीं मुझे अपना घर महसूस होने लगा। जब पिता भोजन को ले जाने लगे वहीं घर की याद! जब पिता ने छोड़ दिया, तब को ले जाया उसी का घर-घर बन जाता। बेफिक्र था मन! एक दिन भजन की कुछ बहियाँ लिखकर रख दीं और बाहर गया, तब किसी दूसरे ने उसे चुराने की चेष्टा की। तो उनके अंतरात्मा दो साँप उसको दिखे। तब वहीं मेरे पास कहने आया कि "भई समा करो। मेरे दिल में चोरी करने की बुद्धि आयी थी, मगर जब देखा कि बड़े-बड़े दो साँप दरवाजे पर लटक रहे हैं तब परध्याताप हुआ।" यह सुनते ही और विश्वास दृढ़ हुआ कि अपना रक्षण करने वाला हमेशा मौजूद है तब तो और भी बेफिक्र बना।

एक मित्र ने कहा कि 'तुम निकम्मे हो, मुफ्त का खाते हो। तुमसे काम कुछ नहीं बनता।' दिल को लगा, यह ठीक नहीं है। सिलाई की मशीन का धंधा सीखा तीन माह में। एक मशीन ऊपर खरीद ली और उस पर काम करके चार महीने में पैसे अदा किये। साथ ही उसी बक्त मशीन को बेच डाला और एक बड़ा सन्तानारक्षण किया। जितने भी पैसे मशीन के आये वे दान में उड़ाये यानी भूखों को रोटी खिलाकर मुक्त हुआ। और उसी रात को भजन करके कहा— "मैं निकम्मा नहीं हूँ। काम कर सकता हूँ। मगर मुझे उसकी जरूरत नहीं है। खाऊँगा कम और काम करूँगा बहुत, जो मेरे और धर्म तथा देश के काम आ जाये।" लोगों को विश्वास हुआ। फिर लोग ही मेरी फिक्र करने लगे। मुझे कुछ छोड़ने और पकड़ने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

मुझे कुछ याद होती है, एक सतलुई-कोथली का महाराज मेरे जन्मगाँव में रहते थे। उन्हीं के पास मैं बचपन में रहता था। वे ही मुझे भजन सिखाते थे, सिर्फ मैं उनके पास बैठा करता था। बस, एक रोज हाथ में एकतारी ली और गाने लगा। उन्होंने कहा, "अब तुमको भजन ही करना होगा।" बड़े अच्छे महत्त्व थे— मुझे वहीं से भजन का चस्का लगा।

जब मैं गुरु महाराज (श्रीसमर्थ आड़कोजी महाराज) के समझने के बाद जंगलों में भागा तब मेरी वृत्ति कुछ पागल सी थी। मेरे बदन पर कपड़ा नहीं था, लंगोटी भी नहीं थी। एक नशा सा छाया हुआ था, कि मैं आत्म साक्षात्कार कैसे करूँगा? ऐसा था, कभी पत्थरों से पूछता था, कभी झाड़ों के साथ बोलता था— तुम तो इस में व्याप्त हो ना? तब बोलो, मुझे साक्षात्कार कैसे होगा?" कभी बादल से आँखें लगाता था। कभी सेरों की गुफाओं में घुसकर ध्यान करता था कि मेरा डर निकले और मैं अमर आत्मा का अभ्यास करूँ, मगर यह सब स्वभाव था। कभी एक चित्त से एक भी साधन मैंने नहीं किया। चिंतन बहुत किया, चिंतन से ज्ञान हुआ ज्ञान से अनासक्ति बढ़ी और उपासना, भजन से लोकसेवा बढ़ी। मगर वैराग्य का पता नहीं लगा कि, मुझे वैराग्य कब से हुआ?

एक कारण का पता चलता है कि जब मुझे मन्दिर में ध्यान नहीं करने दिया तब माता के कहने से जंगलों में बैठने का, नदियों के किनारे शकर जी की रेतमूर्ति बनकर ध्यान करने का अभ्यास शुरू किया। संसार से उपराम होने का भाव तभी बताया गया— बढ़ता गया। यही सिर्फ याद है, मगर उसे वैराग्य कैसे कहूँ? वह तो मेरा हठ था, आग्रह था।

जब मैंने बदन के कपड़ों को छोड़ा तब तो मुझे याद ही नहीं आता था कि मैं नंगा नज़र आ रहा था कपड़ा पहने हुए हूँ। मेरा तो वह धृष्ट जैसे देह-विसर्जन का था कि या तो मैं पर जाऊँ या कुछ मिलाऊँ-दर्शन पाऊँ। वह तो लगन थी, इसे वैराग्य कैसे कहा जाय? तब वैराग्य की प्रेरणा का दिन या कारण कैसे समझ सकता?

वही समझ लिया है मैंने कि बड़ी भीख के लिए छोटी चीजों की छति छोड़ी, महान् प्रयत्न के लिये अल्पजीवि ब्रह्मोपभोग छोड़े और 'सब धनव मेरे' ऐसा समझने के लिये जाति, पंथ, पक्ष धर्म आदि की सीमाएँ छोड़ीं। सर्वव्यापी आत्मा के दर्शन के लिये शरीर इन्द्रियाँ, मन आदि की आसक्ति छोड़ी और अब उसकी पूर्णावस्था में समाने के लिये सारी याद भी छोड़ने की तैयारी में हूँ। मगर वह सेवा के मैदान में ही छूटेगी, कुर्बान हो जायेगी।

नागेश का तप

धर्म और दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति का पतन देख नागेश पट्ट का स्वर्धम्मनी मन विचलित हो उठा। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आर्य साहित्य का अबांछनीय भाग सुधार नहीं हलेंगे जब तक शुद्ध और सच्चे दर्शन का निर्माण नहीं कर लेंगे तब तक और कोई काम करेंगे ही नहीं, चाहे मुझे भूखों ही क्यों न मरना पड़े।

शाय तक जो कुछ मिल जाय, खाकर वे दिन भर आर्य ग्रन्थों की खोज, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और लेखन संकलन में ही लगे रहते। अपनी संस्कृति को जीवित करने की उनकी अदम्य भावना ने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं देने दिया। आयु जैसे-जैसे कुलती गई, वैसे-वैसे उनका शरीर ही निर्बल नहीं होता गया वरन् पीठ में कूबड़ भी निकल आया।

लोग हँसते और कहते - 'वह देखो भगवान् का काम कहते हैं जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा स्वयं करता है। अब भगवान् को क्या हो गया जो अपने इस प्रेमी की भी रक्षा नहीं कर पाये ?' कहने वाले तो नागेश के सामने भी न जाने क्या-क्या बक जाते, पर उस निस्पृह संबन्ध का मन जैसे कमल का पत्र बन गया था, कोई कुछ कहता वह उसी तरह दुलक जाता जैसे पुरइन के पत्ते पर से पानी। जिस दीवार के सहारे बैठते थे, अब वह चुपने और कूबड़ को कह देने लगे तो नागेश भट्ट ने उस दीवार को कटवाकर छेद करा लिया। छेद इतना बड़ा था कि जब वे दीवार के सहारे बैठ जाते तो कूबड़ उसी में समा जाता और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होता।

इस तरह निर्धनता और अभाव के मध्य नागेश भट्ट की सामान्य निरन्तर चलती रही। स्वामी तन्त्रों द्वारा मिथ्या विचारों, श्लोकों को अपने साहित्य में से वे ऐसे निकाल-निकाल कर फेंकते गये जैसे किसान खेत के झाड़-झंखाड़ को। नागेश भट्ट प्रख्यात पण्डित गिने जाने लगे। उनकी योग्यता के आगे कोई भी प्रतिक्रियावादी व्यक्ति टिक नहीं पाता था।

महाराज पेशवा बाजीराव ने यह सब सुना तो स्तब्ध रह गये। सचमुच ऐसा भी पण्डित और लगनशील तपस्वी अब भी इस देश में हो सकता है, इस पर उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने ऐसे महान् साधक और संस्कृतिनिष्ठ देवपुरुष के दर्शन और सहायता करने का निश्चय किया।

पेशवा बाजीराव महाराष्ट्र से चलकर स्वयं ही वाराणसी पहुँचे। वस्तुतः जैसा सुना था, वैसा ही पाया। नागेश भट्ट का शरीर काल का कौर बन चला था, पर वह थे कि अब भी पुस्तकों का ढेर जमा किये अपनी साधना में जुटे पड़े थे जैसे शेष संस्कार उनके लिये किसी शमशान की तरह हो जहाँ न तो कुछ दर्शनीय होता है, न ग्रहणीय। संसार में कोई भौतिक सुख भी होता है, यह उन्होंने ज्ञान ही नहीं।

पेशवा ने उन्हें देखा तो उनकी आँखें डबडबा आईं। अपने दुर्भाग्य पर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। ऐसे महापुरुष को तो बहुत पहले सहयोग दिया जाना चाहिए था। सम्भवतः तब वे अब की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक काम कर सके होते।

बाजीराव ने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और बड़े आदर के साथ कहा—आचार्य प्रवर ! आज्ञा दें मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।

ध्यान भंग हुआ तो नागेश ने सिर ऊपर उठाकर महाराज की ओर देखा और उन्हें बड़े आदर के साथ पारु में बैठते हुए कहा— हाँ महाराज ! आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये एक सूत्र कठिनाई से हाथ लगा है, पर उसकी व्याख्या नहीं हो पा रही। आप उसमें मेरी सहायता कर दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।

आर्थिक सहायता देने के लिये आये महाराज पेशवा यह सुनकर स्तब्धित हो बोले— 'आपकी साधना अद्वितीय है, उसकी सफलता कोई रोक नहीं सकता।'।

केरल के गाँधी—श्री नारायण गुरु

केरल की राजधानी तिरुवनंतपुरम् (त्रिवेन्द्रम) से लगभग ८ मील की दूरी पर स्थित एक छोटे-से गाँव चेंपपन्ती की पिट्टी ने सन् १८५५ में एक ऐसे असाधारण बालक को जन्म दिया, जिसकी प्रतिभा से वह आगे चलकर केरल का गाँधी हो गया। लेकिन जब यह बालक था, तब कोई अनुमान भी न लगा पाया कि एक दिन वह इतने असाधारण व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेगा। श्री नारायण ने प्राथमिक शिक्षा अपने गाँव की पाठशाला में पूरी की। तदुपरान्त संस्कृत, साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि की शिक्षा एक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित से ग्रहण की। वह बचपन से ही बड़ा भावुक, संवेदनशील और धार्मिक स्वभाव का बालक था। जिस ईश्वर जाति में श्री नारायण का जन्म हुआ था, वह उस समय विद्योपार्जन के अधिकार से वंचित थी, उसे आप हस्तों पर चलना भी धर्जित था। सभी निम्न जाति के लोगों से दूर-दूर रहते और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते। श्री नारायण के दिल पर पोंडित मानवता की पुष्कर का गहरा असर पड़ा। उनकी आत्मा के प्रेम और करुणा ने उन्हें सत्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर दी और तिरुवनंतपुरम् के दक्षिण पूर्व दिशा में कोई दस मील की दूरी पर स्थित अरविपुरम नामक स्थान की गुफा में उन्होंने दीर्घ तपस्या की। तत्पश्चात् इसी क्षेत्र की अपनी प्रयोगशाला मानकर उन्होंने सेवा कार्य आरम्भ कर दिया।

सर्वप्रथम उन्होंने वहाँ एक शिव मन्दिर की स्थापना की। रुढ़िवाद के ठेकेदार 'पण्डित' भना वह कैसे सहन कर सकते थे ? उन्होंने प्रश्न किया 'क्या एक ईश्वर (निम्न जाति) को मन्दिर स्थापना का अधिकार है ?' श्री नारायण गुरु ने एक सौम्य किन्तु सशक्त उत्तर दिया, 'मैंने 'ब्राह्मण शिव' नहीं 'ईश्वर शिव' की स्थापना की है।' वे बार-बार यही कहते— 'मनुष्य की जाति, धर्म और ईश्वर एक है।' इसीलिये मन्दिर में उन्होंने स्पष्ट लिखावा दिया, 'यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य जाति-भेद, धार्मिक विद्वेष आदि से दूर पाईचारे से रहते हैं।'।

उन्होंने एक और मन्दिर स्थापित किया, जिसमें सरस्वती की प्रतिमा प्रतिष्ठा की। इसके बाद एक मन्दिर में मूर्ति के स्थान पर केवल एक दर्पण लगा दिया, ताकि मानव स्वयं का निरीक्षण, आत्म परीक्षण कर सके। उनका विश्वास था कि ईश्वर जन-जन में बसता है। जो अपने आपको खन लेता है, वह ईश्वर को पहचान लेता है। केवल सत्य, प्रेम, दया और शान्ति ही वे सौदिर्य हैं, जिनके सहारे हम अपने आपको ब्रेष्ठ बना सकते हैं। उन्होंने अनेक शिक्षा मन्दिर स्थापित किये एवं जाति-भेद की निरर्थकता लोगों को समझाई।

भारत में केरल ही एक ऐसा प्रान्त था, जहाँ जाति-प्रथा का कुमाकुल का भीषण डेग फैला हुआ था, यद्यपि भारत का कोई भी प्रदेश इस बीमारी से बच न था किन्तु केरल में इसका स्वरूप इतना भयंकर था कि एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने इसे घरती पर का 'पागलखाना' कहकर पुकारा था। मनुष्य-मनुष्य को पशु से भी बदतर समझता था। इस ज्वला को केवल श्री नारायण गुरु की तपस्या के जल ने ही शान्त किया।

श्री नारायण गुरु मानव जाति में एकत्वता का संदेश देने वाले एक पूज्य गुरु अथवा दार्शनिक ही नहीं, एक आध्यात्मिक सम्बल एवं व्रष्टा समाज सुधारक भी थे। शताब्दियों से कलह आने वाली त्याज्य परम्परा, जनमानस में व्याप्त खेद निराशा, हीन भावना को उन्होंने बड़े सौम्य, शीतल एवं सरल ढंग से सुधार दिया। यह आश्चर्य ही नहीं, चमत्कार है कि अज्ज केरल भर में अनेकों संस्थाएँ, स्कूल, कालेज आदि निम्न जाति की सेवा में कार्यरत हैं और भारत में केरल प्रान्त का शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम स्थान है। गत वर्ष हाक-तार विभाग ने श्री नारायण गुरु की एक विशेष टिकट निस्सल कर उनके प्रति श्रद्धा अर्पित की है। केरल के कोल्लम जनपद के निकट 'वर्कला' आज गुरु के कार्य का केन्द्र एवं तीर्थ स्थान बना हुआ है। वहाँ धर्म, साहित्य, कला तथा गुरु के आदर्श पर पाषण-मन्त्रण, कर्तार्ये, उपदेश आदि बराबर चलते रहते हैं। यह कार्यक्रम केरल अथवा भारत के अन्य प्रान्तों में ही नहीं श्रीलंका, बेल्जियम, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदि विदेशों तक उनके आदर्शों का प्रचार हो रहा है।

एक बार श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी तिरुवनपुरम् पधारे और श्री नारायण गुरु के दर्शनार्थ गये थे। उन्होंने स्वयं व्यक्त किया— 'मेरे जीवन का सौभाग्य है कि एक ऐसे महात्मा का दर्शन पा सका। मैंने विभिन्न देश-विदेशों की यात्रा की, कई सिद्ध पुरुषों, महान् विभूतियों से मिला लेकिन केरल के श्री नारायण गुरु के समान महापुरुष कहीं नहीं मिला।'

जिस प्रकार साधु ने भारत से फुलफूल का रोग मिटा दिया, सत्य, अहिंसा और प्रेम का संकलन फूँक दिया, उसी प्रकार श्री नारायण गुरु ने केरल के अभिशाप रुढ़िवाद, जड़ि-भेद आदि भेदभाव को मिटाकर सत्य, स्नेह और शान्ति की त्रिवेणी बहा दी। इसीलिये सम्पूर्ण केरल श्री नारायण गुरु को केरल का गांधी कहकर पुकारता है।

साधु सन्तों के लिये आदर्श— श्री नारायणदास त्यागी

वह स्थान अब गुफा मन्दिर के नाम से विख्यात है। पहले थी वह बीहड़ वनस्थली। अब वहाँ व्यवस्था है, अनुशासन है। लोकोत्थापन की शिक्षण संस्थाएँ हैं। पहले वहाँ साँप, बिच्छू, काँतर, रीछ, भेड़िये उसी प्रकार अज्ञा अमाय हुए थे, जिस प्रकार स्वाध्याय न करने वाले के मन में खराब विचार भरे रहते हैं। अब उस स्थान में अनसकुलता से उद्विग्न और भौतिक जीवन की जटिलताओं से अशान्त नागरिक आकर आध्यात्मिक सुख की अनुभूति करते और संतुष्ट जीवन में उस प्रकार की शान्ति और शीतलता अनुभव करते हैं जिस तरह किसी को तप्त जलकुण्ड से निकालकर शीतल सरोवर में पहुँचा दिया जाता है। पहले वहाँ पर चोर और लुटेरे अपना अज्ञा जमाये रहते थे। लोगों को लूटते थे और स्वयं भी अपनी आत्मा से छुले जाते थे। ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल को हरा-भरा बनाकर उसे आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रदान करने का श्रेय, साहस और सकल्प का है जो साधु नारायणदास त्यागी के वेष में विवर्न हुआ। वहाँ पहुँचकर

केवल हिन्दू जाति ही गौरव अनुभव नहीं करती वरन् सुदूर पश्चिम के लोग भी आकर विस्मय पते हैं। यह देखने का अवसर तब मिला जब भारत खेलकूद समाज के तत्वावधान में यहाँ एक ब्रम शिविर आयोजित किया गया। ऐसा लगता है कि पश्चिम अब फिर से आत्मिक प्रकाश के लिये भारतीय धर्म और संस्कृति की ओर अग्रसर हो रहा है। उसे अब भौतिक जीवन से अरुचि हो गई है इसीलिये अब महन्त नारायणदास जी की तरह कौटुम्ह विभूतियाँ अवश्यमेव चाहिए जो अपने जीवन को साधना बनाकर लोकहित और विश्व शान्ति में खड़ा सके।

मालूम नहीं महन्त जी का घर कहाँ है? कहाँ जन्मे और कौन उनके माता-पिता हैं। महापुरुष भगवान् के पुत्र होते हैं, धरती उनकी माता और सारा संसार घर। भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर केवल जनता का कल्याण की धार्मिक सेवा ही उनका उद्देश्य रह जाना है। ऐसे ही एक साधु अपने दो साधुओं के साथ हरिद्वार का कुम्भ स्नान कर लौट रहे थे। मार्ग में भोपाल पड़ता था। यहीं तक के लिये किराये के पैसे थे और कुछ था नहीं। उसने विचार किया— साधु का यह अधिकार तो है कि वह लोकहित के लिये प्रजा द्वारा दी गई सहायताएँ स्वीकार करे। पर बिना टिकट चलने, बिना परित्याग किये जाने और बिना प्रकाश-दर्शन की योग्यता आडम्बर बनाने जैसी अनियमितताएँ तो उसे भी नहीं करनी चाहिए। साधु जिसके पद चिह्नों पर शेष समाज चलता है, यदि वही अनुशासन में नहीं रहेगा तो और कौन मानेगा? यदि वही ईश्वरीय शक्ति और न्याय पर अटल निष्ठा और विश्वास नहीं रखेगा तो और कौन रखेगा? इसलिये आगे की यात्रा रोककर यहीं अर गये। एक साल था उसे सौ सात रुपये में बेच दिया और जहाँ आजकल यह गुप्तर मन्दिर है वहीं जाकर विग्राम ले लिया।

पहली रात को नींद नहीं आई क्यों कि बगल में कुछ हलचल सी होती रही। कभी उल्टू बोलते थे कभी मुगास चिल्लाते थे कुछ लोगों के आने-जाने की पदचोप भी सुनाई पड़ती थी। कुल मिलाकर वह स्थान प्रेत-निवास लगता था। सारी रात बेचैनी में कटी।

प्रातः काल उठकर साधु ने आस-पास घूमकर देखा तो उन्हें उन गुरुकुलों, धर्मपीठों का स्माज हो आया जो ऐसे ही शान्त और एकान्त स्थानों में स्थापित किये जाते थे। जहाँ ब्रह्मचारियों को ब्रह्मविद्या का अभ्यास कराया जाता था और वनप्रस्थे अगले जीवन की तैयारी किया करते थे। गृहस्थ भी समय-समय पर पहुँचकर जटिल समस्याओं के सरल समाधान पाया करते थे। तभी उनके धीनर से आवाज उठी— "क्यों नहीं ऐसा आश्रम निर्मित करते मनुष्य ही तो करते हैं। फिर प्रभु ने तो अल्प जीवनोद्देश्य बतलाना ही है।"

अन्त करण की आवाज पर साधु ने सकल्प कर लिया कि इस स्थान को आध्यात्मिक विद्या का केन्द्र बनाऊँगा। इसके लिये चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े।

लेकिन दूसरी-तीसरी रातें ऐसी आईं। जिनसे पता चल गया कि यह सकल्प निवाह ले जाना उतना सरल नहीं है जितना कि ले लेना। वहाँ कई खूँखार चार और डाकुओं का अड्डा था। पहले तो उन्होंने सोचा साधु है इन्हें किसी के चोरी करने, अपराध करने से क्या

मनलब ? आज आये है कल चले जायेंगे, पर अब कई दिन हो गये तो एक दिन आसन्न क्षमना हो ले गया । हांकू गरम लेकर बोले — यहाँ से सबेर ही चले जाना पर साधु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया — भाइयो ! आप लोग यह बुरा कर्म करते हैं इसे छुड़ाने के लिये मुझे यहाँ रहना ही पड़ेगा । मेरी धरती माता के हों पुत्र मेरे भाई अपने जीवनोद्देश्य से भटकें और मैं अन्यत्र जाकर सुख की नींद सोऊँ ऐसा भला कहाँ सम्भव है ?

वे लोग साधु की गम्भीरता से प्रभावित तो हुए पर इतना सहज वह स्थान छोड़ना नहीं चाहते थे । इसलिये उन्होंने इन्हें तंग करना भी प्रारम्भ कर दिया । वह दशा देखकर शेष दो साधु तो चुपचाप निकल भागे पर श्री त्यागीजी ने मस्तिष्क में जो स्वप्न बसा लिया था उसकी पूर्ति के लिये अधीर हो रहे थे । इसलिये उन्होंने साहसपूर्वक परिस्थिति से समर्थ किया और अन्ततः उन अकेले ने सब डाकुओं को वहाँ से भगाकर यह सिद्ध कर दिया कि "सत्य में सधमुग ही हजार हाथियों का बल" होता है । दर-दर तो केवल असत्य मरा मूमता है ।

एक कठिनार्थ दूर हुई पर अभी वहाँ सैकड़ों परीधायें जेब थीं । रात जब साधु सोये हुए थे एक विषधर सर्प ने उन्हें काट लिया । वहाँ न तो कोई दवा—न देखने वाला । भगवान् के पुत्र ने भगवान् को ही स्मरण किया—हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो ।" और अपने धूनी से एक चुटकी भभूत छाई । दो दिन बेचैनी में बीते । तीसरे दिन उनका शरीर और मन फिर से वैसा ही स्वस्थ हो गया जैसे उन्हें कुछ हुआ ही न था ।

अब उन्होंने धीरे-धीरे गुफा और उसके आस-पास के क्षेत्र की सफाई प्रारम्भ कर दी । स्वयंसेवा सौन्दर्य का प्रथम लक्षण है जो स्थान अस्वच्छ पड़ा था वही जब कुछ सफ-सुधरा हुआ तो अन्यत्र लगने लगा और वहाँ यदा-कदा नगरवासी भी पहुँचने लगे । आठमियों की हलचल बढ़ने से जंगली जानवर भी भाग गये । आने वाले कभी-कभी कुछ पैसे भी दे जाते थे जिससे उनका भोजन भी चल जाता था ।

लेकिन साधु ने विचार किया—कि साधु को सर्वप्रथम—सर्वस्व परित्याग की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए । जब तक मन और हृदय में मोह-वासनायें शेष रहती हैं साधु लोक-कल्याण का अपना कर्तव्य सधुचित रीति से पालन नहीं कर सकता । इसलिये मन को नियन्त्रण में लेना तथा आत्मा की गहराई का वेधन करना आवश्यक है । अब तक मानसिक मलिनतायें दूर न हों साधुने एक मिडम्बक मात्र होता है । आजकल ऐसे साधु जहाँ-तहाँ लोगों को झलते और अन्धविश्वास फैलाते घूमते हैं । अन्धों की सूक्ष्म सत्ता के अवगाहन को उन्होंने कभी प्रयत्न ही नहीं किया होगा ।

श्री त्यागीजी न गीता उठाकर देखी तो उसमें लिखा था—सम्भवा से मन वश में होता और आत्मा के दर्शन होते हैं । रामायण उठाई उसने भी कहा—'तपु आधार सब सृष्टि भवानी', शास पलट कर देखे तो वहाँ भी "दिवभास्वत् तपस्व तपस्वी" तप किये बिना आत्मोन्नति नहीं हो सकती लिखा हुआ था । श्री त्यागीजी ने भी तपस्या द्वारा आत्म-विकास करने का निश्चय किया और उसी में जुट भी गये ।

कुछ दिन आंशिक उपवास रख कर कुछ दिन हलका आहार ग्रहण किया । अभ्यास के साथ तपश्चर्या भी बढ़ते गये । उसके बाद उन्होंने लगातार २२ महीने तक केवल फूल-पत्तों पर ही बिताये । उपवास और तप से शारीरिक शुद्धि के साथ मानसिक और आत्मिक शुद्धि भी हुई । उस प्रकाश की अनुभूति उन्हें होने लगी जिसकी शीतल छाया में बैठकर जीवन अभावप्रस्त होकर भी सम्पन्न अनुभव करता है । वहाँ शारीरिक असुविधायें होने पर भी तृप्ति और शान्ति अनुभव करता है । जिसकी अनुभूति के बाद माया-मोह के बन्धन टूट जाते हैं और फिर संसार में केवल कर्तव्य भाव शेष रह जाता है ।

इस प्रकार जीवन को साधना बना लेने के बाद जब वह ग्रहन उठा कि अब कार्य का श्रीगणेश कहाँ से कैसे किया जाये तो वह सुविधायें अपने आप खुदने लगीं । कहने हैं सत्य किसी को बुलाता नहीं, उसके पास लोग टौड़कर अपने आप पहुँच जाते हैं । मध्यप्रदेश की राजधानी इन्दौर से उठकर भोपाल आ गई । सरकार ने यह जमीन त्यागी जी को दे दी । फिर जनता ने भी देखा कि नगर में एक ऐसे आध्यात्मिक संस्थान की तीव्र आवश्यकता है । इसलिये लोग उसके सहयोग के लिये उपद्र पड़े और कुछ ही दिन में वहाँ बीहड़-वन हरे-भरे आश्रम में परिणत हो गया ।

गुफा काटकर मन्दिर का निर्माण, रामानन्द आश्रम की स्थापना, हनुमान मन्दिर और चौदह एकड़ भूमि में बाटिका का लगाना इन सब कार्यों ने यद्यपि बहुत श्रम लिया पर सब देखते-देखते हो गया और यही स्थान जहाँ से कुछ दिन पूर्व अनैतिकता के वाक-रहित शिक्षण हुआ करते थे अब धर्म और संस्कृति का 'संगम' बन गया है ।

देश में साधु-महन्तों की कोई कमी नहीं पर श्री त्यागी जी की तरह का साहस, संकल्प और धर्म-प्रेम उनमें से कितनों में होता है ? छोटे-छोटे सीमा क्षेत्र में ही वे सब सच्चाई और अन्तःकरण से धर्म सेवा में लग जायें तो देश में बढ़ती हुई अनैतिकता और अधार्मिकता को देखते-देखते दूर किया जा सकता है ।

समाज के लिए स्वयं के सुख छोड़ने वाले—नीलमणि फुकन

आधुनिक शिक्षा पद्धति को एक हनुमान कूद बताते हुए आचार्य विनोबा भावे ने जीवन-और-शिक्षण लेख में कहा है—“बीस बरस का असाहस युवक अध्ययन में मान है । तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है । मैं शिक्षाजी बनोंगा, उनकी तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा । मैं वाल्मीकि बनोंगा । मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा । एक दो चार जाने क्या-क्या कल्पनायें करता है ।" ऐसी कल्पनायें करने का भाग्य बहुत बड़ों को मिलता है पर जिनको मिलता है उनको ही लेते हैं । इन कल्पनाओं का आगे क्या परिणाम निकलता है ? जब नोन-तेल-त्स्कड़ों के फेर में पड़ा, जब पेट का ग्रहण सामने आया तो बेचारा दीन बन जाता है । जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है इसकी आज तक बिल्कुल कल्पना ही नहीं की पर अब तो पहाड़ सामने आ गया । फिर क्या करता है ? देश के लिए बन-वन फिन्ने वाले

३.८४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

शिवाजी, कुरुणा गीन गाने वाले वाल्मीकि कभी नौकरी की तो कभी औरत की और कभी लड़की के लिए वर की तलाश में घूमते हुए अन्त में शमशान की शोध करने वाला -यूटन— इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान कूद का फल है।

वस्तुतः आज के स्कूल-कॉलेजों में विद्यार्थी को जीवन के गम्भीर दायित्वों का कोई व्यावहारिक ज्ञान मिला ही नहीं पाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि अच्छे ब्रेजियों में उत्तीर्ण हुआ छात्र भी जब जीवन के क्षेत्र में उतरता है तो उसे कुशलपूर्वक जी नहीं सकता। आधुनिक शिक्षा पद्धति के इस अभाव को दूर करने के लिए स्वाभेनता से पूर्व ही प्रयास किये गये। भारत राष्ट्र के निर्माताओं ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सभी दोषों को दूर करने हुए एक ऐसी शिक्षण योजना निर्धारित की जिसके अनुसार शिक्षित विद्यार्थी को जीवन भार रूप न लगे और उस शिक्षा पद्धति का नाम रखा गया बुनियादी शिक्षण। इस शिक्षण योजना को अब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका है और बहो शिक्षण पद्धति जारी है जिसने अंग्रेज सरकार के लिए हजारों सस्ते क्लर्क और बबू तैयार किये। उसी पद्धति के कारण आज भी शिक्षित लोग अपने निर्वाह का कोई और स्वधन खोजने तथा अपनाये की अपेक्षा नौकरी तलाशना ही अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।

स्वतन्त्र भारत में सरकार की ओर से भले ही नयी शिक्षा पद्धति को कोई प्रोत्साहन न मिला पाया हो पर ऐसे सेवाभावो कर्मयोगी भी हैं जिन्होंने बुनियादी शिक्षा के आदर्शों पर यथाशक्ति अमल करने का प्रयास किया। जिन महामानवों के प्रयास आधुनिक शिक्षा पद्धति के दोषों को दूर रख कर राष्ट्र को रचनात्मक दिशा देने के लिए बुनियादी शिक्षा योजना से दौरे पूर्व ही जारी थे उनमें असम के लोकमान्य कवि शिरोमणि बागमीवर नीलमणि फुक्न का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जा सकता है। असमिया भाषा में उन्हें पितामह कहा जाता है और वस्तुतः वे अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व के माध्यम से आसाम के पितामह ही सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलन के कर्णधारों द्वारा बुनियादी तालीम के निर्धारण से पूर्व ही उन्होंने शिक्षा में नये प्रयोगों द्वारा देश को कर्पठ और निष्ठवान नागरिक देने का कार्य आरम्भ कर दिया था। अपने व्यक्तित्वगत कलबूते पर जन-सहयोग जुटाकर उन्होंने तीस पाठशालाएँ स्थापित कीं जिनमें रत-दिन विद्यादान दिया जाने लगा।

आसाम के पितामह नीलमणि फुक्न का जन्म सन् १८८० में असम के सम्पन्न और संस्कृति निष्ठ परिवार में हुआ था। उनके दादा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित निष्ठवान सनातनी हिन्दू और एक बड़े सरकारी अधिकारी थे। दादा की मौत पितृ को और उसके बाद पुत्र को भी वह धर्मनिष्ठ विरासत के रूप में मिली। प्रातः स्नान ब्रह्ममुहूर्त में जागरण, पूजा पाठ, उपासना, जप आदि के साथ आचार-विचार में उदारता, आत्मैक्यता और सत्य प्रेम आदि के संस्कार भी फुक्न को बचपन में ही प्राप्त हो गये थे अपने पिता के साथ गौणता की सेवा करते, घर पर आने वाले साधु महात्माओं को पिछा और

दान-दक्षिणा देते तथा अन्य धार्मिक आयोजनों में उत्साहपूर्वक हाथ बटाते।

परिवार के कतावरण में धार्मिकता का प्रभाव तो अक्षुण्ण बना रहा पर लक्ष्मी चंचला स्थिर न रह सकी। दादा के बाद पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी न रह सकी। रुपये पैसों का कोष भले ही खाली हो पर मन का कोष तो बराब और इसी कारण परिवार के किसी व्यक्ति ने गरीबी को सत्रासपूर्ण नहीं खया। नीलमणि फुक्न ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि सम्पत्ति भले ही न रही हो पर मैंने दारिद्र्य दुःखों का कभी अनुभव नहीं किया क्योंकि घर में मुझे सभी ने लाड़ प्यार से रखा और घर के सब सदस्य भी परस्पर प्रेमपूर्वक रहते।

आर्थिक स्थिति अच्छी न होने हुए भी पुत्र को अच्छी शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से पिता ने उन्हें स्कूल में भर्ती कराया। और नीलमणि अपने पश्चिमशीलता, एकाग्रता, अध्यवस्थाय तथा तन्मयता के बल पर कक्षा में सदैव सर्वप्रथम आते रहे। पिता उन्हें केवल शिक्षित ही नहीं संस्कारवान भी बनाना चाहते थे अतः नीलमणि को विद्यार्थी जीवन में ही देश-विदेश के कई महापुरुषों की जीवनि, प्रेरक कथाएँ, पौराणिक आख्यान तथा सत्साहित्य पढ़ने का अवसर मिला। उन्होंने पैतृक परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन तो किया ही और विशद अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि विचार-शीलता की क्षमता का उदय होते ही उन्हें अपने देश की दुर्दशा, प्राचीन भारत के गौरवमय स्वरूप और अर्वाचीन भारत की दयनीय परिस्थितियों का अहसास होने लगा। भारत के साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि असम तो अन्य भारतीय क्षेत्रों की अपेक्षा और भी पिछड़ा हुआ है। न वहाँ की भाषा का अपना कोई साहित्य है और न यहाँ की जनता की सम्भ्रता। इन स्थितियों की अनुभूतियों ने उन्हें देश सेवा के लिए भी प्रेरित किया और अपने निकटवर्ती जनों को उठाने के लिए आवश्यक प्रयास करने हेतु भी। जब भी अवसर मिलेगा अपने इस सेवा को तृप्त करूँगा— के व्रत के साथ नीलमणि पढ़ते रहे।

स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने कलकत्ता से बी. ए. पास किया और उसके बाद बकालत करने के उद्देश्य से उन्होंने लॉ कॉलेज में अध्ययन शुरू किया। उसी दिनों डिब्रूगढ़ में एक पाठशाला खुली, प्रश्न उठा इसके प्राचार्य पद पर किसे नियुक्त किया जाय तो सबकी आंखें नीलमणि फुक्न पर आ टिकीं और उन्हें कलकत्ता से बुलावा भेज दिया। अनायास ही अपने समाज सेवा के व्रत को पूरा करने का यह अवसर आया देख फुक्न ने बकालत का मोड़ छोड़ दिया और डिब्रूगढ़ आ गये। हालाँकि ठज्जल भविष्य की सम्भावनाएँ बकालत के पेशे में ही अधिक थीं पर केवल अपने लिए ही नीलमणि फुक्न को अपने भविष्य की कहीं चिन्ता थी वहाँ तो चिन्ता थी अपने पिछड़े और अपेक्षित भाइयों के उन्नयन की अतः उन्होंने डिब्रूगढ़ जाकर प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया और समाज सेवा में जुट गये।

यह पाठशाला सरकारी सहयोग से आरम्भ हुई तथा चल रही थी। १९१४ में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ तो सरकार ने कई संस्थानों को अनुदान देना बन्द कर दिया। सरकार की इस नीति का

प्रभाव डिब्रूगढ़ की उस पाठशाला पर भी पड़ा जहाँ के प्राचार्य फुकन थे। पाठशाला बन्द हो गयी, समाज सेवा का जो कार्य चल रहा था वह रुक गया पर फुकन ने संकल्प लिया कि कहे जो हो जब स्कूल बन्द न होने देंगे और उन्होंने स्कूल के लिए जन-सहयोग जुटाने हेतु गाँव-गाँव घूमना आरम्भ कर दिया। छह महीने तक उन्होंने साहसिक दूरा आस-पास के सभी गाँव नाप छाने। लोगों ने भी मुक्त हस्त से योगदान दिया और करीब छः महीने में ही चौदह हजार रुपये इकट्ठे हो गये। पाठशाला की आवश्यकता पूर्ति के बाद भी काफी रकम बचती थी सो उससे फुकन ने और नयी शालायें खोलने का अभियान चलाया और कुछ ही समय में तीस पाठशालायें खुल गयीं। आगे चलकर अपनी प्रवृत्तियों का विस्तार करते हुए फुकन ने समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाये। आदिवासियों के अकर्म हेतु उन्होंने नशाबन्दी आन्दोलन से लेकर अन्य उच्चस्तरीय सेवा कार्यक्रम भी चलाये जिनके दूरगामी परिणाम हुए।

सेवाभावी सन्त-भक्त— पुनीत महाराज

सच्चे विष्णु भक्त की कसौटी को सन्त नरसैख ने अपने भजन “बैष्णव जन तो तेने कहिये के पीर पराई जाणे है।” में स्पष्ट किया है। जो दूसरों के दुःख-दर्द को अपने जैसा जाने तथा उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं रहे वरन् निवामार्ग जो प्रवास करे वे ‘दुस्साहस’ की सीमा तक हों। यही भक्त इस गीत में धरे हैं। इस भावना को जीवन में साकार करने की बड़ी आवश्यकता है यह केवल गीत बनकर ही रह जाये, इससे जनमानस को विशेष लाभ नहीं हो पाता। इसे जीवन में साकार करने वाले एक भक्त थे पुनीत महाराज।

खुशामद व चापलूसी मनुष्य के सामने भले ही वस्त्र आभूषण के दरबार में तो कदापि चल नहीं सकती। यदि चलती तो वह इतने बड़े बड़ाण्ड का नियंत्रण कैसे कर पाता। जिस काल में इनका जन्म हुआ उस समय भक्ति-भाव तथा भजन के उद्देश्य भुला दिखे गए थे तथा यह केवल लोककल्याण के साधन भर रह गए थे। भजन से यदि पर-दुःख-कातरता न उपजे तो फिर उसमें और अन्य गीतों में अन्तर ही क्या रह जायेगा। भजन मण्डली न होकर वह मनोरंजन मण्डली भर बनकर रह जाएगी।

ऐसे ही समय जूनागढ़ (गुजरात) के ब्राह्मण परिवार में १९ मई, १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ। पिता भाई संकर और माँ ललिता ने इस बालक का नाम रख रखा बालकृष्ण। यही बालक आगे जाकर पुनीत महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनको बचपन में ‘बालू’ कहकर पुकारा जाता था। छह वर्ष की अवस्था में ‘बालू’ के पिता का देहावसान हो गया।

माता ललिता ने इस बालक का पालन-पोषण किया तथा इसका निर्माण किया। बचपन से ही इसमें सुसंस्कार धरने आरम्भ कर दिये। स्नेह लाड़-प्यार के साथ-साथ बालक को शिक्षा भी दी जाने लगी।

बालक तो परवत्सपी होता है माता-पिता पर पूर्णरूपेण आश्रित। पिता तो थे नहीं माँ ललित गरीबी के झोंकों को अपने आचल से बचाती हुई इस सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती रही। सत्य आवरण में कब तक छिपा रहता। बालक ने देखा था कि माँ किस मेहनत से लोगों के यहाँ काम करके दो-पैसे जुटाती है जब कहीं दो रोटी का सम्पन्न बन पाता है जिससे जीवन की गाड़ी दो कदम आगे बढ़ लेती है।

अम्हवों का जीवन कैसा होता है बालक ने समीप से देखा था। माँ के पास हजामत के लिये पैसे नहीं थे। सिर के केश बढ़कर जटा होने लगे। किसी ने मज्जाक में कह दिया—“जटाजूट तो बड़ा सुन्दर रख है क्या कोई नटक खेलने की तैयारी हो रही है।” बालक माँ के पास जाकर पैसे माँग बैठा। माँ के पास कुछ था नहीं। बेचारी को ताबे का एक गड़ बेचकर पैसे जुटाने पड़े।

दूसरे बालकों को देखकर उसका जी ललचता किन्तु बिना बाप के लड़के पर क्या किये आती? सब परिवार, अपनी सुख-सुविधाओं के लिये रोते हैं। हाथी हो तो भी अपने ही पेट में समाने का प्रयास करेंगे दूसरे को देना सीखा ही नहीं।

ऐसे ही दुःखों को झेलते हुए बालक पढ़ा। उसे गाँव के हाईस्कूल में भर्ती कराया गया। वहाँ उसे शांति मिर्चों नाम के अध्यापक से बड़ा सहयोग मिला। अच्छे आदमी भी दुनिया में होते हैं पहले ही कम संख्या में हों, उनमें से एक थे वह ‘शांति मिर्चों’ नाम के साथ ‘मिर्चों’ भले ही जुझाव पर थे पूरे वैष्णव। उन्होंने बालू को शिक्षा के साथ-साथ बर्षाशास्त्रों की अच्छी अनुकरण योग्य बातें भी बताईं। बालू के जीवन निर्माण में इस सहृदय अध्यापक का बड़ा योग रहा।

एक दिन एक दिवंगत अध्यापक को ब्रह्मांजलि अर्पित करने के लिये बालू के मुख से भावावेश में कविता फूट पड़ी जिसे सुनकर साग बिछालत व्यक्ति हो गया। शांति मिर्चों फुले न समाए। उसे प्रोत्साहन देने के लिये वे उसे एक कविता पर १ पैसा देने में।

किसी तरह खींचतान करके बालकृष्ण दसवीं कक्षा तक पहुँचा। अब विद्वत्ताओं ने उग्र रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया। इसी समय चेचक का प्रकोप हुआ। आँखों की उद्योगि मन्द पड़ गई फिर भी धनभाव के कारण चरमा न खरीदा जा सका। पीस व कागज पेंसिल भी जुटा पाना कठिन था। बिचल हो पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

बड़े प्रयत्नों के बाद कुछ महीनों तक पोस्ट आफिस में ११ महीनों की नौकरी मिली। फिर बेकार हो गया। शादी हो चुकी थी, माँ कब तक पेट भरती। रोजगार पाने के लिये दर-दर भटकना पड़ा। अध्यापक, कुली, सम्पादक सभी कुछ बन पर कोई स्थायी काम न जम पाया। एक बार तो यह स्थिति आ गई थी कि तीसरा बच्चा भी भ्रष्टाचार में खल-कललित हो गया तो दाह-संस्कार के पैसे भी न थे। सुख कर देह काँटा हो-गई। रोग ने आ घेरा, शव की अन्तिम स्टेज अर्थात् मृत्यु।

लोहे को धर देने के लिये तपस्या जाना है, सोने को परखने के लिये, कान्ति बढ़ाने के लिये तपाया जाना है, इसी प्रकार मानव को सही अर्थों में मानव बनाने के लिये उसे दुःख की अग्नि पर तपाया

जाता है। दुःख मनुष्य का सच्चा स्वरूप निखारने की एक प्रक्रिया है। सुख आदमी को मार देता है, निष्क्रिय कर देता है किन्तु दुःख उसे आगे बढ़ने और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। दुःखों को परीक्षा मानकर चलने वाला व्यक्ति जीवन में कुछ न कुछ करके दिखाता है। ऐसी ही कठिन परीक्षा बालकृष्ण की भी ली गई। इन दुःख-कष्टों से मड़ने का साहस जुटाने वाली शक्ति है परमात्मा, इसी सम्बल को अब बालकृष्ण ने पा लिया। वे अब सब कुछ उसके चरणों में अर्पित कर स्वयं उस पर निर्भर हो गए। वे कह उठे कि हे ईश्वर मेरी जो चाह है वही मेरी कह है, जो कुछ तू देगा वह लूंगा। ईर्ष और विवाद अब मुझे नहीं व्यपन्न होंगे। आज तक घटका, सेवा, दुःखी हुआ पर अब नहीं होने वाला हूँ। जहाँ सुख की चाह करता हूँ वही दुःख का भी अनुभव होता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं एक को स्वीकार कर दूसरे को अस्वीकार करने की भूल आज तक करता रहा पर मैंने अब सुख-दुःख दोनों त्याग दिये।

बालकृष्ण को परीक्षा समाप्त हुई। वे उत्तीर्ण हुए। उन्हें एक प्रतिष्ठित फर्म 'तैयब एण्ड कम्पनी' में अहमदाबाद शाखा के एक उच्च पद पर काम मिला गया। धीरे-धीरे स्वस्थ भी सुधरने लग्य। यह सब उन्होंने ईश्वर का दान सम्झ कर ग्रहण कर लिया पर वे उन दुःख के क्षणों को भूलें नहीं। उन्हें सदा अहसास रहा कि कल जो दुःखी था आज सुखी हो सकता है और आज जो सुखी है वह कल दुःखी भी हो सकता है। सुख-दुःख केवल मन की कल्पना ही तो है। एक ही वस्तु है जिसके अभाव को हम दुःख व उपलब्धि को सुख कहते हैं। मनुष्य को उसे निरपेक्ष भाव से ग्रहण करना चाहिये। अधिक मिला तो उन्हें दो जिन्के पास नहीं है और नहीं मिला तो दुःख न हो कि हमें नहीं मिला, धीरे सन्धी साधन है। सुख-दुःख को पूर्ण मानने के कारण ही संसार के सब प्राणी अपने आप को अलग-अलग भाँते हैं, जबकि उनका अलग कोई अस्तित्व ही नहीं है।

उपाजन की व्यवस्था जम चुकी थी। अब सुख-दुःख के धम में फँसी जनता को सही मार्ग बताने की कामना उनके मन में तीव्र रूप से जाग्रत हो उठी। उन्होंने भक्ति रस के भजनों के माध्यम से जन-जन में इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने का शुभारम्भ किया। उस समय गुजरात में इसी प्रकार के भजनों से एक नवीन जाग्रति पैदा हो सकती थी। इन्होंने भजन गाने का क्रम बना लिया। इनकी काव्य प्रतिभा तथा मधुर कंठ और भक्ति की भाव-विह्वलता ने भजनों को बड़ा प्रभावशाली बना दिया। जहाँ-कहीं भी भजन-मण्डली होती वहाँ वे पहुँच जाते तथा भजनों के द्वारा इस अलौकिक संदेश को जनता के सामने रखते। सुनने वाले सब कुछ भूल कर इनके भजनों में लीन हो जाते तथा जीवन की एक नई राह उनके लिये खुल जाती थी। वह राह थी स्वयं के स्वार्थ के साक लोकांगत का समन्वय करना। धीरे-धीरे ये इतने प्रभावशाली हो गए कि लोगों के मन में इनके व्यक्तित्व के प्रति ब्रह्म उत्पन्न हो गई। इस ब्रह्म से अभिभूत होकर एक दिन श्री राधेश्याम जी ने इनका नाम 'पुनीत महाराज' रख दिया। तब से वे पुनीत महाराज कहलाने लगे।

पुनीत महाराज ने जन-जाग्रति का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। स्थान-स्थान पर भजन मंडलियों की स्थापना किये जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है। यदि वह वश में किया हुआ न हो तो शयः भावनाओं को अपने तर्क के आगे टिकने नहीं देता। जन-साधारण से यदि पुनीत महाराज ऐसे मन को वश में करने वाली बात कहते व सुझाव देते कि उसे सही दिशा में चलाओ तो कोई न मानता। सन्त लोगों के लिये एक ऐसा मार्ग एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत कर देते हैं जिससे अभीष्ट उद्देश्य सहज ही पूरा हो जाय। भजन मंडली उस समय सबसे उपयुक्त साधन थी।

भजन के माध्यम से जन-साधारण में सत्प्रवृत्तियों का प्रसार तथा कुीतियों का निवारण करने के लिये पुनीत महाराज अपना जीवन अर्पित कर चुके थे। इनके प्रयासों से गाँव-गाँव में मंडलियाँ बनीं जब देखने कि वह गरीब है तो स्वयं भी कभी-कभी भजन कराने वाले को प्रसाद, अगरबत्ती आदि का स्पर्श अपनी गाँठ से दे देते थे। मनुष्यों के चंचल मन को मनोवैज्ञानिक ढंग से सद्प्रवृत्ति में लगाकर समाज सुधार का उनका वह ढंग बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ जिसका अमर उस क्षेत्र में आज तक विद्यमान है।

सो जाति में नेतृत्व लाने के लिये भी उन्होंने भजन मंडलियों की स्थापना करने का प्रयास किया तथा रुढ़िवादिता के विरोध में भजन बनाए। अस्त्रीय गीतों का बहिष्कार किया।

वे कहीं भजन मण्डली में दान-दक्षिणा नहीं लेते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली, इनके हजारों अनुयायी बन गए। इन्होंने देखा कि गुजरात में जाग्रति आ गई है। इस हवा को सारे भारत में फैलाना चाहिये। इसके लिये उन्होंने भजन मंडली सहित यात्री-रुप बनाए तथा इनका कुशलतापूर्वक संचालन करके सारे भारतवर्ष में पुनर्जागरण करने का प्रयास किया।

इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली बन गया था, कि लोगों ने चपत्कारिक कहाँ भी इसके साथ जोड़ दी है। इनमें सत्यता भी है वह है व्यक्तित्व का प्रभाव तथा परमात्मा की इच्छा। गर्व उन्हें छू भी न गया। वे पुनीत महाराज हो जाने पर भी उस दुःखी 'बालू' को नहीं भूले। उन्हें समाज में जहाँ भी 'बालू' जैसा दीन-हीन जीवन जीते किसी को देखा उसे पुनीत महाराज बनाने में कसर नहीं छोड़ी। वे सौम्य, सरल और विनम्र ही रहे।

तथाकालीन साधुओं की तरह उन्होंने समाज पर भार बनना पसन्द न करके उनके सामने उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी नीकनी नहीं छँड़ी। उपाजन से जो शक्ति मिलती उसका थोड़ा सा भाग स्वयं के लिये खर्च करके शेष वे समाज हित में लगा देते थे।

वे वृद्ध होने लगे तो वर्णभ्रम धर्म, के अनुसार वे संन्यासी बनने की कामना करने लगे। उनके अनुगमियों को उनके परिवार की चिन्ता लगी। श्री गोवर्धनदास नामक एक सद्गृहस्थ ने उन्हें १० बीघे जमीन भेंट करने का बड़ा आग्रह किया। उस जमीन को उन्होंने स्वीकार तो किया पर उसे अपने परिवार के लिये नहीं इन कल्याण के लिये ही किया। उसका ट्रस्ट बना दिया तथा उस पर उनके किसी

उत्तराधिकारी का हक न रहा। इसी भूमि पर मणिनगर में 'पुनीत सेवाश्रम' की स्थापना हुई। यह सेवाश्रम आज भी उनके पुनीत कृत्य का स्मरण करा रहा है।

सन् १९५९ में पुनीत महाराज धर्म प्रचारार्थ अफ्रीका गए तथा छह महीने तक उस क्षेत्र में प्रचार करते रहे। इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र इतना बड़ा देखा तो संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया। वे विदेह हो चुके थे उन्हें गृहस्थ व संन्यास में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता था।

२७ जुलाई, १९६२ को पुनीत महाराज का देहवसान हुआ। उनका जीवन एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने को दैन-हैन का साथी समझता रहा पर उसने स्वयं को भावना के माध्यम से एक बड़ी शक्ति के साथ जोड़ दिया जिसके आश्चर्यजनक परिणाम हुए तथा लोकजीवन के लिए चिरस्थायी कार्य कर गया।

आज के युग में ऐसे ही लोकसेवियों की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। आज के तत्कालीन ज्ञान-ध्वनी लोग उनके चरित्र से प्रेरणा लें तो इनकी संख्या देखते हुए भारत का ही नहीं विश्व का कल्याण संभव हो सकता है।

प्राणिमात्र के सच्चे सेवक— पूजा बाबा

सतपुड़ा तथा विंध्य की पहाड़ियों के बीच एक छोटा-सा, लकड़ियों के बाड़े से घिरा पशु चिकित्सालय था। उसे साधना स्थान भी कह सकते हैं, तपोवन भी। वन के सारे ही फल तथा अहृत पशु-पक्षियों का वह अग्रय स्थल था। उसके निर्माता, संस्थापक, संचालक तथा सेवक थे श्री पूजा बाबा। हाँ—उन्हें सब पूजा बाबा ही कहते थे। नाम कुछ और रहा होगा लायक।

पूजा बाबा जाति के भील थे। बचपन से ही उनकी संस्कारवान् आत्मा धर्म तथा अध्यात्म के प्रति आकृष्ट हुई। जहाँ भी उन्हें धर्म धर्मा अथवा सत्संग जैसा वातावरण मिलता—वे फौरन पहुँचते और सदा दूसरों के उपकार की ही बात सोचते करते।

एक दिन उन्होंने सुना कि प्राणिमात्र की सेवा करना ही सच्ची ईश्वर पूजा है। बस, उसी दिन से उन्होंने यह बात गोंठ कंध ली। जैसे बादल उड़ता हुआ भी अपने साथ अगाध जलराशि लिये चलता है वैसे ही पूजा बाबा का जीवन भी परोपकार, परसेवा तथा जीवमात्र की भलाई की भावनाओं से ओत-प्रोत हो गया।

किन्तु अब सामने प्रश्न यह था कि सेवा का माध्यम भी कुछ होना चाहिए। शिक्षा तथा योग्यता का अभाव था, पर मनोभूमि बड़ी ही श्रद्धालु तथा उदार थी। ऐसे ही—जैसे बिना खाद-पानी के, कोई बीज को उर्वरा भूमि में डाल दे—बस।

पर इससे उन्होंने अपना मार्ग अवरुद्ध न होने दिया। जंगल में ही उन्होंने एक छोटा सा स्थान चुना। उसे लकड़ियों से घेकर एक सुरक्षित बाड़े का स्वरूप प्रदान किया। जंगल में जो भी घायल पशु

अथवा पक्षी पकते उसे ले आते और घुरी लगन के साथ उसकी सेवा सुलूष तथा परिधर्या करते। ठीक होने पर उसे पुनः स्वतन्त्र कर देते उसके ठीक होने पर—उस प्राणी को तो आश्रम मिलता ही था—पूजा बाबा की अदृष्ट को इतना अधिक सन्तोष तथा आनन्द मिलता कि कभी-कभी तो उनके स्नेहवेग से प्रेमानु बह उठते।

वे सोचते—ईश्वर का सच्चा स्वरूप यह बृहद् ब्रह्माण्ड ही तो है। इसके प्रत्येक प्राणी में उसी का प्राण सक्रिय है। वनस्पति की प्रत्येक छत्ती में उसी की चेतना लहरा रही है। यहाँ तक पत्थर, नदी, पहाड़ तथा दूर तक फैले नील-गगन के विस्तार में भी उन्हें परमपिता का आभास निकलता-सा प्रतीत होता।

इसीलिए तो—ईश्वरार्थन का यही स्वरूप उन्हें अधिक पसन्द आया था। यह सेवा कार्य ही उनकी अपासक थी—उनका धर्मानुष्ठान था तथा उनकी धर्म सधना थी।

रोगी पशुओं के लिये जड़ी-बूटियाँ खोजना—उनके लिये धरी रोपटरी में जंगल-जंगल भटकना—रोगियों के लिये उचित खाने-पीने की व्यवस्था खुद करना—उनके स्थान की सफाई करना—इन सब कार्यों में उन्हें बड़ा ही आनन्द आता।

धीरे-धीरे आस-पास के निवासी भी उनके इस सेवा कार्य से परिचित हो गये। अब वे भी जहाँ-कहाँ भी किसी घायल अथवा बीमार पशु या पक्षी को देखते तत्काल उठा कर पूजा बाबा के इस पशु चिकित्सालय में पहुँचा देते। बाबा जी बड़े ही स्नेह से उनकी चिकित्सा की व्यवस्था जुटाते। कुछ उत्साही युवक अब अवकाश के समय में उनकी सहायता करने भी आ पहुँचते। घास काटना—जंगल से लकड़ी एकत्रित करना तथा पानी भर देना या बाड़ा साफ कर देना—इन सब कार्यों में वे पूजा बाबा की पूरी सहायता करते।

चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी हासिल करने के लिये भी पूजा बाबा को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा था। उन्होंने किसी कॉलेज में व्यवस्थित शिक्षा तो पाई नहीं थी। किन्हीं वयोवृद्ध सज्जन के विषय में मशहूर होता कि वे इस विषय में कुछ जानते हैं तो बस—पूजा बाबा वहाँ जा पहुँचते और उससे विशेष जानकारियाँ हासिल करते।

जिस स्रोत में भी इस विषय की कुछ जानकारी निकली—उसे ही आ पकड़ते और निरन्तर अपने ज्ञान में वृद्धि करते रहते। अभी से अधिक कुशलता का अभाव तो उनकी यह सतत साधना थी—जिसमें वे रात-दिन निरत रहते थे।

यह चिकित्सालय लगभग एक-डेढ़ बील के अहाते में था। वहीं पर चोड़ी-सी अमीन में उन्होंने कद्दमूल-फल उपजा रखे थे। शाक-सब्जियों के सहारे भोजन की समस्या हल हो जाती थी। कभी नगर की ओर जाना हो जाता था तब आवश्यक वस्तुएँ ले आते थे। कभी कभी कोई बहुत ज्यादा घायल पशु आ जाता था, तो कई-कई दिन नहीं जा पाते थे। तब उनका आहार भी उसी उपज के सहारे चलता रहता था।

वनों का जहाँ तक प्रश्न था—एक लंगोटा तथा घिरा जूतों, एक पतला कपड़ा। बस इतनी ही आवश्यकता रहती तो उन्हें वस्त्र की आढम्बरों से वे कौनों दूर थे।

आस पास के भील उनके पास सहज ब्रह्मवश ही आ जाते थे । जिसमें सच्ची भक्ति तथा आस्तिकता होती है उसके प्रति सबके हृदय में अनजान ही एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है । आने वाले भीलों को वे अच्छी बातें बताते थे । सेवा-परोपकार तथा परस्पर सहयोग पूर्वक जीने की शिक्षा देते थे । सफाई से रहने का महत्त्व समझाते तथा परिश्रमपूर्वक द्रव्यार्जन करने की शिक्षा देते थे ।

आने वालों के प्रति उनका संदेश था— “दूसरों की सहायता करने और ईमानदारी से जीवनयापन करने की नीति—नीति अपनाकर कोई व्यक्ति छोटी पूजा से भी ईश्वर को प्रसन्न कर सकता है । कोई व्यक्ति भजना तो बहुत करे— पर कर्म नोच करे— तो उसका उद्धार भगवान् भी नहीं कर सकते ।”

यह थी उनकी शिक्षा, उनका उपदेश । वे सही अर्थों में ईश्वर भक्त तथा सन थे , सपस्त धर्म ग्रन्थों का सार उनके इस संक्षिप्त से उपदेश में निहित है ।

इनके प्रभाव में आकर कई भीलों ने खेरी करना— शराब पीना— जुआ खेलना तथा मांस खाना तत्क छेड़ दिया था ।

यह है एक सच्चे साधु का स्वरूप । जिसका हृदय एक भक्त तथा उपासक है । जिसकी बुद्धि एक सच्चे समाज सुधारक जैसी है और जिसका शरीर सही अर्थों में एक सेवक का शरीर है ।

हमारे देश में फैले ५६ लाख साधुओं में से यदि सत्ताश भी इस प्रकार की भावना तथा क्रियाकलापों को लेकर आगे आये तो इस गिरते हुए समाज की दशा सुधरते देर न लगे ।

आज पूजा बाबा नहीं रहे । पर उनकी दी हुई क्रियात्मक शिक्षाएं जन-जन के मनों में बस गई हैं । जिन्होंने उनसे कुछ भी प्रेरणा तथा प्रकाश पाया है उनके मनो में पूजा बाबा की स्मृति किसी भी भगवान् से कम नहीं । सच्चे अर्थों में मानवता के उपसक के रूप में उनको सदा स्मरण किया जाता रहेगा ।

विश्वमानव के सच्चे पथ-प्रदर्शक— स्वामी भक्ति वेदांत

३० वर्ष की कलती आयु के एक सच्चे कृष्ण भक्त का हृदय धकटते हुए विश्वमानव को सत्य का मार्ग बताने के लिए तड़प उठा । पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं, करियर भी अब उतना स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न नहीं कि आत्मा की आज्ञा सुनकर उसका अनुगमन कर ले । वह अमेरिका जैसे भौतिकवादी देश को अध्यात्मवाद की महिमा बताने को आतुर हो उठा । आत्मा की अमरता पर अगाध विश्वास तथा त्याग-तप के संचित बल को लेकर वह एक प्राणी अमेरिका जा पहुँचा ।

जहाँ किसी कार्य को करने की अक्ल इच्छा उत्पन्न हो जाय तथा उसको पूरे श्रम तथा मनोयोग से किया जाय तो असम्भव दीखने जैसा कार्य भी सम्भव हो सकता है । इस सफलता को देखकर कभी-कभी उसे चमत्कार की सज़ा भी दी जाने लगती है । ऐसा ही एक चमत्कार इस सकल्पवान ने अमेरिका में प्रस्तुत किया । इनका नाम

है प्रद्युम्न ए. सी. भक्ति वेदान्त । ये अमेरिका पहुँचे । यहाँ समाचार पत्रों में जो वहाँ की बातें पढ़ते थे वहाँ आँखों से देखने को मिली किसी भी प्रकार का समय और मर्यादा वहाँ पिछड़ापन माना जाता था । धन के पीछे अन्धे होकर दौड़ लगाने और उस धन को पाकर अन्धाधुन्ध शराब, व्यभिचार तथा अन्य शारीरिक तुष्टियों में खर्च कर देना यही एक जीवन-क्रम देखकर वे मानव की इस भूल पर रो पड़े वह सुस-दुर्लभ मानव जीवन इस प्रकार के जीवन के लिये तो नहीं मिला है ।

प्रेम और सेवा की पुँजी से इन्होंने यहाँ अपना भक्ति अभियान चलाया । ७० वर्ष के सात्विक, तप, त्याग भरे जीवन के कारण इनके व्यक्तित्व में ऐसी विलक्षणता उत्पन्न हो चुकी थी कि जिससे प्यार से बोले कि वह उनका हो गया । जिसकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरा कि वही लोहे से चुम्बक बन गया ।

जो इनके सम्पर्क में आया उसे आश्चर्य हुआ कि वह साधारण-सा आदमी जिसके पास सर्टों से बचने के लिये पूरे कपड़े तक नहीं, जिसके पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं, कितना प्रसन्न है ? कितना आकर्षक है, इसकी इस सादगी में ? जबकि हमारे पास यह सब आवश्यकता से अधिक होते हुए भी दुःखी और अतृप्त हैं । सच्चे सुख को इन्होंने पाया है । फिर वे इनके अनुयायी बनने लगे ।

कृष्ण भक्तों की वह सख्या बढ़ने लगी । जिसने अपनी शक्तियों को सन्मार्ग पर छल दिया । उसके जीवन में सुख-शान्ति का सागर लहराने लगा । फिर तो न्यूयार्क की सड़कों पर इन कृष्ण भक्तों का विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में संकीर्तन करते हुए निकलना एक साधारण बात हो गई ।

वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिये भक्ति वेदांत जी ने जो माध्यम चुना वह ‘कीर्तन’ है । कीर्तन के माध्यम से ही चैतन्यदेव ने भारतवर्ष में धार्मिक नवजागरण किया था । यही माध्यम इन्होंने भी अपनाया । देखने-सुनने में यह साधारण भले ही लगता है किन्तु इसका वहाँ जो व्यापक प्रभाव हुआ है उसे एक चमत्कार ही कहा जायेगा । इसे पहली बार देखकर कोई पागलपन समझ बैठता है पर प्रायः यही देखते रहने पर कुछ जिज्ञासा उत्पन्न होती है । उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जब उसकी जानकारी प्राप्त की जाती है तो पहली बार जिसे वह पागलपन समझता है उसी को स्वयं दोहराने लगता है ।

यही अमेरिका में हुआ १९६६ में भक्ति वेदान्त जी ने न्यूयार्क में “इंटर नेशनल सोसायटी फॉर कृष्ण कंशसनेस” की स्थापना की । इनके अनुयायी बढ़ते गये उनके द्वारा न्यूयार्क की सड़कों पर कीर्तन मण्डलियाँ निकली गईं । लोगों ने देखा अमेरिकन पुरुष व अमेरिकन महिलाएँ विशुद्ध भारतीय वेशभूषा भगवा धोती, भगवा कुर्ता और साड़ियों में ढोलक व झाँझ मजीरों के साथ भक्ति के रस में डूबे हरे-कृष्ण हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण हरे हरे ।” का उच्चारण करते हुए नच रहे हैं । पहले कुछ उपेक्षा की फिर जिज्ञासा उठी और फिर मन ने मान लिया ।

इस प्रकार के संघ में बड़े-बड़े बरों के युवक-युवतियाँ, कॉलेज के सुशिक्षित छात्र, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी तथा सभी वर्गों के व्यक्ति सदस्य बनने लगे। अब तक अमेरिका में लास एंजिल्स, न्यूयार्क, कैलीफोर्निया, बोस्टन आदि नगरों में इसकी शाखाएँ खुल चुकी हैं। इंग्लैण्ड, पेरिस, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में इसका प्रभाव बढ़ रहा है। हजारों लोग इस मिशन के सदस्य बन चुके हैं।

भक्ति वेदान्त जी अंग्रेजी के विद्वान् तथा गीता, महाभारत तथा भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उन्होंने अपनी इस प्रतिष्ठा की जहाँ आवश्यकता थी वहीं पर नियोजित किया। इस पाण्डित्य का उपयोग उपदेश देने अथवा मठ बनाने में नहीं करके लोक-कल्याण के लिये प्रयुक्त किया। इसी स्वाध्याय की पूँजी और आदर्शोन्मुख ७० वर्ष के त्याग और तप के कारण वे इतने लोगों को सद्मार्ग पर चलाने में सफल हो सके हैं।

वे सबसे अधिक बल संयमित जीवन व शुद्ध आहार पर देते हैं। उनकी मान्यता है कि संयम से ही सुख पाया जा सकता है तथा शुद्ध आहार से ही मनुष्य का मन निर्मल होता है उसमें सही मार्ग पर चलने में सरलता होती है। इसी कारण संघ की सदस्यता पाने के लिये इनका पालन अनिवार्य है। वे शराब, माँस, घूसपान, जुआ, आदि दुर्व्यसन ही नहीं चुड़ाने, धाव व कभी तक के लिये बना कर देते हैं। वे व्यक्ति जो दिन-रात शराब, माँस, उत्तेजक पदार्थों, सिगरेट आदि का सेवन करते थे, शारीरिक वासना में डूबे रहते थे। अब वे संयमित जीवन जीने लगे हैं शुद्ध शाकाहारी भोजन तथा गैर दुग्ध पर जीवनयापन करने लगे हैं तो वे अपने आपको बिल्कुल दूसरा ही मुक्त जीव पाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन से दूसरे भी प्रभावित होते हैं। इसी का परिणाम है कि एक वर्षों में ही इस प्रकार के संघी जीवन जीने वाले शाकाहारियों की संख्या हजारों तक पहुँच गई है।

अमेरिका से इस मिशन की बिम्बरधार व कार्यकलाप से स्वर्गों को परिचित कराने के लिये 'बैक टू गाड हेड' नामक मासिक पत्रिका व भक्ति वेदान्त जी के लिखे ग्रन्थ कई भाषाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। भारतीय मन्दिरों की तरह वहाँ पर सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया गया है। सिनेमा, टेलीवीजन तथा कीर्तन के रेकार्ड द्वारा भी इस मिशन का प्रचार किया जाता है। पुरी की रथ-यात्रा की तरह कैलिफोर्निया में वैंसी ही रथ-यात्रा निकली जाती है। वजीनिया में ५०० बीघा भूमि पर 'बुन्दावन' बसाया जाने का कार्य भी चल रहा है। कृष्ण भक्तों के नाम भारतीय रखे जाते हैं यथा कृष्णदास, गुरुदास, कीर्तनानन्द आदि।

भक्ति वेदान्त जी ने पश्चिम में भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप प्रस्तुत करके जो कार्य किया है वह आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। पौतिकता के पीछे दौड़ लगाने वालों को उन्होंने बताया कि जलन्ती अग्नि में छी डालने से आग बुझती नहीं बढ़ती ही है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो नियमों को तोड़कर कष्ट भोगता है और दुःखी होता है जबकि सारा जगत एक क्रम में, एक नियम में एक गति में चल रहा है मनुष्य इसके विपरीत चलकर सुखी नहीं हो सकता उसे संयम करना ही पड़ेगा। इसे सिखाने-समझाने की जो

राह उन्होंने चुनी वह सर्व-साधारण के लिये उपयुक्त ही नहीं इस कार्यक्रम की शीघ्रता से बढ़ाने वाली भी थी।

वे आत्म प्रसन्न से सदा दूर रहे। लोग उन्हें वैतन्यदेव का अवतार कहने लगे तो उन्होंने कहा "मैं तो कृष्ण सेवकों का चरण सेवक भर हूँ।" कीर्तन को वे अपने आपको ईश्वर से तादात्म्य जोड़ने का साधन मानते हैं तथा आत्म के आवरण को हटाने का साधन मानते हैं। उन्होंने केवल अनुयायी भर नहीं बनाये उन्हें कठोरतापूर्वक नियम पालन भी कसबा। संख्या की चिन्ता न करके ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करने का ही लक्ष्य उनका रहा।

भक्ति वेदान्त जी के प्रयासों से विश्वमानव के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय संस्कृति ही विश्व संस्कृति है।

स्वामी प्राणनाथ—जिन्होंने संन्यास का सच्चा अर्थ समझा

मेहराज संन्यास ग्रहण करके स्वामी प्राणनाथ बन गये किन्तु उन्हें इस संन्यास ग्रहण से कोई विशेष सन्तोष नहीं हुआ। घर-बार, स्त्री-पुत्र सभी छोड़कर केवल स्वर्ग या मुक्ति को कामना के अपने ही स्वार्थ में निरत रहने की सकीर्णता का नाथ ही यदि संन्यास है तो फिर गृहस्त्री और संन्यासी में अन्तर ही क्या रह जाता है। और फिर संसार से भाग कर कहीं जाय भी कैसे जा सकता है? फिर संन्यासी का धर्म क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर उन्हें नहीं मिल रहा था।

इसी प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम रहे थे। कभी भटकने के बाद उन्हें इसका उत्तर मिला समर्थ गुरु रामदास के कर्तृत्व के रूप में। समर्थ भी संन्यासी थे, विवाह की वेदी से उठकर भाग खड़े होने वाले संन्यासी, पर उनका मार्ग परम्परावादी संन्यासियों से भिन्न था। वे संसार से भागे नहीं थे वरन् उन्होंने अपने आपको संसार में इस प्रकार घुला दिया था कि वे उससे पृथक् दीखते ही नहीं थे। स्वर्ग मुक्ति की कामना से प्रेरित होकर मात्र भजन, ध्यान व योगाभ्यास में निरत होने की अपेक्षा उन्होंने जग जागरण का महत्वपूर्ण काम अपने हृदयों में लिया था। सोची हुई हिन्दू जाति को जगाने का समर्थ उद्योग किया था। धर्म के सच्चे स्वरूप को लोगों के सामने रखा था। धर्म और ईश्वर सामाजिक दायित्वों से पलायन करना नहीं सिखाते वरन् उनमें और अधिक दृढ़ता से प्रवृत्त होना सिखाते हैं।

अधर्म राज्य को हटाकर उसके स्थान पर धर्मसम्मत राज्य स्थापित करने और लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने का जो प्रबल पुस्कार्वर समर्थ गुरु रामदास ने दिया था उससे प्रभावित होकर वे भी उनके इस कार्य में सहयोग देने के लिए निकल पड़े। अब उनका लक्ष्य स्वर्ग या मुक्ति नहीं रह गया था। वे तो यह चाहने लगे थे कि मुझे तब तक स्वर्ग और मुक्ति नहीं मिले जब तक इस संसार का एक भी प्राणी दुःखी और बद्ध है।

स्वामी प्राणनाथ का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के जामनगर में हुआ था। बचपन से ही उनकी धर्म में अनुरक्ति थी।

३ १० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

पिता को धन लगा कि कहीं वे साधु-संन्यासी न हो जायें सो छोटी आयु में ही विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नी बाईजू राज पति-परायणा सरल चित्त महिला थी। कुछ वर्ष तक उनका पारिवारिक जीवन चलता रहा। लड़के बच्चे भी हुए। वे जब बचस्क होकर घर बार सम्हालने लायक हुए तो उन्होंने संन्यासी बनने की चिन्तित अभिलाषा पूर्ण कर ली। पर आरम्भ में तो उन्हें ऐसा ही लग्न जैसा पीराबाई ने अपने पद में बताया है— “जागी हय जुगत नहीं जानी उलटे जनम् फिर आसी” किन्तु फिर यह मिल ही गयी और उनका गृहत्याग करना सार्थक हो गया।

उन्होंने गाँव-गाँव जाकर लोगों को ईश्वर व धर्म का सच्चा स्वरूप बताना आरम्भ कर दिया। उस समय को हिन्दू जनता में निराशा और दीनता बढ़ रही थी। बहुसंख्यक होते हुये भी उन्हें मुस्लिम कुशासन व अत्याचारों का बोझ झेना पड़ रहा था। इसका मूल कारण जनता में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का अभाव और राज्यों की अहमन्यता आशयतलबी और स्वार्थपरता थी। इस निराशा व दैन्य को भेदने के लिए जिस अभियान को उस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी उसे दुर्गा धर्म समझकर अपनाने वालों में स्वामी प्राणनाथ भी एक थे।

धर्म और अध्यात्म व्यक्ति को अन्तिमक प्रगति के साथ ही उसे सामाजिक दायित्वों का बोध भी कराते हैं किन्तु उस समय के साधु संन्यासियों ने उस पक्ष को भुल दिया था। जनता में भी धर्म और अध्यात्म का वैसा ही स्वरूप प्रचलित था। उसके स्थान पर समयानुसार धर्म का दिग्दर्शन करने के लिए स्वामी प्राणनाथ गाँव-गाँव, घर-घर घूमे।

उनके प्रखर व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों का जनता पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। किन्तु राजा लोगों ने उनकी बात नहीं मानी। सुनी तो सही। उनका संन्यासी के नाते सम्मान भी किंचित पर जब स्वामी जी ने उनसे संगठित होकर स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र के गठन की बात कही तो वे उन्हें कहने लगे— “यह तो सम्भव नहीं हो सकता। धर्म की बात करना एक बात है और उस पर पालन करना दूसरी बात। धर्म और राजनीति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।” इस पर स्वामी जी उन्हें भगवान् कृष्ण और महाभारत का उदाहरण देकर बताने लगे तो उस समय तो वे भान सेते पर बोड़े ही समय बाद वे पुनः अपने ऊँ पर ही चलने लगे।

स्वामी जी कर्म में विश्वास रखते थे सो अपना काम करते रहे। घूमते-घूमते वे पन्ना पहुँचे। वहाँ के अधिपति महाराज छत्रसाल उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुये। उन्हें लगा कि जिस प्रकार समर्थ गुरु रामदास को शिवाजी मिले थे वैसे ही यों लिये छत्रसाल वैसे ही सहयोगी सिद्ध होंगे और हुये भी सही।

छत्रसाल उस समय बमुना से लेकर नर्मदा तक के क्षेत्र के अधिपति बन चुके थे। यह उनके अपने पुष्कल व परिणाम था। छत्रपति शिवाजी से उन्हें मार्गदर्शन व सहायता मिली थी। छत्रपति शिवाजी उनके आदर्श ही नहीं आराध्य थे। स्वामी प्राणनाथ से घंट

होने पर उन्होंने उन्हें अपना गुरु बना लिया। उनके निर्देशानुसार वे धर्म, राज्य व धर्म युद्ध में प्रवृत्त होते रहे थे।

इतने बड़े भूभाग के अधिपति होते हुये भी अभी तक छत्रसाल सेनापति ही थे वे महाराज या राजा नाम से नहीं पुकारे जाते थे क्योंकि अब तक उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। वे राज्याभिषेक कराने के इच्छुक भी नहीं थे किन्तु स्वामी प्राणनाथ के आग्रह पर उन्हें राज्याभिषेक के लिए तैयार होना पड़ा था। उनके राज्याभिषेक होने से दो बातें उजागर होती थी। एक तो यह कि इतना बड़ा हिन्दू राज्य गठित हो गया है। इससे प्रजा में स्वाभिमान व उत्साह की वृद्धि होगी दूसरे एक सामान्य से जगोत्थर के पुत्र द्वारा इतने बड़े राज्य की स्थापना करना और वह भी अपने लिए नहीं हिन्दू समाज में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की अपनी भवना जगाने के उद्देश्य से सुशासन देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर।

स्वामी जी बुन्देलों के सहायक, सुभचिन्तक और परामर्श दाता थे। राजा राज्य का प्रबन्ध करे पर वह प्रबन्ध किसी सुयोग्य धर्माचार्य के मार्गदर्शन पर चले इस परम्परा को उन्होंने पुनर्जीवित किया। आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का और समर्थ गुरु हम्दास ने शिवाजी का जिस प्रकार मार्गदर्शन किया उसी प्रकार स्वामी प्राणनाथ ने महाराज छत्रसाल के राज्य को धर्म राज्य बनाकर अपने मार्गदर्शन द्वारा।

सन् १६८७ में उन्होंने महाराज छत्रसाल का शास्त्रानुसार राजतिलक किया। शास्त्र में राजा के वर्णित दायित्वों को निभाने के लिए वे बचनबद्ध हुए। इन दायित्वों का पालन करते रहने में स्वामी जी उनके सहायक हुए थे। जब कभी वे थके तो उन्होंने उन्हें धूल सुधराने के लिए प्रेरित किया। स्वामी प्राणनाथ का शेष जीवन पन्ना में ही व्यतीत हुआ।

स्वामी प्राणनाथ एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। ब्रह्मा और ईश्वर का एक मानने से एकता की भावना को बल मिलता। अतः उनकी यह मान्यता व्यावहारिक भी थी। “जहाँ धर्म होता है वहाँ विजय होती है” वह सत्य ही छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल के उत्कर्ष का मूल का और उस मूल को सींचने वाले थे समर्थ गुरु हम्दास और स्वामी प्राणनाथ। समाज को सदा ऐसे ही संन्यासियों की आवश्यकता रहती है।

निष्ठावान धर्मसेवी—सन्त फतहसिंह

स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के साथ ही भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये। एक ही देश में बसने वाले दो स्वजन बाधक अकारण एक दूसरे को शत्रु की निगाह से देखने लगे। विभाजित पंजाब के उस भाग से, जिसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र होने के कारण पाकिस्तान के रूप में अलग राष्ट्र बनाया गया था। लाखों की संख्या में अल्प संख्यक हिन्दुओं को मार-मार कर भगाया गया। वहाँ के शासकों और धर्मोन्मादी व्यक्तियों ने हिन्दुओं की सारी बायबदाद और सम्पत्ति छीन ली। बड़े बड़े लखपति कुमाल होकर और लम्बे चौड़े परिवार के सदस्य अनाथ और एककी बनकर भारत में चले आये। इन वीथन्स घटनाओं की

प्रतिक्रियास्वरूप भारत में भी स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हुए और देश के मूर्धन्य नेताओं के मार्ग पर चिन्ता की रेखाएँ खींची गयीं।

उस समय जब दिल्ली में सत्ता हस्तान्तरण का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों के समग्र श्रेयस्वाजन महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक दलों से ग्रस्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापना का प्रयास कर रहे थे। वे इस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सके। उनके अतिरिक्त एक व्यक्ति ऐसम और भी था जो ऐसे ही दंगा पीड़ितों और शरणार्थियों के डेरों में धूमता, उनकी चिन्ता करता और सान्त्वना देता फिर रहा था। वह व्यक्ति बाद में सन्त फनहसिंह के नाम से वर्षों बाद भारत के राजनीतिक आकाश में एक विस्फोटमय व्यक्तित्व के रूप में चमका। अखबारों में सन्त फनहसिंह के विचार और कार्य मुखपृष्ठों पर छपे। भले ही उनकी इतनी प्रशंसा न की गयी हो परन्तु इसके वर्षों पूर्व उन्होंने धर्म और समाज सेवा के क्षेत्र में जो कार्य किये उन्हें उनकी महानता की ही अधिव्यक्ति कही जानी चाहिए।

सन्त फनहसिंह के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन्होंने अपने स्वयं के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा। कुछ लोगों के मतानुसार वे मुस्लिम-गुजर माता-पिता की सन्तान थे और कुछ लोग यह मानते हैं कि वे सिख परिवार में हो जन्मे थे। जो कुछ भी हो वे एक सिख सन्त के रूप में ही सर्वजनिक क्षेत्र में आये और धर्म सेवा को अपना कार्य चुना। बाद में उन्होंने राजनीति में भी प्रवेश किया। इस क्षेत्र में वे काफी विवादास्पद भे रहे। फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय हिन्दों के सम्मने अपने विरोधी विचारों तथा मतभेदों को धुला देने और देश सेवा के लिए आगे आने की ही नीति अपनायी।

पंजाब के भाषाक्षर विभाजन की माँग लेकर सन्त जी ने सितम्बर ६५ में आमरण अनशन किया तथा आत्मदाह की धमकी दी। परन्तु तभी भारत पर पाकिस्तान ने हमला किया और सन्त जी ने अपनी माँग स्थगित कर दी। उपस्थितियों ने उनका उस समय विरोध भी किया था परन्तु उन्होंने इसको कोई चिन्ता नहीं की। उनकी दृष्टि में उस समय अपने मतभेदों से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था देश की सुरक्षा और अखण्डता को बचाये रखने का। यद्यपि वे सरकार में नहीं थे, फिर भी अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा का उपयोग कर उन्होंने जनता का मनोबल बनाये रखने और शत्रु के हमले का मुकाबला करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मास्टर तारासिंह उनके अनन्य सहयोगी रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में सन्त जी की लाने का श्रेय मास्टर जी को ही दिया जाता है। किन्तु मास्टर तारासिंह ने जब पंजाबी सूबे के नाम से एक सिख बहुल राज्य की घोषणा की तो सन्त जी ने उसका विरोध करते हुए कहा कि हिन्दू और सिख कोई दो अलग जातियाँ नहीं हैं। उनमें अलगाव की बात तो दूर एक-दूसरे से भिन्न पन्थ का मानना भी उनका अपमान करना है।

सन्त जी की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ उस समय की हैं जब देश में अधिक लोग उन्हें नहीं जानते थे। शरणार्थियों के पुनर्वास में उन्होंने महत्वपूर्ण स्मरणीय भूमिका निभायी थी।

पेशवाओं के पथ-प्रदर्शक— ब्रह्मेन्द्र स्वामी

छत्रपति शिवाजी के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी उन जैसा योग्य व दूरदर्शी सिद्ध नहीं हो सखा इस कारण उनके द्वारा स्थापित महाराष्ट्र का हिन्दू राज्य अल्पकाल के लिए विभूखलित हो गया उसे पुनर्गठित करने का श्रेय बालाजी विश्वनाथ पेशवा, खण्डो बल्लास तथा बालाजी विश्वनाथ पेशवा के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी प्रभूति देशभक्तों को है।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय से ही छत्रपति तो नाम के राजा रह गये वे सारी शक्ति पेशवाओं के हाथ में आ गयी थी। पेशवा बालाजी और उनके पुत्र पेशवा बाजीराव को देश की रक्षा में सतत सन्नद्ध रहने व धर्मसम्पन्न राज्य करने की प्रेरणा का मार्गदर्शन जिस तपस्वी व्यक्ति ने दिया वे थे ब्रह्मेन्द्र स्वामी। ऐसे तपस्वी संन्यासियों को हर समय देश की आवश्यकता रही है। शिवाजी को सामान्य ज्योतिषी के पुत्र से महाराष्ट्र के अधिपति बनाने में जो योगदान समर्थ गुरु रामदास का रहा—वही बालाजी विश्वनाथ को एक सामान्य किरानी (बस्तर्क) से महाराष्ट्र पेशवा बनाने का श्रेय ब्रह्मेन्द्र स्वामी को है।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी का जन्म नाम विष्णुपन्त था। बरार प्रदेश के दुधेवाड़ी ग्राम के देवस्थान ब्राह्मण की सौभाग्यवती भार्या उपाकाई की कोख से इस विशिष्ट आत्मा का जन्म सन् १६४९ में हुआ। बाल्यकाल से ही बालक विष्णु का चित्त ईश्वराधना में ही अभिन्न लगता था। ये दस वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। अब विष्णु पुरे तरह विरक्त हो चुके थे। वे धूमते-धूमते ज्ञानार्जन के उद्देश्य से कागवसी पहुँचे। काशी आरम्भ से ही विद्या और शिक्षण का केन्द्र रहा है। वहाँ परमयोगी परित्याजकधर्म स्वामी ज्ञानेन्द्र सरस्वती उन्हें योग्य गुरु मिले। उसी से उन्होंने वेदान्त की शिक्षा व संन्यास की दीक्षा ली।

कागवसी से लौटकर देशाटन करते हुए ब्रह्मेन्द्र स्वामी महाराष्ट्र पहुँचे और सदाश्री पर्वत के परशुराम देवस्थान के क्षिपुद्रुम ग्राम में तपस्या करने लगे। तप-साधन द्वारा आत्म-शोधन व आत्मशक्ति सम्पादन के लिये जिस एकाग्रता की आवश्यकता होती है वह यहाँ भी थी। जब उन्होंने तप द्वारा अपने शरीर, मन और आत्मा को इस योग्य बना लिया कि वे अपने ज्ञान व आत्मशक्ति द्वारा लोक-कल्याण कर सकें तो वहीं पर उन्होंने अपना आश्रम बनाया।

बालाजी विश्वनाथ का सम्पर्क इन्हीं दिनों उनसे हुआ। वे स्वामी जी के ज्ञान व तपस्या से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। स्वामी ब्रह्मेन्द्र स्वामी के उपदेशों व मार्गदर्शन का ही फल था कि बालाजी विश्वनाथ स्वयं भी सामान्य राज्य कर्मचारी से प्रगति करते हुए महाराष्ट्र राज्य के पेशवा बन सकें साथ ही देश व समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सकें।

बालाजी विश्वनाथ के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी थे स्वाधीन जी के अनन्य भक्त थे। ब्रह्मेन्द्र स्वामी का मराठा सामन्तों पर बड़ा प्रभाव था। इस प्रभाव का उन्होंने उन्हें एक सूत्र में बाँधकर रखने में उपयोग किया। वे देश में भ्रमण करके लोक-जागरण व देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार किया करते थे।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी समर्थ गुरु रामदास की तरह त्यागी व्यक्ति नहीं थे, उनके पास अनेक धनी-मनी शिष्यों व राज-सर्गों से काफी धन-सम्पदा आती थी। यद्यपि वे इसे निस्वार्थ भाव से ही ग्रहण करते तथा लोकहित के कार्यों में ही व्यय करते थे। उन्होंने समय-समय पर महाराष्ट्र मण्डल की भी आर्थिक सहायता दी थी। पर उन जैसे निस्पृह कितने व्यक्ति होने हैं। उन्होंने यह काम निष्काम भाव से किया था पर उनका अनुकरण करने वाले उस भाव का स्थिर भी रह सकेंगे या नहीं इसकी जिना उन्होंने नहीं की।

बाजीराव पेशवा की मृत्यु के थोड़े समय बाद उनका देहान्त हो गया। उनके तपोमय जीवन व लोककल्याण की साधना ने हिन्दू के उत्थान में जो योग दिया उसको भुलाया नहीं जा सकता।

जब पहचानी मानव जीवन की गरिमा

“उहरे।” मानो किसी ने पीछे से जवरन खींच लिया हो। सचमुच दो घण पीछे हट गया अपने आप। मुख फेर कर पीछे देखना चाहा उसने इस प्रकार पुकारने वाले को, जिसकी बाजी में उस जैसे कृतनिश्चयी को पीछे घसीट लेने की शक्ति थी।

थोड़ी दूर शिखर की ओर उस टेढ़े-मेढ़े घुमावदार पथ से चढ़कर आते उसने एक पुरुष को देख लिया। मुण्डित मस्तक पर तनिक-तनिक उग आए पके बालों ने सफेदी घेत दी थी। यही दशा नर्मिका और उसके समीप के कपोल के कुछ भागों को छोड़कर शेष मुख की भी थी। काटि पर गेरुए कोपीन के अतिरिक्त शरीर पर अन्य कोई वस्त्र न था। खूब लम्बे शरीर को वृद्धावस्था न तो क्षीण कर सकी थी और न चुरियाँ डाल पाई थी।

नजदीक आने पर दिखा कि उनके शरीर का रंग भी कोपीन की ही भाँति रक्तियुक्त है। उनका भव्य ललाट आत्म तेज की आभा से दीप्त है। उनके तेजपूर्ण नेत्रों से निकलने वाली ज्योति रेखाएँ किसी से अस्तित्व को भेदने में सक्षम हैं। वह अपलक खड़ा देखता रहा।

“तुम आत्महत्या करना चाहते हो ? इतने डरपोक हो तुम ?” छिं-छिं झिझक दिया महापुरुष ने। नीचे अतल खड़ु था। एक उजाड़ ऊँची चोटी पर किनारे से कुल दो पद पीछे खड़ा था। वहाँ से झुक कर नीचे देखने में भी भय लगता था। नीचे गिरे तो हड्डी-पसली का पता भी नहीं चलने का। इसी चोटी से कूदकर अपनी विषम भावनाओं से मुक्ति पाने आया था वह। कोई अक्सरिमक बात न थी कई सप्ताह मनोम-मन के तुमल संघर्ष के बाद यह निश्चय किया था। पर कहां हाथ रे मनव ! मरना भी तेरे हाथ नहीं। ठीक कूदने के क्षण उसे पुकार कर रोक लिया गया।

“तुम जानते हो कि मरकर परिस्थितियों को बदला नहीं जा सकता।” महापुरुष उसके कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखकर कह रहे थे “संकटों का मृत्यु हटा नहीं जानी और न उससे कुछ मिल पाता

है। उनसे डर कर जीवन से भागना घुजास्पद भीरुता है और तुम्हें यह भी ज्ञान लेना चाहिए कि इस संसार में समस्त टण्ड विधान भीरु के लिए बनाए जाते हैं।”

“मैं अब गया हूँ। जलते-जलते मेरा हृदय असह्य पीड़ा से विदीर्ण हो चुका है।” उसकी सिसकियाँ फूट पड़ीं। “किसी भी प्रकार मैं अब वह सब सहन नहीं कर सकता। एक बार इससे परित्राण पाने का मैंने निश्चय कर लिया है।”

“बड़ा अच्छा निश्चय है तुम्हारा।” उनके चेहरे पर हँसी खेल गयी। “धोले युवक। जब गाय क्षुधा-पिपासा, हरे चारे के लोभ या बन्धन से ऊबकर रस्सी तुड़ा कर भागती है तो पुनः पकड़ कर बाँध दी जाती है। बन्धन और कठोर हो जाता है। लाठी-डण्डे व्याज में मिलते हैं।”

यह पहली उसकी सपझ में नहीं आई। मुख उठाकर उसने उनकी ओर निजामा भरी आँखों से देखा।

“कर्मों का नाश नहीं होता। प्रारब्ध प्राप्त भोगों का परित्याग कोई अर्थ नहीं रखता। अगला जीवन वहीं से शुरू होगा, जहाँ से तुमने इसे छोड़ा था। आत्महत्या पाप है— उसका दण्ड अपने कर्म क्षेत्र से बिना नियमित अवकाश का अवसर आए भागने का दण्ड दोनों को ही तुम्हें भोगना पड़ेगा।”

“ओह !” सिर पर दोनों हाथ रखकर घुटनों के बल वहीं बैठ गया। दोनों घुटनों के मध्य सिर करके सम्भवतः रोने लगा था। निस्सीम थी उसकी बेदना ओर-छोर नहीं था उसकी पीड़ा का।

“मेरे बच्चे !” महापुरुष के अमृतस्पर्शीकणों ने उसके मस्तक का स्पर्श किया। उनकी जीवन संचारिणी बाजी ने कानों में अमृत उड़ेली— “तुम कर्ब अधीर हो रहे हो। जीवन उसका है जो दृढ़तापूर्वक उसे अपनाता है। जो कठिनाइयों के मस्तक पर अपने मजबूत पाँव जपाकर खड़ा हो सकता है। जीवन अधीर और भीरु का नहीं है।”

संभ्या हो चुकी थी। अस्त-चल से एक बार दिनपति ने जगती को देखा और उनके विराग की छाया सम्पूर्ण बरातल पर बिस्तीर्ण हो गई। सम्पूर्ण द्विभाच्छादित गिरी शिखिर गैरिकवर्णों कीतरागी संन्यासी के वेश में परिवर्तित हो गए। तरु-वीरधलताओं ने भी उसी वर्ष को अपना लिया। प्रत्येक शिला रंग गई उसी रंग में। पक्षियों ने दिशाओं में मन्त्रपाठ प्रारम्भ किया और इसी समय मगन से उन दोनों व्यक्तियों के मस्तक पर धुनी रुई के समान सूर्य किरणों में रंगी हिम इस प्रकार गिरने लगे, जैसे आकाश से गेरु की वर्षा हो रही हो।

“अब हिमपात का प्रथम दिन है।” उन्होंने नभ की ओर देखा। सम्भव है अधिक बर्फ गिरे। उन्होंने सकेत किया और वह उनके पीछे अवज्ञ हो चल पड़ा। हिम पर नये चिह्न बनते जा रहे थे और नवीन हिम उन्हें मिटाता जा रहा था। वे चले जा रहे थे, चुपचाप शात पैर बढ़ाए।

इन पैरों ने उन दोनों को एक झोंपड़ी तक पहुँचा दिया। जल का एक घड़ा मिट्टी के दो-तीन सक्करे, कटु तुम्बी के कटारे जैसे कट,

दो बोल कुछ टाट एक चटाई। बोड़ी-सी पुस्तकें और कोपीन के दो गोरोंक दुकड़े उनके पास परिग्रह के नाम पर बस यही था।

“माता-पिता दस साल की आयु में छोड़ कर चले गए। जमीन जायदाद हड़पने को मगे सम्बन्धी काफ़ी थे।” चटाई के एक छोर पर बैठा वह इनको अपनी कहानी सुना रहा था। दूसरे छोर पर कमर की कुछ चुकाकर बैठे वह ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुन रहे थे। “जिनहोंने सब कुछ हड़प लिया, वे भी रूखी रोटी देने में शक्ति हैं। सब मुझमें इस तरह दूर-दूर रहते हैं जैसे मैं कूत का रोगी होऊँ।”

मैंने सोचा “शायद वह भी भगवान् का कोई अनुग्रह है। सो पटकता हुआ यहाँ चला आया। पर मेरा अन्तर्जगत मादल से भी अधिक कोलाहलपूर्ण है। दुर्दय पन अदम्य नीरस हृदय।” बीस वर्ष के इस तरुण के जीवन अनुभवों को वे गहरी एकाग्रता के साथ सुन रहे थे। वह कह रहा था “शरीर का कोई उपयोग नहीं। हृदय की उत्सुकता और कौतूहल पर चुके। बुद्धि केवल कल्पना जाल में अपनी शक्ति व्यय करके रह जाती है।” रुक-रुक कर कह रहा था वह “तब पृथ्वी का भार क्यों बढ़ाया जाय ? निर्धन को संसार में जीने का अधिकार नहीं—साधना के लायक मेरा मन नहीं। तब ऐसे में”

चन्द्रमा हलका-हलका प्रकाश दे रहा था वृक्षों की शाखाएँ धूमिल रजनी में हिम का उज्ज्वल भार उठाए चमक रहे थे। क्षण-क्षण पर उनसे धप शब्द के साथ हिम का ढेर गिर पड़ता। पशु-पक्षियों की चीखें बदा-कदा सन्नाटे को कँपा देतीं। उदज के आले में चन्द्र-मन्द दीपक टिमटिमा रहा था। गहराणी रात्रि उसकी पलकों को बेझिल करने लगी। बातों का अधूरापन उसमें खोने लगा।

दूसरे दिन रात्रि की बर्फ तो गल गई। पर कीबड़ हो गया था पथ में। वृक्षों के पत्ते काले पड़ गए थे। लताओं की हरीतिमा लुप्त हो जाने से उनका कण्टकमय कंकाल साफ नजर आने लगा था। उन्होंने स्नान क्या किया, माने महासमर जीत लिया हो। सूर्य किरणें प्राणों का वितरण करने में तन्मय थी।

“तुम मानव हो, वह मानव जिसकी मनवत्ता पर देव और दानव दोनों ईर्ष्या करते हैं।” महात्मा बाहर एक स्थान पर बैठ गए थे, वह भी उनके सामुख बैठा था। “तुम्हें ठीक-ठीक मनुष्य बनना है, उससे कम नहीं।”

“किसे कहते हैं मानव ?” प्रभावपूर्ण ढंग से वह रुक-रुक बोल रहे थे “सबलता और दुर्बलता के मिश्रित पुतले को, जिसमें दूसरों के प्रति भी वहीं अनुभूति हो, जो उसे अपने सम्बन्ध में होती है। यही अनुभूति जीवन का सार है। जैसे-जैसे यह गहरी होती है दुर्बलताएँ पलायन कर जाती हैं। उसके इस भावमय स्वरूप को देख अरायण भी ललचा उठता है। वह भी नर रूप धर कर भागा चला आता है और मनुहार करता है घैया। तुम मुझे अपना मित्र बना लो। उसकी अनुनय तुमने सुनी है, सुहृद सर्वभूतानां के बहाने।”

शब्द उसके अन्तर्मन में उतरते चले जा रहे थे। दूसरों की पीड़ा की भावानुभूति। उसने दूसरों के बारे में सोचा ही कब ? वह तो सदा अपने बारे में सोचता चल आया है। औरों को ऊँचा उठाने में लगी

दुर्बल भुजाएँ भी थोड़े समय में लौह दण्ड बन जाएँगी। पर उसकी नियति सोच की सुई वहीं अटक गई। वह नियति ही तो उसे पटकने आई है “नियति नियति” मुँह से निकल ही गया आखिर यह शब्द।

शब्द के पीछे झँकता मन का उद्वेलन उनसे छिप न सका वे कहने लगे “नियति की यही इच्छा है कि मनुष्य ऊँचा उठे। उसे आगे बढ़ाने के लिए प्रकृति की शक्तिवाँ निरन्तर सक्रिय रहती है। ईश्वर के राज-पुत्र को सुखमय बनाना ही प्रकृति का क्रम है। सृष्टि ने इसीलिए उसे स्वा और खड़ा किया है।”

“फिर भी स्वयं दुःख में डूबा है वह।” चाहते हुए भी अपने आश्चर्य को व्यक्त करने से ठेक न सका।

“अन्तःकरण की अकरोक्ष्ण का सही निर्धारण नहीं कर पाया वह यदि वह प्रथम पुरुषार्थ उससे हो सके तो आत्मसत्ता उसकी पूर्ति में जुट जाती है। मनःतत्र अपनी विचारशक्ति और शरीर तत्र अपनी क्रियाशक्ति को उसी आदेश के पालन में जुटा देता है। मनुष्य आगे बढ़ता है। उसके निर्धारण और पुरुषार्थ को इस विश्व में चुनौती देने वाला कोई है भी तो नहीं ?”

वार्तात्पत्र के इस अनवरत प्रवाह में उठ रही अनेकानेक विचार धँवरों में उसके मन की टूटी नाव चक्कर खाने लगी। गहरी मीमांसाओं को सुनने जैसी मनःस्थिति उसकी अभी हो नहीं सकी थी। वह तो सोपे-सादे स्वयं में समाधान जानने का इच्छुक है। रात्रि-दिवस पर्यन्त उनके सन्निध्य से उसे यह जो अनुमान हो गया था जिसे वह खिलौने की तरह तोड़-पटककर फेंकना चाहता था, वह जीवन कोई बहुमूल्य सम्पत्ति है। पर उसका उपयोग किस तरह हो।

अवचेतन की गहराइयों से उमड़ रही उसके मन की हलचलें उनसे छिपी नहीं। संकोच ने शापी पर भले बाँध बना रखा हो, पर विचारों को अविशम धारा को कौन रोके ?

“मृषपय शरीर मन्दिर में शारवत चेतन आत्म देवता का निवास ! वही है जीवन ! इन आत्मदेव की उपस्थिति मिट्टी के शरीर को भी चिन्मय बना छालती है। उनकी गम्भीर बाणी जीवन का रहस्य उमड़ने लगी। जीवन स्वयं में देवता है, अपरिमित शक्ति का स्रोत भावमय प्रेय इसकी उपासना है, सहस्र भए पुरुषार्थ इस परम देव की साधना और गीत की मनहसियत से मरते जा रहे विश्व वसुधा में जीवन चेतना का प्रसार विस्तार इसकी आराधना है।”

शब्दों की धाप ऊर्जा से उसकी सम्मोहन बेड़ी एकाएक तड़तड़ा कर टूट गई। इस नए तत्त्व दर्शन ने उसे चौंका दिया। अभी तक तो उसने जीवन को नोचने-खसोटने-चबाने को, दौड़ते-चीखते चिल्लकते पिस्तब प्रेतों से भरा महाश्मशान समझा था। विलासिता के कुर अट्टहास अथवा दारिद्र्य का दैन्य क्रन्दन। उन्माद के चक्रवात और घुटन की मेख-मालाएँ अब तक इन्हें ही जीवन का नाम देता आया था। कितने भ्रम में पड़ा था, स्वयं की बौद्धे सोच पर उसे शर्म आने लगी।

“हुई पहचान मानव जीवन की गरिमा की ?” उसे मौन देख उनका सवाल ठहरा।

‘हो’ इस एक शब्द के साथ एक क्षण के लिए दोनों की आँखें मिलीं । यही दीक्षा थी जीवन के महामंत्र की । स्वयं के जीवन को नष्ट करने के लिए उत्तम युवक विष्णुपन्त ब्रह्मेन्द्र स्वामी में बदल गया । परम योगी ज्ञानेन्द्र सरस्वती की जीवन विद्या का प्रभाव था वह । जीवन के इस आराधक ने १७वें सदी में महाराष्ट्र के इतिहास को नया मोड़ दिया । साधारण से क्लर्क बालाजी विश्वनाथ को गढ़कर पेशवा बनाया । अपने कर्तव्य से समर्पण रामदास की स्वतन्त्रता की पूर्ति की । यह महा परिवर्तन-जीवन देवता की आराधना का सुफल था । हमारे अपने शरीर मन्दिर में बैठे यह परम देवता अपने सवालनों की झड़ी लगाए है, पतन अभीष्ट है वा उत्कर्ष ? असुरता प्रिय है या देवत्व ? सुदृढ़ता चाहिए या महानता ? इसके निर्णयता तुम स्वयं हो । पतन के पथ पर नारकीय मार सहनी पड़ेगी, उत्कर्ष के पथ पर स्वर्गोपम शांति की प्राप्ति होगी ।

निर्णय मनुष्य के हाथ में है । पतन की स्वतन्त्रता से विद्यात्मक ने मनुष्य को दी है किन्तु स्वच्छन्दता बरतने की नहीं ।

यही आत्ममर्शन व्यक्ति को नर से देव मानव, महामानव व ऋषि देवदूत बना देता है । समय-समय पर भगवत्कल की सत्ता विभिन्न रूपों में मानवी चेतना को झकझोरने आती रही है । उसे पहचानकर अवसर का लाभ जिसने उठा लिया, वह निहाल हो गया । मानव जीवन दुबारा नहीं मिलता । वह क्षण हेतु नहीं, गरिमा के अनुरूप शानदार जीवन जीने को मिला है, इस तथ्य को बार-बार मनोपटल पर लाया व जीवन व्यवहार में उतारा जाना चाहिए ।

आजीवन ब्रह्मचारी—गोपाल कृष्ण

हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा, पुनर्जीवन और उसके आन्तरिक आदर्शों के प्रसार का जब भी प्रश्न उठा उत्तरी भारतवासियों की अपेक्षा दक्षिणवासियों ने कम त्याग और उत्सर्ग नहीं किये । जगद्गुरु शंकराचार्य को बौद्ध धर्म और चार्वाकियों के विरुद्ध शक्ति और संरक्षण देने वालों में दक्षिण की साधारण जनता ही नहीं राजा-महाराजा तक कूड़े थे । विवेकानन्द विदेशों में हिन्दू धर्म के प्रसार के लिये गये उसका सारा प्रबन्ध दक्षिण के शिष्यों ने ही किया । अब कहीं से भी कोई बलिष्ठ आवाज नहीं आ रही थी तब अरुणाचलम में भगवान् शिव के चरणारविंदों में कठोर तप और हिन्दू आस्थाओं को जीवन देने वाले महर्षि रमण को क्या कभी भूला जा सकेगा ? उससे तो उत्तर को वर्तमान में और अधिक सेवा, त्याग और धर्मोत्सर्ग की भावना हो मिलेगी ।

दक्षिण में अनेक ऐसे विद्वान्, पंडित, समाज-सेवी, धर्मनेष्ठ महापुरुष हुए हैं । कुछ यश पा गये, कुछ ऐसे भी रहे जो लोकेक्षण से बचकर धर्म को ही भगवान् मानकर आत्म-सुख के लिये उसकी सेवा में आजीवन आरुढ़ रहे । गोपाल कृष्ण ऐसे ही थे जिन्होंने धार्मिक नव-निर्माण के लिये लगाई गई एक ही आवाज पर जीवन के सारे सुखोपभोगों को छोड़कर मार दी और माथे में तप की जो भभूत रमावी तो वह चित्त पर जाकर ही अदृश्य हुई ।

गोपाल कृष्ण का जन्म तनामयैठ के तिरसाभाहम ग्राम में हुआ था । उन दिनों सन्त बसवेश्वर हिन्दू धर्म की टूटी अस्थाओं को जोड़ने रुढ़िवादित्वाओं से जनमानस को प्रबुद्ध बनाने में लगे थे । वह एक तरह का छोटा सा युग-निर्माण आन्दोलन ही था जिसने तत्कालीन व्यक्तियों को ही नहीं कुलीन सामन्तों और राजाओं को भी प्रभावित किया । अनेक सम्पन्न व्यक्तियों ने अब देखा कि समाज सुधार और धार्मिक जागरूति में सहयोग से बढ़कर और दूसरा पुण्य नहीं ले अनेकों लोग तत्पर हो उठे और उन्होंने हिन्दू धर्म की आस्थाओं के पुनर्नयन में पूर्ण लगन से काम किया । वह प्रभाव उस क्षेत्र में आज भी बहुत अंश में विद्यमान है ।

ऐसे समय जब एक ओर समाज गहरी दुर्वस्था की नींद में खरटि पर रहा था, पश्चिमी जीवन की आदर्श-संस्कृति की अन्धविश्वास, अशिक्षा और रुढ़िवादिता के चूहे कुतरने में व्यस्त थे, तब सन्त बसवेश्वर की उस आवाज को गुरु गम्भीरता से पहचानने वालों और उसके लिये न्याय करने वालों में गोपाल कृष्ण का नाम शीर्ष में लिखा जाता है । उन्हें लोग प्यार से ‘तम्बी’ कहते हैं । तम्बी दक्षिण में छोटे बच्चों को प्यार से पुकारा जाता है ।

गोपाल कृष्ण की आयु तब २५ वा २६ वर्ष की थी । वे पथार्थ विद्या और योग्यता प्राप्ति कर चुके थे । इधर घर में एक बहू लाने का प्रयत्न किया जा रहा था । सम्बन्धीगणों में तम्बी को अच्छी से अच्छी सर्विस दिलाने की प्रतिस्पर्धा चल रही थी तब उस युवक ने इन सारे प्रलोभनों, सांसारिक सुखों को तारत मार धर्म सेवा के लिये ऐसा हलका धातावरण बना लिया, जैसे अपने बुने आल की स्वयं हो उदारस्व कर मकड़ी सब परेशानियों से छुड़ी पाकर हलकापन अनुभव करती है ।

पिता बहुत रुष्ट हुए— पागल हुआ है, विवाह नहीं करेगा, सर्विस न भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, धन की कोई कमी नहीं है पर विवाह तो करना ही पड़ेगा, गृहस्त्री संभालनी ही पड़ेगी और समाज में अपने परिवार की प्रतिष्ठा को ऊंचा रखना ही पड़ेगा ।

मन ने कहा— जब सारा देश बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टता में आबद्ध है तो एक परिवार की प्रतिष्ठा कैसी ? अहम्भक्तियों और बकूती हुई दुष्प्रवृत्तियों के कारण सारा समाज झुलस रहा है तो अपने सुख की चिन्ता क्या करना है । अपना धर्म विगलित पड़ा हो, अपने जातीय आदर्श ओछे और धिनीन साबित किये जा रहे हों तब राष्ट्र का युवावर्ग, प्रबुद्ध जन-समुदाय विचारवान लोग अपने सुख, अपनी रंगरेलियों में मस्त हों तो धिक्कार है उन लोगों को जो फिर भी अपने आपको उस धर्म, संस्कृति और जाति में सम्बद्ध मानते हैं ।

वह कल मन में खौल रही थी पर तम्बी ने पिता को कोई अशिष्ट उत्तर नहीं दिया । उसने केवल इतना ही कहा— पिताजी, प्रोष्म अर्जुन, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, दिलीप, भागीरथ, अधिकता यह भी तो सब अपनी जाति के थे । सम्पन्नता और सुकुलीनता में वे हमसे बड़ चढ़कर ही थे । उन्होंने सांसारिक सुखों को छोड़कर मारकर

यदि संतानन धर्म की आत्माहुति दी तो हम उनकी संतान क्या इतना भी त्याग नहीं कर सकते ?

पिताजी निरन्तर तो वे पर वे बच्चे का मोह सहज ही न छोड़ने वाले थे। उन्होंने अच्छी से अच्छी नह लाने का और उनकी सुविधाओं के लिये जायदाद में अधिक हिस्सा देने, अच्छे से अच्छी सर्विस दिलाने का प्रलोभन दिया पर मन में अटकी धर्म सेवा की भावना के आगे सारे वैभवों का आकर्षण मिट्टी के घरेँदी की तरह ध्वस्त होकर रह गये। आज जब युवकों का मग्न ध्यान इन्हें तीन वस्तुओं में फँसा रहता है जब इस त्याग को असंभारण ही कहा जावेगा। यदि ऐसे निस्वार्थ धर्म सेवी बच्चे जन्म नहीं लेते तो आज हिन्दू धर्म को पूछता ही कौन ? हमारे त्याग पर ही तो धार्मिक आस्थाओं की नींव तिरि और अब भी तिरली जा रही है। थाने ही अब इस तरह आत्मोत्सर्ग करने वालों की संख्या घटते पर गिनने योग्य रह गई है।

गोपाल कृष्ण ने किसी की एक न सुनी तो पान्न ने आखिरी टाँव खलाया। अपनी जायदाद ले ले पहले ठमके हिसाब से लगा दो तब ही में आये सो करना। गोपाल कृष्ण ने उसे स्वीकार और ऐसा सुन्दर हल निकाला कि दर्शकों की आँखों में प्रेम और श्रद्धा के आँसु उमड़ पड़े।

सारे धन को गाँव की पंचायत को सौंपकर एक विद्यालय की स्थापना अपनी माता की याद में कर दी, पिताजी को उसका अध्यक्ष बनाया। जब तक वह विद्यालय अच्छी तरह नहीं चलने लगा, २ वर्ष तक उसके संचालक भी रहे और बस उतनी अवधि के बाद वे पर से निकल पड़े।

उनके परिव्राजक जीवन की सेवायें शानदार रहीं। उन्होंने गाँव-गाँव में साधना संध स्थापित कर लोगों को ईश्वर उपासना की ओर मोड़ा। उसके महत्त्व को भी बताया। संत बसवेश्वर का शिष्यात्व ग्रहण कर उनके सरल मन्त्रों का प्रसार करने लगे। लोगों में युवक की विद्वतापूर्ण वाणी का बड़ा असर पड़ा। तब गोपाल कृष्ण से धार्मिक समस्याओं का निराकरण कराते गोपाल कृष्ण उनका पूरी सच्चाई और न्याय के साथ समाधान करते थे।

एक दिन वे एक ऐसे गाँव पहुँचे जहाँ उनके एक सम्बन्धी रहते थे। उनकी एक सयानी कन्या थी जिसकी वे गोपाल कृष्ण के साथ शादी करना चाहते थे। उन्होंने जानबूझ कर कन्या को उनके पास विचार-विमर्श के लिये भेजा। वे स्वयं भी आये पर युवक होते हुए भी गोपाल कृष्ण ने कहा—बहिन सौन्दर्य और धन तो नाशवान हैं हमें इनकी नहीं धर्म और शाश्वत परमात्मा की उपासना करनी चाहिए ताकि अपनी पीढ़ियों घवित्त हो और धार्मिक आदर्शों का नव-जीवन मिल सके।

युवक का हृदय किसी भी प्रलोभन के आगे नहीं झुका। उन्होंने स्थान-स्थान पर धर्म और संस्कृति के आदर्शों का प्रसार किया। लोगों को पुरुषार्थ पराक्रम, पश्रिम, सच्चाई, ईमानदारी, चरित्र-संगठन, सेवा का पाठ पढ़ाया। उनकी गीठी बेली सुनने के लिये हजारों लोग उमड़ पड़ते थे पर तो भी उन्हें कभी भी तुच्छ अहंकार ने नहीं सताया। वे अपनी योग्यतायें अध्यात्म ज्ञान बढ़ाने और साधना की कठिनायों

में धीरे-धीरे घँसते जाने के प्रयास में लगाते रहे। गोपाल कृष्ण १४ वर्ष तक निरन्तर इस तरह धर्म और समाज की सेवा में किसान की तरह जुटे रहे और अपने शरीर का भी ध्यान नहीं दिया। जब वे ३५ वर्ष के थे तब उनके पेट में चयकर फोड़ा हुआ पर उसकी परवाह किये बिना वह सेवा में जुटे रहे। उसने इनका शरीर ही तोड़ दिया।

अन्त में उन्होंने उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की और अन्तिम जीवन बिताने हिमालय की ओर चले गये। एक स्थान पर उन्होंने कहा—मेरा जन्म-दक्षिण में हुआ पर मरना मैं उत्तर में चाहता हूँ—ताकि मेरी आत्मा उत्तर-दक्षिण दोनों के लाखों-लाखों लोगों के हृदयों में फूट पड़े और एक प्रबल जन-समुदाय जन्म आवश्यकता पड़े धर्म सेवा के लिये मैदान में आ कूदे।

आज तम्बी नहीं रहे पर लगता है उनके अन्त-करण की आवाज सच होने का समय आ गया है, जब सैकड़ों युवक अपनी रोजी-रोटी समस्याओं को ठुकराकर समाज सेवा के कठोर त्रात को जीवन का लक्ष्य बनाकर चल पड़ेगे और सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को अपनी उमरती नव-शक्तियों से उलट-पुलट कर रख देंगे।

देश, जाति और धर्म के पुजारी— सूफी अम्बा प्रसाद

सन् १८५७ के बाद के वर्ष भारतीय जन-मानस में गम्भीर उथल-पुथल के वर्ष कहे जाते हैं। उन दिनों अनेक भावनाशील व्यक्तियों में स्वदेशाभिमान और राष्ट्रभक्ति की भावनाओं के उचार आ रहे थे कई परिवार तो अंग्रेजी शिक्षा से भी धृष्ट करने लगे थे। ऐसे ही एक परिवार में प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर आगे की शिक्षा के विषय में पुत्र ने अपने पिता से विषयों के चयन में परामर्श माँगा, तो पिता ने कहा—एक तो अरबी लो और दूसरी फ़ारसी।

‘बाकी’ पुत्र ने पूछा।

‘बाकी जो विषय तुम पढ़ते रहे वो वही पढ़ो, बेटा।’

‘परन्तु पिताजी, मैं अंग्रेजी पढ़ना चाहता हूँ।’

‘नहीं बेटे ! अंग्रेजी की शिक्षा हमारे देश की पतन के गर्भ में ढकेलने वाली है। मैं तुम्हें इस विषय में अनुमति नहीं दे सकता।’

‘परन्तु मेरा खयाल है कि अंग्रेजी पढ़ने मात्र से ही तो आपकी आशंका का कोई आधार पुष्ट नहीं होता।’

‘सबसे पहली बात तो यह है कि’—पिता ने कहा—‘अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है। उसके संपर्क में आने ही छात्रों के हृदय में जमी स्वदेश और स्वधर्म के प्रति आस्थाओं की जड़े सूखने लगती हैं।’

‘लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे सम्बन्ध में आपकी यह धारणा अपवाद ही सिद्ध होगी।’

‘नहीं हो सकती है, नहीं हो सकती है—अंग्रेजी के नाम पर स्कूलों में जो पढ़ाया जाता है उससे मैं बत्ती-भौंति परिचित हूँ। वह निश्चित ही छात्रों में भारत और भारतीयता के प्रति अनास्था की प्रवृत्ति की ही सम्पादना पञ्चकृत करता है।’

‘मैं पूज्य श्री के चरणों की सौगन्ध खा कर कहता हूँ कि आपको मेरे लिए इस प्रकार कभी भी चिन्तित नहीं होना पड़ेगा। मैं अंग्रेजी केवल ज्ञानार्जन और विद्या विभूति बढ़ाने के उद्देश्य से ही पढ़ना चाहता हूँ।’

और पिता ने अपने पुत्र पर सहज ही विश्वास कर अनुमति दे दी अंग्रेजी पढ़ने की। कुछ दिनों बाद उस बालक ने भरत धर्म के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा का परिचय आगे चल कर दिया, जब वह देश की स्वतन्त्रता और विकास के लिए अजीवन लड़ता रहा। पिता ने भी उस समय गलत नहीं कहा था। उन दिनों अंग्रेजी की शिक्षा देकर संस्कृति निष्ठा को तोड़ने की ही चढ़ाव रखा जाता था। परन्तु देशभक्त परिवार में—राष्ट्रीयता के बालावरण में जन्मे, पले और बड़े हुए इस बालक ने अंग्रेजी कक्षाओं में—पढ़ाई जा रही भाषक बातों का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया।

एक बार की बात है अंग्रेजी पढ़ाने वाले भारतीय अंग्रेजी अध्यापक ने यह कहा कि हिन्दुओं के अवतार कृष्ण दिन-रात औरतों से घिरे रहते और उनके साथ निन्दनीय व्यवहार करते थे।’

अभी बात पूरी भी न होने पायी थी कि बालक ने उठ कर कहा—‘मास्टर साहब ! अस्य कैसे कह सकते हैं कि भगवन् कृष्ण स्त्रियों से गलत व्यवहार करते थे ?’

‘दिन-रात औरतों के बीच रहने वाला व्यक्ति कैसे निष्कलंक रह सकता है ?’

‘तो क्या एक वेश्या के साथ रहने वाले ईसा, जिन्हें आप ईश्वर का दूत कहते हैं वे भी पतित नहीं हो गये होंगे—किशोर युवक ने कहा और अध्यापक से इसका कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। हाँ उसने युवक के पिता से अवश्य शिक्षायात्र की कि आपका बच्चा अनुशासनहीनता करता है। पूछा पिता ने कि क्या अनुशासनहीनता की तो सारी बात कही और वहाँ से भी अध्यापक को निरुत्तर ही लौटना पड़ा। तब विद्यार्थी के पिता ने कहा था—‘इसे तो कोई भी व्यक्ति अनुशासनहीनता नहीं कह सकता। यदि कक्षा में ऐसी बात बतायी जा रही है जिसे छात्र का स्वविवेक गलत ठहराता है और वह अपना विचार व्यक्त करता है तो इसमें न करने योग्य बात क्या है ?’

यह कहने के साथ ही साथ अध्यापक की शिक्षायत्ता सुन कर पिता का अन्तःकरण तृप्त हो उठा था कि मेरा बेटा सचमुच खयी कसम को कितनी निष्ठा के साथ निभा रहा है। बचपन और किशोरावस्था में इस प्रकार अपने पिता को संतुष्ट करने वाला तथा अपने चलकर देश, जाति और धर्म की सेवा करने वाला वह होनहार किशोर था—सुफ़ी अम्बा प्रसाद।

वे जीवन भर अपनी व्यक्तिगत सुख लालसाओं और आकांक्षाओं को तिलान्जलि देकर आजीवन राष्ट्र की जनता के जन्म सिद्ध अधिकार हेतु संघर्ष करते रहे। उनका जन्म स्वतन्त्रता संग्राम के वर्ष में ही मुरादाबाद के एक साधारण परिवार में हुआ। साधारणतया घर में संतान का जन्म हँसी-खुशी लेकर आता है, परन्तु अम्बा प्रसाद जी के पिता नेजाल शिशु को देखकर ही चिन्ताओं से भर उठे थे। जन्म के समय ही उनका एक हाथ लुञ्ज-पुञ्ज था। एक हाथ वाला

बच्चा देखकर पिता बड़े निराश हुए। वे सोचने लगे कि मेरे बच्चे का जीवन उसकी आत्मा पर भार ही है। कैसे वह—इस दुनिया में जी सकेगा। हाथ पैरों वाले बलिष्ठ देह के स्वामी भी जब इस दुनिया में दस-दर की ओर खड़े होते हैं तो यह अपग बच्चा क्या करेगा ?

पर हर वस्तु और स्थिति के दो पहलू होते हैं—उज्ज्वल और अंधमरपूर। वह तो वा शिशु जन्म का अन्धेरा पहलू जो पिता के हृदय में निराशा और चिन्ताओं को जन्म दे रहा था और कालान्तर में ही पिता का ध्यान जीवन के उज्ज्वल पक्ष की ओर गया। उन्होंने सोचा कि हाथ ही जीवन का आधार नहीं है, आधार तो है प्राण हृदय और नसिका। जन्मीय व्यक्तित्व के ये तीन ही प्रमुख तन्त्र तो हैं और इन तीनों के होते हुए किसी भी अंग का अभाव विकास में आपनिर्भरता में, सेवानिष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण में बाधक नहीं हो सकता। उनके जनम पटल पर ऐसे सैकड़ों उदाहरण उभर आये जब अम्बा प्रसाद से भी गयी गुजरी अवस्था में लोगों ने महानता अर्जित कर ली थी। उन्हीं उदाहरणों से प्रेरित होकर उन्होंने संकल्प कर लिया कि वे अपने पुत्र के रूप में देश को एक अनुपम उपहार देंगे।

इसी संकल्प से उन्होंने अम्बा प्रसाद को दीक्षित किया और तदनुसार शिक्षा भी देने लगे। सब ही बच्चा एक मुलायम और गीली मिट्टी है जिसे माँ-बाप मनमोहा रूप दे सकते हैं। अम्बा प्रसाद जी के जीवन में जो कुछ भी महत्त्व वटित हुआ वह सब बचपन की मिली शिक्षाओं का ही परिणाम था। अपने एक हाथ के बल पर ही उन्होंने एम. ए. परीक्षा अंग्रेजी से—अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की। जब उन्होंने बकालत पढ़ने का निश्चय किया और लां कॉलेज में भर्ती हुए तो हर किसी परिजन को यह आशा थी कि अम्बा प्रसाद घर को धन-धान्य से भर देंगे।

परन्तु वे सब आशाओं बालू पर महल बनाने के समान ही सिद्ध हुई। जिस हृदय में देशभक्ति और राष्ट्र प्रेम का बीज बोया जा चुका हो और अब जब वह पल्लवित-पुष्पित होने की स्थिति में आ गया हो तो उससे देश सेवा को छोड़कर किसी और मन्तव्य के पूरा करने की अपेक्षा बालू पर महल ही तो होगी। परिजन फिर भी आगे चल कर लाभ उठाने की दृष्टि से उन्हें बधाइयाँ देने आये कि अब इस घर की तकदीर बदल जायेगी। उन दिनों देश में वकीलों की कमी थी थी—इसलिए सम्पन्नता और समृद्धि की आशा को झुठला भी नहीं जा सकता था। लेकिन अम्बा प्रसाद जी को इस ओर तनिक भी रुचि नहीं थी। उन्होंने रिस्तेदारों की बधाइयाँ स्वीकार करते हुए कहा—आपकी बधाई के लिए धन्यवाद, इस घर की तकदीर तो बदलेगी, परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह कि आप सोचते हैं। अब यह घर एक देश सेवक की जन्म स्थली के रूप में याद किया जायेगा।

‘तो क्या तुम देश सेवा ही करोगे ? वकालत नहीं—परिजनों में से कई एक ने पूछा।’

‘हाँ—अम्बाप्रसाद जी ने कहा—‘वकालत करने का मेरा जरा भी मन नहीं है। मैं तो वकालत इसलिए पढ़ रहा हूँ कि कानून की बारीकियाँ समझ में आ जायें।’ इन बारीकियों को समझकर ही मैं सुरक्षित रह कर देश सेवा कर सकूँगा।

उनकी इस घोषणा ने कुछेक लोगों को भले ही खिन्न किया हो परन्तु कड़ियों को अपने उच्च लक्ष्य के सम्मुख नत-मस्तक कर लिया। वकालत पस कर लेने के बाद उन्होंने देश सेवा का स्वयं चयन—लेखनी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चुपते हुए व्याख्यात्मक लेख लिखकर उन्होंने सोये जनमानस को झिझोड़ डाला। आपकी विशिष्ट लेखन शैली ने जहाँ उनका एक ओर बचाव किया वहीं उनकी उद्देश्य पूर्ति भी की। कई लोग उनसे प्रभावित होकर उनके अनुगामी बन गये।

इसी शैली में जन-जागरण का कार्य बड़े पैमाने पर चलाने के लिए उन्होंने सन् १८९० ई. में मुरदाबाद से एक पत्र निकाला। वह समय देश के राजनीतिक वातावरण में एक अभूतपूर्व जाग्रति का काल था। उन्होंने दिनों सर एलेन अट्टेन्बियन द्वारा ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस का राष्ट्रवादी संगठन गठित किया। सरकार इस जाग्रति से गदगद नहीं थी। उसे इन प्रक्रियाओं के परिणाम की भली-भाँति जानकारी थी। इसी कारण वह इनकी प्रतिरोधक व्यवस्था भी कर रही थी।

सरकार ने कुछ संकीर्ण लोगों को अपनी ओर मिलाया और प्रोत्साहन देकर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तभी से बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था, जिसके बिचले और घातक परिणाम भी सामने आने लगे थे। मुस्लिम और हिन्दू सभी तरह की संस्थाएँ उन दिनों साम्प्रदायिकता की आधारभूति पर खड़ी होने लगीं। सूफे अम्बा प्रसाद को यह स्थिति असह्य लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इस शैली को छोड़कर स्पष्ट और निर्भयतापूर्वक सत्य कहना ही पड़ेगा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि भले ही मुझे सरकार का कोपभाज्य ही क्यों न बनना पड़े अब सच्चाई को निर्भीक होकर ही कहूँगा और उन्होंने सरकार के नापाक इरादों का निहड होकर घण्टाघोड़ किया। जनता जागने लगी। सूफे अम्बा प्रसाद एक के बाद एक लघुपूर्ण जानकारीयाँ—जो शासन की इस निकट और घृणिता आक्रांश को उजागर करती थीं देने लगे।

परिणाम वही हुआ जो विदेशी शासन काल में हर स्वतन्त्र प्रेमी का होता है। उनके गिरफ्तार कर लिया गया। राजद्रोह का मुकदमा चला तो सूफे अम्बा प्रसाद ने निहड होकर मानवता और राष्ट्रीय विकास के पक्ष में स्वयं को लाभदायक सिद्ध किया। तब के कठमुल्ता न्यायाधीशों ने उन्हें राजद्रोही करार देकर कारागृह में डाल दिया। ठेढ़ वर्ष तक कठोरतम घातनायें उन्होंने भोगीं। वे स्वस्थ और शक्तिशाली देह लेकर कारावास में गये थे। लींटे तो निर्मल और क्षोणकाय होकर। परन्तु शरीर की स्थिति से मनोबल का, आत्मबल का सम्बन्ध नहीं है। कठोर परीक्षाओं से गुजरने के बाद भी निष्ठा और आस्थाओं पर दृढ़ रहने वालों का मनोबल तो असाधारण रूप से बढ़ ही जाता है।

जेल से लौटते ही वे पुनः वही नीति अपनाकर जन जागरण की रचना में लगे। अब की बार उन्हें कई वर्गों के लिए जेल भेज दिया गया तथा सारी सम्पत्ति भी जब्त कर ली। इसके बाद उन्हें जेल में और भी भणलेवा घातनायें दी गयीं परन्तु बज्रदेह सूफे जी फिर भी बचकर आ गये। उन्होंने जितने बार जेल की यात्रायें सहन

की उतनी ही बार जेल से लौटकर और भी अधिक गति से क्रियाशील होते गये।

बाद में वे सीमान्त प्रान्तों में गये तथा वहाँ धूम धूम कर जन-जागरण का शंखनाद करते रहे। उन्होंने भारत माता बुक सोसायटी नामक एक प्रकाशन संस्था भी छोली और इस संस्था के माध्यम से छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित करवाकर उनका वितरण करवाया। इन्हीं यात्राओं के दौरान वे ईरान भी पहुँचे। ईरान को उन दिनों अंग्रेज साम्राज्यशाही का आजदख निगल ही आने को हुआ था।

वह तो सूफे साहब के प्रयत्नों से ईरान के जागरूक देशभक्तों ने ऐन वक्त पर ऐसा संघर्ष लेड़ा कि वहाँ से उनकी काँड़ें हिल गयीं। कुछ स्वार्थी तत्त्व उस समय अंग्रेजों का साथ नहीं देने लगे बहुत सम्भव था कि वहाँ से अंग्रेजों का पटिया उलाट हो जात। ईरान में हुए विद्रोह के लिए सरकार एकमात्र दोषी सूफे साहब को ठहर रही थी। विद्रोह जब पूरी तरह दमित कर दिया गया तो सूफे साहब को गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया।

निष्काम सेवा-परायण, संस्कृति के प्रेरक उन्नायक—अम्बुभाई पुराणो

यें कौन हैं ? मेरा आद्य-स्वरूप क्या है ? ब्रह्म क्या है ? विश्व क्या है ? क्यों वह सृजन और विनाश का क्रम चल रहा है, अशांति क्यों है, अनृति क्यों है, क्यों इस पनुष्य-शरीर में जन्मा ? इन अन्त-प्रश्नों का कोई समाधान अपने आप में न मिला, गणित और अंग्रेजी की पुस्तकें में न मिला तो उसने विचार किया—मेरी आशाकाओं का समाधान करने की शक्ति किस धर्म और किस व्यक्ति में है ?

हिन्दू-दर्शन ने यह जिज्ञासाबै भविर्भूत की थी तो सन्तुष्टि की शक्ति भी उसी में है—वह निश्चय कर एक कर्मठ, साधनानिष्ठ और सेवाभावी युवक महर्षि अविन्द की अध्यात्मशाला, पाण्डिचेरी पहुँचा। यह चुनाव बुद्धिसंगत ही था। आत्मदर्शी साधक ही आध्यात्मिक मार्गदर्शक हो सकते हैं। जिसके मन में 'अथातो ब्रह्म विजिज्ञासो' का मूल आत्मदर्शन स्वर प्रस्फुटित न हुआ हो वह कितना ही वेध बनाए, शब्दजाल फैलाए पर किसी का आत्म-कल्याण उसका बलबूने कर्तव्य सम्भव है ? आधी सफलता उसे उसी दिन मिल गई जिस दिन उसने महर्षि अरुणन्द के चरणों में अपना आध्यात्मिक हित सौंपकर कठोर साधना का संकल्प लिया।

वह कौन था ? महर्षि का योगवन्त प्रख्यात शिष्य—अम्बालाल जामनगर में सन् १८९३ में इसका जन्म हुआ था। गुजरात के लोग उसे प्यार से अम्बुभाई कहते थे। किशोरावस्था से ही उसकी धार्मिक मनोवृत्ति सतेज हो उठी थी। परमात्मा की कृपा कहनी चाहिए कि अपने ध्यान से निरख परख कर योग्य आध्यात्मिक प्रशिक्षक भी पा लिया।

यह मिल जाना एक बात है, उस पर सतत आँरुढ़ रहकर लक्ष्य प्राप्त करना दूसरी बात। उद्देश्य की प्रति पार्श्व पा लेने से नहीं,

३ १८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

उसकी कठिनाइयों को झेलकर कष्टों और अप्पनों में पलकर निरन्तर चलते रहने से होती है। महर्षि के और भी शिष्य थे। आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे और साधनायें करते थे, पर उन सबसे कुछ अधिक त्याग, तप, साधना, लगन, विद्याध्ययन में अभिरुचि प्रदर्शित करने के कारण अम्बुभाई ने गुरुदेव का सहज स्नेह अर्जित किया। उनका नाम सर्वश्री नीरदवरम्, नत्विनी कान्त गुप्त और दिन्वीपकुमार सहित चार योग्यतम शिष्यों में गिना जाता है। बरिष्ठता का आधार ब्राह्मणारीयता नहीं, अम्बुभाई की निष्ठा थी जिसने तपोभूमि के अभावयुक्त वातावरण में भी अम्बुभाई को २३ वर्ष तक बनाये रखा।

आत्मचलना का ज्ञान उपलब्ध होने पर अध्यात्मवादी के समस्त दो उद्देश्य रहते हैं। पहला यह कि वह लौकिक परम्पराओं, व्यवहार, सुख-सुविधाओं का परित्याग कर वह आत्म-कल्याण में सतग्न हो। दूसरा है पुण्य-परमार्थ का पथ। सुविधायें भूलकर आप अज्ञान-कल्याण करें, दूसरों को भी पुण्य पथ प्रदर्शित करें। सधेप में ब्राह्मण-धर्म का निर्वाह करें

अपने गुरु के ज्ञान-किरण कलश में ज्योति-स्नात अम्बुभाई ने पुण्य-परमार्थ का पथ तो चुना किन्तु लगता है वे यजुष्य की छोटी-छोटी आवश्यकताओं, समाज की पथार्थ स्थिति और उसके अनुरूप समाधान, देशोत्थान धर्मजागरण के सही और व्यवहारिक मार्गदर्शन का चिन्तन नहीं कर पाये। महर्षि अतिमानव थे दर्शन की पराकृष्टता ने उन्हें जटिल बना दिया था। उस प्रभाव से भला अम्बुभाई ही क्यों अछूते रहने ?

आपने आश्रम से निकलने के बाद जो विचार और साहित्य प्रदान किया है उसमें 'पथिकना पत्रे', 'राध' और 'फूल' आदि प्रेरक पत्रों तथा निबन्धों को देखने से पता चलता है कि कठिन विषय को भी हस्तामलकबल बना देने की उनमें क्षमता थी। कदाचित वे इस योग्यता का उपयोग समाज-सेवा में करते तो केवल गुजरात ही नहीं, सम्पूर्ण देश के युवकों विद्यार्थियों, नागरिकों और योग-साधना, तप तथा प्राणशक्ति का विकास करने की इच्छा रखने वालों का और अधिक कल्याण होता।

भारतीय अध्यात्म को जटिल रूप देने की परम्परा तो पहले ही बहुत थी। पण्डितों और विद्वानों के लिये अब तक जो मसाला तैयार हो चुका है वही इतना है कि कोई भी अध्ययनशील उसका सम्पूर्ण अवगाहन नहीं कर सकता फिर क्या आवश्यकता थी कि 'चिन्तनना पुष्पो', 'परिकला पुष्पो', 'पूर्णयोग्य प्रकाशमा' आदि की रचना में अधिक समय लगाया जाता। सब पूछा जाये तो यह ऐसा सन्नतिक्रम है जिसमें दर्शन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी भारतीय समाज को विगलित परम्पराओं, अन्धविश्वास, गिरे हुए जीवन स्तर, बाह्य अनुकरणशीलता आदि अनेक बुराइयों से बाहर निकालकर उन्हें प्राइमरी स्तर से अध्यात्म सिखाने की आवश्यकता थी। अम्बुभाई ने इतना किया होता तो सम्भवतः उनकी साधना का सच्चा सदुपयोग हुआ होता।

यह भूल उन्होंने तब अनुभव की जब अपने भारतीय अध्यात्म का संदेश समझाने के लिये विदेश यात्रा की। सिंगपुर, लंगकांग,

जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा अफ्रीका आदि देशों में अम्बुभाई ने महर्षि अरविन्द के अध्यात्म को स्पष्ट स्वरूप देने का प्रयास किया यहाँ के लोग उससे लाभान्वित भी हुए किन्तु अम्बुभाई ने भी यह अनुभव किया कि वस्तुतः अध्यात्म की आवश्यकता पाश्चात्य देशों को जितनी हो सकती है, उससे अधिक अपने ही राष्ट्र को है। हमें अपने देश, धर्म और जाति की सेवा करने चाहिए और वह भी छोटे स्तर से।

अम्बुभाई स्वदेश लौटे। यहाँ आकर उन्होंने भारतीयों को ज्ञानमूल पितान्न आरम्भ किया। बाणी से भी और लेखनों से भी यह सही है कि वे अपना संदेश सारे देश में नहीं फैला सके, कदाचित सगठित प्रयास होते तो वह भी कोई कठिन बात न थी तथापि गुजरातवासियों की ही प्रधुर सेवा करके उन्होंने अपना शिष्यत्व सार्थक किया। ज्ञान तो अपर है—वह कभी भी, किसी के भी द्वारा शेष संसार तक पहुँचाया जा सकता है। कम-से-कम यह व्यवस्था तो इस युग में सरल हो ही गई है।

अम्बुभाई के छोटे भाई छोटूभाई के नाम से सुविख्यात हैं बन्धु-द्वय गुजरात में व्यावाम-प्रवृत्ति के जनक माने जाते हैं। गुजरात के गाँव-गाँव में गुप्तकर उन्होंने स्वास्थ्य, समर्थता, योग्यता और शारीरिक शिक्षण की महिमा समझाई। उनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि राष्ट्र के जीवन में सर्वतोमुखी पराक्रम और तेजस्विता का आविर्भाव हो, इसके लिए उन्होंने स्नान-स्नान पर नवयुवकों को चेतना प्रदान की। गुजरात में यह प्रवृत्तिवा आज भी अनुकरणीय ढंग से चल रही हैं।

अन्ततः वह स्वीकार करने पड़ता है कि अम्बुभाई ने गुरु से जो ज्ञान-प्रसन्न ग्रहण किया उसे उन्होंने आत्मकल्याण मात्र का साधन नहीं बनाया वरन् सबके लिए बाँटने का प्रयास किया। यदि वह पूरा नहीं हुआ तो उसे वर्तमान पीढ़ियाँ सम्पन्न करेंगी पर उसके सूत्रधार के रूप में अम्बुभाई का नाम शीर्ष पर लिखा जायेगा।

११ दिसम्बर, १९६५ को प्रातःकाल पांडिचेरी आश्रम में हिन्दू-संस्कृति के महान् पुत्र का निधन हो गया। आज वे नहीं हैं पर उनकी शिष्यायें, उनका ज्ञान, उनका दृष्टिकोण, देश-प्रेम, सेवा-परायणता। और आध्यात्मिकता की भावनायें जीवित हैं, उन्हें प्रखर किया जा सके तो वही अम्बुभाई के लिये सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

स्वामी आत्मानन्द—जिनकी शिक्षा सार्थक हुई

अब सम्पूर्ण आश्रम रायपुर के प्राण प्रतिष्ठाना स्वामी आत्मानन्द कभी कपिसदा जिला रायपुर के निवासी थे। उनका जन्म पिता धनीराम के अध्यापन काल में माँझ से १ मील दूर बगबदा ग्राम में हुआ। बचपन का नाम तुलेन्द्र प्यार में लोग रामेश्वर कहकर पुकारते।

बाल्यकाल पिता की अभावजन्य परिस्थितियों में बीता तो भी पिता के योग्य मार्गदर्शन और उनकी लगन, धैर्य और परिश्रम के कारण

दांडिय विद्याध्ययन में बाधक नहीं बन सक्त । विद्यार्थी मित्र कहा करते । तुलेन्द्र । उच्च शिक्षा के लिये धन की आवश्यकता है और तुलेन्द्र का उत्तर होता — मित्र ! प्रतिभयें एवं योग्यतायें अभाव में भी उत्तरी ही विकसित हो सकत हैं, यदि व्यक्ति को अपनी लगन और हिम्मत कमजोर न पड़े ।

कम पैसा में पढ़ाई का खर्च चलाते हुये उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक उत्तीर्ण की, १९४९ में नागपुर यूनिवर्सिटी से बी. एस. सी. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर मेरिट में द्वितीय स्थान प्राप्त किया । एम. एस. सी. और आई. ए. एस. की परीक्षा साथ-साथ देकर दोनों ही प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर आपने इस अदृष्ट की प्रतिष्ठापना की कि— यदि विद्यार्थी का मन पढ़ने का हो तो कोर्स की पुस्तकें बोझ नहीं, मनुष्य कोर्स के बाहर की भी बहुत सारी पुस्तकें पढ़कर विद्यार्थी जीवन में अपना ज्ञान बढ़ा सकता है ।

जब वे नागपुर में थे धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का उन्हें तभी से चाव लग गया था । रामकृष्ण मिशन छात्रावास से उनके पिता ने उन्हें इसलिये हटा लिया कि कहीं लड़का कबाजियों के फेर में न फँस जाय । पर आन्ध्र-शोध के मार्ग में न तो उच्च शिक्षा के द्वारा प्राप्त होने वाले सांसारिक आकर्षण ही उनका मार्ग रोक सके और न पिता के द्वारा उत्पन्न कृत्रिम अवरोध ही । जब सब विघटनों उपन्यास, कहानियाँ और फिल्मी जीवन का आनन्द ले रहे थे युवक तुलेन्द्र एक ऐसा भविष्य निर्माण करने में जुटा हुआ था जिसमें उसका अपना मनुष्य जीवन में आने का उद्देश्य भी पूरा हो सके और धर्म एवं भारतीय संस्कृति की सेवा के मार्ग की प्रशस्ति भी ।

आत्मोपलब्धि का मूल्य और महत्त्व उन्होंने स्वाध्याय से ही समझा । धर्म की गरिमा भी धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन से अनुभव की । महापुरुषों के जीवनकर्म पढ़ने से ही वे उत्कृष्ट धार्मिक सेवा सम्पादन करने का पुण्य व्रत अन्तःकरण में उतार सके । संयम, साधनामय जीवन की उपयोगिता भी उन्हें स्वाध्याय से ही मालूम पड़ी ।

प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण सरकार ने उन्हें विदेशों में उच्च शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति देने चाही किन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया । चाहते तो कहीं कलेक्टर हो जाते, आई. ए. एस. किया था पर उन्होंने आत्मशोध और धार्मिक सेवा के सन्तोष की सांसारिक सुख से बढ़कर मन्ता । इसलिये सब वैभव छोड़कर वे रामकृष्ण मिशन में दीक्षित होकर साधना और योगाभ्यास में जुट गये ।

भारतीय तत्त्वदर्शन के गहन स्वाध्याय से भारतीय धर्म के प्रति उनकी आस्था अत्यन्त प्रगाढ़ हो उठी, पर बनकरनी धर्म सेवा से असन्ध भी । इसलिये उन्होंने अपनी सारी योग्यताएँ धार्मिकता और समाज की सेवा में खपाने का निश्चय कर लिया ।

रायपुर में रामकृष्ण सेवा समिति पहले से ही स्थापित थी पर अनेक अन्य धार्मिक संस्थानों की भाँति वह भी प्रदुष्ट अवस्था में थी जब तक वे बह्वचारी वेश में थे । उन्होंने इसी समस्या के माध्यम से धर्म शिक्षण का कार्य प्रारम्भ कर दिया । प्रारम्भ में कुल ४ विद्यार्थी ही आये पर उससे उन्हें कोई निराशा न हुई । धर्म आज इतना विकृत हो चुका है कि उसके स्वरूप से लोग भय खाये तो दोष उनका नहीं

वस् परिस्थितियों का है । इस विकृति को अब प्रमुद्गजनों के त्याग और तप से ही सुधारा जा सकता है ऐसा मानकर वे निरन्तर लगे ही रहे ।

सम्भनाओं के सम्पादन और धार्मिक सेवाओं के लिये यद्यपि कोई वेप और आश्रम निर्धारित नहीं है । गृहस्थ में रहकर भी अच्छी तरह से सेवायें सम्पन्न की जा सकती हैं किन्तु आज भारतीय जनता अपनी बौद्धिक कमजोरियों के कारण उन योग्यताओं को परखने में सक्षम नहीं रही जो उनका यथार्थ हित साधन कर सकती हैं । वेप को पूजने की भान्ति ने ही सारे देश में अन्धविश्वास को पनपाया है । यही बात निष्कर्म कर्मयोग के गृहस्थ साधक के लिए अवरोध हो सकते हैं, यह समझकर श्री तेज चैतन्य नाम से ब्रह्मचर्य में दीक्षित तुलेन्द्र ने संन्यस ले लिया । चाहिये तो यह था कि जनता की मूढ़ मान्यताओं से भी लड़ जाता पर धार्मिक सेवा के उद्देश्य से प्रजा के इस ढपे को भी स्वीकार कर लेना कोई बुरा नहीं था । अब वे स्वामी अन्यानन्द जी के नाम से पुकारे जाने लगे ।

वे पुनः रायपुर आये और उस छोटी-सी संस्था का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया । (१) धार्मिक शिक्षण, (२) भारतीय संस्कृति के तत्त्वज्ञान, (३) स्वाध्याय की अभिरूचि को बढ़ावा देना (४) व्यक्ति निर्माण । यह चार देस की प्रधान आवश्यकतायें हैं इनकी पूर्ति के लिये जो भी सम्भव प्रयत्न हों उन्हें क्रियमन्वत करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता समझकर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों तोड़ की और इन चार क्षेत्रों में जो भी सम्भव प्रवृत्तियाँ थीं उन्हें बढ़ाते चले गये । जिससे छोटी-सी दिखाई देने वाली यही संस्था छत्तीसगढ़ क्षेत्र की वृद्धि का प्रकाश बन गई ।

संस्थाएँ स्थापित करना कोई महत्त्व नहीं रखता आवश्यकता उनके पीछे उत्कृष्ट व्यक्तित्व रखकर समाज सुधार के लिये निरन्तर ईशाना व प्राण फूँकने की होती है । ऐसी थोड़ी-सी सजीव संस्थाएँ भी भारतवर्ष में हो जायें तो व्यक्ति निर्माण तथा समाज सुधार की आवश्यकतायें कुछ ही दिन में पूरी हो सकती हैं ।

स्वामी आत्मानन्द जी का कार्य क्षेत्र उपरोक्त चार दिशाओं में बँटा है पर वह कार्यक्रम अनेक प्रवृत्तियों में विभाजित होकर राष्ट्र के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है । वर्तमान में विवेकानन्द आश्रम में ६० छात्रों के लिये एक छात्रावास है । जिसमें— धार्मिक सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम, पर्वों और त्यौहारों पर आध्यात्मिक धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण के कार्यक्रम चलते हैं । विवेक ज्योति नामक त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन प्रायःकरियों तक वहाँ के सन्देश पहुँचाने के लिये किया जाता है । पंचायती राज-प्रशिक्षण केन्द्र भी साथ में है । निःशुल्क वाचनालय व पुस्तकालय की व्यवस्था है— जिनमें १० दैनिक समाचार पत्र, ६६ नियतकालिक पत्रिकाएँ आती हैं, धार्मिक महत्त्व और उच्च आचरण का शिक्षण करने वाली १२४११ पुस्तकें हैं । आश्रम का अपना उपासना ग्रह है जिसमें बैठकर प्रतिदिन ७८-७५ व्यक्ति साप्ताहिक उपासना करते हैं ।

व्यायाम, चिकित्सा और प्राणियों की सेवा जैसे गतिविधियों के लिये भी जो इस युग की प्रधान आवश्यकतायें हैं, वह संस्थान प्रयत्न

कर रहा है। ममत् उद्देश्य भगवान् सब तरह सफल करने हैं। पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उठे छोटी सी चिन्तारी को भी ज्वालामुखी बना देने की क्षमता जिस परमत्मा में है वह ऐसी निष्कर्म सत्कृतियों के हाथ भी यजबूत करता है।

भारतीय धर्म यन्त्र अज प्रतिभा और योग्यता के अभाव में सूना पड़ा है। शिक्षितों की हाड़ सांसारिक उपलब्धियों की दिशा में है। इसीलिये समाज के मार्गदर्शन की क्षमता वाला भारतीय तत्वज्ञान आज लंगड़ा-तूला पड़ा है। यदि स्वायी जी की तरह और भी प्रबुद्ध प्रतिभायें धार्मिक सेवा में गौरव अनुभव कर सकें तो देखते-देखते पद-दलित भारतीय समाज अपनी प्राचीन उत्कृष्टता प्राप्त कर ले।

आदिवासियों के अन्य सेवक— आचार्य मिसे

४ जुलाई, १९७१ का दिन। आषाढ़ शुक्ल एकदशी महाराष्ट्र में यह दिवस बहुत पुण्यप्रद माना जाता है। पहरपुर में इस दिन पर विठ्ठल-दर्शन के लिए लाखों का मेला लगता है। जाति-पाँति के भेदों को भूलकर महाराष्ट्र के कोने-कोने से लाखों लोग पैदल चलकर चन्द्रभागा नदी के किनारे आते हैं और विठ्ठल भगवान् के सकीर्तन में भाव-विभोर हो जाते हैं। यदि उस दिन किसी की मृत्यु हो जाय तो लोग समझते हैं कि वह बड़ा पुण्यवात्मा था। अन्तर-भाग्यी व्यास के अभ्यक्ष एवं आदिवासियों के अमन्द सेवक आचार्य श्री शंकरराव जी मिसे का देहान्त इसी आषाढ़ी एकदशी के दिन बम्बई में हुआ। जो आरम्भ सत्त सट साल से गरीब तथा दलितों की सेवा में अपने को खपा रही थी, उसने उस दिन अपने शरीर को स्वेच्छा से त्याग दिया। वैसे तो गल कुछ वर्षों से उनका स्वास्थ्य कुछ गिरा हुआ ही था, लेकिन वे तो लोकमंगल के लिए सिर से कफन बाँधे घूम रहे थे, अतः उन्होंने अपनी बीमारी की तन्त्रिक भी मिला नहीं की। समाज की खासकर पिछड़े हुए समाज की भलाई के सिद्धा दुमरा कोई विषय उन्हें सूझता ही नहीं था। आदिवासियों की सेवा में ही उन्होंने अपना सारा जीवन खपा दिया था, उनकी भलाई के लिए ही वे अन्त तक तड़पते रहे। 'सर्वे सुखिनः भवन्तु, सर्वे सन्तु निरापदः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, भा कश्चित् दुःखमानुषात्' यही एकमात्र प्रार्थना सिर्फ़ वाणी से नहीं तो अपने जीवन के हर कार्य से वे करते रहे। महाराष्ट्र में गांधी जी से प्रेरणा पाकर जिन लोगों ने समाज-सेवा में अपने को लगा दिया था, उनमें आचार्य मिसे का स्थान उल्लेखनीय है।

आचार्य मिसे गल कुछ महीनों से गंभीर रूप से बीमार थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर उन्हें देखने के लिए दूर-दूर से लोग आने लगे थे। अस्पताल में लोगों का ताता बंध जाता था। उन्हें देखकर आचार्य जी बेचैन हो जाते। कहते— 'मैं अब चंगा हो गया हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो।' वे अस्पताल का खर्चिल प्रबंध देखकर झुल्ला पड़ते। कहते— 'यह प्रबंध तो अंगरों के लिए होना चाहिए। गरीबों

की सखा नो मृत्यु ही होती है।' वे कहा करते— सेवक का कर्ण बीमार नहीं पड़ना चाहिए। यदि वह बीमार पड़ता है तो उसके जीवन की कुछ कृति के कारण पड़ता है।

मित्र आचार्य जी की इन बातों से बेचैन हो जाते और उनकी बातों को देखकर आचार्य जी अस्पताल की कुछ सुविधाओं को लाचार होकर बर्दाश्त कर लेते। लेकिन शरीर सचमुच अहर्निश सेवा में घिस-घिसकर टूट गया था और उसे फिर विश्राम की आवश्यकता थी। उसे मृत्यु मैया ने आनी गोद में ले लिया और जिस तरह माँ की गोद में बच्चा बेहचक-बेझिझक चला जाता है, उसे विश्राम से आचार्य जी ने मृत्यु की गोद में अपने शरीर को लिटा दिया।

करीब साठ साल पहले की बात है। श्री शंकरराव मिसे बम्बई विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर चुके थे। अवस्था लगभग बीस वर्ष की होगी। परिवार अन्यन्त निर्धन था। त्यों-त्यों करके किसी प्रकार बी. ए. कर चुके थे। उस समय भारत के राजनैतिक क्षितिज पर दो नक्षत्र प्रकाशमान थे— एक भारत-सेवक श्री गोपालकृष्ण गोखले और दूसरे लोकमन्त्र तिलक। ऐसा कोई युवक उस समय देश में नहीं था, जिस पर इनके जीवन का प्रभाव न पड़ा हो। दोनों ने अपने जीवन का प्रारम्भ शिक्षक के रूप में किया था। शिक्षक ही ऐसा साधन है, जो नयी पीढ़ियों का निर्माण करता है। आचार्य मिसे जी ने भी शिक्षा के क्षेत्र में ही प्रवेश करने का निश्चय किया, यद्यपि उस समय उपाधियों के लिए उच्च प्रशासकीय नौकरियों की कोई कमी नहीं थी। भारत-सेवक स्व. गोखले जी की स्मृति में कुछ युवक मित्रों ने गोखले एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की और बम्बई में एक माध्यमिक विद्यालय का प्रारम्भ किया। नयी पीढ़ी राष्ट्रीयता की भावना से अभिर्भावित बने और देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन न्योछावर करने को तत्पर हो यही संस्था का उद्देश्य था। श्री मिसे जी इस विद्यालय में शिक्षक के रूप में कार्य करने लगे।

पर कुछ दिनों बाद मिसे जी को लगा कि सिर्फ़ शहर में शिक्षा का प्रचार करना पर्याप्त नहीं है। गाँव तक नये युग का संदेश पहुँचाना चाहिए। उस समय पश्चिम समुद्र तट के समीपवर्ती प्रदेश में शिक्षा का प्रचार नहीं था। अतः उन्होंने कुल्वा जिले के अन्तर्गत बोर्डी नामक समुद्र किनारे के एक गाँव को चयन किया, जहाँ आदिवासी लोग बसते हैं।

आदिवासी लोगों का अज्ञान तथा दूर दूरिद्रता देखकर उनमें बड़ी मानसिक अज्ञाति हुई। अपनी इस अस्वस्थता को दूर करने हेतु एक बार वे अगलों में घूम रहे थे कि अचानक उनकी नज़र उस निर्जन वन की एक समाधि पर जा पड़ी। कौतूहल जग उठ और मिसे जी उसके पास पहुँच और देखते क्या है? उक्त समाधि पर एक शिला लेख लगा था। वह समाधि एक विदेशी मिशनरी की थी। पाच हजार पाँच दूरी से आकर उसने अपने को आदिवासियों की सेवा में समर्पित कर दिया था। अन्तिम साफ़ तक वह सेवा में लगे रहता था। श्री मिसे जी वहीं बैठकर सोचने लगे— 'हम भारतीय सत्कृति का बड़ा घनण्ड करते हैं। 'कृष्णतो विश्वं आर्यम्' का मन्त्र बीजित हुआ फूल नहीं

समाते। 'सर्वे सुखिन सन्तु' की दिन रात रट लगाते रहते हैं लेकिन जनता की भलाई के लिए जीवन खपाने की कल्पना भी नहीं करते, वही यह एक इन्सान था जो पंच हजार मील की दूरी से आकर आदिवासियों की सेवा में अपना जीवन लगा देता है। ना वे लोग उसके सगे सम्बन्धी हैं, न उसकी वयस्की के रंग के हैं। फिर भी वह सेवा करने दौड़ आता है, उसका उद्देश्य चाहे जो हो। और एक मैं हूँ, जो अपने पिछड़े बंधुओं की सेवा से जी चुराता हूँ। उनके बीच जाकर रहने की कल्पना मात्र से सह्य उठता हूँ।"

श्री मिसेजी के जीवन का यह एक क्रान्तिकारी क्षण था। वहाँ से मिसे जी जी लौटकर आये, वे बिस्कुल नये बनकर। नवी उमंग और नया संकल्प लेकर। सबको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। मिसे जी बोर्डों गये और वहाँ एक विद्यालय शुरू किया।

मिसे जी एक आदर्श शिक्षक थे। बच्चों से बड़ा प्यार करते थे अपना स्वतंत्र परिवार बनाकर अपने को सीमित नहीं करना चाहते थे इसलिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रशिक्षा कर ली। वे व्यक्तिगत काम तथा अध्ययन का समय छोड़कर जेब सारा समय विद्यार्थियों में बिताय करते। कुछ दिनों के बाद उन्हें खयाल आया कि छात्रावास के बिना शिक्षा कार्य अधूरा ही रह जाता है। अतः शीघ्र ही छात्रावास का प्रबंध किया गया। इसके सिवा उन्हें यह भी महसूस होने लग्य कि शिक्षा का क्षेत्र केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित रखना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका विस्तार सर्वसाधारण तक करना चाहिए। अतः वे अबकाश के समय में ग्रास-पड़ोस के इलाके में घुमने लगे। यानायात के साधन नहीं थे। पैदल ही घूमना पड़ता था। जंगलों और पहाड़ों को पार करना पड़ता था। आदिवासियों का जीवन क्या था, मूर्तिमय दरिद्रता का रज था। न तन ठकने के लिए कमड़ा, न पेट भरने के लिए अनाज। निवास के लिए घर न बीमारी के इलाज का कोई प्रबंध। शिक्षा का तो नामोनिशान नहीं। एक ओर सरकारी हाकिम दबाते थे, तो दूसरी ओर जंगल के ठेकेदार लुटते थे। न उनका कोई सहारा था न संगी-साथी। जंगलों में उनकी अमानुष पिटाई होती थी तो कोई बचने नहीं आता था। शिष्यों के रूप बलात्कार किया जाता। जंगल ठेकेदार और सरकारी अफसरों की साँठ-गाँठ रहती थी। आचार्य जी इस परिस्थिति को देखकर बड़े चिंतित रहा करते। विद्यालय के काम से छुट्टी पाते ही वे आदिवासियों के बीच जाकर उनमें स्वाभिमान और साहस का भाव भरते। धीरे-धीरे आदिवासी भाई-बहनों को विश्वास हो गया कि निडर होकर उनके लिए बूझने वाला एक अच्छा नेता उन्हें मिल गया। लोग उनके पास अपनी दुःख-दर्द घरी शिकायतें लेकर पहुँच जाने। उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए आचार्य जी खून-कसीन एक कर देते। धीरे-धीरे उनके सहयोगियों की एक टोली भी खड़ी हो गयी।

आचार्य जी स्वतंत्रता के आन्दोलन में भी कूट पड़े। फलस्वरूप उन्हें दो बार कठिन कारावास की सतनायें सहनी पड़ीं। वे मानते थे कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो पाता, तब तक इन दीम्ह-दुःखियों की कठिनाइयाँ नहीं मिटाई जा सकती। जेल में आचार्य जी ने अपना काम जारी रखा। आदिवासी समस्या पर वे अपने विचार समचार-

पत्रों में प्रकाशित कराते। जेल से रिलीफ पर वे अपने छात्र रहे गवर्न सेवकों की एक टोली ही लेकर बाहर आये।

आदिवासी उस समय तक खेती का सही ढंग भी नहीं जानते थे। जंगल जलकर उसी भूमि में यों ही अनाज फंक देने और उससे जो कुछ पैदा होता उसी से अपनी गुजर-बसर कर दिन काटने थे। आचार्य जी ने सोचा कि इस प्रकार की अवैज्ञानिक खेती से काय नहीं चलेगा। नये कृषि-विज्ञान से आदिवासियों को अवगत कराना होगा तब पास ही में कोसबाड़ नामक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने कृषि विद्यालय की स्थापना की। बच्चों को नये जीवन की दीक्षा देने के लिए प्राथमिक बाल-प्रशिक्षण केन्द्र शुरू किया। एक अभिनव प्रयोग प्रारम्भ किया गया। अब बच्चों को स्कूल में नहीं आना पड़ता था, स्कूल ही भेड़ बकरीयों को चराने वाले चरबाहों बच्चों के पास जाने लगा। आदिवासी का एक पैर कर्ज को दलदल में फँसा रहता तो दूसरा व्यसनों में। उन्हें शराब के नशे में अपने दुःख-दर्द को भूलने को आदत भी पड़ गयी थी। शिष्यों और बच्चे व्यसनों से मुक्त नहीं थे। अनाएव समाज सुधार एवं व्यसन-मुक्ति के लिए उन्होंने आश्रम तथा पाठशालाओं की योजना हाथ में ली। फलस्वरूप एक नया जीवन उस क्षेत्र में बनपने लगा।

आचार्य मिसे स्वर्गत-सत्कार आदि से हमेशा अपने को दूर रखते थे। उनका शिक्ष-परिवार कभी बड़ा था। आचार्य जी की पचहत्तरवीं वर्ष गाँठ पर वे उनका अभिनन्दन करना चाहते थे और उनके लिए एक निधि भी उन्हें भेंट करना चाहते थे पर आचार्य जी इसके लिए गजी नसे हुए। जब लोग नहीं माने तो किस तिथि को उनका अभिनन्दन करने की योजना बनायी गयी थी, उस दिन वे बिना किसी को बताये जंगल में किसी अज्ञात स्थान में चले गये। पालायें और अभिनन्दन पत्र जहाँ के तहाँ पड़े रहे। कुछ दिनों बाद आचार्य जी जब लौटे तो नई लगन लेकर दुगुने उत्साह से काम करने के लिए तत्पर होकर। उन्हें दारिद्र्य और घोर विषमता देखकर बड़ा क्रुद्ध होता था और वे उन्हें पिटाने के लिए पर पिटाने को तैयार हो गये। एक दिन सेवा कार्य करते हुए ही उन्हें मूर्छा आ गयी। इलाज के लिए उन्हें अस्पताल में भरती किया गया। आचार्य जी ने अस्पताल में ही आखिरी साँस ली, भगवान् से सबकी भलाई के लिए दुआ माँगते हुए।

आचार्य मिसे ने अपनी अखण्ड सेवा-साधन से अनेक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी है। अपने निरपेक्ष मनन सेवा-कार्य से आदिवासियों में नवजीवन का संचार किया। वे आदिवासियों के अनन्य सेवक थे। उनकी तेजस्वी स्मृति को बारम्बार वन्दन।

परोपकारी भीम

पाण्डवों का अज्ञातवास का समय चल रहा था। वे एक गाँव में वेश बदलें एक ब्राह्मण के घर रह रहे थे। माता कुन्ती को घर छोड़कर पाँचों पाण्डव भिक्षाटन पर चले जाते थे। उसी समय उदर पोषण के लिए अन्न भी संचय कर लाते थे और अपने विषय में जनमत का भी पता लगाते रहते थे।

एक दिन चार पाण्डव नौ पिछाटन पर चले गये। भीम घर पर रह गये। वे माता से बातें कर रहे थे। इतने में ही ब्राह्मण के परिवार से रोने की आवाज आई। भीम ने माता से पता लगाने को कहा।

कुन्ती अन्दर आई तो देखा ब्राह्मण का पूरा परिवार एक साथ बैठा रो रहा है। कुन्ती को देखकर सभी सहसा कुछ देर को चुप हो गये। ब्राह्मण ने कुन्ती का स्वागत करते हुए कहा— “आइये माता, इस समय आपने हम दु खियों को दर्शन देकर बड़ा आभार किया। अब तो हम सब तीसरे प्रहर तक के मेहमान हैं, सायं तक समाप्त हो जायेंगे। हम लोगों के न रहने के बाद भी आप अपने पुत्रों सहित इसी घर में रहें और इसे अपना ही समझें। बस कभी-कभी हम अभागों को याद अवश्य कर लिया करें।”

कुन्ती ने देखा कि ब्राह्मण निरुपय ही किसी बड़ी विपत्ति में फँसा है। लेकिन उसने अपने विवेक को नष्ट नहीं होने दिया है। यथायोग्य शिष्टाचार का निर्वाह किया है और पहले जैसा ही आत्मीयतापूर्ण उदार व्यवहार कर रहा है। निरुपय ही यह बड़ा धीर पुरुष है। नहीं तो आपत्ति के समय तो लोग विपत्ति से बचकर अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं। ईश्वर की सहायता ऐसे धीर पुरुषों को ही तो मिलती है।

माता कुन्ती ने सन्तवना देकर सबका दुःख काँट लिया और विलाप का कारण पूछा— ब्राह्मण ने अपनी दुःख कथा इस प्रकार सुनाई—

“माता ! इस क्षेत्र में एक बड़े ही दुस्त दैत्य का आतंक छाया हुआ है। वह पहले प्रतिदिन जहाँ से जिसको चाहता था छाने के लिये पकड़ ले जाता था। जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र में घर-घर घबरा रहता था। कोई भी अपने को किसी समय भी सुरक्षित नहीं समझता था। सामान्य जीवनक्रम के साथ सारी नित्य-क्रियायें स्थगित हो गई थीं। धर्म-कर्म रुक जाने से दैत्य की असुरता और भी प्रबल होती जाती थी। निदान क्षेत्र की जनता ने एक पंचायत करके दैत्य से यह समझौता कर लिया कि वह बस्ती में न आया करे, प्रतिदिन क्रम से एक घर से एक आदमी और भोजन का सभ्य उसके पास स्वयं ही पहुँच जाय करेगा। तब से वही क्रम चला आ रहा है और आज हमारे घर की बारी है। हमसे से किसी एक के मृत्यु मुख में जाने से दूसरे उसके वियोग में मर जायेंगे। इसलिए हम सबने एक साथ ही दैत्य के पास जाकर मरने का निश्चय कर लिया है।”

माता कुन्ती ब्राह्मण का दुःख सुनकर गम्भीर हो नहीं उठस भी हो गई। उन्होंने दो क्षण विचार किया और बोलीं— “आप लोग अब अधिक चिन्ता न करें। हम सब भी आप लोगों के दुःख में भागीदार होंगे। ईश्वर हमारी सहायता करेगा।” सन्तवना देकर कुन्ती वापस आ गई।

कुन्ती ने सारी बात भीम को बतलाई और इच्छा व्यक्त की कि हम दुःख में ब्राह्मण की सहस्यता को जाय। भीम बोले— “इसमें भी क्या कठिनाई है ? भोजन लेकर आज दैत्य के पास मैं स्वयं चला जाऊँगा और उसका क्रम तय करके चला आऊँगा। बस सारा झझट ही समाप्त हो जायेगा।”

कुन्ती ने कहा— “दैत्य बड़ा प्रबल है। मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूँगी।” भीम हँसे और बोले— “पाप और प्रबल। माँ, आपकी वह शक्त मेरे प्रति आपके मोह की ही अभिव्यक्ति है। पुण्य परमार्थ में पाप की अपेक्षा हजारों गुनी शक्ति होती है।” भीम भोजन सामग्री लेकर गये और स्नेह ही उस गर-भक्षी को घर कर वापस आ गये निःसन्देह अन्याय के विरुद्ध प्राणों की बाजी लगा देने वालों को परमात्मा अपनी शक्ति दे देता है।

स्वामी भवानी दयाल—साधुता जिन्हें पा कर धन्य हो गयी

परधोन्त काल में अंग्रेजों ने हजारों भारतीय नागरिकों को कुली बनाकर उन्हें और भी वृजित तथा निम्न स्तर का जीवन जीने के लिए दक्षिण अफ्रीका भेज दिया। वहाँ ब्रिटिश जहाजों पर से माल चढ़ाने और उतारने में कपड़े कुली मजदूरों की आवश्यकता थी। ऐसे कुली जो मजदूरी भी सस्ती लेते हों और काम भी मेहनत से करें। अपनी मर्जी से तो कौन इसे स्वीकार करता इसलिए अंग्रेजों की दृष्टि अपने सभी उपनिवेशों में घूम-फिर कर, देख-ढटोल कर भारतीयों पर आ टिकी। जो अपेक्षाकुल सीधे, सरल और जरूरत से ज्यादा भोले होते थे। जरूरत से ज्यादा भोले और सीधे-सादे लोगों को दण्ड और दबाव दाय अंसानी से तोड़ा जा सकता है। फिर भारतीय मेहनती भी कम नहीं रहे हैं।

इसलिए ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय नागरिकों पर ही अपना पंजा चलाया और उन्हें जोर-जबर्दस्ती से विवश कर दक्षिण अफ्रीका में नाकरीय जीवन जीने के लिए लेजा पटक्य। ऐसे कुलियों में कुछेक भारतीय समझदार और होशियार भी थे। ऐसे ही समझदार और होशियार मजदूरों में से एक कुली बाबू जयराम सिंह ने वहाँ दुकानदारी भी की। सूझ-बूझ तथा चतुराई से उक्त व्यक्ति ने व्यापार के क्षेत्र में भी प्रवेश किया और अपनी सख बना ली। भारत में मजदूरी करने वाला, चन्द पैसों के लिए धनी और मध्यम वर्ग के आगे-पीछे एड़ियाँ रगड़ने वाला वह परिवार चन्द दिनों में ही सम्पन्न और समृद्ध हो गया। वहाँ उन्होंने अच्छी-ख़ासी जायदाद बना ली और स्थायी रूप से वहीं बस गये। सम्पन्नता और वैभव ने उनकी सारी व्यथा वेदना हर ली थी।

उसी परिवार में १० सितम्बर, १८९२ ई. को जोहन्सबर्ग के एक गवर्नमेन्ट स्कूल में एक ऐसे बालक ने जन्म लिया जिसने आगे चलकर उस समस्त सभ्यता और जायदाद को तृणवन ठुकरा दिया वह जातक आगे चलकर स्वामी भवानी दयाल के नाम से विख्यात हुआ। जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रह रहे प्रवासी भारतीयों को एक सूत्र में अबद्ध किया तथा अनाचार और अत्याचार के विरुद्ध समर्थ प्रतिरोधक मोर्चा खड़ा करने के लिए उन्हें संगठित किया। स्वामी भवानी दयाल संन्यासी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को पहली बार जागरण का शंख फूँका।

भवानी दयाल की शिक्षा दीक्षा में परिवार वालों ने कोई खास रुचि नहीं ली। बाबू जयराम जी की दृष्टि में शिक्षा का मूल्य और महत्व व्यापार से कहीं भी अधिक नहीं था। वे स्वयं भी शिक्षितों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते थे। व्यापार में मिली सफलता ने उनकी दृष्टि में धन ही सब कुछ बना दिया था। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पुत्र को भी कामचलाऊ अंग्रेजी पढ़ाकर कारोबार में लगाना चाहा।

एक बार की बात है भवानी दयाल स्कूल जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक बड़ा क्लृप्त दृश्य देखा। एक भारतीय कुली— वृद्धावस्था के कारण जिसको कमर झुकी हुई थी। सिर पर चारो ओर उठवाये— पीछे-पीछे बेत हाथ में लिए गोरा अधिकारी चला जा रहा था। वृद्ध की गर्दन टेढ़ी हुई जा रही थी— सिर पर रखे धर से और उसका हर कदम झगमगाता हुआ उठ रहा था। कहना मुश्किल लगता था कि कुली का अगला कदम भी सधा हुआ हो पड़ेगा और पीछे से आ रहे मालिक ने कहा— ‘जरा तेज कदम उठाओ। गाड़ी निकल गयी तो चमड़ी उधेड़कर खल दूंगा।’

आदमी है या शैतान— सुनकर भवानी दयाल बुदबुदाये। तभी उन्होंने देखा कि वृद्ध कुली जल्दी चलने के प्रयास में लेकर खाकर गिर पड़ा है और उसके सिर पर रखा हुआ सामान भी सड़क पर बिखर गया है। आस-पास से कोई भी वृद्ध कुली को सहाय देने के लिए आगे नहीं बढ़ा। यहाँ तक कि पीछे आते हुए गौरे प्रभु ने भी उसे सहानुभूति के दो शब्द नहीं कहे। कहना भी क्या? उसे तो अपनी प्रभुता का मद चढ़ हुआ था और उसी मद में तप्तने अपनी बेत उठा ली तथा लगा तड़ा-तड़ा उस पर बरसाने।

वृद्ध बेचारा तिलमिलाता रहा था लेकिन अंग्रेज पर तो हैवानियत सवार थी। वह बिना चिन्त किये सिर पर इसी प्रकार तड़ातड़ा बेलें लगाता रहा। लेकिन आसपास चलते लोगों पर इस घटना का कोई असर नहीं हुआ सब देखा-अनदेखा करते हुए वहाँ से गुजर गये। बालक भवानी दयाल को बड़ा आश्चर्य हुआ अंग्रेज के व्यवहार पर और उससे अधिक लोगों पर जो ऐसे चले जा रहे थे जैसे यह रोजमर्रा की बात हो और शोष भी काम नहीं हुआ।

अंग्रेज ने अनुभव किया कि कोई नन्हे रूप उसके हाथों को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। देखा तो एक भारतीय-सा लगने वाला बालक अंग्रेजी वेवभूषा में अंग्रेजी भाषा में कह रहा था— ‘‘यह बेकसूर है इसे छोड़ दीजिए। इसने कोई अपराध नहीं किया है।’’

गौरे व्यक्ति ने समझा यह किसी अंग्रेज की भारतीय पत्नी का ही पुत्र है अन्यथा किस भारतीय में इतनी सभ्यता है जो अपने बेटे को इस तरह सभ्य और मनुष्य बनाकर रखे। उसने वृद्ध कुली को पीटना छोड़ कर उसने कहा— ‘‘इस जानवर ने मेरा स्ख सामान खराब कर दिया है, बेटे! मैं तुम्हारे कहन से छोड़ देता हूँ।’’

नहीं सर! सामान खराब करने में इसका दोष नहीं है। दोष तो आपका है जो आपने यह जानते हुए भी की यह बृद्ध व्यक्ति इतना

समान नहीं उठा सकेगा इसके सिर पर इतना सामान रखा, कह अपना काम खत्म हुआ जानकर भवानी दयाल वहाँ से चल दिये। उस दिन पूरे समय उनका धन स्कूल में नहीं लगा।

घर लौटे तो अपने पिता से आज की घटना पर चर्चा की और करण जानना चाहा कि भारतीय इस दश में क्यों हैं? पिता ने टालने की दृष्टि से एक सच्ची किन्तु साधारण-सी बात कह दी— ‘‘इसलिए कि वे लोग अनपढ़ हैं, बेवकूफ हैं और ढग से रहना नहीं जानते।’’

यह कथ्य उनका प्रथम-प्रदर्शक बन गया और उन्होंने तत्क्षण ही फैसला कर लिया कि वे भारतीयों में से इन कमियों को दूर करके रहेंगे ताकि वे लोग धनवीर गौरव-गरिमा के अनुरूप जी सकें, बन सकें, रह सकें। सर्वप्रथम इसके लिए यह आवश्यक लग कि इस दृष्टि से वे स्वयं योग्य और सक्षम सप्रवर्ध बनें। प्रवासी भारतीयों में शिक्षा का प्रचलन किस तरह फैलाया जाय? तथा वे कैसे इन अत्याचारों का सामना करने के लिए उठ खड़े हों उनकी धेनना इसी दिशा में बहने लगी।

ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा तथा उनकी बुद्धि परिपक्व होने लगी। समस्य के कारणों का एक-एक पक्ष उनके सामने उद्घाटित होना गया। सबसे पहली बात उन्होंने यह देखी कि दक्षिण अफ्रीका में रह रहे सभी भारतीय एक-दूसरे से कटे और अलग-अलग हैं। इसका कारण यह था कि अफ्रीका में जितने भी कुली थे वे सब भारत के अलग-अलग भागों से लाये गये थे। कोई उत्तर प्रदेश से तो कोई पंजाब से तो कोई बिहार से और कोई बंगाल से। भारत तो वैसे ही विभिन्न भाषाओं और रहन-सहन की सभ्यताओं का देश है। एक-दूसरे के सम्पर्क माध्यम ही एक-दूसरे के दुःख-दर्द जानने में असमर्थ हों तो बिखराव होना ही था।

इस समस्य का निदान उन्होंने खोजा भी और पाया भी। गहन चिन्तन-मनन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी भारतीयों को एक भाषा का ज्ञान कराया जा सके और उनमें आत्म-सम्मान, अनीति के प्रतिरोध की भावना और सक्ति जगायी जा सके तो कोई सम्भावना नहीं है कि अंग्रेजों का यह अपीड़न चलता ही चला जाय। भाषायी एकता उनमें सामूहिक सुरक्षा का भाव लाने की पहली कड़ी बन सकती है और उन्होंने इस एक सूत्र में आबद्ध करने की सीढ़ियों पर कदम बढ़ाया हिन्दी के प्रचार द्वारा। हिन्दी पढ़ने के लिए वे अफ्रीका छोड़कर भारत चले आये। उस समय वहाँ हिन्दी पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी। हिन्दी भाषी परिवारों में परिवार के सम्पर्क से ही हिन्दी का जो ज्ञान हो जाता सो हो जाता। वह ज्ञान उसी सीमा तक रहता।

भारत में— हिन्दी विषय में अच्छे योग्यता प्राप्त करने के बाद जब वे अफ्रीका लौटने लगे तो कुछ अंग्रेज अधिकारियों की उनके श्रवण कार्यक्रम का पता चल गया। डरबन पहुँचने से पहले ही उन्हें शसकीय आदेश हुआ कि वे भारत लौट जायें। अफ्रीका की भूमि पर चरण भी न रखें, अन्यथा उन्हें पर्याप्त दण्ड दिया जायेगा। भवानी दयाल जी ने प्रयत्न किये कि सरकार इन आदेशों को वापस ले ले परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। उन्हें डरबन बंदरगाह पर उतरने नहीं दिया गया। किसी प्रकार तो अफ्रीका में घुसना ही है यह सोचकर

वे टांसवाल में उतर किन्तु वहाँ पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकदमा चला।

सौभाग्य से फैसला देने वाले -यायाधीश को उससे कोई खतरा नहीं लगा और उन्हें निर्दोष ससम्मान बरी कर दिया गया। इन जन्मान्वादा से गुजर कर वे अपने पिता के पास जेहन्सबर्ग पहुँचे और वहाँ अपने निर्धारित योजना के अनुसार काम करने लगे।

जगह-जगह पर उन्होंने बच्चों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठशालाएँ खुलवाई। प्रौढ़ों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठ्यक्रम चलाया और शक्ति-शालाएँ खोलीं। बड़ों और बच्चों दोनों के पढ़ने के लिए उन्होंने बड़ी ही रोचक, शिक्षाप्रद एवं राष्ट्रीय भावों से ओत प्रोत छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। यह पुस्तकें बच्चों को निःशुल्क ही वितरित की जाँहीं। पाठशालाएँ भी निःशुल्क थीं और उनकी प्रेरणा से जो शिक्षक शालाओं में पढ़ाते थे वे भी किसी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं लेते। इस प्रकार विशुद्ध सेवा भावना से यह विशाल जन-जागरण का अभियान खड़ा और चालू किया गया।

हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने एक बड़ा प्रभावशाली कार्यक्रम चलाया। वे भारतीय शक्तिर्षों में अलग-अलग स्थानों पर मिलन पाण्डियों आयोजित करते और उन गोष्ठियों से प्रवासी भारतीयों को देशभक्ति, राष्ट्र प्रेम, स्वाभिमान की भावनाएँ भरते। विभिन्न प्रवासी इन विधियों पर हिन्दी में ही भाषण देते। इस कार्यक्रम से एक साथ तीन प्रयोजन पूरे होते थे—पहला हिन्दी का प्रचार, दूसरा राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण और तीसरा संघ शक्ति का गठन। धीरे-धीरे जब प्रवासी भारतीयों में हिन्दी का प्रचार हो गया तो भवानो दयाल जी ने कई हिन्दी संस्थाओं की स्थापना की।

तभी उनके पिता का देहावसान हो गया। माँ तो पहले ही मर चुकी थी। एक विमाता भी जिससे उनकी कोई छस पटती नहीं थी। इसी विमाता ने पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति के लिए गृह कलह किया। पिता ने भवानी दयाल को सम्पत्ति का अध्या भाग विमाता को देने के लिये कहा था। उन्होंने पिता की के आदेशानुसार विमाता का उचित भाग दे दिया। परन्तु उसकी आकांक्षा थी कि सारी सम्पत्ति ही उस मिल जाये। भवानी दयाल जी ने विमाता की इस लात्भक का पता चलते ही शेष सब कुछ उसे दे दिया और सम्पत्ति के मोह में ही सड़कार पा लिया।

अब उनके पास पर्याप्त समय खाली था। वे अपना सारा समय 'माँ' के म में लगाने लगे। क्रान्तिर में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर 'राधा' और तप, त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। इस जीवन में प्रवेश करने के बाद अपना सारा समय ही लोकसेवा के कार्य में लगाया। बाद में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासमें भारतीयों में जो अदृश्य गहरा और जामरूक नेनना आयी— वह स्वाधी भवानी दयाल जी के प्रयासों का ही परिणाम थी।

दक्षिण अफ्रीका में जन-जागरण के अतिरिक्त स्वाधी जी ने भारतीय समाज की जो अविस्मरणीय सेवाएँ कीं उनका भी बड़ा मूल्य है। उन्होंने भारतवास के समय बग-पग आन्दोलन की सफलता के लिए गांव-गांव में घूम-घूम कर जन-जागरण का कार्य किया।

असहयोग आन्दोलन तथा स्वदेशी प्रचार के लिए भी उन्होंने अथक प्रयास किये और महोनों तक काठवास की सजा काटी। सन् १९५१ में ५९ वर्ष की आयु में यह महान्तम विभूति इस लोक से विदा हो गयी। देशंत का समाचार मिलते ही भारत भर और दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों ने शोक मनाया। भारत, भारतीय और भारतीय भाषा की सेवा में उस आहुत व्यक्तित्व को पाकर साधु वेप सार्थक हुआ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

संस्कृति को नव-जीवन देने वाले—

पं. भगवद् दत्त

निकट के सम्बन्ध की एक महिला मेहमान घर आई है। रात वे घर की बड़ी बहू के पास विग्राम करने सेटीं। कमकाजी स्त्रियों को दिन भर तो अवकाश मिलता नहीं इसी समय थोड़ी-बहुत चर्चा करके सो जाती है। उनकी बातचीत का साधारण प्रसंग कुछ देर चला मेहमान महिला ने बगल के कमरे से आ रहे प्रकाश की ओर झाँककर पूछा—“बहिन भगवद् दत्त अभी तक नहीं सोया?” माँ कहती है—“हाँ बहन यह अभी थण्टी नहीं सेयेगा?”

बातचीत का क्रम फिर चल पड़ा रात के ११ बज गये बली फिर भी नहीं बुझी। इस पर अतिथि ने फिर पूछा—“बहिन बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ेगा। इतनी रात बीत गई पढ़ाई बन्द करने को क्यों नहीं कहनी?”

एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये माँ ने कहा—“बहिन! यह कोई कोर्स की ही पुस्तकें तैयार नहीं करता। कहता है—पाश्चात्य पंडितों और इतिहासकारों ने हमारी धर्म संस्कृति को हमारे इतिहास को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। अपने धर्म-ग्रन्थों का मैं विस्तृत अध्ययन कर पाश्चात्य पंडितों की धारणा का खण्डन करूँगा और एक नवा इतिहास लिखूँगा? अपनी इसी धुन में लगा रहता है वह न जाने कहीं-कहीं से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ता रहता है जब खर्च के लिये जो कुछ मिलता है देखती हूँ वह सब पुस्तकें खरीदने में ही खर्च करता है।”

“पढ़ना तो बहुत अच्छी बात है।” अतिथि-बहिन ने गम्भीर मुद्रा और दार्शनिक भाव से कहा—“किन्तु उसके स्वास्थ्य का भी तो ध्यान रखना चाहिये?”

माँ हँसकर बोलीं—बहिन! अपने बेटे के लिये पौष्टिक आहार और नियमित जीवन का सारा प्रबन्ध मैं स्वयं सम्भालती हूँ उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देती पर मैं थी यह अनुभव करती हूँ कि आज देश की सर्वोपरि आवश्यकता अपने धर्म, समाज और सांस्कृतिक परम्पराओं को पुनर्जीवित करने की है। यदि वह न हुआ तो हम ऐकनैतिक दृष्टि से स्वाधीन बने ही हो जायें बौद्धिक दृष्टि से हम अपंग ही बने रहेंगे। मेरा बेटा जो कर रहा है मैं उससे प्रसन्न हूँ। इसलिये बीच में व्यवधान उत्पन्न करने का मेरा भी जो नहीं होता।”

मेहमान अत्यधिक प्रभावित हुई। उन्होंने कहा—“तुम सचमुच अन्य हो दूसरी यताये अपने बच्चों से पौष्टिक सुख साधनों की अपेक्षा

करती है नब्ब नुमने अपने व्यवहार से यह दिखा दिया कि भारतीय परिवारा देश और धर्म के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने से भी पीछे नहीं रहती ।

जिस बालक के सम्बन्ध में यह वार्ता चली वह ५० भगवद् दत्त हैं जिनकी कृतियाँ ने जहाँ इस देश की पश्चिमाभिमुख बुद्धि के झकझोर का जगाया और उसे यह सोचने को विवश किया कि सच्चे ज्ञान और मधार्थ दर्शन का सूर्य पूर्व से भारतवर्ष से निकलना है, पश्चिम तो उसको साँझ है, वहाँ उन्होंने पश्चिम के विद्वानों को भी यह मानने को विवश कर दिया कि वेद गुरुियों के गीत नहीं ज्ञान विज्ञान के अमूल्य धण्डागार हैं । भारतीय दर्शन कल्पनिक उड़ाने नहीं चिन्तन का यथार्थ धरातल है, उपासक मन्त्र साहित्यिक कृतियाँ नहीं बल्कि जीवन विज्ञान के अमूल्य ग्रन्थ हैं । यह पं. भगवद् दत्त ही हैं जिन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लुई रिन्ने तक को जो कभी भारतीय धर्म और समाज व्यवस्था के प्रबल आलोचक थे, के मुँह से निकलवाया— “वेद के मन्त्रों में अभूतपूर्व विज्ञान भरा पड़ा है भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति हो सकती है ।”

जिसने पश्चिम के विद्वानों की धानत धारणाओं को ब्रह्म और विश्वास में बदल दिया— जिनका साथ जीवन एक सच्ची उपासना है उन्हें भारत के कितने लोग जानते हैं इससे कम उनकी आत्मा को दुःख हुआ ? नहीं नहीं मृत्यु के समय उनसे एक मित्र ने कहा— “बड़ा दुःख है कि आप जैसे सच्चे देशभक्त और विद्वान का देश ने यथा सम्मान नहीं किया ।” इस पर उनकी आँखें चमक उठीं चेहरे पर गौरवपूर्ण प्रकाश छा गया, करकट बदलते हुये उन्होंने कहा— “यह अच्छा ही हुआ सम्मान के चक्कर में पड़ गया होता तो बौद्ध बहुत काम किया वह भी न कर पाया होता, मेरा शरीर जा रहा है पर मैं अपनी आत्मा अपनी पुस्तकों में छोड़ जा रहा हूँ ।”

और सचमुच आज उस कर्मयोगी की ज्ञान-गीता के प्रकाश में भारतीय समाज और संस्कृति के पुनरुद्धार का कार्य शुरू हो गया है । वैदिक इतिहास का वाङ्मय, ‘वेद विद्या निदर्शन’ तथा ‘भारतवर्ष का बृहद् इतिहास’ जैसी उनकी अमूल्य कृतियाँ जो एक बार पढ़ लेता है पाश्चात्य विचारों ने उसके मन में स्थितिक पर कितनी ही गहरी जड़ें क्यों न जमा रखी हों, दिशाग को झकझोर कर रख देती हैं ।

पं० भगवद् दत्त देश के विभाजन से पूर्व तक लाहौर के निवासी थे बाल्यावस्था लाहौर में ही बीती, वहाँ पढ़े और बहो दयानन्द कॉलेज में १३ वर्ष तक प्रोफेसर रहे । विभाजन के बाद वे भारत आ गये और जब अधिकांश शरणार्थी वहाँ आकर अपनी आर्थिक और पारिवारिक व्यवस्थाओं में जुटे थे । पण्डित जी ने वहाँ आते ही और दिल्ली में मात्र निवास की व्यवस्था होते ही अपनी संस्कृति उपासना प्रारम्भ कर दी ।

कुछ दिन में वे पं० विश्वविद्यालय के कैम्प कॉलेज के प्राध्यापक नियुक्त हो गये । यहाँ भी अध्यापक के बरत का उनका सरा समय इतिहास की गवेषणा और सांस्कृतिक उपादनों की शोध

में ही बीता । मनुष्य का मन यदि एक काम में पूरी तन्मयता से जुट जाता है तो सचमुच चमत्कार हो जाता है । पण्डित जी की यह सेवायें मन की एकग्रता के ही चमत्कार हैं । जिस पर उन्हें भरेन्द्र देव पुरस्कार जैसा विशिष्ट सम्मान भी प्राप्त हुआ ।

उनकी उपलब्धियों का एक उदाहरण यह भी है कि आई ए एस के प्रशिक्षार्थियों का जो आगे चलकर प्रशासनिक सेवाओं में उच्च पदधिकारी नियुक्त होते हैं वे भारतीय संस्कृति का ज्ञान करने के लिये पण्डित भगवद् दत्त को ही चुना गया था । आई ए एस के प्रशिक्षार्थी मानते थे कि पण्डित जी जैसी अध्ययनशीलता, लगन और सेवा साधना का पाव यदि भारतीयों में आ जाता तो सारा विश्व भारतीय धर्म एवं संस्कृति के पीछे-पीछे चलने लगता ।

पण्डित जी कहा करते थे— इतिहास-शुद्ध आज देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है । इतिहास से ही नई पीढ़ी जातीय स्वाभिमान और उन्नति की प्रेरणाएँ प्राप्त करती है अतएव उसका स्वरूप अपनी गरिमा के अनुरूप हो रहना चाहिये । पिछले दिनों मुसलामन और अंग्रेज इस देश के शासक रहे । उन्होंने इस देश का आर्थिक शोषण ही नहीं किया । सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रहार किये और मनमाने ढंग से इतिहास लिखकर हमारे जातीय स्वाभिमान को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । जब तक हमारे बच्चों को यह इतिहास पढ़ाया जाता रहेगा, उनकी मनावृत्ति पश्चिम को ही सब कुछ मानने और स्वयं अन्तर्माहीनता की स्थिति में पड़े रहने जैसी बनी रहेगी । इसलिए उन्होंने भारतीय इतिहास को शोध नई ढंग से करने और भारतवर्ष का नया इतिहास न केवल लिखने की प्रेरणा दी अपितु लिखा और प्रसारित भी किया । जिन बातों को हम भारतीय ही भूल गये थे उन्हें फिर से प्रकाश में लाकर उन्होंने एक गौरवपूर्ण अध्याय का श्री गणेश किया ।

पण्डित जी सांस्कृतिक स्वाभिमान के धूर्तिमान प्रतीक थे । आहार-व्यवहार, वेष भूषा, रहन-सहन और चिन्तन सभी कुछ भारतीय । उनका चिन्तन यह कृतृत्व भारतीय समाज के सेवा साधकों में सदा प्रात स्मरणीय रहने रहेगा ।

सेवाभावी—भोले बाबाजी

वह छोटा-सा गांव अब बहुमुखी प्रगति की दौड़ में अपने आसपास के सभी गांवों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया, तब सभी देखते रह गये । कल तक जो गांव राज्य का सबसे पिछड़ा गांव था, वही देखते-देखते तीन चार-सात क बोड़ अगसे में ही आदर्श गांव की पंक्ति में आ बैठेगा । इसकी कल्पना किसी को नहीं थी, गांव वालों को भी नहीं । इसीलिए दूर-दूर से लोग उस गांव को देखने के लिए आते और उसकी सफलता का रहस्य जानने की कोशिश करते । जब उन्हें यह मालूम होता कि इस छोटे से गांव का कार्यालय करने में भोले बाबा जी का प्रमुख हाथ रहा है, तो वे दौतों तले अंगुली दबा लेते । उन्होंने अब तक ऐसे साधु-महत्माओं के बारे में ही अधिक सुन रखा था, जो लोगों को लूट-खसोटकर चलते बजते हैं । पिछले

साल की बात है। फस के एक गाँव में एक बाना मन्दिर बनवाने के नाम पर लोगों ने हजारों रुपया खर्च कर चम्पत हो गया था और उस गाँव की बताशी बुद्धि तो अब भी उस साधु के नाम को रती रहती है। उस बेचरी को तो सदा गहन ही दुःख करने के बहाने उसने एत लिया था।

भोले बाबाजी ऐसे साधुओं की बिरादरी में नहीं आते थे। सुबह शाम मंदिर में घण्टे-घण्टियाँ बजाकर स्वांग घरते शायद ही कभी किसी ने उन्हें देखा हो। दोन-दु खियों और पौड़ित समाज की सेवा की ही वे ईश्वर की सच्ची आराधना समझते और कर्मठता को अपने जीवन का मूलमंत्र मानते। रोजाना भोर होने से पहले ही वे उठ जाते और मन्दिर के कमरों से निकटकर घण्टा-घण्टा भगवद् चिन्तन और अध्ययन-प्रश्न में लगते। इसके बाद अपनी बगीची में पेड़-फँधों की निरई-गुड़ाई और सिंचाई करके अपनी झोली कन्वे पर डालकर गाँव में निकल जाते। अपना अधिकतर समय लोगों को विकास कथों की ओर उन्मुख करने में लगाते। रोजाना बिना नाश्र उनकी कुटिया पर लोगों की बैठक होती और उसमें घंटों विभिन्न विषयों पर चर्चा चलती। बस यही बाबाजी की रोजाना की दिनचर्या थी।

लगभग चार साल हुए जब भोले बाबा इस गाँव में आये थे। उस समय गाँव की हालत बहुत खराब थी। वह अपने आसपास के गाँवों में सबसे पिछड़ा गाँव था और लोग अच्छी तरह उस गाँव का नाम तक नहीं जानते थे। गाँव के लोग बुरी तरह रुढ़ियों और कुसंस्कारों से जकड़े थे। जन्म और मरण-भोज पर सैकड़ों रुपया पानी की तरह बहो-बैत उनके लिए मामूली-सी बात थी। कोई जलका पानी में डूबकर या अचानक मर जाता तो लोग उसे प्रेत-आत्मा की माया के अलावा और कुछ भी नहीं समझते। फस न बरसने, बाद आने या महामारी फैलने पर उसे भगवान् का कोप समझकर चुप रह जाते। किसी के बीमार पड़ने पर डॉक्टर या वैद्य को न बुलाकर झाड़ू-फूंक करने वालों के चक्कर में पड़कर अपना धन तुटाते। गाँव के लोगों में आपस में भी भारी मनमुटाव और मुकद्देबाजी का बोलबाला था। जरा-सी बात के लिए हजारों रुपया मुकद्दों पर फूँक देना वे अपने लिए गौरव की और प्रतिष्ठा की बात समझते थे। उनकी इस फूट का गाँव के सरपंच और पटवारी लोग भारपूर फायदा उठाते थे। वे एक-दूसरे को आपस में लड़ाकर मुकद्देबाजी कराते और फिर दोनों पक्षों से मनमाना पैसा ऐतक अपनी चाँदी बनाते। खाली समय में लोगों को दीपावली पर बैठकर गप्पें लड़ाने, एक-दूसरे की निंदा करने और हुक्म शूङ्गुछाने के अलावा कोई काम नहीं था। भोले बाबा जी उस गाँव में रहने के विचार से नहीं आये थे। वे तो शिवालिक की घाटियों में तपस्या करने के लिए जाते समय उस गाँव में ठे दिन के लिए ठहर गए थे। इन ठे दिनों में उन्होंने जो जो दृश्य गाँव में देखे उनसे उनकी आत्मा सिहर उठी और उन्होंने वहीं रहकर समाज-सेवा करने का संकल्प कर डाला।

बात यों हुई। उस दिन शाम को गनपत की पत्नी, मैना अपनी धँस को बाहर नीम के पेड़ से झोलकर उसे उसारे में बाँधने गई थी। अचानक वह किसी चीज से टोकर खरक नीचे गिर पड़ी और चीखकर

बेहोश हो गई। उसकी चीख पुकार सुनकर गनपत और उसके पड़ोसी दौड़ पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि मैना अचेत पड़ी है। उसकी साँसें ठीक से नहीं चल रही थी और उसके बगड़े भी आपस में भिन्न गये थे। वह देखकर गनपत बुरी तरह से घबरा गया। उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे? इतने में कुछ लोग बोले कि इसे कोई प्रेत-आत्मा लग गई है। जल्दी से फुलवा सयाने को बुलाओ। बात की बात में कोई फुलवा सयाने को बुला लाया। उसने मैना को देखते ही कहा— “अरे, पीछे हटो। इसे तो पीरवाले बाबाजी लग गए हैं। जल्दी से आग जलाओ। मैं अभी इसका भूत उतारने के लिए मन्त्र फूँक रहा हूँ।”

लोगों ने तुरन्त आग जला दी। रामलाल ग्राम सेवक ने उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहा और कहा— “अरे भाई, क्यों इस बेचारी की जान लेने पर तुले हुए हो। इसे भूत-गुहैन कुछ भी नहीं, बल्कि हिस्टीरिया (उन्मादवायु) का दौरा पड़ा है। यह सब कमजोरी और पकावट से होता है। इसका इलाज जन्त-मन्त्र से नहीं।” लेकिन रामलाल की बात नबकर खाने में तुली की आवाज बनकर रह गई। फुलवा ने अपना खेल शुरू कर दिया। उसने आग में धुनी डाली और “खण्ण मैना की जय” कह कर मन्त्र फूँकना शुरू कर दिया। फिर उसने चिमटे से मैना की पिटाई करते हुए पूछा— “बोल, तुझे पीरवाले बाबाजी लगे हैं न?” उसे कोई उत्तर न देते देख फुलवा ने उसकी चिमटे से इतनी पिटाई की कि वह बेचारी दो महीने तक खाट से नीचे पैर न तार सकी।

इस घटना से अगले ही दिन एक बात और हो गई थी। शंकर ने चेतारण के खलिहान में इसलिए आग लगा दी कि उस साल उसके खेत में सबसे अधिक पैदावार हुई थी और उसे सरकार की ओर से पुरस्कार मिलने की भी पूरी आशा थी। इससे चेतारण के लड़के गोपाल के मन में ईर्ष्या पैदा हुई, उसने अगले दिन शंकर के दोनों बैल ही गायब करा दिये। इससे दोनों परिवारों के बीच शत्रुता बढ़ गई और इसने पौजदारी के बीज बो दिये।

इन घटनाओं से भोले बाबाजी के दिल पर बहुत असर हुआ। दो दिन बाद जब वे उस गाँव को छोड़कर चलने को तत्पर हुए तो उनकी अन्तर्मात्मा ने उनके पाँव बकड़ लिये। उन्हें लगा कि जैसे कोई रोकते हुए उनसे कह रहा हो— “बाबा, शिवालिक की घाटियों में तपस्या करके क्या लोगे? ईश्वर की सच्ची आराधना तो समाज में रहकर उसका सुधार और कल्याण करने में ही है।”

भोले बाबाजी के हृदय में समाज सेवा की लौ बचपन से ही प्रज्वलित थी। बस, फिर क्या था। उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा को भगवान् की वाणी समझकर उस पर चलने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

गाँव के छोर पर एक बगीची थी। कफ़े दिने से किसी ने भी उसकी सुध नहीं ली थी। कुआँ, मन्दिर और कुटिया सभी कुछ होते हुए भी वह बगीची बिल्कुल उजाड़ पड़ी थी। भोले बाबाजी ने उसी बगीची में अपना डेरा लगा लिया। कुछ ही दिनों में बाबाजी के हाथ का प्यार-दुलार पाकर उस बगीची में फिर से बहार आने लगी और साथ-साथ गाँव के दिन भी फिरने लगे।

बाबाजी ने शुरू में गाँव के लोगों से अपना मेलजोल बढ़ाया। शुरू कर दिया। वे सुबह ही अपनी झोली कंधे पर खतकर गाँव में निकल जाते और हर काम में लोगों का साथ देते। वे दुःख-दर्द में उनका हाथ बढ़ाते और समस्याओं को सुलझाने में उनकी पूरी मदद करते। बाबाजी की नेक सलाह से सबका काम बन जाता था। इसलिए वे जल्द ही गाँव वालों के बीच लोकप्रिय हो गये। एक दिन उपयुक्त अवसर पाकर उन्होंने गाँव वालों को विकास और सही रास्ते पर चलाने का काम प्रारम्भ कर दिया।

शुरू-शुरू में ग्राम-पंचायत के प्रधान, पंच और पटवारी आदि ने उनके कार्यों में रोड़े अटकाने चाहे, लेकिन बाबा जी के सरल-सीधे और निष्कपट व्यवहार से गाँव वाले इतने प्रभावित हो चुके थे कि उनके सामने इन सवाक-विरोधी लोगों की एक न चली। गाँव के लोग उनकी कमजोरियों से पूरी तरह परिचित हो चुके थे। वे जान गये थे वे लोग उन्हें गुमराह करके अपना उत्सु स्वेष्टा करना चाहते हैं। बाबा जी के बताये सही रास्ते पर चलने में ही उनकी फसाई और कल्याण है, यह सब लोग अच्छी तरह समझ चुके थे।

इसलिए अन्त में हवा के रुख को अपने विपरीत बहते देख कर उन्होंने भी सबके साथ चलने में ही अपनी खैर समझी। बाबा जी स्वभाव के जितने मृदुल थे, कर्तव्य के प्रति उतने ही कठोर और सजग भी थे। एक बार जो भी व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क में आ जाता, वही उनका कर्तव्यनिष्ठ साथी बन जाता। इस तरह बराबर उनके निकट सम्पर्क में रहने के कारण लोगों के अच्यार-विचारे में एक कारगी परिवर्तन आ गया। उनका व्यवहार, थाल-चालन नीक और स्वभाव शुद्ध हो गया। लोगों के हृदय में डह, जलन, छल-कपट, घृणा और ईर्ष्या के भाव लेशमात्र भी न रहे। उनमें आपस में कन्धे से कन्ध मिलाकर काम करने की प्रेरणा जाग उठी। युवकों और स्त्रियों में भी प्रामोत्थान की भावना घर कर गई। इस तरह उनके आपसी सहयोग और सगतन के बल पर गाँव में सुख-समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो गया। फलस्वरूप तीन-चार साल के बीड़े समय में ही गाँव को उन्नति के शिखर पर पहुँचने में देर न लगी। वह गाँव पूरे प्रदेश में आदर्श गाँव के रूप में विख्यात हो गया।

गाँव में प्राइमरी स्कूल का पक्का भवन और पंचायत घर बन गया। धीरे-धीरे गाँव में रोशनी का प्रबन्ध हुआ और एक छोटा-सा डाकघर और सरकारी दुकान भी खुल गई। सबको प्रतिदिन चिट्ठियाँ और जरूरत की चीजें निश्चित दम पर अफसरी से मिलने लगीं। बेकार समय में लोग रस्सी, टोकरी और चटाई आदि बुनने का काम करने लगे। इससे उनके समय का सदुपयोग होने लगा और उन्हें उनके परिश्रम का उचित दाम भी मिलने लगा।

गाँव में युवक-दल, महिला-मंडल और किसान-संघ गठित हो गये। उन्होंने गाँव से प्रमुख मार्ग तक एक पक्की सड़क भी बना डाली। इस तरह जिस गाँव का नाम कल तक कोई नहीं जानता था, वही देखते देखते बाबा जी के सद्प्रयत्नों और गाँव वालों की मेहनत, लगन और सहयोग के बल पर इतना ऊँचा उठ गया कि वह अपने

जिले में ही नहीं पूरे राज्य के लिए पूषण बन गया। बाबाजी की सेवा की सच्ची लगन का ही यह चमत्कार था।

महर्षि दधीचि का त्याग

त्वेषा का पुत्र विश्वरूप देवताओं का पुरोहित और असुरों का भान्जा था। वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं को भाग (यज्ञ भाग) देता और असुरों को छिपे-छिपे देता था।

तब हिरण्यकशिपु को अगुआ बनाकर असुरों ने विश्वरूप की भत्ता-अपनी बहन से रुझा—बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र, त्वष्टासन विश्वरूप विनियम को कि देवताओं का पुरोहित है, देवताओं को तो प्रत्यक्ष रूप से भाग देता है और हमें छिपा कर। इसलिये देवता बढ़ते और हम नष्ट (दुबले) होते जाते हैं। तुम इसे रोको, जिससे यह हमारा साथ देवे।

असुरों की इच्छानुसार विश्वरूप से माता ने कहा— ‘हे पुत्र ! तू रात्रि पक्ष को बसता हुआ पातुल पक्ष का नाश क्यों करता है ? तुझे यह करना उचित नहीं।’ वह विश्वरूप ‘माता का वधन उत्संघन करने योग्य नहीं’ यह समझकर और उसे आदरपूर्वक ग्रहण करके हिरण्यकशिपु के पास गया। इधर ब्रह्म पुत्र वशिष्ठ ने हिरण्यकशिपु को साव दिया हुआ था कि चूँकि तूने दूसरे को होता बना लिया अतएव यज्ञ पूर्ण बिना हुए ही तू अपूर्ण प्राणी से मारा जायेगा। उसके शाप देने से ही हिरण्यकशिपु पक्ष को प्राप्त हुआ।

तब मारु पक्ष को बढ़ाने वाला विश्वरूप घोर तप करने में लगा, उसका तप नष्ट करने के लिये इन्द्र ने बहुत-सी रूपवती अप्सरा भेजीं उन्हें देख कर उसका पन चंचल हो गया। तुरन्त ही वह उन अप्सराओं में फँस गया। उसको फँसा हुआ जानकर अप्सराओं ने कहा कि हम अपने स्थान को जाती हैं।

त्वेषा पुत्र विश्वरूप ने उनसे कहा— ‘‘कहाँ जाओगी। यहाँ मेरे पास ही बैठो, तुम्हारा कल्याण होगा।’’ उन्होंने उससे कहा ‘हम देवताओं की शिवां अप्सरायें हैं, हम सब कामनापूर्ण करने वाले समर्थ इन्द्र को ही बोगी।’

विश्वरूप ने उनसे कहा— ‘‘आज ही इन्द्र सहित सब देवता न रहेंगे, नष्ट हो जावेंगे।’’ तब उसने मंत्रों का जाप किया। इन मंत्रों के प्रभाव से वह बढ़ा और उसके तीन सिर हो गये। उसने एक मुख में तो सब लोकों में अग्निहोवादि करने वाले ब्राह्मणों द्वारा विधिपूर्वक हुत सोम का पान किया, एक से (दूसरे से) अन्न और (तीसरे से) देवताओं का भक्षण करना प्रारम्भ किया।

तब सोमपान से पुष्ट शरीर वाले उस विश्वरूप को बढ़ता हुआ देखकर इन्द्र देवताओं सहित चिता में पड़ गया। इन्द्र सहित देवता ब्रह्म के पास पहुँचे। उन्होंने कहा— ‘‘विश्वरूप सब यज्ञों में हवन किया सोम पी जाता है, हमारा भाग ही न रहा, इसलिये असुर बढ़ रहे हैं और हम क्षीण हो रहे हैं। आप अब हमारा कल्याण कीजिये।’’

ब्रह्मा ने उनसे कहा— ‘‘भृगु पुत्र दधीचि ऋषि तप कर रहे हैं जाकर उनसे वर माँगे। ऐस करो, जिससे वह अपना शरीर त्याग दे, तब उनकी हड्डियों से नरक बनाओ।’’ तब देवता लोग भगवान्

दधीचि ऋषि जहाँ तप कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। इन्द्र सहित देवता उनके पास जाकर बोलें।

दधीचि ने उनसे कहा— 'अगर लोगों का स्वागत है, कहिये क्या करूँ ? जो आज्ञा लोग कहेंगे, उसे मैं पूरा करूँगा।' उन्होंने उनसे कहा— 'लोक के कल्याण के लिये आप अपना शरीर परित्याग कर दीजिये।'।

जब सुख-दुःख का समान समझने वाले महायोगी दधीचि ने बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किया अस्या को संपादित कर शरीर छोड़ दिया। शरीर से जीवन के निकल जाने पर ब्रह्मा ने वे हड्डियाँ ले ब्रह्म बनाया। न दूढ़ने खाने दुर्जेय ब्राह्मण की हड्डी से बने हुए विष्णु अर्थात् उस कब्र से इन्द्र ने विश्वरूप को प्राप्त और उसके सिर कब्रट लिये। ससार पर आई हुई विषमियों का निवारण करने के लिये साधु पुरुष अपने शरीर का परित्याग कर देते हैं।

महर्षि कणाद शिष्य धौम्य—सही साधनों का अनुसंधान

'आपकी साधना, आपका तत्त्व ज्ञान, आपका ब्रह्मवर्णसु विश्व के कल्याण के लिए है भगवन्। पर यह कहाँ सम्भव है कि आप सुदूर प्रान्तों का निरन्तर परिजन करते रहें और लोगों की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करें। गुरुकुल की स्थापना करने ही होगी देव ! उसके बिना भावी पीढ़ी का आध्यात्मिक प्रशिक्षण किस प्रकार बन पड़ेगा ? आप ही तो कहते हैं कि धर्म तत्त्व का प्रशिक्षण और प्रसार किए बिना लोक-जीवन का धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक विकास नहीं हो पाता।'।

"तो तो यथार्थ है तात्।" महर्षि कणाद ने शिष्य धौम्यपाद के कथन का समाधान करते हुए कहा— "वत्स ! जिस राष्ट्र के नागरिकों को शिक्षा के साथ दीक्षा नहीं मिलती वहाँ लोगों की बौद्धिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी क्षमताएँ कुण्ठित हो जाती हैं। इसलिए विद्यालय का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पर, गुरुकुल शलत है जिन पर, ऐसे साधन कहाँ से उपलब्ध होंगे ?"

आप उनकी चिन्ता न करें देव ! मुझे आदेश दें, साधनों का अनुसंधान मैं करूँगा। मैं लोगों के दरवाजे-दरवाजे जाकर साधन एकत्रित करूँगा। आवश्यकता हुई तो इस पुनीत उद्देश्य के लिए भोख भी मरूँगा। वन के पक्षी अपना आहार सुटा लेते हैं। घणिक नैकाओं में धान्य लादकर समुद्र की विस्तृत सांभाएँ लांघ जाते हैं और द्रव्यार्जन कर लेते हैं। बदल बरसने की इच्छा करते हैं तो उन्हें समुद्र से जल मिल जाता है। देव-न्दी गंग ने जब लोक-कल्याण के लिए अपनी धर्म यात्रा आरम्भ की तब उन्हें भी ऐसी ही चिन्ता हुई थी, पर क्या हिमालय का अंचल इतना संकीर्ण था कि वह गंगा माता को वर्ष भर निरन्तर प्रवाहित होने के लिए जल न दे पाता ? भगवन् ! मुझे विश्वास है सद्उद्देश्यों के लिए सम्पत्तियों का कभी अभाव नहीं होता।" धौम्य ने एक बार फिर अपना वचन निवेदन दुहराया।

"तुम्हारा सकल्प पूर्ण हो वत्स ! जाओ मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम गुरुकुल की स्थापना के लिए साधनों की खोज करो।" महर्षि कणाद ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। ऐसा लगता था उनकी मुस्कानहट में कुछ गहरा रहस्य छुपा है।

धौम्य चल पड़े। सम्पूर्ण राष्ट्र के नाम एक परिपत्र वितरित कर उन्होंने प्रजा से सहयोग की याचना की। उस समय महर्षि कणाद की तपश्चर्या का प्रभाव शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति दिव्य और निष्कलक चमक रहा था। परिपत्र को पढ़कर जन-जीवन में उत्साह आ गया। तपस्वी, वैज्ञानिक, महर्षि की सेवा में धन-वैभव का कुछ अंश लगा सकें यह प्रत्येक के लिए सौभाग्य की बात थी। जिसके पास जो कुछ था—खुशी-खुशी देने लगे। देखते-देखते धन-धान्य, रत्न, सोने, चाँदी तथा वस्त्रभूषणों के ढेर लग गए। किसी ने भवन निर्माण का आरम्भ कर ले लिया, किसी ने छात्रों की भोजन व्यवस्था का। एक वर्ष के भीतर ही साधनों का अम्बार लग गया। धौम्यपाद मगर्व गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्हें प्राप्त किए साधनों की तालिका भेंट की।

तालिका के अंकित अक्षरों को पढ़ते गए ऋषि कणाद, उतनी ही उनकी मुख मुद्रा गम्भीर होती गई। उन्होंने कहा— "तुम्हारा उत्साह सार्थक हो धौम्य, गुरुकुल की स्थापना का काम प्रारम्भ कर दो। विद्यार्थियों के प्रवेश का प्रबन्ध अविलम्ब किया जाय। पर इससे पहले वह एकत्रित धन-सामग्री जहाँ से आयी है, यथावत् उसे अविलम्ब वापस कर दिया जाय। जिन साधनों की आवश्यकता थी वे अभी तक नहीं मिले, अभी उनकी खोज करनी होगी।" महर्षि का प्रतिवाद करने की हिम्मत धौम्य में थी ही कहाँ ? उन्होंने आज्ञा का अधरत-पालन किया। जहाँ से धन आया था, वापस लौटा दिया गया।

ऋषि कणाद ने उसी दिन मौन व्रत ले लिया। चाणी के प्रसुप्त होते ही स्वप्न आल की भाँति उनकी क्रियाशीलता जाग पड़ी। महर्षि प्रतिदिन सुबोदय होते ही जंगल में प्रवेश कर जाते और दिन भर लकड़ियों कटते रहते। एक महीने में इतनी लकड़ियाँ इकट्ठी हो गयीं, जिससे छात्रों के आवास का प्रबन्ध किया जा सके। अगले महीने कांस और फूस की उसनी ही कक्षा कबूटी कणाद ने, जिससे पर्णकुटीरों में छाया का बयोष्ट प्रबन्ध हो जाता। अगले मास महर्षि ने सघन वृक्षरोपण का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही समय में पौधे बढ़ते दिखाई देने लगे। चारों ओर हरियाली छा गई। इसी बीच उन्होंने पर्णकुटीर तैयार किये। निजी अग्रभू, शिक्षकों के निवास, छात्रावास और पाठन कक्ष के निर्माण में ऋषि ने अपने स्वयं कर्णों की एक-एक बूँद उत्सर्ग कर दी। तब कहीं जाकर गुरुकुल की स्थापत्य आवश्यकताएँ पूरी हो पायीं।

इस बीच भी उन्होंने अपनी आवश्यकता खेतों से बीने हुए दानों से ही पूर्ण की। महर्षि के इस कठोर श्रम को देखकर देश का जन-जन रोमांचित हो उठा। हरेक की ब्रह्मा महर्षि का चरण चूमने के लिए पचल उठी। लोगों ने अपने बालकों को भोजना आरम्भ कर दिया।

और इस प्रकार गुरुकुल की स्थापना हो गई। उसका प्रथम सत्र शुरू हो गया।

विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त हो गई। सामान्य किसानों के बच्चों से लेकर महान्याओं और महाराजाओं तक के बच्चों ने प्रवेश लिया। जन-जन को विश्वास था महर्षि कणाद की तपश्चर्या और ब्रह्मनिष्ठा पर। इसलिए जिनके भी लड़के विद्वत्प्लव में प्रविष्ट हुए, उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा। किन्तु महर्षि को अब तक कोई भी सहायक उपलब्ध नहीं हुआ था। धौप्यपाद उनके आश्रम की देख-रेख करते थे। पा छात्रों के विद्याध्ययन से लेकर उनकी सामान्य देख-रेख तक का सारा कार्य महर्षि को स्वयं ही देखना पड़ता था। प्रथम सत्र के समापन का समय समीप आ चुका था। अब तक उन्होंने एक दिन भी विद्याप नहीं किया था। आश्रम के अतिरिक्त वे समीपवर्ती गांव भी न जा पाए थे। उनकी श्रमशीलता, लगन और अभ्यवसाय के साथ महान् तप और त्यागवृत्ति की चर्चा सारे विश्व में छा गई। वृद्ध होने पर भी अभी उनके शरीर में किसी प्रकार की क्षमकट के लक्षण परिलक्षित नहीं हो रहे थे।

वर्षा का आगमन निकट देखकर एक दिन उन्होंने विचार किया कि बरसात में जंगल का सम्पूर्ण कण्ठ गीला हो जायेगा। इसलिए सपिण्धाओं के लिए सूखा ईंधन इकट्ठा कर लेना चाहिए। कुन्ताड़ी और रस्सियाँ लिए छात्रों के साथ कुलपति कणाद घन को भोर चल पड़े। उनके वृषभ स्कन्ध पर कुल्हाड़ी विराजमान थी और वे अड़्डाद के साथ आगे बढ़ते हुए जा रहे थे। मौन शिष्य मंडल पीछे-पीछे चल रहा था। बादलों ने छाया कर दी थी। सूर्यदेव ने अपना आभूषण हलका कर लिया था। इसलिए मौसम और भी सुहृद्वान हो रहा था। ऋषि ने शिष्यों के साथ सार्धकाल तक लकड़ियाँ काटीं। उनकी गौरवर्ण वृद्ध देह से झर रहे स्वेद बिन्दु ऐसे दीख रहे थे जैसे हिम-शिखर से गंगा का फैलाव मन्दगति से उतर रहा हो। उनकी मुखाकृति और भी उदीप्त हो उठी थी। एक-एक विद्यार्थी की बही स्थिति थी। अपने-अपने गहुर लिए सभी छात्रों ने जब आश्रम में प्रवेश किया तब ऐसा लग रहा था जैसे, ध्रम, संयम, स्वावलम्बन और अभ्यवसाय ने अनेकों भव्य रूप ले रखे हों और धीरे-धीरे आश्रम की प्रकृति में समकते चले जा रहे हों।

ईंधन, सपिण्धाएँ सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाकर जब सब विद्यार्थी सध्या बंदन के लिए बैठे, तब भी महर्षि देख रहे थे कि इन सब के भोजन की व्यवस्था हो गई है या नहीं? किसी पर्णकुटीर में छेद तो नहीं हो गए, कल के लिए समुचित खाद्यान्न जुटाया जा चुका है या नहीं?

बालक अपने-अपने कक्ष में पहुँच चुके थे। दीप-वृन्द जल उठे थे। शांत वातावरण में स्वाध्याय करते छात्र ऐसे भले लग रहे थे—जैसे नक्षत्रों से फूटती दिव्य किरणों ने मूर्त स्वरूप धारण कर लिया हो और तब महर्षि कणाद ने स्नान कर साधना कक्ष में प्रवेश किया। किन्तु आज उनका शरीर इतना थक चुका था कि साधना प्रकृष्ट की तीन हीदियाँ उनसे चढ़ी न जा सकीं। अन्तम पैर बढ़ाते

ही वह लड़खड़ा गए। उनकी कृष्ट देह में गायत्री के सम्मुख जा गिरी। ऋषि अचेत हो गए।

धौप्य भागते हुए आये। बल के लीटे देकर उन्होंने गुरुदेव को सपात्त। अचेतनता दूर हुई। ऋषि ने आँखें खोलीं। पृच्छ—“धौप्य! विद्यत्प्लव के लिए बिन्हीं साधनों का अभाव हो तो खोजना, उसे पुरा करना। अब यह शरीर बहुत थक गया है।” उनकी चरण रज मस्तक पर लगते हुए धौप्य ने उत्तर दिया—“गुरुदेव आपने जिन साधनों की आवश्यकता अनुभव की मैंने ठन्हे देर से समझा। पर यह समझ अब कभी धूमिल न पड़ेगी।” सुनकर महर्षि की आँखें ज्वलित हो उठीं, मुख पंडल पर सौम्य विश्वास की आभा फैल गई। उनके प्राण—प्राणों की अधिष्ठात्री—गायत्री में विलीन होने लगे।

समाज सृष्टा—महात्मा भगवानदीन

वास्तव में उन व्यक्तियों का हृदय कितना विशाल और आत्मा कितनी महान् होती होगी, जो बिना किसी प्रयोजन अथवा स्वार्थ के किसी की प्रेरणा के बिना जो ही अपना जीवन-समाज राष्ट्र अथवा पानपता की सेवा में समर्पण कर देते हैं। नि-सन्देह ऐसे व्यक्ति मनुष्य योनि में होते हुए भी देवता ही होते हैं। महात्मा भगवानदीन भी एक ऐसे मनुष्य रूपी देवता थे।

महात्मा भगवानदीन बाल्यकाल से ही कुछ विशेष विचारशील थे। अन्व आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वे थोड़ी देर बैठकर कुछ न कुछ चिन्तन अवश्य किया करते हैं। उस समय तो लोग उनके इस काम को एक पागलपन समझते थे और कहा करते थे कि यह लड़का अकेले में बैठकर न जाने क्या सोच करता है। पर बाद में आगे चलकर उनके कार्यों को देखकर लोगों को पता चला कि वह बालक जो ही निरर्थक कल्पना-लोक में विहार नहीं करता था, बल्कि देश और धर्म के विषय पर बड़े ही क्रियात्मक ढंग से विचार करता था।

विचार क्रिया की एकप्रता की उपलब्धि करके महात्मा भगवानदीन ने सबसे पहले जैन धर्म और जैन शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। जिस अभ्यास बल से उन्होंने विचार क्रिया की सिद्धि की थी उसी अभ्यास ने उन्हें शास्त्र मंचन में बड़ी सहायता की। जिस समय वे किसी शास्त्र का अध्ययन करने के लिये बैठते थे तो केवल उसका साधारण पाठ ही नहीं करते थे बल्कि उसके एक-एक वाक्य, एक-एक अक्षर की गहराई में उतरते थे। शास्त्रों में इस पैठ की विशेषता उनके अपनी ज्ञान-विज्ञासा के जागरण से सहज प्राप्त हो गई थी जो ज्ञान का इच्छुक है, आत्मा और परमात्मा के रहस्यों को जानना चाहता है, वह ज्ञान की किसी भी पुस्तक में स्वयं ही नहीं उतरता बल्कि उसकी शिक्षाओं को भी अपने जीवन और अपने व्यवहार में उतार लेता है।

उदार दृष्टिकोण और समर्पित मनोबुद्धि से शास्त्र मंचन का जो परिणाम होता है वह महात्मा भगवानदीन को भी प्राप्त हुआ! मन,

३ ११० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

बुद्धि, ज्ञान से सराबोर होकर वे स्थिर हो गये, आत्म के रहस्यों का उद्घाटन होने लगा, जिससे स्वभावतः उनकी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गईं। पर महात्मा भगवानदीन के अन्तर्मुखी होने का यह अर्थ कदापि नहीं था, कि बस अब उनकी आत्मनन्द प्राप्त हो गया और वे उसी में लीन होकर संसार को तिलजलि देखकर उसे उसके भाग्य पर छोड़कर स्वयं एकान्तवास कर लें, संन्यस ले लें।

महात्मा भगवानदीन ने जब आत्मनन्द की अनुभूति की तब उन्होंने ठीक प्रकार से जाना कि वास्तव में उनके मानव-बन्धु संसार में गलत भावना से लिपटे हुये कितना भयंकर दुःख भोग रहे हैं। अपने आत्म-सुख की तुलना में मनुष्यों के दुःख की समीक्षा करते-करते वे बड़े ही करुणार्द्र हो उठे। अपने मानव-बन्धुओं को इनकी दुर्दशा में छोड़कर अन्धकार में भटकने देकर आत्म-सुख का उपभोग करने में उन्हें बड़ा ही जहन्य स्वार्थ मालूम पड़ा। उन्होंने अपने महान्तम आत्मनन्द को जनसेवा में बदल देने का निश्चय कर लिया।

जनसेवा का द्यत लेकर उन्होंने उसकी रूपरेखा निर्धारित करने के लिए विचार करना शुरू कर दिया। विचार करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक देश के बच्चों तथा तरुणों के चरित्र का ठीक-ठीक निर्माण नहीं होगा समाज का सच्चा कल्याण नहीं हो सकता। एक अच्छे समाज के निर्माता बच्चे तथा तरुण ही हुआ करते हैं और इनका समुचित निर्माण चरित्र के सुधार से ही हो सकता है। इस प्रकार समाज का निर्माण व्यक्तियों के चरित्र निर्माण पर ही निर्भर करता है।

एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच कर उन्होंने हस्तिनापुर में जन-ब्रह्मचर्यश्रम नाम से एक चरित्र-निर्मात्री संस्था की स्थापना की। इस आश्रम के नियम बनाते समय महात्मा भगवानदीन ने बड़ी ही बुद्धिमानी, सावधानी तथा सतर्कता से काम लिया। वे आश्रम के कोई ऐसे जटिल नियम न बनाना चाहते थे जो व्यवहार में न लाये जा सकें, अथवा जिनको देख सुनकर तरुण वर्ग आश्रम को दूर से ही हाथ जोड़ ले। साथ ही वे इतने अधिक नियम न बनाना चाहते थे जो अपनी दीर्घ संख्या के कारण किसी आश्रमाश्रित को चारों ओर से एक बड़े जाल की तरह घेर लें।

एक सीमित संस्था में सर्वशाय-सम्पादक ऐसे नियम बना सकता, जो कि पूर्ण रूप से सरल एवं व्यवहार्य हों, कोई आसान काम न था, किन्तु व्यवस्थित मस्तिष्क, सन्तुलित चित्त और सकर्मक विचार रखने के कारण महात्मा भगवानदीन को इसमें कोई कठिनाई नहीं हुई। जिसने अपने मन, मस्तिष्क तथा आचार व्यवहार को सन्तुलित एवं व्यवस्थित कर लिया है मानो उसने जीवन की समग्र समस्याओं का समाधान अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

उन्होंने आश्रम के लिये केवल चार नियम बनाये—

(१) ब्रह्मचर्य पालन, (२) स्वावलम्बन, (३) मितव्ययिता तथा (४) सेवा। निरुदेह यह चार नियम ही वे चार स्तम्भ हैं जिन पर जीवन-निर्माण का बड़े से बड़ा भवन खड़ा किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य के शरीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक तीनों प्रकारों के स्वास्थ्यों की उन्नति होती है। मन के बलवान और

शरीर के बलिष्ठ होने से मनुष्य में छद्म की वृद्धि होती है जिससे वह संसार में निर्भीकतापूर्वक किसी भी कठिन से कठिन कार्य को अनवरत रूप से करता रह सकता है और अनवरत कार्यरत रहने का अर्थ है 'सफलता' जिससे मनुष्य को एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता की उपलब्धि होती है। जहाँ चित्त प्रसन्न है, जहाँ बुद्धि स्थिर है और जहाँ बुद्धि चंचल नहीं है वहाँ दुर्गुणों अथवा दुर्विकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्वावलम्बन मनुष्य को आत्मविश्वासी एवं आत्मनिष्ठ बनाता है। हर कार्य अपने हाथ से करने में अभ्यास बढ़ता है जिससे कार्य-कौशल की उपलब्धि होती है। सारे काम अपने हाथ से करने वाला परमुखपेक्षी होकर कभी परधीन नहीं होता और परधीनता का दुःख तथा स्वाधीनता का सुख भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। पर-निर्भरता न होने से स्वावलम्बी के सारे कार्य समय से स्वेच्छापूर्वक होते हैं जिससे मन को एक यथुर सन्तोष का सुख मिलता है। स्वावलम्बी स्वभावतः परिश्रमी एवं पुरुषार्थी बनकर आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा स्वगन जैसे व्यसनों के बन्दीभूत नहीं होता और जो व्यसनी नहीं होता उसका जीवन निर्मल एवं निर्विरोध जल भाग की तरह बहता चला जाता है।

मितव्ययिता का दूसरा अर्थ सम्पन्नता ही मानना चाहिये। जो मितव्ययी है उसकी आवश्यकताएँ सीमित रहती हैं और जिसकी आवश्यकताएँ सीमित हैं उसको अभाव अथवा अधन की पीड़ा कभी सहन नहीं करनी पड़ती। मितव्ययी पैसे का मूल्य जानता है अतएव बुद्धिमतापूर्वक उसका समुचित उपयोग करता है। पैसे का समुचित उपयोग करने की कला जानने वाला कम से कम साधनों में सुन्दर से सुन्दर ढंग से रह सकता है। मितव्ययी के स्वभाव में सरलता और रहन-सहन में सदासी का समावेश हो जाता है। मितव्ययिता का गुण ब्रह्मचर्य पालन एवं स्वावलम्बन के निर्वाह में सहायक होता है। मितव्ययी को दरिद्रता, दीनता, दयनीयता अथवा अदेयता का कलंक नहीं लगने पाता जिससे वह निष्कलंक, निर्युक्त एवं निर्द्वन्द्व जीवनयापन करता हुआ सदा सुखी रहता है।

धार्मिक सहिष्णुता के वे बड़े गवरदस्त समर्थक थे। उन्होंने अपने तत्वावधान में अनक अन्तर्जातीय विवाह कराये और समाज विरोधी अनेक अनावश्यक तथा हानिकारक रूढ़ियों व रीतियों का मूलोच्छेदन किया।

महात्मा भगवानदीन आध्यात्मिक क्षेत्र में एक सम्पूर्ण महात्मा सामाजिक क्षेत्र के श्रेष्ठ नागरिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में महान् देश-भक्त थे। जीवन के प्रारम्भिक काल में उन्होंने सयम, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के गुणों के साथ अपने जिस जीवन का निर्माण किया था, अस्सी वर्ष की आयु तक उसका ठीक-ठीक उपयोग करके चार नवम्बर सन् १९६४ को स्वर्ग सिंघार गये। महात्मा भगवानदीन का पंच मौलिक शरीर आज अवश्य नहीं है किन्तु देश के असंख्य नागरिकों के चरित्र तथा साहित्य में विचारों के रूप में वे आज भी हमारे बीच मौजूद हैं।

महात्मा मुगुटरामजी की चमत्कारी साधना

आध्यात्मिक उन्नति द्वारा किस प्रकार एक स्मरण दिखलाई पड़ने वाला मनुष्य ससार की सब विभूतियों और शक्तियों का स्वामी बन जाता है, इसका परिचय हमको मुजसर (बड़ौदा) निवासी श्री मुगुटराम्य महाराज के चरित्र से मिलता है। उनको हुये अभी थोड़ा ही समय हुआ है उनका जन्म स. १९३० में हुआ था। उनकी शक्तियों का लाभ उठाने वाले अभी हजारों व्यक्ति उस प्रदेश में मौजूद हैं। वे छोटी अवस्था से ही अपने नाना के पास रहे थे, जो स्वयं एक बहुत बड़े साधक और धार्मिक पुरुष थे। इसके फल से मुगुटरामजी में ब्रह्मी अवस्था में ही भक्ति और ज्ञान के अंकुर उत्पन्न हो गये थे, जिन्होंने बड़ी आयु में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया और अपनी छाया तथा फलों से अर्न्तगत तो नर-नारियों का कल्याण किया।

मुगुटरामजी को वर्तमान समय की तरह स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी। वे प्रायः कहा करते थे कि “मेरे पाई, मैं तो केवल गुजराती की दो पुस्तकें पढ़ा हुआ हूँ, अगर नौकरी बनने पड़े तो मुझे कोई दस-बारह रुपया से ज्यादा तनखाह न देगा, पर भगवान् के भजन और गायत्री के जप के प्रभाव से ही मुझे सब प्रकार की सफलता प्राप्त हो सकी है। वे बतलाया करते थे कि मैं रात भर नीचे की तरफ प्राण और ऊपर पैर करके, तथा पैरों को एक खुंटी से बाँध कर शिवजी का भजन करता था और सुबह ३-४ बजे से लेकर ९-१० बजे तक गायत्री का जप करता था। कभी-कभी लगातार बारह घंटा बैठकर जप ही करता रहता था।” इस प्रकार की कठोर तपस्या और साधना का फल यह हुआ कि उनकी आन्तरिक शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित हो गईं और वे प्रतिदिन ऐसे कार्य करते रहते थे जिनको लोग चमत्कार ही मानते थे।

(१) जैसा हमने ऊपर लिखा है मुगुटराम जी नमपात्र को स्कूल की दो पुस्तकें पढ़े थे। पर उनके अपने आप सब भाषाओं का ज्ञान हो गया था। एक दिन बड़ौदा के एक सरकारी अफसर आये तो उनके साथ तैलंगी भाषा में बात करने लगे, फिर दूसरे व्यक्ति के साथ कर्नाटकी भाषा बोलने लगे। एक दिन कोई फकीर आया तो उसके साथ उर्दू में खूब बातचीत की। काम पढ़ने पर अंग्रेजी भी बोल लेते थे।

(२) इतनी कम शिक्षा होने पर भी उन्होने समस्या शब्दों का ज्ञान था। उन्होंने किसी से अपेक्षा नहीं की थी, पर वे हजारों मनुष्यों को कुण्डलों देखकर उनका ठीक-ठीक फल बता देते थे। जिनके पास कुण्डली न हो उनकी आकृति तथा स्वभाव देखकर ही कुण्डली तैयार कर देते थे। स्वर-शास्त्र के वे पूरे जानकार थे और कहते थे कि इसके द्वारा विश्व की समस्त बातों का पता लग सकता है। उन्होंने बड़ौदा के पुलिस कमिश्नर श्री घाटगे को स्वर-शास्त्र की दो बार बातें बतलाई दी थीं। उसके फल से एक भयंकर लकू गीरखा को पकड़ते समय उनकी अद्भुत रीति से रक्षित हो जाती थी।

(३) वेग शास्त्र की उनको पूरी जानकारी थी। वे घटचक्रों का ऐसा वर्णन करते थे कि माने उनके आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हों शरीर के किस अंग में कौनसी चीज है इसका वर्णन स्पष्ट रूप से कर देते थे। प्राणायाम, आसन मुद्रा आदि सब विषयों को वह भली प्रकार समझा देते थे।

(४) वे कहते थे कि नक्षत्रों का तमाम वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध है। इसलिये अगर खास नक्षत्र में कोई वनस्पति लाई जाय और रोगी को विशेष विधिपूर्वक दी जाय तो उसका रोग अवश्य दूर हो जावेगा। इस वनस्पति का अमुक देवता के लिये अमुक नक्षत्र में हवन करने से भी बड़ा लाभ हो सकता है।

(५) मंत्र शास्त्र के बड़े ज्ञाता थे और किस मंत्र का प्रयोग कहाँ करना है वह बहुत अच्छी तरह जानते थे। स्वयं अनेक मंत्रों की रचना अद्भुत रीति से करते थे। दूसरे मंत्रों के स्वरूप और साधक्यों को भली प्रकार जानते थे। वे आवश्यक “बीज” अक्षर मंत्र के आरंभ, अंत या मध्य में लगाकर साधन का ऐसा विधान बतला देते थे, कि मंत्र का प्रयोग अवश्य सफल होता था।

(६) वे येटों के मंत्र बोलकर उनका तात्पर्य अच्छी तरह समझा देते थे। प्रसंग आने पर उपनिषदों की कथायें सुनाते थे। पुराण तो ऐसा सगला था कि उनके कंठस्थ ही हैं। जो पंडित जिस प्रसंग को लेकर उनके पास आता थे उसी विषय के सब प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण उसे सुना देते थे।

(७) अपनी जन्म-जात आत्म शक्ति और गायत्री की असाधारण उपासना के बल से उनका बचन सिद्ध हो गया था। जो कुछ मुँह से निकल जाता वही सत्य हो जाता। उदाहरणार्थ ब्राह्मण भोजन करने का बैठ और पानी बरसने लगा, तो आप कहते कि वर्षा तो अभी बन्द हो जायेगी और वैसा ही हो जाता। “जा, तेरा ज्वर अभी उतर जायेगा।” यह कहते ही ज्वर दूर हो जाता। जा, भगवान् तुझे पुत्र देगा, तो स्वेष्ट ही पुत्र का मुख दर्शन होता। जाओ, महादेव पर सवा पाँच सेर दूध चढ़ान, तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा तो, वैसा ही होता। संप के कटे मनुष्यों से कहते जाओ तुम्हारा ज्वर उतर जायेगा, तो संप के कटे लोग बच जाते। इस तरह असंख्य लोगों ने उनके बचन की सिद्धि से लाभ उठाया था।

(८) कभी किसी की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ जाती तो वे दूसरा शरीर धारण कर लेते थे। इसी प्रकार जंगल में नागपूजा स्वामी की शेर के आक्रमण से रक्षा की थी। पत्नी क्या बोल रहे हैं इसे वे भली प्रकार समझ जाते थे। वे कहते थे कि जब हम परावाणी में प्रवेश कर जाते हैं तो ससार के समस्त प्राणियों की बोलियाँ और भाषाएँ समझ में आने लग जाती हैं।

(९) तप द्वारा उनको लक्ष्मी की भी सिद्धि हो गई थी। इसलिये बिना किसी से कुछ भी माँगे और पैसा-रुपया का स्पर्श न करने पर भी वे राजाओं की तरह खर्च करते रहते थे। अपने जीवन में उन्होंने लाखों मनुष्यों को अन्त्यजन और दक्षिणा दी थी। राजाओं के से बड़े-बड़े ब्रह्मभोज करते रहते थे, बड़े-बड़े यज्ञ करते थे। अपने नाम

३ ११२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

और जाना के मरने पर पास में बैसा न होते हुये भी उनकी किया-कर्म ऐसे धूम धाम से की कि जैसा कोई लखपती भी नहीं कर सकता ।

(१०) जो कोई अपने किसी मृत सम्बन्धी से बातचीत करना चाहता तो वे उसकी आत्मा को तुरन्त बुला देते और उसे स्पष्ट बातें करने हुये उसकी इच्छा पूछने वाले को बना देते थे । एक बार ईश्वर विद्यासन के पुसिफ श्री चतुर्भुज माणिकेस्वर भट्ट उनके पास आये और अपनी मृत पत्नी से बात करने की इच्छा प्रकट की । उन सज्जन को इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि वास्तव में उनकी पत्नी की आत्मा ने आकर बातचीत की थी । धर्म्म के विषय में वे प्रायः लोगों को पहले से बतला देते थे । दूसरों के मन की बात जानकर बिना कहे ही उसके उत्तर दे देते उनके हिये अविशुद्ध साधारण बात थी ।

(११) एक बार उनकी बातचीत एक डाक्टर से हो रही थी, जो पेरिस (फ्रांस) होकर आया था । मुगुटरामजी ने अपने स्थान में बैठे हुये ही दूरदर्शन शक्ति द्वारा उसे पेरिस का सब हाल सुना दिया, जिसे डाक्टर ने बिल्कुल ठीक बतलाया । इस पर घबरा में बैठे उच्चरवलाल जौहरी को कौतूहल हुआ और उसने परीक्षा के लिये महाराज से कहा कि मेरा कपड़मंज कस्बे में जो मकान है उसका वर्णन बतनाइये । महाराज ने कहा— “वह कौनसी कठिन बात है । तेरे घर का हाल तो यह डाक्टर साहब ही बतला सकते हैं ।” उनके यह कहते ही डाक्टर साहब सन्मुख उस जौहरी के घर के भीतर का हाल बतलाने लग गये, जिसको उसे साथ मानना पड़ा । इस प्रकार वे दूसरे लोगों में भी चमत्कारी शक्ति उत्पन्न कर देते थे । अनेक मरते हुये व्यक्तियों को उन्होंने मंत्र पढ़ कर जल मिलाने से बचा दिया था । एक बहुत बड़े अफसर का हृदय रोग एक फूँक मार कर दूर कर दिया ।

(१२) दुनिया में किस जगह कौन-कौन बोगी और सिद्ध पुरुष रहते हैं इसका उनको भली प्रकार पता था । इच्छा होने पर उनके साथ बातचीत करते, उनकी अपने पास बुला लेते अथवा सूक्ष्म शरीर से स्वयं उनके पास धले जाते ।

(१३) अपने पास आने वाले मनुष्यों के पूर्व जन्म का हाल भी वे बतला देते थे । उस जन्म के किस कर्म के पाप से इस जन्म में कष्ट मिल रहा है इसका पूरा हाल वे जान सकते थे और फिर उसको मिटाने का जो उपाय बतलाते उसके करने से निश्चय ही वह कष्ट दूर हो जाता था ।

(१४) उनके यहाँ आने वाले मनुष्यों का कोई हिसाब न था । रसोइया और उनकी पत्नी उनसे पूछ लेते थे कि कितने व्यक्तियों की रसोई बनेगी । फिर भी प्रायः ऐसा होता था कि दस आठमियों का भोजन बना और खाने वाले २५-३० आ गये—पच्चीस का भोजन बनाया गया और खाते समय सौ आदमी आ गये । पर उनके यहाँ कभी भोजन का अभाव नहीं हुआ । सब हर एक चीज इच्छानुसार मिलती रहती थी । वे कहा करते थे कि मेरे ऊपर अन्नपूर्णा की कृपा है । कभी भंडार में कभी नहीं पड़ सकती ।

इस प्रकार महात्मा मुगुटरामजी ने अनेक वर्षों तक अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सर्व साधारण का अकथनीय उपकार करके यह

दिखला दिया कि यदि मनुष्य सच्चे हृदय से प्रयत्न करे और ईश्वर पर विश्वास रखे तो उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं है ।

एक विद्रोही सन्त—महाराज सिंह

“आण रुधु हैं । धर्म और अध्यात्म का प्रचार आपका धर्म है राजनीति से आपका क्या सम्बन्ध । देश आजाद रहे या गुलाम इससे आप जैसे वीरराग सन्त-महात्मा का क्या सम्बन्ध । आपको राजनीति में दखल नहीं देना चाहिये । इसी में आपका हित है ; जालन्धर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर नौरंगाबाद की एक बेदी गुरुओं की गद्दी के सेवक महाराज सिंह को उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों को रोकने की सलाह दे रहे थे ।”

भाई जी ने कहा— “धर्म और अध्यात्म को लेकर राष्ट्र और सपाज के प्रति कर्तव्यों से विमुख होना असम्य प्रवचन है । सच्चा साधु इतना बड़ा पाखण्ड नहीं रच सकता । गुलामी की स्थिति में किसी भी क्रीम का कोई धर्म नहीं होता आज सबसे पहला पालनीय कर्तव्य है देश को आजाद करना । ईश्वर को प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि हम पूर्णरूपेण मानव कहलाने के योग्य बनें । और दासता की अनीतिमूलक परिस्थितियों में रहते हुए कोई भी व्यक्ति मानव कभी नहीं बन सकता ।” दृढ़तापूर्वक कहे गये इन वचनों ने डिप्टी कमिश्नर को परत कर दिया । भाई महाराज सिंह एक साथ साधु और क्रान्तिकारी दोनों थे । गुरु गद्दी की सेवा करते हुए उन्होंने सार्वजनिक भोजनालय की व्यवस्था सम्हाली थी । वहाँ के सभी लोग इनकी विनय सेवा से बड़े सन्तुष्ट थे इसी कारण उन्हें सम्मान और आदर के रूप में महाराज सिंह के नाम से पुकारा जाता ।

महाराजा रणजीत सिंह जब तक रहे उनकी वीरता और शौर्य के अतंक स्वरूप अंग्रेजों ने पंजाब की ओर आँख तक उठाकर नहीं देखी । उनके मरने के बाद फिरोजियों की वक्र दृष्टि पंजाब पर गयी उन दिनों महाराजा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी के रूप में किशोर दिलीप सिंह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और पन्त्रियों के सहयोग से शासन सुत्र का संचालन कर रहे थे । रणजीत सिंह के समय की शक्ति और साहस पंजाब सेना में रही नहीं इसीलए अंग्रेजों की कूटनीतिक चालें सफल हुईं और पंजाब उनके हाथ में आ गया । महाराजा दिलीप सिंह को बन्दी बना लिया गया । उसके बाद एक अंग्रेजी सा सशक्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । पंजाब के क्रान्तिकारियों ने पहलड़ी इलाकों में एक भूमिगत स्वतन्त्र सरकार का गठन किया । महाराजा दिलीप सिंह के नाम से सारे देश में छापामार लड़ाई छेड़ देने की योजना बनायी गई और महाराजा दिलीपसिंह के रूप में क्रान्तिकारियों का नेतृत्व कर रहे थे भाई महाराज सिंह । एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले साधु । उनके अनेक श्रद्धालु भक्त थे और वे सब उन्हें गुरु के रूप में मानते थे ।

सिक्ख जनता ने उन्हें इतना मज्ज सम्मान और आदर दिया कि उनके शत्रु प्रतिनिधि जालन्धर के डिप्टी कमिश्नर ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल को लिखी अपनी रिपोर्ट में कहा— ‘महाराज

सिंह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। सिक्ख जनता में उसके प्रति वही श्रद्धा है जो पक्के से पक्के ईसाई के हृदय में यीशु के प्रति होती है। लोग उसे मसीहा मानते हैं और जिस तरह हमारे धर्मवतारों को हम पूजते हैं उसी प्रकार उसकी भी पूजा होती है।

महाराज सिंह ने अपनी श्रद्धा अनुयायियों को अमृतसर से समुद्र तालाब तक एकत्रित किया और एक दीवान लगाया। उपस्थित लोगों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— मैं अपने लिए कोई राजनीतिज्ञ महत्वाकांक्षा नहीं रखता हूँ। मैं चाहता हूँ कि देश आजाद हो और सिक्ख लोग पूरे प्राकपण से इस उद्देश्य को प्राप्त करने में जुट जायें। यदि भारत पराधीन रहा तो यहाँ के किसी नागरिक का भविष्य किंचित भी सुरक्षित नहीं है। सब लोगों में जोर और उत्साह समझ उठा। इस संगठन का और इसके परिणाम का सम्प्रसार अंग्रेज सरकार तक पहुँचा। शासन ने राजद्रोह के अपराध में इन्हें पकड़ना चाहा परन्तु महाराजसिंह छुप गये। उन्हें अपराधी घोषित कर पकड़वाने वाले या पना देने वाले को ५००० घांटों के रूपों के इनाम की घोषणा की गयी जो आज के एक लाख रुपये के बराबर है। उद्यमि महाराज सिंह अपने शिष्यों के पास ही रहते रहे परन्तु किसी भी सिक्ख ने इस बात की चर्चा तक नहीं की और महाराजसिंह की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलती रहीं।

सरकार उनकी खोजबीन करती रही और वे चुपकर ही अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे। उन्हें पकड़ने के लिए अंग्रेजी शासन ने आतंकवादी दमन-चक्र भी चलाया। जहाँ उनके होने की घोड़ी-सी हवा लगती अंग्रेज सिपाही पहुँचते। उस घाते पर खोजबीन करते, लोगों को डराने, धमकाते, मारते, पीटते। परन्तु महाराज सिंह हो तो भी कौन बताये? देहाती लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाता। उन्हें तरह तरह की यातनायें दो जूती हवालात में बन्द कर अपमानजनक अत्याचार किये जाते। साथ ही भौति-भौति के इलायत भी दिये जाते परन्तु सब उपाय असफल रहे।

अप्रैल १८४८ में मुल्तान के दीवान मूलराज ने अंग्रेजों के खिलाफ आवाज उठाई। और लड़ाई छेड़ दी। मूलराज ने भाई जी से सहायता माँगी। स्वातन्त्र्य यज्ञ में आहुति देने वाले होता के सहयोग के लिए महाराज सिंह तो वस्तुतः महाराज थे। अंग्रेज कुमुक और पुलिस से लोहा लेते हुए पहुँच गये मुल्तान। साथ में बहादुर सिख जवान। महाराज रणजीत सिंह के अनेकों सैनिक अपने देश को आजाद देखने के लिए उनके साथ आ मिले थे। रास्ते में पड़ने वाले नगरों में भी भूक्ति संप्रभु छेड़ने का क्रम चलता रहा। अनेक नगरों को उन्होंने मुक्त कराया।

इधर पंजाबी सैनिकों का मनोबल गिरने लगा था। लंगतार का वनवासी और निर्वासित जीवन। कुछ प्रभावशाली लोगों को अंग्रेज अधिकारों अघों और फोड़ने में भी सफल हो गये थे। गुजरल नायक मरण पर फरवरी १८४९ में पन्द्रह हजार सैनिक और सरदार एकत्रित हुए। प्रमुख सरदारों ने अन्तमसमर्पण का प्रस्ताव रखा, सैनिकों ने उसका समर्थन किया। हाथियार डालने की तैयारियाँ चल ही रही थीं

कि कहीं से भाई जी आ गये और उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में आत्मसमर्पण का विरोध किया तथा अन्तिम साँस तक लड़ने की प्रेरणा दी। एक कर सिख फौजों का खून खौल उठा और उन्होंने अपने हाथों से फिसलते हुए हथियारों को एक बारगी फिर कस लिया। महाराज सिंह ने जम्पू के आसपास की पहाड़ियों को अपना कन्द्र चुना। परन्तु भाई जी के सभी साथी उन्हें छोड़-छोड़ कर जाने लगे। पंजाब के सैनिक भी महाराज सिंह की प्रेरणा को स्थायी नहीं रख सके और कुछ दिनों बाद उन्होंने भी आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु भाई जी उसी उत्साह के साथ अपने अभियान में लगे रहे।

अन्ततः दिसम्बर १८४९ में भाई जी अंग्रेजों सिपाहियों की गिरफ्त में आ गये। उन्हें जेल में रखा गया। भाई जी के अनन्य सहयोगी साथी मने ही उनका साथ छोड़कर चले गये परन्तु जनता की श्रद्धा और आस्था भग्न वे पूर्ववत् ही बने रहे। भक्तों ने जेल को चारों ओर से घेर लिया और उनके दर्शन की माँग की। फ़िरंगी अधिकारियों को डर लगा कि कहीं दर्शन करने भीड़ उनकी रिहाई की माँग न कर बैठे। भुपखप उन्हें पंजाब से दूर ले जाया गया। प्रारम्भ में इलाहाबाद जेल में रखा गया परन्तु उनके श्रद्धालु भक्त वहाँ भी पहुँच गये फिर कलकत्ता ले जाया गया जहाँ उनके क्रान्तिकारी सहयोगी, दीवान मूलराज तथा अन्य सरदार कैद थे। सुरक्षा की दृष्टि से कलकत्ता भी अनुपयुक्त समझा गया और अन्ततः उन्हें भारत से दूर सिंगापुर की एक काल कोठरी में बन्द कर दिया गया।

धर्मप्रेमी जनता से घिरे रहने वाले जो कभी अकेले नहीं रहे सौ-पनास आदमी हमेशा जिनके आसपास रहते ऐसे भाई जी के लिये तन्हाई कैद मर्यादात्मक दुःखदायी थी। इसके बावजूद तरह-तरह की यातनायें। समय पर भोजन नहीं मिलता, उसी कोठरी में पूरा दिन व्यतीत करना अर्थात् अनेकों प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक यातनायें। इन सब कष्टों का सामना उन्होंने अविचल भाव से किया वहाँ उनकी स्मृति 'समदुखे सुखानां लाभालाभी जया जयी'—के गीतोक्त स्थित प्रज्ञ लक्षणों को धरितार्थ करती थी परन्तु शरीर की सहन शक्ति की भी एक सीमा होती है। माना कि बाहरी अवरोधों और कष्टों से मन को निर्लिप्त रखा जा सकता है, अनुद्विग्न बना जा सकता है परन्तु शरीर पर उनका प्रभाव तो नहीं रोक जा सकता है। फिर भी भाई महाराज सिंह ने इन कष्टपूर्ण परिस्थितियों का सात वर्ष तक सामना किया और ८ जुलाई, १८५६ को वे यह संसार छोड़कर चल बसे।

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर की इष्ट साधना

'मनुष्य जीवन मिला ही भगवान् को पाने के लिए है। संसार के भोग पदार्थ तो दूसरी योनियों में मिल सकते हैं। मनुष्य में भोगों को भोगने की उतनी शक्ति भी नहीं, जितनी दूसरे प्राणियों में है।' वक्ता की वाणी में शक्ति थी। उनकी बर्तें शास्त्रसंगत थी, तर्क संगत

३.११४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्द को सजीव बनाए दे रहा था। भगवान् को पाना है इसी जीवन में पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गई तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।

प्रवचन समाप्त हुआ। लहंगों ने हाथ जोड़े सिर झुकव्य और एक-एक करके जाने लगे। सन्ध्या अपने-अपने कम हैं और वे आवश्यक हैं। वही क्या कम है जो इतनी देर हुई चर्चा में आकर बैठ गए। बैठने वालों में एक यह भी था पर ओरों से नितान्त भिन्न। यह भिन्नता शक्ल-सूरत की दृष्टि से नहीं अन्तर्मन की संरचना में थी। अलग-व देश विन्यास का नहीं विचार विन्यास का था। उसे पता नहीं था कि क्या प्रवचन परस्पर झाड़ कर भी सुने जाते हैं।

सरलाम सिमटने लगा पर विचारों के चितान फैलने लगे। 'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है मन में यही पुण्यजन चल रही थी। जो वह पढ़ा लिखा था अभी हाल में ही एस. एस. सी. प्राणिशास्त्र में किया था। विज्ञान-आखिर सत्य की शोध हो तो है और कोई आवश्यक तो नहीं कि यह शोध प्रचलित दावरे में पुरो हो। वह सोचने लगा, प्रत्येक नयी शोध पुराना दावरा लोभनी है नया आविष्कार खोजती है तो वह शोध भी। चिन्तन की हवा में अन्तोन के घने फड़फड़ा उठे। उसे याद आया कि विद्यालय में बिताया गया जीवन मनस पटल पर साकार हो उठा। प्रयोगशाला का वह कक्ष जहाँ वह जन्तुओं को चीर-फाड़ करते कहीं किन्हीं गहराइयों में खोज करता। सभी टोकते क्या सोचने लगे मधव ! जीवन का सार खोज रहा हूँ, इतने मन से बुलबुलों की तरह अक्ल फूट पड़ना। सभी खिन्नाखिला पड़ते शिक्षक मुस्कण देते। साथियों की दृष्टि में वह बुद्धिमान, जुझारू पर सनकी था। शिक्षक उसे दार्शनिक वैज्ञानिक कहते थे। किसने उसे ठीक से समझा कुछ पता नहीं पर कुछ भी हो वह महाराष्ट्र वाला युवक अपने विगत में सभी से सम्मानित रहा। उसने अपनी अन्तहीन यात्रा लक्ष्य की दिशा में आरम्भ कर दी।

चलते हुए उसे लगभग तीन घण्टे बीत गए। इन चौरासी दिनों में जैसे चौरासी लाख मोनियों का अनुभव हो गया है। बटरस और नवरस में सिर्फ एक मुद्दा का छोड़ अन्य सभी का स्वाद वह बख़्त चुका। भगवत्प्राप्ति तो नहीं हुई हाँ जीवन अरुण शमशान जैसा भयावना लगने लगा। अध्यात्म साधु-मन्दिर मठ इनके बारे में सोच कर एक विरक्तिजनक मुस्कान ही उभरती। पर नहीं सब एक जैसे यह भी तो एक साधु ही है। मंत्र देश नहीं गैरिक वस्त्रों की अग्नि मंजूषा में गुणों की अपार सम्पदा सिमटी है।

तुम पहले स्नान भोजन करो।' गैरिक बसन से अवहेलित परिव्राजक ने युवक की पीठ पर हाथ फेर जो भगवान् को पाना चाहता है, भगवान् उसे स्वयं पाना चाहते हैं वह तो उन्हें पड़ेगा ही।

युवक ने स्नान किया और थोड़ा सा प्रसन्न शीघ्रतापूर्वक मुख में डाल कर जल पी लिया। उसे भोजन स्नान की नहीं पड़ी थी। उसकी अभीप्सा तीव्र थी लगन में प्राण थे। वह कुछ मिनटों में ही महात्मा जी के पद प्रान्त में बैठ गया।

पहले तुम यह बताओ कि "तुमने अब तक किया क्या ?" साधु ने तनिक स्मित के साथ पूछा।

'बड़ा लम्बा पुराण है।' उसने अपनी बात प्रात्म की। बताने लगा इधर वह बहुत भटकन है। उसे एक योगी ने नेती-धौती-न्यौली बहदांतौन तथा अन्य अनेक योग की क्रियाएँ सिखाईं। उन क्रियाओं के पथ्य ही उसके मस्तक में भयकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनता से एक वृद्ध सज्जन की कृपा से दूर हुआ। उन्होंने वे सभी क्रियाएँ छुड़वा दीं।

'ये मूर्ख साधु !' कुछ रुष्ट हुए— 'वे योग की कुछ क्रियाएँ सीख कर अपने अधूरे ज्ञान से युवकों का स्वास्थ्य चौपट करने फिरते हैं आज कल हैं अष्टांग योग के ज्ञाता। पण-नियम की प्रतिष्ठा नहीं हुई जीवन में और चर पड़े भ्रमन तथा मुद्गार करने। असौध्य रोग के अतिरिक्त और क्या मिलता है इस दूषित प्रथम में।'

'एक ने मुझे कान बन्द करके शब्द सुनने का उपदेश दिया' एक अन्य योगी मिते जिन्होंने ऐन्द्रजालिक जैसी लगान क्रियाएँ दिखाईं

'योगी।' इस शब्द के साथ ही साधु हँस पड़े प्राणीगरी योग नहीं है। अधिकारी के अधिकार को बिना जाने चाहे जिस साधन में जोत दिया जाय वह पशु तो नहीं है। साधु कह रहे थे धारणा-ध्यान समाधि चाहे शब्द योग से हो चाहे लय-योग से किन्तु जीवन में चांचल्य बना रहेगा। समाधि कुछ क्रिया पात्र से मिल जायेगी ऐसी दुराशा करने वालों को क्या कहा जाय।

उसने आगे फिर कहा "मैं सम्पन्न धार्मिक अग्रणीयों के समीप भी रहा और विशाल मठों में भी। कुछ प्रख्यात पुरुषों ने मुझ पर कृपा करनी चाही। उसके स्वर में व्यंग्य नहीं केवल खिन्नता थी जो अपने भाव्य धर्म का निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने चाँदी का सेवन और सरकार है, जो अनेक कुत्सार्थों देकर शिष्यों का धन और शिष्याओं का धर्म अपहरण करने की कोशिश में लगे रहते हैं, वहाँ परमार्थ और अध्यत्म भी है इस मेरी बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया।"

'ओह !' इन अनुभवों ने साधु को खिन्न कर दिया। वह बोला पड़े "जहाँ संघर्ष है, विलासिता है, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, ईन्द्रिय तृप्ति है, वहाँ से भगवान् बहुत दूर हैं। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभ से जो चलेगा वह ठगा तो जाएगा ही। आज धन और गारों का धर्म जिनके लिए प्रयोजन है ऐसे वैश्वधर्मियों का बाहुल्य इसी कारण है। पर भगवान् जहाँ हैं वहाँ से उनकी पुकार उठ रही है उस ओर तो तुमने आँखें उठाकर भी नहीं देखा। तुम सिर्फ भटकते रहे और इस भटकन से उपलब्धि का क्या वास्ता ?"

"कहाँ है भगवान् ? कल से उदत्त है उनकी पुकार ?" लगभग चौकते उसने ये सवाल पूछे। उसे लगा विषाद और आहूद का लगभग एक साथ अनुभूति है। विषाद समय गँवान का और आहूद सही दिशा की ओर उन्मुख होने का।

'धनवता की भूमि पर बने सेवा के मन्दिर में प्रेम की भावमय मूर्ति बन कर प्रतिष्ठित है वह। उन निराकार की प्रार्थित सवेदना के

रूप में होती है। जन पंदिनी के मध्य से उठ रहा कास्यिक ख उनकी पुकार है, उन्होंने अपना अनुभव कहे सुनाया। मुझे भगवत्प्राप्ति इसी रूप में हुई है। सन्त की वाणी ने बुक के अन्तर्पन को उत्कृष्ट दिया। श्री समकृष्ण परमहंस के इन शिष्य की बात सुनकर उन्हें लगा जैसे अनुभव साकार हो बोल रहा हो। मुर्शिदाबाद में अवल पीड़ितों की सेवा और अपने कष्ट सहिष्णु जीवन के कारण वे प्रायः देश भर में विख्यात हो चुके थे। यहाँ मारगाछी में भी नंग-धड़ंग अनाथ बालकों को लेकर आराम में रहते। इनका व्यक्तित्व निर्माण ही उनकी उपासना थी। एक दिन मे सधो आश्चर्य में डूब गए जब उन्होंने एक कले-कलूटे नंग-धड़ंग बालक को पुरुष सूक्त के मंत्र में स्नान कराया वस्त्र आदि दिए। भोजन आदि की व्यवस्था कर अपनी पाठशाला में भर्ती कर लिया। इस विभिन्न किन्तु सत्य के इस अद्भुत संस्करण ने बुक के गिनतन की चूल्हे हिला दी।

“मुझे भगवत्प्राप्ति के लिए क्या करना है वह ठीक मार्ग आप बताने की कृपा करें” यह उनकी अंतिम तत्कालीन बातें हुए बोल पड़ा।

भगवत्प्राप्ति के लिए करना होगा पुरुषार्थ ऐसा पुरुषार्थ जो ललकार कर कह सके कोई भी व्यक्ति दुष्कृत्य से मेरे सहयोग पर निर्भर नहीं रह सकता, कोई भी व्यक्ति मेरी उपस्थिति में निर्लज्जभाव से अग्निष्ट चर्चा नहीं कर सकता। ऐसा पुरुषार्थ जब संवेदनामय हो उठेगा अथवा कारुणिक संवेदना जिस क्षण पुरुषार्थमय हो उठेगी समझो उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो गई।

साधु के ये शब्द उसे अग्नि मंत्र लगे। इसी अग्नि मंत्र से वह दीक्षित हुआ। ऐसी ही भगवत्प्राप्ति करण बुक की वाणी में संकल्प के प्राण थे।

बुक की संकल्पित वाणी से अभिभूत होकर उन्होंने उसके मस्तक पर अपना आशीर्वाद रखा “बेटा ! इस काम के लिए बड़ी घोर तपस्या की आवश्यकता है। जीवन विघ्नता जिसे अपना कठोर कृपाण देते हैं उसमें उसे ग्रहण करने की शक्ति है या नहीं इसकी कठिन परीक्षा वे लेते हैं। अविचलित रहो, महान् संकल्प ही बड़ी वस्तु है।” इस बड़ी वस्तु को आजीवन धारण करने वाले बुक माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर को भारत ने गुरुजी के रूप में जाना। डॉ. हेडगेवार को उनमें अपना उत्तराधिकारी मिला। उनकी मिली भगवत्प्राप्ति जिसकी उन्हें धिर अभीप्सा थी। ठीक उनके गुरु-स्वामी अखण्डानन्द की तरह जनक्रन्दन में उन्हें नियन्त्रण की पुकार सुनाई पड़ी।

ज्ञान और कर्म के प्रतीक— स्वामी मुक्तानन्द

महाराष्ट्र में ठाणा जिले के अन्तर्गत भिवंडी तहसील में गणेशपुरी नामक ग्राम में कुटिया बनाकर रहने वाले स्वामी मुक्तानन्द महाराज

ने महाराष्ट्र शासन द्वारा अधिक अन्न उत्पादन अभियान में सक्रिय सहयोग देने का बीड़ा उठाया और कृषि-विकास के नये-नये प्रयोग कर कृषि-क्षेत्र में अभिन्न क्रांति करते रहे।

आध्यात्मिक ज्ञान एवं योग-साधना द्वारा श्रद्धालु किसानों का ध्यान आकर्षित करने वाले गणेशपुरी के स्वामी मुक्तानन्द महाराज प्राचीन ऋषि-मुनियों का आदर्श प्रस्थापित करते हुए उत्कृष्ट फूलों के बाग एवं कृषि-कार्य में तन-मन से संलग्न रहे।

स्वामी जी ने अपनी कुटिया के आसपास की बंजर जमीन स्वयं अपने हाथों से खोदकर एवं उसमें खाद आदि डालकर इतनी उपजाऊ बना ली थी कि आसपास के गांव वाले प्रतिदिन उसे देखने आया करते थे। कुटिया के चारों ओर लगभग एक एकड़ जमीन में उन्होंने पपीता, केले, नींबू, अमरुद आदि फलों के लग टपाटर, गोभी, लौकी, कद्दू, करेला, पिण्डो आदि साग-सब्जों की इतनी सुन्दर बाग बनाई थी कि देखने वाले स्वाधी जी की इस परिश्रमशीलता की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। स्वामी जी ने कुछ घोर और कुत्ते भी पाल रखे थे, जो उनके नाम से पुकारते ही स्वामी जी के पास दौड़कर आ जाते थे। उनकी गाय का एक बछड़ा तो स्वामी जी के पास आते ही उनकी पीठ घाटने लगता था और बाद में उनके चरणों के पास चुपचाप बैठ जाता था।

स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज अपनी आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहते हुए भी कृषि-कार्य में नियमित रूप से प्रतिदिन चार घण्टे श्रमदान करते थे तथा किसानों को अधिक से अधिक अन्न तथा फल पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया करते थे। स्वामी जी कहा करते थे कि “जप तप की अपेक्षा अन्न और फलों का उत्पादन करना आज परमेश्वर की महान् सेवा-भक्ति है। जितना आनन्द मुझे जप एवं ध्यान में आता है उससे अधिक आनन्द मिट्टी गोड़ने, पीछे लगाने और उन्हें खाद-पानी देने में आता था।”

स्वामी जी अपने बाग में फल एवं साग-सब्जों के विकास के लिये नये-नये प्रयोग किया करते थे जिसे देखने तथा उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करने प्रतिदिन बाहर के किसान स्वामी जी की कुटिया में आया करते थे और उनके बाग के ४-४ किलो के पपीते, ३-३ फुट लम्बी लौकिया एवं १-१ फुट के केले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। तत्कालीन महाराष्ट्र के कृषि-मन्त्री श्री बाला साहेब साधना एवं कृषि-विशेषज्ञ पद्मश्री हरिचन्द्र पटील स्वामी जी का बाग देखकर चकित हो गये थे और उन्होंने कहा था कि आज स्वामी जी ने पौराणिक काल के ऋषि-मुनियों का आदर्श उपस्थित कर साधु-मन्यासियों के सामने एक अनुकरणीय उत्तरदायक प्रस्तुत कर दिया है।

स्वामी मुक्तानन्दजी ने धर्म शास्त्र, तान्त्रिक ज्ञान, योग शास्त्र एवं आध्यात्म शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। परन्तु ज्ञान एवं विद्वता के साथ ही उनमें लोक-सेवा की कर्मठ भावना भी उत्कटता से प्रोन प्रोत थी। पाण्डित्य के भार से उनकी बालसुलभ निर्मल वृत्ति यह नहीं

हुई थीं। हंसते-खेलते सीधे-सादे सुगम शब्दों में गहन एवं गूढ़ प्रश्नों के समर्थक, मार्मिक एवं ज्ञान गर्भ उत्तर देने वाले मुत्तनन्द जी को देखने वाला व्यक्ति प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति आश्चर्यचकित और नतमस्तक हो जाता था।

परन्तु इस शब्द ज्ञान के बाढ़ बिस्तार से, वेदन्त के उपदेश से प्रत्यक्ष अनुभव की एक अलग दुनिया है, इस बात का स्वामी जी को हमेशा ध्यान रहता था। इसलिये उनके दर्शनार्थ आने वाले विभिन्न स्थानों के भक्तगण स्वामी जी के दर्शन के रश्चाह उनकी आदर्श कृति एवं बाग का दर्शन कर नई प्रेरणा प्राप्त करते थे। बिल्कुल बजर भूमि को उपजाऊ बनाकर उसे एक आदर्श बाग बनाना उनकी ईश्वर-भक्ति का ही एक सक्रिय प्रतीक है। स्वामी मुत्तनन्द जी का यह आश्रय कृषि फार्म जैसा प्रतीत होता था। यहाँ प्रतिदिन दूर-दूर से अनेक किसान आकर कृषि-कार्य के नये-नये प्रयोग सीखकर जाते थे, जिनसे उनकी कृति में कई गुनी पैदावार बढ़ जाती। स्वामी मुत्तनन्द जी प्रत्येक योजना एवं प्रयोग को पहले स्वयं सफलतापूर्वक अनुभव कर लिया करते थे।

मुख से प्रभु का अखण्ड नाम स्मरण करते हुए वे पेड़ पौधों को खाद-पानी दिया करते थे। इसका दर्शकों पर बड़ा ही अद्भुत प्रभाव पड़ता था। माने ज्ञान-भक्ति और कर्म की त्रिवेणी-संगम में ही वे स्नान कर रहे हों।

आज भारत को स्वामी मुत्तनन्द जी, जैसे ही कर्मठ साधु-महात्माओं की आवश्यकता है, जो देश की अकर्मण्य एवं आदर्शहीन भूमित नई पीढ़ी को अपने ज्ञान के साध-साध कर्मशीलता का पाठ पढ़ाकर उसे नये युग का अग्रदूत बनाएं।

भारतीय विद्या के साधक— सर-जान बुडराफ

ब्रिटिश शासन काल की कटु स्मृतियों के बीहड़ मरुस्थल में कुछ ऐसे मरुस्थल भी हैं जहाँ आज भी भारतीय विद्वज्जनों का मन कुछ क्षणों को विलमता है। अन्याय, शोषण, उत्पीड़न और स्वार्थपरता के प्रतीक इस विदेशी शासन के उच्च पदाधिकारियों में से अधिकांश अपनी नृशंसा के लिये सजा कुख्यात हैं वहाँ चन्द ऐसे व्यक्ति भी थे जिनका नाम बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। सर जान बुडराफ ऐसे ही एक संज्ञान थे।

सर-जान बुडराफ का जन्म ब्रह्मपूर्वक इसलिये स्मरण नहीं किया जाना कि वे अपने समय के बहुत बड़े विधिवेत्ता और कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश थे। वरन् उनका जन्म चिरस्मरणीय है संस्कृत के तन्त्रशास्त्र विषयक अष्टाह व अनामाल लेखन के कारण।

बंगाल के एडवोकेट जनरल सर जॉन टिडमाल बुडराफ का का १५ दिसम्बर, १८६५ को उत्पन्न हुए सर जान बुडराफ की शिक्षा-

दीक्षा इंग्लैण्ड के पार्क स्कूल तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई। उनकी माता फ्लोरेस ने जो जेम्स ह्यूम की पुत्री थी अपने इस होनहार पुत्र के निर्माण में अपना सम्पूर्ण कौशल दिखाया था। उसने जान को अन्य अंग्रेजों की तरह सोचने वाला नहीं मनुष्य की तरह सोचने विचारने और आचरण करने वाला बनाया। ज्युरिसप्रुडेंस और नौ सी एल की कानूनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर वे बैरिस्टर बनकर भारत आये और कलकत्ता उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे।

अपनी माँ के द्वारा दिखाये गये मानवता के पथ की उन्होंने जीवन पर्यन्त नहीं त्यागा। उन्हें अपने शासक वर्ग से सम्बन्धित होने का कोई मिथ्या दर्प नहीं था। उनके कानूनी ज्ञान को देखने हुए उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय का 'फेलो' व 'टैगोर ला प्रोफेसर' नियुक्त किया गया।

व्यक्ति चाहे वह भारतीय है या अंग्रेज यदि उसके सोचने का ढंग सही है तो उसमें मानवता का भला ही होगा। उनकी वकालत अच्छी-खासी चलती थी पर वे वकालत करने पर ही नहीं पड़े रहे उसके साथ ही उन्होने भारतीय कानून की पुस्तकों की कमी को पूरा करने की ओर भी ध्यान दिया। अमीर अली के सहयोग से तैयार किया गया सदर्प ग्रन्थ 'सिविल प्रोसीजर इन ब्रिटिश इण्डिया' कानून के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

१९०२ में वे भारत सरकार के विधि सलाहकार, १९०४ में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और १९१५ में वही के मुख्य न्यायाधीश बनाये गये पर उनका विनय और शर्मिला स्वभाव व धित-भाषण की अदल धों की त्यों बरकरार रही। उनका मन कानून के दायपत्रों में इतना नहीं रमता था जितना भारतीय ग्रन्थ विद्या के प्रश्नों के अध्ययन में। भारतीय आर्य ग्रन्थों को वे जिस मनोयोग से पढ़ते थे उसका शतुर्धात भी विधि ग्रन्थों में नहीं लगा पाते थे।

वे छोटे से बच्चे तभी पढ़ने के लिये इंग्लैण्ड भेज दिये गये थे वैसे अपने ब्रिटिश समाज के लोगों से सुना था और भारतीय युवकों को ब्रिटेन में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये आने देखकर उन्होंने अनुमान लगाया था कि भारत में ज्ञान और बौद्धिक सम्पदा अत्यधिक न्यून है, किन्तु जब वे वहाँ से लौट-निख कर बैरिस्टर बनकर भारत लौटे और वहाँ अन्तर उन्होंने संस्कृत सांख्य का भारतीय धर्म, दर्शन अध्यात्म तथा गन्धर्व-मन्त्र साहित्य को पढ़ा तो उनकी आंखें चौंधिया गयीं। इतनी सारी ज्ञान सम्पदा वहाँ बँटी हुई उपेक्षित पड़ी है जबकि योरोपीय साहित्य उसके सामने कुछ भी नहीं है।

सर जान बुडराफ उसी समय से अपने व्यवसाय में व्यस्त हुआ मगर समय हिन्दू दर्शन ग्रन्थों के पठन में लगाये लगे। तन्त्रशास्त्र उन्हें एक अद्भुत विषय लगा जिन पर अभी किसी ने विश्लेषण नहीं किया था। यह विषय उनके अग्रिम लिये बड़ा रोचक भी था।

आरम्भ में कुछ जग से और तत्पश्चात् प्रकट रूप में उन्होंने भारतीय तन्त्र शास्त्रों की महत्ता और उसमें वर्णित तथ्यों पर महत्वपूर्ण टीकाओं व तात्त्विक विवेचनों से परिपूर्ण लेख लिखने आरम्भ किये। उनका यह व्यसन दिन पर दिन बढ़ता ही गया। उसी का फल यह हुआ कि उनका यह अनमोल लेखन भारतीयों के लिये तथा नन्दजान में रस लने वाले पाश्चात्य विद्वानों के लिये एक प्रदर्शक दीप सिद्ध हुआ।

सर जान वुडरफ ने तन्त्रशास्त्र पर कोई बीस-इक्कीस ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'कुत्तार्पात्र तन्त्र', 'तन्त्रराजतन्त्र' और 'महानिर्वाण तन्त्र' में उन्होंने भूत सस्कृत संहिताओं का परिचय दिया है। 'अग्रन्द लहरी', 'महिम्नस्तव', 'कर्पूरदिस्त्रोत', 'देवीस्तव' आदि स्त्रोत रूप काव्यों का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया।

'इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र', 'प्रिसोपल्स ऑफ तन्त्र', 'द बर्तर्ड एज पावर' तथा 'महापाया' आदि उनके लिखे हुए शास्त्रीय विवेचना युक्त आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'द सर्पेंट पावर' में उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति और उसके जागरण के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण जानकारी दी है।

मन्त्र विद्या पर लिखा गया उनका ग्रन्थ 'द गार्लण्ड ऑफ नेटर्स' अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

सरजान वुडरफ ने इन ग्रन्थों से तन्त्र विद्या पर पड़े रहस्य का अनावरण करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उनके विवेचन में

श्रद्धासम्पन्न व्युत्पत्ति व तत्सम्पर्शी अध्ययन आने वाली स्वच्छ दृष्टि का समन्वय होने से उनके ग्रन्थ अत्यधिक बोधप्रद सिद्ध हुए और यह भावना निर्मित हुई कि तन्त्र मन्त्र विद्या का एक सुसंगत, शास्त्रीय तात्त्विक आधार है, इसके आचार अनुष्ठानों का स्वरूप धर्माचार और साधन का है।

भौतिक शक्तियों के जागरण की विद्या में तो पाश्चात्य जगत नद्वन्द्व है पर आत्म विद्या के क्षेत्र में वह क छ ग भी नहीं जानता। सर-जान वुडरफ ने उसी आत्मविद्या और आत्मशक्ति के जागरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया तन्त्र व मन्त्र विद्या पर जिस गहराई और जिस मनोयोग से अध्ययन, मनन, चिंतन और लेखन किया वह विश्व के साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इनकी इस साधना ने एक ओर तन्त्र विद्या और मन्त्र विद्या तक शिक्षितजनों की पहुँच उत्पन्न की वहीं उस पर पड़े रहस्य से भी पर्दा उठाया। इसकी आड़ में कतने ही ढोंगी तंत्रिक-मांत्रिक अपना उल्लू सीधा कर रहे थे उनकी पोत खोल कर रख दी।

तन्त्र विद्या जैसे गूढ़ विषय पर इतना अध्ययन, पैठ और लेखन बिलने जग और साधना का परिणाम हो सकता है वह अनुमान से परे का विषय है। इस समय-दान के लिये वे स्तुत्य हैं। उनका यह कार्य एक प्रकार से असम्भव को सम्भव बना देने जैसा ही है। उनका यह जीवन धन्य इतिहास का एक स्मरणीय पृष्ठ है।

०००

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

प्राचीन भारत का महान् वैज्ञानिक— सिद्ध नागार्जुन

पातजलि योगदर्शन में बतलाया गया है कि योग की दिव्य विभूतियों को प्राप्त करने के कई मार्ग हैं। जिस प्रकार वटचक्रों का वेध करने से, पंचकोशों की साधना करके चेतना के उच्च स्तर पर आरुढ़ होने से, ज्ञानयोग का अभ्यास करके अपने को परमात्मा-स्वरूप अनुभव कर लेने से मनुष्य योग की चमत्कारी सिद्धिओं का स्वामी बन सकता है, उसी प्रकार शक्तिसाल्वे जड़ों-बूटियों और औषधियों का प्रयोग करके भी इस कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारत के प्राचीन रक्ष वेदों ने पारद के सम्बन्ध में बड़ी खोजबीन की थी। जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों ने 'यूरेनियम' तत्त्व के प्रयोग से उस 'अमृत शक्ति' को प्राप्त कर लिया है, जिससे आप चाहें तो संसार की प्रलय कर दें और चाहें इस पृथ्वी को सुवर्ण महिल बनाकर मनुष्यों को देवताओं के समान अमर-अमर बना दें, उसी प्रकार प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने भी पारद के ऊपर प्रयोग करके ऐसी विधियाँ निकाली थीं जिससे ताम्र का सोना बनना तो संभव था ही, साथ ही मनुष्य अपने भौतिक शरीर को पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में अमर भी बना सकता था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में तम्र-विद्या के साधक कापालिक ने महाराज हरिश्चन्द्र को 'पारद गुटिका' का प्रयोग करने की सम्मति देते हुए कहा था—

घाड़ी के परभाव सी, अमर देव सम होव ।
योगीजन विहरें रुदा, मेरु शिखर भव खोव ॥

सिद्ध नागार्जुन भारतवर्ष का इसी त्रेणी का एक महान् वैज्ञानिक था। जैसे वह सन् १०५५ में सौराष्ट्रान्तर्गत 'दाक' नामक समृद्धशाली नगर का अधिपति था, पर उसकी रुचि राज्य-शासन की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और खोज की तरफ विशेष रूप से थी। उसने संसार की क्राया-फलट कर देने के लिये 'अमृत' और 'फरस' की खोज करने का निश्चय किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक बड़ी प्रयोगशाला बनाकर जड़ी-बूटियों द्वारा पारद-सम्बन्धी परीक्षण आरम्भ किये। साथ ही देश के विख्यात 'रस वैज्ञानिकों' और सूचकों को बुलाकर उनका सहयोग भी इस कार्य में प्राप्त किया। अपनी आंतरिक लगन और कठोर साधना के कारण उसे शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफलता मिली और किसी घटिया घातु के सोने के रूप में बदल देना उसके लिए सम्भारण सी बात हो गई। मानवीय देह को अमर बनाने के प्रयत्न में भी वह बहुत कुछ सफल हुआ। उसकी इन महान् वैज्ञानिक खोजों का प्रमाण उसके बनाये 'रसोद्धार तन्त्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे आज भी आयुर्वेद जगत में

अद्वितीय माना जाता है। पर परिस्थितियोंवश नागार्जुन को अपने कार्य को पूर्ण करने का अवसर नहीं मिल सका और दस वर्ष तक दाक का राज्यधिकारी रहने के बाद ही उसका अन्त हो गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय 'अमृत' की खोज में लगा दिया था। इस कारण वह राज्य कार्य की उपेक्षा करने लगा और देश में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। यह देखकर राज्य के हितैषी मन्त्रियों ने सामूहिक रूप से उसके पास जाकर प्रार्थना की कि उसकी विज्ञान रुचि के कारण राज्य की क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाकारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी ताव बढ़ने लगे हैं और विदेशियों के आक्रमण का पूरा भय उत्पन्न हो गया है।

मन्त्रियों की बात सुनकर नागार्जुन ने कहा— 'मित्रो! तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मैं अमृत की खोज में लगा हुआ हूँ और इससे राज्य कार्य की उपेक्षा हो रही है। पर जिन दो विपत्तियों का भय तुमने प्रदर्शित किया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। अगर सामन्तों से कर मिलना बन्द हो जाय तब भी मेरा खजाना सुवर्ण से भरा रह सकता है और यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा, तो मैं सेना के कजाय भेड़ी-सी औषधि से ही उसको नष्ट करने की मायबूझ रखता हूँ। यदि खोज कि अमृत की खोज के साथ मृत्यु की खोज स्थल होगी तभी जानी है। जैसे मेरा उद्देश्य किसी का विनाश करना नहीं है, वरन् मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए ही इस साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ।'

पर जब मन्त्रियों ने विशेष आग्रह किया और आंतरिक उपद्रवों का भय बतलाया तो नागार्जुन ने कहा— "राष्ट्र के हितेष्य मन्त्रियों अगर राज्य को संभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को मुलाओ और मैं आज ही अपना राज-मुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप लोग उसको शिक्षा देकर राज्य संचालन की उचित व्यवस्था करें। मैं तो जब तक अमृत की खोज में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर लूँ तब तक अन्य किसी बात पर ध्यान नहीं दे सकता।"

मन्त्रीगण महाराज नागार्जुन की धुन और दृढ़ निश्चय का जानते थे। उन्होंने उसी दिन एक बड़ी सभा करके उक्त निर्णय उसमें प्रकट किया और युवराज को गद्दी पर बैठकर सर्वत्र उसकी घोषणा करा दी। नागार्जुन भी निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षण में दत्तचित्त हुआ।

नागार्जुन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूर दूर देशों और पर्वतों से तरह-तरह की नई जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करनी आरम्भ की और अपनी प्रयोगशाला में उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने लगा। सुवर्ण बनाने के लिये तो औषधियों का प्रयोग तांबा आदि धातुओं पर किया जाता था, पर अब अमृत की खोज करने के लिये

तो उनका प्रयोग मानव देह पर ही किया जाना आवश्यक था ? पर अज्ञात जड़ी बूटियों का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था और कोई व्यक्ति इसके लिए अपने प्राण संकट में डालने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता था । इसलिए नागार्जुन उनका प्रयोग अपनी ही देह पर करने लगा । इस कारण अनेक बार उसे कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था । पर जिस प्रकार कोई तपस्वी अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये तप अहरम्य करने पर प्राणों के मोह को सर्वथा त्याग देता है और अपने समस्त शक्तियों तथा भावनाओं को एक ही संस्थ पर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार नागार्जुन अमृत की खोज के कार्य में एक सच्चे साधक के समान सलग्न हो गया । उसे न सुख-दुःख की चिन्ता थी, न खाने-पाने की फिकर थी और न परिश्रम, बाधाओं और विघ्नों से भयभीत था । अब वह एक राजा के बजाय एक कठोर व्रतधारी योगी या त्यागी का जीवन व्यतीत कर रहा था ।

धीरे-धीरे नागार्जुन को अपने कार्य में सफलता प्राप्त होने लगी । अमृत की प्राप्ति के पहले ही उसने अपने शरीर को साधना द्वारा इस योग्य बना लिया कि वह सब प्रकार के परीक्षणों के भले-बुरे प्रभाव को निःशंक होकर सहन कर सके । उसने अपनी दैनिक स्थिति को इतना भुदड़ बना लिया कि न तो उस पर किसी शस्त्र अर्द्ध का प्रभाव पड़ सकता था और न किसी प्रकार के विष अर्द्ध से उसको हानि पहुँचाई जा सकती थी । उसकी सहन-शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई थी और वह निरन्तर अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होता जाता था ।

एक दिन दुबाराज महाराज नागार्जुन की प्रयोगशाला में उनके दर्शनार्थ आया । महाराजा ने पुत्र को आशीर्वाद देकर अपनी प्रयोगशाला के विभिन्न विभागों को दिखलाया और कहा— “बेटा, अब मैं बहुत थोड़े दिन में ही संसार से मृत्यु के भय को हटाने में समर्थ हो जाऊँगा । भगवान् धन्वन्तरि की कृपा से अमर बनने वाली समस्त औषधियाँ मिल गई हैं और अब केवल उचित मात्रा में विधिपूर्वक उनका योग करना ही शेष रह गया है । जो कार्य प्राचीन समय में अश्विनी कुमार, लंकेश्वर रावण और आयुर्वेद के जनक चारकचार्य से पूर्ण नहीं हो सका था, उसकी विधि मेरी सनझ में आ गई है । भगवान् ने चाहा तो संसार में शीघ्र ही ऐसे युग का आविर्भाव होगा जबकि दरिद्रता और मृत्यु के भय से लोग मुक्त हो जायेंगे और पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य दिखलाई पड़ने लगेगा । ”

अपने पिता की मरुन् सफलता को देखकर भुवराज बड़ा प्रभावित हुआ । साथ ही उसे यह भय भी हुआ कि कहीं इस कार्य की समाप्ति हो जाने पर नागार्जुन फिर राज्य-सत्ता को लेने का विचार न करें । पर उस समय वह बिना कुछ कहे सुने अपने महलों को तौट गया ।

कहते हैं कि इसके बाद राजकुमार ने जब अपने इस भय की चर्चा अपने शनिष्ठ इष्ट-पित्रों से की तो उन्हें कुछ ने, जो गुप्त रूप

से नागार्जुन के विरोधी थे, उसे इस ‘भय’ से छुटकारा पाने की सलाह दी । अन्त में सबने षडयन्त्र रचकर ऐसी योजना बनाई जिससे छलपूर्वक नागार्जुन अपनी प्रयोगशाला सहित विनष्ट हो गया ।

इस प्रकार यद्यपि नागार्जुन का ‘अमृत’ बनाने का स्वप्न साकार न हो सका, पर उसके प्रयत्नों ने पारद-विज्ञान और रसायन की इतनी अधिक ठन्नति कर दी कि उसके द्वारा भारतीय चिकित्सा शास्त्र की बड़ी प्रगति हुई । विभिन्न धातुओं की भस्मों द्वारा कठिन से कठिन रोग पूर्वपेक्षा अधिक शीघ्रता से दूर किये जाने लगे । जो लोग पारद की भस्म बनाने में सफल हुये, वे उसके प्रयोग से अमर नहीं तो दीर्घजीवन की प्राप्ति में समर्थ हो सके । उसने जो सुधारण धातुओं को सुवर्ण में परिवर्तित करने की विधि निष्कासी उसके भी कुछ घिड़ वर्तमान समय के कर्मिषागणों में पाये जाते हैं । आजकल भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा रसायनिक सुवर्ण बनाने के समाचार सुनने और पढ़ने में आते रहते हैं, चाहे उनका बनाया सुवर्ण कुछ हलकी जाति का ही क्यों न हो ।

इस प्रकार नागार्जुन ने अपने आविष्कारों द्वारा लोक-कल्याण का एक ऐसा मार्ग खोल रखा, जिस पर चल कर ज्ञान-विज्ञान के अध्यायी उत्तेजनीय सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ‘पारस’ और ‘अमृत’ अति प्राचीन काल से अत्यन्त आकर्षक विषय रहे हैं । भारतवर्ष ही नहीं अन्य देशों में भी अज्ञानता लोग कीमियागरी के पीछे पागल होकर घूमते रहे हैं । चाहे के किन्ने ही देशों में तो प्राचीनकाल में कीमियागरी का प्राणदण्ड देने का नियम बना दिया गया था, क्योंकि ऐसे क्रम को वहाँ ‘कादू’ समझा जाता था और वह ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध था । पर कुछ भी हो इसी कीमियागरी के ठगटे-सीधे परीक्षणों के फलस्वरूप रसायन-विज्ञान की बहुत बानें मालूम हो गईं जिनकी नींव पर ही आधुनिक रसायन-विज्ञान का भवन खड़ा किया गया है । उन प्राचीन कर्मिषागरी के लिए यह बात भी कब गौरवास्पद नहीं है कि आज उनकी उत्तराधिकारी वैज्ञानिकों के प्रयत्न स्वरूप सोना बना सकना कोई असम्भव बात नहीं रह गई है । वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशालाओं में सीसे के छोटे कणों को सोने में परिवर्तित करने में सफल हो चुके हैं, यह बात दूसरी है कि अभी उसमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है । पर वह दिन अधिक दूर नहीं है कि यदि विज्ञान की वर्तमान प्रगति क्रमशः रही तो सोना संसार में एक साधारण वस्तु हो जायेगा ।

अट्ट निष्ठा तथा अडिग विश्वास के धनी श्री देवमित्र धर्मपाल

कोई कारण नहीं कि एक लक्ष्य बनाकर अपनी सारी शक्तियाँ यदि हम एक ही ओर लगव दें, जीवन की सारी गतिविधियाँ अथवा ही मोड़ दें तो सफलता हमसे दूर रहे । होना यह है कि किसी क्षणिक उत्तेजनावश या भावुकता के वश होकर हम कोई कार्य प्रारम्भ तो कर

४३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

देते हैं किन्तु कुछ ही समय बाद मार्ग की कठिनाइयों को देखकर ही हमारी निष्ठाएँ ढीली पड़ने लगती हैं, हिम्मत टूटने लगती है और पैर बीच में ही थक कर आगे चलने से इन्कार कर देते हैं।

धर्मपाल जो उन व्यक्तियों में नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन का जो एक उद्देश्य निर्धारित कर लिया तो उसी पर दृढ़ रहे और बहुत अशौ में सफलता भी प्राप्त की। आपका जन्म १७ सितम्बर सन् १८६४ में कोलम्ब में हुआ। आप बौद्ध धर्मावलम्बी समाज के एक धनी मानी पित्त के पुत्र थे। सन् १८७३ में इन्होंने के परिवार के लोगों द्वारा 'पाली विद्योदय कॉलेज' की स्थापना हुई। सन् १८८० में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की और इसी समय उनकी आयु भी अर्ध कि स्वयं कुछ सोच-समझ सकें, जीवन को मौलिक दृष्टि से देख सकें। इसी समय भारत से सीलेन गई हुई श्रीमती ब्लैवेटस्की से आप का भेंट हुई आप थ्योसोफिस्ट सोसायटी की जन्मदात्री थीं। इनके विचारों से किशोर धर्मपाल इतने प्रभावित हुए कि उनके साथ भारत आ गये। मैडम ब्लैवेटस्की की ही प्रेरणा से आपने पाली भाषा का गहन अध्ययन किया। पाली पढ़ते हुए बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन आपने किया।

बस इसी समय आपके मन में यह विचार उठा कि क्यों न अपना जीवन भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार में ही लगा दिया जाय। गत ८०० वर्षों में जो महान् धर्म विसृप्ता प्रलय हो गया है उसे फिर से जीवन देकर संप्राप्त कर दिया जाय तो मानव जाति की महती सेवा हो सकती है। इस समय आपकी आयु केवल २० वर्ष की थी। यही व्रत लेकर आप घर-बार की सारी मोह-ममत्ता त्याग कर घर से चल पड़े। अङ्गार (मद्रास) में ६ वर्ष तक आपने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया। साथ ही अंग्रेजी भाषा का भी अभ्यास किया। इसी समय लेख लिखने का तथा भाषण देने का अभ्यास भी खूब किया। सन् १८९० में उन्होंने गया की यात्रा की और महाबोधि मन्दिर तथा वृक्ष के दर्शन किये। वहाँ के शीत महन्तों की अनुचित कार्यवाहियों को देखकर आपके हृदय में बड़ी वेदना हुई और आपने निश्चय किया कि महाबोधि मन्दिर को फिर बौद्ध धर्मानुयायियों के अधीन लाने का प्रयत्न करेंगे।

मन में जब जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो सारे क्रिया-कलाप उधर ही केन्द्रित होने लगते हैं। अब उनके जीवन का भी एक ही ध्येय बन गया था। बौद्ध धर्म का अधिक से अधिक प्रचार तथा प्रसार। समस्त भारत में बौद्ध धर्म को फैलाने की लालसा मन में जम चुकी थी। मार्च सन् १८९१ में आप कलकत्ते आए। अगस्तस समय ऐशियाटिक सोसायटी में बैठकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते तथा शेष समय कॉलेज स्वदायों में जाकर भाषण करते थे। इसी समय आपने महाबोधि सोसायटी की स्थापना भी की और मन्त्रित्व के पद का भार भी संभाला। गया में बौद्ध यात्रियों को ठहराने आदि की असुविधा को देखकर आप ने ही स्वयं बर्मा तथा सीलोन छूम-धूम कर चन्दा इकट्ठा किया तथा गया में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा वह धन देकर बौद्ध यात्रियों के लिये एक सुन्दर धर्मशाला का निर्माण करवाया।

जनवरी सन् १८९३ में 'महाबोधि' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिससे बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में वे सोई जनता को सजग

कर सकें। इस पत्र की ही एक प्रति शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन के आयोजकों के हाथ लगी और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि वृहत् सर्व-धर्म सम्मेलन में आपको आमन्त्रित किया गया। भारत के आमन्त्रित दो प्रतिनिधियों में एक-आप भी थे। अमेरिका के सभी प्रमुख पत्रों ने आपको प्रशंसा तथा विद्वता के समाचार छापे।

बौद्ध धर्म के प्रति अपार वृद्धा आपकी प्रत्येक गतिविधि को उसी ओर संचालित करती रही। सारा जीवन, सारे प्रयत्न इसी में लगा दिये।

और जब वे ६८ वर्ष के थे और अस्वस्थ थे, तब भी उनकी प्रत्येक रचास अपने इसी एक उद्देश्य को प्राप्त करने रहती थी। सारे जीवन पर बहुत कुछ कर चुके थे किन्तु लक्ष्य इतना बड़ा था कि एक जीवन में पूरा नहीं हो सकता था। बहुत अशौ में पूरा कर लेने के पश्चात् भी उन्हें—उनकी आत्मा को संतोष नहीं था और इसी समय उन्होंने अपनी एक भेंट में श्री बनारस दास चतुर्वेदी से कहा था कि—“भगवान् बुद्ध के धर्म प्रचारार्थ मैं २५ बार जन्म ग्रहण करूँगा।”

धन्य है ऐसी निष्ठा तथा लगन। जो इस एक जीवन और शरीर को तो अपनी उद्देश्य पूर्ति में लगाये ही रखती है किन्तु उसकी पूर्ति न हो सकने पर पञ्चास बार उसी के लिये जन्म ग्रहण करते रहने और मरते रहने के क्रम की आकांक्षा करती है।

हिन्दू-संस्कृति के सच्चे सेवक— राजा राममोहन राय

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल के हुगली जिले में राजा राममोहन राय उन दिनों पैदा हुए थे जबकि हिन्दू-धर्म पर अज्ञान का अन्धकार अपने प्रबल प्रकोप के साथ छाया हुआ था। देर से कोई सुधारक जन्मा न था और विद्वतियों ने अविवेकपूर्ण रुढ़ियों के रूप में जनमानस को बुरी तरह आक्रान्तित कर रखा था। भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श केवल पुस्तकों में लिखने-पढ़ने भर की चीज रह गये थे, व्यवहार में अनुपयुक्त अन्ध धारणाएँ ही धर्म का रूप बनाये बैठी थीं।

अंग्रेजी शासन की जड़ बंध चुकी थी। राज्य-आश्रय पाकर ईसाई धर्म तेजी से फैल रहा था। मुसलमानी धर्म भी सत्ताबिदियों से शासकों की छाया में पनप रहा था। इन धर्मों में बुद्धिवादी और प्रतिभाशील लोग पर्याप्त संख्या में मौजूद थे जो अपने धर्मों की विशेषता बताने और हिन्दू मान्यताओं का मखौल उड़ाने में कुछ कमी न रखते। इस प्रचार से प्रभावित होकर शिक्षित युवक तेजी से विधर्मो बनने चले जा रहे थे। विचारशील लोग अपने धर्म को छोड़ते जा रहे थे, केवल कट्टरपन्थियों पर ही उसका आकार स्थिर रह रहा था।

अस्वी, सस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन पुरा करके राजा राममोहनराय ने हिन्दू धर्म-शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों को अन्वन्त प्रेरणाप्रद एवं

प्रगतिशील पाद, पर साथ ही यह भी देखा कि उन दिनों चौका चूल्हा, छूत-छात, भार्यवाद, मन्दिरों में होने वाले अनाचार और अपव्यय जैसी संकीर्णताएँ जो धर्म का प्रधान अंग समझी जाती थीं, उनके लिए प्राचीन धर्म शास्त्र में कोई स्थान नहीं है। इनके समर्थन में तो तत्कालीन संस्कृत के र्षिहता ने कुछ श्लोक गद्यर प्राचीन ग्रन्थों में मिला देने की धृष्टता मात्र की है। जैसे-जैसे वे इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने लगे उन्हें यह हो निश्चय होना गया कि प्राचीन आदर्शों पर चलने से ही अपने समाज का कल्याण हो सकता है। वर्तमान रूढ़िवादी तो हर दृष्टि से अहित हो जाती जायेगी, इसलिए उनको बदलना और सुधारना आवश्यक है।

राजा राममोहन राय को हिन्दू-धर्म से अगाध प्रेम था, वे उसे विचारशील लोगों को दृष्टि में सशक्त, प्रबुद्ध, आदर्श और आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे और जिन अनुपयुक्त रूढ़ियों के कारण अपना उपहास होना था उन्हें अज्ञेय और अनावश्यक समझ कर हटाना चाहते थे। वे जानते थे कि विचारशील नई पीढ़ी को हिन्दू-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करके ही विधर्म होने से बचाया जा सकता है। उन्हें लगा कि विधर्मों आक्रमणकारी हिन्दू-धर्म को धले ही गिरा न सके हों, पर उसकी भूखनापूर्ण रूढ़ियाँ उसे बर्बाद करके ही छोड़ेंगी, इसलिए उन्हें सुधारने और प्राचीन आदर्शों के अनुरूप हिन्दू-धर्म को बनाने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस निष्कर्ष पर पहुँच कर राजा राममोहन राय ने एक समाज सुधारक के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया।

मन्दिरों में होने वाली अपार धन राशि का अपव्यय, अलग-अलग मन्दिरों में अलग-अलग प्रकृति के देवता, मनीषी मानने पर बुरे काम में भी देवता से सहायता पाने की मान्यता, पशुबलि जैसी नृशंसा, देवदासी प्रथा के नाम पर मन्दिरों पर वेश्यावृत्ति, पुजारियों का अहंकार और शोषण उन्हें तनिक भी पसन्द न आया। वे आस्तिक थे, भगवान् को मानते थे और उसकी उपासना की उपयोगिता भी स्वीकार करते थे पर यह नहीं मानते थे कि—उसे पूजा, प्रलोभन देकर अनुचित कर्मों में सहायता करने के लिए भी राजी किया जा सकता है। अपने विचारों को उन्होंने तत्कालीन समाचार-पत्रों में छपाया और भाषण भी दिये। फलस्वरूप रूढ़िवादी लोग उनके विरुद्ध हो गये। इन विरोधियों में एक उनके पिता भी थे, जिनकी नाराजी के कारण मुबक राममोहन राय को घर छोड़ कर भागना पड़ा।

हिन्दू धर्म में प्रचलित संकीर्णता को देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुए और उसका अध्ययन करने तिब्बत चले गये। वहाँ भी उन्होंने लामाओं को ईश्वर के समान अपनी पूजा कराते देखा तो बड़े खिन्न हुए। उन्हें बुद्धिवादी-बौद्ध-धर्म से बड़ी आशा थी। पर स्वार्थपरता और संकीर्णता का वहाँ भी बोलबाला देखा तो निराश होकर वहाँ से भी लौट पड़े। मनुष्य अपने को ईश्वर बताये यह धृष्टता उन्हें सहन न हुई और खुले रूप में इसका विरोध करने लगे। लामाओं को यह पता चला तो वे उनकी जान के ग्राहक

बन गये। बड़ी कठिनाई से एक ऊँच निम्बनी महिला की सहायता से वे निकल पागने में समर्थ हुए और वापस भारत आ गये।

पिताजी की मृत्यु के बाद वे घर पर ही रहने लगे और शास्त्रों के अध्ययन में अधिक समय लगाने लगे। इसी बीच उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई। परिवार के लोगों ने उसकी भेली छी को अगवेश दिला कर सती होने के लिए राजी कर लिया। बेचारी हरते-हरते पति की लाश के साथ चिता पर बैठी पर जैसे ही आग जलने लगी वह मर्मन्तिक पीड़ा से व्याकुल होकर चिता से उठ भागे। कुटुम्बी लोगों ने बाँस मार मार कर उसे पुनः चिता में झोंक दिया। कोई उसकी चीन्कार सुन न सके, इसलिए जोरों से बाजे बजाने का प्रबन्ध कर दिया। इस घटना को जब राममोहन राय ने देखा तो उनकी आँखों में खून बरसने लगा। उन दिनों बंगाल में सती-प्रथा का बहुत जोर था। विधवाओं का निर्वाह भार सहन न करना पड़े और उसके पति की सम्पत्ति को हड़पने का अवसर मिल जाय इस लालच में लोग बेचारी शोकाकुल विधवा को सती होने का उपदेश देते थे, जलने में कोई कष्ट न होने का बहकाव देते थे, कमजोरी दिखाने पर कटु वचन कहते थे और स्वीकृति न सही चुप हो जाने पर भी स्वीकृति की घोषणा करके उसके सती करने की तैयारी करा देते थे। अपने वंश की नामवरी भी उन्हें उसी में टोखती थी। मरने के पूर्व विधवा को नशीली चीजें खिला देते थे ताकि वह जलते समय कुछ बोल न सके। धर्म के नाम पर चलने वाली इस नृशंसा के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय ने पूरी खोज-बीन की और बेचारी विधवाओं को किस प्रकार सती होने के लिए उद्यत किया जाता है इस कुरता के छिपे रहस्यों का ऐसा खोजपूर्ण एवं दिल दहला देने वाला विशिष्ट पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया कि पढ़ने वाले के पत्थर हडक को भी पसीजना पड़ा।

सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने भनघोर आन्दोलन किया। रूढ़िवादिता ने उनका फिर विरोध किया पर वे अपने कार्य में लगे ही रहे। जन-मत उनके पक्ष में हुआ और राजा के गणमान्य लोगों ने सरकार से माँग की कि इस नृशंसा के विरुद्ध कानून बनाया जाय। अंग्रेजी सरकार मान गई और कानून बना कर सती प्रथा को रोक दिया गया। इस प्रकार इस महान् समाज-सुधारक की एक बड़ी आकांक्षा पूरी हुई। उस कानून से जिन सहस्रों विधवाओं को जीवित जाला डालने के बह्यन्त्र से त्राण पिला उनकी आत्माएँ इस महान् सुधारक की किननी उपकृत हुई यह कहने की आवश्यकता नहीं।

विधवाओं की दुर्दशा का दृश्य उनकी आँखों के सामने घूमता तो एक सहृदय व्यक्ति की भाँति वे फूट-फूट कर रोने लगते। उन्होंने विधवा विवाह की आवश्यकता प्रतिपादित की और इसे प्राचीन परम्पराओं और शास्त्र-पर्यायों के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'विधवा विवाह मीमांसा' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया जिससे लोगों की आँखें खुलीं और जाना कि यदि किसी विधवा का पुनर्विवाह कर दिया जाय है तो उसमें धर्म या शास्त्र का तनिक भी उल्लंघन नहीं होता। पुरातनपथी लोग हर नई बात को अधर्म मानने की तरह इन विचारों का भी विरोध करते रहे पर विचारशील लोगों का समर्थन दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। अविद्वेकपूर्ण ज्ञातों का विरोध करने वाले लोगों

को अन्ततः परास्त हो होना पड़ता है फिर वे पहले ही बहु संख्यक क्यों न हों। अकेले राजा राममोहन राय का प्रतिपादन धीरे-धीरे जनता द्वारा एक नव्य और औचित्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और विधवाओं के मार्ग से एक बड़ी कठिनाई किसी हद तक दूर हो सकी।

नर और नारी को एक स्तर पर स्थाने और उनके कर्तव्य एवं अधिकार समान घोषित करने की दिशा में राजा साहब ने जो कार्य किया उससे हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता बढ़ी और इस प्रकार मानवता की एक बड़ी सेवा उनके द्वारा बन पड़ी।

वे हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप से नवयुवकों को परिचित कराना चाहते थे इसलिए उन्होंने हिन्दू कॉलेज की नींव डाली। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापन महाम्यना चलवीध जी की तरह राजा राममोहन राय भी यही चाहते थे कि हमारी प्रसुद्ध नई पीढ़ी हिन्दू संस्कृति की महानताओं और विशेषताओं से परिचित होकर अपने आधारों द्वारा इस उत्कृष्ट आदर्शवाद को विश्व मान्य की प्रगति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम सिद्ध करे। हिन्दू कॉलेज उन्होंने इसी उद्देश्य से स्थापित किया और बड़ी लगन से उसे चलाया भी। उन दिनों ईसाई शिक्षा संस्थाओं का जाल फैल रहा था उनके मुकाबले में वह प्रयास दुस्साहसपूर्ण ही था। इस प्रयास को सफल बनाने के लिए उन्हें बधाओं से निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ा।

समाज सुधार आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए उन्होंने 'सम्वाद कौमुदी' और 'मीरत अल अखबार' नामक दो साप्ताहिक पत्र चलाये। उन दिनों सरकारी प्रेस प्रतिबन्ध बहुत कड़े थे, कोई व्यक्ति सरकार की मर्जी के विरुद्ध कुछ छाप नहीं सकता था। इन नियन्त्रणों के विरुद्ध राजा साहब ने बहुत आन्दोलन किया और प्रतिबन्धों को शिथिल कराया।

हिन्दू धर्म से सच्चा प्यार करने वाले, राजा साहब इस महान् संस्कृति को उसके वास्तविक रूप में परिष्कृत करने के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उनके प्रयासों से हिन्दू धर्म पर से डगमगाती हुई नई पीढ़ी की आस्था पुनः जमी और बुद्धिजीवी वर्ग विभिन्न संस्कृति के संगुल में फँसने से बच गया। इसका बहुत कुछ श्रेय इस महान् सुधारक को दिया जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

ऐसे थे त्यागमूर्ति देशबन्धु चित्तरंजन दास

देशबन्धु चित्तरंजन दास हमारी आज़ादी की लड़ाई के एक जबरदस्त सेनानी थे। गांधीजी के पश्चिम में आने से पहले वे कलकत्ते में वकालत करते थे और हजारों रुपये महत्वार कमाते थे। लेकिन देश की सेवा करने के लिए उन्होंने इस भारी कमाई को तुल्य द्रव्य और अपना सारा समय वे गरीबों की सेवा में बिताने लगे। उनकी गृहस्थी का खर्च बहुत बड़ा था, इसलिए वकालत छोड़ने के बाद उन्हें कुछ कर्ज करना पड़ता था। यह कर्ज वसूल करने के लिए एक

दिन साहूकर उनके यहाँ आया और अपना पैसा मांगने लगा। देशबन्धु के रूप में उस समय कुछ नहीं था। अतः उसी समय उसके पैसे कैसे चुकाते? किसी मित्र से लेकर कर्ब अदा कर देने की आशा से उन्होंने साहूकर से एक दिन का समय मांगा, लेकिन वह मुँह बड़ाकर कमरे में ही बैठ रहा, टस-से-मस नहीं हुआ।

उसी वक़्त एक बड़ा जमींदार उस कमरे में आया उसका एक बड़ा मामला अदालत में चल रहा था। पहले कई बार उसने अपने बड़े-बड़े मामलों में देशबन्धु को ही अपना वकील बनाया था। इसलिए इस मामले में भी देशबन्धु को ही अपना वकील बनाने के लिये आया था। उसने मामले की सारी तफ़सील उन्हें समझाई और एक लाख रुपये लेकर मामला हथ लेने की विनती की। लेकिन अब तो देश सेवा करने के लिए उन्होंने वकालत छोड़ दी थी। इसलिए उन्होंने इन्कार कर दिया। जमींदार ने सोचा कि एक लाख रुपये कम मालूम होते होंगे, इसलिए वकील साहब मेरा मामला हाथ में लेने से इन्कार करते हैं। कुछ देर खामोश रह कर वह बोला—“दो लाख रुपये ले लीजिये, लेकिन मेरी इच्छा है कि यह मुकदमा आप ही लड़ें।” देशबन्धु ने हँसते हुए फिर इन्कार किया और कहा—“दो लाख का भी मैं क्या करूँ? अपने देशवासियों की सेवा से अब मुझे फुरसत ही कहाँ मिलती है?” जमींदार के मन में वकील के नामे देशबन्धु की शक्ति के बारे में बड़ा ऊँचा खयाल था। वह मानता था कि एक कर अगर देशबन्धु इस मामले को हाथ में ले लेंगे तो मेरी जीत अवश्य होगी। अन्त में उसने बड़े नम्र भाव से आग्रह किया—“वकील साहब, दो लाख अगर कम हैं, तो थोड़ा-थोड़ा आपको कितने रुपये चाहिये? बोलिये, आप मांगेंगे उतने रुपये मैं देने को तैयार हूँ, लेकिन मेरा मुकदमा तो आप ही लड़ें।” देशबन्धु ने फिर सर हिलाकर इन्कार कर दिया। आखिर निराश होकर जमींदार उनकी इजाजत लेकर कमरे से बाहर जाने के लिए उठा। पीछे-पीछे देशबन्धु दरवाजे तक उसे बिदा करने गये।

वह साहूकर बैठे-बैठे दोनों की सब बातें सुन रहा था। देशबन्धु के इस अलीकिक त्याग से उसके अघराव का पार न रहा। खुद कैसे महापुरुष के घर कर्ज वसूल करने आया इसका उसे खयाल आया जिसने बात ही बात में लाखों रुपयों को ठोकर मार दी, उसके यहाँ मैं पाँच हजार को वसूली करने आया हूँ? वह बड़ा लज्जित हुआ और अपनी इस उतावली, लालच और ओछेपन के लिये उसे बड़ा दुःख हुआ। देशबन्धु जमींदार को बिदा करके लौटे कि वह खड़ा हो गया और रो पड़ा। हाथ जोड़कर देशबन्धु से कहने लगा—“देवता, मुझे अपने रुपये नहीं चाहिए। मैंने आपके अदम्य त्याग को पहचान नहीं सके। मेरी असमर्थता और ओछेपन के लिये मुझे क्षमा करें।” इतना कहकर वह साहूकर आंसू पोंछता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

देशबन्धु चित्तरंजन दास विलायत से बैरिस्टर होकर भारत लौटे और कलकत्ता में उन्होंने वकालत शुरू की। नये वकीलों को घन्था चलाने में शुरू-शुरू में जो कठिनाइयाँ आती हैं, वैसी ही कठिनाइयों का सामना उन्हें भी करना पड़ा, मुक्किल आते नहीं थे और खर्च

दिनों दिन बढ़ता जाता था। उनका परिवार सम्पन्न और खुशहाल माना जाना था, परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनके कारण उन्हें पैसे की बड़ी तंगी उठानी पड़ती थी।

देशबन्धु अपने पिता के बड़े लड़के थे। विलायत में उन्हें शिक्षा दिलाने के कारण तथा अपनी गम्भीर बीमारी के कारण उनके पिता पर काफी कर्ज हो गया था। उसमें एक अनसूझा आर्थिक संकट और आ गया। उससे सारा घर बिल्कुल तबाह हो गया। उनके पिता स्वभाव के इतने उदार थे कि मुसीबतें उठाकर भी दूसरों की मदद करते थे। यौवन आने पर खतरे का सामना करके भी अपने मित्रों की सहायता करने के लिये वे हमेशा तैयार थे। एक बार किसी मित्र की ओर से बड़ी रकम के लिए उन्होंने जमानत की। लेकिन मित्र की असफलता के कारण वह रकम अदा करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ पड़ी। इतनी बड़ी रकम चुकाना उनके लिए असम्भव हो गया। इसलिये पिता को पुत्र के साथ मिली-जुली जिम्मेदारी स्वीकार करके अदालत में जाकर अपने दिवालियेपन को अर्ज करनी पड़ी। अदालत ने पिता और पुत्र दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया। वह देशबन्धु के जीवन का कड़वे से कड़वा घूँट था, लेकिन उसे पिये बिना उनके लिए कोई चारा नहीं था।

पागल का चक्र रथ के पहिये की तरह कभी ऊपर कभी नीचे घूमता ही रहता है। देशबन्धु ऐसे आर्थिक संकट से दबकर निराश होने वाले नहीं थे। अनेक प्रतिभा और कानून के गहरे ज्ञान के कारण कुछ ही दिनों में एक होशियार कौन्सिल के नाते उनकी प्रतिष्ठा जप गई। फिर तो उनके घर में पैसे की वर्षा होने लगी। अब देशबन्धु ने अपने पिता के साहसिकों को याद किया और सबको अपराध में डालने वाला महान् नैतिक कदम उठाया। कानून से उनके पिता का कर्ज बेमियाद हो चुका था, लेकिन कानून की अपेक्षा नैतिकता की कीमत बहुत ऊँची है। इसलिये नैतिक कानून का पालन करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है, ऐसा मानकर देशबन्धु ने अदालत को दिवालियेपन की आज्ञा रद्द कराने के लिये अर्ज पेश की। तदनुसार अदालत ने अपनी पुरानी आज्ञा रद्द कर दी। इस तरह उन्होंने पिता का सारा कर्ज चुका दिया। इस नैतिक आचरण से देशबन्धु का सारा देश में खूब नाम हुआ और उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। सिर्फ कानून की निगाह से देखने वाले एक अंग्रेज न्यायाधीश पर इसका बड़ा गहरा असर हुआ और वे देशबन्धु को कीर्ति का प्रतीक मानकर उनकी बड़ी आदर करने लगे।

पैसे का लोभ इतना बलवान होता है कि कोई विरला व्यक्ति ही उससे बच सकता है। कानून के रक्षण और नैतिक कर्तव्य के बीच होड़ लगने पर नैतिक कर्तव्य का पालन करके देशबन्धु चितरंजन दास ने अपने जीवन को उच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया था। आज जब मनुष्य पैसा कमाने के लिये कला बजारी, रिश्वतखोरी और ऐसे ही अनेक दूसरे पापों के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, तब देशबन्धु का ऊँचा और साधु जीवन उसे पुण्य का मार्ग बताने वाला प्रकाश दीप बने, यही परम प्रभु से प्रार्थना है।

करुणा और सेवा की साकार मूर्ति—

ठठकर बापा

बहुत कुछ आड़े आने पर भी ठठकर बापा ने निर्धनता को अपनी पढ़ाई के मार्ग में अवरोध नहीं ही बनने दिया। उन्होंने अपने अध्यवसाय के बल पर यह प्रमाणित कर दिखाया कि जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को छोड़कर किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं रहता उसकी गति सख्त का कोई भी अभाव नहीं हो सकता है।

अन्य मुसीबतों की अपेक्षा ठठकर बापा के सामने अर्धाभाव की मुसीबत सबसे बड़ी थी। पिस, पुस्तकें तथा अन्य पढ़ाई के छत्तों के लिए इनका खर्च सदैव तग रहा करता था। किन्तु उन्होंने इस तंगी को अपनी पढ़ाई से बचे हुए समय में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाकर, अपने खरे खर्चे समाप्त करके और केवल एक बार साधारण भोजन करके बहुत कुछ दूर कर लिया। उनके अदभुत पुरुषार्थ और लगन का फल यह हुआ कि धन की महान् असुविधा होने हुए भी उन्होंने इन्जीनियरिंग की परीक्षा पास कर ली।

जो काम सच्चे मनोयोग और लगन से किये जाते हैं उनके सफल होने में विलम्ब नहीं होता। अतएव इन्जीनियरिंग पास करते ही बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें अपने यहाँ इन्जीनियर के पद पर नियुक्त कर लिया। इतना शीघ्र स्थान पर जाने में कोई ऐसी विलम्बता नहीं है, जिस पर आश्चर्य किया जावे अथवा दैव संयोग माना जाये। इसका स्पष्ट कारण है कि ठठकर बापा के पुरुषार्थ और लगन से लोग परिचित थे। ऐसे गुणी व्यक्ति को अपने यहाँ नियुक्त करके बम्बई कॉर्पोरेशन लाभ उठाने से भ्रष्ट क्यों चुकता। ऐसे सामनशील और परिश्रवान् व्यक्तियों की सब जगह तलाश राह करनी है। गुणी को किसी की तलाश नहीं करनी पड़ती, बल्कि दूसरे लोग ही उसकी तलाश किया करते हैं। बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें स्वच्छता, प्रकाश और दाम के निरीक्षण का काम सौंपा। इसके लिए उन्हें दिन-भर नगर का घूमन करना होता था। सफाई के सिम्बलित में उन्हें मेहतरों की बस्तियों में भी जाना होता था, जिससे उन्हें उनकी दुरवस्था और दयनीयता को देखने का अवसर मिलता। उन्होंने देखा कि उनके निवास आश्रम गन्दे और बुरी दशा में थे। उनके बच्चे असहाय, अशिक्षित और गन्दे रह करते थे। उनकी बियाँ दिन भर सड़ती, बच्चों से मारपीट करती और गालियाँ बकती। मेहतर शराब पीते, जुआ खेलते और घर में मारपीट करते, आपस में लड़ते और अपराध करते। जुआ और शराब के कारण सदैव कर्जदार रहते जिसे निबटाने के लिए जब-तब चोरी का भी प्रयत्न करते। नगर की पुलिस और कॉर्पोरेशन के अधिकारी उनसे जन्मवरो जैसा बर्ताव करते।

मेहतरों की यह दुर्दशा देख-देखकर ठठकर बापा को बड़ा दुःख होता। वे सोचते क्या यह भी मनुष्य हैं? और समाज के एक अभिन्न अंग हैं? उनकी बस्तियाँ उन्हें नरक और उनमें रहने वाले नरक के कीड़ों से अधिक कुछ न देखते। मनुष्य जाति भी वह दशा देख कर उन्हें बड़ी दया आई और उन्होंने उनके सुधार के लिए प्रयत्न करना

शुरू किया। उन्होंने कोशिश की कि कॉर्पोरेशन के कर्मचारी एवं अधिकारी उनसे मानवोचित व्यवहार करें और जितना हो सके उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न करें, किन्तु लोगों ने उनके कहने पर कोई ध्यान न दिया। मेहतरों की दशा पर उन्हें दिन-दिन परेशानी बढ़ने लगी। वे उनका जितना सुधार करना चाहते थे, नौकरी के कारण उतना न कर पाते थे। उनकी मानवता मानव जाति के एक वर्ग की इस दुर्दशा को न देख पाई और उनके सुधार करने का निश्चय करके कॉर्पोरेशन के इन्जीनियरिंग पद से त्यागपत्र दे दिया। उन्हें बहुत-कुछ समझाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उन्हें तो मानव सेवा की लगन लग चुकी थी। वे न माने और अपने अध्यवसाय का फल परोपकार की भावना पर बलिदान कर दिया।

सामान्यतः लोग दूसरों का अहित करके अपना स्वार्थ साधन किया करते हैं और उन्हें ऐसा करने में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता। पर ठक्कर बापा ने परोपकार पर अपने स्वार्थ को न्योछावर कर दिया। वे यह बात कभी न भूलते थे कि जिस समुदाय के सभी वर्ग समान रूप से उन्नत न होंगे वह समुदाय सदैव ही पतन की ओर चलता रहेगा। उन्हें भंगियों के सुधार और जनसेवा में ही सच्ची देशभक्ति के दर्शन होने लगे।

नौकरी छोड़ देने के बाद वे श्री गोपालकृष्ण गोखले की 'भारत सेवक समाज' नामक जन-हितकारी संस्था में चले गये। उन्होंने मेहतरों की दशा से प्रेरित होकर भावुकतावश नौकरी का त्याग नहीं किया था, बल्कि आजीवन जन-सेवा की स्थायी भावना और देश का हित देखकर वैसा किया था, जिसके लिये उन्होंने 'भारत सेवक समाज' की आजीवन सदस्यता ग्रहण कर ली।

ठक्कर बापा भाषणों और लेखों द्वारा प्रचार करने की पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि जो सुधारक अथवा कार्यकर्ता भाषणों, आन्दोलनों एवं लेखों आदि तक सीमित रहते हैं, वे सच्चे मानों में जनसेवक नहीं हैं। जनसेवा का अर्थ है जन-जन से सम्पर्क रखना और सक्रिय रूप से उनकी सेवा करना। वस्तुतः भाषणों आदि से उनका कोई हित नहीं हो सकता और न वे सुधार के मार्ग पर चल सकेंगे। सच्चा सुधार करने के लिए अपने को उनमें भिन्ना देना ही होगा। पहले तो मौखिक प्रयत्नों द्वारा जनसेवा में विश्वास रखने वालों में सच्ची भावना की कमी होती ही है, वह भाषणों आदि के माध्यम से सन्तुष्ट हो जाती है। अस्तु, किसी वर्ग के सुधारार्थ मौखिक प्रयत्न तक सीमित रहने में बेरा विश्वास नहीं है।

अपने इसी विश्वास के अनुसार न उन्होंने कभी कोई सभा जोड़ी और न कोई अभियान चलाया। वे मेहतरों की नस्तियों में स्वयं अकेले जाते, उपदेश करने के बजाय मार्मिक शब्दों में उनसे अपना सुधार करने की प्रार्थना करते। ऐसा लगता मानो अपना सुधार करके मेहतर अपना हित न करके उन पर ही कृपा करेंगे। वे उनके बच्चों को पढ़ाते, उनके मकानों की सफाई करते और बुरी अदतें छोड़ने के लिए समझाते। उनके इन व्यक्तिगत प्रयत्नों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेहतरों में बहुत कुछ सुधार प्रारम्भ हो गया। उनका यह निश्चित सेवाभाव देखकर अन्य भी बहुत से लोग मेहतरों के सुधार में लग गये।

ठक्कर बापा न केवल मेहतरों तक ही सीमित रहे, अपितु उन्होंने आदिवासी वर्ग की भी सराहनीय सेवा की। वे उनके निवासों पर भी जाते, शिक्षा का प्रचार करते, दुर्व्यसन छोड़ने की प्रेरणा देते और उनकी अपराध वृत्ति का निराकरण करते। वे दिन-रात अनवरत रूप से अपने कार्य में लगे रहते। न किसी साथी अथवा साधन की अपेक्षा करते और न कभी यह सोचते कि उनके इस काम को लोग किस दृष्टि से देखते हैं ?

इसके अतिरिक्त वे जहाँ भी मानवता को झस्त देखते वहाँ दौड़ जाते, दुःखी लोगों की सेवा करते। उनके समय में जहाँ भी अकाल पड़ा अथवा बाढ़ से लोग पीड़ित हुए वहाँ-वहाँ ठक्कर बापा गये और पीड़ितों की सेवा की।

कच्छ के घणकर अकाल के समय वे अकाल पीड़ितों की सेवा में दिन और रात लगे रहे। जगह-जगह से उनकी सहायता के लिए धन इकट्ठा करते। गुजरात के अनेक जिलों में पड़े दुर्भिक्ष के क्षमष भी उन्होंने लोगों की मदद में कोई कसर न उठा रखी। गुजरात के अकाल पीड़ितों की सहायता कमेटी इन्हीं की देख-रेख में बनाई गई। पुरी के अकाल पीड़ितों की सेवा-सहायता करने के लिये ठक्कर बापा बम्बई से पाग कर गये।

अपने इन सेवा कर्मों में बापा ने भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी कभी किसी बात की परवाह न की। वे पागलों की तरह जनसेवा में लगे रहते। उनकी यह सेवा-भावना देखकर एक बार गाँधी जी ने कहा था—“बदि मैं भी बापा जैसी सेवा भावना पा जाता तो अपने को भन्व समझता।” गाँधी जी के इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि बापा कितने बड़े जनसेवक थे। अछूतों-द्वार और जनसेवा के क्षेत्र में ठक्कर बापा अपने समय में सब से आगे थे। उनकी सेवाओं ने अछूतों और आदिवासियों का जितना हित किया उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अछूतों-द्वार के मामले में लोग उन्हें दूसरे गाँधी कहते थे।

ठक्कर बापा का पूरा नाम अमृतलाल विठ्ठलदास ठक्कर था। उनका जन्म सौराष्ट्र के भवनगर में २९ नवम्बर सन् १८६९ में हुआ था। १८९० में उन्होंने इन्जीनियरिंग पास की और १९१४ में नौकरी छोड़कर सेवा कर्मों में लग गये।

बापा ने अवकाश परित्याग करके और बड़े कष्ट उठाकर जो विद्या प्राप्त की थी उसका उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ में न करके जनहित में किया। वे आजीवन अछूतों-द्वार, आदिवासियों के सुधार और सक्क प्रस्त लोगों की ही सेवा में लगे रहे। उन्होंने एक क्षण की भी बैठकर अपने वैयक्तिक जीवन की कठिनाइयाँ अभावों और आवश्यकताओं पर नहीं सोचा। वे दूसरों के लिए आहुति दे देने में जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता और सेवा में सबसे बड़ा सुख पाते थे।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी— महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी आज जिस परिष्कृत रूप में बोली और लिखी जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी को है। उनके समय

से पूर्व हिन्दी का प्रचलन तो हो चला था और कई मनीषी गद्य और पद्य द्वारा उसे सुविकसित करने के लिए प्रयत्न भी कर रहे थे, पर जिनोंने भारत की भाषी राष्ट्रभाषा को सर्वोत्तम बनाने के लिए अपना जीवन ही खर्च दिया हो ऐसे मनीषी उस समय तक ढूँढ़े नहीं मिल रहे थे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युगदृष्टा थे। वे जानते थे कि कोई देश एक राष्ट्रभाषा के बिना न तो भावनात्मक एकता प्राप्त कर सकता है और न शिक्षा तथा सस्कृति की दृष्टि से सुसम्पन्न हो बन सकता है। उन दिनों भारत की अनेक भाषाओं की तरह हिन्दी भी एक भाषा थी उसमें राष्ट्रीय भाषा के उपयुक्त प्रचुरता उत्पन्न न हो पाई थी। इस कमी को पूरा करना आवश्यक था। राजनैतिक स्वतन्त्रता उन दिनों नहीं थी, अंग्रेजी शासन अपना राजा मजबूती के साथ जमाये हुए था। पर आजा की कक्षा अपना आभास प्रकट करने लगी थी और यह बात दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही थी कि भारत आज नहीं तो कल राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा। तब सबसे पहली आवश्यकता एक समुदाय राष्ट्रभाषा की पड़ेगी, यह गुण केवल हिन्दी में ही। पर इसके प्रचुरता प्राप्त करने में अभी लम्बी मंजिल पर करनी थी। द्विवेदी जी राष्ट्र की इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए एक चतुर शिल्पी की तरह लगे और आजीवन उसी व्रत को पूरा करने में एक कर्मठ आदर्शवादी की तरह अविचल श्रद्धा और परिपूर्ण उत्साह के साथ संलग्न रहे।

उत्तर प्रदेश में गाय बरेली जिले के टौलतपुर ग्राम में वे सन् १९२१ में जन्मे। उनके पिता दस रुपया मासिक की एक छोटी नौकरी करते थे। पढ़ने का कोई ठीक प्रबन्ध गाँव में न था। आठ-दल पीठ पर लाद कर दूर के जिन गाँवों में स्कूल थे वहाँ पढ़ने जाते। १३ वर्ष की आयु में सेटी बनाना सीख न पाये थे सो फकते दाल में आटे की टिकिया पकाकर उससे भूख ज्ञान कर ले और शिक्षा की साधना में लगे रहते। इस प्रकार पुराना, फतेहपुर, उन्नाव के स्कूलों में उन्होंने चार वर्ष काटे। घर की आर्थिक दुरवस्था ने आगे पढ़ने की सम्भावना नष्ट कर दी। स्कूली शिक्षा वहीं समाप्त हो गई।

मुजारे के लिए उन्हें नौकरी करनी पड़ी। रेलवे में उन्हें जगह मिल गई। अपने परिश्रम और अध्यवसाय से उन्होंने अपनी योग्यता बढ़ाई। इतिहास के साथ-साथ उनका वेतन और पद भी बढ़ता गया। सिगनेलर, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, प्लेटफार्म, टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर, चीफ क्लर्क आदि छोटे-बड़े पदों पर उन्होंने सन् १९०३ तक काम किया। इस अवधि में उनका अन्तःकरण यही कहता रहा कि उन्हें पेट भरने मात्र से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। समाज के लिए कुछ रचनात्मक काम किए बिना कोई प्रगतिशील आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो सकती। उनकी आत्मा इस प्रकार दिन-काटने के विरुद्ध विद्रोह करती रही और उस अन्तर्द्वन्द्व ने एक दिन उन्हें नौकरी छोड़कर रचनात्मक काम करने के लिये विवश कर दिया।

आठ घण्टे नौकरी और आहार मित्रा आदि निवृत्त कर्म के दस घण्टे निकल कर ६ घण्टे आसानी से बच जाते हैं। बुद्धिमान लोग उस समय का ठीक उपयोग करते और अपनी विशेषताओं को बढ़ाने

रहते हैं। आलसी और प्रमादी उसे बर्बाद करके जहा के तहाँ पड़े दिन गुजारते रहते हैं। द्विवेदी जी न तो आलसी थे और न प्रमादी। उन्होंने बुद्धिमानों की तरह अपना जीवन क्रम बनाए रखा। बचे हुए समय में साहित्य साधना करते रहे। उन्होंने विशाल ज्ञान राशि इकट्ठी कर ली। नौकरी के दिनों में ही उनकी संचित साहित्यिक विद्वता का परिचय लोगों को मिलने लगा था। रेलवे की नौकरी छोड़ने पर उन्हें क्या काम मिलने में देर न लगी। मातृ भाषा की सेवा करना चाहते थे। हर सच्चे मन से चाहने वाले की तरह उन्हें भी उनका अभीष्ट माध्यम मिल गया। वे इस्लामाबाद की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन करने लगे।

सरस्वती के सम्पादन कार्य में उन्हें हर महीने २०) वेतन और ३) छक छर्च कुल २३) मिलते थे। रेलवे की नौकरी में उन्हें ऊँचा वेतन मिलता था। आमदनी एकदम घट जाने का उन्हें तनिक भी दुःख न हुआ। वे कहा करते हैं रेलवे की नौकरी १५) मासिक से शुरू की थी। अब तो २३) अर्थात् दोगुने मिलते हैं। मुझ जैसे मिलव्यो देहाती के लिए यह भी क्या कम है।

अधिक आयदनी और अधिक छर्च के कुचक्र में फँसे हुए लोगों के पास न तो महान् कर्षों के लिये उपयुक्त समय रहता है और न मन। उन्हें उसे गोरखधन्धे को सुलझाने से फुरसत नहीं मिलती, फिर कोई काम भी कर ही कहाँ से पावे ? आवश्यकताएँ बढ़ा कर ब्राह्मण जीवन जीने वाला व्यक्ति ही आदर्शवाद के लिए कुछ ठोस कदम उठा सकने में सफल हो सकता है। द्विवेदी जी बड़े थे, बड़ा काम करना चाहते थे, इसलिए उन्हें बड़प्पन की कमीटी पर खरा भी उतरना ही था, व्यक्तिगत जीवन में संयम और सादगी अपनाते हुए बची हुई शक्तियों को लोकहित में समर्पित करना यही तो किसी श्रेष्ठ पुरुष की जीवन पद्धति हो सकती है। प्राचीनकाल के ऋषियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक उन्होने इस आदर्श को शिरोधार्य किया और गरीबी का जीवन बिताते हुए लोकमंगल के लिए सच्ची तपश्चर्या करने में लगा गए। कमण्डल त्रिपुण्ड्र भले ही उन्होंने धारण न किया हो पर जिस निष्पृहता का जीवन वे जी रहे थे उसे देखते हुए उन्हें त्यागी ही कहा जा सकता है। उपलों की आग जलाकर वे तथाकथित तपस्या भले ही न करते हों, पर राष्ट्रभाषा का भविष्य उत्थान करने के लिए जिस निष्ठा के साथ वे तत्पर हो रहे थे उसे देखते हुए उन्हें तपस्वी कहने में कोई अत्युक्ति न मानी जायेगी।

अन्य सम्पादकों की तरह श्वर-उधर के लेखों को काढ़-छाँवकर अखबार के पन्ने भर देने की बेगार दाल देने वाले द्विवेदी जी न थे पत्रिका में छपने को आये हुए लेखों के एक-एक शब्द को वे ध्यानपूर्वक देखते और अपने हाथों उसे दुबारा लिखते। इस प्रकार उनकी लेखनी की खराद पर चढ़कर निखरा हुआ प्रत्येक लेख भाषा और भाव की दृष्टि से राष्ट्रभाषा के गौरव के उपयुक्त ही बन जाता। सरस्वती में सभी प्रत्येक रचना, साहित्यिक दृष्टि से सच प्रकार खरी और परिष्कृत मानी जाती थी।

उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखा है। दूसरों के लिखे को संशोधित और परिष्कृत किया है। साथ ही सबसे बड़ा काम यह किया है कि

४९ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—९

अगणित नवोदित लेखकों को मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन देकर उन्हें नौसिखिये से आगे बढ़ते हुए महान् साहित्यकार बनाया। फारस को छूकर लोहा सोना बनता है पर द्विवेदी जी ऐसे फारस थे कि उनके सम्पर्क में जो आया वह भी फारस बन गया। पटुपल्लव पुनालाल बख्शी ने अपनी पुस्तक 'विश्व साहित्य' में लिखा है— 'यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे सप्रसन्न आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्होंने की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। वेब की तरह विश्व से ज्ञानाग्नि संचित करके और उसकी वर्षा करके उन्होंने समग्र साहित्योद्योग को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।'।

उन्होंने लगातार अठारह वर्ष तक सरस्वती का सम्पादन किया। अवकाश ग्रहण करने के बाद भी वे सात-आठ वर्षों तक नियमित रूप से लेखन कार्य करते रहे। अपनी निज की रचनायें लिखने की अपेक्षा उनका प्रधान कार्य दूसरों की कृतियों को परिष्कृत कर उन्हें उपेक्षित से उत्कृष्ट बनाना रहता था। रद्दी में डाले जा सकने वाले लेखों को अपनी कलम से दुबारा लिखकर उन्हें साहित्य में उचित स्थान मिलाने योग्य बनाया करते और उनके लेखकों को व्यावहारिक रूप से यह बताया करते थे कि उनसे कहीं भूल हुई, क्या कमी रही, और किन बातों का समावेश आवश्यक था। इस प्रकार वे बिना विद्यालय छोड़े हुए भी 'सरस्वती' के दफ्तर में बैठ कर सहस्रों नव-युवकों को राष्ट्र के प्राचीन साहित्य निर्माता बनने में लगे रहे। उनकी यह देन इतनी बड़ी है कि भारत का साहित्य जगत उसे कभी भी भुला न सकेगा।

उनकी सेवाओं के प्रति अपनी अग्रणी ब्रह्मा को भी सम्मानों के माध्यम से जनता ने समक-समय पर प्रकट किया है। काशी नागरी प्रचारणी सभा ने उन्हें हिन्दी के सर्वप्रथम 'अध्यक्ष' की उपाधि से विभूषित किया और इसके दो वर्ष बाद ही उन्हें अपूर्व 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' में दे दिया गया। सन् १९३३ में डॉ॰ गंगानाथ की अध्यक्षता में प्रयाग में 'द्विवेदी मेला' का आयोजन हुआ। उनके कर्तृत्व और व्यक्तित्व पर 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' शीर्षक थीसिस लिखकर डॉ॰ उदयभानसिंह जी ने पी-एच डी प्राप्त की। संक्षिप्त में यों भी कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के समान सम्मान भारत के और किसी साहित्यकार का अभी तक नहीं हुआ। गद्य लेखकों की तरह ही उन्होंने पद्य रचयिता कवियों का भी महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया। यों वे कवियों में गिने नहीं जाते पर कविताओं के संशोधन में उनकी क्षमता गद्य संशोधन से किसी प्रकार कम न थी। उन्होंने अनेक कवियों को रचनात्मक कवितायें लिखने के लिए प्रबल प्रेरणा दी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती उन्हीं की प्रेरणा का फल है।

पद्य युग की परम्परा का अनुसरण करते हुए उन दिनों भी मृगाक्षी कविताओं और कवियों का बाहुल्य था। ऐसे लोगों को वे सदा

निस्वसाहित्य करते रहे और उस प्रवृत्ति को राष्ट्र निर्माण के लिये अनुपयुक्त बताने से उससे दूर रहने की शिक्षा देते रहे। उन्होंने इन कवियों से पूछा है— 'चौंटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु भिक्षुक से लेकर राजा तक मनुष्य, निन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कवितायें हो सकती हैं। सभी से उपदेश मिल सकता है। फिर क्या कारण है कि इन कवियों को छोड़कर कोई कवि सियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता समझे?'।

प्रश्न मार्मिक है। जिन्होंने निम्न स्तर की मलीन प्रवृत्तियों को ही नुरेदने को 'कला' नहीं समझा है उन्हें उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में अपनी कविताओं को रचनात्मक दिशा निर्धारित करने के अनिश्चित और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी—द्विवेदी जी ने— २९ दिसम्बर, १९३९ को महाप्रयाण किया पर उनकी ब्रह्मा और तत्परता त्याग और तपस्व ने हिन्दी साहित्य का जो गौरव बढ़ाया उसे देखते हुए उन्हें अजर-अमर ही माना जाता रहेगा।

देश के लिये सर्वस्व अर्पण— लाला हरदयाल

किसी महान् उद्देश्य के लिये त्याग करना एक बड़ा प्रशंसनीय कार्य है। सन्तोष की बात है कि भारत में भी गत अर्द्ध शताब्दी में ऐसे त्यागी, आत्मदानियों की कमी नहीं। बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान्, प्रतिभाशाली, कर्मवीर इस युग में ऐसे पैदा हुये जिन्होंने अपनी योग्यता को देश और जाति के उत्थान के लिये अर्पित कर दिया। उन लोगों में इतनी विद्या और योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो नदी से बड़ी पदवी तक पहुँच सकते थे और धन, बल, मान प्राप्त करके सुखी जीवन बिता सकते थे। पर उन्होंने इस प्रकार के जीवन को नश्वर समझकर पारमार्थिक मार्ग का अवलम्बन किया और अपने प्रयत्नों से देश को आगे बढ़ाने का साध स्वयं भी अमर हो गये।

पर कुछ देशभक्त ऐसे भी हुये जिन्होंने अपने स्वदेश बांधवों की सेवा की, समाज के उद्धार के लिये निस्वार्थ भाव से अपनी विद्या, योग्यता और समस्त शक्तियों को अर्पित भी किया और साथ में नाम और बल से भी दूर रहे। अगर विचार किया जाय तो इस तरह की महत्ता अन्य महत्ताओं से कहीं बढ़कर है। यश और प्रतिष्ठा में भी बड़ी शक्ति है और इनको पाते हुये यदि कोई सेवा-मार्ग पर आगे बढ़ता जाय, स्वार्थत्याग करके समाज का हितसाधन करता रहे तो यह अधिक कठिन नहीं है, पर जो मातृभूमि के चरणों पर अपनी महान् विद्या और सन साधनों को निरन्तर करते और बदले में कुछ, अभाव और असुविधा के सिवा कुछ न पाये और फिर भी अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटा रहे तो वह विवेकशीलों की दृष्टि में अवश्य बड़ा त्यागी और तपस्वी समझा जावेगा।

लाला हरदयाल (१८८५) दिल्ली के एक गरीब कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुये थे। अपने पश्चिम और प्रयत्न से ही उन्होंने एम ए

तक की उच्च शिक्षा पाई और फिर विस्मय में जाकर बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास कीं तथा गम्भीर अध्ययन किया। पर जब भारतवर्ष आकर कार्यारम्भ किया तो उसी समय यहाँ की विदेशी सरकार चौकन्नी हो गई और यह प्रकटन किया कि किसी प्रकार वे राजनैतिक क्षेत्र से हट जायें। क्योंकि उनके विचार विद्वत्पूर्ण होने के साथ बड़े स्पष्ट, उग्र और प्रभावशाली होने से और जनता में उनके प्रचार से सरकार अपने लिये खतरा अनुभव करती थी। इसलिये जब अपने लाला हरदयाल को बन्धन में डालकर मैदान से इटाने की योजना की तो वे देश से बाहर चले गये और वहीं रहकर जीवन के अन्तिम समय (सन् १९३९) तक देशोद्धार की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करत रहे। उन्होंने अमेरिका में 'गदर-पार्टी' की स्थापना की जिसने अंग्रेजों के शत्रुओं से घिसकर भारत सशस्त्र क्रांति की योजना बनाई और हथियारों से भरा एक जहाज भी इस उद्देश्य से भेजा। पर भारत सरकार के सावधान हो जाने से यह योजना पूर्ण न हो सकी। पार्टी की तरफ से 'तलवार' नाम का एक पत्र भी प्रकाशित करके भारतवर्ष में प्रचारित किया जाता था।

भारतवर्ष से चले जाने पर हरदयालजी अंग्रेजी करागार से तो बच गये, पर विदेशों में इससे भी अधिक अपराधों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत में तो उनके प्रशंसकों और सहायकों का एक बड़ा दल मौजूद था, जो आवश्यकता पड़ने पर उनके कार्यों में सहयोग देने और जेल चले जाने पर भी उनके कार्यों को किसी न किसी रूप में स्थिर रखने। पर विदेशों में बोड़े-से मित्रों के सिवा और कोई ऐसा न था जो तरह-तरह की बाधाओं और कठिनाइयों से पार पाने में सहकारी सिद्ध होता।

फिर भी हरदयाल जी ने कभी देशोद्धार के प्रयत्नों में शिक्षिता न आने दी और तलवार से नहीं तो कलम से वे इसके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे। उन्होंने विद्या प्राप्ति और अध्ययन में इतनी अधिक संलग्नता और परिश्रम से कार्य किया कि उनकी योग्यता को विदेशों के विद्वान् स्वीकार करते थे। अमेरिका और योरोप के अनेक विश्वविद्यालयों ने उनकी अपने यहाँ इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया और उन्होंने वहाँ की विद्वत् सभाओं में प्रभावशाली भाषण दिये।

वे कई भाषाओं के ज्ञाता थे और हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और स्वीडिश भाषाओं के भाराप्रवाह भाषण देते और उनके सामयिक पत्रों में लेख भी लिखते रहते। विदेशों में उनके जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन भाषण देना और लेख लिखना ही रहा।

हरदयाल जी ने इस अगम्य विद्वता का उपयोग सदैव भारतवर्ष के उत्थान के लिये ही किया और क्रांतिकारी लेखों के अतिरिक्त ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखते रहे जिससे देश में ज्ञान और कार्य-शक्ति का स्थायी रूप से विकास हो और यहाँ के नवयुवक देशेन्द्रिय की शक्ति प्राप्त कर सकें। उनकी एक ऐसी पुस्तक का नाम 'हिन्दुस फॉर सेल्फ कल्चर' (आत्मोन्नति के सकेत) है। अनेक विद्वानों ने उसे पढ़कर यह सम्मति दी है कि—“आधुनिक काल के सामाजिक,

नैतिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ रचना है।” इस पुस्तक की प्रतिका में हरदयाल जी ने लिखा है—

“इस पुस्तक में कारणवाद या तर्कवाद (रैशनैलिज्म) के सन्देश के कुछ पहलुओं को समझने और उनकी ओर सभी देश के युवक और युवतियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसके द्वारा उनके आत्मोन्नति के प्रयत्नों में किंचित मात्र भी सहायता हुई तो मैं अपने को पूर्णरूप से पुरस्कृत समझूँगा।” इस पुस्तक का हिन्दी भाषांतर 'आत्मसुधार' के नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के चार भाग हैं। प्रथम भाग में भौतिक-विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा धर्म सम्बन्ध के ऊपर विद्वत्पूर्ण लेख हैं। दूसरे भाग में शारीरिक विकास और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ऐसी अधिकारपूर्ण शिक्षा दी गई है माने कोई सुयोग्य चिकित्सक सलाह दे रहा हो। तीसरे में सब प्रकार की कला, कविता, साहित्य की विस्तृत व्याख्या की गई है। चौथे में व्यक्तिगत नैतिकता, सेवा, नागरिकता और राजनीति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। इस प्रकार इसके द्वारा मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर के प्रगति के मार्ग में दूर तक अग्रसर हो सकता है।

दूसरी उल्लेखनीय पुस्तक है—‘द्वैतत्व रिलीजन एण्ड माडर्न लाइफ’ अर्थात् ‘बहरा मजहब और आधुनिक जीवन’ इसमें हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, पारसी, सिख आदि मतों के वास्तविक स्वरूप को ऐसी अच्छी तरह समझाया है कि पाठक उनकी सभी विशेषताओं का ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किसी धर्म का कोई मुख्य सिद्धांत छूटने नहीं पाया है और सबकी समान बातों को एक स्थान पर एकत्रित करके उनमें समन्वय उपस्थित किया गया है।

इतने बड़े लेखक और विद्वान् होने पर भी उनको अहंकार का अन्तर्गताप का भाव कुछ भी नहीं गया था। वे अपने नाम के साथ कभी एम. ए. या अन्य उपाधियों का नहीं लगाते थे और जो कोई उनके नाम के साथ एम. ए. लिख देता था तो वे उसको उत्तर देते थे कि “भाई, मैंने एक बार यह पाप किया था, अब आप हमेशा मुझे गाली क्यों लिखते हैं।” वे ऐसी सम्मान प्रदर्शक पदवियों को सर्वमुक्त एक ‘उपाधि’ ही मानते थे।

संसार के अनेक देशों में उन्होंने निवास करके वहाँ की सांस्कृतिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं का अच्छी तरह अध्ययन किया था और इसके परिणामस्वरूप जीवन के अन्तिम दिनों में वह समस्त मानव सभ्यता को एक ही समझने लगे थे और सारी दुनिया को एक राष्ट्र के रूप में लाने के पक्षपाती हो गये थे। उन्होंने मानव-जीवन के उत्थान के लिये श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार देकर लोगों का मार्गदर्शन करने का बहुत बड़ा काम किया।

ऐसे व्यक्ति को हम महामानव ही कह सकते हैं। जो उन्नति और अधिकार प्राप्त कर सकने की पूरी शक्ति और योग्यता रखते हुये भी उसका उपयोग दूसरों के कल्याणार्थ करे और स्वयं साधारण स्थिति में ही बना रहे वही सच्चा धार्मिक और आस्तिक कला जा सकता है। लाला हरदयाल इसी प्रकार अज्ञजीवन कार्य करने हुये सन् १९३५ में स्वर्गवासी हो गये।

निस्पृह देशभक्त—राजा महेन्द्र प्रताप

मुरसान रियासत के राजकुमार और हाथरस राज्य के दत्तक उत्तराधिकारी राजा महेन्द्र प्रताप भारत माता के उन भक्त सपूतों में हैं, जिन्होंने उसकी स्वतन्त्रता और उसकी सन्तानों के हित साधन में अपना सर्वस्व ही नहीं जीवन भी समर्पित कर दिया। उन्होंने एक राजा होने हुए भी राष्ट्र-सेवा के लिये साधारण और कष्ट का जीवन बिताया। वे किन्हीं बड़े आदमियों की तरह वैभव के साथ रहते हुए सुख-सुविधापूर्ण देश सेवा करने वाले देशभक्त नहीं हैं। जिस दिन से उन्हें देश की दयनीय दशा का बोध हुआ, राजसी जीवन त्याग कर सामान्य-जन-सा जीवन चलाने और समाज की सेवा में लग गये।

उनका अटल विश्वास है कि देश के सम्मान्य स्तर का जीवन ग्रहण किये बिना किसी को भी उसके अभावों, कष्टों और आवश्यकताओं को सच्ची अनुभूति नहीं हो सकती और जब तक सच्ची अनुभूति नहीं होती तब तक सेवा भी सच्चे हृदय से नहीं की जा सकती। समाज से सच्ची सहानुभूति तभी सम्भव है, तब उसकी सामान्य दशा की पीड़ा और बेदना की स्वभाव भी अनुभूति होती रहे। इसी सच्चाई के लिये राजा महेन्द्र प्रताप ने सुख-सुविधापूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी।

राजा महेन्द्र प्रताप के हृदय की सच्ची देशभक्ति और अडिग विष्ठा इसी से प्रकट होती है। परम्परा के अनुसार उन दिनों देशी राजाओं की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी ढंग से इंग्लैंड में ही अधिकांशतः होती थी। जो राजा अथवा राजकुमार इंग्लैंड जाकर जब तक अंग्रेजों की रीति-नीति से प्रभावित नहीं हो जाते थे, तब तक उसे उत्तराधिकार में बठिनाई होती थी। राजा महेन्द्र प्रताप को भी शिक्षा-दीक्षा के लिये इंग्लैंड जाना और रहना पड़ा, किन्तु जो सच्ची आत्मा के विश्वस्त व्यक्ति होते हैं, वे किन्हीं भी परिस्थितियों में क्यों न रहें, अपनी मूल प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ते और नई परिस्थितियों से नया ज्ञान लेकर और अधिक दृढ़ तथा विश्वस्त हो जाते हैं।

राजा महेन्द्र प्रताप इंग्लैंड गये, अंग्रेजों के बीच बहो रहे। वहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति में व्यवहार किया, अंग्रेजों के शिक्षण का निर्वाह किया, किन्तु उनका मूल भारतीय स्वरूप प्रभावित न हुआ और जैसे ही वे भारत वापस आये उन्होंने सारी वैदेशिकता झड़ फेंकी और विशुद्ध भारतीयता में आ गये। वही भारतीय वेशभूषा, वही भारतीय आहार तथा रहन सहन और वही उच्चतम देशभक्ति उनकी शोभा बन गई। उनकी यह भारतीयता आचार-विचार में स्पष्ट होती रहती थी। सभी को उनकी यह गतिविधि देखकर रुक बनी रहती थी कि कहीं उनकी यह भारतीयता उन्हें राज्याधिकार से वंचित न कर दे।

बहुत बार उनके शुभचिन्तकों ने इस बात से सावधान भी किया तो पता चला कि उनके इस बात की जरा-भी चिन्ता नहीं है। वे अपनी भारतीयता और देश भक्ति के सम्मान में कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हैं। वे ऐसा वैभव और ऐसा राजत्व सुरक्षित रखने को तैयार नहीं जिसके लाभ से गुलामी को इस हद तक प्रभय देने के लिए राजी

होना पड़े कि अपना मूल स्वरूप ही दूसरों के स्वरूप से स्थानापन्न हो जाये।

राजा महेन्द्र प्रताप को देशभक्ति के मूल्य पर सगर का कोई भी वैभव और कोई भी सुख-सुविधा अगोचर नहीं। १९०६ में जब उन्होंने 'कलकत्ता कांग्रेस' में जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके अपने परिवार और सारे सम्बन्धियों में विरोध का एक ज्वार सा आ गथा और एक स्वर से सभी का परामर्श था कि कांग्रेस अंग्रेजों तथा अंग्रेजों राज्य का विरोध करती है उसमें जाना किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। हम सब लोग अंग्रेजों के अधः में सुख तथा अधिकारपूर्ण जीवन बिता रहे हैं। कांग्रेस में अभिप्रेषित दिखलाने से वे रूढ़ हो जायेंगे और अपनी सुख-सुविधा में गंभीर उल्लिखित होंगे। राजा महेन्द्र प्रताप को यह पराधीनतापूर्ण वक्तव्य सुन कर बड़ा खेद हुआ और वे सोचने लगे कि क्या योग-बिलास और बन-वैभव के स्तोभ में मनुष्य यहाँ तक गिर सकता है और अपनी उज्ज्वल आत्मा को इस सीमा तक धीरे और तेजहीन बना सकता है।

उनका हृदय उस राज-भोग की स्थिति की ओर से घृणा से भर उठा। उन्होंने कहा कि इस पराधीन स्थिति में दुषित भोग-प्रधान जीवन की अपेक्षा सामान्यता पूर्णजीवन कहीं अच्छा, पवित्र और सुखदायक है। जहाँ एक ओर सामान्य जन-देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष और बलिदान की वेदी पर अपने जीवन-पुष्प तक समर्पित कर रहे हैं, वहाँ हम उस पुण्य भाव को अपनी मनोपरिधि में भी लाने को तैयार नहीं हैं। जबकि वैदेशिक दासता का अधिशास्य सबसे अधिक हम लोगों को ही अपमानित करता है। आप लोगों का यह विरोध अनुचित है जो मेरे इस विचार को बदल नहीं सकता।

उनकी दृढ़ता और देशभक्ति की भावना देख कर सम्बन्धी लोग यहाँ तक डर गये कि सम्बन्ध-विच्छेद की बात कहने लगे। उनके स्वसुर ने तो यहाँ तक यह दिया कि यदि ऐसा हो तो आप हमारी रियासत में आना बन्द कर देंगे। सिद्धान्त के ज्ञानी महेन्द्र प्रताप ने इस बहिष्कार की जग भी परवाह न की और कलकत्ता कांग्रेस में गये।

वहाँ उन्होंने दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसे मूर्धन्य तथा देशभक्त आत्माओं के दर्शन किए और उनके भाषण सुने, उनके विचारों पर मनन किया। उनकी देशभक्ति की शिक्षा को और बल मिला जिससे देश सेवा की उनकी भावना बल में बदल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे देश की स्वतन्त्रता के लिये हर त्याग और बलिदान करेंगे, इसके लिये उन्हें कितना ही कष्ट और खतना क्यों न उठाना पड़े।

कलकत्ता कांग्रेस से आने पर राजा महेन्द्र प्रताप ने सबसे पहला काम यह किया कि अपने सारे विदेशी वस्त्र जला दिये और खादी धारण कर ली। इस कर्तव्य में उनकी पत्नी तक सहयोग करने को तैयार न हुई और उन्होंने एक तौलिया का त्याग ही बड़ी भारी नपस्य समझी। किन्तु राजा महेन्द्र प्रताप ने उन पर जड़ता की छाया समझ कर बुरा न माना और सोच लिया कि सत्य का दर्शन और भक्ति की भावना सबके भाग्य में नहीं होती।

राजा महेन्द्र प्रताप केवल देशभक्त और स्वतन्त्रता के समर्थक ही नहीं बल्कि समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों तथा बुराइयों के भी कट्टर विरोधी थे। वे समाज को गिराने वाली ऊँच-नीच तथा वर्णवाद की भावना के विकट विरोधी थे। उनका कहना है कि मनुष्य का सच्चा धर्म प्रेम में और सच्ची सुख-शान्ति समानता में निवास करती है। इन दोनों दिव्यान्वाओं का तिरस्कार कर कोई कितना ही देवी-देवताओं का भक्त क्यों न हो, कितनी ही उनकी पूजा-अर्चना क्यों न करता रहे, न उन्हें प्रसन्न कर सकता है और न उनका प्रसाद पा सकता है। अपनी इसी भावना को प्रकट करते हुए दूरिद के एक मन्दिर में प्रवेश के समय पण्डे के पूछने पर उन्होंने यह कह कर कि “मैं येहतर हूँ” ऊँच-नीच और सुअ-दूत की संकीर्णता पर गहरा आघात किया था।

राजा महेन्द्र प्रताप ने एक ऐसी अजर-अपर सन्तान को जन्म दिया जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही समस्त सेवा के लिये समर्पित हो गया और सदा-सर्वदा समाज की सेवा में ही निरत बन रहेगा। उनकी इस सन्तान का भी नाम ‘प्रेम’ ही है जो आज अपने विचित्र रूप में ‘प्रेम-महाविद्यालय’ के नाम से बृन्दावन की सोमा में स्थित देश के हजारों तरुणों को कला-कौशल, इन्जीनियरिंग तथा उद्योग-धर्मों की शिक्षा देकर देश के विकास मार्ग में प्रेरित कर रहा है।

राजा महेन्द्र प्रताप की अपनी इस समाज-सेवी संस्था से कितना गम्भीर प्रेम था इसका प्रमाण इस बात से ही मिलता है कि उसके जन्म के बाद उन्होंने महामना मालवीय जी को यह निवेदन भेजकर आमन्त्रित किया था कि मैं अपने एक बेटे का नामकरण संस्कार करने के हाथों कराना चाहता हूँ इसलिये कृपा कर पधारने का कष्ट करें।

महामना मालवीय जी प्रसन्नतापूर्वक पधारे और उनसे उस समाज-सेवी पुत्र का नामकरण संस्कार कराया। उसी समय राजा महेन्द्र प्रताप ने ‘प्रेम महाविद्यालय’ को अपनी जागीर का बड़ा अंश दान दे दिया। उनकी इस स्थापना तथा त्याग-भावना की महत्तम गाँधी, पंडित नेहरू और विश्व कवि टैगोर जैसे लोगों ने भुरि-भुरि प्रशंसा की और उन्हें एक आदर्श राजा तथा देशभक्त बताया।

राजा महेन्द्र प्रताप ने देश की दशा और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये तीन साल तक सम्पूर्ण भारत का दौरा किया और अपने को इस दोग्य बनाया कि वे स्वाधीनता के प्रयत्नों में सक्रिय भाग ले सकें। निदान जब १९१४ का प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ, उन्होंने देश को विदेशी दासता से मुक्त करने की शान्ति तथा क्रांति दोनों प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये जिससे कि अंग्रेज सरकार ने उन्हें सर्वस्व से वंचित कर देश निकाला दे दिया।

जिस देशभक्ति के मूल्य रूप उन्हें अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़ा उनकी वह पवित्र भावना इस उत्प्रेड़न से घटी नहीं बल्कि बढ़ी ही। उद्देश्यवान् व्यक्ति किसी स्थिति और किसी स्थान में क्यों न रहे अपने ध्येय के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। राजा महेन्द्र प्रताप भी ऐसे ही ध्येय-निष्ठ व्यक्ति थे। वे देश के बाहर विदेशों में निष्क्रिय नहीं बैठे रहे बल्कि स्वाधीनता के लिये यथासम्भव प्रयत्न करते रहे। भारतीय स्वतन्त्रता के लिए समर्थन प्राप्त करने के हेतु

उन्होंने लगभग सारे योरोप और संसार के अन्य देशों का भ्रमण किया और भारत के पक्ष में लोकमत बनाने का परसक प्रयास करते रहे।

अनन्तर वे जर्मनी जाकर वहाँ के कैसर से मिले और उससे परामर्श कर अफगानिस्तान की राजधानी काबुल आये। काबुल में वे वहाँ के शासक-अमीर को प्रभावित कर भारत के पक्ष में लाये और सहायता प्राप्त कर भारत और अफगानिस्तान की सीमा पर आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। इस समयान्तर सरकार के अध्यक्ष पद का भार तो स्वयं उन्होंने अपने कन्धों पर लिया और प्रधान तथा गृहमंत्रालय श्री मौलाना बरकतुल्ला और मौलाना अब्दुल्ला नामक दो मुसलमान भारत भक्तों को सौंपा। बाद में भारत के स्वतन्त्र होने पर जब देश में कांग्रेस-सरकार की स्थापना हो गई तब उन्होंने वह समयान्तर सरकार घंग कर दी।

यद्यपि राजनीतिक कार्य करने के साथ-साथ वे पहले भी सत्यधर्म के प्रचार का काम करते रहे पर स्वदेश के स्वाधीन हो जाने के बाद तो वे सारे समय उसी में लगे रहने लगे। उनका धर्म किसी सम्प्रदाय, राष्ट्र अथवा जाति विशेष का नहीं। उनका धर्म ‘मानव-प्रेम’ था जिसका उद्देश्य एक अविभाजित संसार और विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे एक विश्व-मंच की स्थापना के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। धार्मिक भावना में राजा महेन्द्र प्रताप बड़े उत्थार और संसार के सभी धर्मों का आदर करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्तमान लगभग अस्सी वर्ष की आयु तक स्वदेश तथा संसार की सेवा कर एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया, जो त्याग, बलिदान तथा साहस की प्रेरणा देने वाला और सभी के लिये अनुकरणीय है।

जिस स्वदेश के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया, देश-विदेश में असंख्योँ यातन-वे सहन की और आजीवन सेवा करते रहे, उसके स्वाधीन हो जाने पर भी वे एक जनसेवक ही बने रहे। उन्होंने न कोई पद चाहा और न पुरस्कार। ऐसे महान् तथा निस्पृह देशभक्त और जनसेवी राजा महेन्द्र प्रताप निश्चय ही हम सबके लिये ब्रह्मा तथा अम्बर के पात्र हैं।

नारी-शिक्षा के साहसिक प्रवर्तक— महर्षि कर्वे

भारत की अनाथ विधवाओं के उद्धारक, स्त्री-शिक्षा एवं विधवा विवाह के प्रवर्तक महर्षि कर्वे का जन्म महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के अन्तर्गत औरवली नामक छोटे से गाँव में अठारह अप्रैल अठारह सौ अठ्ठावन को अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ। इनके घर का नाम अण्णा साहब था।

अण्णा साहब के पिता रस्सी बट कर अपनी गुजर-बसर करते थे। एक तो उस समय लड़कों को पढ़ाने की ओर यों ही ध्यान नहीं दिया जाता था, दूसरे अण्णा साहब के पिता की स्थिति भी इस योग्य न थी कि वे उसके लिये पढ़ाई का प्रबन्ध कर सकते। निदान अण्णा साहब ने जो कुछ पढ़ा लिखा सब अपने परिश्रम एवं अध्यवसाय के

४.१३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

बल पर। अण्णा साहब ये पढ़ाई के लिए कितनी तीव्र लग्न रखी थी, इस बात का पता इससे लगता है कि उन्होंने छठी कक्षा की तैयारी घर पर की और उसकी परीक्षा देने १२० मील पैदल चल कर गये।

इस प्रकार गरीबी और कष्टों से जूझते हुए उन्होंने मम्बईपोल, रत्नगिरि आदि के स्कूलों व कॉलेजों की परीक्षाएँ पास करते हुए सन् १८८४ में २६ वर्ष की आयु में बम्बई विश्वविद्यालय से बी. ए. किया।

बी. ए. की परीक्षा पास कर लेने के बाद उनके सामने घनोपाजन की स्वर्ण-सम्भावनाएँ थीं। किन्तु उन्होंने अपनी परिश्रमजन्य शिक्षा-सम्पत्ति को व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के लिये काम में लाना पसन्द नहीं किया। शिक्षा के लिये १३ साल बम्बई में रहकर उन्होंने भारतीय जनता और विशेषकर नारी वर्ग की जो दयनीय दशा देखी थी उससे उनकी आत्मा अपने देश-बन्धुओं एवं बहिनो के लिये कुछ करने के लिये तड़प रही थी। निदान उन्होंने पूना में लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित उस फर्ग्युसन कॉलेज में नायकाव के वेतन पर गर्जित पढ़ाना अंगीकार कर लिया जिसकी शिक्षा का उद्देश्य देशभक्तों का निर्माण करना था। अनन्तर वे १८९२ में देश में शिक्षा-प्रसार करने वाली संस्था 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' के सदस्य बन गये और केवल ७५) मासिक पर उसके कॉलेजों में लगभग २५-३० वर्षों तक पढ़ाते रहे। उनके इस त्यागपूर्ण सेवा के उपलक्ष्य में देश के प्रतिष्ठित लोगों ने उन्हें महर्षि की उपाधि दी जिससे अण्णा साहब कर्वे के स्थान पर महर्षि कर्वे प्रसिद्ध हो गये।

महाराष्ट्र में प्रचलित बाल-विवाह की कुप्रथा का शिकार कर्वे को भी होना पड़ा था। १५ वर्ष की आयु में ही इनका विवाह कर दिया गया था जिसका कुफल उन्हें ३० वर्ष की उम्र में भोगना पड़ा। कच्ची आयु में विवाह हो जाने के फलस्वरूप उनकी निरन्तर रुग्ण रहने वाली पत्नी का देहान्त २६ साल की उम्र में ही हो गया। ये छोटे-छोटे बच्चे छोड़कर पत्नी के मर जाने से श्री कर्वे की जीवन-व्यवस्था बिगड़ने लगी। उनका ध्यान जनसेवा के कार्यों से हटकर बच्चों की परवरिश की ओर जाने लगा। महर्षि कर्वे के सामने एक समस्या खड़ी हो गई।

हितचिन्तकों ने उन्हें पुनर्विवाह का परामर्श दिया। परिवार वालों ने लड़की तक देख ली। किन्तु महर्षि कर्वे को अपना जीवनोद्देश्य थाद था। निदान उन्होंने बोधना कर दी कि यदि वे पुनर्विवाह करेंगे तो किसी विधवा से। महर्षि कर्वे अपने बच्चों की समस्या हल करने के साथ विधवाओं के उद्धार का भी श्री गणेश करना चाहते थे। अस्तु, उन्होंने स्वयं विधवा विवाह का आदर्श उदाहरण समाज के सामने रखने के लिए घर वालों के प्रचण्ड विरोध के बावजूद आन-टोबाई नामक एक सुशील विधवा से विवाह कर लिया, जिसका फल यह हुआ कि उन्हें जानि से बाहर कर दिया गया और जब वे अपनी पत्नी को लेकर गाँव में माता-पिता और भाई से मिलने गये तो उन्हें घर के बाहर जानवर बाँधने के स्थान पर ठहराया गया।

महर्षि कर्वे ने इस तिरस्कारपूर्ण व्यवहार का बुरा नहीं माना और पूना लौटकर श्री उद्धार के काम में लग गये। उन्होंने विचार किया

और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विधवाओं की दुर्दशा, कन्याओं का उत्पीड़न और बाल-विवाह की कुप्रथा का मुख्य हेतु स्त्री-शिक्षा का अभाव है। यदि-विधवाएँ एवं कन्याएँ शिक्षित एवं प्रशिक्षित हो कर अपने पैरों पर खड़ी हो सकने योग्य हो जायें तो उनकी स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है। निदान उन्होंने हिमालय बहुक नामक स्थान पर ५७ विधवाओं और १९ कन्याओं अनाथ कन्याओं को लेकर एक आश्रम की स्थापना की।

इस आश्रम में अनाथ विधवाओं तथा कन्याओं की शिक्षा के साथ-साथ साधारण घरेलू-धन्यों में भी प्रशिक्षित किया जाने लगा। कुछ समय बाद उन्होंने आश्रम को दो शहराओं में विभक्त कर दिया। एक अनाथ विधवाश्रम और दूसरा कन्या विद्यालय। अनाथ विधवाश्रम की विधवाएँ पढ़ने के साथ जो काम-धन्दा करती थीं, उसकी आमदनी बालिका विद्यालय के खर्च में काम आने लगी।

इस सत्कार्य में भी महर्षि कर्वे को कुछ कम कह नहीं पड़े। इसके लिये उन्हें न जाने कितनी आलोचनाओं, लांछनाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे सब कुछ धैर्यपूर्वक सहते हुए निरन्तर अपने प्रयत्नों तथा प्रचार में लगे रहे। विधवा-विवाह निषेध के समान ही उस समय बालिकाओं का पढ़ना भी बुरा माना जाता था। विद्यालय चलाने के लिये लड़कियों का मिलना कठिन हो गया, पर महर्षि कर्वे हिम्मत न हारे। वे घर-घर जाकर लोगों को स्त्री-शिक्षा का महत्त्व समझाते, सफ़ाओं में बचपन देने और सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का लाभ बतलाते। धैर्यपूर्ण प्रयास फलीभूत हुआ और लोग धीरे-धीरे लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय में भेजने लगे।

प्रारम्भिक अध्यापन-काल के लिये महर्षि कर्वे ने अपनी पत्नी को शिक्षा दी थी। उसका उपयोग करने के लिये वे कॉलेज में पढ़ाने के बाद जितना समय पड़ते, सब लड़कियों को पढ़ाने में लगाया करते थे। धीरे-धीरे बालिका विद्यालय का विकास होने लगा और लोगों की लड़कियों के स्कूल भेजने की झिझक टूटने लगी।

लड़कियों के पढ़ने से स्कूल का खर्च बढ़ गया। आमदनी का कोई रास्ता नहीं था। स्त्री-शिक्षा के विरोध के कारण कोई सहायता देने को तैयार न था। बड़ी कठिन समस्या थी। किन्तु महर्षि कर्वे ने इसे भी हल कर लिया। उन्होंने अपनी सारी जमा पूँजी, बीमा की ५ हजार की पॉलिसी विद्यालय को दान कर दी। इतना ही नहीं उन्होंने घर के अनेक आवश्यक खर्च कम कर दिये और अपने ७५) रुपये वेतन में से भी कुछ अंश विद्यालय को नियमित रूप से देने लगे।

महर्षि कर्वे का वह सराहनीय त्याग देखकर धनवानों की आँखें खुलीं, तब उन्होंने भी धीन-मेख करते हुए कुछ-कुछ सहायता देना शुरू कर दिया जिससे विद्यालय तथा विधवा आश्रम का काम ढंग से चल निकला। महर्षि कर्वे की तपस्या से अभिभावकों का अज्ञान दूर हुआ और अब उन्होंने निःसंकोच बालिकाओं को पढ़ने भेजना शुरू कर दिया, जिसका फल यह हुआ कि विद्यालय की प्रगति देखकर समाज के उदार दानियों ने आश्रम की प्रोपर्टियों के स्थान पर पक्का भवन खड़ा कर दिया जो महर्षि कर्वे को यज्ञ पताकर के समान समाज-विरोधी तत्त्वों तथा खड़िवादी प्रांतगाधियों का चुनौती देने लगा।

१९१५ ई में बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन के समय समाज-सुधार के मंच से बोलते हुए महर्षि कर्वे ने घोषणा की — अगले वर्ष जब वे साठ साल की आयु पूरी करके अध्ययन-सेवा कार्य से निवृत्त होंगे तब इस बालिका विद्यालय को जापानी महिला विश्वविद्यालय के ढंग से महिला विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने का प्रयत्न करेंगे। जनता ने उनकी इस सृजनात्मक घोषणा का स्वागत किया और यथासम्भव हर प्रकार की मदद करने का वचन दिया।

निदान जब वे सन् १९१६ में सेवा-निवृत्त हुए तो विश्वविद्यालय की योजना में लग गये। उन्होंने फकीरी धारण कर ली और झोला झालकर अनुदान माँगने के लिये निकल पड़े। वे १२ वर्ष तक सम्पूर्ण भारत में भिक्षा माँगते फिरे। उन्होंने हरिद्वार से रायेश्वरम् तथा कर्नाटक से लेकर कलकत्ता तक अनेक बार यात्राएँ कीं, किन्तु जब विश्वविद्यालय को पूर्णतः आधुनिक, आदर्श, स्थायी, आत्मनिर्भर तथा सर्व विषयक बनाने के लिये देशाटन से पृथ नहीं पड़ा तो वे विदेश भ्रमण के लिये चल दिये और सन्त-आठ साल तक योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, जापान, मलाया आदि देशों की यात्रा करते रहे। इस प्रकार वे निरन्तर बीस साल तक विश्वविद्यालय के लिये भिक्षा माँगते फिरे। यद्यपि इस समय तक उनकी आयु ७५ वर्ष की हो चुकी थी तथापि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये शायद और भी अनेक वर्षों तक प्रयास को जारी रखते, यदि पर्णकुटी पूना के धनोपार्जी समाज-सेवक श्री नानजी ठाकरास्त्री एक मुश्त १० लाख रुपये देकर उनकी आवश्यकता पूरी न कर देते।

निदान निरुपग्रह समाज-सेवक महर्षि कर्वे ने समस्त प्राप्त धन-राशि लगाकर बालिका विद्यालय के साथ-साथ महिला विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी। इतना ही नहीं, उस समय जब महात्मा मालवीय जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विख्यात तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति भी विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा न करा पाये, महर्षि कर्वे ने बालिका विद्यालय की तरह महिला विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा स्वीकार कर ली।

इस प्रकार भारत के दलित तथा गरीब-वर्ग के लिये उन्नति व विकास एवं स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त कर महर्षि कर्वे एक सौ चार वर्ष की दीर्घ आयु का उपभोग कर मुक्त हो गये।

हिमालय सा विराट व्यक्तित्व पं. गोविन्द वल्लभ पंत

कुमार्यु के आनंद में खिली एक पुष्प— छोटा-सा बालक अपने घर के आँगन में बैठा नगराज हिमालय की हिम धवल पेशलाओं को विस्फारित मन से देखा करता था। कितना विशाल और कितना उज्ज्वल है वह पर्वत भी। उसके नात्त मन में सहज आकांक्षा जाग पड़ती उसे देखकर मैं भी वैसा ही विशाल, विराट और उज्ज्वल बन जाऊँ। यह बालक गोविन्द सचमुच अपने व्यक्तित्व को वैसा ही विराट और पावन बनाने में सफल हुआ। वह अपने इस विराट

व्यक्तित्व के कारण भारतीय इतिहास में अपना चिर स्मरणीय स्थान बना गया। पं. गोविन्द वल्लभ पंत के नाम से हम अपरिचित नहीं हैं।

गंगा और हिमालय भारतीय संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। हिमालय का उत्तराखण्ड प्रदेश ही हमारे ऋषियों मुनियों की साधना स्थली रहा है। साम का प्रथम उद्घोष यहीं हुआ था। यहीं के तपोवनों में हमारी आध्यत्मिक संस्कृति मुखरित हुई थी। गंगा और हिमालय से हर भारतवासी का एक सहज निःसर्ग सम्बन्ध है, इनका नाम सुनते ही उनके मन में एक पुलक उत्पन्न हो जाती है। इस अनूठे आकर्षण के पीछे यही भाव छिपा है कि हम भी इन्हीं की तरह विराट, उदार और पावन बनें। बालक गोविन्द ने वैसा ही प्रयास किया और वैसा ही बन गया। हमारे पावन तीर्थ हिमालय के निचले दुर्गम क्षेत्रों में इसलिए निर्मित हुए हैं कि वहाँ जाकर व्यक्ति अपने सुदृढ़ को त्याग कर विराटत्व को पाने की प्रेरणा ग्रहण करें।

पंत जी व्यक्तित्व के हिमालय ही थे। उनके सम्पर्क में आने वालों के मन में ही वैसा ही विकसित होने के संकल्प जागा करते थे वे अपने पास आने वालों को भरपूर प्यार भी देते थे तो उनकी हलाश कुण्ठा पर उन्हें डटते-डपटते भी थे।

१९३४ की बात है हरिकृष्ण त्रिवेदी नामक सज्जन १९३२-३३ के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण थोड़े समय की जेल काटने के बाद उनके पास पहुँचे। उन्होंने बड़ा स्नेह दिया। आन्दोलन में भाग लेने के प्रसंग को लेकर उनकी प्रशंसा भी खूब की। पर उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि अब क्या करने का विचार है, वे बोले— बेकारों का एक संगठन बनाने का एक विचार है तो वे उन्हें फटकारने से पीछे नहीं रहे— “क्या मूर्खों की जमात में अपना नाम लिखाना होगा? जिनके पास बुद्धि होती है वे बेकार नहीं रहते।”

वे छोटे-बड़े हर किसी को पितृवत् स्नेह भी देते थे और अनुशासन में भी रखते थे। यह नहीं कि स्नेह उसके पाँव की बेड़ी बन जाय। त्रिवेदी जी को फटकार दी उसके तुरन्त बाद ही उन्होंने सहायता देने का प्रस्ताव भी रख दिया— “अल्मोड़ा जिले के उद्योग धंधों की स्थिति का अध्ययन कर कोई योजना बना कर लाओ तब आगे की बात बताऊँगा।” वह योजना तो उन महाशय ने नहीं बनायी पर उन्हें सीख तो लग गयी। अब वे हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग में हैं।

यह एक ही उदाहरण नहीं है जिससे उनकी दूसरों की सहायता करने के सहज स्वभाव का परिचय मिलता हो। उनके पास जो भी गया, अपनी जैसी भी समस्या लेकर गया उसका हल पंत जी ने अवश्य किया। त्रिवेदी जी जैसे अनपिणित लोग उनके सहयोग मार्ग दर्शन, आशीर्वाद और सद्भावना के सहारे आगे बढ़े हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा सघन तरु था जिसके नीचे कितने ही व्यक्ति चरण पक्षियों ने कुछ सपने को विश्राम कर अपनी कलान्ति मिटाकर नूतन शक्ति उत्साह पाया था। स्व. पद्मभिमितारामैया ने उनके बारे में लिखा है “पंत जी की मेधा और स्मृति दोनों ही तीक्ष्ण हैं। उनमें अपूर्व वाद-विवाद कुशलता, बात के गर्म तक पहुँचने की शक्ति और अडिग

आत्मविश्वास है। मैंने कभी उन्हें चिन्तित और दुःखी होते नहीं देखा। वह सदैव प्रमत्तचित्त और कार्यरत रहते थे। पन्त जी की रचिबों भी उनके गुणों की तरह ही विस्तृत हैं। उनकी तरह मेधा और स्मृति तो कइयों को ईश्वर देता है। पर उन समत्पओं का उपयोग पत जी ने जिस उदार दृष्टिकोण से देश और समाज के हित में किया वह उनकी तेजस्विता का सबसे बड़ा कारण है। आवश्यकता ब्रम और निष्ठा को जन्म देती है। व्यक्ति स्वयं अपने पत्नी, बच्चों और रिश्तेदारों तक सीमित रहता है। उसकी आवश्यकताएँ भी कम ही रहती हैं। वह सांचता है मेरा व्यक्तित्व काफी विकसित हो गया है इससे मैं अपना काम चला लूँगा। पर जो अपने देशवासियों के साथ वैसा ही परिवार भाव जोड़ लेता है तो फिर उसे अपने व्यक्तित्व को भी प्रखर बनाना ही पड़ता है। इस पथ का अनुसरण उन्होंने आरम्भ से ही कर लिया था।”

अपनी जवानी के दिनों में वे उस क्षेत्र के प्रसिद्ध वकील थे। अपने पक्ष को इस ढंग से प्रस्तुत करते थे कि उनके मुवाकिल के विरुद्ध फैसला देना न्यायाधीश के लिए असम्भव हो जाता था। अंग्रेज जज भी उनकी इस बुद्धिमत्ता और वाक्शक्ति कौशल के काबल थे कहना न होगा कि ऐसे वकील को मुवाकिलों की कमी नहीं रहती होगी। उनकी हजारों रुपयों महाने की आयदनी थी।

यह सब होते हुए भी वे संतुष्ट नहीं थे। उनके इस असंतोष का कारण देश की पराधीनता थी। अतः उन्होंने अपने इस चलती हुई वकालत को छोड़ कर सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। उनकी उस मेधा और बुद्धि का उपयोग उनके अपने लिए ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये हुआ, यह त्याग करके वे घाटे में नहीं रहे। वर्षों तक वे उत्तर प्रदेश मंत्रिमण्डल में मंत्री रहे केन्द्र में भी वे वर्षों तक गृहमंत्री पद सम्हालते रहे।

कोई भी कार्य उनके लिए असम्भव नहीं था। जेर जैसी दसइती हुई समस्याएँ उनके सामने आकर कुत्ते की तरह टुम हिल्टने लगती थीं। यह उनकी टोयता और गहन आत्मविश्वास का ही फल था। विषद काल में धैर्य धारण किये रहना, देशवर्द के समय में विनय और क्षमाशील बने रहना, सभा मण्डपों में प्रखर वक्त्रत्व देना, सुवश में अभिरुचि रखना और शास्त्रों के स्वाध्याय में प्रपाद न करना आदि सद्गुणों से तो उन्होंने अपने आपको विभूषित किया था। इनसे ही बड़ी थी उनकी आन्तरिक निर्मलता, उदार हृदयता, दृढ नैतिक आस्था, गहन अन्तर्दृष्टि और सबके लिए सहज आत्मीयता रखने की आध्यात्मिक विभूतियाँ जिनके कारण उनका व्यक्तित्व महान् बनता गया था।

प्रान्तीय एसेम्बलियों से लेकर स्वतंत्र भारत के केन्द्रिय मन्त्रिमण्डल तक में महत्वपूर्ण पदों पर पन्ती रहते हुए उनका व्यक्तित्व राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता पा गया। उसका कारण उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ भर नहीं थी। वे सच्चे नेता थे। देश के हर नागरिक को उन्होंने अपना आत्मीय स्वजन समझा था। हुआधार भावणों, टोक-टिप्पणियों और विरोधियों की निन्दा करना उनकी नीति कभी नहीं रही हा बोलत थे तो ऐसा जेतते कि श्रोता पत्र-मुग्ध हो सुना करते पर

उस वक्तृत्व कौशल का फायदा ही कभी उन्होंने अपना कुर्सी बगाये रखने में प्रयोग किया है।

उनकी सच्चरिता, उदारता, हृदयस्पर्शी मनवत्त अन्य गुणों के साथ जुड़कर उन्हें सबका चहेता बना गयी थी। उनके घर के द्वार सदा सभी के लिए खुले रहते थे। जो भी उनके सानिध्य में आता वह उनकी आत्मीयता के इस वर्षण से भीग जाया करता था। उन्होंने लाखों लोगो पर पितृवत् स्नेह बरसाया था। छोटे-से छोटे और साधारण से साधारण व्यक्ति की बात भी बड़े ध्यान से सुना करते थे। चाहे दो मिनट का ही समय दें पर वे किसी को निराश नहीं लौटाया करते थे।

इस प्रकार जन-सामान्य से खुलकर मिलने तथा उनकी कष्ट कठिनाइयों को जानने के कारण उन्हें कहीं क्या हो रहा है इसका पूरा पता रहता था। वे जनता का दुःख-दर्द जानने के लिए सरकारी अफसरों पर निर्भर नहीं रहते थे। वे जनता तक सीधी पहुँच रखते थे। इसी कारण कोई सरकारी अफसर उन्हें धोखे में नहीं रख सकता था।

रत जी जब संयुक्त प्रान्त के प्रीमियर थे तब उन्होंने अपने सहयोगी अफसरों को निर्देश दे रखे थे— जनता के पास जाते समय अफसरों घर पर ही छोड़ कर आया करो। हमारा काम जनता पर हुकूमत करना नहीं उसकी सेवा करना है, उनके दुःख-दर्दों को दूर करना है। सब गाँव वालों से सम्भव से मिलना चाहिए। ऐसे समय में छोटे कर्मचारियों को अलग रखना चाहिए। भारत गाँवों का देश है। गाँव का आदमी क्या खाता है, क्या पीता है, कैसे रहता है, उसकी क्या समस्याएँ हैं इन्हें जाने बगैर हम राष्ट्रीय समस्या का समाधान नहीं कर सकते। जब भी गाँव में जाना हो गाँववासियों के फूस के छप्पों में हो-एक मिनट रहना चाहिए। हो सके तो उनके साथ मिल कर एक प्याला चाय-दूध पीना चाहिए।

वे स्वयं भी ऐसा ही करते थे। यही कारण था कि आम हिन्दुस्तानी की कठिनाइयों, समस्याओं का उन्हें पता रहता था। किस प्रदेश के लोग किस प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे हैं इसका अनुमान वे सहज ही लगा लेते थे। फिर उनकी दृष्टि के लिए सरकारी अफसरों को पता लगाने के लिए भेजते थे। वे जानते थे कि अंग्रेजों ने अपना शासन तंत्र उन्हीं अफसरों के बल पर कायम रखा था। उनसे से आधिकार के मन में अफसरशाही ठूसकर भरी पड़ी थी। समय-समय पर वे प्रष्ट तरीके से अपना घर भी धरते थे। उन-से प्रशासन तंत्र पर पुरा निबंत्रण रखते थे किसी अफसर की बालाकी या धूनना उनके सामने टिक नहीं सकती थी।

एक बार उन्होंने एक बड़े अधिकारी से जिले की खाद्य स्थिति के बारे में पूछा। अधिकारी समझता था कि वह अपनी नापटूमी भरी बातों से वस्तुस्थिति में अपनी अनधिज्ञता उन पर प्रकट न होने देगा किन्तु उन्होंने जान लिया कि उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। उन्होंने चले और गेहूँ का भाव पूछा। अधिकारी को कागजे ने खून नहीं। खूब लगाड़ पड़ी उस पर। आज हमारी सरकार का ऐसे ही नितियों को

दरकार है। जो आकस्मिकताओं को नियंत्रण में रख कर ग्रह होने से बचा सके और राष्ट्रव्यापी समस्याओं को हल कर सके।

वे प्रचण्ड विधिवंता, संसदीय विषयों के जानकार और कुशल प्रशासक थे। एक ही व्यक्ति में इतनी सारी क्षमताएँ होना एक आश्चर्य का विषय है। किन्तु यह सब उनके परिश्रम का फल है। आत्म विश्वास के साथ किसी भी क्षमता को अर्जित करने के लिए श्रम किया जाय तो वह कमलसाक्षी हुए बिना नहीं रहती। पत जी इसके अनुपम उदाहरण थे। औपनिवेशिक जमाने में जब संयुक्त प्रान्त के शासन की बागडोर उनके हाथ में थी तब लन्दन की एक सभा में पत— मन्त्रिमण्डल की उपनिवेशीय का मूल्यांकन करते हुए संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने कहा था— 'पूर्ण लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का प्रयोग आशा से भी अधिक सफल रहा। इस मन्त्रिमण्डल में जनता की शिक्षागतों पर नुरन्त काम हुआ। शांति और सन्तुष्टि की नई भावना आयी। प्रयोग का उन्माद बढ़ा। इस सफलता का आधार एक और अनुशासित संसदीय बहुमत का और दूसरी ओर विधायकों का अपने क्षेत्रों में निकट सम्पर्क है।'

वे जब केन्द्रीय गृहमन्त्री थे उन दिनों केन्द्रीय कर्मचारियों ने हड़ताल की। वे किसी भी ऐसे कदम को जो राष्ट्रीय हित के विपरीत होता था पसन्द नहीं करते थे। कर्मचारियों की हड़ताल भी एक ऐसा ही कदम था। जब समझौता का कोई मार्ग नहीं निकल सका तो उन्होंने दृढ़ता का ठोठ अग्रण कर जन-जीवन पर हड़ताल का कुप्रभाव नहीं पड़ने दिया। हड़ताल दूढ़ने के पहले उन्होंने जो कड़ा रुख अपनया था उसके दूढ़ने पर उन्होंने कर्मचारियों के साथ पूर्ण सहानुभूति बरती और पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता लाने का प्रयास किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रदेश के अल्मोड़ा जिले के एक प्राध में जन्मे पत जी का व्यक्तित्व आज के जन-नेताओं के लिए आदर्श है। अब वे हमारे बीच नहीं रहे पर उनका अविस्मरणीय प्रखर व्यक्तित्व और जन-नेतृत्व आने वाले पौढ़ियों का प्रदर्शन करता रहेगा।

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी सरदार पटेल

जर्मनी के एकीकरण में जो भूमिका बिस्मार्क ने और जापान के एकीकरण में जो भूमिका मिक्डो ने निभायी उन्हें विश्व के इतिहास में आश्चर्य माना गया है। ये देश अपने एकीकरण के समय लगे-लगे पाँच करोड़ की जनसंख्या वाले ही थे। किन्तु सरदार पटेल द्वारा किये गए भारत के एकीकरण को क्या संज्ञा दी जाय जिसे दुनिया के अन्य देश उसके विशाल आकार और अपरिमित जनशक्ति को देखते हुए 'उप महाद्वीप' कहा करते हैं। निश्चय ही यह एक आश्चर्य ही कहा जायेगा।

व्यक्ति जब अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को अपने लिए ही सीमित, संकुचित न रखकर राष्ट्र व समाज के स्तर पर नियोजित

करता है तो वह निश्चय रूप से श्रेय व सम्मान का अधिकारी बनता है। सरदार पटेल इस दृष्टि से निश्चित ही उस श्रेय तथा सम्मान के अधिकारी हैं जो उन्हें दिया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिन राष्ट्र नेताओं की कमी को हमारे देशवासी अनुभव करते हैं उन्हीं में से एक वे हैं। आज देश के सामने कोई समस्या आती है तो बरबस मुँह से निकल पड़ता है— 'कश ! आज सरदार पटेल जीवित होते।'

१८७५ में गुजरात के एक सामान्य से कृषक परिवार में जन्मे बल्लभ भाई पटेल कैसे एक सामान्य कृषक पुत्र से भारत के महान् जन-नेता व एकीकरण कर्ता के सम्मानास्पद पद तक जा पहुँचे यह कहानी अनेकानेक बार समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं व पुस्तकों में दोहरायी जा चुकी है और दोहरायी जाती रहेगी। यहाँ उस कहानी को दोहराना मात्र ही अधीष्ट नहीं है। कोई व्यक्ति उस स्थिति तक उस सम्मान तक पहुँचना चाहे तो उन्हें क्या नीति-नीति अपनानी होगी किन स्तरों का समर्थन करना होगा यह भी अधीष्ट है। साथ ही यह भी देखना है कि उन्हें यह दबंगी और बुलन्दी किस महास्रोत से मिली।

कहना न होगा कि सरदार पटेल नेहरू परिवार जैसे सम्पन्न और सम्पन्न परिवार में नहीं जन्मे न उनके पिता व मोतीलाल नेहरू की तरह एक प्रख्यात व्यक्ति ही थे। किन्तु जब थोड़े-से व्यावहारिक मतपेटों के कारण जब गाँधी जी के सामने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नेहरू जी व सरदार पटेल दोनों में से एक को उन्हीं का अवसर आया तो वे भी एक बार जनमत की ओर देखने लगे और उन्हें पटेल व नेहरू दोनों का ही मन्त्रिमण्डल में रहना आवश्यक लगा। स्पष्ट है कि अर्जित कीर्ति और यश किसी भी प्रकार साधन-सुविधाओं युक्त परिवार में जन्म लेने और उनके सहारे पा लेने वाले यश से कम नहीं होगा। बरन् साधनों के अभाव में कठिनाइयों के दुर्गम मार्ग को चीर कर निकलने वाला व्यक्ति अधिक अच्छी तरह से लोकसेवा का कार्य कर सकता है, सोच-समझ सकता है और व्यावहारिक नीति निर्धारित कर सकता है।

किस प्रकार देशी राज्यों का एकीकरण सम्भव हो सका इस बात पर विचार करते हैं तो आश्चर्य ही होता है। देशी रियासतों के शासक राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगे। अंग्रेज सरकार भी भारत को स्वतन्त्र करने समय इन्हें भारत का पाकिस्तान में स्वेच्छक से मिलने या स्वतन्त्र बने रहने की स्वतन्त्रता दे गयी थी। ऐसे एक-दो नहीं सैकड़ों राजा भारतवर्ष में विद्यमान थे। इनका एकीकरण सरदार पटेल जैसा दृढ़ नीति कुशल व्यक्ति ही कर सकता था। इस असम्भव दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाने के कारण ही उन्हें लौह पुरुष कहा जाता है।

गाँधीजी के नेतृत्व में छोट-छोटे लोगों द्वारा अहिंसा के अस्त्र से लड़ा गया स्वतन्त्रता संग्राम सरल हो जाएगा और आधी दुनिया पर राज्य करने वाले अंग्रेज भारत को छोड़ जाने को विवश हो जायेंगे राजाओं का राज्य चला जाएगा उसके स्थान पर प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि राज्य करेंगे, यह बात आजादी के पचास वर्ष पहले सामान्य व्यक्ति सोच भी नहीं सकता था। जो थोड़े से व्यक्ति क्रान्ति या

४.१७ पड़ापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

सत्याग्रह की बात करते थे उनकी बातों को लोग श्रोत्रचिल्ली का स्वप्न समझते थे। किन्तु वह सब सत्य होकर रहा। जिन्होंने बौद्धा साहस दिखाया अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से ऊपर ठठकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता लाने के प्रयत्नों में लगे, उन्हें श्रेय भी मिला। सरदार पटेल भी श्रेय के भागी बने। निरन्तर चक्कर तो चलता ही रहता है चल ही रहा है। जो ईश्वरेच्छा होती है वह तो पूरी होकर ही रहती है। पर श्रेय उन्हें मिला है जो उस इच्छा को समझकर युग धर्म पालन करने का साहस करते हैं। भारत का एकीकरण करने के समय सरदार पटेल ने जिस सूझ-बूझ, नीति कौशल व बुद्धिमत्ता का परिचय दिया वह समय की आवश्यकता को देखकर एक महान् साहस का जना था। ठीक वैसा ही साहस जैसा कि अब्राहम लिंकन ने अरबेल गुलाबों को मानव अधिकार दिलाने के लिए अमेरिका में गृह युद्ध स्वीकार था।

हैदराबाद के राजाका विद्रोह को कुचल कर उसे तीसरा पाकिस्तान बनने से बचाने के लिए भी सरदार पटेल ने बहुत बड़ी जोरिखम उठायी थी। स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरू भी उस पर दबाव डालने से हिचकिचा रहे थे। इसे साहस ही नहीं दुस्साहस भी कहा जा सकता है, कभी-कभी सत्कार्यों की सफलता के लिए ऐसे दुस्साहस की आवश्यकता अनिवार्य-सी हो जाती है।

सरदार पटेल की इस दृढ़ता का आधार उनकी आत्मा की अमरता में दृढ़ विश्वास था जो उनके अवचेतन में आरम्भ से ही विद्यमान था और जिसे आगे धकेलकर उन्होंने पर्याप्त विकास व पोषण दिया था। बचपन में उनकी काँछ में एक भयंकर फोड़ा हो गया था। उस फोड़े को फोड़कर भवाद निकालने का देशी तरीका अपनाया गया—लोहे की सलाख को गर्म करके उसे दागने का। गर्म सलाख और कोमल बालक को देखकर सम्भावित पीड़ा की कल्पना से दागने वाले बयस्क का हाथ भी काँपने लगा पर वह रे सहमी पटेल। उन्होंने स्वयं ही सलाख उठायी और फोड़े में घुसा दिया। यह अग्नि की अमरता में विश्वास करने के उस अवचेतन में स्थित आध्यात्मिक गुण का ही परिणाम था कि वह बचपन में ही इतना साहस दिखा सके।

किसान के घर पैदा हुए बल्लभ भाई की पढ़ाई मैट्रिक से आगे नहीं बढ़ पायी थी कि परिवारिक परिस्थितियों से विवश हो उन्हें मुख्तारी की परीक्षा पास करके वकालत करनी पड़ी। अपनी लगन और कर्मनिष्ठा के बल पर वे शीघ्र ही कस्बे के नामी वकील बन गये आगे पढ़ने की इच्छा फिर भी बनी रही। काफी मेहनत और बचत करके उन्होंने इंग्लैण्ड आकर बैरिस्टर की परीक्षा पास करने के लिये धन संचित किया, पासपोर्ट भी बनवा लिया किन्तु अपने बड़े भाई विठ्ठल भाई की इच्छा को देखकर उन्होंने अपना इंग्लैण्ड जाना स्थगित करके उन्हें वह धन दे दिया और अपना पासपोर्ट भी उनके नाम करवा दिया। इससे उनकी त्यागवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है।

अपने बड़े भाई के इंग्लैण्ड से लौट आने के दो वर्ष बाद १९१० में वे इंग्लैण्ड गये। वहाँ वे सब प्रकार के शौक मौज से दूर रहते हुए गहन अध्ययन में लीन हो गए। इंग्लैण्ड की कड़के की शीत में भी अपने आवास से कई मील दूर स्थिति लाइमेरे में जाकर सुबह

से शाम तक पढ़ते। इस लगन और श्रम का पुरस्कार उन्हें यह मिला कि वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

इतनी मेहनत के बाद पाई बैरिस्टर की सनद से वे अधिक दिनों तक लाभ नहीं उठा सके। इसके द्वारा अपने लिए काफी धन उपार्जित कर सकने के निजी हित को उन्होंने अपने देश व देशवासियों के हित पर न्योछावर करने में देर नहीं की। इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर स्वदेश लौटें और वकालत करने लगे। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। १९१७ में वे गाँधीजी के सम्पर्क में आये उसके बाद तो उनकी वकालत कम होती गयी और देश के कार्य बढ़ते गये।

१९२० में कलकत्ता व चणपुर के कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पारित हुआ तो सरदार पटेल ने बैरिस्टरी त्याग दी। अपने पुत्र-पुत्रियों का सरकारी शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाना बन्द कर दिया। गुजराना विद्यापीठ की स्थापना उन्होंने इन्हीं दिनों की। इसके लिए वे बर्मा तक दौरा करके दस लाख रुपये एकत्रित कर लाये।

नागपुर के झण्डा सत्याग्रह की सफलता का बहुत कुछ श्रेय सरदार पटेल को ही जाता है। पं. जवाहर लाल नेहरू व चितरंजन दस आदि बड़े-बड़े नेताओं के पक्ष में नहीं होते हुए भी इसका सफल होना सरदार पटेल की कर्मठता का परिचय था। सरदार पटेल ने जो भी काम किया जो-जान से लगाकर किया, आधे-अधूरे मन से नहीं। इस कारण उनके सारे ही कार्य जो पहले असम्भव दिखते थे सम्भव हो सके।

कोरसद के श्रमीणों को डाकुओं व सरकार की पुलिस के दोहरे शोषण चक्र से बचाने में उन्हें का हाथ था। डाकुओं का इस इलाके में भयंकर आतंक फैला हुआ था। सरकार ने रक्षा के लिए जो पुलिस तैनात की वह डाकुओं के आने पर चुप बैठी रहती थी, जबकि जनता को उनके खर्च के लिए प्रतिवर्ष हजारों रुपये टैक्स देना पड़ता था। सरदार पटेल ने ग्रामीणों की आत्मरक्षा के लिए तैयार किया—नवयुवकों का एक दल इसके लिए गठित किया गया। सरकार से टैक्स न लेने के लिए लड़ाई की गयी। इस तरह सरकार और डाकुओं की लूट से बोरसदावासियों को बचाया गया।

बारहोली के कृषक सत्याग्रह में तो सरदार पटेल ने कमाल ही कर दिखाया था। वहाँ मेहनती 'कुनची' किसानों पर सरकार अनुचित रूप से कर भार लादती जाती थी। वे खूब मेहनत करके खूब कमाई करते थे तो भी विदेशी सरकार उनका खूब शोषण करना चाहती थी। इसे शोषण से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सरदार पटेल से राम पृच्छी उन्होंने पहले उन्हें ठेक-कजाकर आन्दोलन के लिए पूरी तरह तैयार कर लिया। उसके बाद ही सरकार का कर देना बन्द कर दिया। सरकारी कर्मचारी लगान वसूलने आये तो उत्तर नकारात्मक ही मिला। उनके लिए सच्ची सरकार तो 'स्वराज्य आग्रम' में बैठे बल्लभ भाई पटेल हो गए। सरकार ने किसानों को साप, दाप, टण्ड भेट हर गति से डुकाने का प्रयास किया पर वे अब डुकाने को किसी भी कीमत पर

नैया। नहीं थे। पुलिस, फौज, कुर्बी, नीलामी, लाठी, मार आदि सब शस्त्र बेकार रहे। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा।

स्वतन्त्रता के पहले तथा स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रोत्थान में सरदार पटेल की अनूठी भूमिका रही। इस भूमिका का आधार उनका त्याग, तप, उनकी निष्ठा भक्ति आदि थी। सरदार पटेल अब हमारे बीच नहीं रहे पर उनका यह कर्तव्य हमें सत्त्वधर्मों में जुट पड़ने व उन्हें सफल बनाने के लिए समुचित साहस व मार्गदर्शन देना रहेगा।

भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि लालबहादुर शास्त्री

काशी विद्यापीठ का एक छात्र छुट्टियों में अध्यापक के साथ उनके गाँव गया और वहाँ कई दिनों तक रहा। अध्यापक जिस मकान में रहते थे, उसके पास ही एक संगीत प्रेमी वृद्ध व्यक्ति सन्त कबोर का यह भजन गाया करता...

झीनो झीनो घीनी बदरिया

यह चार सुरना पुनि ओढ़ी ।

ओढ़ि के मैली कौन्हीं बदरिया,

दास कबोरा जतन से ओढ़ी

ज्यों भी त्यों धर दीन्हीं बदरिया ॥

छात्र गीत की पंक्तियाँ सुनकर भाव-विभोर हो उठता, जैसे उसकी समाधि लगा गई हो। एक बार वह ऐसी भाव समाधि में खोया हुआ था कि अध्यापक ने उसका ध्यान भंग किया— 'बया सोच रहे हो' यह पूछ कर। सोच रहा हूँ— 'मैं भी अपनी बदरिया जतन से ओढ़ कर ज्यों धर दूँगा— गुरुजी।'।

अध्यापक की आत्मा प्रफुल्लित हो गयी। और उन्होंने प्रोत्साहित हुए कहा— 'खूब जतन से ओढ़ना बेटे।'।

और छात्र ने अपना वादा जीवन भर निभाया। क्षणिक भ्रवावेष्ट में आकर आदर्शों और सिद्धांतों की कंटीली राह पर बढ़ने का संकल्प तो कई लोग कर लेते हैं पर दृढ़ता और मानसिकता के अभाव में कितने ही लोग उन संकल्पों से विधालत हो जाते हैं। लेकिन जिस छात्र का उल्लेख ऊपर किया गया है वह उन परिस्थितियों में भी जबकि उन्हें पैसों के अभाव में तैरकर नदी पार करनी पड़ती थी तब से और जब वे भारतीय जनता के सर्वोच्च प्रतिनिधि पद पर रहे तब तक एक दिन भी अपने इस आदर्श से विचलित नहीं हुए। इस संकल्प जयी, दृढ़ इस्तेमाल से भी अधिक कठोर और मोम से भी मुक्तव्यम व्यक्तित्व के स्वामी का नाम था— लालबहादुर शास्त्री।

लालबहादुर शास्त्री का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगलसराय के एक साधारण परिवार में हुआ। उनके पिता श्री रामसदा प्रसाद श्रीवास्तव एक साधारण से अध्यापक थे। अध्यापन की वृत्ति से जो कुछ भी वेतन मिल जाता उसी में परिवार की सभी आवश्यकताओं को पूरा करते और जरूरतमंद गरीब छात्रों की मदद भी। श्रीवास्तव जी के शिष्य उन पर बड़ी प्रभाव रखते थे और वे भी अपने शिष्यों

को पुत्रवत् प्यार करते। कई बार विद्यार्थी देर रात तक भी उनके पास पढ़ा करते। ऐसे सद्दय और उदार चरित्र के श्रीवास्तव जी का प्रभाव लालबहादुर शास्त्री पर भी पड़ा। लेकिन पिता की कठोरता अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। वे अपने लाइले को अल्पायु का ही छोड़कर इस संसार से चले गये।

घर की आर्थिक स्थिति तो पहले से ही कमजोर थी अब और कमजोर हो गई। अब कान्सल्व की मूर्ति माँ तपदुलारी का ही सहारा रह गया। उन्होंने एक और सहाय खोज लिया— पुण्यतीया गंगा का वे घाटों गंगा के किनारे बैठे रहते और गंगा से बातें किया करते गंगा में ही उन्होंने तैरना सीखा— माने जीवन के सागर में वे तैरना सीख रहे हों। गंगा के घाटों से उन्होंने जीवन के सघर्षों को सहना और उन पर विजय पाना सीखा।

परिस्थितियाँ चाहे जो रही हों पर स्वर्णिमान उनमें कूट-कूट कर घरा हुआ था, जो अपनी प्रवचना न होने देने के लिए कभी किसी की सहायता स्वीकार नहीं करने देते। १९१८ की घटना है, तब उनकी आयु लगभग १२ वर्ष की रही होगी। एक बार गंगा पर अपने साथियों के साथ मेला देखने गये। वापस लौटने लगे तो उनके पास एक भी पैसा नहीं था, जिसे नाविक को दे कर गंगा पार कर सकें। वे किनारे पर ही रुक गये। मित्रों ने पुत्र तो उन्होंने कहा मैं बाद में आऊँगा। और मित्र लोग जब वहाँ से चले गये तो गंगा के उस पार तक लालबहादुर ने कपड़ी चौड़ा पाद तैर कर ही पार किया।

शास्त्री जी के पिता का देहान्त होने पर माँ उन्हें लेकर नाना के यहां आयी और नाना के स्नेह संरक्षण में ही वे पढ़ने के लिए 'हरिश्चन्द्र स्कूल' में दाखिल हुए। जिन दिनों वे हरिश्चन्द्र स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्ही दिनों गांधी की आँधी आयी और सारे देश में असहयोग की हवा सहने लगी। लालबहादुर के हृदय में देश प्रेम की आग छपन हुई और विदेशी सरकार से पातृभूमि को मुक्त कराने की उमंग जाग उठी। असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के कारण वे विद्यार्थी जीवन में ही जेल यात्रा कर आये। जब जेल से छूटे तो माँ ने समझाया कि "हम लोगों को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। तुम्हारे पिताजी तुम्हें डेढ़ वर्ष का छोड़ कर स्वर्ग सिंघार गये थे और हम निराश्रित होकर यहाँ आये हैं। तुम्हारे नानाजी की मदद से तुम्हें स्कूल में घनी करवाया गया। इसलिए अपना जीवन बनाने की सोचो बिना आगा-पीछा सोचे यदि इस तरह की कूट-पटांग इरकते करने लगोगे तो इन तपस्याओं का कोई परिणाम नहीं निकलेगा।"

पोली-पाती माँ को लालबहादुर ने समझाया— "तुम चिंता न करो माँ। मुझे जिस प्रकार देश के प्रति कर्तव्य पालन की अभिलाषा है, वैसे ही परिवार के प्रति भी मैं अपने उत्तरदायित्वों को भूल नहीं सकता। मैं दोनों का ही अच्छी तरह पालन करूँगा।"

इसके बाद वे काशी विद्यापीठ में घनिष्ठ हुए और वर्ष बाद शास्त्री की परोक्षा अच्छी प्रेमी में पास की। अनेक व्यक्ति इस नाम से समझने लगते हैं वे कोई संस्कृत पण्डित रहे होंगे पर सच्चाई यह है कि उस समय काशी विद्यापीठ की यह उपाधि स्नातक डिग्री के समतुल्य समझी जाती थी। इसका नाम भी ए. न रखकर शास्त्री इसलिए रखा

४.१९ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

गया था कि लोगों में भारतीयता की भावना को बल मिले। शास्त्री हो जाने के बाद वे अपने कई साथियों को साथ लेकर लखनऊ लजपत राय की 'सरवेण्ट आफ पीपुल्स सोसाइटी' में शामिल हो गये। लाला लजपत राय की इस संस्था का एकमात्र ध्येय देश सेवा और समाज सेवा ही था। संस्था के समस्त सदस्य अपना सारा समय सोसायटी के कार्यों में ही लगाने और सोसायटी की ओर से उन्हें निर्वाह व्यवस्था दिया जाता था, जिसके द्वारा वे अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे।

पीपुल्स सोसायटी' में शामिल होकर शास्त्री जी ने सर्वप्रथम मुजफ्फरनगर जिले में हरिजन उद्धार का काम किया। वहाँ कुछ दिनों तक इस कार्यक्रम को चलाकर वे इलाहाबाद आ गये और वहाँ किसान आन्दोलन में भाग लेने लगे। इलाहाबाद में ही उन्होंने कांग्रेस संगठन में पदार्पण किया और जिला कांग्रेस कमेटी के मंत्री बनाये गये।

इससे पूर्व सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हो चुका था। ललिता देवी उनकी जीवन साधन में अपूर्व सहयोगी सिद्ध हुई। उन्होंने विवाह संस्कार के समय ही एक प्रकार से अपनी अधींगनी को अपने जीवन ध्येय के सम्बन्ध में बता दिया था। परम्परा के अनुसार उन्हें जब ससुराल पक्ष की ओर से दहेज में काफी सामान दिया जाने लगा तो उन्होंने दहेज लेने से इन्कार कर दिया। ससुराल वालों द्वारा बहुत आग्रह करने के बाद उन्होंने खूटी को धोती और कुर्ते का कपड़ा तथा मात्र एक घास का ही स्वीकार किया।

कांग्रेस संगठन में उनको ओ पी कार्य सौंपा जाता था उसे वे पूरे मनोयोग से करते, उनके लिए जैसे वही काम ईश्वर की उपासना बन जाता। यही कारण था कि उन्हें सौंप गया प्रत्येक कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होने की निश्चित गारण्टी बन जाता था, फलतः बड़े-बड़े नेता उन पर विश्वास करने लगे। सन् १९३७ से १९४७ के बीच का समय उनके लिए सर्वांगपूर्ण ढंग से देश सेवा के काम में ही बीता और सच्चे लोकसेवी की भूमिका वे कर्तव्यपूर्वक निभाते रहे।

उनकी आवश्यकतायें बहुत ही सीमित रहीं और करावास के समय भी वे अपने लिए कोई माँग नहीं करते। जेल में उनके साथी छोटी-छोटी चीजें अधिकारियों से माँगते, प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते या ज़िद करते थे, वही शास्त्री जी अपनी चीजें दूसरों को दे कर प्रसन्न होते थे। एक बार उन्होंने अपना अच्छे वाला लैम्प अपने रुबी को दे दिया था और कड़ुवे तेल के दिंदे के सामने बैठकर अपना पढ़ने का शौक पूरा करते रहे।

जब चाहे तब अपने को बिना साधनों के रख लेना और वह भी व्यवस्थित क्रम में बिना कोई व्यक्तिरेक साथे उनकी विशेषता थी। और इस विशेषता पर जेल अधिकारी बड़े अश्चर्यचकित थे। जेल में वे अपना सारा समय पढ़ने में ही व्यतीत करते और प्रायः लिखते भी रहते। जेल में उन्होंने 'मैडम ब्यूरी' — की एक सुन्दर पुस्तक लिखी। आजादी से पूर्व गठित मन्त्रिमण्डल में उत्तर प्रदेश के गृह मंत्री बने, समदीय सचिव बने और जब उत्तर प्रदेश में गृहमन्त्री थे

जब उन्होंने कांग्रेस का महामन्त्री पद धारण किया। उनको गणना लौह-व्यक्तित्व वाले महापुरुषों में री। संघर्ष में ही दुबले पतले और ठिगने कट के साधारण से दिखने वाले व्यक्ति में कठोर परिश्रम, निष्ठा, विश्वास को देखते हुए उन्हें लौह-पुरुष कहना अनिवार्य ही था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब संयुक्त प्रान्त का प्रथम मन्त्रिमण्डल गठित हुआ तो उन्हें पुलिस और यातायात मंत्री बनाया गया। अगले चुनाव में वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल विभाग के मंत्री बनाये गये। इस विभाग में अपने कार्यकाल के बीच एक सामान्य रेल दुर्घटना के लिए स्वयं को नैतिक दृष्टि से दोषी अनुभव कर मन्त्री पद से स्तोफ दे दिए।

सन् १९६३ में उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए एक बार फिर मन्त्री पद छोड़ा। उनकी निस्पृहता ने जनता को बहुत प्रभावित किया। नेहरू जी उन्हें इतना मानते थे कि अन्त समय निकट देखकर अप्रत्यक्ष रूप में शास्त्री जी पर ही अपना विश्वास व्यक्त किया। नेहरू जी के देहावसान पर शीर्षस्थ नेताओं ने भी उनमें ही अपना विश्वास व्यक्त किया और उनके ही हाथों में देश की बागडोर सौंपी।

प्रधानमन्त्री पद का भार सम्हालते हुए उन्होंने सन्देश में कहा था— "हम अपने पड़ोसी देशों के साथ मित्रतापूर्ण किन्तु आत्म सम्मान के साथ सम्बन्ध बनाना चाहते हैं।" वे थोड़े ही समय तक रह पर उस अवधि में भी उन्होंने अपना वह कथन सिद्ध कर दिखाया। योरोप के कई देशों और अमेरिका तथा रूस जैसे प्रतिद्वन्दी राष्ट्रों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध बनाये।

पाकिस्तान के साथ भी उन्होंने इसी तरह के सम्बन्ध बनाना चाहे, पर पाकिस्तान ने जब यह सेचकर भारत पर आक्रमण किया कि नेहरू जी के बाद भारत की स्थिति कमजोर हो गयी है तो उनके नेतृत्व में भारतीय सेनाओं ने हटकर मुकामला किया और पाकिस्तान को बड़ी बुरी तरह हारना पड़ा। इस अवसर पर शास्त्री जी की लोकप्रियता का प्रमाण भी मिल गया। सारे देश ने शास्त्री जी के नेतृत्व में ऐसे अनुशासन और देशभक्ति का प्रमाण दिया कि पहले वैसा शायद ही दिखाई पड़ा हो।

प्रधानमन्त्री पद पर पहुँचकर भी शास्त्री जी ने अपनी साधक स्तर को सादगी को नहीं छोड़ा। मन्त्री होने के बाद कुछ शासकीय कार्यकारी उनके निवास स्थान को 'एयर कण्डीशण्ड' बनाने के लिए आये तो उन्होंने मना कर दिया। भारतीयता के वे इतने अनन्य भक्त थे कि जब कभी विदेश जाना होता तो वे विदेश में भी भारतीय भोजन ही करते।

पाकिस्तान को युद्ध में कड़ी मार मिलने के बाद उन्होंने रूस की मध्यस्थता पर सांख्य वार्तालाप करना स्वीकार कर लिया। यह वार्ता जनवरी १९६५ में ताश्कन्द में हुई। शास्त्री जी और पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खान ने कराँसजिन की मध्यस्थता में युद्ध रोकने और जीती हुई बर्फीन लैरा देने तथा बाद में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाने का समझौता किया।

११ जनवरी को यह वृत्ति सम्पन्न हुई और संयोग उसी रात उनका स्वास्थ्य इतने गम्भीर रूप से खराब हुआ कि कुछ ही घिनटों में उनके प्राण पलंग उड़ गये। उनकी मृतदेह पर भी ऐसी शांति थी जैसे वे कह रहे हैं कबोर के स्वरा में कि— 'मैंने अपनी नदरिया ज्यों ज्यों धर दीन्हीं है।'

समाज को दिशा देने वाले— सातवलेकर

परिस्थितियों की प्रतिकूलता और वस्तुनिष्ठ समस्याओं को व्याप्त देखते हुए कई युवक भी अपने आप से निराश हो जाते हैं और जीवन में कोई प्रगति नहीं कर पाते ऐसे निराश और हारे हुए व्यक्तियों को यदि बताया जाय कि चलोस वर्ष का एक ड्रिग मास्टर— जिसे केवल ५० रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता था अचानक नौकरी छोड़ बैठ या छुट गयी। उस हालत में जबकि परिवार के पास निर्वाह के पर्याप्त तो क्या काम-धन्दा का साधन भी नहीं थे, परिस्थितियों से सघर्ष करता है, तनसे लड़ता है और न केवल परिस्थितियों पर कब्ज़ पाता है बल्कि सफलता के नये प्रतियोग स्थापित करता है। चलोस वर्ष की आदु तक चित्रकला के अध्यापक और उनके बाद दस वर्ष तक इधर-उधर भटकते रहने वाले परिस्थितियों के हाथों खेलने वाले अचानक परिस्थितियों के अपने हाथ में कठपुतली की तरह नचाने वाले कैसे बन गये— उसकी एक लम्बी कहानी है।

अपने हाथों अपने भविष्य का निर्माण करने वाले श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का जन्म १९ सितम्बर, १८६७ ई. को हुआ उनके पिता श्री दामोदर भट्ट पैतृक व्यवसाय पौरोहित्य द्वारा जीविक चलते थे। इस कर्म से गुजारे लक्षक आमदनी ही हो पानी थी सो परिवार में सुख-सुविधाओं के साधनों का अभाव ही था। श्रीपाद जी से पूर्व दामोदर भट्ट के यहाँ जो भी सनतने जन्मी, अल्पवय ही रही। श्रीपाद जी ने अब कुछ आदु प्राप्त कर ली तो माता-पिता को यह विश्वास हुआ कि अब उनकी गोद सूनी नहीं रहेगी। अथवा दुबारा उन्हें एक संतान का मुँह देखने के लिए तरसना नहीं पड़ेगा।

अब वे ८ वर्ष के हुए तब उन्होंने कोल गाँव से— जहाँ कि उनका घर था दो-ढाई सौ मील दूरी पर स्थित अरमोवा की बाड़ी तक पैदल यात्रा की और वहाँ उपनयन संस्कार कराया। उपनयन के बाद श्रीपाद मराठी स्कूल में जाने लगे। चूँकि वे अपने माता-पिता के अकेले और मायगुन के बैठे थे सो उस समय उपलब्ध साधनों में जैसा भी हो सकता था अच्छा लाड़ किया जाता। लाड़-दुलार तो उन्हें भरपूर मिलता पर माता-पिता इस ओर से देखभाल नहीं थे कि बच्चों को लाड़-दुलार के अतिरिक्त भी कुछ और चाहिए। वह 'कुछ और' था बालक के व्यक्तित्व को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाने के लिए अवश्यक पारिवारिक वातावरण। श्री दामोदर भट्ट और लक्ष्मीबाई ने इसका बराबर ध्यान रखा। इन संस्कारों से फलित श्रीपाद विद्वार्जन की साधना में सफलतापूर्वक लगे रहे। चौदहवें वर्ष ही छठी कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने मराठी स्कूल छोड़ दिया।

अब आगे पढ़ने के लिए निश्चय किया गया कि अंग्रेजी सीखें जाय। इसके लिए श्रीपाद को अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कराने की बात सोची गयी। जिस स्कूल में उन्हें भर्ती कराने की बात सोची गयी उसकी फीस आठ अने प्रतिमास थी। यह कीस जुटाना दामोदर भट्ट जी के लिए बड़ा कठिन लगा। पौरोहित्य कर्म द्वारा अपना गुजारा करने वाले भट्ट परिवार के लिए यह फीस बहुत ही ज्यादा थी इसीलिए उन्होंने श्रीपाद से कह दिया— 'हमें अंग्रेजी को जरूरत नहीं है और नहीं हमारी शक्ति इस योग्य है कि अंग्रेजी स्कूल का खर्च बदास्त करें। घर की आर्थिक स्थिति ने श्रीपाद को आगे पढ़ने से रोक दिया तो उन्हें परिवार का गुजारा चलाने के लिए हाथ बंटाने को भी विवश कर दिया। वे अपने पिता के साथ पौरोहित्य का काम सीखकर लोग्ने के यहाँ कर्मकाण्ड करवाने के लिए जाने लगे, किन्तु उनकी ज्ञानपिपासा तो अब भी ज्वलन्त थी। सो दक्षिणा में उन्हें जो पैसे मिलते थे उससे वे कितना खरीदते और पढ़ते।'।

पुस्तकों की क्वचस्या इस प्रकार हो जाने के बाद श्रीपाद जी स्कूल में भर्ती होने के लिए उस स्कूल के हैडमास्टर से मिले और उसको अपनी सारी परिस्थितियाँ बतायी। अंग्रेजी स्कूल के हैडमास्टर पर्यटकर श्रीपाद की श्रमपिपासा से बड़े प्रभावित हुए और उनकी परिस्थितियों के बारे में सुनकर बड़े द्रवित हुए किन्तु वे अपनी परिस्थितियों, सरकारी नियमों से इतने प्रतिबन्धित थे कि वे चाह कर भी कोई सहयता नहीं कर सकते थे। 'हाँ, उन्होंने इतना आश्वासन जरूर दिया कि वे श्रीपाद को पढ़ने-लिखने में व्यक्तिगत सहयोग जरूर देते रहेंगे। श्रीपाद ने इस अवसर को भी अपना सौभाग्य माना और उन्होंने पर्यटकर से अंग्रेजी सीखी। यह अध्ययन वे व्यक्तिगत रूप से ही करते रहे। संस्कृत में तो श्रीपाद जी प्रारम्भ से ही रुचि रखते थे सो इस देव भेषा में उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी।

शिक्षा पूरी करने के बाद श्रीपाद ने विचार किया कि केवल पौरोहित्य कर्म से ही तो पर्याप्त जीविक नहीं कमाई जा सकती। अतः उन्होंने चित्रकला से स्कूल में दाखिल लिया। साबन्तवाड़ी में चित्रकला सीखकर उन्होंने बम्बई जाने का निश्चय किया। इस बीच उनका विवाह भी हो चुका था। श्रीपाद जी के माता-पिता नहीं चाहते थे कि वे घर छोड़कर कहीं जायें किन्तु श्रीपाद जी का महत्वाकांक्षी मन घर में ही बंधा रहना नहीं चाहता था। अतः अपने माता-पिता को हर तरह से समझा-बुझाकर इस बात के लिए राजी का लिया कि वे उन्हें बम्बई जाने की अनुमति दे दें। श्रीपाद जी १८८० में बम्बई आ गये और वहाँ जे जे स्कूल ऑफ आर्ट्स में भर्ती हुए। चित्रकला सीख लेने के बाद श्रीपाद जी की निवृत्ति उसी संस्था में हो गयी, वहाँ उन्हें कुल पचास रुपये प्रतिमास वेतन मिलता था। इतने वेतन में बम्बई जैसे शहर में गुजारा चलाना बड़ा ही कठिन था। किन्तु श्रीपाद जी किसी और अच्छे अवसर की तलाश में लगे रहे।

वह अवसर भी लगभग एक वर्ष बाद आया। बम्बई छोड़कर वे हैदराबाद चले आये। इस शहर में चित्रकारों के लिए अच्छा क्षेत्र

४.२१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

यह । श्रीपाद जी को अपनी साधना में सफलता मिलने लगी । किन्तु यहाँ रहते हुए उनके जीवन में अन्तिकारी मोड़ आया । उन दिनों सारे भारत में स्वातन्त्र्य चेतना का जगरण हो रहा था । हैदराबाद भी अन्तिकारियों का गढ़ बनता जा रहा था । सिंध और खुले तौर पर कितने ही अन्तिकारी हैदराबाद में कार्य कर रहे थे । श्रीपाद जी भी उनके संपर्क में आए और उन्होंने भी पशुपति राष्ट्र की सेवा का अपना धर्म कर्तव्य माना, राष्ट्र सेवा के साथ-साथ भारतीय धर्म और संस्कृति के उन्नयन की बात भी श्रीपाद जी के अन्तस् में उठी ।

इसके लिए उन्होंने वैदिक और भारतीय धर्म के प्राचीन साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया । सम्पूर्ण तो उन्हें पहले से आती ही थी— जो कुछ कभी भी उसे उन्होंने स्वाध्याय द्वारा पूरा किया । उन दिनों देश में आर्यसमाज आन्दोलन भी चल रहा था । राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इस आन्दोलन का प्रभाव श्रीपाद जी पर भी पड़ा और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ आर्य समाज से भी जुड़े । हैदराबाद में रहते हुए उन्होंने एक व्यायामशाला, फुटबाला और व्याख्यान भण्डाल की स्थापना की जिसमें भारतीय धर्म और संस्कृति के विविध पक्षों और सिद्धान्तों की प्रातिष्ठित विवेचना की जाती थी । यही नहीं उन्होंने कई सांघिक कुशलों के विरुद्ध भी वैचारिक आन्दोलन खड़ा किया ।

राष्ट्रीय जागरण के लिए भी सातबलेकर जी वैचारिक चेतना जगाने हेतु प्रयत्न करते रहे । उन्होंने देखा कि राष्ट्रीयता का कोई धार्मिक या सांस्कृतिक आधार न होने से लोग उस ओर अकर्षित नहीं होते । तथा नहीं उनमें राष्ट्रीय भावनाओं का दृढित होना है इसलिए राष्ट्रीय 'वचनधारा' को सांस्कृतिक आधार देने के लिए उन्होंने वेदों से ऐसे मंत्रों का चुनाव किया जिनसे देशभक्ति की प्रेरणा मिलती थी । उन मंत्रों का अनुवाद उन्होंने 'वैदिक राष्ट्रगीत' के नाम से किया जो उस समय कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्ववृत्त' नामक मासिक-पत्र में छपा । बाद में यही लेख पुस्तक के रूप में भी छपा । पुस्तक जब छपकर तैयार हुई और उसका पता अंग्रेजी सरकार को लगा तो उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया, कारण कि 'विश्ववृत्त' मासिक में ही जिन दिनों 'वैदिक राष्ट्रगीत' छपा रहा था, उन दिनों इस लेख से कई अन्तिकारियों ने प्रेरणा ली थी और प्रोत्साहन पाया था । यही नहीं ऐसी पुस्तक लिखने के कारण सातबलेकर जी को दण्डित भी किया गया । हैदराबाद स्थित अंग्रेज रेजीडेंट ने वहाँ के निवास पर दबाव डाला और उन्हें रियासत से निर्वासित कर दिया गया ।

जब इसकी खबर स्वामी ब्रह्मचन्द्र को लगी तो उन्होंने सातबलेकर जी को अपने पास बुला लिया और गुरुकुल कांगड़ी के छात्रों को पढ़ाने के लिए कहा । सातबलेकर जी ने वह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया और सन् १९०८ में गुरुकुल कांगड़ी पहुँचे । वहाँ उन्हें वेदों के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया । राष्ट्रीय जागरण के लिए उनकी गतिविधि वहाँ भी पूर्ववत् चलती रहीं । मासिक 'विश्ववृत्त' में उनका एक और लेख छपा जिसमें उन्होंने भारतीयों को उनकी उदासीनता पर फटकारा था और उनसे अपील की थी कि सभी भारतीय संगठित होकर शत्रुओं को कुचल डालें और मातृभूमि को स्वतन्त्र करें ।

उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला । लेकिन विद्वान्-न्यायाधीश ने इन पर लगाये गये आरोपों को अप्रमाणित करार देकर उन्हें मुक्त कर दिया ।

सरकारी अधियोग से मुक्त होने के बाद सातबलेकर जी विभिन्न स्थानों पर कार्य करते हुए देश सेवा करते रहे । राष्ट्रीय चेतना जगाने के साथ संस्कृति के उन्नयन का लक्ष्य भी उनके सामने था और उन्होंने इसके लिए एक लेख योजना बनाई तथा सन् १९१८ में उसके क्रियान्वयन का सूत्रपात किया । उनकी योजना से अवगत होकर आम् (महा.) के राजा ने उन्हें आठ एकड़ जमीन दी और आर्थिक सहयोग भी दिया । इस सहयोग को प्राप्त कर सातबलेकर जी ने वेदों के प्रकाशन का कार्य शुरू किया । उस समय वेदों की शुद्ध संहितायें कहीं नहीं मिलती थीं । शुद्ध मिलना तो दूर रहा वेद संहितायें भी बड़े कठिनाई से मिल पती थीं और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने वालों को यह आधारभूत ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण एकधरी जानकारी प्राप्त कर ही संतुष्ट रह जाना पड़ता था । सातबलेकर जी ने वेद संहिताओं को प्रामाणिक रूप में सर्व-सम्भारण के लिए उपलब्ध करने का कार्य सच में लिया और १०१ वर्ष की आयु तक उसे सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहे ।

उन्होंने वेद संहिताओं के प्रकाशन का कार्य और उन्हें जन-सुलभ बनाने का कार्य ही नहीं किया बल्कि जन-जागरण के लिए भी कार्य करते रहे । कई स्थानों पर जहाँ देवी-देवताओं के सामने पशु बलि होती थी सातबलेकर जी ने वहाँ पहुँचकर आन्दोलन किया और जनमत जगाया । फलस्वरूप उन स्थानों पर पशुबलि को बन्द किया जा सका । आम् वे उन्होंने जिस संस्था की स्थापना की थी उसे सुविधा की दृष्टि से सातबलेकर जी १९४७ में पारसी ले आये और अब यह संस्था भारतीय संस्कृति की विलुप्त संपदा को प्रकाश में लाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है । १०१ वर्ष की आयु में भी सातबलेकर जी उसी प्रकार उत्साह से कार्य करते थे, जिस प्रकार कि कोई नवयुवक कार्य करता है । वे रोज सवेरे पाँच बजे उठ जाते और सात बजे तक सभी नित्यकार्यों से निवृत्त हो जाते । फिर रात्रि नौ बजे तक अपने कमरे में व्यवस्थापूर्वक लगे रहते । अन्तिम दिन तक उनका यही क्रम रहा । ९ जून, १९६८ को सुबह बीमार पड़े और कुछ दिनों बाद उनका देहान्त हुआ । जीवन में वे पहली बार बीमार पड़े थे और यह पहली बीमारी ही उनके लिए अन्तिम बीमारी सिद्ध हुई, जिसने उन्हें चिरक्रान्त के लिए चरनिद्रा की गोदी में सुत्त दिया । उनकी कर्मठता उनकी निष्ठा और उनकी देशभक्ति ही वह कारण था जिसके द्वारा उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में संपन्न मनुष्य से भी अधिक कार्य किया ।

सहृदय साधुपुरुष डॉ. कैलाशनाथ काटजू

सन् १९२९-३० की बात है । इलाहाबाद में कांग्रेस की कोई सार्वजनिक सभा हुई । उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे जोर पर था । सरकार ने इस सभा को गैरकानूनी करार देकर भाग लेने वाले सभी लोगों को गिरफ्तार कर लिया । आस-पास घूमते हुए नागरिक

जो पकड़ेंगे। सब को एक पक्षित ऐसे खड़ा कर नापवार सजा घाँवित की जाने लगी। एक युवक जो बेहद डरा हुआ था— घबड़ा रहा था। उसका माप आया तो काँपते हुए बोला— ‘परन्तु मैं तो निर्दोष हूँ।’

मजिस्ट्रेट इतन पर कहने से अश्वस्त नहीं हुआ, बूछ बैठा— ‘निर्दोष हो तो साबित करो कि तुम पर लगाया गया अभियोग झूठ है। क्या तुम्हारा कोई वर्किल है?’

युवक बक जबाब देता। ‘नहीं कहने हाँ जा रहा था किसी ने पाँखों से आग बढ़ कर कहा— ‘जो हाँ महादय मैं इस व्यक्ति का वर्किल हूँ।’

ऐसे समय में किसी व्यक्ति को आगे बढ़ते देख युवक को बड़ा आश्चर्य हुआ। सड़क की शरयानी, टोपी और चूड़ीदार पायजामा पहने स्वयं को वकील कहने वाले व्यक्ति ने आश्चर्य को कम किया— ‘मुझे हैरत क्यों हो रही है। सचमुच मैं सभी कांग्रेस अधियुक्तों का वकील हूँ, अपने देश के नागरिकों का वकील हूँ।’

दण्डित सभासद तो निर्भय निश्चिन्त सजा भुगतने के लिए तैयार थे परन्तु युवक को घबड़ाते देख उक्त वकील साहब ने उसको पैरवी की। देशवासियों के, कांग्रेस अधियुक्तों के लिए हर समय तत्पर रहने वाले उक्त वकील साहब थे डॉ. कैलाश नाथ कटजू। उनके सहृदयता के समक्ष युवक ब्रह्मचर्य छोड़ गया और स्वयं को कांग्रेस अधियुक्तों की पंक्ति में भिने जाने पर हो गर्व का अनुभव करने लगा। डॉ. कटजू पेशे से वकील थे परन्तु उन्होंने वकालत को कभी अनुचित-अचित का अन्तर्-अन्त व्यक्तसाय नहीं माना। साधन और जीविका की पवित्रता के कारण कटजू ने अपने इस पेशे में ईश्वर-द्वारा और न्याय को रक्षा का भाग समझते हुए इसे भी परमार्थ माना बना दिया।

उन्होंने अपने वकालत के पेशे में मिलने वाली फीस पर नहीं अपने मुकदमों की स्थिति और पक्ष के औचित्य पर ही ध्यान दिया। कानपुर में बच्चीसिंह का मुकदमा उनके जीवन की सर्वाधिक चर्चित घटना है। इस मुकदमे में दोनों पक्षों की एक पीढ़ी गुजर चुकी थी बताया जाता है कि दोनों के बीच सन् १९४८ से झगड़ा चल रहा था। मुकदमे की दुरावस्था को देखते हुए कोई भी वकील इसे हाथ में नहीं लेता था। बच्ची ने कानपुर अदालत का द्वार अपने रहन रहने सम्पत्ति को जिसका ऋण मूल तथा सूद सहित चुका दिया था हासताग करने के लिए खटखटाया। कानपुर न्यायालय ने तो बच्ची के पक्ष में निर्णय दिया। परन्तु प्रतिवादी रहनदा ने जितना न्यायालय में अर्जों दी। जिला न्यायाधीश ने फैसला दिया कि नियमानुसार बच्ची ने केवल सूद भी पूरी तरह नहीं चुकाया है।

बच्चीसिंह जो अपने पिता महाराज सिंह के बाद मुकदमा लड़ रहा था— इसमें बर्बाद हो गया। डॉ. कटजू के पास जब वह अपने मामला लेकर आया तो उस समय निवृत्त मानव कर्मचारी का वह उसके पास शेष बची थी। सारी बात सुनकर डॉ. कटजू थोड़ा हेट्ट द्रवीभूत हो उठा बच्चीसिंह की करुणाजनक स्थिति को देखकर उन्होंने यह मुकदमा ले लिया।

उनके जटिल ज्ञान और कानूनी प्रतिभा की परीक्षा का यह मुनौरी भरा अवसर था। बच्चीसिंह के पास अपनी बात का कोई प्रमाण नहीं था। १८५७ की क्रांति में कानपुर की अदालतों के निर्णय सम्बन्धी सभी रिकार्ड भी नष्ट हो गये थे। बच्ची कठिन परिस्थितियाँ थी परन्तु परिस्थितियों से पराजित होना उन्को स्वभाव नहीं था। कानून और यादों की बाराकियों का भलेभर्ती अध्ययन कर डॉ. कटजू ने बच्चीसिंह का पक्ष इतनी दृढ़तापूर्वक रखा कि निर्णय उसी के पक्ष में हुआ।

फैसला सुनकर बच्चीसिंह गद्गद हो गया और उसने डॉ. कटजू के हाथ में मुकदमे की फीस के रूप में ३५ रु. रख दिये। आसपास के लोग देखकर प्रतीक्षा करने लगे कि अब वे बिफर उठेंगे। लेकिन सबकी आशा के विपरीत कटजू ने पैतीस रुपये बड़े सतोष और आदर के साथ स्वीकार कर लिए। ऐसे व्यक्ति के लिए यह कहना कहीं तक उपयुक्त होगा कि वकालत उनका फन पेशा ही था। बेशक यह पेशा तो था परन्तु उन्होंने न्याय और मानवता को ही सर्वोपरि स्थान दिया। मुकदमों की फीस ने उन्हें कभी नहीं ललचाया बल्कि वे तो उच्च स्थिति पर द्रवीभूत होते थे। इस रूप में वकालत उन पर नहीं वे वकालत पर हावी रहने थे।

ऐसी कई घटनाएँ उनके सम्बन्ध में विख्यात हैं जो उनकी मानवीय प्रवृत्तियों के प्रति निष्ठा और न्याय की रक्षा का भाव व्यक्त करती हैं। भारतीय समाज, न्याय और राजनीति में अपने ढंग के अभूतपूर्व डॉ. कैलाश नाथ कटजू का जन्म सन् १८८७ ई. में मध्य भारत की एक छोटो-सी रियासत जावरा में हुआ था। उसके पिता जावरा नकाब का एक मन्त्री के निजी सचिव थे। वेतन के रूप में कोई खास पैसा मिलता नहीं था। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। पिता ने अपने बालक को प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद किसी तरह उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भेजने की व्यवस्था की।

डॉ. कटजू एक अध्यवसायी और परिश्रमी छात्र सिद्ध हुए। सन् १९०७ में ही उन्होंने एम. ए. पास कर लिया। कानून उनका प्रिय विषय था— उसी समय उन्होंने एल-एल बी की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। छह वर्ष तक इस विषय में एल-एल. एम. और १९१९ में एल-एल डी की उच्चतम परीक्षा पास की। विषय में अपनी योग्यता अर्जित कर कानपुर उच्च न्यायालय में प्रैक्टिस करने लगे। इन्हीं दिनों उन्होंने एक महानिबन्ध लिखकर ‘डॉक्टर आफ लॉज’ की डिग्री प्राप्त की।

कानपुर में जमाने से पूर्व उन्हें बड़े संघर्षों का सामना करना पड़ा था। विद्यार्थी जीवन समाप्त होने ही उन्हें काम ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। उच्च शिक्षण लोगों के लिए उचित रोजगार का प्रबन्ध उन दिनों भी मुश्किल ही था। उन्हें सही रूपका प्राप्तपास पर भी कोई काम देने के लिए तैयार नहीं हुआ। जावरा, रतलाप, इन्दौर, ग्वालियर आदि आदि महानगरों में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। परन्तु वे निराश नहीं हुए।

उन्हें अपनी योग्यता पर विश्वास और भविष्य की प्रतीक्षा के लिए धोरा था। प्रतिकूल परिस्थितियों में स्थिर बुद्धि और संतुलित

४२३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

एक ही व्यक्ति को अनुष्ठान और ज्ञान रखना है। समर्थ, योग्यता और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को प्रायः प्रतिकूल परिस्थितियों में मनोबल की कमी के कारण अन्दी घबड़ा उठते हैं। ऐसी दशा में आत्मविश्वास और धैर्य धारण आवश्यक है इन शक्तियों से रहित व्यक्ति निराश होकर अपने जीवन को नर्क बना लेते हैं। परिणामस्वरूप उनके प्रतिभा का विकास और जो लाभ समाज को मिल सकता था उससे वेना हो प्रचलित रह जाते हैं।

व्यक्ति किसी विशेष योग्यता से सम्पन्न है तो भी कोई जरूरी नहीं कि लोग उसे तत्काल ही जानने लगे। प्रकृति की दीर्घ क्रिया व्यवस्थाओं में होने का निर्माण होता है। सदियों और सहस्राब्दियों तक वह धर्मो की पगों में ही छुपा रहता है, तब कहीं जाकर यदा-कदा लोगों की निगाह में आता है और उसका मूल्यांकन होता है। प्राग्भविष्यी व्यक्तियों को उमो प्रचार बगैर तक अज्ञात रहते हैं। शकाल और आत्म-निर्भर व्यक्ति इस उपेक्षा, अवमूल्यन से अपनी योग्यता को ही सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु डॉ. कटजू ने दृढ़ आत्मविश्वासी थे। धैर्य और सत्य की शक्ति क्षपणा उनमें थी। कठिन परिस्थितियों से जूझते रहने पर भी वे हताश नहीं हुए। काफी समय तक मनोयोगपूर्वक जीवन संघर्ष में जूझने के बाद वे कानपुर के पृथ्वीनाथ के संपर्क में आये।

उनकी प्रतिभा अवसर पाकर व्यक्त हुई और डॉ. कटजू का ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। वे जब कानपुर के सर्वाधिक प्रतिष्ठित कुशल और हाशिया ठकेल बन गये थे। तभी बर्मासिंह का मुकदमा उनके पास आया।

वकालत के पेशे में विख्यात होते ही उन्होंने स्वतन्त्र ग्राम में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया। नागरिक सेवाओं और आन्दोलनों के लिए सदैव उद्यत रहने वाले डॉ. कटजू इस रूप में भी बड़े लोकप्रिय हुए, कानपुर में कुछ वर्षों तक वकालत करने के बाद वे इलाहाबाद चले आये। क्योंकि वह शहर उन दिनों राजनीतिक आंदोलनों और घटनाओं का केन्द्र बना हुआ था। यही उन्होंने अपनी वकालत भी जारी रखी। लगभग तीन वर्ष तक वे इलाहाबाद और देश के श्रेष्ठतम न्याय-मार्दुरों में एकत्रित सम्प्राप्त वकील बने रहे। इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी उन्हें प्रकाश भोग होते रहे। स्वर्ण मोतीलाल नेहरू द्वारा संस्थापित 'इलाहाबाद जर्नल', जो राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रमुख पत्र था, का वे बहुत सक्रिय योगदान करते रहे।

राष्ट्रीय विचारों और स्वाभाविक क्रिया-कलापों से प्रभावित होकर इलाहाबाद की जनता ने उन्हें १९३५ में नगरपालिका अध्यक्ष चुना इसके दो वर्ष बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने वकालत का पूर्णतया परित्यक्त किया। राजनीति के वे अब खुलकर खिलाड़ो बन चुके थे। जीवन में यह परिवर्तन उनके सम्मुख बहुत याग प्रस्तुत कर गया। कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे। उन्हें ने उनका योग्यता तथा प्रतिभा का दृष्टिगत रखते हुए तेजसवी संयुक्त प्रांत में भाग लेने का अवसर चुना और फिर न्याय एवं उद्योग विभाग के मंत्री बन। इन पदों का उन्हें कोई पूर्व अनुभव नहीं था

फिर भी लगन, पछिम और ईमानदारी के कारण इन पदों के महत्वपूर्ण दायित्वों को पूरा करते रहे।

कांग्रेस ने शीघ्र ही अंग्रेज अधिकारियों की अड़भुकाजी के कारण मंत्री पद और सदस्यता से त्याग-पत्र देने का क्रम चलाया। तुरन्त ही डॉ. कटजू ने भी मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया और सत्याग्रह का मार्ग अपनाया, उनकी दृष्टि में पद नहीं अनुशासन महत्वपूर्ण था। संगठन का अनुशासन व्यक्ति की क्षमता और योग्यता का समायोजनकारी बनाता है। अन्यथा अनुशासनविहीन प्रतिभा थोड़े अहं और अधिमान की ही जननी बनती है। सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें १९४० में डेढ़ साल के लिए जेल भेज दिया गया।

जहाँ तो बकैल जीवन का ऐश्वर्य और सुखोपभोग और कहाँ जेल की दत-नार्ये। डॉ. कटजू इन विषम परिस्थितियों में भी एक समान ही स्थिर और शांत रहे। पहचाना अपने पूर्व जीवन के सुख-सुविधाओं को नये वर्तमान के संघर्षों को ही बोध्य करने की प्रेरणा देती है, क्योंकि सेवा और कल्याण के मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही उसकी आत्मा का स्वर्ण पुरा कर उसे संतोष प्रदान करती हैं।

जेल से सजा पूरी कर लौटे अभी कुछेक ही माह हुए होंगे कि उन्हें भारत छोड़ो आन्दोलन के अन्तर्गत फिर गिरफ्तार किया गया और पुनः जेल जाना पड़ा। जेल में उनका स्वास्थ्य ज्यादा खराब रहने लगा। इस कारण सात-आठ महीने बाद ही उन्हें छोड़ दिया गया।

१९४६ से १९६२ तक वे कई महत्वपूर्ण पदों पर रह कर देश सेवा करते रहे। जीवन के अन्तिम दिनों में मध्यप्रदेश की राजनीति में पूर्ण सक्रिय रहे। बाद में उन्हें मध्यप्रदेश की सेवाओं के अवसर छोड़ने पड़े परन्तु सेवा के लिए कोई विशेष अवसर या परिस्थिति आवश्यक नहीं होती वह तो हर समय किया जा सकने वाला अनुष्ठान है। उन्होंने जो कुछ भी कहाया वह अपने लिए कष्ट व औरों के लिए अधिक स्वर्ण किया। निर्धन छात्र-छात्राओं के सहयोग हेतु उन्होंने अपनी आय का अधिकांश भाग दिया और साथ ही आत्म-विज्ञापन से बचने के लिए कहीं चर्चा न करने की सख्त हिदायत भी दी। निरक्षित रूप से सहायता प्राप्त करने वाले छात्र बड़ी संख्या में उनके प्रति भविष्य के लिए आभारी हैं।

१९६८ में उनका देहान्त हो गया। एक ऐसे मार्ग का पथिक उठ गया जिसने जिस मार्ग पर भी कदम रखा उसमें सफलता पायी अपनी धर्मापेक्षा, लगन, ईमानदारी और साधुता के कारण सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपूर्व ख्याति प्राप्त की। परन्तु लोग उन्हें साधु पुरुष के रूप में ही अधिक याद रखते हैं।

एक महान् भारतीय—डॉ. अम्बेडकर

एक मेधावी युवक अमेरिका व इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त करके — बैरिस्टर की डिग्री लेकर भारत आया। उसने बम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस की। उसकी वैधिक प्रकाशिता का लोहा ने सभी ने मान लिया। उसे बड़े बड़े मुकदमों मिले। फीस की मोटी मोटी

यना कर देता है। एक आई सी एस पदाधिकारी के नीचे काम करने वाला चपरासी फाड़लों को चिमटे से उठावे, मक्कन न मिले, तंगे वाला जाति पूछ कर आधे रास्ते पे ही उतर दे तो भला स्वाधारण अनपढ़ अछूत के साथ क्या व्यवहार करता होगा यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है तो उन्होंने कैन-सत अपग्राह कर दिया।

उन्होंने इन मान्यताओं की कटु आलोचना की। यही नहीं हरिजनों के अधिकारों के लिए नांग भी की। उन्हें हिन्दुओं से पृथक् मानने के लिए भी याँग की। उनके ये कट्टर टीक उस डाक्टर की तरह के थे जो फोड़े का ऑपरेशन करता है। उसे रोग से कोई दुश्मनी नहीं होती वह तो उसे स्वस्थ करना चाहता है। किन्तु उसका चीर फाड़ का काम रोगी को कुछ समय के लिए बुरा लग सकता है। टीक यही काम उन्होंने किया था।

इतना करने पर भी हिन्दू समाज को आँखें नहीं खुली तो उन्होंने एक नश्वर और लगाया १४ अक्टूबर, १९५६ का नागपुर की भरी सभा में उन्होंने हिन्दू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। यह वस्तुतः कोई धर्म-परिवर्तन नहीं था। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म संस्कृति की ही एक शाखा है। वे इस परिवर्तन के द्वारा यह बताना चाहते थे कि यदि हिन्दू अपनी सकीर्णता नहीं छोड़ें तो उनकी यह स्थिति होने वाली है। जिस संस्कृति के झड़े, कभी पूर्वी दीप समूह से लेकर उजबेकिस्तान तक गढ़े थे वह सिमटकर कुछ ही करोड़ सीमा में रह जायेगी। दो लाख अनुयाइयों के एक/साथ एक ही दिन धर्म परिवर्तन करने का यह झटका कम नहीं था।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर अर्थशास्त्र के प्रारिष्ठ विद्वान् थे। उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय में डी एस-सी के लिए जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि विदेशी शास्त्र किस प्रकार रुपये तथा पौण्ड का असंतुलित सम्बन्ध स्थापित करके मनमाना लाभ कमा रहे हैं। उस शोध प्रबन्ध के प्रकाश में आने पर भारतीय प्रान्तीय विधान सभाओं ने इस अर्थनीति के विरोध में आवाज बुलन्द की अन्ततः अंग्रेज सरकार को अपनी यह भेदभरी अर्थनीति बदलनी पड़ी।

वे पक्के राष्ट्रवादी थे। यह नहीं चाहते हुए भी कि वे अछूत 'स्थान पृथक्' लें। विभाजन के पूर्व यह बात कही थी— 'आर मुस्लिम लीग की देश विभाजन की माँ। स्वीकार की जाती है तो भारत की अखण्ड बने रहने की सम्भावना विलुप्त नहीं रहेगी। और ऐसी स्थिति में अछूत वर्ग क्या मोर्चा बन ले तो इसकी पूरी जिम्मेदारी कांग्रेस पर रहेगी।' उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के टुकड़े नहीं होने देना चाहते थे। अछूत स्थान पृथक् लेने का उनका इरादा नहीं था वे तो पाकिस्तान बनन का विरोध कर रहे थे।

उनके मुकाबले का विधिवेत्ता भारत में न उनके समय में था न आज है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के वे अध्यक्ष अपनी इस योग्यता के कारण बनाये गये थे। भारत के प्रथम विधि मंत्री के रूप में उन्होंने हिन्दू कोड बिल को एक-टो धाराओं के रूप में करके पास कर ही दिया। इस प्रकार पुरातन पथ से निवृत्त कर उन्होंने हिन्दुओं

को एक प्रगतिशील मार्ग पर ला खड़ा किया। गरी को समानता का वैधानिक अधिकार वे दिलाकर ही रहे।

अपने शोध प्रबन्धों के कारण उन्होंने विश्व स्तर पर ख्याति तो अर्जित की ही थी साथ ही वे अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने अर्थशास्त्र राजनीति, अछूतोद्धार, कानून तथा सामयिक सन्दर्भों पर उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उनकी विद्वता सर्वत्र परिगृहीत होना है।

५ दिसम्बर, १९५६ को वे सदा के लिए प्रयाण कर गए। उनका यह व्यक्तित्व सामान्यजन के लिए कम प्रेरक नहीं है कि एक साधारण स्थिति का बालक रंग-रंग पर अपम्रन, निरस्कार पाता हुआ भी व्यक्तित्व को ऊँचाइयों की सूता रहा। समाज सुधारक और दलित बन्धु के रूप में उन्हें तो जाना जाता ही है वे भारतीय संस्कृति व भारत देश के बहुत बड़े सपूत के रूप में भी स्मरण किये जाने रहेंगे।

सामाजिक न्याय के लिये जो सतत् लड़ते रहे दादा भाई नौरोजी

श्री शिक्षा की दृष्टि से भारत आज भी पिछड़ा हुआ है। यो तो अब हजारों लड़कियाँ विश्वविद्यालयों में पढ़ रही हैं और शाईस्कूलों में पढ़ने वालों की संख्या तो लाखों है, पर भारतवर्ष की आबादी का देखते हुए यह नगण्य ही है। भारत के सात लाख गाँवों में से धाढ़े से ही ऐसे निकलेंगे जिनमें दस-पाँच सिखाँ चिड़ी-पत्री लिख-पढ़ सकें अथवा ट्यायण बाँच लें। अन्यथा अभी तक उनके लिए कला अक्षर भँस बराबर ही है। वे इतना भी नहीं जानती कि शिक्षा से मानव जीवन किन्तना विवर्धित हो जाता है और मनुष्य तत्सक किन्तना लाभ उठा सकता है।

अब आव ऐसी अवस्था है, तो सी सता सौ वर्ष पहले, जब देश में लड़कियों का एक भी स्कूल नहीं था और गाँवों तथा कस्बों को तो क्या बड़े-बड़े नगरों में भी कोई स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं करता था, तब लड़कियों के लिए स्कूल स्थापित करने वालों को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इसकी कल्पना कर सकना भी हमारे लिए कठिन है। इस प्रकार का प्रयास करने वालों में दादा भाई नौरोजी (सन १८२५ से १९१३) का नाम अग्रगण्य है। यद्यपि हम उनका 'स्वराज्य' की मांग सर्वप्रथम उपास्थिति करने वाले के रूप में ही जानते हैं, पर भाग्य में सर्वप्रथम गरी शिक्षा की आवाज उठाने वाले और उसके लिए महान् विघ्न बाधाओं का पार करके कन्या विद्यालय स्थापित करने वाले भी वे ही थे।

श्री शिक्षा का आयोजन उनके लिए समाज सेवा के एक सामान्य प्रयास की तरह न था। वे अग्रम्य से ही भारतीय जनता के उत्थान और उद्धार की भावना लेकर जीवन-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। यद्यपि उस युग में एम ए को परीक्षा पास कर लेने से ही उच्च सरकारी स्थान ही उनके बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ देने को तैयार थे, पर उन्होंने उन बड़े वेतन तथा उच्च पदवी की नौकरियों की तरफ ध्यान न देकर

अध्यापक को एक साधारण नौकरी ही पसन्द की। उन्होंने निश्चय किया कि इस समय जबकि हमारे देशवासियों एक प्रकार से सोये पड़े हैं और अपनी दुर्दशा और अधिकारों का कुछ ज्ञान ही नहीं है, तो हमारा सबसे पहला कर्तव्य उनमें शिक्षा का प्रचार करना ही है। जब तक वे पढ़ना-लिखना न जान जायेंगे तब तक उनकी उन्नति की कोई भी योजना नहीं समझाई जा सकती।

इसी शिक्षा समस्या पर विचार करते हुए दादा भाई की दृष्टि स्त्री शिक्षा की तरफ गई। लड़कों के तो कुछ स्कूल और कॉलेज सभी शहरों में खुलने लगे थे और सरकारी नौकरियों के खाल से लोग उनकी तन्फ आर्जित भी हो रहे थे। पर स्त्री-शिक्षा का तो कोई नाम भी नहीं लेना था। अगले कभी कोई इसका जिक्र भी करता तो लोग तुरन्त यही कहने लगे कि स्त्रियों को पढ़कर क्या करना है? क्या वे नौकरे करने आयेंगी, या उनको धनोपार्जन करना है? पर दादा भाई समझते थे कि स्त्री-शिक्षा ही देशोन्नति का मुख्य आधार है। अज्ञानान्धकार में पड़ी स्त्रियों की संतानें कैसे प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकती हैं? इस उद्देश्य के लिए कुछ अध्यापक तथा वॉरेंट छात्रों को अपना सहयोगी बनाकर स्त्री-शिक्षा का अधिगान आरम्भ कर दिया। इस कार्य में उनको किन परिस्थानों का सामना करना पड़ा यह उनकी के शब्दों को सुनिये—

‘जब हम लोग यह सन्देश लेकर लोगों के पास जाने थे, तब क्या होता था? लोग सहसा आये से बाहर हो जाते और कहते कि आप हमें बहकाने आये हैं। आप लोग हमारे बहू-बेटों का पढ़ा लिखाकर मेम बना देना चाहते हैं। वहाँ से तुरन्त चले जाओ नहीं धक्का देकर निकाल देंगे। कई बार तो कुछ लोग इतने क्रुद्ध हो गये कि सशस्त्र सीढ़ियों तक धकेलने लगे आये। इस प्रकार न जाने कितने कटु अनुभव हम लोगों को हुए। बहुत-से साक्षी निराश हो जाते थे और कहने लगते थे कि जन हित की बात कहने पर लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं तो हमारा क्या स्वार्थ अटका है जो द्वार द्वार धक्के खाने जायें? तब मैंने उनको समझाया कि इतना-सा कठिनाई से निराश नहीं हो जाना चाहिए। यह अभमान और तिरस्कार तो किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता का स्वाभाविक उपहार है। यही तो वह कसौटी है जिस पर समाजसेवी की भावना की परख होती है। आप लोग अपने को संतुलित रखते हुए धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहिये। कुछ समय में लोग हमारे विरोध का महत्व और कर्मों का मूल्य समझेंगे और आज जो निन्दा करते हैं, कल वही प्रशंसा करने लगेंगे।’

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्त में दादा भाई का प्रयत्न और उनकी तपस्या सफल हुई और दो-चार वर्ष के भीतर ही बम्बई में एक नहीं बड़ कितनी पाठशालायें स्थापित हो गयीं। इसके पश्चात् उन्होंने प्रौढ़ाओं के पढ़ाने की योजना भी बनाई और फिर पूर्ववत् घर-घर का चक्कर लगाकर लोगों को कड़वा-मीठी फटकारें सहकर उसको कार्यरूप में परिणत कर दिखया।

जनता में शिक्षा प्रसार का श्रोतार्थ करके दादा भाई ने आगाभा मोर्चे की संभाला। उन्होंने ‘बम्बई एंग्लो-इण्डियन’ नाम की एक

राजनैतिक संस्था स्थापित की। उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकार के सामने दो माँगें उपस्थित कीं। प्रथम यह कि भारत में कम्पनी शासन समाप्त करके प्रष्ट शासन विधान के अनुसार कार्यारम्भ किया जाय और दूसरे ‘सिविल सर्विस’ तथा विधान सभाओं में भारतीयों को भाग लेने का अवसर दिया जाय। एक बार तो इंग्लैण्ड निवासी और खासकर वहाँ के कुछ अखबार इन माँगों पर बहुत बिगड़े और इस प्रकार की बातों को ‘छोटे पुँह बड़ी बात’ की उपमा देने लगे पर जब दादा भाई ने अपना उद्योग बन्द नहीं किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए ‘रस्तगुल्फर’ (सत्यवादी) नाम का पाक्षिक पत्र निकालकर देश भर में भूम मचा दी, तो अनेक न्यायप्रिय व्यक्ति उनका समर्थन करने लगे उस समय एक ब्रिटिश समाचार-पत्र ने भारतीय माँगों का समर्थन करते हुए कहा था—

“यह समझना भारी भूल होगी कि भारत में उठने हुए इस आन्दोलन को दबाया जा सकेगा या उसको सर्वथा उपेक्षा की जा सकेगी। इससे भी बड़ी भूल यह समझ लेनी होगी कि भारतीयों की माँगों को स्वीकार करके ब्रिटेन उन पर कोई अहसान करेगा। ऐसी भूल करने के बजाय कट्टरगणकारी नीति यह होगी कि भारतीयों की माँगों पर उद्यमपूर्वक विचार किया जाय, ब्रिटेन के प्रति अनुराग और विश्वास को मान्यता दी जाय और शासन प्रणाली में उनकी उन्नति के सिद्धान्तों को शामिल कर लिया जाय। यदि भारतीयों के साथ न्याय किया जाता है, उनकी संस्थाओं तथा माँगों को मान्यता दी जाती है तो सम्भव है कि ब्रिटेन भारत पर एक लम्बे समय तक अपना प्रभाव और प्रभुत्व बनाये रख सके। पर यदि शासन दुराग्रह करेंगे तो उसके दुष्परिणाम हमारे लिए अनिष्टकारी सिद्ध हो सकते हैं।”

इस प्रकार इतने राजनो की सहानुभूति अपने साथ देखकर दादा भाई के मन में आया कि इंग्लैण्ड में रहकर ही प्रचार करने का अवसर मिले तो बहुत कार्य हो सकता है। इंग्लैण्ड का शासन वास्तविक रूप से वहाँ की जनता के हित में है। इसलिए वहाँ की जनता के बीच रहकर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना भारत के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। वे जब इस प्रकार विचार कर रहे थे उस समय बम्बई की ‘कामा कम्पनी’ ने उनसे इंग्लैण्ड जाकर वहाँ की शाखा की व्यवस्था संभालने का प्रस्ताव किया। वे इसके लिए तुरन्त सहमत हो गये और १८५५ में इंग्लैण्ड पहुँच गये। वहाँ कम्पनी का पूरा काम करने के बाद जो समय बनना था उसे वे देशहित के काम में लगाते थे। इंग्लैण्ड में सबसे पहले उन्होंने एक छात्रावास स्थापित किया जिसमें सिविल सर्विस तथा अन्य परीक्षाओं के लिए इंग्लैण्ड जाने वाले भारतीय छात्र निवास कर सकें। इस प्रकार दादा भाई देश के होनहार युवकों के सम्पर्क में आ जाने से और उनकी जीवन निर्वाह के साथ-साथ राष्ट्रीय हित का ध्यान रखने की प्रेरणा देने लगे थे।

भारतीयों को रूकड़ित और सर्गाटित करने के साथ ही दादा भाई ने इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नेनाओं और विचारकों से भी सम्पर्क बढ़ाया वे ग्लैडस्टन, हर्बर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, जॉन ब्राइट, काण्डेन जैसे

४२७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

•यायशील और भारत हिन्दी व्यक्ति से मिलते रहते थे। कुछ समय में इंग्लैण्ड की जनता भी दादा भाई को जान गयी और उन पर विश्वास करने लगी। दो वर्ष पश्चात् उनका 'कपास कम्पनी' के संचालकों से मतभेद हो गया। इसका कारण यह था कि वे लोग पूँजीवादो पात्र थे और किसी भी तरह अपने व्यापार को बढ़ाना और अधिक धन कमाया उनका उद्देश्य था। इधर दादा भाई सत्संनित और सेवा की उच्चतम भावना रखने वाले व्यक्ति थे। इसलिए जब उन्होंने देखा कि कम्पनी वाले १०० गज की रेल में ८० गज लम्बा ही लफेटकर जनता को ठगना चाहते हैं तो उन्होंने इसका विरोध किया। इसके अतिरिक्त 'कपास कम्पनी' कराच और अफ्रीम का व्यापार भी करती थी वह भी उनके अनैतिक जान पड़ता था। इसलिए उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद करके कुछ समय बाद स्वतन्त्र व्यवसाय की नींव डाली उन्होंने 'दादा भाई नौरोजी एण्ड कम्पनी' की स्थापना की जो मुख्य रूप से कपास का व्यापार करती थी।

अब वे इंग्लैण्ड की जनता को अपने पक्ष में करके भारत की माँगों के प्रति उसकी सहानुभूति प्राप्त करने की और अधिक कोशिश करने लगे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने बंगाल के राजनीतिक कार्यकर्ता डब्ल्यू सी बनर्जी के सहयोग से 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' की स्थापना की। कुछ समय बाद जब कार्यक्षेत्र बढ़ गया तो 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' नाम की अन्य संस्था का निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा आन्दोलन करके वे बहुत वर्षों तक अंग्रेज जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के साथ ही भारतीय जनमत को जाग्रत और संगठित करने का भी प्रयत्न करते रहे। दादा भाई का मुख्य प्रयत्न लोगों को यह बालाना था कि भारतवर्ष की गरीबी और पिछड़ेपन के लिए अंग्रेजी शासन ही जिम्मेदार है। इसके लिए उन्होंने 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत की गरीबी और अब्रिटिश शासन) नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। जिसे पढ़कर इंग्लैण्ड के बहुसंख्यक व्यक्ति उनके सहयोगी हो गये। उन सबकी सहायता से वे इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट के सदस्य चुन लिये गये जो उस समय एक भारतीय के लिए एक बहुत बड़ी बात थी। पर पार्लियामेन्ट में पहुँचकर भी बजाय अपना किसी प्रकार का लाभ सोचने के उन्होंने अपनी पूरी शक्ति भारत में तरह-तरह के सुधार काने में ही लगाई। वे पार्लियामेन्ट के सदस्यों के सम्मुख देश की गरीबी का करुण चित्र खींचते रहते थे और यह सिद्ध करते थे कि इसका कारण भारत सरकार की खर्चीली शासन प्रणाली ही है। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अंग्रेज सदस्यों से कहा— "आप थोड़ी सहृदयता और त्याग से काम लें और विचार करें कि आखिर यह समय आखिर आता कहाँ से है?" उन्होंने भारतवासियों की आमदनी के आँकड़े पेश करके सिद्ध किया कि "इन्त्येक भारतवासी की औसत आमदनी बीस रुपया वार्षिक से अधिक नहीं है और उसे देखते हुये सरकार जनता से जो टैक्स वसूल करती है वह बहुत अधिक है। इसी से भारतवासियों की आर्थिक स्थिति दिन पर दिन निर्बल पड़ती जाती है।"

भारतवासियों ने दादा भाई की इन सेवाओं का मूल्य समझ और वे तीन बार 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के अध्यक्ष मनये गये।

उन्होंने जब-जब कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में संभाली उसको एक नई दिशा और शक्ति प्रदान की। अन्त में सन् १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने सर्वप्रथम यह घोषित किया कि भारत का एक लक्ष्य 'स्वराज्य' ही है।

इस प्रकार अपनी दीर्घायु तक अपनी समस्त शक्ति देश कल्याण के लिए ही लगाते रहे। उन्होंने अपने सत्संकल्प का निर्वाह अन्तिम समय तक किया जिसके लिए आज भी उनके भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का 'पितामह' माना जाता है।

साधुता व समता के जीवन्त प्रतीक— बाबा रामदेव

राह चलती स्त्रियों का अपहरण, लोगों को लूटना और उन्हें जान से मार देना 'भैरव झकु' के लिए बहुत आसान था। सारी जनता उससे डरी तरह भयप्रस्त थी वह अकेला था फिर भी हजारों लोगों के लिए भारी और दुर्दम्य पड़ रहा था। लोग चाहे कितनी ही संख्या में क्यों न हो पन्नेबल की कमी से तो एक दुष्ट व्यक्ति का दुस्साहस भी उनकी रीढ़ हारम कर देता है। दिल्ली के राजा अनंगपाल के साम के पन्द्रह वर्षों पौत्र रामदेव ने जब यह सब देखा तो दुष्ट भैरव के प्रति मन में आक्रोश पर उठा। लोगों की कायरता पर उसे तरस भी आया। अकेले ही उसका दमन करने का संकल्प लिया। 'पिता अजमाल' और माता ने बहुत समझाया पर रामदेव को पूरा आत्म विश्वास था और नीति से चाहे निर्बल और बालक भी सत्य और नीति का पक्ष लेकर भनाचार का विरोध करे तो विजय सुनिश्चित है। रामदेव भैरव को परास्त करने के लिए चल पड़े। लोगों ने भी समझाया पर वे नहीं माने और लोगों के तर्कों को उनकी कायरता के कारण धिक्करा।

सत्य और न्याय से प्रेरित होकर आसुरी शक्तियों से सघर्ष छेड़ने का साहस भौरों को भी प्रभावित करता है। जो लोग रामदेव का रास्ता रोक रहे थे वे ही उनके अनुचर बनकर 'भैरव' का संहार करने चल पड़े और अन्त में अपने प्रयोजन में सफल हुए। अतंकवादी दानवता की साधत पूर्ति 'भैरव' का अन्त हो गया और लोगों के मन में आत्म विश्वास के प्राण संतर्जित हो उठे।

रामदेव ने अपने जीवनकाल में ऐसे एक नहीं सैकड़ों लोकप्रयोगी कार्य किये कि जनता उन्हें भगवान् का अवतार समझने मानने लगी अनीति के विरुद्ध अकेले ही मोर्चा सम्हालने का साहस कर लिया जाव तो जन सधारण भी अपने आन अनुग्रही बन जाते हैं।

तत्कालीन समाज में जातिभेद और अस्पृश्यता की कुरीति के कारण हिन्दू समाज का आधार अग कुलित और लुब्ध पुब्ध ही पड़ा हुआ था बाबा रामदेव ने ऐसे लोगों को उठाकर सीने से लगाया। यद्यपि रामदेव स्वयं एक उच्च जाति के राजपूत थे। प्रायः राजपूतों में ऊँच नीच का ज्यादा ध्यान रखा जाता है। रामदेव ने अपने पारंजनों का विरोध भी सह और अकूत तथा नीच कहे जाने वाले श्रमजीवी

लोगों को अपने साथ बिठाकर खिलाया। उन्हें तैयार किया और उन्होंने रोगी और दुःखियों के घर लगातार कई-कई रातें व्यतीत कर उनकी सेवा-सुत्रुष की। रामदेव के चरित्र गण्यकों के लोकगीतों में ऐसी अनेकों घटनाएँ धरी पड़ी हैं।

पिता के मरने के बाद रामदेव को राजा बनाया गया। पर उनके रहन-सहन को देखकर कोई भी उन्हें राजा नहीं कह सकता था। विदेहराज जनक, नासिरुद्दीन और अज्ञात जिसे लोकसेवी राजाओं की तरह उन्होंने भी सदैव सादा जीवन ही लिया। श्रम की प्रतिष्ठा का एक अनुपम उदाहरण उनके राजकीय जीवन में मिलता है। राजस्थान में अनावृष्टि के कारण बहुधा अकाल पड़ सकते हैं। रामदेव के शासन काल में भी एक बार अकाल पड़ा। लोग भूख-प्यास से मरने लगे। रामदेव ने अपना कोष म्हेगों की जीवन रक्षा के लिए लगा दिया और स्वयं लोगों के साथ कुशल-फवड़ा लेकर जगह-जगह फूँफूँ खुदवाने में लग गये। अभी तक तो लोगों के सामने इस समस्या से जूझने का कोई रास्ता ही नहीं था पर अपने प्रिय राजा को अपने साथ श्रम करते हुए देख लो उनका मनेबल कई गुना बढ़ गया और वे भी इस प्राकृतिक प्रकोप का हँसते हुए सामना करते रहे।

रामदेव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे छोट-से-छोटे लोगों का अपने से भी अधिक ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि अपने महल में रहने वाले पशुओं के चारे-दाने की व्यवस्था स्वयं की देखरेख में करवाते। राज-काज से अवकाश मिलता तो वे अपने घोड़े को लेकर जंगल में घले जाते।

पुराने जमाने में राजा-महाराजों का एक प्रिय शौक रहा है—शिकार। प्रायः समय निकालकर राजा लोग अपने साधियों के साथ शिकार पर जाया करते परन्तु रामदेव जाते थे जंगल में अपने बोखे को लेकर उसकी सेवा करने, प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने। शिकार का उन्हें किसी निरीह पशु की अकारण हत्या कर देना रती भर नहीं सुहाता। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई दुष्कृत के लोगों को दण्डित किया, परन्तु मनोरंजन या शौक के लिए निरपराध मुक्त प्राणियों की हत्या में मजा आने की अपेक्षा उन्हें दुःख ही होता।

सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं इसलिए सब धर्मों का समान रूप से आदर करना चाहिए। मुगल शासक तलवार और जोर-जबरदस्ती के बल पर हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन कर रहे थे। इसी कारण वे अपने राज्य के सीमावर्ती इलाकों पर राज्य विस्तार और धर्म प्रसार के लिए आक्रमण भी करते। रामदेव का राज्य भी इस नीति से अभिभावित नहीं रहा पर उन्होंने बड़े शौर्य और साहस के साथ अपने बीर योद्धाओं को लेकर उनका मुकामला किया और सदैव मुगलों को मुँह की ही खानी पड़ी।

रामदेव के मन में इतना होने पर भी मुसलमानों के प्रति हिंसा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उनके राज्य में इस्लाम के अनुयायियों को भी पूरे स्वतन्त्रता थी। राजस्थान में चलने वाले सदाव्रत—सार्वजनिक धर्मार्थ भोजनालय में हिन्दू सन्त भी भोजन करते थे और मुस्लिम फकीर भी। मन्दिर-मस्जिद दोनों के लिए समान रूप से राजकोष द्वारा अनुदान दिया जाता। ऐसी धर्म सहिष्णुता का उदाहरण इतिहास में बहुत कम ही देखने में आता है।

उनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में कई नमस्कारपूर्ण घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। किसी भी लोक-नायक और महायानव के सम्बन्ध में ऐसी अतिशयोक्ति पूर्ण घटनाओं का प्रवचन कोई विशेष और नयी बात नहीं है परन्तु बाबा रामदेव की महानता उनकी सच्ची धर्म परायणता ही मानी जाती है। वे एक आदर्श मानव, वीर योद्धा, अछूतोंद्वारक और उदार धर्मागुयायं थे।

बाबा रामदेव के ज्योतिषत्व का सबसे महत्वपूर्ण और अनुकरणीय पक्ष था उनकी सेवानिष्ठता। वे सदैव दुःखी और कष्ट पाड़ितों की सेवा में तत्पर रहते। एक बार तब वे अपनी नव विवाहित पत्नी को पहले ही दिन अकेली छोड़कर किसी दुर्घटना में 'आहन' एक गरीब आदमी की परिचर्या के लिए चले गये थे। वे जन-साधारण के हित में हर घड़ी नवी-नवी योजनाएँ सोचने और उनकी फल-फल की खबर रखते। लोगों ने उन्हें कभी अपने शासक के रूप में अनुभव नहीं किया वरन् एक अन्धन्त आत्मीय परिजन के रूप में पाया। इसी कारण वे अपनी समस्याओं का लेकर चाहे जब उनके पास पहुँच जाते रामदेव भी स्वयं को राजा की अपेक्षा जन सेवक अधिक मानते। इमामलाल लोगों की समस्याओं का ध्यानपूर्वक सुनते थे और उनके निवारण के लिए सदैव सचेष्ट रहते। वस्तुतः अधिकतर का क्षेत्र बहुत सीमिता है और सेवा का बहुत विस्तृत। कई बार कि मैं किसी उच्च पद पर रहकर सेवा कार्य करूँ तो वह दुस्सहस है परन्तु केवल कर्तव्य भाव से ही सेवा मार्ग अपनाया जा सके तो मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। अन्त में बाबा रामदेव ने भारतीय संस्कृति की आश्रम परम्परा का भी निर्वाह किया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे अपनी पत्नी के साथ जंगल में चले गए और कठोर साधना के द्वारा इच्छा मृत्यु प्राप्त की। उनकी समाधि जैसलमेर (राजस्थान) जिले के कनिजा नामक ग्राम में आज भी विद्यमान है। प्रति वर्ष हजारों लोग वहाँ आयोजित मेले में एकत्रित होते हैं।

उनके जीवन की एक मार्मिक घटना इस प्रकार है शाग का समय था। सन्त रामदेव अपने घर वापस आ रहे थे। निर्जन मार्ग में उन्हें एक अबाध बालिका पड़ी दिखाई दी। सम्भवतः वह अर्द्ध संतान थी इसलिये किसी काँ ने अपने हृदय पर पत्थर रखकर उसे पार्श्व में डाल दिया था। रामदेव उसके सत। उनके हृदय में भेद-भाव के लिये स्थान कहाँ से आया। वह उस बच्ची को उठाकर घर ले आये।

परिवार वालों ने रामदेव का विरोध किया। उनके घर का कोई सदस्य उस अनजान बालिका को अपने घर में रखने को तैयार न था, पर वह इन्सान की सन्तान के साथ किसी भी प्रकार का भेद-भाव पक्ष मानते थे। आखिर रामदेव का ही विजय हुई। आगे चल कर वह बच्ची छालीबाई के नाम से प्रसिद्ध हुई।

प्राणिप्राय को अपने ही आत्मा का अंग मानने वाले सन्त रामदेव मारवाड़ के पोकरण क्षेत्र में नवर कुल के राजा अजमल के यहाँ जन्मे थे। उनके जन्म की कथा बड़ा रहस्यमय है।

अजमल के केवल एक पुत्रां थी। यह समय एल था जब पुत्रहीन राजा का मुँह देखना ही पाप माना जाता था। उत्तराधिकारी के रूप में उनके कोई पुत्र न था। एक बार राज्य में अकाल पड़ गया तो

४२९ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अन्धविश्वासी जनता के मन में यह विचार दृढ़ होने देर न लगी कि यह दैवी विपत्ति राजा के पुत्रहीन होन के कारण आई है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति ईश्वर की शरण ही आता है। राजा अजमाल ने भी ईश्वर की शरण ली। राजा अजमाल को भी वरदान मिला और एक वर्ष के अन्दर ही उन्हें एक राजकुमार का पिता बनने का सुअवसर मिला गया। इस बालक का नाम रखा गया रामदेव।

रामदेव बाल्यावस्था से ही एकान्तप्रिय थे। यह सदैव अपने ही विचारों में मग्न रहते थे। एक बार अयरकोट की राजकुमारी नेल पालकी से कहीं जा रही थी। सुस्सान पार्क देखकर कुछ डाकुओं ने आंगरक्षक सैनिकों को घेर लिया और राजकुमारी का अपहरण करने की योजना बनाई। संयोग की वजह से रामदेव उधर से आ रहे थे। उन्होंने बड़ी वीरता के साथ डाकुओं का मुकाबला किया और उनके झोंकों को असफल कर दिया। राजकुमारी शम्भदेव की वीरता से बड़ी प्रभावित हुई और एक दिन वह आया जब दोनों दाम्पत्य जीवन में आबद्ध हो गये।

वह पोकरण से रूपेचा चले आये और वहां एक नगरी की स्थापना की। उनके व्यवहार से लोग इतने प्रसन्न हुये कि वहां के सब लोग ने मिलकर उन्हें उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर दिया। संत और शासक का ऐसा सम्बन्ध उनमें हुआ कि वहां के निवासी सुख और आनन्द में जीवन व्यतीत करने लगे। अनेक साधु-महात्मा वहां आन लगे।

रामदेव का अधिकतर समय सत्संग में ही बीतता था। वह सभी धर्मों को आदर देते थे, उनका कहना था, उद्देश्य एक है, सत्त्व एक है पर कितने ही संत इसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। धर्मों के सम्बन्ध में भी उनका यही कहना था कि पुल मान्यताएं सभी धर्मों की एक हैं विभिन्न धर्म अलग-अलग रास्तों की तरह हो सकते हैं, पर मंत्रित तो एक ही है।

धर दूर-दूर क्षेत्रों में जाकर दलितों और आभावग्रस्तों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करते थे। भेदभाव का उनकी दृष्टि में कोई स्थान न था।

जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान के लक्ष्मी नगरी में सत रामदेव समाधिस्थ हो गये। वहीं उनकी मूर्ति अज भी बना हुआ है। वर्ष में दो बार भक्तजन एकाग्र होकर उन्हें श्रद्धांजलि देते हैं। वहां जुड़ने वाले मेले में राजस्थान ही नहीं गुजरात, सौराष्ट्र और मालवा शक के व्यक्ति बड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं।

हिन्दू मुसलमान दोनों ही इस रुत के प्रति आदर की भाव व्यक्त करते हैं। हिन्दुओं के लिये यदि वह संत थे तो मुसलमान उन्हें पीर कहकर पूजते हैं। जन-जन के प्रति समता का भाव रखने के कारण ही उन्हें यह सम्मान प्राप्त है।

साधु ऐसे चाहिए जैसे राघव दास

भारत माता के सौ में से अस्सी पुत्र गांवों में रहते हैं भारत की गरीब जनता का कल्याण करना है तो गांवों का उत्थान करना होगा।

गांवों में आर्थिक स्वतंत्रता मिले बिना स्वतंत्र स्वराज्य और सुराज्य के लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। यह जानने वाले बाबा राघव दास को संत विनोबा भावे का भूदान, ग्राम दान अभियान लगा। बाबा सनझ में आ गये। फिर विशेष सोच-विचार करने की आवश्यकता क्या थी संकल्प ले लिया पाँच लाख एकड़ भूमि मांगने का। और यत्न पड़ पड़ता पर। ग्यारह महीनों में ३०० मील की पैदल यात्रा की। इस बीच ३००० एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

अपने कर्म क्षेत्र बिहार में विनोबा जी की पदयात्रा के दौरान बाबा राघव दास का उन्हें जो सहयोग मिला उसे देखकर उन्होंने कहा था "भूमिदान की आवश्यकता को लेकर मैं अकेला था किन्तु बाबा राघव दास का पात्र मैं एक से ग्यारह हो गया हूँ।

अठ वर्ष तक कठोर श्रम करके बाबा राघव दास ने बिहार और उत्तर प्रदेश में एक सौ सम्पूर्ण ग्राम; ५०,००० एकड़ भूमि ४८,००० हाथपट, ४०,००० रुपये की अचल सम्पत्ति, २,००० मन अन्न, ४० जोड़ी बैल, १,४०० वृक्ष; २० कुएँ; ५० मकान और लगभग २०० सोने के औजार दान में प्राप्त किये। उनकी इस कर्मनिष्ठा ने भूदान, पाप दान जैसे कल्पना को सत्य का ठोस आधार देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि लोगों में सद्भावनाएँ और सहृदयता अभी भी विद्यमान हैं। वे अपने अंतरंग से भी परिचित हैं अपने बन्धुओं के लिये अपने सम्पदा में से बिना किसी दबाव के अंशदान दे सकते हैं। यह कोई श्रेष्ठी बात नहीं थी। बाबा राघव दास ने लोक-मंगल के लिये निःस्वार्थ भाव से यह जो तपस्या की है वह उन तपस्याओं से हजार गुना श्रेष्ठ है, जो केवल स्वर्ग और प्रीति की स्वतन्त्रित एगणाओं से प्रेरित हो गरी-कटाराओं में बैठ कर की जाती है।

बाबा राघव दास के जीवन के रुच यह एक दिव्य उपलब्धि नहीं जुड़ी है। ऐसे अनेक लोकरोपकारी कार्य उन्होंने अपने जीवन में किये। युवावस्था में स्वतंत्रता संग्राम में कुद पड़ने और उसके अनन्तर संन्यास ग्रहण कर सर्वतोभावेन अपने यश राह व समाज के लिये समर्पण कर स्वतंत्रता के सक्रिय कार्यकर्ता गोरखपुर क्षेत्र की बहुमुखी उन्नति के लिये अपने आप को खप देने वाले जन नायक शिक्षा प्रचार के अग्रदूत, पीड़ितों तथा दलितों के सेवक बन्धु आदि के रूप में उन्होंने जो यश कीर्ति अर्जित की है वह उन्हें स्मरणीय तो बनाती है है रुच ही संन्यास का सच्चा स्वरूप भी प्रस्तुत करती है।

समाज की सेवा के दो रास्ते हैं एक जन-सामान्य के लिये है— गृहस्थ का और उन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये जो आ ना रागा जीवन ही समाज को समर्पित कर देना चाहते हैं। तप और अभ्यास द्वारा वे अपने आप को उस सम्पूर्ण समर्पण के लिये तैयार कर लेते हैं वह मार्ग है संन्यास का। गृहस्थ और संन्यास दोनों ही मार्ग हैं। पर संन्यास का मार्ग गृहस्थ की अपेक्षा अधिक कठिन, अधिक दुरूह होने के कारण विशेष लोक के लिये ही है। जो यह समझते हैं कि उनके सामन सेवा सुधार व जागरण का काम इतना आश्रित है कि वे अपना मुख-सुविधाओं के लिये और विवाह करने पत्नी का भार अपने की प्रक्रिया में जीवन का अधिकांश भाग बिना देने की लोच भी नहीं मकते उनके लिये संन्यास का मार्ग उपयुक्त है। किन्तु पठ

में पड़े रहना या अकर्मण्य बनकर समाज का भार बढ़ाना तो संन्यासी का धर्म नहीं। संन्यासी का कार्य तो समाज का भार हलकन करना है उसे बढ़ाना नहीं। संन्यासी का जीवन सतत् कर्मण्यता व कष्टों का जीवन है। संन्यास को बाबा राघव दास ने इसी रूप में स्वीकारा था और जीवन भर निभाया था।

इन सच्चे संन्यासी का जन्म सन् १८९६ में एक भरे-पूरे सम्पन्न परिवार में हुआ था। ये जब सत वर्ष के थे तभी महात्मा में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। इनका परिवार भी उस महामारी की चपेट में आ गया। उनके अतिरिक्त परिवार में जो सात सदस्य थे वे एक-एक करके काल के गाल में समाते चले गये। अब बच रहे राघवेन्द्र। सात वर्ष के इस सवेदनशील बालक के मन पर इस घटना का स्थायी प्रभाव पड़ा। पानी के बुलबुले जैसे इस जीवन का सदुपयोग क्या हो? यह प्रश्न उसी दिन से उनके पस्तिष्क में चक्कर खाटने लगा।

बहनों के घर पालित-पोषित हुए राघवेन्द्र दसवें व्रश्चा तक ही पढ़ पाये। आगे की पढ़ाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का ज्वर बहा ले गया। ज्यों-ज्यों वे सज्ञान और शिक्षित होने गये और अपने पूर्व प्रश्न पर चिन्तन-मनन करते गये उनके मन-पस्तिष्क में यह स्पष्ट होता गया कि ईश्वर द्वारा इस संसार में उसके द्वारा बनाए गये प्राणियों को सेवा करना ही इस पानी के बुलबुले जैसे जीवन का सर्वोष्ठ उपयोग है।

यही विचार उन्हें संन्यास की मंजिल तक ले गया। बचपन की कटु स्मृति से उपजा वैराग्य उन्हें महाराष्ट्र से मधुरा, हरिद्वार, बनारस और फिर गाजीपुर के मोनी बाबा के आश्रम में ले आया। बरहज में अनन्त महाप्रभु के आश्रम में पहुँचकर वे राघवेन्द्र से राघवदास बन गये। किन्तु उनका यह संन्यास मात्र तप-साधना तक ही सीमित नहीं रहा। वस्तुतः तप-साधन का उद्देश्य तो अपने शरीर-मन और चित्तवृत्तियों को आत्मा के वल में करना होता है। ताकि वे कसो उसे पथ भ्रष्ट न बना दें। राघव दास ने भी एक एकलुप्त गुफा में रहकर कुछ वर्षों तक तप-साधना की। यह सधना सम्पूर्ण हो जाने पर वे कर्मक्षेत्र में जा कूदे। यही गुफा में बैठ कर तप-साधना करने वाला युवक आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण सेनानी बन गया। तप-साधन द्वारा तपाये गये शरीर और मन से उसने भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से जिलिप्ता रह कर अपने संकल्प का निर्वाह किया।

गोरखपुर जिला उन दिनों एक प्रकार से सैरा पड़ा था। इस क्षेत्र की जनता में स्वतन्त्रता प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई जागरण के चिह्न नजर नहीं आते। इस सोयी जनता को जगाने का बहुत कुछ श्रेय बाबा राघव दास को है। वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर देशवासियों को अंग्रेज सरकार के उखाड़ फेंकने के लिये उद्बोधन देते श्रुमते उनका यह प्रयास सफल हुआ। वहाँ की जनता जागी। अपने अधिकारों के दायित्वों की ओर उसका ध्यान गया।

सामूहिकता की प्रबल शक्ति से कुछ भी असम्भव नहीं है। इस रेच्यार्ई को उनके मार्गदर्शन में उस क्षेत्र के निवासियों ने प्रत्यक्ष देखा।

१९३६ के चुनाव में गोरखपुर जिले में कांग्रेस के प्रत्याशियों के सामने ग्यारह राजा खड़े हुए। तब तो सर्व प्रकार से समर्थ थे। किन्तु कांग्रेस की हालत पतली थी। उन दिनों वह जनता की अपनी पार्टी थी—जनता की तरह ही गरीब। पाँच रुपये महीने पर किराये पर लिये कांग्रेस कार्यालय का भी पाँच माह का किराया बाकी था। बनिये के सकल रुपये उधार थे। प्रत्याशियों से चंदा उगाहा गया तो इतने ही रुपये इकट्ठे हुए कि पार्टी का वह कर्ज उतर जाय। अब प्रचार कैसे करें। किन्तु राघव दास जी हिम्मत हारने वालों में से नहीं थे, उन्होंने गाँव-गाँव की पदयात्रा करके एक महीने में तीन सौ स्वयं सेवक तैयार किये। उन्होंने प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि गरीबों की पार्टी के ग्यारहों उम्मीदवार ग्यारहों राजाओं को हराने में सफल हुए वह भी कम नहीं ३५-३५ हजार वोटों से।

यह चुनाव ही एक उदाहरण नहीं है उनके जन-नेतृत्व का वरन् ऐसे कई उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। गोरखपुर के निकट नामक स्थान पर ४ १/२ मील लम्बा बाँध बाँधना था। ३ १/२ मील लम्बा बाँध सामूहिक जन-शक्ति के श्रम दान द्वारा मात्र छह दिन में बाँध दिया गया। सातवें दिन एक मील लम्बा बाँध और बाँधकर सप्ताह का संकल्प जो लिया गया था उसी अवधि में पूरा कर दिया। बलिया जिले की ८ हजार एकड़ भूमि को बचाने के लिये इसी प्रकार एक ४ १/२ मील लम्बा नाला केवल दस दिन के श्रमदान में पूरा खोद दिया गया। वर्षा में भीगते हुए पाँच हजार लोगोंने ने निरर्थक श्रमदान किया अन्तिम दिन तो यह संकल्प दस हजार तक पहुँच चुकी थी। इस क्रम में केवल १५० रुपये खर्च हुए जबकि सरकार ने इस कार्य के लिये ८० हजार रुपयों की योजना बनाई थी। यह सब उनके नेतृत्व का ही फल था।

वे स्वयं पैदल तक पड़े हुए थे पर उनकी प्रेरणा से गोरखपुर क्षेत्र में हजारों लोगों ने एम. ए. पास किया। उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में कशी को छोड़कर शेष साए प्रदेश शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा हुआ। राघवदास जी की प्रेरणा से वहाँ पचासों हाईस्कूल स्थापित हुए।

वे चाहते तो स्वयं कहीं सिद्धपीठ स्थापित कर सकते थे या तपस्वित संत-महर्षियों की तरह अरण्य का जीवनयापन कर सकते थे, पर उन्होंने तो कर्मण्यता को अपनाया था अकर्मण्यता को नहीं उनके लिये तो कर्म और सेवा ही सच्ची ईश्वर भक्ति थी। एक बार उनके आश्रम के निकटवर्ती टाउन एरिया में सफाई कर्मचारियों की हड़ताल के कारण असह्य गन्दगी फैल गयी। टाउन एरिया के पट्टाधिकारियों का ध्यान इस ओर दिलाने का अभीष्ट परिणाम न होता देख बाबा जी स्वयं हाथ में फव्वारा लिये सफाई करने जा पहुँचे। ग्रामवासियों को एक सन-पहलूया का अपना मत साफ करते देख बड़ी लज्जा आयी, वे भी सफाई में जुट पड़े देखते देखते साए गाँव सफ हो गया।

गोरखपुर क्षेत्र के कोढ़ियों के लिये कुष्ठ आश्रम की स्थापना हो या अपने हाथों से हरिजन के गंदे मैले कुचैले बालकों का ईश्वर

४ ३१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

प्राणिधन भाव से सेवा करना है। घूँ घूँ करके चलने मकान में कूद कर किसान बैलों के लिये अपने प्राण संकट में खलने हों या किसी बाढ़-प्रस्त बुढ़िया की सहायता में उसकी चक्की को सिर पर उठाना हो बाबा राघव दास सदा आगे रहते थे। उस क्षेत्र के गाँव-गाँव में उनकी सेवा की किंवदन्तियाँ प्रचलित हो चली हैं। सभी कहते हैं यही साधु ही तो बाबा राघव दास जैसे, काश ! आज के लाखों साधु उनके चरण चिह्न पर चलते तो उनका साधु होना सर्वक हो जाता।

घोरी चौराहा के ११४ में से १५ अभियुक्तों को फाँसी के फंदे में उतार लेने का अधिकार श्रेय राघव दास जी को ही जाता है वही वे व्यक्ति थे जिन्होंने अंग्रेजों के निर्णय को चुनौती दी थी। दिन रात दौड़-भूप करके उन्होंने अपील के लिये धन एकत्रित किया। पहले वे पं मोती लाल नेहरू के पास गये थे परन्तु वे तो महामना मालवीय जी का द्वार खटखटाया और उन्हें छोड़ी हुई बकलत एक बार इसी मुकदमे के लिये पुनः पकड़नी पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि ११४ में से १५ को फाँसी की सजा रद्द करके उनकी पुन सुनवाई करनी पड़ी।

जीवन के अंतिम क्षणों तक वे सेवा कार्य में ही जुटे रहे। मध्य प्रदेश में भूदान, प्रायः दान के लिये पदयात्रा करते हुए वे शीत से पीड़ित हो चल बसे, 'जनवरी, १९५८ के दिन।' पर उनकी याद बाकी है सत्कर्मों के सेवा साधना के रूप में बाबा राघव दास का जीवन साधुओं के लिये आदर्श और जनता के लिये साधुओं की कसौटी का काम करेगा।

परमात्मा की सेवा का प्रत्यक्ष अवसर

गाँव के बाहर एक साधु आसन बिछाकर ध्यान हेतु बैठने की तैयारी कर रहे थे कि गाँव से बड़े जैरो का कंलाहल सुनई पड़ा। कुछ सोचें तब तक लपलपाती आग की लपटें दिखाई पड़ने लगीं। लगा जैसे क्षितिज जल रहा हो। वस्तुस्थिति को पारखते देर न लगी और वे ध्यान की तैयारी छोड़कर दौड़ पड़े। न रास्ते का ध्यान था, न पाँवों में जूते-छप्पल पहनने का। ऊबड़-खाबड़ खेतों में भागे जा रहे थे। खेतों में अरहर की खूंटियाँ बार-बार उनके पैरों में चुप जातीं, जिससे पैर लहलुहान हो गये। इसकी भरवाह किसे थी। दूसरों के कष्ट निवारण में अपने कष्ट को भुल बैठना, सहते जाना ही तो तप है। वे भागते गये, जब तक कि भटनासपल पर पहुँच न गये।

पहुँचकर देखा। एक विशाल हवेली में आग की लपटें शीले उगल रही हैं और घर के लोग बाहर खड़े छाती पीट रहे हैं। सारे जीवन की संचित कमाई को फुँकते देखकर किसी अती न फटेगी। घर का मालिक चिल्ला रहा था— कोई बचाओ रे, ये बैल भीतर बंधे हैं चिल्लाने वाले और बाहर खड़े लोगों में से किसी की हिम्मत न थी कि जाकर बैलों को खोल दे।

साधु के मन में घरी करुणा छत्रक पड़ी। उन मूक पशुओं के प्रति हृदय दया से भर गया, जो अपनी सहायता के लिये किसी को नहीं पुकार सकते थे। उन्होंने एक कम्बल लपेटा और तेजी से पम्पन में घुस गये। बैलों को खोजने और खोलने में थोड़ा समय तो लगा

ही। तब तक आग ने द्वार को घेर लिया था। बाहर खड़े लोग आश्चर्य में थे— अब क्या होगा ? पर दुबले-पतले सन्यासी ने छलांग लगायीं और आग के बाहर, बैल भी बाहर आ गये। बाढ़ में सभी के सहयोग से आग पर कनू पालिया गया। सभी उनकी सरहना करने में जुटे थे और साधु पुन ध्यान करने बैठ रह गये। उपासना की नियमितता में विघ्न के बावजूद उनके चेहरे पर कृतज्ञता निश्चित प्रसन्नता थी। कृतज्ञता इसलिये कि भगवान् ने सेवा का अवसर जुगाय और प्रसन्नता इस कारण कि आज साक्षात् परमात्मा की सेवा का अवसर मिल सका।

यह संन्यासी थे— बाबा राघव दास। जिनके जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ आयें जब उन्होंने पूजा-उपासना से अधिक महत्त्व सेवा और संवेदना को दिया। सकीर्णता की छोटी-सी काल-कोठरी में कमनाओं की बेड़ी, बासनाओं की हथकड़ी पहने सिकुड़ी-सिमटी, दबी-पिसी जा रही भाव-चेतना को उन बन्धनों से छुटकारा दिलाने का नाम वैराग्य है। इससे छूटी हुई चेतना सहज क्रम में सभी को अपनत्व के दायरे में समेट लेती है। बन्दा का वैराग्य ऐसा ही था।

इसी के द्वारा उन्होंने सेवा और जन-कल्याण की सचन भावनाएँ अर्जित कीं। इसी को उन्होंने अध्येत्य साधनाओं की सफलता और

विश्व को गुरुमय देखने वाले— स्वामी राधारमण चरणदास

यजोहर किले का महिषखोला गाँव। हाट का दिन। एक वृद्ध व्यक्ति ने स्वामन खरीदा और एक गठरी में बांधकर इस प्रतीक्षा में खड़ा हो गया कि कोई राहगीर उस गठरी को उठवा दे। उसकी तथियत खगब थी। बुझार बढ़ता जा रहा था। कितने ही व्यक्ति उसे देखकर निकलते जा रहे थे, पर उनमें किसी ने भी सहायता करने की बात सोची तक नहीं। राधारमण नामक एक युवक उधर से निकला, उसके हृदय में दया का भाव उमड़ आया। वह उस वृद्ध का सारा सामान उठाकर घर तक पहुँचाने के लिये तैयार हो गया। 'नही बाबू जी ! नहीं !! आप मुझे न छुयें, मैं छोटी जाति का हूँ आपको फिर स्नान करना होगा। मैं स्वयं ही चला जाऊँगा।'

उस वृद्ध व्यक्ति ने बड़ी कान्तरता से निवेदन किया। पर राधारमण ने उसकी एक भी बात न सुनी व सामान की गठरी लेकर उस घर तक पहुँचा आया।

मानवता की सेवा करने के लिए जो कृत संकल्प हो उसके मन में छोटे-बड़े और जाति-पाति का भेद अन्त ही नहीं।

इस मानवता के सेवक का जन्म सन् १८५३ में मोहन चन्द्र घोष के यहाँ हुआ था। यह अपने पिता-पिता की तीसरी सन्तान थे जब यह पाँच वर्ष के थे तब पिता और दोनों भाई उन्हें छोड़कर इस संसार से सदैव के लिये चले गये। कुछ वर्षों बाद इनका माँ भी स्वर्ग सिधारी और यह अनाथ हो गये। अनाथ बालक में यदि स्वयं कुछ

बनने की गहनकाक्षा न ही तो समाज का दूषित वातावरण उसे आगे नहीं बढ़ने देता। इन्होंने नडाइत हाईस्कूल में शिक्षा ग्रहण की थी। बाद की सरकारी नौकरों भी मिल गई पर जो पानवना की सेवा का मन लेकर जन्मा हो वह दीर्घकाल तक अपने आत्मसम्मान को बेचना पसन्द नहीं कर सकता। यही हुआ, वह सरकारी नौकरी छोड़कर माँ काली की प्रणाम से अपना घर-बार छोड़कर चल पड़े।

सरयू पर शकराण्य पुरी महाराज से गुरु दीक्षा देकर राधारमण चरणदास के नाम से विख्यात हुए। गुरु का असीर्वाद लेकर यह गया, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों को यात्रा करने निकल पड़े। राधारमण में दयालुता, करुणा, त्याग और क्षमा जैसे देवी गुण बढ़ते ही जा रहे थे। अब वह दूसरे के दुःख का देखकर दुःखी हो जाते और उसकी सहायता के लिए भरपूर प्रयास करने। किसी विद्यार्थी को धूप में तपते देखने तो उसे अपना छात्रा दे देते। कई व्यक्ति सड़ों में ठिठुरना दिखाई पड़ना तो उसे अपने ऊँची चादर उड़ा देते।

परंतु सकारिता उनके जीवन की विशेषता बन गई थी उनके गाँव में बच्चों के पढ़ने के लिये विद्यालय न था। गर्मों के दिनों में गाँव के कुँए सूख जाते तो कई-कई मील से पानी भर कर लाना पड़ता था। गाँव वालों की इन समस्याओं को यह अनुभव कर रहे थे। उन्होंने प्रयत्न करके एक विद्यालय तथा एक पुष्करिणी तैयार करवाई और इन समस्याओं को हल किया।

अपने गुरु के द्वारा उन्हें जो आदेश मिले थे उनमें एक यह भी था कि प्रभु नाम का प्रहर सर्वत्र किया जाय। उन्होंने घूम-घूमकर व्यक्तियों को ईश्वर उपासना में लगाया। उनके सम्पर्क में ऐसे अनेक व्यक्ति भी आते थे जिन्हें ईश्वर की शक्ति पर विश्वास नहीं होत पर वह उस नाम की शक्ति से असम्भव कार्य भी सम्भव करके दिखा देते और लोगों के मन में ईश्वर के प्रति कड़ा उत्पन्न करते। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करते समय कर्तान की भावना उनके मन में न आती थी और सम्मान से स्वयं बहुत दूर रहते थे।

जीव दया, हरि सकीर्तन और सत्संग उनके जीवन के प्रमुख सिद्धान्त थे। इन्हीं के आधार पर उनके सब क्रियाकलाप चलते थे। सन्त तुलसीदास जहाँ स्सार को लियारान मय देखते थे वहाँ राधारमण इस विश्व को गुरुमय देखते थे। उनकी दृष्टि बड़ा विशाल थी वह तो चोर डाकू और विश्वासघाती तक को अपना गुरु मानते थे और उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर लेते थे। उनकी दृष्टि में गुरु दो प्रकार के हैं एक अनुकूल और दूसरे प्रतिकूल। अनुकूल गुरु सदाचारी होते हैं और ऐसे व्यक्ति श्रेष्ठ कार्य के लिये प्रेरणा देते ही हैं पर प्रतिकूल गुरु जो पाखण्डी और दुराचारी हैं वह भी अप्रत्यक्ष रूप से हमें कुछ सिखाते हैं। जैसे एक चोर हथकड़ी डले हुए बाजार से निकल रहा है उसे हम सड़क के किनारे सड़े देख रहे हैं। दर्शकों की दृष्टि उपेक्षा तथा घृणापूर्ण रहती है पर उसका यह प्रतिकूल आचरण भी अपने मूक भाव से सत्य मार्ग पर चलने, ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है— 'सावधान! कभी चोरी मत करना' यदि चोरी की अथवा अन्य कोई ऐसा बुरा कार्य किया जो कानून की दृष्टि में अपराध है तो आपको भी वही दण्ड होगी जो मेरी हो रही है' इस तरह वह प्रत्येक

दुराचारी को भी प्रतिकूल गुरु मानकर कुछ न-कुछ सांखने की इच्छा रखते थे। इस तरह उनकी उत्तरता और सहृदयता का स्पष्ट पता लग जात है।

बाबा राधारमण चरणदास जीव मात्र को ईश्वर का, गुरु का अंश मानकर सेवा के लिये तैयार रहते थे।

एक शताब्दी पूर्व अंग्रेजी शासन की नींव हिलाने वाले—गुरु रामसिंह

महात्मा गांधी से बहुत पहले अहिंस और असहयोग आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार की नींव को हिला देने का सर्वप्रथम प्रयास सनगुरु रामसिंह ने किया था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने सन् १९३५ में लिखे एक लेख में यह स्वीकार किया था कि असहयोग आंदोलन का सूत्रपात नाथधरियों में सर्वप्रथम गुरु रामसिंह द्वारा ही किया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू भी यह मानते हैं कि इसी मार्ग पर चलकर कांग्रेस पार्टी ने देश को स्वतंत्रता दिलाने में सफलता प्राप्त की।

गुरु रामसिंह की भक्ति और देश प्रेम की भावनाएँ बचपन से ही प्राप्त थी। इनका जन्म सन् १८१८ में लुधियाना जिले के भैगी गाँव में एक बड़ई के घर हुआ था। इनके पिता का नाम बाबा जस्सासिंह और माता का नाम सदाबैर था। प्रारम्भिक शिक्षा माता की गैद में बैठकर प्राप्त की और बहुत जल्दी ही इन्होंने गुरु-वाणियों तथा शब्दों को कठस्थ कर लिया। घर से बाहर जाने का अवसर मिलता तो अपने सर्वधियों के साथ बैठकर इन वाणियों को गवा करते थे। रात को स्पेते समय उनकी माँ भूल-पलीतों की कहानियाँ सुनाकर धयधीन नहीं करती थी वरन् धार्मिक कहानियाँ सुनाती थीं जिससे देश प्रेम की भावना और सात्विक विचारधारा धीरे-धीरे विकसित होने लगी।

अध्यात्म का रंग उन पर गहरा होना जा रहा था। सन् १८३६ में जब वे महाराज रणजीत सिंह की सेना में भरती हो गए, वहाँ भी सैनिक कार्यों में अवकाश मिलते ही वह गुरुद्वारा पढ़े जाते थे और गुरुवाणी तथा धार्मिक प्रवचन सुना करते थे। समाज में गिरते हुये नैतिक स्तर को देख कर उनका हृदय बड़ा दुःखी था। वह सांसारिक झंझटों से दूर रह कर अपना सारा समय समाज की सेवा में बिताना चाहते थे।

पाँस-पाँस तथा अन्य नशीली वस्तुओं के प्रयोग का वह विरोध करते थे। अधिक दिनों तक वह सेना में कार्य नहीं कर सके। एक दिन सारा सापान छोड़ कर वह घर चले आए। पर घर भी उनका कार्यक्षेत्र न बन सका। वह सन् १८४१ में हजारा गए और वहाँ गुरु बालक सिंह से दीक्षा ग्रहण की। गुरु बालक सिंह उस समय गुरु गोविन्द सिंह की गद्दी पर ग्यारहवें स्थान पर विराजमान थे। उनके सात्विक विचारों से गुरु बालक सिंह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया और आगे चलकर वह उस गद्दी के बारहवें स्थान पर सुशोभित हुये।

४३३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

वह बहुत ही उदार विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने समाज की गलतियों को देखा। उस समय दहेज, माँसाहार, चोरों तथा अनैतिकता का साम्राज्य व्याप्त था। सर्वप्रथम उन्होंने विधवा विवाह की स्वतंत्रता दी और कहा जब पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार है तो पति की मृत्यु हो जाने पर विधवाओं को भी दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिये। उन्होंने सम्राट में देखा कि विवाह के नाम पर लोगों का हजारों रुपया नरबाद हो रहा है, किन्तु ही माता-पिता अपनी लड़कियों का बिकवाह दहेज पिशाच के कारण नहीं कर पाते। इसके विरुद्ध गुरु रामसिंह ने बानावरण निर्धन करना प्रारम्भ कर दिया। माँस, मदिरा तथा अन्य नशीली वस्तुओं, झूठ और चोरी आदि के लिये भी निषेध किया।

सुदूर सबाया और इयोदा रुपया व्याज से कम-कम कर अपनी तिजोरियाँ भर रहे थे, मनुष्यों की मजबूरी का फायदा उठाते थे। ऐसे लोगों से गुरु रामसिंह ने दुःखी-दरिद्र व्यक्तियों की सेवा के लिये निवेदन किया ताकि धन कुछ मुठियों में जकड़ कर दुर्गन्ध न फैलाता रहे।

अंग्रेजी दासता से मुक्त करने तथा गौ-वध के कत्तक को हटाने के लिए उन्होंने कूकबोरों का आह्वान किया और कहा "अब समय आ गया है जब उन्हें देश और जाति की बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए कमर कस कर तैयार हो जाना चाहिये।"

गुरु रामसिंह का उद्देश्य ग्रंथ साहब तथा गुरुगोविन्द सिंह के मदेश का प्रचार-प्रसार करना था। उस समय अनेक सिखों को सामाजिक कुतर्कियों ने जकड़ लिया था। धार्मिक दृष्टि से उनकी स्थिति बड़े डाँचा-डोल हो गयी थी। गुरु रामसिंह ने उनकी स्थिति सुधारने के लिये भरसक प्रयत्न किया। सन् १८५७ में वैसाखी के पुनित अवसर पर खाँड़े का अमृत तैयार कराके स्त्री और पुरुषों को अमृतपान कराया। अब तक स्त्रियों को दीक्षा न दी जाती थी। उन्होंने कहा जब दैतों में समान आत्म का निवास है फिर उन्हें किसी कार्य से वंचित क्यों रखा जाये। प्रथम बार उन्होंने वैसाखी के उस विशाल मेले में स्त्रियों को भी दीक्षा दी।

गुरु रामसिंह केवल धर्म प्रचारक या समाज सुधारक ही न थे वे सच्चे देश-भक्त भी थे। वह जानते थे कि अंग्रेजी शासन के अधीन रहकर धर्म प्रचार की बात तो दूर रही समाज सुधार का कार्य भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अंग्रेज तो प्रत्येक कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

उन्होंने लोगों से कहा कि देश को अंग्रेजों की दासता से तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता जब तक अपना सर्वस्व खोखला करने के लिये लोग तैयार नहीं हो जाते। उन्होंने सर्वप्रथम असहयोग आन्दोलन को चलाया। उन्होंने नामधारियों से कहा कि 'अंग्रेजों के द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों, न्यायालयों, रेलगाड़ियों और डाकघरों का प्रयोग न करना चाहिए।' हम विदेशी वस्तुओं को न पहनें और न अंग्रेजों के अधीन किसी प्रकार की नौकरी स्वीकार करें।

उन्होंने आन्दोलन की दृष्टि में सम्पूर्ण राजाब को २२ गुप्त विभागों में बाँटा था और डाक की ऐसी अच्छी व्यवस्था की कि गुरु रामसिंह का प्रत्येक सुन्दर वस्तु जल्द ही प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँच जाता था। अप्रैल १८६३ तक अंग्रेज अधिकारी इस आन्दोलन को धार्मिक ही समझते रहे पर बाद में इस आन्दोलन का गानावाधियों को देखकर शंका प्रकट की जाने लगी।

अंग्रेज अधिकारियों ने डानोवन ने सन् १८६३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये कहा कि "गुरुसिंह ने हमारे विरुद्ध दो लाख व्यक्तियों को विद्रोह करने के लिये जागृत कर दिया है और बहुत शीघ्र ही वे हम लोगों को पंजाब से बाहर निष्काशन देना चाहते हैं। नामधारियों की शक्ति बढ़ती जा रही है और सभी सिक्ख इस पथ के अनुयायी होते जा रहे हैं। यह भीषण कुन्क एक दिन आन्दोलन के रूप में बदल सकता है। अतः भयानक उधल पुधल की स्थिति से बचने के लिये हमारे सरकार को अभी से सतधान हो जाना चाहिये और उदयना को नॉति को परिवर्तित कर देना चाहिये।"

अबाला डिपॉजिट के कर्पिनर पि. फोरसीम ने इससे ४ वर्ष बाद सन् १८७२ में इस आन्दोलन की गतिविधियों से भयभीत होते हुये कहा कि "नामधारियों ने अपने दुत भारत की सीमाओं से बाहर नेपाल, कम्बूल तथा रूस तक भेजे हैं और उनके अनुयायी इसे बात का प्रचार-प्रसार बड़े जोर से कर रहे हैं कि अब अपना राज्य शीघ्र ही स्थापित होने वाला है।"

भक्तधारी अपनी गतिविधियों को और तेज करते जा रहे थे परधानता के वातावरण में उनका दम घुट रहा था। गुरु रामसिंह का एक शिष्य बहासिंह अंग्रेजी राज्य को समूल नष्ट करने के लिये कमर कस कर तैयार हो गया। उसने घोषणा भी कर दी कि हम सन् १९२८ तक जर्जिया और आर्मेनिया में युद्ध करेंगे।

इतना कहना था कि बहासिंह अंग्रेजों का जानो दुश्मन माना गया। इस आन्दोलन को कुवलने के लिये अंग्रेज अपनी कूटनीति का सहारा लेने लगे। मन्त्रों परन्तु उन्होंने गौ-वध की बात उठाकर हिन्दू मुसलमानों में श्रेष्ठ द्वन्द्व शुरू किया। इसके बाद बर्बरतापूर्ण ढंग से नामधारी ब्राह्मणों का लोग के सामने खड़ा करके उड़ाया जाने लगा।

भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास में १७ जनवरी १८७२ को दिन शहीद दिवस के रूप में जाना जाता है। इस दिन मन्त्रि केंद्रता में मनधारी वीरों ने अपना जीवन की अर्पित दी थी। कूकबोर अलग अलग जालिया में जलदश कर्म हुये आने और ताप के नामन सीना खोल कर खड़े हो जाते और दुन्दुर से क्षण नष्ट और मरानी रूप से उड़ा दिये जाते।

गुरु रामसिंह भी अंग्रेजों के तन्द के सामने खड़े किन्तु गुरु उन्होंने सतगुरु के चरण का स्पर्श किया और मन्देय की लय में नृभूमि पर बलदान हो गये। उनका यज्ञगाथा शतान्दिया नक्त गानृभूमि पर गिरने वाले व्याजनों को प्रस्था देना रहेगी।

आत्मनिर्माण के आचार्य— श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय

समाज में असाध्वी १५ महीने पुन्य हो गये होंगे तिनक सत्कार न हो सका कहे। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक १५ महीने पुन्य हो गये होंगे तिनक सत्कार न हो सका कहे। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक १५ महीने पुन्य हो गये होंगे तिनक सत्कार न हो सका कहे। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक १५ महीने पुन्य हो गये होंगे तिनक सत्कार न हो सका कहे। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक १५ महीने पुन्य हो गये होंगे तिनक सत्कार न हो सका कहे। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

में प्रवेश लेना किसी के लिये भी अप्रतिष्ठा का प्रसंग था, किन्तु ज्ञान के भूखे रामानन्द चट्टोपाध्याय को प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा से क्या मतलब था। एक तो किसी शिक्षार्थी बटुक का इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता फिर उनका ध्येय तो शिक्षा प्राप्ति करना था न कि प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा की देखभाल करना। किसी महान् उद्देश्य के लिये आवश्यकता पड़ने पर स्वाभिमान को परिधि से निकल कर दो कदम अवगमन की ओर चल लेना कोई निन्द्य का विषय नहीं है बल्कि निरहंकारिता का सूचक कर्तव्य है जो हर प्रकार से सराहनीय है। शुभ कर्म में आड़े आया हुआ स्वाभिमान वास्तव में स्वाभिमान नहीं अहंकार अथवा दम्भ ही होता है जो माध्यमिक लगन वाले व्यक्ति को शायद पतन्युत कर ही देता है।

प्रारम्भिक पाठशाला में बालक रामानन्द का कार्य किसी प्रकार चलता रहा, किन्तु दस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसे आर्थिक कठिनाई के कटे अधिक छटकने लगे। चेतनाशील चट्टोपाध्याय ने स्ववलम्बन का सस्तरा लिखा। उसने अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त धीरे परिश्रम करके एक छात्रवृत्ति परीक्षा उत्तीर्ण की जिसके फलस्वरूप उसे चार रुपये मासिक की वृत्ति मिलने लगी।

स्ववलम्बन पूर्ण पुरस्कार का पीछा फल पाते ही बालक का विश्वास झटिरा। वे उन्नीस हो उठा और उसने अपने जीवन में परिश्रम की प्रतिस्थापना कर ली। जिस विद्या विभूति की एक शिशु किरण ने उसके जीवन में आलोक की छिड़की खोल दी उसका मध्याह्न कितना प्रकाश पूर्ण होगा? इसका अनुमान लगाने में रामानन्द को अधिक कठिनाई नहीं हुई।

अध्ययन एवं अध्यवसाय में लगे हुए रामानन्द की आत्मा-‘विद्या-विद्या-विद्या’ का मंत्र बपती हुई उन्हें उन्नीस ओर बढ़ाने लगी जिससे उसकी प्रतिभा उत्तरोत्तर प्रस्फुरत होती चली गई और वह पाठशाला का एक चमकीला छात्र गिना जाने लगा।

अँग्रेजी की दूसरी कक्षा में एक बार देश के ख्यातिनाम विद्वान् श्री रामचन्द्र दत्त ने रामानन्द की प्रतिभा से पुलकित होकर उसका चमत्कार देखने के लिये बड़े ही उद्विग्न प्रश्नों से उसकी परीक्षा ली। अपने परिश्रमी स्वभाव और निष्ठापूर्ण लगन के कारण सदैव सन्तुष्ट बालक रामानन्द ने वह मुनोती स्वीकार की और अँग्रेजी में पिछ्यानवे प्रतिशत अंक लेकर श्री दत्त को यह सोचने पर विवश कर दिया कि क्या वे अपने बाल्यकाल में कभी किसी परीक्षा में इतने अंक ला सके थे?

सत्रह वर्ष की स्वल्प आयु में रामानन्द ने न केवल प्रवेशिका की परीक्षा ही उत्तीर्ण की बल्कि सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में आवश्यक पुस्तकों तथा अन्य सामग्री का अभाव होते हुए भी चौथा स्थान पाया। रामानन्द की यह सराहनीय सफलता बीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति में रूलीभूत हुई जिससे वे अपने बड़े भाई रामशंकर चट्टोपाध्याय की पीठ पर से अपने सम्पूर्ण धार हटा लेने में कृत कृत्य हुये और गिनव्यापिता के साथ अपने अध्ययन का कार्यक्रम सुविधापूर्वक चला सकने में आत्मनिर्भर हो गये।

प्रवेशिका की परीक्षा देने से पूर्व ही उनके पिता का देहावसान हो चुका था जिसके मोच ने रामानन्द का जीवन और भी सजग एवं सचेष्ट बना दिया। रामानन्द सारा काम अपने हाथ से करते थे और अपने पर काम से काम खर्च किया करते थे। वे केवल दस रुपये में अपने भोजन, बस्त्र और पढ़ाई का खर्च चलाते थे। तेल की बचत के लिए वे अपना सारा काम दिन में ही पूर्ण कर लिया करते थे।

छात्र जीवन में भी रामानन्द चट्टोपाध्याय का स्वच्छता एक विशेष गुण था। अन्यधिक अर्थभाव के बीच भी उनके बस्त्र चाँदी की तरह स्वच्छ तथा समकदर रहा करते थे। उनके वस्त्रों को देखकर अनेक साधियों को सन्देह हुआ कि इनके पास कई जोड़े कपड़े होंगे। उन्होंने एक दिन अवसर पाकर सन्दूक खोला तो पता चला कि एक जोड़ा कपड़ों के अतिरिक्त उनके पास कोई दूसरा बस्त्र न था। उनके साधियों ने वस्त्रों का सीमान्त अभाव होने पर भी उनकी शुभ वस्त्रता का रहस्य पूछा। उन्होंने साधियों को बतलाया कि वे मित्य प्रति अपने वस्त्रों की स्वयं ही धोते हैं और बड़ी परकाह के साथ पहनते हैं। मुझे गन्दगी से घोर घृणा है, इसमें दरिद्रता का निवास रहता है और इसलिए इससे बचने के लिए मैं मित्य गंधा, आध घण्टा वस्त्रों पर परिष्कृत किया करता हूँ। गन्दगी तथा मलीनता, बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को मन्द बुद्धि बना देती है। गन्दगी से बचना छात्र जीवन की पहली शर्त है।

एक एक पास करने पर उन्हें पच्चीस रुपये मासिक भुति मिलने लगी और कलकत्ता के सिटी कॉलेज से बी. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने पर स्टेट स्कॉलरशिप देकर उन्हें विलायत भेजे जाने के प्रस्ताव होने लगे। किन्तु जब यह प्रस्ताव श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के सम्मुख आया तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। अनेक हितैषियों ने उनकी इस इन्कारी को बुद्धिमत्ता नहीं माना और विलायत जाने के लिये दबाव डालने लगे। विलायत हो कर अपने पर एक ऊँची सरकारी नौकरी की निश्चित सम्भावना को निताञ्जलि न देने के लिये अनुरोध करने लगे। किन्तु स्वाभिमान, देशभक्त श्री रामानन्द ने यह कहकर सब का समाधान कर दिया कि मैं सरकारी छावृत्ति पर विलायत जाने की कृतज्ञता रूप सरकारी दायित्व नहीं कर सकता। जिस धनीत विद्या को मैंने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है उसे देश में विदेशी शासन की सहायता से लगा कर कलाकृत नहीं करना चाहता, इसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से मैं स्वयं अपने देश और समाज की सेवा करूँगा।

जहाँ तक ऊँचे ओहदे और घने वेतन का प्रश्न है उसकी मुझे कोई कामना नहीं है। जनसेवा को मैं सबसे ऊँचा पद और सन्तुष्ट पूर्ण मितव्ययिता को सबसे बड़ी सम्पन्नता मानता हूँ। अपने अभाव की पराकाष्ठा में जो घन हमें लान्छयित न कर सकें वह भला अब क्या लालायित कर सकता है, जब ससार की सृष्टियों की मूल विद्या देवी की कृपा प्राप्त कर चुका हूँ।

निदान उन्होंने आई सी एस की सम्भावना को छोड़ कर सिटी कॉलेज में अवैतनिक शिक्षक के रूप में अपना सेवा कार्य प्रारम्भ किया और इस प्रकार अपने शिक्षा मन्दिर का कण युक्त होये कायस्थ कॉलेज में एक छटा पड़कर पाठे हुए सौ रुपये मासिक वे अपने काम चलाने लगे, अनन्तर शिक्षा क्षेत्र में से पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर आये। विद्यार्त्तकों में निर्धारित पद्धत्यक्रम के अतिरिक्त वे विद्यार्त्तियों को अपनी ओजस्वी विचारधारा में दीक्षित न कर सकते थे। अपने विचार जन-जन तक पहुँचाने और स्वतन्त्र रूप से उनकी सेवा कर सकने के लिये अध्ययन के सीमित क्षेत्र से निकल पत्रकारिता के व्यपक, विस्तृत एवं विचार प्रधान क्षेत्र में आ गये।

सबसे पहले उन्होंने अम्बर चन्द बसु द्वारा प्रकाशित 'ब्राह्म बन्धु' नामक मासिक पत्रिका का कार्य अपने हाथ में लिया। अनन्तर 'ब्राह्मो पब्लिक ओपीनियन', 'इण्डियन मेसेन्जर' तथा 'तत्त्व कौमुदी' नामक पत्रों का सम्पादन सभाता। 'शिशु पाठ', 'इण्डियन स्टैन्ड', 'मार्डन रिव्यू' आदि पत्रिकाओं का धार उन्हें अनुरोधपूर्वक सौंप गया।

जहाँ तक इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन का सम्बन्ध है उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जिस पत्र-पत्रिका को श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का सम्पर्क प्राप्त हुआ वे अपने समय की क्रान्तिकारी पत्रिकाएँ बन गईं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जिस समय श्री चट्टोपाध्याय के विचार प्रकाश में आये तो क्या देश और क्या विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो उठा।

स्वाभिमान, चट्टोपाध्याय ने अपने विचार स्वातंत्र्य के लिये अपने को किसी भी स्थिति में बेच नहीं। जिस समय वे 'लीग ऑफ नेशनस' के कार्य निरीक्षक बन कर जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड, सैकोस्लोविया, आस्ट्रेलिया और इटली आदि देशों के दौर पर गये उस समय उन्होंने लीग ऑफ नेशनस से अपना शमन व्यय नहीं लिया। जहाँ उनके इस त्याग में नि स्वार्थ सेवा का भाव था वहाँ यह विचार भी था कि यदि वे 'लीग ऑफ नेशनस' से अपना व्यय ले लेंगे तो एक प्रकार से उसके वेतनभोगी बन जावेंगे और तब ऐसी दशा में उसकी निष्पक्ष आलोचना न कर सकेंगे।

विश्व स्थापित और विश्व प्रतिष्ठ के व्यक्ति होने पर भी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय बड़े ही सरल एवं निरहंकारी पुरुष थे। श्री क्षीरानन्द चन्द्र पात, शरत्चन्द्र राय तथा उनका पत्नियों एवं सम्प्रान्त व्यक्तियों ने मिलकर पण्डित तथा रोगी व्यक्तियों की सेवा सुश्रूषा करने के लिये एक अश्रम की स्थापना की। इस आश्रम का नाम 'दासाश्रम' रखा गया। इस अश्रम के सम्पादन सभी कृत्नीन ब्राह्मण वंश के थे। अनएव उन पण्डितों, नीचों तथा गणियों की सेवा करने में सबको सक्ते हो रहा था।

निरहंकार वेतन तथा मुक्त सेवा भावी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने उस समस्या का समाधान बड़ी सरलता से कर दिया। उन्होंने कहा— ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व का कोई अधिकारी मैं नहीं हूँ। मैं

तो अपने को एक सेवक एक शूद्र समझता हूँ। अतएव आश्रम का सेवा कार्य मुझको सौंप जाना चाहिये। श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय स्वयं भी एक कुलीन ब्राह्मण थे किन्तु अन्यो की तरह वे संकुचित तथा सकीर्ण भावना वाला व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने ज्ञान के प्रकाश में सेवा के महत्त्व को समझा और ऊँच-नीच, ब्राह्मण, शूद्र आदि की रुढ़ि भावना को अपेक्षा विवक को अधिक महत्त्व दिया।

आत्मविश्वास, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बल पर आत्म निर्माता श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक साथ विद्वान् सेवक, अध्यापक, नेता और पत्रकार आदि सभी कुछ थे।

इसका जन्म बंगाल प्रान्त में बंकुड़ा की पाइक पत्नी में सन् १८६५ की १६ ज्येष्ठ तिथि को हुआ था।

स्वामी विद्यानन्द—समाज की पीड़ा जिन्हें संन्यास से खींच लाई

विद्यानन्द जी का जन्म आन्ध्रप्रदेश के कोणुड़ा कस्बे में सन् १९०२ में हुआ था। पिता नरहरि बलकन्त पंडित्यार और माता अंचला साधारण गृहस्थ थे और धर्म के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था थी थी। उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारवान बनाने का हर सम्भव प्रयत्न एक सन्तरे अभिभावक की ही भाँति किया। लात्न-पालन, लाड़ प्यार में भी बच्चों ने कोई कमी नहीं की।

तो भी २५वें वर्ष की आयु में पैर रखते ही विद्यानन्द ने बल्लभ मतानुयायी महात्मा केशव-सुत से संन्यास टीका ले ली और गृह-परित्याग कर दिया। यह दोष न तो उनके सस्यारों का था न धर्मपत्नी और माता-पिता का, बल्कि हमारे सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति है ही ऐसी कि कोई भी अल्प-विकसित व्यक्ति उसमें भटक ही सकता है। धर्म का एक ही स्वरूप है, अन्धी श्रद्धा और अन्ध-भक्ति—जिसमें जीवन की शुद्धता और पवित्रता को स्थान नहीं इतना ही शेष रह गया है। बालक विद्यानन्द को भी तो यही बताया गया था कि संसार मोह है मिथ्या है, भ्रम-जाल है, इसे दुर्गन्ध की तरह परित्याग करके केवल ईश्वर भजन ही करना चाहिये। फिर यदि भरी जवानी में उन्होंने अपनी धर्मपत्नी और परिवार का परित्याग कर दिया तो इसमें उनका क्या दोष था? आज इन्हीं गृह मान्यताओं के कारण सैकड़ों अपरिपक्व बुद्धि कमजोर मानस के बच्चे नरुण और प्रौढ़ नासमझी में बाबा बनते चले जा रहे हैं और सुरसा के मुँह की तरह संन्यासिणों, सन्तों, महात्माओं का परिवार बढ़ता चला जा रहा है।

विद्यानन्द जी का परिवारजक जीवन प्रारम्भ हुआ तीर्थयात्रा में उन्हें सैकड़ों सजातीय सन्तों से भेंट हुई पर उनके बिगड़े स्वभाव, बुरे आचरण और मिथ्या दम्भ को देखकर उनके हृदय में प्रारम्भ में जो ईश्वर दर्शन की जिज्ञासा उठी थी वह धीरे धीरे विलुप्त होने लगी। एक दिन उन्होंने महात्मा गंधी जी से भेंट की अन्तःकरण की आकुलता उनके सामने व्यक्त की तो बापू जी ने उन्हें समाज सेवा का प्रेरण देते हुए बताया—“परमात्मा का एक व्यवस्थित और

वैज्ञानिक स्वरूप है” उसे समझना और स्वध्याय के द्वारा जाना और अनुभव तो किया जा सकता है, पर मनुष्य सांसारिक कर्तव्य पालन को तिलाजलि देकर उसकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। संसार न माया है, न मिथ्या। मया-जाल तो मनुष्य की वासनायें और तृष्णायें हैं, इन्हें जीता जा सके तो क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी किसी को भी ईश्वर बड़े ढंजे से मिल सकता है।”

विद्यानन्द बापू की बातों से बहुत प्रभावित हो हुये पर उनके साथ और भी साधु थे जो अपने कथन की पुष्टि निरन्तर किया करते थे। फलस्वरूप विद्यानन्द जी का अपना कोई विचार नहीं बदला, हाँ वे यह अवसर अवश्य ढूँढ़ते रहे कि यदि संन्यास लिया ही है तो हमें सच्ची आत्मशक्ति और ईश्वर दर्शन का अधिपत्य प्राप्त करना ही चाहिये। इसके लिये वे गीता, रामायण, भागवत सब कुछ पढ़ते थे, पर उन्हें न कभी शान्ति मिली और न सन्तोष या आत्म साक्षात्कार हो हुआ।

एक दिन विद्यानन्द हरिद्वार में एक कुटी के भीतर बैठे कुछ विचार कर रहे थे, तभी एक स्त्री बाबाओं-पिछारियों को पैसा बाँटती निकली उस को ने एक ओर बैठे पास-पास दो बाबाओं की ओर दो पैसे और एक अने के दो सिक्के फेंके। दोनों साधु पैसा उठाने को लपके। एक को इकन्नी मिली दूसरे को आध आना तो परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ कि उसने इकन्नी मुझे दी। दोनों ही पक्ष अपने को इकन्नी प्राप्त करने का अधिकार बताने लगे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ कि चीमटों से थार-मारी होने लगी जिससे एक बाबा का सिर फूट गया और उसे अस्पताल भेजना पड़ा।

इस घटना ने विद्यानन्द को वर्तमान साधु-वृत्ति से उलटा विचार करने की प्रेरणा दी। उन्होंने सोचा क्या यही बेपार्थी समाज के मार्ग-दर्शक महन्त्र हैं, जो संसार को तो माया और मिथ्या बताते हैं पर स्वयं एक कोढ़ी के लिये सर-फुटबॉल तक कर सकते हैं अन्तःकरण पाप दुर्वासनाओं और कुत्सित विचारों से भरा पड़ा हो तो धिक्कार है, ऐसे साधुपन को। उससे तो सीधे-सादे गृहस्थों का जीवन ही अच्छा जो अपने परिश्रम की कमाई खाते हैं और परिवार तथा बच्चों की सेवा कर लेते हैं।

विचार की दिशा बदल ही रही थी कि एक और घटना बाराणसी में घटी। उन दिनों वे शणिकर्षिक में किसी गृहस्थ के यहाँ ठहरे थे। वहाँ पड़ोस में एक साधु के प्रवचन हुआ करते थे। विद्यानन्द कुछ जन्मने की अधिलाषा से कई दिन उसमें सम्मिलित हुये पर एक दिन जब साधु का वहाँ आगमन न हुआ तो उन्होंने उनकी तलाश की। पता चला कि वे जहाँ ठहरे थे, उसी घर की किसी बहारी कन्या का शीलभग करने के प्रयास में पकड़ गये। वहाँ उनकी खूब पिटाई हुई और वे चुपचाप रात में कहीं भाग गये।

यह सुनते ही विद्यानन्द जी का मन संन्यास के प्रति घृणा से पर गया। एक दिन वे आरा के किसी गाँव में भिक्षाटन कर रहे थे

४.३७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

जिस घर में पीछ के लिये आवाज लगाई, वह किसी अत्यन्त निर्धन गृहस्थ का घर था। घर की स्त्री जो निर्धनता और सामाजिक अत्याचारों के कारण अत्यन्त दुर्बल और कृशकाय हो रही थी, घर से थोड़े चावल लेकर निकली। पीछे उसका छोटा बच्चा भूख-भूख चिल्लाता हुआ फटी धोती पकड़ घुमा आ रहा था। बच्चे का कम्पन रुदन सुनकर भावुक विद्यानन्द अधीर हो उठे।

हाथ में भिक्षा लिये उस स्त्री की धर्म के प्रति ऐसी प्रगाढ़ आस्था देख कर उनका मन किया कि उसे धनवान होने का आशीर्वाद दे दें, पर भीतर से किसी ने कहा— विद्यानन्द आशीर्वाद से किसी की स्थिति बदल देने की शक्ति तुम साधुओं में नहीं होतो तो आज देश की यह दुर्गति न होती, जो तुम ४ साल के देशव्रतन में देख चुके हो। यदि तुम किसी का भला नहीं कर सकते तो किसी पर अश्रित रहना भी पाप है।

विद्यानन्द का विचार एकदम बदल गया। अब उन्होंने निश्चय किया कि वे सच्चे हृदय से गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये समाज की सेवा करेंगे। अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार वे एक दिन अपने घर लौट आये और बाह्याङ्गमर का जो जौला था उसे उतार कर जहर फेंक दिया।

धर्मपत्नी की तो प्रसन्नता का फरावर न रहा। उसने परमात्म को अपना सुहाग लौटा देने के लिये कोटिशः धन्यवाद दिये, पर गाँव वालों में विद्यानन्द के उपहास का तूफान आ गया। लोग पूछने-भाई माया-जाल में ही रहना था तो यह सब बाना क्यों बनाया था।

विद्यानन्द मुस्करा देते, प्रतिवाद या उत्तर देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

शीघ्र ही लोग समझे कि उनकी वह गम्भीर मुस्कराहट लज्ज और अश्रवपूर्ण थी। अब तक गाँव में एक भी स्कूल न था। दो-चार ही ऐसे साधनसम्पन्न और साहसी लोग थे जो बच्चों को पढ़ाने के लिये सड़ से १५ मील दूर भेजते थे। विद्यानन्द जो ने गाँव में एक फठशाला चलाई। प्रारम्भ में उसमें कुल ३ विद्यार्थी थे पर उनकी मेहनत, त्याग और तपश्चर्या के फलस्वरूप अन्त में यह विद्यालय बालक-बालिकाओं की शिक्षा का उच्चतर प्राथमिक विद्यालय बना जहाँ बच्चों को नैतिक शिक्षा, धर्म और अध्यात्म के सही स्वरूप को समझाने की भी व्यवस्था रखी गई।

इसके बाद विद्यानन्द ने कृषि कार्य से अपनी आजीविका कमाते हुये, आस-पास के गाँवों और सारे प्रान्त में सैकड़ों स्कूल खुलवाये व सौ शिक्षा का खूब प्रसार किया। स्वयं भी प्रतिदिन अपनी धर्मपत्नी को एक घण्टे पढ़ाते थे, उनकी योग्यता यहाँ तक बढ़ी कि गाँव में लड़कियों के स्कूल की प्राध्यापिका भी बनी निधुक्त हुई।

नैतिक शिक्षण के उद्देश्य से विद्यानन्द ने प्राथमिक शिक्षा संस्था के साथ एक-एक पुस्तकालय गलाया। ६० वर्ष की आयु तक विद्यानन्द जी ने समाज की सम्पूर्ण हृदय आत्मा से सेवा की उसके प्रतिफल आज परित्यक्त हो रहे हैं। लोग बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करते हैं और उनके साहस, सेवा-भाव और सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं।

पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

मानवीय मूल्यों के संस्थापक— डॉ. किंग

डॉक्टर मार्टिन लूथर किंग अपनी निराशा तथा कमजोरी को छिपाये हुए भावपूर्ण दिखे जा रहे थे। श्रोताओं पर आत्म के अनुरूप प्रभाव नहीं पड़ रहा था। तभी अचानक गिरजाघर के द्वार पर मदर पोलाई नामक एक महिला अचानक खड़ी हो गई, उन्होंने डॉक्टर किंग को बड़े प्यार से बुलाया, वह आये और धीरे-धीरे होकर उनके गले से चिपट गये।

मदर पोलाई ने पूछा— 'बच्चे ! आज क्या बात है ? तुम्हारी वाणी में जो शक्ति होनी चाहिए वह अभी सुनाई नहीं दे रही थी। क्या तुम गोरों से घेराव हो गये हो अथवा हम लोगों का तुम्हें पूरा सहयोग नहीं मिल रहा है ?'

डॉ. किंग ने अपनी झोंप मिटाते हुए कहा— 'मदर ऐसा तो कुछ भी नहीं है। मेरी वाणी तो सदैव की तरह आज भी सशक्त है।'

मदर पोलाई ने समझाते हुए कहा— 'मैं तुमको बार-बार समझाती रही हूँ कि हम लोगों का पूरा-पूरा सहयोग तुम्हें सदैव प्राप्त होगा। थोड़ी देर को यदि वह मान भी ले कि हम तुम्हारा साथ नहीं दे रहे हैं तो ईश्वर पर सदैव भरोसा रखना चाहिए, वह निश्चित रूप से हर भले काम का साथ देता है।'

वे वे शब्द थे जो डॉक्टर किंग के कानों में जीवन भर गूँजते रहे। उन्हें ईश्वर के प्रति आभिनन्दना ने ही कठिन से कठिन परिस्थितियों से जुझने का सहस्र प्रदान किया था। ऐसे साहस के धनी डॉ. किंग का जन्म अमरीका की नीग्रो जाति में हुआ था। सन् १९५४ तक इस जाति के लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार न था, उनके लिए स्कूल अलग होते थे। किसी बस से यात्रा करनी हो तो उन्हें सबसे पीछे की सीट दी जाती थी। होटल और रेस्तराँ आदि में वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। अलूतों की तरह उनकी बस्तियाँ अलग होती थीं। डॉ. किंग ने जब नीग्रो जाति की इस प्रति अवस्था को देखा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इस जाति के लोगों में साहस और घेतना का ऐसा संचार किया कि वे इन सामाजिक कुग्राहों का मुकाबला स्वयं अपनी शक्ति से कर सकें।

डॉ. किंग बचपन से ही मोठे के सहित्य का अध्ययन करते रहे थे। इसी की प्रेरणा से उनके मन में यह विश्वास जग गया था कि नीग्रो जाति के लोगों को पराधीनता की स्थिति से मुक्ति दिलाने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह है— प्रेम और अहिंसा के द्वारा प्रतिरोध

का। अब्राहम लिंकन के वे शब्द भी उन्हें अच्छी तरह याद थे कि अमरीका आधा स्वतन्त्र और आधा परतन्त्र रह कर अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता।

डॉ. किंग ने जब गाँधी जी के साहित्य तथा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास को पढ़ा तो उनकी दृष्टि बदल गई, उस समय वह अर्द्धमिडोज की तरह चिल्ला पड़े— 'मिल गया मिल गया।' और सचमुच उन्हें सिद्धांत ईसा से और धर्म गाँधी से मिल गया था। वह समझ गये थे कि जब भारतवर्षी हिंसा और शस्त्र बल से देश को स्वतन्त्र नहीं कर सके फिर नीग्रो जाति इस मार्ग पर चलकर अमरीका में नागरिक अधिकार कैसे प्राप्त कर सकती है ? उन्होंने प्रेम के अनाकरण की आवश्यकता अनुभव की। ईसा, बुद्ध और गाँधी की तरह उनका विश्वास था कि घृणा को घृणा के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। इससे अलगाव मालीन होती है और व्यक्तिगत कुण्ठित। प्रेम की शक्ति से ही शत्रु मित्र बन सकते हैं जब कभी शारीरिक शक्ति से, जो कि पारविकता की प्रतीक है लोहा लेना पड़े तो हमें आध्यात्मिक शक्ति का ही आश्रय लेना होगा। क्योंकि यही शक्ति मानव-मन्य के मध्य की गहरी खाई को पाटने वाली है और घृणा को मिटाने वाली है।

सन् १९५५ में जब डॉ. किंग ने नीग्रो लोगों से बसों का बहिष्कार करने के सम्बन्ध में कहा तो अन्य लोगों को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि कभी ऐसा भी हो सकता है पर जब पचास हजार नीग्रो लोगों ने बसों में बैठना बन्द कर दिया तो बस कम्पनी का दिवाल्ला निकलने लगा। वहीं वह प्रमुख घटना थी जिसने संसार का ध्यान डॉ. किंग की ओर आकर्षित कर दिया।

डॉ. किंग ने सारा जीवन ईसा मसीह के सन्देश को सारी मानव जाति तक पहुँचाने में लगाया था। वह भले ही नीग्रो जाति में जन्मे हों पर उनकी कार्यक्षमता और प्रतिभा किसी गौरे व्यक्ति से कम न थी। सन् १९६४ में ६५ वर्ष की आयु में उन्होंने नोबेल शांति पुरस्कार प्राप्त किया था। उन्होंने संसार की विभिन्न जातियों के मध्य जो एक सूत्र को जन्म दिया वह आज के युग का अपने ईग का अनोखा कर्म ही कहा जावेगा। वे ऐसी दीन-हीन पददलित जाति के लिए जीवन-भर अपनी सेवायें समर्पित करते रहे जो अमरीका में अधिकार-हीन मानी जाती थीं। इस जाति को बची देने का क्रम डॉ. किंग को ही है।

डॉ. किंग ने धर्म और विज्ञान का समन्वय करने का प्रयास किया था। वह कहते थे कि विज्ञान धर्म का तार्किक आधार प्रदान करता है और धर्म विज्ञान को नैतिक अराजकता के गर्त में गिरने से बचाता है। वह स्वयं आध्यात्मिक जीवन के प्रति निष्ठावान थे और लोगों

को सत्य का अनुसरण करने का संदेश प्रदान करते थे। वह कहते थे मानव जीवन पहले ही बुरा भंगुर हो पर उसे अविश्वेक के साथ न बिताना चाहिये। इस संसार को जीने के लिये वे ही व्यक्ति बना सकते हैं जो सत्य के प्रति अनुगामी, व्यापक तथा स्वाधीन कृति के हों। वह गांधी जी की तरह जीवन पर सत्य की खोज करते रहे और उसके लिए उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध का अग्रज लिया था। वह सही दृष्टि में ईसा के अनुयायी थे, उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि जो भी विरोधी होंगे उन्हें क्षमा किया जायेगा क्योंकि रंगभेद के आधार पर अंधेरी सयाब में, टीनारे बनाई गई है और जो साइबो खोटी गई है उनसे व्यक्ति अज्ञान के अंधार में घटक रहे हैं। इन्हें डॉ. किंग बुरे की संज्ञा न देना चाहते थे। उनकी नमसज्दी और अज्ञानता पर उन्हें तरस आता था। ऐसी स्थिति में उनके पास केवल एक मार्ग का अवसर था हठान। वे नौप्रो जाति को संश्लेषित तथा सशक्त बनाकर देश का क्रांतिकारी निर्मित करने में लग गये।

डॉ. किंग कहा करते थे कि ८० वर्ष जर्जर होने की अपेक्षा अपनी जिन्दगी अक्षयपूर्ण बना ले बीना कहीं अच्छा है और उनका यह कथन उनके जीवन पर ही लागू होने दिखाई देता है। वह केवल ३९ वर्ष का ही सार्वक जीवन जीकर महात्म्य गांधी और ईसा मसीह की तरह सत्य पर बलिदान हो गये। वह अन्धविश्वास और कुमरपरशों को मानव जाति की प्रगति के लिए सबसे अधिक बंधक मानते थे।

व्यक्तियों का मर्यादा-हीन जीवन देखकर उन्हें बहुत दुःख होता था। वह अपने अनुयायियों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित करते रहते थे कि हमें अपने व्यक्तित्व आधारों में आन्तरिक पूर्णता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार देना चाहिये। वह स्वयं-एक वस्त्र सभी से पूछा करते थे कि अपनी आत्मा अथवा चरित्र को धर्म पर लगाकर यदि सारे संसार की टैलत हमारे सामने रख दी जाये तो उसका क्या उपयोग होगा? वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न है जो केवल अपनी ही लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रखता बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के सम्मुख आता भी वास्तविक रूप में उत्पन्न है।

उनका विश्वास धार्मिक में तो था। वह प्रार्थना को अपना का भोजन कहकर कुमरते थे पर ईश्वर के द्वारा दी गई बुद्धि और कार्यक्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते थे क्योंकि व्यक्तिगत व्यक्ति को पुनर्जात करना ही चाहिये।

प्रिंस क्रोपटकिन—जो जीवन भर अन्याय से लड़ते रहे

कटक का फर्त करता है। जो निरालेता की अपेक्षा बड़ा दूर हो गई है और सैकड़ों निरालेता व्यक्ति फाँसी पर लटक दिए गये। हजारों बेत में रूँप दिये तथा खड़े-खड़े वे अपनी काज काज ही खोले के लिए मर दिये। सारे रुत पर आत्मकथन का सम्बन्ध था। लेकिन जीता ही जीता रुत जाग रहा था। रुतों का अन्तर्मुखी द्वितीय ने अपने हासन वृत्त का संकलन कर ले जलित अंधारों— टूटे-टूटे और सुखेता को खोज दिया था, वे कड़े जिसे फाँसी पर लटका देते

और चाहे जिसे निर्वीर्य कर देते। लेकिन फिर भी क्रांतिकारी गुप्त सभितियों की कार्यवाही देखने में वे सफल नहीं हो सके। ऐसे गोर अज्ञानि-मय क्रांतिकारी में एक अदृष्ट किसान अदृश्य भूत की तरह स्वर से उभर भूत रहा है। लेकिन उसे पकड़ सकना आसान नहीं है। जिन बुलहों और बजहों के बीच वह रुत करता है वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे सैकड़ों की संख्या में पकड़े जाते हैं। कुछ को जेल की सजा मिलती है और कुछ को फाँसी की फाँसी कोई भी उस किसान का नाम-पता बताने के लिए तैयार नहीं होता।

इन सन्तों में ए. बी. गार्डिनर ने जिस व्यक्ति का उल्लेख किया है वह बड़ी प्रसिद्धि से पुलिस की निरपत्ता में आ सका और वह भी तब जबकि उसके साथी बुलहों को उनके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं कर लिया गया। पुलिस और सासन को इस क्रांतिकारी किसान के क्रांतिकारी स्वभाव की बिल्कुल भी जानकारी नहीं थी। वह तो यह समझती थी बोरोडिन नाम कोई व्यक्ति किसानों और बुलहों को उसके विरुद्ध तैयार कर रहा है।

वन् १८७४ की घटना है। बसन्त को सुहानी सन्ध्या थी और सेंट पीटर्सबर्ग में स्थानीय और दूर-दूर से आये वैज्ञानिक ज्योक्रफिकल सोसायटी हाल में एकत्र हुए थे। उन दिनों फिनलैण्ड की क्रांति के निष्कर्षों पर प्रिंस क्रोपटकिन भाषण दे रहे थे। जब प्रिंस ने अपना भाषण आरम्भ किया तो रुस के शास्त्र विद्यालय-जल-प्रलय के सम्बन्ध में ज्योक्रफिकल सोसायटी ने अब तक जो मान्यताये स्थापित की थी वे सब निरुत्तर सिद्ध हुई। उन्होंने एक के बाद एक प्रमाण और तर्क उद्घोषित कर इस विषय में एक नवीन सिद्धान्त स्थापित किया। भाषण समाप्त होने के बाद हाल में उत्पन्न सभी विज्ञान-वेत्ता प्रिंस का अभिप्राय और अदृष्ट प्रभाव लेकर लौटे। आज तक तो उनकी धारणा रही थी कि प्रिंस क्रोपटकिन एक पतन-पथिवा है। पूर्णरूपे निष्ठा में भी उनका विज्ञान महत्त्व प्रवेश है— वह आज ही पता चल सका था। उनके व्याख्यान का इतना प्रभाव हुआ कि उन्हें फिजीकरा ज्योक्रफिकल सोसायटी को ज्योक्रफिकल सोसायटी का ही एक अंग था, का सम्बन्धित घोषित किया गया।

ज्योक्रफिकल हाल से अपना भाषण समाप्त कर वे बाहर आये और अपनी कढ़ी में बैठकर जागे रहे। अभी कुछ दूर पर ही चल पाये होंगे कि एक दुसरे कढ़ी उनके पास से जुबलती हुई आये जागे निम्न कर रुक गयी। उस कढ़ी में बैठे एक बुलहे ने ऊँच कर प्रिंस की ओर देखते हुए कहा— निरालेता बोरोडिन ! सत्य ! दोनों गार्डियन रुक ठी गये और क्रोपटकिन विस्मित नेत्रों से बुलहे की ओर तानने लगे। तब बुलहे के पीछे से कढ़ी में बैठे हुआ सुप्रसिद्ध प्रिंस का कदमों दृढ़ पड़ा और वेत्त— निरालेता बोरोडिन क्रोपटकिन— वे बुद्धि निरालेता रुत हैं। उस वस्तु के हस्तों पर प्रिंस के कुछ और कदमों भी दृढ़ पड़े। उनका विशेष करना कार्य होता और क्रोपटकिन निरालेता कर लिये गये। बाद में उन्हें देता निर्वीर्य की रुत दे दी गयी और उन्हें अपनी कदमों तथा कसों फैली हुई सम्पत्ति

और सम्पन्नता को छोड़कर ४९ वर्षों तक विदेशों में दस-दस की ठोकरें खानी पड़ीं। उनका अग्रणी केवल यह ज्ञान था कि उन्होंने देश के लाखों-करोड़ों लोगों के दुःख-दर्द की चिन्ता की थी। तत्कालीन शासन-व्यवस्था और जन-साधारण की समस्याओं और तकलीफों को हल करने के लिए बनवी जाती है—कस्तूरिका जैश्व से इत्यादि चन्द लोगों के सौक-पौच और सुख-विलास का सम्पन्न बनी हुई थी उसके विरुद्ध उन्होंने आकाश उग्रवी थी और इसी निर्दोष अग्रणी के कारण उन्हें देश निष्कासन योग्य पड़ा।

प्रिंस क्रोएटिया का जन्म १८४२ में इस के एक समुद्र, कुलीन और राजवंशी परिवार में हुआ था। उस समय आरतली का युग था और जार का शासन अपनी विलासिता, पशुपता, अन्धकार, अन्धकार और अन्धकार के कारण कभी इतिहास के पृष्ठों में सदा से एक कालक की घोंटि रहा है। प्रिंस क्रोएटिया अग्रणी में जार के बड़े हाथक और कुचपाव रहे। वही कारण था कि जब वे केवल छठ वर्ष के थे तो उन्हें जार ने अपना काम फर्मा दिया। छठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कभी तथा क्रेम पाक का अध्ययन किया।

उन्होंने सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की तथा नवंबर जनरल के ए. डी. सी. बनकर कार्पोरल बने, वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा वह उनके व्यक्तित्व के बनवीय पक्ष को बहाल कर देने में सफल हुआ। कार्पोरल में उन दिनों जार के कोपचकन बने लोगों को अपनी कृपा की इनीका करते हुए जीवन के सैर दिन कालीय दुर्लभ में गुजराने पड़ते थे। उन दिनों इस में भी दस हफ्ता का कोर था। कुछवों की खरीद, बिजली और उनसे पशुपता व्यवहार की परम्परा खरी थी। कोई भी गुलाब अपने कालिकों के विरुद्ध बल भी पूं करता तो उसे चक्कर खातारों हड़न करने के बाद कार्पोरल में जन्म पड़ता। क्रोएटिया अब नवंबर जनरल के ए. डी. सी. बनकर उस क्षेत्र का डीर करने पहुँचे तो वहाँ की स्थिति देखकर उनका हृदय विद्रोह से भर उठा और उन्होंने पुराना सारवीय सेवा से त्यागपत्र दे दिया।

इसके बाद सेक्टर फीटर्स बर्न यूनिवर्सिटी में चोच वर्ष तक उन्होंने भविष्य और भूगोल का अध्ययन किया। आरतली के लिए देखकर उनके हृदय में विद्रोह और क्रान्ति की जो चक्कर खानी थी उसे दिला देने का ही सम्पन्न करता था वह। वे इन पाँच वर्षों तक लगातार सोचते रहे कि क्या किया क्या चाहिए तथा कैसे किया जाना चाहिए।

शिक्षा सम्पन्न करने के बाद वे अपने भविष्य जीवन के लिए निर्वाचक रूप से कुछ लोग उनके और निरिपता कर रहे। उस समय उनकी ही-ही चक्कर करते विभिन्न लोग थी वे जो क्या वे जार के शासन का विरोध कर, क्रान्ति हुए उसे फल देने की योजना तैयार कर रहे थे। प्रिंस ने ऐसे लोगों से सम्पर्क किया तथा उनके कल में सम्मिलित हुए। उनकी क्रिया, चक्कर और सूर्य बुद्धि के सम्मिलित होकर क्रान्तिवादी पार्टी ने उन्हें यूरोपीय देशों में क्रान्ति की क्रिया और चक्रवर्ति का अध्ययन करने के लिए भेजा। यूरोपीय देशों की चक्कर के दौरान उन्होंने अध्ययन जो किया क्रान्ति का पशु चक्कर को पुन रखने के लिए वह चक्कर भी पूरा किया जिसने उन्होंने चोचता किया

था कि वे भूगोल और गणित के अन्य अध्ययन हेतु विदेश चक्कर पर जा रहे हैं।

स्वदेश लौटकर वे अपने विचारों का प्रचार करने लगे। क्रान्ति उनका धर्म था—अचरम परन्तु उनकी क्रान्ति की परिपक्व कुछ विविधताओं से सम्पन्न थी। क्रान्ति की सामान्य परिपाक में अचित अनुचित का इतना सूत्र अन्तर नहीं सम्पन्न था। लेकिन प्रिंस क्रोएटिया ने सदा ही सम्पन्न और चक्कर की परिकल्पना पर जोर दिया। चक्कर और चक्कर के चक्कर से उन्होंने ऐसे ही पद्धतियों का प्रचार किया जो चक्कर से चोच सम्पन्न रखती थीं।

चक्रवि मेस-जोत उनका सभी से अन्वीकतापूर्ण था तथापि चक्करों के चक्कर के विचार में वे सदैव चक्रवर्ति से चक्कर लेते थे। उनके एक जीवन चरित्र लेखक पेरि मोल्ड स्मिथ ने लिखा है 'जो भी व्यक्ति प्रिंस क्रोएटिया से मिलने जाता था उसकी बात में बड़ी प्रेमपूर्ण मुस्कान और चोच चक्कर से सुनते थे। परन्तु एक बात थी कि फल ही प्रत्येक व्यक्ति और अन्वीकता के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहा जो तथापि चक्करों का चक्कर करते समय वे चक्कर ही चक्रवर्ति से चक्कर करते थे। प्रचार के कुछ क्षणों को क्रोएटिया असह्य मानते थे। अनुचित चक्करों का चक्र करते समय वे चक्रवर्ति से चक्कर करते। चक्रवर्ति फल-पुले चक्करों द्वारा अपने चक्कर की क्रान्ति के सिद्धान्त से उन्हें नफरत थी। चक्रवर्ति चक्कर का चक्कर हो, चक्रवर्ति करने का, विविधियों से व्यवहार करना हो या दूसरे चक्रवर्तियों से सम्पन्न बनना किसी भी रूप में अनुचित चक्करों का प्रयोग वे किसी भी दशा में करना नहीं कर सकते थे।'

विचार इतिहास में इस प्रकार का एक और उदाहरण है—महात्मा गांधी का। दुर्लभ के कई व्यक्तियों ने विचारों प्रिंस की जीवन सम्पन्न और उनकी उपलब्धियों का चक्करकन किया है उनका चक्कर चक्रवर्ति के चक्कर ही सम्पन्न किया है। कई विचारों में महात्मा गांधी ने भी प्रिंस क्रोएटिया के विचारों से प्रेरणा प्राप्त की। उनके विचार, कृति, साहित्यिक रूप और चिकित्सात्मक के सिद्धान्तों को महात्मा गांधी ने उन्हीं का चक्रवर्ति रचीकर किया और अपनी चिकित्सात्मक तथा चक्रवर्ति की चक्रवर्ति चक्कर का चक्रवर्ति ही बन लिया। सन् १८९६ में जब टाउनहाउस के कुछ कार्यकर्त्तव्यों ने कृति सच चक्कर कर लेती करने का निर्णय लिया तो क्रोएटिया ने उन चक्रवर्तियों को प्रेरित किया और इस कार्य में जाने करने सम्मिलित करने से भी अग्रणी किया।

लेकिन क्या बात है कि किसी विचारक को से अधिक चोच अन्वीकता और चक्कर के लिए कालवक होता है। वही कारण था कि उनके अधिक और चक्रवर्ति चक्रवर्ति विचारों के चक्कर की चक्कर चक्कर हो गई और उन्हें चक्कर देना निमित्त दे दिया। सन् १८९६ से १९१७ तक के इतिहासीय वर्ष उन्हें अपने देश से चक्कर निकलने पड़े। वह चक्कर था कि इस प्रकार क्रोएटिया का चोच चक्कर चक्रवर्ति। चक्रवर्ति दण्ड और दण्ड ने चक्कर और चक्रवर्ति के चक्करों का चक्रवर्ति करने में चक्कर चक्रवर्ति पड़ी है। चक्कर

५४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—९

लोगों की बात और है जो इन अत्याचारों से घबराकर मुँह बन्द कर लेते हैं वस्तुतः उन्हें तो इन सिद्धान्तों में आस्था होती ही नहीं है क्योंकि दमन तो उन चांटों की तरह है जिन्हें सहन करते-करते आप्रभुषण में—आदर्शों के प्रति निष्ठा-भावनाओं में और भी अधिक प्रखरता आती चली जाती है।

क्रोएशियाई ने इस अवधि में कई देशों का घमण किया और क्रान्ति की जड़ें सींचीं। इन्हीं दिनों उनकी पुष्कर बाणी के साथ-साथ लेखनी से भी मुखर होने लगी। इस काल में उनके निर्वाह का यही मात्र साधन था। स्विटजरलैण्ड के बाद वे फ्रांस गये और वहाँ जार के इशारों पर फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें अवरण ही डायें वर्ष तक जेल में रखा। यह कारावास उनके जीवन की प्रमुख उपलब्धियों का काल बना। जेल में उन्होंने 'परस्पर सहयोग' और 'हेटी का सवाल' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनका विश्वव्यापी महत्त्व है।

सन् १८८६ ई. में उन्होंने लन्दन से प्रिंटिंग पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इन्हीं दिनों एक दुःखद घटना घटी। उनके बड़े भाई जो वैज्ञानिक शोध कार्यों में रत थे ने अत्यहन्त्या कर ली। क्रोएशियाई द्वारा क्रान्ति का प्रचार करने के कारण उनके अप्रज से बदला लिया गया। पहले तो बारह-तेरह वर्षों तक उन्हें साइबेरिया के अन्य-स्त्रोक में रखा गया। फिर जब उनके सुटकार के दिन आए तो उन्हें देश निर्वासन की सजा दी गयी। इन परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने आप को गोली मार ली।

सन् १९१७ में जब रुस की क्रान्ति सफल हुई और वहाँ समाजवादी शासन की स्थापना हुई तो वे रुस लौट आये और रुसी सरकार के प्रधान कैरेन्सकी ने उनका स्वागत करते हुए सुस्मय रखा—आप हमारे सरकारी मन्त्रिमण्डल में कोई-सा भी पद चुन लीजिए।

लेकिन आजीवन सेवान्वीत प्रिंस क्रोएशियाई ने विनम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ८ फरवरी, १९२१ को उनका देशान्त हो गया। जब वे मरणमग्न हुए तो लेनिन ने मस्को से सक्रिय डॉक्टर और भोजन औषध आदि सामग्रियाँ भेजी थीं। आज भी उनके जीवन की स्मृति दिलाने वाली वस्तुएँ उनके नाम पर स्थापित म्यूजियम में सुरक्षित हैं। परन्तु उससे भी अधिक उनकी स्मृतिवाँ लोगों के मन प्रसिद्ध पर जीवित है और रहेगी।

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक सीमांत गाँधी

हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। अंग्रेजों की तब भी यह धारणा थी कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते रहे तो उन्हें पुनः शासन करने का अवसर मिल जाय। इसलिए जाते-जाते एक विशेष की चिंगारी छोड़ गये। वे भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान—दो टुकड़ों में विभाजित करना चाहते थे। मुहम्मद जिन्ना पाकिस्तान—पृथक देश की माँग पूरी करने हेतु अड़ गये। उन्होंने दिनों एक व्यक्ति ऐसे भी थे जो यह जानते थे कि किसी तरह देश का विभाजन रुक जाए।

वे थे खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ जिन्होंने अपना सारा जीवन अन्याय से संघर्ष करने में लगा रखा है। वे अन्त तक कहते रहे कि देश का विभाजन किसी के हित में नहीं है। परन्तु उनकी बात उसी तरह अनसुनी कर दी गई, जैसे एक समय गाँधी जी की बात किसी ने न मानी थी।

देश का विभाजन तो हो गया किन्तु उनका यह विश्वास था कि हमारी सीमा अलग कर हमारे हृदयों को नहीं बाँटा जा सकता। हिन्दू और मुसलमान हमेशा की तरह एकता के सूत्र में बंधे रहेंगे। उनमें पाईचारे का व्यवहार सख्त बना रहेगा।

भारत का विभाजन पूर्ण हुआ। कुछ हिस्सों को मिलाकर पाकिस्तान का निर्माण किया गया। उस समय यह विश्वास व्यक्त किया गया कि सीमावर्ती प्रान्तों के साथ ही पख्तूनों के अधिकार और उनकी संस्कृति सुरक्षित रहेगी। उन्हें भी उन्नति का समान अवसर दिया जाता रहेगा। उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा। परन्तु कुछ ही दिनों में यह विश्वास हवामहल सिद्ध होने लगा। पाकिस्तान के नेतागण अपने स्वार्थ-सिद्धि में डूब गये। कुर्सी का मोह और दुरुपयोग बढ़ने लगता है तो अपने भी पराये लगते हैं। उनके अधिकार सीमित कर दिये गये। विरोध करने वाले को जेलों में टूँस जाने लगा। सद्दय और सवेदनशील व्यक्ति अन्याय सहन नहीं कर सकता। उसकी मान्यता तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हुआ करती है। किसी एक वर्ग अथवा जाति पर अन्याय किया जाना उसे कभी भी सहन नहीं हो सकता। खान अब्दुल गफ्फार खान ने यह देखा तो उनका हृदय तार-तार हो गया। वे इस अन्याय के प्रति संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए और दुर्गम परिस्थितियों में आज भी अपने ध्येय पर डटे हुए हैं।

खान ने पतनवृत्त का बड़ी फन्दा पुनः गले में लिपटा हुआ अनुभव किया। वे सत्य, अहिंसा और शांति के पुजारी हैं, उनका विश्वास है कि विन्न धार्मिक एकता के कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए पख्तूनों की पृथक पख्तूनिस्तान की माँग का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। पाकिस्तान ने उन्हें देशद्रोही करार दिया। उन्हें जनता को भड़काने वाला व्यक्ति कहकर सजाया जाने लगा। वहाँ तक कि उन्हें जनता से अलग रखने के उद्देश्य से कठिन यातना सहित कारावास में रखा गया। वे चाहते थे कि जेल की चहारदीवारी में चौख-चौख कर उनका मनोबल टूट जाए। तानाशाही शासन के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध उनकी आवाज कभी न ख़ुल सके। न उन्हें भरेपेट भोजन दिया जाता, न बीमार होने पर उनका उपचार किया जाता, उन्हें पत्र-व्यवहार की सुविधा से वंचित रखा गया। परन्तु इसका परिणाम कुछ जलटा हुआ। कठिनाइयों में मुड़ जाना कच्चे लोहे का काम है, फौलाटी इस्पात टूट सकता है पर कठिनाइयों से समझौता करना उसे नहीं आता।

शक्ति नहीं व्यक्त की निष्ठा लोगों को पुष्करती है और अनुगामी बनाती है। अखिर उन्हें इस्काह हेतु लन्दन भेजा गया। ज्यों-ज्यों दवा की गई, बीमारी बढ़ती गई। उनकी आँखों के सामने पख्तूनों

पर किये गये नृशंस व्यवहार का दृश्य चलचित्र की तरह दिखलाई पड़ता तो वे सिहर उठते। वे अन्याय के प्रति संघर्ष करने का बीड़ा उठा चुके थे। अतः यह संघर्ष जारी रखना चाहते थे। पाकिस्तान वापस आने पर पुनः नर्वरतापूर्ण व्यवहार के शिकार हो सकते थे। अतः विदेश में ही रहकर अपना आन्दोलन जारी करने का निर्णय ले लिया। वे लन्दन से काबुल चले गये। वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। यह स्वागत किसी व्यक्ति का नहीं बल्कि सिद्धान्तों का था। संघर्ष ही जिनका जीवन हो, ऐसे स्वतन्त्रता के पुजारी का सम्मान स्वागत कौन नहीं करेगा। अपने निजी स्वार्थों की अपेक्षा सामाजिक स्वार्थ को ऊँचा समझने वाला व्यक्ति सचमुच अधिनन्दीय होता है। वे यदि निजी स्वार्थ में डूबे रहते तो पख्तूनों को कभी सिर ऊँचा करने का अवसर नहीं मिलता और स्वतन्त्रता भी नहीं मिल पाती।

सत्य और अहिंसा के पुजारी तथा स्वाधीनता आन्दोलन के इस तपस्वी नेता का जन्म सन् १८९० ई. में हुआ था। इनके पिता बहराम खाँ सीमान्त स्थित उत्तमनजई गाँव के रहने वाले थे। इसकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के मक़तब में हुई। उच्च शिक्षा प्राप्त करने को विदेश जाने के इच्छुक थे। बड़े भाई साहब द्वारा वहाँ जाकर एक अँग्रेज़ महिला से विवाह किये जाने के फलस्वरूप वहाँ नहीं भेजा गया। इस तरह वे उच्च शिक्षा से वंचित रहे। वे उर्दू की उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु अलीगढ़ गये। वहाँ 'असहिस्त्व' और 'जमींदार' नामक पत्रों के देशभक्ति पूर्ण विचारों से प्रभावित होकर राजनीति की ओर अग्रसर हुए। सीमान्त क्षेत्र में अनेक हालाओं की स्थापना कर उनके द्वारा देशभक्ति का शिक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। पिताजी मना करते रहे क्योंकि उन्हें ब्रिटिश शासकों का भय बना हुआ था। उन्हें बारम्बार यह समझाते रहे कि वे प्रत्येक कदम सोच-समझ कर उठा रहे हैं। हम जिस देश तथा समाज में रहते हैं उसकी समस्याओं से आँख मूँदना आत्म प्रवंचना और कायरता है। पड़ोस में लगी आग से अपना भी घर जल सकता है अतः समझदार व्यक्ति विषम परिस्थितियों में अपने आप ही उठ खड़े होते हैं। गफ्फार खाँ ने बड़ी किया। देश, जाति और धर्म हित की भावना कैसे कुचल जाती। अन्त में उन्हें पिताजी की आज्ञा मिल ही गई। जिनके बच्चे देश की रक्षा और समाज की उन्नति में काम आ जाएँ, ऐसे अधिभावक धन्य हो जाते हैं।

अब खान साहब खुलकर देश सेवा में लग गए। महात्मा गांधी की तरह अपने आपको मानव जाति की सेवा में अर्पित कर दिया। हिन्दू और सिक्ख प्रन्थों का गहन अध्ययन करने के बाद यह पाया कि परमात्मा एक है। 'मन्दिर में पूजा करो, मसजिद में मस्जिदा टेके, गिरजा में बाइबिल पढ़े। ब्रह्म एक ही है दो नहीं। सभी जातियों और मनुष्यों को एक ही पिता ने उत्पन्न किया है। अतः उनके बीच किसी तरह का भेदभाव उचित नहीं।' उनकी इस विचारधारा का मौलवियों ने जोरदार शब्दों में खण्डन किया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचार को इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानते थे। हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता हैं तथा वे पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं। इस्लाम धर्म निराकार

अंगीकार करता है। खाँ साहब उनके तर्क काटते गए। उन्होंने कहा कि मुसलमान भी पत्थरों से बनी मस्जिदों में नमाज़ पढ़ते और कब्रों में संगमरूम को प्रणाम करते हैं। हिन्दू भी बिना किसी प्रकार के निराकार ईश्वर की भी पूजा करते हैं। अतः दोनों में किसी भी तरह का भेदभाव किया जाना उचित नहीं है। उन्होंने कभी भी साम्प्रदायिकता की आँधी को नहीं बढ़ने दिया। अपने जीवन भर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। इसके विरोध में उन्हें कठिन कारावास दिया गया। उनका १७ वर्ष का जीवन पाकिस्तान की काल कोठरी में व्यतीत हुआ उनके साथ ही उनके परिवार वालों के साथ भी वैसा ही व्यवहार जेल के बाहर किया जाता था। एक बार तो उनके छोटे पुत्र हिदायतुल्ला बम्बई से जैसे ही घर पहुँचे वैसे ही गिरफ्तार कर लिये गए। यही हाल उनके दो पुत्रों का भी हुआ। उन्हें अस्वस्थ होते हुए भी कठिन कारावास दिया गया। श्री ओवेदुल्ला खाँ ने तो इसके विरोध में ७८ दिन की भूख हड़ताल की जो अपने आप में रिकार्ड था।

आज हमारे बीच गाँधी जी तो नहीं रहे परन्तु उनके सिद्धान्तों की विरासत लिये खान साहब आज भी प्रस्तुत हैं। उनकी नैतिक, मूल्य और सत्य, अहिंसा की धरोहर के रूप में सीमान्त गाँधी आज भी भारत और पाकिस्तान के जनमानस में स्थापित हैं। संसार में जब तक ऐसे महापुरुष उपस्थित रहेंगे जब तक अन्याय और दमनपूर्ण घृणार्थ कुचली जाती रहेगी।

सत्य के लिए लड़ने वाले— वाल्टेयर

३० मई सन् १७७८ को फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार वाल्टेयर की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के समय उनके सचिव ने एक व्यक्तव्य प्रसारित किया जो वाल्टेयर ने मरने से पूर्व उसे दिया था। व्यक्तव्य में कहा गया था— "वे ईश्वर की उपासना करते हुए, अपने मित्रों से प्रेम करते हुए, शत्रुओं के प्रति किसी भी तरह का घृणा भाव मन में न रखते हुये तथा अन्धविश्वास से किसी भी मूल्य पर समझौता न करते हुए मृत्यु का आलिङ्गन करता हूँ।"

वाल्टेयर ने आजीवन इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की थी और सफल भी हुए थे। उनके जीवन के अभ्येता इस तथ्य को एकमत से स्वीकार करते हैं कि वाल्टेयर वस्तुतः सच्चे ईश्वरवादी थे। पर जब उनकी मृत्यु हुई तो वेरिस के धर्म पुरोहितों ने उनकी अन्त्येष्टि किया ईसाइयों के कब्रिस्तान में न होने दी और उन्हें शहर से बाहर एक गाँव में दफनाया गया। इसका कारण था कि वाल्टेयर ने अपनी लेखनी से हमेशा धर्मान्ध पुरोहितों, शोषण, अत्याचार और धार्मिक लूट पर जमकर प्रहार किया था। उनके जीवन काल में उनसे नैर और शत्रुता रखने वालों को तो लीग कभी का भुला चुके हैं पर वाल्टेयर की ख्याति आज भी देदीप्यमान है। यही नहीं उन्हें फ्रांस की राजवृत्ति का प्रमुख आधार स्तम्भ भी समझा जाता है तथा उसके लिए सबल वैचारिक पृष्ठभूमि निर्माण करने वाला महापुरुष माना जाता है।

५.६ बालपणों के अविकसरीय जीवन प्रसंग—१

बाल्टेयर का जन्म सन् १६९४ ई. में पेरिस के एक साधारण परिवार में हुआ था। जन्म के कुछ समय बाद ही माँ की मृत्यु हो गई, बाल्टेयर काफ़ी कमजोर हो साब हो गया था। पिता सोचते थे इतना रुका और कमजोर बालक क्या जीवित बचेगा ? अतः उन्होंने इस कारण के अनुसार कि परिवार का कोई भी सदस्य गैर ईसाई नहीं होना चाहिए— बाल्टेयर का बपतिस्म कर दिया, पर प्रकृति के विरुद्ध बाल्टेयर जीवित बच गए और स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगे।

बचपन से रुका और स्वास्थ्य से दुर्बल बाल्टेयर पढ़ने-लिखने के मामले में बड़े तेज थे तथा किसी भी विषय का अवलोकन करते हुए उनके मन में जिज्ञासाओं के प्रश्न खड़े होते थे। ज्ञानार्जन के लिए उनके मन में तीव्र लगन था। जब वे पुष्पावस्था में प्रवेश करने लगे तो एक दिन बाल्टेयर के पिता ने उन्हें बुलाकर कहा— 'देखो प्रॉकई (बाल्टेयर के बचपन का नाम था) मैं समझता हूँ तुम्हें अब अपने कर्यक्षेत्र का चुनाव कर लेना चाहिए।'

बाल्टेयर ने कहा कि 'मैंने अपने जीवन का क्षेत्र चुन लिया है।'

स्वाभाविक ही उत्सुकता हुई पिता को, उन्होंने पूछा— 'क्या ?' तो बाल्टेयर ने बताया कि वे साहित्य लेखन को अपने पेशे के रूप में अपनाया पसन्द करते हैं। इससे पिता को कोफ़ा हुआ क्योंकि वे चाहते थे बाल्टेयर एक वकील के रूप में अपना जीवन व्यतीत करें। उस समय बाल्टेयर ने अपने पिता की बात धन ली और कानून की पढ़ाई करने लगे। कानून की शिक्षा उन्होंने शीघ्र पूरी कर ली पर इसके बावजूद भी वे वकील न बन सके। कारण स्पष्ट था— इस दिशा की ओर उनका जरा भी झुकाव नहीं था।

तत्काल तो उन्होंने फ्रांस के एक कूटनीतिक विभाग में नौकरी कर ली और इस नौकरी के सिलसिले में इंग्लैण्ड गये। उस समय फ्रांस में लुई चौदहवें का शासन था जो स्वेच्छाचारी और बहुत ही क्रूर शासक था। क्या राजा तथा प्रजा के अनुसार राज कर्यचारी भी बड़े भ्रष्ट थे और बाल्टेयर ने कदम-कदम पर चतुर्दिक व्यपन भ्रष्टा के कटु अनुभव किए। इस विषयका वातावरण ने ही उन्हें भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता के विरुद्ध कलम उठाने के लिए प्रेरित किया और वे इंग्लैण्ड से शासकीय सेवा छोड़कर वापस पेरिस आ गये। पिता ने नौकरी छोड़ने का कारण पूछा तो उन्होंने एक ही उत्तर दिया कि वे अब साहित्य को ही अपनी जीविका का आधार बनायेंगे। पिता ने दुनियादारी के दृष्टिकोण से समझाया कि लेखक बनने पर भूखों मरना पड़ेगा और मुझसे तुम कोई आशा न कर सकोगे। बाल्टेयर ने अपने पिता की धमकी को चुनौती के रूप में स्वीकार किया तथा साहित्य क्षेत्र में समर्पित भाव से उत्तर आये।

तब से लेकर बाल्टेयर मृत्युपर्यन्त तक लिखते ही रहे। एक दिन के लिए भी उन्होंने अपनी कलम को विराम नहीं दिया। उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं जिनमें कविता, नाटक, इतिहास ग्रन्थ आदि सभी कुछ हैं। उनकी पुस्तकें आज भी फ्रेंच साहित्य का गौरव सगंभी जाती हैं। उनके लेखों में जहाँ ज्वलन्मुखी को-सी विस्फोटक शक्ति है वहीं नवसृजन का प्रेरक धवल उज्ज्वल प्रकाश भी है।

सन् १७७५ में फ्रांस के सफ़ट लुई चौदहवें की मृत्यु हुई। उस समय बाल्टेयर की आयु मात्र इक्कीस वर्ष की ही थी पर वैचारिक दृष्टि से वे प्रौढ़ लेखकों से भी आगे थे। लुई के मरने पर बेतहासा खर्ब किया गया और उस कारण राज्य कोष में काफ़ी कमी आई। उम्मीद की गई थी 'पूरा' करने के लिए लुई के उत्तराधिकारी ने राजकीय पुद्दाल के अन्धे मोड़े बेच दिये। अन्य सभी लेखकों ने तो राज प्रतिनिधि की सूझ-बूझ और भित्तव्ययिता बताकर सराहना की। पर बाल्टेयर ने राज प्रतिनिधि के इस कृत्य पर खरब करते हुए कहा— यदि राज पुद्दाल के इन मोड़ों को न बेचकर उन गणों को 'बिठ कर देता जो राजसभा में धरे हुए हैं तो अच्छा रहता। सचमुच उस समय फ्रांस के शासनतन्त्र पर बागलूनों और अवसरवादी तत्वों का अधिपत्य था। जो काम तो कुछ नहीं करते और बेतन के रूप में राजकोष से मोटी रकमें बसूल किया करते हैं।

तत्कालीन राज्य व्यवस्था को लेकर उन्होंने एक व्यंग्य प्रधान नाटक भी लिखा। वह नाटक जब अधिर्म्यचित हुआ तो राज्य-व्यवस्था की कई दुर्गति परम्पराओं का पर्दाफाश हुआ। खासकर उन अवसरवादी तत्वों को अपने स्वार्थों पर आकात पहुँचाने का भव सवार होने लगा जो राजा के ईर्-गिर्द जमे हुए थे। उन्होंने राज के कान धरे कि बाल्टेयर लोगों को उसके खिलाफ भड़का रहा था। बस फिर क्या था ? बाल्टेयर को गिरफ्तार कर लिया गया और एक वर्ष के कारावास की सजा हो गई।

कारागार में भी बाल्टेयर चुप नहीं बैठे रह सके। वहाँ भी वे कवितार्थ लिखते रहे और जेल में बैठे-बैठे ही उन्होंने एक महाकाव्य की रचना कर रखी। कई धर बाद बाल्टेयर की सजा समाप्त हुई तथा जेल से सूटकर आये तो आते ही उन्होंने 'विरह का अन्त' नामक एक नाटक लिख डाला। इस नाटक ने बाल्टेयर को काफ़ी छ्वाति दे डाली। 'विरह का अन्त' पेरिस में लगातार डेढ़ माह तक खेला जाता रहा तथा प्रतिदिन इसे देखने के लिए सैकड़ों लोग आते रहे जिन दिनों वह नाटक खेला जा रहा था उन दिनों चारों ओर बाल्टेयर ही बाल्टेयर की चर्चा थी। अपने पुत्र की इस प्रसिद्धि को सुनकर उनके पिता स्वयं नाटक देखने के लिए आये और बाल्टेयर— उसे उन्होंने कभी आकरा कहकर दुत्कार दिया था— की पीठ बचपपाये बिना न रहे।

बाल्टेयर को सर्वाधिक सुकृति उनके द्वारा लिखे गए नाटकों से ही मिली तथा उनकी आभटनी का अधिकांश भाग इन नाटकों के अधिध्वन से ही प्राप्त होता था। नाटक लिखकर उन्होंने काफ़ी पैसा कमाया पर उस पैसे का न उन्होंने दुरुपयोग किया तथा न ही उसे खर्च करने में कृपणता बरती। बल्कि वे और अधिक उदार बनते गए। उनके कई कन्यु-बान्धव समय पड़ने पर सहायता के लिए उन्हीं का सहारा लेते थे। बाल्टेयर ने इस बात को धुलाकर कि तभी के दिनों में इन्हीं बान्धवों ने उनका तिरस्कार किया था— उदारतापूर्वक अपने सम्बन्धियों को सहयोग दिया।

उनके लिखे नाटक तथा कविताएँ न केवल जनसाधारण में ही लोकप्रिय हुए वरन् अधिजात्य वर्ग में भी बड़े भाव के साथ अपनाये

गये। पेरिस के कुलीन और सम्पन्न व्यक्तियों ने वाल्टेयर को बड़ा सम्मान तथा प्रोत्साहन दिया। लेकिन इस वर्ग में ऐसे लोग भी थे जो वाल्टेयर की प्रतिष्ठा तथा उनके बढ़ते हुए सम्मान को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते थे। इस तरह के लोगों में शायद वैसे ही परिवार थे जो यह अनुभव करते थे कि वाल्टेयर से उन्हें किसी प्रकार का खतरा हो सकता है।

इसी कारण कुछ व्यक्तियों ने वाल्टेयर की हत्या करवाने का षडयन्त्र रचा। एक रात्रि, जब वाल्टेयर कहीं जा रहे थे तो उन पर गुण्डों ने हमला किया। वे पेशेवर बदमाश थे जो पैसे लेकर हर किसी के साथ मार-पीट या खून-खराबी कर सकते थे। लेकिन गुण्डों ने उनको जान से नहीं मारा, थोड़ी बहुत मार-पीट के बाद वह चकराकर सोड़ दिया कि अमुक व्यक्ति के बारे में अब कुछ मत कहना।

वाल्टेयर समझ गए कि उस व्यक्ति ने इन गुण्डों को भेजा है। वह व्यक्ति एक उच्च अधिकारी था, जिसने वाल्टेयर से एक घेरा में बहुत ही बेहद प्रश्न पूछा था और वाल्टेयर ने उस प्रश्न का उत्तर बेहद शालीन किन्तु क्रारा दिया था इन्हीं से वह अधिकारी के पास गए और कहा—“तुम गुण्डों का सहारा क्यों लेते हो? दम हो तो खुद मेरे सामने आओ और मुझ से मुकाबला करो।”

वह व्यक्ति समझा कि वाल्टेयर ने उन गुण्डों को परास्त कर दिया है। अतः वह और भी ज्यादा भयभीत हो गया साथ ही वाल्टेयर का पुँह बन्द कराने के लिए बिफर उठा। उसने एक बृद्ध आरोप लगाकर वाल्टेयर को जेल भिजवा दिया। कुछ महीने तक जेल में रखने के बाद न्यायाधिकारियों ने वाल्टेयर को इस शर्त पर रिहा कर दिया कि वे फ्रांस छोड़कर अन्यत्र चले जायें। वाल्टेयर ने यह शर्त स्वीकार कर ली तथा वे इंग्लैण्ड चले आये। इंग्लैण्ड में भी उनका साहित्यिक कार्य अनवरत चलता रहा। प्रवास के दौरान उन्होंने अंग्रेजी भाषा का अच्छा अध्ययन किया तथा न्यूटन, शेक्सपीयर और लॉक की रचनाओं को मनोयोगपूर्वक पढ़ा। इसके बाद उन्होंने एक पुस्तक लिखी ‘लेटर्स ऑन द इंग्लिश’ और इस पुस्तक को हाथ से लिखवाकर अपने मित्रों में बाँटा।

सन् १९२९ में उन्हें फ्रांस लौटने की अनुमति मिल गई। वापस आने पर उन्होंने फ्रांस के जन-जीवन का निकट से अध्ययन किया तथा वहाँ की दुर्घ्यवस्था के कारणों को विश्लेषित कर उन पर प्रहार करना आरम्भ किया। उन्होंने पाया कि अभिजात्य वर्ग धर्म-पुरोहितों को एक बुधियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं तथा धर्मजीवी उस वर्ग के हाथों अपने आपको बेच डालते हैं। वाल्टेयर ने इस दुर्गमस्थिति का भण्डाफोड़ करने की ठानी तथा अपनी लेखनी का उस सम्पत्ति और आग उगलने लगे। इससे बड़ी खूबसूरती मची। इन्हीं दिनों एक प्रकाशक ने उनकी पुस्तक ‘लेटर्स ऑन द इंग्लिश’ प्रकाशित कर दी। जिसमें निहित स्वार्थों तत्त्वों पर कड़ा प्रहार किया गया था। पेरिस की पार्लियामेन्ट ने निर्णय दिया कि—‘यह पुस्तक सरेआम जला दी जाए।’ पार्लियामेन्ट के इस निर्णय को वाल्टेयर ताड़ गये। अब जेल जान पड़ सकता है। इसलिए वे पेरिस छोड़कर अन्यत्र चले गये।

शायद ही उन्होंने अन्यविश्वासों तथा कुल्यवस्थाओं पर व्यंग्य व्यर्थों की बौलार करना आरम्भ कर दिया। उनके द्वारा छोड़ी गई विचार क्रांति से पुरोहित वर्ग तिलमिला उठा। पहले उन्हें धन का प्रलोभन दिया गया पर वाल्टेयर कोई धन के भूखे घोड़े हो वे। अगर एक और साहित्यकार का उदय हुआ— रुसो का। इन दोनों ने मिलकर जन-साधारण में एक नई नेतृत्व जगाई। ८३ वर्ष की अवस्था में पेरिस देखने की इच्छा से वे पेरिस में आये और फिर उन्होंने अपनी जीवन-लीला वहीं समाप्त कर दी। लेकिन उन्होंने विचारों के जो बीज बोये उन विचारों का एक-तिहाई संसार अनुयायी है। वह विचार है— प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्व का।

महान् प्रेरक—वाल्टेयर

वाल्टेयर ८४ वर्ष की आयु में मरा तो उसका अन्तिम संस्कार कराने के लिए पेरिस का कोई पादरी तैयार नहीं हुआ। इसलिए उसकी लाश को नगर से बाहर एक छोटे गाँव में दफनाया पड़ा। पादरी उसे पध्दिवी कहते थे। क्योंकि उसने जीवन भर धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों का विरोध किया वरन् वह अधार्मिक नहीं था— वास्तविक धर्म के प्रति उसकी गहरी भावना थी, तो भी वह धर्म के नाम पर चल रहे अन्धकार को सहन न कर सका, और उसने उसका जीवन पर विरोध किया।

वाल्टेयर को अपने स्वत्व के लिए चात्रा करते रहने में कठिन जीवन बिताना पड़ा और कितनी ही आपत्तियों का सामना करना पड़ा फिर भी वह विचलित नहीं हुआ और अपने मार्ग पर धैर्यपूर्वक जीवन के अन्त तक चलता रहा।

उने अपने जीवन में लगभग एक सौ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे उन सभी में उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया और धर्म के नाम पर प्रचलित धान्तियों और अनीतियों का खण्डन किया। भारत में जो कार्य विवेकानन्द, दयानन्द, गान्धी, राममोहन राय आदि ने किया वही कार्य वाल्टेयर ने फ्रांस में किया। इस प्रकार का कठिन कार्य अपने जिम्मे लेने वाले प्रत्येक सुधारक को निहित स्वार्थों तथा रुढ़िवादिओं के विरोध का सामना करना पड़ता है। वाल्टेयर को भी वही आपत्तियाँ सहनी पड़ीं।

एक पुस्तक लिखने में उन्हें जेल की सजा मिली। सूटकर आये और अन्य पुस्तकें लिखीं तो वह भी जमाने हो गई। उनके लिखे हुए नाटकों को दिखाने में कानूनी प्रतिबन्ध लगाये गये। उन पर आरोप लगाया गया कि वे जनता को नीतिप्रवृत्त करते हैं। उन दिनों राजशासन का प्रचलित परम्पराओं की आलोचना करनी— नीतिप्रवृत्ता मानी जाती थी। इतने प्रतिबन्ध होने हुए भी उनकी पुस्तकों में जो तथ्य होता था, उससे जनता बहुत प्रभावित थी। लुका-छिप कर उनकी पुस्तकें खूब पढ़ी जाती थीं और जब तक प्रतिबन्ध नहीं लगता था तब तक उनके लिखे नाटकों को देखने के लिए लोग दूट-दूट पड़ते थे।

जीवन के अन्तिम से लेकर अन्त तक उसे अगणित आपत्तियों का सामना करना पड़ा। पर उसने वह सब कुछ हँसते हँसते सहन

किया। उसे अनेकों बार बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये कि अपना विरोध कार्य बन्द कर दे पर वह उससे भी विचलित न हुआ। उनकी लेखनी में व्यंग्य और कटाक्ष भरा रहता था। नीत्से ने उन्हें हँसता हुआ सिंह कहा है। उनका हँसना इस युग के अन्धकारों के लिए एक सांघातिक बड़ा प्रहार के समान था। उनकी लेखनी ने न केवल धार्मिक वर्ग, राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए भूमि तैयार की जिसके फलस्वरूप निहित स्वार्थों का आसन ही उगमगा गया और फ्रांस ही नहीं सारे योरोप की जनता में स्वतन्त्र विचारों की एक महत्वपूर्ण शक्ति का उदय हुआ।

विन्टर हागे ने लिखा है— “वाल्टेयर का नाम सेते ही अठारहवीं सदी में जो कुछ श्रेष्ठता है वह मूर्तिमान होकर हमारी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।” जान्स बेले ने लिखा है— “भगवान् ने उन्हें एक बौद्धिक चिकित्सक के रूप में भेजा, जो क्षयग्रस्त और गलित स्थिति में पड़े हुए युग की जीवन धर चिकित्सा करते रहे। वे एक अधिक सैनिक थे जो अनवरत रूप से युद्धों के विरुद्ध लड़ते रहे। मानसिक दासता और आदर्शों की दुर्बलता को फिटाने के लिए वे एक साहित्यिक विद्रोही के रूप में अवतीर्ण हुए और इस सारा में जीझते हुए ही उन्होंने वीरगति प्राप्त की। वे मानव मन को अन्धविश्वासों और कुत्सम्कारों से बिरत करना चाहते थे, जो उन्होंने चाहा उसके लिए असीम बलिदान और अस्वास्थ्य त्याग और भयक श्रम किया।”

वाल्टेयर घोर परित्रयी थे। उन्होंने अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दिया। वे कहते थे— अफसोस को छोड़कर दुनिया के और सब लोग अच्छे हैं। कुछ काम न करना और पृथक् होना एक ही बात है। मेरी आयु उषो-उषो बढ़ती जा रही है तब-तब जीवन के शेष बोझों से शरीरों का और भी अधिक सदुपयोग करने का मैं प्रयत्न करता हूँ। कर्मनिष्ठा का अभ्यास होने पर वह स्वयं एक आनन्द बन जाती है। जो आत्महत्या नहीं करना चाहता उसके लिए यही अचित है कि निरन्तर कार्य संलग्न रहे। उन्होंने अपने इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत किया फलस्वरूप वे मानव-जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त कर सके।

सभी महापुरुषों की भाँति वाल्टेयर का महत्व उसके जीवनकाल में नहीं समझा गया। लोग उसका विरोध और तिरस्कार ही करते रहे। पर एक समय ऐसा भी आया जब उसका महत्व स्वीकार किया गया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति जब हो गई तो क्रान्तिकारी दल ने वाल्टेयर की मरी मिट्टी को १३ वर्ष बाद कब्र में से निकाला और एक विशद जुलूस के रूप में उसे राजसी सम्मान के साथ नगर में घुमाया गया। उनकी शव यात्रा में ६ लाख नर-नारी सम्मिलित थे। उनकी अर्श पर ग्योटे अक्षरों में लिखा हुआ था— “वह वाल्टेयर जिसने— हमारे मन को बड़ा बल और साहस प्रदान किया, जिसने हमें स्वाधीनता संग्राम के लिए उकसाया।”

विश्वशान्ति और मानवता के पुजारी रोमारेला

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ा तो युद्ध की लपटें धरती से उठकर लोगों के दिमागों में भी घुसकने लगीं। कल तक जो लोग शान्ति और प्रेम के गीत गा रहे थे आज वे ही एक-दूसरे के प्रति आक्रामक बन रहे थे। पता कि विश्व युद्ध में सभी राष्ट्र दो गुटों में बँट गये थे और उनका नेतृत्व एक-दूसरे का जानी दुश्मन बना हुआ था। किन्तु इसके लिए सम्बन्धित देशों की जनता का क्या दोष हो सकता था? वह तो जैसी पहले की वैसी ही तब भी थी। किन्तु लोग एक-दूसरे देश के निवासियों को भी अपना दुश्मन घोषित कर रहे थे और तत्काल बुद्धिजीवी उनके प्रति प्रार्थना, वैयक्तिक जगाने में जोर शोर से लगे हुए थे।

वैसी परिस्थितियों में फ्रांस के बसिद्ध विचारक और साहित्य कलाकार रोमारेला ने योरोप के कलाकारों को एक मंच पर एकत्रित करने का प्रयास किया ताकि जिन देशों के निवासी एक-दूसरे के गले कट रहे थे उनमें शान्ति और प्रेम की सद्भावनायें जगायी जा सकें। रोमारेला ने योरोप के बुद्धिजीवियों का शान्ति और प्रेम के भाव जागरण में संलग्न करने के लिए अथक प्रयास किये, किन्तु वे सभी विफल हुए। क्योंकि उनके मन-मस्तिष्क में तो युद्धोन्माद छाया हुआ था। उनके अपने देश के ही संकीर्ण बुद्धिजीवियों और देशभक्ति का गुमान रखने वालों ने रोमारेला को देशद्रोही करार दिया तथा उनके विरुद्ध एक अभियान-सा छेड़ दिया।

उस समय सारा फ्रांस जैसे रणोन्मत्त हो रहा था। हर कोई यह सोच रहा था कि यदि मौका मिले तो हम स्वयं जाकर सीमा पर लड़ें। सारा फ्रांस जब युद्ध की चर्याओं में मशगूल था तो रोला लोगों को युद्ध के दुष्परिणाम समझाने में लगे हुए थे। शान्ति और प्रेम का कलावरण बनाने में लगे हुए रोमारेला को जब फ्रांस के बुद्धिजीवियों का विरोध सहना पड़ा तो वे निराश नहीं हुए। उनका कहना था आशय यह नहीं था युद्ध में पक्षजय स्वीकार कर ली जाय, बल्कि वे तो यह कह रहे थे युद्ध में जन-जन की जो सति पहुँचती है उसे यथासम्भव लेकें। जब उन्होंने अपने प्रयासों का बुद्धिजीवियों पर परिणाम होने नहीं देखा तो वे अकेले ही शान्ति प्रयासों में जुट गये और जेनेवा जाकर रहने लगे। वहाँ उन्होंने ‘इण्टरनेशनल रेडक्रस’ को अपनी सेवायें अर्पित कर दीं और योरोप का यह महान् कलाकर, मनीषी रेडक्रस के दफ्तर में और क्षेत्र में काम करने लगा।

एक ओर जहाँ सभी राष्ट्र और उनके निवासी युद्धोन्मत्त थे वहीं अपने हंग से अपनी सार्वर्षिक अनुसार शान्ति प्रयासों में जुटे थे। रोमारेला का जन्म सन् १८६६ ई. में एक वकील के घर हुआ था। उनका परिवार एक कस्बे में रहता था। रोमारेला के परिवार में सभी व्यक्ति संगीत के प्रति रुचि रखते थे और वहाँ प्रायः संगीत कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता था। रोमारेला पर भी परिवार के इस संगीतमय वातावरण का अच्छा प्रभाव पड़ा। वे भी बचपन से ही

संगीत का अभ्यास करने लगे। मनुष्य की भावनाओं को संगीत के माध्यम से किस तरह व्यक्त किया जा सकता है संगीत के इस पक्ष का उन्होंने गहन अध्ययन भी किया और संगीत आराधना भी आरम्भ की। बचपन में ही संगीत की ओर झुकाव मिलने तथा आगे चलकर ठीसी क्षेत्र में प्रयत्न करते रहने के कारण रोमरोला युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते संगीत कला और संगीत विद्या दोनों में ही इतने निष्णात हो गये कि उनकी ख्याति योरोप भर में फैल गयी।

यद्यपि आगे चलकर रोमरोला की जीवन बाह्य साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी किन्तु उनके जीवन पर संगीत का प्रभाव हमेशा बना रहा। फ्रांसीसी भाषा के महानतम उपन्यास 'ज्या क्रिस्टोफ' जिसकी रचना की एक भी कृति पर फ्रांसीसी वांगमय में नहीं है—पर उनके इस प्रभाव की छाया मौजूद है। संगीत विद्या से उनका सम्बन्ध तो नहीं दूरा पर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने पर उनका सम्बन्ध पहले जैसा नहीं रह सका। फिर साहित्य ही उनकी मुख्य साधना बन गयी। इस माध्यम से उनकी प्रतिभा को व्यक्त होने का भी अच्छा अवसर मिला। रोमरोला ने जब लिखना प्रारम्भ किया तो वे टॉल्स्टॉय के विचार सम्पर्क में आये। टॉल्स्टॉय के सम्पर्क से वे बहुत प्रभावित हुए। सन् १८८७ में उन्होंने टॉल्स्टॉय को एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें रोमरोला ने उन्हें अपना साहित्यिक गुरु माना था, बड़े ही श्रद्धाविभोर होकर लिखा था कि आप मुझे आशीर्वाद दें। टॉल्स्टॉय ने इस पत्र के उत्तर में लिखा था— "प्यारे भाई ! तुम्हारा पहला पत्र मिला। इससे मेरी आत्मा बहुत ही अभिभूत हो उठी है। आँखों में आँसू आ गए पढ़ते-पढ़ते। तुम भावनाओं के माध्यम से लोगों में मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा का जगरण करो। इससे प्रभु के उपवन की सुन्दर सेवा होगी।"

टॉल्स्टॉय की इन पंक्तियों को रोला ने गुरुमन्त्र की तरह गाँठ से बाँध लिया और एक महान् साहित्यकार को ही अपना आदर्श बनाया। उन्होंने अपनी पहली ही रचना में अपनी सारी कला और अभिलाषा उड़ेल दी थी और लिखा था— "संसार का गला घुट रहा है—संकीर्णता और संकुचितता के बन्धनों से अपनी-अपनी खिड़कियाँ खोल दो ताकि ताज़ी हवा अन्दर आ सके और हम वीरों की तरह इस दुनिया में साँस लेने लगे।"

इसके बाद रोला फ्रांस की क्रांति पर लिखने लगे। घटनाओं के माध्यम से नए मनुष्य और नए समाज के निर्माण की दशा में वे ऐसे प्रतिपादन करते थे कि पढ़ने वाला मुग्ध रह जाय और प्रतिपादित आदर्शों को आत्मसात करने के लिए कसमसा उठता। वह उनका मानवता के प्रति प्रेम ही था कि उन्होंने संसार के महापुरुषों पर भी लिखा। महान् विचारकों और महान् नेताओं के जीवन की ओर इंगित करते हुए उन्होंने समकालीन समाज के सदस्यों से कहा है— 'ये रहे मानवता के आदर्श, यह है मानव की महत्ता। क्या तुम्हारा सदा समाज इन महान् मानवों के योग्य है? क्या ये दिव्य अन्तर्गत्त तुम्हारे दमघोंड़ू समाज में दो क्षण भी जीवित रह सकेगी? नहीं ! तो फिर बह जाने दो ये दीवारें— और इस नींव पर एक ऐसे नये समाज की रचना करो कि हमारी परम्परा, सभ्यता और संस्कृति का भाव उन्नत

हो। नया संगीत, नयी कला, नया साहित्य और नया मानव अतीत के कल की नींव पर बने, आज के भव्य प्रासाद में बनये और आगामी कल के लिए महान् विरासत छोड़ सके।"

मनुष्य समाज में सुख-शान्ति का अवतरण प्रेम, सद्भाव और सहकार के आधार पर ही किया जा सकता है— उनकी समरूप रचनाओं की केन्द्रीय प्रेरणा यही रहती थी। इसी आस्था से प्रेरित होकर रोला ने प्रथम विश्वयुद्ध का विरोध किया और दूसरे विश्वयुद्ध में तो उन्होंने इसके लिए संगठित अभियान भी चलाया था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रेम अन्धकारित होने लगे थे तो रोला ने आने वाले संकटों को पहचान कर 'शान्तिवादियों' के नाम एक अपील' प्रकाशित की थी। उस अपील में जो विचार प्रकट किये थे और जो सम्भावनाएँ व्यक्त की गयी थीं उनकी कल्पना भी कोई नहीं कर सका था। इस बार योरोप के कृद्धिजीवियों ने भी प्रथम महायुद्ध के अनुभवों से सबक लेकर इच्छामिता का पाल्त्राग किया और रोला के अभियान का साथ दिया।

आज पूर्व और पश्चिम के नाम पर मनुष्य परिवार में एक गहरी खाई है। किन्तु रोला के लिए जैसे यह खाई असह्य थी और उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन और साहित्य के समन्वय का प्रयास किया वह ठीक है कि यूरोपीय देशों ने एशियाई देशों का दोहन और शोषण किया। रोला ने यूरोपियों के इन अवांछनीय कृत्यों की भासना के साथ-साथ उन्हें श्रद्धावत का मार्ग भी सुझाया और कहा कि उन्नत देश फिछड़े और विकासशील देशों के साथ सहयोग करें और मानवीय सभ्यता की प्रगति के लिए सर्वस्वित प्रयास करें। उनके उदार विचार और तथ्यपूर्ण प्रतिपादनों का ही परिणाम था कि स्टॉलिन जैसे ठग और नस्तिरुतावादी राजनेता तथा महात्मा गाँधी जैसे अहिंसावादी सन्त-दोनों ही रोला से प्रभावित रहे। रोमरोला के प्रयास और उनका दर्शन सम्पूर्ण मानव सभ्यता को एकता के सूत्रों में आबद्ध करने के लिए ही गतिशील रहा।

रूसी क्रांति के अग्रदूत—हर्जेन

एन. जेल्ज़न (रूस) विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी अपने जीवन की असफलताओं से निराश होकर आत्महत्या का निश्चय कर बैठा। एकन्त स्थान में जाकर उसने विषपान के लिए जहर की शीशी निकाली तभी उसकी निगाह पास पड़े रही अखबार के पन्ने पर पड़ी। उस लेख में आशा और निराशाओं के दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार की इतनी प्रणवशक्त विवेचना की गई थी कि पढ़कर युवक खन्न ने अपने हाथ की शीशी को दूर फेंक दिया। बड़े-बड़े अक्षरों में शीर्षक और उसके लेखक का नाम पढ़कर ही युवा छात्र में लेह को पढ़ जाने की उत्सुकता जागी थी।

इस लेख को पढ़कर वह बुचक निराशा छोड़कर लेखक हर्जेन का अनुयायी बन गया और आगे चलकर रूसी क्रांति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। हर्जेन की लेखनी में इतनी प्रभावोत्पादकता, उन विचारों की प्रखरता और हृदय के उत्साह की ही परिचायक है।

स्वयं एक जमींदार परिवार में जन्मे थे फिर भी उस शासन व्यवस्था को बदल देने की लतक लेकर जीवन में अग्रे बढ़े जिसमें देश की लाखों-करोड़ों मेहनतकश जनता निर्धन और फाँककशी के दिन गुजार रही थी

उन्नीसवीं शताब्दी की छठवें दशक में रूसी साम्राज्य ने एक अन्यायपूर्ण दशा में जी रहा था। जार को अपनी गद्दी और विलासिता के साधन सुरक्षित रखें—यही चिन्ता और ध्यान रहता था। देश की आम जनता किस तरह अपने दिन ब्याट रही थी न तो उसे इसकी परवाह थी और न ही ध्यान।

सादुकर और चापलूसी से काम निकालने वाले लोग अपनी चाँदी बना जाते थे और जो सच्चे अर्थों में पत्रिकी और ईमानदार होता उसे धूर्तों परना पड़ता। अठारह वर्ष की आयु में हर्जेन ने अपनी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर ली और कष्ट पीड़ितों के लिए दुःख सहने की इच्छा व्यक्त की। इस आशय का एक लेख उन्होंने सन् १९०० में प्रकाशित करवाया। उस लेख में हर्जेन ने अपनी चमनाओं को जिस कुशागता से व्यक्त किया था वे लेखन कला की कम्पैटी पर भले ही खरे सिद्ध न हों परन्तु उनकी भावनाओं पर तो विश्वास करना ही पड़ेगा कि उन्होंने बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय को अपना जीवन लक्ष्य चुना था

प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद हर्जेन मास्को विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ भी उन्होंने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अध्ययन किया। उनके प्रयासों से मास्को विश्वविद्यालय में एक छात्र मण्डल का गठन हुआ। जो स्वतन्त्र ढंग से सोचता था और जारशाही की आलोचना करता था।

व्यक्तिगत रूप से हर्जेन बाहर के लोगों से सम्पर्क साधने में भी लगे हुए थे। उन दिनों पश्चिमी योरोप में क्रान्ति की हवा बह रही थी जिसके स्पर्श में सर्वप्रथम रूस के स्वतन्त्र चिन्तक छात्र हर्जेन ही आये। यदि उन्हें रूस का पहला समाजवादी व्यक्ति कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। योरोप की समाजवादी विचारधारा के अनुसार अपने देश की नई व्यवस्था का विकास उन्होंने देख और तदनुसार अपने सहपाठी छात्र मण्डल के सदस्य विद्यार्थियों को उससे परिचित कराया

युवक तो वैसे ही उत्साही और आतुर होते हैं। उन्होंने एक बार यूनिवर्सिटी के हाल में लगी जार निकोलस की मूर्ति का अपमान कर दिया। इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जार और पुलिस पर, पुलिस ने कई छात्रों को पकड़ लिया। हर्जेन भी गिरफ्तार हुए। यद्यपि वे इस अपमान काण्ड में शामिल नहीं थे। उनका दोष इतना था कि वे छात्र मण्डल के संयोजक और सदस्य थे। उनके घर की तलाशी हुई और वहाँ पर समाजवादी साहित्य बरामद हुआ। स्वतन्त्र विचारधारा को आतंकवादी अधिनायकवाद का पहला प्रहार सहना पड़ा। हर्जेन मास्को से निर्वासित कर दिये गये।

करीब छह-सात वर्ष तक निर्वासित जीवन व्यतीत करके पुनः १९४० में मास्को आये। परन्तु वे अधिक दिन तक ठहर नहीं सके। इसका कारण था कि रूस उस समय बुद्धिवादियों का केन्द्र था और

जार नहीं चाहता था कि हर्जेन के स्वतन्त्र और अन्याय पर प्रहार करने वाले विचारों की अग्र के सम्पर्क में वे लोग भी आयें। सत्य और न्याय को मिथ्या और अनाचार के छायों आरम्भ में इसी प्रकार प्रपीड़ित होना पड़ता है। जार ने उन्हें पुनः एक साल के लिए मास्को से निर्वासित कर दिया।

अब वे खोजने लगे किस प्रकार विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की जाय और इस अनाचारपूर्ण शासन व्यवस्था को समाप्त किया जाय। सन् १८४७ में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और वे रूस छोड़कर पेरिस चले गये।

निर्वासन—उनके लिए वरदान के रूप में परिणत हुआ। पेरिस में पहुँचते ही उन्होंने वहाँ के विख्यात और प्रतिभाशाली व्यक्तियों से सम्पर्क किया। उनके सहयोगियों में एक क्रान्तिकारी विचारक फ्रांज़ुअन का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्हें लुई नेपोलियन ने क्रान्तिकारी विचारों के कारण कठोर कारावास का दण्ड दिया था।

हर्जेन के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी पर-दुःख-कातरता। फ्रांज़ुअन के परिवार का दायित्व उसके कारावास के दौरान हर्जेन ने भी अपने सिर पर ओढ़ा था। प्रतिदिन उनके पास अभाव पीड़ित और दुःखी व्यक्ति आया करते थे। जिन्हें हर प्रकार की सान्त्वना देने के साथ-साथ हर्जेन सहायता भी दिया करते थे। बीस-पच्चीस भूखे लोगों के साथ भोजन करना उनकी नियमित दिनचर्या का अंग बन गया। उन दिनों हर्जेन लेखन व्यवसाय के माध्यम से अच्छा उपार्जन कर लिया करते थे।

फ्रांस में रहते हुए भी उन्हें अपने देश के करोड़ों निवासियों की चिन्ता थी। वे उनकी स्थिति में सुधार के लिए सतत प्रयत्नशील रहा करते थे। सन् १८५२ में वे लन्दन आ गये। यहाँ उनका परिचय मैजिनी और गैरीवाल्टी जैसे महान् विप्लुतियों से हुआ। शीघ्र ही वे उनके मित्र बन गये।

हर्जेन ने १८५७ में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया जो छिपे रूप से रूस में पहुँचाया जाता था। यह पत्र 'कोल-काल' बड़ा लोकप्रिय हुआ। जारशाही की तीखी आलोचना और कठोर प्रहार पूर्ण लेखों से भरा हुआ वह पत्र उनके आवेश, आक्रोश और लोक व्यथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था। इस पत्र को स्वयं जार भी खरीद कर पढ़ करता था। पेरिस की तरह लन्दन में भी उन्होंने अपने समान विचारों वाले स्वतन्त्रता प्रेमी सुधारवादियों की मित्र मण्डली तैयार कर ली। गैरीवाल्टी और मैजिनी के अतिरिक्त विक्टर ह्यूगो, लुई ब्लाक, कार्लोसल आदि महापुरुष उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले मित्र बने

रूस में उनके पत्र-पत्रिकाओं का एक वर्ग तैयार होता जा रहा था, जो उस समय की समाज व्यवस्था को बदलने के लिए आकुल था फिर भी हर्जेन ने अपने विचारों में कटुता न आने दी। उनके लेख पढ़कर कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि हर्जेन आक्रोश की सीमा पार कर आवश्यकता से अधिक उग्र बन गये हैं। इस सौम्य आक्रोश के कारण मार्क्स और एंजेल जैसे साम्यवादी विचारक भी उनके विशेषी बन गये थे।

१८५४ में लन्दन स्थित अमेरिकन कौन्सिल जर्नल ने एक भोज दिया और इसी अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी समिति की स्थापना का निश्चय किया गया। भोज में कार्ल मार्क्स भी आमन्त्रित किये गये और हर्जें भी। हर्जें की उपस्थिति पर एतानव करते हुए मार्क्स ने कहा था कि वे कभी समाजवादी नहीं हो सकते क्योंकि जर्मन से ज्यादा ग़रब हैं।

एक अवसर पर एंजिल ने कहा था— 'यै कभी कहीं नहीं आऊंगा जहाँ कि हर्जें होंगे क्योंकि उनके और मेरे विचारों में कोई भी समानता न होने पर भी हम दोनों को समाजवादी कहा जाता है।' सौम्य और शिष्ट क्रांतिवादी होने के कारण उन्हें अपने समय के कई विचारकों का विरोध सहना पड़ा था।

१९ जनवरी, १८७० को उनका देहान्त हो गया। तीस-चालीस वर्ष बाद उन्होंने जो सम्भावना व्यक्त की थी वह सत्य सिद्ध हुई। जन-आन्दोलन फूट पड़ा और देखने-देखते ऊपर का शासन ध्वस्त हो गया, समाजवाद, सहकारिता और सहयोग के आधार पर कम की जनता ने एक नया जीवन आरम्भ किया जिसका विचार हर्जें ने वर्षों पूर्व दिया था।

आजीवन संघर्षरत प्रजा-पुत्र मैक्सिम गोर्की

'एक छोटे से अँधेरे कमरे में, छिड़की के नीचे फर्श पर मेरे पड़े थे मेरे पिता। उनका कद बहुत लम्बा था, कपड़े सबके सब सफेद थे। पाँवों की अँगुलियाँ सब ऐंठकर फैल गयी थीं। हाथों की अँगुलियाँ भी ऐसी ही ऐंठ गयी थीं, हाथ छाली पर एक-दूसरे के ऊपर तिरछे पड़े थे। उनका शान्त प्यारा चेहरा निर्जीव था लेकिन भिची हुई दंतों की घमक को देखकर डर लगता था और मेरी नानी ने मुझ से कहा— अपने पिता से बिछा ले लो। तुम उन्हें फिर कभी न देखोगे— मैक्सिम गोर्की के इन शब्दों में उनके कल्पकाल की उस घटना का चित्रण है, जो उन्हें सबभूष ही व्यक्ति कर गयी।'

यों जन्म से ही सुख-सुविधाएँ क्या होती हैं उन्होंने जाना नहीं था। जिस समय वे जन्मे पिता बैरोज़गार, माता निराश्रित और उनका स्वयं का जीवन अन्धकारमय था। गोर्की के पिता मैक्सिम एक सैनिक अफसर के स्वाभिमानी पुत्र थे। अपने पैरों पर खड़े होकर सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिए कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते रह कर भी उन्हें किसी का आग्रह या उपकार नहीं चाहिए था। स्पष्टवादी होने के कारण परिवार के अन्य सदस्य उनसे नाराज ही रहते थे। यहाँ तक कि उनके पिता और ससुर भी। अपनी बेटों को प्रसंग के समय मैक्सिम की सास किसी तरह अपने पति को समझा-बुझाकर दामाद और पुत्री को अपने घर ले आयीं।

सास-ससुर ने मैक्सिम दम्पति को सम्मान का मकान दे दिया और वहीं पर पियेरकोव ने जो आगे चलकर मैक्सिम गोर्की के नाम से प्रसिद्ध हुआ २८ मार्च, १८६८ को जन्म लिया। गोर्की का पिता

मैक्सिम बड़ा ही सदाचारी और स्पष्टवादी व्यक्ति था। न कभी सराब पीता और न ही किसी प्रकार के दुर्व्यसन में समय बिताता। इससे पियेरकोव का मान— बड़ा जलने लगा। मैक्सिम के पिता का उत्कृष्ट चरित्र और परिवार में उसका बढ़ता हुआ सम्मान पियेरकोव के माना-माफी के लिए ईर्ष्या का विषय हो गया।

निकल ने स्वयं ही मैक्सिम को— पियेरकोव के जन्म के चार वर्ष बाद ही ठग लिया। यहीं थे उनकी कष्ट-कठिनाइयों का दारुण आरम्भ और प्रारंभ होता है। अभी तक तो सभी अभाव पिता के सौम्य स्वभाव और साह-प्यार के कारण विलुप्त भी खटफते न थे, परन्तु अब पियेरकोव को ऐसे दिन देखने को मिले जब उसके सिर से पिता की छाया दूर हो गयी। वह अपनी नानी के पास ही रह गया। माता-पिता के साह-प्यार में पले पियेरकोव की निहाल का अनुभव बड़ा ही कड़वा लगा। माया झगड़ालू और ज़ोशी थे। परिवार के सभी बच्चों की पीठ उनके कपड़े बूँतों और लपकों से सजाती रहती थी।

नाना-नानी का विशेष प्रेम-पात्र होने के कारण पियेरकोव कुछ समय तक तो बचा रहा परन्तु एक दिन असावधानीवश वह कोई गलती कर बैठा। फलस्वरूप पियेरकोव को माया के हाथों तो नहीं नाना के हाथों ज़रूर पिटाई पड़ी। घर खाने का वह पहला अनुभव था। पियेरकोव ने रोते हुए कहा— मेरे पिता होते तो कौन मुझे पीट सकता था? मैं सहित नाना-नानी को आँसू आ गये। नानी ने अपने नाने को छाली से लगा लिया और कहा— 'बेटा मैंने तुम्हें पीटा इसका कुछ मत मानना। मेरी बात बाव रखो अपनी के हाथ पिटाने में कोई हर्ज नहीं है। इसे शिष्ट समझना चाहिए लेकिन किसी गैर अन्दरी की क्या मजाल जो तुम्हें हाथ भी लगा ले।'

पियेरकोव के नाना एक कारखाने के मालिक थे। बचपन में उन्हें बड़ी गरीबी और अभाव के दिन देखने पड़े थे। उनका विवाह भी एक गरीब कन्या से हुआ था, जो बड़ी ही उदार, स्नेह और बबला की छत्रिका तथा कल्ला की बूँत थी। वे स्वयं कठोर, ब्रमशील, अनुकूलित और कबजिस्त जीवन वसन्त करने वाले व्यक्ति थे। दोनों के विशिष्ट स्वभाव सब एक बिन्दु पर आकर मिल गये तो स्वाभाविक ही समृद्धि और सम्पन्नता उनके चरण चूमने लगीं। बचपन में पियेरकोव के जन्म की अपने ही क्या गैरों के हाथों भी पिटाई पड़ी थी। वे अक्सर अपने अतीत के संस्मरण सुनाया करते। इस घटना के बाद उन्होंने कभी पियेरकोव को हाथ नहीं लगाया।

नानी उन्हें अपने पिता और नाना के संघर्षपूर्ण जीवन की घटनाएँ तथा कल्पनियाँ सुनाया करती थीं। यद्यपि उन्हें किसी पाठशाला में पढ़ने के लिए नहीं भेजा जा सका परन्तु नानी की कहानियों ने पियेरकोव को समाजपरक बर्बाद जगत की व्यावहारिक जानकारी और शिक्षण दिया। इन कहानियों ने उन्हें जागरूक तथा विचारशील दृष्टि दी। इधर उनकी माँ की अधिक दिनों तक साब नहीं रह सकी। वह अपने पुत्र को अपने माता-पिता के पास छोड़कर कहीं चली गई और दूसरी शादी कर ली। पियेरकोव का हृदय टूट गया।

एक दिन गोर्की के नाना के कारखाने में आग लगी और सारी सम्पदा नष्ट हो गई। नाना विधिपूर्व से ही गए और उन्होंने पियेरकोव

५.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

से कह दिया — एलेक्सी धीरे लिए यह खान लेना कठिन होगा कि मैं तुम्हें सदैव तमगे की तरह गले में लटकाने रहूँगा। अब तुम्हारे लिए मेरे पास कोई जगह नहीं है। तुम दुनिया में अपने लिए अलग जगह बनाओ।

पियैशकोव को तनिक भी रंज नहीं हुआ न ही उन्हें बुरा ही लगा। बूढ़ी नानी के हृदय में अभी भी अपने नाती के लिए ममता का सागर हिलारें मार रहा था। वे नाना का घर छोड़कर बाहर गाँव चले गये और कभी मोची के गुमास्ते का काम किया तो कभी माली का। सोझा-बाटर बेचने से लेकर रसोई बनाने और माल ढोने तक उन्होंने हर पेशा अपनाया परन्तु हर जगह दुर्भाग्य आड़े आ गया।

एक दिन उन्होंने कहीं दूर जाकर अपना भाग्य अन्तमाने का विचार किया और नानी के पास जाकर बोले मैं बोल्गा के पार जा रहा हूँ नानी।

‘वहाँ क्या करेगा बेटा? वहाँ कोई काम नहीं मिलेगा क्या?’ एक साधू नानी ने कई प्रश्न पूछ लिए। परन्तु पियैशकोव ने तो जाने की ठान ही ली। उस समय उनकी आयु कुल बारह वर्ष की थी। और बोल्गा तट पर जो उस गाँव के पास ही था आने-जाने वाले स्टीमरों में माल ढोने का काम करने लगे। एक दिन उन्होंने अपना समय निर्धारित कर लिया। नानी विरुद्ध देने आयी— ‘अब तुम्हें फिर कभी न देख पाऊँगी बेटा! तुम न जाने कहीं-कहीं भटकोगे। कहकर उसने आँसू पोंछ लिए।’

नानी का बस चलता तो वह अपने नाती को यों न जाने देती। परन्तु क्या करे बेधारी! पति इतना कंजूस और स्वार्थी बन गया था कि उसकी कुछ भी न थक जाती। करछाने में जब आग लगी तो सब लोगों को स्वाभाविक ही बड़ा दुःख हुआ परन्तु उसने यह का सन्तोष बनाया कि यह कंजूसी और खुदगर्जी का दण्ड है।

स्टीमर में पियैशकोव को दो रुबल (रुसी रुपया) प्रतिमास वेतन पर तश्तारियाँ धोने के काम में लगा दिया। अभी वे बालक ही थे परन्तु परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क को वयस्क और आत्मविश्वास को परिपक्व बना दिया था।

तीन-चार वर्ष तक, इसी प्रकार अपने दिन गुजारते हुए पियैशकोव को आखिर उसी स्टीमर में रसोई का काम मिल गया। अब तो वेतन भी बढ़ गया। पियैशकोव ने अपने झुमकड़ जीवन में कई लोगों का सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त किया। उन्होंने देखा कि अधिकांश लोग तुच्छ और शुद्ध जीवन व्यतीत कर रहे हैं। धृष्ट से धृष्ट निन्दा कर्मों में लोगों को तनिक भी संकोच नहीं होता। परन्तु वे इन मृशंस लीलाओं से अप्रभावित ही रहे। कचपन से सुनी कहानियों और आदर्शों ने सदैव उनकी रक्षा की।

१५-१६ वर्ष की आयु में वे एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आये जो उनसे बड़ी सहानुभूति रखता था। वह भी एक रसोइया ही था जिसे सभी लोग स्मिडरी कहा करने थे। एक दिन स्मिडरी ने कहा पियैशकोव तुम थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना जानते हो क्या?

‘मुझे कभी मौका ही नहीं मिला’— पियैशकोव ने कहा— ‘हालाँकि जो तो बहुत होता है।’

स्मिडरी जवान रसोइये की इच्छा को समझकर वर्णमाला सिखाने और पढ़ाने लगा। यहीँ पर उन्होंने थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीखा उनकी बुद्धि तो जीवन के अनुभवों ने पहले ही विकसित कर दी थी स्टीमर के यात्रियों में कई लोग ऐसे भी आते जो पियैशकोव से प्रभावित होते। पियैशकोव अब गोर्की के नाम से अपना परिचय देते जिसका अर्थ होता है—कटु। कस्वत में अभी तक उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी भोगा था वह कटु ही था।

एक और कटुका अनुभव उन्हें स्टीमर के जीवन में भोगना पड़ा। स्टीमर के कर्मचारी अबसर यात्रियों से भोजन का पैसा लेकर अपने पास रख लेते थे। पियैशकोव ने ऐसे क्षणों में कभी उनका सहयोग नहीं किया। इस कारण अधिकांश भट्ट कर्मचारी उनसे नाराज और पिढ़े हुए रहते। आखिर एक दिन स्टीमर के अधिकारी को यह सब पता चल गया और पूछताछ हुई। सभी लोगों ने गोर्की को दोषी ठहराया। प्रमाण न होने पर भी बहुमत को सत्य समझा गया और उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। ईमानदारी और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था को पराजित करने का यह पहला दण्ड था। कोई भी सामान्य अटमी तत्कालिक लाभ के लिए परिस्थितियों से समझौता कर लेता परन्तु गोर्की तो आदर्शों के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते थे। लाभ नहीं उत्कृष्टता उनका अभीष्ट था।

मैक्सिम गोर्की ने परिस्थितियों से समझौता नहीं किया और न उनके सामने घुटने ही टेके परन्तु उनके अन्तःकरण में मनुष्य को सध्यता और नैतिकता की पर्यादाओं का उत्संघन करते देख एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई और वे विद्रोही बन गये। उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया उसे कालान्तर में शब्द देना आरम्भ किया। इसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन उन्हें एक दूसरे रुसी लेखक कर्तोनिन से प्राप्त हुई थी। स्टीमर की नौकरी छोड़ देने के बाद भी वे स्थाई रूप से टिक न पाये।

गोर्की ने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये थे, वे सब के सब कटु और वेदना से भरे हुए थे। इस प्रकार के जीवन ने उन्हें जो अमूल्य रत्न कण दिये उनसे प्रेरित होकर गोर्की ने दुःख-दारिद्र्य के सागर का अन्वेषण किया। कर्तोनिन से प्रोत्साहन प्राप्त कर उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया। उस समय रूस में प्रजातन्त्रवादी विचारधारा फैल रही थी नीत्से का भक्त्यन्वय सिद्धान्त जिसके अनुसार महत्त्वकांक्षी व्यक्ति को अपने से निम्न स्थिति के लोगों की टाँग खींचकर ऊँचा उठने की बात कही गयी थी। दूसरे विचारकों ने खुशामद और अतिनयता का प्रचार किया जो मनुष्य को आत्मप्राप्तिमान से एकदम गिरा देती है। गोर्की को ये दोनों जीवन दर्शन अनुपयुक्त लगे और इस सिद्धान्त का प्रचार किया जो उठने को ठसुक है उसे सहारा दो और खड़े होने में मदद करे। यद्यपि उन्हें अपने जीवन में कर्तोनिन और स्टीमर के कर्मचारी को छोड़कर कभी किसी का सहयोग नहीं मिला फिर भी मानवता में उन्होंने अटूट विश्वास व्यक्त किया।

यह युग जारशाही का था। तत्कालीन स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वयं गोर्की ने लिखा है— ‘इस देश में अच्छे और भले कामों

का नाम अपराध है, ऐसे मन्त्री शासन करते हैं जो किसानों के मुँह की रोटी का टुकड़ा तक छीन लेते हैं और ऐसे राजा राज्य करते हैं जो हत्थारों को सेनापति और सेनापति को हत्थारा बनाने में प्रसन्न होते हैं।' तब तक मैक्सिम गोर्की की ख्याति और प्रतिष्ठा लोक प्रसिद्ध बन चुकी थी। अब छोटा, गरीब और पथ्यम वर्ग उनके सहित्व में अपनी प्रतिच्छाया देखने लगता था क्योंकि वे स्वयं उसी में से आये थे।

सन् १९०५ में मैक्सिम गोर्की और उनके जैसे ही कई लेखकों, जागरूक जन-मताओं के प्रयासों से रूस में कुछ सुधार हुए जिन्हें अपर्याप्त ही कहा जाना चाहिए। गोर्की ने इन सुधारों पर यथार्थ टिप्पणी की तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। प्रबल जन-विरोध के कारण जार को उन्हें छोड़ना पड़ा। आतंक और दमन की नीलाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा— "रूस की आग नुझी नहीं है वह दब गई है। इसलिए कि दस गुनी शक्ति के साथ उमड़ पड़े।" बारह वर्ष बाद उनका यह कथन अभ्रशः सत्य सिद्ध हुआ।

इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने बारह वर्षों तक अथक परिश्रम किया। इसके लिए वे देश-विदेश में घुमे, अपने यहाँ की विधुनियों से मिले। डॉक्टरों तो उनसे मिलकर बड़े प्रभावित हुये थे और उनके लिए 'सच्चे प्रजा पुत्र'—का सम्बोधन दिया था।

धार्मिक क्रान्ति के सूत्र संचालक— मार्टिन लूथर

आज से कोई साढ़े चार सौ वर्ष पहले जर्मनी के ऑगस्टिनन साधु संघ के एक सामान्य पादरी ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध एक समर्थ क्रान्ति प्रारम्भ की और उन सड़ी-गली ग्वा-परम्पराओं को तोड़ फेंका जो धर्म के नाम पर पाखण्ड व कुछ लोगों के स्वार्थ सिद्धि का हेतु बनी थीं। इस क्रान्ति दृष्टा का नाम था मार्टिन लूथर। आज सैकड़ों वर्ष बाद भी ईसाई जगत में उनका नाम सम्मान व आदर के साथ लिया जाता है।

मार्टिन लूथर का जन्म संवत् १४९४ में जर्मनी के एक समृद्ध परिवार में हुआ। उनके पिता एक लौह परिष्कारक के मालिक थे। धार्मिक संस्कार उन्हें अपने ईश्वर विश्वासी माता-पिता से मिले थे। अपने सात भाइयों में वे सबसे बड़े थे। अतः उन्हें ही अपने पिता का व्यवसाय सम्हालना चाहिए था किन्तु लोक-कल्याण की प्रबल उमंगों ने उन्हें अर्थ की ओर से उदासीन ही बनाये रखा।

स्थानीय प्रारम्भिक शिक्षा सम्पन्न करने के पश्चात् तेरह वर्ष की आयु में किशोर मार्टिन को मेडल बर्ग के एक विश्वविद्यालय में धर्म तथा जीवन सम्बन्धी सामान्य शिक्षण प्राप्त करने के लिए भेजा गया। उन्होंने बाइबिल तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। उसी समय से उनके मन में धर्म प्रचारक बनने का संकल्प परिपुष्ट होने लगा। १५०१ में ईर्फुर्ट विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट हुए। वहीं से उन्होंने बी. ए. व. एम. ए. की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की।

उनके पिता की इच्छा थी कि वे कानून पढ़कर उनके व्यवसाय में मदद करने लग जायें। पिता का मन रखने के लिए उन्होंने कानून पढ़ावे जाने वाले विद्यालय में प्रवेश भी लिया। किन्तु कुछ ही महीनों में उन्हें यह पढ़ाई बन्द ही कर देनी पड़ी क्योंकि लिस कार्य में लगे नहीं, अन्त करण कुछ दूसरे ही काम को सिर पर उठाने की मनुहार कर रहा है तो वे इस सच को घूठ व घूठ को सच करने वाली विद्या को कब तक बेमन से पढ़ते रहते। अतः उन्होंने अपने पिता से अपने मन की बात कह दी— "पिताजी! मेरे अतिरिक्त छह और हैं उनमें से किसी अन्व को वकील बना लेना, मेरी इच्छा तो धर्म प्रचारक बनकर समाज सेवा करने की है। अपने परिवार से इतना अनुदान तो मानवता को मिलना ही चाहिए।"

मार्टिन के धर्मपरायण पिता को अपने पुत्र का यह निश्चय अचिंत ही लगा और उन्होंने मार्टिन को धर्म-प्रचारक बनने की इजाजत दे दी। अब वे ईर्फुर्ट के आगस्टिनन साधु संघ में प्रविष्ट हुए। इन साधु संघ की परम्परा नवगन्तुक फरवरी के समय की कड़ी परीक्षा लेने की थी। अतः उनकी परीक्षा भी ली गयी। उन्हें छपटों तक कड़ी शौत में बिना कम्बल ओढ़े सुलाया गया। छपटों धूप में निरुद्देश्य बिछाये रखा गया। वे उन कड़ी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए तथा उन्हें साधु संघ में प्रविष्ट कर लिया गया। इसके पश्चात् १५१२ में उन्होंने विटन बर्ग विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर आफ थियोलोजी (ब्रह्म विद्या) की उपाधि प्राप्त की।'

मार्टिन लूथर पक्के आस्तिक तथा मनुष्य जीवन की गरिमा से परिचित थे अतः वे 'शुभकर्य जितना शीघ्र हो सके हो जाना चाहिए' की शीतिनीति की ही प्रशंसा मानते थे। वही कारण था कि उन्होंने आरम्भ में ही अपने जीवन के उस पक्ष को चुना जो महानता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला था।

जहाँ मनुष्य में योग्यता भी हो और वह उसका सदुपयोग करने के लिए तत्पर भी हो तो उसे आगे बढ़ते हुए देर नहीं लगती। मार्टिन लूथर के साधु संघ में प्रविष्ट होने से कुछ वर्षों बाद ही उन्होंने संघ में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

उनके जिनमें अनेकनेक काम थे। वे ग्रामों के गिरजाघरों में उपदेश देने जाते। बाहर के ग्यारह साधु संस्थानों की भोजन व प्रार्थना आदि की देख-रेख भी वे करते थे। छोटे पादरियों को पढ़ाने का काम भी उन्हें करना पड़ता था। साधु होने का अर्थ वे अकर्मण्य होना नहीं मान्ते यत्-दिन नि-स्वार्थ भाव से काम करना मानते थे।

इतने काम करने के बाद भी वे अपनी नियमित दिनचर्या में से लेखन के लिए समय निकाल लेते थे। वे पत्रों, पुस्तकों, प्रश्नोत्तरों व लेखों में धर्म के शाश्वत सत्त्यों का सरल-सुगम भाषा में निरूपण किया करते थे। उन्होंने पुस्तककार के कोई ३०,००० पत्र अपने जीवन-काल में लिखे थे।

धर्म के गूढ़ अध्ययन तथा साधु का सयमित जीवन जीने हुए वे धर्म की उस शक्ति से परिचित हो चुके थे जो मनुष्य को सदमार्ग पर चलाया करती है जिससे इस धरती पर सुख-शान्ति की अधिवृद्धि होती है। किन्तु वे देख रहे थे कि ईसाई जगत में धर्म के नाम पर

कुछ और ही काम हो रहा था। धर्मचर्यागत जनता को प्रेरित कर धर्म के नाम पर भासीबाँद और बरदानों की दुकानें खोलने बैठे थे और दोनों हाथों से सोना-चाँदी लुट रहे थे।

उस समय की दशा का विवरण जर्मनी के कैथोलिक लेखक कार्लो आदम ने लिखा था— “धर्माचार्य के ऊपर पर इटली के बसकुमारों तथा उनके निकट सम्बन्धियों के लिए लगभग सुरक्षा से है। इन बहादुरपूर्व पदों पर जो राजसत्ता से भी ऊँचे माने जाते थे, पर व्यक्ति की योग्यता, चरित्र तथा चारित्रिक तथा परस्पर व्यवस्था के समन्वय से निपुणता नहीं होने के कारण ऐसे लोगों का एकचिह्न हो गया है जो उन आसनों पर बैठकर लोगों से धन ले-लेकर ‘जहाँ से मुक्ति’ व ‘ईश्वर की कृपा’ बेच रहे हैं।

छोटे गाँवों का हाल भी बड़े गाँवों की देखा-देखी बिगाड़ चुका है। वे अपने चरित्र व संस्कार की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। झूठा, लालचोरी, धूर्त तथा अन्यविशेष के पक्ष में दूकान खोल रहे हैं। उनका ध्यान धर्म कृत्यों व संस्कारों में निहित भवन पर नहीं रहता। वे तो यह देखते हैं कि कम कोई भीतर आदमी संस्कार करने आये और उन्हें धन मिले। भरीम परिस्थितियों के तब कई दिनों तक पड़े भी रहते तो वे अन्तिम संस्कार करने नहीं आते क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक कुछ मिलने काय नहीं होता।”

मार्टिन लूथर इस भयंकरता को देखकर चिन्तित हो उठे। इस प्रकार धर्माचार्यों को धन देकर स्वर्ग का विधिद्वारा ईश्वर की कृपा खरीदने वालों को न तो पापों से ही मुक्ति मिल सकती है न अन्तर्गत सत्त्वोक्त ही सुधार सकता है। किन्तु धर्माचार्यों व पादरियों के इस आचरण का कुप्रभाव जनमानस पर पड़े बिना नहीं रहता। वे भी धर्म को कटने-मुटने की बात मानने लगते हैं। भ्रष्टाचार की गति। इस प्रकार लोगों की चार, पुण्य की गन्तव्यों ही विभ्रमस्थित हो उठी है।

मार्टिन लूथर ने जनता को इस भयंकर अन्यविशेष से मुक्ति दिलाने का संकल्प ले लिया। वे जानते थे कि पोप और बड़े-बड़े पादरियों के आगे इनकी स्थिति आणक-सी है। किन्तु उन्हें यह भी विश्वास था कि राज्य की सक्ति सर्वोच्च है उनके आगे कड़ी-कड़ी ताकतों को भी हराया जा सकता है। मजबूत ईश्वर के बल की सक्ति तो थी। ईश्वर सदा साथ और स्वयं के पीछे रहता है।

उन्होंने बल रही धर्म-आचरण के विरुद्ध अपनी आकाश बुलन्द करने आरम्भ कर दी। व्यक्तिगत को ही अपार मनोरंजन करते। उन्होंने अपने उपदेशों, प्रवचनों में जोरदार तर्कों में यह बात कहनी आरम्भ कर दी— “व्यक्ति के कई अनुग्रह हैं। कर्मों के अनुसार ही दशातु— न्यायकारी ईश्वर दण्ड उत्तर देता है। स्वर्ग व पापों से मुक्ति तुम कर्मों के द्वारा ही मिल सकती है वहाँ से सबसे बड़ी ईश्वर की कृपा व ‘जहाँ से मुक्ति’ कुछ पाप देने काय नहीं है।”

पोप ने स्वयं-स्वयं पर अपने दमोदर पादरियों की निपुणता ‘ईश्वर की कृपा’ व ‘मुक्ति’ बेचने के लिए कर रखी थी। इस विरुद्ध संघर्ष तथा मुक्तिपुस्तक प्रीतिपदन का उन दुकानों पर प्रभाव पड़ा।

लोग उनकी सच्चाई समझने लगे थे। इन्हीं दिनों १५१७ में पोप लिवा दसवें ने सेंट पीटर्स चर्च भवन के निर्माण के नाम पर जॉन टेनलिन मुनेज नामक एक प्रतिनिधि को ‘कृपा’ बेचने के लिए नियुक्त किया।

मार्टिन लूथर ने इसके विरोध में अपने लिखे हुए धर्म विषयक ९५ शोध वक्तव्यों के विरुद्ध बर्न केस्टिल बर्न में भिजवा दिया तथा उन पर धर्मविदों का कटु आलोचना कर इस ‘ईश्वरीय कृपा बेचने के निर्वय’ के अविश्व को चुनौती दी। तब तक मुद्रण कला का सुधारण भी हो चुका था। इस सुविधा का लाभ भी उन्होंने उठाया और अपने शोध वक्तव्यों को छप-छपाकर गिरजाघरों, विश्वविद्यालयों तथा धार्मिक केन्द्रों को बेचकर पोप के निर्वय के खोखले-पन को उजागर कर दिया।

धर्म के आसनों पर डेर जघाये हुए स्वार्थी तत्त्वों पर इसकी कड़ी प्रतिक्रिया हुई। इन्हें अपने आसन हिलते हुए दिखाई देने लगे। तत्कालीन पोप तथा उनके समर्थकों ने मार्टिन लूथर को ‘धर्मद्वेषी’ की संज्ञा दी तथा उनके कृत्यों को विभिन्न धर्म विरोधी तथा धमक उठाया। पोप ने मार्टिन लूथर से इसका कारण स्पष्ट करने को कहा। इस पर उनका उत्तर था कि इसका निर्वय धर्मविदों की कोसिल में किन्ना जाय।

पोप इसके लिए तैयार नहीं हुआ क्योंकि वहाँ हार जाने की पूरी आसंका थी। अतः उसने उच्च धार्मिक पाँधों के दरबार में मार्टिन लूथर पर धर्मद्वेष का अपराध लगाया। वहाँ भी मार्टिन लूथर का पतझड़ जारी रहा। फिर भी पोप ने अपने प्रभाव के बल पर अन्यविशेषियों की पोप के अधिपत्य न्यायविदों की अनुपस्थिति में मार्टिन लूथर को निर्वासन का दण्ड दिलाया।

मार्टिन को जर्मनी छोड़ना पड़ा फिर भी उन्होंने जो आकाश बुलन्द की थी वह तो रुकी नहीं। धर्म के नाम पर होने वाली लुट समाप्त होकर रही। वे संदेश में प्रभाव करने शरणा सिद्धांतों का प्रतिपादन करते रहे। उनके प्रवचनों की संख्या बढ़ती ही गयी तथा प्रेसिडेंट सम्मरण के रूप में बढ़ते होती चली गयी।

कुछ वर्षों के बाद जर्मनी के राजा ने उन्हें ससम्मान अपने देश बुलाया, वे वहाँ करव वर्ष विचारविमर्श में आचार्य पर पर अपनी लेखन प्रेरित करते रहे। उन्होंने अपने इस सेवा काल में कई धर्म कृत्यों का अनुवाद किया, धर्मय पुस्तकें लिखीं तथा व्यक्ति संगीत निर्देशन दिये। बसंतोत्तम वर्ष की आयु में उन्होंने केथरीन बानकोप उपाध जीर्ण से लपटी की जो पहले किसी धर्म संस्थान में ‘नन’ थी। उन्हें संन्यासी थे। उनका चरित्रात्मक जीवन बड़ा सुलभपूर्व था।

मार्टिन लूथर का यह जीवन दृष्ट ईश्वर काव्यवर्धियों के लिए हो नहीं सदा धर्मवर्धियों को यह दिशानिर्देश करने के लिए पर्याप्त है कि धार्मिक आस्था तो अनिवार्य है किन्तु अंध व्रत, अन्यविशेष नहीं। धर्म पर जब भी स्वार्थी तत्व जाने लगे, अन्यविशेष उठे निपुण करने लगे तब उन्हें मुक्त-व्यक्ति भी आवश्यक है।

पेरू के यातून पापा— डॉ. थियोडोर वाइडर

स्विटजरलैण्ड की एक आम-साम में डॉ. स्वाइत्जर का प्राण हो रहा था। विषय था— मनुष्य जाति की सेवा। डॉ. स्वाइत्जर उन दिनों अफ्रीका के घने जंगलों में जहाँ सूर्य का प्रकाश भी पार करने से डरता था, आदिवासी हस्तियों की चिकित्सा सेवा करते थे। प्राण में वे उन कठिनाइयों का उल्लेख भी कर रहे थे और सेवा से प्रसन्न मन को मिलने वाली शान्ति और आत्म-सुख की प्रशंसा भी करते जाते थे।

पंच से ५० फीट की दूर पर एक ११ वर्षीय बच्चा बैठा ध्यान से प्राण सुन रहा था। आध घण्टे का प्राण आध घण्टे में समाप्त हो गया। सब लोग अपने-अपने घर चले गये, पर बच्चा अब भी विसर्ग ध्यान में खोया हुआ सा चुपचाप बैठा था। अन्तर्दृष्टि स्वाइत्जर की भावनाओं से बालक का अन्तर्बन्धन छिपा न रहा। वे पंच से उठकर उसके पास गये और स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुये बोले, बच्चे! सब लोग चले गये, तुम यहाँ अभी तक किस्तियाये बैठे हो?

बच्चे का ध्यान भंग हुआ, उसने स्वाइत्जर को प्रणाम निवेदन किया और बोला— मैं भी गरीबों और पिछड़े कुओं की सेवा करने के बारे में सोच रहा था, क्या आप मुझे भी अपने साथ ले चलेंगे? स्वाइत्जर ने उसी पीठ धपकाते हुये कहा— तुम बड़े होकर हो, जरूर सेवा करोगे पर अभी तुम डॉक्टर बने। पढ़-लिख लेने तो सेवा के लिये तुम्हें स्वतः राह मिल जायेगी।

स्नेह आशीर्वाद का जो प्रभाव कोमल पित्त बच्चे पर होता है वही उस बालक पर हुआ। वह स्वाइत्जर का निष्ठावान भक्त बन गया। उसने वही प्रतिज्ञा की कि मैं डॉक्टर बूँगा और बड़ा होकर दैन-दुःखियों की तन, मन, धन से सेवा करूँगा।

आज आपको पेरू जाने का अवसर मिले तो आप उस कलक के संकल्प को वातावरण हुआ देखा सकते हैं। वही कलक आज डॉ. थियोडोर वाइडर नाम से विख्यात है। पेरू के अविस्थान अदिवसी कन्वेले भारतीय वंशज हैं वे लोग वाइडर को प्यार से यातून पापा (सबका पिता) कहकर पुकारते हैं। उस व्यक्ति की सेवा-समर्पण का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पेरू के कोने-कोने से गरीब इत्यादि के लिये यहाँ पहुँचते हैं। एक बार जेपियों का समार अपने १६ वर्षीय पुत्र को चिकित्सा के लिये डॉ. वाइडर के पास लाया। इस अस्पताल तक पहुँचने में समार को १८ दिन लगे थे।

सेवा-सहयोग और सहानुभूति की बात किसी के मन में अजीब भी है तो वह समझ और सुविधाओं की बात पहले व्यक्तिकर कर देते हैं तथा मूल्य और मन व्यक्त करने की। यह सेवा-समर्पण का मूल्य कम कर देती है। सेवा का समर्पण स्व और अपनी कही-टी ले भजन, कष्ट और संघर्ष है। संघर्ष में भी अपने जीवन का मूल्य, अपनी योग्यता, क्षमता और समर्पण का लान औरों को, पिछड़े, दैन, दैन

गरीब, गलीबों को देने वाले ही सच्चे जनसेवक कहलाते हैं। डॉ. वाइडर ऊँची में से एक हैं।

डॉ. स्वाइत्जर का आशीर्वाद पाकर डॉ. वाइडर जो तब बच्चे थे विज्ञान और डॉक्टर पढ़ने लगे। बड़े पछिम से उन्होंने आगे काम आने वाली योग्यता को बढ़ाया। इन दिनों उनका अपने मार्गदर्शक से नए पत्र-व्यवहार होता था। उसका एकोलाप यह हुआ कि वह मानव जाति की उत्कृष्ट सेवा की प्रेरणा ग्रहण निरन्तर करते रहे।

वाइडर ने पेरू के गरीब आदिवासियों के विषय में पहले से ही सुन रखा था। उन्हें जिस दिन मालूम हुआ था कि वहाँ के निवासी भारतीयों की चिकित्सा की जग-भी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं उनके ५० प्रतिशत से भी अधिक बच्चे बचपन में ही मर जाते हैं निर्धनता, अज्ञानता का ही उन पर दुष्प्रभाव नहीं, वे लोग संस्कारविहीन भी हैं, तभी से उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यही उनकी सेवा का समुद्र है।

अभी उन्होंने शिक्षा साधन पूरी की थी। एक आवश्यकता और भी आनी ही महत्वपूर्ण थी, वह थी— धन की आवश्यकता। वाइडर जानते थे जो लोग अपनी आजीविका ही कठिनाई से चला पाते हैं, जो स्वतः पूर्ण हैं, उनकी सेवा और उनकी मूर्ख तोड़ने के लिये ज्ञान, दान और सेवा भजन का ही महत्त्व नहीं, व्यावहारिक साधन— धन की भी आनी ही आवश्यकता है। ऐसे विषय विचार स्वतः पर भी वाइडर ने संकल्प डिग्रा नहीं बना उनकी इच्छा शक्ति और भी दृढ़ हो चली।

गरीबी की तड़ाई छिड़ने पर वे मेडिकल आफिसर के रूप में काम करने लगे। कभी विरोधी संस्था में भी काम किया। इसके बाद वे स्विटजरलैण्ड गये। वहाँ उन्होंने डॉक्टर का शोध अध्ययन भी पूरा कर लिया।

अब तक धन की तृष्टि नहीं हुई थी। आत्मा को अपना अभीष्ट नहीं मिला था, इसलिये वे सदैव बेचैन रह कर रहे थे। जब कभी कोई परिचय होता, डॉ. वाइडर कहते अब तक संसार में गरीब हैं हमें मनमाना कहसकते हैं, अब तक अस्थिर हैं स्थिति बदलने का और अब तक पृथ्वी का विस्तार पू-पाप अज्ञान, कुसंस्कार, दैन-दुर्दशा प्रभु है तब तक अपने आप को सत्य कहसकने का अधिकार नहीं हो सकता। पिछड़े कुओं को समझदार पर लाना प्रबुद्ध व्यक्तियों का कर्तव्य है।

एक दिन अपने अपनी सम्पत्ति की समस्या के सामने अपनी योजना प्रस्तुत की। उन दिनों वाइडर की लिबनगर में अपनी प्रैक्टिस चलती थी। पेरू का जीवन बड़ा ही दुर्गम है वह जानते हुये भी श्रीमती साधन ने अपने पति की योजना का समर्थन किया और पूरा सहयोग देने का कन देकर पत्नीत्व को समर्थन दिया।

फिर क्या था। अमेरिका के संगत में २५ एकड़ जमीन खरीद कर उसे कलक करवाया गया। डेनमार्क की इन्वीनिंग प्रीमरी वर्ग डिप्लोमा ने अस्पताल का कलक तैयार किया और भवन निर्माण भी उन्होंने करवाया। वहाँ उनके संकल्प होते हैं वहाँ समुद्र सहयोग

और साधनों की पूर्ति के लिये भी अच्छे लोगों का अभाव नहीं रहता। उन्होंने अपने साथियों के कुछ ऐसे संगठन भी बनाये हैं जो इस चिकित्सालय और उसकी योजनाओं के लिये आर्थिक सहायता किया करते हैं।

१४ जनवरी, १९६० को डॉ. श्वाइत्जर के साथ इस अस्पताल का उद्घाटन हुआ। स्थानीय नर्सों की आवश्यकता हुई उसके लिये बीमती बाइडर ने अथक परिश्रम किया और उन्होंने पेरू की ही उनसे प्रशिक्षित कर ली। ३० कारपाइजों, प्रयोगशाला और मरीजों के लिये झोपड़ियों की व्यवस्था भी उन्होंने मनःयोगपूर्वक सम्पन्न की।

चिकित्सक की व्यवस्था हो जाने पर फिछड़े हुई जनता को नया जीवन मिला। पर काम बड़ा कठिन है। वहाँ के लोग अश्विनिश्वसी भी कम नहीं। एक दिन डॉक्टर ने एक मरीज बालक को दवा की गोलियाँ दीं। माँ दवा लेकर घर गई। दो-तीन गोलियाँ खाने के बाद बच्चे ने दवा लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह कड़वी थी। दवा तो किसी न किसी को खानी ही चाहिये इस मिय्या विश्वास के कारण उस माँ ने बच्चे की दवा उसकी बहिन को दे दी और बहिन को दवा बच्चे को फल यह हुआ कि बच्चा मर गया। ऐसी कठिनाइयाँ प्रारम्भ में आये दिन आती थीं तो भी बाइडर निराश नहीं हुये, उन्होंने अपना व्रत और भी लगनपूर्वक जारी रखा।

डॉ. बाइडर ने अनुभव किया कि इन लोगों की चिकित्सा ही कष्टमय नहीं बरन् स्वस्थ और स्वच्छ वातावरण बनाना उससे भी अधिक आवश्यक है। गरीबी और भूख का मुकामला करने के लिये खेतों-बाड़ी की भी योजना बनाई और वहाँ के लोगों को कृषि, पशुपालन का काम सिखाना भी प्रारम्भ किया। कच्चीलों में परस्पर झगड़े हुआ करते थे उसमें उनकी शक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा नष्ट होता था, डॉ. बाइडर ने उसे दूर किया। उनमें परस्पर मेल-भाव पैदा किया। इन कार्यों में उन्हें बड़े तीव्र संघर्ष करने पड़े, विरोध और बाधाओं से लड़ना पड़ा है, तब आज ऐसी स्थिति बन सकी है कि अब वहाँ नया जीवन, नई दिशा, नये उद्योग, नये विश्वासों को जन्म मिला है। पेरू के आदिवासी सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की ओर उन्मुख हुये हैं। पिछड़े हुए लोगों की सेवा डॉ. बाइडर की तरह करने, संघर्षों से न डरने और अपने ध्येय की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न करने से ही नव-निर्माण सार्थक होते हैं। ऐसे सहस्र, लगन की आज हमें और इस देश को बड़ी आवश्यकता है।

सेवा के पूर्तिमान प्रतीक— सन्त विनोबा भावे

अपने व्यक्तित्व विकास का रहस्य बतलाते हुए एक बार सन्त विनोबा भावे ने कहा कि “मैंने अपने शिक्षा काल में कभी एक क्षण भी खराब नहीं किया और न कभी निरर्थक अथवा निरूपयोगी श्रम किया। जो पूँजी मैंने उस समय प्राप्त की है वह मेरे आज तक काम आ रही है। परिश्रम करने से परिश्रमशीलता का विकास होता है और

जीवन की सारी सुख-सुखान्ति का निवास परिश्रम की गोद में ही होता है।”

सन्त विनोबा का मूल नाम विनायक नाहरि भावे था। इनका जन्म बम्बई प्रान्त के कुलावा जिले में ग्यारह सितम्बर अठारहसौ पचानवें में हुआ। विनायक नाहरि के माता-पिता बहुत ही धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त थे। बाल्यमेव चित्त गुणों से परिपूर्ण यह मराठा परिवार पथ्यवर्ग का था।

विनोबा के जीवन पर माता-पिता के आचरण का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि शर्मिकता उनके छेप-रोप में बस गई। बहुत कुछ शार्मिक होने पर भी इनकी माता के विचार बड़े परिमार्जित एवं प्रगतिशील थे। छानिकर रुढ़ियों तथा निरर्थक परम्पराओं से उन्हें बहुत घृणा थी। जिन रिवाजों में वे कोई लाभकर लाभ न देखती थीं उनका पालन करना वे आवश्यक नहीं समझती थीं। माता की इस वैचारिक प्रगतिशीलता ने पुत्र की विचारधारा पर बड़ा ही वाञ्छित प्रभाव डाला जिससे उनमें बाल्यकाल से ही किसी विषय पर मौलिक रूप से विचार करने और उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता की विवेक बुद्धि का विकास हो गया। माता के दिए हुए यह संस्कार आगे चलकर उनके जीवन में उत्पत्ति बनकर धमके, जिससे आज वे धर्म के युगीन व्याख्याकार के रूप में सम्मानित हैं।

आचार्य विनोबा भावे को बाल्यकाल से ही सामूहिकता में बहुत विश्वास रहा है। समय की पाबन्दी उनके माता-पिता की एक विशेष देन थी। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही लेकर विनोबा ने बड़ीदा हाई-स्कूल में कक्षा चार में प्रवेश लिया। घर पर माता-पिता द्वारा पढ़ाई में जगाई सचि के कारण विनोबा-विनोबा कक्षा के पाठ से सदैव आगे-आगे चलते थे। अपनी पाठ्य-पुस्तकें के साथ वे अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें भी पढ़ा करते थे जिससे दिनों-दिन उनके ज्ञान की जिज्ञासा बलवती होती गई। मनुष्य जिस विषय के प्रति अपना हृदय समर्पित कर देता है वह समवानुसार उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है, फिर वह कितना ही कठिन क्यों न हो।

कठिनायत अथवा दुरुहता का अपना कोई मौलिक अस्तित्व नहीं है। वे कस्तव में मनुष्य की अस्मिता तथा अलगता के ही बदले हुए रूप होते हैं। तन्मयता, लगन, सचि और परिश्रम किसी भी कठिन से कठिन कड़े आने वाले कार्य को सरल बना देते हैं। सुस्मिपूर्ण संलग्नता में एक विशेषता है कि वह मनुष्य को कठिन एवं त्रमसाध्य विषयों की ओर ही झुकाती है, उसी में सचि उत्पन्न करती है। भस्तिष्क की अन्तिम सीमा तक पहुँचकर किसी विषय का निष्कर्ष निकालने पर ही किसी सच्चे अध्यवसायी को सन्तोष होता है। जिन कार्यों अथवा जिन विषयों में मन-भस्तिष्क को अपना पूरा कर्तव्य निभाने का अवसर न मिले ऐसे हल्के-फुल्के विषय वे ज्ञानान्वेषक की रुचि कम ही रहती है और सुस्मिपूर्ण संलग्नता की प्रवृत्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को ज्ञान के प्रकाश से जगमगाकर पूर्ण बना देती है।

बालक विनायक— विनोबा को अन्य विषयों की अपेक्षा गणित में अधिक रुचि थी। प्रश्नों के अन्तराल में प्रवेश कर उनका हल निकालने में उसे वैसा ही आनन्द आता था जैसा किसी गोताखोर को

समुद्र से पानी पाने में । गर्भित के विषय में अन्य सारे विद्यार्थी विनायक-विनोबा को अपना नेता मानते थे । दूसरों के दुरूह प्रश्नों को हल करने उन्हें उसकी रीति बतलाने, नई विधियाँ सिखाने के कारण विनायक-विनोबा में एक अतरदायित्वपूर्ण गुरुभाव का उदय हो जाने से उसमें प्राप्ति से ही एक अपेक्षित सम्पन्नता का सम्बोधन हो गया जिसने उसके आचरण पर बड़ा ही अनुकूल प्रभाव डाला । अब वह प्रगल्भ एवं पाँचप्रमुखों की अपनी योग्यता को निरन्तर तरो तजा बनाने रखने के लिये अधिकाधिक अध्ययन करते और नये-नये विषयों में अपना पथ प्रशस्त करने । जिसके परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क प्रखर से प्रखर होना लगा और वे बड़ौदा हाईस्कूल के विशेष विद्यार्थी बन गये ।

अपनी लोकप्रियता के कारण हाईस्कूल तक पहुँचते-पहुँचते विनायक-विनोबा विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या से घिरे रहने लगे । अपनी लोकप्रियता का उपयोग उन्होंने एक ऐसी मित्र-मंडली बनाकर किया जो अन्धधरा के समय में दूर-दूर तक भ्रमण करने जागी और देश-राष्ट्र तथा समाज की तत्कालिक समस्याओं के समझने के लिये विचार-विमर्श करती और आगे चलकर उसके समाधान के उपाय क्षीयती । माता पितृ के दिए संस्कारों के कारण विनायक-विनोबा ने अपनी रुचि के अनुसार अपने मित्र-मंडलों में भी आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न कर दी जो उनके परित्र-निर्माण में बहुत दूर तक काम आई ।

गैट्रिक के बाद कॉलेज के प्रथम वर्ष में विनायक-विनोबा ने अपनी मित्र-मंडली को 'विद्यार्थी-मंडल' नामक संस्था में बदल दिया और सुव्यवस्थित कार्यक्रम के साथ शिक्षा-प्रसार तथा समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया । इसकी बैठकों में सामाजिक कुरीतियों तथा नैतिक पतन को कड़ी आलोचना की जाती । लोगों को सुधार की प्रेरणा दी जाती और प्रगतिशील नये विचारों की प्रतिस्थापना की जाती थी । जन-जागरण के लिये विनायक-विनोबा के इस विद्यार्थी-मंडल ने 'शिवाजी जयन्ती', 'हनुमान जयन्ती', 'गणपति-उत्सव' तथा दास नवमी जैसे उत्सव इस प्रकार से मनाने प्रारम्भ किये, जिससे लोगों में धर्म के साथ राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना भी जागने लगी । इसके अतिरिक्त विनायक-विनोबा के नेतृत्व में इस विद्यार्थी-मंडल में जनता से एक-एक पैसा तथा पुस्तकें माँगकर एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें भेल-स्पर्श, क्लन्डी के अपाण्य काँष भी प्राप्य हो गये ।

किन्तु पराधीनता की गन्ध देने वाली स्कूली शिक्षा से विनायक-विनोबा की सन्तोष न हो सका, अस्तु वे दूसरे वर्ष ही कॉलेज छोड़कर सर्व्वे ज्ञान की तलाश में कश्मीर चले गये और वहाँ से महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम ।

महान्मा गाँधी के साबरमती आश्रम के वातावरण तथा गाँधी जी के सम्पर्क में पहुँचने पर विनायक-विनोबा भावे को जिनका कि नाम गाँधी जी ने विनोबा भावे रख दिया था, हार्दिक शान्ति मिली । वहाँ जाकर उन्होंने अनुभव किया कि यही वह जगह है जहाँ सत्यपूर्ण स्वावलम्ब्य तथा सच्ची सेवा भावना से ओत प्रोत जीवन अपनाकर पूर्ण मनुष्य बनने का अवसर मिल सकता है ।

मनुष्यता की पूर्णता प्राप्त करने के लिये विनोबा भावे ने अपना सम्पूर्ण जीवन आश्रम की सेवा तथा उसके कार्यक्रमों को समर्पित कर दिया । लोक-कल्याण की भावना से जनसेवा के प्रति सच्चा आत्म-समर्पण किये ही बिना किसी विशेष प्रयत्न से विनोबा जी का आत्मिक स्तर स्वयं ही कुछ ऊँचा उठ गया और उनमें काम करने की एक अद्भुत शक्ति भर गई । केवल न होगा कि मानवता की सगल कामना करने वाले को अन्य मनुष्य की शक्ति का एक अंश स्वतः प्राप्त हो जाता है । इस विषय में जिसका दृष्टिकोण जितना व्यापक जितना निःस्वार्थ और जितना ऊँचा होगा उसे दूसरों की शक्ति का अंश उसी अनुपात से अधिक प्राप्त होगा ।

आश्रम में रहकर विनोबा जी सूत कातते, आध्यात्मिक अध्ययन करते, बच्चों को पढ़ाते, उन्हें दैनिक आचरण की शिक्षा देते, स्वावलम्बन, उद्योग तथा शारीरिक क्रम का अभ्यास कराते । उनकी इस परिश्रमपूर्ण शिक्षण कला से प्रभावित होकर आश्रमवासियों ने 'वर्धा-शिष्य-योग' के नाम पर शिक्षा की एक पद्धति का ही शीर्षक कर दिया ।

पर्याप्त समय तक आश्रम में रहकर जब प्रयत्नपूर्वक विनोबा जी ने अपने परिवार आचरण को पूर्ण परिपक्व बना लिया और संयम की ओर में अपने को तणाकर शुद्ध मानवत्वं के दर्शन कर लिये तब वे एक स्नान की छुट्टी लेकर देशाटन के लिये आश्रम से चल पड़े । जिस अपने पूर्व गीत ज्ञान को उन्होंने गाँधी जी के सम्पर्क में विस्तृत किया था उसे अब व्यापक बनाने के लिए प्रकाण्ड विद्वान् नारायण शास्त्री मण्डले के पास गये और पञ्च षष्ठशाला में निरन्तर छह माह तक ब्रह्मसूत्र का अध्ययन किया । अनन्तर नगर-नगर, ग्राम-ग्राम गीता का ज्ञान वितरित कर और देश की सामाजिक अवस्था को अध्ययन करते हुये अवकाश समाप्त हो जाने पर पुनः आश्रम वापस आ गये ।

अपने अनुभव, अध्ययन, परिश्रम तथा सेवा भाव से विनोबा जी ने जो पात्रता अपने में उत्पन्न की थी उसके सम्मान में गाँधी जी द्वारा ग्राम सेवा मंडल, सेवा ग्राम आश्रम, तालीमी संघ, चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गौ सेवा संघ, महिला आश्रम आदि संस्थाओं के संचालन एवं प्रबन्ध का दायित्व उन्हें सौंप दिया, जिसे उन्होंने निष्पृह भाव से महात्मा गाँधी की सन्तोष-सीमा तक पूरा कर दिखाया ।

इसके अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में वे हर आन्दोलन तथा हर योजना के अन्तर्गत जेल गये और अनेकों बाननाये सही विनोबा जी के जीवन का प्रमुख तत्त्व दंडि नारायण की सेवा करना रहा है । अपने जीवन में उन्हें दो ही बात पसन्द है— आध्यात्मिक चिन्तन और दंडि नारायण की सेवा ।

यद्यपि राजनैतिक आवश्यकता के समय भी विनोबा जी राजनैतिक व्यक्ति नहीं थे तथापि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से तो वे देशान्त तथा गरीबों को आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाने के लिए दिन रात पैदल चलकर गरीबों के लिए भूमि माँगते हैं । उनकी यह सेवा भूदान तथा ग्राम दान के नाम से प्रसिद्ध है और वे महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी की भाँति धारण में पूजे जाते हैं ।

सत्यमाध्यते

माँ ने कहा— “बच्चे, अब तुम सगड़दार हो गये हो। स्नान कर लिया करो और प्रतिदिन तुलसी के इस वृक्ष में जल भी चढ़ावा करो। तुलसी की उपासना की हमारी परम्परा पुरखों से चली आ रही है।”

बच्चे ने नर्क किया— “माँ तुम कितनी भोली हो। इतना भी नहीं जानती कि यह तो पेड़ है? पेड़ों को भी कहीं पूजा की जाती है। इसमें समय व्यर्थ खोने से क्या लाभ है?”

लाभ है पुन्ने। ब्रह्मा कभी निरर्थक नहीं जाती। हमारे जीवन में जो विकास और नैतिकता है, उसका आधार ब्रह्मा ही है। ब्रह्मा छोटी उपासना से विकसित होती है और अन्त में जीवन को महान् बना देती है, इसलिये यह भाव भी निर्मूल नहीं।

तब से विनोबा भावे जी ने प्रतिदिन तुलसी को जल देना प्रारम्भ कर दिया। माँ की शिक्षा कितनी सत्य निकली उसका प्रमाण अब सधके सामने है।

सत्याग्रह का परिणाम

काशी में विद्याध्ययन कर रहा एक छात्र एक दिन एक दुकान पर ताला खरीदने गया। एक ताले की कीमत पूछने पर दुकान वाले ने बताया इसकी कीमत दस आने है। लड़के ने देखा ताल बहुत हलका है सो वह बोला— श्रीमान “ताले की कीमत तो तीन आने लगती है पर आप कहते हैं तो आगकी बात ही सब गन्धो पड़ेगी— यह कहकर उसने दस आने चुकाये और बहा से ताला लेकर चला आया।”

लड़का प्रतिदिन उसी दुकान के सामने से होकर घूमने के लिये निकला करता— एक दिन दुकानदार ने स्वयं ही सापने आकर कहा— बेटा! तुम्हारे, सत्य आग्रह के सम्मुख नतमस्तक हूँ, ताला सबमुच ही तीन आने का था। “यह लो अपने साथ आने”— कहकर उसने पैसे लौटा दिये। वह बालक और कोई नहीं विनोबा जी थे दुकानदार ने फिर किसी ग्राहक को न ठगने की प्रतिज्ञा कर ली।

राणा की जयन्ती

बच्चों ने अपने नायक विन्या (अब विनोबा भावे) के नेतृत्व में प्रत्यक्ष जयन्ती पाठशाला में न मनाकर बन में मनाई। दूसरे दिन अध्यपक जी ने बालकों से पूछा— “ब्या महाराणा प्रताप की जयन्ती पाठशाला में नहीं मनाई जा सकती थी?” “आप भी क्या कहते हैं गुरुजी! स्वतंत्रता के पुजारी की जयन्ती इस कैदखाने में कैसे मनाई जा सकती थी।”

छोटे से बालक विन्या के हृदय में भारत को स्वतन्त्र बनाने हेतु धधक रही अग्नि को देखकर अरूपापक निरुत्तर हो गये।

गज का गीत—प्रेम

विनोबा उन दिनों बड़ौदा में रहते थे। उनके निवास स्थान से कोई दो फर्लिंग पर एक मंदिर था। विनोबा प्रतिदिन मंदिर जाते और उसमें कुछ देर बैठकर भजन गकर लौटते।

मंदिर के समीप ही एक रईस रहा करते थे सम्पत्तिव भायकवाड़ उनके पास एक हाथी था। विनोबा जब भजन करते हाथी बड़े ध्यान से उनका भजन सुनता। विनोबा भावे के मंदिर में नियमपूर्वक जान की तरह प्रतिदिन भजन सुनना हार्थ का नियम बन गया।

एक दिन किसी काम की जल्दी थी। विनोबा मंदिर गये भगवान् के दर्शन भी किये किन्तु रुके नहीं। एक घिनट में ही बाहर आ गये।

उन्हें बाहर आते देखकर हाथी घिस्ताने लगा। विनोबा को फिर मंदिर जाना पड़ा। कुछ क्षणों के लिये वे भीतर जाकर बैठ तो गये पर फिर शीघ्र ही बिन भजन गये लौट पड़े।

हाथी फिर जोर-जोर से घिस्ताने और क्रोध प्रकट करने लगा इस बार विनोबा मंदिर में फिर गये और पहले की तरह भजन गाया तब लौटे।

अब की बार हाथी प्रसन्न था, विनोबा को लगा जैसे उसके अन्तःकरण से आवाज आ रही है— “भगवान् का भजन किये बिना कोई काम शुरू नहीं करना चाहिये।” उस दिन से विनोबा जी हाथी को अपना गुरु समझने लगे।

शुभ संकल्प

‘मूदान’ के लिये देश के कई प्रान्तों का भ्रमण करते हुए विनोबा भारतवर्ष के अन्तिम छोर ‘कन्याकुमरी तक जा पहुँचे।’ यहाँ जब वे प्रातःकाल समुद्र के किनारे खड़े सूर्योदय की शोभा देख रहे थे तो अकस्मात् उनको अनुभव हुआ कि उनकी अन्तरात्मा को कोई एक संदेश दे रहा है। उनको स्मरण आया कि ठीक इसी स्थान पर आज से अनेक वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने ‘देशोद्धार’ और ‘दरिद्र नारायण’ की सेवा की प्रतिज्ञा की थी। उसको पूरा करने के लिये वे देश और विदेशों में निरन्तर फिरते रहे और एक ऐसा पौधा लगा गये जिसकी छाया में बैठकर आज भी सब तरह के तापों से आश्रय प्राप्त करते हैं। उस समय मानो विवेकानन्द की आत्मा ही उनकी आत्मा से कह रही थी कि मैंने ‘देज-सेवा’ का जो बीजारोपण किया था वह लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के नेतृत्व में वृद्धि करता हुआ फल-फूल देने की अवस्था में पहुँच गया है। अब उसकी रक्षा करना तुम्हारा काम है। विनोबा जी ने उसी समय समुद्र का जल हाथ में लिया और सूर्य भगवान् को साक्षी कर्तक संकल्प किया कि “जब तक भारतीय ग्रामों में कुछ सहन करने वाले असहाय गरीबों की दशा का सुधार नहीं हो जायगा तब तक मैं विभ्राम नहीं करूँगा।”

साधन का साध

कुछ दिनों विनोबा पाठ प्रतिदिन अपने पवनार आश्रम से लगभग तीन मील दूर स्थित सुरगांव जाते थे, एक फनवड़ा कंधे पर रखकर

एक बार कमलनयन बजाज ने उनसे पूछा कि आप फनवड़ा रोज इतनी दूर अपने साथ क्यों ले जाते हैं। उस गंव में ही किसी के यहाँ आप फनवड़ा क्यों नहीं छोड़ आते?

विनोबा जी बोले, “जिस काम के लिए मैं जा रहा हूँ उसका औजार भी मेरे साथ ही होना चाहिए। फौज का सिपाही अपनी बन्दूक या

अन्य हथियार लेकर चलता है, उसी प्रकार एक 'सफैया' को भी अपना औजार सदा अपने साथ लेकर ही चलना चाहिए। सिपाही को अपने हथियारों से मोह हो जाता है उसी तरह हमें भी अपने औजारों को अपने साथ लाने में आनन्द और गौरव का अनुभव होना चाहिए।"

श्रम का मूल्य

पवनार में विनोबा जी प्रतिदिन आठ घण्टे कुँआ खोदने का काम करते थे। आरम्भ की संस्थाओं के लोग भी इस कार्य में उनकी मदद करते थे। कोई नेता या मंत्री विनोबा जी से मिलने आते तो उन्हें भी यह काम करना पड़ता था। श्रीमती जानकी देवी नंदाजी भी कुछ दिन वहाँ रहीं और उन्होंने नियमित रूप से एक घण्टा चक्की पीसने, एक घण्टा रूट चलाने और छह घण्टे खाली-परी टोकरी कुँए पर ऊपर-उपर देने का काम किया।

प्रसिद्ध उद्योगपति परिवार की इन सरल, निर्भिक्षणी व सेवाविष्ट महिला का यह उदाहरण निश्चिन्त रूप से हमें प्रेरणा प्रकाश देने को पर्याप्त है। जो यह सोचते हैं कि हम सम्यन्त हैं परित्यक्त क्यों करें वे बड़ी भूल करते हैं, परित्यक्त और वह भी किसी महत्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर किया वह कम पुण्य नहीं।

आठ घण्टे काम करने वाले कार्यकर्ताओं को १३ आने पाल्त्रिमिक और भोजन मिलता था, जिसमें दाल, चूआ की रोटी, मूँगफली का मक्खन और सब्जी होती थी। विनोबा जी कहते थे कि दूध, दही, घी, तेल तो सब मिले, जब कुँआ खुदे, उसमें से पानी निकलने, पानी से खेती हो, खेती से बस-दाना हो जिससे गाय रखी जायें। तब तक इसी से काम चलाना होगा।

पक्षपात से दूर

विनोबा जी के साथ-साथ बहुधा कोई सम्बन्धी या मित्र बालक भी उनके घर में रहा करता था। उस बालक को भी घर में विनोबा के समान ही सुविधायें मिला करती थीं। भोजन आदि भी साथ-साथ समान स्तर का मिलता था। कभी-कभी घरों में बासा भोजन बचा रहना भी स्वाभाविक है। उनकी माता भोजन फेंके जाने के विरुद्ध थीं अस्तु वह भोजन मिल-जुल कर थोड़ा-थोड़ा खा लिया जाता था। ऐसे अवसर पर माता विनोबा को कसती भोजन देकर दूसरे को ताजा खिलाने का प्रयास करती थीं। विनोबा को इस पर कोई आन्तरिक विरोध नहीं था सहज सहभावना का शिक्षण उन्हें प्रारम्भ से मिला था। किन्तु परिहास में एक दिन उन्होंने माँ से कहा— "माँ, आपके मन में अभी भेद है।" माँ प्रश्नचकित दृष्टि से उनकी ओर देख उठी। विनोबा ने हँसते हुए कहा "हाँ देखो न, आप मुझे बासा भोजन देती हैं तथा अमुक साथी को ताजा।"

माँ की उदारता को पक्षपात की संज्ञा देकर विनोबा ने परिहास किया था किन्तु माता ने उसे दूसरे ढंग से लिया। बोली— बेटा तू ठीक कहता है। मानवीय दुर्बलतायें मुझमें भी हैं। तू मुझे अपना बेटा दीखता है तथा अभ्यक्त अतिथि। इसे ईश्वर रूप अतिथि मानकर सहज हो मेरे द्वार यह पक्षपात का व्यवहार हो जाता है।

तुझे बेटा मानने के कारण तैरे प्रति अनेक प्रकार का स्नेह मन में उठता है। जब तुझे भी सामान्य दृष्टि से देख सकूंगी तब पक्षपात की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

विनोबा को प्रसन्नता हुई। माता का एक और उज्ज्वल पक्ष उनके सामने आया था। समझ के सन्तुलन तथा आध्यात्मिकता की पकड़ का महत्वपूर्ण सूत्र उन्हें मिल गया था। लौंग सन्तुष्टि के प्रयास में असंतुष्ट होते क्यों दिखाई दिया करते हैं। इसका कारण वह खोजा करते थे। आज उन्हें उसका एक विशिष्ट पक्ष दीखा। पक्षपात पशुध्व के अन्तःकरण को सहन नहीं होता। व्यक्ति अभाव स्वीकार कर लेता है, पक्षपात नहीं। अपने को पक्षपात से मुक्त अनुभव करने वाला अन्न-करण ही सन्तोष का अनुभव करता है विनोबा ने माता की शिक्षा गाँठ में बाँध ली।

समस्या का समाधान

लॉर्ड मैकले की शिक्षा योजना का एकमात्र उद्देश्य था अंग्रेजी शासन तन्त्र को चलाने के लिए आफिसों में क्लर्क और छोटे-बड़े कर्मचारी तैयार करना। स्वतन्त्र भारत के लिए यह शिक्षा पद्धति अव्यावहारिक और निरुपयोगी ही नहीं, अहितकारी भी लगी। तो महात्मा गाँधी ने शिक्षा में नये प्रयोग करने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन, विनोबा भावे जैसे कर्मठ समाजसेवियों को नयी शिक्षा योजना तैयार करने के लिए कहा।

बड़े परिश्रमपूर्वक यह योजना बनी और इस योजना के अनुसार व्यवहार में लायी जाने वाली शिक्षा पद्धति को नाम दिया गया, नयी तन्त्रिय या कुर्म्यादी शिक्षा। विभिन्न स्थानों पर नयी तालीम के केन्द्र और पाठशाला खोली गयीं। एक पाठशाला गुजरात प्रान्त के सुरत जिले में बड़खी ग्राम में भी खुली। इस पाठशाला के अध्यापक बने श्री नारायण चाई देसाई। एक बार अध्यापक विनोबा भावे इस पाठशाला को देखने आये और उन्होंने देसाई जी से पूछा— कोई दिक्कत तो नहीं।

नारायण भाई ने अपनी परेशानी बताने हुए कहा— इस शाला में कुछ क्लर्क तो ऐसे आते हैं जो पढ़ने में बहुत तेज होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के होते हैं और कुछेक एकदम कच्चे। अब समस्या यह है कि कच्चों को पक्का करने लगे तो कुशाग्र छात्र यह समझने लगते हैं कि उनकी उपेक्षा हो रही है। होशियार छात्रों पर ध्यान दें तो कच्चे पिल्लड़ने लगते हैं तो आप ही बताइये कि मध्यम बुद्धि वालों को ध्यान में रखकर पढ़ाया जाये।

विनोबा भावे ने समस्या का समाधान करते हुए कहा— तन्त्र ज्ञानी लोग सबसे आगे चलने वालों के साथ चलते हैं। समाजशास्त्री मध्यम स्तर वालों के साथ परन्तु जो सेवक होता है उसे तो सबसे पीछे चलने वालों के साथ ही चलना पड़ना है।

वाणी का संयम

एक बार विनोबा से किसी ने पूछा कि "जब आपको एक घण्टा या अधिक व्याख्यान देना पड़ता है, तब किस प्रकार उसकी तैयारी

करने हैं। कितना साधने है ?” विनोब का उत्तर था— “जब घण्टे भर बोलना ही है तो संन्यास क्या ? कुछ भी कहा जा सकता है। किन्तु जब गुप्त पंद्रह मिनट बोलना पड़ता है तब परश्रम करने पड़ता है। गाने गुनने शब्द हो चुनने व बोलना होने हैं।” गुल्ल गया— “बाद पांच मिनट ही बोलना है न ?” “तो सारगर्भित क्या है उस पर धानी-धौनि चिन्तन कर फिर बोलना है। ऐसे में अनावश्यक विचारों की कोश छाँट सकने मात्र विषय की परिधि तक सीमित रह बोलना पड़ता है।” सच ही है— अनावश्यक कथकल से समनक्षेप अवश्य होता है। कोई सुधराव व बदलाव नहीं आता। सधौ, रूयमिन बाणी से निकले प्रभावोत्पादक विचार कुछ क्षणों में ही जनमनस को बदल देते हैं।

अपने लिये निर्धन समाज के लिये समृद्ध—हेनरी मेनकेन

बालजाक की पुस्तक खोलकर पढ़ी— लिखा था— “जब तुम्हें यह स्पष्ट हो जाये कि लौकिकता, भौतिकता, धन-सम्पत्ति में सुख-सार नहीं। साधन और सुविधाओं के होते हुए भी अशान्ति हो तब कुछ समय के लिए निर्धन, अपाहिजों, रोगियों, अशिक्षित और पत-दलितों के भास जाकर देखना वहाँ तुम्हें शान्ति मिल सकती है क्या ? अन्तःकरण को उनकी सेवा के लिए प्रेरित करना तुम देखोगे शान्ति के द्वार खुलते जा रहे हैं, प्रसन्नता के भाण्डागार अनायास ही उपलब्ध होते जा रहे हैं।”

पुस्तक उठाकर एक तरफ रख दी। हेनरी मेनकेन बाहर निकला। कार निकाली और एक अस्पताल के लिये चल पड़ा। पूरा नाम हेनरी-एल-मेनकेन अमेरिका का सुप्रसिद्ध साहित्यकार था, जिसने पत्रकारिता के व्यवसाय में लाखों की सम्पत्ति कमाई पर उससे उसे तब तक आत्मसन्तोष न मिला जब तक उसने अपने-आपको पिछड़े हुये लोगों के ज्ञान-आध्यात्म में उत्सर्ग नहीं कर दिया।

मेनकेन अस्मिताल पहुँचा। बिस्तरों पर पड़े मरीजों को देखकर उसकी वैभव-विलासनी आत्मता ठो पड़ी। संस्कार में कितने प्राणी हैं जो दुःख और पीड़ाओं के अन्तर्गत में जकड़े पड़े हैं। उसके हृदय में करुणा का ज्वार फूट पड़ा। उनके लिये कुछ करने की इच्छा जाग पड़ी।

कई मरीजों से उसने बातचीत की। उनकी आर्थिक स्थिति से लेकर पारिवारिक अवस्था तक की पूछ-ताछ की। फिर जब उसने परिस्थितियों का विश्लेषण किया तो उसने पाया मनुष्य के दुःख और अभाव (१) सामाजिक विषमता, (२) व्यक्तिगत व चरित्रिक दोष, (३) अन्धविश्वास और कुरीतियों के कारण हैं। कुछ लोगों के पास धन है वह सुविधायें अपनी ओर खींच लेते हैं और लोग निर्धन रह जाते हैं फिर निर्धनता में उनके व्यक्तिगत दोष, आलस्य, असयम और अपराध उन्हें और भी कष्टपूर्ण यातनाओं में धकेल देते हैं। उन्हें शिक्षा, श्रम, उद्योग और उपभोग के लिए योग्य परिस्थितियाँ नहीं

मिलतीं। इसी से एक वर्ग तो उन्नतशील हो गया दूसरा दलित। वह भेद तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक साधनसम्पन्न और विकसित लोग स्वयं पीछे नहीं मुड़ते और हाथ का सहारा देकर दलित वर्ग को ऊपर नहीं उठाते। इस तरह का कल्पना ने मेनकेन के जीवन में एक नया मोड़ उत्पन्न कर दिया।

वह बाहर आए और अपनी कार यह कहकर बेच दी— जब हजारों को अच्छा भोजन, शिक्षा और चिकित्सा की सुविधायें भी न हों, कुछ लोग कार पर क्यों चढ़ें ? क्यों अधिकतम सुविधाओं का उपभोग करें ? कार की बिक्री से आय का धन अस्पताल को दान कर दिया। उस दिन से वह समृद्ध में भी निर्धनता का जीवन किस प्रसन्नता से जिया इसकी सैकड़ों नटनयें अभोरक में पड़ी, ज्ञान-स्रोत की जातीं और उदाहरण दी जाती हैं। तब से उसने प्रतिदिन दो घण्टे रोगियों, अपाहिजों और अविश्वसित लोगों के बीच जाने और उनकी सेवा करने के लिये आजीवन समय निरन्तर प्रारम्भ कर दिया।

अब उसकी पत्रकारिता भी समाज सेवा के शब्दों में जुड़ गई। उसने समाज सुधार के लेख धुटीली भाषा में लिखने और छापने प्रारम्भ किये उससे अमेरिकन बहुत प्रभावित हुये। ऊँच-नीच, वर्ग-भेद अति भौतिकता, जीव-हिंसा और बढ़ते हुये विज्ञानवाद पर उसने करारी चोटें कर जोव दया, सपत्ता और ईश्वर परायणता पर बहुत जोर दिया। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उसने एक विचारोत्तेजक पुस्तक लिखी जब इसका पता कुछ पूँजीपतियों और भेदभाव की नीति वालों को चला तो उन्होंने पुस्तक की चोरी करा ली और उसे जलवा दिया। मेनकेन की खान तक संकट में पड़ गई पर उसने ‘सत्य के लिये संघर्ष’ के सिद्धान्त को भाँस चली तब तक छोड़ा ही नहीं। ‘स्टार्ड सेट’ और ‘दी अमेरिकन मरकरी’ नामक उसकी दो पत्रिकायें सारे देश को निरन्तर उक्त विचारों से अनुप्राणित करती रहीं। उसी का फल है कि भौतिकता के घने अंधकार में आज अमेरिका में मानवोचित सदगुणों, आत्मिकता और प्राणिमात्र के दया का प्रकाश जगमगाता बच सक है।

उसने स्वयं कभी चण्डे के जूते नहीं पहने न जीव हिंसा वाली कोई औपधि ली। अपने लिये तो वह इतना निर्धन था कि घर टेलीफोन तक नहीं था पर सपत्ता के लिये इतना उदार कि उसकी सारी सम्पत्ति लोकसेवा में ही खर्च हो गई।

फ्रांस का शान्ति-दीप—शान्तिदास

शान्तिदास—लार्डाल्ड वास्नो—एक इटालियन राजकुमार थे वे कवि, कलाकार और गर्भी-विचार के एक सच्च अन्वेषी भी थे। फ्रांस का यह इटालियन राजकुमार दक्षिण फ्रांस में एक आश्रम की स्थापना कर अपना तन-मन उसी में समर्पित कर रहा है।

१९३७ में शान्तिदास प्रथम बार भारत में आये। तब समय उनकी अवस्था ३० साल की थी। पहले विश्वयुद्ध के बाद शान्ति का चाह निर्माण हुई। उन्होंने बापू के बारे में काफी सुना था, तब भारत आकर बापू से मिले। हिमालय पर भी गये। व कहते हैं— “हिमालय में

बैठ कर मैंने ध्यान किया और हिमालय ने मुझे प्रेरणा दी । मैं वापस बापू के पास आया । बाने की और बापू ने मुझे प्रसन्न वापस जाने की इजाजत दी । आशीर्वाद भी दिया ।”

हिमालय और हिमालय से बापू, दोनों से प्रेरणा लेकर ज्ञानिदास जो प्रसन्न गये पर सात साल तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी । प्रसन्न का आधुनिकतम कालावस्था, युद्ध की विभीषिकार्यें सहन किया हुआ मानस ऐसी परिस्थिति में अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना आवश्यक ही था । दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और कुछ नवयुवक शान्तिदास जी के पास आये उनके सहकार से दक्षिण प्रसन्न में आश्रम की स्थापना हुई । शान्तिदास की पत्नी ने भी पूरे उत्साह से और भावना से इस कार्य में योगदान दिया ।

इस आश्रम में जिसका नाम 'आर्क कर्म्युनिटी' है सब फाई-बर्हन सामूहिक जीवन का सफल प्रयोग कर रहे हैं । सभी लोग शरीर श्रमनिष्ठा के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं । खेत में बिना ट्रैक्टर के खेती को जानते हैं । खेती के अतिरिक्त गहूँ बड़ईगोरी, कताई-बुनाई आदि कार्य भी चलते हैं । आश्रमवासी इन प्रवृत्तियों द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं ।

इस आश्रम में बटन दबाने की प्रवृत्ति करने वालों कीजानी नहीं है । प्रतिदिन हाथ से साफ किये हुए लालटेन आश्रम में रोशनी फैलाते हैं । कहीं भी टैबिल, कुर्सी की बैठक नहीं । नीचे जमीन पर बैठकर जमीन पर ही भाली रखकर भोजन किया जाता है । प्रसन्न जैसे वैज्ञानिक सुविधा-सम्पन्न देश में भी आश्रम का कालावस्था प्राचीन भारतीय आश्रम जैसा है । वहाँ के आश्रमवासियों ने संकल्प किया है कि संसार के अविदित देशों में जो रहन-सहन और खान-पान का स्तर है वही हम अपनायेंगे । मशीनी युग का सम्पर्क यथासम्भव न होने देंगे ।

आश्रम में रोज आठ घण्टे शरीरश्रम करने के बाद छत्र में प्रार्थना होती है जिसमें ध्यान एवं आत्म-चिन्तन पर अधिक बल दिया जाता है । शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि के लिये समय-समय पर उपवास किये जाते हैं । यों प्रति सप्ताह एक दिन सामूहिक उपवास और सामूहिक मीन का नियम है । स्नेह, सहयोग और सभ्यता के आधार पर आश्रमवासी अपना जीवन जीने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

आश्रम में काम आने वाली प्रायः हर चीज की तैयारी की जाती है । पूर्णान्न की ब्रेड, दूध, पनीर, सब्जी, फल आदि साधन सब आश्रम के सदस्यों द्वारा ही तैयार किया जाता है । यद्यपि आज के समुन्नत अर्थस्त जीवन में बाजार से मुक्ति पूर्णतया सम्भव नहीं फिर भी आश्रम स्वावलम्बन की दृष्टि से अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनने में प्रयत्नशील है । आश्रम के सामूहिक जीवन की दूसरी बुनियादी बात है सत्सम्पत्तों के सन्ध का स्वीकार । आश्रम की योजना सर्वानुमति से बनायी जाती है । किसी भी प्रश्न पर निर्णय लेते समय सामूहिक चर्चा होकर सर्वानुमति से निर्णय लिया जाता है । चर्चा का कालावस्था जब भी शुद्ध होता है तब कुछ समय के लिये मँन रखा जाता है ताकि मानसिक शान्ति के कालावस्था में चर्चा आगे बढ़ सके । यदि किसी प्रश्न पर सर्वसम्मति निर्णय न हो सके तो बैठक स्थगित की जाती है और दूसरे सप्ताह में फिर उस पर पुनर्विचार होता है । कभी

ऐसा भी अवसर आता है कि किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव सा लगता है । तब प्रार्थना, ध्यान आदि का अवलम्बन लिया जाता है । यद्य-कथ सामूहिक उपवास भी किये जाते हैं ।

मनुष्य से भूलें तो होती ही है पर आश्रम में गलतियों के लिये कोई दण्ड नहीं दिया जाता । अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूल के लिये स्वयं ही प्रार्थित कर ले और भाविष्य में गलती न करने का संकल्प करे । परन्तु कभी-कभी एक व्यक्ति यह अपेक्षा पूरी नहीं कर पाता, तब उसका साथी उसके सुधार के लिये प्रार्थना तथा उपवास करता है । यह माना जाता है कि आश्रम के किसी व्यक्ति की गलती केवल उसी व्यक्ति की नहीं उसकी जिम्मेदारों साथे आश्रम पर है । इसलिये उसके सुधार की जिम्मेदारता भी सब आश्रमवासियों पर है ।

आश्रम में आध्यात्मिक, अहिंसक जीवन-प्रणाली का एक आदर्श प्रयोग चला रहा है । सामाजिक जीवन में भी इसका दर्शन कैसे हो सकता है इसकी प्रेरणा वहाँ से लोग लेते हैं । आश्रम में ग्रहचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी का संन्यासी कोई भी आश्रम के नियम और अनुशासन का पालन करते हुए रह सकता है ।

आश्रम में ही बच्चों के लिये माटेसरी स्कूल है । बड़े बालकों को अन्यत्र विद्यालयों में भी भेजा जाता है । वहाँ बालकों को उनकी र्वि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है । इसके पीछे दृष्टि यह है कि उन पर कोई भी र्विज लादी न जाय । बालक अपनी इच्छानुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम चुन लेते हैं ।

इसके अतिरिक्त आश्रम के लोग समाज-सेवा का कार्य भी करते हैं । विद्या-व्यापार और विज्ञान-वन्धुत्व की भावना उनके प्रमुख कार्य है । समाज में अज्ञान को रोकने एवं ज्ञान की स्थापना करने में आश्रम की सेवाएँ अग्रणी रही हैं । आज के विज्ञान के निरन्तर बढ़ते हुए कदम, भौतिकता की विपुलता एवं वस्त्र-युग के दिमाग बिगड़ने वाले कोलाहल-प्रय कालावस्था में हिंसा की भावना के लपटों के बीच शान्तिदास के रूप में यह शान्ति-दीप पश्चिम की एक अनोखी शान्तिमय अहिंसक राह है । इसलिए इस इटालियन राजकुमार-लांझा-डेस-बस्नो का विनावा जी ने शान्तिदास नामकरण किया है । प्रसन्न में इन्हें गाँधी का पदक अनुयायी एवं प्रसन्न का शान्ति दूत माना जाता है ।

नवयुग के सन्देश-वाहक— महात्मा बहा

ईरान की एक अदलत के सामने कुछ अभियुक्त लाकर खड़े किए गए जिन पर राज-विद्रोह और धर्म-विद्रोह का इल्जाम लगाया गया था । न्याय का यह नमाशा कई महीने से चल रहा था और 'धर्म' का नाम लेकर नर-पक्षों का एक टोली ने सैकड़ों आत्म-बलिदात्री वीरों की जीवन-त्वेन्द्र घोर यंत्रणायें देकर—जिनका वर्णन करना मानवता को लज्जित करता है—समाप्त कर दी थी । इस समय अदलत में खड़े अभियुक्तों को जो पूर्णरूप से इसी कैदाल की आश

थी, पर यहाँ एक विपरीत दृश्य यह देखने में आ रहा था कि अभियुक्तों के मुखों पर वीरता, प्रसन्नता, तेज भाव फूटे पड़ते थे और न्यायाधीश को कुर्सीयों पर बैठकर उनका फैसला करने वालों के चेहरों पर मलीनता, कायरता, हीनता छाई हुई दिखाई देती थी।

वे आत्मदानी वीर बाबी-बहाई समाज के अनुयायी थे और आज उनके आराध्य—एक मात्र नेता महात्मा बहा भी उनके साथ खड़े किये गए थे। महात्मा बहा अभी ३५ वर्ष के युवक ही थे और एक बहुत प्रसिद्ध वैभवशाली परिवार के प्रधान व्यक्ति थे। पर इस समय शत्रुओं द्वारा एक कल्पित और अन्धायपूर्ण अभियोग में फँसाकर अदालत में लाकर खड़े किए गए थे और उनकी मौत तिर के ऊपर मेंढराती दिखाई दे रही थी। तो भी सत्य, न्याय, परोपकार के लिये प्राण देने में नाम-मात्र का भी भय प्रतीत नहीं हो रहा था और उनके इस आत्म-तेज को सहज न करने से अदालत के अधिकारी कायना और लज्जा का अनुभव कर रहे थे।

प्राण दण्ड का हुक्म सुनाया हो जाने वाला था कि अचानक दरवाजा खुला और रूस का राजदूत भीतर दाखिल हुआ। उसे देखकर सब छोटे-बड़े उठ खड़े हुए और अदालत के न्यायाधीश भी चौंक उठे। राजदूत ने पारों ओर निगाह डालकर इस दृश्य को देखा व वास्तविकता को समझा और न्यायाधीशों को नरफ देखकर कहा—

‘मेरी बात सुनिए। मेरे पास आपको सुनाने के लिए एक बड़ा ही महत्वपूर्ण सन्देश है। क्या आप अभी तक जिनकी निर्दयता का चुके हैं उससे आपको संतोष नहीं हुआ? क्या आप इन निर्दोश और निर्दोशों में से अनेकों को पहले ही मौत के घाट नहीं उतार चुके हैं? क्या आपकी खून को प्यास की शान्त करने के लिये पहले ही पर्याप्त खून-खराबी नहीं हो चुकी है? कुछ भी हो अब और अधिक अत्याचार नहीं होने चाहिये। इस निरपराध महापुरुष की रक्षा के लिये मैं अपने देश की सरकार की सहायता लेने का निश्चय कर लिया है। इसलिए मैं आपको सावधान किये देता हूँ कि आज और इस समय के बाद इस राजपुत्र का बाल भी बाँका हुआ तो इस अपराध की सजा में आपके शहर में खून की नदियाँ बहा दी जायेंगी। आप मेरी बात को खान लें कि अगर मेरे कहने के विरुद्ध आपने कुछ भी किया तो आपके लिए वह उचित न होगा।’

महात्मा बहा (जन्म १८१७) ईरान के एक बहुत बड़े वंश में जन्मे थे और अपने देवोपम गुणों के कारण वे छोटी अवस्था में जनता के प्रिय बन चुके थे। सन् १८४४ में जब ईरान के एक बड़े धर्म-सुधारक ‘बाब’ ने उस देश में फैले हुए राजनीतिक और धार्मिक भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये आन्दोलन उठाया और यह प्रकट किया कि ‘मेरा आविर्भाव न्याय, समता, भ्रातृभाव की स्थापना के लिये ही हुआ है, तो शासक वर्ग और धर्मजोवी लोगों (मुल्लाओं) का कोप उन पर फट पड़ा और उनको ६ वर्ष तक विभिन्न जेलों में तरह-तरह से पीड़ा देकर सन् १८५० में गोलियों से उड़ा दिया। महात्मा बहा आरम्भ से ही बाब के सिद्धांतों की सच्चाई को समझकर उनका प्रचार करने लग गये थे, अब जब बाब को इस लोक से हटा दिया गया तो उनका स्थान महात्मा बहा ने ग्रहण किया और अपनी पूरी शक्ति

से बाबी-समाज की वृद्धि और संरक्षण में लग गए। पर उस समय ‘बाबी’ होना ईरान में मौत को निमन्त्रण देना था। सरकारी अधिकारी ही नहीं अनेक धर्मान्ध कठमुल्ला और गुण्डे भी दिन या रात में बाबों जब और बाबे जहाँ निर्दयतापूर्वक बाबियों की हत्या कर सकते थे उनके घरों को लूट सकते थे, स्त्रियों को बेहज्जत कर सकते थे। सरकार उनको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं करती थी, बरन् उल्टा प्रोत्साहन देती थी।’

ऐसी दशा में महात्मा बहा ने दो वर्ष तक शत्रुओं के आक्रमणों को सहन करते हुये इस कार्य को चलाया और सब प्रकार के दुश्मन का मुकामला करते हुए बाबी-समाज की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की।

इसके पश्चात् ईरान की सरकार ने इनको देश निकाले का दण्ड दिया और वे बाग़दाद, एड्रियनोपल और अक्का में ४० वर्ष तक कैदी के रूप में रखे गए। वहाँ पर इस बीच में इनको सरकारी नाराजगी तथा अपने ही कुछ सचियों की दुरभिसंधियों के कारण बहुत तकलीफें उठानी पड़ी, पर तो भी इस काल का सन्तोष था कि ईरान से बाहर रहकर वे लिख कर और भेंट करके अपने सिद्धान्तों का बराबर प्रचार कर सके और उसके लिए पर्याप्त साहित्य का निर्माण कर दिया। सब प्रकार के विघ्न, बाधाओं और संकटों का सामना करके उन्होंने नवयुग और विश्व-धर्म के दैवी सन्देश को संसार के कोने-कोने में पहुँचा दिया इसलिए बहाई-समाज के सदस्य उनको दैवी-पुरुष मानते हैं।

महात्मा बहा के उपदेशों में सबसे महत्व की बात यह है कि उन्होंने मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन किया है। यह नहीं कि वह अपने अनुयायियों अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय की एकता का प्रवर्तन करते हों, बरन् उन्होंने मनुष्य मात्र को परमपिता की सन्तान बतलाकर भाइयों के सम्मन रहने का आदेश दिया। इस सम्बन्ध में उनके कुछ उपदेश इस प्रकार थे—

“हम एक ही संसार में रहने वाले अर्थात् एक ही ईश्वरेच्छा के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए हैं, सौभाग्यशाली है वह जो सभी मनुष्यों के साथ कृपा और स्नेह की भावना रख कर पुनः-मिल जाता है। तुम जातीय भेद-भावों की ओर से नेत्र बन्द कर लो और एकता के प्रकाश का स्वागत करो।”

महात्मा बहा के पश्चात् उनके पुत्र श्री अब्दुल बहा ने बहाई-समाज का प्रचार किया और बहाई शिक्षाओं को युग के अनुकूल रूप देकर संसार में व्याप्त कर दिया। उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन किया, जिससे उनके नाम पर होने वाले अन्याय-अन्याचारों से निर्दोश लड़कों की रक्षा हो सके। उन्होंने कहा—

“धर्म का काम तो यह है कि वह हृदयों को मिलाये और लड़ाई झगड़ों को संसार से दूर करे। धर्म के द्वारा आध्यात्मिक भावों का उदय होना चाहिये और प्रत्येक अन्तरात्मा को प्रकाश और जीवन प्राप्त होना चाहिये। यदि धर्म ही बैर, घृणा और भेदभाव का कारण बनता है तो अच्छा है कि ‘धर्म’ ही न हो और ऐसे धर्म से परे रहना ही सच्चा धर्म है।”

एकता का वृद्धि के लिये महान्मा बहा ने एक विश्वधर्म, विश्वभावना और एक-सी न्याययुक्त आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता बतलाई है। इसी का परिणाम है कि आज विपरीत परिस्थितियों के होने पर भी बहाई स्पष्ट अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर रहा है कि यदि मनुष्य हृदय से चाहें तो आज भी धार्मिक धर्म-धर्म का व्यवहार कायम कर सकते हैं। वे लोग विश्व शान्ति के भी दृढ़ उत्पन्न हैं और उन्होंने महान्मा बहा के उपदेशों के सार रूप इस शताब्दी उत्सव पर यह नारा दिया है—

‘ धरती एक देश है और मनुष्य जाति उसकी नागरिक ।’

सचमुच इससे बढ़कर आदर्श इस समय दूसरा नहीं हो सकता। राजनीतियों की झूठों और स्वार्थपरता के फलस्वरूप आज दुनिया महानाश की तरफ दौड़ती जा रही है। उसकी रक्षा अध्यात्म और राजनीति के समन्वय द्वारा ही हो सकती है और महान्मा बहा का उपरोक्त आदर्श हमको यही शिक्षा दे रहा है।

कर्मयोगी संत—श्री सावेज

फ्रांस के श्री सावेज, एक साधारण गृहस्थ होते हुए भी किसी संत से कम नहीं थे।

श्री सावेज ने एक निर्धन परिवार में जन्म लिया। यह सायद ईश्वरीय नियम ही है कि महान् विभूतियाँ—प्रधानतः आत्मबल सम्पन्न व्यक्तित्व—अभावों की सीमा रेखा के अन्दर जन्मते तथा विकसित होती हैं।

सावेज बचपन से ही ज्ञान प्रकृति के थे। न किसी सहपाठी से उनका कभी झगड़ा हुआ और न घर में अध्यापक वर्ग को ही कभी उनसे अवज्ञा करने अथवा निर्देशित कार्य न करने का अवसर मिला।

यद्यपि उनकी स्वयं की अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूर्ण हो पाती थीं—तथापि वे किसी भी सहयोगी को किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता में देखते जो उनके पास होती—तो उसे तुरन्त दे डालते अथवा मिल कर कार्य करने को आमंत्रित करते।

यों तो बचपन बीता। युवावस्था आई तो सभी को यही आकांक्षा रही कि सावेज पढ़-लिख कर एक उच्च अधिकारी बने। किन्तु व्यक्तित्व के निर्माण में वहाँ तो पत्थर और चूना दोनों ही भिन्न प्रकार के लगे थे।

उन्होंने उच्च शिक्षण प्राप्त करके भी अध्यापक बनना पसंद किया, पर वह तो मात्र जीविका का साधन था। उद्देश्य तो उनके जीवन का कुछ और ही था।

वे एक कमरे में स्वयं रहते, एक कमरा अन्य सदस्यों के काम आता तथा शेष स्थान को उन्होंने एक छोटे से आश्रम का रूप दे दिया।

राह में कोई भी अरुहाय, दीन-दुःखी, धायल अथवा निराश्रित व्यक्ति मिलता उसे वे ले आते और प्रेम से उसकी सेवा सुत्रुवा करते। घर वाले मना करने, बाहर वाले हँसी उड़ाते किन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उनकी इसी धुन के कारण उनका अभी तक विवाह भी नहीं हुआ था। सभी कन्या पक्ष वाले सोचते कि “इसी धुन से कौन अपनी लड़की ब्याहे? उसे भी इन भिक्षारियों की सेवा टहल करनी पड़ेगी।”

किन्तु पृथ्वी सद्भावना तथा सद्विचारों के धनी व्यक्तियों से रिक्त नहीं है। पापेला नाम की एक युवती ने इनके उद्देश्यों की सराहना की तथा इनके साथ विवाह कर लिया।

अब तो सावेज की शक्ति जैसे दुगुनी होने के बदले दस गुनी हो गयी। उनकी लक्ष्यता अपने कार्य में और भी बढ़ गयी। अब आश्रम का विस्तार बढ़ाया गया तथा व्यय के लिये नगर के धनीमानी व्यक्तियों की उदारता करके सहयोग लिया गया।

सुबह-शाम दोनों बिलकर आश्रम के आवश्यक कार्य निबटाने, दोपहर को सावेज अपने स्कुल जाते और पापेला घर पर ही कुछ उद्योग करके आय में वृद्धि करती।

कुछ दिन पश्चात्, सावेज ने नौकरी भी छोड़ दी और उनका सारा समय आश्रम की व्यवस्थाओं में ही लगाने लगा। दोपहर के खाली समय में पापेला जो अपना घरेलू उद्योग का कार्य करती थी उसी में वे भी हाथ बँटाने लगे। उदरपूर्ति में कोई कठिनाई न हुई।

आश्रम में अब कई कमरे बन गये। स्वच्छता तथा व्यवस्था भी बढ़ा दी गई। रोगी तथा अनाथ आते और आश्रय पाते। सावेज दम्पति उनकी सेवा तथा देख-भाल बड़े ही स्नेह से करते। जो ठीक हो कर जाना—वही दुआएँ देता।

जिन व्यक्तियों के पास ये आर्थिक सहायता के लिये जाते वे भी इनकी सेवा-भावना तथा कर्तव्य-निष्ठा से प्रभावित होते और यथा शक्ति सहयोग देते।

धीरे-धीरे आश्रम का स्वरूप पर्याप्त विकसित हो गया। लगभग सौ निराश्रितों का वह आश्रयस्थल तथा शालीस-पचास रोगियों का चिकित्सालय बन गया। कुछ अन्य वैज्ञानिक सहायक भी रखे गये। तथा आश्रमवासियों में जो काम करने योग्य व्यक्ति थे उन्हें भी घरेलू उद्योग में लगाने से आश्रम की वार्षिक आय में पर्याप्त वृद्धि हुई। लोग परस्पर बड़ा ही स्नेहपूर्ण तथा सद्भावना से भरा हुआ व्यवहार करते। पापेला सभी को अपने स्नेह से भिक्त रखती। सभी उसकी कर्तव्यपूर्ण सेवा-सद्भावना को पाकर अपने आप को धन्य मानते।

सावेज ने भी अपना जीवन और जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ तथा सभस्त क्षयताएँ—इसी एक प्रयोजन की पूर्ति में होम दीं।

वृद्धावस्था में तो उनका घर किसी प्राचीन भारतीय ऋषि की ही वाद दिलाता था। उन्होंने अन्न का प्रयोग बहुत ही कम कर दिया था। केवल फल या फिर दूध से ही काम चलाने। जब सावेज तथा पापेला—प्रातः-सायं ईश्वराधन करते तो लगता कि स्वयं ही दरिद्रों के लिये नारायण के समान हैं। फिर किस नारायण की आराधना कर रहे हैं?

अने कोई संतान भी उत्पन्न नहीं की। किन्तु जब कोई उनसे पूछता “आप एक बच्चा गोद ही क्यों नहीं ले लेते?” तब वे सहज

५.२४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

स्थिति के साथ उत्तर देते— “ईश्वर ने हमें इतनी अधिक संतानें दे रखी हैं— फिर एक संतान की क्या कामना करें ?”

और सचमुच ही— आज न सावेज हैं और न पापेता— किन्तु वह आश्रय— उनके नाम को उससे कहीं अधिक लोप कर रहा है— जितना कि उनका कोई पुत्र अथवा पुत्री कर पातीं। उन्हें आदर्श सत कहा जाय तो कोई अन्युक्ति न होगी।

पिछड़ों को गले लगाने वाले— महाप्रभु जगद्बन्धु

सन् १८९० के नवम्बर महीने की बात है। बंगाल के फरीदपुर शहर में एक विशाल जलूस हरि-कीर्तन करता हुआ निकला। उसमें बहुसंख्यक व्यक्ति करताल, घण्टा, मृदंग, गंछ, विगुल आदि बजा रहे थे। जलूस शहर के विभिन्न प्रमुख मार्गों में घूमकर लोगों को हरिनाम का अमृत पिलाता हुआ ‘बूना पाड़ा’ में जा पहुँचा। ये बूना या बाप्दी जाति के लोग अत्यन्त कुमसन्काराच्छन्, मद्य-पांस का व्यवहार करने वाले और घोर-अन्धविश्वासी थे। इनके स्त्री-पुत्रों का चरित्र अत्यन्त पतित और भ्रष्ट था। उस समय इरबर्ट स्वरूप फरीदपुर के मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने पादरी मिडलहव को सम्झा दी थी कि इन बूना लोगों को ईसाई बनाकर उनका चरित्र सुधरा जाय। बूना भी इसके लिये राजी हो गए थे और उनके ईसाई धर्म में दीक्षित होने की तारीख भी नियुक्त कर दी गई थी। पर अकस्मात् प्रभु जगद्बन्धु को अपने बीच में पाकर बूना मग्न हो गये और बड़े उत्साह से कीर्तन में भाग लेने लगे। उस दिन प्रभु ने बूना लोगों से कुछ बातचीत नहीं की केवल कुछ समय तक कीर्तन करके वापस चले आए। पर इसी के प्रभाव से उन लोगों के हिन्दू-धर्म को छोड़कर ईसाई बनने की बात समाप्त हो गई। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध लेखक ने बंगाल के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र ‘भारत-वर्ष’ में एक लेख में कहा था—

‘बूना पाड़ा अश्लील नाच-गान, व्यभिचार और शराब के लिए बदनाम था। अकस्मात् एक दिन मैन-साधक जगद्बन्धु इस घृणित बस्ती में पहुँच गए। उस प्रेम मूर्ति के अद्भुत तेज को देख वे चकित रह गये। उनके अपूर्व सौन्दर्य ने उनको मोहित कर लिया। फरीदपुर के अनाचारी बूना शुद्धाचार होकर हरिनाम में लीन हो गए।’

जिन प्रभु जगद्बन्धु ने बूना और डोम जैसी अस्पृश्य और पददलित जातियों को गले लगाने का एक दिन में दुराचारी से सदाचारी बना दिया, वे स्वयं बहुत उच्च कुल के चक्रवर्ती बंगाली ब्रह्मण थे, उनके पिता दीनानाथ न्यायसत्त्व के बहुत बड़े विद्वान् तथा मुर्शिदाबाद की संस्कृत विद्यापीठ के मुख्य पण्डित थे। इन्हीं के घर सन् १८७१ में जगद्बन्धु का जन्म हुआ था और बाल्यकवस्था से ही उनमें शक्ति और ज्ञान के अपूर्व लक्षण दिखलाई देने लगे। जिस समय वे पटना नगर के स्कूल में पढ़ते थे, अपने सहपाठी विद्यार्थियों को दो बातों का उपदेश दिया करते थे— “ब्रह्मचर्य का पालन करो और भगवान् के नाम का कीर्तन करो।”

वे चली प्रकार समझते थे कि ये विद्यार्थी कुछ समय पश्चात् समाज और देश के अच्छा बनने। यदि वे नैतिक दृष्टि से ऊन्नति नहीं करेंगे, उनका चरित्र ठीक नहीं बनेगा तो भावार्थ के लिए कुछ भी आशा करना निरर्थक है। नैतिकता और चरित्र की नींव पर ही सच्चे धर्म की स्थापना की जा सकती है। वे प्रायः छोटे विद्यार्थियों से कहा करते थे—

“चैतन्य बने, नैतिक बने, धर्म में स्थिर रहो। आत्मसंयम ही आत्मरक्षा है। पावकता और निष्ठा का सदैव ध्यान रखो। निष्ठा ही आश्रय है और अन्धविश्वास ही रोग तथा मृत्यु है। जो निष्ठावान्, होगा उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सकता। धर्म की बातें मत करो, इससे हानि होती है। अहम्बर-वश अपने को बड़ा मन समझना, नहीं तो कुछ भी न कर सकेंगे। शरीर, मन, प्राण, धर्म की रक्षा करने हुये चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ आवें उनसे भयभीत न होना चाहिये। धर्म ही भगवान् है और उससे बढ़कर ससार में और कुछ भी नहीं है।”

जगद्बन्धु के ये उपदेश बहुत सामयिक और आवश्यक थे। उस समय बंगाल में विदेशी शिक्षा के प्रभाव से धर्महीनता का भाव बहुत फैल रहा था और स्कूलों के लड़कों में नरिष्य दोष भी बहुत बढ़ता जा रहा था। ब्रह्मचर्य नष्ट करना सामान्य बात हो गई थी और धर्म तथा भगवान् को लोग व्यर्थ की चीज समझने लगे थे। जगद्बन्धु ने इस प्रवृत्ति के खतक पाँचपाँचों को समझा और अपने मधुर उपदेशों तथा ब्रह्मवैश्वदेव ज्योतिष से विद्यार्थियों का सुधार करने लगे। लड़के भी बुरी आदतों को त्याग कर संयम और धार्मिकता की तरफ ध्यान देने लगे। पर यह बात अनेक लड़कों के माता-पिताओं को अच्छी नहीं लगी। इनमें खासकर जो छोटे-मोटे जमींदार थे वे कहने लगे कि इस प्रकार जगद्बन्धु लड़कों का ध्यान अपनी लिखाई-पढ़ाई की तरफ से हटा देगा और वे संसारी बनने के बजाय वैरागी बनने की तरफ आकर्षित होने लगेंगे। इसलिए वे इनको दण्ड देने का विचार करने लगे और एक दिन जब ये नदी में स्नान कर रहे थे कई दुष्टों ने वहाँ पहुँचकर इन्हें जल के भीतर डुबा दिया कुछ देर बाद निकाल कर देखा तो इन्हें बेहोशी की-सी अवस्था में पाया। यह देखकर इनकी मृत्यु हो जाने के भय से वे कुछ उपचार करने लगे जिससे कुछ देर बाद ही उनको होश आ गया।

पर अब इस पर भी इन्होंने बालकों को सदुपदेश देने का काम बन्द नहीं किया तब एक दिन अंधेरे में इनका मार्ग में पकड़ लिया और खूब मारा। वे बेसुध होकर भूमि पर गिर पड़े और मारने वाले भी भाग गए। एक सज्जन व्यक्ति ने इस प्रकार मार्ग में पड़ा देखकर इनको उठाया और घर ले आ कर सेवा-सुश्रूषा करने लगे। कुछ देर पश्चात् इनको होश आया और ये भगवान् का नाम लेते हुए उठ बैठे। अब इन उपद्रवों का समाचार थोड़े दूर एक अन्य गाँव में रहने वाले बड़े जमींदार, राजर्षि कन्यालीलाय की मालूम पड़ा तो उन्होंने इनको अपने वहाँ बुला लिया। उन्होंने अत्याचार करने वालों का नाम पूछा ताकि उन्हें दण्ड दिलाया जा सके, पर इन्होंने उनको क्षमा कर दिया और बही कहा कि यह पौर कित्ती अदृष्ट कर्मों का फल था। फिर अत्याय-अत्याचार का दण्ड भगवान् स्वयं देंगे।

इसके पश्चात् जब उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का निश्चय किया तो वे स्वयं देश की दशा देखकर भवो कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मचारी के भेष में घमण के लिए निकल पड़े। उन्नीस वर्ष में उन्होंने भारत के एक बड़े हिस्से की यात्रा पूरी कर ली और घर आकर भगवद्भक्ति तथा कीर्तन द्वारा आत्म सुधार तथा परीपकार का प्रचार करने लगे। बूना जाति वालों के उद्धार की घटना इसी समय घटी थी।

इसके पाँच-छह वर्ष बाद उनके मालूम हुआ कि कलकत्ता में रहने वाले डोमों को ईसाई धर्म में सम्मिलित करने की तैयारी की जा रही है तो वे कलकत्ता पहुँचकर डोमों की बस्ती— रामावागान में ठहर गए।

इससे वहाँ बड़े बड़े प्रभावित व्यक्ति, राजा, जमींदार, धनी और उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आने लगे और डोम जाति में एक नई चेतना पैदा हो गई। जगदबन्धु का उद्देश्य उन्हें ईसाई लोगों के फन्दे से बचाकर हिन्दुधर्म का दृढ़ अनुयायी बनाना था। डोम लोग अग्रिम से ही मृदंग बजाने में सिद्धहस्त थे। इसलिए जब प्रभु जगदबन्धु ने उनमें कीर्तन का प्रचार किया तो वे बंगाल घर में उच्च श्रेणी के कीर्तनकार बन गये।

इसी समय कलकत्ता में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ और हजारों व्यक्ति शहर को छोड़कर भागने लगे। उस समय जगदबन्धु ने अनुयाइयों सहित जनता को सान्त्वना देने के लिये बड़े मैदान में विशाल हरिकीर्तन का आयोजन किया और वहाँ से एक बहुत लम्बा जलूस कीर्तन करत जगदबन्धु के रामवाग स्थित निवास स्थान तक आया। इसके पश्चात्, प्लेग तब जोर घटने लग गया और एकध सप्ताह में पूर्ण शान्ति हो गई।

इस प्रकार प्रभु जगदबन्धु सन् १९२० तक हिन्दू जाति को जाग्रति और एकात्म का संदेश सुनाते रहे। जिस समय बंगाल के बहुसंख्यक उच्च वर्गों के हिन्दुओं का धुंधला बहुसमाज अथवा ईसाई धर्म की ओर होता जाता था, जब आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों में विदेशियों को नफ़्त करने का भाव तीव्र गति से बढ़ता जाता था, जब वर्णाश्रम धर्म का झण्डा उठाने वाले सनातनी छोटी-छोटी जाति-पंथों की रूढ़ियों में फँसे हुए थे उस समय प्रभु जगदबन्धु ने सच्चे ब्राह्मण की तरह डोम और बुना आदि जैसी अस्पृश्य जातियों के बीच में अपना पतितोद्धारक रूप प्रकट किया। उनका मिशन अभी भी हिन्दू जाति के संगठन में सलग्न है।

मानवता के पुजारी—जीन हेनरी दूनाँ

प्रथम शांति नोबेल-पुरस्कार पाने वाले जीन हेनरी दूनाँ स्विटजरलैंड के निवासी थे। उनका जन्म सन् १८२८ ई० में जेनेवा के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता बड़े ही धार्मिक विचारों वाले शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति थे। हेनरी दूनाँ पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा फलस्वरूप उनकी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही धार्मिकता की ओर उन्मुख हो उठीं। उसके जीवन में करुणा तथा सेवा भाव के ऐसे श्रेयपूर्ण

बीजों को अंकुरित होने का अवसर मिल गया जो आगे चलकर दूना के यज्ञ के रूप में फलवित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान के साथ प्रथम शांति नोबेल पुरस्कार के रूप में फलीभूत हुए।

शिक्षा समाप्त कर हेनरी दूनाँ व्यावसायिक क्षेत्र में उतरे। अनेक वर्षों तक उन्होंने जेनेवा की एक बैंक के एजेंट रूप में भी कार्य किया। किन्तु उन्हें इस काम में सन्तोष न मिला। उन्होंने देखा कि नौकरी किन्तु ही अच्छी क्यों न हो, आखिर नौकरी ही है। उसमें निजी विकास का अवसर पर्याप्त नहीं रहता। निदान अपनी क्षमताओं तथा साहस की परख कर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उनमें इतनी लगन कार्यक्षेत्र तथा साहस अवश्य है कि यदि वे अपना कोई स्वतन्त्र कार्य करें तो सफलता प्राप्त कर सकने हैं। विचार की पुष्टि होने ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी और फ्रांसीसी-अल्जेरिया में एक जमीन यह सोच कर खरीद ली कि वे खेती तथा पशुपालन का काम करेंगे जिससे शारीरिक श्रम तथा पशुओं की सेवा के साथ ही वे भाग्य जाति के लिए पोषक पदार्थों की पूर्ति करने में सहायक बनकर एक प्रकार से समाज की सेवा ही कर सकेंगे।

दूनाँ की वह जमीन मिट्टी तथा स्थिति की दृष्टि से अच्छी थी किन्तु सिंचाई की दृष्टि से उसमें कुछ बाधा थी। इसका हल यह था कि यदि उसके ऊपर बाले सरकारी जमीन में लगे नलों से पानी मिल सकने की व्यवस्था हो सके तो सारी कठिनाई दूर हो जाये। दूनाँ ने हल सम्बन्ध में अधिकारियों से लिखा-पढ़ी शुरू कर दी किन्तु जब ऊँचे से ऊँचे अधिकारी को लिखने पर भी कोई सुनवाई न हुई तब दूनाँ को खेद होना तो स्वाभाविक ही था साथ ही वह यह भी समझ गये कि शासन-तन्त्र शिथिल है। अधिकारीगण जनता के आवश्यक कामों में भी उपेक्षा करते रहे हैं। इससे निस्सन्देह जन-जीवन बड़ी कठिनाई का अनुभव कर रहा होगा। दूनाँ का व्यक्तिगत कार्य बन गया और उन्होंने शासन-व्यवस्था की स्थिति से अवगत कराने के लिये फ्रांस के तत्कालीन सम्राट नेपोलियन तृतीय से मिलने का धियार बना लिया।

व्यापक दृष्टिकोण से बात बड़ी थी किन्तु सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से सरकारी नस्ते से पानी मिलने की बात तो इतनी बड़ी नहीं थी कि जिसे लेकर सम्राट जैसे व्यक्तित्व का समय लिया जाये। स्थान मन्तव्य के अनुरूप होना आवश्यक है। ध्येय के धनी हेनरी दूनाँ ने शासन-व्यवस्था, कृषि-विकास की आवश्यकता और सम्राट के प्रशंसनीय आधिकारों तथा कर्तव्यों को विषय बनाकर एक पुस्तक हो लिख डाली और इस प्रकार एक छोटे किन्तु आवश्यक प्रश्न को महान् बनाकर अपने विचार का ही उद्घाटन नहीं किया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि वह सम्राट से मिल सकने के सर्वथा योग्य है।

पेरिस पहुँचकर दूनाँ को पता चला कि सम्राट सजधानों में नहीं हैं, वे उत्तरी इटली में अस्तित्व तथा इटली के बीच चल रहे लोमबाड़ी युद्ध में इटली की सहायता के लिये गये हैं। हेनरी दूनाँ इटली के लिये रवाना हो गये। दूनाँ ने इटली जाने वाले जिस सक्षिप्त मार्ग

का अवलम्बन किया था उसने उसे ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जो युद्धक्षेत्र और कुछ हो दूरी पर घमासान लड़ाई हो रही थी। वह वहीं पर — ब्रेसिया नामक स्थान पर रुहर गया। आगे बढ़ सकना कठिन था। सड़कें टूट गयीं और पुल ध्वस्त हो चुके थे। तब दुनों ने यह सोचकर हिम्मत न हारी कि लहसू पथ पर बचायें तो आती ही रहती हैं। उन्होंने एक गाड़ी किराये पर ली और जैसे-तैसे कैस्टलग्लयोन नामक गाँव में जा पहुँचे। यह गाँव सोल्फेरीनो नामक उस मैदान से बिल्कुल निकट ही था जहाँ पर फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया के सिपाही पकितबद्ध होकर लड़ रहे थे।

दुनों वहीं दहर गये और युद्ध का दृश्य अपनों आँखों से देखने के लिये अपनी दूरबीन लेकर पास की एक पहाड़ी पर चढ़ गये। हेनरी दुनों ने अपनी दूरबीन की सहायता से जो कुछ देखा उस दर्दनाक दृश्य ने उनका जीवन ही बदल दिया। उनके हृदय की कल्पना और सेवा-भावना जाग उठी। उन्हें विस्मरण हो गया कि वे किसी काम के लिये इटली आये थे? और जैसे-याद हो आया कि उन्होंने जिस कर्तव्य के लिये जीवन धारण किया है वह अब उनके समक्ष पूर्तिमान हो उठा है।

जून की भीषण गर्मी और लू-लफ्टों के दिन थे। दुनों ने अपनी दूरबीन से देखा कि दोनों पक्षों के सिपाही कतार की कतार आगे बढ़ते और मरकर गिरते, पीछे हटते और फिर आगे बढ़ते। धारों ओर मृत्यु का नृत्य हो रहा है। धावल और धके हुए सिपाही नयक की आज्ञा पाकर फिर बढ़ते और देखते ही देखते मृत्यु के मुख में चले जाते। बन्दूकों, गोलों, गोलीघों और धावल सैनिकों के हहाकार व चीत्कार से दिशाएँ भर जातीं। संगीनें चमकतीं, मशालें जलतीं, मनुष्य मरने और मृत्यु अदृष्टास करती। विनाश की उस विधोषिका को जून की गरम आँधी और संध्या का अन्धकार और भी भयानक बना देता। हेनरी दुनों बड़ी देर तक उस विनाश-लीला को किर्कराव्यवमूह से देखते रहे।

अन्त में रात होने तक चालीस हजार निरपराध सैनिकों के प्राण लेकर लड़ाई खत्म हो गई। हेनरी दुनों आह भरकर और करुणा का भार लेकर पहाड़ी से नीचे उतर आये किन्तु नीचे आकर जो दृश्य उन्होंने देखा वह उस युद्ध के दृश्य से भी अधिक भसहनीय और पीडाप्रद था। उन्होंने देखा कि मरे हुए सैनिकों को तो गीध, कौबों, स्वार तथा कुत्तों का खाने के लिए छोड़ दिया जाता था। धावल, अधमरे तथा अपंग सैनिकों की दशा और भी खराब थी। वे अलटे-सोँधे गाड़ियों में भूसे की तरह भरकर अनेक स्थानों पर ला कर डाल दिए जाते थे जहाँ उनके उपचार अथवा सेवा-सुश्रूषा की कोई व्यवस्था न होता थी।

हेनरी दुनों की मानवता, मनुष्यता की यह दुर्दशा न देख सकी। तुरन्त ही धावलों, रोगियों तथा मरणासन्न सैनिकों की सेवा में लग गए। क्षेत्र के एक बड़े गिरजाघर में पाँच सौ धावल सैनिक लाकर लापरवाही से डाल दिए गए थे। दुनों ने उनकी संपाल और देखभाल का काम अपने जिम्मे ले लिया। वे अपने हाथ से सैनिकों के घाव धोते, मरहमपट्टी करते और दवा देते। लापरवाह डॉक्टरों को

प्रयत्नपूर्वक बुलाकर लाते, सैनिकों को दिखलाते और अपने योग्य सेवा बतलाने की प्रार्थना करते।

इटली के युद्ध की यह अव्यवस्था समाप्त हो गई और जन-जीवन की दशा सामान्य हो चली। किन्तु दुनों को शान्ति न मिली।

सबसे पहले उन्होंने 'सुवेनिरद सोक्षफोरिनो' नामक एक पुस्तक लिखकर प्रसारित की जिसके माध्यम से लोगों में युद्ध के प्रति घृणा और धावल सैनिकों के प्रति करुणा का जागण किया। आखबारों, भाषणों तथा लेखों द्वारा प्रचार किया। जिसका फल यह हुआ कि लोग उनके विचारों से सहमत हो गए और सैकड़ों और लाखों की तायद में सौ-पुरुष सेवा करने के लिये आगे निकल आये। उन्होंने अपने विचारों को एक आन्दोलन का रूप दिया और 'रेडक्रस' नाम की एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जो युद्धकाल में भी तटस्थ समझी जाती है। उसमें दो शत्रु देशों के स्वयं सेवक दोनों ओर के बायलों तथा बीपारों की सेवा-सुश्रूषा करते और मित्र माने जाते थे। युद्ध-क्षेत्र में भी उन पर आक्रमण नहीं किया जाता था।

जब हेनरी दुनों को शान्ति नोबेल पुरस्कार की बीस हजार डालर की मनराशि देना घोषित किया तब उन्होंने वह सब राशि धावल सैनिकों तथा दुःखी जनों के हितार्थ दान कर दी।

आज भी संसार में विश्व रेडक्रस-दिवस — दुनों का जन्म दिवस आठ मई को मनाया जाता है और आज भी जूरिख में उनका स्फटिक का स्मारक मानवता के उस पुजारी को जीवित रखे हुए है। कहना न होगा कि जब तक संसार में मानवता का अंश रहेगा — जीन हेनरी दुनों का नाम अपने पुण्य कथों, संस्थाओं और संस्मरणों के रूप में भी अजर-अमर बना रहेगा।

महान् पुत्र के महान् पिता— एबरम गारफील्ड

जेष्ठ-वैशाख के दिन और अमेरिका का ओरिज गाँव। सूर्य देवता आसमान पर घड़े ही से गाँव के जगत में आग लग गई। इधर लू का वेग बढ़ा उधर लपटें धू-धू करती हुई गाँव की ओर बढ़ चलीं। ऐसा दिखाई देता था कि कुछ ही क्षण में आग सारे गाँव को लपेट लेगी और जलाकर खाक कर देगी। भद्राकृत ग्रामवासियों को जो मिला, लेकर भागे, बाकी सब अग्नि देव की स्वाहा के लिए शेष पड़ा था, उतने ही वेग से आग की लपटें दौड़ी चली आ रही थी।

एबरम गारफील्ड को उसकी पत्नी एंजिना एक पुत्री, एक पुत्र तीनों घेर कर रहे थे—“पापा! सारा गाँव सूना हो गया अब हमें भी जलती गाँव छोड़ देना चाहिये।” पर उस मेहरबान की आँखें उस ओर लगी थीं जिधर आग भड़की हुई थी। उसने कहा—“बच्चों आओ, हम सब मिलकर प्रयत्न करें और उस आग को बुझा डालें, देखो न यह लाखों की ग्रामवासियों की सम्पत्ति पल भर में जल कर राख हो जाएगी, बच्चे भूखें मरेगे, किसान ऋणग्रस्त हो जायेंगे, बेचारे बहू-बेटियों की सारी खुशहाली नष्ट हो जायेगी। ऐसे समय गाँव छोड़ना ठीक नहीं हमें इन खूँजार लपटों से लड़ना चाहिए।”

पुत्र सुवापन की पहली सीढ़ी पर पाँव रख रहा था, खून में थोड़ी तेजी थी। सबसे आगे बढ़ कर बोला— “पिताजी, फगल हुये हो, जिनके घर दौलत, जायदाद थी वह सब पहले ही भाग गये, फिर हमें किसी के सामान की क्यों चिन्ता हो। हमारे पास तो कुछ है भी नहीं, घर है तो सबके साथ जल जायेगा, दूसरा बग लेगे पर इस मौत की आफत में नहीं फँसेंगे। चलिए अब देर न करिये यहाँ से हम सभी लोग चलते हैं।” पत्नी और पुत्री ने भी बेटे की बात का समर्थन किया।

किन्तु— देवपुरुष पर कुछ असर न पड़ा, एक बार गाँव की ओर देखकर दृष्टि फिर सपटों में अटक गई। शान्त-भाव से उसने कहा— ‘बेटे’ यह जो तुम कह रहे हो वह मनुष्यों की भाषा नहीं है। मनुष्य अपने लिए नहीं औरों के लिये जीता है। स्वार्थ नहीं परमार्थ को पूजता है, अपनी कम औरों की खबर अधिक रखता है। हम भी संजीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से समस्याओं पर विचार करें तो बौद्धिक प्राणी का क्या अर्थ निकला। हम सब एक-दूसरे के दर्द को अपना दर्द अनुभव कर सके होने तो अन्त संस्कार का स्वरूप ही कुछ दूसरा होता। न यहाँ कलह होनी न उन्पात, सब लोग मिल-जुल कर धरती माता के अपार सुखों का उपभोग कर रहे होते। इसलिए बेटे। यदि दूसरे अपने उद्देश्य से गिर जायें तो हमें उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये जो संकट की गड़ी में अपने पड़ोसों, अपने गाँव, अपने राष्ट्र की सेवा नहीं कर सका वह भी कोई इन्सान है? महानता की रक्षा के लिये हमें अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।’

फिर क्या था, दृष्टिकोण बदला और दिशा भी बदल गई। चारों परवाने हाथ में कुदाल, कुल्हाड़ी और फावड़ा लेकर बड़े और आग की लपटों से जूझ पड़े। सारा दिन यह संग्राम चला। किसी का हाथ झुलसा, किसी का मुँह कपड़े फटे और पाँवों में काँटे धुसे पर प्रकृति और पुरुषार्थ का युद्ध बराबर चलता रहा। आखिर साहस की विजय हुई। सूर्य डूबने तक सारी अंग काबू में आ गई।

दिन की ज्वाला शान्त हो गई और सारे ग्रामवासी घर लौट आये। लपटों में झुलसा एबरम गारफील्ड हवा में धकान भिटाने लेट गया पर लोगों को क्या पता था कि काल अब भी धोखे से हमला कर जायेगा। ठण्डक बरदाशन न हुई, गारफील्ड की दशा बिगड़ गई, दिन भर साहसी थोड़ा की तरह लड़ने वाला विजेता आखिर अघी रात को इस संसार से विदा हो गया। पर उसकी गथा न तक मिटी न अब, भविष्य भी गौरव के साथ उसका स्मरण करेगा। इस एबरम गारफील्ड का पुत्र जेम्स गारफील्ड एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना।

परोपकार धर्म के अनुयायी— महापुरुष एण्ड्रूज

वर्तमान शताब्दी के अरम्भ में फिजी, मारीशस आदि कितने ही राष्ट्रों में “शर्तबन्ध कुली प्रथा” के नाम से मजदूरी बनाने की ऐसी प्रणाली प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत मजदूर को दस-पाँच वर्ष तक

अनिवार्य रूप से खेतों पर काम करना पड़ता था। अगर कोई ठीक से काम न करता तो निगरानी रखने वाला ओवरसियर उसे मनमाने ढंग से पीटता था। अगर कष्ट सहन न करने से वह काम छोड़कर भाग जाता तो उसे पकड़कर जेल की सजा दी जाती और फिर उसी जगह काम करने को भेजा जाता था। इनमें अधिकांश मजदूर भारतवर्ष के ही होते थे।”

कहने को तो ये मजदूर शर्तनामे पर हस्ताक्षर करके नौकरी करने वाले थे, पर वास्तव में उनको ‘आरकाटी’ (कुली भरती करने वाले) तरह-तरह से बहकाकर और बड़े-बड़े लालच दिखाकर साथ ले जाते थे और शाम-शाम-दण्ड भेद से काम लेकर शर्तनामे पर दस्ताखत करा लेते थे। जब एक बर चहाज पर बैठकर वह मनुष्य फिजी पहुँच जाता था, तो फिर सब तरह से बेबस हो जाता था। अपने देश से तीन-चार हजार मील दूर, विदेशी और विधर्मों लोगों के मातहत हो कर वह न कुछ बोल पाता था और न किसी अन्याय का प्रतिकार कर सकता था। उसकी हासत गुलामी के समान होती थी और जरा-सी गलत हो जाने पर उसे गोरे लोगों के बेल और हण्टर खाने पड़ते थे।

इन कहों से भी बढ़कर एक भयकर बात वहाँ यह थी कि शर्तबन्दी के अनुसार जितने मजदूर भेजे जाते थे उनमें पुरुष अधिक और स्त्रियाँ कम होती थीं। ये सब लोग जगह-जगह से बहकाकर भेजे जाते थे इसलिये कहीं न किसी का कोई पति होता था न पत्नी। खेतों के मालिक तीन-तीन पुरुषों के पीछे एक-एक स्त्री बाँट देते थे और वह चाहे राजी हो या नागज, उसे खबरन उन तीनों के साथ पत्नी की तरह रहना पड़ता था। जब फिजी प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा को इस प्रकार की अनेकों शिकायतों सुनकर उनकी जाँच करने के लिये भेजा गया एण्ड्रूज वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि इस अनैतिक प्रथा के कारण उन लोगों का चारित्रिक और धार्मिक स्तर अत्यन्त गिर गया है और वे महाघृष्ट जीवन व्यतीत करने को विवश हो रहे हैं। इन स्त्रियों की चर्चा करते हुए एण्ड्रूज साहब ने लिखा—

“फिजी की भारतीय स्त्रियाँ एक ऐसी किस्ती के समान हैं जिसमें पतकर नहीं है, जिसका मस्तूल टूट गया है और जो चट्टानों की ओर बही चली जा रही है। अथवा वे एक ऐसी डौंगी के समान हैं जो एक बड़ी नदी की तेज धारा में नीचे की ओर धक्का खाती चली जा रही है और जिसका कोई खिँचा नहीं है। ये स्त्रियाँ फौल एक व्यक्ति को छोड़कर दूसरे के साथ चली जाती हैं और इस पति-परिवर्तन में उनके तनिक भी स्वजा मालूम नहीं देती। वहाँ हिन्दुओं का सामाजिक संगठन बिल्कुल नष्ट हो गया है, जाति-पाँति बिल्कुल समाप्त हो गई है और उसका खाली स्थान भरने को कोई अन्य संस्था उत्पन्न नहीं हुई है। स्त्रियों को खुले तौर पर खरीदा और बेचा जा सकता है। लोग उनके लिये लड़ते हैं, परस्पर ईर्ष्या करते हैं और हत्या तक कर डालते हैं।”

पतिव्रत पालन के लिए प्रसिद्ध भारतीय नारियों की यह दुर्दशा देखकर एण्ड्रूज साहब की आत्मा तड़प उठी और उन्होंने प्रण कर लिया कि चाहे जान रहे या जाय पर इस अमानुषी प्रथा का अन्त

जरूर करावेंगे। इसलिये भारत लौटने पर उन्होंने नग्न-नगर में घुम-फिरकर इस धुजित प्रथा के विरुद्ध इतना जोरदार आन्दोलन छेड़ दिया कि सरकार भी डर गयी। उस समय (सन् १९१५-१६) प्रथम महायुद्ध चल रहा था और सरकार 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत किसी को भी नजरबन्द कर सकती थी। अतः श्री एण्ड्रूज को स्वयं अंग्रेज लेते हुए भी धमकी दी गई कि अगर वे इस प्रकार आन्दोलन उठावेंगे तो नजरबन्द कर दिये जायेंगे। पर वे इस कार्य को छोड़ने को तैयार न हुए, बरन् महात्मा गांधी, मालवीय जी, रीनीवेर्सट, रबीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बड़े-बड़े नेताओं को भी इसमें सम्मिलित करके देश भर में ऐसी हलचल मचा दी कि अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत ही एक विशेष अवज्ञा जारी करके इस प्रथा का अन्त कर दिया गया।

दुर्दशाग्रस्त और असहाय भारतवासियों के लिए इस प्रकार आत्म-याग करने वाले श्री एण्ड्रूज का जन्म सन् १८७२ में इंग्लैंड के एक धार्मिक दम्पति के घर में हुआ था। उनकी आर्थिक स्थिति स्वभारण थी, इसलिये उनको विद्यार्थ्यस कठिनाइयों के बीच रहकर ही करना पड़ा। पर न मालूम क्यों बहुत छोटी आयु से ही आपको भारतवर्ष से सम्बन्धभूति पैदा हो गई थी और आप उसी समय माताजी से कह करतें "माँ, मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा।" उन्होंने किसी से सुन लिया था कि हिन्दुस्तानी चावल बहुत खाने हैं। इससे वे कभी-कभी अपने माँ से भात बनाने को कहते थे। उनकी माँ उन्हें चावल खाते देखकर बहुत हँसती और कहती— "चालीं! तुम किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे।" उस समय कौन जानता था कि एण्ड्रूज भारत जायेंगे ही नहीं करोड़ों भारतवासियों से भी बढ़कर सच्चे 'भारत भक्त' बन जायेंगे।

तेईस वर्ष की आयु में अपने कॉलेज की पढ़ाई सम्पत्त की और पादरी बनने की इच्छा से दीन-दु स्त्रियों की बस्त्रियों में रहकर सेवा कार्य करने लगे। वहाँ उन्होंने अनेक घोर, उधक्का लोगों का भी सुधार किया। इसके पश्चात् जब उन्होंने भारतवर्ष आकर मिशन की नौकरी करने का निश्चय किया तो उनके सभी मित्रों और हितैषियों ने इसका विरोध किया कि इतनी दूर अजन्य देश में जाने की क्या जरूरत है, तुम यहीं रहकर बहुत उन्नति कर सकते हो और कहीं अधिक आराम का जीवन व्यतीत कर सकते हो। पर एण्ड्रूज को तो प्रभु ईसा की तरफ से प्रेरणा हो रही थी कि ऐसी जगह जाकर काम करो जहाँ मानवता पद-दलित हो रही है। इसी प्रकार के सेवा कार्य से जीवन सार्थक हो सकेगा। खाना, पीना, आराम से रहना तो स्वार्थी और बटिया लोग ही कर सकते हैं।

२० मार्च, १९०४ को श्री एण्ड्रूज ने जहाज से बम्बई बन्दरगाह पर उतर कर प्रथम बार भारत भूमि का स्पर्श किया और उसी दिन से इसे दूसरी मातृभूमि बना लिया। मिशन का मुख्य कार्यालय दिल्ली में था और वहीं सेंट स्टीफेंस कॉलेज में उनको अध्यापन कार्य करना था। जब आपको पारन्थ दिल्ली के अन्य अंग्रेजों से हुआ तो सबने यही सलाह दी कि "भारतवर्ष में रहते हुये आप किसी 'नेटिव'

(भारतवासी) के दिल में वह खयाल मत आने देना कि वह तुमसे ऊँचा है। यद्यपि आप 'मिशनरी' (पादरी) हैं, तब भी पहले अपने को 'अंग्रेज' समझना होगा। अगर आप किसी 'नेटिव' को अपने साथ मेल-जोल करने देंगे या नज़रबंदी का व्यवहार करने देंगे तो आप बेशुमार हानि पहुँचावेंगे।"

पर एण्ड्रूज साहब ने ऐसी 'नैक सलाह' पर कभी ध्यान नहीं दिया। वे सदा यही उत्तर देते रहे कि "यदि हम ईसा के कुछ भी सच्चे अनुयायी हैं तो हमको अवश्य ही भारतवासियों के साथ सम्मानता का व्यवहार करना चाहिए।"

एण्ड्रूज साहब आजीवन अपने इसी सिद्धान्त पर चलते रहे, यद्यपि इसके कारण उनके मिशन की नौकरी छोड़नी पड़ी, अंग्रेजों का साथ त्यागना पड़ा और खूद पहनकर श्री रबीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में अध्यापन कार्य करना पड़ा।

भारतवासियों की उन्होंने आजीवन जो सेवाएँ कीं उनमें से अगर सबको छोड़कर फिजी के भारतवासियों के उद्धार के कार्य पर ही विचार किया जाये तो वे हमारे सबसे बड़े 'देश-भक्त' के सम्मान के अधिकारी हो जाते हैं, पर उन्होंने तो यह एक ही नहीं सदैव एक से बढ़कर अनेक ऐसी ही सेवाएँ कीं। सन् १९१३ में जब दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा और महात्मा गांधी सहित हजारों भारतीय जेलों में दूंस दिवस गये तो मानवीय गोखले ने आपको ही वहाँ जाकर उनकी सहायता करने को कहा। जब तक आप दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तब तक समझौते की बात-चीत शुरू हो चुकी थी और उसके लिये गांधी जी तथा मुख्य नेताओं को छोड़ दिया गया था। जहाज से उतरने पर जब आपने बन्दरगाह पर स्वागतार्थ अथवा गांधी जी के दर्शन किये तो भारतीय प्रथा के अनुसार उनके साथ स्पर्श किये। यह देखकर वहाँ के गोरो ने, जो सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' मानते थे और गांधी जी को 'कुली बैरिस्टर' कहते थे, बड़ा झोर मचाया, कि इतने बड़े अंग्रेज पादरी ने एक हिन्दुस्तानी के पैरों की धूल अपने मस्तक पर लगा ली, पर आपने इस तरफ कुछ ध्यान न देकर वहाँ के शासकों से समझौते की बात-चीत करना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में बड़े पारित्रय और युक्ति से दोनों पक्षों को राजी करके समस्त कैदियों को छुड़ा दिया और भारतवासियों की अनेक माँगों को स्वीकार करा दिया।

इसी प्रकार रौलट-एक्ट आन्दोलन के अवसर पर अलिबाँवान्ना हत्यारण्ड और मार्शल-ला होने पर अपने पांडित्यों की बड़ी सहायता की। उस समय फौजी अधिकारियों ने किसी भी बाहरी व्यक्ति का पंजाब में प्रवेश रोक दिया था। आपने शिथिल पहुँचकर बड़ी कठिनाई से वायसराय की आज्ञा प्राप्त की और अमृतसर पहुँचे, पर उसी समय जनरल डाबर के आदेश से आपको गिरफ्तार कर लिया गया। तब कहा गया कि मार्शल-ला के अवसर पर वायसराय की आज्ञा से नहीं केवल प्रधान सेनापति की फजूरी से वहाँ कोई आ सकता है। अन्य अंग्रेजों की निगाह में तब इस तरह रोक कर गिरफ्तार कर लिया जाना बड़ा अपमान था, पर आपने इसे 'देश सेवा' का पुरस्कार समझकर प्रसन्नता ही व्यक्त की।

जब कुछ महीने पश्चात् पार्श्व-ला समाप्त हो गया और मोतीलाल जी, सी आर. दास, मालवीय जी आदि नेता वहाँ के निवासियों पर होने वाले अत्याचारों की जाँच करने गये तो आपने अत्याचार पीड़ितों की बड़ी सेवा की और सैकड़ों लोगों को जेल और जुर्माने से बचाया। गुजरानवाला जिला पर हुआ भारी जुर्माना आपने बिल्कुल मुक्त करा दिया। इसके बाद आप सेना द्वारा पीड़ित किये गये लोगों की सान्त्वना देते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। वे लोगों से कहते थे कि 'चूँकि अंग्रेजों ने तुम पर अत्याचार किया है इसलिए मैं उसके लिये क्षमा माँगने और सेवा करने आया हूँ।' इसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वे अपना सब दुःख भूल जाते थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके पैर छूकर कहने लगते "तू सादा ख है" (तू तो हमारा भगवान् है)। पंजाब में उन्होंने कितना काम किया और लोगों को कितनी अधिक सहायता पहुँचाई इसका पूरा हाल किसी को मालूम न हो सका। क्योंकि एक तो आपका स्वभाव परोपकार का कार्य बिना किसी को बनाये करने का है और दूसरे उस समय वहाँ जो कठोर सरकारी नियन्त्रण लगे हुए थे उनके कारण बहुत से कार्य गुप्तचाप ही करने पड़ते थे। उनको देखकर ही महात्मा गाँधी ने लिखा था "श्री एण्ड्रूज ने पंजाब को जो सेवाएँ की हैं उनका अनुमान कर सकता कठिन है। उनके सम्बन्ध में यह कहना पूरी तरह चरितार्थ होती है कि उनका दहिना हाथ नहीं जानता कि कार्य रात में किसके साथ क्या भलाई की है?"

श्री एण्ड्रूज का समस्त जीवन ही सेवाभर्य रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी में सहायता की। लाहौर में उन्होंने भाई परमानन्द की को को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा। भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक पड़यन्त्र के मामले में आजन्म काले फनी की सजा हुई थी। एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और पंजाब के छोटे लॉर्ड सर एडवर्ड मैकलेगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त करा दिया। भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शान्तिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा— एण्ड्रूज सगुण एक तपस्वी है, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है। मालवीय जी ने भी पंजाब में उनके कार्यों की सराहना करते हुए कहा— "श्री एण्ड्रूज भारत के सच्चे बन्धु हैं। इस विपत्ति के समय उन्होंने हमारी बड़ी सहायता की है।"

वे इसी प्रकार जीवन के अन्त एक जगह-जगह पहुँच कर पीड़ितों को सेवा करते रहे। शेष समय में वे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में रहकर विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ाने रहते। वहाँ पर वे गंगालियों को दूर भोला कुर्ता पहनकर ही रहते थे।

अपराधी और दण्ड

बालवर्ध में ही एक दिन एक आदमी एण्ड्रूज साहब के घर पर आया। चेहरा से वह भला आदमी जान पड़ता था और बहुत भूखा था। इन्होंने उसे अपने कमरे में बैठाया और स्वयं उसके लिए कुछ खाया और चाय का प्याला लेने दूसरे कमरे में चले गये। खाना खाकर

वह चला गया। कई दिन बाद इनको ध्यान आया कि चाँदी के दो बर्तन जो गिरजाघर के थे और प्रार्थना के समय काम आते थे घर से गायब हो गये हैं। इनको किसी पर शक भी नहीं हुआ। पर एक दिन रात के १२ बजे वही आदमी एक चाँदी का बर्तन लिये इनके पास आया। वह बर्तन उसने बिल्कुल खरब कर डाला था और दूसरे बर्तन की बेचकर शायद शराब पीली थी। चूँकि बर्तन इनके निजी नहीं थे इन्होंने बहुत सोच-विचारकर उसे पुलिस के पास भेज दिया। दूसरे दिन मुकदमा चला जिसमें इनकी गवाही हुई और इन्होंने मजिस्ट्रेट से कहा कि इसको कम से कम सजा दी जाय। उसे एक महीने की सादी कैद तथा जुर्माने की सजा दी गई। जुर्माना इन्होंने अपने पास से जमा करा दिया और जब तक वह जेल में रहा उसे बराबर देखने को जाते रहे। उसने इनको अपनी पूरी कथा बतलाई कि "मैं एक भले आदमी का लड़का हूँ और जुआ खेलने का व्यवसाय लगाने से मेरी यह टाढ़ हो गई है। पुइरीइ के जुए ने मेरा सन्यास कर दिया और वहाँ से मुझे शराब पीने की भी आदत पड़ गई। मैंने एक बार बैंक के चेक पर अपने पिता के जम्मे दस्ताखत बना लिये थे, इस पर उन्हें मेरी दुर्चरित्रता का पता लग गया और मुझे घर से निकाल दिया गया। इसके बाद अनेक जगह चोरी भी की जिसके लिये कई बार जेल की सजा भोगनी पड़ी है। पर अब मैं ज्यादा दिन जीवित नहीं रहूँगा क्योंकि डॉक्टर ने बतलाया कि मुझसे दोनो फेफड़े खराब हो गये हैं।" एण्ड्रूज साहब को उस पर बड़ी दया आई और बहुत धीरे धीरे करके उसे लन्दन के एक प्रसिद्ध अस्पताल में, जहाँ क्षयरोग का इलाज विशेष रूप से किया जाता था, भर्ती करा दिया। वहाँ वह दो वर्ष बिन्दा रहा। वह इनसे कहा करता था कि जब से मैंने अपनी पत्नी का घर छोड़ा था, तब से तीस वर्ष बाद इस अस्पताल में मेरे दिन बड़े आनन्द से बीते हैं। उसने अपने सम्बन्ध में सब बातें बड़ी स्पष्टता से इनको बतलायीं, पर मरते दम तक वह अपने पिता का नाम और पता बतलाने से इनकार ही करता रहा।

गरीबों का हृदय

"माँ देखन, मैं कितनी अच्छी खीज लाया हूँ।"

"ओर यह क्या ले आया। यह तो किसी चिड़िया के अंडे हैं मुझे ऐसा लगता है कि तू चिड़िया के तीनों अंडे उठा लाया है। जब वह अपने घर लौटगी तो बहुत रोयगी बेटा।"

"अच्छा माँ! यह चिड़िया के अंडे हैं। पुरा क्या मालूम था?" वह बालक लंगड़ा-लंगड़ाते उस पेड़ तक गया क्योंकि छोट के कारण उसके पैर में दर्द हो रहा था। वह पेड़ पर चढ़ा और उसने सब अंडे उसी घोंसले में रख दिये। और पेड़ के नीचे बैठा तब तक रोता रहा जब तक कि वह चिड़िया पेड़ पर न आ गई। चिड़िया को देखकर उसका सारा दर्द गन कहीं चला गया और हंसता कूदता अपनी माँ के फस लौट आया। यह बालक कोई और नहीं कन् दीनबन्धु एण्ड्रूज थे, जो जीवन भर दोनो को अपना भाई समझ कर प्यार करते रहे

ईश्वर-दर्शन

दीनबन्धु एण्डूज टहलने निकले तो मार्ग में उन्हें एक नवयुवक मिला। उन्हें रोक कर बोला— “क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं या आप लोगों का ईश्वर एक कल्पना ही है। पहले तो वे प्रश्नकर्ता की ओर बड़ी देर तक देखते रहे किन्तु उसकी अल्पज्ञता और जिज्ञासा को देखकर उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने नवयुवक से कहा ठीक है। कल मिलना। तुम्हें ईश्वर के दर्शन अवश्य करायेंगे।

नियत समय पर आकर युवक उसी स्थान पर बैठ गया। दीनबन्धु आये और युवक से बोले चलो मित्र तुम्हें परमात्मा के दर्शन करा दें और वे उसे लेकर अचूकों की बस्ती में गये और एक हरिजन की झोंपड़ी पर जाकर खड़े हो गये। झोंपड़ी के भीतर एक किशोर बालक टी.बी. से पीड़ित पड़ा था। बूढ़ा बाप उसकी सेवा में लगा था। उन्होंने इशारा किया देखो यही भगवान् है जो अनाक्त असहाय को सहाय देकर आशा के दीप को दिम्बदिपाने का अवसर दे रहा है।

दीन-दुःखियों की सेवा

दीनबन्धु एण्डूज भारत जाने की तैयारी में व्यस्त थे। घर में सारा सामान बिखरा पड़ा था। किसी के द्वार खटखटाने की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने दरवाजा खोला।

अरे! आप आ गये। इस समय बहुत ‘आवश्यक कार्य’ था। एण्डूज ने अन्दर आ जाने का संकेत करते हुए कहा।

‘पर आपने यह समय घूमने के लिए निर्धारित किया था और मुझे बुलाया भी इसी उद्देश्य से था। आगन्तुक ने पास ही पड़ी एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

दीनबन्धु जैसे पूर्व निश्चित कार्यक्रम को भूल ही गये हों। कुछ बिचारते हुए बोले ‘अब चलना सम्भव नहीं है। आपको जो कह हुआ उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। मुझे भारत जीव ही फँसना है। बात यह है कि मैं जब वहाँ होता हूँ तो इंग्लैण्ड की वाद अती है और वहाँ आ जाता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है माने सात समुद्र पार बैठे भारत के दीन-दुःखियों का स्वर मेरे कानों से टक्का रहा है।’

उन्हें मेरी सेवाओं की आवश्यकता है वहाँ तो मेरी कुछ जरूरत भी नहीं है।

सच्ची प्रार्थना : सद्ज्ञान संवर्धन

उन दिनों दीनबन्धु एण्डूज शान्तिनिकेतन में रहते थे। एक दिन एक पादरी प्राध्यापक उनसे मिलने आये। वार्तालाप के बीच पादरी ने पूछा— क्या यहाँ कोई गिरजाघर है। एण्डूज के मन करने पर उन्होंने कहा— जब आपको रविवार को प्रार्थना करने में बड़ी कठिनाई पड़ती होगी। रविवार का दिन था। उस दिन विद्यार्थी वर्ग कुछ विशेष धर्म चर्चा करने आ गया। दीनबन्धु उसी ज्ञान किनोद में लगे रहे।

जब पादरी चलने लगे तो एण्डूज ने कहा— ‘मेरी असली प्रार्थना सद्ज्ञान संवर्धन की सेवा साधना में लगे रहना ही है। रविवार की पूजा भी मैं इसी तरह पूरी कर लेता हूँ।’

व्यावहारिक सहानुभूति

स्टेशन मास्टर के कार्यालय के सामने भीड़ एकत्रित होती जा रही थी। स्टेशन मास्टर का क्रोध देखते ही बनता था। किन्तु बेचारी बुढ़िया ठण्ड के मारे अँगुठों पर हाथ सेकना चाहती थी। स्टेशन मास्टर उसे दुल्हनरी में लगा था। जो भी आता वहाँ रुकता। पूछता बाबूजी क्या झुल्ला रहे हैं? एक सम्पन्नदार व्यक्ति भीड़ में से आया और बोला यदि इस बेचारी ने ठण्ड में हाथ सेक लिए तो क्या गुर्म हो गया? मास्टर साहब आपने तो बाइबिल पढ़ी होगी। ईसा ने भी ऐसे गरीबों को हिमायत की है। फिर भी आप में सहानुभूति का बीजारोपण नहीं हुआ। इतना कहकर उस व्यक्ति ने अपने कंधे से ऊनी चादर उतारी और उस बुढ़िया के कंधों पर डाल दी। वे सज्जन थे दीनबन्धु एण्डूज।

विवाह न करने का कारण

‘शिवकवि खीन्दनाथ टैगोर ने सी.एफ.एण्डूज से कहा— “विवाह जीवन की पूर्णतः है। प्रगति के मार्ग में पत्नी से पूरी सहायता मिलती है और दोनों के सहयोग से विपत्तियाँ दूर होती हैं। सच्चा जीवन जीने के लिए पनुष्य को विवाह अवश्य करना चाहिए और आपने विवाह न काके बड़ी भूल की है।”

दीनबन्धु ने कहा— “हाँ, आपकी बात बिल्कुल सत्य है पर दम्पत्य जीवन के सुख की जब मैं कल्पना करता हूँ तो मेरा मन मुझे एक अन्य दिशा की ही ओर ले जाता है। वह कहता है कि तुम अपनी सेवाये राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित कर चुके हो। जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता तब तक तुम्हारा कल नहीं, सब राष्ट्र का ही होगा। तुम मिशन में सर्विस करते हो इसका भी क्या भरोसा? फिर नौकरी छूट जाने पर घर-गृहस्थी के बोझ को सम्हालने के लिए नौकरी तलाश करोगे या राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लोगे। मेरे मन में उठने वाले यही विचार दम्पत्य जीवन के रेशमी सूत्र में बँधने नहीं देते।’

प्रभु का निरादर

दक्षिण अफ्रीका के एक गिरजे में पादरी एण्डूज प्रार्थना और प्रवचन करने गये। गाँधी जी उन दिनों वही थे। वे भी उसी गिरजे में एण्डूज का प्रवचन सुनने जा पहुँचे।

गौरी ने उन्हें बतले होने के कारण गिरजे में जाने की अनुमति नहीं दी। उदास बापू वापस रौंद आये।

घेँट होने पर बापू ने अपनी निराशा व्यक्त की। एण्डूज आँखों में आंसू भर लाये और बोले मैंने तो ईश्वर और उसमें सच्चे रूप में आत्मीयता की चर्चा प्रवचन में की थी। किन्तु दुःख की बात है कि प्रभु का ही उसके पाँदर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं मिली।

परोपकार की भावना

श्री एण्डूज का समस्त जीवन ही संवापय रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी

में सहायता की। तब्लैर में उन्होंने भी परमानन्द की स्त्री को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा। भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक बहयन्त्र के भायले में अजन्म बाले पानी की सजा हुई थी। एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और पंजव के छोटे लार्ड सर एडवर्ड मैकलेनगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त करा दिया। भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शान्तिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा— 'एण्ड्रूज सचमुच एक तपस्वी हैं, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।'

वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव

सर्दों के दिन थे। बर्फ गिर चुकी थी। रास्तों तक पर बर्फ जम गई थी। सड़क फिसलनी हो गई थी। टैनबन्धु एण्ड्रूज के साथ अल्बर्ट श्वाइत्जर भी घूमने जा रहे थे। जमी हुई बर्फ का दृश्य देखते हुए वे आँखें नीची रखे हुए चल रहे थे।

श्वाइत्जर की दृष्टि ठण्ड में सिफुझने एक कीड़े पर पड़े जो बेचारा अधमरा हो रहा था। वह रुक गये उन्होंने उसे वहाँ से उठाकर एक झाड़ी के नीचे सुखी जमीन पर रख दिया और टैनबन्धु से बोले 'एण्ड्रूज' यह कीड़ा वहाँ सुरक्षित रह सकेगा। बर्फ सड़क पर ही पड़ा रहता तो अवश्य कुछ घंटों के बाद ईश्वर को प्यारा हो जाता।'

आत्मवादी चिकित्सा पद्धति के जन्मदाता—डॉ. हैनीमैन

सबसे कम समय में विकसित होकर एग्रे विश्व में सम्मान प्राप्त करने वाली चिकित्सा पद्धति— होम्योपैथी— अपने आप में अपने समतत्कारपूर्ण और प्रेरक भले ही न हो उसके जन्मदाता का जीवन इतिहास ऐसी प्रेरणाओं से अवश्य भरा है, जो किसी भी मनुष्य को दार्शनिक सत्यों की प्राप्ति के लिए सुव्यवस्थित समयों का शिक्षण कर सकता है।

डॉ. हैनीमैन— होम्योपैथी के जन्मदाता— का जन्म लिस्बन (पुर्तगाल) के एक निर्धन परिवार में हुआ था। उनमें बौद्धिक प्रखरता प्रारम्भ से ही थी उसे देखकर चाच-सम्बन्धी और पिता के मित्रगण कहा करते— 'लगना है हैनीमैन इस जन्म में आने से पूर्व भी बहुत कुछ पढ़ चुका है। उसकी बौद्धिक प्रतिभा इस जन्म की कमाई नहीं है'—कहती क्योंकि अभी उसे उसके लिए अवसर ही कहाँ मिला। सचमुच पूर्वजन्मों की योग्यता, साधना, ज्ञान का भी कोई अर्थ है। यह दूसरे किसी के भस्तिष्क में न उतरे, उनके सम्बन्धी को इस पर विश्वास हो गया इसलिये उन्होंने निश्चय किया— 'इस अतिथक प्रतिभा को विकास के लिए हम सहयोग देंगे' और सचमुच उन्हीं के सहयोग से हैनीमैन इंग्लैण्ड में उच्च डॉक्टरों शिक्षा प्राप्त कर सके।

हैनीमैन एल्गैथी के डॉक्टर बनकर जर्मनी आ गये और वहाँ एक सरकारी अस्पताल में सिविल सर्जन हो गये। उच्च शिक्षा प्राप्त कर लाने के बाद भी हैनीमैन की दो विशेषतायें कभी नहीं छूटीं— (१) यह है कि सारे मनुष्य समान हैं सबके सब सेवा, प्रेम और

आत्मीयता का व्यवहार करना, (२) संसार में और भी कुछ सत्य है उसकी प्राप्ति के लिये अपनी बौद्धिक क्षमताओं का छोटा मान कर निरन्तर ज्ञानार्जन करते रहना।

सेवा और ज्ञानार्जन की तीव्र इच्छा शक्ति का द्वार उनका व्यक्तित्व निखरता ही गया।

और अब उनके जीवन में प्रत्येक अध्यात्मवादी के सामान आने वाली ईश्वरीय परीक्षाओं का श्रीगणेश होता है। उनके दो पुत्र दोनों एक दो-दिन के अन्तर से बांगार पड़े। हैनीमैन स्वयं बड़े डाक्टर थे इसलिए बच्चों की चिकित्सा उन्होंने स्वयं की। अच्छी से अच्छी औषधियाँ दी गई। प्राण-प्रिय पुत्रों की सेवा सहृदय पिता ने रात-रात भर जाग-जाग ऐसे की जैसे महापुरुष समाज सेवा में अपने सुखों को भूल जाते हैं। लेकिन ईश्वरीय मत्ता के आगे मनुष्य का धरा क्या? दोनों पुत्र एक ही साथ एक ही साँझ मृत्यु के घाट उतर गए प्यारे बच्चों की मृत्यु ने हैनीमैन के अन्तःकरण में तूफान बरपा कर दिया।

उन्होंने ईश्वरीय इच्छा को प्रणाम कर लिया और जो हुआ उसे शारबन जीवन की अपनी प्रक्रिया मानकर सन्तोष कर लिया किन्तु उन्हें अपने धैर्यिक ज्ञान से ही अविश्वास हो गया। उन्होंने सोचा जो एस्केपेची जाने योग्य बच्चों को नहीं बचा सकी वह मरणोन्मुख मनुष्य को तो सम्भाल ही कैसे सकती है।

दुःख में मनुष्य को ईश्वरीय आस्थाएँ तीव्र हो पड़ती हैं हैनीमैन का सच भी वही हुआ। वे सोचने लगे सुख-दुःख है क्या? और उसका मनुष्य से क्या सम्बन्ध है? इन तथ्यों को सुलझाने के लिए विशेष शोध और साधना की आवश्यकता थी। डॉक्टरों में वह समय कहाँ मिलता सो उन्होंने चिकित्सक का पद छोड़ दिया। महान् उद्देश्य के लिए अपने छोटे से सामाजिक हित को शहीद कर देने की परम्परा को पालन करने वाले लोग ही संसार में महापुरुष हुए और मानवता को योगदान देने वाले काम कर सके। जो केवल स्त्री, बच्चे, पद, प्रतिष्ठा, धन और ऐश्वर्य की विडम्बना से घिपका रहा वह तो संसार में व्यर्थ ही जिवा और मरने वालों की एक संख्या बढ़ा गया।

अध्यात्मवादी के लिये जिस तरह धन और पुत्रों से मोह एक बाधा है उसी तरह लोकवश और अहंकार की रक्षा भी। सम्मान की भावना पर विजय पाने वाले अध्यात्मवादी नहीं हो सकते। इस तथ्य को समझ कर डॉ. हैनीमैन ने एक सम्मानित डॉक्टर का पद त्याग दिया और एक सरकारी लाइब्रेरी के लाइब्ररियन हो गये। यहाँ उन्हें संसार के सभी महापुरुषों के अनुभवों का लाभ उठाने का अवसर मिला। किन्तु उन्होंने देखा कि विराट विश्व का ज्ञान उसकी यथार्थता जानने के लिये केवल अंग्रेजी भाषा और पुर्तगाल या जर्मन के मनीषियों का अन्तःकरण और ज्ञान टटोलना काफी नहीं है सभी देशों व धर्मों के महापुरुषों के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में एक बाधा यह थी कि वे केवल फ्रेंच, अंग्रेजी और जर्मन भाषा ही समझने थे जबकि ज्ञान का क्षेत्र तो अतन्त्र ही विशाल है जितना यह संसार से उन्होंने एक और तपश्चर्या शिरोधार्य की। वह था अन्यान्य भाषाओं

का अध्ययन। दिन-रात एक करके हैनीमैन ने दुनिया की ९ भाषाएँ सीखीं और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के परिश्रम के आगे संसार की कोई भी वस्तु असम्भव नहीं। मनुष्य चाहे और पूरा न हो तो यह उसके भाग्य का नहीं कर्म का दोष है। उद्यमी मनुष्य तो पहाड़ सतकर दूध की धारा भी निकाल सकता है।

व्यक्तित्व के विकास की इस साधना के साथ डॉक्टर हैनीमैन ने यह अनुभव किया कि संसार के सब शरीरों में एक ही तरह की योजना काम करती है। वह मन की शक्ति से भिन्न है। मन स्वयं सूक्ष्म है फिर उस शक्ति को—सूक्ष्मता का तो कहना ही क्या? सूक्ष्म मन की शक्ति की नींव उन्होंने अपने जीवन में ही कर ली थी। आत्म-शक्ति के अकूल-भण्डार को अभी पाना था। उन्हें प्राप्त करने में उन्हें भले ही बिलम्ब लगा हो पर उन्होंने यह अवश्य जान लिया कि मन एक ऐसी शक्ति है जो आत्मा का उपयोग करती है। पागल भी मन काम नहीं करता पर आत्मा काम करता है। आत्मा पुष्कलपुष्क शब्द विभूत जैसी कोई शक्ति है जिसमें स्मृति, कपट, भेदभाव आदि विकास नहीं होते क्योंकि पागल मनुष्य में भी ऐसा कुछ नहीं होना।

उन्होंने यह भी पाया कि रोग आत्मा का गुण या विकृति नहीं मन के दोष से रोग उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोग या मानसिक विकार मुख मण्डल पर छा जाते हैं, इससे उन्होंने रोगों की सूक्ष्मता का अध्ययन किया। उन्हें एक महत्वपूर्ण बात सूझी थी कि मन एक अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति है और उसी के विकार से शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं इसलिये औषधियाँ भी सूक्ष्मतरंग रूप से अधिकतम प्रभावशाली होनी चाहिए।

अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए उन्होंने भारतीय आयुर्वेद पढ़ना प्रारम्भ किया। आयुर्वेद में उनकी दृष्टि गिरायता (जिससे कुनैन बनती है) पर जम गई। मलेरिया की संसार में एक ही दवा है कुनैन और यह रोगी को देने से तुरन्त अच्छा कर देती है लेकिन यदि कोई स्वस्थ आदमी उसे खाले गो वह बीमार हो जाता है। इस जन्मकारी से उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ उन्होंने इसका अपने ऊपर ही प्रयोग किया क्योंकि वह जानते थे कि मनुष्य शरीर के अनुकूल कोई भी प्रयोग मनुष्य शरीर में हो सकता है। निर्दोष जोड़-जन्तुओं पर प्रयोग से किसी भी रूप में वास्तविक सत्य का पता नहीं लग सकता। आशिक सत्य की ही जानकारी उससे होती है और यह मनुष्य के लिए अहितकारक भी हो सकती है।

डॉ. हैनीमैन ने चिन्तने का कई प्रकार से विचित्र आयु के कई व्यक्तियों पर कई तरह से प्रयोग किए और यह भाया कि उस दवा को जितना हल्का (डायल्यूट) किया जाना है उसकी शक्ति उतना ही बढ़ जाती है। उन्होंने दवा को एक पौटेन्सी तक सूक्ष्म किया तब उसकी शक्ति परमाणु की शक्ति की तरह अत्यधिक तीव्र थी (१०० बूंद रेक्टोफाइड स्प्रिट में १ बूंद घुली हुई दवा डालकर हिलाया जाय और फिर उसमें से एक बूंद दवा ली जाये तो यह एक पौटेन्सी होती है। यदि इस एक पौटेन्सी बूंद को फिर १०० बूंद रेक्टोफाइड स्प्रिट से मिलाकर हिलाये और एक बूंद उसमें से निकाल लें वह दो पौटेन्सी

दवा हुई यदि ऐसे ही एक लाख पौटेन्सी शक्ति की १ बूंद निकाले और किसी स्वस्थ मनुष्य को दें तो उसकी शक्ति को बढ़ाकर कराना कठिन हो जाता है।) इस तरह उन्होंने संसार को एक नई मान्यता दी कि जो जितना अधिक सूक्ष्म है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली है। स्थूलतम शक्ति का आधार नहीं। होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति का विकास इसी सिद्धान्त पर डॉ. हैनीमैन ने दिया। इसी आधार पर डॉ. हैनीमैन भारतीय धर्म के भूतम अर्थात्क तन्त्रदर्शन से प्रभावित हुये।

मानव सेवा की भावनाएँ और उम्मेड डॉ. हैनीमैन थे पहले से ही थीं। उनके ज्ञान और आत्म-विकास का क्षेत्र जितना बड़ा उतनी ही उनकी सेवा की भावना प्रबल हुई अतएव उन्होंने अनेक सहयोगी बुद्धकर अनेक तरह के रोगों के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया साथ ही साथ उन्होंने उन औषधियों के प्रभाव को भी पढ़ा। डॉ. हैनीमैन ने स्वास्थ्य की सहाय के तीन कारण (१) चर्म रोग (शोरा), (२) सुजाक (सिम्पलिस), (३) प्रमेह (साइकोसिस) माने हैं और उनका मूल कारण मनुष्य का स्वभाव एवं आचरण माना और दवा देने से पूर्व उन्होंने मनुष्य को अपने आचरण अपने मनोभावों को सुधार की शिक्षा दी।

आज होम्योपैथी का विस्तार सारे संसार में हो चुका है। वह मनुष्य समाज के लिए कितनी उपयोगी चिकित्सा पद्धति साबित होगी उस पर कुछ कहना व्यर्थ है। पर यदि उनके जीवन दर्शन को एक औषधि की भाँति मनुष्य सेवन कर सके तो निःसंदेह वह अपने मन को, जीवन को शुद्ध और स्वस्थ अवस्था बना सकते हैं और अपनी आत्मीयक प्रगति के अवसद्ध दरवाजे अक्षयमेव खोल सकते हैं।

एक लाख आँखों का दाता— हेनरी हालैण्ड

एक बाग तो वह स्वयं गण्ड में आ गया। जिसने आजीवन पीड़ितों की सेवा, दीन-दर्शितों के अध्वान की ही बात सोची, ईश्वर के प्रति अटूट निष्ठा ही जिसे अनवरत काय करने की प्रेरणा देती थी, था न वह ईश्वरसेव विध्वन के प्रतिकूल कि ईश्वर ने उसकी भी रक्षा नहीं की। जोर का पत्थर सिर पर गिरा। अचानक अवस्था में उसे अस्पताल पहुँचाया गया।

और जब बेहोशी दूर हुई तब उसका मुख से यही निकला भाई जल्दी करो, मेरी मरहम-पट्टी कर दो तो मैं अपने काम से लगे देखने नहीं हजारों की संख्या में लोग घायल पड़े हैं और तुम सबन मुझ रोगी बनाकर धकड़ रखा है।

डाक्टर की पीड़ितों की सेवा करने का यह अद्भुत दीवानगी देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्याक्त स्तब्ध रह गये। कोई दूसरा मौता तो कराहता और भगवान् को दोष देत हुए कलक — वाह रे नियन्ता भूलकर भी तेरी प्रार्थना न छोड़ें, तुझ कभी भूला नहीं, किरों के साथ अन्याय और विश्वासघात भी नहीं किया और तूने यह फल दिया कि मुझे भी कुचल का रस दिया।

सचमुच वह सच्चा इन्सान था जो कहता था । परमात्मा ! अपनी तरह से प्रबन्ध करता है, उसका कार्यक्षेत्र सारा संसार है, उसकी व्यवस्थायें समय की सीमा से अनुबद्ध नहीं फिर मनुष्य उस पर टीका टिप्पणी करे तो यह उसका पागलपन ही है । थोड़ा रुक हो गया । उतने भर से क्या ईश्वर का भजन बन्द कर दिया जाय, क्या संसार की सेवा से मुख मोड़ लिया जाय । उपसना का उद्देश्य आत्मबल सम्पादन है मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं ।

पट्टी बंध गई और वह फिर उठ खड़े हुए । लोगों ने कहा— इतनी सेवा भावना नहीं होती, काम करने की ऐसी उत्कृष्ट लगन नहीं होती तो ५६ वर्ष की आयु में १,००,००० लाख व्यक्तियों की आंखें कैसे ठीक कर देते । हिसाब लगायें तो प्रतिदिन लगभग ५ ऑपरेशन तो उन्होंने किये ही किये होंगे । कोई आगम नहीं, कोई छुट्टी नहीं ।

यह बटना उस समय की है जब १९३५ की एक रात ब्येटा (उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त) में जर्बर्स्टल भूकम्प आया था । प्रातःकाल देखा तब मालूम हुआ कि साठ हजार की आबादी वाले नगर में अब कुल चौबीस हजार लोग जीवित बचे हैं । एक रात में एक शहर में छत्तीस हजार व्यक्तियों की मृत्यु इतिहास की सबसे अधिक रोमांचकारी मानसिक दुर्घटना थी और वैसा ही रोमांचकारी था तब इस व्यक्ति का साहस जो प्रकृति की इस भयंकर चुनौती के बीच भी अपना सन्तुलन खोये बिना थोढ़ खींचकर फिर काम में जुट गया । लोग उन्हें हेनरी हालैण्ड के नाम से याद करते हैं । जन्म से वे इस्लाम के थे पर अपनी आत्मा को उन्होंने विश्वात्मा में इस तरह मूल्य दिया था कि वे जहाँ भी गये वहीं के हो गये । सारा संसार एक ही पितृ की सन्तान और सारा विश्व एक ही परिवार है यह उनका नाश था और अपने इसी सार्वभौम सिद्धान्त के आधार पर वह संसार की सेवा में आजीवन जुटे रहे ।

हेनरी हालैण्ड की शिक्षा ईडनवर्ग में हुई । वे आँख के विशेषज्ञ के रूप में पढ़-लिखकर तैयार हुए तब सब घरवालों और सम्बन्धियों को वैसे ही प्रसन्नता हुई थी जैसी किसी भी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं में डूबे व्यक्ति को यह सोचकर होती है कि अब मेरा बच्चा, मेरा भई, मेरा सम्बन्धी अघाह बन कमावेगा, हम सबको सुविधाएँ देगा, आदि आदि । पर जब हेनरी ने अपना निर्णय व्यक्त करते हुए कहा— मैं धर्म और ईश्वर में महान् आस्था रखता हूँ और ईश्वर का आदेश है कि मेरे भक्त को सकीर्ण स्वाधों में बंधा हुआ एकदेशीय नहीं होना चाहिये इसलिए मैं अपने ही परिवार तक सीमित न रहकर संसार की सेवा करूँगा । तब तो उनके कुटुम्बियों, सम्बन्धियों की लालसाएँ ऐसे टूटकर गिर पड़ीं जैसे मतवाला हाथी भरती में आकर फँस नड़ता है तो सड़ी हुई रस्सी का बन्धन अटक से ही लटक कर रह जाता है ।

परिवार के दुःख सुख, धन के अभाव, स्वामन्तर की दिक्कत इन सबको एक तरफ रखकर हेनरी संसार की सेवा करते हुये एक ऐसे स्थान की खोज में पादरी बने और लोकमेव को निकल पड़े जहाँ कह ही कह हों, कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं ताँके ईश्वर-भक्ति

की, धर्म मर्यादा की परख भी इस जीवन में हो जाय और भगवान् को यह कहने का अवसर न मिले कि हे मनुष्य ! मैंने तुझे जो सम्पूर्ण विभूतियों से सुसज्जित करके इस संसार में भेजा था तूने उनका उचित मूल्य नहीं चुकाया ?

हेनरी हालैण्ड १९०० ई. में ब्येटा आये । वह स्थान सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी टीखा । वहाँ अशिक्ष और अन्धविश्वास की भरमार थी । हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सामाजिक बुराइयों से ग्रस्त और दकियानूस थे । आये दिन कत्ल और रक्तपात होता । जंगली आदिवासियों की स्थिति तो और भी खराब थी । गन्दगी के कारण बीमारियों ने घेर रखा था और सामाजिक बुराइयों के कारण निर्धनता ने । हेनरी हालैण्ड ने इसी स्थान को अपना कार्यस्थल चुना और उन धर्म का नाम लेने वालों को लज्जित कर दिया जो ईश्वर की उपासना सबनों के लिये, सुविधाओं के लिये करते हैं ।

जैसी कि आशा थी उनकी गोपी चमड़ी देखने ही उस क्षेत्र के अनेक लोग बिगड़े खड़े हुये । पति-विवाह और अन्धपरम्पराओं में धर्म की मूलतः देखने वालों को उन्होंने समझाया भी कि धर्मपरम्पराओं और प्रथाओं में नहीं बरन् उपसना, आत्मिकता के साथ सेवा भावी, कर्तव्यपरायण, साहसी, सघर्षशील, परिश्रमी, उदार, स्वच्छ और सद्गुण परायण होने का नाम ही सच्ची धार्मिकता है पर जड़ बुद्धि व्यक्ति भला विचार और भावनाओं को पहन कर जायें । कई लोग उन्हें पारने की तक में रहने लगे । पत्थनों के बादशाह 'बाली' भी उनके खिलाफ हो गये पर वह सब हेनरी हालैण्ड के लिये जैसे साधारण-सी कठिनाइयाँ थी ।

एक दिन वे एक सड़क पार कर रहे थे । उन्होंने देखा-एक स्त्री कराह रही है, उसकी आँखें खराब हो गई थीं । उन्होंने वही रुक कर उसका ऑपरेशन किया और तब तक उसी गन्दे स्थान में रहे जब तक उस स्त्री की आँख की पट्टी नहीं खुल गई । इस बटना से लोगों के दृष्टिकोण बदल चले । फिर उन्होंने बबेदा, शिकारपुर आदि कई स्थानों में अस्पताल खोले, नर्सिंग स्कूल चलाये । प्रौढ़ पाठशालाएँ स्थापित कीं, पैदल चले, खच्चरों पर चढ़े और दिन-रात एक करके सारे क्षेत्र की, गन्दगी, अन्ध-विश्वास, अन्ध-ब्रह्मा को ही नहीं थोपा, रोग-शोक दूर करने में अपने सभी साधनों को गला दिया । अफगानिस्तान के राजा और 'बाली' की भी आँखें ठीक करके उन्होंने दिखा दिया कि संसार में कोई किसी का दुश्मन नहीं सब अपने ही हैं वो इस विश्वास के आधार पर काम करते हैं वही सच्चे ईश्वर भक्त और सच्चे इन्सान होते हैं ।

शांति और सच्चाई के साधक—

डॉ. लाइनस-पाउलिंग

मास्को में जिस दिन रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने एटमी विस्फोट सम्पन्न करने की संधि पर हस्ताक्षर किये उस दिन सारे संसार ने एक नये संतोष और शांति की साँस ली । पहले ही वहाँ भी कुछ राजनीति बरती गई हो पर इन देशों की सुबने प्रशंसा की ।

किन्तु यदि गहराई में धंस कर देखे तो पता चलेगा कि यह समझीता एक महान् व्यक्ति के कठिन परिश्रम और प्रयत्नों से ही सम्भव हुआ। सत्य को पूर्वाग्रह से विमुक्त रखने वाले इस शक्ति के पुजारी को डॉ. साइमन पाउलिंग के नाम से जाना जाता है। उन्हें दो बार शांति के लिये नोबेल पुरस्कार दिया गया पर जिस तरह सामान्य व्यक्ति पुरस्कार को अपने लाभ की वस्तु बनाते हैं डॉ. पाउलिंग ने वैसा नहीं किया। उन्होंने दोनों पुरस्कार विश्वशांति के प्रयत्नों में समर्पित कर दिये।

एक सम्पन्न अमरीकी परिवार में जन्मे डॉ. पाउलिंग की प्रयोगशाला प्रशांत सागर के तट पर तास एन्जिल्स शहर के समीपवर्ती पासादेना नामक स्थान में है। उनके अन्वेषण विज्ञान जगत के अस्तौकिक उपहार हैं। अणुविद्या पर उन्होंने अनेक नई जानकारीयाँ दी हैं। यह वह देश है जहाँ वैज्ञानिक स्पर्ध में अग्रणी रहने के लिये करोड़ों पाउण्ड केवल परीक्षणों में फेंक दिये जाते हैं। वैज्ञानिक बादशाहत की जिन्दगी बिताने हैं पर डॉ. पाउलिंग जहाँ रहते हैं वहाँ जाकर कोई यही कहेगा “कोई शिक्षित और स्वच्छन्दप्रिय किसान यहाँ रहता होगा।” कोई बड़ा बँगला नहीं सधारण-सा स्वच्छ मकान जिसमें न टेलीफोन न आधुनिक उपकरण। किसी ने पूछा— “आप इतने महान् वैज्ञानिक हो कर भी इतनी सामान्य जिन्दगी क्यों बिताने हैं?” तो उन्होंने गम्भीर होकर कहा— “विज्ञान हमें मनुष्यत्व की सेवा करना सिखाता है और सेवक को किस तरह होना चाहिये वह आप समझ सकते हैं। वस इसीलिये इस सामान्य-सी जिन्दगी से मुझे प्रयोजन रह गया है।”

विचारों से बालकों की तरह सरल इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम पण्डित जवाहरलाल नेहरू की एटमी धमाकों को सफल करने की अपील का समर्थन किया। डॉ. पाउलिंग ने बताया— “एटमी शक्ति को मानवीय कल्याण, रसायन, चिकित्सा, उद्योग और उत्पादन में लगा कर उसका सदुपयोग किया जाना चाहिये। एटमी धमाकों से जो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे सारे संसार के बच्चे निर्बल होंगे। रोग और नई बीमारियाँ फैलेगी, अकाल और अनकृष्ट से कीपत्न दृश्य उपस्थित होंगे।” इस गम्भीरता को लोग पढ़ कर भी अनुभव नहीं करते। पर विज्ञान के पण्डित पाउलिंग ने देखा कि यह तो मानव-संस्कृति के साथ महान् घात होगा इसलिये वे एटमी धमाकों के विरोध में एकाकी प्रयत्नों में जुट गये।

जब किसी ने साध न दिया तो उन्होंने अकेले ही एक दिन वाशिंगटन में हाइट हाउस के सामने राष्ट्रपति के घर पर धरना दिया। यद्यपि वह अकेले थे पर एक विद्वान् व्यक्ति की शक्ति लाख अनपढ़ों से अधिक होती है। उनके अकेले के धरने से ही बुद्धिमान लोग चौक पड़े और उन्होंने अनुभव किया कि आज का ज्ञात समुदाय यदि मानवता की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध नहीं होता तो विश्व का सर्वनाश ही हो सकता है। स्वयं राष्ट्रपति ने भी उस बात को डॉ. पाउलिंग के समक्ष ही माना और उस एकाकी पश्चिमी को आवश्यक उपाय करने का आश्वासन दिया।

डॉ. पाउलिंग जाते थे कि जब तक संसार के जनमत समस्या के समाधान के लिये एकजुट खड़े नहीं होते तब तक सफलता सम्भव नहीं। विज्ञान की प्रगति के कारण संसार एक कुटुम्ब की तरह समीप आ गया है। इसलिये अब तक सभी देशों के प्रबुद्ध व्यक्ति इस आवश्यकता को अनुभव नहीं करते तथा मानव-संस्कृति को विनाश से बचाने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करते तब तक कोई अच्छा हल निकल नहीं सकेगा। इस विश्वास से प्रेरित होकर इन्होंने सारे संसार का दौरा किया। उनकी धर्मपत्नी ने महिलाओं को तथा अपने स्वयं पुरुषों का मोर्चा बनाने का अभियान जारी किया। विश्व के ११ हजार प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, शिक्षा-शास्त्रियों के हस्ताक्षर लिये और एक संयुक्त अपील की कि संसार को इन एटमी धमाकों के प्रति सजग हो जाना चाहिये। विद्वान् व्यक्तियों के प्रयत्न जब ललत दिशाओं होने पर भी समर्थन पा जाते हैं तो शान्ति और सच्चाई की दिशा में समर्थन क्यों न मिलता? पड़े-लिखे लोग बराबर उनके पक्ष में होते गये और अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस को उस तरह के समझौते के लिए राजी होना ही पड़ा। यद्यपि अभी संसार अणु-युद्ध के खतरों से पूरी तरह मुक्त नहीं है, पर वह प्रयत्न किसी बड़े अनिष्ट और विध्वंसिता को निरन्तर टालने जा रहे हैं। यदि संसार के और भी शिक्षित और प्रभावशील व्यक्ति इस तरह राजनीति, समाज, अर्थनीति, उद्योग, शिक्षा आदि में मानव कल्याण की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिये कटिबद्ध हो जायें तो सारे संसार का नक्शा ही बदल सकता है। युद्ध की विध्वंसिता, राजनीति-बाजी, छल, धोखा, अहंकार, दम्प और प्रपञ्चपूर्ण दुनिया को शान्ति, सहयोग, सहअस्तित्व, नेकी, ईमानदारी आदि व्यक्ति सदाचार में बदल कर मानव जाति का धारी हित सम्पादित किया जा सकता है।

सर्वत यह कि लगन, दृढ़ता और सेवानिष्ठा वैसी ही हो जैसी डॉ. पाउलिंग की। यह वह व्यक्ति है जो सच्चाई के लिये आत्मोलोचन का भी त्याग नहीं सकते।

अबु-आयुषों के प्रसार को रोकने के लिये डॉ. पाउलिंग ने अपने प्रयत्नों में उन सभी शक्तियों को जुटाया जिन पर वे विश्वास कर सकते और जिन पर अपना अधिकार व्यक्त कर सकते। अपनी धर्मपत्नी को उन्होंने इस-विलास का जीवन जीने की सुविधाएँ नहीं दीं वरन् उन्हें अणुअसौ की विनाश क्षमता और धमाकों से होने वाली हानि को समझाया और जब बात उनके मन में बैठ गई तो उन्हें भी इस महान् कर्ष में जुट आने की प्रेरणा दी। श्रीमती पाउलिंग ने भी डॉ. पाउलिंग की तरह अनेक देशों का भ्रमण कर प्रभावशील और राजनीति में हस्तक्षेप रखने वाली महिलाओं पर इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने का प्रभाव डाला। अनेक महिलाओं ने उनके इस आह्वान पर राजनीतिक भविष्य की चिन्ता किए बिना अपने आपको उस दिशा में लगा दिया।

डॉ. पाउलिंग और उनकी धर्मपत्नी के जीवन की यह प्रेरण है कि विश्व शान्ति के लिए हर प्रबुद्ध व्यक्ति को पूर्ण निष्पक्षता, सच्चाई और ईमानदारी से सामने आना चाहिये। यदि उन प्रयत्नों को अब

छोड़ा गया तो आज का विज्ञान और उसकी भटकती दिशाओं से संसार का सर्वनाश ही हो सकता है।

वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता— डॉ. बसु

“बसु महादय ने वनस्पति विज्ञान के जो अमूल्य तथ्य संसार को दिये हैं, उनमें से एक-एक के लिए भी विजय-स्तम्भ स्थापित करना उचित होगा” ये वे शब्द हैं, जो विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता सर जगदीश चन्द्र बसु के सम्बन्ध में कहे थे।

वैज्ञानिक श्री बसु का जन्म ३० नवम्बर, १८५८ को विक्रमपुर जिला बाका में हुआ था। पिता श्री भगवान् चन्द्र बसु उस समय फरीदपुर में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। उनमें देश-प्रेम और स्वाधीनता के विचार कूट-कूट कर भरे हुए थे। ऐसे आदर्श पिता ने अपने बेटे को शहर के किसी बड़े स्कूल में अध्ययन के लिये न भेजकर गाँव के ही स्कूल में किसानों और मछुओं के बेटों के साथ पढ़ाया। गाँव की पाठशाला में ही उन्होंने सच्चे मानवता का पाठ पढ़ा तथा प्रकृति से प्रेम करना सीखा। बसु स्वभाव से बहुत जिज्ञासु थे और बचपन से ही साहसपूर्ण कार्यों की ओर उनका बहुत झुकाव था।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई सम्पन्न कर सेंट जेवियर कॉलेज कलकत्ता से इन्होंने बी. ए. की परीक्षा पास की। उनको इच्छा इंग्लैण्ड जाकर आई. सी. एस. परीक्षा पास करने की थी परन्तु उनके पिता उन्हें अफसर न बना करके ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ाकर देश सेवा के योग्य बनाना चाहते थे। परिणामस्वरूप श्री जगदीश चन्द्र बसु ने इंग्लैण्ड जाकर लन्दन विश्वविद्यालय से बी. एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की और स्वदेश वापस आ गये।

स्वदेश लौटने पर उन्हें कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में भौतिकशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इस समय उनकी आयु २५ वर्ष की थी। उन दिनों अंग्रेज और भारतीय प्राध्यापकों के वेतन में बड़ा भेदभाव करता जाता था। एक अंग्रेज को जितना वेतन मिलता था। एक भारतीय को उसका केवल एक-तिहाई दिया जाता था। स्वाभिमानी और राष्ट्र प्रेमी बसु को यह नीति बहुत अखरी। उन्होंने इसके विरुद्ध शान्त आन्दोलन छेड़ दिया। अपना पढ़ाने का कार्य वे नियमित रूप से करते रहे, किन्तु तीन वर्ष तक वेतन नहीं लिया। अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ आईं पर वे विचलित नहीं हुए। अन्त में उनकी विजय हुई नियुक्ति के दिन से अंग्रेज अध्यापकों के बराबर तीन वर्ष का पूरा वेतन दिया गया। अपने सीमित साधनों द्वारा ही अनवरत परिश्रम से उन्होंने विज्ञान जगत को बहुत कुछ दिया।

मारकोनी से पूर्व ही जगदीश चन्द्र बसु ने कलकत्ता के कलेक्टर को उपस्थिति में बिना तार के सन्देश भेजने का सफल प्रयोग करके दिखाया था। गुलाम देश के निवासी होने के कारण हमारा यह दुर्भाग्य था कि यह सहेरा मारकोनी के सिर पर बँधा। एक बार जब बसु विद्युत

तरंग सम्बन्धी अनुसंधान कर रहे थे जब उन्होंने देखा कि कुछ धातुओं में बार-बार विद्युत तरंगों के प्रभाव से धक्कावट भी पैदा होती है। थोड़ा विश्राम कर लेने के पश्चात् यन्त्र फिर अपना कार्य पहले की तरह प्रारम्भ कर देते हैं। इसी पर विचार करते करते उन्होंने खोज की कि भौतिक कारणों की जैसी प्रतिक्रिया जीवों में होती है उसी प्रकार की मिलती-जुलती प्रतिक्रिया धातु इत्यादि जड़ वस्तुओं में भी होती है।

डॉ. बसु ने इस बात को सिद्ध करके दिखाया कि प्राणी-जगत के समान ही वनस्पति जगत भी भौतिक कारणों से प्रभावित होता है। सोते-जागते, खाते-पीते और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इसके लिए उन्होंने कई यंत्रों का निर्माण किया। उन्होंने पौधों में होने वाले सूक्ष्म अन्तरिक परिवर्तनों को पता लगाने के लिये ‘रेजोनेन्स रिकार्डर’ नामक यंत्र का निर्माण किया। इस उपकरण को सहायता से डॉ. बसु ने यह पता लगाया कि पौधों को भी झटका लगता है, धक्कावट होती है तथा नींद आती है। उन पर बिजुली पड़ाने का प्रभाव पड़ता है। डॉ. बसु ने पौधों में होने वाली वृद्धि को मापने के लिये ‘क्रिस्कोग्राफ’ नामक यंत्र का आविष्कार किया। पौधों में क्लोरोफिल के द्वारा अपना भोजन आप तैयार करने की प्रतिक्रिया की खोज के लिये उन्होंने ‘फोटोसिंथेटिक रिकार्डर’ नामक महत्वपूर्ण उपकरण का भी निर्माण किया।

उनकी प्रतिभा का अंग्रेजों ने बड़ा सम्मान किया, उन्हें लन्दन की रॉयल सोसायटी के सदस्य पद से सम्मानित किया पर वास्तविक सम्मान तो उन्हें हम भारतीयों से वैज्ञानिक प्रगति में अप्रसर होकर मिलना चाहिये।

भारत के वैज्ञानिक गौरव— डॉ. भाभा

विश्व प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा ने अपने परिश्रम, पुरुषार्थ तथा अभ्यवसाय के बल पर संसार को यह चेलाबनी देकर स्वधान कर दिया कि भारतीय पस्तिष्क भी अणुबम बनाने में सफल हैं, इसलिये कोई देश अपनी अणु शक्ति के आधार पर भारत को धमकाने, दबाने अथवा भयभीत करने की कोशिश न करे।

जिनका में ‘एटम फॉर पीस’ (अणु शक्ति शान्ति के लिये) नामक द्वितीय गोष्ठी के अवसर पर महान् वैज्ञानिक प्रसिद्ध पैरा ने बड़े गर्व से कहा— “संसार के अल्प-विकसित तथा गरीब देश परमाणु शक्ति के आधुनिक विकास के लाभों का तब तक उपयोग करने से वंचित रहेंगे जब तक वे औद्योगिक विकास की दिशा में पूरी तरह सम्पन्न नहीं हो जाते।”

निश्चय ही यह एक सम्पन्न देश के वैज्ञानिक की एक गवौकित तथा भारत जैसे निर्धन देशों पर एक तीखा व्यंग्य था जिसके पीछे कथनकार का यह संकेत छिपा था कि असम्पन्न देश आणविक प्रगति नहीं कर सकते, यह बहुत ही व्ययसाध्य काम है, इसलिये उन्हें अणु विकसित देशों की गरिष्ठता तथा श्रेष्ठता मानते ही रहना चाहिये।

५३६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-९

डॉक्टर भाभा ने, जो उँस गोष्ठी के सम्मानित अतिथि थे और भारत के प्रतिनिधि, उक्त वैज्ञानिक का ज्वग तथा संकेत समझ लिया और उसका वैज्ञानिक आधार पर खण्डन करते हुये कहा कि आप शीघ्र देखेंगे कि अल्पविकसित देश भी अणु प्रगति कर सकते हैं और अणुबम बना सकते हैं।

डॉ. भाभा भारत आकर अपने कर्म को चरितार्थ करने में लग गये, उन्होंने दिन-रात अनुसंधान कार्य करने का कार्यक्रम बनाया और काम करने में जुट गये और अनेक बर्षों अविराम पत्रिपत्र से अणु-शक्ति का रहस्य खोज निकाला। इस महान् सफलता के बाद उन्होंने आणविक शक्ति के विकास के लिये दृष्टि में आधुनिकतम आणविक संस्थान की स्थापना कराई और 'अप्सरा' आणविक भट्टी का प्रारम्भ किया। डॉ. भाभा की इस सफलता तथा निर्माण ने आणविक शक्ति सम्पन्न देशों के बीच भारत का स्थान बल्लक उद्भूत राजनेताओं को गर्वोक्ति करने से विरत कर दिया। उन्होंने अपने महान् अभ्यवसाय के बल पर सिद्ध कर दिखाया कि संसार के अल्पविकसित देश भी लगन तथा परिश्रम के द्वारा परमाणु शक्ति के विकास का लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा एक शक्तिप्रिय वैज्ञानिक थे। उन उद्भूत वैज्ञानिकों में नहीं थे जो अणु शक्ति को युद्ध का साधन बनाकर अपने देश को दूसरे निर्बल देशों का दबाव डालने की समता प्रदान करने में ही अपना वैज्ञानिक गौरव समझते हैं। सधम एवं समर्थ होने पर भी उन्होंने ध्वंसकारी अणुबम बनाने की कभी नहीं सोची। वैज्ञानिक उपलब्धियों के विषय में उनका दृष्टिकोण सदैव शान्ति निर्माण तथा विश्व-कल्याण की दिशा में ही रहता था। वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपयोग के विषय में उनसे जब-जब पूछा गया तब तब उन्होंने यही उत्तर दिया— "मेरा सारा प्रयत्न और सारी प्रगति इसलिये है कि ऐसे साधन संवय किये जा सकें जिनके आधार पर भारत के करोड़ों भूखे, नंगे लोगों के लिये रोटी-रोजी की व्यवस्था की जा सके। हमारे देश की सारी वैज्ञानिक प्रगति का लक्ष्य राष्ट्र का सर्वोच्च विकास और अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में यथासम्भव मात्र कल्याण का सम्पादन करना है। भारत कोई राजनैतिक उद्देश्य लेकर विज्ञान के क्षेत्र में नहीं बढ़ रहा है।"

अभिन्न देश चीन की आणविक प्रगति तथा कम विस्फोटों के समाचारों पर जब विदेश के जिज्ञासुओं ने यह प्रश्न किया— 'सम्भवतः अब तो भारत भी अणुबम बनायेगा'— तब डॉ. भाभा ने उत्तर दिया वह उनके अनुरूप ही है और निस्सन्देह संसार के वैज्ञानिकों के लिये माननीय एवं अनुकरणीय है। डॉ. भाभा ने कहा—

"विज्ञान संसार के विनाश के लिये नहीं बल्कि दुःखी एवं संतप्त मानवता के कल्याण और उसकी सेवा करने के लिये है। परमाणु शक्ति का सही उपयोग विनाशकारी बम बनाने में नहीं उसका सही उपयोग अणु शक्ति संचालित बिजलीघर बनाने में है, जिससे लोगों को कम से कम मूल्य पर बिजली मिल सके, उनकी सुख-सुविधा के साधन बढ़े, उद्योगों तथा कारखानों में उस शक्ति का उपयोग कर

सस्ता और अच्छा माल बनाया जा सके। नये उद्योग घन्थे खड़े किये जा सकें जिससे गरीब लोगों को पर्याप्त रोटी-रोजी मिल सके। अणु शक्ति का सही उपयोग तब है जब उससे कृषि के उत्तम-उत्तम साधन खोजे जा सकें, जिससे देश का भन्धान्य बढ़े, उसकी गरीबी और भुखमरी दूर हो सके। रोतीले तथा अनुपजाऊ क्षेत्रों को उर्वर बनाने में उपयोग की गई अणु शक्ति सद्गुणवत् मानी जायेगी। अणु शक्ति का उचित उपयोग तभी है जब उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की बीमारियों का उपचार किया जा सके और मानव विकास को हर दिशा में गतिमान बनाया जा सके। मेरा तो विचार यह है कि एक अणु-शक्ति ही नहीं ज्ञान-विज्ञान की कोई भी शक्ति विनाश में न लगाकर निर्माण में ही लगाई जानी चाहिये। न केवल विद्यालय ही बल्कि धन-बल तथा जन-बल का उपयोग भी धन्य-कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिये।"

भारत के इस माधु वैज्ञानिक डॉ. भाभा का पूरा नाम डॉ. होमी जहांगीर भाभा था। इनका जन्म ३० अक्टूबर, १९०९ में बम्बई में हुआ। एक सम्पन्न घर के पुत्र-रत्न होते हुये भी उन्होंने सुख-सुविधा की साधान्य आकांक्षा से ऊपर उठकर अपना सारा जीवन एक तपस्वी की भाँति विद्याध्ययन तथा देश की सेवा में लगा दिया। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही इस देशभक्त को भारत की वैज्ञानिक मंदता छटकने लगी थी और विद्यार्थी जीवन में अनेकों के बहुत-बहुत कठिन बनाए जाने पर भी विज्ञान का विषय ग्रहण किया और सदैव ही अपना यह विश्वास व्यक्त किया कि परिश्रमशीलता के आगे संसार का कोई भी विषय कठिन नहीं और पुत्कार्य तथा लगन के सम्मुख कोई भी उपलब्धि असम्भव नहीं, पुत्र विज्ञान का अध्ययन कर एक वैज्ञानिक बनना ही है फिर चाहे इसके लिये मुझे अपना सारा जीवन, सारी सुख-सुविधा और सास-हस-वित्तस ही क्यों न बलिदान करना पड़े। मुझे हर मूल्य और हर प्रयत्न पर भारत से वैज्ञानिकता की कमी दूर करनी ही है।

आगे चलकर इस स्वगनशील तथा ठन्साही बालक ने अपने विश्वास को चरितार्थ भी कर दिखाया।

डॉक्टर भाभा ने बम्बई के कैम्पेकल जान कैमन विद्यालय से हाई-स्कूल पास करके एलिफन्ट कॉलेज और रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स से विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर लन्दन के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से विज्ञान में पी.एच.डी. प्राप्त कर अनुसन्धान कार्य में लग गये। सबसे पहले उन्होंने ब्रह्माण्ड विवरण के क्षेत्र में ऐसी खोजें दुनिया के सामने रखीं कि वे जल्दी ही संसार के उँचे वैज्ञानिकों में गिने जाने लगे। जिसका मूल्यांकन विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों ने इन्हें 'डॉ. ऑफ साइन्स' की उपाधि देकर किया। संसार की महान् वैज्ञानिक संस्थाओं से राज जेल ट्रेवलिंग की कैम्ब्रिज अवज्ञक न्यूटन की स्टूडेंटशिप तथा सोनियर स्टूडेंटशिप पाने वाला युवक वैज्ञानिक डॉ. भाभा यदि चाहता तो संसार के किसी भी विश्वविद्यालय में हजारों रुपये की प्रोफेसरी लेकर सम्मान एवं आराम की जिंदगी बिता सकता था। किन्तु जिन मनुष्यों के हृदय

यं मानवता के दुःख का दर्द होता है, समाज की पीड़ा और राष्ट्र के गौरव-वृद्धि की कामना होती है वे जनश्रेययोगी कर्मों के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन का मूल्य कम कर दिया करते हैं।

अनेक आणविक घट्टियों की स्थापना के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने औद्योगिक प्रगति के लिये 'टाटा वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान' की स्थापना की और वहाँ उसका संचालन भी किया। बम्बई का 'टाटा भन्दा मेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' तथा ट्राम्बे के अन्य अनेक आणविक संस्थान डॉ. भाभा के ही प्रयत्नों के फल हैं। इन स्थापनाओं के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने जो सबसे उपयोगी, महान् तथा दूरगामी काम किया वह यह कि उन्होंने अपने प्रयत्नों, परामर्शों तथा निर्देशों से भारत में न जाने कितनी वैज्ञानिक प्रतिभाएँ उत्पन्न कर दी हैं। डॉ. भाभा अपने इस विचार के लिये सदा ब्रह्मा के पात्र बने रहेंगे कि 'हर इनी-विज्ञानी, कलाकार तथा शिल्पी को अपने विद्या नई पीढ़ी को दे जाना चाहिए, जिससे संसार में उसका अस्तित्व बना रहे, उसका परम्परा तथा विकास का क्रम बना रहे। किसी भी विशेषता प्राप्त व्यक्ति को अपनी विशेषताओं को अपने तक ही सीमित रखने की संकीर्णता नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार कोई भी विद्या विद्वान् के स्वयं ही संसार से चली जाती है जिससे मानवता की बड़ी शक्ति होती है।

अपने इन्हीं उदार विचारों से प्रेरित होकर डॉ. भाभा ने बम्बई में अखिल भारतीय वैज्ञानिक परीक्षाओं को परम्परा चलाई। इन परीक्षाओं द्वारा वे देश की विकासशील वैज्ञानिक प्रतिभाओं को खोज निकालते थे और उन तन्त्रों को अपने निर्देशन में रखकर विज्ञान तथा अनुसन्धानों की शिक्षा दिया करते थे। इस प्रकार वे देश में वैज्ञानिकों की एक ऐसी नई पीढ़ी पैदा कर गये कि जो आज उनके न रहने पर भी अणु क्षेत्र में उनके उद्देश्यों तथा अनुसन्धानों को आगे बढ़ा रही है और आगे बढ़ाती रहेगी।

इस भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा में तो ऐसी विशिष्टताएँ रही हैं जो संसार के किसी वैज्ञानिक में कदाचित् ही पाई जायें। एक तो डॉ. भाभा बहुत ही गहरे कला प्रेमी थे। उन्होंने आधुनिक कलाकृतियों से अपनी वैज्ञानिक शास्त्राओं तक को सजा रखा था। संगीत तो उन्हें इतना प्रिय था कि जब वे अपने अनुसन्धान कार्यों में बकते तो संगीत द्वारा ही अपनी कलाति दूर करते थे। कर्नाटकीय संगीत तो उन्हें इतना पसन्द था कि व्यस्तता के बावजूद भी वे उसका कोई भी कार्यक्रम बिना देखे-सुने नहीं रहते थे।

डॉ. भाभा का एक धर्म प्राण व्यक्ति होना उनकी दूसरी विशेषता थी। अपने वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त उन्हें जो भी समय मिलता था उसमें वे शास्त्रों तथा धर्म पुस्तकों का ही अध्ययन किया करते थे। उनके पुस्तकालय में जहाँ एक ओर विज्ञान की पुस्तकें लगी रहती थीं वहाँ दूसरी ओर की अलगरी धार्मिक पुस्तकों से घरी रहती थीं। डॉ. भाभा उन वैज्ञानिकों में से थे जिसका विश्वास भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विज्ञानों पर समान रूप से था और जो दोनों से लाभ उठाने की कला से पूरी तरह परिचित थे।

इन धर्मप्राण वैज्ञानिक डॉ. भाभा को जब स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने शासन काल में मन्त्री पद देने का

प्रस्ताव किया तो उसको विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुये डॉ. भाभा ने जो शब्द कहे वे वे उनकी त्वाग तथा कर्तव्य निष्ठा के जीते जागते प्रमाण हैं। उन्होंने कहा—“मेरा कार्य क्षेत्र केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल नहीं बल्कि वह अनुसन्धानशाला है जहाँ पर अणुशक्ति का मानव कल्पना के क्षेत्र में उपयोग करने के लिये विविध प्रकार के प्रयोग तथा अनुसन्धान मेरी अविरल सेवा की माँग करते रहते हैं।”

खेद है कि भारत का ऐसा विश्व-हितैषी वैज्ञानिक और महामानव केवल पचपन वर्ष की अवस्था में ही कुछ समय पूर्व एक विमान दुर्घटना से स्वर्ग चला गया किन्तु भारत की वैज्ञानिकों की एक नई पीढ़ी देख उसने जो राष्ट्र की सेवा की है वह उसे इतिहास के पृष्ठों में सदा अमर रखेगी।

नास्तिक नित्ये

नित्ये जर्मनी के उस दार्शनिक का नाम है जिसने धार्मिकता और आस्तिकता अपनाने की अपेक्षा मनुष्य को श्रेष्ठ मनुष्य, महामानव, अतिमानव बनने की प्रेरणा दी। वह प्रत्येक आदर्श और विचार को विवेक एवं उपयोगिता की कसौटी पर कसने का पक्षपाती था। इसलिए उसने सप्ताज में प्रचलित मान्यताओं में से प्रत्येक पर कसौटी लगाई और उसकी दृष्टि में जो कुछ भी खरा नहीं उतरा उसी को उसने अमान्य ठहराया। उसकी कसौटी पर आस्तिकता और धार्मिकता का प्रचलित स्वरूप भी खरा नहीं उतरा इसलिए उसने केवल प्राचीनता के आधार पर या किन्हीं पन्थों एवं संतों के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उन्हें मान्य नहीं ठहराया। उसने विवेक को अपनाने पर बहुत जोर दिया। सत्य की कसौटी पर हर आदर्श की कड़ी परीक्षा लेने के लिए उसने जन-साधारण को आमन्त्रित किया।

प्रिस बिस्मार्क जर्मनी को शक्तिशाली बनाने में संलग्न थे। वे राजकीय, सैनिक और औद्योगिक शक्ति से अपने राष्ट्र की अधिकाधिक सम्पन्न बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उनके कार्यक्रम को सफल बनाने में नित्ये के दर्शन का महत्वपूर्ण हाथ था।

नित्ये भारम्भ में एक धार्मिक ईसाई थे। बड़े प्रेम से बाइबिल पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते कई बार भावावेश में उनकी आँखों से आँसू बहने लगते थे, पर जैसे-जैसे बड़े होते गये, हर बात को उन्होंने कसौटी पर कसना शुरू किया। फलस्वरूप उन्हें ईसाई मान्यताओं से बिरति हो गई। धार्मिक ईश्वर के स्थान पर उन्होंने 'अति मानव' की देवता के रूप में कल्पना की और इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य को आध्यात्मिक ही नहीं भौतिक दृष्टि से भी अधिकाधिक विकसित होना चाहिए।

अपने निजी जीवन के कटु अनुभवों के आधार पर वे सुरा, सुन्दरी के खोर विरोधी थे। उन्होंने इनके फेर में पड़कर बहुत कुछ खोया था और मारी ठोकरें खाई थीं इसलिए वे उनके जाल से विचारशील लोगों को बचते रहने की ही सलाह देते थे।

नित्ये ने कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें 'दस स्पीक जराग्रस्ट' की बहुत प्रशंसा है। स्वयं लेखक ने इसे अपनी सर्वोत्कृष्ट

और महान् कृति माना है। फिर भी उसके जीवनकाल में उसकी बहुत कम प्रतियाँ बिकीं।

इस महान् दार्शनिक के विचारों से हिटलर प्रभावित हुआ और उसने नज़ीवाद अपनाया। उसी की प्रेरणा से जर्मन जाति शक्ति और शौर्य की उपासक बनी और वह नशा इतना गहरा चढ़ा कि दो-दो महायुद्धों में हारने और भारी क्षति उठाने पर भी खुमार अभी तक गई नहीं है। जर्मन युवक अभी भी विश्व-विजय के सपने देखते हैं।

नित्से ने लिखा है— “पीछे की ओर नहीं, आगे की ओर देखो। पूर्वजों की कज में तुम्हें नहीं रहना है वरन् अपनी सन्तति के साथ ही दिन कटाने हैं, इसलिए भविष्य ही तुम्हारी आशुओं का केन्द्र होना चाहिए। उसी के निर्माण में तुम्हारी इच्छा शक्ति केन्द्रित होनी चाहिए। तुम सबको स्वतन्त्र रूप से हर समस्या पर विचार करना चाहिए जैसे कि मैंने किया है। केवल अच्छे बनने से काम न चलेगा। साथ ही दुरस्त बनने की भी कोशिश करो।”

नित्से ने दो प्रकार की नैतिकता का प्रतिपादन किया है। एक बीरोचित दूसरी दासोचित। बीरोचित नैतिकता में वे पुरुषत्व, साहस, कर्मठता और वीरता का प्रतिपादन करते हैं और इसके लिए कठोरता, हिंसा, भयकरता, युद्ध और क्रूरनीति को आवश्यक मानते हैं। दासोचित नैतिकता में वे विनम्रता, अनासक्ति, दीनता, दयालुता और शान्ति को गिनते हैं। उन्होंने ईसाई धर्म से बौद्ध युग जैसा खतरा देखा और जनता को केवल सन्नतता और शान्ति की ही रट न लगाते रहने की चेतावनी देते हुए कहा— “यह संसार शक्ति और श्रेष्ठता के सिद्धान्तों पर चल रहा है। योग्यतम का, दूसरों को परास्त करके जीवित रहना, एक कठोर तथ्य है जिसे समझ लेना ही बुद्धिमानी है। जीवन संग्राम में पिछड़कर अपने आपको नष्ट होने से बचाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, प्रभुत्व की लालसा और प्रबल मन्त्रेवेगों की आवश्यकता है इसके बिना कोई व्यक्ति या समाज महान् नहीं बन सकता। साहसी बनना, शक्तिशाली बनना ही सत् है। दुर्बलता ही असत् है।”

उन्होंने गणतन्त्र के सिद्धान्तों का भी विरोध करते हुए कहा— “सब मनुष्य समान नहीं हो सकते। गणतन्त्र का अर्थ है— ‘घटिया लोगों का बर्चस्व और श्रेष्ठ व्यक्तियों का तिरस्कार’। ऐसी स्थिति में महापुरुष न तो उत्पन्न हो सकते हैं और न उन्हें बर्चस्व प्राप्त हो सकता है। युगकों में होने वाली घाँघली और अशिष्टता को पार कर आगे बढ़ सकना श्रेष्ठ पुरुषों के लिए किस प्रकार संभव हो सकता है?”

आज जनतन्त्र के युग में नित्से के विचार क्लृप्ति लगते हैं। उनकी व्याख्याएँ विचित्र मालूम पड़ती हैं और शान्ति तथा समानता के सर्वप्रिय सिद्धान्तों से परिचित लोगों के लिए उनकी बातें अप्राप्त्य जंचती हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनके विचारों के पीछे एक बल है और एक समय ऐसा आया था जब लगता था कि नित्से द्वारा पोषित अधिनायकवाद के सिद्धान्तों के आगे ही कहीं दुनिया को मस्तक न झुकना पड़े।

नित्से जब मरने को थे तो उन्होंने अपनी बहिन से कहा— “मेरी शव के साथ स्वयंओं के अतिरिक्त और कोई कोलाहल करने वाली चीज़ न हो। मेरी सम्पत्ति के पास किसी पादरी को न आने देना। मैंने अपनी रक्षा उनसे की है, तुम मेरी सधाधि को भी उनकी परछाई से बचाना और एक ईमानदार नास्तिक की तरह मुझे दफना देना।”

सन् १८४४ में वे जन्मे और १८८९ में पैतालीस वर्ष के होकर मर गये। अन्तिम दिन उनके निराशापूर्ण थे। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में सब ओर असफलता ही मिली थी। इटली छोड़कर वे आल्प्स पर्वत पर एककी जीवन व्यतीत करने लगे थे। स्वास्थ्य भी उनका साथ नहीं देता था। उन्होंने लिखा है— ‘आज मेरी अकांक्षाओं के अनुरूप समय नहीं है पर एक दिन वह आयेगा अवश्य।’ कौन जाने वह समय कब आये? फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनके विचारों में बड़ी जीवन्तता थी और उन्होंने बहुत बड़े जन-समुदाय को प्रभावित भी किया।

नित्से के विचारों से कोई सहमत हो या असहमत पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार रहे। जैसा उन्होंने सत्य समझा वैसा निर्भीकतापूर्वक कहा। भय या प्रलोभन के कारण वे अपनी पन्क्तियों को दबाने या छिपाने की अपेक्षा आजीवन कष्ट भुगतते रहना, विशेष, अंग और उपहास सहना तथा लोगों द्वारा निरस्कृत तथा साक्षित होना पसन्द करते रहे। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के प्रति आस्थावान और निर्भीक होना चाहिए, इतनी शिक्षा तो उनसे हर कोई प्राप्त कर ही सकता है।

श्रमिक जीवन को अतिशय प्यार करने वाला विद्वान् ऐरिक हौफर

भोजस्वी वक्ता, तेजस्वी लेखक और मौलिक विचारक श्री ऐरिक हौफर ने समाजवादी विचारधारा पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रसिद्ध एवं प्रकाशित पुस्तकों में ‘दि टू बिलीवर’, ‘दि पैरानेट स्टेट ऑफ पाइन्ड’ और ‘दि और्डियल ऑफ थेन्ज’ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

उनके आलोचकों का कथन है कि ऐरिक हौफर मुहावरेदार भाषा के प्रयोक्ता, नैतिकतावादी और मानव समाज की स्थिति के दृष्टा हैं। उनके सिद्धान्त व्यावहारिक और परिपक्व सुबोध हैं। श्री ऐरिक की रचनाओं ने अमेरिका के श्रमिक वर्ग तथा समाज को एक परिवर्तनकारी विचारधारा देकर मालिक और मजदूरों को परस्पर समन्वय स्थापित करने के उपायों पर सोचने को तैयार किया, जिसका फल अमेरिका में मालिक-मजदूरों के बीच एक समझदारी आधी जो राष्ट्रीय अर्थतन्त्र को सुदृढ़ बन सकने में काफी हद तक सहायक सिद्ध हुई है।

श्री ऐरिक एक यथार्थवादी समाज-चिन्तक हैं। मजदूरों और मालिकों की प्रवृत्तियों को उन जैसे समझने वाले चिन्तक बिरले ही हुये हैं। इसका विशेष कारण यह है कि वे स्वयं भी एक मजदूर हैं सो भी कृत्तम के मजदूर नहीं, ठीक-ठीक शारीरिक श्रमिक और इस

समय भी वे प्रशान्त तट पर जहाजी घाट मजदूर की हैसियत से काम करते हैं।

श्री ऐरिक हौफर एक प्रसिद्ध एवं प्रमाणिक लेखक तथा प्रवक्ता हैं। यदि वे चाहें तो अपनी रचनाओं एवं वक्तृताओं के बल पर सारी जीवन व्यतीत कर सकते हैं। प्रकाशक उनके पीछे उनके लिपिबद्ध विचार लेने के लिये पैसों की थैली लिये लगे रहते हैं। नित्यप्रति कॉलिजों से समाजवाद पर लैक्चर देने के लिये उनके पास नियंत्रण आते रहते हैं सो भी अच्छे खासे पारिश्रमिक के साथ। किन्तु त्याग की मूर्ति और परिश्रम की प्रतिमा हौफर उसका कोई लाभ उठाने को तैयार नहीं होते। वे पुस्तकें लिखते हैं पर पैसों के लिये नहीं, कॉलिजों में वक्तव्य देते हैं पर पारिश्रमिक के लिये नहीं और जो कुछ उन्हें लेने के लिये विश्व भी होना पड़ता है उसका ठे मजदूरों के हित में ही खर्च कर देते हैं। अमेरिका में श्री ऐरिक हौफर ही एक ऐसे लोकप्रिय लेखक हैं जिनके पास न सूट है और न टाई और न वे कभी किसी होटल या रेस्टोरेंट में ऊंची-ऊंची बानें कराने पाये जाते हैं। श्री हौफर के मित्रों का कहना है कि यदि वे एक-दो वर्षों के लिये अपनी त्यागवृत्ति का परित्याग कर दें तो उनके पास इतना पैसा हो सकता है कि वे एक आल्मीशन फोटी में आरामदेह जिन्दगी बिता सकते हैं।

किन्तु हौफर का कहना है—कि मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ज्यादा धन या जाने से बेरी वर्तमान दशा बदल जायेगी और मैं मेहनत-मजदूरी से विरत होकर आराम की जिन्दगी बिताने लूँ या राज की तरह जिन्दगी अपनाकर अपने साथी मजदूरों के बीच आना-जाना, उठना-बैठना और रहना-सहना छोड़ सकूँ। मुझे तो विश्वास नहीं है धनवान बनकर अपनी परिश्रम एवं संतोषपूर्ण निर्धनता को छोड़ सकने में सफल हो जाऊँगा। जिस निर्धनता ने मुझे परिश्रमी बनाया, मेहनत-मजदूरी करने वालों के लिये दिल में दर्द पैदा किया और एक विचारक बनाकर उनकी समस्याओं पर सोचने व लिखने की प्रवृत्ति दी है और जिसकी कृतज्ञता से मेरा रोम-रोम प्राणी है, धन मुझे इस निर्धनता से विमुख कर सकेगा ऐसा सोच सकना मेरे बराबर की बात नहीं है। मुझे सदैव यह बात आवश्यक प्रतीत होती रहती है कि मैं उतने से अधिक कुछ भी न जुटाऊँ जिसकी गठरी अपनी पीठ पर न हो सकूँ और एक दिन बककर परिश्रम से ही हाथ धो बैठूँ।

इस समय वे सेनफ्रान्सिस्को की खाड़ी के सामने एक मकान के छोटे-से हिस्से में अपने छोटे-से परिवार के साथ रहते हैं। वह परिवार भी उनके अपने बाल-बच्चे नहीं बल्कि एक तरुण तथा होनहार मजदूर को अपना पुत्र मानकर और उसके आठ वर्षीय पुत्र के दाय बनकर पोते का निर्माण कर रहे हैं। उनका आठ वर्षीय मजदूर पोता हर मंगल को स्कूल की पढ़ाई खत्म करके दादा के साथ समुद्र तट, उद्यान, पुस्तकालय अथवा संग्रहालय में आता है जहाँ वे दोनों बहुत कुछ सीखते और एक-दूसरे को बहुत कुछ सिखाते हैं। श्री हौफर अपने इस परिवार के साथ काफी सुखी तथा संतुष्ट हैं।

अमेरिका के इस मजदूर विचारक का पूर्व जीवन उसके आज के जीवन से भी कठिन एवं असुविधापूर्ण रहा है। उसके पिता अल्मारी बनाने का काम करने वाले एक जर्मन प्रजासी थे। घर की हालत कुछ

अच्छी न थी। अतएव ऐरिक हौफर को स्कूल जाने का अवसर न मिल सका। उसने घर पर ही जैसे-तैसे अंग्रेजी व जर्मन भाषा सीखना प्रारम्भ किया। किन्तु निर्मम नियति को बालक का उद्योग सहन न हुआ और सात वर्ष की आयु में उसकी आँखों की रोशनी छीन ली।

किन्तु बालक हौफर इससे रंजित भी विचलित न हुआ। अब वह पढ़े-लिखे लोगों के पास किताबें लेकर जाने और उनसे पढ़वा कर सुनने लगा। उसकी विद्या विषयक यह लगन देखकर अनेक पढ़ पुरखों ने उसकी आँखों का इलाज करवाने का प्रबन्ध कर दिया जिससे उसे कुछ-कुछ लाभ हुआ। फिर भी पन्द्रह वर्ष की आयु तक वह ठीक से न देख पाता था।

इसी बीच उसके पिता की मृत्यु हो गई और वह गली-गली घूमने वाला एक अनाथ बालक बन गया। अनेक लोगों ने उस पर दया करके कुछ देना चाहा किन्तु उसके स्वाभिमान ने किसी का दिया स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वह दया दिखावाने वाले से यह कहता था कि आप मुझे कुछ देने के बजाय कोई काम दें वही अच्छा होगा। बालक हौफर इसी प्रकार दस साल तक मेहनत-मजदूरी करता और पेट पालता घूमता रहा।

इस अनाथावस्था के समय में न जाने उसे कितनी रातों भूखों सोना पड़ा और न जाने कितनी सर्दियाँ ठिठुर कर काटनी पड़ीं। नियति द्वारा भिक्षुक की स्थिति में पहुँचाये गये ऐरिक हौफर ने कभी न तो भीख माँगी, न किसी का दान स्वीकार किया और न हिम्मत हारी। यदि वह कभी किसी से कुछ माँगता था तो केवल पुस्तकें, जिनमें वह किसी दुखान अथवा सड़क की रोशनी में बैठकर धीरे-धीरे पढ़ता था। अध्ययन की तन्मयता में उसने न जाने कितने दिन-रात बिना खाके-पिये बिता दिये।

इस प्रकार बहुत कुछ कष्ट उठाने और काम खोजने के बाद उसे एक सोने की खान में मजदूरी मिल गई। जहाँ उसने पराकाष्ठा तक मेहनत और ईमानदारी से काम किया। अनेक वर्षों तक सोने की खान में काम करने के बाद वह प्रशान्त तट पर जहाजी घाट मजदूरों में काम करने लगे और तब से अब तक वहीं काम करते हैं।

श्री ऐरिक हौफर आज भी अपने साधियों को अपने संकट काल के अनुभव सुनाते और इस पर सन्तोष प्रकट करते हैं कि नियति ने उन्हें भिखारी बना देने में कोई कसर उठा न रखी किन्तु उनके स्वधिपान और परिश्रमशीलता ने उन्हें कभी भी पस्तहिम्मत न होने दिया। उन्होंने पवित्र का आशा प्रदीप एक क्षण के लिये भी कभी बुझने न दिया।

उन्होंने बताया “जिस समय १९२० में मेरे पिता की मृत्यु हुई उस समय मेरी आयु ठीक अठारह वर्ष की थी। पिता की मृत्यु के बाद जब मैं सप्तर में अकेला रह गया तो इस कोलाहल से मेरी दुनिया को देखकर जो काँप उठा किन्तु तुरन्त ही मैंने अपने को

५.४० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

धिवक्त्रा कि “इस प्रकार हिम्मत हारने का क्या काम ? भगवान् ने हाथ पैर दिए हैं और संसार में काम की कमी नहीं तब डरने की क्या जरूरत ? सामान लादकर घर से निकला । हर छोटा-बड़ा काम करने के लिए तैयार हो जा । तुझे काम मिलेगा और आश्रय मिलेगा ।”

अपनी आत्मा की प्रेरक आवाज सुनकर मैं घर से टोकरी में अपनी पुस्तकों को भरकर निकल पड़ा और कैलीफोर्निया में मेरे सामने काम से अधिक निवास की समस्या थी । निवास की समस्या इसलिये नहीं थी कि मैं कोई अच्छा मकान चाहता था । समस्या यह थी मेरा मकान किसी ऐसी जगह हो जहाँ पर सटीक ही एक अच्छा पुस्तकालय भी हो । क्योंकि घर से एक अच्छे शहर में आकर केवल रोटी ही कमान नहीं चाहता था शानाजन भी करना चाहता था । मैं कई दिन तक एक ऐसे कमरे की तलाश में भटकता रहा अन्त में अपने प्रयत्न में सफल भी हो गया । किन्तु अब एक दूसरी समस्या फिर खड़ी हो गई । पास की नगण्य पूंजी खत्म हो चुकी थी और मेरे पास एक वस्तु के योजन के पैसे भी नहीं बचे थे

भूख से व्याकुल होकर मैं एक होटल के सामने जाकर खड़ा हो गया । होटल के मालिक ने समझा कि मैं कुछ पाने की आशा में खड़ा हूँ । उसने पूछा “क्या भूख है ? रोटी खाना चाहता है ?” मैंने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया— “हाँ, श्रीमान् जी भूखा भी हूँ और रोटी भी खाना चाहता हूँ, किन्तु वो ही नहीं कुछ काम करके । मेरे पास पैसे नहीं हैं । आप मुझसे कुछ काम करा लीजिये और उसके बदले में रोटी खिला दीजिये” होटल का मालिक एक भद्र व्यक्ति था , उसने मेरी दीन दशा में विषे हुये स्वाभिमान को सम्झ लिया और उसकी रक्षा भी की ।

उस समय उसके पास तश्तरियों धोने का काम था । मैंने सहर्ष स्वीकार किया और काम करना स्वीकार कर दिया । मैंने इतना मन लगाकर तश्तरियों धोने का काम किया कि होटल का मालिक खुश हो गया और मुझे स्थायी नौकर रख लिया । कुछ समय बाद हम दो नौकरों में से एक को निकालने की आवश्यकता आ पड़ी । मालिक मुझसे खुश था इसलिये उसने मेरे दूसरे साथी को नोटिस दे दिया । वह मुझसे पुराना भी था और निरदोष भी । मैं उसका अधिकार छीनने को राजी न हुआ और खुद काम छोड़ दिया । मेरा साथी मेरे इस न्यायपूर्ण त्याग से बहुत खुश हुआ और काम खोजने में बड़ी मदद की । अपने उस होटल के साथी की मदद से ही मैं वहाँ आप लोगों के बीच जहाजी घाट पर आज भी काम करता हुआ प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हूँ ।”

इन कठिन परिस्थितियों से गुजर कर अपनी योग्यता, स्वाभिमान एवं जीवन की रक्षा करने वाले श्री फ्रेडरिक होफर इस समय अमेरिका के लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों तथा मजदूर नेताओं में हैं । उनके लिये आज कॉलिज से लेकर सरकार तक में स्थान मिलने की सम्भावनाये बनी हुई हैं किन्तु वे अपने मजदूर जीवन में ही प्रसन्न रहकर मजदूरों की समस्याओं पर लिखते, उनका सुधार करते और आवश्यकता पड़ने पर पथ-प्रदर्शन करते हैं ।

उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे एक मजदूर हैं । ‘ मेरी दृष्टि में श्रम, सच्चरित्रता और मानवीय योग्यता का प्रतीक है । मेरी इच्छा है कि अन्तिम दिन तक मैं जहाजी घाट का मजदूर बना रहूँ और शायद मेरी यह इच्छा पूरी भी होगी ।”

शांति के सराहनीय सेवक— श्री फ्रेडरिक पासी

संसार में युद्ध के विरुद्ध मैत्रीपूर्ण शांति का प्रयास करने वाले प्रस के फ्रेडरिक पासी ने जब नब्बे वर्ष की अवस्था में अपना कर्मठ शरीर छोड़ा तब उन्होंने जो शब्द कहे थे अपना एक महत्व रखते हैं और शांतिप्रिय लोगों का आह्वान करते हैं कि वे उनके मिशन को आगे बढ़ाएँ । उनका अन्तिम संदेश इस प्रकार है—

“संसार के सारे गृहो । भेद-भाव भूलकर सहअस्तित्व तथा सहयोग के आधार पर व्यापार बढ़ाओ, नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना करो और इस प्रकार दुनिया की सारी दौलत का दरवाजा मनुष्य-मात्र के लिये खोल दो । धन को युद्ध का कारण मत बनाओ इस लोभ से बचकर मनुष्यता की रक्षा करो । युद्ध मनुष्य की सबसे पाशविक वृत्ति है इससे अभय की रक्षा करो । आज ही यदि हम युद्ध से विरुद्ध संकल्प कर लें और अपने जीवन का कुछ समय शांति का प्रसार करने में लगायें तो कल ही संसार में युद्ध की कोई पूछ न रहेगी, सारे झगड़े तथा वृष की भावना समाप्त हो जायेगी । पूछ होगी तो शांति की, परिश्रम तथा पंच-निर्णय की । मनुष्य मूल रूप से शांतिप्रिय है वह युद्ध, संघर्ष तथा रक्तपात नहीं चाहता । संसार के कुछ भाड़े-से स्वार्थी, अहंकारी अथवा कुसंस्कारी व्यक्ति ही इस विधोषिक को जन्म देते हैं : मुझे पूरी आशा है और इसी आधार पर मैं भविष्यवाणी करने का साहस कर रहा हूँ कि जल्दी मनुष्य जाति शांति के पक्ष में खड़ी होगी और आज की जलती हुई दुनिया कल का सुख-स्वर्ग बन जायेगी ।”

श्री पासी के शब्द उनकी आत्मा की वह पुकार हैं जिसे हर सभ्य मनुष्य मन की आत्मा से उठना ही चाहिये । और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब संसार में शांति के देवदूत श्री पासी की भविष्यवाणी की धरितार्थता और बढ़ने लगेगी क्योंकि संसार में अच्छाई ने कदम लेना शुरू कर दिया है । अच्छे और भले आदमी संसार का कल्याण चाहने वाले पुण्य-आत्मा लोग कुछ करने के लिये उत्सुक होने लगे हैं ।

श्री फ्रेडरिक पासी केवल मौखिक शांति प्रसारक ही नहीं थे । उन्होंने शांति के लिये जीवन में जो ठोस कार्य किये और विचारों के साथ जिन सभा, समितियों तथा संगठनों का निर्माण कर गये हैं वे बहुमूल्य हैं और उनके इन पुण्य कार्यों का उनके जीवन काल में ही शांति नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया ।

श्री फ्रेडरिक पासी अपने प्रार्थनात्मक जीवन में पहले वकील बने अपने इस पेशे में वे सदा ईमानदार तथा आदर्शवादी रहे । वे हर मुकदमा लाने वाले व्यक्ति की पैरवी ही ईमानदारी से नहीं करते थे बल्कि उसे

मैत्रीपूर्ण जीवन तथा स्पर्धपूर्ण जीवन की लाभ-हानि भी समझाते थे। इस प्रकार उन्होंने न जाने कितने लोगों के मामले अदालत में जाने से पूर्व ही निपट्यार दिये थे। यद्यपि उनके साथी वकील उनकी इस बात की आलोचना करने और कहते कि मि. पासी आप यह अच्छा नहीं करने। समाज में झगड़ों की वृद्धि हो हमारी आमदनी का जरिया है।

श्री पासी अपनी आलोचना को शक्तिपूर्वक सुनते और उत्तर देते— 'पैसा ही संसार में सब कुछ नहीं है। असत्य के आधार पर अपीर होने की अपेक्षा सत्य के आधार पर गरीब रहना मैं हज़ार गुना अच्छा समझता हूँ। मेरी अपनी आत्मा के प्रति एक दायित्व भी है जिसकी मैं किसी मूल्य पर भी उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी से सौ रुपये कमा लेने की अपेक्षा यह कितना मूल्यवान तथा सुखकर है कि किन्हीं दो मनुष्यों का झगड़ा निपटा कर पुण्य प्राप्त कर लूँ। विद्या की प्राप्ति समाज में सुख-शांति को परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिये की जाती है न कि दूसरों का अन्यायपूर्ण शोषण करने के लिये। यदि सत्य की रक्षा करना, किसी दूसरे को ठोकर मार्ग पर लगाना, स्वयंभक्त देना बुद्धिमान भी नहीं है तो मैं आधिक्यपूर्वक कह सकता हूँ कि समाज का कोई भी काम बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। दूसरों का लूटने छसोदने तथा दुःख देने में बुद्धि का प्रयोग करना मेरे विचार से सबसे बड़ी मूर्खता है।

कुछ दिन भ्रमालत करने के बाद पासी सरकारी नौकरी में चले गये और फिर उसके बाद उन्होंने व्याख्याता का भी काम किया। अब तक उनकी आयु लगभग पचास वर्ष की हो गई थी। प्रौढ़ता पार करते ही उन्हें विचार आया कि किसी भी सामाजिक मनुष्य को कितनी सेवा करनी चाहिये उतनी वे नहीं कर सके और आयु का आधे से अधिक भाग निकल गया। निदान जो पूँजी वे कमा और बचा सके थे उसी पर सन्तोष करके सामाजिक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े।

उन दिनों ब्रीमिया का युद्ध चल रहा था। मनुष्य जाति के इस महाविनाश ने उनके हृदय पर बड़ी चोट पहुँचाई और उन्होंने अपनी सगाज-सेवा का रूप संसार में युद्ध के विरुद्ध शांति का प्रचार निर्धारित कर लिया। श्री पासी का कहना था कि अनाकृष्टि, अतिवृष्टि, आग, बाढ़ तथा महामारी आदि की विपरित्या तो प्राकृतिक प्रकोप होते हैं। एक बार यदि मनुष्य उनके सामने मजबूर हो जाये तो किसी हद तक माना जा सकता है। किन्तु युद्ध की यह विपीषिका तो मनुष्य निर्मित है। वह इसे स्वयं रचता है और अपना विनाश करता है। मनुष्य को उसकी इस मूर्खता से विरत कराना प्रत्येक सन्पुत्र का पावन कर्तव्य होना चाहिये। जो व्यक्ति जितना भी इस दिशा में योगदान कर सके उसे करना ही चाहिए।

अपने विचारों के अनुसार श्री पासी ने अपना सेवा-कर्तव्य घोषित कर दिया और उसी के अनुसार वे नब्बे वर्ष की आयु तक निरन्तर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे। सबसे पहले उन्होंने अपनी लेखनी का सहारा लिया। तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिख कर एक 'शांति समिति' स्थापित करने की अपील निकालने लगे। उनकी

आत्मा से निकली हुई पुकार का प्रभाव पड़ा और फ्रेंच शांति लीग की स्थापना हुई। जिसके सचिव पद पर रहकर वे बहुत दिन तक उद्देश्य की सेवा करते रहे।

श्री पासी की प्रेरणा तथा तत्त्वबोधन में फ्रांस की शांति लीग ने इस ऊसाह से कार्य किया कि जनमत उनके पक्ष में हो गया और संसार के बड़े-बड़े युद्ध-व्यसनी युद्ध की बात करते भयभीत होने लगे। उन्हीं दिनों प्रबल प्रशिक्षण युद्ध की सम्भावना उठ खड़ी हुई और श्री पासी ने विचार किया कि संसार से युद्ध का बहिष्कार करने के लिये केवल फ्रांस की शांति लीग ही पर्याप्त नहीं है उसके लिये एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहिये जो पारस्परिक विचार-विनिमय के आधार पर समस्याओं का निर्णय शक्तों के बजाय पण फैसले से करावे और दिये करें। निदान उन्होंने दिन-रात की दौड़-धूप के उपरान्त फ्रांसीसी शांति मित्र-मण्डल की स्थापना कर ही डाली। इस संगठन ने अनेक स्थानों पर युद्ध की आग भड़कने से रोक कर मनुष्य जाति की सगहनीय सेवा की।

अपनी इन सेवाओं के उपलक्ष्य में जनता ने श्री पासी को फ्रांसीसी संसद का सदस्य चुना। जहाँ जाकर वे अपनी सरकार पर यह प्रभाव डालने में सफल हो सके कि किसी भी प्रश्न को हल करने के लिये फिर चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक, राज बल का सहारा नहीं के बराबर ही लिया जाये। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इंग्लैंड के युद्ध समर्थक नेता विलियम रड्डर क्रैमर को अपना समर्थक बनाकर अन्तरासंसदीय संघ की स्थापना कराई जो एक लम्बे समय तक संसार में युद्ध रोकने और पण फैसलों के आधार पर समस्याओं का हल करने के लिये सफल होता रहा।

इस प्रकार व्यक्तिगत, सरकार तथा जनता की सहायता से श्री फ्रेडरिक पासी लगभग पैंतीस-चात्तीस वर्षों तक मानव जाति की सगहनीय सेवा करते रहे। इसी बीच में उन्हें अपने उद्देश्य में अनेक बार असफलता मिली किन्तु वे कभी निराश, हताश अथवा निष्क्रिय नहीं हुए।

चेचक का मसीहा—एडवर्ड जेनर

जैसा कि सभी जानते हैं कि चेचक एक भयानक रोग है। यह रोग चुटकियों में जंगल की आग की तरह फैल जाता है। इसके प्रकोप से विश्व में प्रतिवर्ष करोड़ों व्यक्ति पीड़ित होते हैं। जिनमें असंख्य लोगों की मृत्यु भी हो जाती है। इस प्रकोप से बचने का पहले कोई अवक उपाय न था। मानव को इसके आगे पराजय माननी ही पड़ती थी। इसके सिवा चार भी क्या था कि घुपकप सभी कुछ सहा जाय।

करीब डेढ़ सौ साल पहले चेचक की रोकथाम में एक टीका सफल हुआ और तभी से इस टीके का प्रचलन हो गया। इस टीके के आविष्कार का श्रेय है, एक अघेज डाक्टर एडवर्ड जेनर को। अपने विद्यार्थी जीवन में जेनर बड़े कल्पनाशील थे और सदा अपनी धुन में खोये रहते थे। कवि-हृदय होने के कारण उन्हें प्राचीन वानावरण से बड़ा प्रेम था। अतएव वे एक गाँव में ही बैठकर चिकित्सक के रूप में लोगों की सेवा करने में लग गए।

एक दिन सुबह गाँव की एक लड़की जेनर के पास अपने को दिखाने के लिए आई। उन्होंने लड़की से पूछा— क्या तुम पहले भी कभी बीमार पड़ी हो ? लड़की ने उत्तर दिया— जी हाँ— “मुझे गो-चेचक (काठपाक्स) हो चुकी है और इससे मैं अब चेचक से बची रहूँगी और जेनर के कानों में जब तब ये ही शब्द गुंजने लगे— ‘मुझे चेचक नहीं हो सकती क्योंकि मुझे गो-चेचक हो चुकी है।’ और इस अन्धविश्वास भरे शब्दों से जेनर की ठसुक्ता जागी। वही उसके वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य की शुरुआत थी।”

कार्य करने-करते यद्यपि जेनर को टीका लगाने की कला आ गई थी लेकिन उनके अन्दर के वैज्ञानिक को आशंका थी कि इसमें कुछ कमी है और इसमें अभी सुधार की गुंजाइश है। अपने लगाये टीकों का विश्लेषण करने पर उन्हें ज्ञान हुआ कि इनमें वे टीके असफल रहे, जो ऐसे लोगों पर लगाये गये थे, जो जानवरों की देख-रेख करते थे या जिन्हें गो-चेचक हो चुकी थी।

जेनर ऐसे ग्रामीण क्षेत्र के थे, जहाँ यह अन्ध-विश्वास काफी प्रचलित था कि गो-चेचक हो जाने से ऐसे लोगों को फिर चेचक नहीं होती। जेनर भी इस बात से सहमत थे लेकिन इसके प्रमाणों की आवश्यकता थी। यह संयोग वा सुअवसर भी एक ग्वालिन ‘सारा नेल्सी’ और आठ वर्षीय बालक ‘जेम्स फिक्स’ के रूप में उनके हाथ आया। सारा के गो-चेचक का एक फोड़ा दाहिने हाथ में और दो छोटे दाँने कलाई में फूटे थे। जेनर पूरी तरह स्तुब्ध थे कि निश्चय ही चेचक के कारण है। जेनर ने सोचा कि इन दोनों में गो-चेचक का पदार्थ यदि सक्रिय है, तो उस बच्चे पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ना चाहिए जिसको न तो चेचक और न गो-चेचक ही हुई है। १४ मई, १८७६ को उन्होंने जेम्स फिक्स की बांह में दो इन्जेक्शन की लगाये और उनमें सारा ग्वालिन के बड़े दाँने से कुछ द्रव्य प्रवेश कराया। पहले तो कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई दी और चार के चिह्न भी लुप्त हो गये लेकिन तभी वे लाल हो गए और धीरे-धीरे फूल गये। एक फोड़ा दिखाई दिया जो बढ़ने लगा। बालक जेम्स सात दिन तक भला-बुरा रहा पर आठवें दिन उसे बुखार हो आया पर दूसरे ही दिन वह आपसे आप ठीक हो गया। जेनर इससे प्रसन्न हुए कि प्रतिक्रिया गम्भीर नहीं हुई। लेकिन भविष्य में क्या होगा जेम्स चेचक से सुरक्षित रहेगा या नहीं, वह चिन्ता बनी रही।

जुलाई में जेम्स का दूसरा ज्वरदस्त प्रयोग शुरू हुआ। उन्होंने चेचक के दाँने से पदार्थ लेकर जेम्स पर सीधा उसका टीका लगाना दिया। यह भी नहीं सोचा कि उसका परिणाम क्या होगा ? जेम्स काफी परेशान रहे। उन्हें नींद न आई। रात भर बेचैन रहे और अपने निद्रान कक्ष में इधर उधर चहलकदमी करते रहे। यह सोचने लगे कि कहीं गलती न हो गई हो, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। दिन बीतते गये और टीके के सभी चिह्न मिट गये। जेम्स पर सक्रियण के कोई लक्षण नजर नहीं आये और इस बात से जेम्स को गो-चेचक के रक्षात्मक महत्व पर पक्का विश्वास हो गया।

जेनर इस बात की सफलता पर आनन्दान्तरेक से उछल पड़े और उन्होंने जेम्स को अपना ही पुत्र मान लिया। उनके लिये उन्होंने

बाद में एक मकान भी बनवा दिया। पर अभी जेनर चुप नहीं बैठे उन्हें शंका थी कि लोग अभी ठीक से विश्वास नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपना अध्ययन एवं अनुसन्धान कार्य जारी रखा और सन् १७९८ में इस सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित की। पुराने किस्म के टीकों के समर्थक जेनर का मन्नाक उढ़ाने लगे। जनता भी उनके खिलफ हो गई और पाठरिक्तों ने भी कहना शुरू कर दिया कि “यह ईश्वर की लीला के विरुद्ध कार्य कर रहा है।”

इस परिस्थिति से जेनर भी कुछ हद तक उत्तेजित हुए क्योंकि आलोचना के प्रति वे सम्येदनशील थे। लेकिन यह आलोचना और विपरीत प्रदर्शन अधिक दिन न चले क्योंकि आलोचना की बातें वेबुनिच्छा थीं और फिर आयुर्विज्ञान की दो अन्य विधुनियों— पियर्सन और बुडविले— के समर्थन से तो सबके मुँह बन्द हो गए। फिर तो रुस की साम्राज्ञी एलीकज्येवना— एलेक्जेंडर प्रथम की पत्नी— ने जेनर को हीरा जड़ी एक अंगूठी भेंट की। इससे सामूहिक टीका अभियान को बहुत बल मिला और जनता में जोर-शोर से प्रचार शुरू हो गया।

चिकित्सा शास्त्र के इतिहास में चेचक के टीके का आरम्भ एक स्वर्गीय अध्याय का शीर्षक था। पर जेनर को इसके लिये अपनी प्रतिष्ठा की बाजी लगानी पड़ी। लोगों ने आलोचना करने के अनिर्दिष्ट यह भी कहना शुरू कर दिया था कि जेनर का टीका लगाने का तरीका बड़ा गन्दा है और वह अपनी बाल से धन बढ़ाना चाहता है। लेकिन चूंकि बात ऐसी नहीं थी और निरन्तर उलटे-सुलटे प्रयोगों के बाद जेनर ने हर तरह से अपने तरीके को सत्य और निरापद प्रमाणित कर दिया था, वे सहनशील होकर सब बातें सहते रहे।

आलोचनाओं के बावजूद संसार के अनेक भागों में जेनर के टीके का प्रचलन होता गया परन्तु कुछ स्थानों पर उग्र प्रदर्शन और दंगे-फसाद हुये। वेस्टन में तो प्रदर्शन ने ही भीषण दंगे का रूप धारण कर लिया था। न्यूयॉर्क, फिलाडेल्फिया और बाल्टीमोर में जनता ने टीका लगवाने में बड़ी आत्कन्तनी की और पेरिस से वेक्सीनेटरों के विरुद्ध काफी हस्ता-गुल्ता रहा।

परन्तु हर जगह हवा का एक ही रुख नहीं रहा। नेपल्स में एक धार्मिक जलूस ने टीके की दवा वाले जहाज का शानदार स्वागत किया। रेड इंडियन लोगो ने जेनर की बचाव वाली दवा का बड़ा अहसान माना और उन्हें अनेक कीमती उपहार भेंट में भेजे। इस प्रकार यह दवा जेनर के सपर्यको द्वारा स्पेन, केनरी द्वीप समूह, मेक्सिको ग्वाटे माला, दक्षिणी अफ्रीका, फिलीपाइन, चीन आदि विश्व के अनेक भागों तक पहुँचा दी गई। फिर तो चारों ओर से जेनर को बाहवाही मिलने लगी। फ्रांस में कानापार्ट ने जेनर के कार्य की सराहना की और सरकारी तौर पर टीका लगवाने के कार्य को प्रोत्साहित किया उसने एक सरकारी ऐलान भी निकलवाया और जब नेपोलियन सम्राट हुआ तो उसने सभी सैनिकों के लिए टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया। एक दिन सम्राज्ञी जोजोफिन के सामने ही नेपोलियन को एक पत्र प्राप्त हुआ। जिसमें अंग्रेज सैनिक की रिहाई की माँग की गई

थी। वह अस्वीकृति का आदेश देने की बले में तभी जेजीफिन ने याद दिलाई कि वह जेनर का पत्र है। वह सुनते ही नेपोलियन ने एकदम भाव बदल कर कहा—“अह! जेनर की मैं कोई बात गम-जूर नहीं कर सकता। उस ब्रिटिश सैनिक की अवश्य रिहाई कर दी जायेगी”

चेचक के इस मसीहे के प्रति मानवता चिरकामी है। विषम परिस्थितियों में भी जेनर ने धैर्य नहीं छोड़ा और निःस्वार्थ भाव से मानव-कल्याण की भावना से पूर्ण होकर परोपकार के आदर्श की ऊँची सीढ़ी स्थापित कर गया। अब संसार इस रोग के प्रति कितना निर्भय और निःशंक है? इसका सारा श्रेय एडवर्ड जेनर को ही है।

पागलों के मित्र—डॉ. फिलिप पिनेल

मानवता के पीछे पागल हो जाने वाले और उसकी सेवा में अपने को बर्बाद कर देने वाले मानव देवताओं को अधिनन्दन करण जिस दिन संसार भूल जायेगा, वह दिन संसार में सभ्यता के सुर्वास्त की सन्ध्या होगी और जब तक अधिनन्दन होना रहेगा उनके पागलपन का अर्थ लगाया जाता रहेगा, मानव सभ्यता का सूर्य अपने तेज के साथ चमकता रहेगा।

फ्रांस के डॉक्टर फिलिप पिनेल को अगर लोग पूरा नहीं तो आधा पागल तो समझते ही थे और उन्हें ‘अयोग्य डॉक्टर’ की उपाधि दे रखी थी। इसका वास्तविक कारण यह नहीं था कि उनके रिपाग में कोई छपकी तो - बात दरअसल यह थी कि उन्हें पागलों के साथ बहुत अधिक सहानुभूति थी और वे चाहते थे कि इन मुग्ध मनुष्यों के साथ भी मनुष्यों जैसा ही व्यवहार किया जाये।

१७९१ में उस जमाने में पागलों के साथ न तो आज जैसा सद्व्यवहार किया जाता था और न कोई वैज्ञानिक उपचार। हर पागल को भारी-भारी जंजीरों में जकड़ दिया जाता था और जब तब उनका दिमाग ठीक करने के लिये हन्टरों से मारा जाता था। पागलों के उपचार की यह एक आम व्यवस्था थी।

डॉ. फिलिप पिनेल निरपराध पागलों की यह यतना देखकर रो उठते थे और उनके लिये परमात्मा के नाम पर दया की भीख माँगने लगते थे। अच्छे-ख़से डॉक्टर को ऐसा करते देखकर लोग उन्हें भी पागल या सनकी समझने लगे। उन्हें अपने इस दयाभाव के लिये न जाने कितनी बार अपमानित, निरस्कृत और उपहासस्पद होना पड़ा। किन्तु उन्होंने अपनी पुकार बन्द नहीं की। जब वे अपना सारा काम-धन्धा छोड़ कर पागलों के उद्धार का प्रयत्न और उनके साथ मानवता का व्यवहार करने की पुकार करते रहे तो लोगों ने सोचा कि सुन लो आखिर यह पागल डॉक्टर चाहता क्या है।

निदान पागलों की रखवाली करने वाले अपरम्पों के दूखने पर उन्होंने कहा कि पागल भी आदमी है और इस नाते वह अत्याचार अथवा भ्रष्टा के नहीं सहानुभूति के पात्र है। पागल होने में इनका अपराध क्या है? जो इनको इस बुरी तरह पागल करता है। जिसको

अपना देश नहीं उसे दोषी ठहराना कर्त की मानवता है? मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि इनके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाये तो निश्चय ही इनमें से बहुत-से ठीक हो सकते हैं।

बात सरकार तक पहुँची और उसने डॉ. फिलिप पिनेल को पागल समझकर पागलखाने का इस विचार से प्रबन्धक बना दिया कि पागलों की पार खाकर इसकी मानवता का भूत उतर जायेगा।

पागलखाने में पहुँचकर वहाँ के अधिकारियों से अनुरोध कर डॉ. फिलिप पिनेल ने पागलों की हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ खुलवा दीं और मारने की सख्त मुमानियत कर दी। उन्होंने उनके साथ मन्त्री सहानुभूति के साथ सद्व्यवहार और मानसिक उपचार शुरू किया। यद्यपि उन्हें इसी रुक्मर्य में काफ़ी कष्ट उठाने पड़े किन्तु वे अपने प्रयत्न में लगे ही रहे। जिसका फल यह हुआ कि सद्व्यवहार की शालीनता से बहुत-से पागल पूर्वपिछा अधिक ज्ञान रखने लगे और अनेक साधारण पागल तो अच्छे भी हो गये।

डॉ. फिलिप पिनेल की इस सफलता से बुद्धिमानों का विश्वास बढ़ता गया और पागलों के उपचार को मनोवैज्ञानिक विधि भी गणेश हो गया। आज पागलखाने और पागलों के मानसिक उपचार का जो विकास दिखाई देता है और पागलों के प्रति जनसाधारण में जो सहज दया, क्षमा एवं सहानुभूति का भाव दिखाई देता है इसका श्रेय उसी डॉ. फिलिप पिनेल को है जिन्होंने उनके उद्धार के लिये अपने को पागल बना डाला।

पीड़ित मानवता के ये अनन्य पुजारी—फोलेरू

आप साधारण व्यक्ति से हमेशा मिलते रहते हैं। सबको अपने करम लगे हैं, सिन्दगी की पट्टी खींचनी है। उन्हें अपनी ओर अपने बीबी-बच्चों की चिन्ता से ही फुरसत नहीं है। किन्तु हम आज आपका उन असाधारण व्यक्तियों से परिचय करवेंगे, जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीते हैं। उनके सिर पर केवल अपनी या अपने परिवार की ही चिन्ता सवार नहीं है, किन्तु उन लोगों की चिन्ता भी सवार है, जो समाज से सर्वथा न्याय्य एवं उपेक्षित हैं। जिनके जीवन का सुख और आनन्द एक महबूब ने लीन लिया है।

आज किसी न किसी स्त्रिययात्रा में अवश्य गये होंगे ऐसे तीर्थ स्थानों में जो रास्ते देव-मन्दिर को आते हैं, उनके दोनों किनारों पर आपने ऐसे मानव दूरधारियों को अवश्य देखा होगा जिनके अंग लुंज पुख हो चुके हैं और जिन्होंने उन अंगों पर पैले कुचले चिथड़े लपेट रखे हैं। ये देव-दर्शनार्थियों से दया की भीख माँगते रहते हैं और दर्शनार्थी एक-दो पैसे उनकी ओर फेंककर तेजी से आगे बढ़ जाते हैं। दर्शनार्थियों को यह सोचने की फुरसत ही नहीं होती कि वे प्राणी कर्त से आये हैं और दया की भीख माँगने यहाँ क्यों बैठे हैं? उन्हें देखकर कई लोगों के मन में घृणा का भाव भी पैदा होता है किन्तु वे यह नहीं सोच पाते कि इस असचिक्कर दृष्ट को कैसे हमेशा के

लिए खत्म किया जा सकता है। वह कुष्ठ रोग की महाव्याधि से पीड़ित मनुष्य हमारे मानवता के लिए चुनौती हैं, किन्तु हम उस चुनौती को लगातार उपेक्षा करने आये हैं।

जिन असाधारण व्यक्तियों से हम आपको परिचय कराना चाहते हैं। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और कुष्ठ रोगियों की पीड़ा से उनका हृदय विह्वल हो उठा। उनकी चिन्ता का एकमात्र विषय यह हो गया कि इस पृथ्वी से किस प्रकार इस भयानक महाव्याधि को समाप्त किया जाय और उन अभिन्न व्यक्तियों को इस अभिशाप से किस तरह मुक्त किया जाय। उन्होंने अपना सारा जीवन इस महान् ध्येय के लिए समर्पित कर दिया और जो आत्मिक आनन्द उन्हें कुष्ठ रोग से लड़ने में मिला, उसका और किसी बात में नहीं मिला।

शायद आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि वे महाभाग कौन हैं और किस देश के हैं? इनमें से एक तो फ्रांस के नागरिक हैं और उनका नाम मोशियो फोलेरू है। ३५ वर्ष पूर्व वे एक पत्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अक्सर पत्रकार का हृदय पत्थर की तरह कठोर हो जाता है। अच्छे-बुरे घटनायें उसकी आँखों के सामने से आये दिन गुजरती रहती हैं और वह निर्विकार भाव से उन्हें पीछे छोड़ता चलता है। हमारे इन पत्रकार मित्र को अदेश मिला कि वह अफ्रीका का दौरा कर अपने पत्र के लिए सामग्री जमा करें। वे वहाँ सहारा मरुस्थल को एक मोटर में बैठ कर पार कर रहे थे कि एक दिन नइजर नदी के किनारे उनकी मोटर को लुज-पुज व्यक्तियों की एक भीड़ ने घेर लिया। फोलेरू के सभी भाग छड़े हुए। पत्रकार महोदय ने अपने मार्गदर्शक से पूछा—‘ये लोग क्यों भटक रहे हैं?’ उत्तर मिला—‘इनका न कोई घर है, न गाँव। वे कुष्ठ रोगी हैं, जिन्हें कोई आश्रय नहीं देता और इसीलिए वे बेचारे अपने भाग्य को कोसते हुए एक जगह से दूसरी जगह इस प्रकार भटकते रहते हैं।’

इस घटना ने पत्रकार की जीवनभारा दूसरी ही दिशा में मोड़ दी। उन्होंने अनुभव किया कि बड़े से बड़े अपराधी को समाज इतना क्रूर दण्ड नहीं देता, जितना कुष्ठ रोगी को मिलता है। उसे अछूत समझा जाता है। उसे बहिष्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है और सारे जीवन में तिरस्कार तथा घृणा का असह्य दुःख भोगना पड़ता है। पत्रकार महोदय ने तय किया कि वे इन अभागों को गले लगायेंगे और उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझेगे। उन्होंने उस पीड़ा को समाप्त करने का द्रव ले लिया।

आजकल वे मोशियो फोलेरू पेरिस के एक छोटे से मकान में रहते हैं, किन्तु कुष्ठ रोगियों की चिन्ता उन्हें चैन से बैठने नहीं देती। जब से उन्होंने पीड़ित मानवता की सेवा के इस पुण्य कार्य को अपनाया है वे दुनिया के इकतीस चक्कर काट चुके हैं। जहाँ जाते हैं, दिन हो या रात कुष्ठ रोगियों की बात करते हैं। उनके लिये क्या जमा करते हैं, उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करते हैं, उनके पुनर्वास की योजनाएँ बनाते हैं और उनके प्रति सम्मान और शासन के अन्तःकरण को जगाते हैं। उन्होंने अब तक इस कार्य के लिये लाखों रुपया जमा किया है किन्तु उसे वह कुष्ठ रोगियों की घरोहर मानते हैं और उसमें से एक पैसा भी स्वयं पर खर्च नहीं करते।

मोशियो फोलेरू ने सबसे पहला काम यह मालूम करने का किया कि दुनिया में कुष्ठ रोगियों की संख्या कितनी है? महीनों की खोजबीन के बाद पता चला कि दुनिया में करीब एक करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं। बाद की जाँच-पड़ताल से पता चला है कि यह संख्या बढ़ रही है और अब वह डेढ़ करोड़ तक पहुँच गई है। भारत में कुष्ठ रोगियों की संख्या करीब ४ लाख है। वियतनाम में ६० हजार और जापान में ७० हजार है। चीन और योरोप में भी कुष्ठ रोगी हैं किन्तु अफ्रीका में इनकी संख्या सबसे अधिक है।

कुष्ठ रोग निवारण के लिए आज सारी दुनिया के लोग प्रयत्नशील हैं। यह खुशी की बात है इसके लिये एक विशेष दिन समारोहपूर्वक मनाने का विचार मोशियो फोलेरू के दिमाग में पैदा हुआ था और आज वह दिन दुनिया के १२७ देशों में मनाया जाता है। हमारे देश में भी इस वर्ष ३० जनवरी को वह दिन मनाया गया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का निर्वाण दिवस भी इसी दिन है। गाँधी जी कुष्ठ रोगियों की चिकित्सा में बहुत दिलचस्पी लेते थे। उन्होंने अपने सेवाश्रम आश्रम में कुष्ठ रोगी श्री परचुरे शास्त्री को आश्रय दिया था और स्वयं अपने हाथों से उनके जख्मों की मरहम-पट्टी किया करते थे।

महात्मा गाँधी के अनुस्मरण कुष्ठ—गरीबी, गन्दगी और अज्ञान को सन्तान है। अगर हमें यह विकृत सन्तान नहीं चाहिए तो सबसे पहले हमें गरीबी, गन्दगी और अज्ञान से जूझना होगा।

मोशियो फोलेरू जैसे महापुरुष भारत में भी मौजूद हैं। वे महापुरुष हैं और उनका नाम श्री बाबा आपटे है। वे स्वतन्त्रता संग्राम की आग में भी राप चुके हैं। नागपुर के निकट चन्द्रपुर जिले में बसेरा एक छोटा-सा नगर है। उसके पास ही कुष्ठ रोगियों के लिए एक बड़ा केन्द्र आपटे जी चल रहे हैं। जहाँ ५७ सौ कुष्ठ रोगी रहते हैं वहाँ इनकी चिकित्सा भी होती है और उन्हें खेती तथा अन्य उद्योगों में लगवाया जाता है। इस कुष्ठ केन्द्र का आपटे जी ने नाम रखा है—‘आनन्दवन’ और वह सचमुच सैकड़ों पीड़ितों में आनन्द की सृष्टि कर रहा है।

आपटे जी कुष्ठ रोगियों के संकट कैसे बने? इसकी भी बड़ी दिलचस्पी कहानी है। वे पहले बसेरा नगरपालिका के अध्यक्ष तथा एक नामी वकील थे। एक बार नगर के सफाई कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। बरखात के दिन थे। गन्दगी बढ़ चली और नगर में बीमारी फैलने का खतरा पैदा हो गया। तब आपटे जी से पता चला और उन्होंने स्वयं पाखानों की सफाई शुरू कर दी। इसी दौरान उन्हें बस्ती के बाहर अन्धों में एक गठरी-सी पड़ी दिखाई दी। वह एक कुष्ठ रोगी था, जिसके हाथ-पैरों की अंगुलियाँ और दूसरे अंग गाल चुके थे। वह पीड़ा से कण्ह रहा था। कायद मौन की आखिरी घड़ियाँ गिन रहा था। आपटे जी ने सिर पर से मैल का टोकरा एक ओर रख दिया। उसे पीठ पर लास्य और सुरक्षित स्थान पर ले गये। बाद में उसके लिये एक स्वतन्त्र कुटिया बनाई और उसकी बड़ी सेवा-सुश्रूषा की किन्तु उसके प्राण न बच सके। आपटे जी के हृदय को इससे बड़ा धक्का लगा और बाद में उन्होंने अपना जीवन ही कुष्ठ रोगियों की सेवा में समर्पित कर दिया। आज ‘आनन्दवन’ में सैकड़ों रोगी

स्वस्थ होकर कृषि, बढ़ईगरी, टीन-उद्योग, घेस आदि के कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर स्वाभिमानपूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सस्या को विदेशों से भी पर्याप्त सहायता मिलने लगी है और संस्था दिन पर दिन प्रगति कर रही है। आनन्दवन आज कुम्ह रोगियों की भारत में सबसे आदर्श संस्था है।

पीड़ित मानवता के इन सेवकों और पुजारियों के आगे सिर झुका से झुके बिना नहीं रह सकता।

मानवता का सच्चा सेवक—लुई पास्ट्यूर

मानवता की सेवा करने के लिए किस प्रकार की तत्परता, तन्मयता, त्याग एवं तपस्व्य की आवश्यकता पड़ती है? यदि कोई यह जानना चाहे तो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक लुई पास्ट्यूर के जीवन पर दृष्टिपात कर ले।

लुई पास्ट्यूर का जन्म फ्रांस के होल नामक स्थान पर २७ दिसम्बर सन् १८२२ ई. को हुआ। इनका परिवार अस्तव में एक मजदूर परिवार था। इनके पिता चमड़े का सभारण व्यवसाय किया करते थे।

घर का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि लुई पास्ट्यूर को पढ़ने-लिखने में कुछ रुचि नहीं थी। किन्तु उनके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र पढ़-लिखकर एक अच्छा विद्वान् बने और संसार में नाम पैदा करे।

लुई पास्ट्यूर जब-जब पिता का हाथ बँटाने के लिए उनके साथ काम करने बैठता था तब-तब वे उससे कह कर लेते कि—लुई! मेरी बड़ी इच्छा है कि तुम पढ़-लिखकर विद्वान् बने। किन्तु मैं देखता हूँ कि मेरी यह इच्छा पूरी न हो सकेगी। एक तो मैं ही मेरी परिस्थिति तुम्हें ठीक शिक्षा दिला सकने योग्य नहीं हूँ, दूसरे यदि मैं अपना सर्वस्व बेचकर, भ्रमण लेकर अथवा भूखा रहकर तुम्हारी पढ़ाई का प्रबन्ध कर भी दूँ तो तुम्हारा मन पढ़ाई की ओर न देखकर निराश हो जाता हूँ। ऐसा कहते-कहते लुई पास्ट्यूर के पिता की आँखें जब-तब गीली हो जातीं।

लुई पास्ट्यूर ने पिता की इच्छा की गहराई को अनुभव किया और हर प्रकार से पढ़ने का निश्चय करके प्रारम्भिक शिक्षा के लिये अरबोय की एक पाठशाला में प्रवेश ले लिया, किन्तु संस्कारवश उसकी बुद्धि विद्या प्राप्त करने की दिशा में गतिमान नहीं होती थी। उसे कक्षा में पढ़ाया हुआ पाठ न तो ठीक से समझ आता था और न याद होता था। इस कारण वह कक्षा में सबसे बुद्धू समझा जाता था। पढ़ाई के विषय में उसे मन्दबुद्धि समझ कर शिक्षकों ने उसकी ओर से निराश होकर ध्यान देना छोड़ दिया और राय दी कि वह पढ़ाई छोड़कर कुछ व्यवसाय करना शुरू कर दे, यही उसके जीवन के लिये अधिक हितकारी होगा।

लुई पास्ट्यूर को अध्यापकों की इस उपेक्षा तथा अपनी मन्दबुद्धिता पर घोर खेद हुआ। एक बार उसने पढ़ाई छोड़कर पुनः पिता के व्यवसाय में पदार्पण करने की सोची। किन्तु पिता के आँसुओं की याद आते ही उसने पुनः अपना साहस संचय किया और पढ़ने

में जी-जान से जुट गया। उसने अपना अध्ययन किया और अपनी कमी खोज निकाली। उसकी समझ में ठीक-ठीक आ गया कि अध्ययन में उसकी अगति का कारण उसका आत्मविश्वास ही है। उसने कुछ ऐसी ही धारणा बना ली है कि उसे विद्या अब ही नहीं सकती और उसकी वही धारणा उसकी बुद्धि पर मोर्चा बनकर लगी हुई है जिससे वह शिक्षा में प्रगति नहीं कर रहा है।

लुई पास्ट्यूर ने अपना आत्मविश्वास जगाया अपनी निराशापूर्ण धारणा को दूर किया और विश्वासपूर्ण अध्ययन में सलग्न हो गया। ऐसा करते ही उसे अपने अन्दर एक ऐसी जीती जागती प्रखर शक्ति का आभास मिला जो पुनः-पुनः कर कह रही थी—“लुई! अस्मर का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो लगनपूर्ण पुरुषार्थ के बल पर न किया जा सके। निरन्तर सच्चे मन से लगे रहने से मनुष्य रेत से तेल प्राप्त कर सकता है तब विद्या प्राप्त करना कौन बड़ी बात है। वह तो अपने जिज्ञासुओं को स्वयं प्राप्त हो जाती है। मनुष्य को न तो कभी हिम्मत हारनी चाहिए और न निराश होकर प्रयत्न से विमुख होना चाहिए। असफलता से हतोत्साहित होकर निरुपाय हो जाना पुरुष को शोभा नहीं देता। असफलता मनुष्य की अधमता की द्योतक नहीं होती बल्कि यह प्रयत्न की कमी की संबोधक संयोग ही होती है। पूरी लगन से काम में जुट जाओ, शीघ्र ही तुम सफलता का बाण करोगे।”

आत्मा का उद्बोधन पाते ही लुई पास्ट्यूर ने अपने को प्रयत्न के पारवार में डुबा दिया। अब वह कोई मन्दबुद्धि लड़का न था बल्कि कुशाग्र बुद्धि छात्र था।

अरबोय में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करते ही लुई के पिता ने उसे उच्च शिक्षा के लिये पेरिस भेज दिया। जहाँ वह इकोल नारमेल नामक एक ऊँचे विद्यालय में प्रवेश लेकर पढ़ने लगा। किन्तु कुछ ही समय में पेरिस के अनिश्चित तथा अनवरत कोलाहल तथा शोर-गुल से उसका जी ऊब गया और वह पिता की अनुमति से घर में कुछ ही दूर वेस्कास के एक कॉलेज में अध्ययन करने लगा।

वेसास-कॉलेज की शिक्षा पूर्ण करने के बाद लुई पास्ट्यूर की इच्छा रसायनशास्त्र का अध्ययन करने की हुई, जिसके लिये उसे पुनः पेरिस जाना पड़ा। चूँकि पेरिस के सिवाय ससाधनिक अध्ययन के लिये कोई अन्य स्थान नहीं था, इसलिये उसने अबकी बार नगर के कोलेजहल से ऊबने के बजाय उसका अभ्यस्त बनने की कोशिश की कोलेजहल से अप्रभावित रहने के लिये उसने अपनी एकत्र तन्मयता को और अधिक केन्द्रीभूत कर लिया। जिससे वह एक प्रकार से कोलाहल-शून्यता की स्थिति में रहने लगा। सच्ची लगन से काम करने वाले किसी बाल्य वातावरण अथवा परिस्थिति को काम में विघ्न छलने वाला बताकर कार्य से मुख मोड़ने का बहाना नहीं निकालते बल्कि घोरतम विपरीत परिस्थितियों में भी अंगद के चरण की तरह अपने कर्तव्य पर अटल रहते हैं। उन्हें छोटी-मोटी परिस्थितियों काम से अखाड़ नहीं पड़ती।

पेरिस में इकोल नारमेल कॉलेज में घरती होकर लुई पास्ट्यूर ने केवल रसायनशास्त्र का ही अध्ययन न किया बल्कि चिकित्सा शास्त्र

५.४६ महान् पुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

में भी पारंगति प्राप्त की। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जीवन के प्रारम्भिक काल में जो लुई पास्ट्यूर मन्द-बुद्धि कहा जाकर उपेक्षा का पात्र बना था वह अब परीक्षाओं पर परीक्षार्थी और विषयों पर विषय पार करता चला जा रहा था। जिम्मे आत्मविश्वास के साथ पर्याप्तपूर्ण पुरुषार्थ करना सीख लिया है, बुद्धि को निर्णायक गुण से गौरवान्वित कर लिया है और अपने विचारों में सूझ-बूझ का प्रवाह धर लिया है। किसी भी विषय अथवा दिशा में गति में प्रतिरोध होना सम्भव नहीं।

पेरिस के अध्ययन काल में लुई पास्ट्यूर का सम्पर्क विज्ञान के महान् विषय से भी हुआ जिससे उसको सच उस ओर हो गई और उसने वैज्ञानिक बनकर संसार का हित करने का विचार बना लिया। उसके इस विचार को रसायनशास्त्र के पारंगत विद्वान श्री जीन बैप्टिस्टे ड्यूमा के ओजस्वी भाषणों ने और भी पक्का कर दिया, जिनके अन्त में विज्ञान के विद्यार्थियों से अपील किया करने थे कि वे अपनी योग्यता का उपयोग केवल स्वार्थ साधन के लिये न करके उसका उपयोग रोग पीड़ित मानवता की रक्षा करने के लिये भी करें।

डॉक्टर ड्यूमा की अपीलें लुई पास्ट्यूर के हृदय में गूँज बन कर धर गई। जिनसे वह एक आदिष्णरक की दृष्टि से विज्ञान के अध्ययन में डूब गया।

इकोल नारमेल कॉलेज से उपाधि प्राप्ति पर लुई पास्ट्यूर ने केवल छब्बीस वर्ष की आयु में डिजोन में भौतिक विज्ञान के शिक्षक का पद स्वीकार किया। उन्हें आशा थी कि अध्यापन काल में उनका अन्वेषण करने के लिये पर्याप्त साधन तथा अवसर मिल सकेगा। किन्तु परिस्थितियाँ उनके अनुमान के विपरीत निकलीं। पढ़ाने की तैयारी में सारा समय लग जाने के कारण उन्हें अपने अनुसंधान के लिये समय का अभाव रहने लगा। यद्यपि उन्हें इस पद पर पर्याप्त वेतन तथा रहन-सहन की सुविधाएँ मिली हुई थीं, तथापि अपने उद्देश्य में उक्त सुविधाओं को बाधक देख कर उन्होंने उसको बिना किसी संकोच के त्याग कर दिया और स्कार्सबर्ग में सहायक तथा प्रधान अध्यापक के पद पर कुछ दिन काम करने के बाद लिले में विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष का पद स्वीकार किया और अपना अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया।

लुई पास्ट्यूर ने जो सबसे पहला अनुसंधान किया वह था इम्ली के अम्ल से अंगूर का अम्ल बनाना। यद्यपि वह अनुसंधान कोई महत्त्वपूर्ण खोज नहीं थी तथापि इसका मूल्य इस माने में अवश्य है कि इसी एक खोज में अन्य अनेक वैज्ञानिक लगभग तीस वर्षों से लगे हुये थे। उनकी समस्या का हल करके लुई पास्ट्यूर ने उनके मस्तिष्क मुक्त करके उन्हें अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर मोड़ दिये।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुसंधान जो लुई पास्ट्यूर ने किया वह था विषैले जंतुओं द्वारा काटे जाने पर मनुष्यों की मरने से बचने के उपदानों की खोज। जेड़ों की चीरफाड़ के बाद जखमों में कीड़े पड़ जाने के कारणों की खोज और उसके उपचार की विधि निकालना। उपचार क्षेत्र में मानवता की सेवा का अनुसंधान एक महान् देन थी जिससे उस समय से आज तक असंख्य मनुष्य जखमों से सड़ने तथा उससे मरने से बचते चले आ रहे हैं।

इसके अनन्तर रेशम के कीड़ों के रोग को रोकथाम करने तथा उनके बीमार होने पर उनका उपचार करने की विधि का अन्वेषण एक बहुत बड़ी खोज थी, इससे रेशम के व्यवसाय में महान् लाभ हुआ। रेशम के कीड़ों के रोग तथा मरण के निवारण की खोज करने में लुई पास्ट्यूर ने छह वर्ष तक घोर परिश्रम किया जिससे एक बार वह इतना बेमार हो गये कि मित्रों से कहा कि— हो सकता है कि आप लोग मेरी बात सुनकर मुझे बचकर समझे किन्तु वास्तव में मैं मरना नहीं चाहता। मैं जीवित रहकर देश की अधिकधिक सेवा करना चाहता हूँ।

सबसे अन्तिम जो दो अनुसंधान लुई पास्ट्यूर ने संसार के लिये दिये उनसे मानवता का महान् हित हुआ। वे हैं पागल कुत्तों से काटे मनुष्य के इलाज का टीका तथा हैजा, प्लेग जैसे सक्रामक रोगों की रोक-थाम के लिये टीकों की खोज।

इस प्रकार जीवन भर बिना किसी वैयक्तिक लाभ के लुई पास्ट्यूर निष्पक्ष भाव से मानवता की सेवा में लगे रहे और भयानकतम रोगों से मनुष्यता की रक्षा के साधन प्रदान कर २८ सितम्बर, सन् १८९५ में स्वर्ग विभार गये।

महान् वैज्ञानिक और महान् मानव सर आइजक न्यूटन

विश्व-विख्यात वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन का जन्म भी ईसा की खन्म-तिथि २५ दिसम्बर, १६४२ ई. को वुल्सथोर्प नामक गाँव में हुआ था। तीन वर्ष की अवस्था में पिता के देहान्त तथा माता के पुनर्विवाह कर लेने से न्यूटन का स्वस्थान-पालन उसकी नानी पर आ पड़ा। आयु के प्रारम्भिक काल में ही अनाथ हो जाने से न्यूटन का मनोविकास रुक गया वह एक दीन-हीन बालक बनकर रह गया।

नानी ने उसे पढ़ने सिखाया जरूर लेकिन उसका मन पढ़ाई-लिखाई में बरा-भी नहीं लगता था। वह स्कूल में सारे दिन उदास बैठा रहता था। सारे साँची उसे खिझाया तथा परेशान किया करते थे। इसी तरह सहन करते-करते एक दिन उसकी मुठभेड़ एक हीतान लड़के से हो गई और न्यूटन ने जो-जान से ओर लगाकर उसे पछाड़ दिया। इस संयोग से न्यूटन जी-जान से प्रयत्न करने के महत्त्व की समझ गया।

उसने बड़े प्रयत्न से मन लगाकर पढ़ना शुरू किया जिससे कुछ ही समय में वह अच्ची कक्षा में सबसे तेज विद्यार्थी बन गया। अध्यापक उसकी इन परिश्रमशीलता की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित करने लगे। अपने पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ने वाला जो अन्यास ही चारों ओर से प्रशंसा एवं प्रोत्साहन मिलने ही लगता है।

इस प्रकार जब न्यूटन अपनी योग्यता के विकास में लगा हुआ था तभी सौतेले पिता की मृत्यु हो जाने पर उसकी माता ने उसे स्कूल उठाकर खेती-बाड़ी तथा जनवरों की देख-भाल में लगा दिया। न्यूटन का स्कूल अवश्य छूट गया किन्तु उसकी अध्ययन की लगन तथा विचरशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। वह चरागाह में

अपनी पुस्तकें ले जाना और पढ़ने में लग जाता। जानकर बिखर जाना, खेत चर जाते किन्तु न्यूटन को इसकी कोई खबर न रहती। वह अपने पढ़ने अधिक किसी चीज का मांडल बनाने में इतना तल्लीन हो जाता कि तीन दुनिया का ही भूत बैठता। न्यूटन की यही वह तल्लीनता थी जिसने आगे चलकर उसे एक विश्वविख्यात अन्वेषक बना दिया।

न्यूटन को माता उसकी इस विद्याविषयक तल्लीनता से अप्रसन्न रहती थीं। अनेक बार उसने इसके लिये उसे दण्ड भी दिया किन्तु माँ कह सहकर भी वह अपने अध्ययन में लगा ही रहा। माता ने उसकी इस आदत से परेजान होकर उसकी शिखरपत अपने भाई से की और उसे सीधे मार्ग पर लाने के लिये कहा। न्यूटन का माम एक बुद्धिमान व्यक्ति था। उसने न्यूटन की प्रतिभा को पहचाना और बहन को समझाते हुये कहा कि—इसे स्कूल में भर्ती कर दो वह बड़ा होनहार है। खेती-बाड़ी करना इसके बराबर का काम नहीं है। इसके काम का क्षेत्र तो पढ़ना तथा कुछ बड़ा काम करना है।

न्यूटन की माँ ने भाई की बात मानी और उसे पुनः स्कूल भेज दिया। यदि मनुष्य अपने ध्येय का सच्चा घनो है तो संसार का कोई भी अवरोध उसका मार्ग नहीं रोक सकता। लगनशील व्यक्ति का अवरोध यदि जान-बूझकर भी किया जाता है तब भी वह अपने अनवरत प्रयत्न से धिरा नहीं होता और इस प्रकार अपने प्रतिरोधी को धकाकर मार्ग से हट जाने के लिये विवश कर देता है।

न्यूटन दुबारा स्कूल पहुँच कर इतना प्रसन्न हुआ मानो उसने पुनर्जीवन पा लिया हो और इस बार वह पहले से भी अधिक तत्परता से अध्ययन में डूब गया। उसे यह आशाका हर समय बनी रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि उसकी माँ का विचार फिर बदल जाये और वह उसे स्कूल से उठा ले। इसलिये वह मिले हुये अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाकर अपनी शिक्षा पूरी कर लेना चाहता था। स्कूल के बाद वह घर पर भी हर समय अपने अध्ययन तथा प्रयोगों में लगा रहता था। वह एक क्षण भी बेकरार रहकर माँ को वह सोचने का अवसर न देना चाहता था कि न्यूटन के पास पढ़ाई के अतिरिक्त भी समय क्या रहता है। न्यूटन की इस बुद्धिमतापूर्ण उपयोगी चतुरता ने उसे जो कार्य व्यस्तता का लाभ पहुँचाया वह आगे चलकर उसके बहुत अधिक काम आया। काम करने की उसकी सारी वृत्तियाँ प्रबुद्ध हो उठीं और उसे मूर्तिमान कर्म का स्वरूप बना दिया।

न्यूटन का स्वभाव था कि वह संसार की हर गतिविधि को बड़े ध्यान से देख करता था। जिससे उसे एक छोटी से छोटी गतिविधि भी एक रहस्य भालूम होती थी और उसमें उसे खोज निकालने की जिज्ञासा जाग उठती थी, जिससे धीरे-धीरे वह वैज्ञानिक अन्वेषण की ओर प्रवृत्त हो गया।

कोई वैज्ञानिक खोज करने के पहले न्यूटन ने, जिस समय भी ए. की नैयारी की थी उसने गणित के दो नये सिद्धान्त खोज निकाले थे जिससे विद्वजनों के बीच उसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी और लोगों ने उसकी ओर ध्यान देने शुरू कर दिया।

अपने अन्वेषणों में न्यूटन ने एक पानी से चलने वाली घड़ी एक घूप घड़ी तथा एक खट्टा पीसने वाली पवन चक्की बनाकर छोटी आयु में ही बड़े पविष्य का आभास दे दिया था। अपनी इन प्रारम्भिक सफलताओं से न्यूटन का साहस इतना बढ़ गया कि उसने संसार को उपयोगी खोजें देकर मानवता की सेवा करने का संकल्प कर लिया।

मनुष्य में यदि कुछ करने की इच्छा है और वह उसके लिये ईमानदारी से प्रयत्नशील भी है तो कोई कारण नहीं कि वह अपने संकल्प में कृत-कृत्य हो सके। सच्ची लगन के लोगों का मस्तिष्क इतना ठहर हो जाता है कि एक छोटा-सा सूत्र पाकर वह सृष्टि के बड़े से बड़े रहस्यों को बाहर निकाल लाता है।

निरन्तर विचार क्रिया से न्यूटन ने अपने मस्तिष्क को इतना घाही बना लिया था कि एक बार बाग में घूमते हुये उसने पेड़ से एक सेब को गिरते देखा। उसके विज्ञानसु मस्तिष्क ने तत्काल ध्यान किया कि यह सेब टूट कर नीचे जमीन पर ही क्यों गिरा, ऊपर आकाश में क्यों नहीं गया? बस फिर क्या था? प्रश्न उठते ही न्यूटन का मस्तिष्क यन्त्र कारण खोजने की दिशा में गतिशील हो उठा। विचारों के स्तर पर स्तर खुलने लगे। एक के बाद एक रहस्यों के नक्षत्र कल्पना क्षितिज पर उदय और अस्त होने लगे। ऊपर मस्तिष्क की सूक्ष्म शक्तियों ने रहस्य बिन्दुओं को खोजना शुरू किया और इधर न्यूटन ने भौतिकता की कच्चीटी पर उनकी परख करने के लिए बयोग प्रारम्भ कर दिए। इस प्रकार न्यूटन पर अन्तर तथा बाह्य, विचार एवं क्रिया मिलकर प्रकृति का रहस्योद्घाटन करने पर एकमत हो गये। मनुष्य का मन, मस्तिष्क तथा इन्द्रियाँ जब एकलप होकर क्रियाशील होते हैं तब वह देवत्व की एक ऐसी कक्षा में पहुँच जाता है जहाँ पर जीवन और जगत के रहस्य उस पर स्वयं प्रकट होने लगते हैं।

न्यूटन सेब के पतन का कारण खोजने में डूब कर संसार को भूल गये और जब वे विचारधारा से निकल कर ऊपर आये तब उनके हाथ में 'गुरुत्वाकर्षण' का सिद्धान्त था।

अनेक वर्षों के अनवरत परिश्रम के बाद न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को खोज निकाला था और जिसके कारण उनका नाम संसार में फैल गया था। उस पर वे सहर्ष सन्तोष करके ही नहीं बैठ रहे थे। एक सीढ़ी से वे दूसरी सीढ़ी पर आगे बढ़े और इसी सिद्धान्त के बल पर अक्षरशील प्रकाश पिण्डों की गतिविधि की गणना कर डाली और एक ऐसी दूरबीन का आविष्कार किया जिसकी मदद से दूरस्थ ग्रह-नक्षत्रों की आसानी से देखा जा सकता था। इस प्रकार मानवता के कल्याण-कामी न्यूटन ने अपने को मिल-मिल खापाकर व्योमस्थ लोकों के लिए मनुष्य का प्रारम्भिक पक्ष प्रशस्त कर दिया। आज विज्ञान के बड़े हुए युग में भले ही हमें न्यूटन की यह खोज साधारण लगे और आधुनिक गृह-मंडलीय अधियान की तुलना में न्यूटन के सिद्धान्तों का हेंच समझें किन्तु यह मानना ही होगा कि आज की इस वैज्ञानिक उन्नति के शिलान्यास का श्रेय सर आइजक न्यूटन को ही है, जिसके लिए संसार सदैव उनका आभारी रहेगा। किसी क्रांति को मूर्तिमान कर दिखाने वालों की अपेक्षा उसकी चेतना देने वाला भी किसी दशा में कम अभिनन्दनीय नहीं होता।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तयुता न्यूटन की योग्यता और कीर्ति ने उन्हें अनेक शिक्षा संस्थाओं द्वारा आमन्त्रित कराया। यद्यपि उनकी इच्छा अध्यापन करने की नहीं थी तथैपि नये-नये वैज्ञानिक निर्माण करने के मन्तव्य से वे कैम्ब्रिज कॉलेज में गणित के प्रोफेसर हो गये। अध्यापन क्षेत्र में गये हुए उन्हें अभी दो हज़ार वर्ष हुए थे कि इंग्लैण्ड की महान वैज्ञानिक संस्था रॉयल सोसाइटी ने उन्हें अपना सम्मानित सदस्य बना लिया और अपने सूझ-बूझ तथा योग्यता के बल पर शीघ्र ही वे उसके अध्यक्ष चुन लिये गये। इस पद पर निरन्तर वे पच्चीस साल तक काम करते रहे।

इसके अनतिरिक्त वे यूनीवर्सिटी क्षेत्र से पार्लियामेण्ट के मेम्बर भी चुने गये और इंग्लैण्ड की सरकार ने उनकी खोजों से प्रसन्न होकर टकसाल का अध्यक्ष बना दिया तथा रानी ऐन ने उन्हें 'सर' की उपाधि भी दी।

भनुष्य के लगनशील पुरुषार्थ का यह कैसा जोता-जगता चमत्कार है और ज्ञान का कितना बोलता हुआ जड़ है कि एक दिन भई धराने वाला अनाथ बालक न्यूटन आज इंग्लैण्ड की टकसाल का अध्यक्ष था।

अपने इन सब उत्तरदायित्वों को संभालते हुये भी सर आइजक न्यूटन अपने खोज सम्बन्धी कार्यों में निरन्तर लगे रहे। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के बाद वे प्रकाश के सिद्धान्त की खोज कर रहे थे इसी बीच १७२७ ई. में ८५ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

न्यूटन ने बीस वर्ष के अनवरत परिश्रम के बाद प्रकाश सम्बन्धी अपने सिद्धान्त पूरे कर लिये थे, जिस समय कार्य पूर्ण करने के बाद वे मेज पर सारे कागज रखकर किसी कार्यवश बाहर गये, उसी समय कमरे में बैठ हुआ उनका कुत्ता एक चूहे पर इस प्रकार झपटा कि मेज पर रखा हुआ लैम्प गिर गया जिससे उनके प्रकाश सम्बन्धी सारे कागज धस्मीभूत हो गये।

जिस समय न्यूटन ने कमरे में आकर उस दृश्य को देखा तो आह करके कुर्सी पर पड़ गये। उनका कुत्ता पास आकर दुम हिलाने लगा। उन्होंने कुत्ते पर क्रोध करने के बजाय उसकी बपधण कर केवल इतना ही कहा— "प्यारे डायमण्ड ! तुम्हें पता नहीं कि तुमने मेरा कितना बड़ा नुकसान कर डाला है।"

नि सन्देह न्यूटन का यह धैर्य, वह समझौलता ऋणित्व के स्तर की थी। उन्होंने वह कज़ायात एक साधारण घटना की भांति सह लिया किन्तु कुत्ते पर जस-भी क्रोध नहीं किया।

सर आइजक न्यूटन ने अपनी सारी कमाई परोपकार में ही लगाई। न्यूटन अपने पर बहुत ही कम व्यय किया करते थे, अपनी सारी आय वे कुटुम्बियों तथा दौन-जनों की सहायता में ही खर्च किया करते थे।

अपने युग का महानतम व्यक्तित्व होते हुये भी न्यूटन में अधिमान की दुर्बलता नहीं थी। वे अपने विषय में कहा करते थे कि 'मैं सब के अगाध तथा असीम समुद्र के किनारे केवल सीप और शछों की बीनने वाला बालक हूँ।'

कहना न होगा इन्हीं महान् गुणों ने सर आइजक न्यूटन को संसार का महान् पुरुष बना दिया। इन गुणों को धारण किये बिना कोई भी

महान् नहीं बन सकता और जिसमें इन गुणों का विकास होगा वह महान् पुरुष बने बिना रह नहीं सकता।

मानवता-प्रेमी वैज्ञानिक— ओपेन हाइमर

हैनहर की बात है कि मानवता का एक एकनिष्ठ पुजारी को ही बाद में मानव के महाविनाश सम्बन्धी कर्मकांड होना भी बनना पड़ा। नियति का यह निष्ठुर परिणाम घटित हुआ है, विश्वविख्यात भौतिक विज्ञानी डॉक्टर राबर्ट ओपेन हाइमर के जीवन में जिनका देहान्त १८ फरवरी, १९६७ में अमरीक के न्यूजर्सी राज्य के प्रिंसटन शहर में हुआ।

मानव-कल्याण की ही वैज्ञानिक ओपेन हाइमर ने अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था। परमाणु बम के निर्माण के इतिहास में वो उनकी प्रधान भूमिका थी।

१९४२ का उत्तरार्द्ध 'आधी रात का समय' है। एकाएक टेलीफोन की घण्टी बज उठी, ओपेन हाइमर के शयन-कक्ष में। नींद खुल गई। एक गोपनीय और अत्यावश्यक सन्देश सुना उन्होंने फिर परमाणु बम-निर्माण-योजना के अधिकर्ता पद पर उन्हें मनोनीत किया गया है और अमरीकी सामरिक विभाग के मैनेजर जनरल लेस्ली ग्रूक्स इस विषय में उनसे परामर्श के लिये बहुत जल्दी आ रहे हैं।

अमरीक में परमाणु-बम निर्माण की इस योजना का सूत्रपात इस घटना के तीन साल पहले ही चुका था। १९३९ में महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि नाज़ी जर्मनी में परमाणु-विभाजन का कार्य काफी आगे बढ़ गया है और सम्भवतः जल्द ही वहाँ परमाणु बम का आविष्कार भी हो जाय। इसलिये अमरीक को भी अधिपत्य ही इस क्षेत्र में कार्य आरम्भ कर देना चाहिये। आइन्स्टीन की इस चेतावनी से प्रभावित और प्रेरित होकर रूजवेल्ट ने परमाणु-बम निर्माण योजना को तत्काल कार्यान्वित करने के लिये गुप्त प्रतिरक्षा-कोष से आवश्यक अनुदान की व्यवस्था की थी।

इसके पश्चात् १९४२ के अन्तिम चरण में लास एलाइस नामक नगर में अत्यन्त गोपनीय रूप से बनावटी नाम धारण करके तीन विश्वविख्यात वैज्ञानिक—नील्स बोर, एनरिको फेर्मि और राबर्ट ओपेन हाइमर परमाणु-बम-निर्माण सम्बन्धी गवेषणा में लग गये। अनेक निरीक्षण-परीक्षण के बाद उन्होंने परमाणु में अन्तर्निहित महाशक्ति के विकास की विधि का अन्वेषण किया। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि वह महाशक्ति सर्वप्रथम प्रयुक्त हुई विनाशास्त्र के निर्माण में, यद्यपि मानव-जाति के कल्याण के लिये भी इसके उपयोग की यथेष्ट सम्भावना थी।

सन् १९४५ की १६ जुलाई को एलायोगरडो रेगिस्तान में सबसे पहले परमाणु-बम का विस्फोट किया गया और उसके तीन हफ्ते बाद ६ अगस्त को जापान के हिरोशिमा शहर पर परमाणु बम सर्वप्रथम

गिराया गया। इसके तीन दिन बाद एक और नम डाला गया जापान के नागासाकी शहर पर। इन परमाणु बमों के गिराये जाने के बाद की दर्दनाक कहानी आज किसी से भी छिपी नहीं है।

पर इस सन्दर्भ में एक ऐसी बात भी है, जिसे बहुत कम लोग जानते हैं। और वह है, परमाणु-बम-योजना के प्रधान ओपेन हाइमर के बारे में। नागासाकी में परमाणु बम की ध्वंस-तीला की खबर जब ओपेन हाइमर के पास पहुँची, तब मानवता के पुजारी इस वैज्ञानिक को अन्तरात्मा अनुताप की लीज ज्वाला में दग्ध होने लगी। उन्हें लगा कि इतने निर्दोष व्यक्तियों की शोचनीय मृत्यु के लिये वे ही उत्तरदायी हैं।

उनकी यह अनुताप इतना गम्भीर था कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने परमाणु बम-योजना के अधिकर्ता पद से स्वीकार दे दिया। स्वीकार का कारण उन्होंने यह बतलाया— ‘मेरा काम मानवों को मारने के हथियार बनाना नहीं, भेरा काम है, मनुष्यों का कल्याण करना’।

१९४२ में परमाणु-बम-योजना के अध्यक्ष पद को स्वीकार करने से पहले ओपेन हाइमर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तथा कैलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी में प्रोफेसर थे। पुनः वे उसी पद पर काम करने लगे। १९४७ में वे इन दोनों संस्थाओं को छोड़कर प्रिंसटन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज के अध्यक्ष पद पर चले गये और १९६६ तक उसी पद पर कार्य करते रहे। प्रिंसटन में रहते समय उन्होंने महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के साथ भी काम किया।

श्री आइन्स्टीन की तरह ओपेन हाइमर की भी धारणा थी कि विज्ञान समस्त मानव-जाति की सम्पत्ति है और विज्ञान क्षेत्र में गोपनीयता नहीं होनी चाहिये। उनका कथन था कि गोपनीयता विज्ञान के अस्तित्व और उद्देश्य के मूल में कुतरघात करती है। इसलिए वे यह चाहते थे कि परमाणु-शक्ति के रहस्य का उद्घाटन संसार के सब वैज्ञानिकों के उपयोग के लिये होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिये वे कटु आलोचना और सन्देह का शिकार बने। अमरीका के कर्णधारों ने उन्हें इस ‘अपराध’ के लिये कई साल तक अवरुद्धता के कक्षगार में डाल रखा था। पर १९६३ में उन्हें जब अपनी गलती महसूस हुई तो परमाणुविज्ञान में अभूतपूर्व देन के लिये ओपेन हाइमर को उन्होंने ‘एनरिको फेरमि’ नामक बहुमूल्य पुरस्कार प्रदान किया।

१९०४ में न्यूयार्क के एक सम्पन्न बहूते परिवार में ओपेन हाइमर का जन्म हुआ था। १८ साल की अवस्था में हार्वर्ड विश्वविद्यालय से वे आनर्स के साथ स्नातक हुए। फिर उन्होंने इंग्लैण्ड की कैवेंडिश लेबोरेटरी में विख्यात वैज्ञानिक स्टारफोर्ड की देख रेख में कुछ समय तक अनुसन्धान किया। वहाँ से एक और महान् वैज्ञानिक मैक्स बोर्न उन्हें गोटिन्गेन विश्वविद्यालय (जर्मनी) में ले गये। वहाँ उन्होंने १९३७ में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद वे कुछ समय ज्यूरिच और लोडेन विश्वविद्यालय में रहे। १९३८

में वे अमरीका लौट आये और जीवन के अन्तिम दिन तक वहीं रहे ओपेन हाइमर केवल एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं थे, दर्शनशास्त्र के भी अनुसारी थे। भारतीय दर्शन का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था।

अध्यात्मवादी वैज्ञानिक—श्री प्लांक

विख्यात है कि वैज्ञानिक स्वर्गीय जो प्लांक के नाम से समस्त विज्ञान संसार परिचित है। इनके वैज्ञानिक अन्वेषणों का उद्देश्य न तो धन की प्राप्ति था, न पद लिप्स—और न यश की लालसा ही। कोय बुद्धि विलास मात्र भी न था वह। उन्होंने विज्ञान का सहारा लेकर जो अन्वेषण अथवा नवीन अनुसंधान किये वे उनकी आत्मा की ज्ञान-पिपासा से ही प्रेरित थे। उनका उद्देश्य मात्र लोकहित तथा मानवता की सेवा ही था।

श्री प्लांक का जन्म २३ अप्रैल, सन् १८५८ को जर्मनी के कील नामक शहर में हुआ। इनके पिता जर्मन विश्वविद्यालय में संबैधानिक विधियों के प्राध्यापक थे। आज भी जर्मनी में उनका स्मरण ‘प्रशियन सिविल कोड’ के विशेषज्ञ के रूप में आदर के साथ किया जाता है। भौतिक विज्ञान के प्रति रसि श्री प्लांक ने अपने पिता से ही विरासत में पाई थी।

यों सच तो कई व्यक्तियों को कई विषयों से होती ही है, किन्तु विशेषता तब उत्पन्न हो जाती है जब उसमें कोई अल्लेखनीय क्षमता अर्जित कर ली जाये।

धर्म के प्रति निष्ठवान प्लांक अपने अध्ययन में सम्पूर्ण शक्तियों के साथ जुट गये। १७ वर्ष की अल्पायु में म्युनिख विश्वविद्यालय में प्रवेश पाया। गुरु के रूप में गुरुताव किचहार्फ तथा हेल्फहोज जैसे महान् वैज्ञानिकों का सम्पर्क तथा मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और उसका स्थाप ठठकर इन्होंने मात्र २१ वर्ष की अवस्था में ही किचहार्फ के निर्देशित विषय पर ‘डॉक्टरेट’ की उपाधि प्राप्त की। सन् १८८५ में कील विश्वविद्यालय में आप प्राध्यापक नियुक्त हुए और केवल ७ वर्षों में ही अपने गुरु श्री किचहार्फ के स्थान पर बर्लिन विश्वविद्यालय में कार्य करने लगे। वह प्राप्ति उनकी परिश्रमशीलता तथा गहन अध्ययनशीलता की ही प्रतीक है।

भौतिकशास्त्र का आपने गहन अध्ययन किया तथा कई मूल्यवान शोध की किन्तु विज्ञान को जो इनकी सबसे बड़ी और सर्वाधिक मूल्यवान देन है वह है इनका ‘क्यात्मक सिद्धान्त’ जो ‘क्वांटम थ्योरी’ के नाम से जाना जाता है। यह उनके निरन्तर बीस वर्ष के श्रम का सुफल था।

इसमे इन्होंने यह सिद्ध किया है कि शक्ति का स्वरूप अखण्ड नहीं, अपितु कण्ठत्यक है। अर्थात् शक्ति अखण्ड रूप में प्राप्त न होकर हमें कणों के समूह के रूप में प्राप्त होती है। श्री प्लांक ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार पदार्थ की इकाई अणु है—उसी प्रकार शक्ति की भी इकाई है जो कणों के रूप में पाई जाती है।

जिस प्रकार कोई भी पदार्थ अणुओं का समूह मात्र है उसी प्रकार शक्ति शक्ति कणों का । इस कण को अंग्रेजी में क्वांटम नाम दिया गया है और प्लांक के इस कणान्तरिक सिद्धान्त को 'क्वांटम थ्यरी' ।

आपका इस शोध ने वैज्ञानिक जगत में हलचल उत्पन्न कर दी । अब तक के सिद्धान्तों के ऊपर यह अनूर्ध्व विजय थी । अब तक की बहुमूल्य पाण्याओं को इनकी कई खोजों ने सातहों प्रमाणित कर दिया था ।

आपका सर्वश्रेष्ठ विशेकना यह थी कि विज्ञान को सदा आपने मानव का 'हित साधन' ही माना । आपका कहना था कि— 'विज्ञान यदि मानवता के अहित को दिशा में अपने लक्ष्य बढ़ाना है तो वह विज्ञान ही नहीं है ।

एक बार श्री जेम्स हप्की ने पूछा— धर्म का स्थान विज्ञान और विशेषतः भौतिक शास्त्र, तेजो से लेना आ रहा है । पर क्या यह उचित है ?

यह प्लांक ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था । 'बात यह है कि मनुष्य जो धर्म की ओर आकृष्ट होता है इसका मूलकारण है उसकी आध्यात्मिक तृष्णा । वह उच्च की ओर प्रयाण करना चाहता है । विज्ञान को अपना जीवन समर्पित करने वाले अन्वेषकों की आराधना के पीछे भी यही रहस्य है । वस्तुतः धर्म और विज्ञान दोनों एक ही रुख की ओर उन्मुख होते हैं ।'

उपरोक्त शब्दों में उनकी धर्म के प्रति आस्था स्पष्ट परिनिक्षित होती है । विज्ञान को भी वे आध्यात्मिक शुधा का उपकरण मात्र ही मानते थे ।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन से उनका बहुत ही गहरा तथा स्नेह पूर्ण सम्बन्ध था । उन्होंने आइन्स्टीन को अपने गुरु ही बर्लिन बुला लिया था और वहाँ दोनों ने एक साथ काम किया ।

समय के कई देशों में, प्लांक की प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर कई राज उनके निर्देशों का लाभ उठाने उनके पास आने थे । प्रसिद्ध महिला अणु वैज्ञानिक डॉ. लीन निन्गेर आप ही की शिष्या थीं ।

आपकी विलक्षण बुद्धि तथा अपूर्व योग्यता के आधार पर आपको जीवन में बहुत सम्मान मिला । सन् १९१२ में उन्हें जर्मनी की विख्यात वैज्ञानिक संस्था 'प्रोशियन एकडेमी ऑफ साइंसेज' का गणनी नियुक्त किया गया ।

और सन् १९१९ में आपको विश्व के महानगरी पुरस्कार— 'नोबेल पुरस्कार' से विभाषित किया गया ।

सन् १९३० में सर्वोच्च सम्मान स्वरूप उन्हें जर्मनी की सर्वोत्कृष्ट विज्ञान सभा कैसर 'वॉलथन इन्स्टीट्यूट' का अध्यक्ष बनवाया गया ।

किन्तु प्लांक के जीवन में कभी इन सम्मानपूर्ण पदों के प्रति कोई आमांस्त अवस्था प्रसन्नता कहा देखी गई । वे तो अपनी साधना में ही लीन तथा व्यस्त रहने थे सदा । उन्हें कभी अपनी सफलताओं अथवा प्रशंसाओं का सुझोने, सवासने अथवा उनके प्रति सुख अनुभव करने का अवकाश ही न मिला । वे तो जैसे इन सबके प्रति अनासक्त, निर्लक्ष्य यागी का भोत ही थे । वे मात्र वैज्ञानिक ही नहीं, महान् तत्त्वज्ञ

थे । सभी वरिष्ठ वैज्ञानिकों ने उन्हें 'विज्ञान जगत का क्रांति' घोषित किया है । सभी उन्हें एक वरिष्ठ श्रद्धास्पद सूक्ष्मदर्शी विद्वान् मानते हैं ।

अपने सिद्धान्तों के प्रति उनकी निष्ठा अडिग थी । इसका एक ज्वलन्त उदाहरण निम्न घटना से मिलता है । इनकी तीन सन्तानें युवावस्था में ही परलोक प्रयाण कर चुकी थी— मात्र एक पुत्र बचा था । उसे हिटलर ने कुछ राजनैतिक कारणों से बन्दी बना लिया था तब उसने इनके पास सन्देश भेजा कि "यदि आप मेरी प्रति वफादारी का वचन दें तो मैं आपके पुत्र को मुक्त कर दूँगा— अन्यथा फांसी और मौत ।"

और सिद्धान्तों के प्रति संकल्पशील प्लांक ने उत्तर दिया— "मेरे एकमात्र पुत्र की हत्या आप कर सकते हैं । किन्तु मैं अपने सिद्धान्तों की हत्या नहीं कर सकता ।"

हिटलर यहूदियों का कट्टर विरोधी था जबकि प्लांक मानवता के पुजारी । प्रसिद्ध आइन्स्टीन ने आपकी वैज्ञानिक सिद्धि की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए एक स्थान पर लिखा है— "विज्ञान यदि मनुष्य की अन्तर्णीयता अपेक्षा एवं तिरस्कृत रखकर उसे पार कर जाये तो गति में वह चले सारे अन्तरिक्ष को नष्ट ले— उसे अपना गन्तव्य नहीं मिल सकता ।"

ऐसे वे अध्यात्मवादी वैज्ञानिक श्री प्लांक । जिनका निधन चार अक्टूबर उन्नीसवीं सैतालिस को हुआ ।

अनाथों को जोड़ने वाले कलाकार— हरमैन जो पेस्टोला जी

आस्ट्रिया का शहर, जो अभी खँकरी पड़ रहा था, एक दिन शहर की एक व्यस्त गली से निकल रहा था तभी एक बच्चे का रोने का स्वर सुनाई दिया । बच्चे को देखने से लगता था वह दूर से रो रहा है । किसी ने उसकी सहायता नहीं की । पूछा नहीं— "वह क्यों रो रहा है ?"

युवक रुक बच्चे से पूछा— "क्यों रो रहे हो बच्चे ?" बच्चा इतना ही कह पाया— 'पिताजी'— और-और वह बोल सकता होना तो बराबरा । ऐसे तो कई लोगो ने पूछा था पर जब कोई निश्चय भूता नहीं चल सका तो लोगों ने कहा— पुलिस अपने आप पता लगा लेगी कौन बच्चे की हैरानी मील ले । किन्तु भी देर भरकता मालूम नहीं यदि युवक न आता । छात्र ने बच्चे को गोद में उठाया । जब उसने यह सभ्यता लिवा कि बच्चा किसी ग्राणीय का है, छूट गया है बत्त नहीं सकता कौन है ? कहाँ का है ? तो उसे लेका घर चला आया । पुलिस की बात उसके मन में आई थी पर उस सहृदय आत्मा ने अपने आपसे पूछा— "क्या मानवता कानून से ही सुरक्षित रहनी चाहिये ? क्या जन-जीवन में उसके प्रति कुछ प्रेम, त्याग और सेवा का भाव नहीं आ सकता ?" आत्मा ने कहा — "आ सकता है— आना चाहिए अन्यथा ससार में मनुष्य की मनुष्य के प्रति कर्तव्य भावना टिक भी नहीं सकती ।"

बहुत पता लगाया पर बच्चे के अभिभावकों का पता न चला । तब वह एक दिन अनाथालय पहुँचा । उसने देखा यहाँ ऐसे सैकड़ों लड़के-लड़कियाँ पहले से ही विद्यमान हैं । युवक को देखते ही उनकी टोली दौड़ी चली आई । छात्र उन्हें वह छात्रों को बड़ी देर तक देखते रहे बच्चों ने समझा एक और अनाथ हमारे बीच आ गया और छात्र ने देखा— इन लड़कों के लिये खाने-पीने का प्रबन्ध है, कपड़े मिलते हैं शिक्षा की भी व्यवस्था है, खेलते-कूदते भी हैं पर अपने माता-पिता के पास रहकर खिल-खिलकर हसने और मस्खिल करने वाली मस्ती उनमें न देखी । उसे लगा अभी इनके जीवन में कोई अभाव है । स्नेह, सौजन्य और प्रेम का अभाव ।

बच्चों को अनाथालय पहुँचाकर युवक घर लौट आया पर लगा उसका कुछ खो गया है । खो, क्यों, अनाथालय में कूट गया है । सचमुच उसकी शान्ति और प्रसन्नता अनाथालय में खो गई थी । वह जितना विचार करता प्रश्न उठने ही गम्भीर हो उठते— लोगों की लापरवाही, गन्दे जीवन, क्रोध और बसना के शिकार कितने लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष अनाथ और परित्यक्त किये जाते रहते हैं समाज की उदारता— उन्हें रहने को स्थान मिल जाता है, खाने को अन्न और पहनने को कपड़े भी किन्तु क्या इतने से ही जीवन सन्तुष्ट हो सकता है ? मनुष्य की मूल आवश्यकता है प्रेम और स्नेह । सौजन्य और सहज आत्मीयता— वह न मिले तो पूर्वजन्म का संसार भी शोलों की तरह हो जाता है ।

उसके बाद से ही वह कई दिन अनाथालय गया । छूटे हुए बच्चों, परित्यक्त युवतियों और वृद्धावस्था में दुतकारे गये बुजुर्गों का वह जितना समीप से अध्ययन करता उसकी कल्पना उतनी ही तीव्र हो उठती । कई रात-दिन वह रुदपड़ता रहा । इसलिये कि वह अनाथालय काफी नहीं— मनुष्य को इससे भी आगे बढ़कर उन्हें इस तरह अपनाना चाहिए कि वे अपने पूर्व जीवन को बिल्कुल ही भूल जायें और नये संसार में इस तरह घुल-मिल जायें जैसे वह उसी का चिरकाल से अंग रहा हो । मानव जाति की विराट एकता को हम समझ सके लेते तो आज संसार में अशांति और असन्तोष का नाम तक न होता घण, बुराई, अपराध की तो बात कौन सेचे ?

पहले तो उसने एक नया आन्दोलन चलाने का निर्णय किया जिसका उद्देश्य था कोई सद्बुद्ध गृहस्थ किसी बच्चे को अपना ले, कोई किसी बालिका को गोद ले ले । परित्यक्ता स्त्री के लिये किसी स्थान में धर्म-पत्नी न सही बहिन की तरह स्थान मिल जाये तो किसी घर बुद्ध मार्गदर्शक की तरह रह लें । पर हम, हमारा मनुष्य समाज इतना उदार और परमार्थी कहाँ ? लोग इतने विचारशील कहाँ जो सारे विश्व को एक परिवार मानकर मेरा-तेरा का भाव निकाल सकें ? युवक की योजना निरर्थक गई । कुल अंगुलियों में गिनने योग्य ही इस योजना के समर्थक और सहायक निकले ।

तब एक और उपाय उसने ढूँढ़ निकाला । उसने सोचा क्यों न अनाथों को जोड़कर ही नये परिवारों का निर्माण किया जाये ? उसने अपने विचार राज्याध्यक्षारियों और पाटरीयों के सामने रखे पर सबने

योजना को बेकार और असम्भव ही बताया । युवक ने समाज की चुनौती स्वीकार कर ली । जब सारा संसार अपने स्वार्थ में लिप्त हो अपनी ही उन्नति और महत्वाकांक्षाओं में मग्न हो तब समाज के प्रति कर्तव्य भावना का आविर्भाव जगाने वाले इस युवक का आदर्श देवोपम प्रतिष्ठा ही थी जिससे समूहन और सहयोग देने वाले भी निकल ही आये । नये स्वतंत्र के सैकड़ों मित्र उसके हाँ लिए और इस तरह एक सभ की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य अनाथ बच्चों परित्यक्ताओं और नकारों को ढूँढ़कर उनके परिवार बसाना और इस कार्य में उनकी हर सम्भव मदद करना रहा गया ।

सन् १९४९ में सियोल नगर में पहला परिार बसाया गया । एक अर्धेड़ आयु के व्यक्ति से एक परित्यक्ता का विवाह कराकर उन्हें एक बूढ़ा पिता, एक बूढ़ा माता दो बच्चे सब एक तरह दहेज में दिये गये । पिता कहीं का, माता कहीं की बच्चों के घर-बार का पता नहीं वह स्वयं और पत्नी और इस तरह टूटे हुए लोगों को एक स्थान पर जोड़ने का वह अभूतपूर्व प्रयोग हुआ और वह इतना सफल रहा कि देखते-देखते उनकी संख्या आस्ट्रिया में ही २० से भी अधिक हो गई ।

इन सफलताओं ने और लोगों के भी ध्यान आकर्षित किये । अखबारों में उसकी खूब प्रशंसा की गई । पोप पाल छठवें ने उसे नाबेल पुरस्कार के लिये प्रस्तावित किया और दिलाया । सैकड़ों लोगों ने उसकी मदद की । आज फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और २० से भी अधिक देशों में इस तरह के सैकड़ों परिवार स्थापित हुये हैं जिनमें लाखों अनाथों से ईद-पेड़े की तरह स्त्री-बच्चों और पुरुष लें लेकर हजारों परिवार बसाये गये हैं । इनमें परस्पर प्रेम होता है । कर्तव्य भावना होती है, एक-दूसरे के लिये मोह, प्यार और दर्द होता है ऐसी नहीं लगता कि अब वे अनाथ हों । अनाथों को इस तरह सुभीने की विन्दगी दिलाने वाला वह कलाकार— हार्मन जी पेस्टोला जी आज भी अनाथ है उराका अपना कोई घर नहीं, पत्नी नहीं, बच्चे नहीं । सारा संसार उसका अपना हो गया है । अब उसे अपना घर बसाने को आवश्यकता भी नहीं रही । उसे विश्वमानव की आत्मा में ही अन्त्यसन्तोष और आनन्द मिल गया है ।

एक अकालग्रसित प्रतिभा— श्री रामानुजम्

कभी-कभी समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब वह कुछ ऐसे राजनीतिक, आर्थिक अथवा नैतिक समस्याओं में रूग्ण कर अनेक उन्नयन प्राप्ति करती हुई प्रतिभाओं की ओर ध्यान नहीं दे पाता और वे उपेक्षा की अग में घुलस कर मर जाते हैं ।

होनहार प्रतिभाओं की उपेक्षा करने में किसी तद तक समाज शीघ्र हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में वे प्रतिभाएँ भी क्या दोषी नहीं हैं जो स्वयं ही अपनी उपेक्षा किया करती हैं और समाज की कृपा की प्रतीक्षा करने हुए निकम्मा बँबी रहती हैं । अपनी प्रतिभा को

प्रकाशित करने का स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करतीं। सर्वथा समाज के सहारे बैठे रहने वाला, जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकते। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि दूसरों के सहारे उन्नति की कामना करने वाले वास्तव में उन्नति करना ही नहीं चाहते। वास्तविक मन से जो अपनी उन्नति के आकांक्षी होते हैं वे परमुखापेक्षी नहीं रहते, बल्कि अपनी निज की बुद्धि तथा पस्त्रिय से काम में जुट जाते हैं और हठात् समाज को अपनी ओर आकर्षित करके, उसे यह सोचने पर विवश कर देते हैं कि वह एक होनहार प्रतिभा है इसकी उपेक्षा करने का अर्थ है अपने हानि करना।

मद्रास प्रांत में जन्म लेने वाले श्री रामानुजम् की परिस्थितियाँ बड़ी ही संकुचित थी। उनके पिता की इतनी भी आय नहीं थी कि वे परिवार को दोनो समय पूरा भोजन दे सकें। किन्तु तब भी रामानुजम् ने अपने अध्ययन के बल पर अपना अध्ययन करके समाज के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

यही नहीं कि समाज ने भी उनको और कोई ध्यान नहीं दिया। ठीक है समाज ध्यान देता भी किस तरह? वह तो उनकी ओर ध्यान देता है जिनके आगे कुछ शेर होता चलता है और जिनके पीछे लक्ष्मी की चमक रहती है। उसे इतना अवकाश कहाँ कि वह वैभव-विभूति से जगमगाने हुए व्यक्तियों की ओर से अपनी दृष्टि हटा कर, उनकी ओर लगाए जो कठिन परिस्थितियों के बीच उन्नति एवं विकास के लिये संघर्ष करते होते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों को संसार ने कोई कमी नहीं है जो अपनी परिस्थितियों से मोर्चा लेते हुए और तिल-तिल आगे बढ़ते हुये समाज में सहायता की अपेक्षा नहीं करते। जबकि वह जो कुछ करते होते हैं या करना चाहते हैं वह सब होता समाज के हित के लिये ही ऐसे ही अङ्गिक तथा अधिष्ठान कर्मवीरों के निष्काम समाज सेवा कहा जाता है।

श्री रामानुजम् समाज की सेवा करना चाहते थे, किन्तु विशेष रूप से शारीरिक, सांस्थानिक अथवा आर्थिक सेवा वे नहीं करना चाहते थे। उनका झुकाव तो एक ऐसी स्थायी सेवा करने का था जो केवल अपने समाज अथवा राष्ट्र के ही लिए ही उपयोगी न हो बल्कि सारा संसार उसका लाभ उठा सके और ऐसी सार्वभौमिक सेवा एक मात्र ज्ञानदान के अतिरिक्त कुछ ही नहीं सकती। उनका विचार गणित के कुछ ऐसे नये सिद्धान्तों का अन्वेषण करना था जिससे गणित जैसा भीरस कहा जाने वाला विषय न केवल संचिपूर्ण ही बने बल्कि सरल भी बन आये। वे कुछ ऐसे सूत्रों का अविकरण करना चाहते थे जिन की सहायता से अनेक प्रकार के प्रश्न समान सरलता के साथ हल किये जा सकें।

देखने सुनने में तो यह बात बड़ी ही छोटी मालूम होती है कि क्या गणित के कुछ सिद्धान्त—इनसे संसार का क्या बनता—बिगड़ता है? किन्तु गणित के सिद्धान्तों का महत्व उन ज्योतिषियों से पूछो जो इनकी सहायता से ग्रह-नक्षत्रों की गति का पता लगाते हैं, उन वैज्ञानिकों से पूछो जो इनके उपयोग से प्रकृति के तत्वों को खोज निकालते हैं उन अर्थशास्त्रियों से पूछो जो इनकी मदद से संसार का अर्थ तन्त्र नियंत्रण में रखते हैं।

फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि कोई भी उपयोगी बात उपयोगी ही है फिर चाहे वह छोटी हो अथवा बड़ी। जो जिस रूप में जितनी भी समाज की सेवा कर सकता है, संसार का हित कर सकता है, उसे करना चाहिये। संसार के विकास में अपना अंशदान करना प्रत्येक का पावन कर्तव्य है। मनुष्यों के छोटे-छोटे अंशदान मिलकर समाज का कितना बड़ा धन हो सकता है इसका अनुमान अपने प्रतिष्ठा से किसी समय भी दूर नहीं करना चाहिये। किसी तालाब को भरने के लिये किसी को एक बूँद जल का धन करने में भी न तो संकोच करना चाहिये और न हजिमत होना चाहिये। जिनके पास जो भी साधन हैं, जेब भरपूर है उस पर संसार का हित करना मनुष्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

श्री रामानुजम् में न तो कोई दिव्य प्रतिभा थी और न कोई विलक्षण बुद्धि। हाँ इतना अवश्य था कि अपने विद्यार्थी काल से ही उन्हें गणित में विशेष रुचि थी। अन्य विषयों की अपेक्षा उनको गणित के प्रश्नों को तरह-तरह से हल करने में बड़ा आनन्द आता था। धीरे-धीरे जब वे सचने होने लगे तो अपनी इस विशेषता को पहचानने लगे। निदान उन्होंने अपनी अधिसूचि के लक्ष्य के रूप में बदलना शुरू कर दिया।

अपने इस गुण का महत्व तथा प्रामाणिकता को जानने के लिये रामानुजम् ने अध्यापकों के दिये प्रश्नों को नये-नये तरीकों से हल करके शिक्षकों के सम्मुख रखने शुरू कर दिये और उनसे प्रशंसा तथा सरहना पाते हुये उत्साहित होने लगे। अपनी प्रारम्भिक सफलता से प्रोत्साहित होकर उनका गणित के विषय में आत्मविश्वास जाग उठा।

यद्यपि रामानुजम् की इस विशेष प्रतिभा से लोग परिचित होने लगे थे किन्तु वे अपनी सहाय उपेक्षा वृत्ति के कारण कोई ध्यान न देते। वहाँ तक कि उनके माता-पिता ने भी पुत्र के भविष्य का कोई विचार किये बिना ही उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह कर दिया।

इस नये उत्तरदायित्व के आने से श्री रामानुजम् की सारी साधना भंग हो गई और वे पत्नी के भरण-पोषण की चिन्ता करने लगे। घर की परिस्थिति ऐसी न थी कि रामानुजम् के साथ उनकी पत्नी का भी भरण-पोषण किया जा सकता। फिर रामानुजम् की गैरत ही यह काम गवाह करती कि वे अपनी पत्नी के भरण-पोषण का भार अपने कम आय वाले पिता के सिर पर डालकर अपने गणित-सिद्धान्तों की खोज में लगे रहते। अब जब उन्होंने गृहस्थ जीवन अपना ही लिया था तो उसके सबाहन-कर्तव्य से विपुल किस प्रकार हो सकते थे। निदान इन्टर से पढ़ाई छोड़कर वे उपार्जन की चिन्ता में घूमने लगे। कुछ ही प्रयत्न से चात्तैस रुपये मासिक वेतन पर क्लर्क मिल गई।

यद्यपि इस प्रकार पिता के आर्थिक सहायक बनने के साथ साथ श्री रामानुजम् एक सदगृहस्थ भी बन गये तथापि उन्हें हार्दिक सन्तोष न हो सका। उनके मन में गणितज्ञत्व की जो लगन लग चुकी थी वह उनकी आत्मा को चैन न लेने देती थी। अन्दर से बार-बार बड़ी आकांक्षा आती थी कि क्या मैं इसी प्रकार कुछ पैसों के लिये दिन भर क्लर्क रहने के लिये पैदा हूँ? क्या मानव जीवन का इतना ही उद्देश्य है कि वह कुछ कमाये और खाता-पीता हुआ, इस संसार में चल बसे। इन्हीं भावनाओं से भ्रमर उनका हृदय घायल हो जाता और वे अपने गणित सिद्धान्तों की खोज के लिये तड़प उठते।

बहुत दिन मानसिक संघर्ष करने के बाद जब उनकी लगन ने उन्हें चैन न देने दिया तो वे अपने कार्यालय के कार्य से जरा भी अवकाश मिलते ही अपना खोज में लगने लगे। इस प्रकार कई महीने अधिकारियों की दृष्टि ब्याक काम करते रहने के बाद एक दिन उनके गणित सम्बन्धी कामज अंग्रेज अधिकारी के हाथ लग गये। वे महोदय स्वयं भी एक अच्छे गणितज्ञ थे। अतएव उन्होंने जब रामानुजम् के उन कामजों को पढ़ा तब वे यह देखकर दंग रह गये कि किन्हीं प्रश्नों तथा हलों का अंकन उन कामजों में किया गया था। गणित के क्षेत्र में एक नवीन खोज थी।

गुणग्राही उन अंग्रेज अधिकारी रामानुजम् से कुछ कहने के बजाय यह सोचने लगा कि कितने खूद का विषय है कि एक ऐसा व्यक्ति जवान युवक अपने समाज की उपेक्षा का शिकार बन हुआ जोवन खराब कर रहा है जबकि इसकी इतिहास मानव समाज के लिये बहुत ही उपयोगी बन सकती है।

उन अंग्रेज अधिकारी ने गम्भीरता से विचार कर तथा अच्छे प्रकार से समझ-बूझकर रामानुजम् के चे सारे कामज इंग्लैण्ड के विश्व विख्यात गणितज्ञ प्रो। जी। एच. हार्डी के पास भेज दिये। प्रो. हार्डी ने रामानुजम् के कामजों का अध्ययन-मनन करके यही निष्कर्ष निकाला कि यदि यह युवक भारत में मरने-छपने के बजाय हम देशों के बीच इंग्लैण्ड में आ जाये तो बहुत कुछ काम कर सकता है। निदान उन्होंने मद्रास टेपो ट्रस्ट अधिकारी को 'लिख दिया' कि उस भारतीय युवक रामानुजम् को किसी प्रकार इंग्लैण्ड भेज दें।

रामानुजम् से होता हुआ उनके इंग्लैण्ड भेजे जाने का प्रसंग जब उनके माता-पिता तथा परिजनों के पास पहुँचा तब तो वे अपने से बाहर हो गये और विदेश जाना धर्म विरुद्ध बनाकर घोर विरोध करने लगे। किन्तु रामानुजम् की दृढ़ इच्छा तथा अंग्रेज अधिकारियों के समझाने पर रुढ़िवादी परिजन इस शर्त पर रामानुजम् को इंग्लैण्ड भेजे जाने की अनुमति के लिये सहमत हो गये कि वहाँ जाकर भी श. लंगराम की पूजा करेगा, धोती-कुर्ता पहनेगा और अपने हाथ से ब्राह्मणोचित भोजन बनाकर खायेगा। अपनी गर्ज के लिये युवक रामानुजम् सभी शर्तें निभाने की प्रतिज्ञा करके सरकारी छत्रवृत्ति पर इंग्लैण्ड चले गये।

इंग्लैण्ड पहुँचकर रामानुजम् संसार की भूलकर प्रो. वाटसन हार्डी तथा बोर्डल के सम्पर्क में रहकर गणित के नये-नये सिद्धान्तों की खोज से संसार को लाभान्वित करने लगे। उनकी अश्चर्यजनक खोजों से प्रभावित होकर अन्त विद्वान् गणितज्ञों ने उनकी इंग्लैण्ड की रॉयल सोसाइटी से फेलोशिप के लिये सिफारिश की जिसके फलस्वरूप वे फेलो आफ दी रॉयल सोसाइटी होकर एक स्मरणीय सम्मान के भागीदार बने। विद्या तथा योग्यता की पूजा क्या देश क्या विदेश सभी जगह सम्मान रूप से होती है।

किन्तु खेद का विषय है कि लगभग तीन वर्ष रुढ़िवादियों की शर्त पूरी करने और इंग्लैण्ड की उस घोर सर्दी में नंगे होकर अपने हाथ से भोजन बनाने, धोती-कुर्ता पहनने तथा ब्रह्ममुहूर्त में नहा-घोकर

बिना वस्त्र पहन भण्टों पूजा पर बैठने से उनका स्वास्थ्य चूरचूर हो गया और तैतीस वर्ष की अल्प आयु में ही वह चमत्कारी प्रतिभा सदा के लिये बुझ गई।

इस हेनरि प्रतिभा का जन्म मद्रास प्रान्त में १८८७ के आस पास तथा तिगेथान इंग्लैण्ड में ही १९२० के लगभग हुआ।

‘युक्ति ही सफलता’ के सन्देश वाहक— हेनरी ट्राट

संसार में एक देश—अमेरिका ऐसा भी है जहाँ माचिसे मि शुल्क मिलती है, जबकि उसका मूल्य प्रति माचिस कई सेंट पड़ता है अनुमान है कि प्रतिवर्ष ४ अरब माचिसे उपभोक्ताओं को बिना मूल्य बाँट दो जाते हैं। इन्हें कामजों माचिस के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार जो धन प्रयुक्त होता है वास्तव में वह निरर्थक नहीं जाता, उससे अनेकों गुन लाभ दुकानदारों और वस्तु निर्माताओं को होता है क्योंकि यह माचिसे विज्ञापन का ठोस आधार होती है। माचिस में बीस तीलियाँ होती हैं और उन तीलियों में एक विज्ञापन का कामज लिपटा रहता है। इस तरह वस्तु का एक बार में २० बार विज्ञापन हो जाता है और उस वस्तु का नाम-पता उपभोक्ता की पूरी तरह कंठस्थ हो जाता है। विज्ञापन का यह विचित्र तरीका अब जर्मनी आदि और भी कई देशों में चल पड़ा है। इससे वहाँ का हर नागरिक प्रभावित है।

इस आविष्कार का श्रेय हेनरी ट्राट नामक व्यापारिक एजेंट को दिया जाता है। हेनरी ट्राट की यह सफलता इस बात का प्रतीक है कि घुसूट अपनी गिरी-गुजरी और निरशापूर्ण स्थिति को भी युक्ति के द्वारा सफल बना सकता है। सफलता के एक नहीं सैकड़ों द्वार हैं, उन्हें खोलने के लिये उद्यम, उद्योग और युक्तियों से काम लिया जाय तो अनेक नारों में कोई एक सफलता की सीमा तक पहुँचा ही देता है।

कोई ७५ वर्ष पहले की बात है फिलाडेल्फिया में जोशवा पोसे नाम का एक वकील रहता था। उन दिनों जिन माचिसों का प्रचलन था उनकी तीलियों आज जैसी ही होती थीं, आकार में उनका बाँझ अधिक होता था। जब में रखने में वे बड़ी भारी मालूम पड़ती थीं। एक दिन जोशवा पोसे के फ्रिस्टक में विचार आया कि परम्परागत वस्तुओं में यदि कोई असंगति हो अथवा भौड़ा या भ्रष्टापन हो तो उनमें अन्त सुधार किया जाना चाहिये। उसने एक दिन कैची से कई बोर्ड के बारीक टुकड़े कटे। कहीं से माचिस में लगाने का छोड़ा मसाला प्राप्त कर लिया। उसे इन कामजों की तीलियों में लगाकर जलाया तब प्रयोग सफल रहा। यह कामज की तीलियों हलकी भी थीं और अपेक्षाकृत शीघ्र दहन पकड़ लेती थीं। जोशवा पोसे ने इस खोज को एक कम्पनी को बेच दिया। उसे काफी धन भी मिला।

छायमण्ड इण्डस्ट्रीज नामक उस कम्पनी ने थोड़ा ही समय में इस तरह की बहुत सी माचिसें बना डालीं, पर बाजार में उनकी खपत न के बराबर हुई। अधिकतर लोग पहली माचिसों का ही प्रयोग करते थे।

अन्त में इन माचिसों के प्रसार का काम हेनरी टाट ने लिया। उसने लोगों में इनको उपयोगिता का सूत्र प्रचार किया। कमीशन देने का इलाज भी दिया किन्तु अन्त में असफलता ही हाथ लगी।

रपयागी बाने लोगों को समझना और मनवा लेना अना ही काम है जिनका किसी को धर्म एवं नैतिक पथ पर अवसर करना। सीधी सच्ची बातें लोगों के मस्तिष्क में कम चटती हैं। जिनमें मोड़ा आकर्षण होता है अथवा दुर्लभ जीवन में लोगों को अधिक सुविधा अनुभव होती है।

काफ़ी दिन तक विचार करते-करते हेनरी टाट के मस्तिष्क में एक बात आई कि यदि युक्तियों और ससत् प्रबन्धों का सहाय लिया जाय, तो दुर्लभ के प्रभावों और प्रचलनों को भी एक दिन पूरी तरह मोड़ा जा सकता है और एक दिन उसका यही विचार व्यवहार में भी पूरी तरह सार्थक हुआ।

एक दिन टाट ने एक व्यक्ति को विज्ञापन के एक पर्चे को मोड़ कर पंखा इसलिये देखा तो उसके मस्तिष्क में एक योजना बनी। उसने सोचा विज्ञापनों पर लोग बहुत अधिक धन खर्च करते हैं, यदि इन माचिसों को विज्ञापन का माध्यम बनाया जा सके तो माचिसों का प्रचार तेजी से हो सकता है।

फिर क्या था उसने एक अफसर बेचने वाली कम्पनी के मैनेजर को समझाया कि आप छोटे-छोटे विज्ञापन के पर्चे बनकर माचिसों की सीलियों में लपेट कर लोगों को माचिस निशुल्क दिये करें तो जितने पैसे से एक बार विज्ञापन होता है, उतने से उसकी २० बार पुनरावृत्ति हो जो शायद पढ़ने वाले और प्रयोग करने वाले को आजीवन न भूले।

बहुत समझाने के बाद मैनेजर सहमत हो गया। उसे शीघ्र ही यह भक्त माल गया कि यह अनोखा तरीका विज्ञापन के लिये बहुत प्रयोग्य और प्रभावी है। फिर क्या था एक तम्बाकू की फैक्टरी से भी बहुत सी माचिसों के आर्डर मिले। इसके बाद एक-एक करते हुये सैकड़ों कम्पनियों ने सरगजी माचिसों का इस विज्ञापन पद्धति को अपना लिया और सारे अमेरिका में वह निशुल्क वितरित की जाने लगी।

जो लोग हेनरी टाट की तरह उद्योग करते समय निराश नहीं होते वरन् सफलता के लिये अनेक प्रयोग करते हैं, वे एक-न-एक दिन अवश्य ही सफल और समुन्नत होते हैं।

लोकसेवक—पालमारियो तिराबासी

तिराबासी एक रात अस्पताल के बरामदे में टहल रहे थे। बड़ा सुहावना समय था। गेट कहर रही थी चलो अब तो विस्तर पर विश्राम किया जाये। आँखें कहर रही थीं—मालिक कक गई हूँ—आराम चाहती हूँ। सास शरीर भी दिन भर की कमान से चूर हो चुका था इसलिये अब विश्राम करना जरूरी ही था। तिराबासी ने एक कदम उठाया ही था कि एक हलकी सी करुण चीत्कार उनके कानों पर पहुँची। आवाज बहुत दुःख भरी थी, इसलिये दूसरा कदम अग्रे न बढ़ पाया।

तिराबासी फिर पीछे लौटे। जिससे अग्रहत ध्वनि आ रही थी, वह दरवाजा ऊपर ही बढ़ते गये। अस्पताल के पीछे से रोने का स्वर

आ रहा था। तिराबासी ने आकर देखा एक बूढ़ा ज्वर और पीड़ा से कराह रहा है। फुलने पर जात हुआ कि कैसिनो के युद्ध में उसका सम्पूर्ण परिवार हवाई हमले में मारा गया, एक बही अधिका दुनिया का मुँह देखने को बचा है। बड़ कष्ट और पीड़ाओं में वह रोष तक पहुँचा था। अस्पताल से आगे बढ़ने में अब उसका साहस कहाँ से होता, शरीर में जरा-भी शक्ति शेष न रही थी।

तिराबासी ने बूढ़े को अपने कानों पर उठा लिया—बाबा ! उन्होंने कहा—“तुम अपने आपको असहाय घन समझे, परमात्मा की दुनिया से दया अभी उखी नहीं, कहों-न-कहों से तुम्हारे लिये भी उनकी कृपा की एक किरण फूटेगी हो।” बूढ़े को अस्पताल पहुँचाया। दवा, पट्टी, भोजन और विश्राम कराने तक सबेरे के चार बज गये, तब तिराबासी अपने बिस्तर पर लौट पाये।

तिराबासी का पूरा नाम मारियो तिराबासी है। इटली के रोम नगर में एक सम्पन्न घर में जन्मे थे। स्वयं भी सरकारी सर्विस में लग गये थे। २८ साल हँसने-खेलने की उम्र थी। इसी समय द्वितीय महायुद्ध छिड़ा, जिसमें भयंकर रक्तपात हुआ। सारा इटली आहत और शरणार्थियों से भर गया।

मौज लेने वाले तब भी मौज ले रहे थे। जिन्हें केवल अपने स्वार्थों की चिन्ता होती है, जो आत्म की पीड़ा को जरा-भी अनुभव न करते हों, उनके लिये कह का समय हो तो क्या—अमन का समय के क्या—दूसरों की सेवा की चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी? पर जिनके उदय में दया की, फीड़ित आत्मा की सेवा की सहानुभूति की जरा भी रोझने लगे वह भला ऐसे समय क्या चुप बैठेगा? बैठेगा तो उसकी आत्मा धिक्करेगी—रे, यह क्या? यह समाज, सारा जगत्, अधर्म, अन्याय, पीड़ा, कष्ट और परित्याग से घुलस रहा है और तुम्हें मौज-लौक की सुझी है। जिस धनव-धर्म ने तुम्हारे विकास के लिये इतने परिश्रम किये हैं, क्या उसके प्रति तुम्हारा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता?

मारियो तिराबासी उस दिन भरपूर नींद नहीं ले सके। उनके मस्तिष्क में भी ऐसा ही दुष्पन्न खड़ा था और पूछ रहा था—“तिराबासी सारा देश संकट-ग्रस्त है। आत्मा कुम्हला रही है क्या उसकी सेवा के लिये आगे आने वालों का यही खान्मा हो जायेगा?”

तिराबासी ने कहा—“नहीं वह कैसे हो जायेगा? महापुरुष ईसा ने जन-सेवा में अपना सर्वस्व सुटा दिया, सुकरात, टॉलस्टोय का जीवन लोक-सेवा में ऊत्सर्ग हो गया। बूढ़े और मजहूर ने उसके लिये बड़े-बड़े त्याग किये, वह परम्परा रुक नहीं सकती। मेरी आवश्यकतायें ही कितनी हैं, परमात्मा सारी सृष्टि को बढ़िया बढ़िया भोजन और वस्त्र देता है, मेरे लिये क्या वह रुखी-सूखी रोटियाँ और तन ढकने को कपड़े का टुकड़ा भी नहीं दे सकता? जरूर देगा, उससे अधिक और आदाम्बर चाहिये भी क्या?”

तिराबासी ने जमी-जमाई रोजी पर ठोकर मार दी। उस दिन उसने नौकरी से स्तीफ दे दिया और दुःखियों की सेवा, लोगों की प्रकाश देने की साधना में उसका जीवन बीतने लगा।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी भिम्बाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह संवेदना से सिल्लु हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद कांग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सुजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाश्रम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शार्प-पुरुष के न रहने, बिनोबाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से वह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९१९ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८९ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में स्रष्टा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरुषवरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व वह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित-यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो बृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहीं से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४९ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ औवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ औवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है— वहाँ पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं— जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र पीठे जल वाला कुँआ माना गया— वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। औवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इंटर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। वहाँ पर अगणित दुःखी, तनावग्रस्त

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवन्दनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छपी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल को एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पुष्टभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डो यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार जनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवन्दनीया माताजी पढ़ती जाती एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डो पाँच विराट यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पेंच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्यास अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवन्दनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्मन्दन वहाँ विद्यमान है, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो ऋद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डो गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डो यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के सत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवन्दनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शान्तिकुंज को उनसे एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवन्दनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, चानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहीं गढ़े। वह सत्र मृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज की गायत्री तीर्थ का रूप देकर सत्सङ्घियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, चत्रोपवीत, विवाह, ब्राह्म-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवन्दनीया माताजी ने जागरण सत्र मृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट् स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल ब्रह्मा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहाँ उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर ठण्डक भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७९ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनो को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर कनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टांतर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदेह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावन्त होने का मन करता है। □□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनसे अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
 - समग्र वाङ्मय का परिचय
 २. जीवन देवता की साधना-आराधना
 ३. उपासना-समर्पण योग
 ४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
 ५. साधना से सिद्धि-१
 ६. साधना से सिद्धि-२
 ७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
 ८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
 ९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
 १०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
 ११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चपत्कार
 १२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
 १३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
 १४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 १५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
 १६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
 १७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
 १८. यमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
 १९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
 २०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
 २१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
 २२. नेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन का
 २३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
 २४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
 २५. पक्ष का ज्ञान-विज्ञान
 २६. पक्ष : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
 २७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
 २८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
 २९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण २ (सतयुग की वापसी)
 ३०. भर्यादा पुरुषोत्तम राम
 ३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
 ३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
 ३३. षोडश संस्कार विवेचन
 ३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
 ३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
 ३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
 ३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
 ३८. उपनिषद्
 ३९. नोरोग जीवन के महत्वपूर्ण सूत्र
 ४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
 ४१. जीवेम शरदः शतम्
 ४२. चिरवैद्यन एवं शाश्वत सौन्दर्य
 ४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कोर्तित स्तम्भ
 ४४. घरकर भी अमर हो गये ओ
 ४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्मादक ; सेवाधर्म के उत्सुक
 ४६. धर्म समाज का अभिनव निर्माण
 ४७. यत्र मार्क्सतु पूज्यते, तन्मे तत्र देवता
 ४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
 ४९. शिक्षा एवं विद्या
 ५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
 ५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
 ५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा श्रुती रहेगी
 ५३. धर्मतात्व का दर्शन व मर्म
 ५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
 ५५. दुःख जगत् की अदुःख पहिली
 ५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
 ५७. मनस्थिता प्रखरता और तेजस्थिता
 ५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
 ५९. प्रतिगमित का कुच्छक ऐसे टूटेगा
 ६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
 ६१. गृहस्थ : एक तपोवन
 ६२. इनकोसबों सदी : नारी सदी
 ६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका फवनिर्माण
 ६४. राष्ट्र सम्मर्प और सशक्त कैसे बने ?
 ६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
 ६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
 ६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
 ६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
 ६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
 ७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)
- वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—
७१. मनोविकारों को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 ७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
 ७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निधेयात्मक स्वरूप
 ७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
 ७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
 ७६. बाल-विकास के विविध सोपान
 ७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
 ७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
 ७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार निर्माण
 ८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
 ८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
 ८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
 ८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
 ८४. सामाजिक जीवन में सदगुणों की भूमिका
 ८५. नर-नारी को सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
 ८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
 ८७. पारिवारिक जीवन : एक तपः साधना
 ८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
 ८९. नैति-विज्ञान और नैतिकता
 ९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उत्पत्ति के आधार
 ९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
 ९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
 ९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
 ९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
 ९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
 ९६. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
 ९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
 ९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
 ९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
 १००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
 १०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
 १०२. वेद सार-चिन्तन
 १०३. पुराण-शोध-सार
 १०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
 १०५. काव्य-गीत-मंजूषा
 १०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
 १०७. मिशन की लोक व्यवहार संहिता
 १०८. गुरुदेव की अपने आन्वीय जनों से अपनी बातें